



रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीमदुमास्वातिविरचितं

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र

न्यायवाचस्पति-वाटिगजकेसरी-स्याद्वादवारिधि स्व० प० गोपालदासजी वरैयाके
अन्यतम शिष्य, विद्यावारिधि पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीरचित
हिन्दी-भाषानुकादसहित ।



प्रकाशक—

शेठ मणीलाल, रेवाशंकर जगजीवन जौहरी
ऑनरेरी व्यवस्थापक—श्रीपरमश्रुतप्रभावक जैनमडल ।
जौहरीबाजार—खाराकुवा बम्बई न २ ।

श्रीनीरनिर्वाण सवत् २४५८
विक्रम सवत् १९०९, मन् १९३२

मूल्य तीन रुपया ।

प्रकाशक—

मणीलाल, रेवाशकर जगजीवन झवेरी

आ० व्यवस्थापक परमधुनप्रभावक जैमडल ।

झवेरीबाजार-बम्बई नं २



मुद्रक—

एस् वही पचलेकर,

बम्बईवैभव, प्रेस-सर्वेष्ट इंडिया

सोसायटी बिल्डिंग सडस्ट रोड-बम्बई

प्रकाशकका निवेदन ।



वीरनिर्वाण सं० २४३२ सन् १९०६ ई० में समाप्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र ५० ठाकुरप्रसादजी व्याकरणाचार्यकृत भाषाटीका सहित पहली बार प्रकाशित हुआ था, प्रथम संस्करण कमीका गमाप्त हो गया था, प्रथकी हमेशाह माँग रहनेसे, महत्त्वपूर्ण उपयोगी और पाठ्य-ग्रन्थ होनेके कारण पुन विस्तृत भाषाटीका सहित प्रगट किया है । प्रथम संस्करणसे यह संस्करण दुगुना बडा है । ग्रंथका प्रचार हो, इससे श्रुत्य भी बहुत ही कम रखा है ।

इस ग्रंथको दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय पूज्य मानते हैं । दोनों ही सम्प्रदायके आचार्योंने तत्त्वार्थसूत्रपर बडे बडे भाष्य-टीका-ग्रन्थ लिखे हैं । ऐसी एक हिन्दी-टीकाकी जरूरत थी, जो महान् महान् टीका-ग्रन्थोंका अध्ययन मनन करके प्रचलित हिन्दीमें लिखी गई हो, और जिसमें पदार्थोंका विवेचन धातुनिक शैलीसे हो, इन ही सब बातोंपर लक्ष्य रखके यह टीका प्रकाशित की है । आशा है, पाठकोंको पसन्द आयगी ।

भविष्यमें श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालामें उत्तमोत्तम नये ग्रंथ और जो ग्रन्थ समाप्त हो गये हैं, तथा जो समाप्त प्राय हैं, उन्हें पुन उत्तमता पूर्ण छपानेका विचार है । पाठकोंसे नम्र-निवेदन है, वे शास्त्रमालाके ग्रन्थोंका प्रचार करके हमारे उत्साहको वृद्धिगत करें ।

झवेरीबाजार, नम्बई ।
श्रावण शुक्ल १५-रक्षाबधन सं० १९८९

निवेदक—
मणीलाल झवेरी ।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी विषय-सूची ।

१ वि० श्वे० सूत्रोंका भेदप्रदर्शक कोष्टक, १४
२ वर्णानुसारी सूत्रानुक्रमणिका २०

सम्बन्धकारिका ।

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
मगल और श्रेयकी उत्पत्तिका सम्बन्ध-	१	जिस प्रकार सूर्यने तेजकी कोई आच्छादित	
मनुष्यका अन्तिम वास्तविक साध्य-	२	(ढँक) नहीं सकता, उसी प्रकार तीर्थकर द्वारा	
मोक्ष-पुरस्कारकीसिद्धिके लिये निर्दोष प्रवृत्ति		उपदेश किये अनेकान्त सिद्धान्तको एकान्तवादी	
करो, जो यह न बने, तो यत्नाचारपूर्वक ऐसी		मिलकर भी पराजित नहीं कर सकते,	१०
प्रवृत्ति करो, जो पुण्यवधना कारण हो-	२	भगवानमहावीरको नमस्कार, उनकी देशना-उप	
प्रवृत्ति करनेवाले मनुष्यो और उनकी प्रवृत्तियोंकी		देशना महत्त्व और वक्ष्यमाण विषयकी प्रतिज्ञा	१०
जघन्य मध्यमोत्तमता, और न करनेवाले की अधमता	३	भगवानके वचनोंके एकदेश समग्र करना भी	
उत्तमोत्तम पुण्य कौन है ?	३	बड़ा दुस्तर है	११
अरहतदेवकी पूजाना फल और उसकी		संपूर्ण जिनयचनके समग्रकी असम्भवताना आगम-	
आवश्यकता	४	प्रमाण द्वारा समर्थन	१२
अरहतदेव जब कृतकृत्य हैं, तो वे उपदेश भी		परित्याग	१३
किस कारण देते हैं ?	४	जिनयचन छुननेवाले और व्याख्यान करने	
उपयुक्त शत्रुका समाधान	५	वालोंकी फल-प्राप्ति वर्णन	१३
तीर्थकरकर्मके कार्यकी दृष्टान्त द्वारा स्पष्टना	५	प्रयत्न व्याख्यान करनेके लिये वक्ताओंको	
अंतिम तीर्थकर धीमहावीर भगवानका स्मरण	५	उत्साहित करना	१३
महावीर शत्रुकी व्याख्या	६	वक्ताओंको सदा श्रेयो-प्रत्याणभारी मार्गका ही	
भगवानके गुणोंका वर्णन	७	उपदेश देना चाहिए	१४
भगवानने जिस मोक्षमागका उपदेश किया		वक्ष्य विषयकी प्रतिज्ञा	१४
उमका सक्षिप्त स्वरूप, तथा उसका फल	९		

१ प्रथम अध्याय ।

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
मोक्षका स्वरूप	१५	निर्देश, स्वामि व आदि छह अनुयोगोंका स्वरूप	२७
सम्यग्दर्शनका लक्षण	१७	१ रात, २ सख्या ३ क्षेत्र, ४ स्पष्टन, ५ काल, ६ अन्तर,	
सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति जिस तरह होती है, उसके		७ भाव और अत्यवदुःख, आठ अनुयोगोंका स्वरूप	३१
दो हेतुओंका उल्लेख	१८	ज्ञानका वर्णन	३३
निर्गम और अधिगम सम्यग्दर्शनका स्वरूप	१९	प्रमाणका वर्णन	३४
जीव अजीव आदि सात तत्त्वोंका स्वरूप	२१	परोक्षका स्वरूप और उसने भेदोंका वर्णन	३५
तत्त्वोंका व्यवहार किस तरह होता है ?	२२	प्रत्यक्षका स्वरूप और उसके भेदोंका वर्णन	३५
नाम, स्थापना, द्रव्य और भावना स्वरूप	२३	मतिज्ञानके भेद	३७
जीवादिक पदार्थोंके जाननेके और उपाय	२५	,, का सामान्य लक्षण	३७
प्रमाण और नयका स्वरूप	२६	अवग्रह, इहा, अपाय, धारणाका स्वरूप	३८

अवप्रदादिक कितने पदार्थोंको धारण करते हैं ?	३०	ज्ञान वस्तुके यथार्थ स्वरूपका परिच्छेदन नहीं करते ? यह बात किसे मालूम होवे ?	५९
बहु आदिक विशेषण किमते हैं ?	४०	ग्योंका वर्णन	९०
अन्यक्तके विषयमें विशेषता क्या है ?	४१	नैगम, गंप्रद, ध्यवत्तर, ऋजुमूत्र और द्रव्य, नयने इन पाँच भेदोंमें और भी विशेषता है,	६१
व्यंजनावप्रदमें और भी विशेषता है	४२	नैगम नय आदि क्या परार्थ हैं ?	६३
धुतज्ञानका स्वरूप	४३	नैगम नय आदिको जैनप्रवचनसे भिन्न वैदिक आदि दर्शनशास्त्रवाले भी मानते हैं, अथवा ये नय स्वतंत्र ही हैं ? अर्थात् ये नय अन्य सिद्धांतका भी निरूपण करते हैं, अथवा यद्वा तद्वा, युक्त अयुक्त केसा भी पक्ष ग्रहण करके जैनप्रवचनको सिद्ध करते हैं । इस शास्त्रका समाधान नयोंके स्वरूपमें विरुद्धता प्रतीत होती है, क्योंकि एक ही पदार्थमें विभिन्न प्रकारके अनेक अन्वयगत्योंकी प्रवृत्ति मानी है । परंतु यह बात कैसे या संसृती है ? इस शास्त्रका समाधान जीव या नोजीव अथवा अजीव यद्वा नो अजीव इस तरहसे केवल युक्त पदका ही उच्चारण किया जाय, तो गैरमातृदिक नयोंमेंसे किम नयके द्वारा इन पदोंके कौनसे अर्थका बोधन कराया जाता है ? इस शास्त्रका समाधान किम त्रिम ज्ञानमें कौन कौनसे नयकी प्रवृत्ति हुआ करती है ? कौन कौनसा नय किम त्रिम ज्ञानका आश्रय लेता है, ? कौनसे छद्म ज्ञानोंका आश्रय यह नय क्यों नहीं लेता ? पाँच कारिकाओं-श्लोकोंमें पहले अव्यायका उपमहार	६६ ६५ ६९ ७१ ७२ ७२ ७३
मतिज्ञान और धुतज्ञानमें क्या विशेषता है ? इस प्रश्नका उत्तर	४३	इति प्रथमोऽध्याय ॥ १ ॥	
अनाधिज्ञानका स्वरूप	४४		
भ्रमप्रत्यय और क्षयोपशमनिमित्ताभ्रमधिज्ञानके भेदोंका स्वरूप	४५		
क्षयोपशमनिमित्तरु किनके होता है ? उनमें भी भव कारण है या नहीं ?	४६		
मन पर्यायज्ञान और उसके भेद ऋजुमति, विपुल्यमति का वर्णन	४९		
मन पर्यायज्ञानके दोनों भेद अतीन्द्रिय हैं, दोनोंका विषयपरिच्छेदन मन पर्यायोंकी जानना भी गरीबा ही है, फिर इनमें विशेषता किम बातकी है ? इस शास्त्रका समाधान	५०		
अनाधिज्ञान और मन पर्यायज्ञानमें विशेषता क्या क्या है, और किम किम अपेक्षासे है ?	५१		
किम किम ज्ञानकी त्रिम त्रिम विषयमें प्रवृत्ति हो ससृती है ?	५३		
अवधिज्ञानका विषय	५३		
मन पर्यायज्ञानका विषय	५४		
वेचलज्ञानका विषय	५४		
मतिज्ञानादि पाँच प्रकारके ज्ञानोंमेंसे एक मम यमें एक जीवके कितने ज्ञान हो सकते हैं ? प्रमाणाभासरूप ज्ञानोंका निरूपण—	५५		
मिथ्यादृष्टिके सभी ज्ञान विपरीत होते हैं, क्योंकि वे	५७		

२ द्वितीय अध्याय ।

जीवतरवका स्वरूप	७५	पारिणामिकभावोंके तीन भेद	८१
औपशमिकादि जीवके भाव-भेदोंकी संख्या	७६	जीवका उपयोग लक्षणका स्वरूप	८२
औपशमिकके दो भेदोंका स्वरूप	७७	लक्षणसे उत्तरभेद	८२
क्षयिकके नौ भेद	७७	लक्षणसे युक्त जीवद्रव्यके कितने भेद हैं ?	८४
क्षयोपशमिभवावसे अठारह भेद	७८	सगरी जीवोंके उत्तरभेदोंका वर्णन	८४
औदयिकके इच्छीस भेद	७९	स्वावरोंके भेदोंका	८७

त्रसोंके भेदोंका वर्णन	८७	औदारिकशरीर स्थूल है, इससे श्रेय शरीर सूक्ष्म	
इन्द्रियोंकी सख्या और उनकी द्र्यता-सीमा	८८	है, परन्तु यह सूक्ष्मता कैसी है ? श्रेय चारों	
इन्द्रियोंके सामान्य भेद	८९	ही शरीरोंकी सूक्ष्मता सम्य है, अथवा विसदृश ?	१११
द्रव्येन्द्रियका धारण और भेद	८९	शरीरोंमें जन उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, तो उनके	
भावेन्द्रियने भेद और उनका स्वरूप	९०	प्रदेशोंकी सरया भी उत्तरोत्तर कम होगी ? इस	
उपयोग शब्दसे कौनसा उपयोग लेना चाहिए ?	९१	शकाका समाधान	११२
पाँच इन्द्रियोंके नाम	९२	तैजस और कार्माणशरीरके प्रदेशोंमें विशेषता	११३
पाँच इन्द्रियोंका विषय	९२	अतके दो शरीरोंमें और भी विशेषता है	११३
अनिन्द्रियोंका विषय	९५	औदारिक आदि तीन शरीरोंका सम्बन्ध कभी पाया	
किस किस जीवके कौन कौनसी इन्द्रियाँ होती हैं ?	९५	जाता है, और कभी नहीं पाया जाता, ऐसा	
किस किस जीवनिर्णयके कौन कौनसी इन्द्रियाँ		ही इन दो शरीरोंके विषयमें भी है क्या ? इस	
होती हैं ?	९६	शकाका समाधान	११४
दो आदिक इन्द्रियाँ किन किनके होती हैं ?	९६	यद्यपि इन दोनोंका सम्बन्ध अनादि है, परन्तु ये	
समनस्क जीव कौनसे हैं ? अनिन्द्रियकी अपेक्षा		सभी समारी जीवोंके पाये जाते हैं, या किसी	
जीवका नियम	९७	किसी के ? इस प्रश्नका उत्तर—	११४
जो जीव एक शरीरको छोड़कर शरीरान्तरको		दोनों शरीरोंका सम्बन्ध अनादि है, वह सभी	
धारण करनेके लिये गमन करते हैं, उनके		जीवोंके युगपत् पाया जाता है, इसी तरह अन्य	
कौनसा योग पाया जाता है ?	९७	शरीर भी एक जीवके एक ही कालमें पाये	
जीवोंको यह भवान्तरप्रापिणी—गति किसी तरह		जाते हैं या नहीं ? यदि पाये जाते हैं, तो पाँचों	
पियमबद्ध है, अथवा अनियत ? इस शकाका		शरीरोंमेंसे किनने शरीर युगपत् एक जीवके	
समाधान	१००	रह सकते हैं ?	११५
पचमगति—मोक्षका नियम	१०१	इन शरीरोंका प्रयोजन क्या है ? अन्तिम कर्म	
वकागति निम्न प्रकार होती है, उसमें कितना		णशरीरका वर्णन	११७
काल लगता है ?	१०१	इन शरीरोंमेंसे कौनसा शरीर जिस जन्ममें हुआ	
भवान्तर जाते समय जीवको कालकी अपेक्षा		करता ? अर्थात् किम किस जन्मके द्वारा कौन	
कितना समय लगता है ?	१०२	कौनसा शरीर प्राप्त हुआ करता है ?	११९
अनाहारकताका काल कितना है ?	१०३	वैकियशरीरका जन्म किनके होता है ?	१२०
जन्मके तीन भेद—राम्मूर्छन, गर्भ और उपपातका		वैकियशरीर औपपातिकके सिवाय, अन्य प्रकारका	
स्वरूप	१०५	भी होता है	१२०
कहाँपर जीव राम्मूर्छनजन्मको, कहाँपर गर्भ-		आहारशरीरका लक्षण और उसके स्वामी	१२०
जन्मको और कहाँपर उपपातजन्मको धारण		किस किस गतिमें, कौन कौनसा लिय पाया	
करते हैं ?	१०६	जाता है ?	१२९
किस किस जीवने कौन कौनसा जन्म होता		जिन जीवोंमें नपुंसकलिंगका सर्वथा अभाव पाया	
है ? उनके स्वामी कौन हैं ?	१०८	जाता है, उनका अर्थात् देवोंका वर्णन	१३०
उपपातजन्मके स्वामी	१०९	चतुर्गति समधी प्राणियोंने अपनी पूर्व आयुका धधन	
राम्मूर्छनजन्मके स्वामी	१०९	निधा, उस आयुको परिपूर्ण भोगकर नवीन	
पूर्वोक्त योनियोंमें उर्पर्युक्त जन्मोंके धारण कर		शरीर धारण करते हैं, या और प्रकारसे ?	१३२
नेवाले जीवोंके शरीर कितने प्रकारके हैं ?			
उनके क्या क्या लक्षण हैं ?	११०	इति द्वितीयोऽध्याय ॥ ७ ॥	

३ तृतीय अध्याय ।

जीवनत्वके वर्णनमें जीवोंका आधारविशेषके प्रतिपादनमें अपोलोकका वर्णन	१३७	लोकका वर्णन	१५८
नरक कितने हैं ? कहाँ हैं ? और कैसे हैं ?	१३७	लोक क्या है ? और वह कितन प्रकारका है ?	
रत्नप्रभा शार्ङ्गप्रभा आदि ७ नरकभूमियोंका वर्णन	१३८	तथा किम प्रकारसे स्थित है ?	१५९
नरक कहाँ है ? जिनमें नरक जीवोंका निवास पाया जाता है	१४१	तिर्यङ्गलोकका सक्षिप्त स्वरूप	१६०
नरक-जीवोंका विशेष स्वरूप	१४२	द्वीप और समुद्र किंग प्रकारसे अवस्थित हैं ? और उनका प्रमाण कितना कितना है ?	१६२
लेख्यादिक अशुभ अशुभनर किस प्रकार हैं ?	१४४	जम्बूद्वीपका आकार और उसके विष्वम्-विस्तारका प्रमाण	१६३
नारकियोंके शरीरका वर्णन	१४५	जम्बूद्वीपके सात क्षेत्र कौन कौनसे हैं ?	१६५
” ” की उच्चारणका वर्णन	१४६	जम्बूद्वीपको विभाजित (अलग अलग) करनेवाले कुलचलोंका वर्णन	१६७
” की वेदनाका वर्णन	१४७	पर्वतोंका अरगाइ तथा ऊँचाई आदिका एव जीवा धनुष आदिका विशेष प्रमाण	१६७
” के पारस्परिक दुःखोंका वर्णन	१४८	द्वीपान्तरोका वर्णन	१७२
नारकीके क्षेत्रस्वभाववृत्त दुःख कैसा है ?	१४९	घातकीपडका वर्णन	१७३
क्षेत्रवृत्त दुःख-वर्णन	१५०	घातकीखड जैसी रचना पुनःप्राथम्ये है	१७३
अक्षरोदीरित दुःखोंका वर्णन	१५१	मनुष्य कौन है ? और वे कहाँ कहाँ रहते हैं ?	१७६
असुरकुमार क्यों दुःख पहुँचाते हैं ? उनका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है ?	१५३	मनुष्योंके मूलभेद कौनसे हैं ?	१७७
नारकी इतने दुःखोंको सहन कैसे करते हैं ? यत्र पीडनादिसे उनका शरीर छिन्न भिन्न क्यों नहीं होता है ? और उनकी मृत्यु क्यों नहीं होती है ?	१५४	आर्य मनुष्यके क्षेत्रार्य आदि ६ भेदोंका वर्णन	१७७
सातों ही नरकोंके नारकियोंकी आयुका उत्कृष्ट प्रमाण	१५५	म्लेच्छोंका वर्णन	१७८
किम किस जातिके जीव ज्यादा से ज्यादा किम नरक तक जा सकते हैं ?	१५६	मनुष्यभेदकी कर्मभूमि अकर्मभूमिका वर्णन	१८१
नरक शृङ्खियोंकी रचनामें विशेषता	१५७	मनुष्योंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयुका प्रमाण	१८२
		निर्यंचोंकी उत्कृष्ट और जघन्य आयुका प्रमाण	१८३
		तिर्यंचोंकी भवस्थितिका प्रमाण	१८४

इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

४ चतुर्थ अध्याय ।

देवोंके भेद	१८६	व्यन्तर ज्योतिष्क देवोंके आठ आठ भेद	१९१
चार निकायोंमें ज्योतिष्कदेवोंका अस्तित्व		इन्द्रोंकी संख्याका नियम	१९१
प्रत्यक्ष है	१८८	पहले दो निकायोंकी लेख्याका वर्णन	१९२
चार निकायके अन्तर्भेद	१८८	देवोंके काम-सुखका वर्णन	१९३
बारहवें स्वर्गक इन्द्रादिककी कल्पना पाई जाती है, इसलिये उसको कल्प कहते हैं, किन्तु यह कल्पना कितने प्रकारकी है ?	१८९	अदेवीक (जिनके देवियाँ नहीं) और अप्र वीचार देवोंका वर्णन	१९६
		भवनवासी देवोंके दश भेद	१९७

असुरकुमार नागकुमार आदि दस प्रकारके भव ननासी देवोंका वर्णन	१९८	वैमानिकदेवोंमें जिस प्रकार ऊपर ऊपर स्रपादि विषयोंमें अधिभूता है, उसी प्रकार किन्हीं	
व्यन्तरनिर्णयके आठ भेद	२००	किन्हीं विषयोंकी अपेक्षासे न्यूनता भी है	२२३
किन्नर, किम्बुसुआदि ८ प्रकारके व्यन्तरोंका वर्णन	२०१	वैमानिकदेवोंमें कौन कौनसी लक्ष्या होती है ?	२२८
त्रिपुरके १०, किम्बुसुयक १०, महोरगके १०, गाधर्वके १२, यक्षके १३, राक्षसके ७, भूतके ९, पिशाचके १५ भेद, ६७ भेदोंके क्रमका नाम	२०२	कल्प विस कहते हैं ?	२२९
व्यन्तरोंके आठ भेदोंकी क्रमसे विक्रिया और उनके ध्वनिविह	२०२	जो देव भगवान् अरहत्देवके, गर्भ जमादिक कल्याणकोंके समय प्रमुदित-प्रमत्त हुआ करते हैं, क्या वे सभी देव मय्यगृही हैं ?	२३०
तीसरे देवनिर्णय-ज्योतिष्कोंका वर्णन	२०४	लौकान्तिकदेव कौन हैं ? और वे कितने प्रकारके हैं ?	२३२
ज्योतिष्कदेव सर्वत्र समान गति, और भ्रमण कर नेवाले हैं, या उनमें किसी प्रकारका अन्तर है ?	२०५	सारस्वत आदि आठ प्रकारके लौकान्तिकदेवोंका वर्णन	२३३
सूर्यमण्डलका वर्णन	२०७	अनुत्तरविमानके देवोंका विशेषत्व	२३३
ज्योतिष्कदेवोंकी गतिसे ही कालके विभाग घडी, पर दिन रात, पक्ष, मास ऋतु अयन, सन्सर-वर्ष आदि भेद होते हैं	२०९	तिर्यधोंका स्वल्प	२३५
ज्योतिष्क विमानोंद्वारा सालका जो विभाग होता है, उसकी स्पष्टता—	२१०	देवोंकी स्थितिका क्या हिसाब है ?	२३५
समयका मन्वलय—	२११	दक्षिणार्धके अधिपति भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२३६
आवली, उल्लास, प्राण, स्तोत्र, लव, नाली, सुहृत्, अहोरान, पशु, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, पूर्वाह्न, पूर्वा अयुत कमल, तल्पि, कुमुद तुष्टि अष्ट अवव, हाहा, हृष्ट, आदि सग्यातसालके भेदोंका स्वल्प	२१३	उत्तरार्धके अधिपति भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२३६
उपमा नियतकालका प्रमाण	२१३	दोना असुरेन्द्रों (चमर और बलि) की उत्कृष्ट स्थिति	२३७
मनुज्यलोकमें तो ज्योतिष-चक्र मेरुकी प्रदक्षिणा देता हुआ निय ही गमनशील है, परन्तु उसके पादर केगा है ? बिना प्रदक्षिणा दिये ही गति शील है ? यद्वा उपमा कोई और ही प्रकारकी है ?	२१५	सौधर्म और ऐशानकी उत्कृष्ट स्थिति (आयु)	२३७
तीसरे देवनिर्णय-वैमानिकोंका वर्णन	२१६	ऐशानकल्पवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२३८
वैमानिकदेव जो कि अनेक विशेष ब्रह्मियोंके धारक हैं, उनके मूलमें कितने भेद हैं ?	२१७	सन्तुमारकल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२३८
कस्योपन और कल्याणीत भेदोंमें कस्योपन देवोंके कस्योपनी अवस्थिति किम प्रकारमें है ?	२१७	माहेन्द्रकल्पसे लेकर अच्युत पर्यत कल्पोंके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२३८
कस्योपन और कल्याणीत दोनों भेदोंमेंसे किसी का भी नामनिर्देश नहीं किया है अतएव वे कौन कौन हैं ?	२१७	कल्याणीतदेवोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२३९
सौधर्म, ऐशान, सन्तुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्ठ, मन्त्राण्ड, सहस्रार, आनन, प्राणत आरण और अच्युत १२ कल्पोंका वर्णन	२१८	वैमानिकदेवोंकी जघन्य स्थिति	२४०
वैमानिकदेवोंकी उत्तरोत्तर अधिभूतार्थ	२१९	सानुत्तुमारकल्पमें रहनेवाले देवोंकी जघन्य स्थिति	२४०
		माहेन्द्रकल्पवर्ती देवोंकी जघन्य स्थिति	२४०
		जघन्य स्थितिका क्या हिसाब है ?	२४१
		नारकजीवोंकी जघन्य स्थिति	२४२
		नरककी पहली भूमिनी जघन्य स्थितिका प्रमाण	२४२
		भवनवासियोंकी जघन्य स्थिति	२४३
		व्यन्तरदेवोंकी जघन्य स्थिति	२४३
		व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४३
		ज्योतिष्कोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४३
		प्रहादिकोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४३
		नग्न जातिसे ज्योतिष्कदेवोंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४४
		ताराओंकी उत्कृष्ट स्थिति	२४४
		जघन्य	२४४
		तागर्जसे शेष ज्योतिष्कदेवोंकी जघन्य स्थिति	२४४
		इति चतुर्थोऽध्याय ॥ ४ ॥	

५ पचम अध्याय ।

चौथे अध्याय तक ते जीवतत्त्वका निरूपण हुआ, अब इस अध्यायमें अजीवतत्त्वका वर्णन है,	शब्दस्वरूप	२७१
कालद्रव्यको छोड़कर शेष धर्मादिक द्रव्योंका स्वरूप २८५	बध ”	२७१
धर्मादिक चारोंकी द्रव्यता सूत्र द्वारा अभीतक अनुक्त है, अतएव इनके विषयमें सन्देह ही रह सकता है, कि ये द्रव्य हैं? अथवा पयाय हैं? २४७	सूक्ष्म ”	२७१
ये द्रव्य अपने स्वभावसे च्युत होते हैं, या नहीं? पाँचकी यह सन्ध्या कर्मा विघटित होती है या नहीं? ये पाँचों ही द्रव्य मूर्त हैं अथवा अमूर्त? २४७	स्थूल ”	२७१
धर्मादिक द्रव्य अरूपी हैं, ऐसे अपर्युक्त वर्णनसे पुद्गल भी अरूपी ठहरता है, उसका निषेध, २४९	संस्थान ”	२७२
द्रव्योंकी और भी विशेषतायें २५०	भेद ”	२७२
धर्मादिकके बहुत प्रदेश हैं, परन्तु वे कितने कितने हैं? उनकी इयत्ता-प्रदेशोंकी सख्या २५३	तम ”	२७२
जीवके भी उतने ही प्रदेश माने हैं, कितने कि धर्म द्रव्य और अधर्मद्रव्यके हैं, अतएव उसके भी प्रदेशोंकी सख्याका नियम २५३	छाया ”	२७२
आकाशद्रव्यके प्रदेशोंकी इयत्ता २५४	आतप ”	२७२
पुद्गलद्रव्यके प्रदेशोंकी सख्या २५५	उद्योत-स्वरूप	२७२
परमाणुके प्रदेश नहीं होते २५६	पुद्गलके २ भेद, अणु और स्कंधका वर्णन	२७४
धर्मादिक द्रव्योंका आधार २५६	ये दो भेद होते किस कारणसे हैं?	२७५
धर्म अधर्म द्रव्यका अवगाह लोकमें कैसा है? २५७	स्कंधोंकी उत्पत्तिके ३ कारणोंका वर्णन	२७५
पुद्गलद्रव्यके अवगाहना स्वरूप २५७	परमाणुओंकी उत्पत्ति कैसे होती है?	२७६
जीवद्रव्यका अवगाह कितने क्षेत्रमें होता है? २५८	अचाक्षुष स्क्ंधका चाक्षुष बननेका कारण	२७६
एक जीवकी अवगाहना लोकाकाशके अमख्या तर्जें भागमें कैसे है? एक जीवका लोकप्रमाण प्रदेश है, इससे सर्वलोगमें व्याप्त चाहिए? इन प्रश्नोंका उत्तर २५९	सत्त्वा लक्षण	२७७
धर्मादिक द्रव्योंका लक्षण २६१	उत्पात व्यय और प्रौढ्यका स्वरूप	२७८
आकाशका उपकार २६२	विरोधका परिहार और परिणामी नित्यत्वका स्वरूप	२८०
पुद्गलद्रव्यका उपकार २६३	जो नित्य है, उसीको अनित्य अथवा जो अनित्य है, उसीको नित्य कैसे कहा जा सकता है?	२८२
कार्यद्वारा पुद्गलका उपकार २६४	अनेकान्तका स्वरूप	२८३
जीवद्रव्यका उपकार २६६	सप्तभौतका स्वरूप	२८६
कालकृत उपकार २६७	जिन पुद्गलोंका बध हो जाता है, उन्हींका यदि संघात होता है, तो फिर बध किस तरह होता है?	२८८
पुद्गलके गुण २७०	पुद्गलोंके बधमें उनके श्लिग्धत्व और हर्क्षत्व गुणको कारण बताया, परन्तु क्या यह एकान्त है, कि जहाँपर वे गुण होंगे, वहाँपर नियमसे बध हो ही जायगा, या इसमें भी कोई विशेषता है?	२८९
पुद्गलके धर्म- ” पर्याय २७१	श्लिग्ध रक्षुगुणोंकी समानताके द्वारा जो सन्ध हैं, उनका बध नहीं हुआ करता २९०	२९०
	सभी सदृश पुद्गलोंका बध नहीं होता, तो फिर बध किनका होता है?	२९०
	एक श्लिग्ध परमाणुका दूसरे रक्ष परमाणुके साथ बध हुआ, इनमेंसे कौन परिणमन करेगा?	२९१
	और कौन बरावेगा?	२९१

द्रव्यना लक्षण	२९२	परिणामका स्वरूप	२९९
शाल्द्रव्यका स्वरूप, काल भी क्या पाँच		परिणामके २ भेदोंना स्वरूप	२९९
द्रव्योत्पत्ति भित छत्र द्रव्य है ? अथवा पाँचोंमें ही		हृषी-सूत्रे पदार्थोंना परिणाम अनादि है,	
अन्तर्भूत है ?	२९३	या आदिमान् ?	२९९
शाल्द्रव्य विशेष स्वरूप	२९४	आदिमान् परिणामना स्वरूप	२९९
गुणना लक्षण	२९५	इति पद्यमोऽध्याय ॥ ५ ॥	

६ छट्टा अध्याय ।

आस्रवतत्त्वना वर्णन		दशनामोहेके बंधके कारण	३
आराव निम्नो कहते हैं ? योगना स्वरूप-	२९८	चारिन्मोहकर्मके बंधके कारण	३
योगके पहले भेद-गुणका स्वरूप	२९९	नरकायुके आस्रवके कारण	३
द्वन्द्वे भेद-अगुण योगका स्वरूप	३००	तियगायुके बन्धके कारण	३
योगके स्वामिभेदनी अपेक्षासे भेद	३००	मनुष्यायुके आस्रवके कारण	३
साम्यरायिन् आस्रवके भेद	३०१	सामान्यसे सभी आयुके आस्रवके कारण	३
साम्यरायिकआस्रवके भेदमि निन निन कार		देवायुके आस्रवके कारण	३
गोसे विशेषता है, उनना वर्णन	३०३	अशुभनामकर्मके बंधके कारण	३
अधिकरण और उसके भेदोका स्वरूप	३०४	शुभनामकर्मके आस्रवके कारण	३
भानाधिकरण जीवाधिकरणका स्वरूप	३०५	तीर्थस्नानकर्मके आस्रवके कारण-पोडशकारण-	
अजीवाधिकरण और उनके भेद	३०६	भाननाओना स्वरूप	
ज्ञानावरण दशनावरणकर्मके कारणभूत आस्रवके		नीचगोत्रके आस्रवके कारण	
विशेष भेद	३०८	उच्चगोत्रकर्मके आस्रवके कारण	
धर्मद्वेषबधने कारण	३०९	अन्तरायकर्मके आस्रवके कारण	
सद्वैयकर्मके बंधके कारण	३१०	इति षष्ठोऽध्याय ॥ ६ ॥	

७ सप्तम अध्याय ।

व्रतोंका स्वरूप, व्रती कितनी समझना चाहिए	३११	सवेग और वैराग्यकी सिद्धिके लिये जग
त्यागरूप व्रत कितनी प्रकारका है ? और उसका		और लोभस्वरूपका चिन्तन करना चाहिए
स्वरूप क्या है ?	३१९	हिंसाना लक्षण
पाँच पापोंके त्यागरूप व्रतोंकी पाँच पाँच भाव		अनृत-असत्यका लक्षण
नाओंका स्वल्प	३२०	चोरीका लक्षण
उपयुक्त भावनाओंके सिवाय सामान्यतया सभी		अग्रज्ञ-सुदीर्घका लक्षण
व्रतोंके स्थिर करनेवाली भावनाओंना स्वरूप	३२२	परिग्रहना स्वरूप
हिंसा आदि ५ पापोंमें दु गद्दी दु रा है		व्रती कितनी कहते हैं ?
अतएव इनका त्याग ही करना श्रेयस्कर्म है	३२४	व्रतीके भेद
मैत्री, प्रमोद, काश्यप, माप्यस्थभावनाना		अगारी और अनगार में अन्तर और विशेषता
स्वल्प	३२६	

दिग्गन्, देशगन्, आर्यदर्शनगन्, सामायिकगन्	परिग्रहप्रमाण प्रतके अतीचार	३४५
पौषधोषवास, उपभोगपरिभोगगन्, और अतिधि	दिग्गन्ने अतीचार	३४५
मविभागगन्का स्वरूप	देशगन्के अतीचार	३४६
सष्टेयगन्का स्वरूप	अनर्थद्वन्द्वप्रतके अतीचार	३४६
क्षमा, कांक्षा, विचित्रिन्ता, अन्यदृष्टिप्रदामा,	सामायिकगन्के अतीचार	३४७
और अन्यदाशिसंस्तव, सम्यग्दर्शनके पाँच अती	पौषधोषवासगन्के अतीचार	३४८
चारोंका स्वरूप	भोगोपभोगगन्ने अतीचार	३४९
अहिंसा आदि प्रती और सप्तरीलोकके पाँच	अतिधिसविभागके अतीचार	३४९
पाँच अतीचार	संश्लेषनागन्के अतीचार	३५०
अहिंसागन्के अतीचार	दानका स्वरूप	३५१
सत्यागन्के अतीचार	दानमें विशेषताके कारण	३५१
अर्यौपागन्ने अतीचार		
मन्त्रचर्यप्रतके अतीचार		

इति सप्तमोऽध्याय ॥ ७ ॥

अष्टम अध्याय ।

बधतरुका वर्णन	गोत्रकर्मके २ भेदोंका स्वरूप	३७३
बधके ५ कारण मिथ्यादर्शन, अदिरति, प्रमाद, कथाय	प्रकृतिकथ-अन्तरायकर्मके पाँच भेदोंका स्वरूप	३७३
और योगका स्वरूप	स्थितिबन्धी उल्टठ स्थिति	३७४
बध किसका होता है? किस तरहसे होता है?	मोहनीयकर्मकी उल्टठ स्थिति	३७४
और उसके स्वामी कौन हैं?	नाम और गोत्रकर्मकी उल्टठ स्थिति	३७५
कार्मणवर्णनाओंका प्रहणरूप बधका वर्णन—	आयुर्कर्मकी स्थिति	३७५
प्रहणरूपबधके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और	वेनीयकर्मकी स्थिति	३७५
प्रदेशव १ ४ भेदोंका वर्णन	गोत्रकर्मकी जघन्य स्थिति	३७५
प्रकृतिग्रथके भेद	घाती कर्मोंकी जघन्य स्थिति	३७५
उत्तरभेद	अनुभागबंधना लक्षण	३७६
ज्ञानावरणके पाँच भेद	कर्मका विपाक किस रूपमें होता है ।	३७७
दर्शनावरणके ९ भेद	नामके अरूप विपाक हो जानेके अनन्तर	
वेदनीयकर्मके २ भेद	उन कर्मोंका क्या होता है	३७७
मोहनीयकर्मके ७८ भेदोंका वर्णन	प्रदेशबधका वर्णन	३७८
आयुष्कप्रकृतिकथके ४ भेद	पुण्यरूप और पापरूप प्रकृतियोंका विभाग	३७९
नामकर्मके ४२ भेदोंका स्वरूप	इति अष्टमोऽध्याय ॥ ८ ॥	

९ नवम अध्याय ।

सवरतरु और निर्जरातत्व वर्णन	१ इयों २ भाषा ३ एषणा ४ आदाननिक्षेपण	
सवरका लक्षण	५ उत्सर्ग पाँच समितियोंका स्वरूप	३८३
दिन दिन कारणोंमें कर्मोंका आना स्वता है ।	१ उत्तम क्षमा २ माद्वैव ३ आर्षव, ४ शौच, ५	
सवर—सिद्धिका कारण—तपका स्वरूप	सत्य, ६ सयम, ७ तप, ८ त्याग, ९ आकिस्यन्व,	
गुप्तिका लक्षण	और १० वृद्धचर्य, दस धर्मोंका स्वरूप	३८५

१ अनित्य २ अशरण, ३ संसार, ४ एतत्त्व	
५ अन्यत्वानुप्रेक्षा ६ अज्ञचित्त्वानुप्रेक्षा ७ आत्मवानुप्रेक्षा ८ संवराणुप्रेक्षा ९ निर्जराणुप्रेक्षा १० लोकचिन्तन ११ बोधिदुर्लभ १२ धर्मस्वारख्याततत्त्वानुप्रेक्षा, वारह अनुप्रेक्षाओंका स्वरूप	३१२
परीपह सद्गन क्यों करना चाहिए	४०५
१ क्षुधा २ पिपासा ३ शीत ४ उष्ण, ५ दंश-मशक ६ नाग्य ७ अरति ८ स्त्री ९ चर्चा १० निषया ११ शय्या १२ आक्रोश १३ वध १४ याचना १५ अलाम १६ रोग १७ तृणस्पर्श १८ मल १९ सत्कार, २० प्रज्ञा २१ अज्ञान, २२ अदर्शन वाईस परीपहोंका वर्णन	४०६
किस किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परीपहें होती हैं? नितनी कितनी परीपह किस किस गुणस्थानवर्ती जीवके पाई जाती हैं ?	४०७
जिनभगवानमें ११ परीपहोंकी सभवता बादरसपराय ननवें गुणस्थानतक-सभी वाईसों परीपह सभव है	४०८
किस किस कर्मके उदयसे कौन कौनसी परीपह होती हैं ?	४०८
दर्शनमोहसे अदग्गनपरीपह, अतरायके उदयसे अलामपरीपह	४०९
चारित्रमोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाली परीपहें वेदनीयकर्मके उदयसे होनेवाली परीपहें	४१०
वाईस परीपहोंमेंसे एक जीवके एक कालमें कर्मसे कम नितनी और अधिकसे अधिक नितनी होती हैं ?	४१०
पाँच प्रकारका चारित्र-सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविपुद्धि, सूक्ष्मसपराय, यथाप्यात, सयमका वर्णन	४११
१ अनशन, २ अवमोदय, ३	४१२

प्रायश्चित्तके ९ भेद-१ आलोचन, २ प्रति क्रमण, ३ तदुभय, ४ विवेक, ५ व्युत्सर्ग, ६ तप, ७ छेद, ८ परिहार, ९ उपस्थापनका स्वरूप	४१६
विनयतपके ४ भेद- १ ज्ञान, २ दर्शन, ३ चारित्र और ४ उपचार विनयका स्वरूप	४१८
वैयावृत्यतपके १० भेद- १ आचार्यवैयावृत्य २ उपाध्यायवै ३ तपस्वि ४ शैक्षकवै ५ ग्लानवै ६ गणवै, ७ कुलवैया, ८ सधवैया, ९ साधुवै १० समनोहवै का स्वरूप	४१९
स्वाध्याय तपके ५ भेद-१ वाचना, २ प्रच्छन, ३ अनुप्रेक्षा, ४ आत्राय, ५ धर्मोपदेशका स्वरूप	४२०
व्युत्सर्गतपके २ भेद-१ बाल, २ आभ्यन्तर व्युत्सर्गका स्वरूप	४२१
ध्यानतपका स्वरूप	४२२
ध्यानके कालका उल्लेख प्रमाण	४२२
आर्त्त, रौद्र, धर्म, और शुक्रध्यानका स्वरूप	४२३
धर्म और शुक्रध्यान मोक्षके कारण है	४२३
आर्त्तध्यानके ४ भेद-१ अनिष्टसयोग, २ इष्ट-वियोग, ३ वेदनाचिन्तन, ४ निदानका स्वरूप	४२३
दूसरे आर्त्तध्यानका स्वरूप	४२४
तीसरे आर्त्तध्यानका स्वरूप	४२४
चौथे आर्त्तध्यानका स्वरूप	४२४
आर्त्तध्यानके स्वामी	४२५
रौद्रध्यानके भेद और उनके स्वामी	४२५
धर्मध्यानके ४ भेद- १ आगाविचय २ अपागविचय ३ विपागविचय ४ सस्थानविचयका स्वरूप	४२६
धर्मध्यानके नियममें एक विशेष धात	४२६
पृथक्त्वविनय और एकत्रवितर्क शुक्रध्यानका स्वरूप	४२६
शुक्रध्यानोके स्वामी	४२७
१ पृथक्त्ववितर्क २ एकत्रवितर्क ३ सूत्रमकिया प्रतिपाति ४ व्युत्सर्गनियामिवृत्ति शुक्रध्यानके ४ भेदोका स्वरूप	४२७
ये चारों ध्यान किस प्रकारके जीवोंके हुआ	४२८
३ भेदसे आदिके दो ध्यानोकी विशेषता	४२८
वर्णन	४२८

वितर्क किसको कहते हैं ?	४२९	सामान्यतया उपयुक्त सभी निर्मय बड़े जाते हैं, परन्तु समय, धृत, प्रतिरोधना, तीर्थ, लिंग
यौचारका स्वरूप	४२९	लेस्या, उपासत स्थानके भेदमे सिद्ध करता चाहिये ४३२
सम्पगृहियोंकी निर्जराका सरतन भार अर्थात् सम्पगृहिणियोंके कर्मोंकी निर्जरा एक सरीती होती है, अथवा उसमें कुछ विशेषता है ?	४३०	समय धुन, प्रतिरोधना आदिका स्वरूप ४३३
निर्मयोंके पाँच विशेष भेद— १ पुलाक, २ षड्वा ३ कुशील ४ निर्मय ५ स्नातकका स्वरूप	४३१	इति नवमोऽध्याय ॥ ९ ॥

१० दशम अध्याय

मोक्षतत्त्व वर्णन		क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र्य, प्रत्येक बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, सख्या, और अत्यगहुलका स्वरूप	४४५
मोक्षकी प्राप्ति केवलजनपूर्वक होती है केवल ज्ञानकी उत्पत्तिके कारण	४३७	ग्रंथ महात्म्य	४६१
कर्मोंके अत्यन्त क्षय होनेके कारण	४३८	आमर्शोपधिल, विमृशोपधिल सर्वोपधिल, क्षाप और अनुग्रहकी सामभ्य उत्पन्न करनेवाली वचन मिदि, ईशत्व, वाशिल, अवधिज्ञान, शारीरविन्नरण, भगप्राप्तिता, अणिमा, लधिमा, और महिमा आदि ऋदियोंका स्वरूप	४६१
मोक्षका स्वरूप	४३९	उपसहार प्रथका सार	४६४
अथ कारण जिनसे अभावसे मोक्षकी सिद्धि होती है	४४०	प्रशस्तित ।	
सम्बल कर्मोंसे अभावसे मोक्ष हो जानेपर उस जीवकी क्या गति होती है ? वह किस प्रकार परिणत होता है ?	४४०	प्रयत्नर्त्ता श्रीउमास्वानिकी गुणरम्पता—	
सिध्यमान गति—ऊर्ध्वगमनके हेतुके कारण पूर्वप्रयोग, सम, बंध, आदिका वर्णन	४४१	ग्रंथकर्त्ताके ग्रंथ रचनेका स्थान, माता, पिता, गोत्रका परिचय और इस उद्य आगमने रचनेका कारण ४७१	
मुक्तिके कारणोंको पाकर जो जीव मुक्त हो जाते हैं, वे सभी जीव स्वरूपकी अपेक्षा, समान हैं ? अथवा असमान ?	४४५	इति दशमोऽध्याय ॥ १०	



- ३० तयोत्तरा ।
 ३१ विरेहेषु सङ्ख्यसाला ।
 ३२ भरतस्य विक्रम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशत
 भाग ।
 ३८ त्रस्थिती परावरे त्रिपत्योपमात्सुर्मुहूर्ते ।
 ३९ तिर्थयोगिजानां च ।

× ×
 × ×
 × ×

- १७ परापरे ।
 १८ तिर्थयोगिनीनां च ।

चतुर्थोऽध्याय ।

- ७ आदितस्त्रिषु पीतान्तलेऽप्या ।
 × ×
 ८ शोषा स्पर्शरूपशब्दमन प्रवीचारा ।
 १२ ज्योतिष्ना सूयचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रतीर्ण
 तारनाश्च ।
 १९ नौधर्मैशानमानकुमारमाहेन्द्रमन्नाभोत्तरलान्तयका-
 पिच्छुक्रमहाश्वत्तरसहस्यारेष्वानतप्राणनयोरारणा-
 च्युतयोर्नवसु प्रवेयनेषु विजयवैजयन्तजयन्तापरा
 जिनेषु सर्वार्थसिद्धौ च ।
 २२ पीतपद्मत्रकूलेऽप्या द्वित्रिकेषु ।
 २४ नक्षत्रालया लौकान्तिका ।
 २८ स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशोषाणा सागरोपमत्रिपत्यो
 पमादहीनमिता ।
 × ×
 × ×
 × ×
 २९ सौधर्मैशानयो सागरोपमेऽधिके ।
 × ×
 × ×
 ३० सानकुमारमाहेन्द्रयो सप्त ।
 ३१ त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि तु ।
 ३६ अपरा पत्योपमधिकम् ।
 × ×
 × ×
 ३९ परापत्योपमधिकम् ।
 ४० ज्यातिकाणां च ।
 × ×
 × ×
 × ×
 ४१ तदष्टभागोऽपरा ।
 × ×
 ४२ लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम् ।

- ७ तृतीया पीनलेऽप्या ।
 ७ पीतान्तलेऽप्या ।
 ८ प्रवीचारा द्वयोर्द्वयो ।
 १२ प्रतीर्ण
 तारका ।
 २० सौधर्मैशानमानकुमारमाहेन्द्रमन्नालोत्तरलान्तक
 महाश्वत्तरसहस्यारे
 .
 सर्वार्थसिद्धे च ।
 २२ लेऽप्या हि त्रिकेषु ।
 २४ . लौकान्तिका ।
 २९ स्थिति ।
 ३० भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पत्योपममध्यमम् ।
 ३१ शोषाणां पादेनि ।
 ३२ असुरेन्द्रयो सागरोपममधिकं च ।
 ३३ सौधर्मोविषु ययाक्रमम् ।
 ३४ सागरोपमे ।
 ३५ अधिकं च ।
 ३६ सप्त सानकुमारे ।
 ३७ विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च
 ३९ अपरा पत्योपममधिकं च ।
 ४० सागरोपमे ।
 ४१ अधिकं च ।
 ४७ परापत्योपमम् ।
 ४८ ज्यातिकाणामधिकम् ।
 ४९ ग्रहाणामेकम् ।
 ५० नक्षत्राणामधिकम् ।
 ५१ तारकाणां चतुर्भाग ।
 ५२ अथवा त्वष्टभाग ।
 ५३ चतुर्भाग शोषाणाम् ।
 × ×

पञ्चमोऽध्यायः ।

२ द्रव्याणि ।	
३ जीवाश्च ।	
१० सत्येयासत्येयाश्च पुद्गलानाम् ।	
×	×
१६ प्रदेशसहारनिसर्पाभ्यां प्रदीपनम् ।	
२६ भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते ।	
२९ सदृशव्यलक्षणम् ।	
३७ बधेऽधिकौ पारिणामिकौ च ।	
३९ कालश्च ।	
×	×
×	×
×	×

२ द्रव्याणि जीवाश्च ।	
×	×
७ असत्येया प्रदेशा धर्माधर्मयो	
८ जीवस्य च ।	
१६ विसर्गाभ्यां ।	
२६ सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते ।	
×	×
३७ बधे समाधिकौ पारिणामिकौ ।	
३९ कालश्चेत्येके ।	
४२ अनादिरादिमाश्च ।	
४३ रूपिष्वादिमान् ।	
४४ योगोपयोगौ जीवेषु ।	

षष्ठोऽध्यायः ।

३ शुभ पुण्यस्याशुभ पापस्य ।	
×	×
५ इन्द्रियनपायाप्रतन्त्रिया पद्यचतु पद्यपद्यविंशति सत्या पूर्वस्य भेदा ।	
६ तीव्रमन्दज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्त द्विशेष ।	
१७ अत्यारम्भपरिग्रहत्व मानुपस्य ।	
१८ स्वभावमार्दव च ।	
२१ सम्यक्त्व च ।	
२३ तद्विपरीत शुभस्य	
२४ दर्शनविद्युच्छिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभी क्षणज्ञानोपयोगसवैगी शक्तिस्तस्यागतपसीसाधुसमा धिवैद्यावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुभ्रतप्रवचनभक्तिरावश्य कापरिहाणिमार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थ करारवस्य ।	

३ शुभ पुण्यस्य ।	
४ अशुभ पापस्य ।	
३ अत्रतनपायेन्द्रियक्रिया	
७ भाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेष ।	
१८ अत्यारम्भपरिग्रहत्व स्वभावमार्दवार्जव च मानुपस्य ।	
×	×
×	×
२२ विपरीत शुभस्य ।	
२३	
भीक्ष्ण	
तपनीं सङ्घसाधुसमाधिवैद्यावृत्यकरण-	
तीर्थवृत्तवस्य ।	

सप्तमोऽध्यायः ।

४ षाड्भनोऽगुप्तीर्यादाननिक्षेपणममित्यालोकितपानभो जनानि पद्य ।	
५ क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याप्यानान्यनुवीचिभाषण च पद्य ।	
६ शून्यागारविमोक्षितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिस धम्माविसवादा पद्य ।	

×	×
×	×
×	×

१ आठवें अध्यायके १२ वें सूत्रमें भी तीर्थकरत्वं च के स्थानमें तीर्थकृत्त्व च पाठ है ।

- ७ स्त्रीरागकथाश्रवणत मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वैरतानुस्मर
णवृत्त्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागा पद्य ।
८ मनोज्ञानमनोन्द्रियविषयरागद्वेषमूर्खानि पद्य ।
९ हिंसादिष्विहामुनापायावयवदर्शनम् ।
१२ जगत्कायस्वभावो वा सवेगवैराग्यार्थम् ।
२८ परविवाहकरणेत्वरिकापरिग्रहीतापरिग्रहीतागमननङ्क
क्रीडाकामतीव्राभिविषेश ।
३२ कन्दर्पकौतुक्यमोक्षार्थसमीक्षयाधिकरणोपभोगपरि
भोगानर्थमयानि ।
३४ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोसर्गादानसस्तरोपक्रमणाना
दरस्थत्यनुपस्थानानि ।
३७ जीवितमरणशासामिनानुरागसुखानुपधनिदानानि ।

- × ×
× ×
४ हिंसादिष्विहामुनापायावयवदर्शनम् ।
७ जगत्कायस्वभावो वा सवेगवैराग्यार्थम् ।
२३ परविवाहकरणेत्वरिकापरिग्रहीता ..
.. ..
२७ कन्दर्पकौतुक्य
णोपभोगाधिकत्वानि ।
२९ .. सस्तारो
नुपस्थापनानि ।
३२
निदानकरणानि ।

अष्टमोऽध्यायः ।

- २ सङ्गपायत्वाज्जीव कर्मणो योग्या पुद्गलानादत्ते
स वद्य
× ×
४ आयो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगो
ज्ञानतराया ।
६ मतिभ्रुतावधिमन पर्ययकेवलानाम् ।
७ चक्षुरक्षत्रवधिवेवलाना निद्रानिद्रानिद्रा प्रचलाप्रच
लाप्रचलास्त्यानगृह्ययथ ।
९ दर्शनचारिनमोहनीयासंपायाकपायवेदनीयाऽप्यास्त्रि
द्विनवयोऽशभेदा सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयान्यऽक
पायकपायो हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साह्रीपुनपु
सकवेदा अनन्तापुत्र अग्रयास्थानप्रत्याप्यानमज्व
लनविरुपाथैकश क्रोधमानमायालोभा ।
१३ दानलाभभोगोपभोगदीर्घाणाम् ।
१६ विंशतिर्नामगोत्रयो ।
१७ त्रयन्त्रिंशत्सागरोपमाप्यासुप ।
१९ क्षेत्राणामन्तसुहृता ।
२४ नामप्रत्यया सर्वेनो योगविशेषास्तुमैत्रक्षेत्रावगाह
स्थिता सर्वोत्सप्रेदेशोऽनन्तान्तप्रदेशा ।
२५ सद्देश्यपुमायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।
२६ अनोऽन्यत्पापम् ।

- २ पुद्गलानादत्ते ।
३ स वद्य ।
५
मोहनीयायुष्क नाम ।
७ मत्यादीनाम् ।
८
स्थानशुद्धिवेदनीयाणि च ।
१० मोहनीयकपायनोकपाय ।
तदुभयानि कपायनोकपायावनन्तानुन्त्यप्रत्याह्या
नप्रयाह्यानावरणसज्वलनविरुपाथैकश क्रोधमान
मायालोभा हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्साह्रीपुनपुस
कवेदा ।
१४ दानादीनाम् ।
१७ नामगोत्रयोत्रिंशति ।
१८ .. युष्कस्या ।
२१ सुहृताम् ।
२५ .. क्षेत्रा
वगानस्थिता ..
२६ सद्देश्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुण्यवेदद्यभासु ।
× ×

नवमोऽध्यायः ।।

- ६ उत्तमधनमार्दवाजवस्यसौचसंयमस्तपरत्यागाकि-
श्चन्यम्रग्नचर्घ्याणि धर्म ।
१७ एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकेनविंशति ।
१८ सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविप्रदिग्भूमसाम्प्रा-
ययथाभ्यासमिति चारित्रम् ।
२२ धालोचनप्रतिकमणनदुभयविवेक्युत्सर्गतपच्छेदपरि-
हारोपस्थापना ।
२७ उत्तमसदहनस्येनाप्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तमुद्धर्तात् ।
- × ×
- ३१ विपरीत मनोहास्य ।
३६ आज्ञापायविपाकसस्थानत्रिचयायधर्म्यम् ।
- × ×
- ३७ झङ्गे चाये पूर्वविद ।
४० श्रेययोगकाययोगायोगानाम् ।
४१ एकाग्रये सवितर्कैनाचारे पूर्वे ।

- ६ उत्तमज्ञमा
।
१७ विदते ।
१८ .
यथाभ्यासानि चारित्रम् ।
२२
स्थापनानि ।
२७ . निरोधो ध्यायम् ।
२८ आमुद्धर्तात् ।
३३ विपरीत मनोज्ञानाम् ।
३७ .
धर्ममप्रमत्त सयतस्य ।
३८ उपरान्तक्षीणकयाययोध ।
३९ शुक्रे चाये ।
४२ तत्स्येनाययोगा ।
४३ . . . सवितर्के पूर्वे ।

दशमोऽध्याय ।

- २ बाधहेलभावनिर्जराभ्यां कृत्त्रकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष ।
- × ×
- ३ औपशामिनादि भन्यत्वानां च ।
- ४ अन्यत्र केवलसाम्यवत्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य ।
५ तदनन्तरपूर्व गच्छन्त्यालोमान्तात् ।
६ पूर्वप्रयोगादसद्रत्वाद्द्रष्टेदात्तथा गतिपरिमाणाच्च ।
७ आविद्धकुलालचक्रवृत्त्यपगतलेपालावृद्धदेरण्डरीज
वदमिशिरावव ।
८ धर्मास्तिकाया भागात् ।

- २ निर्जराभ्याम् ।
३ कृत्त्रकर्मक्षयो मोक्ष ।
४ औपशामिनादिभन्यत्वाभावाधान्यत्र केवलसाम्यक्च
ज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य ।
- × ×
- ६ गच्छत्यां . . ।
७ . तद्वति
× ×
× ×

२ वर्णानुसारी सूत्रानुक्रमणिका ।

नं०	अ	अध्याय	सूत्र	पृष्ठक	न०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठक	
१	अगार्यनगारथ	७	१४	३३४	३४	आकाशादेवद्रव्याणि	५	५	२५०
२	अजीरनाया०	५	१	२४५	३५	आचार्योपाध्याय०	९	२४	४१९
३	अणव एकघाथ	५	२५	२७४	३६	आदितस्तिसृणामन्तरायस्य०	८	१५	३७४
४	अणुप्रतोऽगारी	७	१५	३३४	३७	आयसरम्म०	६	९	३०५
५	अदत्तादान स्तंयम्	७	१०	३३९	३८	आयज्ञद्वौ द्वित्रिभेदौ	१	३५	६१
६	अधिकरण जीवाजीवा	६	८	३०४	३९	आयो परोक्षम्	१	११	३४
७	अधिने च	४	३५	२३८	४०	आयो ज्ञानदर्शनावरण०	८	५	३५५
८	अधिके च	४	४१	२४०	४१	आनयनप्रेष्यप्रयोग०	७	२६	३४६
९	अनन्तरुणे परे	२	४०	११३	४२	आमुहुर्तात्	९	२८	४२२
१०	अनश्नावमौदर्य०	९	१९	४११	४३	आरणच्युताद्	४	३८	२३९
११	अनादिरादिमांश	५	४२	२९६	४४	आर्तरौद्रधर्मशुक्रानि	९	२९	४२३
१२	अनादिसम्बन्धे च	२	४२	११४	४५	आर्तममनोज्ञाना०	९	३१	४२३
१३	अनित्याशरण०	९	७	३९२	४६	आर्याम्लेच्छाश्च	३	१५	१७७
१४	अनुप्रहार्य०	७	३३	३५१	४७	आलोचनपतिक्रमण०	९	२२	४१६
१५	अनुश्रेणि गति	२	२७	१००	४८	आस्रवनिरोध सवर	९	१	३८१
१६	अपरा फल्योपममधिक च	४	३९	२४०	४९	आशापापविपाफ०	९	३७	४२५
१७	अपरा द्वादशसुहुता	८	१९	३७५	५०	इन्द्रसामानिक०	४	४	१८९
१८	अप्रतिपाते	२	४१	११३	५१	इर्याभापैपणा०	९	५	३८३
१९	अप्रत्यवेक्षिता०	७	२९	३४८					
२०	अर्थस्य	१	१७	४०					
२१	अर्पितानर्पितसिद्धे	५	३१	२८०	५२	उचैर्नीचैथ	८	१३	३७३
२२	अल्पारम्भपरिग्रह्य०	६	१८	२१३	५३	उत्तमक्षमा०	९	६	३८४
२३	अवग्रहैहापायधारणा	१	१५	३८	५४	उत्तमसहनस्यै०	९	२७	४२२
२४	अविग्रहा जीवस्य	२	२८	१०१	५५	उत्सादव्ययश्रौष्ययुक्त सत्	५	२९	२७७
२५	अविचार द्वितीयम्	९	४४	४२८	५६	उपयोगो लक्षणम्	२	८	८२
२६	अवग्रहपायेन्द्रियक्रिया०	६	६	३०१	५७	उपयोगो सप्तर्षीदिष्टु	२	१९	९१
२७	अग्रभ पापस्य	६	४	३००	५८	उपर्युपरि	४	१९	२१७
२८	असत्येया प्रदेसा०	५	७	२५३	५९	उपशान्तक्षीणरूपाययोथ	९	३८	४२६
२९	असत्येयाभागादिष्टु-	५	१५	२५८					
३०	असदभिधानमश्रुतम्	७	९	३३०	६०	ऊर्ध्वोपस्तिथम्ब्य०	७	६५	३४५
३१	असुरेन्द्रयो०	४	३२	२३२					
	आ				६१	कुविपुलमती मन पर्याय	१	२४	४९
३२	आनागस्यान ता	५	९	२५४					
३३	आनाशस्यावगाह	५	१८	२६२	६२	एकप्रदेशादिष्टु भाज्य०	५	१४	२५७

न०	अध्याय सूत्र	पृष्ठांक	न०	अध्याय सूत्र	पृष्ठांक
६३	एकसमयोऽविग्रह	२ ३०	१०२	ज	
६४	एक द्वौ मानाहारक	२ ३१	१०३	१०	जगत्कायस्त्रमाशौ च
६५	एकादश जिते	९ ११	१०४	४	जपन्या त्वष्ट्रभाग
६६	एकादशो भाज्या०	६ १७	१०५	३	जम्बूद्वीपसूत्रपादय
६७	एकादीनि भाज्यानि०	१ ३१	१०६	२	जराश्रवणपोतजानां गर्भे
६८	एकाग्रये सवितर्के०	१ ४३	१०७	२	जीवभत्याभव्यत्वादीनि च
	औ		१०८	५	जीवस्य च
६९	औदारिकत्रैक्रिय०	२ ३७	१०९	१	जीवाजीवास्त्रय०
७०	औपपातिरुचरमद्देशो०	२ ५२	११०	७	जीवितमरणशासा०
७१	औपपातिरुमनुष्येभ्य०	४ २८	१११	४	ज्योतिष्का०
७२	औपशामिन्क्षायिकी०	२ १	११२	४	ज्योतिष्काणमधिकम्
७३	औपशामिनादि०	१० ४		त	
	क		११३	८	ततश्च निर्जरा
७४	कथायोदयात्तीर	६ १५	११४	४	तत्कृत कालविभाग
७५	कन्दर्पनीकुच्य०	७ २७	११५	१	तत्त्वार्थभ्रदान सम्बन्धदर्शनम्
७६	कल्पोपपत्ता०	४ १८	११६	९	तत्त्वेकक्राययोगायोगानाम्
७७	कायप्रवीचारा०	४ ८	११७	१	तत्प्रमाणे
७८	कायवाचन कर्मयोग	६ १	११८	६	तत्प्रदीपनिहुव०
७९	कालश्रेत्येके	५ ३८	११९	३	तत्र भरत०
८०	कृमिपिपीलिका०	२ २४	१२०	७	तत्स्यैर्यथै०
८१	कृत्स्नर्मैत्रयो मोक्ष	१० ३	१२१	१	तदनन्तभागे मन पर्यायस्य
८२	केवलश्रुतसङ्घ०	६ १४	१२२	१०	तदनन्तरपूर्वै०
८३	क्षुत्तिपाणा०	९ ९	१२३	९	तदन्तरितदेशविरत०
८४	क्षेत्रवास्तुद्विरथ्य०	७ २४	१२४	२	तद्वादीनि भाज्यानि०
८५	क्षेत्रमालगतिलिङ्ग०	१० ७	१२५	१	तदिन्द्रिया०
	ग		१२६	३	तद्विभाजिन०
८६	गतिरपायलिङ्ग०	३ ६	१२७	६	तद्विपर्ययो०
८७	गतिशरीरपरिग्रहा०	४ २२	१२८	५	तद्दान परिणाम
८८	गतिस्थियुप्रग्रहो	५ १७	१२९	५	तद्दानायय नियमम्
८९	गतिजातिशरीरि०	८ १२	१३०	१	तद्विज्ञानायय नियमम्
९०	गर्भसमृद्धिनजमायम्	२ ४६	१३१	१	तद्विज्ञानायय नियमम्
९१	गुणसाध्ये सद्वानुत्तम्	५ ३४	१३२	०	तद्विज्ञानायय नियमम्
९२	गुणापर्यायवद्व्ययम्	५ ३७	१३३	१	तद्विज्ञानायय नियमम्
९३	ग्रहाणामेकम्	४ ४९	१३४	१	तद्विज्ञानायय नियमम्
	च		१३५	१	तद्विज्ञानायय नियमम्
९४	चक्षुरचक्षुरवधि०	८ ८	१३६	१	तद्विज्ञानायय नियमम्
९५	चतुर्भाग शेषाणाम्	४ ५३	१३७	४	तद्विज्ञानायय नियमम्
९६	चारित्र्यमोद्दे०	९ १५	१३८	३	तद्विज्ञानायय नियमम्
			१३९	६	तद्विज्ञानायय नियमम्
			१४०	४	तद्विज्ञानायय नियमम्
			१४१	२	तद्विज्ञानायय नियमम्
			१४२	३	तद्विज्ञानायय नियमम्
			१४३	३	तद्विज्ञानायय नियमम्
			१४४	४	तद्विज्ञानायय नियमम्
			१४५	२	तद्विज्ञानायय नियमम्
			१४६	२	तद्विज्ञानायय नियमम्
			१४७	२	तद्विज्ञानायय नियमम्
			१४८	२	तद्विज्ञानायय नियमम्
			१४९	२	तद्विज्ञानायय नियमम्
			१५०	२	तद्विज्ञानायय नियमम्

न०	अध्याय	मूल	पृष्ठांक	न०	अध्याय	सूत्र	पृष्ठांक
	श			३१२	सम्प्रयोगनिप्रहो	शुक्ति	९ ४ ३८०
२७८	शङ्कानाश्या०	७	१८ ३३९	३१३	सप्त सनत्सुमारे		४ ३६ २३८
२७९	शद्वन्धसौक्ष्म्य०	५	२४ २७०	३१४	स यथा ताम		८ २३ ३७७
२८०	शरीरवाच्यन०	५	१९ २६३	३१५	सयम ध्रुत०		९ ४९ ४३०
२८१	शुद्धे चाये	९	२९ ४२३	३१६	मरागसयम०		६ २० ३९३
२८२	शम विउद्धमव्याघाति०	२	४९ १२०	३१७	सार्द्धव्यपयायेषु		१ ३० ५४
२८३	शुभ पुण्यस्य	६	३ २९९	३१८	गर्वस्य		२ ४३ ११४
२८४	शोषा स्पर्शरूप०	४	९ १९४	३१९	मसारिणो मुक्ताय		२ १० ८४
२८५	शोषाणां समुच्छेदनम्	२	३६ १०९	३२०	ससारिणस्त्रसत्यावरा		२ १२ ८५
२८६	शोषाणां पादोमे	४	३१ २३६	३२१	सदिन समनस्ता		२ २५ ९७
२८७	शोषाणामन्तमुद्धर्तम्	८	२१ ३७६	३२२	नागरोपमे		४ ३४ २३७
२८८	श्रुत मतिपूर्व०	१	२० ४२	३२३	सागरोपमे		४ ४० २४०
२८९	श्रुतमनिन्द्रियस्य	२	२१ ९५	३२४	मारस्वता०		४ २६ २३३
	स			३२५	सामायिकच्छेदोप०		९ १८ ४११
२९०	म आसन	६	२ २९९	३२६	सखदु ख०		५ २० २६४
२९१	स कषायत्वाञ्जीव०	८	२ ३५४	३२७	सूक्ष्मसम्प्राय०		९ १० ४०७
२९२	स कषाया०	६	५ ३००	३२८	सोऽनन्तसमय		५ ३९ २९४
२९३	सङ्घिटासुरो०	३	५ १५१	३२९	सौधर्मद्विषु यथाक्रमम्		४ ३३ २३७
२९४	स गुप्तिसमिति०	९	२ ३८१	३३०	सौधर्मज्ञान०		४ २० २९८
२९५	सधानभेदेभ्य उत्स्यन्ते	५	२६ २७५	३३१	स्तेनप्रयोग०		७ २२ ३४३
२९६	सङ्ख्येयासङ्ख्ययोश्च	५	१० २५५	३३२	स्थिति		४ २९ २३५
२९७	सचित्तनिक्षेपविधान०	७	३१ ३४९	३३३	स्थितिप्रभाव०		४ २१ २२०
२९८	सचित्तसोतसदृता०	२	३३ १०६	३३४	स्निग्धरुहत्वाद्द्वय		५ ३२ २८८
२९९	सचित्तसंबद्ध०	७	३० ३४९	३३५	स्पर्शनरसनप्राण०		२ २० ९३
३००	सत्सङ्ख्या०	१	८ ३०	३३६	स्पर्शरसगन्ध०		५ २३ २७७
३०१	सदसतोविशेषाद्य०	१	३३ ५९	३३७	स्पर्शरस०		२ २१ ९४
३०२	सदसद्वेद्ये	८	९ ३५७				
३०३	स द्विविधोऽश्नतुर्मेद	२	९ ८२	३३८	हिंसादिबिहामुन०		७ ४ ३२२
३०४	सद्वेद्य०	८	२६ ३७९	३३९	हिंसानूतस्तेयविषय०		९ ३६ ४२५
३०५	सप्ततिर्मोहनीयस्य	८	१६ ३३५	३४०	हिंसानूतस्तेया०		७ १ ३१९
३०६	स बन्ध	८	३ ३५५				
३०७	सामुच्छेदगर्भोपपाता जन्म	२	३२ १०७				
३०८	समनस्काभनस्ता	२	११ ८४	३४१	ज्ञानदर्शनदान०		२ ४ ७७
३०९	सम्यक्त्वचरित्रे	२	३ ७७	३४२	ज्ञानाचरणे प्रज्ञाज्ञाने		९ १३ ४०८
३१०	सम्यग्दर्शन०	१	१ १५	३४३	ज्ञानदर्शनचरित्रोपचारा		९ २३ ४१८
३११	सम्यग्छिन्नावक०	९	८७ ४३०	३४४	ज्ञानाज्ञानदर्शन०		२ ५ ७८



रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला.

श्रीमदुमास्वातिविरचितं

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ।

हिन्दीभाषानुवादसहितम् ।

सम्बन्धकारिकाः

आचार्योने कृतज्ञता आदि प्रकृत करनेके लिये ग्रथनी आदिमें मङ्गलाचरण करना आस्तित्रोंके लिये आवश्यक माना है, अतएव यहाँपर भी आचार्यउमास्वातिवाचक वस्तु निर्देशात्मक मंगलको करते हुए तत्त्वार्थसूत्रनी भाष्यरूप टीका करनेके पूर्व इस ग्रथनी उत्पत्ति आदिका सम्बन्ध दिखानेवाली कारिकाओंको लिखते हैं ।

सम्यग्दर्शनशुद्धं यो ज्ञानं विरतिमेव चाप्नोति ।

दुःखनिमित्तमपीदं तेन सुलब्धं भवति जन्म ॥ १ ॥

अर्थ—कोई भी मनुष्य यदि इस प्रकारके ज्ञान और वैराग्यको नियमसे प्राप्त कर लेता है, जोकि सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है तो, यद्यपि सत्सारमें जन्म धारण करना दुःखका ही कारण है, फिर भी उसका जन्म धारण करना सार्थक अथवा सुवक्त्र ही समझना चाहिये । भावार्थ—सत्सार जन्म-धारण रूप है, और इसी लिये वह दुःखोंका घर है । किंतु सभी प्राणी दुःखोंसे बूझना या सुखको प्राप्त करना चाहते हैं । परन्तु दुःखोंसे छुटकारा या सुखकी प्राप्ति तबतक नहीं हो सकती, जबतक जीव सत्सार शरीर और भोग इन तीनों विषयोंसे ज्ञानपूर्वक वैराग्यको प्राप्त न हो जाय । साथ ही यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये, कि ज्ञान और वैराग्य भी शुद्ध वही माना जा सकता या बन्तुत वही कार्यकारी हो सकता है, जोकि सम्यग्दर्शनसे युक्त हो । अतएव यद्यपि जन्म ग्रहण करना अथवा सत्सार दुःखरूप या दुःखोंका ही निमित्त है, फिर भी उनके लिये वह समीचीन या सुवक्त्र ही कारण हो जाता है, जोकि उसको धारण करके इस रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धारण किया करते हैं ।

जन्मानि कर्मकेशैरनुबद्धेऽस्मिस्तथा प्रयतितव्यम् ।
कर्मकेशाभावो यथा भवत्येव परमार्थः ॥ २ ॥

अर्थ—यह जन्म जिन केशोंसे पूर्ण है, वे कर्मोदयसे प्राप्त हुआ करते हैं, तथा वे कर्म में सविल्ट परिणामोंके द्वारा ही प्राप्त हुए थे और उन कर्मोंका उदय आनेपर हेनेनाले सखिष्ट परिणामोंके द्वारा यह जीव नवीन जन्मका कारणभक्त कर्मोंका फिर भी संग्रह कर लेता है । इस प्रकारसे यह जन्म कर्म केशोंसे अनुबद्ध हो रहा है । अतएव इस अनुबन्ध परम्पराका सर्वथा नाश करनेके लिये ऐसे प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है, कि जिससे परमार्थ—परमनि त्रेयस मोक्षकी सिद्धि हो । क्योंकि कर्मकेशोंसे अपरासृष्ट अवस्था ही वस्तुतः सुप्त स्वरूप है, और इसी लिये उसका प्राप्त करना ही मनुष्यका अन्तिम और वास्तविक साध्य है ।

यद्यपि अभीष्ट अविनश्वर सुप्तको प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको उस अवस्थाके प्राप्त करने का ही प्रयत्न करना चाहिये, किन्तु उसके लिये प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति कितने मिलेंगे ? बहुत कम । अतएव जो उसके लिये सर्वथा प्रयत्न नहीं कर सकते उनको क्या करना चाहिये संवताते हैं—

परमार्थालाभे वा दोषेऽप्यारम्भरुत्सवभावेपु ।

कुशलानुबन्धमेव स्यादनवद्यं यथा कर्म ॥ ३ ॥

अर्थ—परम अर्थ—मोक्ष पुरुषार्थका यदि लाभ न हो सके, तो जन्म मरणके कारणभक्त कर्मोंका जिनसे संग्रह होता है, ऐसे दोषरूप कार्योका आरम्भ होना स्वाभाविक है । अतएव उनके लिये प्रयत्न करना चाहिये । किन्तु इस प्रकारका प्रयत्न करनेमें वही कर्म करना चाहिये जोकि अनवद्य हो—हिंसादिक दोषोंसे रहित तथा अनिन्द्य हो और पुण्यकर्मका ही बन करानेवाला हो । भावार्थ—मोक्ष पुरुषार्थको सिद्ध करनेके लिये सर्वथा आरम्भ रहित निर्दोष प्रवृत्ति ही करनी पडती है, जोकि पूर्ण निर्मय मुनियोंके द्वारा ही साध्य है । जो इस प्रकारसे प्रवृत्ति करनेमें असमर्थ है, उन्हें देशसयमी होना चाहिये । मुनियोंकी प्रवृत्ति निर्जरा—सन्नि-कर्मोंके क्षयका कारण है । किन्तु देशसयमीकी प्रवृत्ति सर्वथा निरारम्भ न हो सकनेके कारण आरम्भ सहित ही हो सकती है, और वेत्ती ही होती है । अतएव इस प्रकारके व्यक्तियोंके लिये ही कहा गया है, कि यदि परमनि त्रेयस अवस्थाकी साधक सर्वथा निरारम्भ और निर्दोष प्रवृत्ति तुम नहीं कर सकते और दोषरूप आरम्भ प्रवृत्ति ही तुमको करना है, तो वह यत्नाचा-

१—इस अवस्थाके प्राप्त करनेवाले आत्माने ही ईश्वर बहते हैं । अतएव पातञ्जल योगदर्शनमें “ क्लेशान् विपाशाश्रयैरपरमसृष्ट पुरस्विशेष ईश्वर ” ऐसा माना है । किन्तु यह सिद्धान्त ऐमन्तिन होनेसे विन्ध्या है । क्योंकि उन्होंने पुरस—जीवको ध्यानस्वरूप अथवा सुरास्वरूप नहीं माना है । जैनसिद्धांतमें जीवको क्षास्वरूप व सुरास्वरूप मानकर भी क्लेशान्मंत्रिपाशाश्रयणे अपरासृष्ट अवस्थाका धारक माना है, तो निर्दोष होनेसे सत्य और उपादेय है ।

पूर्वक और ऐसी करो, जोकि पुण्यत्रयका ही कारण हो तथा हिंसादिक दोषोंसे रहित हो, एव निन्द्य अथवा गर्ह्य न हो ।

प्रवृत्ति करनेवाले मनुष्यों और उनकी प्रवृत्तियोंकी जघन्य मध्यमोत्तमता बताते हुए प्रशस्त प्रवृत्ति करनेकी तरफ लक्ष्य दिलानेके लिये उसके न करनेवालेकी अधमता और करनेवालेकी उत्तमता बताते हैं ।

कर्माहितमिह चामुत्र चाधमतमो नरः समारभते ।

इह फलमेव त्वधमो विमध्यमस्तूभ्यफलार्थम् ॥ ४ ॥

परलोकहितायैव प्रवर्तते मध्यमः क्रियासु सदा ।

मोक्षायैव तु घटते विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुषः ॥ ५ ॥

यस्तु कृतार्थोऽप्युत्तममवाप्य धर्म परेभ्य उपदिशति ।

नित्यं स उत्तमेभ्योऽप्युत्तम इति पूज्यतम एव ॥ ६ ॥

अर्थ—मनुष्य तीन प्रकारके समझने चाहिये—उत्तम, मध्यम, अधम । इनमें से उत्तम और अधमके इसी प्रकार तीन तीन भेद और भी समझने चाहिये । जो अधमाधम अधमोंमें भी अधम दर्जेके हैं, वे ऐसे कर्मका आरम्भ किया करते हैं, जो कि आत्माके लिये इहलोक और परलोक दोनों ही भवोंमें अहितकर—दु खका कारण हो । जो अधमोंमें मध्यम दर्जेके हैं, वे ऐसा कार्य किया करते हैं, कि जो इसी भवमें सुखरूप फलको देनेवाला हो । जो अधमोंमें उत्तम दर्जेके हैं, वे ऐसा कार्य पसंद करते हैं, कि जो इस भवमें और परभवमें दोनों ही जगह सुखरूप उत्तम फलको दे सके । मध्यम दर्जेके मनुष्य सदा ऐसी क्रियाओंके करनेमें ही प्रवृत्त हुआ करते हैं, कि जो परलोकमें हित कर हों । किंतु उस विशिष्टमतिको उत्तम पुरुष समझना चाहिये, कि जो मोक्षको सिद्ध करनेके लिये ही सदा चेष्टा किया करता है । तथा जो इस प्रकारकी अपनी चेष्टाको सिद्ध करके कृतार्थ—कृतकृत्य हो जाता है, वह उत्तमोंमें मध्यम दर्जेका समझना चाहिये । और प्रशस्त धर्मको पाकर स्वयं कृतकृत्य होकर भी जो दूसरोंके लिये भी उस धर्मका उपदेश देता है, वह उत्तमोंमें भी उत्तम है और पण्डितों भी निरंतर सर्वोत्कृष्ट पूज्य समझना चाहिये ।

भावार्थः—मोक्षके लिये ही प्रवृत्ति करना उत्तम पक्ष, परलोकमें हितकर—पुण्यरूप कार्य करना मध्यम पक्ष, और इस लोकमें भी सुखरूपताकी अपेक्षा रखकर कार्य करना जघन्य पक्ष है । जो दोनों भवके लिये अहितकर कार्य करते हैं वे सर्वथा अधम है । इसी प्रकार जो स्वयं अननज्ञानादिको प्राप्त करके दूसरोंके लिये भी उसके उपायका उपदेश देते हैं, वे उत्तमोंमें सर्वोत्कृष्ट है । अतएव जहाँतक हैं, मोक्षके लिये ही प्रवृत्ति करना चाहिये, और यदि वह न बन सके, तो निर्दोष पुण्यरूप कर्म करना ही उचित है । उत्तमोत्तम पुरुष कौन है, सो बताते हैं—

तस्मादर्हति पूजामर्हन्नेवोत्तमोत्तमो लोके ।

देवपिनरन्द्रेभ्यः पूज्येभ्योऽप्यन्यसत्त्वानाम् ॥ ७ ॥

अर्थ—उत्तमोत्तमका जो स्वरूप ऊपर बताया है, कि स्वयं कृतकृत्य होकर दूसरोंको भी उसके कारणभूत उत्तम धर्मका नित्य उपदेश देनेवाला और सर्वोत्कृष्ट पूज्य, सो यह स्वरूप एक अरहतमें ही घटित होता है। अतएव जगत्में उन्हींको उत्तमोत्तम समझना चाहिये, क्योंकि सत्सारेके अन्य प्राणों जिनकी पूजा किया करते हैं, उन देवों ऋषियों और नरेन्द्रों—चक्रवर्त्ता आदिकोंके द्वारा भी वे पूज्य हैं। वे देवेन्द्र मुनीन्द्र नरेन्द्र आदि सत्सारेके सभी इन्द्रोंके द्वारा पूजाको प्राप्त होते हैं।

अरहतदेवकी पूजाका फल और उसकी आवश्यकता बताते हैं।

अभ्यर्चनादर्हतां मनः प्रसादस्ततः समाधिञ्च ।

तस्मादपि निःश्रेयसमतो हि तत्पूजनं न्यायम् ॥ ८ ॥

अर्थ—अरहतदेवका पूजन करनेसे राग द्वेष आदि मानसिक दुर्भाव दूर होकर चित्त निर्मल बनता है, और मनके प्रसन्न—निर्विकार होनेसे समाधि—ध्यानकी एकाग्रता सिद्ध होती है। ध्यानके स्थिर हो जानेसे कर्मोंकी निर्जरा होकर निर्वाण—पदकी प्राप्ति होती है। अतएव मुमुक्षुओंको अरहतका पूजन करना न्यायप्राप्त है।

भावार्थ—जो मुमुक्षु गृहस्थ हैं—मोक्षमार्ग—मुनिधर्मका पालन करनेमें असमर्थ होनेके कारण आरम्भमें प्रवृत्ति करनेवाले हैं, उनके लिये निर्दोष पुण्यबन्धकी कारण क्रिया करनेका ऊपर उपदेश दिया था। वह क्रिया कौनसी है, सो ही इस श्लोकमें बताई है, कि ऐसी क्रिया अरहतदेवकी पूजन करना हो सकती है, क्योंकि उनका पूजन करनेसे उनके पवित्र गुणोंका स्मरण होता है, जिससे परिणामोंकी कम्पलता दूर होती है, और उससे मन निर्विकार होकर समाधिकी सिद्धि होती है। तथा इसी तरह परम्परया पुनीत परमपदकी प्राप्ति होती है।

ऊपर यह बात बताई गई है, कि अरहतदेव दूसरोंको भी उत्तम धर्म—मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं। सो यहाँपर यह शका हो सकती है, कि जब वे कृतकृत्य हैं—उन्हें अब कुछ भी करनेकी इच्छा बाकी नहीं रही है, तो वे उपदेश भी किस कारणसे देते हैं? अतएव इस शकाका परिहार करते हैं।

१—तिर्थेच मनुष्य देव इन तीनों गतियोंके मिलाकर १०० इन्द्र होते हैं। भवनवामी देवोंके ५०, ध्वन्तरोंके ३२, फलवर्त्तासियोंके २४, ज्योतिषियोंके २, मनुष्य तिर्यचोंका १-१, अरहन इन सौ इन्द्रोंके द्वारा वच्य होने हैं। यथा—ददसदयदियाण विहुअण्हिदमसुरनिमदवजाण। अतातीतगुणाण णमो जिणाण जिदभराण ॥

तीर्थप्रवर्तनफलं यत्प्रोक्तं कर्म तीर्थकरनाम ।

तस्योदयात्कृतार्योऽप्यर्हस्तीर्थं प्रवर्तयति ॥ ९ ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोंमें एक नामकर्म भी है । उसीका एक भेद तीर्थकर नामकर्म है । उसका यही फल-कार्य है, कि उसका उदय होनेपर जीव तीर्थ-मोक्ष मार्गका प्रवर्तन करता है । अरहत भगवान्के इस तीर्थकर नामकर्मका उदय रहता है । यही कारण है, कि भगवान् कृतकृत्य होकर भी तीर्थका प्रवर्तन-मोक्षमार्गका उपदेश किया करते हैं ।

भावार्थः—केवल तीर्थकर नामकर्मके उदयवश होकर विना इच्छाके ही भगवान् उपदेश करते हैं । अतएव उनके उपदेश और कृतकृत्यतामें किसी प्रकारका विरोध नहीं आता । तीर्थकर कर्मके कार्यको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

तत्स्वाभाव्यादेव प्रकाशयति भास्वरौ यथा लोकम् ।

तीर्थप्रवर्तनाय प्रवर्तते तीर्थकर एवम् ॥ १० ॥

अर्थ—जिस प्रकार सूर्य अपने स्वभावमें ही लोकको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार तीर्थकर नामकर्मका भी यह स्वभाव ही है, कि उसके उदयसे तीर्थका प्रवर्तन हो । अतएव उसके उदयके अधीन हुए अरहत सूर्य समान तीर्थप्रवर्तनमें प्रवृत्त हुआ करते हैं ।

भावार्थ—वस्तुका स्वभाव अतर्क्य होता है—“ स्वभावोऽतर्क गोचर ” । जिस प्रकार सूर्य अग्नि जल वायु आदि पदार्थ अपने स्वभावसे ही अतर्क्य कार्य कर रहे हैं । उसी प्रकार कर्म अथवा तीर्थकर प्रकृति भी स्वभावसे ही कार्य करती है ।

इस प्रकार तीर्थकर प्रकृतिके उदयसे धर्मका उपदेश देनेवाले तीर्थकर इस युगमें वृषभाडि महावीर पर्यंत २४ हुए हैं । इस समय अंतिम तीर्थकर महावीर भगवान्का तीर्थ चल रहा है । अतएव उन तीर्थकर भगवानका यहाँ कुछ उल्लेख करते हैं—

यः शुभकर्मसेवनभावितभाषो भवेत्पुत्रकेषु ।

जज्ञे ज्ञातेक्ष्वाकुषु सिद्धार्थनरेन्द्रकुलदीपः ॥ ११ ॥

अर्थ—अनेक जन्मोंमें शुभ कर्मोंके सेवनसे जिनके परिणाम शुभ स्त्रियोंसे युक्त हो गये थे, और जो सिद्धार्थ नामक राजाके कुलको प्रकाशित करनेके लिये दीपकके समान थे, उन्होंने इक्ष्वाकु नामक प्रशस्त जातिके वंशमें जन्म धारण किया था ।

भावार्थ—भगवान् महावीरस्वामीने इक्ष्वाकु वंशमें जन्म लिया था । और उनके पिताका नाम सिद्धार्थ था । उनके भाव-परिणाम अनेक भव पैहलेसे ही शुभकर्मोंके करनेमें उत्तरोत्तर अधिनाधिक सुसंस्कृत होते आ रहे थे ।

१-क्योंकि मिहरी पर्यायसे ही शुभ कर्माका करना और उनका द्वारा उारी जासना शुभसुख होना शुरू होगया था ।

भून स्थान उपवेशन आर्षत् शिरोनति आदि क्रिया करते हुए सायद्य योगके निरोध करनेको सामायिक कहते हैं। तत्र मूर्ध्ने अर्हिसादिके भेदसे पाँच प्रकारके हैं, तथा उसके उत्तरभेद अनेक हैं। भगवान्ने इन त्रयोका भी सम्यक् प्रकारसे अपनी आत्मामें आरोपण—निष्ठापन किया।

सम्यग्त्वज्ञानचारित्रसंवरतपःसमाधिवलयुक्तः ।

मोहादीनि निहत्याशुभानि चत्वारि कर्माणि ॥ १७ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र संवर तप और समाधिके बलसे संयुक्त भगवान्ने मोहनीय आदि चारों अशुभ कर्मोंका नाश कर दिया।

भाषार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इस रत्नत्रयका स्वरूप आगे यथास्थान लिखा है। कर्मोंके न आनेको अथवा जिन क्रियाओंके करनेसे कर्मोंका आना शक्य है, उनको संवर कहते हैं। गुप्ति समिति धर्म अनुप्राप्ता परीपहजय और चारित्र एव तपस्या ये संवररूप क्रियाएँ हैं। सायद्य कर्मका निरोध करने अथवा निर्मूलसिद्धिके लिये मन वचन कायके रोकनेमें कष्ट सहन करनेको तप कहते हैं। यह दो प्रकारका है—अन्तरङ्ग और बाह्य। और उनमें भी अन्तरङ्गक प्रायश्चित्तादि तथा बाह्यके अनशन आदि छह छह भेद हैं। स्थिर ध्यानको समाधि कहते हैं, ऐसा ऊपर कहा जा चुका है। रत्नत्रय और इन तीन कारणोंके बलसे भगवान्ने चार पाप कर्मोंको सर्वथा नष्ट कर दिया।

केवलमाधिगम्य विभुः स्वयमेव ज्ञानदर्शनमनन्तम् ।

लोकहिताय कृतार्थोऽपि देशयामास तीर्थमिदम् ॥ १८ ॥

अर्थ—चार घातिया कर्मोंका स्वयं ही नाश करके विभु भगवान्ने जिसका अंत नहीं पाया जा सकता, ऐसे केवलज्ञान और केवलदर्शन गुणोंको प्राप्त किया। इस प्रकार कृतकृत्य होकर भी उन्होंने केवल लोक हितके लिये इस तीर्थ—मोक्षमार्गका उपदेश दिया।

भाषार्थ—चार अशुभ कर्मोंको नष्ट कर अनंतचतुष्टयके प्राप्त होनेसे वृत्तकृत्य अवस्था कही जाती है। अनंतकेवलज्ञान गुणके उद्भूत होजाने पर सम्पूर्ण त्रैकालिक सूक्ष्म सूक्ष्म चराचर जगत प्रत्यक्ष प्रतिभासित होता है। उनका ज्ञान समस्त द्रव्य और उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंमें व्याप्त होकर रहता है, क्योंकि सभी पदार्थ केवलज्ञानमें प्रतिबिम्बित होते हैं। अतएव

१—मोहनीय ज्ञानावरण दानावरण अंतराय । २—कर्म दो प्रकारके माने हैं—घाती और अघाती, प्रत्येकके चार चार भेद हैं। अघातियोंके भेदमें शुभ अशुभ दोनों तरहके कम होते हैं, किंतु घातियोंके सत्र भेद अशुभ ही हैं। इन्हीं चार घातियोंका भगवान्ने सबसे पहले नाश किया। ३—चार घातिया कर्मोंके नाशसे अनन्तज्ञान प्राप्तदर्शन अनंतमुक्त और अनंततीर्थ ये चार गुण प्रकट होते हैं। जैसा कि अध्याय १० सूत्र १ के अर्थसे सिद्ध है।

इम ज्ञानशक्तिकी अपेक्षा भगवान्को विभु कहा है । अथवा समुद्रांतकी अपेक्षासे भी उनको विभु कहा जा सकता है । इस ज्ञानसाम्राज्यके प्रतिपक्षक कर्मोंका नाश भगवान्ने किसी दूसरेकी सहायतासे नहीं, किन्तु अपनी ही शक्तिसे किया था । कृतकृत्य भगवान्की वाणी तीर्थंकर-प्रकृतिके निमित्तसे लोकहितके लिये जो प्रवृत्त हुई वह वैश्वज्ञानपूर्वक थी, अतएव उसको सर्वथा निर्वाध ही समझना चाहिये ।

भगवान्ने जिस मोक्षमार्गका उपदेश दिया उसका स्वरूप कैसा है और उसके भेद कितने हैं, तथा उसका फल क्या है सो बताते हैं—

द्विषिधमनेन्द्रादशषिधं महाविषयममितगमयुक्तम् ।

ससारार्णवपारगमनाय दुःखक्षयायालम् ॥ १९ ॥

अर्थ—भगवान्ने जिस मार्गका उपदेश दिया वह जीवादि ६ द्रव्य या सात तत्त्व और नव पदार्थ तथा इनके उत्तर भेदरूप महान् विषयोंसे परिपूर्ण है । और अनतज्ञानरूप तथा युक्तिसिद्ध है, अथवा अनत प्रमेयोंसे युक्त है । इसके मूलमें दो भेद है—अगप्रविष्ट और अगब्राह्म । अगब्राह्मके अनेक भेद और अगप्रविष्टके बारह भेद हैं । यह भगवान्का उपदिष्ट तीर्थ ससार समुद्रसे पार ले जानेके लिये और दुःखोंका क्षय करनेके लिये समर्थ है ।

भार्य—भगवान्की उपदिष्ट वाणीको ही श्रुत कहते हैं । उसमें जिन विषयोंका वर्णन किया गया है, वे महान् हैं अनत हैं और युक्तिसिद्ध हैं । अतएव उसके अनुसार जो किया करते हैं, वे ससार—समुद्रसे पार हो कर सासारिक दुःखों—तापत्रयका क्षयकर आत्मसमुत्थ स्वाभाविक अविनश्यकर अन्याबाध सुखको प्राप्त किया करते हैं । श्रुतके भेदोंका वर्णन और स्वरूप आगे चलकर पहले अध्यायके १९ वें सूत्रमें लिखेंगे वहाँ देखना ।

ग्रथार्थवचनपटुभिः प्रयत्नवद्विरपि वादिभिन्निपुणैः ।

अनभिभ्रतनीयमन्यैर्भास्कर इव सर्वतेजोभिः ॥ २० ॥

अर्थ—जिस प्रकार ससारके तेजोमय पदार्थ सबके सब मिलकर भी सूर्यके तेजको आच्छादित नहीं कर सकते, उसी प्रकार अनेकान्त सिद्धान्तके विरुद्ध एकान्तरूपसे तत्त्वस्वरूप-

१—शरारसे सम्बन्ध न छोड़कर दरीरने बाहर भी आत्मप्रदेशोंन निरन्तरनेको समुद्रात रहते है ।

उमके मात भेद है—वेदना कषाय, निद्रिया, मरण, आहार तैजस और केवल । केवलसमुद्रात केवग भगवान्ने ही होता है । जन अधाति कर्मोंमें आयुक्म और शेष वेदनीय आदि कर्मोंनी स्थितिमें न्यूनाधिस्ता होता है, तत्र भगवान् शेष कर्मोंनी स्थितिको आयुर्मनी स्थितिके समान बनानेके लिये समुद्रात करते हैं । इसका काल आठ समयका है, और वह तेरहवें गुणम्यानने अतमें होता है । इसके चार भेद हैं—दष्ट, कषाट, प्रतर और लोकपूर्ण । लोकपूर्ण अवस्थामे जीवने प्रदेश फैलकर लोकने ३४३ राजप्रमाण समस्त प्रदेशोमें व्याप्त हो जाते हैं । इस अपेक्षासे भी भगवान्को विभु कहा जा सकता है ।

२—सवैकालिन उत्तराध्ययन आदि । ३—आचाराङ्ग सूत्ररुनाग, स्थानाग, आदि द्वादशग ।

को माननेवाले अनेक ऐसे प्रवीणवादी जोकि ग्रथ और अर्थके निरूपण करनेमें अत्यंत कुशल हैं, वे मिलकर प्रयत्न करनेपर भी इस अरहत प्ररूपित मोक्षमार्गको अथवा उसके बोधक श्रुतको अभिभूत-पराजित-तिरस्कृत-बाधित नहीं कर सकते ।

भावार्थ—तीर्थंकर केवली भगवान्का उपदिष्ट आगम प्रशस्त अनंत विषयोंका युक्तिपूर्ण प्रतिपादन करनेवाला और सुलका साधक तथा दुखना बाधक है । यही कारण है, कि एकान्त-वादियोंके द्वारा चाहे वे कैसे भी ग्रंथोंकी रचना करनेवाले और अर्थका व्याख्यान करनेवाले अथवा दोनों ही विषयोंमें कुशल क्यों न हों, यह श्रुत विजित नहीं हो सकता । उनके सब वादी मिलकर भी इसको जीत नहीं सकते । क्या सूर्यको कोई भी प्रकाश अभिभूत (पराजित) कर सकता है ।

इस प्रकार अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनकी देशनामा महत्त्व उद्घोषित करके उनको नमस्कार करते हुए वक्ष्यमाण विषयकी प्रतिज्ञा करते हैं—

कृत्वा त्रिकरणशुद्धं तस्मै परमर्पये नमस्कारम् ।

पूज्यतमाय भगवते वीराय विलीनमोहाय ॥ २१ ॥

तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बहर्थं सग्रहं लघुग्रन्थम् ।

वक्ष्यामि शिष्यहितमिममर्हद्वचनैरुदेशस्य ॥ २२ ॥

अर्थ—मोह शत्रुको सर्वथा नष्ट करनेवाले और सर्वोत्कृष्ट पूज्य उक्त परम ऋषिप्री वीरभगवान्को मैं—ग्रन्थकार अपने मन वचन और काय इन तीन करणोंको शुद्ध करके नमस्कार कर तत्त्वार्थाधिगम नामक ग्रथका निरूपण करूँगा । यह ग्रथ शब्द-सरयाके प्रमाणकी अपेक्षा अति अल्प परन्तु अर्थकी अपेक्षा विपुल-बड़ा होगा । इसमें महान् ओर प्रचुर विषयोंका सग्रह किया गया है । इसकी रचना केवल शिष्योंका हित सिद्ध करनेके लिये ही है । इसमें अरहत भगवान्के वचनोंके एकदेशका सग्रह किया गया है ।

भावार्थ—ग्रन्थकारको अपने वचनोंकी प्रामाणिकता प्रकट करनेके लिये, यह बताना आवश्यक है, कि हम जो कुछ लिखेंगे, वह सर्वज्ञके उपदेशानुसार ही लिखेंगे, अतएव उन्होंने यहाँपर यह बात दिसलाई है, कि अरहत भगवान्के उपदेशके एकदेशका ही इसमें सग्रह किया गया है । तथा इस ग्रथकी बहर्थ और लघुग्रन्थ इन दो विशेषणोंके द्वारा आचार्यने सूत्ररूपता प्रकट की है, और इस ग्रन्थमें जिस विषयका वर्णन करेंगे, वह उसके नामसे ही प्रकट है, कि इसमें तत्त्वार्थोंका

१—जो प्रेश-राशि को नष्ट करते हैं, उन्हें ऋषि कहते हैं—“रेपणात् हे शराशानामृषिं प्रोक्तु” —
यशस्वितलरचम्पु—सोमदेवमूरी ।

२—कारिकामें “अर्हद्वचनैरुदेशस्य” यह जो पद आया है, उसका अर्थ इसी कारिकाके अर्थसे साथ यहाँ पर लिखा है । परन्तु इस पदका अर्थ आगेरी कारिकाके साथ भी जुड़ता है, इसलिये वह भी अथ दिखानेके लिये आगेरी कारिकाका अर्थ लिखते हुए भी इस पदका अर्थ लिखा है ।

३—सूत्रका लक्षण इस प्रकार है—अल्पाक्षर बहर्थ सूत्रम् ।

वर्णन किया जायगा । क्योंकि इस ग्रथका “ तत्त्वार्थाधिगम ” यह नाम अन्वर्थ है । इस प्रकार ग्रथकारने ग्रथ बनानेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसका नाम विषय स्वरूप प्रमाण और प्रामाणिकताको भी बता दिया है । तथा “ शिष्यहितम् ” इस शब्दके द्वारा उसका प्रयोजन और उसकी इष्टता तथा शक्यानुष्ठानता भी प्रकट कर दी है । अर्थात् इस ग्रथके बनानेका रूपाति लाभ पूजा आदि प्राप्त करना मेरा हेतु नहीं है, केवल श्रोताओंका हित करना, इस भावनासे ही मैंने यह ग्रथ बनाया है । और इसके पढ़ने तथा सुनने सुनानेसे साक्षात् तत्त्वज्ञान और परम्पर या मोक्ष तकका जो फल है, वह मुमुक्षुओंको इष्ट है, तथा उसका सिद्ध करना भी शक्य है ।

इस ग्रथकी रचना जिनके उपदेशानुसार की जा रही है, और जिन्होंने अनन्त प्राणि-गणोंका अनुग्रह (दया) करनेके लिये तीर्थका प्रवर्तन किया, उनके प्रति ग्रथकी आदिमें कृतज्ञता प्रकट करना भी आवश्यक है । इसके सिवाय मगल—क्रिया किये बिना ही कोई भी कार्य करना आस्तिकता नहीं है । यही कारण है, कि आचार्यने यहाँपर वर्धमान भगवान्को नमस्कार रूप मगल क्रिया—मगलाचरण करके ही ग्रथरचनाकी प्रतिज्ञा की है ।

मैंने यहाँपर जिन भगवान्के वचनके एकदेशका ही सग्रह करना क्यों चाहा है, अथवा उनके सम्पूर्ण वचनोंका सग्रह करना कितना दुष्कर है, इस अभिप्रायको आगेकी कारिकाओंमें ग्रथकार प्रकट करते हैं—

महतोऽतिमहाविषयस्य दुर्गमग्रंथभाष्यपारस्य ।

कः शक्तः प्रत्यास जिनवचनमहोदधेः कर्तुम् ॥ २३ ॥

शिरसा गिरिं विभत्सेदुच्चिक्षिप्सेच स क्षितिं दोर्भ्याम् ।

प्रतितीपेच्च समुद्रं मित्सेच पुनः कुशाग्रेण ॥ २४ ॥

व्योम्नीन्दु चिक्रामिपेन्मेशुगिरिं पाणिना चिकम्पयिपेत् ।

गत्यानिल जिगीपेच्चरमसमुद्रं पिपासेच ॥ २५ ॥

खद्योतरुप्रभाभिः सोऽभिव्युभूषेच भास्कर मोहात् ।

योऽतिमहाग्रन्थार्थं जिनवचनं सजिघृक्षेच ॥ २६ ॥

अर्थ—जिनभगवान्के वचन बड़े भारी समुद्रके समान महान् और अत्यन्त उत्कृष्ट—गम्भीर विषयोंसे युक्त है, क्या उनका कोई भी सग्रह कर सकता है ? अथवा क्या उनकी कोई भी प्रतिष्ठा—नरुल भी कर सकता है ? कोई दुर्गम ग्रंथोंकी रचना या निरूपणा करनेमें अत्यन्त कुशल हो, तो वह भी उसका पार

१—“ मगलनिमित्तहेतुप्रमाणनामानि शास्त्रकर्तृभ्यः । व्याहृत्य यद्यपि पश्चात् ध्याचर्यं शास्त्रमानार्थं ”
इस नियमके अनुसार ग्रथकी आदिमें छद्म वातोंका उल्लेख करना आवश्यक है ।

नहीं पा सकता । क्योंकि जिन-वचनरूपी समुद्र अपार है । इस महान् गम्भीर अपार श्रुत-समुद्रका जो कोई सग्रह करना चाहता है, तो कहना चाहिये कि वह व्यक्ति अपने शिरसे पर्वतको विदीर्ण करना चाहता है, दोनों भुजाओंमें पृथ्वीको उठाकर फेंकना चाहता है, अपनी दोनों बाहुओंके ही बलसे समुद्रको तरना चाहता है, और केवल कुशके अग्रभागसे ही उसका-समुद्रका माप करना चाहता है, पैरोंसे चलकर आकाशमें उपस्थित चन्द्रमाको भी लॉघना चाहता है, अपने एक हाथसे मेरुपर्वतको हिलाना चाहता है, गतिके द्वारा वायुको भी जीतना चाहता है, अंतिम समुद्र-स्वयम्भूरमणका पान करना चाहता है, और केवल खद्योत-जुगनूरी प्रभाओंको इकट्ठा करके अपना उससे ही समान प्रभाओंसे सूर्यके तेजको अभिभूत-आच्छादित करना चाहता है । अर्थात् इन असंभव कार्योंके करनेकी इच्छा उसी व्यक्तिकी हो सकती है, जिसकी कि बुद्धि मोहके उदयसे विपर्यस्त हो गई है । उसी प्रकार अत्यन्त महान् ग्रथ अर्थरूप जिन-वचन का सग्रह होना असंभव है, फिर भी यदि कोई इसका सग्रह करना चाहता है, तो कहना पड़ेगा कि उसकी बुद्धि मोह-मिथ्यात्वके उदयसे विकृत हो गई है ।

संपूर्ण जिनवचनके सग्रहकी असंभवताका आगमप्रमाणके द्वारा हेतुपूर्वक समर्थन करते हैं—

एकमपि तु जिनवचनाद्यस्मान्निर्वाहक पद भवति ।

श्रूयन्ते चानन्ताः सामायिकमात्रपदसिद्धाः ॥ २७ ॥

अर्थ—आगमके अन्दर ऐसा सुननेमें आता है, कि केवल सामायिक पदोंका उच्चारण करके ही अनन्त जीव सिद्ध पर्यायको प्राप्त हो गये हैं । अतएव यह बात सिद्ध होती है, कि जिनवचनका एक भी पद सप्ता-समुद्रमें जविको पार उतारनेवाला है ।

भावार्थ—जब सामायिक-पाठके पदोंमें ही इतनी शक्ति है, कि उसका पाठमात्र करनेसे ही सम्यग्दृष्टि साधुओंने सप्ताका नाश कर निर्वाणपद प्राप्त कर लिया, और उस अनन्तशक्तिका कोई पार नहीं पा सकता, तो सम्पूर्ण जिनवचनका कोई सग्रह किस प्रकार कर सकता है ।

इस प्रकार जिनवचनकी अनन्तशक्ति और महत्ताको बताकर फलितार्थको प्रकट करते हैं ।

१—“दुर्गमग्रथभाष्यपारस्य” इसके दो पदच्छेद हो सकते हैं, एक तो दुर्गमग्रथभाषी-अपारस्य, और दूसरा जैसेका तैसा-दुर्गमग्रथभाष्यपारस्य । पहले पदच्छेदने अनुसार ऊपर अर्थ लिखा गया है । दूसरे पक्षमें इस वाक्यके साथ अद्वैतचिन्तनदेशस्वका सम्मन्ध करना चाहिये, और इस अवस्थामें ऐसा वाध करना चाहिये, कि यह दुर्गम ग्रथ भाष्य-तत्त्वार्थविधिगम जिन-वचनरूपी समुद्रके पार-तटके समान है । क्योंकि यह अद्वैतचिन्तनके एकदेशस्व है । इसी प्रकार “महत् ” और “अति महाविषयस्य ” इन दोनों विशेषणोंका भी अर्थ इस पक्षमें इस पदके साथ घटित हो सकता है ।

तस्मात्तत्प्रामाण्यात् समासतो व्यासतथ जिनवचनम् ।

श्रेय इति निविचारं ग्राह्यं च वाच्यं च ॥ २८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनमे जिनवचनकी प्रमाणता सिद्ध है। वह समास और 'याँस दोनों ही तरहसे कल्याणरूप है, अथवा कल्याणता कारण है। अतएव नि संशय होकर इसीको ग्रहण करना चाहिये, इसीको धारण करना चाहिये, और इसीका उपदेश—निरूपण आदि करना चाहिये।

भाषार्थ—इसके एक एक पदकी शक्ति अनंत है, वादियोंके द्वारा अनेक दे, दुसरा ध्वस्त, और अनंत सुखका साधक है, निर्वाण विषयोंका प्रतिपादक गम्भीर और और अतिशययुक्त है, इत्यादि प्रोक्त कारणोंसे जिनवचनकी प्रामाणिकता सिद्ध है। अतएव हममें किसी प्रकार भी संदेह करना उचित नहीं है। अथवा ग्रहण धारण आदि जो श्रोताओंके गुण बताये हैं, उनके अनुसार प्रत्येक श्रोता और वक्ताको इस जिनवचनका ही नि संदेह होकर ग्रहण धारण और व्याख्यान करना चाहिये।

इस जिनवचनके सुननेवाले और व्याख्यान करनेवालेको जो फल प्राप्त होता है उसे बताते हैं—

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात् ।

ब्रुवतोऽनुग्रहमुद्धया त्कुस्तेकान्ततो भवति ॥ २९ ॥

अर्थ—इस हितरूप श्रुतके अथवा करनेसे सभी श्रोताओंको एकान्तसे—सर्वात्मना धर्मकी प्राप्त होती है, इतना ही नहीं, बल्कि उनके ऊपर अनुग्रह करनेकी सदिच्छामे जो उसका व्याख्यान करता है, उस वक्ताको भी सर्वथा धर्मका लाभ होता है।

भाषार्थ—इस ग्रथको जो आत्म—कल्याण की बुद्धिसे स्वयं सुनेंगे अथवा दूसरोंको सुनायेंगे वे दोनों ही आत्म—कल्याणको सिद्ध करेंगे। क्योंकि धर्म ही आत्माका हित है, और उसका कारण जिनवचन ही है।

इस ग्रथका व्याख्यान करनेके लिये वक्ताओंको उत्साहित करते हैं—

श्रममविचिन्त्यात्मगतं तस्माच्छ्रेयः सदोपदेष्टव्यम् ।

आत्मानं च परं च हि हितोपदेष्टानुगृह्णाति ॥ ३० ॥

अर्थ—जिनवचनरूपी मोक्षमार्गका वक्ता अवश्य ही धर्मका आराधन करनेवाला है। बल्कि इतना ही नहीं, किंतु हितरूप श्रुतका उपदेश देनेवाला अपना और परका दोनोंका ही अनुग्रह—कल्याण करता है, अतएव वक्ताओंको अपने श्रम आदिका विचार न करके सदा इस त्रेयोंमार्गका ही उपदेश देना चाहिये।

१-संक्षेप । २-विस्तार । ३-इसका दूसरा अर्थ ऐसा भी हो सकता है, कि इस ग्रथके सभी श्रोताओंको धर्मकी निधि होगी, ऐसा एकात्मसे नहीं कहा जा सकता, परन्तु अनुग्रहबुद्धिसे व्याख्यान करनेवालेको लाभ होता है, ऐसा एकात्मसे कहा जा सकता है।

भावार्थ—जब इसके उपदेशसे स्व और परका कल्याण एकान्तरूपसे होना निश्चित है, तब विद्वानोंको इसके उपदेश देनेमें ही सदा अप्रमत्त प्रवृत्ति रखना उचित है ।

इस प्रकार मोक्षमार्गके उपदेशकी आवश्यकता और सफलताको बताकर अब अन्तकी सम्बन्ध दिखानेवाली कारिकाके द्वारा वक्तव्य—विषयकी प्रतिज्ञा करते हे ।

नैर्त्तं च मोक्षमार्गाद्धितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन् ।

तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥ ३१ ॥

अर्थ—इस समस्त सत्सारमें मोक्षमार्गके सिवाय और किसी भी तरहसे हितोपदेश नहीं बन सकता, अतएव मैं—ग्रथकार केवल इस मोक्षमार्गका ही अब यहाँ व्याख्यान करूँगा ।

भावार्थ—जगत्में जितने भी उपदेश हैं, वे जीवका वास्तवमें सिद्ध नहीं कर सकते । क्योंकि वे कर्मके क्षयका उपाय नहीं बताते । अहितका कारण कर्म है । अतएव जबतक उसका क्षय न होगा, तबतक आत्माका वस्तुतः हित भी कैसे होगा । इसलिये मोक्षमार्गका उपदेश ही एक ऐसा उपदेश है, जोकि वस्तुतः आत्माके हितका साधक माना जा सकता है । अतएव जो मुमुक्षु है, और जो अपना तथा परका कल्याण करना चाहते हैं, उन्हें इसीका ग्रहण धारण और व्याख्यान करना चाहिये ।

अतएव ग्रथकार भी इस ग्रथमें मोक्षमार्गके ही उपदेश करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

इति सम्बन्धकारिका समाप्ता ।

इस प्रकार इकतीस कारिकाओंमें इस सूत्रग्रथके निर्माण—सम्बन्धको बताया है । अब आगे वक्तव्य विषयका प्रारम्भ करेंगे ।



१—अगवन् । किं तु खलु आत्मो हितमिति, स आह मोक्ष इति ।—पूज्यपाद—सर्पाधिसिद्धि ।
तथा “अन्तरेण मोक्षमार्गोपदेशो हितोपदेशो दुःप्राप्य इति” ।—अमलदेव—राजनातिक्रम

प्रथमोऽध्यायः ।

सूत्रम्—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥ १ ॥

भाष्यम्—सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रप्रमित्येष त्रिविधो मोक्षमार्गः । तत्पुरस्तात्प्राधान्यतो विधानतश्च विस्तरेणोपदेश्याम । शास्त्रानुपूर्वीयिन्यास्तार्थं तदुद्देशमात्रमिदमुच्यते । एतानि च समस्तानि मोक्षसाधनाणि, एकतरामावेऽप्यसाधनानीत्यतरत्रयाणां ग्रहणम् । एषा च पूर्वलाभे भवति न्युत्तरम् । उत्तरलाभे तु नियतं पूर्वलाभः । तत्र सम्यगिति प्रशस्तार्थो निपातः, समदर्शित्वाभावात् । दर्शनमिति—दृशेरव्यभिचारिणीं सर्वान्द्रियाणिन्द्रियार्थप्रतिरेतःसम्यग्दर्शनम् । प्रशस्तं दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । सगतं वा दर्शनं सम्यग्दर्शनम् । एव ज्ञानचारित्रयोरपि ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं और सम्यक्चारित्र इमं तरहसे यह मोक्षमार्ग तीन प्रकारका है । इसके लक्षण और भेदोंका हम आगे चर्कर विस्तारके साथ निरूपण करेंगे । परन्तु नाममात्र भी कथन किये बिना शास्त्री रचना नहीं हो सकती । अतएव केवल शास्त्रकी रचना क्रमबद्ध हो सके, इसी बातको लक्ष्यमें रखकर यहाँपर इनका उद्देशमात्र ही निरूपण किया जाता है । ये सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं और सम्यक्चारित्र तीनों मिले हुए ही मोक्षके साधन माने गये हैं, न कि पृथक्पृथक् एक अथवा दो । इनमेंसे यदि एक भी न हो, तो बाकीके भी मोक्षके साधन नहीं हो सकते, यही कारण है, कि आचार्यने इस सूत्रमें तीनोंका ही ग्रहण किया है । इनमें से पूर्वका लाभ होनेपर भी उत्तर—आगेका भवनीय है,—अर्थात् पूर्वगुणके प्रकट होनेपर उसी समय उत्तरगुण भी प्रकट हो ही ऐसा नियम नहीं है । हाँ, उत्तरगुणके प्रकट होनेपर पूर्वगुणका लाभ होना अवश्य ही नियत है ।

सूत्रमें सम्यक् शब्द जो आया है, वह दो प्रकारसे प्रशस्ता अर्थका द्योतक माना है । अयुत्पन्न पक्षमें यह शब्द निपातरूप होकर प्रशस्ता अर्थका द्योतक होता है । और व्युत्पन्न पक्षमें समपूर्वक अन्तु धातुमें क्विप् प्रत्यय होकर यह शब्द बनता है, और इसका भी अर्थ प्रशस्ता ही होता है ।

सम्यक् शब्दकी तरह दर्शन शब्द भी दृश वातुसे भावमें युट् प्रत्यय होकर बना है । प्रशस्तार्थक सम्यक् शब्द दर्शनका विशेषण है । अनएव जिसमें

१—नाममात्ररचनसुरेण । —इत तीनोंकी रचनाय शस्ता है । रचना लक्षण एका बताया है कि “जाती जाती यदुदृष्टं तत्प्रदं नमिदोच्यते ।” जो जा पस्य हाथा, घोडा, स्त्री पुरर, रत्न, दण्ड, चक्र चर्म आदि अपनी अपनी जातिमें उदृष्ट हैं, वे वे उस जातिमें रत्न कहते हैं । मोक्षके साधनमें वे तीनों आत्मगुण सर्वोत्कृष्ट हैं, अतएव इनका रत्नत्व कहते हैं । २—सम्यग्दर्शनने होनेपर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नियमसे उत्पन्न हो ही यह बात नहीं है । इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानने होनेपर सम्यक्चारित्र हो ही ऐसा नियम नहीं है । किन्तु सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यग्दर्शन नियमसे होता ही है । यह बात किम अपेक्षात कही है, सो हिंदी शिकामें आगे इसी सूत्रकी व्याख्यामें लिखा है । ४—व्याकरणमें दो पक्ष माने हैं—एव व्युत्पन्न दूसरा अव्युत्पन्न ।

किसी प्रकारका भी व्यभिचार नहीं पाया जाता ऐसी इन्द्रिय और मनके विषयभूत समस्त पदार्थोंकी दृष्टि—श्रद्धारूप प्राप्तिको सम्यग्दर्शन कहते हैं । प्रशस्त—उत्तम—सशय विपर्यय अन-
-व्यवसाय आदि दोषोंसे रहित दर्शनको अथवा सगत—युक्तिसिद्ध दर्शनको सम्यग्दर्शन कहते हैं ।
दर्शन शब्दकी तरह ज्ञान और चारित्र्य शब्दके साथ भी सम्यक् शब्दको जोड़ लेना चाहिये ।

भावार्थ—सूत्रमें “ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि ” यह विशेषणरूप वाक्य है, और
“ मोक्षमार्ग ” यह विशेष्यरूप वाक्य है । व्याकरणके नियमानुसार जो वचन विशेष्यका हो
वही विशेषणना होना चाहिये, किन्तु यहाँपर वेसा नहीं है, यहाँ तो विशेषण—वाक्य बहुवच-
नान्त है, और विशेष्य—वाक्य एकवचनान्त है । फिर भी यह वाक्य अयुक्त नहीं है, क्योंकि अर्थ
विशेषको सूचित करनेके लिये ऐसा भी वाक्य बोला जा सकता है । अतएव इस प्रकारका
वाक्य बोलकर आचार्यने इस विशेष अर्थको सूचित किया है, कि ये समस्त—तीनों मिलकर ही
मोक्षके मार्ग—उपाय—साधन हो सकते हैं, अन्यथा—एक या दो—नहीं ।

यद्यपि इन तीनों गुणोंमेंसे सम्यग्दर्शनके साथ शेषके दो गुण भी किसी न किसी
रूपमें प्रकट हो ही जाते हैं, फिर भी यहाँपर पूर्वके होनेपर भी उत्तरको भजनीय जो कहा है
सो शब्दनयकी अपेक्षासे समझना चाहिये । क्योंकि शब्दनयकी अपेक्षामें यहाँ सम्यग्दर्शन
आदि शब्दोंसे क्षायिक और पूर्ण सम्यग्दर्शन आदि ही ग्रहण करने चाहिये । सो क्षायिक-
सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य क्रमसे ही प्रकट होते हैं । क्षायिकसम्यग्दर्शन
चौथेसे लेकर सातवें तक किसी भी गुणस्थानमें हो सकता है । क्षायिकसम्यग्ज्ञान तेरहवें
गुणस्थानमें ही होता है । क्षायिकसम्यक्चारित्र्य चौदहवें गुणस्थानके अंतमें ही होता है ।
अतएव इन क्षायिक गुणोंकी निष्ठापनाकी अपेक्षा पूर्व गुणके होनेपर उत्तरगुणको भजनीय समझना
चाहिये । और उत्तर गुणके प्रकट होनेपर पूर्व गुणका प्रकट होना नियमसे समझना चाहिये ।

यहाँपर दर्शन ज्ञान और चारित्र्य इन तीनों शब्दोंको कर्तृसाधन कर्मसाधन और भाव-
साधन इस तरह तीनों प्रकारका समझना चाहिये, और इनमेंसे प्रत्येकके साथ सम्यक् शब्दका

१—जो प्रतिपक्षी कर्मना सदा क्षय हो जानेपर आत्माना गुण प्रकट होता है, उसको क्षायिक कहते हैं ।
जिने कि सम्यग्दर्शन गुणके घातनेवाले कर्म सात हैं—मिथ्यात्व, मित्र, सम्यक्त्वप्रकृति और चार अन्तःपुरधी कपाय ।
सो इनका सदा अभाव होनेपर जो प्रकट होगा, उसको क्षायिक सम्यग्दर्शन कहेंगे । इगी प्रकार ज्ञानकरण कर्मका
सदा अभाव होनेपर क्षायिकज्ञान होता है और चारित्र्यको विपरीत अथवा अपूर्ण रखनेवाले कर्मका सदा क्षय
हो जानेपर क्षायिकचारित्र्य होता है । २—सम्यक्त्व चारित्र्य और योग इनकी अपेक्षासे आत्मके गुणोंके जो स्थान हो,
उसको गुणस्थान कहते हैं—इनके चौदह भेद हैं—मिथ्यात्व, मासान्त, मित्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत,
अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अविद्वृत्तिकरण, सू मसापराय, उपागतस्वाय, क्षीणकपाय, संयोगनेवली, जयोगनेवली ।
३—प्रारब्धकार्यकी समाप्ति । ४—जैसे पर्यति इति दर्शनम्, जानाति इति ज्ञानम्, चरति इति चारित्र्यम् । ५—दृश्यते
अनेन इति दर्शनम्, श्रयते अनेन इति ज्ञानम्, चर्यते अनेन इति चारित्र्यम् । ६—दृष्टिदर्शनम्, ज्ञातिज्ञानम्,
चरण चारित्र्यम् ।

सम्बन्ध करना चाहिये । क्योंकि “सम्यग्दर्शनज्ञानचारिणाणि” इस पदमे द्वन्द्वसमास किया गया है, और व्याकरणका यह नियम है, कि द्वन्द्वसमासमें आदिके अथवा अतके शब्द उससे प्रत्येक शब्दके साथ सम्बन्ध हुआ करता है । अतएव इसका ऐसा अर्थ होता है, कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनोंकी पूर्ण मिली हुई अवस्था मोक्षका मार्ग-उपाय है ।

सम्यक् शब्दके लगानेसे मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र्यकी निवृत्ति बताई है । इसी लिये यहाँपर सम्यग्दर्शनका स्वरूप बताते हुए प्राप्तिका विशेषण अथभिचारिणी ऐसा दिया है । अन्यथा अतस्य श्रद्धान, और सशय विपर्यय अनध्ययसायरूप ज्ञान, तथा विपरीत चारित्र्य को भी कोई मोक्षमार्ग समझ सकता था ।

मोक्षके मार्गस्वरूप रत्नत्रयमेंसे क्रमानुसार पहले सम्यग्दर्शनका लक्षण बतानेके लिये आचार्य सूत्र कहते हैं —

सूत्र—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—तत्त्वानामर्थानां श्रद्धान् तत्त्वेन चार्थानां श्रद्धान् तत्त्वार्थश्रद्धानम् तत् सम्यग्दर्शनम् । तत्त्वेन भावतो निश्चितमित्यर्थः । तत्त्वानि जीवादीनि वक्ष्यन्ते । त एव चार्थास्तेषां श्रद्धान् तेषु प्रत्ययावधारणम् । तदेव प्रशमसवेगनिर्वेदानुकम्पास्तिक्रियाभिभ्यक्तिलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥

अर्थ—तत्त्वरूप अर्थोंके श्रद्धानको, अथवा तत्त्वरूपसे अर्थोंके श्रद्धान करनेको तत्त्वार्थश्रद्धान कहते हैं, और इसीका नाम सम्यग्दर्शन है । तत्त्वरूपसे श्रद्धान करनेका अभिप्राय यह है, कि भावरूपसे निश्चय करना । तत्त्व जीव अजीव आदिक सात है, जैसा कि आगे चैल कर उनका वर्णन करेंगे । इन तत्त्वोंको ही अर्थ समझना चाहिये, और उनके श्रद्धानको अथवा उनमें विश्वास करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं । इस प्रकार तत्त्वार्थोंके श्रद्धानरूप जो सम्यग्दर्शन होता है, उसका लक्षण—बिन्हे इन पाँच भावोंकी अभिव्यक्ति-प्रकृतता है—प्रशम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तितय ।

भाष्यार्थ—तत् शब्द सर्वनाम है, और सर्वनाम शब्द सामान्य अर्थके वाचक हुआ करते हैं । तत् शब्दसे भाव अर्थमें त्व प्रत्यय होकर तत्त्व शब्द बना है । अतएव हरएक पदार्थके स्वरूपको तत्त्व शब्दसे कह सकते हैं । जो निश्चय किया जाय—निश्चयका विषय हो उसको अर्थ कहते हैं ।

अनेकान्त सिद्धान्तमें भाव और भाववान्में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद माना है ।

१—“चकारबहुले द्वन्द्वः ।” २—द्वन्द्वादी द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं परिसमाप्यते । ३—इसी अध्यायका सूत्र ४ । ४—अर्थते=निश्चयिते इति अर्थः । ५—जैनमतमें, क्योंकि जैनमत वस्तुको अनन्तधर्मात्मक मानता है । अनेकान्त शब्दका अर्थ भी ऐसा ही माना है, कि अनेके अन्ता=धर्मा यस्मिन् अती अनेकान्त । ६—किमी अपेक्षा विशेषसे ।

अतएव तत्त्व और अर्थमें भी कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद है। इसी लिये यहाँपर “तत्त्वार्थश्रद्धानम्” इस पदकी निरुक्ति दो प्रकारसे की है। यहाँपर यह शका हो सकती है, कि जब तत्त्व और अर्थमें अभेद है, तब दोनों शब्दोंके प्रयोगकी सूत्रमें क्या आवश्यकता है? या तो “तत्त्वश्रद्धानम्” इतना ही कहना चाहिये, अथवा “अर्थश्रद्धानम्” ऐसा ही कहना चाहिये। परन्तु यह शका ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा होनेसे दोनों ही पक्षमें एकान्तरूप मिथ्या अर्थका ग्रहण हो सकता है। “तत्त्वश्रद्धानम्” इतना ही कहनेसे केवल सत्ता या केवल एकत्व अथवा केवल भावके ही श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा जा सकता है। इसी प्रकार अर्थश्रद्धानम् इतना ही माननेपर तत्त्वके भी श्रद्धानका अर्थ उट्ट जाता है। अतएव दोनों पदोंका ग्रहण करना ही उचित है।

तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन आत्माका एक ऐसा सूक्ष्म गुण है, कि जिसको हर एक जीव प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। अतएव जो सम्यग्दर्शनके होनेपर ही आत्मामें प्रकट हो सकते हैं, उन प्रशम सवेग आदि पाँच भावरूप चिन्होंको देखकर सम्यग्दर्शनके अस्तित्वका अनुमान किया जा सकता है। उन पाँच भावोंका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार है—

प्रशम—राग द्वेष अथवा क्रोधादि कषायोंका उद्रेक न होना। या उन कषायोंको जागृत न होने देना और जीतनेका प्रयत्न करना।

सवेग—जन्म मरण आदिके अनेक दुखोंसे व्याप्त ससारको देखकर भयभीत होना। ससारके कारणभूत कर्मोंका भेरे सग्रह न हो जाय, ऐसी निरंतर चित्तमें भावना रखना।

निर्वेद—ससार शरीर और भोग इन तीन विषयोंसे उपरति अथवा इनके त्यागकी भावना होना।

अनुकम्पा—ससारके सभी प्राणियोंपर दयाका होना अथवा सभी ससारी जीवोंको अभय बनानेका भाव होना।

आस्तिक्य—जीवादि पदार्थोंका जो स्वरूप अरहतदेवने बताया है, वही ठीक है, अथवा उन पदार्थोंको अपने अपने स्वरूपके अनुसार मानना।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनका लक्षण बताया, अब उसकी उत्पत्ति किस तरहसे होती है, इस बातको जतानेके लिये उसके दो हेतुओंका उल्लेख करनेको सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तन्निर्गमादधिगमाद्वा ॥ ३ ॥

भाष्यम्—तदेतत्सम्यग्दर्शनं द्विविधं भवति—निर्गमसम्यग्दर्शनमधिगमसम्यग्दर्शनं च। निःसर्गाधिगमाद्द्वोत्पद्यत इति द्विरित्युक्तं द्विविधम्। निर्गमं परिणामं स्वभाव अपरोपदेश इत्य-

१—सत्ता ही तत्त्व है, ऐसा किसी किसी का मत है, कोई एकत्वको ही तत्त्व मानते हैं कोई अर्थको छोड़कर केवल भावना ही ग्रहण मानते हैं, इत्यादि। २—जैयधिकीने भावको छोड़कर केवल अर्थका ही ग्रहण—ज्ञान होना माना है। ३—रागादीनामनुद्रेक प्रशम। ४—मगाराद्रीहता सवेग। ५—समारशरीरभोगेपूपरति। ६—सर्वभूतदया। ७—जीवादयोऽर्था यथास्व सतीतिमतिरास्तिसम्यम्।

नर्थान्तरम् । ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीव इति वक्ष्यते । तस्यानादो ससारे परिभ्रमत* कर्मत एव कर्मण स्वकृतस्य घन्धानिकाचनोदयनिर्जरापेक्ष नारकतिर्यग्योनिमनुष्यामरभयग्रहणेषु विविध पुण्यपापफलमनुभवतो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वाभाव्यात् तानि तानि परिणामाध्यव सायस्थानान्तराणि गच्छतोऽनादिमिथ्यादृष्टेरपि सत* परिणामविशेषादपूर्वकरण तादृग्भवति येनास्यानुपदेशात्सम्यग्दर्शनमुत्पद्यत इत्येतन्निसर्गसम्यग्दर्शनम् । अधिगम* अभिगम आगमो निमित्त श्रवण शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम् । तदेव परोपदेशाद्यत्तत्त्वार्थश्रद्धान भजति तदधिगमसम्यग्दर्शनमिति ॥

अर्थ—जिसका कि ऊपर लक्षण बताया गया है, वह सम्यग्दर्शन दो प्रकारका है—एक निसर्गसम्यग्दर्शन दूसरा अधिगमसम्यग्दर्शन । कोई सम्यग्दर्शन निसर्गसे उत्पन्न होता है, और कोई अधिगमसे उत्पन्न होता है, अतएव यहाँपर ये दो भेद उत्पत्तिके दो कारणोंकी अपेक्षासे है, न कि स्वरूपकी अपेक्षासे । जो सम्यग्दर्शन निसर्गसे होता है, उसको निसर्गज और जो अधिगमसे होता है, उसको अधिगमज कहते हैं । निसर्ग स्वभाव परिणाम और अपरोपदेश इन सब शब्दोंका एक ही अर्थ है । ये सब शब्द पर्यायवाचक हैं । अतएव परोपदेशके विना स्वभावसे ही परिणाम विशेषके हो जानेपर जो सम्यग्दर्शन होता है, उसको निसर्गज, और जो परोपदेशके निमित्तसे परिणाम विशेषके होनेपर प्रकट होता है, उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

जीवका लक्षण ज्ञानदर्शनरूप उपयोग है, ऐसा आगे चलकर बतावेंगे । यह जीव अनादिकालसे ससारमें परिभ्रमण कर रहा है । कर्मके निमित्तसे यह जीव स्वय ही जिन नवीन कर्मोंको ग्रहण करता है, उनके बध निकालन उदय निजरा आदिकी अपेक्षासे यह जीव नारक तिर्यग् मनुष्य और देव इन चार गतियोंको योग्यतानुसार ग्रहण करता है, और उनमें नाना प्रकारके पुण्य पापके फलको भोगता है । अपने ज्ञानदर्शनोपयोगरूप स्वभावके कारण यह जीव विलक्षण तरहके उन उन परिणामाध्यवसाय स्थानोंको प्राप्त होता है, कि जिनको प्राप्त होनेपर अनादिमिथ्यादृष्टि जीवके भी उन परिणाम विशेषके द्वारा ऐसे अपूर्वकरण हो जाते हैं, कि जिनके निमित्तसे विना उपदेशके ही उस जीवके सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है । इस तरहके सम्यग्दर्शनको ही निसर्ग सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

अधिगम अभिगम आगम निमित्त श्रवण शिक्षा उपदेश ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । इसलिये जो परोपदेशके निमित्तसे उत्पन्न होता है, उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें पच लक्ष्णियोंको कारण माना है, क्षयोपशम

१—आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागम —“न्यायदीपिका” । २—शब्द । ३—एधि नाम प्राप्तिका है । परन्तु यहाँपर जिनसे होनेपर ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है, ऐसी योग्यताओकी प्राप्तिसे ही लक्ष्ण सम्यग्दर्शन चाहिये । इसमें पाँच भेद हैं, यथा—“स्वयत्तत्त्वमित्येतोही देसणपाउगम धरणल्लो य । चत्तारि वि सम्मत्तकरण पुण, होदि सम्मत्ते । ६५० ॥” (गोम्मटजार—जीवराज)

विशुद्धि देशना प्रायोग्य और करण । कर्मोंकी स्थिति घटकर जन अत कोटीकोटी प्रमाण रह जाती है, तभी जीव सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करनेके योग्य बनता है । इसी प्रकार जन उसके परिणाम एक विशिष्ट जातिकी भद्रता और निर्मलताको धारण करते हैं, तभी उसमें सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेकी योग्यता आती है, और इसी तरह सद्व्युक्त उपदेश मिलनेसे वास्तविक जीव अजीव और ससार मोक्षका—सप्त तत्त्व नव पदार्थ पञ्चद्वयका स्वरूप मालूम होनेपर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेकी योग्यता जीवमें आती है । तथा सद्गी पर्याप्त जागृत अवस्था साकारोपयोग आदि योग्यताके मिलनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं, इसके भी होनेपर ही सम्यग्दर्शन प्रकट हो सकता है । करण नाम आत्माके परिणामोंका है । वे तीन प्रकारके हैं—अध करण अपूर्णकरण अनिजृप्तिकरण ।

इन पाँच लब्धियोंमें से चार लब्धि सामान्य है और करणलब्धि विशेष है । अर्थात् करणलब्धि हुए बिना चार लब्धियोंके हो जानेपर भी सम्यक्त्व नहीं होता । अनादिकालसे जीवको ससारमें भ्रमण करते हुए अनेक वार चार लब्धियोंका संयोग मिला, परन्तु करणलब्धि-के न मिलनेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हुआ । फिर भी सम्यग्दर्शनके होनेमें उन चार लब्धियोंका होना भी आवश्यक है ।

देशनालब्धिको ही उपदेश या अधिगम आदि शब्दोंसे कहते हैं । इसके निमित्तसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसको अधिगमज और जो इसके बिना ही हो, उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

कर्मके अधीन हुआ यह जीव जब उसके निमित्तसे नवीन कर्मको ग्रहण कर लेता है तब उसको उस कर्मके बंधे निराचरने उदय निर्नराकी अपेक्षासे चतुर्गतिमें भ्रमण और उनमें रहकर उन कर्मोंका शुभाशुभ फल भोगना पडता है । उन उन कर्मजनित परिणामस्थानोंको प्राप्त करता हुआ यह जीव अनादि मिथ्यादृष्टि होकर भी कभी अपने उपयोग स्वभावके कारण परिणाम विशेषके द्वारा देशनालब्धि—परोपदेशके बिना ही करणलब्धिके भेदस्वरूप अपूर्णकरण जातिके परिणामोंको प्राप्त कर लेता है, और उससे उसके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है ।

१—उपयोगके दो भेद हैं—मान और दर्शन । इनमेंसे ज्ञान साकारोपयोग है, और दर्शन निराकारोपयोग । सम्यक्त्व साकारोपयोग—ज्ञानकी अवस्थामें ही होता है, निराकार दर्शनोपयोगकी अवस्थामें नहीं होता । २—इनका विस्तृत स्वरूप गोम्मटसार जीवकाण्ड अथवा सुशीला उपवासमें देखना चाहिये । ३—पुत्रलकर्मोंका आत्मप्रदेशोंके साथ एरुक्षेत्रावगाह होनेको बंध कटने हैं—“आत्मकमणोरन्योऽयप्रदेशानुपवेशात्मरो बन्ध । सर्वोद्यसिद्धि-पूज्यपाद-अथवा “अनेकपदाधीनमित्त्वबुद्धिजनसम्यग्दर्शनो बंध ।” ४—जिसका फल अवश्य भोगना ही पडता है, उसको निराचरनबंध कहते हैं । ५—द्रव्यक्षेत्र आदिके निमित्तसे कर्मोंके फल देनेको उदय कहते हैं । ६—फल देकर आत्मासे कर्मोंका जो सम्बन्ध छूट जाता है, उसको निरा कहते हैं । ७—जो आत्माके करण—परिणाम पूर्वमें कभी भी नहीं हुए उनको अपूर्णकरण कहते हैं ।

यहाँपर यह शका हो सकती है, कि जब चारों लक्षियोंका मिलना भी सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके लिये आवश्यक बताया है, तब उनमें से देशानलक्षिके विना ही वह किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? इसका उत्तर यह है, कि इसमें केवल साक्षान् अमासात् का ही भेद है । साक्षान् परोपदेशके मित्रेपर जो तत्त्वार्थका श्रद्धान् होता है, उसको अधिगमन कहते हैं और साक्षान् परोपदेशके न मित्रेपर जो उत्पन्न होता है, उसको निसर्गम कहते हैं । अनादिकालसे अब तक निसर्गो कभी भी देशानाका निमित्त नहीं मिला है, उसको सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता, किन्तु निसर्गो देशानाके मित्रेपर भी करणलक्षिके न होनेसे सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ है, उसको ही कालान्तरमें और भवान्तरमें विना परोपदेशके ही करणलक्षिके भेद-अपूर्वकरणके होनेपर सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है । इसीको निसर्गम सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

भाष्य--अत्राह, तत्त्वार्थश्रद्धान् सम्यग्दर्शनमित्युक्तम् । तत्र किं तत्त्वमिति ? अत्रोच्यते--

अर्थः--उपर तत्त्वार्थिक श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बताया है, अतएव उसमें यह शका होती है, कि वे तत्त्व मित्रने हैं और उनका क्या स्वरूप है, कि नित्रके श्रद्धानसे सम्यग्दर्शन होता है ? अतएव इस शकाको दूर करनेके लिये-तत्त्वोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं--

सूत्र—जीवाजीवासवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—जीवा अजीवा आस्रया घन्ध सवरो निर्जरा मोक्ष इत्येव सप्तविधोऽर्थस्तत्त्वम् । एते वा सप्तपदार्थास्तत्त्वानि । तात्त्वक्षणतो विधातस्य पुरस्ताद्विस्तरणोपदेशायाम् ॥

अर्थ—जीव अजीव आस्रय बंध सवर निर्जरा और मोक्ष यह सात-प्रकारका अर्थ तत्त्व ममजना चाहिये । अथवा इन सात पदार्थोंको ही तत्त्व कहते हैं । इनका लक्षण और भेद कथनेके द्वारा आगे चलकर विस्तारसे वर्णन किया जायगा ।

भावार्थ—मूलमें तत्त्व दो ही हैं, एक जीव दूसरा अजीव । सर्व सामान्यकी अपेक्षा जीवद्रव्यका एक ही भेद है । अजीवके पाँच भेद हैं—पुद्गल धर्म अघर्म आकाश और काल । इनका लक्षण आदि बतावेंगे । इन्हीं छहको पञ्चद्रव्य कहते हैं । किन्तु इतनेसे ही मोक्षमार्ग मालूम नहीं होता । अतएव सात तत्त्वोंको भी जानना चाहिये । ये सात तत्त्व जीव और अजीवके सयोगसे ही निष्पन्न होते हैं । तथा यहाँपर अजीव शब्दसे मुख्यतया पुद्गलका ग्रहण करना चाहिये । संक्षेपमें इन सातोंका स्वरूप इस प्रकार है—

जो चेतना गुणसे युक्त है, अथवा जो ज्ञान और दर्शनरूप उपयोगको धारण करनेवाला है उसको जीव कहते हैं । जो इस जानने और देखनेकी शक्तिसे रहित है उसको अजीव कहते हैं । जीव और अजीवका सयोग होनेपर नवीन कौर्मण-

१—"भेद सांभ्रादसाक्षाच्च"—तत्त्वार्थमार—अमृतचद्रसूरि । २—जो स्वरूपमापस्वरोसे युक्त है उसको पुद्गल कहते हैं । कम पुद्गल द्रव्यकी ही एव पर्याय विशेष है । ३—पुद्गलमा । ४—पुद्गलके २३ भेदोंमेंसे जो स्वरूप धर्मरूप परिणाम करनेकी योग्यता रखते हैं, उनको कामाणर्णगा कहते हैं ।

वर्गणाओंके आनेको अथवा जिन परिणामोंके द्वारा कर्म आने हैं, उनको आत्म्य कहते हैं। जीव और कर्मके एकरूपतागहको बंध कहते हैं। कर्मोंके न आनेको अथवा जिन परिणामोंके निमित्तसे कर्मोंका आना रुक जाय, उनको सवर कहते हैं। कर्मोंके एकरूपतासे आत्मासे सम्बन्धके छूटनेको निर्जरा कहते हैं। आत्मासे सर्वाथा कर्मोंके सम्बन्धके छूट जानेको मोक्ष कहते हैं।

अब इन तत्त्वोंका व्यवहार किस किस तरहसे होता है, यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तद्व्यासः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—एभिर्नामादिभिश्चतुर्भिरनुयोगद्वारैस्तेषां जीवादीनां तत्त्वानां न्यासो भवति । विस्तरेण लक्षणतो विधानतश्चाधिगमार्थं न्यासो निक्षेप इत्यर्थः । तद्यथा । नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति । नाम सजाकर्म इत्यनयोन्तरम् । चेतनावतोऽचेतनस्य वा द्रव्यस्यजीवइति नाम क्रियते स नामजीव । य काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते जीव इति स स्थापनाजीवो देवताप्रतिकृतिषु दिन्द्रोरुद्र स्कन्दो विष्णुरिति । द्रव्यजीव इति गुणपर्यायवियुक्त प्रज्ञास्थापितोऽनादिपारिणामिकभावयुक्तो जीव उच्यते । अथवा सूत्रोऽयं भद्र । यस्य ह्यजीवस्य सतो भय जीवस्य स्यात् स द्रव्यजीव स्यात् अनिष्ट चैतत् । भाव तोजीवा ओपशमिकक्षाधिकक्षायोपशमिकौदयिः पारिणामिकभावयुक्ता उपयोगलक्षणा संसारिणो मुक्ताश्च द्वित्रिधा वक्ष्यन्ते । एतमजीवादिषु सर्वेष्वनुगन्तव्यम् । पर्यायान्तरेणापि नामद्रव्य स्थापनाद्रव्य द्रव्यद्रव्यम् भावतोऽद्रव्यमिति । यस्यजीवस्याजीवस्य वा नाम क्रियते द्रव्यमिति तन्नामद्रव्यम् । यत्काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु स्थाप्यते द्रव्यमिति तत्स्थापनाद्रव्यम् । देवताप्रतिकृतिषु दिन्द्रोरुद्र स्कन्दो विष्णुरिति । द्रव्यद्रव्य नाम गुणपर्यायवियुक्त प्रज्ञास्थापित धर्मादीनामन्यतमत् । केचिदप्यात्तर्यद्वयतो द्रव्यं भवति तच्च पुद्गलद्रव्यमेवेति प्रत्येतद्यम् । अणवः स्कन्धाश्च सङ्घातमेदम्य उत्पद्यन्ते इति वक्ष्याम । भावतो द्रव्याणि धर्मादीनि सगुणपर्यायाणि प्रातिलक्षणाणि वक्ष्यन्ते । आगततश्च प्राभूतहो द्रव्यमिति भवमाह । द्रव्यं च भव्ये । भव्यमिति प्राप्यमाह । भ्रष्टासात्वात्मनेपक्षी । तदेव प्राप्यन्ते प्राप्नुवन्ति वा द्रव्याणि । एव सर्वेषामनादीनामादिमताश्च जीवादीनां भावानां मोक्षान्तानां तत्त्वाधिगमार्थं न्यासः कार्य इति ।

अर्थ—इन नामादिक चार अनुयोगोंके द्वारा जीवादिक तत्त्वोंका न्यास—निर्देश—व्यवहार होता है । लक्षण और भेदोंके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान जिससे विस्तारके साथ हो सके, ऐसे व्यवहाररूप उपायको न्यास अथवा निक्षेप कहते हैं । इसी बातको जीवद्रव्यके ऊपर घटित करके बताते हैं—

जीव शब्दका व्यवहार चार प्रकारसे हो सकता है—नाम स्थापना द्रव्य और भाव । इन्हींको क्रमसे नामजीव स्थापनाजीव द्रव्यजीव और भावजीव कहते हैं । इनमें से प्रत्येकका खुलासा इस प्रकार है—नाम और सजाकर्म शब्द एक ही अर्थके वाचक है । चेतनायुक्त अथवा अचेतन किसी भी द्रव्यकी “ जीव ” ऐसी सजा कर देनेको नामजीव कहते हैं । किसी भी काष्ठ पुस्त चित्र अक्ष निक्षेपादिमें “ ये जीव हैं ” इस तरहके आरोपणको स्थापनाजीव कहते

है । जैसे कि देवताओंकी मूर्तिमें हुआ करता है, कि ये इन्द्र है, ये महादेव है, ये गणेश है, या ये विष्णु है, इत्यादि । द्रव्यगीय गुणपर्यायमे रहित होता है, सो यह अनादि पारिणामिक-भावमे युक्त है, अतएव जीवको द्रव्यगीय केवल बुद्धिमें स्थापित करके ही कर सकते हैं । अथवा हम भगवको शून्य ही समझना चाहिये, क्योंकि जो पदार्थ अजीव होकर जीवत्व हो सके, वह द्रव्यगीय कहा जा सकता है, सो यह बात अनिष्ट है । जो औपशमिक क्षायिक स्थायोपशमिक औदरिक और पारिणामिक भावोंसे युक्त है और निनता लक्षण उपयोग है, ऐंमे जंतुओंको भावगीय कहते हैं । वे दो प्रकारके हैं—समारी और मुक्त । सो उनका स्वरूप आगे चलकर दिखेंगे । निम तरह यहाँपर जीवके ऊपर ये चांगे निक्षेप पठित किये हैं, उमी प्रकार अजीवादिऊपर भी पठित कर लेना चाहिये ।

इसके विषय नामद्रव्य स्थापनाद्रव्य द्रव्यद्रव्य और भावद्रव्य इस तरह प्रकारान्तरसे भी इनका व्यवहार होना है, सो इसको भी यहाँ पठित करके बताते हैं—

जिसी भी जीव या अजीवका “द्रव्य” ऐसा सज्ञाकर्म करना नामद्रव्य कहा जाता है । कवच पुस्त निरुद्धमे अक्ष निक्षेपादिमें “ये द्रव्य हैं” इस तरहसे आरोपण करनेको स्थापना-द्रव्य कहते हैं । जैसे कि देवताओंकी मूर्तिमें यह इन्द्र है, यह रद्र है, यह गणेश है, यह विष्णु है, ऐसा आरोपण हुआ करता है । धर्म अवर्ग आराध आदिमेंसे केवल बुद्धिके द्वारा गुण पर्याय रहित किसी भी द्रव्यको द्रव्यद्रव्य कहते हैं । कुछ आचार्योंका इस विषयमें ऐसा कहना है, कि द्रव्यनिक्षेपही अपेक्षा द्रव्य केवल पुटल द्रव्यको ही समझना चाहिये । सो इस विषयका “अणव स्वरूप” और “सजातमेदेभ्य उत्पद्यन्ते” इन दो सूत्रोंका आगे चलकर दिखेंगे, उससे ~~ज्ञेय~~ जायगा । ग्रामिरूप लक्षणसे युक्त और गुण पर्याय रहित

इस प्रकारसे अनादि और साँटि जीव अजीव आदिक मोक्षपर्यन्त समस्त भावोंके तत्त्वका अधिगम प्राप्त करनेके लिये न्यासका उपयोग करना चाहिये ।

भावार्थ—प्रत्येक वस्तुका शब्द द्वारा व्यवहार चार प्रकारसे हुआ करता है, अतएव उस वस्तुका उस शब्द व्यवहारके द्वारा ज्ञान भी चार प्रकारसे हुआ करता है । इस ज्ञानके उपायको ही निक्षेप कहते हैं । उसके चार भेद हैं—नाम स्थापना द्रव्य और भाव ।

गुणकी अपेक्षा न करके केवल व्यवहारकी सिद्धिके लिये जो किसीकी सजा रख दी जाती है, उसको नामनिक्षेप कहते हैं, जैसे कि किसी मूर्त्तिका भी नाम विद्याधर रख दिया जाता है, अथवा माणिक और लाल रत्नके गुण न रहनेपर भी किसीका माणिकलाल नाम रख दिया जाता है । इत्यादि ।

किसी वस्तुमें अन्य वस्तुके इस तरहसे आरोपण करनेको कि “ यह वही है ” स्थापना निक्षेप कहते हैं, चाहे वह वस्तु जिसमें कि आरोपण किया गया है, साकार—जिस वस्तुका आरोपण किया गया है, उसके समान आकारको धारण करनेवाली हो या न हो । जैसे कि महावीर भगवान्के आकारवाली मूर्तिमें यह आरोपण करना, कि ये वे ही महावीर भगवान् है, कि जिन्होंने तीर्थंकर प्रकृतिके उदयवश भव्यजीवोंके हितार्थ समवसरणमें मोक्षके मार्गका उपदेश दिया था, इमको साकारमें स्थापनानिक्षेप समझना चाहिये । और शतरजके मुहरोंमें जो बाटशाह वजीर हाथी घोडा आदिका आरोपण किया जाता है उसको अतटाकारमें स्थापनानिक्षेप कहना चाहिये ।

नाम और स्थापना दोनों ही निक्षेपोंमें गुणकी अपेक्षा नहीं रखी जाती, फिर दोनोंमें क्या अन्तर है? यह प्रश्न हो सकता है । सो उसका उत्तर इस प्रकार है, कि पहले तो नाम निक्षेपमें जिस प्रकार गुणकी अपेक्षाका सर्वथा अभाव है, उस प्रकार स्थापनानिक्षेपमें नहीं है । क्योंकि नाम रखनेमें किसी प्रकारका नियम नहीं है, किन्तु स्थापनाके लिये अनेक प्रकारके नियम बताये हैं । दूसरी बात यह है, कि नाममें आदरानुग्रह नहीं होता, परन्तु स्थापनामें वह होता है । मूर्तिमें जो पार्श्वनाथकी स्थापना की गई है, सो उस मूर्तिकी भी खास पार्श्वनाथ भगवान्के समान ही आदर सत्कार किया जाता है ।

किसी वस्तुकी आगे जो पर्याय होनेवाली है, उसको पहले ही उस पर्यायरूप कहना इसको द्रव्यनिक्षेप कहते हैं । जैसे कि राजपुत्र अथवा युवराजको राजा कहना । क्योंकि यद्यपि वह वर्तमानमें राजा नहीं है, परन्तु भविष्यमें होनेवाला है, अतएव उसको वर्तमानमें राजा

१-वस्तुस्वरूपकी अपेक्षा । २ पर्यायकी अपेक्षा । ३-अतद्गुणेषु भांग्णु व्यवहारप्रसिद्धये यत्तत्कार्म तन्नाम नरेच्छावदावर्तनात् ॥ ४-साकारे वा मित्रकारे फाण्णदौ शभिवेशनम् । गोयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥ ५-आगामिगुणगोप्योऽर्थोद्रव्यन्यासस्य गोचर ॥ (तत्त्वार्थसार-अष्टतत्त्वसूत्र)

कहना द्रव्यनिक्षेपका विषय है । अथवा भूत । भविष्यत् पर्यायरूपसे वर्तमान वस्तुके व्यवहार करनेको द्रव्यनिक्षेप कहते हैं । जैसे कि राज्य छोड़ देनेवालेको भी राजा कहना, अथवा मुनीमीकी नौकरी छोड़ देनेवालेको भी मुनीमजी कहना या विद्यार्थीको पंडित कहना, इत्यादि ।

किसी भी वस्तुको वर्तमानकी पर्यायकी अपेक्षासे कहना भावनिक्षेप है । जैसे कि राज्य करते हुएको राजा कहना अथवा मनुष्य पर्याययुक्त जीवको मनुष्य कहना । इत्यादि ।

इन उपर्युक्त चार निक्षेपोंको यहाँपर जीव द्रव्यकी अपेक्षासे घटित करके बताया है । उसी प्रकार समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायों तथा सम्यग्दर्शन आदिकी अपेक्षासे भी घटित कर लेना चाहिये । विशेष बात यह ध्यानमें रखनी चाहिये, कि जो भग जहा सभव न हो, उसको छोड़ देना चाहिये । जैसा कि यहाँपर जीवद्रव्यके द्रव्यनिक्षेपका भग शून्यरूप बनाया गया है । क्योंकि उसमेंसे जीवन गुणका कभी भी अभाव नहीं होता । द्रव्यनिक्षेपसे जीव उसको कह सकते हैं, कि जिसमें वर्तमानमें तो जीवन गुण न हो, परन्तु भूत अथवा भविष्यत्में वह गुण पाया जाय । सो यह बात असभव है । क्योंकि यदि किसी वस्तुके गुणका कभी भी अभाव माना जायगा तो उस वस्तुका ही अभाव मानना पड़ेगा, और एक वस्तुके किसी भी गुणका दूसरी वस्तुमें यदि सक्रमण माना जायगा, तो सर्वसकरता नामका दोष आरु उपस्थित होगा ।

यहाँपर जीवद्रव्यके विषयमें द्रव्यनिक्षेपको जो शून्यरूप कहा है, वह जीवत्व—सामान्य जीवद्रव्यकी अपेक्षासे समझना चाहिये । जीव विशेषकी अपेक्षासे यह भग भी घटित हो सकता है, यथा—कोई मनुष्य जीव भरकर देव होनेवाला है, क्योंकि उसने देव आयुका निकाचित बध किया है, ऐसी अवस्थामें उस मनुष्य जीवको देवजीव कहना द्रव्यनिक्षेपका विषय है ।

जीवादिक पदार्थोंको जाननेके लिये और भी उपाय बतानेको सत्र कहते हैं —

सूत्र—प्रमाणनयैरधिगमः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—एषां च जीवादीनां तत्त्वानां यथोद्धृष्टानां नामादिभिर्न्यस्तानां प्रमाणनयैर्विस्तराधिगमो भवति । तत्र प्रमाण द्विविधं परोक्ष प्रत्यक्षं च दृश्यते । चतुर्विधमित्येके । नय-वादान्तरेण । नयाश्च नैगमादयो वक्ष्यन्ते ।

किंचान्यत् ।

अर्थ—जिन जीव अजीव आदि तत्त्वोंका नामनिर्देश “जीवाजीवास्त्व”-आदि सूत्रके द्वारा किया जा चुका है, और जिनका न्यास-निक्षेप “नामस्थापना”-आदि उपर्युक्त सूत्रके द्वारा किया गया है, उनका विस्तार पूर्वक अधिगम प्रमाण और नयके द्वारा हुआ करता है ।

इनमेंसे प्रमाणके दो भेद हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष । किमी किमी आचार्यने इसके चार भेद माने हैं । सो यह कथन भिन्न नयनाद—अपेक्षासे समझना चाहिये । इसी प्रकार नयोंके नैगम समग्र आदि सात भेद हैं । उनका भी हम आगे चलकर वर्णन करेंगे ।

भावार्थ—तत्त्वोंके जाननेका ज्ञानरूप उपाय प्रमाण और नय इस तरह दो प्रकारका है । सम्यग्ज्ञानको प्रमाण और प्रमाणके एक देशको नय कहते हैं । प्रमाणके यद्यपि अनेक भेद हैं, जिनका कि आगे चलकर निरूपण किया जायगा, परन्तु सामान्यसे उमके दो भेद हैं—परोक्ष और प्रत्यक्ष । जो पर—आत्मासे भिन्न—इन्द्रिय अथवा मनकी सहायतासे उत्पन्न होता है, उसको परोक्ष, और जो परकी सहायता न लेकर केवल आत्ममात्रसे ही उत्पन्न होता है, उस ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं ।

प्रमाण और नय दोनों ज्ञानस्वरूप हैं, फिर भी उनमें महान् अन्तर है । क्योंकि एक गुणके द्वारा अशेष वस्तुस्वरूपके ग्रहण करनेको प्रमाण और वस्तुके एक अशविशेषके ग्रहण करनेको नय कहते हैं । अतएव दोनोंमें सफलदेश और विकलदेशका अन्तर समझना चाहिये ।

उपर्युक्त उपायोंके सिवाय जीवादिक तत्त्वोंको निस्तारसे जाननेके लिये और भी उपाय हैं । अतएव उनको भी बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—एभिश्च निर्देशादिभिः षड्भिरनुयोगद्वारे सर्वपा भवाना जीवादीना तत्त्वाना विकल्पशो विस्तरेणाधिगमो भवति । तद्यथा—निर्देशः । को जीव ? ओपशमिकादिभावयुक्तो द्रव्य जीव ।

। सम्यग्दर्शनपरीक्षायाम्—किं सम्यग्दर्शनम् ? द्रव्यम् । सम्यग्दृष्टिजीवोऽरूपी नोस्कन्धो नो घामः । स्वामित्वम्—कस्य सम्यग्दर्शनमित्येतदात्मसयोगेन परसयोगेनोभयसयोगेन चेति वाच्यम् । आत्मसयोगेन जीवस्य सम्यग्दर्शनम् । परसयोगेन जीवस्याजीवस्य जीवयोरजीवयोर्जीवानामजीवानामिति विकल्पाः । उभयसयोगेन जीवस्य नोजीवस्य जीवयोरजीवयोर्जीवानामजीवानामिति विकल्पा न सन्ति । ओपाः सन्ति । साधनम्—सम्यग्दर्शनं केन भवति ? निसर्गाधिगमाद्वा भवतीत्युक्तम् । तत्र निसर्गं पूर्वोक्तं । अधिगमस्तु सम्यग्वायाम् । उभयमपि तदावरणीयस्य कर्मणः क्षयेणोपशमेन क्षयोपशाम्यामिति । अधिकरण त्रिविधमात्मसन्निधानेन परसन्निधानेनोभयसन्निधानेनेति वाच्यम् । आत्मसन्निधानम् म्यन्तरसन्निधानमित्यर्थः । कस्मिन् सम्यग्दर्शनम् ? आत्मसन्निधाने तावत्जीवे सम्यग्दर्शनम् जीवे ज्ञानम्, जीवैचारित्र्यमित्येतदादि । बाह्यसन्निधाने जीवे सम्यग्दर्शनम् नोजीवे सम्यग्दर्शनामिति यथोक्ता विकल्पाः । उभयसन्निधाने चाप्यभूता सद्भूताश्च यथोक्ता भगविकल्पा इति । स्थिति—सम्यग्दर्शनम् कियन्त कालम् ? सम्यग्दृष्टिद्विविधा । सादि सपर्यवसाना सादिरपर्यवसाना च । सादिसपर्यवसानमेव च सम्यग्दर्शनम् । तज्जघन्येनान्तर्मुहुर्तम् उत्कृष्टेन पटपट्टिः सागरोपमाणि साधिकानि । सम्यग्दृष्टिः सादिरपर्यवसाना । सयोगः शैलेरीप्राप्तश्च केवली सिद्धश्चेति । विधानम्—हेतुत्रैविध्यात् क्षयादिभि

विषयसम्यग्दर्शनम् । तदावरणयित्वा कर्मणो दर्शनमोहरय च क्षयादिभ्यः । तद्यथा-क्षयसम्यग्दर्शनम्, उपशमसम्यग्दर्शनम्, क्षयोपशमसम्यग्दर्शनामिति । अत्रचोपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकाणां परतः परतो विद्युद्धिप्रकर्षः ।

किं चान्यत्—

अर्थ—ये निर्देश आदि जो छह अनुयोगों द्वारा हैं, उनसे सभी भावरूप जीवादिक तत्त्वोंका उनके भेद प्रभेदरूपसे विस्तारके साथ अधिगम हुआ करता है । जैसे कि निर्देशकी अपेक्षा किसीने पूछा कि—जीव किसको कहते हैं ? तो उसका उत्तर देना, कि जो द्रव्य औपशमिक आदि भावोंसे युक्त है, उसको जीव कहते हैं ।

इसी तरह यदि कोई सम्यग्दर्शनके विषयमें निर्देशकी अपेक्षा प्रश्न करे, कि सम्यग्दर्शन किसको कहते हैं ? उसका स्वरूप क्या है ? तो उसको उत्तर देना, कि वह जीव द्रव्यस्वरूप है । क्योंकि नोदरूप और नोपामरूप अरूपी सम्यग्दृष्टि जीवरूप ही वह होता है ।

स्वामित्वके विषयमें यदि कोई पूछे, कि सम्यग्दर्शन किसके होता है ? तो उसका उत्तर तीन अपेक्षाओंसे दिया जा सकता है, आत्मयोगकी अपेक्षा परसयोगकी अपेक्षा और उभयसयोगकी अपेक्षा । अर्थात् इनमें से किसी भी एक दो अथवा तीनों ही प्रकारसे सम्यग्दर्शनके स्वामित्वका व्याख्यान करना चाहिये । इनमेंसे पहले भेदकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनका स्वामी जीव है—अर्थात् आत्मसयोगकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन जीवके होता है । दूसरे भेद—परसयोगकी अपेक्षा सम्यग्दर्शन एक जीवके या एक अजीवके अथवा दो जीवोंके या दो अजीवोंके यद्वा बहुतसे जीवोंके या बहुतसे अजीवोंके ही सकता है, इस प्रकार इस भेदकी अपेक्षा स्वामित्वके भेदोंको समझना चाहिये । तीसरे भेद—उभयसयोगकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनके स्वामित्वमें ये विकल्प नहीं होते—एक जीवके, नोजीव—ईषत् जीवके, दो जीवके या दो अजीवके, बहुतसे जीवोंके या बहुतसे अजीवोंके, इनके मिश्रण अन्य विकल्प हो सकते हैं ।

सौधनकी अपेक्षासे यदि कोई पूछे, कि सम्यग्दर्शन किसके द्वारा होता है ? उसकी उत्पत्तिका कारण क्या है ? तो उसका उत्तर यह है, कि सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम इन दो हेतुओंसे उत्पन्न हुआ करता है । इनमेंसे निसर्गका स्वरूप पहले बता चुके हैं । और अधिगमका अभिप्राय यहाँपर सम्यग्यायाम समझना चाहिये । अर्थात् ऐसी शुभ क्रियाएँ करना, कि जिनके निमित्तसे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति हो सके । निसर्गज तथा अधिगमज इस तरह दोनों ही प्रकारका सम्यग्दर्शन अपने अपने आवरण कर्मके क्षयसे अथवा उपशमसे यद्वा क्षयोपशमसे हुआ करता है । अधिकरण तीन प्रकारका माना है—आत्मसन्निधानकी अपेक्षा, परसन्निधानकी

१-जाननेके उपायोंको अनुयोग कहते हैं । २-लक्षण अथवा स्वरूपके बहनेको निर्देश कहते हैं । " निर्देश स्वरूपाभिधानम् । "—सर्वाथसिद्धि । ३-स्वामित्वमाधिवत्यम् । ४-साधनमुत्पत्तिनिमित्तम् । ५-इसी अध्यायके दूसरे सूत्रकी व्याख्यामें ।

अपेक्षा, और उभयसन्निधानकी अपेक्षा । आत्मसन्निधानका अभिप्राय अम्यन्तरसन्निधान और परसन्निधानका अभिप्राय बाह्यसन्निधान है । बाह्य और अम्यन्तर दोनों सन्निधानोंके मिश्रणको उभयसन्निधान कहते हैं । अतएव यदि कोई अधिकरणकी अपेक्षासे प्रश्न करे, कि सम्यग्दर्शन कहाँ रहता है, तो उसका उत्तर इन तीन सन्निधानोंकी अपेक्षासे दिया जा सकता है । आत्मसन्निधानकी अपेक्षा कहना चाहिये, कि जीवमें सम्यग्दर्शन रहता है । इसी तरह ज्ञान और चारित्र आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये । जैसे कि जीवमें ज्ञान है, अथवा जीवमें चारित्र है, इत्यादि । बाह्य सन्निधानकी अपेक्षा जीवमें सम्यग्दर्शन नो जीवमें सम्यग्दर्शन, इन विन्ययोंको पहले कहे अनंतर आगममें कहे हुए अनुसार समझ लेना चाहिये । इसी तरह उभयसन्निधानकी अपेक्षासे भी अभूत और मद्भूतरूप भङ्गोंके विकल्प आगमके अनुसार समझ लेने चाहिये । स्थितिका अर्थ कालप्रमाण है । अर्थात् सम्यग्दर्शन कितने कालतक रहता है, इस बातको स्थिति अनुयोगके द्वारा जानना चाहिये । सम्यग्दृष्टिके दो भेद हैं—एक सादिसात और दूसरा सादिअनन्त । सम्यग्दर्शन सादि और सात ही हुआ करता है । उसका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल कुछ अधिक छायासठ सार्गर प्रमाण है, सम्यग्दृष्टि सादि होकर अनन्त होते हैं । तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली अरिहत भगवान्, शील—ब्रह्मचर्यकी स्वामिताको प्राप्त, चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भगवान्, और ससारातीत सिद्धपरमेष्ठी ये सादि अनन्त सम्यग्दृष्टि हैं । विद्या नाम भेदोंका है । सम्यग्दर्शन हेतुभेदकी अपेक्षासे तीन प्रकारका कहा जा सकता है । क्योंकि वह सम्यग्दर्शनको आवृत्त करनेवाले दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयसे अथवा उपशमसे यद्वा क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ करता है । अतएव सम्यग्दर्शन भी तीन प्रकारका समझना चाहिये—क्षयसम्यग्दर्शन उपशमसम्यग्दर्शन और क्षयोपशमसम्यग्दर्शन । प्रतिपक्षी दर्शनमोहनीय कर्म और चार अनन्तानुबन्धी कषाय इनका क्षय होनेपर जो सम्यग्दर्शन प्रकट हो, उसको क्षय सम्यग्दर्शन अथवा क्षायिकसम्यग्दर्शन समझना चाहिये । और जो सम्यग्दर्शन इन कर्मोंके उपशान्त होनेपर उद्भूत हो, उसको उपशमसम्यग्दर्शन अथवा औपशमिकसम्यग्दर्शन समझना चाहिये । तथा इन कर्मोंका क्षय और उपशम दोनों होनेपर जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो, उसको क्षयोपशम अथवा क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शन समझना चाहिये । इनमें विशेषता यह है कि औपशमिक क्षायोपशमिक और क्षायिक इनकी विशुद्धि क्रमसे उत्तरोत्तर अधिक अधिक हुआ करती है ।

१—उपमात्मानका एक भेद है, इसका स्वरूप गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा है । २—“ सीलेसि सपत्तो गिरुद्ध गिरसेसभागवो जीवो । वम्मरयत्रिप्पमुक्को गयजोगो केवली होदी । १६५॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड) इस वचनके अनुसार अयोगकेवलीको शैलेशी प्राप्त सम्पन्ना चाहिये । क्योंकि शीलके अठारह हजार भेदोंकी पूर्णता यहाँ पर होती है । ३—दिग्गमर सम्प्रदायके अनुसार औपशमिक और धायिन्सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा क्षायोपशमिकसम्यग्दर्शनकी विशुद्धि कम हुआ करती है । क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनमें प्रतिपक्षी कर्मोंसे सम्पत्त्व नामकी देशघाती प्रवृत्तिका उदय भी रहा करता है, जिसके निमित्तसे उसमें चल मलिन और अगाढ दोष उत्पन्न हुआ करते हैं । औपशमिक और क्षायिकमें उत्तका उदय नहीं रहता, अतएव दोष भी उत्पन्न नहीं होते । तथा निर्मलतारी अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों सम्यग्दर्शन समान हैं ।

अर्थात् औपशमिकसे क्षायोपशमिक और क्षायोपशमिकसे क्षायिककी विशुद्धि-निर्मलता अधिक हुआ करती है ।

भावार्थ—जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप विस्तृत रूपसे जाननेके लिये ये निर्देशादिक छह अनुयोगद्वारा बताये हैं । अतएव यद्यपि यहाँपर केवल सम्यग्दर्शन की अपेक्षा लेकर ही ये घटित करके बताये हैं, परन्तु इनको सभी विषयोंमें आगमके अनुसार घटित कर लेना चाहिये ।

अनेक मतवालोंने वस्तुका स्वरूप भिन्न भिन्न प्रकारसे माना है, कोई वस्तुको शून्यरूप मानते हैं, कोई धर्मरहित मानते हैं, कोई नित्य मानते हैं, कोई अनित्य मानते हैं, कोई विज्ञानरूप मानते हैं, कोई ब्रह्मरूप मानते हैं, और कोई शब्दरूप ही मानते हैं, इत्यादि अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ प्रचलित हैं, जिनसे वस्तुके वास्तविक स्वरूपका बोध नहीं होता, अतएव उसके बतानेकी आवश्यकता है । यही पहले अनुयोग-निर्देशका कार्य है ।

किसी किसी का कहना है, कि वस्तुमें सम्बन्धकी कल्पना करना सर्वथा मिथ्या है । क्योंकि सम्बन्ध दो वस्तुओंमें हुआ करता है । सो यदि शशविषाण और अश्वविषाणकी तरह वह दो असिद्ध वस्तुओंका माना जायगा, तो सर्वथा अयुक्त है, और यदि बन्ध्या तथा उसके पुत्रकी तरह एक सिद्ध और एक असिद्ध वस्तुका वह माना जायगा, तो वह भी बन नहीं सकता । इसी प्रकार यदि दो सिद्ध वस्तुओंका सम्बन्ध माना जायगा तो वह भी अयुक्त ही है । क्योंकि सम्बन्ध परतन्त्रताकी अपेक्षा रखता है, और सभी वस्तुएँ अपने अपने स्वरूपमें स्वतन्त्र हैं । यदि वस्तुस्वरूप परतन्त्र माना जायगा, तो अनेक प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित होंगी । इत्यादि । सो यह कहना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि वस्तुके अन्दर कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद स्याद्वादसिद्धान्तके द्वारा सुसिद्ध है, और इसी लिये स्वस्वामी आदिके सम्बन्ध भी सुगट ही है । इसके बिना वस्तुका स्वरूप भी स्थिर नहीं रह सकता । अतएव इस तरहके सम्बन्धोंका और उनके द्वारा वस्तुका बोध कराना दूसरे अनुयोग-स्वामित्वका कार्य है ।

कोई वादी कह सकता है, कि वस्तुका स्वरूप स्वयं ही सिद्ध है । क्योंकि सत्ता विनाश नहीं हो सकता, और असत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि वस्तुको परत सिद्ध माना जायगा तो सत्का विनाश और असत्की उत्पत्ति भी माननी पड़ेगी । अतएव जब वस्तु स्वयंसिद्ध ही है तो उसकी उत्पत्तिके निमित्तोंको बतानेकी क्या आवश्यकता है ? सो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य है । यदि वस्तुको सर्वथा नित्य ही माना जायगा, तो समारके सम्पूर्ण व्यवहारोंका लोप हो जायगा, और मसार मोक्षका भेद तथा मोक्ष प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ ही ठहरेगा । अतएव वस्तुका स्वरूप कथञ्चित् अनित्य भी है । और इसीलिये उसकी पर्यायोंके कारणोंको बताना भी आवश्यक है । कौनमी कौनसी पर्याय किन किन कारणोंसे उत्पन्न होती है, यह बताना ही तीसरे अनुयोग-साधनका प्रयोजन है ।

इसी प्रकार जो पदार्थोंको आधारधेय भावसे सर्वथा रहित मानते हैं, उनका कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, इस बातको बतानके लिये ही अधिकरण अनुयोगका उल्लेख किया है। यद्यपि निश्चयनयसे कोई भी पदार्थ न किसीका आधार है, और न किसीका आधेय है। आकाशके समान सभी पदार्थ स्वप्रतिष्ठ ही हैं। परन्तु सर्वथा ऐसा ही नहीं है। क्योंकि द्रव्यगुण आदिका भी आधाराधेयभाव प्रमाणसे सिद्ध है। अतएव पदार्थोंके परिमाणकृत अल्प-बहुत्व अथवा व्याप्यव्यापक भावका बताना आवश्यक है, और यह बताना ही चौथे अनुयोग—अधिकरणका प्रयोजन है।

कोई कोई मतवाले पदार्थोंको क्षणनश्वर मानते हैं, और इसीलिये वे उसकी स्थितिको वस्तुभूत नहीं मानते। परन्तु सर्वथा ऐसा माननेसे पदार्थोंके निरन्वय नाशका प्रसङ्ग आता है। और पुण्य पापका अनुष्ठान भी व्यर्थ ही ठहरता है। अतएव यह बतानेकी आवश्यकता है, कि जब पदार्थ कथञ्चित् अनित्य है और कथञ्चित् नित्य है, तो उसकी अनित्यताके कालका प्रमाण कितना है। और इसी लिये ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्षणमात्रका कालप्रमाण तथा द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा अनेक क्षणका उसका काल प्रमाण है, यह बताना ही पाँचवें अनुयोग—स्थितिका प्रयोजन है।

सम्पूर्ण सद्भूत तत्त्व एकरूप ही है। उसके आकार या विशेष भेद वास्तविक नहीं है। ऐसा किसी किसी का कहना है, सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि वस्तुके नाना आकारोंके बिना एकरूपता भी बन नहीं सकती। सम्पूर्ण पदार्थोंको एकरूप कहना ही अनेक भेदोंको सिद्ध करता है। अतएव वस्तुमें भेद कल्पना भी वास्तविक ही है, और इसी लिये नानाभेदरूपसे जीवादिक तत्त्वोंका या सम्यग्दर्शनदिकका अङ्गिम कराना उष्टे अनुयोग—विधानका युक्ति सिद्ध प्रयोजन समझना चाहिये।

इस प्रकार रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग और उसके विषयभूत जीवादिक तत्त्वोंको तद्वेपसे जाननेके लिये उपायभूत निदेशादिक उह अनुयोगोंका वर्णन किया। जो विस्तारके साथ उनका स्वरूप जानना चाहते हैं, उनके लिये इनके सिवाय मदादिक आठ अनुयोगद्वारा और भी बताने हैं। अतएव अब उन्हींको बतानेके लिये यहाँपर सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सत्सख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च ॥ ८ ॥

भाष्यम्—सत्, सत्त्वा, क्षेत्र, स्पर्शनं, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्वमित्येतैश्च सद्भूतपदप्ररूपणादिभिः। अस्तीतिविद्यमाने सर्वभावाना विकल्पशो विस्तराधिगमो भवति। कथमितिवेदुच्यते—सत् सम्यग्दर्शनं किमस्ति नास्तीति। अस्तीत्युच्यते। कास्तीति चेदुच्यते—अजीविषु तावदास्ति। जीविषु तु भाज्यम्। तथा—गतीन्द्रियकाययोगकपायवेदलेस्यासम्यक्त्वं ज्ञानदर्शनचरित्राहारोपयोगेषु त्रयोदशस्वतन्त्राद्वारेषु यथासंभव सद्भूतप्ररूपणा कर्तव्या। सख्या—कियत्सम्यग्दर्शनं किं सरयेयमसरयेयमनन्तामिति, उच्यते,—असख्येयानि सम्यग्दर्श-

नानि, सम्यग्दृश्यस्त्वनन्ता ॥ क्षेत्र, सम्यग्दर्शनं कियितिशेने, लोकस्यासुरयेयभागे ।
स्पर्शनम् । सम्यग्दर्शनेन किंलृष्टम् ? लोकस्यासुरयेयभाग, सम्यग्दृष्टिना तु सर्वलोक
शति । अत्राह-सम्यग्दृष्टिसम्यग्दर्शनयो क प्रतिविशेष इति । उच्यते । अपायसद्व-
ध्यतया सम्यग्दर्शनमयाथ आभिनेत्रोधिकम् । तद्योगात्सम्यग्दर्शनम् । तत्केवलिनो
नास्ति । तस्माच्च केरली सम्यग्दर्शनी, सम्यग्दृष्टिस्तु ॥ काल । सम्यग्दर्शनं कियन्त काल
मित्यत्रोच्यते । तदेकजीवेन नानाजीवेद्य परीक्ष्यम् तद्यथा-एकजीव प्रति जघन्येनान्त
सुदृढंमुक्तुष्टेन पदपष्टि सागरोपमाणि साधिकानि । नानाजीवान् प्रति सर्वाद्वा ॥ अन्तरम् ।
सम्यग्दर्शनस्य को विरहकाल । एक जीव प्रति जघन्येनान्तसुदृढंमुक्तुष्टेन उपाधपुद्गल परि
वर्त । नानाजीवान् प्रति नास्त्यन्तरम् ॥ भाव । सम्यग्दर्शनमोपशमिकादीना भावानां कतमो
भाव ? उच्यते । ओदयिः पारणामिकार्जं त्रिभुभावेषु भवति । अल्पबहुत्वम् । अत्राह-सम्य-
ग्दर्शनाना त्रिषु भावेषु वर्तमानाना किं तुल्यसाधत्वमारोस्विदल्पप्रदुत्त्वमस्तीति । उच्यते ।
सर्वस्तोकमीपशमिकम् । तत क्षायिकमसंरयेयशुणम् । ततोऽपिक्षायोपशमिकमसंरयेय
णम् । सम्यग्दृश्यस्त्वनन्तगुणा इति । एव सर्वभावाना नामादिभिर्न्यास कृत्वा प्रमाणा-
दिभिरधिगम कार्य ॥

उक्त सम्यग्दर्शनम् । ज्ञान वक्ष्याम ।

अर्थ—सत्, सरया, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, और अल्पबहुत्व इन आठ
अनुयोगोंके द्वारा भी जीवादि तत्त्वोंका तथा सम्यग्दर्शनादिकका अधिगम हुआ करता
है । ये सत् सख्या आदि पदोंकी प्ररूपणा आदिक आठ अनुयोग द्वार ऐसे है, कि
जिनके द्वारा जीवादि सभी पदार्थोंके भेदोंका क्रमसे विस्तारके साथ अधिगम हुआ करता है ।
सो किस तरहसे होता है, यही बात यहाँपर बताते हैं और उसके लिये आठोंमेंसे सबसे पहली-
सत्प्ररूपणाको सम्यग्दर्शनका आश्रय लेकर यहाँ दिखाते हैं ।—यदि कोई पूछे, कि सम्यग्दर्शन
है या नहीं ? तो इस सामान्य प्रश्नका उत्तर भी सामान्यसे यही हो सकता है, कि हे, परन्तु
उसमें भी यदि कोई विशेषरूपसे प्रश्न करे, कि वह सम्यग्दर्शन कहाँ कहाँपर है, तो उसका
उत्तर भी विशेषरूपसे ही होगा, और वह इस प्रकार है, कि सम्यग्दर्शन अजीव द्रव्यमें तो
नहीं ही होता, जीवद्रव्यमें ही होता । परन्तु जीवद्रव्यमें भी सबमें नहीं होता, कितीमें होता है
कितीमें नहीं होता, किस किस में होता है, इस बातको भी विशेषरूपसे जाननेके लिये गति
इन्द्रिय काय योग कपाय वेद लेश्या सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन चारित्र आहार और उपयोग इन तेरह
अनुयोगद्वारोंमें आगमानुसार यथासभ्य सत्प्ररूपणा घटित कर लेनी चाहिये ।

क्रमानुसार सख्या प्ररूपणाको कहते हैं—सम्यग्दर्शन कितने है, सख्यात है असख्यात है,
या अनत है ? इसका उत्तर इस प्रकार है, कि सम्यग्दर्शन असख्यात है, परन्तु सम्यग्दृष्टि
अनन्त है ।

१— इनको जीवसमस तथा मार्गणा भी कहते हैं । दिग्गन्धर सिद्धान्तमें इनके चौदह भेद माने हैं—गति
इन्द्रिय काय योग वेद कपाय ज्ञान संयम दर्शन लेश्या सहा और आहार ।

क्षेत्रप्ररूपणा—सम्यग्दर्शन कितने क्षेत्र में रहता है ? इसका उत्तर इतना ही समझना चाहिये, कि लोकके असख्यातमें भागमें, । अर्थात् असख्यात प्रदेशरूप तीनसे तेतालीस (३४३) राजू प्रमाण लोकमें असख्यातका भाग देनेसे जितने प्रदेश लब्ध आवें, उतने ही लोकके प्रदेशोंमें सम्यग्दर्शन पाया जा सकता है ।

स्पर्शनिप्ररूपणा—सम्यग्दर्शन कितने स्थानका स्पर्श करता है ? उत्तर—सम्यग्दर्शन तो लोकके असख्यातमें भागका ही स्पर्श किया करता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण लोकका स्पर्श किया करते हैं । यहाँपर यह शका हो सकती है, कि सम्यग्दृष्टि और सम्यग्दर्शन इनमें क्या अन्तर है ? इसका उत्तर—दोनोंमें अपाय और सद्व्यवस्थाकी अपेक्षासे अन्तर है । सम्यग्दर्शन अपाय आभिनिवोधिऋरूप है, और सम्यग्दृष्टि सद्व्यवस्था है । अर्थात् अपाय नाम डूटनेका है, सो सम्यग्दर्शनमें इसका सम्बन्ध पाया जाता है—सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर डूट जाता है, या छूट सकता है । परन्तु सम्यग्दृष्टिमें यह बात नहीं है । केवली सद्व्यवस्था है, अतएव उनको सम्यग्दृष्टि कह सकते हैं सम्यग्दर्शनी नहीं कह सकते । क्योंकि उनमें अपायका योग नहीं पाया जाता ।

कालप्ररूपणा—सम्यग्दर्शन कितने कालतक रहता है ? इसका उत्तर इस प्रकार है—कालकी परीक्षा या प्ररूपणा दो प्रकारसे हो सकती है, एक तो एक जीवकी अपेक्षा दूसरी नाना जीवोंकी अपेक्षा । एक जीवकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शनका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्तमात्र है, और उत्कृष्ट काल छयासठ सागरसे कुछ अधिक है । अर्थात् किसी एक जीवके सम्यग्दर्शन उत्पन्न होकर कमसे कम अन्तर्मुहूर्त तक अवश्य रहा करता है । उसके बाद वह डूट सकता है, और ज्याद से ज्याद वह कुछ अधिक छयासठ सागर तक रह सकता है, उसके बाद अवश्य डूट जाता है । नाना जीवोंकी अपेक्षा सम्यग्दर्शनका सम्पूर्ण काल है । अर्थात् कोई भी समय ऐसा न था न है और न होगा, कि जब किसी भी जीवके सम्यग्दर्शन न रहा हो या न पाया जाय ।

अन्तरप्ररूपणा—सम्यग्दर्शनका विरहकाल कितना है ? उत्तर—एक जीवकी अपेक्षा

१—लोक यह भी उपमामान सख्यात भेद है । क्योंकि उपमामानक आठ भेद हैं—पच, सागर, सूच्यगुल, प्रतराङ्गुल, घनाङ्गुल, जगच्छ्रेणी, जगत्तर और लोच । इनका स्वरूप आगे लिखेंगे । जगच्छ्रेणीके सातवें भागसे राजू कहते हैं । २—असख्यातके भी असख्यात भेद है ।—वर्तमान कालके आधारकी धेन और तीनों कालके आधारको स्पर्शन कहते हैं । ३—दिगम्बर सिद्धान्तमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टिमें इस तरहका अन्तर नहीं माना है । क्योंकि गुण गुणोक्ते छोडकर नहीं रह सकता । अतएव सम्यग्दर्शन आत्माका गुण है, वह जिनके पाया जाय, उनसे सम्यग्दृष्टि धयवा सम्यग्दर्शनी समझना चाहिये । इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टिका भेद नहीं कहा जा सकता । ही सम्यग्दृष्टि जीव दो प्रकारके हुआ करते हैं—ससारी और मुक्त । ससारी जीवका सम्यग्दर्शन साक्षात्—अन्तर्मुहूर्तसे लेकर कुछ अधिक छयासठ सागरतक होता है, और मुक्त जीवोंका साक्षात्काल होता है ।

नान्य अन्तर्मुहूर्त्त और उदकृष्ट अर्धपुद्गल परिवर्तन है । किन्तु नाना जीवोंकी अपेक्षामें अन्तर-
काल होता ही नहीं है । अर्थात् जब नाना जीवोंकी अपेक्षामें सम्यग्दर्शन सदा ही रहा करता
है, तो उसका निरहकाल कभी भी नहीं रह सकता, यह बात स्पष्टतया सिद्ध है । हाँ एक
जीवकी अपेक्षा अन्तर पाया जा सकता है, क्योंकि वह उत्पन्न होकर छूट भी जाता है ।
उत्पन्न होकर छूट जाय, ओर फिर वही उत्पन्न हो, उसके गन्धमें नितना काल लगता है
उसको निरहकाल करते हैं । एक जीवके सम्यग्दर्शनका निरहकाल कमसे कम अन्तर्मुहूर्त्त और
ज्याद से ज्यादा अर्धपुद्गलपरिवर्तन है ।

भाष्यप्ररूपणा—औपशमिकीति भावोंमेंसे सम्यग्दर्शनको कौनसा भाग समझना चाहिये ?
इसका उत्तर यह है, कि औद्ययिक और पारणामिक इन दो भावोंको छोड़कर
वाक्यके तीनों ही भावोंमें सम्यग्दर्शन रहा करता है । अर्थात् सम्यग्दर्शन कहीं औपशमिक कहीं
शायिक और कहीं क्षायोपशमिक इस तरह तीनों ही स्वरूप पाया जा सकता है ।

अल्प बहुत्व प्ररूपणा—औपशमिकीति तीन प्रकारके भावोंमें रहनेवाले तीनों ही
सम्यग्दर्शनोंकी सत्या समान है, अथवा उनमें कुछ न्यूनधिकता है ? उत्तर—तीनोंमेंसे औप-
शमिक सम्यग्दर्शनकी सत्या सबसे कम है । उससे असत्यातगुणी शायिकसम्यग्दर्शनकी
सत्या है, ओर उसमें भी असत्यातगुणी क्षायोपशमिक की है । परन्तु सम्यग्दर्शनोंकी सत्या
अननगुणी है ।

इस प्रकार अनुयोगद्वारोंका स्वरूप बताया । सम्यग्दर्शनादिक तथा उसके निषयभूत
जीवादिक सभी पदार्थोंका नाम स्थापना आदिके द्वारा विधिपूर्वक व्यवहार करके प्रमाण नय
आदिक उपर्युक्त अनुयोगोंके द्वारा अधिगम प्राप्त करना चाहिये । क्योंकि इनके द्वारा निश्चित
तत्त्वार्थोंका तथाभूत ध्रुवज्ञान करना ही सम्यग्दर्शन है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनका प्रकरण समाप्त करके क्रमानुसार ज्ञानका वर्णन करते हैं ।—

सूत्र—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥ ९ ॥

भाष्यम्—मतिज्ञानं, श्रुतज्ञानं, अवधिज्ञानं, मनःपर्ययज्ञानं, केवलज्ञानमित्येतन्मूल
विधानत पञ्चविध ज्ञानम् । भवेदास्त्वस्य पुरस्ताद्वक्ष्यन्ते ॥

अर्थ—मूल भेदोंकी अपेक्षामें ज्ञान पाँच प्रकारका है—मतिज्ञान ध्रुवज्ञान अवधिज्ञान
मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान । इनके उत्तरभेदोंका वर्णन आगे चलकर करेंगे ।

१—समाप्तमें अनादिकालसे जीवका जो नाना गतियोंमें परिभ्रमण हो रहा है, उसीको परिवर्तन कहते हैं ।
इसके पाँच भेद हैं—द्रव्य क्षेत्र काल मन और भाव । इनका स्वरूप और इनके कालका प्रमाण आगे चलकर लिखेंगे ।
इनमेंसे पहले द्रव्यपरिवर्तनके कालके आधे कालकी अर्धपुद्गलपरिवर्तन समझना चाहिये । २—औपशमिक क्षायिक
क्षायोपशमिक औद्ययिक और पारणामिक ।

भाचार्य—ग्राह्य और अन्तरङ्ग दोनों निमित्तोंके मिलनेपर चेतना गुणका जो साकार परिणामन होता है, उसको ज्ञान कहते हैं । सामान्यसे इसके पाँच भेद हैं । पाँचोंके स्वरूप विषय और कारण भिन्न भिन्न हैं । इनका विशेष खुलासा आगे चलकर क्रमसे लिखेंगे ।

। पाँचों ही प्रकारके ज्ञान दो भागोंमें विभक्त हैं—एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष । तथा ये दोनों ही भेद प्रमाण हैं । इसी बातको बतानेके लिये यहाँपर सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—तत्प्रमाणे ॥ १० ॥

भाष्यम्—तदेतत्प्रमाणाविधमपि ज्ञान द्वे प्रमाणे भवतः परोक्ष प्रत्यक्ष च ।

अर्थ—पूर्वाक्त पाँच प्रकारका ज्ञान प्रमाण है, और उसके दो भेद हैं, एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष ।

भावार्थ—जिसके द्वारा वस्तुस्वरूपका परिच्छेदन हो, उसको प्रमाण कहते हैं । यह प्रमाण अनेक सिद्धान्तवालोंने भिन्न भिन्न प्रकारका माना है । कोई सन्निकर्षको प्रमाण मानते हैं । कोई निर्विकल्पदर्शनको, कोई कारकसाकल्यको ओर कोई, वेदको ही प्रमाण मानते हैं । इत्यादि अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ हैं, जो कि युक्तियुक्त या वास्तविक न होनेके कारण प्रमाणके प्रयोजनको सिद्ध करनेमें असमर्थ हैं । अतएव आचार्यने यहाँपर प्रमाणका निर्दोष लक्षण बताया है, कि उपर्युक्त सम्यग्ज्ञानको ही प्रमाण समझना चाहिये । प्रमाणके भेद भी भिन्न भिन्न मतवालोंने भिन्न भिन्न प्रकारसे माने हैं । कोई एक प्रत्यक्षको ही मानते हैं, तो कोई प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो भेद मानते हैं, कोई प्रत्यक्ष अनुमान उपमान ऐसे तीन, तो कोई प्रत्यक्ष अनुमान उपमान आगम ऐसे चार भेद मानते हैं, कोई इन्हीं चारको अर्थापत्तिके साथ करके पाँच और कोई अभावको भी जोड़कर छह प्रमाण मानते हैं । इत्यादि प्रमाणके भेदोंके विषयमें भी अनेक कल्पनाएँ हैं, जो कि अन्यासि आदि दूषणोंसे युक्त होनेके कारण अवास्तविक हैं । अतएव आचार्यने यहाँपर प्रमाणके दो भेद गिनाये हैं, एक परोक्ष दूसरा प्रत्यक्ष जो कि सर्वथा निर्दोष हैं, और इसी लिये इष्ट अर्थके साधक है, तथा इन्हींमें प्रमाणके सम्पूर्ण भेदोंका अन्तर्भाव हो जाता है ।

क्रमानुसार पहले परोक्षका स्वरूप और उसके भेद बताते हैं —

सूत्र—आद्ये परोक्षम् ॥ ११ ॥

भाष्यम्—आद्यौ भवमाद्यम् । आद्ये सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्रथमद्वितीये शास्त्रि । तदेव भाद्ये मतिज्ञानश्रुतज्ञाने परोक्ष प्रमाण भवतः । कुत ? निमित्तापेक्षत्वात् । अपाद्यसद्भव्यतया मतिज्ञानम् । तद्विन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिति वक्ष्यते । तत्पूर्वकत्वात्परोपदेशजत्वाच्च श्रुतज्ञानम् ।

अर्थ—जो आदिमें हो उसको आद्य कहते हैं । यहाँपर आद्य ऐसा द्विवचनका प्रयोग किया है, अतएव “ मतिश्रुतावधिभन पर्ययकेवलानि ज्ञानम् ” इस सूत्रके पाठ क्रमके प्रामाणा-

नुमादिके दो परोक्ष प्रमाण समझने चाहिये, ऐसी आचार्यकी आज्ञा है । इस प्रकारसे आदिके दो ज्ञान मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है, यह बात सिद्ध होती है । इनको परोक्ष प्रमाण क्यों कहते हैं, तो इसका उत्तर यह है, कि ये दोनों ही ज्ञान निमित्तकी अपेक्षा रखते हैं । मतिज्ञान अपायसद्द्रव्यतया परोक्ष है । क्योंकि आगे चलकर ऐसा सुत्र भी कहेंगे कि “ तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ” अर्थात् आत्मासे भिन्न स्पर्शनादिक पाँचों इन्द्रियों तथा अनिन्द्रिय-मनके निमित्तसे मतिज्ञान उत्पन्न होता है, अतएव वह अपायसद्द्रव्यरूप है और इसी िये परोक्ष भी है । क्योंकि निमित्त नित्य नहीं है । श्रुतज्ञान भी परोक्ष है । क्योंकि वह मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है, और दूसरेके उपदेशसे उत्पन्न होता है ।

भावार्थ—मिसे ज्ञानके उत्पन्न होनेमें आत्मासे भिन्न पर वस्तुकी अपेक्षा हो, उसको परोक्ष कहते हैं । मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें इन्द्रिय और मन जो कि आत्मासे भिन्न पुद्गलरूप हैं, निमित्त हुआ करते हैं, अतएव इनको परोक्ष कहते हैं । विशेषता यह है, कि इनमेंसे मतिज्ञानमें तो इन्द्रिय और मन दोनों ही निमित्त पडते हैं, परन्तु श्रुतज्ञानमें केवल मन ही निमित्त पडता है । किंतु वह मतिज्ञान-पूर्वक ही होता है, अतएव उपचारसे उसमें इन्द्रियों भी निमित्त पडती हैं । जैसे कि परोपदेशके सुननेमें श्रोत्रइन्द्रिय निमित्त है । इस सुननेमें ही मतिज्ञान कहते हैं । सुने हुए शब्दके विषयमें अथवा उसका अवलंबन लेकर अर्थान्तरके विषयमें विचार करनेको श्रुतज्ञान कहते हैं । सो इसमें मुख्यतया बाह्य निमित्त मन ही है । परन्तु उपचारसे श्रोत्रेन्द्रिय भी निमित्त कहा जा सकता है । क्योंकि बिना सुने विचार नहीं हो सकता । इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ।

प्रत्यक्षका स्वरूप और उसके भेद बतानेको सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

भाव्यम्—मतिश्रुताभ्या यदन्यत् त्रिविध ज्ञान तत्प्रत्यक्ष प्रमाण भवति । कुत ? अतीन्द्रियत्वात् । प्रमीयन्तेऽथास्तेरिति प्रमाणानि । अत्राह-इह अवधारित द्वे एव प्रमाणे प्रत्यक्ष परोक्षे इति । अनुमानोपमानागमार्थापत्तिसम्भवाभावानपि च प्रमाणानीति केचिन्मन्यन्ते तत्कथमेतदिति । अत्रोच्यते सर्वाण्येतानि मतिश्रुतयोरन्तर्भूतानीन्द्रियार्थसन्निकर्षनिमित्तत्वात् । किंचान्यत्-अप्रमाणान्येव वा । कुत ? मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद्विपरीतोपदेशाच्च । मिथ्यादृष्टेर्हि मतिश्रुतावधयो नियतमज्ञानमेवेति वक्ष्यते । नयवादान्तरेण तु यथा मतिश्रुतविकल्पजानि भवन्ति तथा परस्ताद्वक्ष्यामः ।

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको छोड़कर बारीकी अवधि मन पर्यय और केवल ये तीन प्रकारके जो ज्ञान हैं, वे प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । क्योंकि ये अतीन्द्रिय है । जिनके द्वारा पदार्थोंको भले प्रकारसे जाना जाय, उनको प्रमाण कहते हैं । शका-यहाँपर प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण बताये हैं, परन्तु कोई अनुमान उपमान आगम अर्थापत्ति और अभावको भी प्रमाण मानते हैं, सो यह किस तरहसे माना जाय ? उत्तर—सबसे पहली बात तो यह है, कि ये सभी

प्रमाण मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं, क्योंकि ये इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षका निमित्त पाकर ही उत्पन्न होनेवाले हैं। दूसरी बात यह है, कि ये वस्तुतः प्रमाण ही नहीं हैं। क्योंकि ये मिथ्यादर्शनके सहचारी हैं, तथा विपरीत उपदेशसे उत्पन्न होनेवाले और विपरीत ही उपदेशको देनेवाले हैं। मिथ्यादृष्टिके जो मति श्रुत या अवधिज्ञान होता है, वह नियमसे अप्रमाण ही होता है, यह बात आगे चलकर कहेंगे भी। परन्तु समीचीन नयनादके द्वारा मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके जो जो और जिस जिस प्रकारसे भेद होते हैं, उनको भी आगे चलकर बतावेंगे।

भावार्थ—आत्माके सिवाय पर पदार्थ इन्द्रिय और मनकी सहायताकी जिसमें अपेक्षा नहीं है, उस ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं, और इसीलिये इसका नाम अतीन्द्रिय भी है। बहुतसे लोग ऐन्द्रिय ज्ञानको प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय ज्ञानको परोक्ष कहते हैं, परन्तु यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञ परमात्माके प्रत्यक्ष ज्ञान ही माना है, और यदि वह इन्द्रियजन्य माना जायगा, तो उसकी सर्वज्ञता स्थिर नहीं रह सकेगी, क्योंकि इन्द्रियोंका विषय आदि अल्प और नियत है। अतएव अक्ष नाम आत्माका है, जो ज्ञान उसीकी अपेक्षा लेकर उत्पन्न हो, उसको प्रत्यक्ष और जो पर—अर्थात् आत्मासे भिन्न इन्द्रियानिन्द्रियकी सहायतासे हो उसको परोक्ष ज्ञान समझना चाहिये।

प्रत्यक्ष ज्ञानके सामान्यसे दो भेद हैं—एक देशप्रत्यक्ष दूसरा सकलप्रत्यक्ष। अधि और मन पर्ययको देशप्रत्यक्ष कहते हैं। क्योंकि इनका विषय नियत और अपरिपूर्ण है। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है। क्योंकि वह सम्पूर्ण त्रैकालिक वस्तुओंको और उनकी अनन्तानन्त अवस्थाओंको विषय करनेवाला और नित्य है। इसके सिवाय मतिज्ञानको भी उपचारसे अथवा व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहते हैं। क्योंकि श्रुतज्ञानकी अपेक्षा उसमें अधिक स्पष्टता रहा करती है। मुख्यरूपसे वह परोक्ष ही है।

अधि मन पर्यय और केवल ये प्रत्यक्षके समीचीन भेद भी प्रमाण ही हैं। यद्यपि अन्य मतवालोंने ऊपर लिखे अनुसार अनुमान उपमान आदिको भी प्रमाण माना है। परन्तु उनका लक्षण अपरिपूर्ण होनेसे युक्तिशून्य और मिथ्यादर्शनादिसे दूषित है। किन्तु समीचीन अनुमानादिकका लक्षण आगे चलकर हम लिखेंगे और बतावेंगे, कि इनमेंसे किस किस का मतिज्ञानादिमेंसे किस किस में किस किस अपेक्षासे अन्तर्भव होता है, तथा उनके—मतिज्ञानादिके भेद कौन कौन से हैं।

भाष्यम्—अत्राह, उक्त भवता मत्यादीनि ह्यानि उद्दिश्य तानि विधानतो लक्षणतश्च परस्ताद्विस्तरण वक्ष्याम इति, तदुच्यतामिति। अत्रोच्यते—

अर्थ—शका—ऊपर आपने मतिज्ञानादिकका सामान्यसे नाममात्र उल्लेख करके यह कहा था, कि इनके भेद और लक्षणोंको हम आगे चलकर वित्तरके साथ कहेंगे, सो अब उनका वर्णन करना चाहिये । उत्तर—यह बतानेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं । इसमें क्रमानुसार सबसे पहले मतिज्ञानके भेद बताते हैं —

सूत्र—मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥१३॥

भाष्यम्—मतिज्ञान, स्मृतिज्ञान, संज्ञाज्ञान, चिन्ताज्ञान, आभिनिबोधिकज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—मतिज्ञान स्मृतिज्ञान संज्ञाज्ञान चिन्ताज्ञान और आभिनिबोधिकज्ञान ये पाँचों ही ज्ञान एक ही अर्थके वाचक हैं ।

भावार्थ—ये मतिज्ञानके ही भेद हैं, क्योंकि मतिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम होनेसे ही होते हैं, अतएव इनको एक ही अर्थका वाचक माना है । वस्तुतः ये भिन्न भिन्न विषयके प्रतिपादक हैं, और इसी लिये इनके लक्षण भी भिन्न भिन्न ही हैं । अनुभव स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान ये क्रमसे पाँचोंके अपर नाम हैं । इन्द्रिय अथवा मनके निमित्तसे किसी भी पदार्थका जो आद्यज्ञान होता है, उसको अनुभव अथवा मतिज्ञान कहते हैं । कालान्तरमें उस जाने हुए पदार्थका “ तत्—वह ” इस तरहसे जो याद आना इसको स्मृति कहते हैं । अनुभव और स्मृति इन दोनोंके जोडरूप ज्ञानको संज्ञा अथवा प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । साध्य और साधनके अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्तिके ज्ञानको चिन्ता अथवा तर्क कहते हैं । और साधनके द्वारा जो साध्यका ज्ञान होता है, उसको अनुमान अथवा अभिनिबोध कहते हैं । इनमेंसे मतिज्ञानमें प्रत्यक्षका और प्रत्यभिज्ञानमें उपमानका तथा अनुमानमें अर्थापत्तिका अन्तर्भाव समझना चाहिये । और इसी प्रकारसे आगम तथा अभावप्रमाणका भी अन्तर्भाव यथा योग्य समझ लेना चाहिये ।

मतिज्ञानका सामान्य लक्षण बताते हैं —

सूत्र—तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

भाष्यम्—तदेतन्मतिज्ञानं द्विविधं भवति । इन्द्रियनिमित्तमनिन्द्रियनिमित्तं च । तत्रेन्द्रियनिमित्तं स्पर्शनादीनां पञ्चानां स्पर्शादिषु पञ्चस्वेव स्वविषयेषु । अनिन्द्रियनिमित्तं मनोवृत्तिरोगज्ञानं च ।

अर्थ—उपर्युक्त पाँच प्रकारका मतिज्ञान दो तरहका हुआ करता है—एक तो इन्द्रियनिमित्तक दूसरा अनिन्द्रिय निमित्तक । इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र ।

१—जो सिद्ध किया जाय या अनुमानका विषय हो, उसको साध्य कहते हैं, जैसे पर्वतमें अग्नि । २—साध्यके अविनाभावी बिन्दुको साधन कहते हैं, जैसे अग्निका साधन धूम ।

इनके विषय भी क्रमसे पाँच हैं—स्पर्श रस घघ वर्ण और शब्द, जैसा कि आगे चलकर बतावेंगे। इन पाँचों ही को अपने अपने विषयोंका जो ज्ञान होता है उसको, इन्द्रियनिमित्तक कहते हैं। मनकी प्रवृत्तियोंको अथवा विशेष विचारोंको यद्वा समूहरूप ज्ञानको अनिन्द्रिय निमित्तक कहते हैं।

इस प्रकार निमित्तभेदसे मतिज्ञानके भेद बताकर स्वरूप अथवा विषयकी अपेक्षासे भेद बतानेको सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अवग्रहेहापायधारणाः ॥ १५ ॥

भाष्यम्—तद्वैतन्मतिज्ञानमुभयनिमित्तमप्येकशब्दतुर्विध भवति । तद्यथा—अवग्रह ईहापायो धारणा चेति । तत्राव्यक्त यथास्वमिन्द्रियेर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रह । अवग्रहो ग्रहणमालोचनमवधारणमित्यनर्थान्तरम् । अवगृहीते विषयार्थकदेशाच्छेषानुगमनं निश्चयविशेषजिज्ञासा ईहा । ईहा ऊहा तर्क परीक्षा विचारणा जिज्ञासेत्यनर्थान्तरम् । अवगृहीते विषये सम्प्रगत्सम्यगिति गुणशेषविचारणाध्यवसायापनोदोऽपाय । अपायोऽपगम अपनोद् अपव्याध अपेतमपगतमपविद्धमपनुत्तमित्यनर्थान्तरम् । धारणा प्रतिपत्तिर्यथास्व मत्यवस्थानमवधारण च । धारणा प्रतिपत्तिरवधारणमवस्थान निश्चयोऽवगमः अवबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥

अर्थ—उपर इन्द्रियनिमित्तक और अनिन्द्रियनिमित्तक इस तरह दो प्रकारका जो मतिज्ञान बताया है, उसमें प्रत्येकके चार चार भेद हैं।—अवग्रह ईहा अपाय और धारणा। अपनी अपनी इन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य विषयोंका अव्यक्त रूपसे जो आलोचनात्मक अवधारण—ग्रहण होना है, उसको अवग्रह कहते हैं। अवग्रह ग्रहण आलोचन और अवधारण ये एक ही अर्थके वाचक शब्द हैं। अवग्रहके द्वारा जिस पदार्थके एक देशका ग्रहण कर लिया गया है, उसीके शेष अशको भी जाननेके लिये जो प्रवृत्ति होती है, अर्थात् उस पदार्थका विशेष रूपसे निश्चय करनेके लिये जो जिज्ञासा—चेष्टा विशेष होती है, उसीको ईहा कहते हैं। ईहा ऊहा तर्क परीक्षा विचारणा और जिज्ञासा ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। अवग्रह तथा ईहाके द्वारा जाने हुए पदार्थके विषयमें यह समीचीन है, अथवा असमीचीन है, इस तरहसे गुणशेषोंका विचार करनेके लिये जो निश्चयरूप ज्ञानकी प्रवृत्ति होती है, उसको अपाय कहते हैं। अपाय अपगम अपनोद् अपव्याध अपेत अपगत अपविद्ध और अपनुत्त ये सभी शब्द एक अर्थके वाचक हैं। धारणा नाम प्रतिपत्तिका है। अर्थात् अपने योग्य पदार्थका जो बोध हुआ है, उसका अधिक कालतक स्थिर रहना इसको धारणा कहते हैं। धारणा प्रतिपत्ति अवधारण अवस्थान निश्चय अवगम और अवबोध ये सब शब्द भी एक ही अर्थके वाचक हैं।

भावार्थ—मतिज्ञानके चार भेद हैं—अवग्रह ईहा अपाय और धारणा। इन्द्रिय और पदार्थका योग्य क्षेत्रमें अवस्थान होनेपर सबसे पहले दर्शन होता है, जोकि निर्विकल्प अथवा

निराकार है । उसके बाद उस पदार्थका ग्रहण होता है, जोकि सविकल्प अथवा साकार हुआ करता है, जेमे कि यह मनुष्य है, इत्यादि । उस ज्ञानके बाद उस पदार्थको विशेष रूपसे जाननेके लिये जब यह शाना हुआ करती है, कि यह मनुष्य तो है, परन्तु दाक्षिणात्य है, अथवा आर्दीच्य है * तब उस शानाको दूर करनेके लिये उसके वस्त्र आदिवी तरफ दृष्टि देनेसे यह ज्ञान होता है, कि यह दाक्षिणात्य होना चाहिये । इमीको ईहा कहते हैं । जब उस मनुष्यके निम्न आ जानेपर वातचीतके सुननेसे यह दृढ विश्वय होता है, कि यह दाक्षिणात्य ही है, तब उसको अपाय कहते हैं । परन्तु उसी ज्ञानमें ऐसे सम्कारका हो जाना, कि जिसके निमित्तसे वह अविकर कात्तरु ठहर सके, उस सम्कृत ज्ञानको ही धारणा कहते हैं । इसके होनेसे ही कालान्तरमें उस जाने हुए पदार्थका स्मरण हो सकता है ।

ये अवग्रहादिक कितने प्रकारके पदार्थोंको ग्रहण करनेवाले हैं, यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—बहुबहुविधक्षिप्रानिश्रितानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

भाष्यम्—अवग्रहादयश्चत्वारो मतिज्ञानविभागा एषा घटादीनामर्थानां सेतराणां भवन्त्येकश । सेतराणामिति सप्ततिपक्षानामित्यर्थः । बहुबहुवृद्धाति अल्पमवगृह्णाति, बहुविधमवगृह्णाति एकविधमवगृह्णाति, क्षिप्रमवगृह्णाति चिरेणावगृह्णाति, अनिश्रितमवगृह्णाति निश्रितमवगृह्णाति, अनुक्तमवगृह्णाति उक्तमवगृह्णाति, ध्रुवमवगृह्णाति अध्रुवमवगृह्णाति इत्येवमीहादीनामपि विधावः ।

अर्थ—बहु बहुविध क्षिप्र अनिश्रित अनुक्त और ध्रुव ये छह और छह सेतर अर्थात् इनसे उल्टे, अर्थात् बहुका उल्टा अल्प, बहुविधका उल्टा एकविध, क्षिप्रका उल्टा चिरेण, अनिश्रितका उल्टा निश्रित, अनुक्तका उल्टा उक्त और ध्रुवका उल्टा अध्रुव । इस तरहसे बारह प्रकारके अर्थ हैं । मतिज्ञानके अवग्रहादिक चार भेद जो बताये हैं, उनमें से प्रत्येक भेद इन बारहों तरहके अर्थोंके हुआ करते हैं । अर्थात् अवग्रह इन विषयोंकी अपेक्षासे बारह प्रकारका है—बहुका अवग्रह, अल्पका अवग्रह, बहुविधका अवग्रह, एकविधका अवग्रह, क्षिप्रका अवग्रह, चिरेणका अवग्रह, अनिश्रितका अवग्रह, निश्रितका अवग्रह, अनुक्तका अवग्रह, उक्तका अवग्रह, ध्रुवका अवग्रह, अध्रुवका अवग्रह । इसी तरहसे ईहादिकके भी बारह बारह भेद समझ लेने चाहिये ।

भावार्थ—अवग्रहादिक ज्ञानरूप क्रियाएँ हैं, अतएव उनका कर्म भी अवश्य बताना चाहिये । इसीलिये इस सूत्रमें ये बारह प्रकारके कर्म बताये हैं । एक जातिकी दोसे अधिक सख्यावाली वस्तुको बहु कहते हैं । और एक जातिकी दो सख्या तककी वस्तुको अल्प

कहते हैं। दोसे अधिक जातिवाली वस्तुओंको बहुविध कहते है, और दो तर्कनी जातिवाली वस्तुओंको एकविध अथवा अल्पविध कहते है। शीघ्र गतिवाली वस्तुको क्षिप्र और मंद गतिवालीको विरेण कहते है। अप्रकटको अनिश्रित और प्रकटको निश्रित कहते है। विना कहीं हुईको अनुक्त और कहीं हुईको उक्त कहते हैं। और तदवस्थको ध्रुव तथा उससे प्रतिकूलको अध्रुव कहते हैं।

बहु आदिक शब्द विशेषणनाची है, अतएव ये विशेषण किसके हैं, यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अर्थस्य ॥ १७ ॥

भाष्यम्—अवग्रहादयो मतिज्ञानविकल्पा अर्थस्य भवन्ति ।

अर्थ—अवग्रह आदिक मतिज्ञानके जो भेद बताये हैं, वे अर्थके हआ करते है।

भावार्थ—यहाँपर यह शंका हो सकती है, कि ऊपर बहु आदिक जो विशेषण बताये है, वे किसी न किसी विशेष्यके तो होंगे ही, और विशेष्य जो होगा, वह पदार्थही होगा, अतएव ये अर्थ-पदार्थके विशेषण है, यह बतानेके लिये सूत्र करनेकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है, कि किसी किसी मतवालेने ज्ञानका साक्षात् विषय पदार्थको नहीं माना है, किन्तु ज्ञानका साक्षात् विषय विशेषणको ही माना है, और समवाय समवेतसमवाय सयुक्त-समवेतसमवाय आदि सम्बन्धोंके द्वारा पदार्थको विषय माना है। सो ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञानमें विशेष्य विशेषण एक साथ ही विषय होते हैं। क्योंकि दोनोंमें कथंचित् अभेद है। एक दूसरेको सर्वथा छोड़कर ज्ञानका विषय नहीं हो सकता। अतएव विशेषणके साथ साथ विशेष्यरूप पदार्थ भी विषय होता ही है, यह बताना ही इस सूत्रका प्रयोजन है। और इसी लिये यहाँपर यह कहा है, कि मतिज्ञानके अवग्रहादिक भेद अर्थके हुआ करते है।

विशेष्यरूप पदार्थ दो प्रकारके हुआ करते है—एक व्यक्त दूसरे अव्यक्त। व्यक्तको अर्थ और अव्यक्तको व्यजन कहा करते है। इस सूत्रमें व्यक्त पदार्थके ही अवग्रहादिक बताये हैं, क्योंकि अन्यक्तके विषयमें कुछ विशेषता है। वह विशेषता क्या है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—व्यंजनस्यावग्रहः ॥ १८ ॥

भाष्यम्—व्यंजनस्यावग्रह एव भवति नेहादयः । एष द्विविधोऽग्रमहो व्यंजनस्यार्थस्य च । ईहादयस्त्वर्यस्यैव ॥

अर्थ—व्यंजन पदार्थका अवग्रह ही होता है, ईहा आदिक नहीं होते, इस तरहसे अवग्रह तो दोनों ही प्रकारके पदार्थका हुआ करता है, व्यजनका भी और अर्थका भी जिनको कि

क्रमसे व्यजनावग्रह तथा अर्थावग्रह कहते हैं । ईहा आदिक मतिज्ञानके शेष तीन विकल्प अर्थके ही होते हैं, व्यजनके नहीं होते ।

भावार्थ—जिस प्रकार मट्टीके किसी सकोरा आदि वर्तनके ऊपर जलकी बूट पडनेसे पहले तो वह व्यक्त नहीं होती, परन्तु पीछे से वह धीरे धीरे क्रम क्रम—से पडते पडते व्यक्त हो जाती है, उसी प्रकार कहीं कहीं कानोंपर पडा हुआ शब्द आदिक पदार्थ भी पहले तो अव्यक्त होता है, पीछे व्यक्त हो जाता है । इसी तरहके अव्यक्त पदार्थको व्यजन और व्यक्तको अर्थ कहते हैं । व्यक्तके अवग्रहादि चारों होते हैं, ओर अन्यक्तका अवग्रह ही होता है ।

इसके सिवाय व्यजनावग्रहमें और भी जो विशेषता है, उसको बतातेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥ १९ ॥

भाष्यम्—चक्षुषा नोइन्द्रियेण च व्यञ्जनावग्रहो न भवति । चतुर्भिरिन्द्रिये शेषेर्भ घटीत्यर्थ । एवमेतन्मतिज्ञानं द्विविधं चतुर्विधं अष्टाविंशतिविधं अष्टपञ्च्युतरशतविधं यदत्रिंशत्विंशतविधं च भवति ।

अर्थ—यह व्यजनावग्रह चक्षुरिन्द्रिय और मन इनके द्वारा नहीं हुआ करता है । मतलब यह है, कि वह केवल स्पर्शन रसन घ्राण और श्रोत्र इन बाकीकी चार इन्द्रियोंके द्वारा ही हुआ करता है । इस प्रकारसे इस मतिज्ञानके दो भेद अथवा चार भेद यद्वा अट्ठाईस भेद या एक सौ अड़सठ भेद अथवा तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं ।

भावार्थ—चक्षुरिन्द्रिय और मन ये दोनों ही अप्राप्यकारी हैं । अर्थात् ये वस्तुको प्राप्त-सम्बद्ध न होकर ही ग्रहण करते हैं । अतएव इनके द्वारा व्यक्त पदार्थका ही ग्रहण हो सकता है, अन्यक्तका नहीं ।

मतिज्ञानके निमित्त कारणकी अपेक्षासे दो भेद है—एक इन्द्रियनिमित्तक दूसरा अनिन्द्रिय निमित्तक । अवग्रह ईहा अपाय और घारणाकी अपेक्षासे चार भेद हैं । तथा ये चारों भेद पाँच इन्द्रिय और छठे मनमें हुआ करते हैं, अतएव चारको छहसे गुणा करनेपर २४ अर्थावग्रहादिके भेद होते हैं, और इन्हींमें व्यजनावग्रहके ४ भेद मिलानेसे २८ भेद होते हैं । क्योंकि व्यजनका एक अवग्रह ही होता है, और वह चार इन्द्रियोंसे ही होता है । इन अट्ठाईस भेदोंका बहु बहुविध क्षिप्र अनिश्चित अनुक्त और ध्रुव इन छह भेदोंके साथ गुणा करनेसे १६८ भेद होते हैं । और यदि इनके उल्टे अल्प अल्पविध आदि छह भेदोंको भी साथमें जोड़कर बारहके साथ इन अट्ठाईसका गुणा किया जाय, तो मतिज्ञानके तीनसौ छत्तीस भेद होते हैं ।

भाष्यम्—अत्राह गृह्णीमस्तावन्मतिज्ञानम् । अथ श्रुतज्ञान किमिति । अत्रोच्यते ।

अर्थ—यहाँपर शिष्य प्रश्न करता है, कि आपने मतिज्ञानके स्वरूपका और उसके भेदाधिकोंका जो वर्णन किया सो सब हमने समझा । अब निर्देश—क्रमके अनुसार श्रुतज्ञानका वर्णन प्राप्त है, अतएव कहिये कि उसका स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

भाष्यम्—श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक भवति । श्रुतमात्रचनमागम उपदेश ऐतिह्यमात्राय प्रवचन जिनवचनमित्यनर्थान्तरम् । तद्विधिमद्ग्राह्यमद्ग्राह्यप्रविष्ट च । तत्पुनरनेकविध द्वादशविध च यथास्वरूपम् । अद्ग्राह्यमनेकविधम्, तद्यथा—सामायिक चतुर्विंशतिस्तवो वन्दन प्रतिक्रमण कायव्युत्सर्ग प्रत्याग्व्यान दशवैकालिक उत्तराध्याया दशा कल्पव्यवहारैः निशीथमृषिभाषितान्येवमादि । अद्ग्राह्यप्रविष्ट द्वादशविध, तद्यथा—आचार सूत्र-कृत स्थान समवाय व्याख्याप्रज्ञाति ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययनदशा अन्तकृद्गशा अनुत्तरोपपादिकदशा प्रभ्रव्याकरण विपाकसूत्र दृष्टिपात इति । अत्राह—मतिज्ञानश्रुतज्ञानयो क प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते—उत्पन्नाविनमृत्तार्थग्राहक सांप्रतकालविषय मतिज्ञानम् । श्रुतज्ञान तु त्रिकालविषयम् । उत्पन्नाविनमृत्तार्थग्राहकम् । अत्राह—गृह्णीमा मतिश्रुतयोर्नानात्वम् । अथ श्रुतज्ञानस्य द्विविधमनेकद्वादशविधमिति किं कृत प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते—वक्तृविशेषादद्वैविध्यम् । यद्गवाद्भि सर्वज्ञे सर्वदर्शिभि परमर्षिभिरर्द्विस्तत्त्वाभाव्यात् परमशुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थकरनामकर्मणोऽनुभादुक्तं भगवच्छिष्यैरतिशयवद्भिरुत्तमातिशयवाग्बुद्धिसम्पन्नैर्गणधैर्दृढ तद्ग्राह्यप्रविष्ट । गणधरानन्तर्यादिस्त्वत्यन्तविशुद्धानामे परमप्रकृष्टवाङ्मतिशक्तिभिराचार्य कालसहननायुर्दोषादल्पशक्तीना शिष्याणामनुग्रहाय यत् प्रोक्तम् तद्ग्राह्यमिति । सर्वज्ञप्रणीतत्वादानन्त्याच्च ज्ञेयस्य श्रुतज्ञान मतिज्ञानान्महाविषयम् । तस्य च महाविषयत्वात्सास्तानर्थानाधिकृत्य प्रकरणसमाप्त्यपेक्षमद्ग्राह्यज्ञानानात्वम् । किंचान्यत्—सुखग्रहणधारणविज्ञानापोहप्रयोगार्थं च । अन्यथा ह्यनिवद्धमद्ग्राह्यज्ञानं समुद्रप्रतरणवद्वृध्ययवसेय स्यात् । एतेन पूर्वाणि वस्तूनि प्राभृतानि प्राभृतप्राभृतानि अध्ययनान्युद्देशात् व्याख्याता । अत्राह—मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्व वक्ष्यति “द्वयेऽसर्वपर्यायेषु” इति । तस्मादेकत्वमेवास्त्विति । अत्रोच्यते—उक्तमेतत् साम्प्रतकालविषय मतिज्ञान श्रुतज्ञान तु त्रिकालविषय विशुद्धतर चेति । किंचान्यत् । मतिज्ञानमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमात्मनो ह्यस्वभावात्पारिणामिक, श्रुतज्ञान तु तत्पूर्वकमातोपदेशाद्भवतीति ॥

अर्थ—श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, श्रुत आप्त-वचन आगम उपदेश ऐतिह्य आम्नाय प्रवचन और जिनवचन ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । श्रुतज्ञान दो प्रकारका है, अद्ग्राह्य और अद्ग्राह्यप्रविष्ट । इनमें अद्ग्राह्यके अनेक भेद हैं और अद्ग्राह्यप्रविष्टके बारह भेद हैं । अद्ग्राह्यके अनेक भेद कौनसे हैं, सो बताते हैं—सामायिक चतुर्विंशतिस्तव वन्दना प्रतिक्रमण कायव्युत्सर्ग प्रत्याग्व्यान दशवैकालिक उत्तराध्यायदशा कल्पव्यवहार निशीथ

इत्यादि । इसी प्रकार ऋषियोंके द्वारा कहे हुए और भी अनेक भेद समझ लेने चाहिये । अङ्ग प्रविष्टके बारह भेद कौनमे हे, सो बताते हैं—आचाराङ्ग सूत्रकृताङ्ग स्थानाङ्ग समनयाङ्ग व्याख्या-प्रज्ञप्ति ज्ञातृधर्मकथा उपासकाध्ययनशशाङ्ग अन्तकृद्दशाङ्ग अनुत्तरीपादिभट्टशाङ्ग प्रश्रव्याकरण विषाससूत्र और दृष्टिपाताङ्ग ।

शक्रा—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें क्या विशेषता है ? उत्तर—जो उत्पन्न तो हो चुका है, किंतु अभीतक नष्ट नहीं हुआ है, ऐसे पदार्थको ग्रहण करनेवाला तो मतिज्ञान है, अर्थात् मतिज्ञान केवल वर्तमानकालवर्ती ही पदार्थको ग्रहण करता है । किंतु श्रुतज्ञान निकालविषयक है, वह उत्पन्न—वर्तमान और विनष्ट—भूत तथा अनुत्पन्न—भविष्यत् इस तरह तीनों काल सम्बन्धी पदार्थोंको ग्रहण करता है । प्रश्न—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका भेद समझमें आया । परन्तु श्रुतज्ञानके जो भेद बताये हैं, उनमें एकके अनेक भेद और एकके बारह भेद बताये, सो इनमें क्या विशेषता है ? उत्तर—श्रुत ज्ञानके ये दो भेद वक्ताकी विशेषताकी अपेक्षासे हैं । अपने स्वभावके अनुसार प्रवचनकी प्रतिष्ठापना—प्रारम्भ करना ही जिसका फल है, ऐसे परम शुभ तीर्थकर नामकर्मके उदयसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमर्षि अरिहंत भगवान्ने जो कुछ कहा है, और जिसकी उत्तम—अतिशयसे युक्त वचनऋद्धि तथा बुद्धिऋद्धिसे परिपूर्ण अरिहंत भगवान्के सातिशय शिष्य गणधर भगवान्के द्वारा रचना हुई है, उसको अङ्गप्रविष्ट कहते हैं । गणधर भगवान्के अनन्तर होनेवाले आचार्योंके द्वारा जिनकी कि वचनकी शक्ति और मतिज्ञानकी शक्ति परम प्रकृष्टको प्राप्त हो चुकी है, तथा जिनका आगम—श्रुतज्ञान अत्यंत विशुद्ध है, काल दोषसे तथा सहनन और आयुकी कमी आदिके दोषसे जिनकी शक्ति अत्यंत कम हो गई है, ऐसे शिष्योंपर अनुग्रह करनेके लिये जिनकी रचना हुई है, उनको अङ्गबाह्य कहते हैं ।

मतिज्ञानकी अपेक्षा श्रुतज्ञानका विषय महान् है । क्योंकि उसमें जिन विषयोंका वर्णन किया गया है, अथवा उसके द्वारा जिन विषयोंका ज्ञान होता है, वे ज्ञेय—प्रमेयरूप विषय अनन्त हैं, तथा उसका प्रणयन—निरूपण सर्वज्ञके द्वारा हुआ है । उसका विषय अतिशय महान् है, इसी लिये उसके एक एक अर्थको लेखर अधिकारोंकी रचना की गई है, और तत्तत् अधिकारोंके प्ररूपणकी समाप्तिकी अपेक्षासे उसके अङ्ग और उपाङ्गरूपमें नाना भेद हो गये हैं । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि ऐसा होनेसे उन विषयोंका सुखपूर्वक ग्रहण हो सकता है—उनका निरूपित तत्त्व अच्छी तरह समझमें आसकता है, और उनका धारण भी हो सकता है—याद रक्खा जा सकता है । तथा उनके जानकर उनके विषयमें मनन अथवा उद्घापोह भी किया जा सकता है । और उसके बाद उसका निश्चय भी भले प्रकार हो सकता है, एव हेयमो हेय समझकर उसके त्याग करनेके तथा उपादेयको उपादेय समझकर उसके ग्रहण करनेके प्रयोग भी अच्छी तरह किया जा सकता है । यदि अङ्ग और उपाङ्ग

रूपसे उसकी रचना न की गई होती, तो समुद्रको तरनेके समान वह दुरवगम्यही हो गया होता। अर्थात् जिस प्रकार कोई मनुष्य समुद्रको तर नहीं सकता, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति श्रुतका भी पार नहीं पा सकता था। इसी कथनसे पूर्वोक्त वस्तुओंका प्राभूतोंका प्राभूतप्राभूतोंका अध्ययनोंका तथा उद्देशोंका भी व्याख्यान समझ लेना चाहिये। अर्थात् पूर्वोक्त कथनमें ही पूर्व आदिकोंका भी कथन आ जाता है।

शका—आगे चलकर ऐसा कहेंगे कि “द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु” अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय सम्पूर्ण द्रव्य किन्तु उनकी कुछ पर्याय हैं। इससे स्पष्ट है, कि आचार्य दोनों ज्ञानोंका विषय समान ही बतावेंगे। अतएव दोनों ज्ञानोंकी एकता-समानता ही रहनी चाहिये? आपने भिन्नता कैसे कही? उत्तर—यह बात हम पहले ही कह चुके हैं, कि मतिज्ञान वर्तमान कालविषयक है, और श्रुतज्ञान त्रिकालविषयक है, तथा मतिज्ञानकी अपेक्षा अधिक विशुद्ध भी है। अर्थात् यद्यपि दोनोंका विषयनिबन्ध सामान्यतया एक ही है, परन्तु विषयोंमें कालकृत भेद रहनेसे उनमें अन्तर भी है। तथा दोनोंमें विशुद्धिकी अपेक्षासे भी भेद है। इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि इन्द्रियनिमित्तक हो अथवा अनिन्द्रियनिमित्तक मतिज्ञान तो आत्माकी ज्ञस्वभावताके कारण पारणामिक है, परन्तु श्रुतज्ञान ऐसा नहीं है, क्योंकि वह आसके उपदेशसे मतिज्ञानपूर्वक हुआ करता है।

भाचार्य—श्रुतज्ञान दो प्रकारका है—ज्ञानरूप और शब्दरूप। इनमेंसे ज्ञानरूप मुख्य है, और शब्दरूप गौण है। इनके भेद प्रभेद और उनके अक्षर पद आदिका स्वरूप तथा प्रमाण एव विषय आदिका विस्तृत वर्णन गोम्मटसार जीवकाण्ड आदिमें देखना चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त श्रुतज्ञानम्। अथावधिज्ञान किमिति अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने श्रुतज्ञानका जो स्वरूप कहा, सो समझमें आया। परन्तु श्रुतज्ञानके बाट जिसका आपने नामनिर्देश किया था, उस अवधिज्ञानका क्या स्वरूप है? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

१—पूर्व वस्तु प्राभूत और प्राभूतप्राभूत आदि अज्ञाने ही भेदोंके नाम हैं। यथा—पञ्चायत्स्वरपद सघाद पडिवत्तियागिजेग च । इयवारपाहुड च य पाहुड्य वयु पुव्व च ॥ ३१६ ॥ तेषि च समासेहिं य वीसविह वा हु होदि सुदणाण । आवरणस्स वि भेदा तत्तियमेत्ता हवत्तिति ॥ ३१७ ॥ (गोम्मटसार—जीवकाण्ड) इससे सिवाय बारहवें अगके पाँच भेद हैं—परिकर्म मूत्र प्रयमानुयोग पूर्वगत और चूलिका। इन्में परिकर्मके पाँच भेद हैं—चन्द्रप्रदासि सूर्यप्रदासि, जम्बूद्वीपप्रदासि, द्वीपसागरप्रदासि और व्याघ्राप्रदासि। चौथे भेद पूर्वगतने १४ भेद हैं, जिनको कि १४ पूर्व कहते हैं, यथा—उत्पादपूर्व आयायणी वीयातुवाद अस्तित्नास्तिप्रवाद सत्यप्रदाज्ञानप्रवाद आत्मप्रवाद कर्मप्रवाद प्रत्याख्यान पूर्वविद्यातुवाद कल्याणवाद प्राणवाद क्रियाविशाल और त्रिलोचनविद्युसार। चूलिकाके पाँच भेद हैं—जलगतता स्थलगतता मायागतता आनासगतता और रूपगतता। इनका विशेष स्वरूप जीवकाण्डमें देराना चाहिये।

०—“अथादो अथतरमुत्तमत भणति सुदणाण । आभिणिगेहिंय पुच्च गियमेणिह सद्दज पमुइ ॥ ३१४ ॥ (गोम्मटसार जीवकाण्ड)

सूत्र—द्विविधोऽवधिः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—भवप्रत्यय' क्षयोपशमनिमित्तश्च । तत्र—

अर्थ—अवधिज्ञान दो प्रकारका है—एक भवप्रत्यय दूसरा क्षयोपशमनिमित्तक । उनमेंसे—

सूत्र—भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ॥ २२ ॥

भाष्यम्—नारकाणां देवानां च यथास्व भवप्रत्ययमवधिज्ञानं भवति । भवप्रत्यय भव हेतुक भवनिमित्तमित्यर्थ । तेषां हि भवोत्पत्तिरेव तस्य हेतुर्भवति पक्षिणामाकाशगमनवत् न निक्षा न तप इति ॥

अर्थ—नारक और देवोंके जो यथायोग्य अवधिज्ञान होता है, वह भवप्रत्यय कहा जाता है । यहाँपर प्रत्यय शब्दका अर्थ हेतु अथवा निमित्तकारण समझना चाहिये । अतएव भवप्रत्यय या भवहेतुक अथवा भवनिमित्त ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । क्योंकि नारक और देवोंके अवधिज्ञानमें उस भवमें उत्पन्न होना ही कारण माना है । जैसे कि पक्षियोंकी आकाशमें गमन करना स्वभावसे—उस भवमें जन्म देनेसे ही आ जाता है, उसके लिये शिक्षा और तप कारण नहीं है, उसी प्रकार जो जीव नरक गति अथवा देवगतिको प्राप्त होते हैं, उनको अवधिज्ञान भी स्वयं प्राप्त हो ही जाता है ।

भारार्थ—यद्यपि अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे ही प्राप्त होता है । परन्तु फिर भी देव और नारकियोंके अवधिज्ञानको क्षयोपशमनिमित्तक न कह कर भवहेतुक ही कहा जाता है । क्योंकि वहाँपर भवकी प्रधानता है । जो उस भवको धारण करता है, उसके नियमसे अवधिज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम हो ही जाता है । अतएव बाह्यकारणकी प्रधानतासे देव और नारकियोंके अवधिज्ञानको भवप्रत्यय ही माना है । जिसको किसीना उपदेश मिल जाय, अथवा जो अनशन आदि तप करे, उसी देव या नारकीको वह हो अन्यको न हो, ऐसा नहीं है । क्योंकि इन दोनों ही गतियोंमें शिक्षा और तप इन दोनों ही कारणोंका अभाव है ।

इसके लिये यथायोग्य शब्द जो दिया है उसका अभिप्राय यह है, कि सभी देव अथवा नारकियोंके अवधिज्ञान समान नहीं होता । जिसके जितनी योग्यता है, उसके उतनी ही समझना चाहिये ।

१—“ तत्र भवप्रत्ययो नारकदेवानाम् ” एवमिदं सूत्रपाठोऽन्यत्र ।

२—“ यथास्वमिति यस्य यत्स्वामीय यथादित्यर्थ । तद्यथा—रत्नप्रभापुषिर्धानरकनिवासिनां ये सर्वेऽपि तेषामन्यादृशम्, ये तु तेषोऽनस्ताव तेषां तस्यामेवाऽनावयादृक् प्रस्तारपक्षेयेति एव सर्वे पुषिर्नारकाणां यथा स्वमित्येतदेवम् । देवानामपि यद्यस्य सम्भवति तच्च यथास्वमिति विवेच्य भवप्रत्यय भवकारण अथाऽको विस्तृत विषयमवधिज्ञानं भवति । ”—सिद्धतेनगणि टीकायाम् ।

अवधिज्ञानका दूसरा भेद—क्षयोपशमनिमित्तक किनके होता है, और उसमें भी भव कारण है, या नहीं इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—यथोक्तनिमित्तः पट्टविकल्पः शेषाणाम् ॥ २३ ॥

भाष्यम्—यथोक्तनिमित्त क्षयोपशमनिमित्त इत्यर्थ । तदेतदवधिज्ञान क्षयोपशमनिमित्त पट्टविकल्प भवति शेषाणाम् । शेषाणामिति नारकत्रैवेभ्य शेषाणा तिर्यग्योनिजाना मनुष्याणा च । अवधिज्ञानावरणीयस्य कर्मण क्षयोपशमाभ्या भवति पट्टविकल्पम् । तद्यथा—अनानुगामिक, आनुगामिक, हीयमानक, वर्धमानक, अनवस्थितम्, अवस्थितमिति । तत्रानानुगामिक यत्र क्षेत्रे स्थितस्योत्पन्न तत् प्रच्युतस्य प्रतिपतति प्रस्तादेशपुरूपद्वानवत् । आनुगामिक यत्र क्वचिदुत्पन्न क्षेत्रान्तरगतस्यापि न प्रतिपतति भास्करप्रकाशवत् घटरक्तभाववच्च । हीयमानक असरयेयेषु द्वीपेषु समुद्रेषु पृथिवीषु विमानेषु तिर्यगूर्ध्वमधो यदुत्पन्न क्रमशः संक्षिप्यमाण प्रतिपतति आञ्जुलासख्येयभागात् प्रतिपतत्येव वा परिच्छिन्नेन्धनोपादानसंतत्यग्निशिरावत् । वर्धमानक यदङ्गुलस्यासरयेयभागाद्विपूत्पन्न वर्धते आ सर्गलोकात् अधरोत्तरारणिनिर्मथनोत्पन्नोपात्तशुष्कापचीयमानाधीयमानेन्धनराशयन्निवत् । अनवस्थित हीयते वर्धते च वर्धते हीयते च प्रतिपतति चोत्पद्यते चेति पुनः पुनरुर्मिवत् । अवस्थितं यावति क्षेत्रे उत्पन्न भवति ततो न प्रतिपतत्या। केवलप्राप्तेः । आ भवक्षयाद्वा जात्यन्तरस्थायि वा भवति लिङ्गवत् ॥

अर्थ—अवधिज्ञानके दूसरे भेदको बतानेके लिये सूत्रमें “ यथोक्तनिमित्त ” ऐसा शब्द जो दिया है, उससे अमिप्राय क्षयोपशमनिमित्तकका है । यह क्षयोपशमनिमित्तक अवधिज्ञान छह प्रकारका होता है, और यह उपर्युक्त भवप्रत्यय अवधिज्ञानके स्वामी जो देव और नारक उनके सिवाय बाकीके दो गतिवाले जीवोंके अर्थात् तिर्यग्योंके और मनुष्योंके पाया जाता है । अवधिज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमकी अपेक्षासे इस अवधिज्ञानके भी छह भेद हो जाते

नरकी सातो पृथिवियोंके कुल ४९ प्रस्तार—पटल हैं । उनमेंसे पहले नरके पहले पटलमें अवधिज्ञान क्षेत्र एक योजन है, और अंतिम पटलमें करीब साडे तीन कोस है । इसी तरह नीचे नीचेनी पृथिवियोंमें आवा आवा कोस कम कम होता गया है, अतकी सातवीं पृथिवीमें अनधिका क्षेत्र एक कोस है । यथा—

“ सत्तमखिद्विमि कोस कोसरसद्व पद्यद्वे ताव ।

जाव य पट्टमे गिरये जोयणमेक एवे पुण्ण ॥ ४२३ ॥ ” (गोमटसार—जीवराण्ड)

देव चार प्रकारके हैं—भवनवासी व्यतर ज्योतिषी और वैमानिक—रूपवासी । इनके अवधिज्ञान क्षेत्र क्रमसे क्रम २५ योजन और अधिकसे अधिक लोकनाडी—एक राजू मोटी एक राजू चौडी, तथा चौदह राजू ऊंची ब्रह्मनाली है, और देवोंके अवधिज्ञान क्षेत्र ऊपर कम किंतु तिर्यगू और नीचे अधिन हुआ करता है । यथा—

“ भवणतियाणमधोधो थोव तिरियेण होदि वह्ण तु ।

उड्ढेण भवणवासी सुरगिरिसिहरोत्ते पस्सति ॥ ४२८ ॥

सद्व च लोयणालि पस्सति अणुत्तरेसु जे देवा ॥ ४३१ ॥ ” (गोमटसार जीवराण्ड)

१—“ शेषाणाम् ” इतिपाठ पुस्तकान्तरे नास्ति । २—निर्मथनासतोपात्तति पाठांतरम् ॥

३—“ प्राप्तेत्वतिष्ठे ” इतिपाठांतरम् । ४—“ वा ” इति पाठ पुस्तकान्तरे नास्ति । ५—लिङ्गवत्

त्यंतरविन्दितायमनस्थावी वा भवति ” इति वा पाठ ।

है । वे उह भेद कौनसे है सो बताते हैं,—अनानुगामी, आनुगामी, हीयमानक, वर्धमानक, अनवस्थित और अवस्थित ।

जिस स्थानपर अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, उस स्थानपर तो वह काम कर सके और उस स्थानको छोड़कर स्थानान्तरमें चले जानेपर वह टूट जाय—काम न कर सके—अपने विषयको जाननेमें समर्थ या उपयुक्त न हो सके, उम अवधिज्ञानको अनानुगामिक कहते हैं । जैसे कि किसी किसी ज्योतिषी या निमित्तज्ञानी आदि मनुष्योंके वचनके विषयमें देखा जाता है, कि यदि उससे कोई प्रश्न किया जाय, तो वह उसका उत्तर किसी नियत स्थानपर ही दे सकता है, न कि सर्वत्र । इसी तरह इस अवधिज्ञानके विषयमें भी समझना चाहिये । आनुगामिक अवधिज्ञान इसमें उत्पन्न है । वह जिस जीवके जिस क्षेत्रमें उत्पन्न होना है, वह जीव यदि क्षेत्रान्तरको चला जाय, तो भी वह टूटता नहीं । उत्पन्न होनेके स्थानमें और स्थानान्तरमें दोनों ही जगह वह अपने योग्य विषयको जाननेका काम कर सकता है । जैसे कि पूर्व दिशामें उदित होता हुआ सूर्य—प्रकाश पूर्व दिशाके पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है, और अन्य दिशाके पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है । अथवा जिस प्रकार अवा-पाकस्थानमें रक्तनाको धारण करनेवाला घट अपने स्थानमें—पाकस्थानमें जिस प्रकार रक्तनामें युक्त रहा करता है, उसी प्रकार स्थानान्तर—तडागादिमें भी रहा करता है । ऐसा नहीं है कि पाकस्थानमें तो वह रक्तनाको धारण करे या प्रकाशित करे, परन्तु तडाग—सरोवरपर जानेपर वह वैसा न करे । इसी प्रकार जो अवधिज्ञान स्वस्थान और परस्थान दोनों ही जगह अपने विषयको ग्रहण कर सकता या अपने स्वरूपको प्रकाशित कर सकता है, उसको आनुगामिक कहते हैं । अमल्यात द्वीप समुद्र शृथिवी विमान और तिर्यक्—तिरज अथवा ऊपर नीचेके जितने क्षेत्रका प्रमाण लेकर उत्पन्न हुआ है, क्रमसे उस प्रमाणसे घटते घटते जो अवधिज्ञान अद्भुल्लके असख्यातवें भाग प्रमाण तकके क्षेत्रको विषय करने वाला रह जाय, उसको हीयमान कहते हैं । जिस प्रकार किसी अग्निका उपादान कारण यदि परिमित हो, तो उस उपादान सततिके न मिलनेसे उस अग्निकी शिखा भी क्रमसे कम कम होती जाती है, उसी प्रकार इस अवधिज्ञानके विषयमें समझना चाहिये । जो अवधिज्ञान अद्भुल्लके असख्यातवें भाग आदिक जितने विषयका प्रमाण लेकर उत्पन्न हो, उस प्रमाणसे बढ़ता ही चला जाय उसको वर्धमानक कहते हैं । जैसे कि नीचे और ऊपर अरणिके सघर्षणसे उत्पन्न हुई अग्निकी ज्वाला शुष्क पत्र आदि इधन राशिना निमित्त पाकर बढ़ती ही चली जाती है, उसी प्रकार जो अवधिज्ञान जितने प्रमाणको लेकर उत्पन्न हुआ है, उससे अन्तरङ्ग बाह्य निमित्त पाकर सम्पूर्ण लोकपर्यन्त बढ़ता ही चला जाय, उसको वर्धमानक कहते हैं । अर्थात् जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट प्रमाणतक विषयकी अपेक्षामें अवधिज्ञानके

जितने स्थान हैं, उनमेंसे जिस स्थानका अवधि उत्पन्न होकर परम शुभ परिणामोंका निमित्त पाकर उत्कृष्ट प्रमाणतक बढ़ता ही जाय उसको वर्तमानक समझना चाहिये । अनवस्थित अवधिज्ञान उसको समझना चाहिये जोकि एक रूपमें न रहकर अनेक रूप धारण कर सके । या तो कभी उत्पन्न प्रमाणसे घटता ही जाय, या कभी बढ़ता ही जाय, अथवा कभी घटे भी और बढ़े भी, यद्वा कभी छूट भी जाय और फिर कभी उत्पन्न हो जाय । जिस प्रकार किसी जलाशयकी लहरें वायुवेगका निमित्त पाकर अनेक प्रकारकी—छोटी मोटी या नष्टोत्पन्न हुआ करती ह, उसी प्रकार इस अवधिके विषयमें समझना चाहिये । शुभ या अशुभ अथवा उभयरूप जैसे भी परिणामोंका इसको निमित्त मिलता है, उसके अनुसार इसकी हानि वृद्धि आदि अनेक अवस्थाएँ हुआ करती हैं । कभी उत्पन्न प्रमाणसे बढ़ती ही है, कभी घटती ही ह कभी एक दिशाकी तरफ घटती है और दूसरी दिशाकी तरफ बढ़ती है, कभी नष्टोत्पन्न भी होती है । इत्यादि । अवस्थित अवधिज्ञान उसको कहते ह, जो कि जितने प्रमाण क्षेत्रके विषयमें उत्पन्न हो, उससे वह तबतक नहीं छूटता, जबतक कि केवलज्ञानकी प्राप्ति न हो जाय, अथवा उसका वर्तमान मनुष्य जन्म छूटकर जबतक उसको भवान्तरकी प्राप्ति न हो जाय, यद्वा जात्यन्तरस्थायि न बन जाय । जैसे कि लिंग—स्त्रीलिंग पुल्लिंग या नपुंसकलिंग प्राप्त होकर जात्यन्तरताको धारण किया करते हैं, उसी प्रकार अवधिज्ञान भी जिस जातिका उत्पन्न होता है, उससे भिन्न जातिरूप परिणमन कर लिया करता है । अर्थात् जिसके अवस्थित जातिका अविज्ञान होता है, उसके वह तबतक नहीं छूटता, जबतक कि उसको केवलज्ञानादिकी प्राप्ति न हो जाय । क्योंकि केवलज्ञान क्षायिक है, उसके साथ क्षायोपशमिकज्ञान नहीं रह सकता । यदि उसी जन्ममें केवलज्ञान न हो, तो जन्मान्तरमें वह अवधिज्ञान उस जीवके साथ भी जाता है । जिस प्रकार इस जन्ममें प्राप्त हुआ पुरुष लिंग आदि तीन प्रकारके लिंगोंमेंसे कोई भी लिंग जैसे इस जन्ममें आमरण साथ रहा करता है, परन्तु कदाचित् जन्मान्तरमें भी साथ जाता है । उसी प्रकार यह अविज्ञान केवलज्ञान हेनेतक अथवा इस जन्मके पूर्ण हेनेतक तदवश्य रहा करता है—जितने प्रमाणमें उत्पन्न हुआ है, उसी प्रमाणमें ज्योंका त्यों अवस्थित रहा करता है, परन्तु कदाचित् जन्मान्तरको साथ भी चला जाता है ।

भावार्थ—अविज्ञानके ये उह भेद दो कारणोंसे हुआ करते हैं—अतरग और बाह्य । अतरग कारण क्षयोपशमकी विचित्रता है, और बाह्य कारण सयम स्थानादिकी तथा अन्य निमित्त कारणोंकी विभिन्नता है । इस पदमेदात्मक अवधिको क्षयोपशमनिमित्तक कहते हैं । क्योंकि इसमें भवप्रत्ययके समान भव प्रधान कारण नहीं है । जिस प्रकार देव या नारक भवधारण करनेवालेको उस भवके धारण करनेसे ही अविज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम अवश्य प्राप्त हो

जाता है, वैसा इसमें नहीं होता । मनुष्य और तिर्यचोंको नियमसे अवधिज्ञान नहीं होता, किंतु जिनको समय स्थानादिका निमित्त मिलता है, उन्हींको वह प्राप्त होता है । अतएव अवधिज्ञाना वरणके क्षयोपशमरूप अन्तरङ्ग निमित्तके दोनों ही जगह समानरूपसे रहनेपर भी बाह्य कारण और उसके नियमके भेदसे ही अवधिके दो भेद बताये हैं—एक भवप्रत्यय दूसरा क्षयोपशमनिमित्तक ।

इसके सिवाय अवधिज्ञानका तर तम रूप दिखानेके लिये देशावधि परमावधि और सर्वावधि इस तरहसे उसके तीन भेद भी बताये हैं । देव नारकी तिर्यच और सागार मनुष्य इनके देशावधि ज्ञान ही हो सकता है । बाकीके दो भेद—परमावधि और सर्वावधि मुनियोंके ही हो सकते हैं । इनका विशेष खुलासा और इनके द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप विषयका भेद गोम्मट-सार जीवकाण्ड आदिसे जानना चाहिये ।

भाष्यम्—उक्तमवधिज्ञानम् । मन पर्यायज्ञान वक्ष्याम ।—

अर्थ—लक्षण और विधानपूर्वक अवधिज्ञानका वर्णन उक्त रीतिसे किया । अब उसके बाद मन पर्यायज्ञानका वर्णन क्रमानुसार प्राप्त है । अतएव उसके भी लक्षण और विधान—भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—ऋजुविपुलमती मनःपर्यायः ॥ २४ ॥

भाष्यम्—मन पर्यायज्ञान द्विविध, ऋजुमति मन पर्यायज्ञानं विपुलमति मन पर्यायज्ञान च । अत्राह,—कोऽनयो प्रतिविशेष इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—मन पर्यायज्ञानके दो भेद हैं—एक ऋजुमतिमन पर्यायज्ञान और दूसरा विपुलमतिमन पर्यायज्ञान ।

भावार्थ—जीवके द्वारा ग्रहणमें आई हुई और मनके आकारमें परिणत द्रव्यविशेषरूप मनोवर्गणाओंके अवलम्बनसे विचाररूप पर्यायोंको इन्द्रिय और अनिन्द्रियकी अपेक्षा लिये विना ही साक्षात् जानता है, उसको मन पर्यायज्ञान कहते हैं । सम्पूर्ण प्रमादोंसे रहित और जिसको मन पर्यायज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम प्राप्त हो चुका है, उस साधुको यह एक अत्यंत विशिष्ट और क्षायोपशमिक किंतु प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होता है, जिसके कि निमित्तसे वह साधु मनुष्य लोकवर्ती मन पर्यायिके धारण करनेवाचे पचेन्द्रिय प्राणीमात्रके त्रिकालवर्ती मनोगत विचारोंको विना इन्द्रिय और मनकी सहायताके ही जान मन्ता है ।

१—मध्यलोकमें ढाई द्वीप (प्रमाणाद्दुःखे ४५ लाख योजन) चौड़े और मेघप्रमाण ऊंचे क्षेत्रको मनुष्य क्षेत्र कहते हैं । २—शक्ति विशेषकी पूर्णताको पर्यायि कहते हैं । इसके छह भेद हैं—आहार शरीर इन्द्रिय शारोच्छ्वास माया और मन । इनमेंसे एकेन्द्रियके ४, दोइन्द्रियके ४, और असाक्षी पचेन्द्रियतकके ५, और मती पचेन्द्रियके छहों होती हैं । यथा—“ आहारसंगीरिदियपन्नती आणपाणभासमणी । चत्तारि पच छापि य एइदियवियलमणिसण्णीण ” ॥ ११८ ॥ गोम्मटसार जीवकांड । जिन जीवोंकी मनोवर्गणाओंमें द्रव्य मनके आकारमें परणमानेकी शक्ति पूरा हो जाती है उनको मन पर्यायि कहते हैं । इसी प्रकार सबत्र समझना । जिनकी शरीरपर्यायि भी पूरा नहीं हो पाती किन्तु मरण हो जाता है, उनको लन्ध्यपर्यायि कहते हैं । भवप्रदण्डके प्रथम अन्तर्मुहूर्त कालमें ही अपने अपने योग्य पर्यायिओंकी पूर्णता हो जाती है तथा इनका प्रारम्भ युगपर किंतु पूर्णता क्रमसे हुआ करता है । फिर भी प्रत्येक पर्यायिका काल अन्तर्मुहूर्त ही है । क्योंकि अन्तर्मुहूर्तके भी अस्तरयात भेद हैं ।

विषय भेदकी अपेक्षासे इस ज्ञानके दो भेद है। जो ऋजु—सामान्य—दो तीन पर्यायोंको ही ग्रहण करे, उसको ऋजुमतिमन पर्यायज्ञान कहते हैं, और जो विपुल—बहुतसी पर्यायोंको ग्रहण कर सके, उसको विपुलमतिमन पर्यायज्ञान कहते हैं। अर्थात् विपुलमतिमन पर्यायज्ञान त्रिकालवर्त्ता मनुष्यके द्वारा चिन्तित अचिन्तित अर्ध चिन्तित ऐसे तीनों प्रकारकी पर्यायोंको जान सकता है, परन्तु ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञान केवल वर्तमानकालवर्त्ता जीवके द्वारा ही चिन्त्यमान पर्यायोंको ही विषय कर सकता है। इसके सिवाय यह दोनों ही प्रकारका ज्ञान दर्शनपूर्वक नहीं हुआ करता। जैसे कि अवधिज्ञान प्रत्यक्ष होकर भी दर्शन पूर्वक ही हुआ करता है, वैसे यह नहीं होता। यह ईहा नामक मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है।

प्रश्न—जब कि मन पर्यायज्ञानके ये दोनों ही भेद अतीन्द्रिय हैं, और दोनोंका विषय-परिच्छेदन—मनःपर्यायोंको जानना भी सरीखा ही है, फिर इनमें विशेषता किस बातकी है ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विशुद्ध्यप्रतिपाताभ्यां तद्विशेषः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—विशुद्धिकृतध्याप्रतिपातकृतज्ञानयो प्रतिविशेष । तद्यथा—ऋजुमतिमनः—पर्यायाद्विपुलमतिमन पर्यायज्ञान विशुद्धतरम् । किं चान्यत् । ऋजुमतिमन पर्यायज्ञानं प्रतिपतत्यपि भूयो विपुलमतिमन पर्यायज्ञानं तु न प्रतिपततीति ।

अर्थ—मन पर्यायज्ञानके दोनों भेदोंमें विशेषता दो प्रकारकी समझनी चाहिये। एक तो विशुद्धिकृत दूसरी अप्रतिपातकृत। मतलब यह है, कि एक तो ऋजुमतिमन पर्यायज्ञानकी अपेक्षा विपुलमतिमन पर्यायज्ञान अधिक विशुद्ध हुआ करता है। दूसरी बात यह है, कि ऋजुमतिमन पर्यायज्ञान उत्पन्न होकर छूट भी जाता है, और एक बार ही नहीं अनेक बार भी उत्पन्न हो हो करके छूट सकता है। परन्तु विपुलमतिमें यह बात नहीं है, वह उत्पन्न होनेके अनंतर जबतक केवलज्ञान प्रकट न हो तबतक छूटता नहीं।

भावार्थ—ऋजुमतिमन पर्यायज्ञानसे विपुलमतिमन पर्यायज्ञान विशुद्ध और अप्रतिपात इन दो कारणोंसे विशिष्ट है। क्योंकि ऋजुमतिकी विषय स्तोक और विपुलमतिकी उससे अत्यधिक है। ऋजुमति जितने पदार्थको जितनी सूक्ष्मताके साथ जान सकता है, विपुलमति उसी पदार्थको नानाप्रकारसे विशिष्ट गुण पर्यायोंके द्वारा अत्यंत अधिक

१—तियकालविसयस्ववि चिन्तित बह्मार्णनीनेण । उजुमदिणाण जाणदि भूदभावस्स च विउलमदी ॥ ४४० ॥

२—तरमणसिद्धियमइ ईहामदिणा उजुडिय ल्हिय । पच्छा पचनत्तेण य उजुमदिणा जाणदे णियमा ॥ ४४७ ॥

सूत्रनाके साथ जान सकता है । अतएव विपुलमतिनी विशुद्धि-निर्मलना ऋजुमतिसे अधिक है । इसी प्रकार ऋजुमतिके विषयमें यह नियम नहीं, है कि यह उत्पन्न होकर नहीं ही छूटे, किंतु विपुलमतिके विषयमें यह नियम है । जिस समयी साधुको विपुलमतिमन पर्यायज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसको उसी भवसे केन्द्रज्ञान प्रकट होकर निर्वाण-पद भी प्राप्त हो जाता है । अतएव विपुलमति अप्रतिपाती है ।

भाष्यम्—अत्राह—अथावधि मन पर्यायज्ञानयो क प्रतिविशेष ? इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—मन पर्यायज्ञानके दोनों भेदोंमें विशेषता किस किस कारणसे है, सो तो समझमें आया, परन्तु अधिज्ञान और मन पर्यायज्ञानमें विशेषता क्या क्या है, और किस किस अपेक्षासे है ? इसी बातका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विशुद्धिक्षेत्रस्वामिविषयेभ्योऽवधिमनःपर्याययोः ॥ २६ ॥

भाष्यम्—विशुद्धिक्षेत्रकृत स्वामिकृतो विषयकृतश्चानयोर्विशेषो भवत्यवधिमनः-पर्यायज्ञानयो । तद्यथा—अवधिज्ञानान्मनः पर्यायज्ञान विशुद्धतरम् । यावन्ति हि रूपाणि द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते तानि मन पर्यायज्ञानी विशुद्धतराणि मनोगतानि जानीते । किं चान्यत्—क्षेत्रकृतश्चानयोः प्रतिविशेष । अवधिज्ञानमङ्गुलस्यासख्येयभागाविपृत्पक्ष भजत्यासर्वलोकात् । मनः पर्यायज्ञान तु मनुष्यक्षेत्र एव भवति नान्यक्षेत्र इति । किं चान्यत्—स्वामिकृतश्चानयो प्रतिविशेष । अवधिज्ञान सयतस्य असयतस्य वा सर्वगतिषु भवति । मनःपर्यायज्ञानं तु मनुष्यसयतस्यैव भवति नान्यस्य । किं चान्यत्—विषयकृतश्चानयो प्रति-विशेष । रूपिद्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्ववधेर्विषयनिबन्धो भवति । तदनन्तभागे मन पर्यायस्येति ।

अर्थ—अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञानमें विशुद्धि क्षेत्र स्वामी और विषय इन चार कारणोंसे विशेषता है । जिसके द्वारा अधिस्तर पर्यायोक्ता परिक्षान हो सके, ऐसी निर्मलताको विशुद्धि कहते हैं । क्षेत्र नाम आकाशका है । जिन जीवोंको वह ज्ञात हो, उनको उस विवक्षित ज्ञानका स्वामी समझना चाहिये । ज्ञानके द्वारा जो पदार्थ जाना जाय, उसको ज्ञेय अथवा विषय कहते हैं । इन चारों ही कारणोंकी अपेक्षासे अधिज्ञान और मन पर्यायज्ञानमें अन्तर है । वह किस प्रकार है सो बताते हैं—

अवधिज्ञानकी अपेक्षा मन पर्यायज्ञानकी विशुद्धि अधिक होती है । जितने रूपी द्रव्योंको अवधिज्ञानी जान सकता है, उनको मन पर्यायज्ञानी अधिक स्पष्टतासे और मनोगत होनेपर भी जान लिया करता है । इसके सिवाय दोनोंमें क्षेत्रकृत विशेषता इस प्रकारसे है, कि अवधिज्ञानका क्षेत्र अद्भुतके असख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोक पर्यन्त है । अर्थात् सूक्ष्मनिगोदिया लब्धपर्यायसकृती उत्पन्न होनेसे तासरे समयमें जो शरीरकी जगन्मय अव

१ “रूपीणि” इति पाठान्तर साधु प्रतिभाति । २—“मनोदहस्यगतानीव” इत्यादि पाठ । ३—“वा” इतिपाठोऽन्यत्र नास्ति । ४—गुणसघातक रूपरसगंधस्पर्शवृत्त द्रव्य ।

गाहना होती, इसका जितना प्रमाण होता है, उतना ही अवधिज्ञानके जघन्य क्षेत्रका प्रमाण समझना चाहिये। इतने क्षेत्रमें जितने भी जघन्य द्रव्य होंगे, उन सबको वह जघन्य अवधिज्ञानवाला जान सकता है। इसके ऊपर क्रमसे बढ़ता हुआ अवधिज्ञान क्षेत्र सम्पूर्ण लोकपर्यन्त हुआ करता है। और प्रत्येक अवधिज्ञान अपने अपने योग्यक्षेत्रमें स्थित यथायोग्य द्रव्योंको जान सकता है। परन्तु मन पर्यायज्ञानके विषयमें ऐसा नहीं है। उसका क्षेत्र मनुष्य लोक प्रमाण ही है। वह उतने क्षेत्रके भीतर ही सजी जीवकी होनेवाली मन पर्यायोंको जान सकता है, बाहरकी नहीं। इसके सिवाय स्वामीकी अपेक्षासे भी दोनोंमें अन्तर है। वह इस प्रकार है कि—अवधिज्ञान तो सयमी साधु और असयमी जीव तथा सयतासयत श्रावक इन सभीके हो सकता है, तथा चारों ही गतिवाले जीवोंके हो सकता है। परन्तु मन पर्यायज्ञान सयमी मनुष्यके ही हो सकता है, अन्यके नहीं हो सकता। इसी तरह विषयकी अपेक्षासे भी अवधि और मन पर्यायमें अन्तर है। वह इस प्रकारसे कि अवधिज्ञान रूपी द्रव्योंको और उसकी असम्पूर्ण पर्यायोंको जानता है। परन्तु अवधिके विषयका अनतवां भाग मन पर्यायका विषय है। अतएव अवधिकी अपेक्षा मन पर्यायज्ञानका विषय अतिशय सूक्ष्म है।

भावार्थ—यद्यपि सज्ञा सस्या लक्षण प्रयोजनादिकी अपेक्षासे भी इन दोनोंमें अन्तर है, परन्तु इनका अन्तर्भाव इन कारणोंमें ही हो जाता है, अतएव यहाँपर चार कारणोंकी अपेक्षासे ही विशेषताका उल्लेख किया है। इसी प्रकार यद्यपि क्षेत्रका प्रमाण अवधिकी अपेक्षा मन पर्यायज्ञानका थोड़ा है, परन्तु फिर भी उत्कृष्ट मन पर्यायज्ञानको ही समझना चाहिये। क्योंकि उसका विषय बहुततर और सूक्ष्मतर होनेसे प्रकृष्ट तथा स्वामी भी सयत मनुष्य ही होनेसे विशिष्ट हुआ करता है। जैसे कि अनुमानसे—धूमको देखकर होनेवाले अग्नि-ज्ञानकी अपेक्षा चक्षुरिन्द्रिय द्वारा होनेवाले अग्निज्ञानमें अधिक स्पष्टता रहा करती है। अथवा जैसे कि एक व्यक्ति तो अपने पठित ग्रन्थका ही और एक ही प्रकारसे अर्थ कर सकता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति पठितापठित ग्रन्थोंका और अनेक प्रकारसे अर्थ कर सकता है, इनमेंसे जैसे दूसरे व्यक्तिका ज्ञान उत्कृष्ट समझा जाता है, उसी प्रकार अवधिज्ञानकी अपेक्षा मन पर्यायज्ञानको भी उत्कृष्ट समझना चाहिये। इसके सिवाय जिस तरह अवधिज्ञान चारों गतिके जीवोंके उत्पन्न हो सकता है, वैसे मन पर्याय नहीं होता। वह सयमी मनु-

१—उत्सेधाद्गुल्फी अपेक्षासे उत्पन्न व्यवहार सूक्ष्मलक्ष्ये जसख्यातवें भाग प्रमाण भुजा कोटी और वेधमें परस्पर गुणा करनेसे जघन्य अवगाहनाका प्रमाण निकलता है। यथा—“अवरोगाहणमात्र उत्सेहगुलअसख भागस्त। सूस्त य पणपदर होदिहु तक्केत्तसमकरणे ॥३७९॥ गो० जीवकाण्ड। २—णोऋमुगालसच मण्डितमजोग ज्जिर्य सविस्सचय। लेयविभत्त जाणदि भवरोही दव्वदे गियमा ॥३७६॥ गो० जी०। अर्थात् विससोपचयसहित और मध्यम योगके द्वारा सचिन खेद शुणी हानिमात्र समयप्रवद्धरूप औदारिक नोकरनें सपहमें लोऋप्रमाणका भाग देनेसे जो लब्ध आवे, वही अवधिज्ञानके जघन्य द्रव्यका प्रमाण है।

प्यके ही होता है, और उसमें भी ऋद्धिप्राप्तको ही होता है और ऋद्धिप्राप्तोंमें भी सबको नहीं किन्तु किसी किसीके ही होता है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त मन पर्यायज्ञानम् । अथ केवलज्ञान किमिति । अत्रोच्यते ।—केवलज्ञान दशमेऽध्याये वक्ष्यते—“मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलमिति ।” अत्राह—एषां मतिज्ञानादीनां कं कस्य विषयनिबन्ध इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने मन पर्यायज्ञानका तो लक्षण और भेद विधान आदिने द्वारा निरूपण किया, परन्तु अब इसके बाद केवलज्ञानका निरूपण क्रमानुसार प्राप्त है, अतएव कहिये कि उसका स्वरूप क्या है ? उत्तर—केवलज्ञानका स्वरूप आगे चलकर इसी ग्रन्थके दशवें अध्याय के प्रारम्भ में—पहले ही सूत्रमें इस प्रकार बतावेंगे कि “मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।” वहीं पर उसका विशेष तुलना समझना चाहिये, यहाँपर भी उसका वर्णन करके पुनरुक्ति करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

प्रश्न—यहाँपर ज्ञानके प्रकरणमें ज्ञानके मतिज्ञान आदि पाँच भेद बताये हैं । परन्तु यह कहिये, कि उनमेंसे किस किस ज्ञानकी किस किस विषयमें प्रवृत्ति हो सकती है ? क्योंकि उसके बिना ज्ञानके स्वरूपका यथावत् परिज्ञान नहीं हो सकता । अतएव इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं, उसमें सबसे पहले क्रमानुसार मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका विषय बताते हैं—

सूत्र—मतिश्रुतयोर्निबन्धः सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ॥ २७ ॥

भाष्यम्—मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोर्विषयानिबन्धो भवति सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु । ताम्यादि सर्वाणि द्रव्याणि जानीते न तु सर्वे पर्याये ॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनोंका विषय सम्पूर्ण द्रव्योंमें है, परन्तु उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंमें नहीं है । इन ज्ञानोंके द्वारा जीव समस्त द्रव्योंको ता जान सकता है, परन्तु सम्पूर्ण पर्यायोंके द्वारा उनको नहीं जान सकता ।

भावार्थ—ये दोनों ही ज्ञान परापेक्ष है, यह बात पहले ही बता चुके हैं । उन अपेक्षित पर कारणोंमेंसे इन्द्रियोंका विषय और क्षेत्र नियत है । अतएव उनकेद्वारा सम्पूर्ण द्रव्य तथा उनकी समस्त पर्यायोंका ज्ञान नहीं हो सकता । तथा मनकी भी इतनी शक्ति नहीं है, कि वह धर्मादिक सभी द्रव्योंकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सभी पर्यायोंको जान सके । अतएव श्रुतग्रन्थके अनुसार ये दोनों ही ज्ञान सम्पूर्ण द्रव्योंको और उनकी कुछ पर्यायोंको ही जान सकते हैं, उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंको नहीं जान सकते ।

क्रमानुसार अग्रधिज्ञानका विषय बतानेको सूत्र कहते हैं—

१—चार घाती कर्मोंसे पहले मोहनय कर्मना और फिर ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन तीनों का सबैधा क्षय हो जानेपर केवलज्ञान प्रकट होता है ।

सूत्र—रूपिष्ववधेः ॥ २८ ॥

भाष्यम्—रूपिष्वेव द्रव्येष्ववधिज्ञानस्य विषयनिबन्धो भवति असर्वपर्यायेषु । सुवि-
शुद्धेनाप्यवधिज्ञानेन रूपिष्वेव द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते तान्यपि न सर्वं पर्यायैरिति ।

अर्थ—अवधिज्ञानका विषय रूपी द्रव्य ही है । किन्तु वह भी सम्पूर्ण पर्यायों करके
युक्त नहीं है । क्योंकि अवधिज्ञानी चाहे जैसे अतिविशुद्ध अवधिज्ञानको धारण करनेवाला
क्यों न हो, परन्तु वह उसके द्वारा रूपी द्रव्योंको ही जान सकता है, अन्योको नहीं । तथा रूपी
द्रव्योंकी भी सम्पूर्ण पर्यायोंको नहीं जान सकता ।

क्रमानुसार मन पर्यायज्ञानका विषय बताते है—

सूत्र—तदनन्तभागे मनःपर्यायस्य ॥ २९ ॥

भाष्यम्—यानि रूपीणि द्रव्याण्यवधिज्ञानी जानीते ततोऽनन्तभागे मनःपर्यायस्य विष-
यनिबन्धो भवति । अवधिज्ञानविषयस्थानन्तभाग मनःपर्यायज्ञानी जानीते रूपिद्रव्याणि
मनोरहस्यविचारगतानि च मानुषक्षेत्रपर्यायपन्नानि विशुद्धतराणि चेति ।

अर्थ—जितने रूपी द्रव्योंको अवधिज्ञान जान सकता है, उसके अनन्तवें भागको
मनःपर्यायज्ञानी जान सकता है । अवधिज्ञानका जितना विषय है, उसका अनन्तया भाग
मनःपर्याय ज्ञानका विषय है । क्योंकि मनःपर्यायज्ञानी अन्तरङ्गमें स्थित अतएव अन्तःकरण
रूप मनके विचारोंमें प्राप्ति-आये हुए रूपी द्रव्योंको तथा मनुष्य क्षेत्रवर्ती अवधिज्ञानकी अपेक्षा
अतिशय विशुद्ध-सूक्ष्मतर और बहुतर पर्यायोंके द्वारा उन रूपी द्रव्योंको जान सकता है ।

भावार्थ—मनःपर्यायज्ञानका विषय अवधिके विषयसे अनन्तैरुभागप्रमाण रूपी
द्रव्य है । परन्तु वह भी असर्वपर्यायही है । अपने विषयको सम्पूर्ण पर्यायोंको नहीं जान
सकता । फिर भी वह अधिकतर सूक्ष्म विषयको विशेषरूपसे जानता है, अतएव प्रशस्त है ।

क्रमानुसार केवलज्ञानका विषयनिबन्ध बतानेको सूत्र कहते है —

सूत्र—सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ॥ ३० ॥

भाष्यम्—सर्वद्रव्येषु सर्वपर्यायेषु च केवलज्ञानस्य विषयनिबन्धो भवति ।
ताद्वि सर्वभावग्राहक समिन्न लोकालोकविषयम् । नातपर ज्ञानमस्ति । न च केवलज्ञानविषया-
त्पर किञ्चिद्द्रव्यज्ञेयमस्ति । केवल परिपूर्ण समग्रमसाधारण निरपेक्ष विशुद्ध सर्वभाव
ज्ञापकं लोकालोकविषयमनन्तपर्यायमित्यर्थ ॥

अर्थ—केवलज्ञानका विषय निबन्ध सपूर्ण द्रव्य और उनको सपूर्ण पर्यायोंमें है । क्योंकि
वह द्रव्य क्षेत्र काल भाव विशिष्ट तथा उत्पाद व्यव ध्रौव्यरूप सभी पदार्थोंको ग्रहण करता
है, सम्पूर्ण लोक और अत्रोक्तो विषय किया करता है । इससे बड़ा और कोई भी ज्ञान
नहीं है, और न ऐसा कोई होय ही है, जो कि केवलज्ञानका विषय होनेसे बाकी बच रहे ।

इस ज्ञानको केवल परिपूर्ण समग्र असाधारण निरपेक्ष विशुद्ध सर्वभावज्ञापक लोकालोकविषय और अनन्तपर्याय ऐसे नामोंसे कहा करते हैं ।

भाषार्थ—जीवपुद्गलादिक सम्पूर्ण मूलद्रव्य और उनकी त्रिमास्यती सम्पूर्ण सङ्ग स्थल पर्यायें इस ज्ञानका विषय हैं । न तो इस ज्ञानसे उत्कृष्ट कोई ज्ञान ही है, और न ऐसा कोई पदार्थ या पर्याय ही है, जो कि इस ज्ञानका विषय न हो । यह ज्ञान क्षायिक है, ज्ञानावरणमर्मका सर्वथा क्षय होनेसे प्रकट होता है । अतएव दूसरे क्षायोपशमिक ज्ञानोंमेंसे कोई भी ज्ञान इसके साथ नहीं रह सकता और न रहता ही है, यह एकाकी ही पाया जाता या रहा करता है, इसी लिये इसको केवल कहते हैं । यह सङ्ग द्रव्य भावोंका परिच्छेदक है, इसलिये इसको परिपूर्ण कहते हैं । जिस तरह यह एक जीव पदार्थको जानता है, उसी तरह सम्पूर्ण पर पदार्थोंको भी जानता है, इसलिये इसको समग्र कहते हैं । किसी भी मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञानसे इसकी तुलना नहीं हो सकती, इसलिये इसको असाधारण कहते हैं । इसको इन्द्रिय मन आलोक आदि किसी भी अवलम्बन या सहायककी अपेक्षा नहीं है, इसलिये इसको निरपेक्ष कहते हैं । ज्ञानावरण दर्शनावरण आदिके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाली मलदोष रूप अशुद्धियोंसे यह सर्वथा रहित है, इसलिये इसको विशुद्ध कहते हैं । यह समस्त पदार्थोंका ज्ञापक है, इसीसे सम्पूर्ण तत्त्वोंका बोध होता है, इसलिये इसको सर्वभावज्ञापक कहते हैं । लोक और अलोकका कोई भी अंश इससे अपरिलिखन नहीं है, इसलिये इसको लोकालोक विषय कहते हैं । अगुरुल घुगुणके निमित्तसे इसकी अनन्तपर्याय परिणमन होते हैं, इसलिये इसको अनन्तपर्याय कहते हैं । अथवा इसकी क्षेत्ररूप पर्याय अनन्त हैं, यद्वा इसके अविभागप्रतिच्छेद अनन्त हैं, इसलिये भी इसको अनन्तपर्याय कहते हैं । मतलब यह कि अनन्त शक्ति और योग्यताके धारण करनेवाला यह ज्ञान सर्वथा अप्रतिम है ।

भाष्यम्—अत्राह—एषा मतिज्ञानादीना युगपदेकस्मिन्जीवे कति भवन्ति ? इति । अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने ज्ञानोंका विषय निबन्ध जो बताया सो समझमें आया । परन्तु अब यह बताइये, कि इन मतिज्ञानादि पाँच प्रकारके ज्ञानोंमें से एक समयमें एक जीवके कितने ज्ञान हो सकते हैं ? इसीका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—एषां मत्यादीना ज्ञानानामादित एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन् जीवे आ चतुर्भ्यः, कस्मिंश्चिज्जीवे मत्यादीनामेक भवति, कस्मिंश्चिज्जीवे द्वे भवत, कस्मिंश्चित् त्रीणि भवन्ति, कस्मिंश्चिच्चत्वारि भवन्ति । श्रुतज्ञानस्य तु मतिज्ञानेन नियत सहभावस्तत्पूर्व-कत्वात् । यस्य तु मतिज्ञान तस्य श्रुतज्ञान स्याद्वा न येति । अत्राह—अथ केवलज्ञानस्य पूर्वमतिज्ञानादिभिः किं सहभावो भवति नेत्युच्यते । काचिदाचार्या व्याचक्षते, नाभावः किं तु तद

भिभूतत्वादर्कचित्कराणि भवन्तीन्द्रियवत् । यथा चाव्यञ्जे नभसि आदित्ये उदिते भूरितेजस्वा
दादित्येनाभिभूतान्यतेजांसि ज्वलनमाणचन्द्रनक्षत्रप्रभृतीनि प्रकाशनं प्रत्यर्कचित्कराणि
भवन्ति तद्वदिति । केचिदप्याहुः ।-अपायसद्रव्यतया मतिज्ञानं तत्पूर्वकं श्रुतज्ञानमवाधिज्ञान-
मन पर्यायज्ञाने च रूपिद्रव्यविषये तस्मान्नेतानि केवलिनः सन्तीति ॥ किं चान्यत् ।-मति-
ज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति न युगपत् । सभिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवत् केव-
लिनो युगपत्सर्वभावग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयसुपयोगो भवति ।
किं चान्यत् ।-क्षयोपशमजानि चत्वारि ज्ञानानि पूर्वाणि क्षयादेव केवलम् । तस्मान्न केवलिनः
शेषाणि ज्ञानानि सन्तीति ॥

अर्थ—ऊपर मति आदिक जो ज्ञानके भेद गिनाये हैं, उनमेंसे एक जीवके एक समयमें
प्रारम्भके एकसे लेकर चार तक ज्ञान हो सकते हैं । किसी जीवके तो मतिज्ञानादिकमेंसे एक ही
ज्ञान हो सकता है, किसी जीवके दो हो सकते हैं, किसीके तीन हो सकते हैं, और किसीके चार
हो सकते हैं । इनमेंसे श्रुतज्ञानका तो मतिज्ञानके साथ सहभाव नियत है । क्योंकि वह मतिज्ञान-
पूर्वक ही हुआ करता है । परन्तु जिस जीवके मतिज्ञान है, उसके श्रुतज्ञान हो भी और
न भी हो । शंका—केवलज्ञानका अपनेसे पूर्वके मति आदिक ज्ञानोंके साथ सहभाव है, या
नहीं ? उत्तर—इस विषयमें कुछ आचार्योंका तो ऐसा कहना है, कि केवलज्ञान हो जानेपर, भी
इन मतिज्ञानादिकका अभाव नहीं हो जाता । किंतु ये ज्ञान केवलज्ञानसे अभिभूत हो जाते हैं,
अतएव वे उस अवस्थामें अपना कुछ भी कार्य करनेके लिये समर्थ नहीं रहते । जैसे कि
केवलज्ञानके उत्पन्न हो जानेपर भी इन्द्रियाँ तदवस्थ रहती हैं, परन्तु वे अपना कुछ भी कार्य
नहीं कर सकतीं, इसी प्रकार मतिज्ञानादिकके विषयमें समझना चाहिये । अथवा जैसे कि
मेघपटलसे रहित आकाशमें सूर्यका उदय होते ही उसके सातिशय महान् तेजसे अन्य तेजो
द्रव्य—अग्नि रत्न चन्द्रमा नक्षत्र प्रभृति प्रकाशमान पदार्थ आच्छादित हो जाते हैं, और अपना
प्रकाशकार्य करनेमें अर्कचित्कर हो जाते हैं, वैसे ही केवलज्ञानके उदित होनेपर मतिज्ञानादिकके
विषयमें समझना चाहिये ।

किसी किसी आचार्यका ऐसा भी कहना है, कि ये ज्ञान केवलीके नहीं हुआ करते ।
क्योंकि श्रोत्रादिक इन्द्रियोंसे उपलब्ध तथा ईहित पदार्थके निश्चयको अपाय कहते
हैं, और मतिज्ञान अपायस्वरूप है तथा वह सद्रव्यतया हुआ करता है वह
विद्यमान अथवा विद्यमानवत् पदार्थको ही ग्रहण किया करता है । किंतु केवलज्ञानमें ये दोनों ही
घातें सर्वथा नहीं पायी जातीं । अतएव वह केवलज्ञानके साथ नहीं रहा करता । और इसीलिये
श्रुतज्ञान भी उसके साथ नहीं रह सकता, क्योंकि वह मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ करता है, और
अधिज्ञान तथा मन पर्यायज्ञान केवल रूपी द्रव्यको ही विषय करनेवाले हैं अतएव वे भी
उसके साथ नहीं रह सकते । इसके सिवाय एक बात और भी है, वह यह कि—मतिज्ञानादिक

चार प्रकारके जो क्षायोपशमिक ज्ञान है, जीवके उनका उपयोग क्रमसे हुआ करता है, युगपत् नहीं हुआ करता । अर्थात् ये चारों ही ज्ञान क्रमवर्ती है न कि सहवर्ती । परन्तु केवलज्ञान ऐसा नहीं है । जिन केवली भगवान् को परिपूर्ण ज्ञान और परिपूर्ण दर्शन प्राप्त हो गया है, उनका वह केवलज्ञान और केवलदर्शन समस्त पदार्थोंको युगपत् विषय किया करता है, क्योंकि वह असहाय है, और इसीलिये इन दोनोंका उपयोग प्रतिसमय युगपत् ही हुआ करता है । तथा एक बात यह भी है, कि पाच प्रकारके जो ज्ञान है उनमेंसे आदिके चार ज्ञान क्षायोपशमिक-ज्ञानावरण कर्मके क्षायोपशमसे उत्पन्न होनेवाले है, परन्तु केवलज्ञान उसके सर्वथा क्षयसे ही प्रकट होता है । अतएव केवली भगवान्के केवलज्ञान ही रहा करता है, बाकिंके चार ज्ञान उनके नहीं हुआ करते ।

भावार्थ—क्षायिक और क्षायोपशमिकमें परस्पर विरोध है, अतएव क्षायिक-केवलज्ञानके साथ चारों क्षायोपशमिक ज्ञानोंका सहभाव नहीं रह सकता, इसलिये केवलीके केवलज्ञानके सिवाय चारोंका अभाव ही समझना चाहिये ।

यहाँतक प्रमाणरूप पाँचो ज्ञानोंका वर्णन किया, अब प्रमाणाभास रूप ज्ञानोंका निरूपण करनेकी इच्छासे सूत्र कहते हैं—

सूत्र—मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—मतिज्ञान श्रुतज्ञानमवधिज्ञानमिति विपर्ययश्च भवत्यज्ञान चेत्यर्थ । ज्ञान-विपर्ययोऽज्ञानमिति । अत्राह । तदेव ज्ञान तदेवाज्ञानमिति । ननु च्छायातपवच्छीतोष्णवच्च तदत्यन्तविरुद्धमिति । अत्रोच्यते ।—मिथ्यादर्शनपरिग्रहाद्विपरीतग्राहकत्वमेतेषाम् । तस्मादज्ञानानि भवन्ति । तद्यथा ।—मत्यज्ञान श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञानमिति । अवाधिविपरीतो विभङ्ग इत्युच्यते ॥

अर्थ—मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये विपर्यय भी हुआ करते हैं, अर्थात् ये तीनों ज्ञान अज्ञान रूप भी कहे जाते हैं । क्योंकि ज्ञानसे जो विपरीत हैं, उन्हींको अज्ञान कहते हैं । शका-उसीको ज्ञान कहना और उसीको अज्ञान कहना यह वैसे वन सज्जात है ।

१—केवलज्ञान और केवलदर्शनके विषयमें दो सिद्धान्त हैं—दिग्गन्ध आश्रायमें दोनों उपयोग एक समयमें ही हुआ करते हैं, ऐसा माना है । क्योंकि दोनों उपयोगोंमें आवृत्त करनेवाले दो कर्म हैं—ज्ञानावरण और दर्शनावरण । इन दोनोंका केवलीके सर्वथा क्षय हो जानेसे फिर कोई भी क्रमवर्तितान्तरण शेष नहीं रहता । इसी लिये ऐसा लिखा भी है कि “ दसणपुञ्ज णाण छदमचाण ण दोण्णि उत्रओगा । जुगव जग्हा केवलिणोद जुगव तु ते दोचि ॥ ४४ ॥ ”—इत्यसप्रह—श्रीनोमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती । परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ऐसा नहीं माना है । श्रीविद्वसेनगणित्त टीकामें लिखा है कि “ नचातीवामिनिवेशोऽस्माक युगपदुपयोगो मा मदिति । वचन न पर्यामस्तावृशम, क्रमोपयोगार्थ प्रतिपादने तु भूरिवचनमुपलभामहे । ” अर्थात् इस विषयमें हमारा ऐसा कोई अत्यधिक आग्रह नहीं है, कि केवल ज्ञान और केवलदर्शन ये दोनों उपयोग एक साथ नहीं ही हों । परन्तु इस विषयके विधायक वचन नहीं दीजते । उपयोगकी क्रमवर्तितान्तरण रूप अर्थसे प्रतिपादक वचन बहुतसे देखनेको मिलते हैं । यथा—“ नागमि दसणम्मिय एत्तो एगयत्तमि उवज्जाता । ” (प्रज्ञापनायाम्) । तथा “ सन्वस्स केवलस्सि वि जुगव दो णाल्पि उवओगा । ” (वि ३०१९)

क्योंकि जिस प्रकार छाया और आतप—धूपमें परस्पर विरोध है, अथवा शीत उष्ण पर्यायोंमें अत्यत विरुद्धता है। उसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान भी परस्परमें सर्वथा विरुद्ध है, फिर भी मति श्रुत और अवधिको ज्ञान भी कहना और अज्ञान भी कहना यह कैसे बन सकता है ? उत्तर—जिन जीवोंने मिथ्यादर्शनको ग्रहण—धारण कर रक्खा है, उन जीवोंके ये तीनों ही ज्ञान पदार्थको यायात्म्यरूपसे ग्रहण नहीं करते—विपरीत-तया ग्रहण करते हैं, अतएव उनको विपरीत—अज्ञान कहते हैं। अर्थात् उनको क्रमसे मति-ज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान न कह कर मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभग कहा करते हैं। विपरीत अवधि—मिथ्यादृष्टि जीवके अवधिज्ञानको ही विभग कहा करते हैं। अनध्यज्ञान और विभङ्ग पर्याय वाचक शब्द है।

भावाय—व्यवहारमें ज्ञानके निषेधको अज्ञान कहा करते हैं, और निषेध दो प्रकारका माना है—पर्युदास और प्रसङ्ग। जो सदृश अर्थको ग्रहण करनेवाला है उसको पर्युदास कहते हैं, और जो सर्वथा निषेध—अभाव अर्थको प्रकट करता है उसको प्रसङ्ग कहा करते हैं। सो यहाँपर ज्ञानके निषेधका अर्थ पर्युदासरूप करना चाहिये न कि प्रसङ्गरूप। अर्थात् अज्ञानका अर्थ ज्ञानोपयोगका अभाव नहीं है, किंतु मिथ्यादर्शन सहचरित ज्ञान ऐसा है। मिथ्यादर्शनका सहचारी ज्ञान तत्त्वोंके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण नहीं कर सकता। मिथ्यादृष्टिके ये तीन ही ज्ञानोपयोग हो सकते हैं, क्योंकि मन पर्याय और केवलज्ञान सभ्यदृष्टिके ही हुआ करते हैं। अतएव इन तीनोंको विपरीतज्ञान अथवा अज्ञान कहा है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता सम्यग्दर्शनपरिगृहीत मत्यादि ज्ञान भवत्यन्यथाऽज्ञानमेवेति । मिथ्यादृष्टयोऽपि च भव्याश्चाभव्याश्चेन्द्रियनिमित्तानविपरीतान् स्पर्शादीनुपलभन्ते, उपदिशन्ति च स्पर्शं स्पर्शं इति रस रस इति, एव शोषान् । तत्कथमेतदिति । अत्रोच्यते ।—तेषां हि विपरीतमेतद्भवति ।—

अर्थ—प्रश्न—आपने कहा कि सम्यग्दर्शनके सहचारी मत्यादिकको तो ज्ञान कहते हैं, और उससे विपरीत—मिथ्यादर्श सहचारी मत्यादिकको अज्ञान कहते हैं। सो यह बात कैसे बन सकती है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि भी चाहे वे भव्य हों चाहे अभव्य इन्द्रियोंके निमित्तसे जिनका ग्रहण हुआ करता है, उन स्पर्शादिक विषयोंको अविपरीत ही ग्रहण किया करते हैं और उनका निरूपण भी वैसा ही किया करते हैं। वे भी स्पर्श को स्पर्श और रसको रस ही जानते तथा कहा भी करते हैं। इसी प्रकार शेष विषयोंमें भी समझना चाहिये। फिर क्या कारण है कि उनके ज्ञानको विपरीत ज्ञान अथवा अज्ञान कहा जाय ? उत्तर—मिथ्यादृष्टियों—का ज्ञान विपरीत ही हुआ करता है। क्योंकि—

१—“ पर्युदास सदृशही, प्रसङ्गस्तु निषेधकृत् । ” २—मिच्छादृष्टी जीवो उग्रह पवयण ण सदृहदि । सदृहदि असम्भाव उग्रह या अणुग्रह ॥ १८ ॥—गो० जीवकोड ।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि दो प्रकारके हुआ करते हैं—एक भय दूसरे अभय । जो सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो सक्ते हैं, उनको भय कहा करते हैं, और इसके विपरीत है—जिनमें सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है, उनको अभय कहा करते हैं । मिथ्यादृष्टिके दूसरी तरहमे तीन भेद भी हुआ करते हैं—एक अभिगृहीतमिथ्यादर्शन दूसरे अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन तीसरे संदिग्ध । जो जिनमगवानके प्रपञ्चसे सर्वथा विपरीत निरूपण करनेवाले हैं, उन बौद्धादियोंको अभिगृहीतमिथ्यादर्शन कहते हैं, और जो जिनमगवानके वक्तव्योंपर श्रद्धा नही करते, उनको अनभिगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं, तथा उसपर सदेह करनेवालोंको संदिग्ध कहा करते हैं । ये तीनों ही प्रकारके मिथ्यादृष्टि भय भी हुआ करते हैं, और अभय भी हुआ करते हैं । परन्तु सभी मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टिके ही समान घटपटादिक और रूप रसादिना ग्रहण और निरूपण किया करते हैं । फिर क्या कारण है कि सम्यग्दृष्टिके ग्रहणको तो समीचीन कहा जाय और मिथ्यादृष्टिके ग्रहणको विपरीत । क्योंकि बाधक प्रत्ययके हेतुसे ही किसी भी ज्ञानको मिथ्या कह सकते हैं, अन्यथा नहीं । जैसे कि किसीको सीपमें चादीका ज्ञान हुआ, यह ज्ञान इसलिये मिथ्या कहा जाता है, कि उसका बाधक ज्ञान उपस्थित है । सो ऐसा यहाँपर तो नहीं पाया जाता, फिर समीचीन और मिथ्याके भेदना क्या कारण है ? इसका उत्तर यही है, कि मिथ्यादृष्टिके सभी ज्ञान विपरीत ही हुआ करते हैं । क्योंकि वे ज्ञान वस्तुके यथार्थ स्वरूपका परिच्छेदन नहीं किया करते । वे यथार्थ परिच्छेदन नहीं करते यह बात कैसे मालूम हो । अतएव इस बातको स्पष्टतया बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सदसतोरविशेषाद्यहच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—यथोन्मत्त कर्मादयादुपहृतेन्द्रियमतिर्विपरीतमप्यर्था भवति । सोऽथ गौरि-
त्यध्यवस्यति गां चाश्व इति लोष्टं सुवर्णमिति सुवर्णं लोष्ट इति लोष्टं च लोष्ट इति सुवर्णं
सुवर्णमिति तस्यैवमविशेषेण लोष्टं सुवर्णं सुवर्णं लोष्टमिति विपरीतमध्यवस्यतो नियतम-
ज्ञानमेव भवति । तद्वन्मिथ्यादर्शनोपहृतेन्द्रियमतेर्मतिश्रुतावधयोऽप्यज्ञान भवन्ति ॥

अर्थ—जैसे कि कोई उन्मत्त पुरुष जिसकी कि कर्मादयसे इन्द्रियोंकी और मनकी शक्ति नष्ट हो गई है, पदार्थके स्वरूपको विपरीत ही ग्रहण किया करता है, वह घोडाको गौ समझता है, और गौको घोडा समझता है, मट्टीके डेलेको सुवर्ण मानता है, और सुवर्णको डेला मानता है, कभी डेलेको यह डेला है, ऐसा भी जानता है, और सुवर्णको यह सुवर्ण है, ऐसा भी समझता है, तथा जैसा समझता है, वैसा ही कहता भी है, फिर भी उसके ज्ञानको अज्ञान ही कहते हैं । क्योंकि उसका वह ज्ञान डेलेको सुवर्ण और सुवर्णको डेला समझनेवाले विपरीत ज्ञानसे किसी प्रकारकी विशेषता नहीं रखता । इसी प्रकार जिसकी मिथ्यादर्शन कर्मके निमित्तसे देखने और विचार करनेकी शक्ति तथा योग्यता नष्ट हो गई है, यद्वा विपरीत हो गई है, वह जीव जीवादिक पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको न

देख सकता, न विचार सकता और न असहायरूपसे ही जान सकता है, अतएव उसके मति-श्रुत और अवाधि ये तीनों हा ज्ञान अज्ञान ही कहे जाते हैं ।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि जीव षट् पटादिक पदार्थोंको यद्यपि सम्यग्दृष्टिके समान ही ग्रहण करता, तथा उनका निरूपण भी किया करता है, परन्तु मिथ्यात्वके निमित्तसे उसके कारण-विपर्यास भेदाभेदविपर्यास स्वरूपविपर्यास भी रहा करते है, अतएव उसके ज्ञानको प्रमाणभूत अथवा समीचीन नहीं कह सकते । जैसे कि कोई पुरुष वस्त्रको तो वस्त्र ही माने, परन्तु उसको कुम्भारका बनाया हुआ और पत्थरका बना हुआ माने, तो उसके ज्ञानको अज्ञान ही समझा जाता है, उसी प्रकार ऋणमें भी समझना चाहिये । मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि मनुष्यमें मनुष्य ही कहता है परन्तु उसके कारणके विषयमें ईश्वर आदिकी भी कल्पना किया करता है, और वैसा ही फिर श्रद्धान भी करता है । इसी तरह भेदाभेद तथा स्वरूपके विषयमें भी समझना चाहिये । अतएव उसके ज्ञानको प्रमाणरूप न मानकर अज्ञान ही मानना चाहिये ।

भाष्यम्—उक्त ज्ञानम् । चारित्र्य नवमेऽध्याये वक्ष्याम । प्रमाणे चोक्ते । नयान् वक्ष्याम । तद्यथा ।—

अर्थ—पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञानका निरूपण और प्रकरण समाप्त हुआ । अब इसके बाद क्रमानुसार चारित्र्यका वर्णन प्राप्त है, परन्तु उसका वर्णन आगे चलकर इसी ग्रन्थके नौवें अध्यायमें करेंगे, अतएव यहाँपर उसके करनेकी आवश्यकता नहीं है । ज्ञानके प्रकरणमें प्रमाण और नय इन दोका उल्लेख किया था, उसमेंसे प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्षरूप दोनों भेदोंका भी वर्णन ऊपर हो चुका । अतएव उसके अनंतर क्रमानुसार नयोंका वर्णन होना चाहिये । सो उन्हींको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—नैगमसंग्रहव्यवहारजुसूत्रशब्दा नयाः ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—नेगम संग्रहो व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द इत्येते पञ्चनया भवन्ति । तत्र ।—

अर्थ—नयोंके पाँच भेद हैं ।—नैगम सङ्ग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र और शब्द ।

भावार्थ—यह बात पहले लिखी जा चुकी है, कि प्रमाणके एक देशको नय कहते हैं । अर्थात् वस्तु अनेक धर्मात्मक या अनन्त धर्मात्मक है । परन्तु उन अनन्त धर्मोंमेंसे—अस्तित्व या नास्तित्व, नित्यत्व या अनित्यत्व, एकत्व या अनेकत्व आदि किसी भी एक धर्मके द्वारा उस वस्तुके अवधारण करनेवाले ज्ञान विशेष—विकलादेशको नय कहते हैं । इस नयके अनेक अपेक्षाओंसे अनेक भेद है । परन्तु सामान्यसे यहाँपर उसके उपर्युक्त पाँच भेद समझने चाहिये ।

जो वस्तुके सामान्य विशेष अथवा भेदाभेदको ग्रहण करनेवाला है, उसको अथवा संकरूपमात्र वस्तुके ग्रहण करनेको नैगम नय कहते हैं । जैसे कि अरहतको सिद्ध कहना

अथवा मट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहना । विवक्षित पदार्थमें भेद न करके किसी भी सामान्य गुणधर्मकी अपेक्षासे अभेदरूपसे किसी भी पदार्थके ग्रहण करनेको संग्रह नय कहते हैं । जैसे जीवत्व सामान्य धर्मकी अपेक्षासे ये जीव है ऐसा समझना या कहना । जो सङ्ग्रह नयके द्वारा गृहीत विषयमें भेदको ग्रहण करता है, उसको व्यवहार नय कहते हैं । जैसे जीव प्रत्ययमें ससारी मुक्तका भेद करके अथवा फिर ससारीमेंसे भी चार गतिकी अपेक्षा किसी एक भेदका ग्रहण करना । केवल वर्तमान पर्यायके ग्रहण करनेको ऋजूमूत्र कहते हैं । इसका वास्तवमें उदाहरण नहीं बन सकता । क्योंकि शुद्ध वर्तमान क्षणवर्ती पर्यायका ग्रहण या निरूपण नहीं किया जा सकता । स्थूलदृष्टिसे इसका उदाहरण भी हो सकता है । जैसे कि मनुष्यगतिमें उत्पन्न जीवको आमरणान्त मनुष्य कहना । कर्ता कर्म आदि कारकोंके व्यवहारको सिद्ध करनेवाले अथवा लिंग सख्या कारक उपग्रह काल आदिके व्यभिचारकी निवृत्ति करनेवालेको शब्द नय कहते हैं । जैसे कि किसी वस्तुको भिन्न भिन्न लिंगवाले शब्दोंके द्वारा निरूपण करना । इस प्रकार नयोंके सामान्यसे पाँच भेद यहाँ बताये हैं । परन्तु इसमें और भी विशेषता है, जैसे कि इनमेंसे—

सूत्र—आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—आद्य इति सूत्ररूपप्रामाण्यालौगममाह । स द्विभेदो देशपरिक्षेपी सर्वपरिक्षेपी चेति । शब्दस्त्रिभेद साम्प्रत समभिरूढ एवम्भूत इति । अघ्राह—किमेपां लक्षणमिति ? अत्रोच्यते ।—निगमेषु येषुभिरिता शब्दास्तेषामर्थ शब्दार्थपरिज्ञान च देशसमग्रघ्राहो नैगम । अर्थानां सर्वकदेशसमग्रहण समग्र । लौकिकसम उपचारप्रायो विस्तृतायां व्यवहार । सतां साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्र । यथार्थाभिधान शब्द । नामादिषु प्रसिद्ध-पूर्वाच्छब्दादर्थे प्रत्यय साम्प्रत । सत्स्वर्थेष्वसकम समभिरूढ । व्यंजनार्थयोरिवम्भूत इति ।

अर्थ—यहाँपर सूत्रमें आद्य शब्दका जो प्रयोग किया है, उससे नैगम नयका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि पूर्वोक्त सूत्र (नैगमसमग्रव्यवहारेत्यादि) में जो क्रम बताया है, वह प्रमाण है । उसके अनुसार नयोंका आद्य-पहला भेद नैगम ही होता है । अतएव नैगम नयके दो भेद हैं—एक देशपरिक्षेपी दूसरा सर्वपरिक्षेपी । शब्द नयके तीन भेद हैं—साम्प्रत समभिरूढ और एवम्भूत ।

शंका—आपने पहले सूत्रमें और इस सूत्रमें जो नयोंके भेद गिनाये हैं, उनका रक्षण क्या है ? उत्तर—निगम नाम जनपद-देशका है । उसमें जो शब्द जिस अर्थके लिये नियत हैं, वहाँपर उस अर्थके और शब्दके सम्बन्धको जाननेका नाम नैगम नय है । अर्थात् इस शब्दका ये अर्थ है, और इस अर्थके लिये इस शब्दका प्रयोग करना चाहिये, इस तरहके वाच्य वाचक सम्बन्धके ज्ञानको नैगम कहते हैं । वह दो प्रकारका है । क्योंकि शब्दोंका प्रयोग दो प्रकारसे हुआ करना है—एक तो वस्तुके सामान्य अशक्ती

अपेक्षासे दूसरा विशेष अशकी अपेक्षासे । जो सामान्य अंशका अवलचन लेकर प्रवृत्त हुआ करता है, उसको समग्रग्राही नैगमनय कहते हैं । जैसे कि चादीका या सोनेका अथवा मट्टीका या पीतलका यद्वा सफेद पीला लाल काला आदि भेदन करके केवल घटमात्रको ग्रहण करना । जो विशेष अशका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, उसको देशग्राही नैगम कहते हैं । जैसे कि घटको मट्टीका या पीतलका इत्यादि विशेषरूपसे ग्रहण करना । पदार्थोंके सर्व देश और एक देश दोनोंके ग्रहण करनेको संग्रहनय कहते हैं । अर्थात् समग्रहनय "सम्पूर्ण पदार्थ स्नान है" इस तरहसे सामान्यतया ही वस्तुको ग्रहण करनेवाला है । जिस प्रकार लौकिक पुरुष प्राय करके घटादिक विशेष अशको लेकर ही व्यवहार किया करते हैं । उसी प्रकार जो नय विशेष अशको ही ग्रहण किया करता है, उसको व्यवहार कहते हैं । यह नय प्रायः करके उपचारमें ही प्रवृत्त हुआ करता है । इसके ज्ञेय विषय अनेक हैं, इसी लिये इसको विस्तृतार्थ भी कहते हैं । जैसे यह कहना कि घडा चूता है, रास्ता चलता है, इत्यादि । वस्तुत घटेमें भरा हुआ पानी चूता है, और रास्तेके ऊपर मनुष्यादि चलते हैं, फिर भी लौकिक जन घडेका चूना और रास्तेका चलना ही कहा करते हैं । इसी तरहका प्राय उपचरित विषय ही व्यवहार नयका विषय समझना चाहिये । जो वर्तमान कालवर्ती घटादिक पर्यायरूप पदार्थोंको ग्रहण करता है, उसको ऋजूसूत्र नय कहते हैं । व्यवहार नय त्रिकालवर्ती विशेष अशोंको ग्रहण करता है, परन्तु उनमेंसे भूत और भविष्यत्को छोड़कर केवल वर्तमानकालमें विद्यमान विशेष अशोंको ही यह नय—ऋजूसूत्र ग्रहण करता है । व्यवहारकी अपेक्षा ऋजूसूत्रकी यही विशेषता है । जैसा पदार्थका स्वरूप है, वैसा ही उसका उच्चारण करना—कर्त्ता कर्म आदि कारकोंकी अपेक्षासे अर्थके अनुरूप ग्रहण या निरूपण करनेको शब्दनय कहते हैं । इस नयके तीन भेद हैं—साम्प्रत समभिरूढ और एवम्भूत । निक्षेपोंकी अपेक्षासे पदार्थ चार प्रकारका है—नामरूप स्थापनारूप द्रव्यरूप और भावरूप । इनमेंसे किसी भी प्रकारके पदार्थका ऐसे शब्दके द्वारा जिसके कि उस पदार्थके साथ वाच्यनाचरु मन्त्रम्भन पहलसे ही ज्ञान है, ज्ञान होनेको साम्प्रत नय कहते हैं । घटादिक वर्तमान पर्यायापन्न पदार्थोंके विषयमें शब्दका संक्रमन करके ग्रहण करनेको समभिरूढ नय कहते हैं । व्यञ्जन—नाचकशब्द और अर्थ—अभिधेयरूप पदार्थ इन दोनोंका यथार्थ सघटन करनेवाले अध्ववसायको एवम्भूत नय कहते हैं ।

१—अथत्र सिद्धस्यार्थस्यान्यत्रारोप उपचार । २—इन नयोंके विषयमें श्रीसिद्धसेनगणि कृत टीकामे विशेष लिखा है—३—इन नयोंके नियममें दिगम्बर सम्प्रदायमें सद्भा और लक्षण भिन्न प्रकारसे ही माना है । उन्होने श्लुसूत्रमें ही नयोंके सात भेद गिनाने हैं, यथा—“नैगमसप्रह्वव्यवहारर्जूसूत्रशब्दसमभिरूढैवभूतानया ।” अर्थात् नैगम सप्रह्व व्यवहार ऋजूसूत्र शब्द समभिरूढ और एवम्भूत ये सात नय हैं । आदिके तीन द्व्यार्थिक और अतकी चार पर्यायार्थिक हैं । अथवा आदिके ४ अर्थनय और अतकी ४ अर्थनय । सातोंनय विषय पूर्व पूर्वका महान् और उत्तरोत्तरका अल्प अल्प है । और तत्त्वार्थराजवार्त्तिक तथा तत्त्वार्थ-

भाष्यम्—अत्राह—उद्दिष्टा भवता नैगमाद्यो नया । तलेया इति क पदार्थ ? इति । नया प्रापकाः कारका साधका निर्वर्तका निर्मासका उपलम्भका व्यञ्जका इत्यनर्थान्तरम् । जीवादीन्पदार्थान्यन्ति प्राप्नुवन्तिकारयन्ति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति निर्मासयन्ति उपलम्भयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नया ॥

अर्थ—शंका—ऊपर आपने निज नैगम आदि नर्थोंका उल्लेख किया है, वे नय क्या पदार्थ है ? उत्तर—नय प्रापक कारक साधक निर्वर्तक निर्मासक उपलम्भक और व्यञ्जक ये सभी शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । जो जीवादिक पदार्थोंको सामान्यरूपसे प्रनाशित करते हैं, उनको नय कहते हैं । जो उन पदार्थोंको आत्मामें प्राप्त करते—पहुँचाते हैं, उनको प्रापक कहते हैं । जो आत्मामें अपूर्व पदार्थके ज्ञानको उत्पन्न करावें, उनको कारक कहते हैं । परस्परकी व्यावृत्तिरूप—जिससे एक पदार्थका दूसरे पदार्थमें मिश्रण न हो जाय, इस तरहके विज्ञप्तिरूप तथा सिद्धिके उपायभूत वचनोंको जो सिद्ध करें, उनको साधक कहते हैं । अपने निश्चित अभिप्रायके द्वारा जो विशेष अध्यवसायरूपसे उत्पन्न होते हैं, उनको निर्वर्तक कहते हैं । जो निरंतर वस्तुके अंशका भास—ज्ञापन करावें उनको निर्मासक कहते हैं । विशिष्ट क्षयोपशमकी अपेक्षासे अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ विशेषमें जो आत्मा या ज्ञानका अवगाहन करावें उनको उपलम्भक कहते हैं । जो जीवादिक पदार्थोंको अपने अभिप्रायानुसार यथार्थ स्वभावमें स्थापित करें उनको व्यञ्जक कहते हैं ।

भावार्थ—इस प्रकारसे यहाँपर निरुक्तिकी अपेक्षासे नय आदिक शब्दोंका अर्थ यद्यपि भिन्न भिन्न बताया है । परन्तु फलितार्थमें ये सभी शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । अतएव जो नय हैं, वे ही प्रापक हैं, और वे ही कारक हैं, तथा वे ही साधक हैं । इत्यादि सभी शब्दोंके विषयमें समझ लेना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—किमेते तन्त्रान्तरीया वादिन आहोस्वित्स्वतन्त्रा एव चोदकपक्ष ग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविता इति । अत्रोच्यते ।—नेते तन्त्रान्तरीया नापि स्वतन्त्रा मतिभेदेन विप्रधाविता । ज्ञेयस्य त्वर्थस्याध्यवसायान्तराण्येतानि । तद्यथा—घट इत्युक्ते घोऽसौ चैष्टा-भिर्निर्वृत्त ऊर्ध्वकुण्डलीप्रायतवृत्तग्रीवोऽधस्तात्परिमण्डलो जलादीनामाहरणधारणसमर्थ उत्तरगुणनिर्वर्तना निर्वृत्तो द्रव्यविशेषस्तास्मिन्नेकस्मिन्विशेषवति तज्जातीयेषु वा सर्वेभ्यविशेषात्परिज्ञान नैगमनय । एकास्मिन्वा वहुषु वा नामादिविशेषितेषु साम्प्रतातीतानागतेषु घटेषु सम्प्रत्यय 'सदग्रह' । तेष्वेव लौकिकपरीक्षक ग्राह्येषूपचारगम्येषु यथा स्थूलार्थेषु सम्प्रत्ययो व्यवहार । तेष्वेव सत्सु साम्प्रतेषु सम्प्रत्यय ऋजुञ्ज । तेष्वेव साम्प्रतेषु नामादी-नामन्यतमग्राहिषु प्रसिद्धपूर्वकेषु घटेषु सम्प्रत्यय 'साम्प्रत' शब्द । तेषामेव साम्प्रतानामध्यवसायासक्रमो वितर्कध्यानवत् समभिरूढ । तेषामेव व्यजनार्थयोरन्योन्यापेक्षार्थाहि-त्वमेवम्भूत इति ॥

शंका—आपने ये नैगम आदिक जो नय बताये हैं, उनको अ-यवादी—जैनप्रचनसे भिन्न वैशेषिक आदि मतके अनुसार वस्तुस्वरूपका निरूपण करनेवाले भी मानते हैं, अथवा

ये—नय स्वतन्त्र ही हैं। अर्थात् ये नय अन्य सिद्धान्तका भी निरूपण करते हैं, अथवा यद्वा तद्वा—दुरुक्त अनुक्त या युक्त अयुक्त कैसे भी पक्षको ग्रहण करके जैनप्रवचनको सिद्ध करनेके लिये चाहें जैसे भी बुद्धिभेदके द्वारा दौड़नेवाले—प्रवृत्ति करनेवाले हैं^१ उत्तर—इन दोनोंमेंसे एक भी बात नहीं है। न तो ये अन्य सिद्धान्तके प्ररूपक हैं और न चाहे जैसे बुद्धिभेदके द्वारा जैनप्रवचनको सिद्ध करनेके लिये सर्वथा स्वतन्त्ररूपसे प्रवृत्ति करनेवाले हैं। किन्तु ज्ञेयरूप पदार्थको विषय करनेवाले ये ज्ञान विशेष है। अर्थात् अनेक धर्मात्मक वस्तुको ही ग्रहण करने वाले ज्ञान अनेक प्रकारके हैं, उन्हींको नय कहते हैं। अतएव ये नय जैनशास्त्रका ही निरूपण करनेवाले हैं। जैसे कि किसीने घट शब्दका उच्चारण किया। यहाँपर देखना चाहिये, कि लोक में घट शब्दसे क्या चीज ली जाती है। जो घटनकिया—कुभकारकी चेष्टाके द्वारा निष्पन्न बना हुआ है, निमके ऊपरके ओष्ठ कुण्डलाकार गोल है, और जिसकी प्रीवा आयतवृत्त—लम्बगोल है, तथा जो नीचेके भागमें भी परिमण्डल—चारों तरफसे गोल है, एव जो जल घी दूध आदि पदार्थोंको लाने तथा अपने भीतर भरे हुए उन पदार्थोंको धारण करनेके कार्यको करनेमें समर्थ है, और जो अग्निपाकसे उत्पन्न होनेवाले रक्तता आदि उत्तर गुणोंकी परिसमाप्ति होजानेमे भी निष्पन्न हो चुका है, ऐसे द्रव्य विशेषको ही घट कहते हैं। इस तरहके किसी भी एक खास घटका अथवा उस जातिके—जिन जिन में यह अर्थ घटित हो, उन सभी घटोंका सामान्यरूपसे जो परिज्ञान होता है, उसको नैगम नय कहते हैं।

घटादिक पदार्थ निक्षेप भेदसे चार प्रकारके होते हैं।—जैसे कि नामघट स्थापनाघट द्रव्यघट और भावघट। इनके भी वर्तमान भूत और भविष्यत् की अपेक्षासे तीन तीन भेद हैं। सो इनमेंसे किसी भी तरहके एक या अनेक—बहुतसे घटोंका सामान्यरूपसे बोध होता है, उसको समग्रनय कहते हैं। क्योंकि यह नय विशेष अंशोंको ग्रहण न कर सामान्य अंशोंको ही ग्रहण किया करता है। तथा इन्हीं एक दो या बहुतव्य सम्यायुक्त नामादिस्वरूप और जिनका लोकप्रासिद्ध एव परीक्षक—पर्यालोचना करनेवाले जलादिक द्रव्योंको लाने आदिकमें उपयोग किया करते हैं और जो उपचारगम्य हैं—लोकक्रियाके आधारभूत है, ऐसे यथायोग्य स्थूल पदार्थोंका जो ज्ञान होता है, उसको न्यवहार नय कहते हैं। क्योंकि प्रायः करके यह नय सामान्यको ग्रहण न करके विशेषको ही ग्रहण किया करता है, और इसी प्रकार सूक्ष्मको गौण करके स्थूल विषयमें ही यह प्रायः प्रवृत्त हुआ करता है। वर्तमान क्षणमें ही विद्यमान उन्हीं घटादिक पदार्थोंके जाननेको ऋजुसूत्र नय कहते हैं। ऋजुसूत्र नयके ही विषयभूत और केवल वर्तमानकालवर्ती तथा निक्षेपकी अपेक्षा नामादिकके भेदसे चार प्रकारके पदार्थोंमेंसे किसीको भी विषय करनेवाले और जिनका वाच्यवाचक सम्बन्ध पहलेसे ही ज्ञात है, अथवा जिनका सकेत ग्रहण हो चुका है, ऐसे शब्दरूपसे घटादिकके ग्रहण करनेको साम्प्रत शब्दनय कहते हैं। उन्हीं सद्रूप—विद्यमान वर्त-

मानकाल सम्बन्धी घटादि पदार्थोंके अध्यवसायके असक्रम—विषयान्तरमें प्रवृत्ति न करनेको सम-
भिरूढ नय कहते हैं । जिस प्रकार तीन योगोंमेंसे किसी भी एक योगका आश्रय लेकर वितर्क
प्रधान शुक्लध्यानकी प्रवृत्ति हुआ करती है, उसी प्रकार इस नयके विषयमें भी समझना चाहिये ।
यद्यपि पृथक्त्ववितर्कनीचर नामका पहला शुक्लध्यान भी वितर्क प्रधान हुआ करता है, परन्तु
उसका उदाहरण न देकर यहाँ दूसरे शुक्लध्यानका ही उदाहरण दिया है, ऐसा समझना
चाहिये, क्योंकि पहले भेदमें अर्थ व्यजन योगकी सक्रान्ति रहा करती है, और दूसरे भेदमें
वह नहीं रहती । तथा यह नय भी अन्वयमायके असक्रमरूप है । अतएव दूसरे शुक्ल-
ध्यानका ही उदाहरण युक्तियुक्त है । अनतरोक्त नयोंके द्वारा गृहीत घटादिक पदार्थोंके
व्यजन—वाचकशब्द और उसके अर्थ—वाच्य पदार्थकी परस्परमें अपेक्षा रखकर ग्रहण करनेवाले
अध्यवसायको एवम्भूत नय कहते हैं । अर्थात् इस शब्दका वाच्यार्थ यही है, और इस अर्थका
प्रतिपादक यही शब्द है, इस तरहसे वाच्यवाचक सम्बन्धी अपेक्षा रखकर योग्य क्रिया विशिष्ट
ही वस्तुस्वरूपके ग्रहण करनेको एवम्भूत नय कहते हैं ।

भाषार्थ—शकाकारने नयके लक्षणमें दो विकल्प उठाकर अपना मतलब सिद्ध करना
चाहा था, परन्तु ग्रथकारने तीसरे ही अभिप्रायसे उसका लक्षण बताकर शकाकारके पक्षका
निराकरण कर दिया है । नयोंका अभिप्राय क्या है, सो ऊपर बता दिया है, कि वे न ता
अन्य सिद्धान्तका निरूपण करनेवाले हैं और न सर्वथा स्वतन्त्र ही हैं । किंतु जिनप्रवचनके
अनुसार और यथार्थ वास्तुस्वरूपके ग्रहण करनेवाले हैं ।

भाष्यम्—अत्राह—पवमिदानीमेकस्मिन्नर्थेऽध्यवसायानानात्वाच्चनु विप्रतिपत्तिप्रसङ्ग
इति । अत्रोच्यते ।—यथा सर्वमेक सद्विशेषात् सर्व द्वित्व जीवाजीवान्मकत्वात् सर्व त्रित्व
द्रव्यगुणपर्यायावरोधात् सर्व चतुष्टय चतुर्दर्शनविषयावरोधात् सर्व पञ्चत्वमस्तिकायावरोधात्
सर्व षड्वत्त्व पञ्चद्रव्यावरोधादिति । यथेता न विप्रतिपत्तयोऽथ चाध्यवसायस्थानान्तराण्येतानि
तद्वन्नयवादा इति । किं चान्यत् ।—यथा मतिज्ञानादिभिः पञ्चभिर्ज्ञानधर्मादीनामस्तिकायाना-
मन्यतमोऽर्थे पृथक् पृथगुपलभ्यते पर्यायविशुद्धिप्रियोपादुत्कर्षेण न च तां विप्रतिपत्तयः तद्व-
न्नयवादाः । यथा वा प्रत्यक्षानुमानोपमानान्नवचने प्रमाणैरेकोऽर्थ प्रतीयते स्वविषयनियमात् न
च ता विप्रतिपत्तयो भवन्ति तद्वन्नयवादा इति । आह च—

अर्थ—शंका—आपने जो नयोंका स्वरूप बताया है, उसमें विरुद्धता प्रतीत होती है ।
क्योंकि आपने एक ही पदार्थमें विभिन्न प्रकारके अनेक अध्यवसायोंकी प्रवृत्ति मानी है । परन्तु
यह बात कैसे बन सकती है । एक ही वस्तु जो सामान्यरूप है, वही विशेषरूप कैसे हो

१—वीचरोऽर्थव्यजनयोगमनान्ति ॥ अ० ९ सूत्र ४६ । अविचार द्वितीयम् ॥ अ० ९ सूत्र ४४

२—“चतुष्टय” इति च पाठ । ३—“पचास्तिनायात्मरत्वात्” इति पाठान्तरम् । ४—पट्टमिति च पाठ ।

५—तानीत्यपि पाठ ।

सकती है, अथवा जो त्रैकालिक है, वही वर्तमानक्षणवर्ती कैसे कही जा सकती है। यद्वा नामादिक तीनोंको छोटकर केवल भावरूप या पर्याय शब्दोंका अवाच्य अथवा विशिष्ट क्रियासे युक्त वस्तु विशेष कैसे मानी जा सकती है। ये सभी प्रतीति विरुद्ध होनेसे निश्चयात्मक-तत्त्वज्ञान-रूप कैसे कही जा सकती हैं ? उत्तर—अपेक्षा विशेषके द्वारा एक ही वस्तु अनेक धर्मात्मक होनेसे अनेक अध्यवसायोंका विषय हो सकती है, इसमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। जैसे कि सम्पूर्ण वस्तुमात्रको सत्सामान्यकी अपेक्षा एक कह सकते हैं, और उसीको जीव अजीवकी अपेक्षा दो भेद रूप कह सकते हैं, तथा द्रव्य गुण और पर्यायकी अपेक्षासे तीन प्रकारकी भी कह सकते हैं। समस्त पदार्थ चक्षु अचक्षु अवधि और केवल इन चार दर्शनोंके विषय हुआ करते हैं। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, कि जो इन चार दर्शनोंमेंसे किसी न किसी दर्शनका विषय न हो। अतएव वस्तु मात्रको चार प्रकारका भी कह सकते हैं। इसी तरह पंच अस्तिकायोंकी अपेक्षा पाँच भेदरूप और छह द्रव्योंकी अपेक्षा छह भेदरूप भी कह सकते हैं। जिन प्रकार इस विभिन्न कथनमें कोई भी विप्रतिपत्ति—विवाद उपस्थित नहीं होते, और न अध्यवसाय स्थानोंकी भिन्नता ही विरुद्ध प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार नयवादोंके विषयमें भी समझना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार वस्तुमात्रमें एकत्व द्वित्व त्रित्व आदि संख्याओंका समावेश या निरूपण विरुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। क्योंकि ये धर्म परस्परमें विरुद्ध नहीं हैं। यदि जीवको अजीव कहा जाय या ज्ञानगुणको अज्ञान—जडरूप कहा जाय। अथवा अमूर्त आकाशादि द्रव्योंको मूर्त बताया जाय, तो वह कथन विरुद्ध कहा जा सकता है, और उसके ग्रहण करनेवाले अध्यवसायोंमें भी विप्रतिपत्तिका प्रसङ्ग आ सकता है। परन्तु नयोंमें यह बात नहीं है, क्योंकि वे जिन अनेक धर्मोंको विषय करती हैं, वे परस्परमें विरुद्ध नहीं हैं।

इसके सिवाय एक बात और भी है, वह यह कि—जिस प्रकार मतिज्ञान आदि पाँच प्रकारके ज्ञानोंके द्वारा धर्मादिक अस्तिकायोंमेंसे किसी भी पदार्थका पृथक् पृथक् ग्रहण हुआ करता है, उसमें किसी भी प्रकारकी विप्रतिपत्तिका प्रसङ्ग—विस्वाद उपस्थित नहीं होता। क्योंकि उन ज्ञानोंमें ज्ञानावरण कर्मके अभावसे विशेष विशेष प्रकारकी जो विशुद्धि—निर्मलता रहा करती है, उसके द्वारा उत्कृष्टताके साथ उन्हीं पदार्थोंका मिल भिन्न अशको लेकर परिच्छेदन हुआ करता है, इसी प्रकार नयवादके विषयमें भी समझना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार एक ही विषयमें प्रवृत्ति करनेवाले मतिज्ञानादिमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है, उसी प्रकार नयोंके विषयमें भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही घटादिक अथवा मनुष्यादिक किसी भी पर्यायको मतिज्ञानी चक्षुरादिक इन्द्रियोंके द्वारा जैसा कुछ ग्रहण करना है, ध्रुवज्ञानी उसी पदार्थको अधिक रूपसे जानता है। क्योंकि

मतिज्ञान कुठ ही पर्यायोंको विषय कर सकता है, परन्तु श्रुतज्ञान असख्यात पर्यायोंके ग्रहण और निरूपणमें समर्थ है । अवधिज्ञान श्रुतज्ञानकी भी अपेक्षा अधिक स्पष्टतासे इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा भी न लेकर रूपी पदार्थको जान सकता है, और इसी तरह मन पर्यायज्ञान अपने विषयको अवधिकी अपेक्षा भी अधिक विशुद्धताके साथ ग्रहण कर सकता है । और केवलज्ञानसे तो अपरिच्छिन्न कोई विषय ही नहीं है । इस प्रकार सभी ज्ञानोंका स्वरूप और विषयपरिच्छेदन भिन्न होनेसे उनमें किसी भी तरह की बाधा नहीं है, उसी तरह नयोंका भी स्वरूप तथा विषयपरिच्छेदन भिन्न भिन्न है, अतएव उनमें भी किसी भी तरहकी बाधा उपस्थित नहीं हो सकती ।

अथवा जिस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान और उपमान तथा आसवचन—आगम इन प्रमाणोंके द्वारा अपने अपने विषयके नियमानुसार एक ही पदार्थका ग्रहण किया जाता है, उसमें कोई विरोध नहीं है, उसी प्रकार नयोंमें भी कोई विरोध नहीं है । अर्थात् जैसे वनमें लगी हुई अग्निको एक जीव जो निकटवर्ती है, अपनी आँखोंसे देखकर स्वय अनुभवरूप प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा उसी अग्निको जानता है, परन्तु दूसरा व्यक्ति उसी अग्निको धूम हेतुको देखकर जानता है, तथा तीसरा व्यक्ति उसी अग्निको ऐसा स्मरण करके कि सुवर्ण पुञ्जके समान पीत वर्ण प्रकाशमान और आमूलसे उष्ण स्पर्शाली अग्नि हुआ करती है, तथा वैसा ही प्रत्यक्षमें देखकर उपमानके द्वारा जानता है, तथा चौथा व्यक्ति केवल किसीके यह कहनेसे ही कि इस वनमें अग्नि है, उसी अग्निको जान लेता है । यहाँपर इन चारों ज्ञानोंमें और उनके विषयोंमें किसी भी प्रकारका विमवाद नहीं है, उसी प्रकार नयोंके विषयमें भी समझना चाहिये । अतएव ऐसा कहाँ भी है कि—

भाष्यम्—नेगमशब्दार्थानामेकानेकार्थनयगमापेक्ष । देशसमग्रग्राही व्यवहारी नैगमो ज्ञेय ॥१॥
यत्सगृहीतवचन सामान्ये देशतोऽथ च विशेषे । तत्सग्रहनयनियत ज्ञान विद्यास्यविधिज्ञ ॥२॥
समुदायव्यक्त्याकृतिसत्तासहादिनिश्चयापेक्षम् । लोकोपचारनियत व्यवहार विस्तृत विद्यात् ३
साम्प्रत विषयग्राहकमृजुसूत्रनय समासतो विद्यात् । विद्याद्यथार्थशब्द विशेषितपद तु शब्दनयमृष

अर्थ—निगम नाम जनपदका है, उसमें जो बोले जाते हैं, उनको नैगम कहते हैं ।
ऐसे—नैगमरूप शब्द और उनके वाच्य पदार्थोंके एक—विशेष और अनेक सामान्य अशोंको

१—“ सयातीतेऽवि भवे । ” (आब० नि०) । २—विशदज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु यहाँपर अनुभवरूप मतिज्ञानसे अभिप्राय है, हेतुको देखकर साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं । उपमानसे मतलब यहाँपर सादृश्य प्रत्यभिज्ञान का है । सत्य वक्ताके वचनोंसे जो ज्ञान होता है, उसको आगम कहते हैं । ३—इस शब्दका अभिप्राय टीकाकार श्रीसिद्धतेनगणीने यह बताया है, कि इस शब्दसे अर्थकार अपनेको ही प्रकारान्तरेसे सूचित करते हैं यथा—“ आह्वेन्यास्मानमेव पर्यायान्तरवर्तिन निर्दिशति । ” ४—देशतो विशेषण ” इति पाठांतरम् । ५—
निश्चयापेक्षमेव क्वचित्पाठ । क्वचित् “ सहाविनिश्चयापेक्षम् ” इतिपाठ ।

प्रकाशित करनेकी रीतिकी अपेक्षा रखकर देश-विशेष और समग्र-सामान्यको विषय करनेवाले अध्यवसायको जिसका कि व्यवहार परस्पर विमुख सामान्य विशेषके द्वारा हुआ करता है, नैगम नय कहते हैं ॥ १ ॥ जो सामान्य ज्ञेयको विषय करनेवाला है, जो गोत्वादिक सामान्य विशेष और उसके खड्गमुण्डादिक विशेषोंमें प्रवृत्त हुआ करता है, ऐसे ज्ञानको नयोकी विधि-भेदस्वरूपके जाननेवालोंको संग्रहनयका निश्चित स्वरूप समझना चाहिये । क्योंकि सामान्यको छोड़कर विशेष और विशेषको छोड़कर सामान्य नहीं रह सकता, और सत्ताको छोड़कर न सामान्य रह सकता है, न विशेष रह सकता है । अतएव यह नय दोनोंको ही विषय किया करता है ॥ २ ॥ ममुदाय नाम सघात अथवा समूहका है । मनुष्य आदिक सामान्य विशेषरूप पदार्थको न्यक्ति कहते हैं । चौड़ा गोल लम्बा निकोना पट्टकोण आदि सस्थानको आकृति कहते हैं । सत्ता शब्दसे यहाँ महासामान्य अर्थ समझना चाहिये । सत्ता आदिसे प्रयोजन नामादिक चार निक्षेपोंका है । इन समुदायादिक विषयोंके निश्चयकी अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होनेवाले अध्यवसायको व्यवहारनय कहते हैं । यह नय विस्तृत माना गया है । क्योंकि लोभमें “पर्वत जल रहा है” इत्यादि व्यवहारमें आनेवाले उपचरित विषयोंमें भी यह प्रवृत्त हुआ करता है । तथा उपचरित और अनुपचरित दोनों ही प्रकारके पदार्थोंका यह आश्रय लेता है, इसलिये इसको विस्तीर्ण कहते हैं ॥ ३ ॥ जो वर्तमानकालीन पदार्थका आश्रय लेकर प्रवृत्त होता है, उसको ऋजुसूत्रनय कहते हैं । यहाँ पर ऋजुसूत्रनयका स्वरूप सक्षेपसे इतना ही समझना चाहिये यथार्थ शब्दको विषय करनेवाले और विशेषित ज्ञानको शब्दनय कहते हैं ॥ ४ ॥

भाष्यम्—अत्राह—अथ जीवो नोजीव अजीवो नोऽजीव इत्याकारिते केन नयेन कोऽथ प्रतीयत इति । अत्रोच्यते ।-जीव इत्याकारिते नेगमदेशसमग्रव्यवहारसूत्रसाम्प्रतसमाभि-
रुद्धे पञ्चस्वपि गतिष्वन्यतमो जीव इति प्रतीयते । कस्मात्, एते हि नया जीव प्रत्योपशामि-
कादियुक्तभावग्राहिणः । नोजीव इत्यजीवद्रव्य जीवस्य वा देशप्रदेशौ । अजीव इति अजीव-
द्रव्यमेव । नोऽजीव इति जीव एव तस्य वा देशप्रदेशाविति ॥ एवम्भूतनयेन तु जीव इत्या-
कारिते भवस्थो जीवः प्रतीयते । कस्मात्, एष हि नयो जीव प्रत्योपशामिकाभावग्राहक एव ।
जीवतीति जीवः प्राणिति प्राणान्धारयतीत्यर्थः । तच्च जीवन सिद्धे न विद्यते तस्मान्द्रवस्थ
एव जीव इति । नोजीव इत्यजीवद्रव्य सिद्धो वा । अजीव इत्यजीवद्रव्यमेव । नोऽजीव इति
भवस्थ एव जीव इति । समग्रार्थग्राहित्वाच्चास्य नयस्य नानेन देशप्रदेशौ गृह्येते । एव जीवो
जीवा इति द्वित्व बहुत्वाकारितेष्वपि । सर्व सम्रहणे तु जीवो नोजीव अजीवो नोऽजीवो जीवो
नोजीवो अजीवो नोऽजीवो इत्येकद्वित्वाकारितेषु शून्यम् कस्मात्, एष हि नय सस्थानन्त्या
ज्जीवाना बहुत्वमेवेच्छति यथार्थग्राही । गोपास्तुनया जात्यपेक्षमैकस्मिन् बहुवचनत्व बहुपु-
त्र बहुवचन सर्वाकारितग्राहिण इति । एव सर्वभावेपु नयवादाधिगम कार्यः ।

१-“ यथार्थं शब्द ” ऐसा कहनेसे सुप्ततया एवम्भूतनयको सूचित किया है, जैसा कि श्रीसिद्धनेनगणीकृत टीकामें भी कहा है कि “ अनेन तु एवम्भूत एव प्रकाशिता रक्ष्यते सर्वं विशुद्धत्वात्तस्य । ” “ विशेषितपदम् ” ; ऐसा कहनेसे साम्प्रत और समभिस्त इन् दो भेदोंको ध्वनित किया है ।

अर्थ—शका—“जीव” या “नोजीव” अथवा “अजीव” यद्वा “नोअजीव” इति तरहसे केवल शुद्धपदका ही यदि उच्चारण किया जाय, तो नेगमादिक नयोंमेंसे किम नयके द्वारा इन पदोंके कौनमे अर्थका बोधन कराया जाता है ? उत्तर—“जीव” ऐसा उच्चारण करनेपर देशग्राही नैगम समग्र व्यवहार ऋजुसूत्र साम्प्रत और समभिरुद्ध इन नयोंके द्वारा पाँच गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें रहनेवाले जीव पदार्थका बोधन होता है । क्योंकि ये नय जीव शब्दसे औपशमिक आदि परिणामोंसे जो युक्त है, उसको जीव कहते हैं, ऐसा अर्थ ग्रहण करनेवाले हैं । अर्थात् इन नयोंके द्वारा औपशमिकादि पाँच प्रकारके भावोंमें यथासभ्य भावोंको जो धारण करनेवाला है, वह जीव हे ऐसे अर्थका बोधन कराया जाता है । “नोजीव” ऐसा कहनेसे जीवके देश अथवा प्रदेश इन दोनोंका प्रत्यय होता है । “अजीव” ऐसा कहनेसे केवल अजीव द्रव्यका ही बोध होता है । और “नोअजीव” ऐसा कहनेसे या तो जीव द्रव्यका ही बोध होता है अथवा उसीके—जीवके ही देश और प्रदेश दोनोंका बोध होता है ।

भावार्थ—उपर नैगम आदिक नयोंका जो स्वरूप बताया है, वह केवल घटादिक अजीव पदार्थोंके उद्देशको लेकर ही दिखाया गया है, न कि जीव पदार्थका भी उदाहरण देकर, अथवा उन उदाहरणोंमें केवल विविरूपका ही उल्लेख पाया जाता है, न कि प्रतिषेधरूपका । अतएव यहाँपर जीव नो जीव अजीव नोअजीव इन चार विकल्पोंके द्वारा उन नयोंका अभिप्राय स्पष्ट किया है । इनमेंसे जीव शब्दका उच्चारण करनेपर जीव पदार्थ का ही बोध होता है । औपशमिकादि भावोंमेंसे किसी भी, एक को या दो को अथवा सभीको जो धारण करनेवाला है, उसको जीव कहने हैं । सिद्धजीव क्षायिक और पारणामिक भावोंको ही धारण करनेवाले हैं परन्तु अन्य जीवोंमें औपशमिक क्षायोपशमिक और औद्यमिकभाव भी पाये जाते हैं । वह जीव नरक तिर्यच मनुष्य और देव इस तरह चार गतियोंमें और पाँचवीं सिद्ध गतिमें भी रहनेवाला है । समग्रग्राही नैगम और एवभूतको छोड़कर बाकी उपर्युक्त सभी नयोंके द्वारा इन पाँचों ही स्थानों—अवस्थाओंमें रहनेवाले जीवपदार्थका बोध हुआ करता है ।

नोजीव इस शब्दके द्वारा दो अर्थोंका बोध होता, एक तो जीवमे भिन्न पदार्थ दूसरा जीवका अश । क्योंकि नो शब्द सर्व प्रतिषेधमें भी आता है, और ईषत् प्रतिषेधमें भी आता है । सो जब सर्व प्रतिषेध अर्थ विवक्षित हो, तब तो नोजीव शब्दका अर्थ जीवद्रव्यसे भिन्न कोई भी द्रव्य ऐसा समझना चाहिये, और जब ईषत् प्रतिषेध अर्थ अभीष्ट हो, तब जीव द्रव्यका अश ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये । अश भी दो प्रकारसे समझने चाहिये, एक तो चतुर्थांश

१—क्योंकि जनासिद्धान्तमें तुच्छाभाव कोई पदार्थ नहीं माना है, और यह बात युक्तिसिद्ध भी है । क्योंकि सवंधा अभावरूप वस्तु प्रतीतिविरुद्ध है तथा स्वरूपकी बोधक और अर्थक्रियाकी साधक नहीं हो सकती । अभावकी वस्तुन्तररूप ही मानना चाहिये ।

पष्ठाश अष्टमाश आदि देशरूप अथवा अविभागी प्रदेशरूप । अजीव शब्दसे पुद्गलादिक अजीव द्रव्यका ही ग्रहण होता है । क्योंकि यहाँपर अकार सर्वप्रतिषेधवाची है । नोअजीव ऐसा कहनेसे दो अर्थोंका बोध होता है, जब नो और अ इन दोनोंका ही अर्थ सर्वप्रतिषेध है, तब तो नोअजीवका अर्थ जीवद्रव्य ही समझना चाहिये । क्योंकि दो नकार—निषेधका निषेध प्रकृतस्वरूपकाही बोधन कराया करता है । किंतु जब नोका अर्थ ईप्त् निषेध और अ का अर्थ सर्वप्रतिषेध है, तब नोअजीवका अर्थ जीवद्रव्यका देश अथवा प्रदेश ऐसा करना चाहिये ।

इस प्रकार जीव नोजीव आदि चार विकल्पोंमें प्रवृत्ति करनेवाले नैगम आदि नयोसि क्लिप्त अर्थका बोध होता है, सो ही यहाँपर बताया है । परन्तु एवमूतनयमें यह बात नहीं है । उसमें क्या विशेषता है सो बताते हैं—

एवमूतनयसे जीव शब्दका उच्चारण करनेपर चतुर्गतिरूप सप्तासरे रहनेवाले जीवद्रव्यका ही बोध होता है, सिद्ध अवस्था प्राप्त करनेवाले जीवका बोध नहीं होता । क्योंकि यह नय जीवके विषयमें औद्ययिक भावको ही ग्रहण करनेवाला है । तथा जीव शब्दका अर्थ ऐसा होता है कि “ जीवतीति जीव । ” अर्थात् जो श्वासीच्छ्वास लेता है—प्राणोंको धारण करनेवाला है, उसको जीव कहते हैं । सो सिद्ध पर्यायमें प्राणोंका धारण नहीं है । अतएव एवमूतनयसे ससारी जीवका ही ग्रहण करना चाहिये । नोजीव शब्दसे या तो अजीव द्रव्यका ग्रहण होता, अथवा सिद्ध जीवका । क्योंकि जीव शब्दका अर्थ जीवन—प्राणोंका धारण करना है, सो दोनोंमें से किमीमें भी नहीं पाया जाता । अजीव कहनेसे केवल पुद्गलादिक अचेतन द्रव्यका ही ग्रहण होता है, और नोअजीव कहनेसे ससारी जीवका ही बोध होता है । यद्यपि ऊपर लिखे अनुसार नोजीव और नोअजीव शब्दोंका अर्थ जीवके देश अथवा प्रदेशका भी हो सकता है, परन्तु यह अर्थ यहाँपर नहीं लेना चाहिये, क्योंकि एवमूतनय देश प्रदेशको ग्रहण नहीं करता । वह स्थूल अथवा सूक्ष्म अवयवरूप पदार्थको विषय न करके परिषण अर्थको ही ग्रहण किया करता है । इस प्रकार

१—नञ्स्व प्रतिषेधके भी दो अर्थ होते हैं—एक प्रसज्य दूसरा पर्युदास । प्रसज्य पक्षमें नञ्स्व अर्थ सर्व प्रतिषेध और पर्युदास पक्षमें तद्विषय तत्सदृश अर्थ होता है । यथा—“ पर्युदास सदृशप्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् । ” इस नियमके अनुसार अजीव शब्दके भी दो अर्थ हो सकते हैं । परन्तु नो जीव शब्दके दो अर्थ किये गये हैं, अतएव अजीव शब्दका एक सर्वप्रतिषेधरूपही अर्थ करना उचित है, ऐसा इस लेखसे आचार्यन आभिप्राय मालूम होता है । २—“ द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृत गमयत ” ऐसा नियम है । ३—जिनका संयोग रहनेपर जीवमें “ यह जीता है ” ऐसा व्यवहार हो और जिनका वियोग होनेपर “ यह मर गया ” ऐसा व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं । ऐसे प्राण दश हैं—पांच इन्द्रिय तीन बल—मन धचन काय आद्यु और श्वासीच्छ्वास यथा—“ ज सजोगे जीवदि मरदि विद्योने वि तेनि दह पाणा । ” तथा—पचवि इदिय पाणा मणवविकाणेषु तिणि कलपाणा । आणप्याणप्याणा आउगपाणेण ह्येतिदसपाणा ॥ ” सो ये प्राण ससारी जीवकी अपेक्षासे बड़े गये हैं । सिद्धोंमें ये नहीं रहते, क्योंकि प्राण दो प्रकारके होते हैं, द्रव्यरूप और भावरूप । द्रव्यप्राणोंके ये दश भेद हैं । भावप्रमाण चेतनारूप है । ससारी जीवमें दोनों ही तरहके प्राण पाये जाते हैं, और सिद्धोंमें केवल भावप्राण—चेतना ही पाया जाता है ।

जीव नोजीव अजीव और नोजीव इन चार विकल्पोंको एक वचनके ही द्वारा बताया है । परन्तु इसी तरह से द्विवचन और बहुवचनके द्वारा भी समझ लेना चाहिये ।

सर्व संग्रहनय भी इसी तरह चारों विकल्पोंको ग्रहण करता होगा । ऐसा सदेह विसृष्टको न हो जाय, इसलिये उसकी विशेषताको स्पष्ट करते हैं, कि सर्वसंग्रहनय जीव, नोजीव अजीव नोजीव इन एक वचनरूप विकल्पोंको तथा जीवो नोजीवो अजीवो नोजीवो इन द्विवचनरूप विकल्पोंको ग्रहण नहीं करता । क्योंकि यह नय यथार्थग्राही है— नैमा वस्तुका स्वरूप है, वैसा ही ग्रहण करता है । चारों गतिवर्ती ससारी और सिद्ध ऐसे पाँचों प्रकारके जीवोंकी सख्या सब मिलकर अनन्त है । अतएव यह नय बहुवचनको ही विषय करता है । यद्यपि इसके विकल्पोंका आकार पहले अनुमार ही है, परन्तु उसका अर्थ केवल बहुवचनरूप ही है, ऐसा समझ लेना चाहिये । इसी लिये बाकीके जो नैगमात्मिक नय हैं, वे द्विवचनरूप और एकवचनरूप भी विकल्पोंको विषय किया करते हैं, ऐसा अर्थ स्पष्ट ही हो जाता है । जिस समय जीव शब्दका अर्थ एक जीव द्रव्य ऐसा अभीष्ट हो, वहाँ एकवचनका प्रयोग होता है, परन्तु जहाँ जातिकी अपेक्षा हो, वहाँ उस एक पदार्थके अभिप्रेय रहते हुए भी बहुवचनका प्रयोग ही सक्त है । इसके सिवाय जहाँपर जीव शब्दका अर्थ बहुतसे प्राणी ऐसा दिखाना अभिप्रेत हो, वहाँपर भी बहुवचनका प्रयोग हुआ करता है । अतएव संग्रहनय बहुवचनरूप ही विकल्पोंका आश्रय लेकर प्रवृत्त हुआ करता है, और बाकीके नय एकवचनरूप द्विवचनरूप और बहुवचनरूप तीनों ही तरहके विकल्पोंका आश्रय लेकर प्रवृत्त हो सकते हैं । क्योंकि वे सर्वाकारग्राही हैं । यहाँपर जिस तरह जीव शब्दके विधिप्रतिषेधको लेकर नयोंका अनुगत अर्थ बताया है, उसी प्रकार तत्त्व—बुभुत्सुओंको घर्मास्तिकायादिक अन्य सभी पदार्थोंके विषयमें भी उक्त सम्पूर्ण नयोंका अनुगम कर लेना चाहिये ।

ऊपर वस्तुस्वरूपको विषय करनेवाले ज्ञानके आठ भेद बताये हैं । उनमेंसे किस किस ज्ञानमें कौन कौनसे नयकी प्रवृत्ति हुआ करती है, इस बातको बतानेके लिये आगेका प्रकरण लिखते हैं—

भाष्यम्—अत्राह—अथ पञ्चानां ज्ञानानां सविपर्ययाणां कानि को नय श्रयत इति । अत्रोच्यते—नेगमाद्यस्त्रय सर्वाण्यष्टौ श्रयन्ते । अत्रुत्सूत्रनयो मतिज्ञानमत्यज्ञानयजानि पद । अत्राह ।—कस्मान्मतिं सविपर्यया न श्रयत इति । अत्रोच्यते ।—श्रुतस्य सविपर्ययस्योपपत्त्यात् । शब्दनयस्तु द्वे एव श्रुतज्ञानकेवलज्ञाने श्रयते । अत्राह ।—कस्मात्त-

राणि श्रयते इति । अत्रोच्यते ।—मृत्यवधिमनःपर्यायाणां श्रुतस्त्वैवोपग्राहकत्वात् । चेतना-
ज्ञस्वाभाव्याद्य सर्जनीयानां नास्य कश्चिन्मिथ्यादृष्टिरज्ञो वा जीवा विद्यते, तस्मादपि
विपर्ययात् श्रयत इति । अतश्च प्रत्यक्षानुमानोपमानात्तवचनानामपि प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायत
इति । आह च ।—

अर्थ—प्रश्न—पहले ज्ञानके पाँच भेद बता चुके हैं, और तीन विपरीत ज्ञानोंका
स्वरूप भी लिख चुके हैं । दोनों मिलकर ज्ञानके आठ भेद हैं । इनमेंसे किन किन ज्ञानोंकी
नैगमादि नयोंमेंसे कौन कौनसा नय अपेक्षा लेकर प्रवृत्त हुआ करता है ? अर्थात् कौन कौनसा
नय किम किस ज्ञानका आश्रय लिया करता है ? उत्तर—नैगम आदिक तीन नय—नैगम
सग्रह और व्यवहार तो कुछ आठों प्रकारके ज्ञानका आश्रय लिया करते हैं, और ऋजुसूत्र नय
आठमेंसे मतिज्ञान और मृत्युज्ञान इन दोके सिवाय बाकी छह प्रकारके ज्ञानका आश्रय लिया
करता है । प्रश्न—यह नय मतिज्ञान और मृत्युज्ञानका आश्रय क्यों नहीं लेता ? उत्तर—ये
दोनों ही ज्ञान श्रुतज्ञान और श्रुताज्ञानका उपकार करने वाले हैं, अतएव उनका आश्रय नहीं
लिया जाता । चक्षुरादिक इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह यदि अवग्रहमात्र ही हो,
तो उससे वस्तुका निश्चय नहीं हो सकता । क्योंकि जब श्रुतज्ञानके द्वारा उस पदार्थका
पर्यालोचन किया जाता है, तभी उसका यथावत् निश्चय हुआ करता है । अतएव मतिज्ञानसे
फिर क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? इसी लिये ऋजुसूत्रनय मतिज्ञान और मृत्युज्ञानका आश्रय
नहीं लिया करता । शब्दनय श्रुतज्ञान और केवलज्ञान इन दो ज्ञानोंका ही आश्रय लेकर
प्रवृत्त हुआ करता है । प्रश्न—बाकी छह ज्ञानोंका आश्रय यह नय क्यों नहीं लेता ? उत्तर—
मतिज्ञान अविज्ञान और मन पर्यायज्ञान श्रुतज्ञानका ही उपकार करनेवाले हैं । क्योंकि ये
तीनों ही ज्ञान स्वयं जाने हुए पदार्थके स्वरूपका दूसरेको बोध नहीं करा सकते । ये ज्ञान स्वयं
मूक हैं, अपने आलोचित विषयके स्वरूपका अनुभव दूसरेको स्वयं करानेमें अमर्थ हैं, श्रुत-
ज्ञानके द्वारा ही उसका बोध करा सकते हैं, और वैसा ही कराया भी करते हैं । यद्यपि केवल
ज्ञान भी मूक ही है, परन्तु वह समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेवाला और इसीलिये सबसे प्रधान
है । अतएव शब्दनय उसका अवलम्बन लेता है । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि
चेतना—जीवत्व—अर्थात् सामान्य परिच्छेदकत्व और ज्ञ अर्थात् विशेषपरिच्छेदकता इन दोनोंका
तथाभूत परिणमन सभी जीवोंमें पाया जाता है । इस नयकी अपेक्षासे पृथिवीनायिक आदि
कोई भी जीव न मिथ्यादृष्टि है और न अज्ञ ही है । क्योंकि सभी जीव अपने अपने विषयका
परिच्छेदन किया करते हैं—स्पर्शको स्पर्श और रसको रसरूपसे ही ग्रहण किया करते हैं, उनके
इस परिच्छेदनमें अययार्थता नहीं रहा करती । इसी प्रकार कोई भी जीव ऐसा नहीं है, जिसमें कि ज्ञानका
अभाव पाया जाय । ज्ञानजीवका लक्षण है, वह सबमें रहता ही है, कमसे कम अक्षरके अनतवें

भाग प्रमाण तो रहता ही है। इस अपेक्षा से सभी जीव सम्यग्दृष्टि हैं, और ज्ञानी हैं। अतएव इस दृष्टिसे कोई विपरीत ज्ञान ही नहीं ठहरता है। और उसके बिना शब्दनय अवलम्बन किसका होगा। इसलिये भी विपरीत ज्ञानका शब्दनय आश्रय नहीं लेता। और इसी लिये प्रत्यक्ष अनुमान उपमान और आत्मवचन—आगमको भी प्रमाण समझ लेना चाहिये।

अब इस अध्यायके अतमें पाँच कारिकाओंके द्वारा इस अध्यायमें जिम जिस विषयका वर्णन किया गया है, उसका उपसंहार करते हैं।

भाष्यम्—विहायेकार्यपदान्यर्थपदानि च विधानमिष्ट च ।

विन्यस्य परिक्षेपात्, नर्थे परीक्ष्याणि तच्चानि ॥ १ ॥

ज्ञान सविपर्यास त्रय श्रयन्त्यादितो नया सयम् ।

सम्यग्दृष्टेर्ज्ञान मिथ्यादृष्टेर्विपर्यास ॥ २ ॥

ऋजुसूत्र पद श्रयते मते श्रुतोपमहादानन्यत्यात् ।

श्रुतकेचले तु शब्द श्रयते नान्यच्छ्रुताद्गत्यात् ॥ ३ ॥

मिथ्यादृष्ट्यज्ञाने न श्रयते नास्य कश्चिद्दृष्टोऽस्ति ।

हास्वाभाव्याज्जीवो मिथ्यादृष्टिर्न चाप्यास्ति ॥ ४ ॥

इति नयवादाश्चिन्ना क्वचिद् विरुद्धा इवाथ च विशुद्धा ।

लौकिकविषयातीता तच्चज्ञानार्थमधिगम्या ॥ ५ ॥

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसमष्टे प्रथमोऽध्याय समाप्त ॥

अर्थ—जीव प्राणी जन्तु इत्यादि एकार्थ पदोंको और निरुक्तिसिद्ध अर्थपदोंको जानकर तथा नाम स्थापना आदिके द्वारा तत्त्वोंके भेदोंको जानकर एव निर्देश स्वामित्व आदि तथा सत् सख्या आदि अधिगमोपायोंको भी समझकर नामादि निक्षेपोंके द्वारा तत्त्वोंका व्यवहार करना चाहिये और उपर्युक्त नयोंके द्वारा उनकी परीक्षा करनी चाहिये ॥ १ ॥

१—जैसा कि कहा भी है कि “ मन्वजीवाण पि य ण अन्तरस अणतो भागो निच्युग्याडित्तो । ” (नन्दीमूल ४०) अर्थात् सभी जीवोंके अक्षरसे अनन्तवे भाग प्रमाण ज्ञान तो कमसे कम नित्य उद्घाटित रहता है। यह ज्ञान निगोदियाके ही पाया जाता है। और इसको पर्यायज्ञान तथा सख्यक्षर भी कहते हैं। क्योंकि सखि नाम ज्ञानावरणकर्मके क्षययोगसमसे प्राप्त विप्रुद्धिका है। और अक्षर नाम अविनाशरक्ता है। ज्ञानावरणकर्मका इतना क्षयोपशम तो रहता ही है। अतएव इसको सख्यक्षर कहने हैं। ६५५२६ को पण्णही और इसके वर्गको वादाल तथा वादाल्ये वर्गका एकत्री कहते हैं। केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेदोंमें एक वग एश्रीका भाग देनेसे जो सख आवे उतने अविभागप्रतिच्छेदोंके सप्रहका नाम अक्षर है। इस अक्षर प्रमाणमें अनन्तका भाग देनेसे जितने अविभागप्रतिच्छेद सख आवें, उतने ही अविभागप्रतिच्छेद पर्याय ज्ञानमें पाये जाते हैं। वे नित्योद्घाटी हैं। २—यह कथन शुद्धि-नयनकी अपेक्षासे है। अतएव सर्वथा ऐसा ही नहीं समझन चाहिये। कर्मोपाधिरहित शुद्ध जीवका स्वरूप ऐसा है यह अभिप्राय समझना चाहिये। किंतु लोकाव्यवहार एक नयके द्वारा नहीं किंतु सम्पूर्ण नयोंके द्वारा ग्राह्य है।

३—“ न चाप्यत्र ” इति क्वचित् पाठ ।

आदिके तीन नय—नैगम सग्रह और व्यवहार सभी सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञानोंको विषय क्रिया करते हैं । परन्तु सम्यग्दृष्टिके ज्ञानको ज्ञान—सम्यग्ज्ञान और मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको उससे विपरीत—मिथ्याज्ञान कहते हैं ॥ २ ॥

ऋजुसूत्र नय छह ज्ञानोंका ही आश्रय लिया करता है—मतिज्ञान और मत्यज्ञानका आश्रय नहीं लिया करता । क्योंकि मतिज्ञान श्रुतज्ञानका उपकार करता है, और इसीलिये मति और श्रुतमें कथंचित् अभेद भी है । जब श्रुतज्ञानका आश्रय ले लिया, तब मतिज्ञानकी आवश्यकता भी क्या है ? शब्दनय श्रुतज्ञान और केवलज्ञानका ही आश्रय लिया करता है, औरोंका नहीं । क्योंकि अन्य ज्ञान श्रुतज्ञानमें ही बलाघान किया करते हैं, वे स्वयं अपने विषयका दूसरेको बोध नहीं करा सकते ॥ ३ ॥

शब्दनय मिथ्यादर्शन और अज्ञानका भी आश्रय नहीं लिया करता, क्योंकि इस नयकी अपेक्षासे कोई भी प्राणी अज्ञ नहीं है । क्योंकि सभी जीव ज्ञस्वभावके धारण करनेवाले हैं, इसीलिये इस नयकी दृष्टिसे कोई भी जीव मिथ्यादृष्टि भी नहीं है ॥ ४ ॥

इस तरह नयोंका विचार अनेक प्रकारका है, यद्यपि ये नय कहीं कहीं पर किसी किसी विषयमें प्रवृत्त होनेपर विरुद्ध सरीखे दीखा करते हैं, परन्तु अच्छी तरह पर्यालोचन करनेपर वे विशुद्ध—निर्दोष—अविरुद्ध ही प्रतीत हुआ करते हैं । वैशेषिक आदि अन्य—जैनैतर लौकिक मतोंके शास्त्रोंमें ये नय नहीं हैं । उन्होंने इन नयोंके द्वारा वस्तुस्वरूपका पर्यालोचन किया भी नहीं है । परन्तु इनके बिना वस्तुस्वरूपका पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता, अतएव तत्त्वज्ञानको सिद्ध करनेके लिये इनका स्वरूप अवश्य ही जानना चाहिये ॥ ५ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥



अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता जीवादीनि तत्त्वानीति । तत्र को जीव कथलक्षणो वेति ? अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—पहले जीवादिक सात तत्त्वोंका आपने नामनिर्देश किया है । उनमेंसे अभीतक किसीका भी स्वरूप नहीं बताया, और न उनका लक्षण विधान ही किया । अतएव अबसे पहले क्रमानुसार जीव तत्त्वका ही स्वरूप कहिये कि वह क्या है, और उसका लक्षण किस प्रकार करना चाहिये कि जिससे उसकी पहचान हो सके ? अतएव इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य
स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥ १ ॥**

भाष्यम्—औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक पारिणामिक इत्येते पञ्च भावा जीवस्य स्वतत्त्व भवन्ति ।

अर्थः—औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक ये पाँच भाव जीवके स्वतत्त्व हैं ।

भावार्थ—जो कर्मोंके उपशमसे होनेवाले हैं, उनको औपशमिक और क्षयसे होने वालेको क्षायिक तथा क्षयोपशमसे होनेवालोंको क्षायोपशमिक एव उदयसे होनेवाले भावोंको औदयिक कहते हैं । परन्तु जिसके होनेमें कर्मकी अपेक्षा ही नहीं है—जो स्वत ही प्रगट रहा करते हैं, उनको पारिणामिकभाव कहते हैं ।

यद्यपि इनके सिवाय अस्तित्व वस्तुत्व आदि और भी अनेक स्वभाव ऐसे हैं, जोकि जीवके स्वतत्त्व कहे जा सकते हैं, परन्तु उनको इस सूत्रमें न बतानेका कारण यह है, कि वे जीवके असाधारण भाव नहीं हैं । क्योंकि वे जीव और अजीव दोनों ही द्रव्योंमें पाये जाते हैं । किंतु ये पाँच भाव ऐसे हैं, जोकि जीवके सिवाय अन्यत्र नहीं पाये जाते । इसी लिये इनको जीवका स्वतत्त्व—निज तत्त्व कहा गया है ।

यहाँपर जीव शब्दका अभिप्राय आयुष्मकी अपेक्षासे जीवन पर्यायके धारण करनेवाला ऐसा नहीं है । क्योंकि ऐसा होनेसे सिद्धोंमें जो क्षायिक तथा पारिणामिक भाव रहा करते हैं, सो नहीं बन सकेंगे । अतएव यहाँपर जीवसे अभिप्राय जीवत्व गुणके धारण करनेवालेका है । जो जीता है—प्राणोंको धारण करता है, उसको जीव कहते हैं । प्राण दो प्रकारके बताये हैं—एक द्रव्यप्राण दूसरे भावप्राण । सिद्ध जीवोंमें यद्यपि

द्रव्यप्राण नहीं रहते, क्योंकि वे कर्मोंकी अपेक्षासे होनेवाले हैं, परन्तु भावप्राण रहते ही हैं। क्योंकि उनमें कर्मोंकी अपेक्षा नहीं है।—वे शास्वतिक हैं।

जीव दो प्रकारके हुआ करते हैं, एक भव्य दूसरे अभव्य। इनमेंसे औपशमिक और क्षायिक ये दो स्वतत्त्व भव्यके ही पाये जाते हैं, और वाकीके तीन स्वतत्त्व भव्य अभव्य दोनोंके ही रहा करते हैं। औपशमिक और क्षायिक इन दोनों भावोंकी निर्मलता एकसी हुआ करती है, परन्तु दोनोंमें अन्तर यह है, कि औपशमिकमें तो प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता रहा करता है, किंतु क्षायिकमें विल्कुल भी उसकी सत्ता नहीं पाई जाती। जैसे कि सपनजन्ममें यदि निर्मली आदि डाल दी जाय, तो उससे पकड़ा भाग नीचे बैठ जाता है और ऊपर जल निर्मल हो जाता है, ऐसे ही औपशमिक भावकी अवस्था समझनी चाहिये। यदि उसी निर्मल जलको किसी दूसरे वर्तनमें नितार लिया जाय, तो उसके मूलमें पकड़ी सत्ता भी नहीं पाई जाती, इसी तरह क्षायिक की अवस्था समझनी चाहिये। क्षायोपशमिकमें यह विशेषता है, कि प्रतिपक्षी कर्मकी देशघाती प्रकृतिका फलोदय भी पाया जाता है। जैसे कि सपक जलमें निर्मली आदि डालनेसे पकड़ा कुछ भाग नीचे बैठ जाय और कुछ भाग जलमें मिला रहे। उसी प्रकार क्षायोपशमिक भावमें कर्मकी भी क्षीणाक्षीण अवस्था हुआ करती है। गति आदिक भाव जोकि आगे चलकर बताये जायेंगे, वे कर्मके उदयसे ही होनेवाले हैं, और पारिणामिक भावोंमें चाहे वे साधारण हों, चाहे असाधारण कर्मकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है—वे स्वतः सिद्ध भाव हैं।

ये पाँचों भाव अथवा इनमेंसे कुछ भाव जिसमें पाये जायँ, उसको जीव समझना चाहिये। यही जीवका स्वरूप है। अब यहाँपर दूसरे प्रश्नके उत्तरमें जीवका लक्षण बताना चाहिये था, परन्तु वह आगे चलकर लिखा जायगा, अतएव उसको यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये यहाँपर इन पाँचों भावोंके उत्तरभेदोंको गिनाते हैं। उनमें सबसे पहले औपशमिकादिक भेदोंकी सख्या कितनी कितनी है, सो बतानेके लिये सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—एते औपशमिकादयः पञ्च भावा द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा भवन्ति। तद्यथा—औपशमिको द्विभेदः, क्षायिको नवभेदः, क्षायोपशमिकोऽष्टादशभेदः, औपशमिक एकविंशतिभेदः, पारिणामिकस्त्रिभेद इति। यथाक्रममिति येन सूत्रक्रमेणात ऊर्ध्वं वक्ष्याम ॥

अर्थ—ये औपशमिक आदि पाँच भाव क्रमसे दो नौ अठारह इक्कीस और तीन भेदवाले हैं। अर्थात्—औपशमिकभावके दो भेद, क्षायिकके नौ भेद, क्षायोपशमिकके अठारह

१—क्योंकि यहाँपर जीव शब्दका अभिप्राय सामान्य जीव द्रव्यमे है, कि वायु प्राणसम्बन्धी जीवन पर्यायके धारण करनेवाले ससारा जीवसे। यहाँपर स्वतत्त्व शब्दमें स्वशब्दसे आत्मा और आत्मीय दोनोंका ही ग्रहण हो सकता है। २—क्योंकि इसी अध्यायकी आदिमें प्रश्न किये थे, कि जीव क्या है, और उसका लक्षण क्या है? स्वतत्त्वोंके निरूपणसे पहले प्रश्नका उत्तर तो हुआ। ३—“उपयोगो लक्षणम्” अध्याय २ सूत्र ८ में लिखा है।

औद्यिकके इर्ष्यास भेद और पारिणामिकके तीन भेद हैं । ये दो आदिक भेद कौन कौनसे हैं, सो आगे चलकर सूत्रक्रमके अनुसार बतावेंगे ।

कोई कोई विद्वान् यहाँपर सिद्धजीवोंकी व्यावृत्तिके लिये “संसारस्थानाम्” अर्थात् ये भेद ससारी जीवोंमें पाये जाते हैं” ऐसा वाक्यशेष भी जोड़कर बोलते हैं । परन्तु ऐसा करना ठीक नहीं है । क्योंकि सभी जगह शब्दोंका अर्थ यथासंभव ही किया जाता है । सभी जीवोंमें सब भाव पाये जायँ ऐसा नियम नहीं है, और न बन ही सकता है । जैसे कि आदिके दो भाव सम्यग्दृष्टिके ही सम्भव है, न कि मिथ्यादृष्टिके, उसी प्रकार सिद्धोंमें भी यथासम्भवही भाव समझ लेने चाहिये । उसके लिये “संसारस्थानाम्” ऐसा वाक्यशेष करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

क्रमानुसार औपशमिकके दो भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सम्यक्त्वचारित्रे ॥ ३ ॥

भाष्यम्—सम्यक्त्व चारित्र च द्वावौपशमिकौ भावौ भवत इति ।

अर्थ—सम्यक्त्व और चारित्र ये दो औपशमिक भाव हैं ।

भावार्थ—यद्यपि सम्यक्त्व और चारित्र क्षायिक और क्षायोपशमिक भी हुआ करता है परन्तु औपशमिकके ये दो ही भेद हैं । इनमें से सम्यक्त्वका लक्षण पहले अध्यायमें कहा जा चुका है, और चारित्रका लक्षण आगे चलकर नौवें अध्यायमें कहेंगे । जिसका साराश यह है, कि सम्यग्दर्शनको घातनेवाले जो कर्म हैं, तीन दर्शनमोहनीय और चार अनन्तानुबन्धे कषाय इन सौतों प्रकृतियोंका उपशम हो जानेपर जो तत्त्वोंमें रुचि हुआ करती है, उसको औपशमिकसम्यक्त्व कहते हैं । और शुभ तथा अशुभरूप क्रियाओंकी प्रवृत्तिकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं । चारित्रमोहनीयकर्मका उपशम हो जानेपर जो चारित्र गुण प्रकट होकर शुभाशुभ क्रियाओंकी निवृत्ति हो जाती है, उसको औपशमिकचारित्र कहते हैं । यह चारित्र गुण म्यारहवें गुणस्थानमें ही पूर्ण हुआ करता है । क्योंकि चारित्रमोहनीय की शेष २१ प्रकृतियोंका उपशम वहींपर होता है ।

क्रमानुसार क्षायिकके नौ भेदोंको गिनते हैं —

सूत्र—ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

भाष्यम्—ज्ञान दर्शन दान लाभो भोगो उपभोगो वीर्यमित्येतानि च सम्यक्त्वचारित्रे च नव क्षायिका भावा भवन्ति इति ।

१—यद् कथन सादि मिथ्यादृष्टिनी अपेक्षासे है, अनादि मिथ्यादृष्टि के मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतिके सिंगार पाँच प्रकृतियोंके उपशमसे ही सम्यक्त्व हुआ करता है । २—सम्यग्दानवत् कर्मादानहेतुकियोपरम सम्यक् चारित्रम् ॥

अर्थ—ज्ञान दर्शन दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये सात भाव और पूर्व सूत्रमें जिनका नामोल्लेख किया गया है, वे दो—सम्यक्त्व और चारित्र इस तरह कुल मिला कर नौ क्षायिक भाव होते हैं ।

भावार्थ—प्रतिपक्षी कर्मके सर्वथा निशेष हो जानेपर आत्मामें ये नौ भाव प्रकट हुआ करते हैं । ज्ञानावरणकर्मका नाश होनेपर क्षायिकज्ञान—केवलज्ञान उत्पन्न होता है । दर्शनावरणकर्मके क्षीण होनेपर क्षायिक दर्शन—अनतदर्शन उद्भूत हुआ करता है । अन्तरायकर्मके आमूल नष्ट हो जानेपर दान लाभ भोग उपभोग और वीर्य ये पाँच भाव आविर्भूत होते हैं । इसी तरह सम्यग्दर्शनके घातनेवाली उपर्युक्त सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षीण होनेपर क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्रमोहनीयका सर्वथा क्षय होनेपर क्षायिकचारित्र प्रकट होता है । इनमेंसे क्षायिकसम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानसे लकर सातवें तक किसी भी गुणस्थानमें उद्भूत हो सकता है, और क्षायिकचारित्र बारहवें गुणस्थानमें ही प्रकट होता है, तथा बाकीके अनन्तज्ञानादिक सात भाव तेरहवें गुणस्थानमें ही प्रकाशित हुआ करते हैं ।

सम्यक्त्व चारित्र और ज्ञान दर्शनका लक्षण पहले लिख चुके हैं । दानका लक्षण आगे चलकर लिखेंगे कि “ स्वस्यातिसर्गो दानम् । ” अर्थात् रत्नत्रयादि गुणोंकी सिद्धिके लिये अपनी कोई भी आहार औषध शास्त्र आदि वस्तुका वितरण करना इसको दान कहते हैं । लाभ नाम प्राप्तिका है, और जो एक बार भोगनेमें आ सके उसको भोग तथा जो बार बार भोगनेमें आ सके उसको उपभोग कहते हैं । एव वीर्य नाम उत्साह शक्तिका है । ये इन भावोंके सामान्य लक्षण हैं । विशेषरूपसे क्षायिक अवस्थामें यथासम्भव घटित कर लेने चाहिये ।

प्रश्न—सिद्धत्वभाव भी क्षायिकभाव है, सो उसका भी इनके साथ ग्रहण क्यों नहीं किया ? उत्तर—वह आठो ही कर्मोंके सर्वथा क्षय हो जानेपर सिद्ध अवस्थामें ही प्रकट होता है । अतएव उसके यहाँ उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि ये नौ क्षायिकभाव तो ऐसे हैं, जो कि ससार और मोक्ष दोनों ही अवस्थाओंमें पाये जाते हैं ।

क्षायोपशमिकभावके अठारह भेदोंको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रिपंचभेदाः
सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमाश्च ॥ ५ ॥**

भाष्यम्—ज्ञान चतुर्भेद—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्यायज्ञानमिति । अज्ञान त्रिभेद—मत्स्यज्ञान श्रुताज्ञान विभङ्गज्ञानमिति । दर्शन त्रिभेद—चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन अवाधि-दर्शनमिति । लब्धय पंचविधा—दानलब्धि लाभलब्धि भोगलब्धि उपभोगलब्धि वीर्य लब्धिरिति । सम्यक्त्व चारित्र संयमासंयम इत्येतेऽष्टादश क्षायोपशमिका भावा भवन्तीति ।

अर्थ—चार प्रकारका ज्ञान—मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान और मनपर्यायज्ञान । तीन प्रकारका अज्ञान—मत्यज्ञान श्रुताज्ञान और विभगज्ञान । तीन प्रकारका दर्शन—चक्षुदर्शन अक्षुदर्शन और अवधिदर्शन । पाँच प्रकारकी लब्धि—दानलब्धि लाभलब्धि भोगलब्धि उपभोगलब्धि और वीर्यलब्धि । एक प्रकारका सम्यक्त्व और एक प्रकारका चारित्र्य तथा एक प्रकारका सयमासयम । इस तरह कुल मिलाकर अठारह क्षायोपशमिकभाव होते हैं ।

भावार्थ—ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंसे चार घाती और चार अघाती हैं। घातीकर्मोंमें दो प्रकारके अश पाये जाते हैं—एक देशघाती दूसरे सर्वघाती । देशघातीकर्मोंके २६ भेद हैं । इन्हीं घातीकर्मोंके क्षयोपशमसे आत्मामें क्षायोपशमिकभाव जागृत हुआ करता है । ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे चार प्रकारका ज्ञान क्षायोपशमिक होता है । तीन प्रकारके ज्ञान ही मिथ्यादर्शनसे सहचरित होनेके कारण अज्ञान कहे जाते हैं, अतएव वे भी क्षायोपशमिकही है । तीन प्रकारका दर्शन भी दर्शनावरणकर्मके क्षयोपशमसे हुआ करता है, अतएव वह भी क्षायोपशमिक ही है । इसी तरह लब्धि आदिके विषयमें भी समग्र लेना चाहिये । सयमामयम अप्रत्याख्यानावरणकपायके क्षयोपशमसे हुआ करता है, जो कि श्रावकके बारह व्रतरूप है ।

यहोपर यह शका हो सकती है, कि इस सूत्रमें सम्यक्त्व और चारित्र्यका ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है । क्योंकि पहले सूत्रमें इनका ग्रहण किया गया है, वहीसे इस सूत्रमें भी उनका अनुकर्षण हो सकता था । परन्तु यह शका ठीक नहीं है । क्योंकि इनका पहले सूत्रमें पाठ नहीं किया गया है, किन्तु च शब्दके द्वारा उनका पूर्वसूत्रसे अनुकर्षण किया गया है, और इस तरह अनुकर्षण द्वारा आये हुए शब्दोंका सूत्रान्तरमें पुन अनुकर्षण न्यायानुसार नहीं हो सकता । अतएव सूत्रमें इन दोनों शब्दोंका पाठ करना ही आवश्यक और उचित है ।

क्रमानुसार औदायिकके २१ भेदोंको गिनाते है—

**सूत्र—गतिकपायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धत्वले-
स्याश्रतुश्रतुस्यैकैकैकपद्भेदाः ॥ ६ ॥**

१—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनाय, और अन्तराय । २—ज्ञानावरणकी ४ दर्शनावरणकी ३ और सम्यक्त्व-प्रकृति तथा सज्ज्वलनी ४ नोक्तपायनी ० और अन्तरायनी ५ यथा—“जाणावरणचतक तिदत्तण सम्मग च सजलण । ण गोकसाय विग्ग छव्वासा देसावादेशो ॥ ४० ॥ (गोम्मटसार-कर्ममंड)

२—हिंसा झूठ चोरी डुशील और परिग्रह इस तरह पाप पाँच प्रकारके हैं । ये दो प्रकारसे हुआ करते हैं—संरूपपूर्वक और आरम्भनिमित्तक भावक अवस्थामें सकल्पपूर्वक इन पाँच पापोंके त्यागकी अपेक्षा सयम और आरम्भनिमित्तक पापोंका त्याग न हो सन्नद्धी अपेक्षा असयम रहता है, अतएव भावकके प्रतीको सयमासयम कहते हैं । इन पाँच पापोंके सयमासयमरूप त्यागको पञ्चअपुत्रत और अध्याय ७ सूत्र १६ में बताये गये दिग्गतादिक, ७ शीलसे मिलानेमें भावकके १२ व्रत होते हैं ।

३—“चातुष्टय मुत्तरय चातुर्वर्ते ।” ऐसा नियम है ।

। भाष्यम्—गतिश्चतुर्भेदा नारकतैर्यग्योनमनुष्यदेवा इति । कृपायश्चतुर्भेदं त्रीधी मानी मायी लोमीति । लिङ्ग त्रिभेदं स्त्रीपुमाक्षपुसकमिति । मिथ्यादर्शनमेकभेदं मिथ्यादृष्टिरिति । अज्ञानमेकभेदमज्ञानीति । असयतत्त्वमेकभेदमसयतोऽविरत इति । असिद्धत्वमेकभेदमसिद्ध इति । एकभेदमेकविधमिति । लेश्या पद्मभेदा कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या शुक्ललेश्या । इत्येते एकविंशतिरीदधिकमाया भवन्ति ।

अर्थ—गतिके चार भेद हैं—नरकगति तिर्यचगति मनुष्यगति और देवगति । कृपाय चार प्रकारका है—क्रोध मान माया और लोभ । लिंग तीन तरहका है—स्त्रीलिंग पुल्लिंग और नपुंसकलिंग । मिथ्यादर्शन एक भेदरूप ही है । इसी तरह अज्ञान असयत और असिद्धत्व ये भी एक एक भेदरूप ही हैं । एक भेद कहनेका मतलब यह है, कि ये एक एक प्रकारके ही हैं—इनके अनेक भेद नहीं हैं । लेश्या उह प्रकारकी है—कृष्णलेश्या नीललेश्या कापोतलेश्या तेजोलेश्या पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या । इस प्रकार ये सब मिलकर २१ औदयिकभाज होते हैं ।

भावार्थ—जो भाव कर्मके उदयसे होते हैं, उनको औदयिक कहते हैं । नरकगति नामकर्मके उदयसे नारकभाव हुआ करते हैं, इसलिये नरकगति औदयिकी है । इसी तरह तिर्यचगति आदि सभी भावोंके विषयमें समझना चाहिये । ये सब भाव अपने अपने योग्य कर्मके उदयसे ही हुआ करते हैं, इसलिये सब औदयिक हैं । लेश्या नामका कोई भी कर्म नहीं है, अतएव लेश्यारूप भाव पर्याप्ति नामकर्मके उदयसे अथवा पुद्गलविपायी शरीरनाम कर्म और कृपाय इन दोके उदयसे हुआ करते हैं । क्योंकि कृपायके उदयसे अनुराजित मन वचन और कायकी प्रवृत्ति को ही लेश्या कहते हैं । असिद्धत्वभाव आठ कर्मोंके उदयसे अथवा चार अत्रातीतर्मोंके उदयसे हुआ करता है ।

यहाँपर यह शका हो सकती है, कि जब कर्मके भेद १२२ हैं, अथवा १४८ हैं तो औदयिकभाव २१ ही कैसे कहे, जितने कर्मोंके भेद है, उतने ही औदयिक भावोंके भी भेद क्यों नहीं कहे । परन्तु यह शका ठीक नहीं है, क्योंकि इन २१ भेदोंमें सभी औदयिक-भावोंका अन्तर्भाव हो जाता है । जैसे कि आयु गोत्र और जाति शरीर आङ्गोपाङ्ग आदि नाम कर्मप्रभृतिका एक गतिरूप औदयिकभावमें ही समावेश हो जाता है, तथा कृपायमें हास्यादिका निवेश हो जाता है, उसी प्रकार सबका समझना चाहिये ।

लेश्या दो प्रकारकी बताई हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या । शरीरके वर्णको द्रव्य-लेश्या और अन्तरङ्ग परिणाम विशेषोंको भावलेश्या कहते हैं । पुनरपि ये लेश्या दो प्रकारकी

१—“जोगपउती लेस्सा कसायवदयाणुरजिया होइ । ४८९॥ गो० जी०” कृपायोदयाणुरजिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या ।

२—जीव जिस लेश्याके योग्य कर्म द्रव्यका ग्रहण करता है उसके निमित्तमे उसी लेश्यारूप उमके परिणाम हो जाते हैं—अथवा “जलेस्माइ दन्नाइ आदिअति तास्से परिणामे भवति” (प्रज्ञा० लेश्यापदे०) ।

है, एक शुभ दूसरी अशुभ । कापोत नील और कृष्ण ये क्रमसे अशुभ अशुभतर और अशुभतम हैं । पीत पद्म और शुक्र लेश्या क्रमसे शुभ शुभतर और शुभतम है । किस लेश्याके परिणाम कैसे होते हैं, इसके उदाहरण शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं, अतएव यहाँ नहीं लिखे हैं ।

पारिणामिक भावोंके तीन भेद जो बताये हैं, उनको गिनानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ॥ ७ ॥

भाष्यम्—जीवत्व भव्यत्वमभव्यत्वमित्येते त्रय पारिणामिका भावा भवन्तीति । आदिग्रहण किमर्थमिति ? अत्रोच्यते—अस्तित्वमन्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व गुणवत्वमसर्वगतत्वमनादि कर्मसतानवद्धत्व प्रदेशत्वमरूपत्व नित्यत्वमित्येवमाद्योऽप्यनादिपारिणामिका जीवस्य भावा भवन्ति । धर्मादिभिस्तु समाना इत्यादिग्रहणेन सूचिता । सुखी सुखीस्यैव वैशेषिकास्ते स्वशब्देनोक्ता इति । एते पञ्च भावास्त्रिपञ्चाशद्भेदा जीवस्य स्वतत्त्व भवन्ति । अस्तित्वादयश्च । किं चान्यत् ।

अर्थ—जीवत्व भव्यत्व और अमन्यत्व ये तीन पारिणामिक भाव हैं । प्रश्न—इस सूत्रमें आदि शब्दके ग्रहण करनेका क्या प्रयोजन है ? उत्तर—अस्तित्व अन्यत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व गुणवत्व असर्वगतत्व अनादि कर्मसतानवद्धत्व प्रदेशत्व अरूपत्व नित्यत्व इत्यादिक और भी अनेक जीवके अनादि पारिणामिक भाव होते हैं । परन्तु ये भाव जीवके असाधारण नहीं हैं । क्योंकि ये धर्मादिक द्रव्योंमें भी पाये जाते हैं, अतएव उनके समान होनेसे साधारण है, इसी लिये इनको आदि शब्दका ग्रहण करके साधारणतया सूचित किया है । जो जीवमें ही पाये जाते हैं, ऐसे विशेष-असाधारण पारिणामिक भाव तीन ही हैं, और इसी लिये उनका खास नाम लेकर उल्लेख किया है ।

इस प्रकार औपशमिकादिक पाँच भाव जो बताये हैं, वे जीवके स्वतत्त्व-निजस्वरूप हैं—जीवमें ही पाये जाते हैं, अन्यमें नहीं । इनके सिवाय जीवके साधारण स्वतत्त्व अस्तित्वादिक भी हैं । औपशमिक आदि पाँच भावोंके २+९।१८+२१+३ के मिलानसे कुल ५३ भेद होते हैं ।

भावार्थ—असत्यात प्रदेशी चेतनताको जीवत्व कहते हैं । भव्यत्व और अमन्यत्व गुणका लक्षण पहले बताया जा चुका है, कि जो सिद्ध-पदको प्राप्त करनेके योग्य है, उसको भव्य कहते हैं, और जो इसके विपरीत है, सिद्ध-अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सकता, उसको अमन्य कहते हैं । अस्तित्वादिक साधारण भावोंका अर्थ स्पष्ट है ।

इस प्रकार जीवके स्वतत्त्वोंका वर्णन किया । पहले दो प्रश्न जो किये थे, उनमेंसे पहले प्रश्नका उत्तर देते हुए जीवके स्वतत्त्वोंका निरूपण करके उसका स्वरूप बताया । परन्तु दूसरे

प्रश्नका उत्तर अभी तक नहीं हुआ है, जिसके कि विषयमें यह कहा गया था, कि जीवका लक्षण आगे चलकर करेंगे। इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि ये पाँच भाव व्यापक नहीं हैं। अतएव जो जीवमात्रमें व्यापकरूपसे पाया जा सके, ऐसे त्रिकालविषयक और सर्वथा अव्यभिचारी जीवके लक्षणको बतानेकी आवश्यकता है। अतएव प्रथकार दसरे प्रश्नके उत्तरमें जीवका सतोपकर लक्षण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—उपयोगो लक्षणम् ॥ ८ ॥

भाष्यम्—उपयोगो लक्षण जीवस्य भवति ॥

अर्थ—जीवका लक्षण उपयोग है।

भावार्थ—ज्ञानदर्शनकी प्रवृत्तिको उपयोग कहते हैं। अनेक वस्तुओंमें मिली हुई किसी भी वस्तुको जिसके द्वारा पृथक् किया जा सके, उसको लक्षण कहते हैं। इसके दो भेद हैं—आत्मभूत और अनात्मभूत। जो लक्ष्यमें अनुप्रविष्ट होकर रहता है, उसको आत्मभूत कहते हैं, और जो लक्ष्यमें अनुप्रविष्ट न रहकर हा उसका अनुगमक होता है, उसको अनात्मभूत कहते हैं। जीवका उपयोग आत्मभूत लक्षण है। यह लक्षण त्रिकालबाधित और अव्याप्ति अति व्याप्ति असम्भव इन तीन दोषोंसे सर्वथा रहित है। क्योंकि कोई मा जीव ऐसा नहीं है, जिसमें कि ज्ञान और दर्शन न पाया जाय, कमसे कम अक्षरके अनतर्वं भागप्रमाण तो ज्ञान जीवमें रहता ही है। तथा और कोई ऐसा पदार्थ भी नहीं है, कि उसमें भी ज्ञान और दर्शन पाया जा सके, एव दृष्ट और अदृष्ट प्रमाणोंसे उपयोग लक्षणवाला जीव द्रव्य सिद्ध है, अतएव उसमें असम्भव दोष भी असम्भव ही है।

इस लक्षणके उत्तर भेद बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—स उपयोगो द्विविधः साकारोऽनाकारश्च ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेत्यर्थः। स पुनर्यथासख्यमष्टचतुर्भेदो भवति। ज्ञानोपयोगोऽष्टविधः। तद्यथा। मतिज्ञानोपयोगः श्रुतज्ञानोपयोगः, अघधिज्ञानोपयोगः, मन पर्यायज्ञानोपयोगः, केवलज्ञानोपयोग इति, मत्पज्ञानोपयोगः, श्रुतज्ञानोपयोगः, विमद्गज्ञानोपयोग इति। दर्शनोपयोगश्चतुर्भेदः, तद्यथा—चक्षुर्दर्शनोपयोगः, अचक्षुर्दर्शनोपयोगः, अघधिदर्शनोपयोगः, केवलदर्शनोपयोग इति।

१—“व्यतिकीर्णवस्तुव्यापृत्तिहेतुर्लक्षणम्।” २—लक्ष्यके एकदेशमें रहनेको अव्याप्ति, लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोंमें रहनेको अतिव्याप्ति और लक्ष्यमात्रमें लक्षणके न रहनेको असम्भव दोष कहते हैं। ३—यह बात पहले अध्यायके अतमें (टिप्पणीमें) बताई जा चुकी है।

अर्थ—जीवका लक्षणरूप उपयोग दो प्रकारका है, एक साकार दूसरा अनाकार । ज्ञानोपयोगको साकार और दर्शनोपयोगको अनाकार कहते हैं । इनके भी क्रमसे आठ और चार भेद हैं । ज्ञानोपयोगके आठ भेद इस प्रकार हैं—मतिज्ञानोपयोग, श्रुतज्ञानोपयोग, अवधिज्ञानोपयोग, मन पर्यायज्ञानोपयोग, और केवलज्ञानोपयोग, तथा मत्तज्ञानोपयोग, श्रुता ज्ञानोपयोग, विभङ्गज्ञानोपयोग । दर्शनोपयोगके चार भेद इस प्रकार हैं—चक्षुर्दर्शनोपयोग, अचक्षुर्दर्शनोपयोग, अवधिदर्शनोपयोग, और केवलदर्शनोपयोग ।

भावार्थ—यद्यपि इस सूत्रके विषयमें किसी किसीका ऐसा कहना है कि यहाँपर तत् (स) शब्दका पाठ नहीं करना चाहिये, परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनन्तर विषयका ही सम्बन्ध दिखानेके लिये उसके ग्रहण करनेकी आवश्यकता है, जैसे कि “ स आहवै ” इत्यादि सूत्रोंमें किया गया है ।

सविकल्प परिणतिको ज्ञान और निर्विकल्प परिणतिको दर्शन कहते हैं । इनकी प्रवृत्ति क्रमसे इस प्रकार होती है, कि पहले दर्शनोपयोग और पीछे ज्ञानोपयोग । इस क्रमके कारण यद्यपि पहले दर्शनोपयोगका और पीछे ज्ञानोपयोगका पाठ करना चाहिये, परन्तु दर्शनकी अपेक्षा ज्ञान अर्थात्—पूज्य है, और उसका वक्तव्य विषय भी अत्यधिक है, तथा उसके ही भेदभी अधिक हैं, अतएव ज्ञानोपयोगका ही पूर्वमें पाठ करना उचित है ।

किसी किसीका ऐसा भी कहना है, कि ज्ञान और दर्शनसे भिन्न भी उपयोग होता है, जो कि विग्रहगतिमें जीवोंके पाया जाता है । परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें युक्ति और आगम दोनोंसे ही बाधा आती है । ज्ञानदर्शनसे भिन्न उपयोग पदार्थ किसी भी युक्ति अथवा प्रमाणसे सिद्ध नहीं है । आगममें भी उपयोगके ज्ञान और दर्शन ऐसे दोही भेद गिनाये हैं—इन दोनोंसे रहित कोई भी अवस्था उपयोगकी नहीं बताई । तथा विग्रहगतिमें भी ज्ञान पाया जाता है, यह बात भी आगम—वाक्योंसे सिद्ध होती है । तथा विग्रहगतिमें लब्धिरूप इन्द्रियाँ भी रहती ही^३ हैं । अतएव ज्ञान दर्शन रहित उपयोगकी अवस्था नहीं रहती यह बात सिद्ध है ।

१-अध्याय ६सूत्र २ । २-“ जस्स दवियाता तस्स उवयोगात्ता णिमया अत्थि जस्स उवयोगात्ता तस्स नाणाया वा दसणाया वा णिमया अत्थि, ” (भगवत्यां श० १२ उ० १० सूत्र ४६७) । “अपञ्जत्तागम भते । जीवा किं नाणी अण्णाणी ? तिति गोयमा । नाणा तिति अण्णाणाए । ” (भगवत्यां श० ८ उ० २ सूत्र ३१९) तथा—“जाइस्सरो उ भगव अप्पड्विडिण्णं इ तिहि उ नोण्णं । ” (आवश्यक निर्युक्ति ऋषभजन्माधिकारे) । ३—“ जीवेण भते । गम्माओ गम्भं पक्कम-माणे किं सइदिए वक्कमइ अण्णिदिए वक्कमइ ? गोयमा । सिय सइदिए सिय अण्णिदिए, से वेण्णं भते ! एव-युचइ ? गोयमा । दब्बिन्दियाइं पडुच्च अण्णिदिए वक्कमति लब्धिन्दियाइ पडुच्च सइदिए वक्कमति । ” (भगवत्यां श० १ उ० ७ सूत्र ६१) अर्थात् जीव विग्रहगतिमें लब्धिरूप इन्द्रियोंकी अपेक्षासे इन्द्रिय सहित ही जाता है ।

उपयोग यह जीवका सामान्य लक्षण है—वह जीवमात्रमें पाया जाता है । और वह दो भेद रूप है, यह बात तो बताई, परन्तु इस लक्षणसे युक्त जीव द्रव्यके कितने भेद है, सो अभीतक नहीं बताये, अतएव उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

भाष्यम्—ते जीवा समासतो द्विविधा भवन्ति—संसारिणो मुक्ताश्च । किं चान्यत्—

अर्थ—जिनका कि उपयोग यह लक्षण ऊपर बताया जा चुका है, वे जीव ससेपमें दो प्रकारके हैं—एक ससारी और दूसरे मुक्त ।

भावार्थ—ससरण नाम परिभ्रमणका है, वह जिनके पाया जाय—जो चतुर्गतिरूप ससारमें भ्रमण करनेवाले हैं, अथवा इम भ्रमणके कारणभूत कर्मोंका जिनके सम्बन्ध पाया जाय, उनको ससारी कहते हैं । और जो उससे रहित है, उनको मुक्त कहते हैं ।

यद्यपि जीवोंके इन दो भेदोंमें मुक्त जीव अम्यर्हित हैं, इसलिये सूत्रमें पहले उनका ही उल्लेख करना चाहिये था । परन्तु अभिप्राय विशेष दिग्बानेके लिये सूत्रकारने पहले ससारी शब्दका ही पाठ किया है। वह अभिप्राय यह है, कि इससे इस बातका भी बोध हो जाय, कि ससारपूर्वक ही मोक्ष हुआ करती है । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि ससारी जीवोंका आगेके ही सूत्रोंमें वर्णन करना है, अतएव उसका पहले ही पाठ करना उचित है ।

ससारी जीवोंके उत्तरभेद बतानेके लिये सूत्र करते हैं ।—

सूत्र—समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—समासतस्ते एव जीवा द्विविधा भवन्ति—समनस्काश्च अमनस्काश्च । तान् पुरस्तात् चक्ष्याम ॥

अर्थ—उपर्युक्त ससारी जीवोंके ससेपमें दो भेद है—एक समनस्क दूसरे अमनस्क । इन दोनोंका ही स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे ।

भावार्थ—जो मन सहित हों उनको समनस्क कहते हैं, और जो मन रहित हों, उनको अमनस्क कहते हैं । नारक देव और गर्भज मनुष्य विर्यच ये सब समनस्क हैं, और इनके सिवाय जितने ससारी जीव हैं, वे सब अमनस्क है । जो शिक्षा क्रिया आलाप आदिको ग्रहण कर सकें, समझना चाहिये, कि ये मन सहित है । मन दो प्रकारका है—एक द्रव्यमन दूसरा भावमन । मनोवर्गणाओंके द्वारा अष्टदल कमलके आकारमें बने हुए अन्तःकरणको द्रव्यमन कहते हैं और जीवके उपयोगरूप परिणामको भावमन कहते हैं । ।

ससारी जीवोंके और भी भेदोंको बतानेके लिये सूत्र करते है -

सूत्र—संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—संसारिणो जीवा द्विविधा भवन्ति—त्रस स्थावराश्च । तत्र—

अर्थ—फिर भी ससारी जीवोंके दो भेद है—एक त्रस दूसरे स्थावर ।

भावार्थ—यहसे चतुर्थ अध्यायके अंत तक ससारी जीवका ही अधिकार समझना चाहिये । मुक्त जीवोंका वर्णन दशम अध्यायमें करेंगे । त्रस और स्थावर ये भी ससारी जीवोंके ही दो भेद है । त्रसनामकर्मके उदयसे जिनके सुख दुःखादिका अनुभव स्पष्ट रहता है, उनको त्रस कहते है, और जिनके स्थावरनामकर्मके उदयसे उनका अनुभव स्पष्टतया नहीं होता, उनको स्थावर कहते है । कोई कोई इन शब्दोंका अर्थ निरैक्तिके अनुसार ऐसा करते है, कि जो चलता फिरता है, वह त्रस और जो एक जगहपर स्थिर रहे, वह स्थावर । परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे वायुक्रीयको भी त्रस मानना पड़ेगा, तथा बहुतसे द्वीन्द्रियादिक भी जीव ऐसे हैं, जो कि एक ही जगहपर रहते हैं, उनको स्थावर कहना पड़ेगा ।

इन दो भेदोंमें परस्पर सक्रम भी पाया जाता है—त्रस मरकर स्थावर हो सकते हैं, और स्थावर मरकर त्रस हो सकते है । परन्तु इनमें त्रस पर्याय प्रधान है । क्योंकि उनके सुख दुःखादिका अनुभव स्पष्ट होता है ।

स्थावरोंके भेद बतानेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

भाष्यम्—पृथ्वीकायिका, अप्कायिका, वनस्पतिकायिका इत्येते त्रिविधा स्थावरा जीवा भवन्ति । तत्र पृथ्वीकायिकोऽनेकविध शुद्धपृथिवीशार्करावालुकादि । अप्कायोऽनेकविध हिमादि । वनस्पतिकायोऽनेकविध शैवलादि ।

१—“परिस्पष्टमुखदु चेच्छद्वेयादिलिङ्गास्त्रसनामकर्मोदयात् त्रसा । अपरिस्पष्टमुखदिलिङ्गा स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावरा ।” इति सिद्धसेनगण्ठीकायाम् । २—तस्यन्तादि त्रसा, स्थानशीला स्थावरा ॥ ३—यद्यपि आगे चलकर सूत्र १४ में अग्निनाय और वायुकायको त्रस लिखा है, परन्तु वहाँ केवल क्रियाकी अपेक्षासे वैसा लिखा है, वस्तुतः कर्मनी अपेक्षासे वे दोनों स्थावर हैं, यह बात भी प्रयत्नकारको इष्ट है । इसी लिये श्रीसिद्धसेनगण्ठीने अपनी टीकामें लिखा है, कि “अतः क्रिया प्राप्य तेजोवायोरत्रसत्त्वं, स्थव्या पृथिव्यसे तेजोवायु-वनस्पतयः सर्वे स्थावरनामकर्मोदयात् स्थावरा एव ।”

अर्थ—स्थावर जीव तीन प्रकारके हैं—पृथिवीकायिक, जलकायिक और वनस्पतिकायिक । इनमेंसे पृथिवीकायिक जीव शुद्ध पृथिवी शर्करा बालुका मृत्तिका उपल आदिके भेदसे अनेक प्रकारके हैं । इसी प्रकार जलकायिक जीव भी हिम अवश्याय आदिके भेदसे अनेक प्रकारके हैं । तथा वनस्पतिकायिक भी शैवल मूलक आर्द्रक पणक वृक्ष गुच्छ गुल्म लता आदिके भेदसे अनेक प्रकारके हैं ।

भावार्थ—स्थावर और व्रस शब्दोंका अर्थ दो-प्रकारसे होता है—एक क्रियाकी अपेक्षासे और दूसरा कर्मके उदयकी अपेक्षासे । क्रियाकी अपेक्षासे जो स्थानशील हों—एक ही जगहपर रहें—चलते फिरते न हों, उनको स्थावर कहते हैं, और कर्मके उदयकी अपेक्षासे जिनके स्थावरनामकर्मका उदय हो, उनके स्थावर कहते हैं । यहाँपर ये स्थावर-के तीन भेद क्रियाकी अपेक्षासे बताये हैं, न कि कर्मोदयकी अपेक्षासे । क्योंकि कर्मकी अपेक्षासे अशिकाय और वायुकाय भी स्थावर ही हैं ।

स्थावरोंके विषयमें यह ज्ञान हो सकती है, कि क्या इनमें भी साकार और अनाकार उपयोग पाया जाता है ? सो युक्ति और आगम दोनों ही प्रकारसे इनमें दोनों प्रकारके उपयोगका अस्तित्व सिद्ध है, ऐसा समझना चाहिये । आहारादि क्रिया विशेषके देरनेसे उनकी आहार भय मैथुन परिग्रहरूप सत्ताओंका बोध होता है, जिनसे कि उनके उपयोगकी अनुमानसे सत्ता सिद्ध होती है । आगममें भी इनके साकार और अनाकार ऐसे दोनों ही उपयोगोंका उल्लेख किया गया है ।

१—दिग्ग्वर सम्प्रदायमें सूत्रपाठ ऐसा है कि—“ पृथिव्यत्तेजोवायुवनस्पतय स्थावरा ” “ तथा द्वीन्द्रियादयस्त्रसा ” । अतएव स्थावर पंच प्रकारके माने हैं—पृथिवीकाय जलकाय अशिकाय वायुकाय और वनस्पतिकाय । तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इनको ही व्रस माना है, उन्होंने कर्मके उदयसे ही स्थावर और व्रस भेद किये हैं, क्रियाकी अपेक्षासे नहीं । जैसा कि श्रीसिद्धसेनगणीने भी कर्मोदयकी अपेक्षा पृथिवी कायादि पंचाको स्थावर और द्विन्द्रियादिको ही व्रस बनाया है । २—जैसा कि पहले श्रीसिद्धसेनगणीके वाक्योंसे उद्धृत करके बनाया जा चुका है । ३—एकेन्द्रिया उपयोगवत् आहारादिपुविशिष्टवृत्त्यन्यथासुपपत्ते ॥ ४—“ पुटविनाइयाण भते । किं मागारोवओगोवउत्ता अणामारोवओगोवउत्ता ? गोयमा । सागाराव ओगोवउत्ता नि अणामारोवओगोवउत्तापि । ” (प्रज्ञा-सूत्र-३१२) अर्थात् हे भदन्त ! पृथिवीकायिक जीव साकारापयोग्य अथवा अनाकारापयोग्यक हैं ? उत्तर—हे गौतम, साकारापयोग्यक भी हैं, और अनाकारापयोग्यक भी हैं । इसी प्रकार अन्य स्थावरोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये ।

पृथिवी आठिके भेद और भी तरहसे ग्रन्थान्तरोंमें बताये हे, सो वे भी उन ग्रन्थोंसे जान लेने चाहिये ।

ब्रह्मोंके भेद भेद बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ॥ १४ ॥

भाष्यम्—तेज कायिका अङ्गारादय, वायुकायिका उत्कलिकादय, द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियादयचतुरिन्द्रिया पञ्चेन्द्रिया इत्येते त्रसा भवन्ति । सत्सारिणस्त्रसा स्थावरा इत्युक्ते पतदुक्तं भवति मुक्ता नेव त्रसा नेव स्थावरा इति ॥

अर्थ—अङ्गार किरण ज्वाल मुर्मुर् शुद्धामि आदिक अग्निकायिक जीवोंके अनेक भेद हे । धनवात तनुवात उत्कलिज मडलि इत्यादि वायुकायिक जीवोंके भी अनेक भेद हे । तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय इन सब जीवोंको त्रस कहते है ।

यहोंपर ससारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये दो भेद है, ऐसा कहनेसे अर्थापत्ति प्रमाणके द्वारा यह बात स्पष्ट सिद्ध होजाती हे, कि मुक्तजीव न त्रस है और न स्थावर ह । अर्थात् वे इन दोनों ही सत्सारकी अवस्थाओंसे सर्वथा रहित है ।

भावार्थ—जिस तरह पूर्व सूत्रमें स्थावरोंका उल्लेख क्रियाही प्रधानतासे किया गया है, उसी प्रकार इस सूत्रमें ब्रह्मोंका भी प्रधान क्रियाही प्रधानतासे समझना चाहिये । क्योंकि कर्मकी अपेक्षासे द्वीन्द्रियादिक ही त्रस हे ।

पाँच स्थावरोंके समान द्वीन्द्रिय आदि जीवोंके भी अनेक भेद है । यथा—शख शुक्ति गिंडोला कौडी चनूना आदि त्रीन्द्रिय जीव है । घुण मनुण (गुटमल) जू चाँटी आदि त्रीन्द्रिय जीव है । भ्रमर मकड़ी मच्छर बर पतंग तितली आदि चतुरिन्द्रिय जीव है । सर्प पत्ती मत्स्य आदिक और सम्पूर्ण मनुष्य और पशु पञ्चेन्द्रिय जीव है । पाँच स्थावर और त्रस जीवोंके शरीरका आकार इस प्रकार है—पृथिवीकायिक जीवोंके शरीरका आकार मसूरके समान है ।

१—पृथिवी पृथिवीकाय पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव । इस तरह पृथिवीके चार भेद हैं । इसी प्रकार जलादिक पाँचो ही स्थावरोंके चार चार भेद समझ लेने चाहिये । काठिन्य गुणने धारण करनेवाली सामान्यसे चेतन और अचेतन दोनों ही प्रकारकी पुद्गली स्वाभाविक घृणनक्रियायुक्त पर्यायविक्रोपकी पृथिवी कहते हैं । इसके शक्तिवा बालुका आदि ३६ भेद थीअमृतचंद्रआचार्यने तत्त्वार्थसारमें गिनाये हैं । जिसके पृथिवीनामर्मका उदय है उस जीवके द्वारा ग्रहण करके पुन छोडे हुए शरीरको पृथिवीकाय कहते हैं । जिसके पृथिवीनामर्मका उदय है, और जिसने पृथिवीको शरीररूपसे धारण भी कर रखा है, उसको पृथिवीकायिक कहते हैं । जो पृथिवीकायिक पर्यायको धारण करनेवाला है, परंतु अभीतक जिसने शरीरको धारण नहीं किया है, किंतु जिसके पृथिवीनामर्मका उदय हो आया है, ऐसे विग्रहगतिमें स्थित जीवको पृथिवीजीव कहते हैं । इसी तरह जल जलकाय जलकायिक जलजीव आदिके भेद भी समझ लेने चाहिये । जलकायिक आदि जीवोंके भी भेद थीअमृतचंद्र आचार्यने तत्त्वार्थसारमें दिखाये हैं ।

२—इसका कारण पहले लिखा जा चुका है ।

अर्थ—आपने नौ जीवनिकाय बताये हैं—पृथिवी जल वनस्पति अग्नि और वायु ये पाँच और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय ये चार, इस तरह कुल जीवनिकाय ९ हैं और “ पचेन्द्रियाणि ” इम सूत्रके द्वारा इन्द्रियाँ पाँच ही बताई है । अतएव कहिये कि किस किस जीवनिकायके कौन कौनसी इन्द्रियाँ होती हैं ? उसका उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—वाय्वन्तानामेकम् ॥ २३ ॥

भाष्यम्—पृथिव्यादीना वारदन्ताना जीवनिकायानामेकमेन्द्रियम् । सूत्रक्रमप्रामाण्यत् प्रथम स्पर्शनमेवेत्यर्थः ॥

अर्थ—पृथिवीसे लेकर वायुपर्यन्त पाँच जीवनिकायोंके एक ही इन्द्रिय है, और वह सूत्रक्रमकी प्रमाणताके अनुसार पहली स्पर्शन इन्द्रिय ही है । क्योंकि यहाँपर एक शब्दसे अभिप्राय प्रथमका है ।

भावार्थ—यद्यपि द्वीन्द्रियादिक शब्दोंका उच्चारण करनेसे ही यह अर्थ अर्थापत्ति प्रमाणके अनुसार समझमें आ जाता है, कि जो इनसे पहले वायु पर्यन्त जीवनिकाय है, उनके एक ही इन्द्रिय होना चाहिये । परन्तु ऐसा होनेपर भी यह समझमें नहीं आ सकता, कि द्वीन्द्रियके कौनसी दो इन्द्रियाँ हैं, और त्रीन्द्रियके कौनसी तीन इन्द्रियाँ हैं । इत्यादि । इसी तरह वायुपर्यन्तके भी कौनसी एक इन्द्रिय समझना तो भी समझमें नहीं आ सकता । इसलिये इम सूत्रके कहने की आवश्यकता है ।

दो आदिक इन्द्रियाँ किन किनके होती हैं सो बताते हैं—

सूत्र—कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२४॥

भाष्यम्—कृम्यादीना पिपीलिकादीना भ्रमरादीना मनुष्यादीना च यथासरयमेकेकवृद्धानीन्द्रियाणि भवन्ति । यथाक्रम, तद्यथा—कृम्यादीना अपादिकनूपुरक गण्डपद शङ्ख शुकिका शम्बुका जलोका प्रभृतीनामेकेन्द्रियेभ्यः पृथिव्यादिभ्य एकेन वृद्धे स्पर्शनरसनेन्द्रिये भवत । ततोऽप्येकेनवृद्धानि पिपीलिका रोहिणिका उपचिका कुन्थु तम्बुरुकत्रपुसवीज कर्पासास्थिका शतपट्टपतक वृणपत्र काप्रहारकप्रभृतीना त्रीणि स्पर्शनरसनघ्राणानि । ततोऽप्येकेनवृद्धानि भ्रमर वटर सारङ्गमक्षिकापुत्तिका दश मृगकवृद्धिकनन्यावर्तकीट पतङ्गादीना चत्वारिस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुषि । शोषाणा च तिर्यग्योनिजानां मत्स्योरगशुभ्रजगपक्षि चतुष्टयदाना सर्वेषां च नारकमनुष्यदेवाना पञ्चेन्द्रियाणीति ॥

अर्थ—इस सूत्रमें आठि शब्दका सम्बन्ध कृमिआदिक प्रत्येक शब्दके साथ करना चाहिये—कृमि आदिक, पिपीलिका आदिक, इत्यादि । इन जीवोंके क्रमसे एक एक इन्द्रिय अधिक अधिक होती गई है । अर्थात् वायु पर्यन्त पाँच जीवनिकायोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय बताई है, उनकी अपेक्षा कृमि आदिक—कोबी लट नूपुरक केंचुआ शंख सीप घोंघा जोंक इत्यादि

जीवोंके एक इन्द्रिय अधिक है । इस तरहके जीवोंके पृथिवी आदिककी अपेक्षा एक अधिक स्पर्शन रसन ये दो इन्द्रियाँ होती हैं । एक अधिकसे रसनेन्द्रिय ही क्यों अधिक होती है, तो इसके लिये सूत्रकम ही प्रमाण है । तथा यही बात घ्राणन्द्रिय आदि जीवोंके विषयमें भी समझना चाहिये । अर्थात् चींटी परई दीमक कुन्डुआ तम्बुरुक ग्रपुसबीन कर्पासास्थिका शतपट्टत्पतक तृणपत्र कण्ठहारक—बुण इत्यादि जीवोंके कीड़ी आदिकी अपेक्षा एक इन्द्रिय अधिक अर्थात् स्पर्शन रसन घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ हैं । भ्रमर बटर—बर् सारङ्ग—ततैया मक्खी पुत्तिका डास मच्छर विच्छू नन्द्यार्त कीट पतङ्ग इत्यादि जीवोंके चींटी आदिकी अपेक्षा एक इन्द्रिय अधिक है, अर्थात् इस तरहके जीवोंके स्पर्शन रसन घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियाँ होती हैं । इनके सिवाय बाकीके तिर्यच—मत्स्य दुमुही सर्व पक्षी चौपाये—गौ भैंस घोडा हाथी आदि जीवोंके एव सभी नारकी मनुष्य और देवोंके भ्रमरादिकी अपेक्षा एक अधिक अर्थात् स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों ही इन्द्रियाँ होती है ।

भावार्थ—कृमि आदिक पिपीलिका आदिक, इत्यादि शब्दोंमें आदि शब्दसे उन्हीं जीवोंका ग्रहण समझना चाहिये, जिनकी कि इन्द्रियाँ समान हैं । अर्थात् इन्द्रिय सख्याकी अपेक्षा समान जातिके ही जीवोंका आदि शब्दसे ग्रहण करना चाहिये । यद्यपि कोई कोई इस सूत्रमें मनुष्य शब्दका पाठ नहीं करते, परन्तु ऐसा करना उचित नहीं है । मनुष्य शब्दका पाठ किये बिना भ्रमरादिका पाठ भी अयुक्त ही ठहरेगा, और ऐसा होनेसे किन किन इन्द्रियोंके कौन कौन स्वामी हैं, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता द्विविधा जीवा समनस्का अमनस्काश्चेति । तत्र के समनस्का इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने पहले जीवोंके दो भेद बताये थे, एक समनस्क दूसरे अमनस्क । उनमेंसे समनस्क जीव कौनसे हैं ? अर्थात् इन्द्रिय और अनिन्द्रियमेंसे इन्द्रियोंकी अपेक्षा जीवोंका नियम तो बताया, परन्तु अनिन्द्रियकी अपेक्षा अभीतक जीवोंका कोई भी नियम नहीं बताया । अतएव उसके बतानेके अभिप्रायसे इस प्रश्नका आश्रय लेकर उत्तर देनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—संज्ञिनः समनस्काः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—सप्रधारणसंज्ञायां संज्ञिनो जीवा समनस्का भवन्ति । सर्वे नारकदेवा गर्भ-व्युत्क्रान्तयश्च मनुष्यास्तिर्यग्भ्योनिजाश्च केचित् ॥ ईहापोहयुक्ता गुणद्वोपविचारणात्मिका

१—नोट—कोई इस सूत्रके पहले “ अतीन्द्रिया केवलिन ” ऐसा एक सूत्र और भी पढ़ते हैं । परन्तु टीकाकारने उसका खण्डन किया है । आगममें हेतु बाल आदि संज्ञाएँ जनेक प्रकारकी बताई हैं, उनमेंसे भाष्यकारने यहाँपर सप्रधारण संज्ञाका ही व्याख्यान किया है ।

सप्रधारणसज्ञा । ता प्रति सञ्ज्ञिनो विवक्षिता । अन्यथा ह्याहारभयमैथुनपरिग्रहसज्ञाभिः सर्व एव जीवा संज्ञिन इति ॥

अर्थ—सप्रधारण सज्ञाकी अपेक्षासे जो जीव सज्ञाको धारण करनेवाले हैं, उनको समनस्क कहते हैं । सानों ही भूमियोंमें रहनेवाले समस्त नारकी तथा चारों निकायवाले सम्पूर्ण देव और गर्भसे जन्म धारण करनेवाले सभी मनुष्य एव कोई कोई तिर्यच जीव समनस्क समझने चाहिये । ईहा और अपोहसे युक्त गुण तथा दोषोंके निचारको सप्रधारण सज्ञा कहते हैं । इस तरहकी सज्ञाको जो धारण करते हैं, उनको ही प्रकृतमें सज्ञा शब्दसे लिया गया है । यदि यह अर्थ नहीं लिया जायगा, तो पृथिवीकायादिक सभी ससारी जीव जो कि आहार भय मैथुन और परिग्रह इन चार सज्ञाओंको धारण करनेवाले हैं, सभी कहे जा सकेंगे ।

भावार्थ—समनस्क और अमनस्कमें से समनस्क किसको समझना ? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि जो सज्ञी हैं—सज्ञाके धारण करनेवाले हैं, उनको समनस्क समझना चाहिये । परन्तु सज्ञा शब्दसे अनेक अर्थोंका ग्रहण होता है । नाम इच्छा सम्यग्ज्ञान आदि भी सज्ञा शब्दसे कहे जा सकते हैं । अतएव उसका तात्पर्य स्पष्ट करते हैं, कि ईहा और अपोहरूपसे गुणदोषोंके विचार करनेकी शक्तिको यहाँ सज्ञा शब्दसे लेना चाहिये । इसीको सप्रधारण सज्ञा कहते हैं । यह शस्त्रध्वनि है अथवा शृङ्गध्वनि है, इस तरहकी तर्करूप कल्पनाको ईहा कहते हैं, और मधुरता आदिके द्वारा यह शस्त्रध्वनि ही है, न कि शृङ्गध्वनि इस तरहसे एक विषयको ग्रहण करते हुए शेषके परित्याग करने रूप विचारको अपोह कहते हैं । जिन कारणोंसे अभिप्रेत विषयकी सिद्धि हो, उनको गुण कहते हैं, और जिनसे उस सिद्धिमें बाधा हो, उनको दोष कहते हैं । इस प्रकार ईहा और अपोहके द्वारा गुण दोषोंका विचार कर उनमें ब्राह्म तथा त्याज्य बुद्धिके होनेको सज्ञा कहते हैं । यह सज्ञा मनसहित जीवोंके ही पाई जाती है, अन्यके नहीं । यद्यपि यह सज्ञा ज्ञानरूप ही है, परन्तु मन रहित केवल इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले ज्ञानकी अपेक्षा उत्कृष्ट है, इसलिये इसको सज्ञा कहते हैं । अतएव वह समनस्कताका बोधक है ।

देव नारकी और मनुष्य सब समनस्क ही होते हैं । परन्तु तिर्यचोंमें दो भेद हैं—समनस्क और अमनस्क । जो गर्भ जन्म धारण करनेवाले हैं, वे ही तिर्यच समनस्क होते हैं, किन्तु वे सभी समनस्क नहीं हुआ करते । समनस्कका अर्थ बतानेपर अमनस्कका अर्थ अर्थात् पत्तिसे ही ज्ञात हो जाता है; कि जो इनके सिवाय ससारी जीव हैं, वे सभी अमनस्क हैं ।

इस तरह इन्द्रिय और अनिन्द्रियके विषयका नियम बताया । इससे यह भी मालूम हो जाता है, कि मनोयोग किनके पाया जाता है । अब यह बताते हैं, कि जो जीव एक शरीरको छोड़कर शरीरान्तरको धारण करनेके लिये गमन करते हैं, उनके कौनसा योग पाया जाता है—

सूत्र—विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २६ ॥

भाष्यम्—विग्रहगतिसमापन्नस्य जीवस्य कर्मकृत एव योगो भवति । कर्मशरीरयोग इत्यर्थः । अन्यत्र तु यथोक्तं कायवाङ्मनोयोग इत्यर्थः ।

अर्थ—जिस क्रियाके द्वारा क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरकी प्राप्ति हो, उसको गति कहते हैं । और विग्रह नाम शरीरका है । अतएव शरीर धारण करनेके लिये जो गति होती है, उसको विग्रहगति कहते हैं । जो जीव इस अस्थानको धारण करनेवाले हैं, उनका कर्मकृत ही योग पाया जाता है । कर्मणशरीरके द्वारा जो योग—प्रदेशपरिस्पन्दन होता है, उसको कर्मयोग कहते हैं । विग्रहगतिमें तो यही योग रहता है, परन्तु इसके सिवाय अन्य अवस्थावाले जीवोंके काययोग वचनयोग और मनोयोग ये तीनों योग रहा करते हैं ।

भाष्यम्—यहाँपर संसारी जीवका अधिकार है । संसारीका अर्थ वता चुके हैं, कि जो संसरण करनेवाले हैं । संसरण दो प्रकारसे हुआ करता है । एक देशान्तरप्राप्तिरूपसे दूसरा भवान्तरप्राप्तिरूपसे । एक शरीरको छोड़कर अन्य स्थानपर जाकर दूसरे शरीरको धारण करनेका नाम देशान्तरप्राप्ति और मरकर उसी छोटे हुए शरीरमें उत्पन्न होनेका नाम भवान्तरप्राप्ति है । यह दोनों ही प्रकारका संसरण चेष्टारूप योगके विना नहीं हो सकता । अतएव त्यक्त और ग्राह्य शरीरोंके मध्यमें जीवकी गति हुआ करती है । इसीको विग्रहगति कहते हैं । यह दो प्रकारकी होती है—ऋज्वी और वक्रा । धनुषपरसे छूटे हुए बाणके समान जो सीधी गति होती है, उसको ऋज्वी कहते हैं, और जिसमें मोड़ा लेना पड़े, उसको वक्रा कहते हैं । ऋज्वीगतिमें समय नहीं लगता, क्योंकि यहाँपर पूर्व शरीरका त्याग और उत्तर शरीरका ग्रहण एक ही समयमें हो जाता है, अतएव उसमें भिन्न समय नहीं लगता । किंतु वक्रागतिमें मोड़ा लेना पड़ता है, इसलिये इसमें एकसे लेकर तीन समयतक लगते हैं । इसी लिये वक्रा गतिके तीन भेद हैं—एकसमया द्विसमया और त्रिसमया ।

मन वचन और कायके द्वारा जो आत्माके प्रदेशोंका परिस्पन्दन होता है, उसको योग कहते हैं । इसके मूलभेद तीन हैं, मनोयोग वचनयोग और काययोग, किंतु उत्तरभेद पंद्रह हैं । चार प्रकारका मनोयोग—सत्य असत्य उभय और अनुभय । इसी प्रकार वचनयोग भी चार प्रकारका है—सत्य असत्य उभय और अनुभय । काययोगके सात भेद हैं—औदारिक ओदारिकमिश्र वैक्रियिक वैक्रियिकमिश्र आहारिक आहारिकमिश्र और वार्मण । उपर्युक्त वक्रागतिके समय जीवके इनमें से एक कर्मणयोग ही हुआ करता है, अन्य समयमें अन्य योग भी हो सकते हैं,

१—अथवा इस तरहसे भी चार भेद हैं—सत्य असत्य सत्यासत्य अमत्यामृत्या । वचनयोगके भी इन्हीं तरह चार भेद समझने चाहिये ।

और होते हैं । विग्रहगति और वेवलसमुद्घातके, सिवाय अन्य अवस्थामें कर्मणयोग नहीं होता, शेष योग ही होते हैं ।

यहाँपर कोई कोई ऐसी शका किया करते हैं, कि जब शरीरके पाँच भेद हैं, तो उनमेंसे एक तैजस शरीरके द्वारा भी योगका होना क्यों नहीं बताया ? परन्तु इसका उत्तर भाष्यकार आगे चलेकर स्वयं देंगे ।

यहाँपर यह शका हो सकती है, कि जीवोंकी यह भवान्तर-प्रापिणी-गति किसी तरह नियमबद्ध है, अथवा अनियत-चाहे जिस तरहसे भी हो सकती है, अतएव उसका भी नियम है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अनुश्रेणिगतिः ॥ २७ ॥

भाष्यम्—सर्वा गतिर्जीवाना पुद्गलाना चाकाशप्रदेशानुश्रेणिर्भवति । विश्रेणिर्न भवतीति गतिनियम इति ॥

अर्थ—जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्योंकी समस्त गति आकाशप्रदेशके अनुसार ही हुआ करती है, उसके विरुद्ध गति नहीं होती, ऐसा गतिके विषयमें नियम है ॥

भावार्थ—यह गति सम्बन्धी नियम सम्पूर्ण जीव पुद्गल द्रव्योंके लिये है, परन्तु उनकी समस्त अवस्थाओंके लिये नहीं है, किंतु अवस्था विशेषके लिये है । भवान्तरको जाते समय जीवकी जो गति होती है, वह ऊर्ध्व अथ अथवा तिर्यक् किंचरको भी हो आकाशप्रदेश-पक्तिके अनुसार ही हुआ करती है । इसी प्रकार पुद्गलकी जो स्वाभाविकीगति होती है, वह श्रेणिके अनुसार ही होती है । जैसे कि एक पुद्गलका अणु बिना किसी सहायकके चौदह राजू तक लोकके एक भागसे लेकर दूसरे भागतक एक समयमें गमन किया करता है, यह प्रवचनका वचन है, पुद्गलकी ऐसी स्वाभाविकीगति अनुश्रेणि ही होती है, विश्रेणि नहीं होती ।

यद्यपि यहाँपर जीवद्रव्यका अधिकार है, इसलिये इस सूत्रके द्वारा जीवकी गतिका ही नियम होना चाहिये, ऐसी शका हो सकती है, परन्तु आगेके सूत्रमें जीव शब्दका पाठ किया है, उसके सामर्थ्यसे इस सूत्रमें पुद्गल द्रव्यके भी ग्रहण करनेका अर्थ निकल आता है । क्योंकि आगेके सूत्रमें जीव द्रव्यका अर्थ अधिकारके ही अनुसार हो सकता है, अतएव जीव शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ है, वह व्यर्थ पडकर ज्ञापन करना है, कि इस पूर्व सूत्रमें पुद्गलका भी ग्रहण है, जिसकी कि व्यावृत्तिके लिये जीव शब्दका पाठ करना आवश्यक है ।

“ विग्रहगतौ कर्मयोग ” इस सूत्रमें विग्रह शब्दसे दो अर्थ लिये हैं, एक शरीर दूसरा मोडा । इसी लिये शरीर धारण करनेको जो जीवकी मोडेवाली वक्रागति होती है,

१—“ सर्वस्य ” इस सूत्र (अ० २ सूत्र ४३) के व्याख्यानमें २—“ अनुश्रेणिगति । ” ऐसा भी कहा कहीं पाठ है ।

उसमें कर्मयोगका होना बताया है । परन्तु अभी तक यह नहीं मालूम हुआ, कि सप्सारातीत सिद्ध जीव जो शरीरको छोड़कर ऊर्ध्वगमन करते हैं, उनकी गति किस प्रकार होती है । वह मोड़ा लेकर होती है, या बिना मोड़ा लिये ही ? अतएव उनकी गति पंचमगतित्रय नियम बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अविग्रहा जीवस्य ॥ २८ ॥

भाष्यम्—सिद्धचमानगतिर्जीवस्य नियतमविग्रहा भवतीति ॥

अर्थ—जीवोंकी सिद्धचमान गति अर्थात् शरीरको छोड़कर लोकान्तको जाते समय मुक्त जीवोंकी जो गति होती है, वह नियमसे मोड़ा रहित ही होती है ।

भावार्थ—पहले सूत्रमें जीव और पुद्गल दोनोंकी अनुश्रेणिगति कही है । इससे दोनोंका ही यहाँपर भी बोध हो सकता था, परन्तु जीव शब्दके ग्रहणसे पुद्गलका निराकरण हो जाता है । तथा आगेके सूत्रमें सप्सारी शब्दका ग्रहण किया है, इससे यहाँपर जीव शब्दमें सिद्धचमान जीवका अभिप्राय है, यह बात सामर्थ्यसे ही लब्ध हो जाती है ।

जो सिद्धचमान जीव नहीं है, उनकी गति ऋतु और वक्रा दो तरहकी होती है, यह तो ठीक, परन्तु उनकी वक्रागति किम प्रकार होती है—उसमें कितना काल लगता है, सो नहीं मालूम हुआ, अतएव उसका नियम बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २९ ॥

भाष्यम्—जात्यन्तर स्रक्तान्तोससारिणो जीवस्य विग्रहवती चाविग्रहा च गतिर्भवति उपपातक्षेत्रवशात् तिर्यग्ूर्ध्वमधश्च प्राक् चतुर्भ्य इति । येषां विग्रहवती तेषां विग्रहा प्राक्चतुर्भ्यां भवन्ति । अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा त्रिविग्रहा इत्येताश्चतुःसमय-पराश्चतुर्विधा गतयो भवन्ति । परतो न सभवन्ति, प्रतिघाताभावद्विग्रहनिमित्ताभावाच्च । त्रिग्रहो वक्ति विग्रहोऽवग्रह श्रेण्यन्तरस्रक्तान्तिरित्यनर्थान्तरम् । पुद्गलानामप्येवमेव ॥ शरीरिणा च जीवानां विग्रहवती चाविग्रहवती च प्रयोगपरिणामवशात् । न तु तत्र विग्रह-नियम इति ॥

अर्थ—सप्सारी जीव जब अपने किसी भी एक शरीरको छोड़कर अन्य शरीरको धारण करनेके लिये अर्थात् भवान्तरके लिये गमन करता है, उस समय उसके विग्रहवती अथवा अविग्रहागति हुआ करती है । किंतु जैसा उपपात क्षेत्र—जन्मक्षेत्र मिलता है, वैसी गति होती है । यदि विग्रहवतीके योग्य क्षेत्र होता है, तो विग्रहवतीगति होती है, और यदि अविग्रहाके योग्य जन्मक्षेत्र होता है, तो अविग्रहा हुआ करती है । परन्तु यह गति तिर्यक् ऊर्ध्व और अध ऐसे तीनों दिशाओंकी मिलाकर चार समयके पहले पहले ही हुआ करती है । क्योंकि जिन जीवोंकी विग्रहवतीगति होती है, उनके विग्रह चार समयके पहले

पहले ही हुआ करते हैं। इन गतियोंमें चार समय तक लगा करते हैं, अतएव कालभेदकी अपेक्षासे इन गतियोंके चार भेद हैं—अविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा और त्रिविग्रहा। इससे अधिक भेद भी समझ नहीं और समय भी नहीं लगता, क्योंकि इसके आगे जीवकी गतिका प्रतिघात नहीं होता, और न विग्रहके लिये कोई निमित्त ही है। विग्रह नाम मोटा—टेढ़ा का है। विग्रह अवग्रह और श्रेण्यन्तर सक्रान्ति ये सत्र शब्द एक ही अर्थके द्योतक हैं। जिस प्रकार यहाँ जीवकी गतिके विषयमें नियम बताया है, उसी प्रकार पुद्गलके विषयमें भी समझना चाहिये।

जो शरीरको छोड़कर गमन नहीं करते—शरीरके धारण करनेवाले हैं, उन जीवोंके गतिके लिये जैसा भी प्रयोग—परिणमन करनेवाला निमित्त मिल जाता है, उसीके अनुसार दोनोंमेंसे कैसी भी—विग्रहवती अथवा अविग्रहा गति हो जाती है। शरीरधारी जीवोंकी गतिके लिये विग्रहका कोई भी नियम नहीं है।

भाष्यम्—अथ विग्रहस्य किं परिमाणमिति । अत्रोच्यते ।—क्षेत्रतो भाज्यम् । कालतस्तु—

अर्थ—भवान्तरके लिये जाते समय जीवको जो विग्रह धारण करना पड़ता है, उसका प्रमाण कितना है ? उसमें कितना समय लगता है ? उत्तर—क्षेत्रकी अपेक्षा तो यथायोग्य समझ लेना, परन्तु कालकी अपेक्षा—

सूत्र—एकसमयोऽविग्रहः ॥ ३० ॥

भाष्यम्—एकसमयोऽविग्रहो भवति । अविग्रहा गतिरालोकान्तादप्येकेन समयेन भवति । एकविग्रहा द्वाभ्याम्, द्विविग्रहा त्रिभिः, त्रिविग्रहा चतुर्भिरिति । अत्र भङ्गप्ररूपणा कार्याति ॥

अर्थ—विग्रह रहित गति एक समयकी हुआ करती है। अर्थात् ऐसी गति जिसमें कि विग्रह नहीं पाया जाता यदि लोकान्तप्रापिणी हो, तो भी वह एक ही समयके द्वारा होती है, उसमें अधिक समय नहीं लगते^३। अतएव जिसमें एक विग्रह पाया जाता है, वह दो

१—दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार विग्रहगतियोंमें तीन समयसे अधिक नहीं लगते । २—आगममें सात भ्रंशों बताई हैं—ऋज्वायता एकतोवना द्विषावना एतत् खा द्विधारना चक्रवाला और अधचक्रवाला । इनमेंसे आदिकी तीन क्रमसे एक दो तीन समयके द्वारा हुआ करती है। इनके सिवाय चतुःसमया और पञ्चसमयागति भी सम्भव हैं, परन्तु उनमें यह विशेषता है, कि चतुःसमया गतिका तो सूत्र द्वारा उल्लेख पाया जाता है, किन्तु पञ्चसमयाका सूत्रतः अथवा अर्थतः उल्लेख नहीं है। सत्तारी जीवोंने समान परमाणु आदि पुद्गलोंकी भी चार प्रकारकी गति हुआ करती है। तथा विग्रह और कालका नियम अन्तर्गतियों समझना चाहिये । ३—विग्रहवतीगतिको एक समय उपलक्षण है, अतएव यह नियम नहीं है, कि एक समयप्रमाण कालमें विग्रह ही हो । ऋज्वीगतिमें विग्रह नहीं पाया जाता, फिर भी वह एकसमया है। लोकांतप्रापिणी भी एकसमयमें होती है। जिस प्रकार कोई मनुष्य तो एक घटेमें दो मील चलता है, और कोई मनुष्य एक ही घटे आधा मील ही चल पाता है । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये ।

समयके द्वारा और निम्नमें से विग्रह पाये जाते हैं, वह तीन समयके द्वारा तथा निम्नमें तीन विग्रह पाये जाते हैं, वह चार समयके द्वारा हुआ करती है। इस प्रकारसे इस विषयमें भङ्गप्ररूपणा लगा लेनी चाहिये।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि विग्रहगतियों धारण करनेवाले जीव आहारक होते हैं अथवा अनाहारक ? इमका उत्तर स्पष्ट है कि अनाहारक ही होने हैं। क्योंकि यहाँपर कर्मण-योगके मिश्रण और कोई भी योग नहीं पाया जाना। किन्तु पुन यह प्रश्न हो सकता है, कि यदि वे अनाहारक ही होते हैं, तो उनकी अनाहारकताका क्या स्तिता है ? इमका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—एकं द्वौ वाऽनाहारकः ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—विग्रहगतिसमाप्यो जीव एक या समय द्वौ वा समयावनाहारको भवति । शेष काल मनुसमयमाहारयति । कथमेकं द्वौ वाऽनाहारकं न बहूनीत्यत्र भगवत्प्ररूपणा कार्या ॥

अर्थ—उपर्युक्त विग्रहगतियों अच्छी तरहसे प्राप्त हुआ जीव एक समय मात्रके लिये अथवा दो समयके लिये अनाहारक हुआ करता है। किन्तु शेष समयमें प्रतिक्षण आहारको ग्रहण किया करता है। वह एक समय तक अथवा दो ही समय तक अनाहारक क्यों रहता है ? अथवा समय तक भी अनाहारक क्यों नहीं रहता ? इसके लिये भङ्गप्ररूपणा कर लेनी चाहिये।

भाषार्थ—आहार शब्दमें यहाँपर औद्यारिक वैकियिकशरीरके पोषक पुद्गलोंके ग्रहणमें अभिप्राय है। इम आहारके ग्रहण न करनेवालेको अनाहारक कहते हैं। आहार तीन प्रकारका है—ओजआहार लोमाहार और प्रक्षेपाहार। कर्मणशरीरके द्वारा यथायोग्य योनिमें प्राप्त होनेपर प्रथम समयमें लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है, उसको ओजआहार कहते हैं। पर्याप्त अवस्था होनेपर प्रथम समयसे लेकर मरण समय-पर्यन्त त्वन्नाके द्वारा जो पुद्गलोंका ग्रहण होता है, उसको लोमाहार कहते हैं, और खाने पीने आदिके द्वारा जो पुद्गल पिंड ग्रहण करनेमें आता है, उसको प्रक्षेपाहार कहते हैं। इनमेंसे विग्रहगतियों एक या दो समयतक कोई भी आहार नहीं होता।

१—“परिपोषेदुक्तो य आहार औद्यारिक वैकियिकशरीरद्वयस्य स विवाहित प्रतिपेष्पत्वेन ।”-श्रीसिद्धसेनगणेशिन्द्र दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार इय सूत्रकी व्याख्यामें अनाहारकका अर्थ तीन शरीर और छह पर्याप्तिके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण न करना है। और अनाहारक अवस्था तीन समयतक मानी है। इस विषयमें श्रीसिद्धसेनगणेशिन्द्र कहते हैं कि “यदि पुन पञ्चममयायां गौरी या शब्देन समयत्रय समुचीयते ? उच्यते—अभिहित प्राक् न तादृशांग्यां परिदुपपत्तौ, अथास्ति सभय, न कश्चिद्दोष ।” २—दिगम्बर सिद्धान्तमें आहार छह प्रकारका माना है यथा—“शोकात्मा यन्महारो क्वलाहारो य लेप्पमादारो । ओजमणो वियकमतो आहारो छविदो णयो ॥

दो समयसे अधिक समय तक अनाहारक क्यों नहीं रहता, इसके लिये भगप्ररूपणा चतानेका अभिप्राय यह है, कि जिस विग्रहगतिमें एक या दो समय तक अनाहारक रहना बताया है, उससे यहाँपर द्विविग्रहा और त्रिविग्रहा गति ही ली गई है। पहला समय च्युतदेशका और चौथा समय जन्मदेशका होनेसे इनमें जीव आहारक माना गया है। अतएव द्विविग्रहमें एक समय और त्रिविग्रहमें दो समय अनाहारकके समझने चाहिये।

भाष्यम्—अत्राह—एवमिदानीं भवक्षये जीव अविग्रहया विग्रहवत्या वा गत्या गत कथ एनर्जायत इत्यत्रोच्यते,—उपपातक्षेत्र स्वकर्मवशात् प्राप्त शरीरार्थं पुद्गलग्रहण करोति। “सकपायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादृते” इति, तथा “कायवाडमन प्राणापाना पुद्गलानामुपकार”, “नामप्रत्यया सर्वतो योगविशेषात्” इतिवक्ष्याम। तज्जन्म। तच्च त्रिविधम्। तद्यथा—

अर्थ—प्रश्न—आपने अभीतक के कथनसे यह बात तो बताई, कि भवक्षय होनेपर मृत्युको प्राप्त होकर जीव मार्गमें अविग्रहा अथवा विग्रहवती दोनोंमें से किसी भी गतिके द्वारा आकाश प्रदेश पक्तिके अनुसार गमन किया करता है, परन्तु अभीतक यह नहीं बताया, कि इस तरहसे गमन करके उत्पन्न किस प्रकार हुआ करता है। अतएव कहिये कि उत्पन्न होनेके क्षेत्रपर किस तरह उत्पन्न होता है? उत्तर—अपने कर्मके अनुसार यह जीव उपपात-क्षेत्र—जहाँपर इसको उत्पन्न होना है, वहाँपर पहुँचकर शरीरके योग्य पुद्गल द्रव्य ग्रहण किया करता है। किन्तु वे पुद्गल किस प्रकारसे ग्रहण करनेमें आते हैं, और आत्मासे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं, यह बात आगे चलकर “सकपायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादृते” और “काय-वाडमन. प्राणापाना पुद्गलानामुपकार” तथा “नामप्रत्यया सर्वतो योगविशेषात्” इन सूत्रोंके द्वारा बतावेंगे। इस प्रकारसे पुद्गल ग्रहण करनेको ही जन्म कहते हैं और वह जन्म आश्रयभेदसे तीन प्रकारका है।

भावार्थ—मृत्युको प्राप्त हुआ जीव अविग्रहा या विग्रहवती गतिके द्वारा चलकर जन्मक्षेत्रको अपने कर्मके अनुसार पहुँचता है। इस कथनसे ग्रंथकारने ईश्वरके कर्तृत्व-वादका निराकरण किया है। क्योंकि बहुतेसे लोगोंका यह अभिमत है, कि जीवका मरना और जीना—जन्म धारण करना ईश्वरपर निर्भर है। ईश्वर सम्पूर्ण सृष्टिका कर्ता हर्ता विधाता है, उसकी शक्तिके बिना ससारका उत्पाद विनाश और संरक्षण नहीं हो सकता। परन्तु वास्तवमें यह बात नहीं है। सर्वथा वीतराग कृतकृत्य परमात्माकी कर्तृता युक्ति और अनुभवसे असिद्ध तथा बाधित है। अतएव जीवका मरना और जन्मान्तरको जाना कर्मके निमित्तसे ही

१—दिग्भ्यर सिद्धान्तके अनुसार तीन निकुट क्षेत्रमें मोडा छेनेपर तीन समयतक भी अनाहारक रह सकता है। लोकनाशमें ऐसे क्षेत्रमें भी उत्पत्ति हो सकती है, जहाँपर पहुँचनेमें तीन मोडाओंके लिये तीन समय-तक रुकना पड़ता है। २—अध्याय ८ सूत्र २३—अध्याय ५ सूत्र १५। ४—अध्याय ८ सूत्र २५।

ममज्ञाना चाहिये । यह जीव अपने परिणामोंसे जैसे भी कर्मोंका संग्रह करके उनको आत्मसात् कर लेता है, वे कर्म यथा समय उदयमें आकर अपनी अपनी शक्तिके अनुसार फल दिया करते हैं, और वह फल उस जीवको भोगना पडता है । उस कर्मके निमित्तसे ही संसारी जीवका जन्म मरण हुआ करता है । सिद्धजीव कर्मोंसे सर्वथा रहित हैं, अतएव उनका जन्म मरण नहीं हुआ करता । वे अवतार धारण आदि नहीं करते । सचित आयुर्कर्मके पूर्ण हो जानेको मरण और नवीन आयुर्कर्मके उदयमें आनेको ही जन्म कहते हैं । भवान्तरके लिये कब जाना कहाँ जाना कैसे जाना किस मार्गसे जाना इत्यादि सभी कार्य कर्मके निमित्तसे ही जीवके सिद्ध हुआ करते है । कर्मकी सामर्थ्य अचिन्त्य है । अतएव उसके ही अनुसार यथायोग्य जन्मक्षेत्रको प्राप्त हुआ जीव औदारिक या वैकिक शरीरकी रचनाके योग्य पुद्गल द्रव्यका ग्रहण किया करता है, और कर्मके निमित्तसे ही उनकी शरीरादिरूप रचना हुआ करती है । शरीर योग्य पुद्गलके ग्रहणको ही जन्म कहते हैं । जन्मके हेतु आठिका वर्णन आगे चलकर बताया जायगा कि “ यह जीव सक्पाय होनेसे कर्मके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण किया करता है “ तथा ” मन वचन काय और श्वासोच्छ्वास ये सब पुद्गल द्रव्यके ही उपकार हैं “ और ” कर्मके निमित्तसे योगविशेषके द्वारा यह जीव स्वस्वेत्र और परस्वेत्रसे जिनका ग्रहण किया करता है, ऐसे अनन्तान्त सूक्ष्म कर्म पुद्गल आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाह करके स्थित हैं ” ।

इस तरह तीन प्रकारकी उपपत्तियोंके द्वारा जिस जन्मका वर्णन किया जायगा, वह आश्रय भेदसे तीन प्रकारका है । वे तीन प्रकार कौनसे है ? इस बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं —

सूत्र—सम्मूर्छनगर्भोपपाता जन्म ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—सम्मूर्छन गर्भ उपपात इत्येतन्निविध जन्म ।

अर्थ—जन्मके तीन भेद हैं—सम्मूर्छन गर्भ और उपपात ।

भावार्थ—जिस स्थानपर प्राणीको उत्पन्न होना है, उस स्थानके पुद्गल द्रव्यका उस जीवके शरीरके रूपमें परिणमन करना इसको सम्मूर्छन कहते है । जैसे कि काठ आठिकमें घुर्ण लग जाता है, फलादिकमें कीडे पड जाते हैं, और शरदी गर्मी आदिका निमित्त पाकर शरीरमें या वस्त्रादिकमें जू वगैरह पड जाते हैं, पानी आदिका निमित्त पाकर अन्नमें अकुर और जमीनमें घास आदि उत्पन्न हो जाती है, इत्यादि शरीरोंकी उत्पत्तिको सम्मूर्छन जन्म कहते है । क्योंकि उस स्थानपर जीवके आते ही उसी स्थानके पुद्गल शरीर रूप परिणत हो जाते है । इसीको सम्मूर्छन-जन्म कहते हैं । एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रियपर्यन्त सभी जीवोंका सम्मूर्छन ही जन्म हुआ करता है ।

माता पिताका सयोग हेनेपर उनके रज वीर्यके सयोगसे जो शरीर बनता है, उसको गर्भ—जन्म कहते हैं। जैसे कि पशु पक्षियोंका या मनुष्योंका हुआ करता है। देव और नारकियोंके शरीर—परिणमनको उपपाति—जन्म कहते हैं। सम्मूर्त्तन और उपपात—जन्ममें नियत और अनियत स्थानकी अपेक्षा अतर समझना चाहिये। सम्मूर्त्तनजन्मका स्थान और आकार नियत नहीं हैं, किंतु देव नारकियोंके उपपातजन्मके स्थान और आकार नियत है। तथा सम्मूर्त्तन और गर्भ—जन्मके द्वारा उत्पन्न हुआ शरीर स्थूल हुआ करता है, किंतु उपपातजन्मके द्वारा प्राप्त हुआ शरीर सूक्ष्म होता है।

उपर्युक्त तीन प्रकारके जन्मोंमेंसे सम्मूर्त्तनजन्मके द्वारा प्राप्त शरीर स्थूल भी होता है, और उसके स्वामी भी सबसे अधिक हैं, अतएव सूत्रकारने पहले सम्मूर्त्तन शब्दका ही पाठ किया है। उसके बाद गर्भ शब्दका पाठ इसलिये किया है, कि इसकी भी स्थूलता सम्मूर्त्तनके ही समान है। उपपात—जन्मका स्वभाव इसके प्रतिकूल—सूक्ष्म है, अतएव उसका अन्तमें ग्रहण किया है। तथा औदारिकशरीरके स्वामी मनुष्य और तीर्थचोकी अपेक्षा उपपातजन्मके स्वामी देव नारकियोंका स्वभाव भी विरुद्ध है।

इस प्रकार तीन जन्मोंका स्वरूप तो बताया, परन्तु अभीतक इनके स्थानका निर्देश नहीं किया, कि ये कहाँ होते हैं। अतएव कहाँपर तो जीव सम्मूर्त्तनजन्मको और कहाँपर गर्भजन्मको तथा कहाँपर रहनेवाले या उत्पन्न होकर उपपात—जन्मको धारण करते हैं, यह बतानेके लिये ही सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—सचित्तशीतसंवृत्ताः सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः ॥३३॥

भाष्यम्—संतारे जीवानामस्य त्रिविधस्य जन्मन एताः सचित्तादेय सप्रतिपक्षा मिश्रा-
श्चैकशो योनयो भवन्ति । तद्यथा—सचित्ता, अचित्ता, सचित्ताचित्ता, शीता, उष्णा,
शीतोष्णा, संवृता, विवृता, संवृतविवृता, इति । तत्र नारकदेवानामचित्ता योनिः-
गर्भजन्मना मिश्रा । त्रिविधाऽन्येषाम् । गर्भजन्मना देवाना च शीतोष्णा । तेज कायस्योष्णा ।
त्रिविधाऽन्येषाम् । नारकैकेन्द्रियदेवाना संवृता । गर्भजन्मना मिश्रा । विवृताऽन्येषामिति ।

अर्थ—अष्टविध कर्मरूप ससारके बधनमें पड़े हुए जीवोंके जन्म ऊपर तीन प्रकारके बताये हैं—सम्मूर्त्तन गर्भ और उपपात। इनकी योनि—आधार स्थान सचित्तादिक तीन और इनके प्रतिपक्षी—उल्टे अचित्तादिक तीन तथा एक एकके मिश्ररूप तीन इस तरह कुल नौ हैं।

१—“अपरे वर्णयन्ति—सम्मूर्त्तनमेवैक सामान्यतो जन्म, तद्धि गर्भोपपाताभ्यां त्रिविध्यत इति” अर्थात् किसी किमीरा कहना है, कि सामान्यतया एक सम्मूर्त्तन ही जन्म है; उसीके गर्भ और उपपात वे दो विशेषण हैं। परन्तु ग्रन्थकारको यह बात इष्ट नहीं, क्योंकि ऐसा माननेसे जन्मोंकी त्रिविधता नष्ट हो जाती है। और कीट पतङ्ग वृक्षादिके शरीरको भी गर्भजन्म या उपपातजन्म ही कहना पड़ेगा।

उनके नाम क्रमसे इस प्रकार हैं—सचित्ता, अचित्ता, सचित्ताचित्ता, शीता, उष्णा, शीतोष्णा, सृता, विवृता, सवृनविवृता ।

इन नौ प्रकारकी योनियोंमेंसे देवगति तथा नरकगतिमें जन्म धारण करनेवाले जीवोंकी योनि सचित्त अचित्त और उसके मिश्रके त्रिजमेंसे अचित्त ही होती है । गर्भ-जन्मवालोंकी मिश्र-सचित्ताचित्त होती है । तथा बाकीके जीवोंकी तीनों ही प्रकारकी—सचित्ता, अचित्ता, और सचित्ताचित्ता होती है । शीत उष्ण और उसके मिश्ररूप योनित्रय में से गर्भ-जन्मवाले तथा देवगतिके जीवोंके मिश्ररूप-शीतोष्णा योनि होती है, और तेज जायवाले जीवोंके उष्ण योनि होती है, किन्तु बाकीके जीवोंके तीनों ही प्रकारकी योनि हुआ करती है । सृत विवृत और उसके मिश्ररूप इन तीनोंमेंसे नरकगतिके तथा एजेन्द्रिय जीवोंके और देवोंके सवृत योनि ही हुआ करती है । गर्भ-जन्मवालोंके मिश्र-सवृतविवृत, किन्तु बाकीके जीवोंके तीनों ही-सवृत विवृत और सवृतविवृत योनि हुआ करती हैं ।

भाषार्थ—सतारी जीव पूर्व शरीरका नाश होनेपर उत्तर शरीरके योग्य पुद्गल त्रयको जिस स्थानपर पहुँचकर ग्रहण कर कार्मणशरीरके साथ मिश्रित करता है, उस स्थानको योनि कहते हैं । वह मूलमें सचित्तादिकके भेदसे नौ प्रकारका है, किन्तु उसके उत्तर भेद ८४ छात्र है । जोकि इस प्रकार हैं—नित्यनिगोद इतरनिगोद पृथिवीकाय जलकाय अशिकाय वायुकाय इन छहमेंसे प्रत्येकका सात सात लाख, वनस्पतिकायके १० लाख, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय इनमें प्रत्येकके दो दो लाख, शेष तिर्यच्च देव और नारकी इनमें प्रत्येक के चार चार लाख, तथा मनुष्योंके १४ लाख ।

नौ प्रकारकी योनियोंमेंसे किम किम जन्मवालेके कौन कौनसी योनि होती हैं, सो ऊपर बताया जा चुका है । जो जीवके प्रदेशोंसे युक्त हो उसको सचित्त और जो जीवके प्रदेशोंसे रहित हो, उसको अचित्त तथा जिसका कुछ भाग जीवके प्रदेशोंसे युक्त हो और कुछ भाग उनसे रहित हो, उसको मिश्र-सचित्ताचित्त योनि कहते हैं । शीत उष्ण और उसके मिश्रका अर्थ स्पष्ट है । सवृत शब्दका अर्थ प्रच्छन्न-अप्रकट है, इससे विपरीत-प्रकट योनिको विवृत कहते हैं । तथा जिसका कुछ भाग प्रकट और कुछ भाग अप्रकट हो उसको मिश्र-सवृतविवृत समझना चाहिये ।

ऊपर गर्भ-जन्मवालोंकी सचित्ताचित्तरूप मिश्र योनि बताई है, वह इस प्रकार है, कि जो पुद्गल योनिसे सम्बद्ध हैं, वे सचित्त हैं और जो तत्स्वरूप परिणत नहीं हुए हैं, वे अचित्त हैं । ये

१—विधिदरयानुसृत य तदसं विचलिदियेसु छचेव । गुरणिरयतिरियचउरो बोहस मणुए सदसहरसा ॥ ८९ ॥।
—गा० जी० । १—इस विषयमें किसी किमीका कहना है, कि माताका रज सचित्त है, और पिताका बीर्य अचित्त, अतएव दोनोंके सयोगसे गर्भ-जन्म वालोंकी मिश्र-सचित्ताचित्त योनि होती है । तथा किसी किसीका कहना है, कि इन्द्रोष्णित दोनों ही अचित्त हैं, किन्तु योनिके प्रदेश सचित्त हैं, अतएव उनका सयोगसे मिश्र योनि हुआ करती है ।

दोनों ही पुद्गल गर्भ—जन्मके आधार हैं, अतएव उसकी मिश्र योनि कही जाती है। इसी प्रकार अन्य योनियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। जिस कायकी जातिके जितने भेद है, उतने ही उसकी योनिके भेद होते हैं, जैसे कि पृथिवीकायके सात लाख। इसी तरह अपनी अपनी जातिके भेदसे अन्य योनियोंके भेद समझने चाहिये। किंतु वे भेद अपने मूलभेदको छोड़कर नहीं रहा करते, यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये।

ऊपर जन्मके तीन भेद बताये हैं। उनके आधाररूप योनियोंके भेद प्रभेद गिनाये, किंतु अभीतक यह नहीं बताया, कि किस किस जीवके कौन कौनसा जन्म होता है—उन जन्मोंके स्वामी कौन हैं? अतएव इस बातको बतानेके लिये ही आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जरायवण्डपोतजानां गर्भः ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—जरायुजानां मनुष्यगोमृत्पाजाविकाश्वखरोष्ट्र मृगचमरवरहाहगव्यासिंह व्याघ्रर्क्षद्वीपिष्वशृगालमार्जारादीनाम् । अण्डजाना सर्पगोधाकृकलाशगृहकोकिलिकामत्स्य-कूर्मनकाशिशुमारदीना पक्षिणा च लोमपक्षाणां हसचापशुकृमृधश्येनपारावतकाकमयूरम हुबकबलाकादीनां । पोतजाना शल्लकहस्तिश्वाविह्लापकशशारिका नकुलसृषिकादीनां पक्षिणा च चर्मपक्षाणा जल्लका बल्लुलिभारण्डपक्षिविरालादीनां गर्भो जन्मेति ।

अर्थ—मनुष्य गौ बैल भैंस बकरी भेद घोडा गधा ऊट हिरण चमरी गौ शूकर नीलगाय सिंह व्याघ्र भालू गेंडा कुत्ता शृगाल बिल्ली आदिक जीव जरायुज है। सर्प गोह गिरगिट या त्रिफली तथा गृहकोकिलिका मउली कटुआ मगर घड़ियाल आदि जीव अण्डज है। एव लोमपक्षवाले पक्षियोंमें हस नीलकण्ठ तोता गीध बाज कबूतर कौआ मोर टिट्टिमबक बलाका आदि जीव भी अण्डज ही हैं। और सेही हस्ती श्वाविह्लापक (चरक) खरगोश शारिका नकुल मूषक आदि जीव तथा पक्षियोंमें चर्मपक्षवाले जीव और जल्लका बल्लुली भारण्डपक्षी विडाल आदि जीव पोतज है। इन तीनों ही प्रकारके जीवोंका गर्भ—जन्म हुआ करता है।

भावार्थ—जरायुज अण्डज और पोतज इन तीन प्रकारके जीवोंका उपर्युक्त तीन तरहके जन्मोंमेंसे गर्भ—जन्म हुआ करता है। यह सूत्र दोनों ही प्रकारके नियमोंको दिखाता है, अर्थात् इन तीन तरहके जीवोंका गर्भ—जन्म ही होता है, एक तो यह, दूसरा यह कि इन तीन तरहके जीवोंका ही गर्भजन्म हुआ करता है।

जरायु नाम जेरका है, जो कि गर्भमें जीवके शरीरके चारों तरफ जालक्री तरह लिपटा रहता है। माता पिताका रज वीर्य नखकी त्वचाके समान कठिनताको धारण करके उस गर्भस्थ जीवके शरीरके चारों तरफ जो गोल आवरण बन जाता है, उसको अण्ड कहते हैं। शरीरके अवयवोंके पूर्ण होनेपर जिसमें चलने फिरनेकी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है, उसको पोत कहते हैं।

इन तीन प्रकारके जीवोंमेंसे जो जरायुज है, वे अभ्यर्हित हैं, उनमें क्रिया और आरम्भक शक्ति अधिक पाई जाती है, तथा उनमेंसे किसी किमीं महान् प्रभाव और मोक्षमार्गका फल भी पाया जाता है, अतएव उसका सबसे पहले ग्रहण किया है । जरायुजके अनन्तर अण्डजका ग्रहण इसलिये किया है, कि यह पोतरी अपेक्षा अभ्यर्हित होता है ।

कमानुसार उपपादनम्के स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—नारकदेवानामुपपातः ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—नारकाणां देवानां चोपपातो जन्नेति ।

अर्थ—नारकगति और देवगतिवाले जीवोंका उपपात जन्म होता है ।

भावार्थ—उपपात शब्दका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है । इस उपपातजन्मके स्वामी दो गतिवाले जीव—नारक और देव हैं । इस सूत्रका अभिप्राय भी दुतरफा नियम करनेका ही समझना चाहिये । अर्थात् एक तो यह कि—नारक देवोंके उपपातजन्म ही होता है, और दूसरा यह कि नारक देवोंके ही उपपातजन्म होता है ।

कमानुसार सम्मूर्धन-जन्मके स्वामियोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं —

सूत्र—शेषाणां सम्मूर्धनम् ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—जरायुण्डपोतजनारकदेवेभ्यः शेषाणां सम्मूर्धनं जन्म । उभयावधारण चात्र भवति ।—जरायुजाड़ीनामेव गर्भं, गर्भं एव जरायुजाड़ीनाम् । नारकदेवानामेवोपपातः, उपपातः एव नारकदेवानाम् । शेषाणामेव सम्मूर्धनम्, सम्मूर्धनमेव शेषाणांम् ॥

अर्थ—जरायुज अण्डज पोतन नारक और देव इतने जीवोंको छोड़कर बाकीने जीवोंके सम्मूर्धन-जन्म होता है । यहाँपर जन्मके स्वामियोंको बतानेका जो प्रकरण उपस्थित है, उसमें दोनों ही तरफसे नियम समझना चाहिये ।—जरायुजाटिके ही गर्भ-जन्म होता है, और जरायुजाटिके गर्भ-जन्म ही होता है । इसी तरह नारक देवोंके ही उपपातजन्म होता है, और नारक देवोंके उपपातजन्म ही होता है । तथा बाकीके जीवोंके ही सम्मूर्धन जन्म होता है, और बाकीके जीवोंके सम्मूर्धन-जन्म ही होता है ।

भावार्थ—ऊपर गर्भ और उपपातजन्मके जो स्वामी बताये हैं, उनके सिवाय समस्त ससारी जीवोंके सम्मूर्धन-जन्म ही होता है, तथा सम्मूर्धन-जन्म इन शेष ससारी जीवोंके ही हुआ करता है । ऐसा दुतरफा नियम समझना चाहिये । तीन प्रकारके जन्मोंके

१—दिगम्बर सिद्धान्तमें अभ्यर्हित और अभ्याज्यतर होनेसे नारक शब्दके पहले देव शब्दका पाठ माना है । किंतु श्रीसिद्धनेनगणी कहते हैं, कि ऐसा न करके नारक शब्दके पहले पाठ करनेसे जन्म दुखका कारण है, और वह नारकोंमें प्रकृष्टरूपसे है, इस अर्थके ज्ञापन करनेका अभिप्राय है ।

स्वामियोंको बतानेके लिये ऊपर जो तीन सूत्र दिये हैं, उनका अर्थ अनधारणरूप ही होना चाहिये और इन्तरफा अवधारण करनेसे व्यभिचार उपस्थित होता है, अतएव यहाँपर उभयतः अवधारण—नियम बताया गया है ।

पूर्वोक्त योनियोंमें उपर्युक्त जन्मके धारण करनेवाते जीवोंके शरीर कितने प्रकारके हैं और उनके क्या क्या लक्षण हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकर्मणानि शरीराणि ॥ ३७ ॥

भाष्यम्—औदारिक वैक्रिय आहारक तैजस कर्मणामित्येतानि पञ्च शरीराणि ससारिणां जीवाना भवन्ति ॥

अर्थ—औदारिक वैक्रिय आहारक तैजस और कर्मण ये पाँच शरीर संसारी जीवोंके हुआ करते हैं ।

भावार्थ—यह सूत्र ऐसा नियम बताता है, कि संसारी जीवोंके ये पाँच ही शरीर हुआ करते हैं । परन्तु इसका अर्थ यह न समझना चाहिये, कि जो संसारातीत हैं उनके पाँचसे अधिक भी होते हैं । क्योंकि यह संसारी जीवोंका ही प्रकरण है, अतएव शरीरका सम्बन्ध संसारी जीवोंके ही होता है । जो संसारातीत-मुक्त हैं, वे शरीर और कर्म दोनोंसे ही सर्वथा रहित हैं, अतएव उनके नियममें शरीरका विचार करना ही निरर्थक है ।

संसारी जीवोंके भी शरीर पाँच ही हैं, न कि कम ज्यादा । यद्यपि इस सूत्रमें शरीर शब्दकी जगह काय शब्दका पाठ करनेसे लाघव हो सकता था, परन्तु वैसा नहीं किया है, इसमें आचार्यका अभिप्राय अर्थ विशेषको व्यक्त करनेका प्रकट होता है । वह यह कि—यहाँपर शरीर शब्दको अन्वर्थ समझना चाहिये, केवल काय शब्दके अर्थका बोधक ही नहीं । जो विशरणशील है—जीर्ण होकर विरत जाता है, उसको शरीर कहते हैं । औदारिकादिक पाँचों ही में यह स्वभाव पाया जाता है, अतएव इनको शरीर कहते हैं । यथायोग्य समय पाकर ये आत्मासे सम्बन्ध छोड़कर पौद्गलिक वर्णारूपमें इतस्ततः बिखर जाते हैं ।

इन शरीरोंकी रचना अन्तरङ्गमें पुद्गलविपात्री शरीरनामकर्मके, उदयकी अपेक्षासे हुआ करती है । इसके पाँच भेद हैं—औदारिक वैक्रिय आहारक तैजस और कर्मण । औदारिक शरीरनामकर्मका उदय होनेपर जो उदार स्पूल और असार, पुद्गल द्रव्यके द्वारा बनता है, उसको औदारिक कहते हैं । वैक्रियशरीरनामकर्मका उदय होनेपर जो विक्रिया—विविधक-

१—किसी किसीने इस सूत्रका योग विभाग कर दिया है । वे इस सूत्रके “शरीराणि” इस वाक्यको ध्रुव-सूत्र मानते हैं । उनका अभिप्राय यह है, कि इस विषयमें धार्मिक विशेष वर्णन करना है, अतएव यह अधिकार मनु-व्यक्त ही है । किंतु सिद्धसेनगणी आदिको यह अभिप्राय इष्ट नहीं है ।

गता—बहुरूपता—अनेकस्वरूपकरणता और अणिमादिक अष्ट ऋद्धि तथा गुणोंसे युक्त पुद्गल-द्रव्यवर्गणाओंके द्वारा बनता है, उसको वैक्रिय कहते हैं । आहारकशरीरनामकर्मका उदय होनेपर विशिष्ट प्रयोजनके सिद्ध करनेमें समर्थ शुभतर विशुद्ध पुद्गलद्रव्य वर्गणाओंके द्वारा जो बनता है, और जिसकी कि स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है, उसको आहारक कहते हैं । तेजस् शब्दका अर्थ अग्नि है । तैजसशरीरनामकर्मका उदय होनेपर तेजो गुणयुक्त पुद्गल द्रव्य वर्गणाओंके द्वारा जो बनता है, उसको तैजसशरीर कहते हैं । यह दो प्रकारका होता है—लब्धिरूप और अलब्धिरूप । लब्धिरूप तैजस भी दो प्रकारका होता है—शुभ और अशुभ । गोशालकके समान जिसको तैजस लब्धि प्राप्त है, वह रोप—क्रोध आदिके वशीभूत होकर अपने शरीरके बाहर तैजस पुतला निकालता है, जो कि उष्ण गुणयुक्त होनेसे दूसरेका दाह करनेमें समर्थ हुआ करता है । इसको अशुभ तैजस कहते हैं, जो कि, शाप देने आदि अशुभ क्रिया करनेमें समर्थ होता है । प्रसन्न होनेपर वही तैजस शरीरका पुतला शीत गुणयुक्त निकला करता है । जो कि दूसरेका अनुग्रह करनेमें समर्थ हुआ करता है । इसको शुभ तैजस कहते हैं । अलब्धिरूप, तैजस शरीर पाचनशक्ति युक्त होता है । वह उपभुक्त आहारके पचानेमें समर्थ होता है । अष्टविध कर्मोंके समूहको कर्मणशरीर कहते हैं ।

इन पाँच शरीरोंकी परस्परमें विशेषता अनेक कारणोंसे बताई है, जो कि अन्तर्में देखनी चाहिये । यहाँपर औदारिकशरीरको स्थूल बताया है, इससे शेष शरीर सूक्ष्म हैं यह बात सिद्ध होती है । परन्तु वह सूक्ष्मता कैसी है, शेष चारों ही शरीरोंकी सूक्ष्मता महेश हे, अथवा विसदृश इम बातको बतानेके लिये सुन कहते हैं—

सूत्र—तेषां परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—तेषामौदारिकादिशरीराणां परं परं सूक्ष्मं वेदितव्यम् । तद्यथा—औदारिकादौ, त्रिचयं सूक्ष्मम् । वैक्रियादाहारकम् । आहारकतैजसम् । तैजसात्कर्मणमिति ॥

अर्थ—उपर्युक्त औदारिकादिक पाँच शरीरोंमेंसे पूर्व पूर्व शरीरकी अपेक्षा उत्तरोत्तर शरीरोंको सूक्ष्म सूक्ष्म ममप्रना चाहिये । अर्थात् औदारिक शरीरसे वैक्रियशरीर सूक्ष्म होना है,

१—कोई कोई आठ कर्मोंसे भिन्न ही कर्मणशरीरको मानते हैं । परन्तु यह बात नहीं है इसकी निश्चि इसी प्रकारसे है कि “कर्मभिर्निष्पन्न कर्मणुभव कर्मण वा कर्मणमिति ।” १०—जैसे कि राजवार्तिक अध्याय २ सूत्र ४९ की वार्तिकमें कहा है कि—“सद्भास्वालक्ष्ण्यस्वरारणस्वामित्वसामर्थ्यप्रमाणक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरसद्व्याप्रदेशभावान्त्व बहुत्वादिभिर्विशेषोऽवसेय” अर्थात् सद्भास्वालक्षण कारण स्वामित्व सामर्थ्य प्रमाण क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर सख्या प्रदेश भाव और अल्प बहुत्व इन १४ हेतुओंसे और इनके सिवाय अन्य भी हेतुओंसे जैसे कि प्रयोजन अथवा पुण्यत्व अपुण्यत्व आदिकी अपेक्षासे भी इन शरीरोंकी परस्परकी विक्षपता समझ लेनी चाहिये । इन चौदह बातोंका खलसा राजवार्तिकमें ही देखना चाहिये, जिनके कि द्वारा उक्त और अनुक्त अर्थका बोध होता है । ३—तेषामिति वचिन्नास्ति ।

वैक्रियसे आहारकं सूक्ष्म होता है, आहारकसे भी तैजस सूक्ष्म होता है, और तैजससे भी कर्मणशरीर सूक्ष्म होता है ।

भावार्थ—यहाँपर सूक्ष्म शब्दसे आपेक्षिकी सूक्ष्मता ग्रहण करनी चाहिये, न कि सूक्ष्म-नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाली सूक्ष्मता । जो चर्म चक्षुओंके द्वारा देखी न जा सके, अथवा जो दूसरेसे न रुके और न दूसरेको रोके ऐसी चक्षुरिन्द्रियागोचर पुद्गलद्रव्यकी पर्यायको सूक्ष्म कहते हैं । मनुष्य और तिर्यचोका शरीर स्वभावसे ही देखनेमें आता है, अतएव वह सबसे अधिक स्पृष्ट है । किंतु बौद्धिक शरीर दिखानेपर विक्रिया द्वारा देखनेमें आ सकता है, स्वभावसे ही देखनेमें नहीं आता, अतएव वह औदारिककी अपेक्षा सूक्ष्म है, किंतु आहारककी अपेक्षा स्पृष्ट है । इसी लिये इसकी सूक्ष्मता आपेक्षिकी सूक्ष्मता कही जाती है । इसी तरह वैक्रियसे आहारक, आहारकसे तैजस और तैजससे कर्मणशरीर सूक्ष्म है । कर्मणशरीरमें अन्त्य-सबसे अधिक सूक्ष्मता है । क्योंकि जिन पुद्गलवर्गणोंके द्वारा इन शरीरोंकी रचना होती है, उनका प्रचय उत्तरोत्तर अधिकाधिक सूक्ष्म और घनरूप है, किंतु कर्मणशरीरका प्रचय सनसे अधिक सूक्ष्म घनरूप है ।

इन शरीरोंमें जन उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, तो इनके प्रदेशोंकी सख्या भी उत्तरोत्तर कम-कम होगी, ऐसी आशङ्का हो सकती है । अतएव इस शक्यकी निवृत्तिके लिये सूत्र कहते हैं।—

सूत्र—प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक् तैजसात् ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—तेषां शरीराणां परं परमेव प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं भवति प्राक् तैजसात् । औदारिकशरीरप्रदेशेभ्यो वैक्रियशरीरप्रदेशा असंख्येयगुणा वैक्रियशरीरप्रदेशेभ्य आहारकशरीरप्रदेशा असंख्येयगुणा इति ।

अर्थ—यद्यपि उक्त शरीरोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता है, परन्तु उत्तरोत्तर ही इन शरीरोंके प्रदेश असख्यातगुणे असख्यागुणे हैं । किंतु यह असख्यातका गुणाकार तैजसशरीरसे पहले पहले ही समझना चाहिये । अर्थात् औदारिकशरीरके जितने प्रदेश हैं, उनसे असख्यातगुणे वैक्रियशरीरके प्रदेश होते हैं, और जितने वैक्रियशरीरके प्रदेश हैं, उनसे असख्यातगुणे आहारकशरीरके प्रदेश होते हैं ।

भावार्थ—यहाँपर यह शक्य हो सकती है, कि औदारिकशरीरका उत्कृष्ट प्रमाण एक हजार योजन है, और वैक्रियशरीरका प्रमाण एक लक्ष योजन । इसलिये औदारिकसे वैक्रियके प्रदेश असख्यातगुणे होंगे । परन्तु यह बात नहीं है, शरीरकी अवगाहनासे उसके

१—यहाँपर प्रदेशसे अभिप्राय परमाणुओंका नहीं है, स्व-घोका है, जो कि असख्यात अनन्त परमाणुओंसे प्रचित होते हैं । किंतु दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार प्रदेशका लक्षण इस प्रकार है—जावदिय आयासं भविभागी-पुमलाणुवृद्ध । त एव प्रदेशे जाणे सब्वाणुद्राणदाणरिह ॥ २५ ॥ (द्रव्यसमूह) अतएव प्रदेशसे परमाणुओंकी ही लिया है । यथा—“ प्रदेशा परमाण्वस्ततोऽसंख्येयगुणं ”, (—श्रीविद्यानन्दस्वामी—तत्त्वार्थश्रीवचार्तिक ।)

प्रदेशोंकी सख्याका कोई नियम नहीं है । क्योंकि औदारिककी उत्कृष्ट अवगाहनाके शरीरमें जितने प्रदेश हैं, उनसे भी वैक्रियकी जघन्य अवगाहनाके शरीरके प्रदेश असख्यातगुणे है । तथा उत्कृष्ट अवगाहनावाले वैक्रियशरीरके प्रदेशोंसे आहारकशरीरके प्रदेश असख्यातगुणे है । आहारकशरीरका प्रमाण एक हस्तमात्र ही होता है । जिस प्रकार समान परिमाणवाले रुई काष्ठ पत्थर और लोहेके गोलेके प्रदेशोंमें उत्तरोत्तर अधिकाधिकता है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । अन्तर इतना ही है, कि इन शरीरोंके प्रदेश उत्तरोत्तर सूक्ष्म भी है । सूक्ष्म-सूक्ष्मतर होकर भी इनके प्रदेश अधिकाधिक है, यही इनकी विशेषता है ।

तैजसशरीरके पहले शरीरोंके प्रदेश असख्यातगुणे असख्यातगुणे है, यह बात मालूम हुई, परन्तु तैजस और कर्मणशरीरके प्रदेशोंमें क्या विशेषता है, सो नहीं मालूम हुई । अनएव उसको बतानेके लिये सूत्र कहते है —

सूत्र—अनन्तगुणे परे ॥ ४० ॥

भाष्यम्—परे द्वे शरीरे तैजसकार्मणे पूर्वत पूर्वत प्रदेशार्थतयाऽनन्तगुणे भवत । आहारकात्तैजस प्रदेशतोऽनन्तगुणे, तैजसात्कार्मणमनन्तगुणमिति ।

अर्थ—अन्तके तैजस और कर्मण ये दो शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षासे आगे आगेके पहले पहलेसे अनन्तगुणे अनन्तगुणे है । अर्थात् आहारशरीरके जितने प्रदेश है, उनसे तैजसशरीरके प्रदेश अनन्तगुणे हैं, और जितने तैजसशरीरके प्रदेश है, उनसे अनन्तगुणे कर्मण-शरीरके प्रदेश हैं ।

भावार्थ—तैजस और कर्मणशरीरके प्रदेशोंका प्रमाण निकालनेके लिये अनन्तका गुणाकार है । आहारकसे तैजस और तैजससे कर्मणके प्रदेश अनन्तगुणे है, किंतु फिर भी ये दोनों शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर है ।

इसके सिवाय अन्तके इन दो शरीरोंमें और भी जो विशेषता है, उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्र—अप्रतिघाते ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—एते द्वे शरीरे तैजसकार्मणे अन्यत्र लोकान्तात्सर्वत्राप्रतिघाते भवत ।

अर्थः—उपर्युक्त विशेषताके सिवाय तैजस और कर्मण इन दो शरीरोंमें एक और भी विशेषता है । वह यह कि—ये दोनों ही शरीर अप्रतिघात हैं—ये न तो किसीको रोकते ही हैं, और न किसीसे रुकते ही है—वज्रपटलके द्वारा भी इनकी गति प्रतिहत नहीं हो सकती । किंतु उनका यह अप्रतिघात सम्पूर्ण लोकके भीतर ही है । लोकके अन्तमें ये प्रतिहत हो जाते हैं । क्योंकि जीव और पुद्गल द्रव्यकी गति तथा स्थितिसे कारणभूत घर्ष और अघर्ष द्रव्य हैं, जोकि

सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हैं। लोकके अन्तमें उनका अभाव है। अतएव सहकारी निमित्तके न रहनेसे लोकके अन्तमें तैजस और कर्मणकी भी गति नहीं हो सकती।

औदारिक आदि तीन शरीरोंका सम्बन्ध कभी पाया जाता है, और कभी नहीं पाया जाता, ऐसा ही इन दो शरीरोंके विषयमें भी है क्या? इस शक्यको दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं.—

सूत्र—अनादिसम्बन्धे च ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—ताभ्या तैजसकार्मणाभ्यामनादिसम्बन्धो जीवस्येत्यनादिसम्बन्ध इति।

अर्थ—उक्त तैजस और कर्मण इन दो शरीरोंके साथ जीवका अनादिकालसे सम्बन्ध है। अतएव इन दो शरीरोंको अनादिसम्बन्ध कहा जाता है।

भावार्थ—जबतक ससार है, तबतक जीवके साथ इन दो शरीरोंका सम्बन्ध रहता ही है। ससारी जीव अनादिसे ही ससारी है, अतएव तैजस और कर्मणशरीरका सम्बन्ध भी अनादि है। यह अनादिता द्रव्यास्तिकनयकी अपेक्षासे समझनी चाहिये न कि पर्यायास्तिकनयकी अपेक्षासे। क्योंकि प्रवाहरूपसे इन दोनों ही शरीरोंके साथ जीवका अनादि कालसे सम्बन्ध पाया जाता है, किन्तु पर्यायास्तिकनयसे इनका सम्बन्ध सादि है। क्योंकि मिथ्यादर्शनादिक कारणोंके द्वारा प्रतिक्षण इनका बन्ध हुआ करता है, और इनकी स्थिति आदिक भी निश्चित है—निर्धत हैं। परन्तु इनके बन्धका प्रारम्भ अमुक समयसे हुआ है, यह बात नहीं है। जैसे खानके भीतर सुवर्ण पापाणका मलके साथ स्वन स्मभावसे ही सम्बन्ध है और वह अनादि है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। अतएव तैजस और कर्मणका जीवके साथ, अनादिसम्बन्ध भी है, और सादिसम्बन्ध भी है, इस बातको दिखानेके लिये ही सूत्रमें च शब्दका पाठ किया है।

यद्यपि इन दोनों शरीरोंका सम्बन्ध अनादि है, परन्तु ये सभी ससारी जीवोंके पाये जाते हैं या किसी किसी के? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सर्वस्य ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—सर्वस्य चैते तैजसकार्मणे शरीरे ससारिणो जीवस्य भवतः। एके त्वाचार्या नयवावापेक्ष द्याचक्षते। कार्मणमेवैकमनादिसम्बन्धम्। तेनेवेकेन जीवस्यानादि सम्बन्धो भवतीति। तैजस तु लक्ष्यपेक्ष भवति। सा च तैजसलब्धिर्न सर्वस्य, कस्यचिदेव भवति। क्रोधप्रसादनिमित्तौ शापानुग्रहौ प्रति तेजोनिर्गमशीतरश्मिनिर्गमकर तथा भ्राजिष्णुप्रभाससुदयच्छायाविर्गतौ तैजस शरीरेषु मणिज्वलनज्योतिष्कविमानादिति।

१—औदारिकशरीरकी उल्लेख स्थिति ३ पत्र, वैकिकिकशरीरकी ३३ तैतीस सागर, आहारकरी अन्तमुहूर्त, तैजसकी छयासठ सागर, कर्मणशरीरकी सामान्यसे ७० कोडाकोडी सागर प्रमाण है। इसका विशेष वर्णन गोम्मट-सार जीवनाडमें देखना चाहिये। २—“पयडी सील सहावो जीवगाण अणादिसम्बन्धो। कणयोयले मल वा ताणात्थित्तं सयसिद्ध ॥ २॥ (गो० धर्मांड) ३—कहीं कहींपर क्रोध शब्दकी जगह क्रोप शब्दका पाठ है। परन्तु टीकाकारने क्रोध शब्द ही रक्खा है। ४—निर्गमक सशरीरेषु इत्येव पाठोऽयम्।

अर्थ—तैजस और कार्मण ये दो शरीर सभी ससारी जीवोंके रहा करते हैं । परन्तु कोई कोई आचार्य इस सूत्रको नयवादापेक्ष—नयवादकी अपेक्षासे कहा गया बताते हैं । उनका कहना है, कि एक कार्मणशरीर ही अनादिसम्बन्ध है । केवल उसीके साथ जीवका अनादिसे सम्बन्ध है, न कि तैजसशरीरके साथ । तैजसशरीर तो लब्धिही अपेक्षासे उत्पन्न हुआ कृतरा है, और वह तैजसलब्धि भी सभी जीवोंके नहीं हुआ करती, किन्तु किसी किसीके ही होती है । जैसा कि ऊपर शुभ और अशुभ तैजसके विषयमें लिखा गया है । शरीरके बाहर तैजस पुतला जिसके निमित्तसे निकला करता है, वही तैजसलब्धि है । कोपके आवेशसे शाप देनेके लिये उष्ण प्रभावाला अभिपुञ्जके समान स्फुलिङ्गोंसे युक्त जो पुतला निकलता है, वह अशुभ है, जैसा कि गोशालके निकला था । यह पुतला जिसके ऊपर छोड़ा जाता है, उसको तत्काल भस्म कर देता है । दूसरा शुभ तैजस है, जो कि किसीपर अनुकम्पा करनेके लिये मनकी प्रसन्नताके आवेशसे निकला करता है । इसकी किरणें शीतल हुआ करती हैं । जैसे कि मणिओंकी अथवा अन्धकारके दूर करनेवाले ज्वलन—तेजोविशेष की यद्वा चन्द्रमा आदिक ज्योतिष्क देवोंके विमानकी हुआ करती है । यह दैदीप्यमान प्रभासमूहकी छायाका उत्पादक है । यह पुतला जिसपर अनुग्रह करनेकी बुद्धिसे निकलता है, उसको इसके निमित्तसे सताप दूर होकर अत्यन्त सुखका अनुभव हुआ करता है । जैसे कि भगवान् महावीरने इस शीत तेजो निर्मर्गके द्वारा उसी गोशालकपर जिसका कि शरीर उष्ण लेश्याके द्वारा व्याप्त हो रहा था, अनुग्रह किया था ।

इस तरह कोई कोई तैजस शरीरको लब्धिप्रत्यय ही मानते हैं, और इसी लिये उसको नित्यसम्बन्ध नहीं मानते । इस विषयमें भी दो अभिप्राय प्रकट समझने चाहिये,—एक तो यह कि ऐसा आचार्योंका अभिप्राय नहीं है, क्योंकि यह बात दूसरेका अभिप्राय करके उपस्थित की गई है । दूसरा किसी किसीका यह कहना है, कि यह आचार्योंका ही अभिमत है ।

भावार्थ—इस विषयमें किसी किसीका तो कहना है, कि तैजसशरीर नित्यसम्बन्ध नहीं है, वह लब्धिप्रत्यय होनेसे किसी किसीके ही होता है, सबके नहीं होता । उपभुक्तआहारको पचानेकी शक्ति कार्मणशरीरमें है, और उसीके द्वारा वह कार्य हो जाता है । किन्तु अन्य आचार्योंका कहना है, कि ग्रन्थकारका यह आशय नहीं है । कार्मणकी तरह तैजस भी नित्यसम्बन्ध है, और वह भी सभीके रहता है, भाष्यकारको भी यही बात इष्ट है ।

इन दोनों शरीरोंका सम्बन्ध अनादि है, वह सभी जीवोंके युगपत् पाया जाता है । इसी तरह अन्य शरीर भी एक जीवके एक ही कालमें पाये जाते हैं या नहीं ? यदि पाये जाते हैं, तो उक्त पाँच शरीरोंमेंसे कितने शरीर युगपत् एक जीवके रह सकते हैं ? इसी बातको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्या चतुर्भ्यः ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—ते आदिनी एषामिति तदादीनि । तेजसकर्मणे यावत्ससारभाविनी आदि कृत्वा शेषाणि युगपदेकस्य जीवस्य भाज्यान्या चतुर्भ्यः । तद्यथा—तेजसकर्मणे वा स्याताम्, तैजसकर्मणोदारिकाणि वा स्युः, तैजसकर्मणवैक्रियाणि वा स्युः, तैजसकर्मणोदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, तैजसकर्मणादारिकाहारकाणि वा स्युः । कर्मणमेव वा स्यात्, कर्मणोदारिके वा स्याताम्, कर्मणवैक्रिये वा स्याताम्, कर्मणोदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, कर्मणोदारिकाहारकाणि वा स्युः, कर्मणतैजसौदारिकवैक्रियाणि वा स्युः, कर्मणतैजसौदारिकाहारकाणि वा स्युः न तु कदाचित् युगपत् पञ्च भवन्ति, नापि वैक्रियाहारके युगपद्भवत स्वाभिविशेषादिति चक्ष्यते ।

अर्थ—तैजस और कर्मण ये दो शरीर सम्पूर्ण ससारमें रहनेवाले हैं । अतएव इन दोनोंको आदि लेकर—ये दोनों हैं, आदिमें जिनके ऐसे शेष औदारिक आदि शरीर एक जीवके एक कालमें चार तक हो सकते हैं ।

भावार्थ—“ तदादीनि ” इस शब्दका दो प्रकारसे विग्रह हो सकता है, एक तो “ ते आदिनी एषाम् ” यह, जैसा कि यहाँपर भाष्यकारने किया है, दूसरा “ तत्—कर्मणम् आदि येषाम् ” यह, क्योंकि तैजसके विषयमें प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान ये दो पक्ष हैं । भाष्यकारने जो विग्रह किया है, उसके “ ते आदिनी ” इस द्विवचनान्त पदसे तैजस और कर्मण ये दोनों उनको विवाक्षित है, यह बात स्पष्ट होती है । इसी लिये उन्होंने इन दोनोंको ही मेढीभूत करके “ तैजसकर्मणे यावत्ससारभाविनी ” इस वाक्यके द्वारा अपना अभिप्राय खुलासा कर दिया है । अतएव आचार्यको तैजसशरीरका अप्रत्याख्यान पक्ष ही इष्ट है, ऐसा प्रकट होता है । इस अप्रत्याख्यान पक्षमें पाँच शरीरोंमेंसे दोसे चार तक एक समयमें एक जीवके होनेवाले शरीरोंके पाँच विकल्प होते हैं । किंतु प्रत्याख्यान पक्षमें सात विकल्प होते हैं । क्योंकि इस पक्षमें तैजसशरीरका अभाव मानकर भी लब्धिकी अपेक्षा सद्भाव भी माना है । अप्रत्याख्यान पक्षमें यह बात नहीं है, क्योंकि इस पक्षमें तैजसशरीर सभी जीवोंके और सभी समयमें प्राय पाया ही जाता है । प्राय इसलिये कि विग्रहगतिमें आचार्यको भी वह लब्धिनिमित्तक ही इष्ट है । विग्रहगतिके सिन्धुय अन्य सम्पूर्ण अवस्थाओंमें वह बिना लब्धिके ही सर्वत्र सर्वदा अभीष्ट है । अतएव विकल्पोंके प्रयोग यहाँपर भाष्यकारने प्रत्याख्यान और अप्रत्याख्यान दोनों ही पक्षोंको लेकर दिखाये है । उनमेंसे पहले अप्रत्याख्यान पक्षके पाँच विकल्पोंको यहाँ पर दिखाते हैं—

१—यदि किसी जीवके एक साथ दो शरीर होंगे, तो तैजस और कर्मण ये ही दो होंगे । २—यदि तीन शरीर किसी जीवके एक साथ पाये जाँयेंगे, तो या तो तैजस कर्मण

१—आदिनी इति पाठान्तरम् । २—भाविनी इति षष्ठित पाठ । जिनके मतमें तैजसशरीर नहीं माना है वे “ तत् आदि येषां ” ऐसी निरुक्ति करते हैं ।

औदारिक ये तीन पाये जाँयगे । ३-अथवा तेजस कर्मण वैक्रिय ये तीन पाये जाँयगे । ४-यदि चार शरीर एक साथ किसी जीवके पाये जाँयगे, तो या तो तेजस कर्मण औदारिक वैक्रिय पाये जाँयगे ५-अथवा तेजस कर्मण औदारिक आहारक ये चार पाये जाँयगे ।

तेजसशरीरके प्रत्याख्यान पक्षमें भी पाँच विचल्य होते हैं, परन्तु इस पक्षमें लब्धिकी अपेक्षासे तेजसशरीरको माना भी है । इसलिये इस पक्षमें दो विचल्य बढ जाते हैं । अतएव कुल मिलाकर इस पक्षमें सात विचल्य होते हैं । उन्हींको यहाँपर क्रमसे दिताते हैं—

१-या तो किसी जीवके एक समयमें एक कर्मण ही पाया जायगा । २-यदि दो शरीर एक साथ होंगे, तो या तो कर्मण औदारिक होंगे । ३-अथवा कर्मण वैक्रिय ये दो होंगे । ४-यदि किसी जीवके एक साथ तीन शरीर होंगे, तो या तो कर्मण औदारिक वैक्रिय होंगे । ५-अथवा कर्मण औदारिक आहारक ये तीन होंगे । ६-लब्धिप्रत्यय तेजसशरीरकी अपेक्षासे किसी जीवके एकसाथ यदि शरीर पाये जाँयगे तो या तो कर्मण तेजस औदारिक वैक्रिय ये चार पाये जाँयगे । ७-अथवा कर्मण तेजस औदारिक आहारक ये चार पाये जाँयगे ।

कहनेका तात्पर्य यही है, कि किसी भी एक जीवके एक कालमें कभी भी पाँचों शरीर एक साथ नहीं पाये जा सकते, और न वैक्रिय तथा आहारक ये दो शरीर युगपत् किसी जीवके पाये जा सकते हैं । ये दोनों शरीर साथ साथ सम्भव क्यों नहीं है, इसका कारण इनके स्वामी अँकी विशेषता है । इस विशेषताका स्वरूप आगे चलकर बताया जायगा ।

इस प्रकार औदारिक आदि पाँचों शरीरोंका स्वरूप और उनमेंसे युगपत् एक जीवके कितने शरीरोंकी सम्भवता है, इस बातका वर्णन किया । परन्तु इन शरीरोंका प्रयोजन क्या है, सो नहीं मालूम हुआ । अतएव इस बातको बतानेके लिये अन्तिम शरीरके विषयमें कहते हैं कि—

सूत्र—निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—अन्त्यमिति सूत्रक्रमप्रामाण्यात्कर्मणमाह । तन्निरुपभोगम् । न सुखदुःखे तेनोपभुज्येते न तेन कर्म वध्यते न वेद्यते नापि निर्जायते इत्यर्थ । दोषाणि तु सोपभोगानि । यस्मात् सुखदुःखे तेरुपभुज्येते कर्म वध्यते वेद्यते निर्जायते च तस्मात्सोपभोगानीति ॥

अर्थ—अन्त्य शब्दसे कर्मणशरीरका ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि “ औदारिक वैक्रियाहारक ” इत्यादि सूत्रमें पाँच शरीरोंका जो पाठ किया है, वहाँपर सबके अन्तमें कर्मण शरीरका ही पाठ है । यह कर्मणशरीर उपभोग रहित होता है । क्योंकि इसके द्वारा सुख

१-उस चतुर्दश पूर्वके धारकके यह पाया जाता है, जिसके कि तेजसलब्धि उत्पन्न नहीं हुई है । २-क्योंकि आहारकलब्धि और वैक्रियलब्धिकी उत्पत्ति परस्परमें विरुद्ध होनेसे युगपत् नहीं हो सकता । ३-अध्याय २ सूत्र ४८ और ४९ ॥ लब्धिप्रत्यय वैक्रिय तो मनुष्य और तिर्यथ दोनोंके होता है, और आहारक चतुर्दश पूर्वधर सयन अप्रमत्तके होता है, इसादि विशेषताका वर्णन करेंगे ।

दुःखका उपभोग नहीं हुआ करता, न कर्मका बन्ध होता है, न कर्मफलका अनुभवन होता है, और न निर्जरा ही हुआ करती है। अतएव इसको निरुपभोग कहते हैं। इसके सिवाय बाकीके औदारिकादि चारों शरीर उपभोग सहित है। क्योंकि उनके द्वारा सुख दुःखका उपभोग होता है, कर्मोंका बन्ध होता है, उनके फलका अनुभवन होता है, और उनकी निर्जरा भी हुआ करती है। अतएव औदारिकादि चारों शरीरोंको सोपभोग समझना चाहिये।

भावार्थ—यहाँपर कर्मणशरीरके द्वारा उपभोगका जो निषेध किया है, सो उपभोग सामान्यका नहीं, किंतु उपभोग विशेषका किया है। उपभोगके साधन हाथ पैर इन्द्रियों आदि हैं सो वे कर्मणशरीरमें नहीं पाये जाते। जिस प्रकार औदारिकशरीरके द्वारा जीव मनोयोगके द्वारा विचारपूर्वक हिंसादि अशुभ और प्राणिरक्षणादिक शुभकर्म कर सकता है, या किया करता है, अथवा गमनागमनादि क्रिया किया करता है, यद्वा श्रोत्रादिक इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादिकको सुन सकता है, तथा और भी इष्ट या अनिष्ट विषयोंका सेवन कर सकता है, उस प्रकारका कोई भी कार्य कर्मणशरीरके द्वारा नहीं हो सकता। इसी प्रकार वैक्रिय आहारक और तैजसशरीरके विषयमें समझना चाहिये। क्योंकि औदारिकके समान ये भी तीनों सोपभोग ही हैं। वैक्रियशरीरके द्वारा भी आङ्गोपाङ्ग तथा निर्वृत्ति और उपकरणरूप इन्द्रियोंके स्फुट रहनेसे इष्टानिष्ट विषयोंका सेवन होता ही है, और आहारकशरीरके द्वारा भी अप्रमत्त मुनिका प्रयोजन सिद्ध होता ही है, तथा तैजसशरीरके द्वारा भी निग्रहानुग्रह यद्वा उपभुक्त आहारका पचन और उसके द्वारा सुरवा-दिका अनुभव होता ही है, इसी प्रकार बुद्धिपूर्वक किये गये कार्योंके द्वारा जैसा कर्मका बन्ध तथा आङ्गोपाङ्ग और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा कर्मके फलका अनुभवन एव तपस्या आदिके द्वारा जिस प्रकार कर्मोंकी निर्जरा औदारिकादि शरीरोंसे हुआ करती है, उस प्रकारके ये कोई भी कार्य कर्मणशरीरसे नहीं हो सकते। इसी लिये इसको निरुपभोग कहा है। अन्यथा विग्रहगतिमें कर्मयोग और उसके द्वारा कर्मबन्धका होना भी माना ही है। तात्पर्य इतना ही है, कि कर्मण-शरीरको निरुपभोग रहनेका अभिप्राय उपभोग सामान्यके निषेध करनेका नहीं उपभोग विशेषके निषेध करनेका ही है। अभिन्यक्त सुख दुःख और कर्मानुबन्ध अनुभव तथा निर्जरा कर्मणशरीरके द्वारा नहीं हो सकते, यही उसकी निरुपभोगता है।

इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि कर्मणशरीर कर्मोंके समूहरूप है, अतएव वह उपभोग्य तो हो सकता है, परन्तु उपभोजक नहीं हो सकता। दूसरी बात यह कि छद्मस्थ जीवोंका उपभोग असंख्यत समयसे कर्ममें नहीं हो सकता, परन्तु कर्मणशरीरका योग जहाँ

पर पाया जाता है, उस विग्रहगतिका काल चार समय तरुका ही है । इत्यादि कारणोंसे ही कर्मणशरीरको निरुपभोग कहा है ।

आहारकशरीर अप्रमत्तके होता है, अतएव उसके द्वारा उपभोग नहीं हो सकता, यदि इस प्रकारकी कोई शक्ता करे, तो वह ठीक नहीं है । क्योंकि उपभोगका और प्रमादका सहकर नियम-न्यासि नहीं है । उपभोगके होते हुए भी प्रमादका अभाव पाया जा सकता है । तच्च स्वरूपका वेत्ता विद्वान् शब्दादिक विषयोंको विना प्रमादके—उनमें मूर्छित हुए विना—राग द्वेष रहित उपेक्षा भावसे ही जान ले यह बात अममन नहीं है । अतएव अप्रमत्त मुनि भी आहारकशरीरके द्वारा शरीर तथा इन्द्रियोंके अभिव्यक्त हो जानेपर उसी प्रकारसे शब्दादिकका ग्रहणरूप उपभोग किया करता है ।

भाष्यम्—अत्रापि एषा पञ्चानामपि शरीराणां सम्मूर्च्छनादपि त्रिषु जन्मसु किं क जायत इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—उपर औदारिकादि पाँच प्रकारके शरीर और सम्मूर्च्छनादि तीन प्रकारके जन्मोंका वर्णन किया है । अतएव यह प्रश्न होता है, कि उन शरीरोंमें से कौनसा शरीर किस जन्ममें हुआ करता ? अर्थात् किस किस जन्मके द्वारा कौन कौनसा शरीर प्राप्त हुआ करता है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही सूत्र कहते हैं—

सूत्र—गर्भसम्मूर्च्छनजमाद्यम् ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—आद्यमिति सूत्रक्रमप्रामाण्याद्दौदारिकमाह । तद्गर्भं सम्मूर्च्छने वा जायते ।

अर्थ—आचार्योंने पाँच शरीरोंका पाठ सूत्र द्वारा जिस क्रमसे बताया है, उसमें सबसे पहले औदारिकका पाठ किया है । अतएव यहाँपर आद्य शब्दसे औदारिकका ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् औदारिकशरीर गर्भ अथवा सम्मूर्च्छनमें उत्पन्न हुआ करता है ।

भावार्थ—औदारिकशरीर गर्भ और सम्मूर्च्छन जन्ममें हुआ करता है, इतना अर्थ बतानेके लिये ही यह सूत्र है । किंतु इस सूत्रका अर्थ अवधारणरूप नहीं है, कि औदारिकशरीर ही गर्भ और सम्मूर्च्छनसे उत्पन्न होता है । क्योंकि तैजस और कर्मण भी उससे उत्पन्न होते हैं, तथा गर्भसे उत्पन्न होनेपर उत्तर कालमें लब्धिप्रत्यय वैक्रिय-शरीर और आहारकशरीर भी उत्पन्न होते हैं ।

क्रमानुसार औदारिकके अनंतर वैक्रियशरीरके जन्मको बताते हैं—

सूत्र—वैक्रियमौपपातिकम् ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—वैक्रियशरीरमौपपातिकं भवति । नारकाणां देवानां चेति ।

१—दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार अवधारण ही है । अन्यथा प्रयोग व्यर्थ ठहरता है । इस पद्यमें ऐसा ही अर्थ होता है, कि जो औदारिक है, वह गर्भ सम्मूर्च्छनसे ही उत्पन्न होता है, अथवा जो गर्भ सम्मूर्च्छनसे होता है, वह औदारिक ही है । अन्य शरीर गर्भ सम्मूर्च्छनसे उत्पन्न नहीं होते ।

शरीरको असावध कहते है। इसके सिवाय यह शरीर अन्याघाती होता है। इससे किसी भी पदार्थका व्याघात-विनाश नहीं होता, और न किसी अन्य पदार्थके द्वारा इसका ही व्याघात हो सकता है।

यह शरीर चौदह पूर्वके धारण करनेवाले मुनियोंके ही हुआ करता है। जिनकी पहले रचना हुई है, उनको पूर्ण कहते है। उनके उत्पादपूर्ण आदि चौदह भेद है। जो धारणा-ज्ञानके द्वारा इन चौदह पूर्वका आलम्बन लिया करते है, उनको चतुर्दश पूर्वधर कहते हैं। इसके दो भेद हैं—एक भिन्नाक्षर दूसरा अभिन्नाक्षर। भिन्नाक्षरको ही श्रुतकेवली कहते है। इनके श्रुतज्ञानमें सशय नहीं हुआ करता, और इसी लिये इनको कोई प्रश्न भी उत्पन्न नहीं होता, तथा इसी लिये—आलम्बनके न रहनेसे इनके आहारकशरीरका निर्वर्तन भी नहीं होता। जो अभिन्नाक्षर है, उन्हींके सशय और प्रश्नका आलम्बन पाकर आहारकशरीर निर्वृत्त हुआ करता है। क्योंकि उनका श्रुतज्ञान परिपूर्ण नहीं हुआ करता।

यह आहारकशरीर लब्धिप्रत्यय ही हुआ करता है। तपोविशेषता आदि पूर्वोक्त कारणोंसे ही उत्पन्न हुआ करता है। श्रुतज्ञानके किसी भी अत्यंत सूक्ष्म और अतिगहन विषयमें जब उस पूर्वधरको किसी भी प्रकारका सदेह होता है, तब उस विषयका निश्चय करनेके लिये वह भगवान् अरहतदेवके पादमूर्धमें जाना चाहता है। किंतु उस समय वे भगवान् यदि उस क्षेत्रमें उपस्थित न हों, किसी ऐसे अन्य विदेहादिक क्षेत्रमें हों, कि जहाँपर वह पूर्व धर औदारिकशरीरके द्वारा पहुँच नहीं सकता, तो अपनी अशक्यताके कारण वह इस लब्धि-प्रत्ययशरीरको ही उज्जीवित किया करता है, और जिन्होंने लोक अलोकका प्रत्यक्ष अवलोकन कर लिया है, ऐसे भगवान् अरहतदेवके निकट उसी शरीरके द्वारा जाकर और उनका दर्शन अभिवादन करके प्रश्न करता है, तथा पूछकर सशयकी निवृत्ति हो जानेपर पापपकका पराभव कर पुन उसी स्थानपर लौटकर आ जाता है, जहाँसे कि उस शरीरको तयार करके निकला था। वापिस आकर औदारिकशरीरमें ही वह प्रविष्ट हो जाता है। निकलनेसे लेकर औदारिकशरीरमें प्रवेश करनेतक आहारकशरीरको अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल लगता है। इस शरीरकी जघन्य अवगाहना एक हाथसे कुछ कम और उत्कृष्ट अग्गाहना पूर्ण एक हाथ प्रमाण हुआ करती है।

आहारकके अनंतर तेजसशरीरका पाठ है। यह भी लब्धिप्रत्यय हुआ करता है। इसका विशेष वर्णन पहले किया जा चुका है। जो तेजका विकार-अवस्था विशेषरूप है, उसको

१—व्याघातना अभिप्राय रोकना या रुकना है, आहारकशरीर सूक्ष्म होनेसे न किसीको रोकता न किसी से रुकता है। किंतु श्रीकानरने व्याघातना अर्थ विनाश ही किया है। २—“अतएव वेचिदपरितुष्यन्तः सूत्रमाभार्यकृतन्यासादधिष्मणीयते “ अङ्गवधुतस्यदिमा ” इति। ”

तैजसशरीर कहते हैं । उपभुक्तआहारका पचन कराना और निग्रहानुग्रह करना इसका कार्य है ।

पाँचवाँ कार्मणशरीर है, जोकि कर्मोंके विकार अथवा समूहरूप है । यह उपर्युक्त सभी शरीरोंका बीज और आधार है । क्योंकि यह सम्पूर्ण शक्तियोंको धारण करनेवाला है । समस्त सत्तारके प्रपचको यदि अकुरके समान समझा जाय, तो इस शरीरको उसका मूल बीजरूप समझना चाहिये, क्योंकि इसके आमूल नष्ट हो जानेपर जिनको मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है, उनके पुन सत्तारका अकुर उत्पन्न नहीं होता । यह शरीर सभी जीवोंके रहा करता है, यह बात पहले बता चुके हैं । इसकी उत्पत्ति कर्मसे ही हुआ करती है, जिस प्रकार बीजसे वृक्ष उत्पन्न होता है, परन्तु उस बीजकी उत्पत्ति भी पूर्व वृक्षसे ही हुआ करती है । उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । फिर भी यह सतानपरम्परा अनन्त ही न समझनी चाहिये, किसी किसीके निमित्त पाकर इसका अन्त भी हो सकता है । जैसे कि उस बीजके आग्निमें भुन जानेपर उसकी परम्परा भविष्यके लिये नष्ट हो जाती है । ज्ञानावरणादिक कर्म जो इसके बन्धमें कारण है, उनके मूल और उत्तर भेदोंका वर्णन आगे चलकर आठवें अध्यायमें किया जायगा । जिस प्रकार सूर्य स्वपरप्रकाशी है—वह अपने स्वरूपको और उसके सिवाय अन्य द्रव्योंको भी प्रकाशित किया करता है, उसी प्रकार कर्म भी कार्मणशरीरके उत्पन्न होनेमें कारण हैं, तथा उसके सिवाय अन्य औदारिक आदि शरीरोंके भी उत्पन्न होनेमें कारण हैं । जिस प्रकार सूर्यको प्रकाशित करनेवाला कोई अन्य पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार कार्मणशरीरके उत्पन्न होनेमें भी कर्मके सिवाय और कोई कारण नहीं है ।

उपर्युक्त तैजसशरीर और इस कार्मणशरीरका साधारणतया जन्य प्रमाण अगुलके असख्यातावे भाग मात्र और उत्कृष्ट प्रमाण औदारिकशरीरकी बराबर ही समझना चाहिये । परन्तु विशेष अवस्थामें—समुद्रातके समय इनका प्रमाण अधिक हो जाया करता है । केवली भगवान्के समुद्रातके समय लोककी बराबर इनका प्रमाण हो जाता है, और मारणान्तिक

१ दिगम्बर सिद्धान्तके अनुसार तैजसशरीर दो प्रकारका होता है, एक साधारण दूसरा लब्धिप्रत्यय । साधारण तैजस सभी ससारी जीवोंके रहा करता है, किन्तु लब्धिप्रत्यय किसी किसीके ही होता है । अतिशयित तपके द्वारा जो ऋद्धि विशेष प्राप्त होती है, उससे लब्धि कहते हैं । लब्धिप्रत्यय तैजस भी दो प्रकारका है—एक नि सरण रूप, दूसरा अग्नि सरणरूप । नि सरणरूप तैजस दो प्रकारका होता है, एक प्रशस्त दूसरा अप्रशस्त । प्रशस्त तैजस शरीरके दक्षिण भुजाके भागसे और अप्रशस्त वाम भुजाके भागसे निकलता है । जैसे कि आहारशरीर उतमाङ्ग—शिरसे निकलता है, अप्रशस्त तैजस अशुभ कपायसे प्रेरित होनेपर और प्रशस्त तैजस शुभ कपायसे प्रेरित होनेपर निकलता है । परन्तु जिस प्रकार अप्रशस्त तैजस अपना कार्य करके लौटकर योगीको भस्म कर देता है, जैसे कि द्वीपायनमुनिको (इनकी कथा हरिवंशपुराणमें है) किया था, उस प्रकार शुभ तैजस नहीं करता । वह वापिस आकर शरीरमें प्रवेश कर जाता है । किन्तु वह भी शुभकपायसे ही होता है । अतएव क्षीणकपाय महावीर भगवान् और गोशालकके मन्वन्धकी इस विषयकी कथा भी नदी मानी है ।

समुद्घातके समय इनकी लम्बाई लोकके अन्ततक की हो सकती है। अन्य समुद्घातोंके समयका प्रमाण जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाणके मध्यका समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—उपर्युक्त शरीरोंके वाचक औदारिक वैक्रिय आदि पदोंको कैसा समझना चाहिये ? अर्थात् ये पद अन्वर्थ हैं—अर्थके अनुसार प्रयुक्त है, अथवा यादृच्छिक हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें आचार्य—भाष्यकार ये शब्द यादृच्छिक नहीं हैं, किंतु अन्वर्थ हैं, इस आशयको प्रकट करनेके लिये क्रमसे उनका अर्थवत्ताको दिखाते हैं।

औदारिक शब्दके अनेक अर्थ हैं। उदार शब्दसे औदारिक बनता है, उद्गत—उत्कृष्ट है, आरा—छाया जिसकी और जो शरीरमें उदार—प्रधान है, उसको औदारिक कहते हैं। क्योंकि तीर्थंकर और गणधरादि महान् आत्माओंने इसीको धारण किया है, और इसीके द्वारा जगत्का उद्धार किया है। तीन लोकमें तीर्थंकरोंके शरीरसे अधिक उत्कृष्ट शरीर और किसीका भी नहीं होता। अथवा उत्कृष्ट—उत्कृष्ट है, आरा—मर्यादा—प्रमाण जिसका उसको औदारिक कहते हैं। क्योंकि औदारिकशरीरका अवस्थित प्रमाण एक हजार योजनसे भी कुछ अधिक माना गया है। इससे अधिक अवस्थित प्रमाण और किसी भी शरीरका नहीं होता। वैक्रियशरीरका उत्कृष्ट अवस्थित प्रमाण पाँचसौ धनुषका ही है। यद्वा उदार शब्दका अर्थ उद्गम—प्रादुर्भाव—उत्पत्ति भी होता है। जिस समय जीव अपने इस औदारिकशरीरके उपादान कारणरूप शुक्र शोणितका ग्रहण करता है, उसी समयसे प्रतिक्षण वह अपने स्वरूपको न छोड़कर अपनी पर्याप्तिकी अपेक्षा रखनेवाली उत्तरोत्तर व्यवस्थाको प्राप्त हुआ करता है, ऐसा एक भी क्षण वह नहीं छोड़ता, जिसमें कि वह अवस्थान्तरको धारण न करता हो। वय-परिणामके अनुसार उसकी मूर्ति प्रतिसमय बढ़ती हुई नजर आती है। इसमें जरा—वृद्धावस्था—वयोहानिकृत अवस्था विशेष और शीर्णता—सन्धि बन्धनादिकका शिथिल होना चर्ममें वलि—सरवटोंका पट जाना और शिथिल होकर लटकने लगना आदि अवस्था पाई जाती है, और यह शरीर ऐसे परिणामको भी प्राप्त हुआ करता है, जिसमें कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ अपने अपने विषयको ग्रहण करनेकी शक्तिसे शून्य हो जाया करती है। इसी तरहके और भी अनेक परिणामन हुआ करते हैं। इस तरहसे इसमें बार बार और अनेक उदार—उद्गम पाये जाते हैं, अतएव इसको औदारिक कहते हैं, ये सब बातें अन्य किसी भी शरीरमें नहीं पाई जाती। अथवा उदार से जो हो उसको औदारिक कहते हैं।

१—इस विषयमें टीकाकारने लिखा है कि—“ ननु च शरीरप्रकरणप्रथमसूत्रे एतत् भाष्य युक्तं स्यात्, इह तु प्ररूपा ताभिज्ञानेन किञ्चित् प्रयोजनं वैशिष्ट्यमस्तीति।—उच्यते—तदेवमय मन्यते, तदेवेदमादिसूत्रमात्रप्रकरणपरिणामात् प्रपञ्च्यते। अथवा प्रकरणान्ताभिधाने सत्यमेव न किञ्चित् फलमस्यसूत्रार्थत्वात् अतः क्षम्यतामेवमाचार्यस्येति।

२—उदारमेव औदारिकम्, इह निश्चितके अनुसार स्वार्थमें उन् प्रयय होत्र यह शब्द बनता है।

जिस प्रकार मांस आदि सम्पूर्ण धर्म औदारिकके भेदोंमें पाये जाते हैं, वैसी कोई भी विशेषता वैक्रियादि किसी भी अन्य शरीरमें नहीं पाई जाती। औदारिकशरीरमें मांस अस्थि क्रायु आदि भी पाये जाते हैं, जोकि अन्यत्र कहीं भी नहीं रहते। औदारिकशरीर हाथोंसे परुडकर स्थानान्तरको ले जाया जा सकता है, या अन्यत्र जानेमें वहाँ रोका जा सकता है, इन्द्रियोंके द्वारा भी वह ग्रहण करनेमें आता है। फरशा आदिके द्वारा उसका छेदन और कर्षण आदिके द्वारा भेदन तथा अग्नि आदिके द्वारा दहन हो सकता है। इसी प्रकार वायु वेगना निमित्त पाकर वह उड़ सकता है। इत्यादि अनेक प्रकारके उदारण-विदारण अन्य शरीरोंमें नहीं पाये जाते, इसलिये भी इसको औदारिक कहते हैं। क्योंकि वैक्रिय आदि शरीरोंमें मांस अस्थि तथा मांस्य आदि विशेष नहीं पाये जाते। अथवा यह शरीर स्थूल होता है। क्योंकि उदार यह नाम स्थूलका भी है। स्थूल उद्गत पुष्ट बृहत् और महत् ये शब्द उदारके ही पर्यायवाचक हैं। जो उदार है, उसीको औदारिक कहते हैं। फलतः—इसमें प्रदेश अल्प होते हैं, इसका प्रमाण अधिक माना है, शुक शोणित आदि वस्तुओंके द्वारा इसकी रचना हुआ करती है, तथा इसमें प्रति क्षण वृद्धिका होना पाया जाता है, और इसका उत्कृष्ट अवस्थित प्रमाण एक हजार योजनसे भी अधिक है, इत्यादि कारणोंसे ही इसको औदारिक कहते हैं। ये सब धर्म अन्य वैक्रिय आदि शरीरोंमें नहीं पाये जाते। क्योंकि औदारिकके अनन्तर वैक्रिय आदि सभी शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं यह बात पहले बताई जा चुकी है।

औदारिकके अनन्तर वैक्रियशरीरका स्वरूप बताते हैं।—विक्रिया विकार विकृति और विकरण ये शब्द एक ही अर्थके बोधक-पर्यायवाचक हैं। विशिष्ट क्रियाको विक्रिया, प्रकृत स्वरूपसे अन्य स्वरूप होनेको विकार, विचित्र कृतिको विकृति और विविध रूप अथवा चेष्टाओंके करनेको विकरण कहते हैं। इस प्रकार यद्यपि ये शब्द भिन्न भिन्न अर्थके बोधक हैं, फिर भी पर्यायवाचक इस लिये हैं, कि इन सभी शब्दोंका अर्थ वैक्रियशरीरमें घटित होता है। इसी बातको दिखानेके लिये भाष्यकार आगे स्फुट व्याख्या करते हैं।—यह शरीर इसलिये वैक्रिय है, कि इसमें विविध क्रियाएँ पाई जाती हैं, यह एक होकर अनेकरूप हो जाता है, और अनेक होकर पुन एकरूप हो जाता है, अणुरूप होकर महान् बन जाता है, और महान् बनकर पुन अणुरूप बन जाता है, एक आकृतिको धारण करके अनेक आकृतियोंको धारण करनेवाला बन जाता है, और अनेकाकृति बनकर एक आकृतिके धारण करने वाला भी बन जाता है, इसी प्रकार अदृश्यसे अदृश्य बन जाता है, और अदृश्यसे दृश्य बन जाता है, भूमिचरसे खेचर बन जाता है, और खेचरसे भूमिचर बन जाता है, प्रतिघातसे

१—च शब्द वधना अर्थमें आया है। २—उदारमेव औदारिकम् स्वार्थे ठुनप्रत्ययविगानात् ॥

३—भूमिपर चलनेवाले मनुष्य तीर्थेच । ४—आकाशमें उड़नेवाले पक्षी आदि ।

अप्रतिघाति हो जाता है और अप्रतिघातिसे प्रतिघाति हो जाता है। ये सभी भाव वैक्रियशरीरमें युगपत् पाये जा सकते हैं, यह उसकी विशेषता है। यह बात अन्य शरीरमें नहीं पाई जा सकती। जो विक्रियामें रहे अथवा विक्रियामें उत्पन्न हो, यद्वा विक्रियामें सिद्ध क्रिया जाय, उसको वैक्रिय कहते हैं। अथवा विक्रियाको ही वैक्रिय कहते हैं। ये सब वैक्रिय शब्दके निरुक्ति सिद्ध अर्थ हैं। फिर भी ये औदारिक आदिसे विशिष्टता दिखानेवाले लक्षणरूप अर्थ समझने चाहिये। क्योंकि शास्त्रोंमें वैक्रियशरीरका विशेष स्वरूप दिखानेके लिये इन्हीं भावोंका अधिक खुलासा करके बताया गया है।

आहारक—सशयका दूर करना या अर्थविशेषका ग्रहण करना, अथवा ऋद्धिका देखना इत्यादि विशिष्ट प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये जिसका ग्रहण क्रिया जाय, और कार्यके परा हो जानेपर जो टूट जाय, उस शरीर विशेषको आहारक कहते हैं। आहारकको ही आहार्य भी कहते हैं। इस शरीरकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी ही है। जिस प्रकार कोई मनुष्य किसीके यहाँसे कोई चीज माँगकर लवे, तो वह चीज काम निकलते ही वापिस कर दी जाती है। उसी प्रकार इस शरीरके विषयमें भी समझना चाहिये। आहारकशरीरके प्रकट होनेके समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही कार्य समाप्त हो जाता है, और उसके पूर्ण होते ही वह शरीर वापिस आकर औदारिकशरीरमें प्रवेश कर विघटित हो जाता है। जो कार्य इस शरीरका है, वह अन्य किसी भी शरीरके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता। अतएव यह कार्यविशेषता ही उसका लक्षण समझना चाहिये।

तैजस—इसके विषयमें पहले भी कहा जा चुका है। उष्णता है लक्षण जिसका, और जो उपभुक्त आहारको पकानेवाला है, वह प्राणिमात्रमें रहनेवाला तेज प्रसिद्ध है। इस तेजके विकार—अवस्था विशेषको ही तैजस कहते हैं। अथवा वह तेजोमय है। उस तेजका स्वभाव अथवा स्वरूप यही है, कि उससे शापानुग्रहरूप प्रयोजनकी सिद्धि हुआ करती है। इसके कार्यको भी अन्य शरीर नहीं कर सकते। अतएव यह सबसे विलक्षण है।

कर्मण—ज्ञानावरणादिक अष्टविध कर्मके विकार—अवस्था विशेष—एकलौली भावके होनेको कर्मणशरीर कहते हैं। वह कर्म स्वरूप अथवा कर्ममय ही है। इसके कार्य आदिका भी पहले उल्लेख किया जा चुका है। वह कार्य भी अन्य शरीरके द्वारा नहीं हो सकता। इसलिये इसको भी सबसे विशिष्ट समझना चाहिये।

उपर औदारिक आदि शब्दोंको अन्वर्थ बताकर उनका भिन्न भिन्न अर्थ दिखाया, जिससे

१—विक्रिया एव वैक्रियम्, अथवा विक्रियायां भवम् वैक्रियम्। २—देखा भगवतीसूत्र, तृतीय शतक, ५ उद्देश, सूत्र १६१, अथवा १४ गतक, ८ वां उद्देश, सूत्र ५३१, तथा १८ शतक, ७ वां उद्देश, सूत्र ६३५। ३—कृत्यल्युद्योगहल्वचनात्।

किं वाँनो ही शरीरोंकी विशेषताका बोध होता है। इन उदार विचारण आहरण आदि विशिष्ट अर्थोंके होनेसे ही उक्त शरीरोंका नानात्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि घट पटादिकके समान सभी पदार्थोंके स्वरूपोंमें भिन्नताका रहना ही तो नानात्वका कारण हुआ करता है। स्वरूप भेदको ही लक्षणभेद भी कह सकते हैं। इस प्रकार यद्यपि लक्षणभेदके द्वारा शरीरोंका नानात्व सिद्ध हो चुका है, फिर भी शिष्यको विशिष्टरूपसे ज्ञान करानेके लिये भाष्यकार नौ प्रकारसे उन शरीरोंका नानात्व और भी सिद्ध करके बताते हैं। वे नौ प्रकार ये हैं—कारण विषय स्वामी प्रयोजन प्रमाण प्रदेशसत्या अवगाहन स्थिति और अल्पबहुत्व। क्रमसे इन्हीं विशेषोंका द्वारा शरीरोंके नानात्वको सिद्ध करते हैं।

कारण—मिन उपादान कारणरूप पुद्गलार्गणाओंके द्वारा इन शरीरोंकी रचना हुआ करती है, वे उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर हैं। औदारिकशरीरके कारणरूप पुद्गल सबसे अधिक स्थूल हैं। वैक्रियशरीरके उससे सूक्ष्म हैं और उनमें विविधकरणशक्ति भी पाई जाती है। इसी प्रकार आहारक आदिके विषयमें भी समझना चाहिये। यही कारणरूप विशेषता है।

विषय—विषयनाम क्षेत्रका है। अतएव कौनमा शरीर कितने क्षेत्रतक गमन कर सकता है, इस प्रकारकी विभिन्न शक्तिके प्रतिपादनको ही विषयभेद कहते हैं। यथा—औदारिकशरीरके धारण करनेवालोंमें जो विद्याधर हैं, वे अपने औदारिकशरीरके द्वारा नन्दीश्वर द्वीप पर्यन्त जा सकते हैं। परन्तु जो जहान्धारण ऋद्धिके धारण करनेवाले हैं, वे रुचक्र पर्वत पर्यन्त गमन कर सकते हैं। यह तिर्यक् क्षेत्रकी अपेक्षा विषय भेद है। ऊर्ध्व दिशामें औदारिकशरीरके द्वारा पाण्डुकवन-पर्यन्त गमन हो सकता है। वैक्रियशरीर असत्यात द्वीप समुद्र पर्यन्त जा सकता है, और आहारकशरीर केवल महाविदेहक्षेत्र तक ही गमन किया करता है। तैजस कर्मणशरीरका क्षेत्र सम्पूर्ण लोकाग्र है। ये दोनों लोकके भीतर चाहे जहाँ गमन कर सकते हैं।

स्वामी—ये शरीर किसके हुआ करते हैं, इसके निरूपणको ही स्वामिभेद कहते हैं। यथा—औदारिकशरीर ससारी प्राणियोंमेंसे मनुष्य और तिर्यचोंके ही हुआ करता है। वैक्रिय शरीर देव और नारकोंके ही होता है, परन्तु किसी किसी मनुष्य और तिर्यचके भी हो सकता है, जिसको कि वैक्रियलब्धि प्राप्त हो जाया करती है। आहारकशरीर भ्रतुर्दशपूर्वके धारण करनेवाले सयमी मनुष्यके ही हुआ करता है। तैजस और कर्मण ससारी जीवमात्रके हुआ करते हैं।

प्रयोजन—जिसका जो असाधारण कार्य है, वही उसका प्रयोजन कहा जाता है। जैसे कि औदारिकशरीरका प्रयोजन धर्माधर्मका साधन अथवा केवलज्ञानादिकी प्राप्ति होना है।

१—जम्बूद्वीपमें लेकर स्वयम्भूरमणनक असायान द्वीप समुद्र हैं। उभोंमें आठवें द्वीपका नाम नन्दीश्वर है। इसका रचना और विस्तार राजवार्तिक आदि ग्रंथोंमें दृक्की बाधिये।

यह कार्य अन्य शरीरके द्वारा नहीं हो सकता । इसी प्रकार वैक्रियशरीरका प्रयोजन स्थूल सूक्ष्म अथवा एक अनेक आदि रूप धारण करना पृथ्वी जल और आकाशमें गमन करना तथा अणिमा महिमा आदि ऋद्धियोंकी प्राप्ति होना इत्यादि विभूति-ऐश्वर्यका लाभ होना ही वैक्रियशरीरका असाधारण कार्य—प्रयोजन है । इसी प्रकार आहारकशरीरका प्रयोजन है, कि सूक्ष्म व्यवहित और दुरवगाह पदार्थोंके विषयमें उत्पन्न हुई शकाओंका दूर होना । अथवा असयमका परिहाण होना आदि । आहारका पाक होना तथा शाप देने और अनुग्रह करनेकी शक्तिका प्रकट होना, तैजसशरीरका प्रयोजन है । कर्मणका प्रयोजन भवान्तर को जाना आदि है ।

प्रमाण—औदारिकशरीरका प्रमाण एक हजार योजनसे कुछ अधिक है । वैक्रियशरीरका प्रमाण एक लक्ष योजन है । आहारकशरीरका प्रमाण रत्नि-बद्धमुष्टि प्रमाण है । तैजस और कर्मणशरीरका प्रमाण लोकरुमात्र है ।

प्रदेशसंख्या—इसके विषयमें पहले कहा जा चुका है, कि तैजसशरीरके पहलेके शरीरोंके प्रदेश असंख्यातगुणे है, और अन्तिम दो शरीरोंके प्रदेश अनन्तगुणे^१ । अर्थात् औदारिकसे वैक्रियके और वैक्रियसे आहारकके प्रदेश तो असंख्यातगुणे है, परन्तु आहारकसे तैजसके और तैजससे कर्मणके प्रदेश अनन्तगुणे है ।

अवगाहना—इस अपेक्षासे पाँचों शरीरोंमें जो विशेषता है, वह पूर्वोक्त प्रमाणसे ही समझ लेनी चाहिये । जैसे कि औदारिककी अवगाहना एक हजार योजनसे कुछ अधिक, इत्यादि ।

स्थिति—समय प्रमाणको ही स्थिति कहते हैं । औदारिककी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन पल्यकी है । वैक्रियशरीरकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तेतीस सागर प्रमाण है । आहारकशरीरकी जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही प्रकारकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है । तैजस कर्मणकी स्थिति अभव्योंकी अपेक्षा अनाद्यनन्त और भव्योंकी अपेक्षा अनादिसान्त है ।

अल्प बहुत्व—हीनाधिक्यताको अल्प बहुत्व कहते हैं । पाँच शरीरोंमेंसे किस शरीरके धारण करनेवाले कम हैं, और किस शरीरके धारण करनेवाले अधिक हैं, इसके जाननेको ही अल्प बहुत्व कहते हैं । सबसे कम संख्या आहारकशरीरवालोंकी है । यह शरीर कभी होता है, कभी नहीं भी होता । क्योंकि इसका एक समयसे लेकर उह महीना तकका अन्तरकाल माना गया है । आहारकसे वैक्रियशरीरवालोंका प्रमाण असंख्यातगुणा

१—यह प्रमाण विक्रियाकी अपेक्षासे है, भूल शरीरकी अपेक्षासे नहीं । २—एक हाथसे कुछ कम, इसका अरुलि भी रहते हैं । ३—अध्याय २ सूत्र ३९-४० । ४—यहाँपर भी आद्युनी अपेक्षा न लेकर विक्रियाकी अपेक्षा समझना चाहिये । ५—यह सतानक्रमके अनुरोधसे और भव्यताकी अपेक्षासे है । अथवा अनन्त भव्य भी ऐसे हैं, जो कि अनन्तकालमें भी मुक्त न होंगे ।

है । वैक्रियसे औदारिकवालोंका प्रमाण असत्यातगुणा है । औदारिकसे तैजस कर्मणका प्रमाण अनन्तगुणा है ।

भाष्यम्—अत्राह—आसु चतसृषु ससारगतिषु को लिङ्गनियम इति । अत्रोच्यते ।—जीव स्यौद्यिकेषु भावेषु धारयायमानेषूक्तम्, त्रिविधमेव लिङ्गं स्त्रीलिङ्गं पुल्लिङ्गं नपुंसकलिङ्गमिति । तथा चारित्रमोहे नोकषायवेदनीये त्रिविध एव वेदो वक्ष्यते, स्त्रीवेदं पुवेदं नपुंसकवेदं इति । तस्मात्त्रिविधमेव लिङ्गमिति । तत्र—

अर्थ—प्रश्न—ससारी जीवोंके शरीरोंका लक्षण और नानात्व बताया, परन्तु ससारमें चार प्रकार जो गति बतई है—नारक तिर्यक् मानुष ओर देव, उनमें लिङ्गका नियम कैसा है, सो अभीतक मान्य नहीं हुआ, कि किस किस गतिमें कौन कौनसा लिंग पाया जाता है । अतएव अब इसी विषयको कहिये, कि इन गतियोंमें लिंगका नियम किस प्रकारका है । उत्तर—जीवके औद्यिकभावोंका व्याख्यान करते हुए यह बात पहले ही कही जा चुकी है, कि लिङ्ग तीन ही प्रकारका है—स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग नपुंसकलिङ्ग । इसी प्रकार चारित्रमोहनीयके भेद नोकषायवेदनीयके उदयसे तीन ही प्रकारका वेद हुआ करता है, स्त्रीवेद पुवेद नपुंसकवेद ऐसा भी आगे चलकर कहेंगे । अतएव यह सिद्ध है, कि लिंग तीन ही प्रकारके है ।

भावार्थ—पहले भी लिङ्गके तीन भेद बता चुके हैं, और आगे भी बतावेंगे, कि मोहनीयके दो भेद है—दर्शनमोह और चारित्रमोह । चारित्रमोहके दो भेद है—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय । नोकषायवेदनीय हास्यादिकके भेदसे नौ प्रकारका है । इन्हीं नौ भेदोंमें तीन वेदोंका वर्णन भी किया जायगा । जिसके उदयसे पुरुषके साथ रमण करनेकी इच्छा हो, उसको स्त्रीवेद कहते हैं । जिसके उदयसे स्त्रीके साथ सभोग करनेकी अभिलाषा हो, उसको पुरुषवेद कहते हैं । जिसके उदयसे दोनों ही प्रकारकी अभिलाषाएँ हों, उसको नपुंसकवेद कहते हैं । इस प्रकार तीन वेदोंका स्वरूप प्रसिद्ध है । अतएव गतिभेदके अनुसार इन लिंगोंकी इयत्ताका निर्णय बताना आवश्यक है । इसीलिये प्रश्नकर्त्ताने भी यह न पूछ करके कि लिंग किसको कहते हैं, यही पूछा है, कि किस किस गतिमें कौन कौनसा लिङ्ग पाया जाता है । तदनुसार ही उत्तर देनेके लिये आचार्य भी सूत्र करते हैं, और बताते हैं कि इन तीन प्रकारके लिङ्गोंमेंसे—

सूत्र—नारकसम्पूर्त्तानो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

भाष्यम्—नारकाश्च सर्वे सम्पूर्त्तानश्च नपुंसकान्येव भवन्ति—न स्त्रियो न पुमान्स । तेषां हि चारित्रमोहनीयनोकषायवेदनीयाश्रयेषु त्रिषु वेदेषु नपुंसकवेदनीयमेवेकमशुभमिति नामापेक्ष पूर्ववद्भक्तिकाचित्तमुदयप्राप्त भवति, नेतरे इति ।

अर्थ—नारकगतिवाले सम्पूर्ण जीव और सभी सम्पूर्ण जन्म—धारण करनेवाले नपुंसक ही हुआ करते हैं । वे न तो स्त्री ही होते हैं, और न पुरुष ही होते हैं । उनके

चारित्र्यमोहनीयके भेद नोक्त्यायवेदनीय सम्बन्धी तीन वेदोंमेंसे एक नपुसकवेदनीयकर्मका ही उदय हुआ करता है, जो कि अपने उदयमें अशुभ गति नाम अशुभ गोत्र अशुभ आयुके उदयकी भी अपेक्षा रखता है, और जिसका कि पूर्वजन्ममें ही निःकाचितबन्ध हो जाता है ।

भावार्थ—जो ग्रहण करते ही आत्माके साथ इस तरह मिल जाता है, जैसे कि दूध पानी आपसमें एक होजाते हैं, ऐसे अध्यवसाय विशेषके द्वारा अविभागिरूपसे आत्मप्रदेशोंके साथ सम्बद्ध कर्मविशेषको ही निःकाचितबन्ध कहते हैं । नरकगति और सम्मूर्त्तन—जन्म धारण करनेवाले जीवोंके पूर्वजन्ममें ही नपुसकवेदका निःकाचितबन्ध होजाता है । इसका उदय अशुभ गति आदि कर्मोंके उदयके बिना नहीं हुआ करता । नरक और सम्मूर्त्तित जीवोंके यह निमित्त भी है, अतएव उनके नपुसकवेदका ही उदय हुआ करता है ।

जिन जीवोंमें नपुसकलिङ्गका सर्वथा अभाव पाया जाता है, उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—न देवाः ॥ ५१ ॥

भाष्यम्—देवाश्चतुर्निकाया अपि नपुसकानि न भवन्ति । स्त्रियं पुमासश्च भवन्ति । तेषां हि शुभगतितनामपेक्षे स्त्रीपुवेदनीये पूर्ववद्भिनिकाचिते उदयप्राप्ते द्वे एव भवत नैतरत् । पारिशेष्याच्च गम्यते जराद्यवण्डपोतजास्त्रिविधा भवन्ति—स्त्रियं पुमासो नपुसकानीति ।

अर्थ—चारों ही निकायके देव नपुसक नहीं हुआ करते । वे स्त्रीवेदी या पुरुषवेदी ही हुआ करते हैं, क्योंकि उनके शुभ गति नामकर्म शुभ गोत्र शुभ आयु और शुभ वेदनीय-कर्मके उदयकी अपेक्षासे स्त्रीवेद और पुवेदका ही उदय हुआ करता है, जिसका कि पूर्वजन्ममें ही निःकाचितबन्ध होजाता है । देवगतिमें नपुसकवेदका उदय नहीं होता । क्योंकि उसका पूर्वजन्ममें बन्ध नहीं हुआ है, और वहाँ उसके उदयके योग्य सहकारी कारण जो अपेक्षित है, वे भी नहीं हैं । इस प्रकार जब नरकगति और सम्मूर्त्तनजन्मवाले तथा देवगतिवाले जीवोंके लिङ्गका नियम बता दिया गया, तब इनसे जो शेष बचे उन जीवोंके कौन कौनसा लिङ्ग होता है, यह बात अर्थात्पन्न हो जाती है । अर्थात् जरायुज अडज और पोतज इन शेष जीवोंके स्त्रीलिङ्ग पुल्लिङ्ग नपुसकलिङ्ग ये तीनों ही प्रकारके वेद पाये जाते हैं, यह पारिशेष्यसे ही समझमें आ जाता है । अतएव इनके लिङ्गका नियम बतानेके लिये सूत्र करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

भाष्यम्—अत्राह—चतुर्गतावपि ससारे किं व्यवस्थिता स्थितिरायुष उताकालमृत्यु-रप्यस्तीति । अत्रोच्यते—द्विविधान्यायूपि अपवर्तनीयानि अनपवर्तनीयानि च । अनपवर्तनीयानि पुनर्द्विविधानि सोपक्रमानि निरुपक्रमानि च । अपवर्तनीयानि तु नियत सोप-क्रमानीति । तत्र—

१—जिसका फल अवश्य भोगना पड़े, उसको निःकाचित कहते हैं । अथवा जिसकी उदीरणा मङ्गल उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारों ही अवस्थाएँ उद्गो मर्के, उसको निःकाचितबन्ध कहते हैं । देखो गोम्मन्गार कर्मकाण्ड गाथा ४४०

अर्थ—प्रश्न—चतुर्गतिरूप समारमं आयुके विषयमें क्या नियम है ? चारों ही गतिमें उसकी स्थिति व्यवस्थित है, अथवा अज्ञालमृत्यु भी हुआ करती है ? अर्थात् पूर्वजन्ममें आयु कर्मकी जितनी स्थिति बाँधी थी, उसका उदयकाल आनेपर उस स्थितिका पूर्णरूपमें उदय हो जानेपर ही जीवका मरण होता है, अथवा उस स्थितिके पूर्ण न होनेपर भी होता है ? उत्तर—आयुर्कर्म दो प्रकारके हुआ करते हैं—एक अपवर्तनीय दूसरे अनपवर्तनीय । अनपवर्तनीयके भी दो भेद हैं—एक सोपकम दूसरा निरूपक्रम । अपवर्तनीय आयुर्कर्म नियमसे सोपकम ही हुआ करते हैं ।

भावार्थ—इस प्रश्नके करीका कारण यह है, कि इस विषयमें लोकमें दोनों ही प्रकारके प्रवाद सुननेमें आते हैं, कोई कहता है, कि आयुर्कर्मकी जितनी स्थिति पूर्वजन्ममें बाँधी है, उतनी पूर्ण भोग चुकनेपर ही मरण हुआ करता है, और कोई कहता है, कि अश्व शस्त्रके घात आदिके द्वारा स्थिति पूर्ण होनेसे पहले भी मरण हो जाता है । अतएव सशयमें पञ्जर शिष्यने यह प्रश्न किया है, कि इस विषयमें कैसा नियम समझना चाहिये ? इसके उत्तरमें अज्ञालमृत्युका होना भी समभव है, यह बतानेके लिये भाष्यकार कहते हैं, कि चतुर्गतिरूप समारमं आयुर्कर्म दोनों ही प्रकारके पाये जाते हैं—एक अपवर्तनीय दूसरे अनपवर्तनीय । जिसकी स्थिति पूर्ण होनेके पहले ही समाप्ति हो जाती है, उसको अपवर्तनीय कहते हैं, और जिसकी स्थिति पूर्ण होनेपर ही समाप्ति हो, उसको अनपवर्तनीय कहते हैं । अपवर्तनीय आयुका उदय होनेपर अज्ञाल मरण भी हो सक्ता है ।

जिन अध्ययसानादिक कारण विशेषिके द्वारा आयुर्कर्मकी अतिदीर्घ कालकी भी स्थिति घटकर अल्पकालकी हो सकती है, उन कारणकलापको ही उपक्रम कहते हैं । ऐसे कारण कलाप जिस आयुके साथ लगे हुए हों, उसको सोपकम और जिसके साथ वे न पाये जाय उसको निरूपक्रम कहते हैं । यहाँपर यह शक्य हो सकती है, कि अनपवर्तनीय और सोपकम ये दोनों ही बातें परस्पर विरुद्ध हैं । क्योंकि जो आयु अनपवर्तनीय है, वही सोपकम कैसे हो सकती है ? परन्तु यह शक्य ठीक नहीं है । क्योंकि उस आयुके साथ घेसे कारणकलाप तो लगे रहते हैं, परन्तु फिर भी उसका अपवर्तन नहीं हुआ करता । क्योंकि चरम देह तथा उत्तम पुरुषोंकी आयुका बन्धन इतना गाढ हुआ करता है, कि वे कारण मिलकर भी उसको शिथिल नहीं बना सकते ।

यहाँपर किसीको यह भी शक्य हो सकती है, कि जिस प्रकार कारणविशेषके द्वारा आयुकी दीर्घस्थिति अल्प बनाई जा सकती या हो सकती है, उसी प्रकार किसी कारणविशेषके द्वारा उसकी अल्प स्थिति दीर्घ भी की जा सकती है । परन्तु यह बात नहीं है । जिस प्रकार किसी वस्त्रको घड़ी करके छोटा बनाया जा सकता है, परन्तु उसके प्रमाणसे बड़ा किसी भी तरह

नहीं बनाया जा सकता, अथवा जिस प्रकार किसी आम्र आदिके पकनेकी स्थिति पाल आदिमें देनेसे घट सकती है, परन्तु उसकी नियत स्थिति किसी भी कारणसे बढ़ नहीं सकती । उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । अतएव जो यह समझते हे, कि योग आदिके निमित्तसे अथवा किसी रसायनके सेवन करनेसे आयु बढ़ भी जाती है, यह बात मिथ्या है । क्योंकि भुज्यमान आयुका वध पूर्वजन्ममें ही होता है, उसी समय उसकी स्थितिका भी वध हो जाता है । अतएव उदयकाल आनेपर उसमें वृद्धिकी सभावना कैसे हो सकती है, हाँ, यह हो सकता है, कि वधे हुए कर्म निमित्त पाकर आत्मासे जल्दी सम्बन्ध टोट दें । इसलिये यह निश्चित है, कि चाहे अमृतका ही सेवन क्यों न किया जाय, परन्तु भुज्यमान आयुकी स्थिति बढ़ नहीं सकती । इसी लिये इस प्रकारके प्रवादोंको भी सर्वथा मिथ्या समझना चाहिये, कि अमुक व्यक्ति अनन्तकाठके लिये सशरीर अमर हो गया है ।

इस प्रकार अनपवर्तनीय आयुके सोपक्रम और निरुपक्रम ये दो भेद समझने चाहिये । किन्तु अपवर्तनीय आयु नियमसे सोपक्रम ही हुआ करती है । इस उपर्युक्त सम्पूर्ण कथनका सारांश केवल इतना कह देनेसे ही समझमें आसकता है, कि अमुक अमुक जीवोंकी आयु अनपवर्त्य हुआ करती है । क्योंकि शेष जीवोंके दूसरा भेद—अपवर्त्य पारिशेष्यसे ही समझमें आसकता है । अतएव आचार्य इसी बातको सूत्रद्वारा बताते हैं—

सूत्र—औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः ५२

भाष्यम्—औपपातिकाश्चरमदेहा उत्तमपुरुषा असंख्येयवर्षायुष इत्येतेऽनपवर्त्यायुषो भवन्ति । तत्रौपपातिका नारकदेवाश्चेत्युक्तम् । चरमदेहा मनुष्या एव भवन्ति नान्ये । चरमदेहा अनन्यदेहा इत्यर्थः । ये तेनैव शरीरेण सिध्यन्ति । उत्तमपुरुषास्तीर्थचरकवर्त्यर्धचक्रवर्तिनः । असंख्येयवर्षायुषो मनुष्या तिर्यग्योनिजाश्च भवन्ति । संदेवकुरुत्तरकुरुषु सान्तर द्वीपकास्त्वकर्मभूमिषु कर्मभूमिषु च सुपमसुपमाया सुपमाया सुपमदुपमायामित्यसंख्येयवर्षायुषो मनुष्या भवन्ति । अत्रैव बाह्येषु द्वीपेषु समुद्रेषु तिर्यग्योनिजा असंख्येयवर्षायुषो भवन्ति । औपपातिकाश्चासंख्येयवर्षायुषश्च निरुपक्रमा । चरमदेहाः सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चेति । एभ्य औपपातिकचरमदेहासंख्येयवर्षायुष्यो शेषा मनुष्यास्तिर्यग्योनिजा सोपक्रमा निरुपक्रमाश्चापवर्त्यायुषोऽनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति । तत्रयेऽपवर्त्यायुषस्तेषां विपश्चक्रकण्टकाग्न्युदकाह्यगिताजीर्णाशनिप्रपातोद्धन्धनद्रापदवन्ननिर्घातादिभिः क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिभिश्च द्वन्द्वोपक्रमरायुरपवर्त्यते । अपवर्त्तन शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात्कर्मफलोपभोग । उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम् ।

अर्थ—उपपातजन्मवाले तथा चरमशरीरके धारक और उत्तम पुरुष एव असंख्यात वर्षकी जिनकी आयु हुआ करती है, इतने जीवोंकी आयु अनपवर्त्य समझनी चाहिये । नारक शरीर देव उपपातजन्मवाल है, यह बात पहले बताई जा चुकी है । चरमशरीरके धारक

मनुष्य ही हुआ करते हैं, और कोई भी नहीं होते । जो उसी शरीरसे सिद्धि प्राप्त किया करते हैं—जिनको और कोई भी शरीर—धारण करना बाकी नहीं रहा है, उस अन्तिम शरीरके धारण करनेवालोंको चरमदेह कहते हैं । तीर्थरुच चरुवर्ती और अर्धनकी इनको उत्तम पुरुष माना है । असस्यात वर्षकी आयुके धारक मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों ही हुआ करते हैं । परन्तु इनमें से असस्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य देवैश्वर्य उत्तरकुरु और अन्तरद्वीपोंकी अरुमभूमियोंमें तथा वर्षभूमियोंमें भी आदिके तीन कालोंमें—सुषमसुषमा सुषमा और सुषमदुषमामें ही हुआ करते हैं । तथा हैमवत हरिवर्ष रम्यक और हैरप्यवत इन क्षेत्रोंमें भी असस्यातवर्षकी आयुवाले मनुष्य हुआ करते हैं । क्योंकि ये भी अरुमभूमि ही हैं । तथा असस्यातवर्षकी आयुके धारक तिर्यच इन क्षेत्रोंमें भी हुआ करते हैं और इनके बाहर—मनुष्यक्षेत्रके बाहर जितने द्वीप समुद्र हैं, उनमें भी हुआ करते हैं । इनमेंसे औपपातिक और असस्यातवर्षकी आयुवाले जीवोंकी आयु निरपक्रम ही हुआ करती है । जिन वेदनारूप कारणरूपांसे आयुका भेदन हो जाता है, उनसे इन जीवोंकी आयु रहित हुआ करती है । चरमदेहेके धारक जीवोंकी आयु सोपक्रम और निरपक्रम दोनों ही तरहकी होती है । इनके मित्राय अर्थात् औपपातिक और असस्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य तिर्यच तथा चरमशरीरियोंको छोटकर बाकी जितने जीव हैं, उनकी आयु अपवर्त्य भी हुआ करती है, और अनपवर्त्य भी हुआ करती है । तथा वे सोपक्रम और निरपक्रम दोनों ही तरहकी हुआ करती हैं । जिनकी अपवर्त्य आयु हुआ करती है । उनकी आयुका विष शत्रु वटक आग्नि जल सर्प भोजन अनीर्ण वज्रघात बधनविशेष—गालेंमें फासी लगा देना आदि सिंहादिक हिंसक जीव वज्रघात आदि कारणोंसे तथा क्षुधा पिपासा शीत उष्ण आयुका तीव्र उपद्रव आजाने आदि कारणोंसे भी अपवर्तन हो जाता है । अधिक स्थितिताली आदिका शीघ्र ही अन्तर्मुहूर्तके पहले ही फलोपभोग हो जाना इसको अपवर्तन कहते हैं । और जो इस अपवर्तनके निमित्त हैं, उनको उपक्रम कहते हैं ।

इस प्रकार आयुके अपवर्तनका स्वरूप बताया । इस विषयमें कोई कोई अपवर्तनका वास्तविक अर्थ न समझकर तीन दोष उपस्थित किया करते हैं—कृतनाश अकृतागम और निष्क

१—सुमेरु और निरपके दक्षिणोत्तर तथा सोमनस विद्युप्रभके मध्यका क्षेत्र देवकुरु कहाता है । सुमेरु और नीलके उत्तर दक्षिण तथा गणमादन और मात्यवन्के मध्य भागका क्षेत्र उत्तरकुरु कहाता है । २—द्विप्रधान् पर्यन्ते पूर्व पश्चिम और विदिशाओंमें तथा समुद्रे भीतर अन्तरद्वीप है । जिनमें नि अनेक आकृतियोंके धारक मनुष्य हुआ करते हैं । इन क्षेत्रोंकी लम्बाई चौड़ाई आदिका प्रमाण टीकासे जानना चाहिये । ३-४—इन क्षेत्रोंका विशेष खूणसा जम्बूद्वीपवृक्षसि त्रिलोकप्रज्ञसि या त्रिलोकासार आदि प्रयोगे जानना चाहिये । सक्षिप्त वर्णन आपे तीसरे अध्यायमें करेंगे । ५—यहाँपर आसुक्मके ही विषयमें अपवर्तनका उल्लेख किया है । परन्तु आयुके समान अन्य कर्मोंका भी अपवर्तन हुआ करता है, ऐसा टीकावक्ताका अभिप्राय है ।

अपवर्तनका अर्थ अभुक्तकर्म नहीं है । इसी बातको और भी दृष्टान्त देकर भाष्यकार स्पष्ट करते हैं:—

जिस प्रकार किसी वस्त्रको जलसे वोया जाय, और उससे भंगा हुआ ही घरी करके रख दिया जाय, तो वह चिरकालमें सूख पाता है । परन्तु उसीको यदि फैला दिया जाय, तो सूर्यकी किरणोंसे और वायुसे ताडित होकर शीघ्र ही वह सूख जाता है । उस घरी किये हुए वस्त्रमें कोई ऐसा नवीन स्नेह—जल आ नहीं गया है, जो कि पहले उसमें न हो, इसी तरह न फैलाये हुए वस्त्रमें पूर्ण शोष नहीं हुआ हो यही बात है । किंतु दोनों ही अवस्थाओंमें जलके अवयवोंका प्रमाण बराबर ही है । अन्तर इतना ही है, कि एकका शोष अधिक कालमें होता है, और दूसरेका उपक्रमवश शीघ्र ही—अल्पकालमें ही हो जाता है । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । पूर्वोक्त अपवर्तनके निमित्तोंसे कर्मका फलोपभोग शीघ्र ही होजाता है, यही अपवर्तनका स्वरूप है । इसमें कृतनाश अकृतागम और निष्फलताका प्रसङ्ग आता है यह बात नहीं है ।

इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसद्ग्रहे द्वितीयोऽध्याय समाप्तः ॥



तृतीयोऽध्यायः BIKANER, RAJPUTANA.



भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता नारका इति गतिं प्रतीत्य जीवस्यौदयिको भावः । तथा जन्मसु नारकदेवानामुपपातः । वक्ष्यति च स्थितौ नारकाणां च द्वितीयादिषु । आस्रवेपु बह्वारम्भपरिग्रहत्व च नारकस्यायुष इति । तत्र के नारका नाम क्व चेति । अत्रोच्यते— नरकेषु भवा नारका । तत्र नरकप्रसिद्धार्थमिदमुच्यते —

अर्थ—प्रश्न—आपने नारक शब्दका अनेक वार उल्लेख किया है । जीवके औदयिक-भावोंको गिनाते हुए गतिके भेदोंमें नारकगतिका नाम गिनाया है । तथा जन्मोंका वर्णन करते हुए कहा है कि “ नारक और देवोंका उपपातजन्म होता है । ” इसी तरह आगे चलकर भी इन शब्दोंका उल्लेख किया है । यथा स्थितिका वर्णन करते हुए “ नारकाणां च द्वितीयादिषु ” इस सूत्रमें और आस्रवोंको बताते हुए “ बह्वारम्भपरिग्रहत्व च नारकस्यायुष ” इस सूत्रमें । सो अभीतक यह नहीं मालूम हुआ कि वे नारक कौन हैं ? और कहाँपर रहते हैं । अर्थात् पहले और आगे चलकर नारक शब्दका तो अनेक सूत्रोंमें उल्लेख किया, परन्तु किसी भी सूत्रमें उसकी ऐसी व्याख्या करके नहीं बताई, जिससे यह मालूम हो सके, कि नारक अमुकको कहते हैं, और न अभीतक यहाँ बताया गया, कि उनका निवासस्थान कहाँपर है । अतएव कृपाकर कहिये कि नारक कौन हैं, और कहाँपर रहते हैं ? उत्तर—जो नरकोंमें उत्पन्न हों या रहें उनको नारक कहते हैं । इस प्रकार “ नारक कौन हैं ? ” इसका उत्तर नारक शब्दकी निरुक्तिके द्वारा ही समझमें आजाता है । परन्तु वे नरक कहाँ हैं, और कैसे हैं इत्यादि बातें इससे समझमें नहीं आतीं, अतएव उनको समझानेके लिये ही आगे सूत्र कहते हैं—

१—कोई षोड, इस सूत्रकी उत्थानिकाके लिये कहते हैं, कि गत अध्यायोंमें जीवका सामान्य स्वरूप तो कहा गया और वह समझमें आया, परन्तु उसके नारक आदि विशेष भेदोंका स्वरूप अभीतक नहीं कहा गया । नारक शब्दका अर्थ नरकेषु भवा नारका इस निरुक्तिके अनुसार जिन तरह समझमें आ सकता है, उसा प्रकार नारक शब्दका अर्थ भी “ नरान् कायस्ति—आह्वयस्ति इति नरका ” इस निरुक्तिके अनुसार समझमें आ सकता है । परन्तु यह निरुक्ति केवल व्युत्पत्तिके लिये ही है, इससे कोई अर्थक्रिया—प्रयोजनवत्ता मिट नहीं होती । क्योंकि नरक यह रुढिसंज्ञा है । अतएव वे नरक कहाँ हैं, कितने हैं, कैसे हैं, आदि बातोंके लिये सूत्र कहते हैं ।

इसके सिवाय कोई कोई इसकी उत्थानिका इस प्रकार भी करते हैं, कि आगे चलकर जीव अध्यायमें सूत्र ३७ के द्वारा सस्थानविचय नामक धर्मस्थानका उल्लेख किया गया है । सस्थानविचयना विषय लोकेके स्वरूपका विचार करना है । यथा—लोकस्याधस्तितयम् विचिन्तयेद्दृष्टमपि च बाहुल्यम् । सवत्र जन्ममरणे रूपिद्रव्योपयोगान्त्न ॥ (प्रथमरति श्लोक १६०) । लोक तीन भागोंमें विभक्त है, और वहीं जावोके रहनेका अधिपकरण है । अतएव उसका वर्णन करनेमें ऊर्ध्वलोक और मध्यलोकके पहले अधोलोकका वर्णन कियेगया है, इसी लिये अधोलोकका स्वरूप बतानेके लिये यहाँ सूत्र करते हैं । इसके अनंतर इसी अध्यायमें तिर्यग्लोक—मध्यलोक और चतुर्थ अध्यायमें ऊर्ध्वलोकका वर्णन करेंगे ।

सूत्र—रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घ- नाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः ॥ १ ॥

भाष्यम्—रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तम प्रभा महातम प्रभा इत्येता भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा भवन्त्येकेकश सप्त अधोऽध । रत्नप्रभाया अध शर्कराप्रभा, शर्कराप्रभाया अधो वालुकाप्रभा, इत्येव शेषा । अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा इति सिद्धे घनग्रहण क्रियते यथा प्रतीयते घनमेवाम्बु अध पृथिव्या । वातास्तुघनास्तनवश्चेति । तदेव खरपृथिवी पङ्कप्रतिष्ठा, पङ्को घनोदधिबलयप्रतिष्ठो घनोदधिबलय घनवातबलयप्रतिष्ठ घनवातबलय तनुवातबलयप्रतिष्ठ ततो महातमोभूतमाकाशम् । सर्वं चेतस्पृथिव्यादि तनुवात-बलयान्तमाकाशप्रतिष्ठम् । आकाश त्वात्मप्रतिष्ठ । उक्तमवगाहनमाकाशस्येति । तदनेन क्रमेण लोकान्नुभावसान्निविष्ठा असत्येययोजनकोटीकोट्यो विस्तृताः सप्तभूमयो रत्नप्रभायाः ॥

अर्थ—रत्नप्रभा शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तम प्रभा और महातम प्रभा ये सात अधोलोककी भूमियाँ हैं, और ये सात ही हैं न कि कम ज्यादा, तथा इनका प्रतिष्ठान एकके नीचे दूसरीका और दूसरीके नीचे तीसरीका इस क्रमसे है । प्रत्येक पृथिवी तीन तीन वातबलयोंके आधारपर ठहरी हुई है—घनोदधिबलय घनवातबलय और तनुवातबलय । ये वात बलय आकाशके आधारपर हैं, और आकाश आत्मप्रतिष्ठ है—अपने ही आधारपर है । क्योंकि वह अनन्त है, परन्तु प्रत्येक पृथिवीके नीचे अन्तरालमें जो आकाश है वह अनन्त नहीं है, असंख्यात कोटीकोटी योजन प्रमाण है । रत्नप्रभाके नीचे और शर्कराप्रभाके ऊपर इसी तरह वालुकाप्रभाके ऊपर और शर्कराप्रभाके नीचे असंख्येय कोटीकोटी योजनप्रमाण आकाश है । इसी प्रकार सातों पृथिवियोंके नीचे समझना चाहिये । लोकके अन्तमें और वातबलयोंके भी अनन्तर जो आकाश है वह अनन्त है ।

प्रश्न—इस सूत्रमें घन शब्दके ग्रहण करनेकी क्या आवश्यकता है ? क्योंकि अम्बु वाताकाशप्रतिष्ठा इतना कहनेसे ही कार्य सिद्ध हो सकता है । उत्तर—ठाक हैं, परन्तु घन शब्दके ग्रहण करनेका एक खास प्रयोजन है । वह यह कि अम्बु शब्दका अर्थ जल है, सो केवल अम्बु शब्द रहनेसे कोई यह समझ सकता है, कि प्रत्येक पृथिवीके नीचे जो जल है, वह द्रवरूप ही है । किंतु यह बात नहीं है । अतएव प्रत्येक पृथिवीके नीचे जो जल है, वह घनरूप ही है, ऐसा समझानेके लिये ही घनशब्दका ग्रहण किया गया है । सूत्रमें वात शब्दका प्रयोग जो किया है, उससे घनवात और तनुवात दोनों ही समझने चाहिये । इस प्रकार पहली पृथ्वीका खरभाग पङ्कभागके ऊपर और पङ्कभाग घनोदधिबलयके ऊपर तथा घनोदधिबलय घनवातबलयके ऊपर एव घनवातबलय तनुवातबलयके ऊपर प्रतिष्ठित है । इसके अनन्तर महातमोभूत आकाश है । ये पृथिवीसे लेकर तनुवातबलय पर्यंत सभी उस आकाशपर

उठरे हुए हैं, और आकाशका आधार आकाश ही है। आकाशका उपकार—कार्य ही यह है, कि वह सम्पूर्ण द्रव्योंको अवगाहन देता है। यह बात आगे चल्कर द्रव्योंके उपकार प्रकरणमें बताई है। जिस प्रकार यहाँ पहली रत्नप्रभा पृथिवीके लिये क्रम और विस्तार बताया है, उसी क्रमसे सातों ही पृथिवियोंका सन्निवेश लोकस्थितिके अनुसार समझ लेना चाहिये। इन सभी पृथिवियोंका तिर्यक् विस्तार असख्यात कोटीकोटी योजन प्रमाण है।

भावार्थ—अधोलोममें रत्नप्रभा आदिक सात पृथिवी है, पृथिवियोंके ये नाम प्रभाकी अपेक्षासे अन्वर्थ हैं। जिसमें रत्नोंकी प्रभा पाई जाय उसको रत्नप्रभा कहते हैं। पहली पृथिवीमें रत्न वज्र वैडूर्य लोहित मसारगुह्य आदि सोलह प्रकारके रत्नोंकी प्रभा पाई जाती है। दूसरी पृथ्वीकी प्रभा शर्कराकीसी है और तीसरी पृथ्वीकी बालूकीसी है। इसी प्रकार शेष पृथिवियोंकी समझनी चाहिये। पहली पृथिवीके तीन काण्डक—भाग है—खरभाग पक्काग और अब्जहुलभाग। खरभाग सोलह हजार योजनका पक्काग चौरासी हजार योजनका और अब्जहुलभाग अस्सी हजार योजनका है। इस तरह कुल मिलकर पहली पृथ्वीका प्रमाण एक लाख अस्सी हजार योजनका होता है। यह पहली पृथिवी अथवा उसका अब्जहुलभाग जिसपर उठरा हुआ है, वह घनोदधिवलय बीस हजार योजनका है, और घनोदधिवलय जिसपर उठरा हुआ है, वह घनवातवलय असख्यात हजार योजनका है, तथा जिसपर घनवातवलय उठरा हुआ है, वह तनुवातवलय भी असख्यात हजार योजनका है। इसके नीचे असख्यात कोटीकोटी योजनप्रमाण आकाश है। जिसप्रकार चन्द्र सूर्य आदिके विमान निरालम्ब आकाशमें उठरे हुए हैं, उसी प्रकार ये पृथिवी और वातवलय भी निराधार आकाशमें ही उठरे हुए हैं, उसके लिये आधारान्तरकी आवश्यकता नहीं है।

जिस प्रकार पहली पृथिवीके लिये निरूपण किया गया है, उसी प्रकार शेष पृथिवियोंके विषयमें भी समझना चाहिये। यह लोकका सन्निवेश अनादि अकृत्रिम है—ईश्वर आदिका किया हुआ नहीं है, और यह लोकस्थिति आगममें आठ प्रकारकी बताई है। यथा—आकाश

१—अध्याय ५ सूत्र १८।२ सातों पृथिवियोंके इतिनाम क्रमसे इस प्रकार है—धम्मा वशा शैला (मेघा) अजनारिष्ठा (भरिष्ठा) माघव्या (मघवी) माघवी। ३—किंतु यह प्रभा पहलेकाण्डकमें ही है शेष दो काण्डक एकान्तर ही है। ४—भाष्यकारने खरभाग और पक्कागना ही उल्लेख किया है, अब्जहुलभागका नहीं। परन्तु घनोदधि शब्द के ग्रहणसे दोनोंका ही ग्रहण होजाता है। जैसा कि टीकाकारने भी कहा है, कि “अत्र चाचार्येणाब्यहूल काण्ड नोपात्त पृथक्, घनोदधिवलयग्रहणेनैव लक्ष्यत्वात्, घनोदधिय घनोदधिवलय चेत्येकदेशनिर्देशात्।” ५—इसी तरह द्वितीयादिक पृथिवियोंना प्रमाण भी क्रमसे इस प्रकार समझना चाहिये।—एक लाख बत्तीस हजार, एक लाख अठारह हजार, एक लाख सोलह हजार, एक लाख आठ हजार। ६—“कतिविहा ण भते । लोकस्मिती पण्णा १ गोयमा । अट्टविहा लोकाट्ठिं पण्णा, तज्जहा आगमासपत्तिं वाण १ वातपत्तिं उदही २ उदधिपट्ठिया पुन्वी ३ पुडवी पत्तिं तसयावरा णा ४ अजीवा जीवपत्तिं ५ जीवा क्रमपट्ठिया ६ अजीवा जीवसगहिता ७ जीवा क्रमसगहिता ८ । इत्यादि भग० शतक १ उ० ६ सूत्र ५४ ॥

प्रतिष्ठित वात १ वातप्रतिष्ठित उदधि २ उदधिप्रतिष्ठित पृथिवी ३ पृथिवी प्रतिष्ठित
ग्रसस्थावर प्राण ४ जीवप्रतिष्ठित अजीव ५ कर्मप्रतिष्ठित जीव ६ जीवसग्रहीत अजीव
७ कर्मसग्रहीत जीव ८ ।

इन सातों पृथिवियोंका सनिवेश कोई तिरछा आदि न समझ ले, इसके लिये अधोऽध-
शब्द दिया है । तथा सात पृथिवी बतानेका अभिप्राय यह है, कि अधोलोकमें सात ही पृथिवियाँ
है, सम्पूर्ण लोकमें सात ही है, ऐसा अभिप्राय नहीं है । क्योंकि ईपत् ग्राम्भार नामकी आठवीं
पृथिवी भी मानी है । इसी अभिप्रायको स्पष्ट करनेके लिये माप्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—सप्तग्रहण नियमार्थं रत्नप्रभाद्या माभूवक्षेफशो ह्यनियतसख्या इति । किंचा-
न्यत्-अध सप्तैवेत्यवधार्यते, ऊर्ध्वत्वेकैवेति वक्ष्यते । अपि च तन्त्रान्तरीया असख्येषु लोक
वातुण्यसरथेया. पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यवसिता । तत्प्रतिषेधार्थं च सप्तग्रहणमिति ।

सर्वाश्चैता अधोऽध पृथुतरा छत्रातिच्छत्रसस्थिता । धर्मावशा शैलाङ्गनारिष्ट । माघ-
क्षयामाधयीति चासां नामधेयानि यथासरयमेव भवन्ति । रत्नप्रभा धनभावेनाशीत योजन-
शतसहस्र शेषा द्वात्रिंशदष्टाविंशतिविंशत्यष्टादशषोडशाष्टाधिकमिति । सर्वे धनोद्धयो विंशति-
योजनसहस्राणि । धनवाततनुवातास्त्वसख्येयानि अधोऽधस्तु घनतराविशेषेणेति ॥

अर्थ—सूत्रमें सप्त शब्दका जो ग्रहण किया है, वह नियमार्थक है, जिससे रत्नप्रभा
आदिक प्रत्येक पृथिवी अनियत सख्यावाली मालूम न हो, क्योंकि पहली पृथिवीके तीन काण्डक
है, और उनमें भी पहला काण्डक सोलह प्रकारका है, इन सभी भेदोंको एक एक पृथिवी सम-
झनेसे पृथिवियोंकी कोई नियत सख्या मालूम नहीं हो सकती । इसके सिवाय एक बात यह
भी है, कि इस शब्दसे यह अवधारण-नियम किया जाता है, कि अधोलोकमें पृथिवियाँ सात ही है ।
ऊर्ध्वलोकमें एक ही पृथिवी है, ऐसा आगे चलकर कहेंगे, और एक बात यह भी है, कि जो जिनेन्द्र
भगवान्के प्रवचनके बाह्य हैं-मिथ्या आगमके माननेवाले हैं, उनका कहना है कि “ लोक घातु
असख्यात है, और उनमें पृथिवियोंका प्रस्तार भी असख्यातप्रमाण है ” । इस मिथ्या आग-
मका प्रतिषेध करनेके लिये ही सप्त शब्दका ग्रहण किया है ।

ये सभी पृथिवियाँ नीचे नीचेकी तरफ उत्तरोत्तर अधिकाधिक विस्तृत हैं । जो रत्नप्रभाका
विष्कम्भ और आयाम है, उसकी अपेक्षा शर्कराप्रभाका विष्कम्भ और आयाम अधिक है । इसी
तरह बालुकाप्रभा आदिके विषयमें समझना चाहिये । इन सातों पृथिवियोंका आकार छत्राति

१—यह पृथिवी सम्पूर्ण कल्पविभागोंके ऊपर है, और टाई द्वीपकी बराबर रम्बी चौड़ी है, इसका आकार
उत्तान छत्रके समान है । इसका विशेष वर्णन आगे चलकर “ तन्वी मनोज्ञा सुरभि पुण्या परमभासुरा ” इत्यादि
कारिनाओंके द्वारा किया जायगा । २—“ तदागमश्चाय-“ यथा हि वर्पति देवे प्रतधार नास्ति वीचिका वा
अन्तरिक्षा वा एतमेव पूर्व्यां दिशि लोकघातवो मेरुस्तयण व्यवस्थितास्तथाऽयास्वपि दिदिवति ” । ३—विष्कम्भ
और आयामकी अपेक्षा रत्नप्रभा एक रज्जुप्रमाण, शर्कराप्रभा ढाई रज्जुप्रमाण, बालुकाप्रभा चार रज्जुप्रमाण, पक्वप्रभा
पाँच रज्जुप्रमाण, धूस्रप्रभा छह रज्जुप्रमाण, तम प्रभा साढ़े छह रज्जुप्रमाण, और महान्तम प्रभा सात रज्जुप्रमाण है ।

छत्रके समान है । जिस प्रकार एकके नीचे दूसरा और दूसरेके नीचे तीसरा इसी तरह सात छत्र ऊपर नीचे—तर ऊपर लगानेसे जो आकार हो, वैसा ही आकार सातों पृथिवियोंका समझना चाहिये । तथा इन पृथिवियोंके क्रमसे घर्मा वशा शैला अञ्जना अरिष्टा माघव्या और माघवी ये नाम है । पहली रत्नप्रभा पृथिवी एक लाख अस्सी हजार योजन मोटी है । बाकी द्वितीयादिक पृथिवी क्रमसे एक लाख बीस हजार, एक लाख अठारह हजार, एक लाख सोलह हजार, और एक लाख आठ हजार योजनकी मोटी है । सभी घनोदधि बीस हजार योजन मोटे हैं । तथा घनवातवलय और तनुवातवलय भी असंख्यात हजार योजन मोटे हैं, परन्तु सभीकी मोटाई नीचे नीचेके भागमें अधिकाधिक है ।

भावार्थ—अधोलोकवर्ती इन सात पृथिवियोंकी और उसके आधारभूत वातवलयोंकी सजा सख्या परिणाम सस्थान प्रभा आदिक सभी अनादि है । यहाँपर जो कुछ वर्णन किया है, वह सामान्य है, जिनकी इनका विशेष स्वरूप देखना हो, उन्हे लोक-स्वरूपके प्रतिपादक ग्रंथोंको देखना चाहिये । यहाँपर जो प्रश्न किया था, वह नरकोंके विषयमें ही था, अतएव उसीके सम्बन्धमें अधोलोकका यह संक्षिप्त वर्णन किया है । अब यह बताना चाहते हैं, कि वे नरक कहाँपर हैं, कि जिनमें नरक—जीवोंका निवास पाया जाता है । इसीके लिये आगे सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तासु नरकाः ॥ २ ॥

भाष्यम्—तासु रत्नप्रभाद्यासु भूपूर्ध्वमधश्चेकशो योजनसहस्रमेकेक वर्जयित्वा मध्ये नरका भवन्ति । तद्यथा—उष्ट्रिकापिट पचनीलोहीकरकेन्द्रजानुकाजन्तोकायस्कुम्भाय कोष्ठादिसस्थाना वज्रतला सीमन्तकोपक्रान्ता रौरवोऽच्युतो रीद्रो दाहारवोधासन शोचनस्तापन रुन्दनोविलपनच्छेदनोभेदन खटाखट कालपिञ्जर इत्येवमाद्या अशुभनामान काल-महाकालरौरवमहारौरवाप्रतिष्ठानपर्यन्ता । रत्नप्रभाया नरकाणां प्रस्तारास्त्रयोदश । द्विद्वयना शोपासु । रत्नप्रभाया नरकवासानां त्रिंशच्छतसहस्राणि । शोपासु पञ्चविंशति पञ्चदश दश त्रीण्येक पञ्चोन नरक शतसहस्रमित्यापमुद्या । सप्तम्या तु पञ्चैव महानरका इति ॥

अर्थ—रत्नप्रभा आदिक उपर्युक्त पृथिवियोंमें ही नरकोंके आवास हैं । परन्तु वे आवास उन प्रत्येक पृथिवियोंके ऊपर और नीचेके एक एक हजार योजनका भाग छोड़कर मध्यके भागमें हैं । उष्ट्रिकापिटपचनी लोही करका इन्द्रजानुका जन्तोका आयकुम्भ

१—मूसिपु इत्यपि पाठ । २—एक एक हजार योजन ऊपर नीचे छोड़नेके लिये जो कहा है सो पहला पृथिवीसे लेकर छठी तकके लिये ही समझना चाहिये । सातवीं पृथिवीका प्रमाण एक लाख आठ हजार योजनका है उसमेंमे ५२५०० ऊपर और उतने ही योजन नीचेका भाग छोड़कर मध्यका भाग ३ हजार योजनका बचता है, उसीमें नरक है । भाष्यकारने एक सातवीं पृथिवीके नरकस्थानको बतानेकी अपेक्षा नहीं रखी है, क्योंकि वह बाहुल्य नहीं रखता ।

अयं कोष्ठ आदि पकानेके वर्तन प्रसिद्ध है, उनका जैसा आकार है, वैसा ही आकार इन नरकोंका होता है। इन भाण्ड विशेषोंमें पकनेवाले अन्नके समान नारक जीव जो इन नरकोंमें रहते हैं, उन्हें क्षणभरके लिये भी स्थिरता या सुखका अनुभव नहीं होता। इन नरकोंके नीचेका तल भाग वज्रमय है, और इन सभी नरकोंके मध्यमें एक इन्द्रक नरक होता है, जिनमेंसे सबसे पहले इन्द्रकका नाम सीमन्तक है। पहली रत्नप्रभा भूमिके तेरह पटल हैं। उनमेंसे पहले पटलमें दिशाओंकी तरफ ४९-४९ और विदिशाओंकी तरफ ४८-४८ नरक हैं, मध्यमें एक सीमन्तक नामका इन्द्रक नरक है। इनकी सख्या सप्तम भूमितक क्रमसे एक एक कम होती गई है। दिशा और विदिशाओंके सिवाय कुछ प्रकीर्णक नरक भी होते हैं। रौरव अच्युत रौरव हाहारव घातन शोचन तापन क्रन्दन विलपन डेदन भेदन खटाखट कालपिञ्जर इत्यादिक उन नरकोंके नाम हैं, जो कि कर्णकट होनेके सिवाय स्वभावसे ही महा अशुभ हैं। सातवीं भूमिमें केवल पाँच ही नरक हैं। क्योंकि उसमें विदिशाओंमें कोई नरक नहीं है। चार दिशाओंमें चार और एक इन्द्रक इस तरह कुल पाँच हैं, जिनके कि क्रमसे ये नाम हैं—काल महाकाल रौरव व महारौरव और अप्रतिष्ठान। अप्रतिष्ठान यह सातवीं भूमिके अन्तिम इन्द्रक नरकका नाम है। अप्रतिष्ठान नरकसे पूर्वमें काल पश्चिममें महाकाल दक्षिणमें रौरव और उत्तरमें महारौरव है।

रत्नप्रभा भूमिके नरकोंके तेरह पटल बताये हैं। इनकी रचना इस तरह समझनी चाहिये, जैसे कि किसी एक मकानमें अनेक माले होते हैं। द्वितीयादि भूमियोंके पटलोंकी सख्या क्रमसे दो दो हीन है। अर्थात् शर्कराप्रभाके ग्यारह बालुकाप्रभाके नौ पकप्रभाके सात धूमप्रभाके पाँच तम प्रभाके तीन और महातमप्रभाका एक ही पटल है। इन पटलोंमें नरक कितने कितने हैं, सो इस प्रकार समझने चाहिये।—रत्नप्रभामें तीस लाख, शर्कराप्रभामें पचीस लाख, बालुकाप्रभामें पंद्रह लाख, पत्रप्रभामें दस लाख, धूमप्रभामें तीन लाख, तम प्रभामें पाँच कम एक-लाख, और महातम प्रभामें केवल पाँच नरक हैं। सातों भूमियोंके सब पटलोंके दिशा विदिशा प्रकीर्णक और इन्द्रकोंको मिलाकर कुल चौरासी लाख नरक हैं। इनमेंसे सातवीं भूमिके अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रक नरकका प्रमाण जम्बूद्वीपके समान एक लाख योजनका है, और बाकी नरकोंमें कोई सख्यात हजार और कोई असख्यात हजार योजनके प्रमाणवाले हैं। महान् पापके उदयसे जीव इन नरकोंमें जाकर उत्पन्न होते हैं। ये नित्य ही अन्धकारसे व्याप्त दुर्गन्धमय और दुःखोंके स्थान हैं। इनका आकार गोल तिम्बोना चतुष्कोण आदि अनेक प्रकारका होता है।

इन नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले और रहनेवाले नारकजीवोंका विशेष स्वरूप बतानेके लिये सूत्र कहते हैं,—

सूत्र—नित्याशुभतरलेक्ष्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—ते नरका भूमिक्रमेणाधोऽधो निर्माणतोऽशुभतरा । अशुभा रत्नप्रभाया ततोऽशुभतरा शर्कराप्रभाया ततोऽप्यशुभतरा वालुकाप्रभायाम् । इत्येवमासत्तम्या ।

नित्यग्रहण गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गकर्मानियमात्रेते लेक्ष्यादयो भावा नरकगतो नरक-पञ्चेन्द्रियजातो च नैरन्तर्येणाभवक्षयोद्वर्तनाद्भवन्ति न कदाचिदक्षनिमेषमात्रमपि न भवन्ति शुभा वा भवन्त्यतो नित्या इत्युच्यन्ते ॥

अर्थ—भूमिक्रमके अनुसार नीचे नीचेके नरकोंका निर्माणक्रमसे अधिक अधिक अशुभ होता गया है । रत्नप्रमा भूमिके शर्कराका निर्माण अशुभ है, परन्तु शर्कराप्रभाके नरकोंका निर्माण उससे कहीं अधिक अशुभ है, तथा वालुकाप्रभाके नरकोंका निर्माण उससे भी अधिक अशुभ है, और उससे भी अधिक पक्कप्रभाके नरकोंका एव उससे भी अधिक धूमप्रभाके नरकोंका तथा उससे भी अधिक तम प्रभाके नरकोंका निर्माण है । महातम प्रभाके नरकोंका निर्माण सबसे अधिक अशुभ है ।

भावार्थ—प्रथमादिक भूमियोंके पटलोंमें जितने सीमन्तक्रमे लेख्य अप्रतिष्ठान पर्यन्त नरक है, उनका सस्थान—आकृति—रचना उत्तरोत्तर अधिकाधिक अशुभ है—भयानक है। यद्यपि यहाँपर सूत्रमें अशुभतर शब्दका ही पाठ है, अशुभ शब्दका पाठ नहीं है, परन्तु फिर भी एक शेषकी अपेक्षासे उसका भी पाठ समझ लेना चाहिये। इसी तरह इस सूत्रमें नरक और नारक दोनोंका ही ग्रहण है। क्योंकि नरकोंका तो प्रकरण ही है, और सूत्रमें लेक्ष्या आदिका ग्रहण किया है जोकि नारक जीवोंके ही सम्वन्ध हैं। अतएव भाष्यकारने सूत्रमें सस्थान शब्दका उल्लेख न रहते हुए भी उसकी अशुभ अशुभतरताका वर्णन किया है।

सूत्रमें नित्य शब्द जो आया है, वह आभीक्ष्ण्यवाची है—निरतर अर्थको दिखाता है। जिस तरह किसीके लिये यह कहना कि, यह मनुष्य नित्य—हमेशा हँसता ही रहता है, अथवा केवळ जल पीकर ही रहता है। यहाँपर वह हँसनेके सिवाय और भी काम करता है, अथवा जलके सिवाय और चीज भी खाता पीता है, परन्तु उसकी अपेक्षा नहीं है^१। इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। नारकजीवोंकी अशुभतर लेक्ष्या आदिक अपरिणामी नहीं हैं। फिर भी इस नित्य शब्दके ग्रहणसे यही अर्थ समझना चाहिये, कि गति जाति शरीर आङ्गोपाङ्ग आदि नामकर्माँका जो यहाँपर उदय होता है, उसके नियमानुसार नरक-गति और नरकजातिमें जो नारकजीवोंके लेक्ष्या परिणाम आदि होते हैं, वे नियमसे निरन्तर

१—पुस्तकान्तरे “तेषु नारका” इत्यप्यधिक पाठ । २—जिस समय तीर्थंकर जन्म लेते हैं, उस समय कुछ क्षणके लिये—अन्तर्मुद्गतरे लिये नारकजीवोंका भी दुःख छूट जाना है, और उन्हें सुखका अनुभव होता है, ऐसा आगमका कथन है। सा नित्य शब्दके आभाक्ष्ण्यवाची रहनेसे घटित होता है। अथवा टीकानारके ही कथनानुसार “तत्रावाव्यय नित्य इति सूत्रका सम्बन्ध भी किया जा सकता है।

रहते हैं—जबतक उन जीवोंका वह भव पूर्ण नहीं होता, तबतक वे रहते ही हैं । आँखका पलक मारनेमें जितना समय लगता है, उतनी देरके लिये भी वे शुभरूप परिणमन नहीं करते और न उन कर्मोंके उदयका अभाव ही होता है । अतएव इनको नित्य शब्दसे कहा है ।

लेइया आदिक अशुभ अशुभतर त्रिस प्रकार है । इस बातको दिखानेके लिये भाष्यकार स्पष्ट करते हैं —

भाष्यम्—अशुभतरलेइया ।—कापोतलेइया रत्नप्रभायाम्, ततस्तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना कापोता शकराप्रभायाम्, ततस्तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना कापोतनीला बालुकाप्रभायाम् । ततस्तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना नीला पकप्रभायाम्, ततस्तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना नीलकृष्णा धूमप्रभायाम् । ततस्तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना कृष्णा तम प्रभायाम् । ततस्तीव्रतरसक्लेशाध्यवसाना कृष्णेन महातमप्रभायामिति ।

अशुभतरपरिणाम ।—बन्धनगतिस्थानभेदवर्णगंधरसस्पर्शागुणलघुशब्दरस्यो वशविधोऽशुभं पुद्गलपरिणामो नरकेषु । अशुभतरश्चाधोऽधः । तिर्यगूर्ध्वमधश्च सर्वतोऽनन्ते । भयानकेन नित्योत्तमकेन तमसा नित्यान्धकारा श्लेष्ममूत्रपुरीषस्रोतोमल रुधिरवसामेदपूयानुलेपनतला स्मशानमिव पूतिमासकेशास्थिचर्मदन्तरवास्तीर्णभूमय । इन्द्रशृगालमाज्जरनकुलसर्पभूपकहृत्स्वयदग्गोमानुपशयकोप्राशुभतरगधाः । हा मातर्धिगहो कष्ट वत शुद्ध तावद्भावत प्रसीदमर्तमा वधी कृपणकमित्यनुवद्वरुदितेस्तीव्रकरुणैर्दानविक्रुवैर्विलापिरार्त्तस्वैर्निनादैर्दानकृपण करुणयाचितैर्वाप्यसानिरुद्धैर्निस्तनितेर्गाढवदनं कूर्जितं सन्तापोष्णेऽचनिदमासेरनुपरतभयस्त्वना ॥

अर्थ—उपर्युक्त नरकोंमें रहनेवाले जीवोंकी लेइयाए हमेशा अशुभ ही रहती है । और नीचे नीचेके नरकोंकी लेइयाए क्रमसे और भी अधिकाधिक अशुभतर अशुभतर है । अर्थात्—पहली रत्नप्रभा भूमिके नरकोंमें—जीवोंके कापोतलेइया है । दूसरी भूमि शर्कराप्रभामें भी कापोतलेइया ही है, परन्तु रत्नप्रभाकी कापोतलेइयाके अध्यवसान जैसे सक्लेशरूप होते हैं, उससे दूसरी भूमिकी कापोतलेइयाके अध्यवसान अधिक सक्लेशरूप हैं । इसी तरह तीसरी आदि भूमियोंके विषयमें भी समझना चाहिये । अर्थात् बालुकाप्रभामें कापोत और नीललेइया है, उनके अध्यवसानोंकी सक्लेशता शर्कराप्रभासे अधिक तीव्र है । पङ्कप्रभामें नीललेइया है, उसके सक्लेशरूप अध्यवसान बालुकाप्रभाकी नीललेइयाके अध्यवसानोंसे अधिक तीव्र हैं । धूमप्रभामें नील और कृष्ण लेइया है, उसके सक्लेशरूप अध्यवसान पकप्रभाकी नीललेइयाके अध्यवसानोंसे अधिक तीव्र है । तम प्रभामें कृष्णलेइया है, उसके सक्लेशरूप अध्यवसान धूमप्रभाके अध्यवसानोंसे अधिक तीव्र हैं, और महातम प्रभामें केवल कृष्णलेइया ही है, उसके सक्लेशरूप अध्यवसान तम प्रभाके अध्यवसानोंसे भी अधिक तीव्र हैं ।

। भावार्थ—नीचे नीचेके नरकोंमें उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ लेइयाए होती गई हैं । यही बात परिणामादिकके विषयमें भी समझनी चाहिये, यथा—

अशुभतर परिणाम—नरकोंमें पुद्गल द्रव्यके जो परिणामन होते हैं, वे उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ होते हैं । अपने अपने उपरके नरकोंसे नीचे नीचेके नरकोंमें पुद्गल द्रव्यकी पर्याये अशुभ अशुभतर होती गई हैं । नरकोंमें होनेवाला पुद्गल द्रव्यका यह अशुभ परिणाम दश प्रकारका माना है—भंगन गति सप्तधा भेद वर्ण गघ रम स्पर्श अगुल्लु और शब्द । इन नरकोंकी भूमियाँ तिरछी ऊपर और नीचे सभी दिशाओंमें सब तरफ अनन्त भयानक, नित्य—कभी नष्ट न होनेवाले और उत्तम—प्रथमश्रेणीके अन्वहारसे सदा तमोमय बनी रहती हैं । तथा इडेम्—कफ मूत्र और विष्टाका निनमें प्रवाह हो रहा है, ऐसे अनेक मूल तथा रुधिर, बसा—चर्बी, मेदा और पूय—पीनसे इनका तल भाग लिप्त रहा करता है । तथा स्पर्शानभूमिकी तरह सड़े हुए दुर्गन्धयुक्त मांस और केश, हड्डी, चर्म, दाँत तथा नखोंसे व्याप्त बनी रहती है । कुत्ते, गीदड़, बिटी, नेबला, सर्प, चूहे, हाथी, घोड़े, गौ, और मनुष्योंके शरोंसे पूर्ण एव उनकी अशुभतर गधसे सदा दुर्गन्धित रहती है । उन भूमियोंमें निरतर सब तरफ ऐसे ही शब्द सुनाई पड़ते हैं कि, हा मान ! धिक्कार हो, हाय अत्यन्त कष्ट और खेद है, दौड़ो और मेरे ऊपर प्रसन्न होकर—ठूसा करके मुझको शीघ्र ही इन दुःखोंसे छुडाओ, हे स्वामिन् ! मैं आपका सेवक हूँ, मुझ दीनको न मारो । इसी प्रकार निरतर अनेक रोनेके और तीन कम्पा उत्पन्न करनेवाले, दीनता और आकुलताके भावोंसे युक्त, महान् विलापरूप, पीडाको प्रकट करनेवाले शब्दोंसे तथा निनमें दीनता हीनता और कृपणताका भाव भरा हुआ है, ऐसी याचनाओंसे, निनमें गला रक्त गया है, ऐसी अश्रुधारासे युक्त गर्मनाओंसे, गाढ़ वेदनाके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले शब्दोंसे तथा अन्तरङ्गके सतापका अनुभव करानेवाले उष्ण उच्छ्वासोंसे वे भूमियाँ अतिशय भयानकतासे भरी रहती हैं ।

भाष्यम्—अशुभतरवेदा । वेदा शरीराणि, अशुभनामप्रत्ययादशुभान्यद्गोपाङ्गानि माणसस्थानस्पर्शरसगन्धवर्णस्वराणि । हुण्डानि, निर्द्वन्नाण्डजशरीराकृतीनि श्रृकरुण्णी मत्स्यप्रतिभयदर्शनानि इःखभाञ्ज्यशुचीनि च तेषु शरीराणि भवन्ति । अतोऽशुभतराणि चाधोऽध । सप्त धनूपि धन्यो हस्ता पङ्क्तुगुलमिति शरीरोच्छ्वायो नारकाणा रत्नप्रभायां द्विर्द्वि शेषास्तु । स्थितिवद्योत्कृष्टजघन्यता वेदितव्या ॥

अर्थ—नारकियोंके शरीर भी अशुभ अशुभतर ही होते गये हैं, उनके अशुभ नामकर्मके उदयका निमित्त है, अतएव उनके शरीरके आङ्गोपाङ्ग और उनका निर्माण—सस्थान—आकार स्पर्श रस गघ वर्ण तथा स्वर अशुभ ही हुआ करते हैं । हुडकनामकर्मके उदयसे उनके शरीरोंका आकार अनियत और अव्यवस्थित बनता है । जिसके पल उखाड़कर दूर फर दिये गये है, ऐसे पक्षीके शरीरके समान उनके शरीरकी आकृति अतिशय

१—अथवा खोतोमल शब्दका अर्थ कोई भी बहनेवाला मल ऐसा भी हो सकता है ।

२—“ जघन्यतो वेदितव्या । ” ऐसा भी पाठ है ।

बीमत्स-ग्लानिकर हुआ करती है। नारकिमात्रके शरीर क्रूर करुणापूर्ण बीमत्स और देखनेमें भयानक हुआ करते हैं, तथा अतिशयित दुःखोंके आयतन एव अशुचि-अपवित्र होते हैं, और उनकी यह अशुभता नीचे नीचेके नरकोंमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती गई है।

नारकियोंके शरीरकी उँचाई इस प्रकार है—पहली रत्नप्रभामें नारकियोंके शरीरकी उँचाई सात-वनुर्ष तीन हाथ और छह अगुल। उससे आगेकी शर्कराप्रभा आदिक पृथिवियोंमें क्रमसे उसका प्रमाण दूना दूना समझना चाहिये। इसके उत्कृष्ट और जघन्यका प्रमाण स्थितिकी तरह समझ लेना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार स्थितिके विषयमें यह कहा गया है, कि पहली पहली पृथिवीके नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति नीचे नीचेके नारकियोंकी जघन्य स्थिति हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। इस नियमके अनुसार पहले नरकके जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका जो प्रमाण बताया है, वही दुसरे नरकके जीवोंके शरीरकी अम्गाहनाका जघन्य प्रमाण होता है। इसी प्रकार आगे आगेका भी प्रमाण समझ लेना चाहिये। यहाँपर यह जाननेकी इच्छा हो सकती है, कि जब पहले पहले प्रतरों या भूमियोंके नारकियोंका उत्कृष्ट अवगाहन आगे आगे जघन्य हो जाता है, तो पहली भूमिके नारकियोंकी जघन्य अवगाहनाका प्रमाण क्या है? उत्तर—वह प्रमाण अङ्गलके असल्यातवें भाग समझना चाहिये। उत्तरवैक्रियका जघन्य प्रमाण अङ्गलके सल्यातवें भाग है। तथा उत्कृष्ट प्रमाण १९ धनुष ३॥ अरतिन है। यह भी दूना दनाके क्रमसे सातवें नरकमें एक हजार धनुष हो जाता है।

भाष्यम्—अशुभतराश्च वेदना भवन्ति नरकेष्वधोऽधः। तद्यथा—
उष्णवेदनास्तीघ्रास्तीघ्रतरास्तीघ्रतमाश्चावृत्तीया। उष्णशीते चतुर्थ्याम् शीतोष्णे पञ्च-
म्याम्। परयोऽतीर्ता शीततराश्चेति। तद्यथा—। प्रथमशरत्काले चरमनिदाधे वा पित्त-
व्याधिप्रकोपाभिभूतशरीरस्य सर्वतो दीप्ताग्निराग्निपरिवृतस्य व्यध्रे नभसिमध्यान्हे
निवातेऽतिरस्कृतातपस्य यादृगुष्णज इव भवति ततोऽनन्तगुण प्रकृष्ट कर्षुमुष्णवेद-
नेषु नरकेषु भवति। पौषमाघयोश्च तुषारार्लितगात्रस्य रात्रौ हृदयकरचरणाधरौषदश
नायास्तिनि प्रतिसमयप्रवृद्धे शीतमारुते निरग्न्याश्रय प्राचरणस्य यादृक्शीतसमुद्भव इव

१—नारकियोंके शरीर दो प्रकारके माने हैं—एक भवधारक दूसरा उत्तरवैक्रिय। जो धूलमें धारण किया जाय, उसको भवधारक और जो विक्रियासे उपपन्न हो, उसको उत्तरवैक्रिय कहते हैं। यहाँपर भवधारककी उँचाई पतादे है। २—यह उँचाई उल्लेधाङ्गुलकी अपेक्षासे है। आठ जोका १ अगुल, २४ अगुलका १ हाथ, और ४ हाथका १ धनुष होता है। ३—इस विषयमें टीकाकारने लिखा है कि—“उक्तमिदमतिदेशता भाष्यकारेणास्ति चैतत्, न तु मया क्वचिदागमे इष्ट प्रतरादिभेदेन नारकाणां शरीरावगाहनमिति।” परन्तु इसपर अन्य विद्वानोंका लिखना है कि—आगमशब्देनां धूलगम, तेन कृत्यादिषु एतत्सत्त्वेऽपि न क्षति। उत्तर तु पृथिवीवत् द्विगुण मिति स्पष्टमेव। ४—एष पाठ क्वचिनास्ति। ५—प्रथमायामुष्णवेदना द्वितीयायामुष्णवेदनाश्च तीव्रनरास्तीघ्रत माश्चावृत्तीयायामिति पाठोऽन्यत्र। ६—शीततरा शीततमाश्चेति एव वा पाठ। ७—उष्णमिति च पाठ। ८—भिन्न इति पाठ।

मशुभं भवति ततोऽनन्तगुण प्रकृष्ट कष्ट शीतवेदनेषु नरकेषु भवति । यदि किलोष्णवेदनाक्षरकाद्
 त्क्षिप्य नारकं सुमहत्त्यद्धारराशबुद्धीति प्रक्षिप्येत स किल सुशीता मृदमासत शीतला
 छायामिव प्राप्त सुरामनुपम विन्ध्यास्त्रिद्रा चोपलभेत एव कष्टतर नारकमुष्णमाचक्षते । तथा
 किल यदि शीतवेदनाक्षरकाद्दृक्षिप्य नारकं कश्चिदाकाशे माघमासे निशिप्रवाते मरुति
 तुषारराशौ प्रक्षिप्येत स दन्तशब्दोत्तमकरप्रकम्पयासकरेऽपि तत्र सुख विन्ध्यादनुपमा निदा
 चोपलभेत एव कष्टतर नारक शीतदुःखमाचक्षत इति ।

अर्थ—नारकियोंकी अशुभतर वेदना ।—यह वेदना भी उक्त नरकोंमें जन्मधारण वर-
 नेवाले नारकियोंकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती गई है । यह अशुभ वेदना पहलेसे दूसरेमें
 और दूसरेसे तीसरेमें तथा इसी तरह आगेके भी नरकोंमें अधिक अधिक ही बढ़ती गई है । यह
 वेदना दो प्रकारकी है, एक उष्ण दूसरी शीत । तीसरी भूमि तक उष्ण वेदना ही है, और
 वह भी क्रमसे तीव्रतर और तीव्रतम होती गई है । चौथी पृथिवीमें उष्ण और शीत दोनों ही
 प्रकारकी वेदना है । पाँचवीं भूमिमें शीत और उष्ण वेदना है । अन्तकी दो भूमियों—छठी
 और सातवींमें क्रमसे शीत और शीततर वेदना है । अर्थात्—तीसरी भूमितक सब नारकी उष्ण
 वेदनावाले ही हैं, किंतु चौथी भूमिमें उष्ण वेदनावाले अधिक हैं, और थोड़ेसे शीत वेदनावाले भी हैं ।
 पाँचवीं पृथिवीमें शीत वेदनावाले अधिक और उष्ण वेदनावाले अल्प हैं । तथा अन्तकी दोनों
 भूमियोंमें शीत वेदनावाले ही हैं । इन भूमियोंमें जो उष्ण वेदना और शीत वेदना होती है, उसका
 स्वरूप और प्रमाण बतानेके लिये कल्पना करके समझाते हैं ।—

प्रथम शरत्कालमें अथवा अन्तके निदाघ—भीष्म कालमें जिसका कि शरीर पित्त व्याधि-
 के प्रकोपसे आक्रान्त हो गया हो, और चारों तरफ जलती हुई अग्नि राशिसे घिरा हुआ हो,
 एव मेघ शून्य आकाशमें मध्याह्नके समय जब कि वायुका चलना बिल्कुल बंद हो, कड़ी धूपसे
 सतप्त हो रहा हो, उस जीवको उष्णताजन्य जैसा कुछ दुःख हो सकता है, उससे भी अनन्त-
 गुणा अधिक कष्ट उष्ण वेदनावाले नारकियोंको हुआ करता है । इसी प्रकार शीत वेदनाके
 विषयमें समझ लेना चाहिये ।—घोष अथवा माघ महीनेमें जिसके कि शरीरसे तुषार—बर्फ
 चारों तरफ लिपटा हुआ हो, रात्रिके समय जब कि प्रति समय बढ़ती हुई ऐसी ठंडी हवा चल
 रही हो, जिसके कि लगते ही हृदय हाथ पैर नीचे ऊपरके ओष्ठ और दाँत सब कंपने लगते हैं,
 एव अग्नि मकान और वस्त्रसे रहित मनुष्यके जैसा कुछ शीत वेदना सम्बन्धी अशुभ दुःख हो सकता
 है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक कष्ट शीत वेदनावाले नारकियोंको हुआ करता है । यदि कदाचित्त
 उष्ण वेदनावाले नरकसे किसी नारकीको उठा कर अच्छी तरह जलती हुई, जिसकी कि ज्वालाएँ चारों
 तरफको निराल रही हों, ऐसी महान् अद्धार—राशिमें पटक दिया जाय, तो वह नारकी ऐसा समझेगा
 कि, मैं एक शीतल छायामें आकर प्राप्त हो गया हूँ, अग्निकी ज्वालाओंको वह अत्यन्त ठंडी
 हवाके मद्दम शक्करे समझेगा, और ऐसे अनुपम सुखका अनुभव करने लगेगा, कि उसे उसीमें

बीभत्स-ग्लानिकर हुआ करती है। नारकिमात्रके शरीर क्रूर करुणापूर्ण बीभत्स और देखनेमें मयानक हुआ करते हैं। तथा अतिशयित दुःखोंके आयतन एव अशुचि-अपवित्र होते हैं, और उनकी यह अशुभता नीचे नीचेके नरकोंमें उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती गई है।

नारकियोंके शरीरकी उँचाई इस प्रकार है—पहली रत्नप्रमाणमें नारकियोंके शरीरकी उँचाई सात धनुषों तीन हाथ और छह अंगुल। उससे आगेकी शर्कराप्रभा आदिक पृथिवियोंमें क्रमसे उसका प्रमाण दूना दूना समझना चाहिये। इसके उत्कृष्ट और जघन्यका प्रमाण स्थितिकी तरह समझ लेना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार स्थितिके विषयमें यह कहा गया है, कि पहली पहली पृथिवीके नारकियोंकी उत्कृष्ट स्थिति नीचे नीचेके नारकियोंकी जघन्य स्थिति हो जाती है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। इस नियमके अनुसार पहले नरकके जीवोंके शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाका जो प्रमाण बताया है, वही दूसरे नरकके जीवोंके शरीरकी अवगाहनाका जघन्य प्रमाण होता है। इसी प्रकार आगे आगेका भी प्रमाण समझ लेना चाहिये। यहाँपर यह जाननेकी इच्छा हो सकती है, कि जब पहले पहले प्रतरों या भूमियोंके नारकियोंका उत्कृष्ट अवगाहन आगे आगे जघन्य हो जाता है, तो पहली भूमिके नारकियोंकी जघन्य अवगाहनाका प्रमाण क्या है? उत्तर—वह प्रमाण अङ्गुलके असत्यातवें भाग समझना चाहिये। उत्तरवैक्रियका जघन्य प्रमाण अङ्गुलके सख्यातवें भाग है। तथा उत्कृष्ट प्रमाण १५ धनुष ३॥ अरति है। यह भी दूना दूनाके क्रमसे सातवें नरकमें एक हजार धनुष हो जाता है।

भाष्यम्—अशुभतराश्च वेदना भवन्ति नरकेष्वधोऽधः। तद्यथा—
उष्णवेदनास्तीव्रास्तीव्रतरास्तीव्रतमाश्चातृतीयाः। उष्णशीते चतुर्थ्याम् शीतोष्णे पञ्च-
म्याम्। परयो शीता शीततराश्चेति। तद्यथा—। प्रथमशरत्काले चरमनिदाघे वा पित्त-
व्याधिप्रकोपाभिभूतशरीरस्य सर्वतो वीताग्निराशिपरिवृतस्य व्यभ्रे नमसिमध्यान्हे
निघातेऽतिरस्कृतातपस्य यादृगुष्णज दुःख भवति ततोऽनन्तगुण प्रकृष्ट कष्टमुष्णवेद-
नेषु नरकेषु भवति। पौषमाघयोश्च तुषारलिप्तगात्रस्य रात्रौ हृदयकरचरणाधरौष्ठदश
नायास्निनि प्रतिसमयप्रवृद्धे शीतमारुते निरग्न्याश्रय भावरणस्य यादृक्शीतसमुद्भव दुःख-

१—नारकियोंके शरीर दो प्रकारके माने हैं—एक भवधारक दूसरा उत्तरवैक्रिय। जो मूलमें धारण किया जाय, उसको भवधारक और जो विक्रियासे उपन हो, उसको उत्तरवैक्रिय कहते हैं। यहाँपर भवधारककी उँचाई पताई है। २—यह उँचाई उल्लेखानुगुलकी धपेसासे है। आठ चौका १ अंगुल, २४ अंगुलका १ हाथ, और ८ हाथका १ धनुष होता है। ३—इस विषयमें टीकाकारने लिखा है कि—“उक्तमिदमतिदेशता भाष्यकारेणास्ति चेतत्, न तु मया क्वचिदागमे दृष्ट प्रतरादिभेदेन नारकाणां शरीरावगाहनमिति।” परन्तु इसपर अन्य विद्वानोंका खिराना है कि—आगमशास्त्रेनात्र मूलगम, तेन श्रव्यादिषु एतत्सत्त्वेऽपि न शक्ति। उत्तर तु पृथिवीवत् द्विगुण मिति स्पष्टमेव। ४—एष पाठ इच्छिनास्ति। ५—प्रथमायामुष्णवेदना द्वितीयायामुष्णेदनाश्च तीव्रतरास्तीव्रत माश्चातृतीयायामिति पाठोऽन्यत्र। ६—शीततर शीततामेति एव वा पाठ। ७—उष्णमिति च पाठ। ८—मित्र इति पाठ।

धारण करके क्रोध करते हैं, और एक दूसरेको मारण ताडन अभिघातादिके द्वारा दुःख दिया करते हैं । इसके सिवाय उस क्षेत्रका स्वभाव ही ऐसा है, कि वहाँपर जो पुद्गलका परिणमन होता है, वह अशुभ ही होता है, सो उसके द्वारा भी उन नारकियोंको दुःख हुआ करता है ।

भावार्थ—नरकोंमें दो प्रकारके जीव पाये जाते हैं, एक मिथ्यादृष्टि जिनकी कि सत्त्वा बहुत अधिक है, और दूसरे सम्यग्दृष्टि जिनकी कि सत्त्वा अत्यल्प है । मिथ्यादृष्टियोंके भव-प्रत्ययविभग पाया जाता है, और सम्यग्दृष्टियोंके अवधिज्ञान रहा करता है । विभगके निमित्तसे विपरीत भाव उत्पन्न हुआ करते हैं । अतएव इस प्रकारके नारकी एक दूसरेपर क्रोधादि भाव धारण करके प्रहारादि करनेके लिये प्रयत्न किया करते हैं । जो सम्यग्दृष्टि है, वे दूसरे पर क्रोध नहीं करते, और न दूसरोंके लिये दुःखोंकी उदीरणा ही करते हैं । किंतु वे दूसरोंके उदीरित दुःखोंको सहते हुए अपनी आयुकी पूर्णताकी अपेक्षा किया करते हैं, और अपने पूर्वजन्मके आचरणका विचार भी किया करते हैं ।

इस परस्परकी उदीरणाजन्य दुःखके सिवाय उनके क्षेत्रस्वभावकृत भी दुःख होता है, इस बातको बतानेके लिये ही कहा है, कि वहाँके क्षेत्रका स्वभाव ही ऐसा है, कि वहाँपर पुद्गल द्रव्यका जो कुछ भी परिणमन होता है, वह अशुभ ही होता है । यद्यपि उपपातादिकृत सुख भी वहाँपर माना है, किंतु बहुतर दुःखके सामने वह इतना अल्प है, कि उसको नहीं सरीखा ही कहना चाहिये । दुःखकी विपुलताको देखकर यही कहना पडता है, कि नरकोंमें सुख रचमात्र भी नहीं है । अतएव वे नारकी क्षेत्र—स्वभावकृत दुःखको भी भोगते हैं । वह दुःख किस प्रकारका है, सो आगे बताते हैं —

भाष्यम्—तत्र क्षेत्रस्वभावजनितपुद्गलपरिणाम शीतोष्णक्षुत्पिपासादि । शीतोष्णे व्याप्यते, क्षुत्पिपासे वक्ष्याम । अनुपरतशुष्केन्धनोपादानेनेवाग्निना तीक्ष्णेन प्रततेन क्षुदाग्निना वृद्धमानशरीरा अनुसमयमाहरयन्ति ते सर्वे पुद्गलानप्यद्युस्तीव्रया च नित्यानुपक्तया पिपासया शुष्ककण्ठीमृतालुजिह्वा सर्वोद्धीनापि पिवेयुर्न च तृप्तिं समाप्नुयुर्वधेयाता मेव चेपा क्षुत्क्षुष्णे इत्येवमादीनि क्षेत्रप्रत्ययानि ॥

अर्थ—उक्त नरकोंमें क्षेत्र—स्वभावसे जो पुद्गलका परिणमन उत्पन्न होता है, वह शीत उष्णरूप अथवा क्षुधा पिपासा आदि रूप ही समझना चाहिये । इनमें से शीत और उष्ण परिणमनका स्वरूप ऊपर बता चुके हैं, क्षुधा और पिपासाका स्वरूप यहाँपर बताते हैं:—

निरन्तर—व्यवधान रहित शुष्क ईधन जिसमें पड रहा हो, ऐसी अग्निके समान अति महान् और प्रचण्ड क्षुधारूप अग्निसे जिनका शरीर अतिशयरूपसे जल रहा है, ऐसे वे

१—प्रततपुरागिना इति च पाठ, इचित्तु तांशोदराग्निना इति पाठ । २—सवपुद्गलानिति वा पाठ । ३—नमाप्नुयुस्ते इत्यपि पाठ ।

निद्रा आ जायगी । इस कल्पना द्वारा नारकियोंकी अति महान् उष्ण वेदनाका प्रमाण दिखाया है, जिससे यह बात सहज ही समझमें आ सकती है कि वहाँपर नारकियोंको उष्ण वेदनाका कष्ट कितना अधिक हुआ करता है । इसी प्रकार शीत वेदनाका प्रमाण भी कल्पनासे समझ लेना चाहिये ।—यदि कदाचित् किसी नारकीको शीत वेदनावाले नरकसे निकालकर माघ-महीनेमें रात्रिके समय जब कि ठंडी हवा चल रही हो, और महान् तुपार पड रहा हो, आकाशमें—आवरण रहित स्थानमें पटक दिया जाय, तो यद्यपि वह प्रसन्न ऐसा है, कि जब बत्तीसीका कटकट शब्द होने लगता है, और अच्छी तरहसे हाथ पैरोंके काँपनेका दुःख होने लगता है, परन्तु वह नारकी उस प्रसन्नमें भी महान् सुखका अनुभव करने लगेगा, यहाँतक कि उसे उसमें भी गाढ निद्रा आ जायगी । इस तरहसे शीत वेदनाजन्य नरकोंका जो महान् दुःख बताया है, सो इस कल्पनासे समझमें आ सकता है ।

भाष्यम्—अशुभतरविक्रिया । अशुभतराश्च विक्रिया नरकेषु नारकाणा भवन्ति । शुभ करिष्याम इत्यशुभतरमेव विकुर्वते । इत्थाभिभूतमनसश्च इत्प्रतीकार चिकीर्षव गरी-यस एव ते दुःखहेतून् विकुर्वत इति ॥

अर्थ—नारकियोंकी विक्रिया भी अशुभतर ही होती गई है । अर्थात् उक्त नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीव अपने शरीरको नाना आकारोंमें जो विपरिणत करते हैं, सो यह विक्रिया-विपरिणमन भी उनका उत्तरोत्तर अधिक अधिक अशुभ होता गया है । वे चाहते हैं, कि हम शुभ परिणमन करें—अपने शरीरको सुखद या शान्तिकर बना लें, परन्तु वह वैसा न बनकर अशुभरूप ही बन जाता है । जब उनका चित्त दुःखोंसे ग्रस्त होता है, तब वे उन दुःखोंके प्रतीकार करनेकी इच्छा करते हैं, परन्तु वैसा होता नहीं, वे उल्टे उन महान् दुःखोंके कारणोंको ही और उत्पन्न कर लेते हैं ।

भाषार्थ—नारकियोंका भवधारक शरीर तो हुडक सस्थानादिके कारण अशुभ होता ही है, परन्तु विक्रियाके द्वारा होनेवाला उत्तरवैक्रियशरीर भी अशुभतर ही हुआ करता है । क्योंकि उनके जैसे ही नामकर्मका उदय पाया जाता है, और वहाँके क्षेत्रका माहात्म्य भी इसी प्रकारका है ।

उक्त प्रकारके दुःखोंके सिवाय और भी दुःख नारकोंको हुआ करते हैं । उनमेंसे पारस्परिक दुःखको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—परस्परोदीरितानि दुःखानि नरकेषु नारकाणा भवन्ति । क्षेत्रस्वभावजानिता चाशुभात्पुद्गलपरिणामादित्यर्थ ।

अर्थ—उक्त नरकोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके आपसमें उदीरित दुःख भी हुआ करते हैं । वे नारकी आपसमें एक दूसरेको देखकर विभगज्ञानके निमित्तसे विरुद्ध परिणामोंको

धारण करके क्रोध करते हैं, और एक दूसरेको मारण ताडन अभिवातादिके द्वारा दुःख दिया करते है । इसके सिवाय उस क्षेत्रका स्वभाव ही ऐसा है, कि वहाँपर जो पुद्गलका परिणमन होता है, वह अशुभ ही होता है, सो उसके द्वारा भी उन नारकियोंको दुःख हुआ करता है ।

भावार्थ—नरकोंमें दो प्रकारके जीव पाये जाते हैं, एक मिथ्यादृष्टि जिनकी कि सख्या बहुत अधिक है, और दूसरे सम्यग्दृष्टि जिनकी कि सख्या अत्यल्प है । मिथ्यादृष्टियोंके भव-प्रत्ययविभग पाया जाता है, और सम्यग्दृष्टियोंके अवधिज्ञान रहा करता है । विभगके निमित्तसे विपरीत भाव उत्पन्न हुआ करते है । अतएव इस प्रकारके नारकी एक दूसरेपर क्रोधादि भाव धारण करके प्रहारादि करनेके लिये प्रयत्न किया करते हैं । जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे दूसरेपर क्रोध नहीं करते, और न दूसरोंके लिये दुःखोंकी उदीरणा ही करते हैं । किंतु वे दूसरोंके उदीरित दुःखोंको सहते हुए अपनी आयुकी पूर्णताकी अपेक्षा किया करते हैं, और अपने पूर्वजन्मके आचरणका विचार भी किया करते है ।

इस परस्परकी उदीरणाजन्य दुःखके सिवाय उनके क्षेत्रस्वभावकृत भी दुःख होता है, इस बातको बतानेके लिये ही कहा है, कि वहाँके क्षेत्रका स्वभाव ही ऐसा है, कि वहाँपर पुद्गल द्रव्यका जो कुछ भी परिणमन होता है, वह अशुभ ही होता है । यद्यपि उपपातादिकृत सुख भी वहाँपर माना है, किंतु बहुतर दुःखके सामने वह इतना अल्प है, कि उसको नहीं सरीखा ही कहना चाहिये । दुःखकी विपुलताको देखकर यही कहना पडता है, कि नरकोंमें सुख रचमात्र भी नहीं है । अतएव वे नारकी क्षेत्र—स्वभावकृत दुःखको भी भोगते हैं । वह दुःख किस प्रकारका है, सो आगे बताते हैं —

भाष्यम्—तत्र क्षेत्रस्वभावजनितपुद्गलपरिणाम शीतोष्णक्षुत्पिपासादि । शीतोष्णे ध्यारयाते, क्षुत्पिपासे चक्ष्याम । अनुपरतक्षुत्केन्धनोपादानेनेवाग्निना तीक्ष्णेन प्रततेन क्षुदाग्निना वदद्व्यमानशरीरा अनुसमयमाहरयन्ति ते संयं पुद्गलानप्यद्युस्तीव्रया च नित्यानु पक्तया पिपासया क्षुत्कण्ठीप्रतालुजिह्वा सयोवधीनापि पिबेयुर्न च तृप्तिं समाप्नुयुर्वर्धेयाता मेव चैषा क्षुत्क्षुष्णे इत्येवमादीनि क्षेत्रप्रत्ययानि ॥

अर्थ—उक्त नरकोंमें क्षेत्र—स्वभावसे जो पुद्गलका परिणमन उत्पन्न होता है, वह शीत उष्णरूप अथवा क्षुधा पिपासा आदि रूप ही समझना चाहिये । इनमें से शीत और उष्ण परिणमनका स्वरूप ऊपर बता चुके हैं, क्षुधा और पिपासाका स्वरूप यहाँपर बताते हैं:—

निरन्तर—व्यवधान रहित शुष्क ईधन जिसमें पड रहा हो, ऐसी अग्निके समान अति महान् और प्रचण्ड क्षुधारूप अग्निमे जिनका शरीर अतिशयरूपसे जल रहा है, ऐसे वे

१—प्रननभुद्गिना इति च पाठ, क्वचित् तीक्ष्णोदराग्निना इति पाठ । २—सर्वपुद्गलानिति वा पाठ । ३—ममानुयुस्ते इत्यपि पाठ ।

नारकी प्रातिक्षण भूखकी बाधासे पीडित बने रहते हैं । उनकी भूख इतनी तीव्र हुआ करती है, कि वे सबके सब पुट्टल द्रव्यको भी खा जाँय तो भी क्षुधा शांत न हो । इसी प्रकार निरन्तर बढ़ती हुई तीव्र पिपासाके द्वारा जिनका कण्ठ ओष्ठ तालु और जिह्वा सब सूख गये हैं, ऐसे वे नारकी अपनी उस तीव्र प्यासकी वेदनाके वश इतने व्यथित होते हैं, कि यदि उन्हें मिल जाँय, तो सबके सब समुद्रोंको भी पी जाँय, और फिर भी तृप्ति न हो । उल्टी उनकी क्षुधा और पिपासा बढ़ती ही जाय । इसी तरह और भी क्षेत्ररूप कारणोंको समझ लेना चाहिये, जिनसे कि अशुभ परिणमन—भूमिकी रूक्षता दुर्गन्धि आदि हुआ करते हैं ।

क्षेत्रकृत दुःखको टिखाकर अब सूत्रके अर्थको स्पष्ट करते हैं—

भाष्यम्—परस्परोदीरितानि च । अपि चोक्तम् भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानामिति । तन्ना रकेष्ववधिज्ञानमशुभभवहेतुक मिथ्यादर्शनयोगाच्च विभङ्गज्ञान भवति । भावदोषोपघातात् तेषां दुःखकारणमेव भवति । तेन हि ते सर्वत' तिर्यगूर्ध्वमधश्च दूरत एवाजस्र दुःखहेतून्प ह्यन्ति । यथा च काकोत्कमहिनकुल चोत्पत्त्यैव वद्धवैर तथा परस्पर प्रति नारका । यथा याऽपूर्वात् शुनो हृष्टा श्वानो निर्दय क्रुध्यन्त्यन्योन्य प्रहरन्ति च तथा तेषां नारकाणामवधि विषयेण दूरत एवान्योन्यमालोक्य क्रोधस्तीव्रानुशयो जायते दुरन्तो भवहेतुक' । तत' प्रागेव दुःखसमुद्घातात्तानां मोघान्यादीपितमनसोऽतर्किता इव श्वान' समुद्धता वैक्रिय भयानकरूपमास्थाय तत्रैव पृथिवीपरिणामजानि क्षेत्रानुभावजनितानि चाय' शूलशिलामुसलमुद्गरकुततोमरासिपट्टिशशक्त्ययोधनखड्गयष्टिपरशुभिण्डपालादीन्यायुधान्यादाय करचरणदशनैश्चान्योन्यमभिघ्नन्ति । तत परस्पराभिहता विकृताङ्गा निस्तनन्तो गाटवेदना शूनाघातनप्रविष्टा इव महिपसूकरोरभ्रा स्फुरन्तो रुधिरकर्म चेष्टन्ते । इत्येवमादीनि परस्परोदीरितानिनरकेषु नारकाणां दुःखानि भवन्तीति ॥

अर्थ—नारक जीव परस्परमें उदीरित दुःखोंको भोगते हैं, यह बात ऊपर कही है । परन्तु इसका कारण क्या है, सो बताते हैं । पहले यह बात बता चुके हैं कि—“ भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानाम् । ” अर्थात् देव और नारकियोंके भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है । किन्तु इनमेंसे नारकियोंके जो अवधिज्ञान होता है, वह अशुभ भवहेतुक ही हुआ करता है । क्योंकि नारक भव अशुभ है और उसी निमित्तसे उसकी उत्पत्ति हुआ करती है । तथा मिथ्यादर्शनका साहचर्य रहनेसे उसको अवधिज्ञान न रहकर विभङ्ग कहते हैं । एव भावरूप दोषोंके उपघातसे वह विभङ्ग उन नारकियोंके लिये दुःख का ही कारण हुआ करता है । इस विभङ्गके द्वारा वे नारकी सब तरफ तिर्यक—चारों दिशाओंमें और ऊर्ध्व तथा अध, दूरसे ही निरन्तर दुःखोंके कारणोंको ही देखा करते हैं । जिस प्रकार काक और उल्लूक—उल्लूमें जन्मसे ही वैर हुआ करता है, अथवा जिस तरह सर्प और न्योला जातिस्वभावसे ही आपसमें बद्धवैर हुआ करते हैं, उसी प्रकार नारकियोंको भी आपसमें समझना चाहिये । यद्वा जिस प्रकार कुत्ते दूसरे नये कुत्तोंको देखकर निर्दयताके साथ

आपसमें क्रोध करते और एक दूसरेके ऊपर प्रहार भी किया करते हैं, उसी प्रकार उन नारकियोंके भी अधिज्ञान-विभगके द्वारा दूर ही से आपसको देखकर तीव्र परिणामरूप क्रोध उत्पन्न हुआ करता है, जो कि भवके निमित्तसे ही जन्य है, और जिसका कि फल अतिशय दुःखरूप है । उनके वह क्रोध उत्पन्न होता है, कि उसके पहले ही दुःखोंके समुद्रघातसे पीड़ित हुए वे अन्य नारकी जिनका कि मन क्रोधरूप अग्निसे प्रज्वलित हो रहा है, अतर्कित रूपसे-अकस्मात् कुत्तोंकी तरह आटूटते हैं, और अत्यन्त उद्धत हुए भयानक वैक्रिय रूपको धारण करके वहीपर पृथिवी परिणामसे जन्य-पृथिवीरूप और क्षेत्रके माहात्म्यसे ही उत्पन्न हुए लोहमय शल शिला मुशल मूद्गर वर्जो तोमर तलवार दाल शक्ति लोहघन खड्ग-दुधारा लाठी फरशा तथा भिण्डपाल-गोक अथवा बन्दूक आदि आयुधोंको लेकर अथवा हाथ पैर और दँतोंसे आपसमें एक दूसरेके ऊपर आक्रमण करते हैं, और एक दूसरेका हनन करते हैं । तदनन्तर इस परस्परके घातसे डिल भिन्न शरीर होकर महा पीटासे चिहाते हुए रुधिरकी कीचडमें लोटने आदिकी ऐसी चेष्टा किया करते हैं, जैसी कि कसाईखाने-वधस्थानमें प्रविष्ट भैसा सूकर या भेड़ आदि पशु किया करते हैं । इसी प्रकार और भी अनेक तरहके परस्पोदीरित दुःख नरकोंमें नारकियोंके हुआ करते हैं ।

भावार्थ—विभङ्गके निमित्तसे जो दुःख होता है, वह मिथ्यादृष्टियोंको ही होता है, न कि सम्यग्दृष्टियोंको । क्योंकि उनका जो ज्ञान होता है, वह समीचीन होता है । अतएव वे उन वस्तुओंमें विरुद्धप्रत्यय करके दुःखका अनुभव नहीं किया करते ।

इस प्रकार परस्परके उदीरित दुःखोंको दिखाकर नारकियोंके एक विशेष प्रकारका और भी जो दुःख होता है उसको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सङ्क्रियसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—सङ्क्रियसुरोदीरितदुःखाश्च नारका भवन्ति । तिसृषु भूमिषु प्राक् चतुर्थ्या । तद्यथा—अम्बाम्बरीपश्यामशत्रुलरुद्रोपरुद्रकालमहाकालार्यासिपत्रवनकुम्भीवालुकावैतरणी खरस्वरमहाघोषा पत्रवृश परमाधार्मिका मिथ्यादृष्टय पूर्वजन्मसु सङ्क्रियकर्माण पापाभिर-तय आसुरीं गतिमनुप्राप्ता कर्मक्रेशजा एते ताच्छील्यानारकाणा वेदना समुदीरयन्ति चित्रा-मिरुपपत्तिभिः । तद्यथा—तत्तायोरसपायननिष्ठाय स्तम्भालिङ्गनकृतशाल्मल्यधारोपणावत-रणायोधनाभिघातवासीक्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलाभिषेचनाय कुम्भपाकाम्बरीपतर्जनयन्त्रपीड-नाय शूलशलाकाभेदनक्रकचपाटनाद्धारदहनवाहनासूचीशाद्वलापकर्षणं तथा सिंहव्याघ्र-द्वीपिश्यशृगालवृककोकमार्जारनकुलसर्पवायसगृध्रकाकोलूकश्येनाद्विखावने तथा तप्तवा-लुकावतरणासिपत्रवनप्रवेशनयैतरण्यवतारणपरस्परयोधनाद्विभिरिति ॥

अर्थ—चौथी भूमिके पहले-अर्थात् पहली दसरी और तीसरी भूमिके नारकियोंके असुरोदीरित भी दुःख हुआ करता है । पूर्वजन्ममें जिन्होंने अति सबलेशरूप कर्म किये हैं,

और जिनकी पापकर्मके करनेमें अत्यंत अभिरुचि रही है, ऐसे जीव मरकर असुरर्गतिको प्राप्त होते हैं। ये मिथ्यादृष्टि और परम अधार्मिक हुआ करते हैं। इनके पद्रह भेद हैं—अम्ब अम्बरीप श्याम शबल रुद्र उपरुद्र काल महाकाल असि असिपत्रवन कुम्भी वालुका वैतरणी खर-स्वर और महाघोष। कर्म क्लेशसे उत्पन्न होनेवाले इन अम्बाम्बरीपादिक देवोंका स्वभाव भी सबलेशरूप ही हुआ करता है। दूसरोंको दु खी देखकर प्रसन्न हुआ करते हैं, और इसी लिये उन नारकियोंको भी वेदनाओंकी अच्छी तरहसे उदीरणा करते और कराया करते हैं—आपसमें उनको भिडाते हैं, और दु खोंकी याद दिलाया करते हैं। इनकी उदीरणा करानेकी उपपत्ति नाना प्रकारकी हुआ करती हैं। यथा—तपा हुआ लोहेका रस पिलाना, सतस लोहेके स्तम्भोंसे आलिङ्गन कराना, मायामय—वैक्रियिक शालमली वृक्षके ऊपर चढ़ाना, लोहमय घनोंकी चोटसे कूटना, वसूलेसे छीलना, रन्दा फेरकर क्षत करना, क्षार जल अथवा गरम तैलसे अभिषेक करना, अथवा उन घावोंके ऊपर क्षारजल या गरम तैल छिड़कना, लोहेके कुम्भमें डालकर पकाना, भाडमें या बालू आदिमें भूजना, कोल्हू आदिमें पेलना, लोहेके शूल अथवा शलाका शरीरमें उद टैना, और उन शूलादिके द्वारा शरीरका भेदन करना, आरोसे चीरना, जलती हुई अग्निमें अथवा अगारोंमें जलाना, सवारोंमें जोतकर चलना—हाकना तीक्ष्ण नुकीली घासके ऊपरसे घसीटना, इसी प्रकार सिंह व्याघ्र गेंडा कुत्ता शृगाल भेडिया कोक मार्जार नकुल सर्प कौआ तथा भेरुण्ड पक्षी गीध काक उल्लू बाग आदि हिंस्र जीवोंके द्वारा मक्षण कराना, एव सतस बालूमें चलाना, जिनके पत्ते तलवारके समान तीक्ष्ण हैं, ऐसे वृक्षोंके वनोंमें प्रवेश कराना, वैतरणी—खून पीव मल मूत्रादिकी नदीमें तैराना, और उन नारकियोंको आपसमें लडाना, इत्यादि अनेक प्रकारके उपायोंके द्वारा ये असुरकुमार तीसरी पृथिवीतकके नारकियोंको उदीरणा करके दु खोंको भुगाया करते हैं।

भावार्थ—तीसरी भूमितकके नारकियोंको परस्परोदीरित दुःखके सिवाय असुरोदीरित दुःख भी भोगना पडता है। चौथी आदि भूमिके नारकियोंको वह नहीं भोगना पडता, इसलिये वहाँपर पहली तीन भूमियोंके दुःखोंसे कुछ कम दुःख हो गया, ऐसा नहीं समझना चाहिये। वहाँपर अन्य दुःख इतने अधिक हैं, कि जिनके सामने ऊपरकी पृथिवियोंके दुःख अति अल्प मालूम पडते हैं। चौथी आदि भूमिमें असुरोदीरित दुःख क्यों नहीं है? तो इसका कारण यही है, कि वे तीसरी पृथिवीसे आगे गमन नहीं कर सकते—आगे जानेकी उनमें सामर्थ्य नहीं है। इसके सिवाय एक बात यह भी ध्यानमें रख लेनी चाहिये, कि सभी असुरकुमार वहाँ जाकर दु खोंकी उदी रणा नहीं कराया करते, किन्तु जिनके मानसिक परिणाम सङ्केशयुक्त रहा करते हैं, ऐसे उपर्युक्त अंब अवरीप आदि पद्रह जातिके ही असुरकुमार वैसा किया करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं? इस बातको आगे स्पष्ट करते हैं—

भाष्यम्—इत्यादेतदिकमर्थं त एव कुर्वन्तीति, अत्रोच्यते—पापकर्माभिरतय इत्युक्तम् । तद्यथा—गोपुष्पमहिषवराहभेपुष्पुटवार्तकालायकान्मुष्टिमहांश्च सुध्यमानान् परस्पर धामिघ्नत पश्यतां रागद्वेषाभिभूतागामकुशलानुबन्धिपुण्यानां नराणां परा प्रीतिरुत्पद्यते । तथा तेषामसुराणां नारकास्तथा तानि कारयतामन्योन्य इतश्च पश्यतां परा प्रीतिरुत्पद्यते । ते हि इष्टकन्दर्पास्तयामृतान् दृष्ट्वात्तान् मुञ्चन्ति चेत्ताक्षेपान्श्चरितास्फोटितागर्हित तल ताराशिपातनाश्च कुर्वन्ति मातृश सिद्धतादात्म्यं । तत्र तेषां सत्यपि द्वेषत्रे सत्सु च कामिकेष्वन्येषु प्रीतिप्रारणेषु मायानिर्गामिष्यादर्शनशक्त्यतीव्ररूपायोपरतरयानालोचित-भावदोषस्याप्रत्ययमर्पस्यापुशलानुबन्धि पुण्यकर्मणां घालतपसश्च भाववोषानुकार्पण फल यस्तत्त्वचप्यन्येषु प्रीतिरुत्पद्यन्मा एव प्रीतिरुत्पद्य समुत्पद्यन्ते ॥

अर्थ—असुरोद्गीरित दुःखके विषयमें यह प्रश्न हो सकता है, कि वे ऐसा क्यों करते हैं ? नारकियोंके मित्रानेमें और उनके दुःखकी उद्गीर्ण करनेमें असुरकुमार देवोंका कौनसा प्रयोजन सिद्ध होता है, कि जिसके लिये वे अपने स्थानसे छोड़कर नर-भूमियोंमें जाते हैं, और वहाँ जाकर उक्त प्रश्नके कार्य करते हैं ? उत्तर—यह बात ऊपर ही कही जा चुकी है, कि इन देवोंकी रूचि पापकर्ममें ही हुआ करती है । हाँ ! यह रूचि किस प्रकारसे होती है, सो बताते हैं—देवोंमें देता जाता है, कि गौ बैल बैसा शूकर मेंढा मुर्गा बतक तीतर आदि जानवरोंको अथवा मुष्टिमत्त—आपसमें घूँसा मार मारकर लड़नेवाले योद्धाओंको परस्परमें लड़ता हुआ और एकके ऊपर दूसरेको प्रहार करता हुआ देखकर, जो राग द्वेषके वशीभूत है, और अशुशलानुबन्धि पुण्यके धारण करनेवाले है, उन मनुष्योंको बड़ा आनन्द आता है । इसी प्रकार असुरकुमारोंके विषयमें समझना चाहिये । उनको भी नारकियोंको बैसा करते हुए देखकर अथवा नारकियोंसे बैसा करानेमें और आपसमें उनको लड़ता तथा प्रहार करता हुआ देखकर अत्यन्त खुशी होती है । सन्नेशरूप परिणामोंको अथवा दुष्ट भावोंको धारण करनेवाले वे असुरकुमार उन नारकियोंको बैसा करता हुआ देखकर खुशीके मारे अट्टहास करते हैं, कपड़े उडाते हैं—कपड़े हट जानेसे नग हो जाते हैं, छोटपोट हो जाते हैं, और तालियाँ बजाने हैं, तथा बड़े जोर जोर से सिंहनाद भी किया करते हैं ।

ये असुरकुमार यद्यपि गतिकी अपेक्षा देव हैं, और इसीलिये इनके अन्य देवोंके समान मनोज्ञ विषय भी मौजूद है । जैसे कि दूसरे देवोंके मनको हरण करनेवाले भोग और उपभोग रहा करते हैं, वैसे ही इनके भी रहते हैं । परन्तु फिर भी इनको उन विषयोंमें इतनी आभिरूचि नहीं हुआ करती, जितनी कि उक्त अशुभ कार्योंको देखकर हुआ करती है । इसके अनेक कारण हैं—सबसे पहली बात तो यह है, कि इनके माया मिथ्या और निदान ये तीनों ही शक्य पाये जाते हैं । तथा शक्योंके साथ साथ तीव्र कषायका उदय भी रहा करता है । दूसरी बात यह है, कि इनके जो भावोंमें दोष लगते हैं, उनकी आलोचना नहीं करते, और न इन्होंने पूर्वजन्ममें बैसा किया है । पहले भयमें जो आसुरी—गतिका बन्ध किया है, वह आलोचना

रहित भाव—दोषोंके कारण ही किया है। तीसरी बात यह है, कि ये विचारशील नहीं होते, इनको इतना विवेक नहीं होता, कि यह अशुभ कार्य है, इसमें सहयोग देना या इसमें प्रसन्नता प्रकट करना अथवा इनको देखकर हर्षित होना भी अशुभ ही है। वे इस बातपर कभी विचार ही नहीं करते। चौथी बात यह है, कि जिस पुण्य—कर्मका इन्होंने पर्वजन्ममें बन्ध किया है, वह अकुशलतानुबन्धी है। वह पुण्यरूपमें अपना फल नहीं दिया करता। उसके उदयसे ऐसा ही फल प्राप्त होता है, कि जो जीवको अशुभताकी ही तरफ ले जाय। पाँचवीं बात यह है, कि जिसके प्रसादसे इन्होंने आसुरीगतिको प्राप्त किया है, वह भाव—दोषोंका अनुकर्षण करनेवाला बालतप था, जिसमें कि भावदोषोंका सभब रहा करता है, ऐसा मित्यादृष्टियोंका तप कुशलानुबन्धी नहीं हो सकता। उससे ऐसे विशिष्ट पुण्यका बन्ध नहीं हो सकता, जोकि उदयको प्राप्त होकर जीवको अशुभ क्रियाओंसे निवृत्त और शुभ क्रियाओंकी तरफ प्रवृत्त करानेवाले शुभ—मार्गमें लगा दे। ये ही सत्र कारण है, कि जिनके फलस्वरूप प्रीतिके लिये अन्य मनोज्ञ विषय सामग्रीके रहते हुए भी अशुभ विषय ही प्रीतिके कारण हुआ करते हैं।

भावार्थ—उपर्युक्त पद्वह प्रकारके असुरकुमार नारकियोंको दुःखोंकी उदीरणा क्यों कराते हैं ? इसके उत्तरमें पाँच कारणोंका ऊपर निर्देश किया गया है। इससे यह बात मालूम हो जाती है, कि उनका पूर्वबद्ध कर्म और तदनुसार उनका स्वभाव ही ऐसा होता है, कि जिससे दूसरोंको लडता हुआ या मरता पिडता दुःखी होता हुआ देखकर उन्हें आनन्द आता है। यह बात असुरोदीरित दुःखके सम्बन्धको लेकर कही गई है। किन्तु नारकियोंके उपर्युक्त दुःखोंकी भयकरतापर विचार करनेसे यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि इतने अधिक दुःखोंको वे सहन कैसे कर सकते हैं ? यन्त्रपीडनादि सरीखे दुःखोंसे उनका शीर विशीर्ण क्यों नहीं हो जाता ? और यदि हो जाता है, तो शरीरके विशीर्ण होनेपर उनकी मृत्यु क्यों नहीं हो जाती ? इत्यादि। इसका उत्तर स्पष्ट करनेके लिये आगे भाष्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—इत्येवमप्रीतिकर निरन्तर सुतीव्र दुःखमनुभवता मरणमेव काङ्क्षता तेषां न विपत्तिकाले विद्यते कर्मभिर्धारितायुषाम् । उक्त हि—“ औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासख्येष्वर्पायुषोऽनपवत्यायुषः ” इति । नैव तत्र शरणं विद्यते । नाप्यप्रक्रमणम् । ततः कर्मवशादेव वृग्धपाटितभिन्नच्छिन्नक्षतानि च तेषां सद्य एव सरोहन्ति शरीराणि वृण्डराजिस्विाम्भसि इति ॥

अर्थ—ऊपर लिखे अनुसार अनेक प्रकारके अति तीव्र अमनोज्ञ दुःखोंको निरन्तर भोगते हुए भी उन नारकियोंका असमयमें मरण नहीं हुआ करता। वे इन दुःखोंसे घबडाकर मरना चाहते हैं, फिर भी उन्होंने जो आयुर्कर्म बाँधा है, उसकी स्थिति जबतक पूर्ण नहीं होती, तबतक उनका मरण नहीं हो सकता, यह बात पहिले भी कह चुके हैं, कि—“ औपपा-

तिकचरमदेहोत्तमपुरुषासह्येववर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः " अर्थात् औपपातिकजन्मवाले—देव और नारकी चरमशरीरी उत्तम देहके धारक तथा अमर्यातवर्षाणी आयुवाले जीवोंकी आयुका अपवर्तन नहीं हुआ करता । उन नारकियोंके लिये नरकोंमें कोई भी शरण नहीं होता, और न उनकी आयुका अपक्रम ही हो सकता है । अतएव आयुपर्यन्त उनको उक्त दुःखोंको निरन्तर भोगना ही पडता है । अवश्यभोग्य—कर्मके वशमें पडकर ये उक्त दुःखोंको भोगते हैं, और उस कर्मके ही निमित्तसे उनका शरीर यन्त्र पीडनादि दुःखों या उपघातोंसे विशीर्ण होकर भी—जलाया गया उपाटा गया विदीर्ण किया गया, छेदा गया और क्षत विक्षत किया गया, भी तत्काल फिर जैसेका तेसा हो जाता है । जैसे कि जलमें लकड़ीसे यदि लखीर की जाय, तो जल छिन्न होकर भी तत्काल ज्योंका त्यों मिल जाता है, उसी प्रकार नारकियोंका शरीर समझना चाहिये । वह भी छिन्न भिन्न होकर तत्काल अपने आप जुड जाता है ।

भाष्यम्—एवमेतानि त्रिविधानि दुःखानि नरकेषु नारकाणा भवन्तीति ॥

अर्थ—उपर लिखे अनुसार नरकोंमें जन्म ग्रहण करनेवाले नारकियोंको उपर्युक्त तीन प्रकारके दुःख भोगने पडते हैं ।—परस्पोदीरित, क्षेत्रस्वभावोत्पन्न और असुरोदीरित ।

भावार्थ—यहाँपर नारकियोंके तीन दुःख जो बताये हैं, सो सामान्य अपेक्षासे है । अतएव उसका अर्थ उपर लिखे अनुसार ही घटित कर लेना चाहिये, कि इन तीन प्रकारके दुःखोंमेंसे दो प्रकारके दुःख तो सभी नारकियोंके हुआ करते हैं, किन्तु असुरोदीरित दुःख पहली दूसरी और तीसरी पृथिवीके ही नारकियोंके हुआ करते हैं ।

उपर यह बात लिखी जा चुकी है, कि नारक अनपवर्त्यायुष्क है, अतएव दुःखोंसे आक्रान्त होकर असमयमें मरनेकी इच्छा रखते हुए भी जबतक आयु पूर्ण न हो, मर नहीं सकते । इसपरसे नारकियोंके आयु—प्रमाणको जाननेकी इच्छा हो सकती है । अतएव ग्रन्थकार सातों ही नरकोंके नारकियोंकी आयुका उत्कृष्ट प्रमाण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्रम्—तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः सत्त्वाना परास्थितिः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—तेषु नरकेषु नारकाणा परा स्थितयो भवन्ति । तद्यथा—रत्नप्रभायामेकं सागरोपमम् । एव त्रिसागरोपमा सप्तसागरोपमा दशसागरोपमा सप्तदशसागरोपमा द्वाविंशतिसागरोपमा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा । जघन्या तु पुरस्ताद्भक्ष्यते ।—“ नारकाणा च द्वितीया दिपु । ”—“ दशवर्षसत्स्त्राणि प्रथमायामिति । ”

अर्थ—उक्त सात नरकोंमें रहनेवाले अथवा जन्म—धारण करनेवाले नारकियोंकी आयुका उत्कृष्ट प्रमाण इस प्रकार समझना चाहिये ।—पहली रत्नप्रभा भूमिमें एक

सागर, दूसरी शर्कराप्रभामें तीन सागर, तीसरी बालुकाप्रभामें सात सागर, चौथी परुप्रभामें दश सागर, पाँचवीं धूमप्रभामें सत्रह सागर, छठी तम प्रभामें बाईस सागर, और सातवीं महा-तमःप्रभामें तेतीस सागर । इन नारकियोंकी आयुका जघन्य प्रमाण आगे चलकर लिखेंगे, कि “ नारकाणां च द्वितीयादिषु ” और “ दशवर्ष सहस्राणि प्रथमायाम् । ” अर्थात् नारकियोंकी जघन्य आयुका प्रमाण पहले पहले नरकोंकी उत्कृष्ट आयुकी बराबर समझना चाहिये । पहले नरकीकी आयुका जो उत्कृष्ट प्रमाण है, वह दूसरे नरकमें जघन्य हो जाता है, और दूसरेका जो उत्कृष्ट है, वह तीसरेमें जघन्य हो जाता है । इसी तरह सातवें तक क्रमसे समझ लेना चाहिये । यह क्रम दूसरेसे लेकर सातवें तक हो सकता है, अतएव पहले नरककी आयुका जघन्य प्रमाण दश हजार वर्ष मात्र है । इसका खुगसा आगे चलकर और भी करेंगे ।

यह नरकमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी आयुका प्रमाण बताया, किंतु इतनी इतनी आयु लेकर उक्त नरकमें उत्पन्न होनेकी योग्यता रखनेवाले जीव कौन कौनसे है—अर्थात् किस किस जातिके जीव ज्यादा से ज्यादा किस किस नरक तक जा सकते हैं, यह बताना भी आवश्यक है, अतएव भाष्यकार इसको स्पष्ट करते हैं:—

भाष्यम्—तत्रास्त्रवेर्यथोक्तेनारकसवर्तनीयै कर्मभिरसङ्गिन प्रथमायामुत्पद्यन्ते । सरी-सृपा द्वयोरद्वितित्तु प्रथमद्वितीययो । एव पक्षिणस्तिसृषु । सिंहाश्रतसृषु । उरगा पञ्चसु । स्त्रिय पदसु । मत्स्यमनुष्या सतस्विति । न तु देवा नारका वा नरकेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति । नहि तेषा बद्धारम्भपरिमहादयो नरकगतिनिर्वर्तका हेतवः सन्ति । नाप्युद्धृत्य नारका देवेषूप-धन्ते । न शेषा सरागसयमादयो देवगतिनिर्वर्तका हेतवः सन्ति । उद्धर्ततास्तु तिर्यग्योनौ मनुष्येषु धोत्पद्यन्ते । मानुषत्व प्राप्य केचित् तीर्थकरत्वमपि प्राप्नुयुरादितस्तिसृभ्य निर्वाण चतसृभ्य सयम पञ्चम्य सयमास्रम पड्भ्य सम्यग्दर्शन सप्तम्योऽपीति ॥

अर्थ—कर्मोंके आनेके द्वारको आखव कहते हैं । कर्मभेदके अनुसार आखव भी भिन्न भिन्न ही है । क्योंकि जहाँ कार्यभेद है वहाँ कारणभेद भी होना ही चाहिये । किन् किन आखवोंसे कौन कौनसे कर्मका बन्ध होता है, यह बात शास्त्रोंमें बताई है । उनमेंसे जिनके द्वारा नारक-पर्यायको उत्पन्न करनेवाले कर्मका बन्ध हुआ करता है, ऐसे आगमोक्त आखवोंके निमित्तसे बन्धे हुए कर्मोंके द्वारा जीव नरक-पर्यायको धारण किया करता है । किन्तु सब जीवोंमें एकसी योग्यता शक्ति नहीं हुआ करती । फलतः योग्यताकी तरतमताके अनुसार जीवोंके आखव परिणाम और उससे होनेवाले कर्मबन्ध भी तरतमरूपसे भिन्न भिन्न ही हुआ करते हैं । अतएव किस किस प्रकारके जीवमें वहाँ कहाँ तक—कौनसे कौनसे नरक तक लेजानेवाले कर्मको बाँधनेकी योग्यता है, यह जान लेना भी जरूरी है । वह इस प्रकार है कि—जो असङ्गी-मन रहित पचेन्द्रिय जीव हैं, वे पहली पृथिवी तक ही जा सकते हैं । इसी प्रकार सरीसृप—सर्पविशेष पहली और दूसरी भूमि तक जा सकते हैं । इसी तरह आगेके लिये

समझना चाहिये । अर्थात्—पत्नी आदिकी तीन भूमियों तक, सिंह आदिकी चार भूमियों तक, निषधर सर्प आदिकी पाँच भूमियोंमें, स्त्रियों आदिकी षट् भूमियोंमें, और मनुष्य तथा मत्स्य सातों ही भूमियोंमें जा सकते हैं । इसके सिवाय एक बात यह भी है, कि कोई भी देव अथवा नारकी मरकर नरकमें जन्म—धारण नहीं कर सकता । यद्यपि उनके आरम्भ और परिग्रहकी विपुलता अति तीव्र पाई जाती है, फिर भी वह ऐसी नहीं हुआ करती, कि जो नरकगतिको निष्पन्न कर सके । इसी तरह कोई भी नारकी मरकर देवपर्यायमें भी जन्म—धारण नहीं कर सकता । क्योंकि जो देवगतिको निष्पन्न कर सकते हैं, वे सराग सयमादिक हेतु नारक—जीवोंके नहीं रहा करते । नारक—जीव मरनेके अनन्तर नरकसे निकलकर तिर्यग्योनि अथवा मनुष्य गतिमें ही जन्म ग्रहण कर सकता है, अन्यमें नहीं । नरकसे निकलकर जो जीव मनुष्य पर्यायको धारण किया करते हैं, उनमेंसे कोई कोई जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं । परन्तु आदिकी तीन भूमियोंसे निकले हुए ही जीव तीर्थंकर हो सकते हैं । आदिकी चार भूमियोंसे निकले हुए जीव मनुष्य होकर मोक्षको भी जा सकते हैं । आदिकी पाँच भूमियाके जीव मरनेके अनन्तर मनुष्य होकर सयमको धारण कर सकते हैं । षट् भूमियोंके निकले हुए मनुष्य होकर सयमासयम—देशव्रतको धारण कर सकते हैं, और सातवीं भूमि तकके निकले हुए जीव सम्यग्दर्शनको धारण कर सकते हैं ।

इस प्रकार नरककी गति आगतिकी विशेषता बताई है । इसके सिवाय नरक पृथिवियोंके सन्निवेश—रचना आदिमें भी जो विशेषता है, वह इस प्रकार है कि—

भाष्यम्—द्वीपसमुद्रपर्वतहृदतडागसरासि ग्रामनगरपत्तनादयो विनिवेशा वादरो वनस्पतिकार्यो वृक्षतृणगुल्मादि द्वीन्द्रियादयस्तिर्यग्योनिजा मनुष्या देवाश्चतुर्निकाया अपि न सन्ति, अन्यत्र समुद्रघातोपपातवित्रियासाद्गतिकनरकपालेभ्य । उपपाततस्तु देवा रत्नप्रभायामेव सन्ति नान्यास्तु, गतिस्तृतीया यावत् ॥

अर्थ—द्वीप समुद्र पर्वत बड़े बड़े हृद तडाग और छोटे छोटे सरोवर इन सबकी रचना नरक—भूमियोंमें नहीं है । इसी प्रकार वहाँपर बादर वनस्पतिकाय और वृक्ष तृण—घास आदि और गुल्म—छोटे छोट पौधे द्वीन्द्रिय आदिक तीर्थंज्जीव और मनुष्य तथा चारों ही निकायके देव भी नहीं रहा करते । किन्तु समुद्रघात उपपात विक्रिया साद्गतिक ओर नरकपालोंके लिये यह निषेध नहीं है । उपपातकी अपेक्षासे देव रत्नप्रभामें ही रहा करते हैं, और भूमियोंमें नहीं । देवोंकी गति तीसरी भूमितक हुआ करती है ।

भावार्थ—देवोंका उपपात—जन्म पहली भूमि रत्नप्रभामें ही होता है, अन्य भूमियोंमें नहीं, अतएव उपपातकी अपेक्षासे देव पहली भूमिमें ही रहा करते हैं, अन्य भूमियोंमें नहीं रहते । द्वीप समुद्र आदिका जो निषेध है, सो भी दूसरी आदि पृथिवियोंके विषयमें ही समझना न कि पहली पृथिवीके विषयमें । क्योंकि रत्नप्रभाके ऊपर इन सबका सन्निवेश पाया जाता है ।

इस सूत्रमें जिनका निर्देश किया गया है, वे द्वीप और समुद्र किस प्रकारसे अवस्थित है, और उनका प्रमाण कितना कितना है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं ।—

सूत्रम्—द्विद्विविष्कम्भाःपूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥

भाष्यम्—सर्वे चैते द्वीपसमुद्रा यथाऋममादितो द्विद्विविष्कम्भा पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः प्रत्येतव्या । तद्यथा—

अर्थ—उपर्युक्त सभी द्वीप और समुद्रोंका विष्कम्भ—चौड़ाईका प्रमाण प्रथमसे लेकर अन्त तक—जम्बूद्वीपसे स्वयम्भूरमण पर्यन्त दूना दूना समझना चाहिये । और ये सभी—द्वीप अथवा समुद्र अपने अपनेसे पहले द्वीप या समुद्रको घेरे हुए हैं । जैसे कि जम्बूद्वीपको लवण समुद्र और लवणसमुद्रको धातकीखण्डद्वीप तथा धातकीखण्डद्वीपको कालोदसमुद्र और कालोदसमुद्रको पुष्करवर्द्धीप घेरे हुए है । इसी तरह अत तक समझ लेना चाहिये । अतएव इनका आकार कंकणके समान गोल है ।

दूना दूना प्रमाण जो बताया है, वह तबतक समझमें नहीं आ सकता, जबतक कि पहले द्वीपका प्रमाण मालूम न हो जाय । अतएव उसको बताने हुए उनके सन्निवेशको भी स्फुट करते हैं—

भाष्यम्—योजनशतसहस्रं विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य चक्ष्यते । तद्विगुणो लवणजलसमुद्रस्य । लवणजलसमुद्रविष्कम्भाद्विगुणो धातकीखण्डद्वीपस्य । इत्येवमास्वयम्भूरमणसमुद्रादिति ॥

पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः—सर्वे पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः प्रत्येतव्या । जम्बूद्वीपो लवणसमुद्रेण परिक्षिप्तः, लवणजलसमुद्रो धातकीखण्डेन परिक्षिप्तः, धातकीखण्ड द्वीपः कालोदसमुद्रेण परिक्षिप्तः, कालोदसमुद्रः पुष्करवर्द्धीपार्धेन परिक्षिप्तः, पुष्करद्वीपार्धं मानुपोत्तरेण पर्येतनः परिक्षिप्तः, पुष्करवर्द्धीपः पुष्करवरोदेन समुद्रेण परिक्षिप्तः, एवमास्वयम्भूरमणात्समुद्रादिति ॥

वलयाकृतयः ।—सर्वे च ते वलयाकृतयः सह मानुपोत्तरेणिति ॥

अर्थ—पहला द्वीप जम्बूद्वीप है, उसका विष्कम्भ—विस्तार एक लाख योजनका है, ऐसा आगे चलकर सूत्र द्वारा बतायेंगे । इसमें दूना विस्तार लवणोदसमुद्रका है । लवणोदसमुद्रके विस्तारसे दूना विस्तार धातकीखण्ड द्वीपका है । इसी तरह स्वयम्भूरमणसमुद्र पर्यन्त द्वीपसे समुद्रका और समुद्रसे द्वीपका विस्तार दूना दूना समझना चाहिये । अपनेसे पहले द्वीप या समुद्रका जितना विस्तार हो, उससे दूना अगले द्वीप या समुद्रका विस्तार समझ लेना चाहिये ।

पूर्वपूर्वका परिक्षेपण—ये सभी द्वीप और समुद्र पूर्वपूर्व परिक्षेपी हैं । द्वीपने अपनेसे पहले समुद्रको और समुद्रने अपनेसे पहले द्वीपको चारों तरफसे घेर रक्खा है । जैसे कि जम्बूद्वीप लवणसमुद्रसे घिरा हुआ है, और लवणसमुद्र धातकीखण्ड द्वीपसे घिरा हुआ है, धातकी

वण्ड द्वीप कालोदसमुद्रसे और कालोदसमुद्र आधे पुष्करवरद्वीपसे घिरा हुआ है । आधा पुष्करवरद्वीप मानुषोत्तरपर्वतसे और मानुषोत्तरसे परेका आधा पुष्करवर द्वीप पुष्करवरोद समुद्रसे घिरा हुआ है । इसी तरह स्वयम्भूरमणसमुद्र पर्यन्त समझ लेना चाहिये । अर्थात् ये सभी द्वीप समुद्र परस्परमें एक दूसरेसे परिवेष्टित-घिरे हुए हैं ।

वल्याकृति—उपर्युक्त सभी द्वीप और समुद्रोंका आकार तथा इनके साथ साथ मानुषोत्तर पर्वतकी भी आकृति कर्णके समान गोल समझनी चाहिये ।

भावार्थ—यद्यपि पहले जम्बूद्वीपमें लवणसमुद्रादिके समान कर्णकीसी गोलाई प्रतीत नहीं होती । क्योंकि उसने किसीको घेर नहीं रक्खा है । तो भी जम्बूद्वीपके अतकी परिधिको यदि देखा जाय, तो वैसी आकृति उसकी भी दीखती ही है । अथवा जम्बूद्वीपका आकार थालीके समान गोल समझ लेना चाहिये । यद्वा जम्बूद्वीपसे आगेके समुद्र और द्वीपोंका आकार तो कर्णके समान गोल और जम्बूद्वीपका आकार गोल मणिबन्ध-पहुँचेके समान समझ लेना चाहिये । अथवा इस सूत्रमें वलय-कर्णके समान जो आकृति कही है, सो लवणोदादिकी ही समझनी चाहिये, न कि जम्बूद्वीपकी । जम्बूद्वीपका आकार और उसके विष्कम्भ-विस्तारका प्रमाण बतानेके लिये आगे सूत्र कहते हैं —

सूत्र—तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भोजम्बूद्वीपः ९

माप्यम्—तेषां द्वीपसमुद्राणां मध्ये तन्मध्ये । मेरुनाभिः ।—मेरुरस्य नाभ्यामिति मेरुर्वास्य नाभिरिति मेरुनाभिः । मेरुरस्य मध्य इत्यर्थः । सर्वद्वीपसमुद्राभ्यन्तरो वृत्तः कुलालचक्राकृतिर्योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः । वृत्तग्रहण नियमार्थम् । लवणादयो वलयवृत्ता जम्बूद्वीपस्तु प्रतरवृत्त इति । यथा गम्येत वल्याकृतिभिश्चतुरस्रव्यस्रयोरपि परिक्षेपो विद्यते तथा च माभूदिति ॥

अर्थः—उन उपर्युक्त असख्यात द्वीप और समुद्रोंके मध्यमें पहला जम्बूद्वीप है । वह मेरुनाभि है । अर्थात् मेरु इसका नाभिस्थानमें है, ऐसा कहिये, अथवा यों कहिये कि मेरु इसका नाभिस्थान है । तात्पर्य यही है, कि जम्बूद्वीपके ठीक मध्यमें मेरु है । यह सम्पूर्ण द्वीप और समुद्रोंके अभ्यन्तर ठहरा हुआ है और वृत्त-गोल है । इसका आकार कुम्भारके चक्रके समान है, और उसका विस्तार एक लाख योजनका है ।

सूत्रमें वृत्त शब्द न दिया जाता, तो भी चक्र शब्द था, फिर उसका जो ग्रहण किया है, सो विशेष नियमको बतानेके लिये है । वह यह कि लवणोदादिक असख्यात द्वीप समुद्र तो

१-मेरु पाँच है—सुदर्शन विद्युमाली विजय अचल और मन्दर । इनमेंसे पहला सुदर्शनमेरु जम्बूद्वीपके मध्यमें है और वह शेष चारोंसे बड़ा है । चारोंका प्रमाण बराबर है । चारोंसे दोघातकी खण्ड और दो पुष्करवर द्वीपके दोनों तरफके भागोंमें अवस्थित है । २-योजन ४ कोशका होता है । परन्तु यहाँपर जो प्रमाण बतानेका है, वह प्रमाणानुसारी अपेक्षासे है । उत्सेधाहुलसे प्रमाणाहुल पाँचवीं गुणा होता है । अतएव प्रकृतमें जो प्रमाण दो हजार कोशके बराबर समझना चाहिये ।

भरतवर्षस्य योजनानां चतुर्दशसहस्राणि चत्वारि शतान्येकसप्ततीनि पद् च भागा विशेषतो ज्या । इपुर्यथोक्तो विष्कम्भ । धनुकाष्ठ चतुर्दश सहस्राणि शतानि पञ्चाष्टविंशान्येकादश च भागा साधिका ॥

भरतक्षेत्रमध्ये पूर्वापरायत उभयत समुद्रमवगाढो वैताढ्यपर्वत पद् योजनानि सकोशानि धरणिमवगाढ पञ्चाशद्विस्तरत पञ्चविंशत्युच्छ्रित ॥

अर्थः—उपर्युक्त छह कुटाचलेमेंसे हिमवान्पर्वतका अवगाह पच्चीस योजन और उँचाई एक सौ योजनकी है । इससे दूना अर्थात् ५० योजन अवगाह और दो सौ योजन उँचाई महाहिमवान्की है । इससे भी दूना प्रमाण अर्थात् १०० योजन अवगाह और चार सौ योजन उँचाई निपधकी है । निपधके समान नीलका, महाहिमवान्के समान रुक्मीका, और हिमवान्के समान शिखरीका प्रमाण समझना चाहिये ।

भरतक्षेत्रका प्रमाण तीन तरहसे जानना चाहिये—ज्या इपु और धनुकाष्ठ । हिमवान्पर्वतसे लगी हुई धनुपकी डोरीके समान जो रेखा है, उसको ज्या कहते हैं । उसका प्रमाण चौदह हजार चारसौ योजन और एक योजनके ७१ भागमेंसे ६ भाग (१४४०० $\frac{६}{७१}$ योजन) है । धनुपर बाण रखनेकी जगहके समान भरतक्षेत्रकी उत्तर दक्षिण मध्यवर्ती जो रेखा है, उसको इपु कहते हैं, उसका प्रमाण ऊपर लिखे अनुसार ही समझना चाहिये, अर्थात् ५२६ $\frac{६}{७१}$ योजन । धनुपकी लफ्डीके समान समुद्रके निकटवर्ती परिधिरूप जो रेखा है, उसको धनुकाष्ठ कहते हैं । उसका प्रमाण चौदह हजार पाँचसौ योजन और एक योजनके २८ भागोंमेंसे ११ भाग (१४५०० $\frac{११}{२८}$ योजन) से कुछ अधिक है ।

भरतक्षेत्रके मध्य भागमें एक वैताढ्य नामका पर्वत है, जिसको कि विजयार्ध आदि नामोंसे भी कहते हैं, वह पूर्व पश्चिम लम्बा है, और इन दोनों ही भागोंमें समुद्रका स्पर्श कर रहा है—इसका पूर्व भाग पूर्वसमुद्रमें और पश्चिम भाग पश्चिम समुद्रमें प्रविष्ट हो गया है । सवा छह योजन पृथ्वीके भीतर है, तथा पचास योजन उत्तर दक्षिण चौड़ा एव पच्चीस योजन उँचा है ।

भाष्यम्—विदेहेषु निपधस्योत्तरतो मन्दरस्य दक्षिणत काञ्चनपर्वतशतेन चित्रकूटेन विचित्रकूटेन चोपशोभिता देवदुरवो विष्कम्भेणैकादशयोजनसहस्राण्यष्टौ च शतानि द्विचत्वारिंशानि द्वौ च भागौ, एवमेवोत्तरेणोत्तरा कुरवद्विचक्रुट विचित्रकूटदीना द्वाभ्यां च काञ्चनाभ्यामेव यमकपर्वताभ्या विराजिता ॥

विदेहा मन्दरदेवकुरूत्तरकुरुभिर्विभक्ता क्षेत्रान्तरवद्भवन्ति । पूर्वं चापरे च । पूर्वेषु षोडश चरुवर्तिविजया नदीपर्वतविभक्ता परस्परगमा अपरेऽप्येवलक्षणा शोडशैव ॥

तुल्यायामविष्कम्भावगाहोच्छ्रायो दक्षिणोत्तरौ वैताढ्यौ तथा हिमवच्छिखरिणौ महाहिमवद्भुविमणो निपधनीलौ चेति ॥

१—भरत क्षेत्रके छह खंड हैं । तीन भाग विजयार्धके उत्तरमें और तीन भाग दक्षिणमें हैं । चक्रवर्ती छहों खंडको जीतता है, विजयार्ध तक उसकी आधी विजय हो जाती है, इसी लिये इसको विजयार्ध कहते हैं । जो अर्धवकी—नारायण होते हैं, वे वहीं तक विजय प्राप्त करते हैं । विजयार्ध उत्तर भागमें सम्मिलित है ।

अर्थ—विदेहक्षेत्रमें देवकुरु और उत्तरकुरु नामके दो क्षेत्र हैं, जहाँपर सदा भोगभूमि ही रहा करता है। निपथपर्वतसे उत्तरकी तरफ और मेरुसे दक्षिणकी तरफ जो क्षेत्र है। उसको देवकुरु कहते हैं। यह क्षेत्र अनेक पर्वतोंसे शोभायमान है। इसमें पाँच सरोवरोंके दोनो बानुओंमें अवस्थित दश दशसुवर्णगिरि है, और सीतोदानदीके पूर्व तथा पश्चिमकी तरफ चित्रकूट और विचित्रकूट नामके दो पर्वत है। ये दोनों एक हजार योजन ऊँचे है, पृथ्वीपर इनकी चौडाई एक हजार योजन और ऊपर चलकर पाँच सौ योजन है। देवकुरुकी चौडाई म्यारह हजार आठ सौ योजन और एक योजनके व्यालीस भागोंमेंसे दो भाग ११८००३३ योजन है।

इसी प्रकार मेरुसे उत्तरमें और नीलपर्वतसे दक्षिणकी तरफ उत्तरकुरु भोगभूमि है। इसमें यह विशेषता है, कि चित्रकूट और विचित्रकूट नामके दोनों पर्वत नहीं हैं। इनकी जगह पर इस क्षेत्रमें सीतानदीके किनारेपर दो सुवर्णमय यमक पर्वत है, जिनका कि प्रमाण चित्रकूट और विचित्रकूटके समान ही है। इसका विस्तार भी देवकुरुके समान है, और इसमें वाञ्छनगिरि-पर्वत भी देवकुरुके समान ही अवस्थित है।

यद्यपि जम्बूद्वीपके ठीक मध्यमें और निपथ नील पर्वतके अंतरालमें सामान्यसे विदेह-क्षेत्र एक ही है, तो भी मेरुपर्वत और देवकुरु तथा उत्तरकुरुसे विभक्त होकर क्षेत्रान्तरके समान उसके जुदे जुदे विभाग हो गये है। विदेहके मूल विभाग दो हैं—पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह। मेरुके पूर्व भागको पूर्व विदेह और पश्चिम भागको पश्चिम विदेह कहते हैं। इनमें भी प्रत्येकके सोलह सोलह भाग हैं, और सोलहमेंसे भी प्रत्येकके छह छह खण्ड है, जिनकी कि चक्रवर्ती विजय किया करता है। ये खण्ड नदी और पर्वतोंसे विभक्त होकर हुए हैं। इनके निवासियोंका परस्परमें गमनागमन नहीं हुआ करता। पूर्व विदेह और पश्चिम विदेहके विभाग और उनका प्रमाण आदि तुल्य है।

भावार्थ—मेरुके पूर्व और पश्चिमके दोनों भागोंको चार चार वक्षारगिरि और तीन तीन विभंगा नदियोंके मध्यमें एक तरफ सीता और दूसरी तरफ सीतोदानदीके पठ जानेसे सोलह सोलह भाग हो गये है। इन्हींको जम्बूद्वीप सम्बन्धी ३२ विदेह कहते हैं। प्रत्येक भागके भी भरत क्षेत्रके समान छह छह खण्ड हैं। क्योंकि भरतके समान इन प्रत्येक भागोंमें भी एक एक विजयार्थ और गगा सिंधु नामकी दो दो नदियाँ है। भरतके समान यहाँके छह छह खण्डोंका विजेता भी एक एक चक्रवर्ती हुआ करता है। आपसमें इन क्षेत्रोंके निवासियोंका गमनागमन नहीं हुआ करता। विदेहमें एक समयमें ज्यादा से ज्यादा ३२ चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर हो सकते है। तीर्थंकर कमसे कम ४ भी हो सकते है। पाँचों मेरुसम्बन्धी तीर्थंकर कमसे कम २० हो सकते है, क्योंकि एक एक मेरु के चार चार विदेह है।

दक्षिण और उत्तरमें जो वैनाद्यपर्वत है, उन दोनोंकी लम्बाई "जमानिके"

भीतरकी गहराई और जमीनसे ऊपरकी उँचाई समान है। जितनी दक्षिणके वैताढ्यकी लम्बाई आदिक है, उतनी ही उत्तरके वैताढ्यकी है। इसी तरह हिमवान् और शिखरीपर्वतकी लम्बाई आदिक परस्परमें समान हैं। जितनी हिमवान्की है, उतनी ही शिखरीकी है। महाहिमवान् और रुक्मीकी समान हैं। तथा निषध और नीलकी समान है।

भावार्थ—विदेहसे उत्तरकी तरफ जो पर्वत है, उनकी लम्बाई चौड़ाई आदिक प्रमाण उत्तरके पर्वतोंके समान समझना चाहिये। जिस तरह भरत ऐरावत आदि क्षेत्रोंका प्रमाण परस्परमें समान है, उसी प्रकार दक्षिण उत्तरके वैताढ्य आदि पर्वतोंका आयाम विष्कम्भ अवगाह और उच्चग्रय परस्परमें एक सरीखा समझना चाहिये।

इस प्रकार जम्बूद्वीपके क्षेत्र पर्वतोंका प्रमाण बताकर एक विशेष बातका उल्लेख करते हैं। ऊपर विदेहक्षेत्रके मध्यमें मेरुका वर्णन किया है। इसी तरह—जम्बूद्वीपके समान घातकी-खण्ड और पुष्करार्धद्वीपके विदेहोंमें भी मेरु हैं। किन्तु जम्बूद्वीपसे घातकीखण्ड और पुष्करार्धका प्रमाण दूना है। अतएव इन दोनों द्वीपोंमें विदेहक्षेत्र दो दो हैं। और इसी लिये इन चार विदेहोंके मेरु भी चार हैं। किन्तु इन चारोंका प्रमाण जम्बूद्वीपके मेरुके समान नहीं है, कम है। कितना प्रमाण है सो बताते हैं—

भाष्यम्—क्षुद्रमन्दरास्तु चत्वारोऽपि घातकीखण्डकपुष्करार्धका महामन्दरात्पञ्चदशभि र्योजनसहस्रैर्हानोच्छ्रया । पद्मभिर्योजनशतैर्धरणिगतले हीनविष्कम्भा । तथा प्रथमं काण्डम् महामन्दरतुल्यम् । द्वितीयं सप्तभिर्हानैः तृतीयमष्टाभिः । भद्रशालनन्दनवने महामन्दरवत् । ततो अर्धपद् पञ्चाशद्योजनसहस्राणि सौमनस पञ्चशत विस्तृतम् । ततोऽष्टाविंशतिसहस्राणि चतुर्नवातिचतु शतविस्तृतमेव पाण्डक भवति । उपरि चाधश्च विष्कम्भोऽवगाहश्च तुल्यो महामन्दरेण, चूलिका चेति ॥

विष्कम्भकृतेर्धशगुणायाम् मूल वृत्तपरिक्षेप । स विष्कम्भपादाभ्यस्तो गणितम् । इच्छा-
धगाहोनावगाहाभ्यस्तस्य चतुर्गुणस्य मूल ज्या । ज्याविष्कम्भयोर्वर्गविशेषमूल विष्कम्भाच्छोध्य
शेषार्धं मिपु । इपुवर्गस्य पद्मगुणस्य ज्यावर्गयुतस्य कृतस्य मूल वनु काष्ठम् । ज्यावर्गचतुर्भा-
गयुक्तमिपुवर्गमिपुविभक्त तत्प्रकृतिवृत्तविष्कम्भ । उद्वन्नुकाष्ठाद्दक्षिण शोध्य शेषार्धं
बाहुरिति ॥ अनेन करणाम्युपायेन सर्वक्षेत्राणां सर्वपर्वतानामायामविष्कम्भज्येपुधनु काष्ठ-
परिमाणानि ज्ञातव्यानि ॥

अर्थ—घातकीखण्ड और पुष्करार्धसम्बन्धी चारों क्षुद्र मेरुओंकी उँचाईका प्रमाण महामेरुसे पद्मह हजार योजन कम है। पृथिवीके भीतरका विष्कम्भ छह सौ योजन कम है। चारों मेरुओंका पहला काण्ड महामेरुके प्रथम काण्डके समान है। दूसरा काण्ड सात हजार योजन कम है। तीसरा काण्ड आठ हजार योजन कम है। भद्रशालवन और नन्दनवन महामेरुके समान हैं। नन्दनवनसे साठे पचपन हजार योजन ऊपर चलकर सौमनसवन है, इसकी भी चौड़ाई पाँच सौ योजनकी ही है। सौमनससे अट्ठाईस हजार योजन ऊपर

चत्वर पाण्डुर्यन है। इसकी भी चौड़ाई चार सौ चौरानो योजनकी ही है। ऊपर और नीचेका विष्कम्भ तथा अवगाह महामेरुके समान है। चारोंकी चूडिकाका प्रमाण भी महामेरुकी चूडिकाके समान ही समझना चाहिये।

भार्यार्थ—घानकी खण्डमें दो और पुष्करार्थमें दो इस तरह चार जो मेरु हैं, वे क्षुद्र-मेरु बटे जाते हैं। क्योंकि इनका प्रमाण महामेरु—जम्बूद्वीपके मध्यवर्ती सुदर्शनमेरुसे कम है। किन्तु चारोंका प्रमाण परस्परमें समान है। महामेरुमें इनके कित्त किम भागका प्रमाण कितना कितना कम है, अथवा समान है, सो ऊपर बताया है। अर्थात् इनकी ऊँचाई ८४ हजार योजन है। पृथिवीतन्का विष्कम्भ ९४०० योजन है। चारों मेरुओंके पृथ्वीके भीतरका अवगाह महामेरुके समान एक हजार योजन है। दूसरा काण्डक ५६ हजार योजनका है। तीसरा काण्डक २८ हजार योजनका है। भद्रशालयन और नन्दनवन महामेरुके समान है। इन चारों क्षुद्र मेरुओंके नीचे चारों तरफ पृथ्वीपर महामेरुके समान भद्रशालयन है। उसमें पाँचसौ योजन ऊपर चत्वर नन्दनवन है। उससे साठे छप्पन हजार योजन ऊपर चत्वर मौमनस वन है। उससे २८ हजार योजन ऊपर चत्वर पाण्डुवन है। सौमनसका विस्तार ५०० योजन और पाण्डुवनका विस्तार ४९४ योजनका है। इसके सिवाय ऊपर नीचे तथा चत्त्रिकाका प्रमाण महामेरुके समान ही समझना चाहिये।

इस प्रकार क्षुद्र मेरुओंका स्वरूप बताकर अब कुछ गणितके नियमोंका उल्लेख करते हैं निम्नमें कि द्वीप समुद्रादिककी परिधि जीवा आदिना स्वरूप सुगमतासे और अच्छी तरह समझमें आनाय—

विष्कम्भके वर्गको दशगुणा करके वर्गमूल निकालनेपर गोल क्षेत्रकी परिधिका प्रमाण निकलता है। परिधिका विष्कम्भके चौथाई भागसे गुणा करनेपर गणितपद निकलता है। इस नियमके अनुसार जम्बूद्वीपकी परिधिका प्रमाण और जम्बूद्वीपमें एक एक योजनके चौकोर खण्ड कितने हो सकते हैं, सो समझमें आसकता है।

इच्छित्त अवगाहका जितना प्रमाण हो, उसको विष्कम्भमेंसे घटानेपर पुन अवगाह प्रमाणसे गुणा करके चौगुणा करना चाहिये, ऐसा करनेपर जो राशि उत्पन्न हो उसका वर्गमूल निकालना चाहिये। इससे गोल क्षेत्रकी जीवाका प्रमाण निकलता है। अतएव इस विधिके अनुसार जम्बूद्वीपके मध्यवर्ती भरतादिक क्षेत्रोंकी जीवाका प्रमाण कितना है, सो समझमें आसकता है।

जीवाका वर्ग और विष्कम्भका वर्ग करके दोनोंकी बाकी निकालनी चाहिये। पुन बाकीका वर्गमूल निकालकर विष्कम्भके प्रमाणसे शोधन करना चाहिये। जो शेष रहे, ~~उसका~~

आधा इपुका प्रमाण समझना चाहिये । इस नियमके अनुसार भरतादिक क्षेत्रोंके इपुका प्रमाण निकाल लेना चाहिये ।

इपुके वर्गको छहसे गुणा करके ज्याके वर्गमें मिलाना चाहिये, पुनः उसका वर्गमूल निकालनेसे धनु काष्ठका प्रमाण निकलता है ।

जीवाके वर्गमें चारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे, उसको इपुके वर्गमें मिलाना चाहिये । पुन उसमें इपुका भाग देना चाहिये । लब्ध-राशिको वृत्तक्षेत्रका विष्कम्भ समझना चाहिये ।

उत्तरेके धनु काष्ठका जो प्रमाण हो, उसमेंसे दक्षिणके धनु काष्ठके प्रमाणको घटा देना चाहिये । जो बाकी रहे उसका आधा बाहुका प्रमाण समझना चाहिये ।

इन करण-सूत्रोंके अनुसार सम्पूर्ण क्षेत्रोंके तथा वैताड्य आदि समस्त पर्वतोंके आयाम निष्कम्भ इपु ज्या धनु काष्ठके प्रमाणको समझ लेना चाहिये ।

इस प्रकार जम्बूद्वीपके विषयका वर्णन करके द्वीपान्तरोंका भी वर्णन करनेकी इच्छासे ग्रन्थकार सूत्र कहते हैं—

सूत्र—द्विर्धातकी खण्डे ॥ १२ ॥

भाष्यम्—एते मन्दरवशैवर्षधरा जम्बूद्वीपेऽभिरिता एते द्विगुणाधातकीखण्डे द्वाभ्यामिष्वाकारपर्वताभ्या दक्षिणोत्तरायताभ्या विभक्ता । एभिरेव नामभिर्जम्बूद्वीपकसमभरया पूर्वार्षे चापार्षे च चकारैकसस्थिता निषधसमोच्छ्राया कालोदलवणजलस्पर्शिनो वशधरा सङ्गाकारा । अरविवरसस्थिता वशा इति ॥

अर्थ—जम्बूद्वीपमें मेरुपर्वत क्षेत्र आदिका जो वर्णन किया है, उससे दूना प्रमाण धातकीखण्डमें उन सबका समझना चाहिये । क्योंकि यहाँपर दो इष्वाकारपर्वत पड़े हुए हैं, जोकि दक्षिण उत्तर लम्बे हैं, और जिनके कि निमित्तसे इस धातकीखण्डके दो भाग हो जाते हैं—पूर्वार्ष और पश्चिमार्ष । दोनों ही भागोंमें जम्बूद्वीपके समान मेरु आदिक अवस्थित है । जम्बूद्वीपमें जो पर्वत और क्षेत्रों आदिके नाम हैं, वे ही नाम यहाँपर भी हैं । पर्वत और क्षेत्रोंकी संख्या पूर्वार्ष और पश्चिमार्षमेंसे प्रत्येकमें जम्बूद्वीपके समान है ।

१—आचार्यने इन करण-सूत्रोंका वर्णन सधेपमें ही किया है । क्योंकि विस्तारसे लिखनेमें ग्रन्थगीरवका भय है । कुछ विद्वानोंने इस विषयको विस्तृत बनानेके लिये और भी अनेक सूत्रोंकी रचना की है । किन्तु उसने शास्त्रनिपुणजन प्राचीन नहीं हैं ऐसा कहते हैं । २—ये एते इति क्वचित्पाठ । ३—मन्दरवपर्वतधरा इति च पाठ । ४—चकारसस्थिता इति च पाठान्तरम् । ५—इपु-वाणके समान इनका आकार है, इसी लिये इनको इष्वाकार कहते हैं । ६—समानसे मतलब पर्वत क्षेत्र हृद नदी आदिकी सहासे है, न कि प्रमाण और सत्या आदिसे । क्योंकि पर्वतादिकोंकी जो सहाए जम्बूद्वीपमें हैं, वे ही धातकीखण्ड और पुष्करार्थमें हैं । सहा जम्बूद्वीपसे धातकीखण्ड और पुष्करार्थमें दूनी है । जम्बूद्वीपमें एक भरत है, तो यहाँपर दो दो हैं । इनका प्रमाण जम्बूद्वीपकी अपेक्षा कई गुणा है । क्योंकि जम्बूद्वीपका विष्कम्भ एक लाख योजा तथा धातकीखण्डका ४ लाख योजन और सूची १३ लाख योजन है ।

घातकीखण्डमें जो पर्वत हैं, वे तो पूर्वार्ध और पश्चिमार्ध दोनों ही भागोंमें गाड़ीके पहियेके अरोंकी तरह अवस्थित हैं। और अरोंकी मध्यवर्ती जगहकी तरह क्षेत्र अवस्थित है। पर्वतोंकी उँचाई निषधगिरिके समान समझनी चाहिये। ये पर्वत एक बाजूमें तो कालोदधिसमुद्रके जलका और दूसरी बाजूमें लवण समुद्रके जलका स्पर्श करनेवाले हैं। क्योंकि घातकीखण्डके दोनों भागोंमें ये दो समुद्र अवस्थित हैं। तथा इन पर्वतोंके साथ साथ पाँच सौ योजन ऊँचे इप्वाकारपर्वत भी अवस्थित हैं।

भावार्थ—जम्बूद्वीपकी घेरे हुए लवण समुद्र है, और लवण समुद्रको घेरे हुए घातकीखण्ड नामका दूसरा द्वीप है। उक्त प्रमाणके अनुसार घातकीखण्डका विष्कम्भ ४ लाख योजनका है। जिस प्रकार जम्बू वृक्षके निमित्तसे पहले द्वीपकी जम्बूद्वीप सज्ञा है, उसी प्रकार घातकी वृक्षके निमित्तसे इस द्वीपकी घातकीखण्ड सज्ञा है। यहाँपर भरतादि क्षेत्रोंकी और हिमवदादि पर्वतों तथा नदी सरोवरादिकी सख्या जम्बूद्वीपसे दूनी है। जम्बूद्वीपमें एक भरत है, यहाँपर दो हैं, इत्यादि सभी क्षेत्र और पर्वतादिक दूने समझने चाहिये। सज्ञाए सबकी जम्बूद्वीपके समान ही समझनी चाहिये। घातकीखण्डके ठीक मध्य भागमें किन्तु एक उत्तरमें और दूसरा दक्षिणमें इस तरह दो इप्वाकारपर्वत पड़े हुए हैं, जोकि दक्षिण उत्तर लम्बे हैं, और इसी लिये लवणसमुद्र तथा कालोदधिसमुद्रका स्पर्श कर रहे हैं। इसके निमित्तसे ही घातकीखण्डके दो भाग होगये हैं, एक पूर्वार्ध दूसरा पश्चिमार्ध। दोनों ही भागोंमें भरतक्षेत्रादिकी रचना है। अतएव जम्बूद्वीपकी अपेक्षा यहाँके भरतक्षेत्रादिकका प्रमाण दूना कहा जाता है। घातकीखण्डका आकार गाड़ीके पहियेके समान है, जिसमें कि अरोंकी जगह पर्वत तथा अरोंके मध्यवर्ती डिब्बोंकी जगह क्षेत्र हैं। यहाँके वर्षपर पर्वतोंकी उँचाई चार सौ योजनकी है।

जिस प्रकारकी रचना घातकीखण्डमें है, ठीक वैसी ही रचना पुष्करार्धमें है। इसी बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पुष्करार्धे च ॥ १३ ॥

भाष्यम्—यश्च घातकीखण्डे मन्दरादीना सेष्वाकारपर्वताना सख्याविषयनियम स एव पुष्करार्धे वेदितव्यः ॥

तत् पर मानुषोत्तरो नाम पर्वतो मानुषलोकपरिक्षेपी सुनगरप्राकारवृत्त पुष्करवरद्वीपार्धविनिविष्ट काञ्चनमय सप्तदशकविंशतियोजनशतान्युच्छिन्न चत्वारि त्रिंशानि त्रिंश चाधो धरणीतलमवगाढो योजनसहस्र द्वाविंशमधस्ताद्विस्तृत सप्तशतानि त्रयोविंशानि मध्ये चत्वारि चतुर्विंशान्युपरीति ॥

१ ये शृङ्ख वनस्पतिनाय नहीं हैं, किन्तु पृथ्वीके एक विभाग हैं, जोकि इस तरहके वृक्षके आकारमें परिणत हो गये हैं। यह परिणमन अनादि और अकृत्रिम है। इनका विशेष वर्णन तिलोत्पण्णति-त्रिलोकप्रशस्ति और त्रिलोकसारादिक ग्रंथोंमें देखना चाहिये। २-क्षेत्रोंकी सख्याई चौड़ाई आदिका प्रमाण तत्त्वार्थरत्नवार्तिक आदिसे जानना चाहिये।

मरण हो सकता है, और उपपातकी अपेक्षा जन्म भी पाया जा सकता है, शेष अवस्थाओंमें नहीं। अतएव इस पर्वतको मानुषोत्तर कहते हैं।

इस प्रकार मानुषोत्तरपर्वतके पहले ढाई द्वीप, दो समुद्र, पाँच मेरु, पैंतीस क्षेत्र, तीस वर्षावर्ष पर्वत, पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु, एक सौ साठ चक्रवर्तियोंके विजयक्षेत्र, दो सौ पचपन जनपद, और छप्पन अन्तर द्वीप हैं।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता मानुषस्य स्वभावमार्दवाज्जवत्व चेति । तत्र क मनुष्या क्व चेति अत्रोच्यते — •

अर्थ—इसी ग्रथमें आगे चलकर आपने कर्मोंके आखवके प्रकरणमें कहा है, कि “स्वभावमार्दवाज्जवाव च ।” अर्थात् स्वभावकी मृदुता और ऋजुता मनुष्यायुके आखवका कारण है, और भी मनुष्य शब्दका उल्लेख कई जगहपर किया है। किन्तु यह नहीं बताया कि वे मनुष्य कौन हैं ? और कहाँ रहते हैं ? अतएव इसी बातको दिखानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ १४ ॥

भाष्यम्—प्राग् मानुषोत्तरात्पर्वतात्पञ्चत्रिंशत्सु क्षेत्रेषु सान्तरद्वीपेषु जन्मतो मनुष्या भवन्ति । सहरणविद्याद्विद्योगाच्च सर्वेष्वर्धतृतीयेषु द्वीपेषु समुद्रद्वये च समन्दराशिरवरोष्विति । भारतका हैमवतका इत्येवमादयः क्षेत्रविभागेन । जम्बूद्वीपका लवणका इत्येवमादयो द्वीपसमुद्रविभागेनेति ॥

अर्थ—उपर्युक्त मानुषोत्तरपर्वतके पूर्वमें—मानुषोत्तरपर्वतकी मर्यादासे घिरे हुए पैंतालीस लाख योजन प्रमाण त्रिकम्बवाले मनुष्यक्षेत्रमें—पैंतीस क्षेत्रोंमें तथा छप्पन अन्तरद्वीपोंमें मनुष्य जन्म धारण किया करते हैं। सहरण विद्या और ऋद्धिकी अपेक्षासे तो मनुष्योंका सन्निधान सर्वत्र—ढाई द्वीपोंमें दो समुद्रोंमें तथा मेरुशिखरोपर पाया जाता है। भारतक—भरत क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले और हैमवतक—हैमवतक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले इत्यादि क्षेत्र विभागकी अपेक्षासे मनुष्योंके भेद हैं। तथा जम्बूद्वीपक—जम्बूद्वीपमें उत्पन्न होनेवाले, लवणक—लवणसमुद्रमें उत्पन्न होनेवाले इत्यादि द्वीपसमुद्रके विभागकी अपेक्षासे मनुष्योंके भेद है।

भावार्थः—मनुष्य आयु और मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे जो जन्म धारण करते हैं, उन जीवोंको मनुष्य कहते हैं। अतएव मनुष्य पर्याय जन्मकी अपेक्षासे ही समझनी चाहिये, न कि किसी अन्य कारणसे। मनुष्यजन्म मानुषोत्तरपर्वतके भीतरके क्षेत्रमें ही होता

१-जम्बूद्वीपके ७ पातलीपट्टके १४ पुत्रार्थके १४। २-जम्बूद्वीपके ६, घातलीपट्टके १२, पुष्करार्थके १२। ३-पाँच मेरुओंके आठ यात्रके विदेहक्षेत्रम्बन्धी लिये हैं। पाँच भरत और पाँच ऐरावतोंके जोड़नेसे १७० होते हैं। ४-जापदसे मतलब आर्यजनपदोंका है। ५-हिमवान् और शिखरोंके पूर्व तथा पश्चिमकी तरफ शिक्षाओंमें मात गत अन्तरद्वीप हैं, जो मिल्कर ५६ होते हैं।

है बाहर नहीं । इस कथनसे मनुष्योंका स्वरूप और अधिकरण क्या है, सो मालूम होता है । परन्तु मनुष्योंके भेद कितने है, सो नहीं मालूम होते । इसके लिये कहते हैं, कि उनके भेद अनेक प्रकारसे किये जा सकते हैं, क्षेत्र-विभागकी अपेक्षासे तथा द्वीपसमुद्र विभागकी अपेक्षासे । इत्यादि । परन्तु जिनमें सभी भेदोंका अन्तर्भाव हो जाय, ऐसे मूलभेद कौनसे है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते है—

सूत्र—आर्या म्लेच्छाश्च ॥ १५ ॥

भाष्यम्—द्विविधा मनुष्या भवन्ति, आर्या, म्लिशश्च । तिस्रार्याः पितृद्विविधाः क्षत्रियः जात्यार्या कुलार्या कर्मार्या गिल्पार्या भाषार्या इति । तत्र क्षेत्रार्या पञ्चदशसु कर्मभूमिषु जाता । तथार्य भरतेष्वर्धपद्द्विंशतिषु जनपदेषु जाता शीपेषु च चक्रवर्तिविजयेषु । जात्यार्या इक्ष्वाकवो विदेहा हरयोऽम्बवा हाता कुरवो बुवुनाला उभ्रा भोगा राजन्या इत्येवमादयः । कुलार्या कुलकराश्चक्रवर्तिनो बलदेवा वासुदेवा ये चान्ये आतृतीयादा पञ्चमादा सप्तमादा कुलकरेभ्यो वा विशुद्धान्वयप्रकृतयः । कर्मार्या यजनयाजनाध्ययनाध्यापनप्रयोगकृषिलिपिवाणिज्ययोनिपोषणवृत्तयः । शिल्पार्यास्तन्तुवायकुलालनापित्तुन्नवायदेवटादयोऽल्पसावद्या अर्गहिताजीवा । भाषार्या नाम ये शिष्टभाषानियतवर्ण लोकरूढस्वप्नशब्द पञ्चविधा नामप्यार्याणा सन्धवहार भाषन्ते ॥

अर्थ—मूलमें मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—एक आर्य दूसरे म्लेच्छ । आर्य मनुष्योंके उह भेद है—क्षेत्रार्य जात्यार्य कुलार्य कर्मार्य शिल्पार्य और भाषार्य । जो पन्द्रह कर्मभूमियोंमें उत्पन्न होनेवाले है, तथा भरतक्षेत्रके साठे पचीस जनपदोंमें अथवा शीप चक्रवर्तीके विजय स्थानोंमें जो जन्म धारण करनेवाले है, उनको क्षेत्रार्य कहते हैं । इक्ष्वाकु विदेह हरि अम्बष्ठ ज्ञात कुरु बुवुनाल उग्र भोग और राजन्य प्रभृति जातिकी अपेक्षासे जो आर्य है, उनको जात्यार्य कहते हैं । कुलकी अपेक्षासे जो आर्य है, उनको कुलार्य कहते हैं, जैसे कि कुलकर चक्रवर्ती बलदेव वासु देव प्रभृति तथा और भी तीसरेसे पाँचवेंसे या सातवेंसे लेकर कुलार्योंके वशमें जो उत्पन्न हुए हैं, या जो विशुद्ध वंश और प्रकृतिको धारण करनेवाले हैं, उनको कुलार्य कहते हैं । जो अनाचार्यक कर्मकी अपेक्षासे आर्य है, उनको कर्मार्य कहते हैं, जैसे कि यजन याजन अध्ययन अध्यापनका प्रयोग—कर्म करनेवाले तथा कृषि (खेती) लिपि (लेखन) वाणिज्य (व्यापार) की योनिभूत—मूलरूप पोषणवृत्ति—जिससे कि प्रजाका पोषण होता है, करनेवाले हैं, उनको कर्मार्य कहते हैं । शिल्प—कारीगरीके कर्म करनेकी अपेक्षासे जो आर्य हैं, उनको शिल्पार्य कहते हैं । जैसे कि तन्तुवाय (कपडे बुननेवाले) कुलाल (कुम्भार) नापित (नाई) तुन्नवाय (सूत कातनेवाले) और देवट प्रभृति । शिल्पार्योंसे इनका कर्म

१—आर्या म्लिशश्चेत्यपि क्वचित्पठ्यते ॥ २—तद्यथा इति क्वचित्पठन्ति । ३—कहीं बुवुनाल और कहीं बुवनाल भी पाठ है । ४—कहीं भोज शब्द है ।

अल्पसावद्य है, और इसी लिये इनका आजीवन अगर्हित माना गया है। भाषा—शब्द व्यवहारकी अपेक्षासे जो आर्य है, उनको भाषार्य कहते हैं। गणधरादिक शिष्ट—विशिष्ट—सर्वातिशय सम्पन्न व्यक्तियोंके बोलनेकी जो संस्कृत अथवा अर्धमागधी आदि भाषाएँ हैं, उनमें अकारादि वर्णोंके पूर्वापरीभावसे सन्निवेश करनेके जो विशिष्ट नियम हैं, उनकी जिसमें प्रधानता पाई जाती है, तथा जो लोकमें रूढ—अत्यन्त प्रसिद्ध है, और स्फुट—बाल—भाषाके समान व्यवहारमें अव्यक्त नहीं है, ऐसे शब्दोंका जिसमें व्यवहार पाया जाता है, ऐसी उपर्युक्त पाँच प्रकारके आर्य पुरुषोंके बोलनेकी भाषाका जो व्यवहार करते हैं, उनको भाषार्य समझना चाहिये।

भाषार्य—सामान्यतया मनुष्योंके दो भेद है।—एक आर्य दूसरे म्लेच्छ। जो गुणोंके धारण करनेवाले हैं, अथवा जो गुणवानोंके आश्रय हैं, उनको आर्य कहते हैं। साठे पचीस जन-पदोंमें जो उत्पन्न होते हैं, वे प्राय करके आर्य होते हैं। आर्योंके छह भेद हैं, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। अतएव क्षेत्र जाति कुल कर्म शिल्प और भाषा इनकी अपेक्षासे ज्ञान दर्शन और चारित्र्यके विषयमें जिनका आचरण और शील शिष्ट लोकोंके द्वारा अभिमत तथा न्याय्य और धर्मसे अवि-रूढ रहा करता है, उनको आर्य कहा है। जिनका आचरण और शील इससे विपरीत है, तथा जिनकी भाषा और चेष्टा अव्यक्त एव अनियत है, उनको म्लेच्छ समझना चाहिये। इसी बातको खुलासा करते हुए म्लेच्छोंके भेदोंको भी बतानेके लिये भण्ड्यकार कहते हैं—

भाष्यम्—अतो विपरीता म्लिदा । तद्यथा—हिमवतैश्चतसृषु विविधु त्रीणि योजन-शतानि लवणसमुद्रमवगाह्य चतसृणा मनुष्यविजातीना चत्वारोऽन्तरद्वीपा भवन्ति त्रियो-जनशतविक्रमभायासा । तद्यथा—एकोरुकाणामाभापकाणां लाङ्गूलिना वैपाणिकानामिति ॥ चत्वारि योजनशतान्यवगाह्य चतुर्योजनशतान्यामविक्रमभा एवान्तरद्वीपा । तद्यथा—हय-कर्णाना गजकर्णानां शोकर्णानां शकुलिकर्णानामिति ॥ पञ्चशतान्यवगाह्य पञ्चयोजनशता-यामविक्रमभा एवान्तरद्वीपा । तद्यथा—गजमुखाना व्याघ्रमुखानामादशमुखाना गोमुखाना-मिति ॥ षड्योजनशतान्यवगाह्य तावदायामविक्रमभा एवान्तरद्वीपा । तद्यथा—अश्व-

१—गुप्ते गुणवर्द्धिर्वा अर्थन्ते इत्यार्या । २—दिग्भर सम्प्रदायके अनुसार जिनमें वर्णाचार पाया जाय, उनको आर्य, और जिनमें वह न पाया जाय, उनको म्लेच्छ कहते हैं। आर्योंके मूलमें दो भेद हैं—ऋद्धिप्राप्त, अनुद्धिप्राप्त । ऋद्धिप्राप्तके सात भेद हैं—युद्धि तप विक्रिया औपध रस बल और अक्षीण । कहीं कहीं पर आठ भेद भी बताये हैं। इनके उत्तरभेद अनेक हैं। अनुद्धिप्राप्त आर्योंके भी अनेक भेद हैं, किन्तु उनके पाँच भेद मुख्य हैं क्षेत्रार्य जात्यार्य कर्मार्य चारित्र्यार्य और दर्शनार्य । आर्यक्षेत्रमें उत्पन्न होनेवालोंको क्षेत्रार्य, जिसमें उच्च गोत्रका उदय पाया जाता है, ऐसे विदुद्ध मातृवशमें उत्पन्न होनेवालोंको जात्यार्य, वर्णाचारे अनुसार आजीविना करने-वालोंको कर्मार्य, समय धारण करनेवाले अथवा उत्तरे पात्रोंको चारित्र्यार्य, और सम्यग्दृष्टि मनुष्योंको दर्शनार्य कहते हैं। ३—हिमवत प्राक् पश्चाच्च चतसृषु इति पाठान्तरम् । ४—आभासिकानाम् इति च पाठ । ५—विपाणिनामिति वा पाठ । ६—चतुर्योजनशतविक्रमभा । एवमेव हयकर्णानाम् इति वचिन्पाठ । ७—पञ्चयोजनशतानीति पाठान्तरम् । ८—आदर्शमेपहयगणमुखानामानः इति वा पाठ ।

मुखानां हस्तिमुखानां सिंहमुखानां व्याघ्रमुखानामिति ॥ सप्तयोजनशतान्यवगाह्य
 तार्यदायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपा । तद्यथा—अथकर्णसिंहर्णहस्तिकर्ण कर्णप्रावरणना-
 मान ॥ अष्टौ योजनशतान्यवगाह्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपा । तद्यथा—
 उत्क्रामुखविद्युज्जित्तमेपमुखविद्युदन्तनामान ॥ नवयोजनशतायामविष्कम्भा एवान्तरद्वीपा
 भवन्ति । तद्यथा—घनदन्तगूढवन्तविशिष्टदन्तशुद्धदन्तनामान ॥ एकोरुकाणामेकोरुकद्वीप ।
 पञ्च शोषाणामपि स्वनामभिस्तृत्यनामानो वेदितव्या ॥ शिखरिणोऽप्येवमेवेत्येव पटपञ्चाशदिति ॥

अर्थ—ऊपर आर्य पुष्पोंका आचरण और शील बताया जा चुका है । उससे विपरीत
 आचरण और शील म्लेच्छोंका हुआ करता है । आर्य पुरषोंके जो क्षेत्र जाति कुल कर्म शिल्प
 और भाषा ये छह विषय बनाये है, उनसे अतिरिक्त क्षेत्र जाति आदिको जो धारण करने
 वाले हैं, उनको म्लेच्छ समझना चाहिये । इनके अनेक भेद है,—जैसे कि शक यवन किरात
 काम्बोज बाल्हीक इत्यादि । इनके सिवाय अन्तरद्वीपोंमें जो रहते हैं, वे म्लेच्छ ही हैं ।
 क्योंकि उनके क्षेत्रादिक उपर्युक्त क्षेत्रादिकोंसे विपरीत ही हैं । अन्तरद्वीप सम्बन्धी म्लेच्छोंका
 आवास स्थान और आकार आदि इस प्रकारका समझना चाहिये ।—

हिमवान् पर्वतस्त्री पूर्ण और पश्चिमकी तरफ चारों विदिशाओंमें तीन सौ
 योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार प्रकारकी मनुष्य जातियाँ जिनमें निवास करती हैं,
 ऐसे चार अन्तरद्वीप हैं । प्रत्येक अन्तरद्वीपकी चौड़ाई तथा लम्बाई तीन तीन सौ योजनकी
 है । इन चार अन्तरद्वीपोंके क्रमसे ये चार नाम हैं—एकोरुक आभासिक लाङ्गूलिक और
 वैषाणिक । एकोरुक द्वीपमें रहनेवाले मनुष्योंका नाम भी एकोरुक है । इसी प्रकार आभासिक
 आदि अन्तरद्वीपोंके विषयमें तथा दूसरे भी अन्तरद्वीपोंके विषयमें समझना चाहिये, कि द्वीपके
 नामके अनुसार ही वहाँके रहनेवाले मनुष्योंके भी वैसे ही आभासिक लाङ्गूलिक आदि नाम है,
 न कि वहाँके मनुष्योंका आकार ही वैसा है । वहाँपर उत्पन्न होनेवाले मनुष्य सम्पूर्ण अङ्ग
 और उपाङ्गोंसे पूर्ण तथा सुन्दर देखनेमें अति मनोहर होते हैं । सभी अन्तरद्वीपोंके विषयमें
 यही बात समझनी चाहिये । इन द्वीपोंमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्य युगल उत्पन्न होते हैं, और
 इनकी आयु पल्यके असत्यातवें भाग होती है, तथा शरीरकी उँचाई आठ सौ धनुषकी होती है ।

पूर्वोत्तर दिशामें तीन सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर तीन सौ योजन लम्बा और
 तीन सौ ही योजन चौडा एकोरुक नामका द्वीप है, और उसमें एकोरुक नामके मनुष्य निवास
 करते हैं । दक्षिण पूर्व दिशामें तीन सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर तीन सौ योजन लम्बा

१—अद्वन्द्वसिंहव्याघ्रमुखनामान । एव वा क्वचित्पाठ । २—सप्तशतानीति च क्वचित्पाठ । ३—सप्तयोजन
 शतेति वा पाठ । ४—नवयोजनशतान्यवगाह्य इति चाधिक पाठ । ५—श्रेष्ठदन्त इति वा पाठ । ६—दिगम्बर
 सम्प्रदायके अनुसार एतेदक आदि नाम आकृतिसिरी अपेक्षासे हैं । एक ही टोंग जिनके हो, उनको एकोरुक
 कहते हैं । इसी तरह हरएक अन्तरद्वीपके मनुष्योंका नाम आकारकी अनुसार समझना चाहिये ।

और तीन सौ ही योजन चौड़ा आभासिक नामका द्वीप है, उसमें आभासिक नामके मनुष्य निवास करते हैं। दक्षिण पश्चिम दिशामें तीन सौ योजन समुद्रके भीतर चलकर तीन सौ योजन लम्बा और तीन सौ योजन चौड़ा लाङ्गुलिक नामका द्वीप है, जिसमें कि लाङ्गुलिक नामके मनुष्य निवास करते हैं। उत्तर पश्चिम दिशामें तीन सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर तीन सौ योजन लम्बा और तीन सौ योजन चौड़ा वैषाणिक नामका द्वीप है, जिसमें कि वैषाणिक नामके मनुष्य निवास करते हैं।

ये पहले अन्तरद्वीप सम्बन्धी चार द्वीप हैं, इसी प्रकार सातवें अन्तरद्वीप तकके चार चार भेदोंको समझ लेना चाहिये। अर्थात् पूर्वोत्तर दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और चार सौ ही योजन चौड़ा ह्यकर्ण नामका द्वीप है, जिसमें कि ह्यकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं। दक्षिण पूर्व दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और चार सौ ही योजन चौड़ा गजकर्ण नामका द्वीप है, जिसमें कि गजकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं। दक्षिण पश्चिम दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और चार सौ ही योजन चौड़ा गोकर्णनामका द्वीप है, जिसमें कि गोकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं। उत्तर पश्चिम दिशामें चार सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर चार सौ योजन लम्बा और उतना ही चौड़ा शकुलिकर्ण नामका अन्तरद्वीप है, जिसमें कि शकुलिकर्ण नामके मनुष्य रहते हैं।

लवणसमुद्रके भीतर पाँच सौ योजन चलकर पाँच पाँच सौ योजनका जिनका आयाम—विस्तार और विष्कम्भ है, ऐसे चार अन्तरद्वीप हैं, जोकि उपर्युक्त चार विदिशाओंमें सन्निविष्ट है, और जिनके कि क्रमसे गजमुख व्याघ्रमुख आदर्शमुख और गोमुख ये नाम हैं। तथा इनमें क्रमसे इन्हीं नामवाले मनुष्य निवास करते हैं। छह सौ योजन भीतर चलकर उतने ही विस्तार और विष्कम्भवाले क्रमसे पूर्वोत्तर आदि विदिशाओंमें अध्रमुख हस्तिमुख सिंहमुख और व्याघ्रमुख नामके चार द्वीप हैं, जिनमें कि क्रमसे इन्हीं नामवाले मनुष्य निवास करते हैं। इसी प्रकार सात सौ योजन लवणसमुद्रके भीतर चलकर क्रमसे पूर्वोत्तरादि विदिशाओंमें सात सात सौ योजन लम्बे चौड़े अश्वकर्ण सिंहकर्ण हस्तिकर्ण कर्णप्रावरण नामके चार अन्तरद्वीप हैं, जिनमें कि क्रमसे इसी तरहके नामवाले मनुष्योंका निवास है। आठ सौ योजन भीतर चलकर उतने ही विस्तार और विष्कम्भवाले उपर्युक्त चार विदिशाओंमें क्रमसे उल्कामुल विद्युज्जिह्व मेघमुख और विद्युदन्त नामके अन्तरद्वीप हैं, जिनमें कि वैसे ही नामवाले मनुष्य निवास करते हैं। नौसौ योजन भीतर चलकर उतने ही विस्तार और विष्कम्भवाले चारों विदिशाओंमें क्रमसे घनदन्त गूढन्त विशिष्टदन्त और शुद्धदन्त नामके चार अन्तरद्वीप हैं, जिनमें कि क्रमसे इसी नामवाले मनुष्य निवास करते हैं।

इन अन्तरद्वीपोंका और इनमें रहनेवाले मनुष्योंका नाम समान है । जैसे कि एकोरुक । अर्थात् एकोरुक मनुष्योंका एकोरुक द्वीप है, अथवा यह भी कहा जा सकता है, कि एकोरुक द्वीपमें रहनेके कारण ही उन मनुष्योंका नाम एकोरुक है । इसी प्रकार आभासिक आदि शेष द्वीपों और उनमें रहनेवाले मनुष्योंके नाममें तुल्यता समझनी चाहिये ।

लवणसमुद्रके भीतर तीन सौ योजनसे लेकर नौ सौ योजन भीतर तक चलकर ये सात अन्तरद्वीप हैं, जो कि हिमवान् पर्वतके पूर्व और पश्चिमकी चारों विदिशाओंके मिलाकर अष्टाईस होते हैं । जिस प्रकार हिमवान् पर्वत सम्बन्धी अष्टाईस अन्तरद्वीप हैं, उसी प्रकार शिखरीपर्वत सम्बन्धी भी अष्टाईस हैं । कुल मिलाकर ५६ अन्तरद्वीप होते हैं^१ । इन सभी द्वीपोंमें रहनेवाले मनुष्य अन्तरद्वीपज म्लेच्छ कहे जाते हैं ।

इस प्रकार मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ भेदोंको बताकर मनुष्यक्षेत्रमें कर्मभूमि और अकर्मभूमि नामके जो भेद हैं, वे कौन से हैं, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तर-
कुरुभ्यः ॥ १६ ॥**

भाष्यम्—मनुष्यक्षेत्रे भरतैरावतविदेहा पञ्चदश कर्मभूमयो भवन्ति । अन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्यः ।

सप्तारदुर्गान्तगमकस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकस्य मोक्षमार्गस्य ज्ञातार कर्त्तार उपवेष्टारश्च भगवन्त परमर्षयस्तीर्थकरा अत्रोत्पद्यन्ते । अत्रैव जाता सिद्धयन्ति नान्यत्र । अतो निर्वाणाय कर्मणः सिद्धिभूमयः कर्मभूमय इति । शेषास्तु विंशतिर्वशा सान्तरद्वीपा अकर्मभूमयो भवन्ति । देवकुरुत्तरकुरुवस्तु कर्मभूम्यभ्यन्तरा अप्यकर्मभूमय इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त मनुष्यक्षेत्रमें भरत ऐरावत और देवकुरु तथा उत्तरकुरुको छोड़कर बाकीके विदेहक्षेत्र सम्बन्धी पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं ।

भावार्थ—पाँच मेरुओंसे अधिष्ठित पैंतालीस लाख योजन लम्बे चौड़े मनुष्यक्षेत्रमें पाँच भरत पाँच ऐरावत और पाँच ही विदेहक्षेत्र हैं । ये ही मिलकर पन्द्रह कर्मभूमियाँ कहाती हैं । इनके सिवाय जो क्षेत्र हैं, वे अकर्मभूमि हैं । विदेहमें देवकुरु और उत्तरकुरुका भाग भी

१—दिगम्बर सम्प्रदायमें लवणसमुद्र और कालोदसमुद्रके मिलाकर ५६ अन्तरद्वीप माने हैं, और इनके विस्तार आदिमें भी बहुत विशेषता है, जिसका सुलासा, राजवार्त्तिक और त्रिलोक्यनार आदिमें देखना चाहिये । यथा—
“ तथा तद्वीपजा म्लेच्छा परे स्यु कर्मभूमिजा । आया पण्यवति द्याया वार्धिव्यतद्वयो ॥ ” (तत्त्वार्थ श्लोकात्सिंह) इनमेंसे जो त्रिजगत्के अन्तमें रहनेवाले हैं, वे केवल मि^१ आदि खाकर रहते हैं, और शेषके हिमवान् आदिके अर्तमें रहनेवाले फल फूलोंका आहार करनेवाले तथा पत्यप्रमाण आयुके भोक्ता हुआ करते हैं । ये अन्तरद्वीप वहाँ कहीं हैं, कितने कितने बड़े हैं, और पृथ्वीतलसे कितनी ऊँचाइपर हैं, आदि बातें प्रथान्तरोंसे जाननी चाहिये ।

सम्मिलित है, अतएव वह भी कर्मभूमि समझा जा सकता था, इसके लिये ही उनको छोड़कर ऐसा कहा है। क्योंकि देवकुरु और उत्तरकुरुका भाग कर्मभूमि नहीं है, भोगभूमि है।

नारकादि चतुर्गतिरूप सप्तर अत्यन्त दुर्गम—गहन है, क्योंकि वह अनेक जातियों—योनियोंसे पूर्ण और अति संकटमय है। इसका अन्त—नाश सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूप जिस मोक्षमार्गके द्वारा हुआ करता है, या हो सकता है, उसके ज्ञाता प्रदर्शक और उपदेष्टा भगवान् तीर्थंकर एव परमर्षि इन पद्रह कर्मभूमियोंमें ही उत्पन्न होते हैं। तथा इन क्षेत्रोंमें ही उत्पन्न हुए मनुष्य सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय करके मोक्षपदको प्राप्त किया करते हैं, न कि अन्य क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य। इस प्रकारसे ये ही भूमियाँ ऐसी हैं, कि जहाँपर निर्वाणपद—सिद्धिपदको प्राप्त करनेके योग्य कर्म किया जा सकता है। इसी लिये इनको कर्मभूमि कहते हैं। इनके सिवाय जो भूमियाँ हैं, जिनमें कि बीस क्षेत्र और पूर्वोक्त एकोरुकादिर्क अन्तरद्वीप अधिष्ठित हैं, वे सब अकर्मभूमि हैं। क्योंकि उनमें तीर्थंकरका जन्म आदि नहीं पाया जाता। देवकुरु और उत्तरकुरुका भाग कर्मभूमिके अन्त्यन्त होनेपर भी कर्म-भूमि नहीं है, क्योंकि वहाँपर चारित्रिका पालन नहीं हुआ करता।

इस प्रकार मनुष्योंके भेदोंको बताकर उनकी आयुका जनन्य तथा उत्कृष्ट प्रमाण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ १७ ॥

भाष्यम्—नरो नरा मनुष्या मानुषा इत्यनर्थान्तरम् । मनुष्याणा परा स्थितिस्त्रीणि पल्योपमानि, अपरा अन्तर्मुहूर्तति ।

अर्थ—नृ नर मनुष्य और मानुष ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं—पर्यायवाची है। मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण तीन पत्य और जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

भावार्थ—मनुष्य आयु और मनुष्य गति नामकर्मके उदयसे जो पर्याय प्राप्त होती है, उस पर्यायसे युक्त जीवको मनुष्य कहते हैं। पर्यायसम्बन्धी स्वभावोंके अनुसार ऐसे जीवको नृ नर मनुष्य मानुष मर्त्य मनुज आदि अनेक शब्दोंसे कहते हैं। अभेद विवक्षासे सामान्य तथा ये सभी पर्यायवाचक शब्द एक मनुष्य पर्यायरूप अर्थके ही वाचक हैं। जिस मनुष्य आयुकर्मके उदयसे यह पर्याय प्राप्त हुआ करती है, उसका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन पत्यैतकका है। अर्थात् कोई भी मनुष्य अन्तर्मुहूर्तसे पहले मर नहीं सकता, और तीन पत्यसे अधिक जीवित नहीं रह सकता।

१—पत्य उपमानका एक भेद है। इसका प्रमाण गोम्मटसार कर्मकाण्डीनी भूमिकामें देखना चाहिये। पत्यके तीन भेद हैं—व्यवहारपत्य, उदारपत्य और अदापत्य। यह आयुका प्रमाण अदापत्यकी अपेक्षासे समझना चाहिये। २—मनुष्य और त्रिभौनी स्थिति आगे चलकर दो प्रकारकी बताई है—भवस्थिति और कायस्थिति। इनमेंसे तीन पत्यका प्रमाण भवस्थितिमा है। कायस्थितिका प्रमाण आगे लिखेंगे।

ससारी प्राणी चार भागोंमें विभक्त हैं—नारक तिर्यञ्च मनुष्य और देव । इनमेंसे नारकियोंकी उत्कृष्ट जघन्य आयुका प्रमाण बता चुके हैं, देवोंकी आयुका प्रमाण आगेके अध्यायमें बतावेंगे, मनुष्योंकी आयुका प्रमाण इस सूत्रमें बता दिया । अतएव तिर्यञ्चोंकी आयुका प्रमाण बताना बाकी है, उसीको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तिर्यग्योनीनां च ॥ १८ ॥

भाष्यम्—तिर्यग्योनिजाना च परापरे स्थिती त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते भवतो यथासरय-
मेव । पृथक्करण यथासख्यदोषनिवृत्त्यर्थम् । इतरथा इदमेकमेव सूत्रमभिव्यक्तुमभयत्र चोभे
यथासख्य स्यातामिति ।

अर्थ—तिर्यग् योनिसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति क्रमा-
नुसार तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही समझनी चाहिये । दो सूत्र पृथक् पृथक् करनेका
प्रयोजन यथासरय दोषनी निवृत्ति करता है । क्योंकि यदि ऐसा न किया होता, और दोनों
सूत्रोंकी जगह एक ही सूत्र रहता, तो यथासंख्यके नियमानुसार दोनों स्थितियोंका दो जगह
बोध हो जाता ।

भावार्थ—यथासख्य प्रकृतमें दो प्रकारका हो सकता है—एक तो उत्कृष्ट और जघ-
न्यका तीनपल्य और अन्तर्मुहूर्तके साथ । दूसरा मनुष्य और तिर्यञ्चोंका उत्कृष्ट और जघन्य
स्थितिके साथ । इनमेंसे पहला यथासख्य इष्ट है, और दूसरा अनिष्ट । पहला यथासख्य पृथक्
पृथक् दो सूत्र होनेपर ही बन सकता है । यदि दोनोंकी जगह एक सूत्र कर दिया जाय, तो
अनिष्ट यथासख्यका प्रसङ्ग प्राप्त होगा । जिससे ऐसे अर्थका बोध हो सकता है, कि मनुष्योंकी
उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्यकी होती है, और तिर्यञ्चोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है ।

भाष्यम्—द्विविधा चैषा मनुष्यतिर्यग्योनिजाना स्थिति ।-भवास्थिति कायस्थितिश्च ।
मनुष्याणां यथोक्ते त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते परापरे भवस्थिती । कायस्थितिस्तु परा समाप्तो वा
भग्नग्रहणानि ॥ तिर्यग्योनिजाना च यथोक्ते समासत परापरे भग्नस्थिती ।

अर्थ—मनुष्यों की तथा तिर्यञ्चोंकी स्थिति दो प्रकारकी है, एक भवस्थिति दूसरी काय
स्थिति । ऊपर तीन पल्य तथा अन्तर्मुहूर्तकी क्रमसे उत्कृष्ट तथा जघन्य जो स्थिति बताई
है, वह मनुष्यों की भवस्थिति है । अर्थात् मनुष्यभवको धारण करनेवाले जीवनी एक भवमें
स्थिति अन्तर्मुहूर्तसे कम नहीं हो सकती और तीन पल्यसे अधिक नहीं हो सकती । एक

१-तिर्यग्योनिजानां चेत्यपि पाठ । २-तिर्यग्योनीनां चेत्यपि पाठ । ३-यद्येकमेव इति वा पाठ ।
४-दीर्घाकारने लिखा है, कि एक सूत्र कर देनेसे भी कोई क्षति नष्ट है । समस्त पदोंका सम्बन्ध हो जानेसे भी इष्ट
अर्थका बोध हो सकता है । अथवा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपासि इस नियमके अनुसार इष्ट अर्थ किया जा
सकता है । अथवा इस सूत्रकी रचना आप ही समझनी चाहिये ।

सम्मिलित है, अतएव वह भी कर्मभूमि समझा जा सकता था, इसके लिये ही उनको छोड़कर ऐसा कहा है। क्योंकि देवकुरु और उत्तरकुरुका भाग कर्मभूमि नहीं है, भोगभूमि है।

नारकादि चतुर्गतिरूप ससार अत्यन्त दुर्गम—गहन है, क्योंकि वह अनेक जातियों—योनियोंसे पूर्ण और अति संकटमय है। इसका अन्त—नाश सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्यरूप जिस मोक्षमार्गके द्वारा हुआ करता है, या हो सकता है, उसके ज्ञाता प्रदर्शक और उपदेष्टा भगवान् तीर्थंकर एव परमर्षि इन पद्रह कर्मभूमियोंमें ही उत्पन्न होते हैं। तथा इन क्षेत्रोंमें ही उत्पन्न हुए मनुष्य सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय करके मोक्षपदको प्राप्त किया करते हैं, न कि अन्य क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य। इस प्रकारसे ये ही भूमियाँ ऐसी हैं, कि जहाँपर निर्वाणपद—सिद्धिपदको प्राप्त करनेके योग्य कर्म किया जा सकता है। इसी लिये इनको कर्मभूमि कहते हैं। इनके सिवाय जो भूमियाँ हैं, जिनमें कि बीस क्षेत्र और पूर्वोक्त एकोरुकादिक अन्तरद्वीप अधिष्ठित हैं, वे सब अकर्मभूमि हैं। क्योंकि उनमें तीर्थंकरका जन्म आदि नहीं पाया जाता। देवकुरु और उत्तरकुरुका भाग कर्मभूमिके अभ्यन्तर होनेपर भी कर्मभूमि नहीं है, क्योंकि वहाँपर चारित्रिका पालन नहीं हुआ करता।

इस प्रकार मनुष्योंके भेदोंको बताकर उनकी आयुका जघन्य तथा उत्कृष्ट प्रमाण बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ॥ १७ ॥

भाष्यम्—नरो नरा मनुष्या मानुषा इत्यनर्थान्तरम् । मनुष्याणां परा स्थितिरूपिणि पल्योपमानि, अपरा अन्तर्मुहूर्तति ।

अर्थ—नृ नर मनुष्य और मानुष ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं—पर्यायवाची है। मनुष्योंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण तीन पल्य और जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्त है।

भावार्थ—मनुष्य आयु और मनुष्य गति नामकर्मके उदयसे जो पर्याय प्राप्त होती है, उस पर्यायसे युक्त जीवने मनुष्य कहते हैं। पर्यायसम्बन्धी स्वभावोंके अनुसार ऐसे जीवको नृ नर मनुष्य मानुष मर्त्य मनुज आदि अनेक शब्दोंसे कहते हैं। अभेद विवक्षासे सामान्य नया ये सभी पर्यायवाचक शब्द एक मनुष्य पर्यायरूप अर्थके ही वाचक हैं। जिस मनुष्य

उदयसे यह पर्याय प्राप्त हुआ करती है, उसका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तसे लेकर तीन है। अर्थात् कोई भी मनुष्य अन्तर्मुहूर्तसे पहले मर नहीं सकता, और तीन पल्यसे अधिक जीवित नहीं रह सकता।

१—पल्य उपमानानका एक भेद है। इसका प्रमाण गोम्मटनार कर्मकाण्डी भूमिशमे देखना चाहिये। पल्यके तीन भेद हैं—व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धारपल्य। यह आयुका प्रमाण अद्धारपल्यकी अपेक्षासे समाना चाहिये। २—मनुष्य और त्रिष्योक्ती स्थिति आगे चलकर दो प्रकारकी बताई है—भवस्थिति और कायस्थिति। इनमेंसे तीन पल्यका प्रमाण भवस्थितिका है। कायस्थितिका प्रमाण आगे लिखेंगे।

ससारी प्राणी चार भागोंमें विभक्त हैं—नारक तिर्यञ्च मनुष्य और देव । इनमेंसे नारकियोंकी उत्कृष्ट जघन्य आयुका प्रमाण बता चुके हैं, देवोंकी आयुका प्रमाण आगेके अध्यायमें बतावेंगे, मनुष्योंकी आयुका प्रमाण इस सूत्रमें बता दिया । अतएव तिर्यञ्चोंकी आयुका प्रमाण बताना बाकी है, उसीको बतानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—तिर्यग्योनीनां च ॥ १८ ॥

भाष्यम्—तिर्यग्योनिजाना चं परापरे स्थिती त्रिपत्योपमान्तर्मुहूर्तं भवतो यथासरय-
मेव । पृथक्करण यथासख्यदोपनिवृत्त्यर्थम् । इतरथा ईदमेकमेव सूत्रमभविष्यदुभयत्र चोभे
यथासख्य स्यातामिति ।

अर्थ—तिर्यग् योनिसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंकी भी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति क्रमा-
नुसार तीन पत्य और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही समझनी चाहिये । दो सूत्र पृथक् पृथक् करनेका
प्रयोजन यथासख्य दोपनी निवृत्ति करता है । क्योंकि यदि ऐसा न किया होता, और दोनों
सूत्रोंकी जगह एक ही सूत्र रहता, तो यथासख्यके नियमानुसार दोनों स्थितियोंका दो जगह
बोध हो जाता ।

भावार्थ—यथासख्य प्रकृतमें दो प्रकारका हो सकता है—एक तो उत्कृष्ट और जघ-
न्यका तीनपत्य और अन्तर्मुहूर्तके माय । दूसरा मनुष्य और तिर्यञ्चोंका उत्कृष्ट और जघन्य
स्थितिके साथ । इनमेंसे पहला यथासख्य इष्ट है, और दूसरा अनिष्ट । पहला यथासख्य पृथक्
पृथक् दो सूत्र होनेपर ही बन सकता है । यदि दोनोंकी जगह एक सूत्र कर दिया जाय, तो
अनिष्ट यथासख्यका प्रसङ्ग प्राप्त होगा । जिससे ऐसे अर्थका बोध हो सकता है, कि मनुष्योंकी
उत्कृष्ट स्थिति तीन पत्यकी होती है, और तिर्यञ्चोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी होती है ।

भाष्यम्—द्विविधा चैवा मनुष्यतिर्यग्योनिजाना स्थिति । भवस्थिति कायस्थितिश्च ।
मनुष्याणां यथोक्ते त्रिपत्योपमान्तर्मुहूर्तं परापरे भवस्थिती । कायस्थितिस्तु परा सप्ताष्टौ वा
भयग्रहणानि ॥ तिर्यग्योनिजाना च यथोक्ते समासत परापरे भवस्थिती ।

अर्थ—मनुष्यों की तथा तिर्यञ्चोंकी स्थिति दो प्रकारकी है, एक भवस्थिति दूसरी काय-
स्थिति । ऊपर तीन पत्य तथा अन्तर्मुहूर्तकी क्रमसे उत्कृष्ट तथा जघन्य जो स्थिति बताई
है, वह मनुष्यों की भवस्थिति है । अर्थात् मनुष्यभवको धारण करनेवाले जीवोंकी एक भवमें
स्थिति अन्तर्मुहूर्तसे कम नहीं हो सकती और तीन पत्यसे अधिक नहीं हो सकती । एक

१-तिर्यग्योनिजानां चेत्यपि पाठ । २-तिर्यग्योनीनां चेत्यपि पाठ । ३-यद्येकमेव इति वा पाठ ।
४-श्रीभास्करने लिखा है, कि एक सूत्र कर देनेसे भा कोई क्षति नहीं है । समस्त पदोंका सम्बन्ध हो जानेसे भी इष्ट
अर्थका बोध हो सकता है । अथवा ध्यायानतो विशेषप्रतिपात्ति इस नियमके अनुसार इष्ट अर्थ किया जा
सकता है । अथवा इस सूत्रकी रचना आर्ष ही समझनी चाहिये ।

मनुष्यपर्यायमें जीवित रहनेका काल इससे कम या ज्यादा नहीं हो सकता, इसको भवस्थिति कहते हैं। निरन्तर उसी भवके धारण करनेकी कालमर्यादाका नाम कायस्थिति है। जीव मनुष्य पर्यायको धारण करके आयु पूर्ण होनेपर पुन मनुष्य हो और फिर भी उसी तार बार बार यदि मनुष्य भवको ही धारण करता जाय, तो वह निरन्तर कितने मनुष्यके भव ग्रहण कर सकता है, इसके प्रमाणका ही नाम कायस्थिति है। मनुष्योंकी भवस्थितिका उत्कृष्ट प्रमाण सात आठ भव ग्रहण करने तकका है। क्योंकि कोटिपूर्वकी आयुवाला मनुष्य पुन पुन मरण यदि कोटिपूर्वकी आयुवाला ही होता जाय, तो वह सात बारसे अधिक नहीं हो सकता। आठ भवमें देवकुरु अथवा उत्तरकुरुकी भोगभूमिमें ही उत्पन्न होता है, जहाँसे कि मरण के नियमसे देवपर्याय धारण करनी पडती है।

तिर्यञ्च जीवोंकी भी भवस्थितिका प्रमाण मनुष्योंके समान ही समझना चाहिये। अर्थ उत्कृष्ट तीन पल्य और जत्रय अन्तर्मुहूर्त। सत्सेपसे तिर्यञ्चोंकी भवस्थितिका यही प्रमाण है विस्तारसे उसका प्रमाण इसप्रकार है।—

भाष्यम्—व्यासतस्तु शुद्धपृथिवीकायस्य परा द्वादश वर्षसहस्राणि, खरपृथिवीकायस्य द्वाविंशति, अपकायस्य सप्त, वायुकायस्य त्रीणि, तेजकायस्य त्रीणि रात्रिदिनानि वनस्पतिकायस्य दश वर्षसहस्राणि । एषा कायस्थितिरसुरेया अघसर्पिण्युत्सर्पिण्य वनस्पतिकायम्यानन्ता । द्वीन्द्रियाणा भवस्थितिर्द्वादश वर्षाणि, त्रीन्द्रियाणामेकोनपञ्चाशद् रात्रिदिनानि । चतुरिन्द्रियाणा पण्मासा । एषा कायस्थिति सख्येयानि वर्षसहस्राणि । पचेन्द्रियतिर्यग्योनिजा पञ्चविधा—तद्यथा—मत्स्या उरगा परिसर्पा पक्षिणश्चतुष्पदा इति । तत्र मत्स्यानामुरगाणा भुजगानां च पूर्वकोट्येव । पक्षिण पल्योपमासुरेयभाग । चतुष्पदाना त्रीणि पल्योपमानि गर्भजाना स्थिति । तत्र मत्स्यान भवस्थिति पूर्वकोटिस्त्रिपचाशदुरगाणा द्विचत्वारिंशद् भुजगाना द्विसप्तति पक्षिणा स्थलचराणा चतुरर्जातिर्वर्षसहस्राणि सम्मूर्च्छिताना भवस्थिति । एषा कायस्थिति सप्ताष्ट भवग्रहणानि । सर्वेषा मनुष्यतिर्यग्योनिजाना कायस्थितिरप्यपरा अन्तर्मुहूर्तवेति ।

इति तत्त्वार्थाधिगमे लोकप्रज्ञप्तिर्नामा तृतीयोऽध्याय समाप्तः ।

अर्थ—तिर्यञ्चोंकी भवस्थितिका प्रमाण सामान्यतया ऊपर लिखे अनुसार है। विशेषरूपसे यदि जानना हो, तो वह इस प्रकार समझना कि—

शुद्ध पृथिवीकायकी उत्कृष्ट भवस्थिति बारह हजार वर्षकी है। खर पृथिवीकायकी नाईस हजार वर्षकी, जलजायकी सात हजार वर्षकी और वायुकायकी तीन हजार वर्षकी है। अग्निजायकी भवस्थितिका उत्कृष्ट प्रमाण तीन रात्रि दिनका है। तथा वनस्पतिकायकी उत्कृष्ट भवस्थिति दश हजार वर्षकी है। इनमेंसे वनस्पतिकायको छोडकर बाकी जीवोंकी उत्कृष्ट कायस्थितिका प्रमाण असख्यात अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी है। वनस्पतिकायकी उत्कृष्ट

द्वीन्द्रिय जीवोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति बारह हजार वर्षकी है। त्रीन्द्रियोंकी उनका रात्रि दिन, और चतुरिन्द्रियोंकी छह महीना है। इनकी उत्कृष्ट कायस्थिति सस्यात हज वर्षकी है।

पचेन्द्रिय तिर्यञ्च पाँच प्रकारके हैं।—मत्स्य उरग परिमर्ष पक्षी और चतुष्पद इनमेंसे मत्स्य उरग और भुजग (परिमर्ष) इनकी उत्कृष्ट भवस्थिति कोटिपूर्व वर्षकी पक्षियोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति पल्यके अमरुयातवें भाग है। गर्भज चतुष्पदोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्यकी है। इसमें मत्स्योंकी भवस्थिति कोटिपूर्व, उरगोंकी त्रपन, भुजगोंकी व्यालीस स्थलचर पक्षियोंकी बहत्तर और सम्मूर्त्तनजीवोंकी भवस्थिति चौरासी हजार वर्षोंकी है। इस सूत्रकी कायस्थितिका उत्कृष्ट प्रमाण सात आठ भवग्रहण करने तक है। सम्पूर्ण मनुष्य और तिर्यञ्चोंकी कायस्थितिका जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है।

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगम भाष्यका लोकप्रद्वान्ति नामका तीसरा अध्याय समाप्त हुआ



चतुर्थोऽध्यायः ।

अधोलोक और मध्यलोकका वर्णन ऊपर तीसरे अध्यायमें कर चुके हैं, किन्तु ऊर्ध्वलोकका वर्णन अभी तक नहीं किया गया । अतएव उसका वर्णन करनेकी आवश्यकता है । इसके सिवाय—

भाष्यम्—अत्राह उक्त भवता “ भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानामिति ” । तथैदृशिकेषु भावेषु देवगतिरिति । केवलिश्रुतसङ्घर्षधर्मदेवावर्णवादे दर्शनमोहस्य । सरागस्यमादयो देवस्य । नारकसम्मूर्च्छिनो नपुसकानि न देवा । तत्र के देवा ? कतिविधा वेति ? अत्रोच्यते -

अर्थ—यह प्रश्न भी उपस्थित होता है, कि आपने अनेक स्थलोंपर देव शब्दका प्रयोग किया है—जैसे कि “ भवप्रत्ययोऽवधिर्नारकदेवानाम् (अ० १ सूत्र २२) । तथा औदयिक-भावोंका वर्णन करते हुए भी देवगतिका उल्लेख किया है (अ० २ सूत्र ६) और “ केवलिश्रुतसङ्घर्षधर्मदेवावर्णवादे दर्शनमोहस्य । ” (अ० ६ सूत्र १४४) इसी प्रकार “ सरागस्यमादयो देवस्य ” एवं “ नारक सम्मूर्च्छिनो नपुसकानि—न देवा । ” इन सूत्रोंमें भी देव शब्दका पाठ किया है । इस प्रकार देव शब्दका पाठ तो अनेक बार किया है, परन्तु अभी तक यह नहीं बताया, कि देव कहते किसको हैं ? दूसरा प्रश्न यह भी है, कि उन देवोंके कुछ भेद भी है या नहीं ?

भावार्थ—जीव तत्त्वके आधारभूत तीन लोकोंमेंसे ऊर्ध्वलोकका वर्णन बाकी है, उसका करना आवश्यक है, इसलिये और अनेक सूत्रोंमें जो देव शब्दका प्रयोग किया है, उसपरसे उक्त दो प्रश्न जो उपस्थित होते हैं, उनका उत्तर देनेके लिये आचार्य सूत्र कहते हैं—

सूत्र—देवाश्चतुर्निकायाः ॥ १ ॥

भाष्यम्—देवाश्चतुर्निकाया भवन्ति । तान्पुरस्ताद्ब्रह्मणाम् ॥

अर्थ—देव चार निकायवाले हैं । चारों निकायोंका वर्णन आगे चलकर किया जायगा ।

भावार्थ—सबसे पहला प्रश्न तो यही उपस्थित होता है, कि जत्र देव अधोलोक और मध्यलोकमें भी रहते हैं, तो ऊर्ध्वलोकमें ही देवोंका आवास क्यों कहा जाता है ? उत्तर—देवोंके चार निकाय हैं—भवनवासी व्यतर ज्योतिषी और वैमानिक । भवनवासी अधोलोकमें और व्यतर तथा ज्योतिषी तिर्यलोकमें रहते हैं, यह ठीक है, परन्तु देवोंमें वैमानिकदेव प्रधान हैं, और उनका निवास ऊर्ध्वलोकमें ही है । अतएव ऊर्ध्वलोकको जिसका कि इस चतुर्थ अध्यायमें वर्णन किया जायगा, देवोंका आवासस्थान कहते हैं ।

देव किसको कहते हैं ? इसका उत्तर देवशब्दकी निर्दिष्टसे ही लब्ध हो जाता है ।

देव शब्द दिव् धातुसे बना है, जोकि क्रीडा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वकान्ति और गति अर्थमें आती है । देवगति नामकर्मके उदयसे जो जीव देवपर्यायको धार करता है, वह स्वभावसे ही क्रीडा करनेमें आसक्त रहा करता है । उसको भूल प्यासकी ब नहीं हुआ करती । उसका शरीर रस रक्तादिकसे रहित और दीप्तिशाली हुआ करता है । उनकी गति भी अति शीघ्र और चपल हुआ करती है । इत्यादि अर्थोंके कारण ही उनको देव कहते हैं ।

दूसरा प्रश्न उनके भेदोंके विषयमें है । सो उसका उत्तर चतुर्निकाय शब्दके द्वारा स्पष्ट ही है, कि देवोंके चार निकाय हैं । निकाय नाम सप्त अथवा जाति या भेद का है । देवोंकी—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी और वैमानिक ये चार जातियाँ हैं, अथवा उनके ये चार सप्त या भेद हैं । यद्वा निकाय शब्दका अर्थ निवासस्थान भी माना है । चारों प्रकारके देवोंके निवास और उत्पत्तिके स्थान भिन्न भिन्न हैं और वे चार हैं । भवनवासी रत्नप्रमा पृथिवीके ऊपर नीचेके एक एक हजार योजनके भागको छोडकर शेष भागमें उत्पन्न होते हैं । ऊपर जो एक हजार योजनका भाग छोडा है, उसमेंसे ऊपर नीचे सौ सौ योजन छोडकर मध्यके आठ सौ योजनके भागमें व्यतर उत्पन्न हुआ करते हैं । ज्योतिषी देव पृथिवीसे ऊपर सात सौ नब्बे योजन चलकर एकसौ दश योजन प्रमाण ऊँचे नभो भागमें जन्म ग्रहण किया करते हैं । वैमानिकदेव मेरुसे ऊपर ऋजुविमानसे लेकर सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तके विमानोंमें उत्पन्न हुआ करते हैं । इस प्रकार उत्पत्तिके स्थानके भेदसे देवोंके चार भेद हैं । इनका गमनागमन जन्मस्थानके सिवाय अन्यस्थानोंमें भी हुआ करता है । यहाँपर इतनाही देवोंका स्वरूप और भेदकथन सामान्यसे समझना चाहिये । क्योंकि इसका विशेष वर्णन आगे चलकर करेंगे । यहाँपर इतना और विशेष समझना कि यह ऊर्ध्वलोकका प्रकरण है, अतएव उसके अनुसार देवशब्दसे भावदेव ही यहाँपर विवक्षित हैं ।

प्रश्न—देवोंका स्वरूप और उनके चार निकाय आपने बताये, परन्तु देव प्रत्यक्ष—

१—“ दीव्यति जदो णिच्च गुणेहिं अट्टेहिं दिव्यभावेहिं । भासतादिव्वमाया तम्हाते वण्णिमा देवा ॥ १५० ॥ (गोमूढसार जीवकाण्ड) इच्छेने मिकाय देखो भगवतीसूत्र ५८४—“ के महालए ण भते ! लोए पत्रते ? ” इत्यादि । और विमानमन्त्र प्रज्ञापनामें “ के महालया ण भते । विमाणा पण्णता ? ” इत्यादि । २—वैमानिकदेवोंका जन्म अपने अपने स्वर्गमें ही होता है, परन्तु उनकी नियोगिनी देवियोंका जन्म पहले दूसरे स्वर्गमें ही होता है । ऊपरके स्वर्गोंमें जन्म ग्रहण करनेवाले अथवा रहनेवाले देव वहाँसे आकर उन अपनी अपनी नियोगिनी देवियोंको अपने अपने स्थानपर ले जाते हैं । ३—इसी अध्यायमें । ४—भगवतीसूत्रमें (श १२ उ ९ सूत्र ४६१-) पाँच प्रकारके देव बताये हैं १—भय्य द्रव्यदेव नरदेव धर्मदेव देवाधिदेव और भावदेव । यथा—“ कतिक्किा ण भते ! देवा पण्णत्ता ? गोयसा । पचविधा देवा पण्णत्ता त जहा—भवियदव्वदेवा नरदेवा धम्मदेवा देवाहिदेवा भावदेवाप । ” जो मनुष्य या तिर्यच मरकर देव होनेवाला है, उसको भय्य द्रव्यदेव कहते हैं । चौदह रत्नोंके अधिपति चक्रवर्त्तियोंको नरदेव कहते हैं । निर्भय साधुओंको धर्मदेव और तीर्थंकर भगवान्को देवाधिदेव कहते हैं । जो देवगति नामकर्मके उदयसे देवपर्यायको धारणकर देवायुको भोगनेवाले हैं, उनको भावदेव कहते हैं ।

इन्द्रियोंके द्वारा नहीं दीखते । अतएव उनका मूलमें अस्तित्व भी है या नहीं ? अथवा यह कैसे मालूम हो, कि वास्तवमें देवगतिका अस्तित्व है ? उत्तर—देवगतिके एक देशको देखकर शेष भेदोंके अस्तित्वको भी अनुमानसे जाना जा सकता है । चार निकायोंमेंसे ज्योतिष्कदेवोंका अस्तित्व प्रत्यक्ष है । इसी बातको दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं:—

सूत्र— तीयः पीतलेश्यः ॥ २ ॥

भाष्यम्—तेषां चतुर्णां देवनिकायानां तृतीयो देवनिकायः पीतलेश्य एव भवति । कश्चासौ ? ज्योतिष्क इति ।

अर्थ—ऊपर जो देवोंके चार निकाय बताये हैं, उनमेंसे तीसरे देवनिकायके पीतलेश्या ही होती है । उस देवनिकायका नाम है—ज्योतिष्क । अर्थात् चार देवनिकायोंमेंसे तीसरे देवनिकायका नाम ज्योतिष्क है, और वह नियमसे पीतलेश्यावाला ही होता है । चन्द्र सूर्य आदि विमान प्रत्यक्ष दीखते हैं । उनमें रहनेवाले देव ज्योतिष्कदेव कहे जाते हैं । जिस प्रकार मन्त्रोंको देखकर उनमें रहनेवालोंका अस्तित्व अनुमानसे मालूम हो जाता है । उसी प्रकार उन देवोंका अस्तित्व भी समझ लेना चाहिये, और उन देवोंके सम्बन्धसे दूसरे देवोंका अस्तित्व भी जाना जा सकता है । जैसे कि सेना वन आदिके एकदेशको देखकर शेषका भी ज्ञान हो जाता है ।

ऊपर जो चार निकाय बताये हैं, उनके अन्तरभेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—दशाष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ३ ॥

भाष्यम्—ते च देवनिकाया यथासङ्ख्यमेवविकल्पा भवन्ति । तद्यथा—दशाविकल्पा भवन्वाप्तिनोऽसुरादयो वक्ष्यन्ते । अष्टविकल्पा व्यन्तरा किन्नरादयः । पञ्चविकल्पा ज्योतिष्का सूर्यादयः । द्वादशविकल्पा वैमानिका कल्पोपपन्नपर्यन्ताः सोधर्मादिष्विति ॥

अर्थ—ऊपर जिन देवनिकायोंका उल्लेख किया गया है, उनके भेद क्रमसे इस प्रकार हैं—भवनवासी, इनके असुरकुमार नागकुमार विद्यत्कुमार आदि दश भेद हैं, जिनका कि वर्णन आगे चलकर करेंगे । व्यन्तर, इनके किन्नर किंपुरुष महोरग आदि आठ भेद हैं । तीसरे ज्योतिष्क हैं, जिनके कि सूर्य चन्द्र आदि पाँच भेद हैं । वैमानिकदेवोंके बारह भेद हैं, परन्तु ये भेद सौधर्म आदि स्वर्गसे लेकर कल्पोपपन्न पर्यन्त है । आगे नहीं । व्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिकदेवोंके इन भेदोंका भी उल्लेख आगे किया जायगा ।

१—यहाँपर लेश्यासे द्रव्यलेश्या समझनी चाहिये, जो कि शरीरके वर्णरूप है । पञ्चु यह कथन ठीक समझमें नहीं आता, क्योंकि देवोंके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये यह सूत्र है । देव प्रत्यक्ष नहीं दीखते हैं, जो दीखते हैं, वे देवोंके विमान हैं, और उनके वर्णोंको लेश्या कैसे कहा जा सकता है, फिर सभी विमान या देव पीतवर्णके ही नहीं हैं । यदि देवोंका शरीरवर्ण लिया जाय, तो शेष तीन निकायोंके समान ज्योतिष्क भी दीखते नहीं ।

भावार्थ—वैमानिकदेव दो प्रकारके हैं, कल्पोपपन्न और कल्पातीत । जिनमें वक्ष्यमाण इन्द्र सामानिक आदि भेदोंकी कल्पना पाई जाती है, उन स्वर्गोंको कल्प कहते हैं, और उनमें उपपाद-जन्म धारण करनेवाले देवोंका नाम कल्पोपपन्न है । जिनमें वह कल्पना नहीं पाई जाती, उन स्वर्गोंमें उत्पन्न होनेवाले देवोंको कल्पातीत कहते हैं । पहले सोधर्म स्वर्गसे लेकर बारहवें अच्युत स्वर्गतकको कल्प कहते हैं । अतएव इनमें उत्पन्न होने वाले देवोंके बारह भेद हैं । बारह स्वर्गोंके इन्द्र भी बारह ही हैं । अच्युत स्वर्गसे ऊपरके देव दो तरह के हैं—त्रैवेयकवौसी और अनुत्तरवौसी । इन दोनों ही तरहके देवोंको अहमिन्द्र कहते हैं, क्योंकि इनमें इन्द्रादिककी कल्पना नहीं है । सब समान ऐश्वर्यके धारक है । अतएव वे सभी देव अपने अपनेको इन्द्र ही समझते और मानते हैं । प्रकृतमें वैमानिकदेवोंमेंसे अहमिन्द्रोंका ग्रहण अपेक्षित नहीं है । कल्पोपपन्नपर्यन्त ऐसा कहनेसे और बारह भेद दिखानेमें स्पष्ट होता है, कि प्रकृतमें अच्युत स्वर्ग तकके भेद बताना ही आचार्यको अभीष्ट है ।

ऊपर कहा जा चुका है, कि बारहवें स्वर्गतक इन्द्रादिककी कल्पना पाई जाती है, इसलिये उसको कल्प कहते हैं । किन्तु वह कल्पना कितने प्रकारकी है, सो अभी तक बताई नहीं, अतएव उसके भेदोंको दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशदारिपद्यात्मरक्षलोकपालानी-
कप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ॥ ४ ॥**

भाष्यम्—एकैकदाश्रितेषु देवानिकायेषु देवा दशविधा भ्रजन्ति । तद्यथा इन्द्रा सामानिका त्रायस्त्रिंशा पारिपद्या आत्मरक्षा लोकपाला अनीकानि अनीकाधिपतयं प्रकीर्णका अभियोग्या किल्बिषिकाश्चेति ॥ तत्रेन्द्रा भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कविमानाधिपतय ॥ इन्द्रसमाना सामानिका अमात्यपितृगुरुपाध्यायमहत्तरवत् केवलमिन्द्रत्वर्णना । त्रायस्त्रिंशा मन्त्रिपुरोहितस्थानीया । पारिपद्या वयस्पस्थानीया । आत्मरक्षा शिरोरक्षस्था-

१-दिगम्बर सम्प्रदायमें सोलह स्वर्ग और उनके बारह इन्द्र माने हैं । इन इन्द्रोंकी अपेक्षासे ही कल्पोपपन्नके बारह भेद माने हैं । यथा-सौधर्मादि चार स्वर्गोंके चार इन्द्र, पाँचवें छठेका एक, सातवें आठवेंका एक, नौवें दशवेंका एक ग्यारहवें बारहवेंका एक, और तेरहवेंसे सोलहवें तकके चार इन्द्र हैं । इनके नाम राजवातिकमें देखना चाहिये । श्रुतान्तर सम्प्रदायमें अच्युत पर्यन्त बारह स्वर्ग और उनके बारह ही इन्द्र माने हैं । किन्तु सिद्धसेन गणाने इन्द्रोंके दश भेद ही गिनाये हैं, जैसा कि अध्याय ४ सूत्र ६ की टीकासे मालूम होता है । २-इस कथनसे नव त्रैवेयक और नव अनुत्तरा दोनोंका ही ग्रहण करना चाहिये । ३-विजय वैजयत जयत अपराजित और सर्वार्थसाधि इन पाँच विमानोंको अनुत्तर कहते हैं । ४-अहमिन्द्रोऽस्मि नेन्द्रोऽन्यो मत्तोस्तात्यात्तकल्पना । अहमिन्द्राख्यया स्वर्गाति गमास्ते हि दिवौस ॥ श्रीजिनमेनाचार्य-महापुराण ५- 'अधिवासवाची त्राय कल्पशब्द । अन्तेपरिगता पर्यन्ता । कल्पोपपन्ना (कल्पपुपन्ना) पर्यन्ता येषां त इमे । कल्पाथ द्वादश वक्ष्यमाणा सौधर्मादयोऽच्युतपर्यवसाना । तत्पर्यन्तमेतच्चतुष्टय भवतीति ॥ ६-सूत्रमें केवल अनीक शब्द ही पडा है, न कि अनीकाधिपति । अतएव भाष्यकारन अनीक शब्दका ही अर्थ अनीकाधिपति है । ऐसा समझानेके लिये छलासा किया है । अन्यथा दशकी सख्या विघटित हो जायगी ।

नीयाः । लोकपाला आरक्षिकार्थं चरस्थानीया । अनीकाधिपतयो वृण्डनायकस्थानीयाः । अनीकान्यनीकस्थानीयान्येव । प्रकीर्णका पौरजनपदस्थानीया । आभियोग्याः दासस्थानीया । किल्बिषिका अन्तस्थस्थानीया इति ॥

अर्थ—ऊपर जो देवोंके चार निकाय बताये हैं, उनमेंसे प्रत्येक निकायमें देवोंके दश भेद हुआ करते हैं । अर्थात् चारों निकायोंके देवोंमें दश दश प्रकार हैं । वे दश प्रकार कौनसे हैं सो बताते हैं ।—इन्द्र सामानिक त्रायस्त्रिंश पारिषद्य आत्मरक्ष लोकपाल अनीक—अनीकाधिपति प्रकीर्णक आभियोग्य और किल्बिषिक ।

भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक इन चारों निकायोंके देवोंमें जो सब देवोंके—अपने अपने निकायवर्ती ममस्त देवोंके अधिपति—स्वामी है, उनको इन्द्र कहते हैं । अमात्य पिता गुरु उपाध्याय आदिके समान जो महान् है, जिनमें केवल इन्द्रत्व तो नहीं है—आज्ञा करनेकी योग्यता या अधिकार तो जिनमें नहीं पाया जाता, परन्तु जिनका ऐश्वर्य सब इन्द्रके हा समान होता है, उन देवोंको सामानिक कहते हैं । राज्यमें मन्त्री और पुरोहित जिस प्रकार हुआ करते हैं, उसी प्रकार जो देव उनके समान स्थानपर नियुक्त हैं, उनको त्रायस्त्रिंश कहते हैं । जो मित्रके समान है, अथवा सभासदोंके स्थानापन्न है, उनको पारिषद्य कहते हैं, जो हथियार लिये हुए पीठकी तरफ रक्षाके लिये खड़े रहते और स्वामीकी सेवामें सन्नद्ध रहा करते हैं, ऐसे अङ्गरक्षकोंके समान जो देव होते हैं, उनको आत्मरक्ष कहते हैं । जो चोर आदिसे रक्षा करनेवाले कोतवालके समान हैं, उनको लोकपाल कहते हैं । जो सेनापतिके समान है, उनको अनीकाधिपति कहते हैं । जो नगरनिवासिके समान है—प्रजाके स्थानापन्न हैं, उनको प्रकीर्णक कहते हैं । जो नौकरोंके समान है, उनको आभियोग्य कहते हैं । नगर बाह्य रहनेवाले चाण्डालादिके जो समान हैं, उनको किल्बिषिक कहते हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार मर्त्यलोकमें राज्यकी विभूति और उसके अंग हुआ करते हैं, उसी प्रकारकी रचना देवोंमें भी है । इन्द्र राजाके स्थानापन्न है, सामानिक अमात्य और पिता तथा गुरु आदिके स्थानापन्न हैं । इसी प्रकार ऊपर लिखे अनुसार दशों भेदोंके विषयमें समझना चाहिये ।

१—यह सामान्य कथन है । इसका विशेष अपनादरूप कथन आगेके सूत्रमें करेंगे, कि व्यन्तर और ज्योतिष्कोंमें आठ ही भेद हैं । २—ये एक एक इन्द्रके प्रति सत्यामें ३३ ही होते हैं । अतएव इनको त्रायस्त्रिंश कहते हैं ।

३—अनीक शब्द सूत्रमें आया है, उसीका अर्थ अनीकाधिपति है । अथवा दो शब्द माननेपर दशवी सत्या नहीं रह सकती है, ऐसा पहले बता चुके हैं । अतएव स्पष्ट बोध करानेके लिये ही भाष्यकारने एक अनीकाधिपति शब्दकी ही व्याख्या की है । ४—यद्यपि स्वर्गोंमें यहाँके समान चोरी करनेवाले अथवा युद्धादि करनेवाले शत्रु आदि नहीं हैं, तो भी यह केवल पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुई, शक्ति विशेषके वैभव और उसके महत्त्वको प्रकट करता है । जैसे कि किसी महान् पुण्याधिकारी राजाके राज्यमें कभी किसी भी प्रजारका कोई भी उपद्रव नहीं होता, तो भी उसके राज्यमें राज्यके सम्पूर्ण अंग रहते ही हैं, और उनके रहनेको केवल पुण्यजनित वैभव ही कहा जा सकता है । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । अतएव इस वैभवका फल स्थितिकी

ऊपरके कथनसे देवोंके चारों ही निकायोंमें यह दशविध कल्पना है—सभी निकायोंमें ये दश प्रकारके देव रहते हैं, ऐसा समझमें आता है । क्योंकि ऊपर जो कथन किया है, वह मान्य है, उसमें अभीतक कोई विशेष उल्लेख नहीं किया है । अतएव उसमें जो विशेषता, उसको बताते हैं—

सूत्र—त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

भाष्यम्—व्यन्तरा ज्योतिष्काश्चाष्टविधा भवन्ति त्रायस्त्रिंशलोकपालवर्ज्या इति ॥

अर्थ—चार निकायोंमेंसे व्यन्तर तथा ज्योतिष्क निकायमें आठ प्रकारके ही देव रहते हैं । उनमें त्रायस्त्रिंश और लोकरूपाल नहीं हुआ करते ।

भावार्थ—इन्द्र सामानिक आदिके भेदसे देवोंके जो दश प्रकार बताये हैं, वे दशोंकार भवनवासी और वैमानिक देवोंमें ही पाये जाते हैं । व्यन्तर और ज्योतिष्कमें नहीं । अतएव उनमें देवोंके आठ ही भेद हुआ करते हैं ।

इन्द्र आदि दश भेद जो बताये हैं, उनमें और कोई विशेषता नहीं बताई है, अतएव कोई मझ सकता है, कि चार निकायोंके चार ही इन्द्र हैं, इसी प्रकार और भी अनिष्ट अर्थका सङ्ग आ सकता है । अतएव उक्त निकायोंमें इन्द्रोंकी कल्पना किस प्रकारसे है, इस बातको तानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—पूर्वयोर्द्विन्द्राः ॥ ६ ॥

भाष्यम्—पूर्वयोर्देवनिकाययोर्भवनवासिर्व्यन्तरयोर्देवविकल्पाना द्वौ द्वाविन्द्रौ भवत । यथा—भवनवासिषु तावद्द्वौ असुरकुमारानामिन्द्रौ भवतश्चमरो बलिश्च । नागकुमारानां धरणी भूतानन्दश्च । विद्युत्कुमारानां हरिर्हरिहसश्च । सुपर्णकुमारानां वेणुदेवो वेणुरी च । अग्निकुमारानामग्निशिखोऽग्निमाणवश्च । वातकुमारानां वेलम्ब प्रभञ्जनश्च । तनितकुमारानां सुधीषो महाधीषश्च । उदधिकुमारानां जलकान्तो जलप्रभश्च । द्वीपकुमारानां पूर्णोऽवशिष्टश्च । दिक्कुमारानाममितोऽमितवाहनश्चेति ॥

व्यन्तरेष्वपि द्वौ किन्नराणामिन्द्रौ किन्नर किम्पुरुषश्च । किम्पुरुषाणां सत्पुरुषो मत्तारुषश्च । मत्तारुषाणामतिकायो महाकायश्च । गन्धर्वाणां गीतरतिर्गीतयशाश्च । यक्षाणां पूर्णभद्रो मणिभद्रश्च । राक्षसानां भीमो महाभीमश्च । भूतानां प्रतिरूपोऽतिरूपश्च । पिशाचानां कालो महाकालश्चेति ॥ ज्योतिष्काणां तु बहवः सूर्याश्चन्द्रमसश्च । वैमानिकानामेक एव । तद्यथा—सौधर्मं शक्रं पेशाने ईशानं, सनत्कुमारं सनत्कुमार इति । एव सर्वे तल्पेषु स्वकल्पाव्हा परतस्त्विन्द्रादयो दश विशेषा न सन्ति, सर्व एव स्वतन्त्रा इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त चार निकायोंमेंसे पहले दो देवनिकायोंमें अर्थात् भवनवासी और व्यन्तरोंमें जितने देवोंके विकल्प हैं, उन सभीमें दो दो इन्द्र हुआ करते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—भवनवासियोंके अमुरकुमार आदि दशभेद हैं, जिनमेंसे

असुरकुमारोंके चमर और बलि ये दो इन्द्र हैं। नागकुमारोंके धरण और भूतानद, विद्युत्कुमारोंके हरि और हरिहस, सुपर्ण कुमारोंके वेणुदेव और वेणुदारी, अग्निकुमारोंके अग्निशिख और अग्नि माणव, वातकुमारोंके वेलम्ब और प्रमञ्जन, स्तनितकुमारोंके सुधोष और महाधोष, उदधिकुमारोंके जलकान्त और जलप्रम, द्वीपकुमारोंके पूर्ण और अविशिष्ट, तथा दिक्कुमारोंके अमित और अमितबाहन ये दो इन्द्र हैं।

व्यन्तरनिकायके आठ भेद हैं—उनमें भी इसी प्रकार प्रत्येक भेदके दो दो इन्द्र समझने चाहिये। उनके नाम इस प्रकार हैं—किन्नरोंके किन्नर और किम्पुरुष, किम्पुरुषोंके सत्पुरुष और महापुरुष, महोरगोंके अतिकाय और महाकाय, गन्धर्वोंके गीतरति और गीतयशा, यक्षोंके पूणमद्र और मणिमद्र, राक्षसोंके भीम और महाभीम, भूतोंके प्रतिरूप और अतिरूप, एव पिशाचोंके काल और महाकाल ये दो इन्द्र हैं।

ज्योतिष्क निकायमें सूर्य और चन्द्रमा ये दो इन्द्र हैं। किन्तु ये सूर्य और चन्द्रमा एक एक ही नहीं किन्तु बहुत हैं। क्योंकि द्वीप समुद्रोंका प्रमाण असंख्य है और प्रत्येक द्वीप या समुद्रमें अनेक सूर्य तथा चन्द्रमा पाये जाते हैं। अतएव सूर्य और चन्द्रमा भी असंख्य हैं।

वैमानिकदेवोंमें एक एक ही इन्द्र हैं।—यथा—सौषर्ष स्वर्गके इन्द्रका नाम शक्र है, इसी प्रकार ऐशान स्वर्गके इन्द्रका नाम ईशान और सानत्कुमार स्वर्गके इन्द्रका नाम सनत्कुमार है। इसी प्रकार हरएक कल्पमें समझना चाहिये। उन इन्द्रोंके नाम कल्पोंके नामके अनुसार ही है। बारहवें अच्युत स्वर्ग तक कल्प कहा जाता है। इसलिये वहाँ तक यह इन्द्रादिककी कल्पना पाई जाती है, उसके आगे देवोंके सामानिक आदि विशेष भेद नहीं है। वहाँके सभी देव स्वतन्त्र हैं। उनको अहमिन्द्र कहते हैं। वे गमनागमनसे रहित हैं।

इस प्रकार पहली दोनों निकायोंके इन्द्रोंका वर्णन करके उनकी लेश्याओंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—पीतान्तलेश्याः ॥ ७ ॥

भाष्यम्—पूर्वयोर्निकाययोर्देवाना पीतान्ताश्चतस्रोऽलेश्या भवन्ति ।

अर्थ—पहले दोनों निकायोंके देवोंके पीतपर्यन्त चार लेश्याएँ होती हैं।

१—दिगम्बर सम्प्रदायमें इन दोनोंमें से चन्द्रमाको प्रधान माना है। चन्द्रको इद्र और सूर्यको प्रतीन्द्र कहते हैं। सौ इन्द्रोंकी गणनामें इन्द्र और प्रतीन्द्र दोनों ही लिये जाते हैं। २—जम्बूद्वीप दोय लवणाम्बुविमें चार चन्द्र, घातखण्ड चारह कालोदधि व्यासीस हैं, पुस्करके दोय भाग ईधर घटसरह इत्यादि (चर्चाशतक) ३—माहेन्द्रमें माहेन्द्र, ब्रह्मलोकमें ब्रह्म, लान्तपमें लान्तक, महाशुक्रमें महाशुक्र, सहस्रारमें सहस्रार, आनत और प्राणत दोनों कल्पोंका प्राणत नामका एक ही इन्द्र है। इसी प्रकार धारण और अच्युतकल्पोंका एक अच्युत नामका ही इन्द्र है। इस प्रकार चारह स्वर्गोंके दस ही इन्द्र हैं। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें सोलह स्वर्ग और उनके चारह इन्द्र माने हैं।

भावार्थ—यहाँपर लेश्यासे अभिप्राय द्रव्यलेश्याका है । अर्थात् भवनवासी औः व्यन्तरनिकायके देवोंके शरीरका वर्ण कृष्ण नील कापोत और पीत इन चार लेश्याओंमें किसी भी एक लेश्यारूप हो सकता है । भावलेश्याके विषयमें कोई नियम नहीं है । दोनों निकायके देवोंके छहों भावलेश्या हो सकती हैं ।

उक्त चारों निकायके देव तीन भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं । एक तो वे कि जिनके देवियाँ भी हैं और प्रवीचार भी है, दूसरे वे कि जिनके देवियाँ तो नहीं हैं, परन्तु प्रवीचार पाया जाता है । तीसरे वे कि जिनके न देवियाँ हैं और न प्रवीचार ही है । इनमेंसे वे देव कौनसे हैं, कि जिनके देवियाँ भी हैं और प्रवीचार भी है ? उन्हींको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ८ ॥

भाष्यम्—भवनवास्यादयो देवा आ ऐशानात् कायप्रवीचारा भवन्ति । कायेन प्रवीचार एषामिति कायप्रवीचारा । प्रवीचारो नाम मैथुनविषयोपसेवनम् । ते हि सङ्क्षिप्तकर्माणो मनुष्यवन्मैथुन सुखमनुप्रलीयमानास्तीव्रानुशया कायसङ्केशज सर्वाङ्गीण स्पर्शसुखमवाप्य प्रीतिसुपलभन्त इति ॥

अर्थ—काय नाम शरीरका है, और प्रवीचार नाम मैथुन सेवनका है । शरीरके द्वारा स्त्रीसम्भोग आदि जो मैथुन सेवन क्रिया जाता है, उसको कायप्रवीचार कहते हैं । भवनवासियोंसे लेकर ऐशान स्वर्गतकके देव कायप्रवीचार है । वे शरीर द्वारा ही मैथुन विषयका सेवन करते हैं । उनके कर्म अतिङ्केशयुक्त हैं, वे मैथुन सेवनमें अति अनुरक्त रहनेवाले और उसका पुन सेवन करनेवाले हैं, मैथुनसज्ञाके उनके परिणाम अतिशय तीव्र रहा करते हैं । अतएव वे शरीरके सङ्केशसे उत्पन्न हुए और सर्वाङ्गीण स्पर्श सुखको मनुष्योंकी तरह पाकरके ही वे प्रीतिको प्राप्त हुआ करते हैं ।

भावार्थ—यहाँपर आङ्का मर्यादा अर्थ न करके अभिविधि अर्थ माना है । अतएव ऐशान स्वर्गसे पहले पहले ऐसा अर्थ न करके ऐशानपर्यन्त ऐसा अर्थ करना चाहिये । दूसरी बात यह है, कि उपर्युक्त कथनके अनुसार इस सूत्रमें दो बातें बतानी चाहिये । एक तो देवियोंका अस्तित्व और दूसरा प्रवीचारका सद्भाव । कायप्रवीचार शब्दके द्वारा ऐशान पर्यन्त—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क और सौधर्म ऐशान स्वर्गवासी देवोंके प्रवीचार किस तरहका होता है, सो तो बता दिया । परन्तु देवियोंके अस्तित्वके विषयमें यहाँ कोई उल्लेख नहीं किया है । सो वह “व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्ति” इस सिद्धान्तके अनुसार आगमके व्याख्यानसे समझ लेना चाहिये । आगममें लिखा है, कि भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क और सौधर्म ऐशान

कल्पमें ही देवियों जन्मके द्वारा उत्पन्न हुआ करती हैं, इसके आगे नहीं। अतएव जन्मकी अपेक्षा देवियोंका अस्तित्व ऐशान कल्पपर्यन्त ही समझना चाहिये।

दूसरे प्रकारके देव वे बताये हैं, जिनके कि देवियोंका सद्भाव तो नहीं है, परन्तु प्रवी-चारकी सत्ता पाई जाती है। उनके मैथुन सेवन किस प्रकारसे हुआ करता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं.—

सूत्रम्—शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—ऐशानादूर्ध्वं शेषाः कल्पोपपन्ना देवा द्वयोर्द्वयोः कल्पयोः स्पर्शरूपशब्दमन-प्रवीचारा भवन्ति यथासङ्गचम् । तद्यथा सनत्कुमारमाहेन्द्रयोर्देवान् मैथुनसुरप्रेप्सुनुत्पत्त्यास्थान् विदित्वा देव्य उपतिष्ठन्ते । ता स्पृष्ट्वैव च ते प्रीतिमुपलभन्ते विनिवृत्तास्थाश्च भवन्ति । तथा ब्रह्मलोकलान्तकयोर्देवान् एवभृतोत्पत्त्यास्थान् विदित्वा देव्यो दिव्यानि स्वभावभास्वराणि सर्वाङ्गमनोहराणि शृङ्गारोदारामिजाताकारविलासान्युज्ज्वलचारुवेपोभरणानि स्वानि रूपाणि दर्शयन्ति । तानि दृष्ट्वैव ते प्रीतिमुपलभन्ते निवृत्तास्थाश्च भवन्ति ॥ तथा महाशुक-सहस्रारयोर्देवानुत्पन्नप्रवीचारास्थान् विदित्वा देव्य श्रुतिविषयसुरानत्यन्तमनोहरान्शृङ्गारो-दाराभिजातविलासामिलापच्छेदतलतालाभरणरवमिश्रान् हसितकथितनीतशब्दानुदीर-यन्ति । तान् श्रुत्वैव प्रीतिमुपलभन्ते निवृत्तास्थाश्च भवन्ति । आनत प्राणतारणाच्युतकल्प-वासिनो देवा प्रवीचारायोत्पत्त्यास्था देवी सकल्पयन्ति । सकल्पमात्रेणैव च ते परा प्रीति-मुपलभन्ते विनिवृत्तास्थाश्च भवन्ति ॥ एभिश्च प्रवीचारैः परत परत प्रीति प्रकर्षविशेषोऽनु-पमगुणो भवति, प्रवीचारिणामल्पसद्वक्त्रेश्वात् । स्थितिप्रभायादिभिरधिका इति वक्ष्यते । (अ० ४ सूत्र ११)

अर्थ—कल्पोपपन्न देवोंमें सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देवोंको छोड़कर बाकीके जो देव हैं, वे यहाँपर शेष शब्दसे कहे गये हैं। इन देवोंमें दो दो कल्पके देवोंके क्रमसे स्पर्श रूप शब्द और मनके द्वारा प्रवीचार हुआ करता है। वह किस प्रकारसे होता है सो बताते हैं—

सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें जो उत्पन्न होनेवाले हैं, उन देवोंके जब मैथुन सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है, तब उनकी नियोगिनी देवियाँ उनको बैसा जानकर उनके निकट आकर उपस्थित होती हैं। वे देव उन आई हुई देवियोंका केवल स्पर्श करके ही प्रीतिको प्राप्त हो जाते हैं, और उनकी वह कामवासनाकी आशा उसीसे निवृत्त हो जाती है।

इसी प्रकार ब्रह्मलोक और लान्तक कल्पवासी देवोंके जब मैथुन सद्भा उत्पन्न होती है, तब उनको बैसा—मैथुन सुखके लिये आशावान् जानकर उनकी नियोगिनी देवियाँ उनके निकट आकर उपस्थित होती हैं, और वे उन्हें अपने ऐसे रूप दिखाती हैं। जो कि दिव्य और स्वभावसे ही भास्वर—प्रकाशमान तथा सर्वाङ्गमें मनोहर हैं, जो शृङ्गार-सम्बन्धी उदार और अभिजात—उत्तम कुलके योग्य कहे और माने जा सकनेवाले आकार

तथा विलाससे युक्त हैं, एव जिनमें उज्ज्वल और मनोज्ञ वेप—वस्त्रपरिधान—पोशाक तथा आभरण पाये जाते हैं । उन देवियोंके ऐसे मनोहर और सुन्दर शृङ्गार तथा वेप म्पासे युक्त रूपोंको देखकर ही वे देव प्रीतिको प्राप्त होजाते हैं, और इतने—देखने मात्रसे ही उनकी वह-कामकी आशा भी निवृत्त हो जाती है ।

इसी तरह महाशुक्र और सहस्रार कल्पके देवोंके जब प्रवीचारकी आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है, तब उनकी नियोगिनी देवियाँ उनको वैसा—काम सुखका अभिलाषी जानकर उनके निकट आती हैं, और ऐसे शब्दोंका उच्चारण करती है, कि जो श्रवण विषयके सुखको देनेवाले और अत्यन्त मनोहर हैं, जिनमें शृङ्गारका उदार और उच्च कुलके योग्य विलास अभिलाष छेद तल ताल और आभरणोंका शब्द मिला हुआ है । एव जो कभी हास्यके विषयको लेकर और कभी कथोपकथनके सम्बन्धको लेकर तथा कभी गायनके प्ररुणको लेकर प्रवृत्त हुआ करते हैं । उन देवियोंके उन इच्छाके अनुरूप शब्दोंको सुनते ही वे देव प्रीतिको प्राप्त हो जाते हैं और उनकी वह आशा भी उसीसे निवृत्त हो जाती है ।

इसा तरह आनन्द प्राणत आरण और अच्युत कल्पवर्ती देव जिस समय प्रवीचारका विचार ही करते हैं, और देवियोंका सकल्प करते हैं, उसी समय—उस सकल्पके करते ही वे देव प्रीतिको प्राप्त हो जाते हैं, और उस सकल्प मात्रसे ही उनकी वह आशा निवृत्त हो जाती है ।

इन प्रवीचारोंके कारण आगे आगेके—ऊपर ऊपरके कल्पोंमें रहनेवाले देव अधिकाधिक विशेष प्रीतिको धारण करनेवाले हैं, और उनकी यह प्रीति उत्तरोत्तर अनुपम महत्त्वको रखनेवाली है । क्योंकि ऊपर ऊपरके उन प्रवीचार करनेवाले देवोंमें प्रवीचारके सकल्परूप परिणाम अल्प—मन्द मन्दतर हुआ करते हैं । परन्तु वे स्थिति और प्रभावकी अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक है, जैसा कि आगे चलकर लिखा जायगा ।

भावार्थ—ऊपर जो तीन प्रकारके देव बताये हैं, उनमेंसे यह उन देवोंके स्वरूपका वर्णन है, जो कि अदेवीक और सप्रवीचार हैं । यह बात भी ऊपर लिखी जा चुकी है, कि कल्पवामिनी देवियाँ जन्मके द्वारा सौधर्म और ऐशान कल्पमें ही उत्पन्न हुआ करती हैं । ऊपरके कल्पोंमें वे उत्पन्न नहीं हुआ करती । अतएव उन देवोंको अदेवीक माना है । किन्तु उनमें प्रवीचार पाया जाता है । उन देवोंको मैथुनकी इच्छा होते ही उनकी नियोगिनी देवियाँ उनके पास सौधर्म ऐशान कल्पसे आकर उपस्थित हो जाती है । उपस्थित होनेवाली

१—अध्याय ४ सूत्र २१ । २—अदेवीक सप्रवीचार, अदेवीक सप्रवीचार, अदेवीक अप्रवीचार । दूसरे प्रकारको अदेवीक कहनेका यह अभिप्राय नहीं है, कि उनके देवियाँ ही नहीं हैं । किन्तु तात्पर्य यह है कि वे मनुष्योंके समान अथवा ऐशान पर्यन्त देवोंके समान कायसे धीडा करनेवाले नहीं हैं, और उनके नियोगिनी—परिप्रद्वीता देविया नहीं हैं । अतएव अदेवीक शब्दमें देवियोंके निषेधका पर्युदास रूप अर्थ करना चाहिये ।

जो देवियाँ हुआ करती हैं, उनको अपरिग्रहीत वेश्याओंके स्थानापन्न माना है, और उन्हें अपसरा कहते हैं। उनकी स्थिति आदिका विशेष वर्णन टीका-ग्रन्थोंमें देखना चाहिये, जिससे यह मालम हो सकता है, कि सौधर्म ऐशानमेंसे किस कल्पमें उत्पन्न होनेवाली और कितनी स्थितिवाली देवियाँ किस कल्पवासीके उपभोग योग्य हुआ करती है।

सानत्कुमारसे अच्युत कल्प पर्यन्त देवोंके प्रवीचारका सद्भाव जो बताया है, वह मनुष्योंके समान शारीरिक नहीं है। किंतु वह क्रमसे चार प्रकारका है—स्पर्शन दार्शनिक शाब्दिक और मानसिक। इनमेंसे किस किस कल्पमें कौन कौनसा प्रवीचार पाया जाता है, सो ऊपर बताया जा चुका है।

केवल स्पर्शमात्रसे अथवा देखने मात्रसे या शब्दमात्रसे या शब्दमात्रको सुनकर यद्वा मनके सकल्पमात्रसे जो प्रवीचार हुआ करता है, उनमें उत्तरोत्तर सुखकी मात्रा कम होगी, ऐसी उन लोगोंको शका हो सकती है, जो कि मनुष्योंके समान काय सम्भोगके द्वारा रेत-स्खलनमें ही मैथुन सुखका अनुभव करनेवाले हैं। परन्तु यह बात नहीं है, उन उत्तरोत्तर कल्पवासीदेवोंमें सुखकी मात्रा अधिकाधिक है, क्योंकि प्रवीचार वास्तवमें सुख नहीं है, वह एक प्रकारकी वेदना है। वह जहाँ जहाँपर जितने जितने प्रमाणमें कम हो, सुखकी मात्रा वहाँ वहाँपर उतने उतने ही प्रमाणमें अधिकाधिक समझनी चाहिये। जो कल्पतीत है, वे सर्वथा अप्रवीचार होनेसे मानसिक प्रवीचार करनेवालोंकी अपेक्षा भी अधिक सुखी हैं। जैसा कि आगेके सूत्रसे मालूम होगा।

सौधर्म और ऐशान स्वर्गके प्रवीचारका वर्णन पहले कर चुके हैं। और उसके बादका सानत्कुमार कल्पसे लेकर अच्युत कल्पतकके प्रवीचारका इस सूत्रमें वर्णन किया है।

क्रमानुसार अदेवीक और अप्रवीचार देवोंका वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—परेऽप्रवीचाराः ॥ १० ॥

भाष्यम्—कल्पोपपन्नेभ्यः परे देवा अप्रवीचारा भवन्ति। अल्पसक्लेशत्वात् स्वस्था शीतीभृताः। पञ्चविधप्रवीचारोद्भवाद्यपि प्रीतिविशेषादपरिमितगुणप्रीतिप्रकर्षाः परमसुख-
लता एव भवन्ति ॥

अर्थ—ऊपरके सूत्रमें वैमानिक देवोंमेंसे कल्पोपपन्न देवोंके प्रवीचारका वर्णन किया गया है, उससे आगेके—नव त्रैवैयक नव अनुदिश और विजयादिक पाँच अनुत्तरवासी देव यहाँपर पर शब्दसे लिये हैं। ये देव प्रवीचारसे सर्वथा रहित माने हैं। इनके सक्लेश परिणाम अत्यल्प हैं—मैथुन सज्ञाके परिणाम इनके नहीं हुआ करते, अतएव ये स्वस्थ हैं—आत्मसंभाषिते उत्पन्न हुए अनुपम सुखका ही ये उपभोग किया करते हैं, इनका मोहनीय कर्म अत्यंत कृश हो जाता है, इनके क्रोधादि कषाय भी अति मद् रहते हैं, अतएव इनको शीतीभूत

माना है। पाँच प्रकारके प्रवीचारसे उत्पन्न होनेवाली प्रीति विशेषसे भी इनकी प्रीतिके प्रकर्षका महत्व अपरिमित है। अतएव ये परमसुखके द्वारा सदा तृप्त ही रहा करते हैं।

भावार्थ—प्रवीचारकी गंधसे सर्वथा रहित होनेके कारण कल्पातीत देव आत्मसमुत्पन्न अनुभव सुखका अनुभव करनेवाले है। रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द ये पाँच मनोहर विषय प्रवीचारके कारण है। इन पाँचोंके समुदायसे जो सुखानुभव हो सकता है, उससे भी अपरिमित गुणा प्रीतिविशेष—प्रमोद—आत्मिक सुख इन देवोंके रहा करता है। उनके सुखके समान सुख अन्यत्र संसारमें कहीं भी नहीं मिल सकता। अतएव वे जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त निरंतर सुखी ही रहा करते हैं।

“न परे” ऐसा सूत्र करनेसे भी काम चल सकता था, फिर भी अप्रवीचार शब्दका ग्रहण करके सूत्रमें जो गौरव किया है, वह विशेष अर्थका ज्ञापन करनेके लिये है। जिससे इन देवोंमें सकलेश अधिक नहीं हैं, अल्प है, और संसार प्रवीचार समुद्भव है, इत्यादि विशिष्ट अर्थका बोध होता है।

अन्ततः देवोंके सामान्य वर्णन द्वारा नाम निकाय विकल्प विधिका वर्णन किया, अब विशेष कथन करनेकी इच्छासे ग्रन्थकार कहते हैं—

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता “देवाश्चतुर्निकायाः,” दशाष्ट पञ्चदशविकल्पा इति। तत् के निकायाः? के चेपा विकल्पा इति? अत्रोच्यते—चत्वारो देवनिकायाः। तथा—भवनवासिनी ज्योतिष्का वैमानिका इति। तत्र—

अर्थ—प्रश्न—आपने इस अध्यायकी आदिमें पहला—“देवाश्चतुर्निकायाः” और तीसरा—“दशाष्टपञ्चदशविकल्पा” ऐसा सूत्र कहा है। उसमें निकाय शब्दका पाठ किया है। सो यह नहीं मालूम हुआ कि, निकाय कहते किसको हैं? और उसके कितने भेद है?

उत्तर—देवोंके चार निकाय हैं। यथा—भवनवासी ज्योतिष्क और वैमानिक।

भावार्थ—प्रश्नकर्ताका अभिप्राय सामान्य जिज्ञासाका नहीं, किन्तु विशेष जिज्ञासाका है। अर्थात् निकाय शब्दसे जो आपने बताये हैं वे कौन कौनसे हैं, और उनके वे दश आदिक भेद कौन कौनसे हैं। अतएव उत्तरमें भाष्यकार निकायोंके चार भेदोंके भवनवासी आदि नाम गिनाकर क्रमसे पहले भवनवासियोंके दश भेदोंको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

१—टीकाकारने रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द इन विषयोंकी अपेक्षासे प्रवीचारके पाँच भेद बताये हैं। परन्तु सूत्रोक्त पाँच प्रकारके प्रवीचार इस तरह बड़े जा सकते हैं, कि—वायिक, स्पर्शन, दार्शनिक, शाब्दिक और मानसिक। जैसा कि सूत्र ८-९ से प्रतीत होता है।

सूत्र—भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितो- दधिद्वीपदिवकुमाराः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—प्रथमो देवनिकायो भवनवासिनः । इमानि चैषा विधानानि भवन्ति । तथा—असुरकुमारा नागकुमारा विद्युत्कुमारा सुपर्णकुमारा अग्निकुमारा वातकुमारा, स्तनितकुमारा उदधिकुमारा द्वीपकुमारा दिक्कुमारा इति ॥

कुमारवदेते कान्तदर्शना सुकुमारा मृदुमधुरललितगतय श्रृङ्गाराभिजातरूपविक्रिया, कुमारवच्चो दूतरूपवेपभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहनाः कुमारवच्चोत्वणरागा क्रीडनपराश्चेत्यतः कुमार इत्युच्यन्ते । असुरकुमारावासेष्वसुरकुमारा प्रतिवसन्ति शेषास्तु भवनेषु । महामन्दरस्य दक्षिणोत्तरयोर्विभवागयोर्वह्नीषु योजनशतसहस्रकोटीकोटीष्वावासा भवनानि च दक्षिणार्धाधिपतीनामुत्तार्धाधिपतीना च यथास्व भवन्ति । तत्र भवनानि रत्नप्रमाया बाहल्यार्धमवगाह्य मध्ये भवन्ति । भवनेषु वसन्तीति भवनवासिनः ॥

अर्थ—पहला देवनिकाय भवनवासी हैं । उनके ये भेद हैं—असुरकुमार १ नागकुमार २ विद्युत्कुमार ३ सुपर्णकुमार ४ अग्निकुमार ५ वातकुमार ६ स्तनितकुमार ७ उदधिकुमार ८ द्वीपकुमार ९ और दिक्कुमार १० ।

असुरादिक सभी भवनवासीदेवोंका स्वरूप कुमारोंके समान रमणीय और दर्शनीय हुआ करता है । इनके शरीर कुमारोंके समान ही सुकुमार और इनकी गति मृदु—स्निग्ध मधुर और ललित हुआ करती है । सुदर शृंगारमें रत उच्च एव उत्तम रूपको धारण करनेवाले तथा विविध प्रकारकी क्रीडा विक्रिया करनेमें अनुरक्त रहा करते हैं । इनका रूप शरीरका वर्ण, वेप—वस्त्रपरिधान, भाषा—वचन—कला, आभरण—अलंकार, प्रहरण—अस्त्र शस्त्र आदि आयुध, आवरण—छत्रादिक आच्छादन, यान—पालकी पीनस आदि, और वाहन—हाथी घोडा आदि सवारी, सब उद्धत और ऐसी हुआ करती हैं, जो कि कुमारोंके तुल्य हों, इनका राग भाव भी कुमारोंके ही समान उल्वण—व्यक्त हुआ करता है । एव कुमारोंके ही समान ये भी क्रीडा करने—यथेच्छ इतस्तत विहार करने और विनोद करते फिरनेमें रत एव प्रसन्न रहा करते हैं । इत्यादि सभी चेष्टा और मनोभाव कुमारोंके तुल्य रहनेके कारण असुरादिक दशों भेदवाले भवनवासियोंके लिये कुमार शब्दका प्रयोग किया जाता है । असुरकुमार नागकुमार इत्यादि ।

दश प्रकारके भवनवासियोंमें जो असुरकुमार हैं, वे प्राय करके अपने आवासोंमें ही रहा करते हैं । यद्यपि कभी कभी वे भवनोंमें भी रहते हैं, परन्तु प्राय करके उनका निवास अपने अपने आवास स्थानोंमें ही हुआ करता है । नाकीके ९ प्रकारके भवनवासी आवासोंमें नहीं रहते भवनोंमें ही रहा करते हैं ।

१—नागा प्रकारके रत्नोंकी प्रभासे उद्दीप्त रहनेवाले शरीर प्रमाणके अंगुमार बने हुए महामण्डलोंको आग्रास करते हैं । बाहरसे गोल भीतरसे चतुष्कोण और नीचेके भागमें कमलकी कर्णिकाके आकारमें जो बने हुए होते हैं, उन मकानोंको भवन कहते हैं ।

महामन्दर—सुदर्शन मेरूके दक्षिणोत्तर दिग्भागमें अनेक कोठीकोठी लाख योजनों आवास हैं, और दक्षिण अर्धके अधिपति चमरादिकोंके तथा उत्तर अर्धके अधिपति बलि आदि कोंके भवन भी यथायोग्य बने हुए हैं। इनमेंसे भवन रत्नप्रभा पृथिवीमें मुयार्इका जितना प्रमाण है, उसके ठीक अर्ध भागके बीचमें बने हुए हैं। उन भवनोंमें निवास करनेके कारण ही इन प्रथम निकायवाले देवोंको भवनवासी कहते हैं।

भाष्यम्—भवप्रत्ययाश्चैषामिमा नामकर्मनियमात्स्वजातिविशेषनियता विक्रिया भवन्ति। तद्यथा—गम्भीरा श्रीमन्त काला महाकाया रत्नोत्कटमुकुटभास्वराश्चूडामणिचिन्हा असुरकुमारा भवन्ति। शिरोमुखेष्वाधिक प्रतिरूपा कृष्णश्यामा मृदुललितगतय शिरस्सु फणिचिन्हा नागकुमारा। स्निग्धा भ्राजिष्णवोऽजदाता वज्रचिन्हा विद्यत्कुमारा। अधि करूपमीवोरस्का श्यामावदाता गरुडचिन्हा सुपर्णकुमारा। मानोन्मानप्रमाणयुक्ता भास्वन्तोऽवदाता घटचिन्हा अशिकुमारा भवन्ति। स्थिरपीनवृत्तगात्रा निमग्नोदरा अश्वचिन्हा अवदाता घातकुमारा। स्निग्धास्निग्धगम्भीरानुनादमहास्वना कृष्णा वर्धमानाचिन्हा स्त नितकुमारा। ऊरुऋटिष्वाधिकप्रतिरूपा कृष्णश्यामा मकरचिन्हा उदधिकुमारा। उरुस्कन्धवाद्ग्रहस्तेष्वाधिक प्रतिरूपा श्यामावदाता सिंहचिन्हा द्वीपकुमारा। जङ्घामपादेष्वाधिकप्रतिरूपा श्यामा हस्तिचिन्हा दिक्कुमारा। सर्वे विविधवस्त्राभरणप्रहरणावरणा भवन्तीति।

अर्थ—इन देवोंके विभिन्न प्रकारकी ये विक्रियाएँ जो हुआ करती हैं, वे भवप्रत्यय हैं। उस भव—पर्यायको धारण करना ही उनका कारण है, न कि तपोऽनुष्ठानादिक। नामकर्मके नियमानुसार आर अपनी अपनी जातिविशेषमें जैसी कुछ नियत हैं, उसके अनुरूप ही उनके विक्रियाएँ हुआ करती हैं। यथा—असुरकुमार गम्भीर—घनशरीरके धारक श्रीमान्—सम्पूर्ण अंग और उपाङ्गोंके द्वारा सुन्दर कृष्ण वर्ण महाकाय और रत्नोंसे उत्कट मुकुटके द्वारा दैर्घ्यमान हुआ करते हैं। इनका चिन्ह चूडामणि रत्न है। अर्थात् उनकी यह विक्रिया आङ्गोपाङ्गनामकर्म निर्माणनामकर्म और वर्णादिनामकर्मके उदयसे अपनी जातिविशेषताको करने या दिखानेवाली उसके अनुरूप हुआ करती है। इसी तरह नागकुमारादिकके विषयमें समझना चाहिये। नागकुमार शिर और मुखक भागोंमें अधिक प्रतिरूप कृष्णश्याम—अत्यधिक श्यामवर्णवाले एव मृदु और ललित गतिवाले हुआ करते हैं। इनके शिरोंपर सर्पका चिन्ह हुआ करता है। स्निग्ध प्रकाश शील उज्ज्वल शुकूर्वर्णके धारण करनेवाले विद्यत्कुमार हुआ करते हैं। इनका चिन्ह वज्र है। सुपर्णकुमार ग्रीवा और वक्ष स्थलों अति सुन्दर श्याम किन्तु उज्ज्वल—शुद्ध वर्णके धारक हुआ

१—धातवीर्यण्ड आदिके मेरूको कोई न समझ ले, इसके लिये ही महामन्दर शब्दका प्रयोग किया है। यहाँपर महामेरूके दक्षिणोत्तर दिग्भागमें आवास और भवनोंका होना लिखा है, परन्तु टीकाकार सिद्धसेनगणी लिखते हैं, कि आर्य आगममें रत्नप्रभा पृथिवीकी मोटाईके ऊपर नीचेके एक एक हजारको छोड़कर मध्यके ७८ हजार योजन माटे भागमें ही भवनोंका होना सबत्र लिखा है। २—भाष्यकारने नपुंसक लिंगवाले अर्धशब्दका प्रयोग किया है, जिससे बराबरके आधे आधे टुकड़ेका अर्थ होता है, क्योंकि “अर्ध समाशे” “तुल्यभागोऽर्ध” ऐसा कोषका नियम है।

करते है। इनका चिन्ह गरुड है। अग्नि कुमार मान और उन्मान—चौडाई और उँचाईका जितना प्रमाण होना चाहिये, उससे युक्त दैदीप्यमान और शुद्ध वर्णके धारण करनेवाले हुआ करते हैं। इनका चिन्ह घट है। स्थिर स्थूल और गोल शरीरको रखनेवाले तथा निमग्न उदरसे युक्त एव शुद्ध वर्णके धारक वातकुमार हुआ करते हैं। इनका चिन्ह अश्व है। स्तनितकुमार चिह्नण और स्निग्ध गम्भीर प्रतिध्वनि तथा महानाद करनेवाले और कृष्ण वर्ण हुआ करते हैं। इनका चिन्ह वर्धमान है। उदधिकुमार जड्घा और कटि भागमें अधिक सुन्दर और कृष्णश्याम वर्णके धारक हुआ करते हैं। इनका चिन्ह मकर है। द्वीपकुमार वक्ष स्थल स्कन्ध—कक्षा बाहुओंका अग्र भाग एव हस्तस्थलमें विशेष सुन्दर हुआ करते हैं, शुद्ध श्याम और उज्ज्वल वर्णको धारण करनेवाले हुआ करते है। इनका चिन्ह सिंह है। दिक्कुमार जडघाओंके अग्रभाग और पैरोंमें अधिक सुन्दर होते और श्यामवर्णको धारण करनेवाले हुआ करते हैं। इनका चिन्ह हस्ती है।

इस प्रकार यह भवनवासियोंकी भिन्न भिन्न विक्रियाओंका स्वरूप बताया है। इसके सिवाय ये सभी देव नाना प्रकारके वस्त्र आभरण प्रहरण और आवरणोंसे युक्त रहा करते हैं।

भावार्थ—लोकमें यह बात प्रसिद्ध है, कि असुर, देवोंके विरोधी और विडूरुप हुआ करते हैं। सो यह बात नहीं है। ये भी देवयोनि ही हैं। इनको पहले देवनिकायमें माना है, और ये अति सुन्दर रूपको धारण करनेवाले हुआ करते हैं। किन्तु ये कर्मजनित जाति स्वभावके कारण कुमारोंकीसी चेष्टाको पसन्द करते हैं, अतएव कुमार कहे जाते है। इनके आवास और भवनोंके विषयमें ऊपर लिखा जा चुका है। किस किस जातिके देवोंके भवनोंकी सख्या कितनी कितनी है, सो टीका—ग्रन्थोंसे देखना चाहिये।

क्रमानुसार दूसरे देवनिकायके जो आठ भेद बताये हैं, वे कौनसे हैं, उनको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

**सूत्र—व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुपमहोरगगन्धर्वयक्षराक्ष-
सभूतपिशाचाः ॥ १२ ॥**

भाष्यम्—अष्टविधो द्वितीयो देवनिकाया । एतानि चास्य विधानानि भवन्ति । अध-
स्तिर्यगूर्ध्वं च त्रिष्वपि लोकेषु भवननगरेष्वावासेषु च प्रतिवसन्ति । यस्मान्नाधस्तिर्यगूर्ध्वं च
त्रीनपि लोकाव स्पृशन्त स्नातन्त्र्यात्पराभियोगाच्च प्रायेण प्रतिपतन्त्यनियतगतिप्रचारा
मनुष्यानापि केचिद्भृत्यवदुपचरन्ति विविधेषु च शैलकन्दरान्तरवनविधराविषु प्रतिवसन्त्यतो
व्यन्तरा इत्युच्यन्ते ॥

अर्थ—दूसरा देवनिकाय व्यन्तर है। वह आठ प्रकारका है। वे आठ भेद इस प्रकार हैं—
किन्नर १ किम्पुरुप २ महोरग ३ गन्धर्व ४ यक्ष ५ राक्षस ६ भूत ७ और पिशाच ८ ॥

इनको व्यन्तर क्यों कहते हैं ? उत्तर—वि-विविध प्रकारका है, अन्तर—आवसन—निवास जिनका उनको व्यन्तर कहते हैं । क्योंकि यद्यपि रत्नप्रभा पृथिवीके एक हजार योजन मोटे पहले रत्नकाण्डके ऊपर नीचेके सौ सौ योजनके भागको छोड़कर मध्यके आठसौ योजन मोटे भागमें इन व्यन्तरोंका जन्मस्थान है, परन्तु वहाँ उत्पन्न होकर भी ये अव ऊर्ध्व और तिर्यक् तीनों लोकमें अपने भवन और अपने नगर तथा अपने आवासोंमें निवास किया करते हैं । बालकेके समान इनका स्वभाव अनवास्थित हुआ करता है, और स्वतन्त्र रूपसे सर्वत्र ये अनियत गमनागमन करनेवाले हैं । अतएव इनको व्यन्तर कहते हैं । तथा अध तिर्यक् और ऊर्ध्व तीनों ही लोकोंका स्पर्श करते और स्वतन्त्ररूपसे प्राय अनियत गमन—प्रचार करते हैं, फिर भी कदाचित् पराभियोग—इन्द्रकी आज्ञा अथवा चक्रवर्ती आदि पुरुषोंकी आज्ञासे भी ये गमनागमन—प्रचार किया करते हैं । कोई कोई व्यन्तर नौकरोंकी तरह मनुष्योंकी सेवा भी किया करते हैं । नाना प्रकारकी पर्वतोंकी वन्दराओंमें, वनोंमें, या किन्हीं विवरस्थानोंमें भी निवास किया करते हैं । अतएव इनको व्यन्तर कहते हैं ।

भावार्थ—व्यन्तर शब्दके कई अर्थ हैं । वि-विविध प्रकारका है अन्तर—निवास जिनका उनको व्यन्तर कहते हैं । अथवा वि-विगत है, अन्तर—भेद जिनका उनको व्यन्तर कहते हैं । क्योंकि इनमें मनुष्योंसे अविशिष्टता भी पाई जाती है । यद्वा गो आदिक सज्ञा-ओंकी तरह रूबीसे ही दूसरे देवनिकायका नाम व्यन्तर ऐसा प्रसिद्ध है । इनके किलर किम्पूरुप आदि आठ भेद हैं, जैसा कि ऊपर गिनाया जा चुका है । उन किलरादिकोंके भी उत्तरभेद कितने कितने और कौन कौन से हैं, सो बताके लिये भाष्यकार कहते हैं —

भाष्यम्—तत्र किलरा दशविधा । तद्यथा—किलरा किम्पुरुषा किम्पुरुषोत्तमा किलरोत्तमा हृदयगमा रूपशालिनोऽनिन्दिता मनोरमा रतिप्रिया रतिभेष्टा इति । किम्पुरुषा दशविधा तद्यथा—पुरुषा सत्पुरुषा महापुरुषा पुरुषवृषभा पुरुषोत्तमा अतिपुरुषा मरुदेवा मरुतो मेरुप्रभा यशस्वन्त इति । महोरगादशविधा । तद्यथा—भुजगा भोगशालिनो महाकाया अतिकाया स्कन्धशालिनो मनोरमा महावेगा महेष्यक्षा मेरुकान्ता मास्वन्त इति । गान्धर्वा द्वादशविधा । तद्यथा—हाहा हृह तुम्बुरवो नारदा ऋषिवादिका भूतवादिका कादम्बा महाकादम्बा रेतता विश्वावसवो गीतरतयो गीतयशस इति । यक्षास्त्रयोदशविधा । तद्यथा—पूर्णभद्रा माणिभद्रा श्वेतभद्रा हरिभद्रा सुमनोभद्रा व्यतिपातिकभद्रा सुभद्राः सर्वतोभद्रा मनुष्ययक्षा वनाधिपतयो वनाहार । रूपयक्षा यक्षोत्तमा इति । सप्तविधा राक्षसा । तद्यथा—भीमा महाभीमा विघ्ना विनायका जलराक्षसा राक्षसराक्षसा ब्रह्मराक्षसा इति । भूता नवविधा । तद्यथा—सुररूपा प्रतिरूपा अतिरूपा भूतोत्तमा स्कन्दिका महास्कन्दिका महावेगा प्रतिच्छन्ना आकाशगा इति । पिशाचा पचदशविधा । तद्यथा—कृष्णपण्डा पटकाः जोषा आह्लाका काला महाकालाश्चोक्षा अचौक्षास्तालपिशाचा मुखरापिशाचा अधस्ता-रका देहा महाविदेहास्तृष्णीका घनपिशाचा इति ॥

अर्थ—व्यन्तरोंके आठ भेद जो बताये हैं, उनमें सबसे पहला भेद किलर है । दशभेद हैं । यथा—किलर १ किम्पुरुष २ किम्पुरुषोत्तम ३ किलरोत्तम ४ हृदयगम

शाली ६ अनिन्दित ७ मनोरम ८ रतिप्रिय ९ और रतिश्रेष्ठ १० । दूसरा भेद किम्पुरुष है । उसके भी दश भेद हैं । यथा—पुरुष १ सत्पुरुष २ महापुरुष ३ पुरुषवृषभ ४ पुरुषोत्तम ५ अतिपुरुष ६ मरुदेव ७ मरुत् ८ मेरुप्रभ ९ और यशस्वान् १० । तीसरा भेद महोरग है । उसके भी दश भेद हैं । यथा—भुजग १ भोगशाली २ महाकाय ३ अतिकाय ४ स्कन्धशाली ५ मनोरम ६ महावेग ७ महेष्वक्ष ८ ९ मेरुकान्त और मास्वान् १० । चौथा भेद गान्धर्व है । उसके बारह भेद हैं । यथा—हाहा १ हूहू २ तुम्बुरु ३ नारद ४ ऋषिवाटिक ५ भूतवाटिक ६ कादम्ब ७ महाकादम्ब ८ रैवत ९ विश्वावसु १० गीतरति ११ और गीतयशाः १२ । पाँचवाँ भेद यक्ष है । उसके तेरह भेद हैं । यथा—पूर्णभद्र १ माणिभद्र २ श्वेतभद्र ३ हरिभद्र ४ सुमनोभद्र ५ व्यतिपातिक्रमद्र ६ सुभद्र ७ सर्वतोभद्र ८ मनुष्ययक्ष ९ वनाधिपति १० वनाहार ११ रूपयक्ष १२ यक्षोत्तम १३ । छठा भेद राक्षस है । उसके सात भेद हैं । यथा—भीम १ महाभीम २ विघ्न ३ विनायक ४ जलराक्षस ५ राक्षसराक्षस ६ ब्रह्मराक्षस ७ । सातवाँ भेद भूत है, उसके नौ भेद हैं । यथा—सुरूप १ प्रतिरूप २ अतिरूप ३ भूतोत्तम ४ स्कन्दिक ५ महास्कन्दिक ६ महावेग ७ प्रतिच्छन्न ८ आकाशग ९ । आठवाँ भेद पिशाच है, उसके पन्द्रह भेद हैं । यथा—कूम्पाण्ड १ ११ पटक २ जोष ३ आह्वक ४ काल ५ महाकाल ६ चोक्ष ७ अचोक्ष ८ तालपिशाच ९ मुल्लरपिशाच १० अधस्तारक ११ देह १२ महाविदेह १३ तूष्णीक १४ वनपिशाच १५ ।

अब इन आठों भेदोंके क्रमसे विक्रिया और ध्वजचिन्होंको भाष्यकार बताते हैं—

भाष्यम्—तत्र किन्नरा प्रियङ्गुश्यामा सौम्या सोम्यदर्शना मुखेष्वधिकरूपशोभा मुकुटमौलिभूषणा अशोकवृक्षध्वजा अवदाता । किम्पुरुषा ऊरुवाहुष्वधिकशोभा मुखेष्वधिकभास्वरा विविधाभरणभूषणाश्चित्रस्त्रगनुलेपनाश्चम्पकवृक्षध्वजा । महोरगा श्यामावदाता महावेगा सौम्या सोम्यदर्शना महाकाया पृथुमीनस्कन्धमीवा विविधानुविलेपना विचित्राभरणभूषणा नागवृक्षध्वजा । गान्धर्वा रक्तावदाता गम्भीरा प्रियदर्शना सुरूपा सुमुखाकारा सुस्वरा मौलिधरा हारविभूषणास्तुम्बुरुवृक्षध्वजा । यक्षा श्यामावदाता गम्भीरास्तुन्दिला वृन्दारका प्रियदर्शना मानोन्मानप्रमाणयुक्ता रक्तपाणिपादतलनखतालुजिह्वोष्ठा भास्वरमुकुटधरा नानारत्नविभूषणा वटवृक्षध्वजा । राक्षसा अवदाता भीमा भीमदर्शना गिरकराला रक्तलम्बोष्ठास्तपर्नीयविभूषणा नानाभक्ति विलेपना रज्जुध्वजा । भूता श्यामा सुरूपा सौम्या आपीवरा नानाभक्तिविलेपना सुलसध्वजा काला । पिशाचा सुरूपा सौम्यदर्शना हस्तमीवास्तु मणिरत्नविभूषणा कदम्बवृक्षध्वजा । इत्येवप्रकारस्वभावानि विक्रियाणि रूपचिन्हानि व्यन्तराणा भवन्तीति ॥

अर्थ—उक्त आठ प्रकारके व्यन्तरोंमेंसे पहली जातिके किन्नरदेव प्रियङ्गुमणिके समान श्यामवर्ण सौम्यभावके और देखनेमें भी अत्यन्त सौम्य—आल्हादकर हुआ करते हैं । इनके रूपकी शोभा मुखभागमें अधिक हुआ करती है, और शिरोभाग मुकुटके द्वारा भूषित रहा करता है । इनका चिन्ह अशोक वृक्षकी ध्वजा है, और वर्ण अवदात शुद्ध स्वच्छ एव उज्ज्वल हुआ करता है । दूसरी जातिके किम्पुरुष व्यन्तरोंकी शोभा ऊरु, जङ्घा और,

बाहुओंमें अधिक हुआ करती है। इनका मुखभाग अधिक भास्वर प्रकाशशील हुआ करता है, और ये नाना प्रकारके आभरणोंसे भूषित रहा करते हैं। चित्र विचित्र प्रकारकी मालाओंसे सुसज्जित एवं अनेक तरहके अनुलेप इत्र आदिसे अनुलिप्त रहा करते हैं। इनका चिन्ह चम्पक वृक्षकी ध्वजा है। तीसरी जातिके व्यन्तर महोरग श्यामवर्ण किन्तु अवदात शुद्ध स्वच्छ और उज्ज्वल हुआ करते हैं, ये महान् वेगको और सौम्य स्वभावको धारण करनेवाले हुआ करते हैं। इनका स्वरूप देखनेमें सौम्य हुआ करता है। तथा इनका शरीर महान् और स्कन्ध तथा ग्रीवाका भाग विशाल एवं स्थूल हुआ करता है। ये विविध प्रकारके विलेपनोंसे युक्त और विचित्र आभरणोंसे भूषित रहा करते हैं। इनका चिन्ह नाग वृक्षकी ध्वजा है। चौथे गान्धर्व जातिके व्यन्तर शुद्ध स्वच्छ लाल वर्णके और गम्भीर—घन शरीरको धारण करनेवाले हुआ करते हैं। उनका स्वरूप देखनेमें प्रिय होता है। और सुन्दररूप तथा सुन्दरमुखके आकार और मनोज्ञ स्वरके धारक हुआ करते हैं। शिरपर मुकुटको रखनेवाले और गलेमें हारसे विभूषित रहा करते हैं। इनका चिन्ह तुम्बुरु वृक्षकी ध्वजा है। पाँचवें यक्ष जातिके व्यन्तर निर्मल श्यामवर्णके किन्तु गम्भीर और तुन्दिल हुआ करते हैं। मनोज्ञ और देखनेमें प्रिय तथा मान और उन्मानके प्रमाणसे युक्त होते हैं। हाथ पैरोंके तलभागमें तथा नख तालु जिह्वा और ओष्ठ प्रदेशमें लालवर्णके हुआ करते हैं। प्रकाशमान मुकुटोंको धारण करनेवाले और नाना प्रकारके रत्न अथवा रत्नजटित भूषणोंसे भूषित रहा करते हैं। इनका चिन्ह वट वृक्षकी ध्वजा है। छठे राक्षस जातिके व्यन्तर शुद्ध निर्मल वर्णके धारक भीम और देवनेमें भयकर हुआ करते हैं। शिरोभागमें अत्यन्त कराल तथा लालवर्णके लम्बे ओष्ठोंसे युक्त हुआ करते हैं। तथाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे अलङ्कृत और अनेक तरहके विलेपनोंसे युक्त होते हैं। और इनका चिन्ह खट्वाङ्गकी ध्वजा है। सातवें भूत जातिके व्यन्तर श्यामवर्ण किन्तु सुन्दर रूपको रखनेवाले सौम्य स्वभावके अतिस्थूल अनेक प्रकारके विलेपनोंसे युक्त कालरूप हुआ करते हैं। इनका चिन्ह सुलसध्वजा है। आठवीं जातिके व्यन्तर विशाच है। ये सुन्दर रूपके धारक देखनेमें सौम्य और हाथ तथा ग्रीवामें मणियों और रत्नजटित भूषणोंसे अलङ्कृत रहा करते हैं। इनका चिन्ह कदम्ब वृक्षकी ध्वजा है।

इस तरहसे आठ प्रकारके व्यन्तरोंका स्वभाव—रुचि विक्रिया शरीरका विविधकरण-वर्ण आकार प्रकार आदि और रूप तथा चिन्होंको समझना चाहिये।

भावार्थ—दूसरा देवनिःकाय व्यन्तर है। व्यन्तर शब्दका अर्थ और उनके जन्म तथा निवास करनेके स्थानता ऊपर वर्णन कर चुके हैं। यहाँपर उनके भेद और स्वभाव आदिको बताया है। आठ प्रकारके व्यन्तरोंके जो उत्तरभेद है, उनका स्वभावादि भी अपने अपने मूलभेदके अनुसार ही समझ लेना चाहिये। यहाँपर भाष्यकारने जो बहुतसे उत्तरभेदोंको

गिनाया है, उसकी लेशमात्र सूचना आर्ष आगममें मिलती है, परन्तु इस तरहका पाठ नहीं मिलता। इनके आवासस्थान या जन्मस्थानोंका प्रकार विस्तार प्रमाण शरीरकी अवगाहना देवियोंकी सख्या अवधिका विषयक्षेत्र आदिका स्वरूप ग्रन्थान्तरोंसे जानना चाहिये।

भाष्यम्—तृतीयो देवनिकाय ।—

अर्थ—ऊपर पहले—भवनवासी और दूसरे—न्यन्तर देवनिकायका वर्णन किया। उसके अनन्तर क्रमानुसार तीसरे देवनिकायका वर्णन अवसरप्राप्त है। अतएव उसका वर्णन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च ॥१३॥

भाष्यम्—ज्योतिष्का पञ्चविधा भवन्ति । तद्यथा—सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहा नक्षत्राणि प्रकीर्णकतारका इति पञ्चविधा ज्योतिष्का इति । असमासकरणमार्पाच्च सूर्याचन्द्रमसोः क्रमभेद कृतयथा गम्येतैतदेवैपामूर्ध्वनिवेश आनुपूर्व्यमिति । तद्यथा—सर्वाधस्तात्सूर्यास्त तश्चन्द्रमसस्ततो ग्रहास्ततो नक्षत्राणि ततोऽपि प्रकीर्णतारा । ताराग्रहास्त्वनियतचारित्वात्सूर्यचन्द्रमसामूर्ध्वमधश्च चरन्ति । सूर्येभ्यो दशयोजनावलम्बिनो भवन्तीति । समाद्रूमि भागावृष्टसु योजनशतेषु सूर्यास्ततो योजनानामशीत्या चन्द्रमसस्ततो विंशत्या तारा इति । द्योतयन्त इति ज्योतीषि विमानानि तेषु भवा ज्योतिष्का ज्योतिषो वा देवा ज्योतिरेव वा ज्योतिष्का । मुकुटेषु शिरोमुकुटोपग्रहीते प्रमामण्डलकल्पैरुज्ज्वलैः सूर्यचन्द्रतारामण्डलैर्यथास्व चिन्हैर्विराजमाना द्युतिमन्तो ज्योतिष्का भवन्तीति ।

अर्थ—तीसरा देवनिकाय ज्योतिष्क है । वह पाँच प्रकारका है । यथा—सूर्य चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र और प्रकीर्णक तारा । इस तरह ज्योतिष्क देव पाँच प्रकारके हैं । इस सूत्रमें सूर्य और चन्द्रमस् शब्दका समास नहीं किया गया है । यदि वह करके “सूर्याचन्द्रमसो” ऐसा पाठ कर दिया जाता, तो लघव होता था । सो न करके असमस्त पद ही रक्खा है । इस लिये और आर्ष आगमके प्रमाणसे सूर्य और चन्द्रमाके पाठका क्रम भी भिन्न ही कर दिया है, इसलिये आचार्यका अभिप्राय ज्ञापनसिद्ध विशेष अर्थके बोध करानेका है । वह यह कि जिससे ज्योतिष्क विमानोंका यह आनुपूर्व और ऊर्ध्वनिवेश अचञ्ची तरह और ठीक ठीक समझमें आ जाय । वह इस प्रकार है कि—सबके नीचे सूर्य है, उसके ऊपर चन्द्रमा, उसके ऊपर ग्रह और उसके ऊपर नक्षत्र और उसके भी ऊपर प्रकीर्णक ताराओंका निवेश है ।

१—“भेदाश्चैषा विभ्ररादीना स्वस्थाने माप्यकृता बहवो निर्दितास्ते चार्षे सूचिता लेखतो न प्रतिपद्यधीता ।” (सिद्धसेनगणि टीका) २—ज्योतिष्कशब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है—ज्योतीषि विमानानि तेषु भवा ज्योतिष्का द्वपट्टगादिसूत्रात् टक्, अथवा ज्योतिषो देवास्तैर्दीव्यन्तीति ज्योतिष्का वपु सम्बन्धिना वा ज्योतिषा ज्वलन्तीति ज्योतिष्का यद्वा ज्योतिरेव ज्योतिष्का भास्वरशरीररत्नात् ममस्त दिङ्मण्डलयोतनत्वाच्च स्थार्षे कन् । यहाँपर भाष्यकारने पहले ज्योतिष्कोंके प्रकार फिर उसका अर्थ और स्वरूप भी भागे बताया है । ३—दिगम्बर सम्प्रदायमें ऐसा ही पाठ है । ४—आर्ष आगममें सर्वत्र चन्द्रमाका पाठ पहले और सूर्यका पाठ पीछे मिलता है । परन्तु यहाँपर सूत्रमें सूर्य शब्दका पाठ पहले किया है ।

इनमेंसे तारा और ग्रहोंका चार नियत नहीं है । अतएव उनका चार—भ्रमण सूर्य और चन्द्र-
माके ऊपर तथा नीचे दोनों ही भागमें हुआ करता है । अनवस्थित गतिवाले होनेके कारण ही
ये—अङ्गारकादिक सूर्यसे दश योजनके अन्तरपर रहा करते हैं ।

इस समान भूमितलसे आठ सौ योजन ऊपर चलकर सूर्यके विमान हैं । सूर्यस्थानसे
अस्सी योजन ऊपर चलकर चन्द्रमाओंके विमान हैं । चन्द्रमाओंके स्थानसे बीस योजन ऊपर
चलकर तारा हैं ।

इन ज्योतिष्कदेवोंके विमान उद्योतशील हैं । उन विमानोंमें जो रहें, उनको ज्योतिष्क
अथवा ज्योतिष् देव भी कहते हैं । ज्योतिष् और ज्योतिष्क शब्दका एक ही अर्थ है ।

इन ज्योतिष्कदेवोंके मुकुटोंमें जो चिन्ह रहा करते हैं, वे शिरोमुकुटोंसे अलकृत आर
प्रभामण्डलके समान तथा उज्ज्वल वर्णके हुआ करते हैं । तथा वे यथायोग्य सूर्यमण्डल चन्द्रमण्डल
और तारामण्डलरूप हैं । अर्थात् जो सूर्यके चिन्ह है, वे सूर्यमण्डलके आकार है और जो चन्द्रमाके
चिन्ह हैं, वे चन्द्रमण्डलके आकार है, तथा जो ताराओंके चिन्ह हैं, वे तारामण्डलके आकार
हैं । ज्योतिष्कदेव इन चिन्होंसे युक्त प्रकाशमान हैं ।

भावार्थ—तीसरे देवनिकायका नाम ज्योतिष्क है । इन देवोंके विमान प्रकाशशील
हैं, उनमें रहनेके कारण अथवा स्वयं भी ये द्युतिमान है, अतएव इनको ज्योतिष्क कहते हैं ।
इनके पाँच भेद हैं, जैसा कि उपर लिखा जा चुका है । इनका अस्तित्व सभी द्वीप समुद्रोंमें है ।
किस किस द्वीप और किस किस समुद्रमें कितने प्रमाणमें कौन कौनसे ज्योतिष्क विमान हैं, यह
बात आगमके अनुसार समझ लेनी चाहिये । जम्बूद्वीपमें इनका भ्रमण मेरुसे ११२१ योजनके
अन्तरपर हुआ करता है, और यह ज्योतिष्क एकसौ दश योजन ऊँचा है । इनकी अवधि
विक्रिया विभूति आदि ग्रन्थान्तरोंसे समझनी चाहिये ।

ये ज्योतिष्कदेव सर्वत्र समान गति और भ्रमण करनेवाले हैं, या उसमें किसी प्रकारका
अन्तर है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये आचार्य सूत्र करते हैं कि —

१--दिग्भ्रमर सम्प्रदायके अनुसार पहले ताराओंके विमान हैं, और उनके ऊपर सूर्यदिकोंके विमान हैं,
जिसका कि क्रम इस प्रकार है—“णवदुत्तरसप्तसया दससीदी चदुदुग तियचउके । तारा रविससि रिक्वा बुह भगव
भगिरा सणी ॥ ” अर्थात् पृथ्वीतलसे १९० योजन ऊपर ताराओंके विमान हैं, उनसे दश योजन ऊपर सूर्यका
उससे ८० योजन ऊपर चन्द्रमाका उससे तीन योजन ऊपर नक्षत्रोंका विमान, उससे भी तीन योजन ऊपर बुधका
विमान, उससे तीन योजन ऊपर शुक्रका विमान, उससे तीन योजन ऊपर बृहस्पतिक, विमान, उससे भी
चार योजन ऊपर चलकर मंगलका विमान, और उससे भी ऊपर चार योजन चलकर शनिका विमान है । इस प्रकार
सम्पूर्ण ज्योतिष्गणद्वी कैचाई एक सौ दश योजन और तिर्यग् घनोदधि पर्यन्त अवस्थित द्वीप समुद्र प्रमाण है ।
२--ज्योतिष्क शब्दकी निश्चित पहले बता चुके हैं ।

सूत्र—मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ १४ ॥

भाष्यम्—मानुषोत्तरपर्यन्तो मनुष्यलोक इत्युक्तम् । तरिमन् ज्योतिष्का मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो भवन्ति । मेरो प्रदक्षिणा नित्या गतिरेपामिति मेरुप्रदक्षिणानित्यगतयः । एकादशस्वेकविंशेषु योजनशतेषु मेरोश्चतुर्विंश प्रदक्षिण चरन्ति । तत्र द्वौ सूर्या जम्बूद्वीपे, लवणजले चत्वारो, धातकीखण्डे द्वादश, कालोदे द्वाचत्वारिंशत्, पुष्करार्धे द्विसप्ततिरित्येव मनुष्यलोके द्वात्रिंशत्सूर्यशत भवति । चन्द्रमसामप्येव एव विधिः । अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि, अष्टाशीतिर्ग्रहाः, पृथग्वि सप्तत्वाणि नव शतानि पञ्चसप्ततीनि तारा कोटाकोटीनामैकैकस्य चन्द्रमसः परिग्रहः । सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहा नक्षत्राणि च तिर्यग्लोके, शेषास्तुर्ध्वलोके ज्योतिष्का भवन्ति । अष्टचत्वारिंशद्योजनैकपट्टिभागा सूर्यमण्डलविष्कम्भ, चन्द्रमस पटपञ्चाशत्, ग्रहाणामर्धयोजनम्, गद्यूत नक्षत्राणाम्, सर्वोत्कृष्टायास्ताराया अर्धकोशो, जघन्याया पञ्चधनुःशतानि । विष्कम्भाध्वाहुल्याश्च भ्रान्ति सर्वे सूर्यादयः, नृलोक इति वर्तते । घटिस्तु विष्कम्भजाल्याभ्यामतोऽध भवन्ति ॥ एतानि च ज्योतिष्क विमानानि लोकस्थित्या प्रसक्तावस्थितगतौन्यपि ऋद्धिदिशेषार्थमाभियोग्यनामकर्मोद्देश्याच्च नित्यगतिरतयो देवा वहन्ति । तद्यथा—पुरस्तात्केसरिणो, वक्षिणत कुन्नरा, अपरतो वृषभा, उत्तरतो जविनोऽश्वा इति ॥

अर्थ—मनुष्यलोका प्रमाण पहले बता चुके हैं, कि मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्यलोक है । अर्थात् जम्बूद्वीप धातकीखण्ड और पुष्करद्वीपका अर्ध भाग तथा इनके मध्यवर्ती लवणसमुद्र और कालोदेसमुद्र इस समस्त क्षेत्रको मनुष्यलोक कहते हैं । इसमें जितने ज्योतिष्क देवोंके विमान हैं, वे सभी मेरुकी प्रदक्षिणा देनेवाले और नित्य गमन करनेवाले हैं । इनकी मेरुकी प्रदक्षिणारूप गति नित्य है, इसी लिये इनको मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतिवाला कहा है । ग्याह सौ इक्कीस योजन (११२१) मेरुसे हटकर चारों दिशाओंमें ये प्रदक्षिणा दिया करते हैं । अर्थात् मेरुसे ११२१ योजन दूर रहकर उसकी प्रदक्षिणा देते हुए भ्रमण किया करते हैं ।

ज्योतिष्क देवोंके पाँच भेद जो बताये हैं, उनमेंसे सूर्य जम्बूद्वीपमें दो, लवणसमुद्रमें चार, धातकीखण्डमें बारह, कालोदधिसमुद्रमें व्यालीस, और पुष्करद्वीपके मनुष्यक्षेत्र सम्बन्धी अर्ध भागमें बहत्तर हैं । इस प्रकार मनुष्यलोके कुल मिलाकर एक सौ बत्तीस सूर्य होते हैं । चन्द्रमाओंका विधान भी सूर्यविक्रमे समान ही समझना चाहिये । प्रत्येक चन्द्रमाका परिग्रह इस प्रकार है—अट्ठाईस नक्षत्र, अठासी ग्रह और छ्यासठ हजार नौ सौ पचहत्तर (६६९७५) कोटाकोटी तारा ।

पाँच प्रकारके ज्योतिष्कोंमेंसे सर्ष चन्द्रमा ग्रह और नक्षत्र ये चार तो तिर्यग्लोकमें हैं, और शेष ज्योतिष्क—प्रकीर्णक तारा ऊर्ध्वलोकमें हैं ।

१—अन्य ग्रन्थोंमें पाँचों ही प्रकारके ज्योतिष्क तिर्यग्लोकमें ही माने हैं । अतएव इसकी टीकामें सिद्धतेन गणीने लिखा है कि “ आचार्य एवेदमवगच्छति, नत्वार्षमेवमवस्थित, सर्वज्योतिष्काणा तिर्यग्लोकव्यवस्थानात् । ” परन्तु किमी किसीने इसका ऐसा भी अभिप्राय लिखा है, कि भाष्यकारका आशय भी उनके बहुश्रुत होनेसे अविच्छेद ही है । अतएव यहाँपर ऊर्ध्व लोकमें ऊर्ध्व दिशा अथवा सबसे ऊपरका भाग ऐसा अर्थ समझना चाहिये । क्योंकि ताराओंकी गति अनियत है, और वे चन्द्रमासे ऊपर भी गमन करते हैं, तथा नौ सौ योजनका तिर्यग्लोक भी माना नहीं है ।

सूर्यमण्डलका विष्कम्भ अडतालीस योजन और एक योजनके साठ भागोंमेंसे एक भागप्रमाण (४८हृत्) है । चन्द्रमण्डलका विष्कम्भ छपन योजन है । ग्रहोंका विष्कम्भ अर्ध योजन, और नक्षत्रोंका विष्कम्भ दो कोश, तथा ताराओंमेंसे सबसे बड़े ताराका विष्कम्भ (उत्कृष्ट विष्कम्भका प्रमाण) आधा कोश और सबसे छोटे ताराका विष्कम्भ (जघन्य प्रमाण) पाँचसौ धनुष है । इन मण्डलोंके विष्कम्भका जो प्रमाण बताया है, उससे आधा बाहल्य—मोटाई या ऊँचाईका प्रमाण समझना चाहिये ।

इस प्रकार सूर्य आदि सम्पूर्ण ज्योतिष्क देवोंका जो प्रमाण यहाँपर बताया है, वह मनुष्यलोककी अपेक्षासे है । मनुष्यलोकसे बाहर सूर्य आदिके मण्डलोंका विष्कम्भ और बाहल्य मनुष्यक्षेत्रवर्ती सूर्य मण्डलादिके विष्कम्भ और बाहल्यसे आधा समझना चाहिये । अर्थात् मनुष्यक्षेत्रके बाहर जितने सूर्य है, उनमेंसे प्रत्येक सूर्यमण्डलका विष्कम्भ चौबीस योजन और एक योजनके साठ भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण (२४हृत्) है । इससे आधा प्रमाण बाहल्यका समझना चाहिये । इसी तरह चन्द्रमण्डल आदिना जो प्रमाण मनुष्यलोकमें बताया है, उससे आधा मनुष्यक्षेत्रके बाहरके चन्द्रमण्डलादिकका है, ऐसा समझना ।

कुछ लोगोंका कहना है, कि सूर्यमण्डलादि जो भ्रमण करते हैं, उसका कारण ईश्वरीय इच्छा है । ईश्वर ही जगत्का कर्ता हर्ता विधाता है, अतएव उसकी सृष्टिमें उसकी इच्छाके बिना कुछ भी नहीं हो सकता, और न इस प्रकारकी नियत गति उसकी इच्छाके बिना बन ही सकती है । परन्तु यह बात नहीं है, सर्वज्ञ बीतराग कर्ममलसे सर्वथा रहित अशरार परमात्मा सृष्टिका कर्ता हर्ता विधाता नहीं बन सकता । उसमें इस प्रकारके गुणोंका आरोपण करना युक्ति और वस्तुस्थितिसे सर्वथा विरुद्ध है । सृष्टिका सम्पूर्ण कार्य वस्तु स्वभावसे ही चल रहा है । तदनुसार ही सूर्यमण्डलादिका भ्रमण भी समझना चाहिये । ज्योतिष्क विमानोंकी आभीक्ष्ण्य—नित्यगति लोकानुभाव—वस्तु स्वभावके अनुसार ही प्रसक्त—सम्बद्ध—नियत है । तदनुसार ही उनका गमन हुआ करता है । फिर भी ऋद्धिविशेषको प्रकट करनेके लिये, जिनके आभियोग्य नामकर्मका उदय आ रहा है, और इस उदयके कारण ही जो गति—गमन करनेमें ही रति—प्रीति रखनेवाले हैं ऐसे वाहन जातिके देव उन सूर्यमण्डलादिकोंको खींचा करते हैं । आभियोग्य नामकर्मके उदयसे जिनको सदा गमन करनेकी ही क्रिया पसंद है, ऐसे देव लोकस्थितिके अनुसार स्वयं ही घूमते हुए सूर्यमण्डलादिके नीचे सिंहादिके नाना आकार धारण करके गमन किया करते हैं, और उन विमानोंको खींचा करते हैं । इस कथनसे यह बात प्रकट कर दी है, कि उन वाहन—देवोंको

१—मूलमें गब्यूति शब्द है । यद्यपि कहीं कहीं पर गब्यूति शब्दका अर्थ एक कोश भी किया है, परन्तु वह व्यापक अर्थ नहीं है, सामान्यसे गब्यूति शब्दका दो कोश ही अर्थ होता है । अमरनेशमें भी “ गब्यूति स्त्री कोशयुग ” ऐसा ही लिखा है, अतएव यहाँपर दो कोश ही अर्थ किया है । यही अर्थ शास्त्रसे अविच्छेद है ।

खींचनेमें किसी प्रकारका भारजन्य कष्ट नहीं हुआ करता । क्योंकि कर्मोदयके अनुसार उन्हें स्वय ही वह कार्य प्रिय है । दूसरे स्वय गमन करनेवाले सूर्य चन्द्र आदिके विमानोंके नीचे इच्छा-नुसार वेप धारण करके ये लग जाते और गमन किया करते तथा उनकी गतिमें सहायक हुआ करते हैं । इस प्रकार वाहनोंके निमित्तसे सूर्य चन्द्र आदिकी पुण्यकर्मजनित ऋद्धिकी महत्ता प्रकट हुआ करती है ।

सूर्यमण्डलको खींचनेवाले देवोंमेंसे जो पूर्व दिशामें खींचते हैं, वे सिंहका रूप धारण किया करते हैं, दक्षिण दिशामें खींचनेवाले हाथीका रूप धारण करते, पश्चिम दिशामें खींचने वाले बैलका स्वरूप धारण किया करते और उत्तर दिशामें खींचनेवाले वेगवान् घोड़ोंका रूप धारण किया करते हैं । यह सब उसी आभियोग्य नामकर्मका कार्य है, कि जिसका फल अवश्य भोगना ही पडता है ।

ये सब वाहन—जातिके देव सूर्यमण्डलके सोलह हजार और उतने ही चन्द्रमण्डलके हैं, ग्रह विमानोंके आठ हजार, नक्षत्र विमानोंके चार हजार, और तारा विमानोंके दो हजार कुल वाहन—देव है ।

भावार्थ—तीसरे ज्योतिष्क नामक देवनिकायका स्वरूप ऊपर लिखे अनुसार है । इनके सामान्य पाँच ही भेद हैं । सम्पूर्ण ज्योतिष्क इन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं । इनके प्रकाश और ताराके क्षेत्रका काष्ठान्तर मण्डलान्तर और चार क्षेत्र आदिका एव ऋद्धि वैभव आदिका प्रमाण आगमके अनुसार समझ लेना चाहिये ।

सर्व सामान्यसे ये दो प्रकारके कहे जा सकते हैं—गतिशील और स्थितिशील । मनुष्य-लोकवर्ती पाँचों ही प्रकारके ज्योतिष्क गतिशील हैं, और उसके बाहरके सब स्थितिशील हैं । यद्यपि मनुष्यलोकमें भी कितने ही ज्योतिष्क विमान स्थितिशील—ध्रुव हैं, परन्तु उनकी गौणता होनेसे गणना नहीं की है । जिस प्रकार किसी वैश्यके त्रिवाहकी बरातको देखकर लोकमें कहा जाता है कि “ यह वैश्योंकी बरात है । ” यद्यपि उस बरातमें वैश्योंके अतिरिक्त ब्राह्मण क्षत्रिय और शूद्र भी सम्मिलित रहा करते हैं, परन्तु उनका बाहुल्य और प्राधान्य न रहनेसे परिगणन नहीं किया जाता । इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये । सूर्य चन्द्र आदि प्रायः सभी ज्योतिष्कमण्डलके गतिशील रहनेसे मनुष्यलोकका ज्योतिर्मण्डल गतिशील ही कहा जाता है ।

इसी प्रकार नित्य शब्दके विषयमें समझना चाहिये । यहाँपर नित्य शब्द भी आभी क्षण्यवाची अभीष्ट है । जिस प्रकार लोकमें किसी मनुष्यके लिये कहा जाता है, कि “ यह तो नित्य ऐसा ही करता रहता है । ” यद्यपि वह मनुष्य प्रतिदिन और प्रतिक्षण उसी कामको नहीं किया करता, उसके सिवाय अन्य कार्योंके भी किया करता है । परन्तु प्रायः उसी

कार्यके करनेसे उसके लिये नित्य शब्दका प्रयोग हुआ करता है। इसी तरह प्रकृतमें भी समझ लेना चाहिये। नृगेरमें ज्योतिष्कोंकी गति नित्य मानी है। सो उनमेंसे कोई कोई कदाचित् गमन नहीं करता, तो भी उसकी अपेक्षा नहीं है। सामान्यतया प्राधान्यकी अपेक्षासे सभीकी गति नित्य मानी है।

मनुष्यलोकमें ज्योतिष्क विमान मेरवी नित्य प्रशिक्षणा देते हुए गमन-भ्रमण करते हैं, ऐसा कहनेका एक अभिप्राय यह भी है, कि इनकी गति दक्षिण भागके द्वारा हुआ करती है, न कि वाम भागके द्वारा। इसी लिये सत्रमें प्रदक्षिणा शब्दका प्रयोग किया है। अर्थात् सूर्य आदिक जो भ्रमण करते हैं, सो पूर्व दिशासे दक्षिण दिशाकी तरफ घूमते हुए करते हैं, न कि उत्तर दिशाकी तरफ घूमते हुए।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि इन सूर्य आदि ज्योतिष्क विभागोंकी गतिको ही काल शब्दके द्वारा अनेक लोग कहा करते हैं, सो उनका यह कहना सत्य है या मिथ्या ? इसका उत्तर यह है, कि वास्तवमें काल यह गति शब्दका वाच्य नहीं है। किन्तु कालके मन भविष्यत् और वर्तमानरूप जो भेद हैं, वे इस गतिके द्वारा सिद्ध होते हैं। इस अभिप्रायको दिखानेके लिये ही आगे सूत्र करते हैं —

सूत्र—तत्कृतः कालविभागः ॥ १५ ॥

भाष्यम्—कालोऽनन्तममयं धर्तनादिलक्षण इत्युक्तम् । तस्य विभागो ज्योतिष्काणां गतिविशेषकृतद्वाराविशेषण एतन्ना । तै कृतस्तत्कृत । तद्यथा—अणुभागाद्वारा अशाकला लवा नालिका मुहूर्ता दिवसा रात्रयः पक्षा माम्ना ऋतवोऽयनानि सबत्सरा युगमिति लौकिक समोधिभाग । पुनरन्यो विकल्पः प्रत्युत्पत्तोऽतीतोऽनागत इति त्रिविधः ॥ पुनस्त्रिविध परिभाष्यते सरयेयोऽसखेयोऽनन्त इति ॥

अर्थ—वर्तना आदि हैं लक्षण जिसके ऐसा काल द्रव्य अनन्त समयोंके समूह रूप है, यह बात पहले लिख चुके हैं। उस कालका विभाग इन ज्योतिष्क देवोंके विमानोंके गति विशेषके द्वारा हुआ करता है। सूर्य चन्द्र आदिकी गतिको ही चार कहते हैं। यह चार सूर्य और चन्द्र आदिका भिन्न भिन्न प्रकारका है। किन्तु जिसका जैसा चार है, वह उसका नियत है, अतएव उसके द्वारा कालका विभाग सिद्ध होता है, और इसी लिये उस विभागको तत्कृत—ज्योतिष्कदेवोंका किया हुआ कहते हैं, यह विभाग सर्व जघन्यसे लेकर सर्वोत्कृष्ट तक अनेक भेदरूप है। यथा—अणुभाग चार अश कला लव नालिका (नाली) मुहूर्त दिन रात्रि दिनरात्रि पक्ष महीना ऋतु

१—धर्तनापरिणामकिशपरत्वापरत्वलक्षण काल " धर्तना परिणाम किया परत्व और अपरत्व ये काल-द्रव्य के लक्षण हैं ।

अयन सम्बन्धैर और युग । ये सब लौकिकजनोंके समान ही कालके विभाग हैं । जिस प्रकार लोकमें वैशेषिक पौराणिक आदिने काल-विभाग माना है, उसी प्रकारका यह विभाग है । इसके सिवाय दूसरी तरहसे भी लौकिक पुरुषोंके समान ही काल-विभाग माना है । वह तीन प्रकारका है—भूत भविष्यत् और वर्तमान । इन दोनों प्रकारोंके सिवाय अपने सिद्धान्तकी अपेक्षासे भी काल-विभाग माना है । वह भी तीन प्रकारका है—सह्येय असह्येय और अनत ।

ज्योतिष्क विमानोंकी गतिके द्वारा कालका जो विभाग होता है, उसका खुलासा अर्थ समझानेके लिये कहते हैं—

भाष्यम्—तत्र परम सूक्ष्मक्रियस्य सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणो स्वावगाहनक्षेत्र-
व्यतिक्रमकाल समय इत्युच्यते, परमदुराधिगमोऽनिर्देयः, त हि भगवन्त परमपर्यः केवल-
नो विदन्ति, न तु निर्दिशन्ति, परमनिरुद्धत्वात् । परमनिरुद्धे हि तस्मिन् भापाद्रव्याणां
ग्रहणनिसर्गयो करणप्रयोगासम्भव इति । ते त्वसह्येया आवलिका, ता सह्येया उच्छ्वास
तथा निश्वास । तौ बलवत पट्टिन्द्रियस्य कल्पस्य मध्यमवयस स्वस्थमनस पुंस प्राण ।
ते सप्त स्तोक । ते सप्त लय, तेऽष्टात्रिंशदर्थ च नालिका । ते द्वे मुहूर्तः । ते त्रिंशदहोरात्रम् ।
तानि पंचदश पक्ष । तौ द्वौ शुक्लकृष्णौ मास । तौ द्वौ मासावृत । ते त्रयोऽयनम् । ते द्वे
सवत्सरः । ते पञ्च चन्द्रचन्द्राभिवर्धितचन्द्राभिवर्धिताख्या युगम् । तन्मध्येऽन्ते चाधिक-
मासकौ । सूर्यसवनचन्द्रनक्षत्राभिवर्धितानि युगनामानि । वर्षशतसहस्र चतुरशीतिगुणित
पूर्वाङ्गम् । पूर्वाङ्गशतसहस्रम् चतुरशीतिगुणितम् पूर्वम् । एव तान्ययुतकमलनलिनकुमुद
तुल्यद्विधाववाहाहाहृच्चतुरशीतिगतसहस्रगुणा सरयेय काल । अत ऊर्ध्वमुपमानियत
वक्ष्याम । तद्यथा हि नाम-योजनविस्तीर्णं योजनोच्चाय वृत्त पत्यमेकरात्राद्युत्कृष्ट-
सत्तरात्रजातानामङ्गलोन्ना गाढ पूर्ण स्याद्वर्षशताद्वर्षशतादिकेकस्मिन्नुद्ग्रधियमाणे यावता
कालेन तद्विक्त स्यादेतत्पल्योपमम् । तद्वशाभि कोटाकोटिभि गुणित सागरोपमम् ।
तेषां कोटाकोट्यश्चतस्रः सुपमसुपमा, तिस्रः सुपमा, द्वे सुषमदुपमा, द्विचत्वारिंशद्वर्ष-
सहस्राणि हित्वा एका दुपमसुपमा, वर्षसहस्राणि एकविंशतिर्दुपमा, तावत्येव दुपम
दुपमा । ता अनुलोमप्रतिलोमा अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यौ भरतैरावतेष्वनाद्यनन्त परिवर्तन्तेऽ-
होरात्रवत् । तयो शरीराद्युभपरिणामानामनन्तगुणहानिवृद्धी, अशुभपरिणामवृद्धिहानी ।
अवास्थिताऽवस्थितगुणाच्चैकैकान्यत्र । तद्यथा—कुरुपु सुपमसुपमा, हरिरम्यकवासेपु सुपमा,
हैमवतैरैरण्यवतेपु सुपमदुपमा, विदेहेषु सान्तरद्वीपेषु दुपमसुपमा, इत्येवमादिर्मनुष्यक्षेत्रे
पर्यायापन्न कालविभागो ज्ञेय इति ।

अर्थ—ऊपर जो कालके विभाग बताये हे, उनमें सबसे छोटा विभाग समय है,

१—अत्रा पञ्चायठिदी खणमेत होदि त च समओति । दोष्टमणमदिकमनाल्पमाण हने सो दु ॥५७७॥ आवलि
अहस्रसमया राधेभ्रातिस्रग्रहमुस्तासो । सतुस्तासा धोको सत्त्वोवा ल्यो भणिओ ॥५७३॥ अश्रीमद्वल्लभा नाली बेना
लिया मुहुत्त तु । एगसमयेण हीण भिण्णमुहुत्त तदो रोस ॥ ५७४ ॥ दिवसो पत्तो मासो उडु भायण वस्मेऽमादी हु ।
राधेभ्रासरोभ्राणताओ होदि ववहरो ॥५७५॥—योगमदसार—जीवकंड । इत्से रिनाय इसी सूत्रकी व्याख्यामे आगे
चरकर स्वय प्रत्यकारने अशुभागसे लेर युग पर्यन्त दादोका अभिप्राय बताया है । २—शुद्धिनियमनो यावता

जिसका कि स्वरूप इस प्रकार है—निर्विभाग पुद्गल द्रव्यको परमाणु कहते हैं, उसकी क्रिया जब परम सूक्ष्म—अत्यन्त अल्प हो, और जब कि वह सबसे जघन्य गतिरूपमें परिणत हो, उस समयमें अपने अवगाहनके क्षेत्रके व्यतिक्रम करनेमें जितना काल लगता है, उसको समय कहते हैं। अर्थात् जिसका फिर दूसरा विभाग कभी नहीं हो सकता, ऐसे पुद्गल द्रव्यके अणु—परम अणुकी क्रिया जब सबसे अधिक सूक्ष्मरूप हो, और उसी समयमें वह आकाशके जिस प्रदेशपर ठहरा हुआ है, उससे हटकर—सर्व-जघन्य—अत्यन्त मन्द गतिके द्वारा अपने निकटवर्ती दूसरे प्रदेशपर जाय, तो उसको अपने अवगाहनका व्यतिक्रम कहते हैं, इस व्यतिक्रममें, अर्थात् मन्दगतिके द्वारा उस परमाणुको अपने अवगाहित प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर जानेमें जितना काल लगता है, उसको समय कहते हैं। परमाणु और उसके अवगाहित आकाश प्रदेशकी अपेक्षा सक्रान्तिके काल—समयको भी अविभाग परम निरुद्ध और अत्यन्त सूक्ष्म कहते हैं। सातिशय ज्ञानके धारण करनेवाले भी इसको कठिन्तासे ही जान सकते हैं। इसके स्वरूपका वचन द्वारा निरूपण भी नहीं हो सकता। जो परमार्थ है, वे आत्मप्रत्यक्षके द्वारा उसको जान सकते हैं, परन्तु उसके स्वरूपका निरूपण करके दूसरोंको उसका बोध नहीं करा सकते। जो परमार्थ—अनुपम लक्ष्मीके धारक और छद्मस्व अवस्थाको नष्ट कर वैवल्यको प्राप्त हो चुके हैं, वे भगवान् भी ज्ञेयमात्रको विषय करनेवाले अपन केवलज्ञानके द्वारा उसको जान लेते हैं, परन्तु दूसरोंको उसके स्वरूपका निर्देश नहीं करते, क्योंकि वह परम निरुद्ध है। उसके स्वरूपका निरूपण जिनके द्वारा हो सकता है, ऐसी भाषावर्गणाओंको वे केवली भगवान् जबतक ग्रहण करते हैं, तबतक असख्यात समय हो जाते हैं। समय परम निरुद्ध—अत्यल्प—इतना छोटा है, कि उसके विषयमें पुद्गल द्रव्यकी भाषावर्गणाओंका ग्रहण और परित्याग करनेमें इन्द्रियोंका प्रयोग हो नहीं सकता—असंभव है।

इस प्रकार समयका स्वरूप है। यह कालकी सबसे छोटी—जघन्य पर्याय है। असख्यात समयोंकी एक आवली—आवलिनी होती है। सख्यात आवलिनीओंका एक उच्छ्वास अथवा एक निश्वास होता है। जो बन्वान् है—जिसके शरीरकी शक्ति क्षीण नहीं हुई है,

१—समय कालकी पर्याय होनेमें अमूर्त है—और वह सबसे जघन्य है। अतएव प्रत्यक्ष ज्ञानमेंसे केवल जानका ही वह विषय हो सकता है। अथवा ध्रुतज्ञानसे अनुमान द्वारा जाना जा सकता है। २—ध्यातिके समान उसका साक्षात्कार नहीं करा सक्त, और न यही बता सकते हैं, कि वह अब शुरु हुआ और अब पूर्ण हुआ। क्यों नहीं बता सकते और इसका कारण क्या है, गो आगे चलकर इसकी व्याख्यामें लिखा है।

३—वायुसे भीतर रॉचनेको उच्छ्वास और कोष्ठस्थ वायुके बाहर निकालनेको निश्वास कहते हैं। यह श्वासोच्छ्वास स्वरूप मनुष्यगतिरी अपेक्षामें समझना चाहिये। क्योंकि देवोंके श्वासोच्छ्वासका प्रमाण इससे बहुत बड़ा होता है। उनके श्वासोच्छ्वासका प्रमाण उनकी आयुके हिसाबसे तुला करता है। वह इस प्रकार है, कि जितने सागरकी आयु होती है, उतने ही पथ पीछे वे श्वास लेते हैं।

तदवस्थ वनी हुई है, जिसकी इन्द्रियाँ भी समर्थ हैं, जिसका शरीर किसी प्रकारकी व्याधिसे आक्रान्त नहीं है, जो न बाल्य अवस्थाका है और न वृद्ध अवस्थाका, किंतु मध्यम वयको धारण करनेवाला है, जिसका मन भी स्वस्थ है—किसी प्रकारकी आधि-चिन्तासे घिरा हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषके उच्छ्वास और निश्वास दोनोंके समूहको प्राण कहते हैं। सात प्राणोंके समूहको एक स्तोक कहते हैं। सात स्तोक प्रमाण ऋतुको लव कहते हैं। साडे अठतीस लवकी एक नाली कही जाती है। दो नालीका एक मुहूर्त, तीस मुहूर्तका एक अहोरात्र, पन्द्रह अहोरात्रका एक पक्ष होता है। ये पक्ष दो प्रकारके हुआ करते हैं, शुरू पक्ष और कृष्ण पक्ष। दोनों पक्षोंके समूहको मास—महीना कहते हैं। दो महीनेकी एक ऋतु होती है। तीन ऋतुका एक अयन और दो अयनका एक सन्त्सर—वर्ष होता है। पाँच वर्षके समूहको युग कहते हैं। वर्ष चान्द्र अभिवर्धित आदि पाँच प्रकारका होता है। उसके अनुसार ही युगके भी पाँच प्रकार समझ लेने चाहिये। वे पाँच नाम इस प्रकार हैं। सौर्य, सवन, चान्द्र, नाक्षत्र, और अभिवर्द्धित। पाँच वर्षके युगमें मध्यमें और अन्तमें मिलकर दो अधिक मास हुआ करते हैं।

१—“अद्भुत्स अणत्सस्म य णिद्वददस्स य ह्वेव्व जीनस्म। उस्साताणिसासो ऐसो पाणोत्ति आहीदो ॥ (गो जीवजाण्ड क्षेपक)। ऐसे मनुष्यके एक अन्तर्मुहूर्तमें ३७७२ नाडीके ठोके लगते हैं। आजन्मके डाकट्टोरने भी करीब करीब इतना ही हिसाब माना है।

२—जिसमें चन्द्रमासा उदय—बाल बटना जाय, उसको शुक्ल पक्ष और जिसमें अधकार बढता जाय, उसको कृष्णपक्ष कहते हैं। प्रतिपदासे अमावस्यातक कृष्णपक्ष और उसके बाद प्रतिपदासे पूर्णमासीतक शुक्ल पक्ष होता है, कृष्णपक्षमें अधकार बढते बढते अमावस्याको चन्द्रमासा सर्वथा अनुदय हो जाता है, और शुक्ल पक्षमें चन्द्रमासा प्रकाश बढते बढते पूर्णमासीको उसका पूर्ण उदय हो जाता है। ३—साधारणतया महीना पाँच प्रकार के हैं, सूर्य चन्द्र आदिकी अपेक्षामें। परन्तु देशमें इस विषयका व्यवहार प्रायः दो प्रकारका ही देखनेमें आता है।—कहीं कहीं तो अमावस्याको महीना पूर्ण होता है, अतएव उस तिथिकी जगह ३० का अंक लिखा जाता है। कहीं कहींपर पूर्ण मासीको महीना पूर्ण होता है, और इसी लिये उसका नाम पूर्णमासा है। सामान्यसे महीना ३० दिनका ही गिना जाता है, यद्यपि उसमें कुछ फुट अंतर भी है। ४—इस हिसाबसे वर्षकी छह ऋतु हुआ करती हैं, जिनके कि नाम इस प्रकार हैं—हेमन्त शिशिर वसंत ग्रीष्म वर्षा शरद। ५—चन्द्र १ सूर्य २ अभिवर्द्धित ३ सवन ४ और नक्षत्र ५ ये पाँच प्रकारके सवसर हैं। इनका प्रमाण क्रमसे इस प्रकार है।—चन्द्रसवसरमें महीनाका प्रमाण २९ $\frac{2}{3}$ दिनका है। इस हिसाबसे वर्षमें बारह महीनाके ३५४ $\frac{2}{3}$ दिन होते हैं। यही चन्द्रसवसरका प्रमाण है। (आजन्म सुसलमान प्रायः चन्द्रसम्बत्सर को ही मानते हैं।) सूर्यसम्बत्सरमें महीनाका प्रमाण ३० $\frac{2}{3}$ दिन है इस हिसाबसे वर्ष—बारह महीनाके ३६६ दिन होते हैं। यही सौर वर्षका प्रमाण है। अभिवर्द्धित सम्बत्सरमें ३० $\frac{2}{3}$ $\frac{2}{3}$ दिनका महीना और इसी हिसाबसे बारह महीनाके ३८३ $\frac{2}{3}$ दिन होते हैं। सवन सवसरमें महीनाके ३० दिन और बारह महीनाके ३६० दिन होते हैं। नक्षत्र सम्बत्सरमें महीनाके २७ $\frac{2}{3}$ दिन और इसी हिसाबसे बारह महीनाके ३२७ $\frac{2}{3}$ दिन होते हैं। इस प्रकार पाँचो सम्बत्सर एक साथ प्रवृत्त रहा करते हैं, और अपने अपने समयपर वे पूर्ण हो जाते हैं। पाँच वर्षके युगमें पाँचो ही प्रकारके सम्बत्सर था जाते हैं। वर्षके अनुसार ही युगके भी पाँच नाम समझ लेने चाहिये।

६—पाँच प्रकारके सम्बत्सरोंमेंसे अभिवर्द्धित नामके सम्बत्सरमें अधिक मास होता है। और अन्तमें अभिवर्द्धित सम्बत्सर ही कथा करता है।

चौरासी लाख वर्षमा एक पूर्वाद्भ, चौरासी लाख पूर्वाद्भका एक पूर्व हुआ करता है ।
 पूर्से आगे क्रमसे अयुत कमल नलिन कुमुद तुष्टि अट्टक अवग हाहा ओर हूहू भेद माने है ।
 इनमा प्रमाण भी उत्तरोत्तर चौरासी लाख चौरासी लाख गुणा है । अर्थात् चौरासी लाख वर्षमा
 एक अयुत और चौरासी लाख अयुतका एक कमल, चौरासी लाख कमलमा एक नलिन,
 चौरासी लाख नलिनमा एक कुमुद, चौरासी लाख कुमुदका एक तुष्टि, चौरासी लाख
 तुष्टिमा एक अट्टक, चौरासी लाख अट्टकका एक अवग, चौरासी लाख अवगमा एक हाहा,
 और चौरासी लाख हाहाका एक हूहू होता है । यहाँतक सरयात कालके भेद है । क्योंकि
 ये गणित-शास्त्रके विषय हो सकते हैं और हैं । अतएव इसके ऊपर जो कालके भेद गिनाये
 हैं, उनको उपमा नियत कहते हैं । इस उपमा नियत-राल्मा प्रमाण इस प्रकार है —

एक योजन लम्बा और एक ही योजन चौड़ा तथा एक ही योजन ऊँचा गहरा—एक
 गोल गड्ढा बनाना चाहिये । एक दिन या रात्रिसे लेकर सात दिन तकके उत्पन्न भेदके
 पथके बालोंसे उस गड्ढेको मादरूपसे—खूब अच्छी तरह दबाकर पूर्णतया भरना चाहिये । पुन
 सौ सौ वर्षमें उन बालोंमेंसे एक एक बालको निकालना चाहिये । इसी क्रमसे निकालते निकालते
 जब वह गड्ढा बिलकुल सखी होजाय, उतनेमें जितना काल लगे, उसको एक पल्प्य कहते हैं ।
 इसको दश कोडाकोडीसे गुणा करनेपर एक सागर होता है । अर्थात् दश कोडाकोडी पल्प्यमा
 एक सागर होता है । चार कोडाकोडी सागरमा एक सुपमसुपमा, तीन कोडाकोडी सागरका सुपमा,
 दो कोडाकोडी सागरका सुपमादुप्पमा, व्यालीस हजार वर्ष कम एक कोडाकोडी सागरका सुपमा,
 इक्कीस हजार वर्षका दुप्पम, और इक्कीस हजार वर्षका ही दुप्पमदुप्पमा काल माना है ।

१—भाष्यकारने जो स्थान गिनाये हैं, वे अत्यल्प हैं । आगममें जो क्रम बताया है, वह इस प्रकार है—
 तुम्बद्ग तुष्टिका अट्टकाद्भ अवग हाहाद्भ हूहूद्भ हुहुमा उपल्माद्भ उरल पत्ताद्भ पत्र नलिनाद्भ नलिन
 अधनियूमाद्भ अर्धनियूर चूलिकाद्भ चूलिका शीर्षप्रहेलिकाद्भ शीर्षप्रहेलिका । ये सब चौरासी लाख चौरासी लाख गुणे
 हैं । सूर्यमक्षिमें पूरके ऊपर लताद्भसे लेकर शीर्षप्रहेलिका पयन्त गणित-शास्त्रमा विषय बताया है । २—उपमानान
 अमर्यादात्मक है । वह कालके नहीं बताया जा सकता, अतएव किसी न किसी चात्रको उपमा देकर उसने छाने
 घडेपनका बोध कराया जाता है । जैसे कि पत्थ सागर आदि । अन्न भरनेकी खासको पल्प्य और समुद्रको सागर
 कहते हैं । ३—ऐसा प्रयोग किसाने न किया है और न हो सकता है केवल बुद्धिके द्वारा कल्पना करके समझनेके
 लिये यह उपाय बंधक कल्पनाएँ बताया है । ४—दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार उन बालोंने ऐसे टुकड़े करना
 जिनका कि फिर फैलते दूसरा टुकड़ा न होसके, ऐसे बाल-खण्डोंसे उस गड्ढेको भरना चाहिये । ५—पल्प्य ३ प्रकारका
 माना है—उद्धारपल्प्य अद्धारपल्प्य और क्षेत्रपल्प्य । दिगम्बर सम्प्रदायमें इस प्रकार ३ भेद माने हैं—व्यवहारपल्प्य उद्धार
 पल्प्य और अद्धारपल्प्य । इनके उत्तरभेद अनेक हैं, उनका स्वरूप और उनके कालके अल्प बहुत्वको टीका-प्रथोमें
 देखना चाहिये । सामान्यतया—उद्धारपल्प्यका प्रयोजन द्वीप सागरोंकी गणना आदिका है । अद्धारपल्प्यका प्रयोजन
 उत्सर्पिणी आदि झील विभाग कर्मस्थिति पृथिवी कायादिकका कषय और भवकी स्थिति आदिका परिज्ञान कराना
 है । क्षेत्रपल्प्यका प्रयोजन पृथिवी कायादिख जीव-राशिका परिमाण बताना है । प्रत्येक पल्प्यके और सूत्रके
 दो दो भेद हैं । यहाँपर भाष्यकारने मादर अद्धारपल्प्यका स्वरूप बताया है, जोकि

सूत्र—सौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोक-लान्तकमहाशुक्र-सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु त्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ २० ॥

भाष्यम्—एतेषु सौधर्मादिषु कल्पविमानेषु वैमानिका देवा भवन्ति । तद्यथा—सौधर्मस्य कल्पस्योपरि ऐशान कल्प । ऐशानस्योपरि सनत्कुमार । सनत्कुमारस्योपरि माहेन्द्र इत्येवमा सर्वार्थसिद्धादिति ॥

अर्थ—सौधर्म ऐशान सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्मलोक लान्तक महाशुक्र सहस्रार आनत प्राणत आरण और अच्युत ये चारह कल्प है । इन सौधर्म आदि कल्पोंके विमानोंमें वैमानिक देव रहते हैं । अच्युत कल्पके ऊपर नवत्रैवेयक हैं । जोकि ऊपर ऊपर अस्थित हैं । त्रैवेयकोंके ऊपर पाँच महा विमान है, जिनको कि अनुत्तर कहते हैं, और जिनके नाम इस प्रकार हैं—विजय वैजयन्त जयन्त अपराजित और सर्वार्थसिद्ध । सौधर्म कल्पसे लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त सभीका अवस्थान क्रमसे ऊपर ऊपर है ।

भावार्थ—ज्योतिष्क विमानोंसे असह्यत योजन ऊपर चलकर मेरुसे ऊपर पहला सौधर्मकल्प है । यह पूर्व पश्चिम लम्बा और उत्तर दक्षिण चौड़ा है । इसकी लम्बाई और चौड़ाई असह्यत कोटिकोटी योजनकी है । क्योंकि इसका विस्तार लोकके अन्ततक है । इसकी आकृति आवे चन्द्रमाके समान है । यह सर्वरत्नमय और अनेक शोभाओंसे युक्त है । इसके ऊपर ऐशान कल्प है, जोकि इससे उत्तरकी तरफ कुछ ऊपर चलकर अवस्थित है । सौधर्म कल्पसे अनेक योजन ऊपर सनत्कुमार कल्प है, जोकि सौधर्मकल्पकी श्रेणीमें ही व्यवस्थित है । ऐशान कल्पके ऊपर माहेन्द्र कल्प है । सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पके ऊपर अनेक योजन चलकर दोनोंके मध्यभागमें पूर्ण चन्द्रमाके आकारवाला ब्रह्मलोक नामका कल्प है । इसके ऊपर लान्तक महाशुक्र और सहस्रार ये तीन कल्प है । इनके ऊपर सौधर्म ऐशान कल्पोंकी तरह आनत और प्राणत नामके दो कल्प है । इनके ऊपर सनत्कुमार और माहेन्द्रके

१—इस विषयमें टीकाकारने भी लिखा है कि “ज्योतिष्कोपरितनप्रस्तारादसह्येययोजनमध्यानमास्य मरुत्पलक्षितदक्षिणभागाधर्म्यवस्थित प्राक् तावत् सौधर्म कल्प ।” परन्तु अत्रयथात योजन ऊपर चलकर किस तरह लिखते हैं, सो समझमें नहीं आता । क्योंकि मेरुप्रमाण मध्यलोक है, उसके ऊपर ऊर्ध्वलोक है, और मेरुका प्रमाण एक लाख योजनका ही है । अथवा समझ है, कि सौधर्म स्वर्गकी उर्ध्वार्द्धके लक्ष्यमें रखकर अन्तिम उपरितन विमानकी अपेक्षासे ही असह्यत योजन ऊपर ऐसा लिख दिया हो । २—यहाँपर लोक द्रव्य सौमन्तिक देवोंका बोध करनेके लिये हैं, ये अत्यन्त शुभ परिणामवाले देव हैं, जोकि ऋषियोंकी तरह रहनेके कारण ब्रह्मार्थि कहते हैं । इनकी हवि जिनभगवान्के कल्याणोंकी देखनेकी अधिक रहा करना है । जिस समय तर्षिकर दीक्षा-धारण करनेका विचार करते हैं, उसी समय ये आकर उनके उस विचारकी प्रशंसा किया करते हैं । ये मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर नियमसे मोक्षको जाते हैं ।

समान आरण और अच्युत नामके दो कल्प समान श्रेणीमें व्यवस्थित हैं । इस प्रकार बारह कल्प हैं । इनके ऊपर त्रैवेयक हैं । ये नौ हैं और वे ऊपर ऊपर अवस्थित हैं ।^१ इनके ऊपर विनयादिक पाँच महाविमान हैं ।

भाष्यम्—सुधर्मा नाम शक्यस्य देवेन्द्रस्य सभा, सा तस्मिन्नस्तीति सौधर्म कल्प । ईशानस्य देवराजस्य निवास ऐशान, इत्येवमिन्द्राणां निवासयोगाभिरया सर्वे कल्पा । त्रैवेयकास्तु लोकपुरुषस्य त्रीवाप्रदेशविनिविष्टा त्रीवाभरणभूता त्रीवा त्रीव्या त्रैवेया त्रैवेयका इति ॥

अनुत्तरा पञ्च देवतामान एव । विजिता अभ्युदयविघ्नहेतव्य पाभिरिति विजय वैजय न्तजयन्ता । तैरेव विघ्नहेतुभिर्नि पराजिता अपराजिता । सर्वेष्वभ्युदयार्थेषु सिद्धा सर्वार्थसिद्धा सिद्धा सर्वे धैयामभ्युदयार्था सिद्धा इति सर्वार्थसिद्धा । विजितप्रायाणि वा कर्माण्येभिरूप स्थितमद्रा परीपटेरपराजिता सर्वार्थेषु सिद्धा सिद्धमाद्योत्तमार्था इति विजयाद्य इति ॥

अर्थ—पहले सौधर्म कल्पके इन्द्रका नाम शक है, यह बात पहले बता चुके हैं । इस देवराजकी सभाका नाम सुधर्मा है । इस सभाके नामके सम्बन्धसे ही पहले कल्पको सौधर्म कहते हैं । दूसरे कल्पके देवराज—इन्द्रका नाम ईशान है । उसके निवासके कारण ही दूसरे कल्पको ऐशान कहते हैं । इसी प्रकार इन्द्रोंके निवासके सम्बन्धसे सम्पूर्ण कल्पोंका नाम समग्र लेना चाहिये । जो इन्द्रोंके निवास स्थान—सभा आदिका अथवा इन्द्रोंका नाम है उसीके अनुसार उन कल्पोंका भी नाम है । यह व्यवहार बारह कल्पोंमें ही हो सकता है । इनके ऊपर त्रैवेयक हैं । इनको त्रैवेयक कहनेका कारण यह है, कि यह लोक पुरुषाकार है । उसके त्रीवाके प्रदेशपर ये अवस्थित है । अथवा उस त्रीवाके ये आभरणभूत हैं । अतएव इनको त्रैव त्रीन्य त्रैवेय और त्रैवेयक कहते हैं ।

पाँच महाविमान जोकि त्रैवेयकोंके ऊपर हैं, उनको अनुत्तर कहते हैं । इनके नाम—विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित तथा सर्वार्थसिद्ध हैं । ये नाम देवोंके नामके सम्बन्धसे हैं । पहले तीन विमानोंके देव विजयशील—स्वभावसे ही जयरूप हैं । उन्होंने अपने अभ्युदयके विघ्नके कारणोंको भी जीत लिया है, अतएव उनको क्रमसे विजय वैजयन्त और जयन्त कहते हैं । उनके विमानोंके भी क्रमसे ये ही नाम हैं । जो उन विघ्नके कारणोंसे पराजित नहीं होते, उनको अपराजित कहते हैं । उनके विमानका नाम भी अपराजित है । सम्पूर्ण अभ्युदयरूप प्रयोजनोंके विषयमें जो सिद्ध हो चुके हैं । अथवा समस्त

१—जो त्रीवाके स्थानपर हो, ऐसा इस शब्दका अर्थ है । इसकी निश्चिति इसी सूत्रकी व्याख्यामें आगे चलकर लिखी है । २—दिगम्बर सम्प्रदायमें त्रैवेयकोंके ऊपर और सर्वार्थसिद्धिके नीचे नौ अनुदिश और भी माने हैं ।

३—लोक पुरुष इत्येवमुपचारालोक एव पुरुषस्तस्य प्राक्वेव त्रीवा तत्रमवा त्रैवा त्रैव्या “ त्रीवाभ्योऽण्व ” इति अणु, (—याग्निनीय अध्याय ४ पाद ३ सूत्र ५७) तथा “ कुलकुक्षिर्ग्रीवाभ्यं स्वास्यलङ्कारेषु ” (—याग्निनीय अध्याय ४ पाद २ सूत्र ९६) इति त्रीव्या त्रैवेयनाथेति । त्रीवायां साधनो त्रीव्या इति वा व्युत्पत्ति वर्तव्या । ये सबके उत्तर—ऊपर हैं—इनसे ऊपर और कोइ भी विमान नहीं है । अतएव इनको अनुत्तर कहते हैं ।

इष्ट विपर्योके द्वारा जो सिद्ध हो चुके हैं। यद्वा जिनके समस्त अभ्युदयरूप प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं, उन देवोंको सर्वार्थसिद्ध कहते हैं। उनके विमानोंका नाम भी सर्वार्थसिद्ध है।

सामान्यतया विजय आदि पाँचो ही अनुत्तर विमानोंमें निरास करनेवाले देवोंने कर्म-भारको प्राय जीत लिया है, क्योंकि अब उनका कर्म-पटल गुरु और सघन नहीं रहा है, लघु और तनु रह गया है। इनको निर्माणकी प्राप्ति अत्यन्त निकटतर है, अतएव इनके कल्याण-परम कल्याण अत्यल्प समयकी अपेक्षा उपस्थित हुए सरीखे ही समझने चाहिये। देव-पर्यायसे च्युत होकर मनुष्य-पर्यायको प्राप्त करके भी ये परीपह-उपसर्ग और विघ्न-बाधाओंसे पराजित नहीं हुआ करते, और देव-पर्यायमें भी निरतर तृप्त ही रहा करते हैं। इनको कोई भी क्षुधा-टिककी बाधा पराजित—पीडित नहीं कर सकती, अतएव ये सभी देव अपराजित कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार इन सभी देवोंकी सप्तासम्बन्धी प्रायः सभी कर्तव्यताएँ समाप्त हो चुकी हैं, प्रायः सभी इष्ट विपर्योमें ये सिद्ध-तृप्त हो चुके हैं, और इनका उत्तमार्थ-सकल कर्मोंके क्षयरूप परमनि श्रेयस-कल्याण भी प्रायः सिद्ध हो चुका है, क्योंकि ये अनन्तर आगामी भवसे ही मुक्त होनेवाले हैं। अतएव पाँचों ही अनुत्तर विमानवासी विजय आदिक कल्पातीत देवोंको अपराजित और सर्वार्थसिद्ध कह सकते हैं। परन्तु उनके ये नाम जो प्रसिद्ध हैं, सो प्रसिद्धि या खूबिकी अपेक्षासे हैं।

इस प्रकार वैमानिकदेवोंके सौधर्मादि कल्प और प्रैवेयकादि कल्पातीत भेदोंको बताया और उनकी ऊपर ऊपर उपस्थिति किस किस प्रकारसे है, तथा उनके समाप्त विग्रहार्थ आदि भी बताये अब उन्हीं प्रकृत वैमानिक देवोंके ही विषयमें और भी अधिक विशेषता बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधि- विषयतोऽधिकाः ॥ २१ ॥

भाष्यम्—यथाक्रम चैतेषु सौधर्मादिषु उपर्युपरि पूर्वत पूर्वत एभि स्थित्यादिभि-
रर्थैरधिका भवन्ति । तत्र स्थितिरुत्कृष्टा जघन्या च परस्ताद्भक्ष्यते । इह तु वचने प्रयोजन
येषामपि समा भवति तेषामप्युपर्युपरि गुणाधिका भवतीति यथा प्रतीयते ।

प्रभावतोऽधिका—य प्रभावो निग्रहानुग्रहविक्रियापराभियोगादिषु सौधर्मकाणास्तोऽनन्त-
गुणाधिक उपर्युपरि । मन्दाभिमानतया त्वल्पतरसंक्रियत्वादेते न प्रवर्तन्त इति । क्षेत्रस्वभाव
जानिताच्च शुभपुद्गलपरिणामात्सुखतो द्युतितश्चानन्तगुणप्रकर्षेणधिका । लेश्याविशुद्ध्या
धिका—लेश्यानियम परस्तादेषा वक्ष्यते । इह तु वचन प्रयोजन यथा गम्येत यत्रापि

१-दिग्गम्बर सम्प्रदायके अनुसार विजय वैजयन्त जयन्त और अपराजित इन चार विमानवाले देव दो
ग्रन्थ-भवतक धारण करके मोक्षको जाते हैं, और सर्वार्थसिद्धिके देव एक ही भव-धारण करके मुक्त हो जाते हैं ।

विधानतस्तुल्यास्तत्रापि विशुद्धितोऽधिका भवन्तीति । कर्मविशुद्धित एव वाधिका भवन्तीति । इन्द्रियविषयतोऽधिका—यदिन्द्रियपाटय दूरादिष्टविषयोपलब्धो सौधर्मदेवाना तत्प्रकृष्टतरगुणत्वादल्पतरसेकेशत्वाच्चाधिकमुपर्युपरि इति । अवाधिविषयतोऽधिका—सौधर्मेशानयोदेवा अवाधिविषयेणाधो रत्नप्रभा पश्यन्ति तिर्यगसख्येयानि योजनशतसहस्राण्यूर्ध्वमास्वभवनात् सनत्कुमारमाहेन्द्रयो शर्कराप्रभा पश्यन्ति तिर्यगसख्येयानि योजनशतसहस्राण्यूर्ध्वमास्वभवनात् । इत्येव शेषा क्रमदा । अनुत्तरविमानवासिनस्तु कृत्वा लोकनार्दीं पश्यन्ति । येषामपि क्षेत्रतस्तुल्योऽवाधिविषय तेषामप्युपर्युपरि विशुद्धितोऽधिको भवतीति ॥

अर्थ—उपर्युक्त सौधर्म आदिक कल्प और कल्यातीर्तोंके देव क्रमसे पूर्व पूर्वकी अपेक्षा ऊपर ऊपरके सभी वैमानिक इस सूत्रमें बताये हुए स्थिति प्रभाव सुख द्युति लेस्या विशुद्धि इन्द्रिय विषय और अवाधिविषय इन ७ विषयोंमें अधिकाधिक है । अपनेसे नीचेके देवोंकी अपेक्षा सभी वैमानिकदेवोंकी स्थिति आदिक अधिक ही हुआ करती है । यथा—स्थितिके जघन्य और उत्कृष्ट भेदोंको आगे चलकर स्वयं ग्रन्थकार इसी अध्यायमें लिखेंगे । अतएव इस विषयमें यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । फिर भी यहाँपर जो स्थितिका उल्लेख किया है, उससे उसका यह प्रयोजन अवश्य समझ लेना चाहिये, कि जिन उपरितन और अधस्तन विमानवर्ती देवोंकी स्थिति समान है, उनमें भी जो ऊपरके विमानोंमें रहनेवाले और उत्पन्न होनेवाले है, वे अन्य गुणोंमें अधिक हुआ करते हैं, अथवा उनकी स्थिति दूसरे गुणोंकी अपेक्षा अधिक हुआ करती है ।

अचिन्त्य शक्तिको प्रभाव कहते हैं । यह निग्रह अनुग्रह विक्रिया और पराभियोग आदिके रूपमें दिखाई पड़ता है । शाप या दण्ड आदिके देनेकी शक्तिको निग्रह तथा परोपकार आदिके करनेकी शक्तिको अनुग्रह कहते हैं । शरीरको अनेक प्रकारका बना लेनेकी अणिमा महिमा आदि शक्तियोंको विक्रिया कहते हैं । जिसके बलपर जबरदस्ती दूसरेसे कोई काम करा लिया जा सके, उसको पराभियोग कहते हैं । यह निग्रहानुग्रह आदिकी शक्ति सौधर्मादिक देवोंमें जितने प्रमाणों पाई जाती है, उससे अनन्तगुणी अपनेसे ऊपरके विमानवर्ती देवोंमें रहा करती है । किन्तु वे अपनी उस शक्तिको उपयोगमें नहीं लिया करते । क्योंकि उनका कर्म—भार अति मन्द हो जानेसे अभिमान भी अत्यन्त मन्द हो जाता है, और इनके सङ्केश परिणाम भी अतिशय अल्पतर हो जाते हैं । ऊपर ऊपरके देवोंके वित्त सङ्केश—कषायरूप परिणामोंके द्वारा कम कम व्याप्त हुआ करते हैं । अतएव उनकी निग्रह अथवा अनुग्रह आदिके करनेमें प्रवृत्ति कम हुआ करती है ।

इसी प्रकार सुख और द्युति भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक है । क्योंकि वहाँके क्षेत्रका स्वभाव ही इस प्रकारका है, कि जिसके निमित्तसे वहाँके पुद्गल अपनी अनादि पारणामिक शक्तिके द्वारा अनन्तगुणे अनन्तगुणे अधिकाधिक शुभरूप ही परिणमन किया करते हैं, और वह परिणमन इस तरहका हुआ करता है, कि जो ऊपर ऊपरके देवोंके लिये अनन्तगुणे अनन्तगुणे

अधिक-प्रकृत सुजोदयका कारण हुआ करता है । शरीरकी निर्मलता अथवा कान्तिका द्युति, कहते हैं । यह भी नीचेके देवोंसे ऊपरके देवोंकी अधिक है ।

शरीरके वर्णको लेश्या कहते हैं । इसकी विशुद्धि भी ऊपर ऊपर अधिकाधिक है, वैमानिकदेवोंमें लेश्यासम्बन्धी जो नियम है, उसका वर्णन आगे चलकर करेंगे । किन्तु यहाँपर जो लेश्या शब्दका प्रयोग किया है, उसका अभिप्राय विशेष अर्थको बतानेका है । वह यह कि जिन ऊपर नीचेके देवोंमें लेश्याका भेद समान होता है, उनमें भी ऊपरके देवोंकी लेश्याकी विशुद्धि अधिक हुआ करती है । क्योंकि ऊपर ऊपरके देवोंके अशुभ कर्म कृष हो जाया करते हैं, और उनमें शुभ-कर्मोंकी बहुलता पाई जाती है ।

इन्द्रियोंका और अघिका विषय भी ऊपरके देवोंका अधिक अधिक है । दूर ही से अपने इष्ट विषयको ग्रहण कर लेने-देख लेनेमें इन्द्रियोंका सामर्थ्य जितना नीचेके देवोंमें है, उससे ऊपरके देवोंमें अधिक है । क्योंकि वे प्रकृष्टतर गुणोंको और अल्पतर सङ्केश परिणामोंको धारण करने वाले हैं । अवाधिज्ञानका स्वरूप पहले बताया जा चुका है । वह भी ऊपर ऊपरके देवोंका अधिकाधिक है । सौवर्म और ऐशान कल्पके देव अवाधिके विषयकी अपेक्षा रत्नप्रभा पृथिवीतकवों देख सकते हैं । तिर्यक्-पूर्वादि दिशाओंकी तरफ असख्यात लक्ष योजनतक देख सकते हैं । ऊपरको-ऊर्ध्व दिशामें अपने विमान पर्यन्त ही देख सकते हैं । सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके देव शर्करा-दूसरी पृथिवीतक देख सकते हैं । तिर्यक् असख्यात लक्ष योजन और ऊर्ध्व दिशामें अपने विमान पर्यन्त-विमानके ध्वजदण्ड तक देख सकते हैं । इसी प्रकार शेष-ब्रह्मलोक आदिके देवोंके विषयमें भी क्रमसे समझ लेना चाहिये । अर्थात् ब्रह्मलोक और रान्तक विमान-वाले देव बालुकाप्रभा पर्यन्त, शुक सहस्रारवाले पद्मप्रभा पर्यन्त, आनत प्राणत और आरण अच्युतवाले घूमप्रभा पर्यन्त, अघस्तन त्रैवेयक और मध्यम त्रैवेयकवाले तम.प्रभा पर्यन्त, और उपरिम त्रैवेयकवाले महातम प्रभा पर्यन्त, तथा पाँच अनुत्तर विमानोंके देव समस्त लोकनाडीको देख सकते हैं । इस विषयमें इतना और भी समझना चाहिये, कि जिन देवोंके अवाधिज्ञानका विषय क्षेत्रकी अपेक्षा समान है, उनमें भी जो ऊपर ऊपरके देव हैं, उनमें उसकी निशुद्धता अधिकाधिक पाई जाती है ।

इस प्रकार वैमानिकदेवोंमें जिन विषयोंकी अपेक्षा ऊपर ऊपर अधिकाधिक है, उनको बताया अब यह बतानेके लिये सूत्र कहते हैं, कि उनमें जिस प्रकार ऊपर ऊपर सुखादि विषयोंकी

१-अर्थात् लोकको नहीं देखा सकते, केवल लोकके मध्यमें बनी हुई नाडीके भीतरके विषयको ही देख सकते हैं । लोकके ठीक मध्यमें नीचेसे ऊपर तक १४ राज् ऊँची और एक राज् चौड़ी तथा एक राज् मोटी नाडीको लोकनाडी कहते हैं, इसीका नाम प्रपनाडी भी है ।

रहते हुए भी वे वहाँतक गमन नहीं किया करते । न पूर्वकालमें ही उन्होंने कभी गमन किया है, और न भविष्यमें ही गमन करेंगे । अर्थात् उनके गति विषयको बतानेका प्रयोजन उनकी गति—शक्तिको बतानामात्र है, कि वे अमुक स्थान तक गमन करनेकी सामर्थ्य रखते हैं । क्योंकि इससे उनकी महत्ताका बोध होता है । किन्तु उनकी वह शक्ति व्यक्त नहीं होती—क्रिया रूपमें परिणत नहीं होती । क्योंकि ऊपरके देवोंके परिणाम महान्—उत्कृष्ट—शुभ होते गये हैं । वे इधर उधर जाने आने आदिके विषयमें उदासीन रहा करते हैं । जिन भगवान्के कल्याणकोंको देखना तथा चैत्य चैत्यालय आदिकी वन्दना आदि करना इत्यादि शुभ कार्योंके सिवाय अन्य सम्बन्धसे उनको इतस्तत घूमना पसन्द नहीं है—अन्य विषयोंमें उनकी गमन करनेमें प्रीति नहीं हुआ करती ।

शरीरकी उँचाई सौधर्म और ऐशान कल्पवाले देवोंकी सात अरत्नि प्रमाण है । इनसे ऊपरके देवोंका शरीरोत्सेध सहस्रार कल्पपर्यन्त दो दो कल्पोंके प्रति एक एक अरत्नि क्रमसे कम कम होता गया है । आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पवासी देवोंका शरीरोत्सेध तीन अरत्नि प्रमाण है । त्रैवेयकवासियोंका दो अरत्नि प्रमाण और पाँच अनुत्तर वासियोंके शरीरका उत्सेध एक अरत्नि प्रमाण है । इस प्रकार क्रमसे ऊपर ऊपरके देवोंके शरीरकी उँचाईका प्रमाण कम कम होता गया है ।

परिग्रहका प्रमाण इस प्रकार है—सौधर्म कल्पमें विमानोंकी संख्या ३२ लाख है । ऐशान-कल्पमें २८ लाख, सानत्कुमारकल्पमें १२ लाख, माहेन्द्रकल्पमें ८ लाख, ब्रह्मलोकमें चार लाख, लान्तककल्पमें पचास हजार, महाशुकमें चालीस हजार, सहस्रारमें छह हजार, आनत प्राणत आरण और अच्युत कल्पमें सात सौ, अधोत्रैवेयकमें १११, मध्यम त्रैवेयकमें १०७, उपरिम त्रैवेयकमें १०० विमान हैं । विजयादिक अनुत्तर विमान ९ ही हैं । इस प्रकार ऊर्ध्वलोकमें वैमानिक देवोंके समस्त विमानोंकी संख्या चौरासी लाख सतानवे हजार तेईस (८४९७०२३) है । इससे स्पष्ट होता है, कि ऊपर ऊपरके देवोंका परिग्रह अल्प अल्प होता गया है ।

इसी प्रकार अभिमानके विषयमें समझना चाहिये । स्थान—कल्पविमान आदि, परिवार—देवियाँ और देव, शक्ति—अचिन्त्य सामर्थ्य, विषय—इन्द्रियोंका तथा अवधिष्ठा विषयक्षेत्र आदि, संपत्ति—वैभव ऐश्वर्य, अथवा विषयसंपत्ति—शब्दादि रूप समृद्धि, और स्थिति—आयुष्का प्रमाण, ये सब विषय ऊपर ऊपरके देवोंके महान् हैं । फिर भी उनके सम्बन्धसे उन देवोंको गर्व नहीं हुआ करता । प्रत्युत जिस जिस तरह उनका वैभव और शक्ति आदिका

१—एक हस्त प्रमाणसे कुछ कमको अगति कहते हैं । अथवा कोहनीसे कनिष्ठिका पर्यन्त ।

२—शानी दास प्रथति ।

प्रमाण तथा महत्व बढ़ता गया है, उसी उसी प्रकार उनका अभिमान उत्तरात्तर कम कम होता गया है। अर्थात् यद्यपि नीचेके देवोंसे ऊपरके वैमानिक अधिक शक्तिशाली हैं, फिर भी वे नीचेके देवोंसे अधिक निरभिमान है। अतएव ऊपर ऊपरके देव अविकारिक उत्तम सुम्बके भोक्ता हैं। क्योंकि उनके दु खोंके अन्तरङ्ग या बाह्य कारण नहीं है, और सुम्बके कारण बढ़ते चले गये हैं।

भाष्यम्—उच्छ्वासाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्या ।—उच्छ्वास सर्वाजघन्यस्थितीनां देवानां सप्तसु स्तोकेषु आहारश्चतुर्थकालः । पत्योपमस्थितीनामन्तर्दिवसस्योच्छ्वासो पृथक्त्वस्याहारः । यस्य यावन्ति सागरोपमाणि स्थितिस्तस्य तावत्स्वर्धमासेपृच्छ्वासस्तावत्स्वेन वर्षसप्तस्त्रैष्याहारः । देवानां सद्भेदना प्रायेण भवन्ति न कदाचिदसद्भेदना । यदि चासद्भेदना भवन्ति ततोऽन्तर्मुहूर्तमेव भवन्ति न परतोऽनुबद्धा । सद्भेदनास्तत्कृष्टेन पणमासान् भवन्ति । उपपातः—आरणाद्युतादूर्ध्वमन्यतीर्थानामुपपातो न भवति । स्वलिङ्गिना भिन्नदर्शनानामाग्नेवेयकेभ्य उपपातः । अन्यस्य सम्यग्दृष्टे सयतस्य भजनीय आ सर्वार्थासिद्धात् । ब्रह्मलोकान्दूर्ध्वमासर्वार्थासिद्धाच्चतुर्दशपूर्वधराणामिति । अनुभावो विमानानां सिद्धिक्षेत्रस्य चाकाशे निरालम्बस्थितौ लोकस्थितिरेव हेतुः । लोकस्थितिलोकानुभावो लोकस्वभावे जगद्धर्मोऽनादिपरिणामसन्ततिरित्यर्थः । सर्वे च देवेन्द्रा भ्रैवेयादिषु च देवा भगवता परमर्षिणा-र्मता जन्माभिषेकनि क्रमणज्ञानोत्पत्तिमहासमवसरणनिर्वाणकालेष्व्यासीनां शयिता स्थिता वा सहसैवासनशयनस्थानाश्रयै प्रचलन्ति । शुभकर्मफलोदयाह्लोकानुभावत एव वा । ततो जनितोपयागास्ता भगवतामनन्यसद्दर्शी तीर्थकरनामकर्मोद्भवा धर्मविभूतिमवधिनाऽऽलोच्य सजातसवेगाः सद्भर्मवहमानात्केचिदागत्य भगवत्पादमूलं स्तुतिवन्दनोपासनहितश्रवणै-रात्मानुग्रहमाप्नुवन्ति । केचिदपि तत्रस्था ण्य प्रत्युपस्थापनाञ्चलिप्रणिपातनमस्कारोपहारे-परमसविशाः सद्भर्मानुरागोत्फुल्लनयनवदना समभ्यर्चयन्ति ॥

अर्थ—उपर्युक्त वैमानिक देवोंमें उच्छ्वास आहार वेदना उपपात और अनुभावकी अपेक्षा भी ऊपर ऊपर हीनता है। इनकी हीनताका क्रम किस प्रकारका है, सो आगमके अनुसार समझ लेना चाहिये। किन्तु उसका सारांश संक्षेपमें इस प्रकार है—उच्छ्वास—सबसे जघन्य स्थितिवाले देवोंका उच्छ्वास सात स्तोकेमें हुआ करता है। देवोंकी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी है। इतनी स्थितिवाले देव सात स्तोके ज्ञात जानेपर उच्छ्वास लिया करते हैं, और उनको आहारकी अभिलाषा एक दिनके अन्तरसे हुआ करती है। जिनकी स्थिति एक पलकी है, वे एक दिनमें उच्छ्वास लिया करते हैं, और उनको पृथक्त्व दिनमें आहारकी अभिलाषा हुआ करती है। सागरोपम स्थितिवालोंमें से जिनकी जितने सागरीकी स्थिति है, वे

१—ऊपर गतिस्थिति आदि सूत्रमें बताये गये विषयोंके सिवाय इन विषयोंकी अपेक्षासे भी ऊपर ऊपर हीनता है, ऐसा भाष्यकारका अभिप्राय है। परन्तु अन्य विषयोंमें इनका अन्तर्भाव हो सकता है। २—इसका प्रमाण पहले बता चुके हैं। ३—दोसे नौतककी पृथक्त्व सहा है। दिगम्बर मन्त्रदायने तीनसे नौतककी पृथक्त्व कहते हैं। अर्थात् स्थितिके पत्योके अनुसार आहारकी अभिलाषाके दिनोंका प्रमाण २ से ९ तकका यथा योग्य समझ लेना ।

उतने ही पक्ष व्यतीत होनेपर, उच्छ्वास लेते है, और उतने ही हजार वर्ष बीत जानेपर उनको आहारकी अभिलाषा हुआ करती है। वेदना—वेदना नाम सुख दुखके अनुभवका है। यह भाव वेदनीयकर्मके उदयसे हुआ करता है। वेदनीयकर्म दो प्रकारका है—साता और असाता। साताके उदयसे सुखका अनुभव और असाताके उदयसे दुःखका अनुभव हुआ करता है। सुखानुभवको सद्देदना और दुःखानुभवको असद्देदना कहते है। देवोंके प्राय सद्देदना ही हुआ करती है, कर्मा भी असद्देदनाए नहीं होती। यदि कदाचित् असद्देदनाए उनके हों भी, तो ज्यादासे ज्यादा अन्तर्मुहूर्तक ही हो सकती हैं, इससे अधिक नहीं। सद्देदनाकी भी निरन्तर धारा—प्रवाहरूप प्रवृत्ति ज्यादासे ज्यादा छह महीनातक चल सकती है, इससे अधिक नहीं। छह महीनाके अनन्तर अन्तर्मुहूर्तके लिये वह छूट जाती है, अन्तर्मुहूर्तके बाद फिर चालू हो जाती है। उपपात—देवपर्यायमें जन्मग्रहण करनेको उपपात कहते है। किस प्रकारका जीव कहाँतक की देवपर्यायको धारण कर सकता है, वह इस प्रकार है—जो अन्य लिङ्गी मिथ्यादृष्टि है, वे अच्युत स्वर्गतक जाते है, इससे ऊपर नहीं जा सकते। अर्थात् जो जैनेतर लिङ्गको धारण करनेवाले और मिथ्या ही दर्शन—मतको माननेवाले हैं, वे मरकर आरण अच्युत कल्पतक जन्म ग्रहण कर सकते है। किन्तु जो जैनलिङ्गको धारण करनेवाले है, परन्तु मिथ्यादृष्टि हैं, वे मरकर नवग्रैवेयक पर्यन्त जन्मग्रहण कर सकते हैं, इससे ऊपर नहीं। जो जैनलिङ्गको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि साधु हैं, वे मरकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त योग्यतानुसार कहीं भी जन्म-ग्रहण कर सकते है। अर्थात् जिनलिङ्गी सम्यग्दृष्टियोंका उपपात सौधर्मसे लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान पर्यन्त है। एक विशेष नियम और भी है, वह यह कि जो चौदह पूर्वका ज्ञान रखनेवाले है, वे साधु मरकर ब्रह्मलोकसे लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान पर्यन्त जा सकते हैं। अर्थात् चौदह पूर्वके पाठी मरकर ब्रह्मस्वर्गसे नीचेके कल्पमें जन्म ग्रहण नहीं करते। अनुभाव—परिणमन अथवा कार्यविशेषमें प्रवृत्ति करनेको अनुभाव कहते हैं। देवोंके विमान निरालम्ब हैं—सब विना आधारके ही ठहरे हुए है। इसी प्रकार जो सिद्धक्षेत्र है, वह भी निरालम्ब ही है। अतएव इस विषयमें यह प्रश्न हो सकता है, कि ये विना आधारके किस तरह ठहरे हुए है? इसका उत्तर यही है, कि इस प्रकारसे ठहरेनेका कारण मात्र लोकस्थिति है। लोकस्थिति लोकानुभाव लोकस्वभाव और जगद्धर्म तथा अनादि परिणाम सन्तति ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं। अर्थात् अनादि पारिणामिक स्वभाव ही ऐसा है, कि जिसके निमित्तसे उनका ऐसा ही परिणमन होता है, कि

१—दिगम्बर सम्प्रदायमें सोलह स्वर्ग माने हैं, उनमें से बारहवें सहस्रारतक अन्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टि जा सकत है, ऐसा माना है। यथा—परमहन्म नामा परमती, सहस्रार ऊपर नहीं गती। द्रव्यलिङ्गधारी जे जती, नवग्रैवक ऊपर नहीं गती ॥ (दण्डक)

निससे वे आकाशमें विना आधारके यथास्थान वायुमें ठहरे रहते हैं। अनादिकालसे जिस प्रकार ठहरे हुए हैं, अनन्त कालतक भी उसी प्रकारसे ठहरे रहेंगे। अतएव इस प्रकारसे ठहरनेमें वस्तुका अनादि पारिणामिक स्वभाव ही कारण समझना चाहिये ।

परमार्पि भगवान् अरिहतदेवके जन्मकल्याणका महाभिषेकोत्सव जन्म होता है, ^१ अथवा जन्म नि क्रमण कल्याणक उपस्थित होता है, और तीर्थकर भगवान् दीक्षा धारण करते हैं, ^२ यद्वा घ्यानाशिके द्वारा चार घातिया कर्मोंको नष्ट कर देनेपर केवलज्ञानकी उत्पत्ति होती है, ^३ तथा कैवल्य प्रकृत होनेके अनंतर महान् समवसरणकी रचना हुआ करती है, एव च जन्म आयु पूर्ण होनेपर शेष समस्त कर्मोंके नष्ट हो जानेसे निर्वाण-कल्याणका प्रसङ्ग आता है, उस समय समस्त देवोंके सोने बैठने और चलने फिरने आदिके आधारभूत स्थान चलायमान-कम्पायमान हो जाया करते हैं। उस समय जो देव अपने आसनपर बैठे हों वे, जो सो रहे हों वे और जो केवल स्थित हों वे, अपने अपने आसनेके-बैठने सोने और ठहरनेके आधारके सहसा कम्पित होनेसे चलायमान हो जाया करते हैं। अपने स्थानसे चल्कर उसी समय भगवानकी स्तुति वन्दना आदि करते हुए उत्सवके मनानेमें प्रवृत्त हुआ करते हैं। इस तरह आसनोंका कम्पित होना और देवोंका चलायमान होना किसका कार्य कहा जा सकता है ? तो इसका कारण या तो शुभ कर्मोंका फलोदय अथवा लोकका अनुभाव-स्वाभाविक अनादि परिणाम ही कहा जा सकता है। जब आसन आदि कम्पित होते हैं, तब सहसा इस प्रकारकी क्रियाओंको देखकर वे देवगण उसके कारणको जाननेके लिये अवधिज्ञानका उपयोग लेते हैं। अवधिका उपयोग करनेपर जब वे देखते हैं, कि भगवान् अरिहतदेवके तीर्थकर नामकर्मके उदयसे असाधारण-जो अरिहतके सिवाय अन्य किसी भी देवमें न पाई जाय, ऐसी धर्म-

१—गर्भ-कल्याणकका उत्सव मनानेके लिये भी देव आया करते हैं, परन्तु उसका उल्लेख भाष्यकारने क्यों नहीं किया, सो समझमें नहीं आता। सभ्य है कि जन्मके बहनेमें ही गर्भ जन्म दोनोंका बोध कराना अभीष्ट हो। भगवान्को जन्मते ही सब देव मिलकर सौधमेंद्री मुरयताम मेरुपर लेजाते हैं, और वहाँ धीरसमुद्रने जलसे १००८ कलशोंसे उनका अभिषेक करते हैं। कलशोंका प्रमाण त्रिलोकसारमें और जन्म तथा शेष कल्याणोंका विशेष स्वरूप सातितानव पुराण आदिग्रन्थोंमें देखना चाहिये। २—भगवान्-जन्म दीक्षा धारण करनेके लिये घर छोड़कर वनको जाते हैं, तब देवोंकी लाई हुई विशेष पालकीमें बैठकर जाते हैं। उस पालकीको थोड़ी दूर तक मनुष्य लेकर चलते हैं, पीछे देव आशा मार्गसे उसको ले जाते हैं। ३—केवलज्ञानकी उत्पत्ति तीर्थकरोंके सिवाय अन्य साधुओंको भी हो सकती है। अतएव तीर्थकरोंने ज्ञानकल्याणकका उत्सव मनानेके सिवाय अन्य केवलियोंके कैवल्योत्पत्तिके समय भी देव उसका उत्सव मनानेके लिये आया करते हैं। ४—तीर्थकर भगवान्के उपदेशका जगह। इसमें १२ सभाएँ और उनके मध्यमें गणकुटी हुआ करती है। इसकी रचना अत्यन्त महान् है। इसका विशेष स्वरूप त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिमें देखना चाहिये। ५—आसन कम्पित होते हैं, मुकुट नम्रीभूत होते हैं, व्यतरोंके यहाँ पद्म-ध्वनि, भवनवासियोंके यहाँ शख-ध्वनि, ज्योतिष्कोंके यहाँ सिद्धनाद, वैमानिकोंके यहाँ घटाका नाद-शब्द हुआ करता है। इस अक्षरमाद घटनासे शार्द्वयन्वित होकर वे अवधिज्ञानको जोड़ते हैं। तब उन्हें उसका कारण कल्याणकका समय मादस होता है।

विभूति प्रकट हुई है, तो उनमेंसे कितने ही देव सवेगोंको प्राप्त होते हैं, और समीचीन धर्मको बहुमान-अत्यन्त सम्मान देनेके लिये स्वर्गसे मर्त्यलोकमें आकर भगवान् अरिहतदेवके चरणोंके मूलमें उपस्थित होकर उनकी स्तुति वन्दना और उपासनामें प्रवृत्त होकर तथा हितोपदेशको श्रवण करके आत्म-कल्याणको प्राप्त हुआ करते हैं। कोई कोई देव मर्त्यलोकमें नहीं आते, वे अपने अपने स्थानपर ही रहकर खड़े होकर अज्ञलि-हाथ जोड़कर अत्यन्त नम्र होकर नमस्कार करके और भेंट पूजाका द्रव्य चटाकर परम सवेगको प्राप्त हुए समीचीन धर्मके अनुरागसे जिनके नेत्र और मुख खिल रहे हैं, वहींमें भगवानका पूजन करते हैं।

भाचार्य—ऊपर ऊपरके देवोंकी गति आदि कम कम जो बताई है, उसके अनुसार वे देव प्राय मर्त्यलोकमें नहीं आते। कभी आते भी हैं, तो पुण्यकर्मके उदयसे अथवा अनादि पारणामिक स्वभावके वश पच कल्याणोंके अवसरपर ही आते हैं। कोई कोई देव उन अवसरोंपर भी नहीं आते। न आनेका कारण अभिमान नहीं है, क्योंकि अभिमान तो ऊपर ऊपर कम कम होता गया है, किन्तु न आनेका कारण सवेगकी अधिकता है। जिसके कि वश होकर वे अपने अपने स्थानपर ही पूजा महोत्सव करते हैं।

वैमानिक देवोंके विमानोंकी सख्या भेद स्थिति स्थान आदिका वर्णन किया, अब उनकी लेश्याका वर्णन प्राप्त है। उसके लिये भाष्यकार करते हैं कि—

भाष्यम्—अत्राह—त्रयाणा देवनिकायाना लेश्यानियमोऽभिहितः । अथ वैमानिकानां केषां का लेश्या इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पूर्वोक्त तीनों देवनिकायों—भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिष्कोंकी लेश्याका नियम पहले बता चुके हैं। परन्तु वैमानिकोंकी लेश्याका अर्थात्क कोई भी नियम नहीं बताया। अतएव कहिये कि किन किन वैमानिकोंके कौन कौनसी लेश्या होती है ? इस प्रश्नका उत्तर निम्नलिखित सूत्रसे होता है, अतएव उसको कहते हैं—

सूत्र—पीतपद्मशुक्लेश्या द्वित्रिशेषु ॥ २३ ॥

भाष्यम्—उपर्युपरि वैमानिका सोधर्मादिपुद्गयोस्त्रिषु शेषेषु च पीतपद्मशुक्लेश्या भवन्ति यथासङ्ख्यम् । इयो पीतलेश्या साधर्मज्ञानयो । त्रिषु पद्मलेश्या, सनत्कुमारमा-
हेन्द्रवृक्षलोकेषु । शेषेषु लान्तकादिप्रासर्वार्थसिद्धाच्छुक्लेश्या । उपर्युपरि तु विशु-
द्धतरेत्युक्तम् ।

अर्थ—यहाँपर वैमानिक देवोंका प्रकरण है, और उपर्युपरि शब्दका सम्बन्ध चला आता है। अतएव इस सूत्रका अर्थ भी इस प्रकरण और सम्बन्धको लेकर ही करना

चाहिये । यहाँपर जो लेश्याका नियम बताया है, वह ऊपरके वैमानिक देवोंके विषयमें क्रमसे घटित कर लेना चाहिये, अर्थात् सौधर्मादिक कल्पोंमें से दो तीन ओर शेष कल्पोंमें क्रमसे ऊपर ऊपरके वैमानिक देवोंको पीत पद्म लेश्या और शुरु लेश्या बाग समझना । सौधर्म और ऐशान इन दो कल्पोंमें तो पीतलेश्या है । इसके ऊपर मानन्कुमार माहेन्द्र और ब्रह्मलोक इन तीन कल्पोंमें पद्मलेश्या है । चार्मके अर्थान् लान्तकमे लेकर सर्वार्थसिद्धपर्यन्त वैमानिकोंकी शुरु लेश्या है । इनमें भी विशुद्ध विशुद्धतर और विशुद्धतमका ऊपरका क्रम ऐसा कि पहले बता चुके हैं, यहाँपर भी समझ लेना चाहिये ।

भावार्थ—यहाँपर कल्पोंकी लेश्याओंका जो वर्णन है, वह सामान्य है । सूक्ष्म अशोंकी अपेक्षासे वर्णन नहीं है । अतएव इस नियमको लक्ष्यमें रखकर ऊपरके देवोंमें नीचेके देवोंकी अपेक्षा लेश्याकी अधिक विशुद्धि समझनी चाहिये । जैसे कि सौधर्म और ऐशान दोनोंमें ही पीत लेश्या बताई है, परन्तु सौधर्मकी अपेक्षा ऐशानमें पीतलेश्याकी विशुद्धि अधिक है । इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ।

भावार्थ—यहाँपर भी लेश्यासे द्रव्यलेश्याका ही ग्रहण अभीष्ट है । क्योंकि भाव लेश्या अव्यवसायरूप हैं, अतएव वे छहों ही वैमानिक देवोंमें पाई जाती हैं । यहाँपर जो लेश्या-ओंका नियम है, वह भावलेश्याओंके विषयमें है, ऐसा किसी किमीका कहना है, परन्तु टीकाकार को यह बात इष्ट नहीं है । दूसरी बात यह है, कि—पहले तीन निशार्योंकी लेश्याका वर्णन कर चुके हैं, यहाँपर वैमानिकोंकी लेश्याका वर्णन किया है, यदि दोनों वर्णनोंको एक साथ कर दिया जाता, तो ठीक होता, ऐसी किमी किसीको शक हो सकती है, परन्तु वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि वैसा करनेमें व्यतिकर दोष उपस्थित होता है, और ऐसा करनेसे सुखपूर्वक विषयका ज्ञान हो जाता है । पीत लेश्यावाले सौधर्म और ऐशान कल्पके देव सुवर्ण वर्ण हैं, मानन्कुमार माहेन्द्र और ब्रह्मलोकके देवोंके शरीरकी कान्ति पद्म कमलके समान है, लान्तकमे लेकर सर्वार्थसिद्धतरके देवोंके शरीरकी प्रभा धवलवर्ण है ।

भाष्यम्—अत्राह-उक्त भवता द्विचिधा चमानिका देवा कल्पोपपन्ना कल्पातीताश्चेति । तत् के कल्पा इति । अत्रोच्यते—

अर्थ—आपने वैमानिक देवोंके पहले दो भेद बताये थे—एक कल्पोपपन्न दूसरे कल्पातीत । इनमेंसे किसीका भी अर्थ तबतक अच्छी तरह समझमें नहीं आ सकता, जबतक कि कल्प शब्दका अभिप्राय न मालूम हो । किन्तु कल्प शब्दका अर्थ अभीतक सूत्र द्वारा अनुक्त है । अतएव कहिये कि कल्प किसको कहते हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये सूत्र द्वारा कल्प शब्द का अर्थ बताते हैं—

सूत्र—प्राग्भैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २४ ॥

भाष्यम्—प्राग्भैवेयकेभ्यः कल्पा भवन्ति सौधर्मादय आरणाच्युतपर्यन्ता इत्यर्थः । अतोऽन्ये कल्पातीता ।

अर्थ—भैवेयकोसे पहले पहलेके जो विमान है, उनको कल्प कहते हैं । अर्थात् सौधर्म स्वर्गसे लेकर आरण अच्युत पर्यन्त जितने विमान हैं, उन सबकी कल्प सज्ञा है । अतएव इनसे जो शेष बचते हैं—अर्थात् भैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानोंको कल्पातीत कहते हैं । जो कल्पोंमें उपपाद—जन्म ग्रहण करते हैं, उनको कल्पोपपन्न और जो भैवेयकादिकोंमें उपपन्न होते हैं, उनको कल्पातीत कहते हैं । अच्युतपर्यन्तको कल्प कहनेका कारण वहाँपर इन्द्र आदिक दश प्रकारके देवोंकी कल्पनाका होना है, यह बात पहले बता चुके हैं ।

भाष्यम्—अत्राह—किं देवा सर्व एव सम्यग्दृष्टयो यद्भगवतां परमर्षिणामर्हताजन्मादिषु प्रमुदिता भवन्ति इति । अत्रोच्यते—न सर्वे सम्यग्दृष्टय किन्तु सम्यग्दृष्टय सद्भर्मबहुमानादेव तत्र प्रमुदिता भवन्त्यभिगच्छन्ति च । मिथ्यादृष्टयोऽपि च लोकचित्तानुरोधादिन्द्रानुवृत्त्या परस्परदर्शनात् पूर्वानुचरितामिति च प्रमोदं भजन्तेऽभिगच्छन्ति च । लोकान्तिकास्तु सर्वे एव विशुद्धभावा सद्भर्मबहुमानात्ससारदुःखार्तानां च सत्त्वानामनुकम्पया भगवतां परमर्षिणामर्हता जन्मादिषु विशेषतः प्रमुदिता भवन्ति । अभिनि क्रमणाय च कृतसकल्पाभगवतोऽभिगम्य प्रहृष्टमनसा स्तुवन्ति सभाजयन्ति चेति ॥

अर्थ—प्रश्न—क्या सभी देव सम्यग्दृष्टि हैं, कि जो परमर्षि भगवान् अरहतदेवके जन्मादिक कल्याणोंके समय प्रमुदित हुआ करते हैं ? उत्तर—नहीं, सभी देव सम्यग्दृष्टि नहीं हैं । किन्तु जो सत्यग्दृष्टि हैं, वे तो सद्भर्मके बहुमानसे ही प्रमुदित होते हैं, और उनके पादमूर्ध्ने आकर स्तुति आदिमें प्रवृत्त हुआ करते हैं । जो मिथ्यादृष्टि हैं, वे भी उस कार्य में प्रवृत्त तो होते हैं, परन्तु सद्भर्मके बहुमानसे प्रवृत्त नहीं हुआ करते, किन्तु लोगोंके चित्तके अनुरोधसे अथवा इन्द्रका अनुवर्तन करनेके लिये यद्वा आपसकी देखा देखा, या हमारे पूर्वज इस कामको करते आये हैं, अतएव हमको भी करना चाहिये, ऐसी समझसे प्रमोदको प्राप्त होते हैं, और भगवान् अरहत देवका अभिगमन करते हैं । लौकान्तिक देव जो बताये हैं, वे सभी विशुद्ध भावोंको धारण करनेवाले—सम्यग्दृष्टि हैं । वे सद्भर्मके बहुमानसे अथवा ससार दुःखोंसे आर्त—पीडित—प्राणियोंके ऊपर दया करके—सदय परिणामोंके कारण परमर्षि भगवान् अरहत—देवके जन्मादि कल्याणोंके समय विशेषरूपसे प्रमुदित हुआ करते हैं, और जिस समय भगवान् अभिनि.क्रमण—तपस्या या दीक्षा धारण करनेके लिये सकल्प करते हैं, उस समय वे भगवान्के निकट आते हैं, और अत्यंत हर्षित चित्तसे उनकी स्तुति करते हैं, तथा उन्हें वैसा करनेके लिये प्रेरित करते हैं ।

भावार्थ—लौकान्तिक देव सम्यग्दृष्टि होते हैं । इसी लिये वे भगवान् अरहतदेवके जन्म लेनेपर, या दीक्षाका विचार करनेपर विशेषरूपसे हर्षित होते हैं, और उनके निकट आकर उनके

उस विचारकी अत्यंत प्रशंसा करते हैं, और सत्सारेके ताप त्रयसे सतत जीवोंके ऊपर अनुकम्पा भावसे कहते हैं, कि हे भगवान्, आपने जो यह विचार किया है, वह अतिशय स्तुत्य है। आपने तीन जगत्का उद्धार करनेके लिये ही अनन्तर धारण किया है। आपके दीक्षा धारण किये बिना जीवोंका अज्ञान और क्लेश दूर नहीं हो सकता। अनन्तर इन तीन प्राणियोंपर कृपा करके शीघ्र ही तपस्यामें प्रवृत्त हो केवल्य को प्राप्त करके इनको हितका उपदेश दीजिये।

लौकान्तिकोंके सिवाय अच्युत कल्प पर्यन्तके देवोंमें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही प्रकारके देव हुआ करते हैं। यद्यपि जिन भगवान्के जन्मादि कल्याणोंके समय दोनों ही प्रकारके देव सम्मिलित होते हैं, और स्तुति वन्दना प्रणाम नमस्कार पूजापहारोंमें स्वयं प्रवृत्त होते हैं। फिर भी दोनोंकी अन्तरङ्ग रुचिमें महान् अन्तर है। जो सम्यग्दृष्टि हैं, वे बहुमान पूर्वक भगवान्के कल्याणोंका यह अवसर है, यह बात आसन कम्पनादिका निमित्त पाकर जोड़े गये अधिज्ञानके द्वारा मालूम होते ही सहसा उस उत्सवको मनानेमें प्रवृत्त होते हैं, उनकी ऐसी प्रवृत्तिको कारण सद्धर्मका अनुराग, दर्शनविशुद्धि, भक्ति-भाषा अतिरेक, भक्तिवश जिन भगवान्का अनुसरण करनेकी विशिष्ट भावना, कल्याणोत्सव मनानेका अनुराग, तीर्थकर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई अज्ञाधारण विभूतिको देखनेके लिये उत्पन्न हुई उत्सुकता, तत्त्वस्वरूपमें उत्पन्न हुई शकाओंको दूर करनेकी अभिलाषा, नवीन प्रश्न करनेकी सदिच्छा आदि हैं। इन कारणोंके वश होकर ही वे तीर्थकर भगवान्के चरणमूलमें आते हैं, और वहाँपर अपनी आत्माका अत्यन्त एकान्त हित सिद्ध होना समझकर उनकी स्तुति वन्दना पूजा उपासना और धर्म श्रुतिमें प्रवृत्त होते हैं जिससे कि वे अपनी और परकी आत्माओंको श्रद्धा तथा सवेगके द्वारा कल्पपतासे रहित बना देते हैं। किन्तु मिथ्यादृष्टि देवोंमें यह बात नहीं है। वे दूसरोंके अनुसंधानसे, अथवा इन्द्र जैसा करते हैं, वैसा नहीं करेंगे, तो वे संभवतः कुपित हो, ऐसा समझकर इन्द्रका अनुसरण करनेके अभिप्रायसे, वहाँपर दूसरे देव करते हैं, उनकी-सम्यग्दृष्टियोंकी देखा देखी, अपने पूर्वजोंका आचरण समझकर उसमें प्रवृत्ति करते हैं। उनके हृदयमें सद्धर्मके प्रति स्वयं बहुमान नहीं होता।

जो प्रवेयक और अनुत्तर विमानवासी हैं, वे अपने स्थानपर रहकर ही अपने चरणोंके द्वारा कायके द्वारा एकाग्र भावना स्तुति और हाथ जोड़ना प्रणाम करना आदि कार्योंमें प्रवर्तन किया करते हैं।

१—लौकान्तिकोंका यह नियोग-नियम ही है, कि जब तीर्थकर भगवान् दीक्षाका विचार करें, उसी समय वे आकर उनकी स्तुति करें। —कुलाचार समझकर। जिस प्रकार यहाँपर बहुतसे लोक अपने अपने कुलके देवी देवोंको यह समझकर पूजा करते हैं, कि हमारे पूर्वज इनको पूजते थे इसलिये हमें भी पूजा चाहिये। इसी तरह स्वर्गमें कितने ही मिथ्यादृष्टि देव अरहतको अपना कुलदेव समझकर पूजते हैं।

भाष्यम्—अत्राह—केपुनर्लोकान्तिका कतिविवायेति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—वैमानिक देवोंका वर्णन करते हुए आपने लौकिक देवोंका नामोल्लेख जो किया है वे कौन हैं ? और कितने प्रकारके हैं ? इसका उत्तर देनेके लिये ही आगेके सूत्रका उपस्थापन करते हैं—

सूत्र—ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ॥ २५ ॥

भाष्यम्—ब्रह्मलोकालया एव लोकान्तिका भवन्ति नान्यकटपेपु नापि परत । ब्रह्म लोक परिवृत्याप्राप्तु दिक्षु अप्रविकटपा भवन्ति । तद्यथा—

अर्थ—ब्रह्मलोक है, आलय—स्थान जिनका उनको कहते हैं ब्रह्मलोकालय । लोकान्तिक देव ब्रह्मलोकालय ही होते हैं । अर्थात् लोकान्तिक देव ब्रह्मलोकमें ही निवास करनेवाले हैं, वे अन्य कल्पोंमें निवास नहीं करते, और न कल्पोंसे परे त्रेवेयकादिकमें ही निवास करते हैं । अर्थात् सूत्र करनेकी सामर्थ्यसे ही एवकारका अर्थ निकल आता है । उस सामर्थ्यलभ्य एवकारको ही भाष्यकारने यहाँपर स्फुट कर दिया है । इसका फल अन्वयार्थ अर्थको दिखाना ही है । अन्यथा कोई यह समझ सकता था, कि ब्रह्मलोक—पाँचवें स्वर्गमें लोकान्तिक देव ही रहते हैं । सो यह बात नहीं है, ऐसा दिखाना भी— इसका अभिप्राय है । अर्थात् ब्रह्मलोकमें अनेक देव रहते हैं, उनमें ही लोकान्तिक देव रहते हैं । परन्तु लोकान्तिक देव ब्रह्मलोकमें ही रहते हैं, अन्यत्र नहीं रहते । लोकान्तिकोंके निवास स्थानको इस तरह खास तौरसे बतानेका कारण उनकी विशिष्टताको प्रकट करना है । क्योंकि अन्य देवोंकी अपेक्षा लोकान्तिक देव विशिष्ट है । उनमें विशिष्टता दो कारणसे है । एक तो निवास—स्थान की अपेक्षा दूसरी अनुभावकी अपेक्षा । इनका निवास—स्थान ब्रह्मलोकमें जहाँपर दूसरे सामान्य देव रहते हैं, वहाँपर नहीं है, किन्तु ब्रह्मलोकके अन्तमें चारों तरफ आठों दिशाओंमें—चार दिशा और चार विदिशाओंमें है । इसीलिये इनको लोकान्तिक कहते हैं । क्योंकि जिस प्रकार साधुओंके निवास—स्थान शहरके बाहर बने हुए होते हैं, उसी प्रकार इनके भी ब्रह्मलोकके अन्तमें—बाहर आठ दिशाओंमें आठ निवास—स्थान बने हुए हैं । उन्हींमें ये उत्पन्न होते हैं, और उन्हींमें ये रहते हैं । अतएव निवास—स्थानकी अपेक्षा विशेषता है । अथवा लोक शब्दका अर्थ जन्म मरण जरारूप संसार भी है, उसका

१—लोकको ब्रह्मलोकस्तस्यान्त यादप्रदेश तत्र वसन्ति तत्रभवा इति वा लोकान्तिका । २—मध्य लोकमें अद्यत्वात् द्वीप समुद्रोंमेंसे एक अक्षय्वर नामका भी समुद्र है । उद्यमेंसे अत्यन्त सघन अधकारक पटल निकलता है । वह ऊपर ब्रह्मलोकतक चला गया है । यह इतना निविड है, कि एक देवभी उसमेंसे निकलनेमें थका जाता है । यह अधकार ऊपर जाकर ब्रह्मलोकके नीचे अरिष्ट विमानके प्रस्तारमें अक्षपादके आकार आठ श्रेणियोंमें विभक्त हो गया है । इन्हीं श्रेणियोंमेंसे दो दो श्रेणियोंके मध्यमें सारस्वत भादि एक एक लोकान्तिक देवका निवास—स्थान है । आठ दिशाओंमें रहनेवालोंके आठ भेद यहाँ बताये हैं, परन्तु शास्त्रोंमें नौ भेद हैं । आठोंके मध्यमें एक अरिष्ट विमान और है ।

अन्त इन्होंने कर दिया है, इसलिये भी इनको लोकान्तिक कहते हैं। क्योंकि इन्होंने कर्मोंके क्षयका अम्यास कर लिया है, अब ये मनुष्य-पर्यायको धारण करके नियमसे मुक्त होनेवाले हैं। अतएव अनुभावकी अपेक्षासे भी इनमें विशेषता है। आठ दिशाओंमें रहनेके कारण ही लोकान्तिकोंके आठ भेद है। अर्थात् लोकान्तिकोंकी आठ जाति है। एक एक जातिके लोकान्तिक एक एक नियत दिशामें रहते हैं। उन आठ भेदोंके नाम बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुपिताव्यावाधमरुतः ॥२६॥

भाष्यम्—एते सारस्वतादयोऽष्टविधा देवा ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिण भवन्ति यथासङ्गम् । तद्यथा-पूर्वोत्तरस्या दक्षिणसारस्वता, पूर्वस्यामादित्या, इत्येव शेषाः ।

अर्थ—ये सारस्वत आदि आठ प्रकारके देव ब्रह्मलोककी पूर्वोत्तरादिक दिशाओंमें क्रमसे प्रदक्षिणारूपसे रहते हैं। जैसे कि पूर्वोत्तर दिशामें सारस्वत, पूर्व दिशामें आदित्य, इसी प्रकार शेष बह्नि आदिके विषयमें समझना चाहिये ।

भावार्थ—पूर्व और उत्तर दिशाके मध्यमें सारस्वत, पूर्व दिशामें आदित्य, पूर्व और दक्षिणके मध्यमें वह्नि, दक्षिणमें अरुण, दक्षिण और पश्चिमके मध्यमें गर्दतोय, पश्चिममें तुपित, पश्चिम और उत्तरके मध्यमें व्यावाध, और उत्तर दिशामें मरुत् नामक लोकान्तिक देवोंका निवासस्थान है। आठोंके मध्यमें अरिष्ट नामका एक विमान और है। इस प्रकार कुल मिलाकर लोकान्तिकोंके नौ भेद है, और शास्त्रोंमें नौ भेद ही बताये हैं। यहाँपर ग्रन्थकारने जो आठ भेद गिनाये हैं, वे दिग्बर्तियोंके हैं। ब्रह्मलोकके बाहर आठ दिशामें रहनेवाले आठ ही हैं।

ऊपर यह बात बता चुके हैं, कि अच्युतपर्यन्त कल्पोंके देव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही प्रकारके हैं, और त्रैवेयिक तथा अनुत्तरवासी सभी देव सम्यग्दृष्टि हैं। सम्यग्दृष्टियोंके लिये यह नियम है, कि जिनका सम्यक्त्व दृष्टा नहीं है, ऐसे भयजीव ज्यादा से ज्यादा सात आठ भव और कम से कम दो तीन भव ससारमें चिताकर अवश्य ही निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं। यह सामान्य नियम सभीके लिये है, वही विजयादिक अनुत्तरवासियोंके लिये भी समझा जा सकता था। परन्तु उनमें कुछ विशेषता है। अतएव उस विशेषताको बतानेके लिये ही सूत्र करते हैं—

सूत्र—विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २७ ॥

भाष्यम्—विजयादिष्वनुत्तरेषु विमानेषु देवा द्विचरमा भवन्ति । द्विचरमा इति तत् ऋच्युता पर द्विर्जनित्वा सिध्यन्तीति । सकृद सर्वाथसिद्धमहाविमानवासिन, शपास्तु भजनीया ॥

अर्थ—विजयादिक पाँच अनुतर विमान जो बताये है, उनमेंसे सर्वार्थसिद्धको छोड़कर बाकी चार विमानोंके देव द्विचरम हैं। द्विचरम कहनेका अभिप्राय यह है, कि इन विमानोंसे च्युत होकर दो बार जन्म धारण करके निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं। सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमानके देव एक भव धारण करके ही सिद्ध हो जाते हैं। बाकी सम्यग्दृष्टियोंके लिये आगमोक्त सामान्य नियमके अनुसार यथायोग्य समझ लेना चाहिये—

भाषार्थ—इस कथनसे कोई यह समझ सकता है, कि एक जीव जो विजय वैजयन्त जयन्त या अपराजितमेंसे किसी भी विमानमें उत्पन्न हुआ और वहाँकी आयु पूर्ण करके मनुष्य हुआ। यह एक जन्म हुआ। पुन दूसरा जन्म धारण करके मनुष्य भवसे फिर मनुष्य होकर—मोक्षको प्राप्त हुआ करता है। परन्तु यहाँपर नियम जो बताया है, उसका ऐसा अभिप्राय नहीं है। उसका आशय यह है, कि विजयादिक विमानोंसे दो जन्म धारण करके मोक्षको जाया करते हैं। अर्थात् एक जीव विजयादिकमें उत्पन्न होकर मनुष्य हुआ, मनुष्य होकर फिर विजयादिकमें गया, विजयादिकसे पुन मनुष्य होकर मुक्त होता है। इसके सिवाय दो जन्म धारण करनेका अभिप्राय ऐसा भी नहीं समझना चाहिये, कि इनको अवश्य ही दो जन्मधारण करने पड़े। परिणामोंके अनुसार एक भव धारण करके भी मुक्त हो सकते हैं। क्योंकि दोका नियम उत्कृष्टताकी अपेक्षासे है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता जीवस्यौद्ययिकेषु भावेषु तिर्यग्योनि-गतिरिति। तथा स्थितौ “ तिर्यग्योनीना च ” इति। आस्रवेपु “ माया तैर्यग्योनस्य ” इति। तत्के तिर्यग्यो नय इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—दूसरे अध्यायके छठे सूत्रका व्याख्यान करते हुए जो जीवके औद्ययिक भाव गिनाये हैं, उनमें आपने तिर्यग्योनि गतिका भी उल्लेख किया है। तीसरे अध्यायके अन्तमें आयुकी स्थितिका वर्णन करते हुए सूत्र १८ “ तिर्यग्योनीना च ” में भी तिर्यग्योनि शब्दका उल्लेख किया है। इसी प्रकार छठे अध्यायमें आस्रवके प्रकरणमें “ माया तैर्यग्योनस्य ” (सूत्र १७) में भी इसका नामोल्लेख किया है। इस प्रकार अनेक स्थलोंपर तिर्यग्योनि शब्दका उल्लेख करके भी अभीतक यह नहीं बताया, कि वे तिर्यग्योनि कौन हैं ? अर्थात्—संसारि जीव चार गतियोंमें विभक्त हैं—नारक तैर्यग्योन मानुष और देव। इनमेंसे

१—द्विचरमताका अर्थ कोई कोई ऐसा करते हैं, कि—विजयादिकसे च्युत होकर मनुष्य हुआ, और मनुष्य से फिर सर्वार्थसिद्धिमें गया। वहाँसे च्युत होकर मनुष्य होकर सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। परन्तु ऐसा अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि इससे सर्वार्थसिद्धिका अतिशय प्रकट होता है, न कि विजयादिकों का। सर्वार्थसिद्धिके देव एक मनुष्य भव धारण करके मोक्षको जाते हैं, यह नियम है। विजयादिके देवोंको प्रतनुकर्मवाला लिटा है। यथा—“ अणुत्तरोववादिमाण देवा ण भते ! केइएण कम्मावसेसेण अणुत्तरोववादिमत्तण उववन्ना ? गोयमा ! जावतिअन्न छइभतीए समणे निगमे कम्म निब्बेइ एवतिएण कम्मावसेसेण अणुत्तरो ववाइयत्ताए उववन्ना ॥ ”

नारक मानुष और देवोंका अर्भातक वर्णन किया गया है, परन्तु तैर्यग्योन भेदका नामोहेख करनेके सिवाय और कुछ भी वर्णन नहीं किया, अतएव कहिये, कि तैर्यग्योन किनको समझना ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र करते हैं—

सूत्र—औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २८ ॥

भाष्यम्—औपपातिकेभ्यश्च नारकदेवेभ्यो मनुष्येभ्यश्च यथोक्तेभ्यः शेषा एकेन्द्रियाद्य-
यस्तिर्यग्योनयो भवन्ति ॥

अर्थ—उपपात जन्मवाले नारक और देव, तथा गर्भज और सम्भूतन दोनों प्रकारके मनुष्य इनके सिवाय जितने भी ससारी जीव बचे—एकेन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त वे सब तिर्यग्योनि कहे जाते हैं ।

भावार्थ—तिर्यग्योनि किन किन जीवोंको समझना सो यहाँपर बताया है । देवादिकोंके समान तिर्यग्योनि जीवोंके आधार—निवासस्थानका भी वर्णन करना चाहिये । परन्तु उसका वर्णन किया नहीं है, क्योंकि वे सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होकर रह रहे हैं । यद्यपि प्रधानतया तिर्यग्लोक—मध्यलोकमें ही इनका आवास है, फिर भी सामान्यसे स्थावर कायका सद्भाव सर्वत्र ऊर्ध्व और अधोलोकमें भी पाया जाता है । तिर्यग्लोकमें मुख्य आवास रहनेके कारण ही इनकी तिर्यग्योनि सज्ञा है ।

भाष्यम्—अत्राह—तिर्यग्योनिमनुष्याणा स्थितिरुक्ता । अथ देवाना का स्थितिरिति ?
अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—तिर्यग्योनि और मनुष्योंकी जघन्य तथा उत्कृष्ट आयुकी स्थितिका प्रमाण तीसरे अध्यायके अन्तमें बता चुके हैं । अतएव उसके दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है । परन्तु देवोंका प्रकरण चल रहा है, और उनकी आयुकी स्थिति जगन्य या उत्कृष्ट कैसी भी अर्भातक बताई भी नहीं है । अतएव कहिये कि देवोंकी स्थितिका क्या हिसाब है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लियेही आगेका सूत्र करते हैं—

सूत्र—स्थितिः ॥ २९ ॥

भाष्यम्—स्थितिरित्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यते ॥

अर्थ—यह अधिकार—सूत्र है । अतएव इसका अभिप्राय इतना ही है, कि यहाँसे आगे स्थितिका वर्णन करेंगे । अर्थात् “वैमानिकाना” सूत्रसे लेकर अबतक वैमानिक देवोंका अधिकार चला आ रहा था । परन्तु वहाँपर यह बात कही जा चुकी है, कि स्थितिके

१—यहाँपर इस सूत्रके करनेसे लघव होता है, अतएव देवोंके प्रकरणमें भी तिर्यग्योनिका स्वरूप बता दिया है ।

अर्थ—विजयादिक पाँच अनुतर विमान जो बताये हैं, उनमेंसे सर्वार्थसिद्धको छोड़कर बाकी चार विमानोंके देव द्विचरम हैं। द्विचरम कहनेका अभिप्राय यह है, कि इन विमानोंसे च्युत होकर दो बार जन्म धारण करके निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं। सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमानके देव एक भव धारण करके ही सिद्ध हो जाते हैं। बाकी सम्यग्दृष्टियोंके लिये आगमोक्त सामान्य नियमके अनुसार यथायोग्य समझ लेना चाहिये—

भावार्थ—इस कथनसे कोई यह समझ सकता है, कि एक जीव जो विजय वैजयन्त जयन्त या अपराजितमेंसे किसी भी विमानमें उत्पन्न हुआ और वहाँकी आयु पूर्ण करके मनुष्य हुआ। यह एक जन्म हुआ। पुन दूसरा जन्म धारण करके मनुष्य भवसे फिर मनुष्य होकर—मोक्षको प्राप्त हुआ करता है। परन्तु यहाँपर नियम जो बताया है, उसका ऐसा अभिप्राय नहीं है। उसका आशय यह है, कि विजयादिक विमानोंसे दो जन्म धारण करके मोक्षको जाया करते हैं। अर्थात् एक जीव विजयादिकमें उत्पन्न होकर मनुष्य हुआ, मनुष्य होकर फिर विजयादिकमें गया, विजयादिकसे पुन मनुष्य होकर मुक्त होता है। इसके सिवाय दो जन्म धारण करनेका अभिप्राय ऐसा भी नहीं समझना चाहिये, कि इनको अवश्य ही दो जन्मधारण करने पड़ें। परिणामोंके अनुसार एक भव धारण करके भी मुक्त हो सकते हैं। क्योंकि दोका नियम उत्कृष्टताकी अपेक्षासे है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता जीवस्यौद्यिकेषु भावेषु तिर्यग्योनि-गतिरिति। तथा स्थितौ “ तिर्यग्योनीना च ” इति। आस्रवेपु “ माया तैर्यग्योनस्य ” इति। तत्के तिर्यग्यो नय इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—दूसरे अध्यायके छठे सूत्रका व्याख्यान करते हुए जो जीवके औद्यिक भाव गिनाये हैं, उनमें आपने तिर्यग्योनि गतिका भी उल्लेख किया है। तीसरे अध्यायके अन्तमें आयुकी स्थितिका वर्णन करते हुए सूत्र १८ “ तिर्यग्योनीना च ” में भी तिर्यग्योनि शब्दका उल्लेख किया है। इसी प्रकार छठे अध्यायमें आस्रवके प्रकरणमें “ माया तैर्यग्योनस्य ” (सूत्र १७) में भी इसका नामोल्लेख किया है। इस प्रकार अनेक स्थलोंपर तिर्यग्योनि शब्दका उल्लेख करके भी अभीतक यह नहीं बताया, कि वे तिर्यग्योनि कौन हैं ? अर्थात्—ससारी जीव चार गतियोंमें विभक्त हैं—नारक तैर्यग्योन मानुष और देव। इनमेंसे

१—द्विचरमताका अर्थ कोई कोई ऐसा करते हैं, कि—विजयादिकसे च्युत होकर मनुष्य हुआ, और मनुष्य से फिर सर्वार्थसिद्धमें गया। वहाँसे च्युत होकर मनुष्य होकर सिद्धिकी प्राप्त हो जाता है। परन्तु ऐसा अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि इससे सर्वार्थसिद्धिका भतिशय प्रकट होता है, न कि विजयादिको का। सर्वार्थसिद्धिके देव एक मनुष्य भव धारण करके मोक्षकी जाते हैं, यह नियम है। विजयादिके देवोंको प्रतनुकर्मवाला लिखा है यथा—“ अणुत्तरोववादिषाण देवा ष भते ! केवइएण कम्मावसेसेण अणुत्तरोववादिषत्तेण उववसा ? गोयमा ! जावतिअत्र छट्ठमत्तीए समणे निग्गये कम्म निब्बरइ एवत्तिएण कम्मावसेसेण अणुत्तरो ववाइयत्ताए उववसा ॥ ”

नारक मानुष और देवोंका अर्भातिक वर्णन किया गया है, परन्तु तैर्यग्योन भेदना नामोल्लेख करनेके सिवाय और कुछ भी वर्णन नहीं किया, अतएव कहिये, कि तैर्यग्योन किनको समझना ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये ही आगेका सूत्र करते हैं—

सूत्र—औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २८ ॥

भाष्यम्—औपपातिकेभ्यश्च नारकदेवेभ्यो मनुष्येभ्यश्च यथोक्तेभ्यः शेषा एकोन्द्रियादयस्तिर्यग्योनयो भवन्ति ॥

अर्थ—उपपात जन्मवाले नारक और देव, तथा गर्भज और सम्मूर्तन दोनों प्रकारके मनुष्य इनके सिवाय जितने भी ससारी जीव बचे—एकोन्द्रियसे लेकर पचेन्द्रिय पर्यन्त वे सब तिर्यग्योनि कहे जाते हैं ।

भावार्थ—तिर्यग्योनि किन किन जीवोंको समझना सो यहाँपर बताया है । देवादिकोंके समान तिर्यग्योनि जीवोंके आधार—निवासस्थानका भी वर्णन करना चाहिये । परन्तु उसका वर्णन किया नहीं है, क्योंकि वे सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होकर रह रहे हैं । यद्यपि प्रधानतया तिर्यग्भ्लोक—मध्यलोकमें ही इनका आवास है, फिर भी सामान्यसे स्थावर कायका सद्भाव सर्वत्र ऊर्ध्व और अधोलोकमें भी पाया जाता है । तिर्यग्लोकमें मुस्त्य आवास रहनेके कारण ही इनकी तिर्यग्योनि सज्ञा है^१ ।

भाष्यम्—अत्राह—तिर्यग्योनिमनुष्याणा स्थितिरुक्ता । अथ देवाना का स्थितिरिति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—तिर्यग्योनि और मनुष्योंकी जघन्य तथा उत्कृष्ट आयुकी स्थितिका प्रमाण तीसरे अध्यायक अन्तमें बता चुके हैं । अतएव उसके दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है । परन्तु देवोंका प्रकरण चल रहा है, और उनकी आयुकी स्थिति जघन्य या उत्कृष्ट कैसी भी अर्भातिक बताई भी नहीं है । अतएव कहिये कि देवोंकी स्थितिका क्या हिसाब है ? इस प्रश्नका उत्तर देनेके लियेही आगेका सूत्र करते हैं—

सूत्र—स्थितिः ॥ २९ ॥

भाष्यम्—स्थितिरित्यत ऊर्ध्वं वक्ष्यते ॥

अर्थ—यह अधिकार—सूत्र है । अतएव इसका अभिप्राय इतना ही है, कि यहाँसे आगे स्थितिका वर्णन करेंगे । अर्थात् “ वैमानिकाना ” सूत्रसे लेकर अबतक वैमानिक देवोंका अधिकार चला आ रहा था । परन्तु वहाँपर यह बात कही जा चुकी है, कि स्थितिके

^१—यहाँपर इस सूत्रके करनेसे छापव होता है, अतएव देवोंके प्रकरणमें भी तिर्यग्योनि का स्वरूप बता दिया है ।

प्रकरणसे पहले पहले यह अधिष्ठात समझना । यहाँसे अब स्थितिका प्रकरण शुरू होता है । अतएव वैमानिकोंका ही सम्बन्ध यहाँसे न समझकर सामान्य देवोंका सम्बन्ध समझना चाहिये । यदि यही बात है, तो देवोंके चार निकायोंमें से सबसे पहले देवनिकाय—भवनवासियोंकी स्थितिका ही पहले वर्णन करना चाहिये । सो ठीक है—भवनवासी भी दो भागोंमें विभक्त हैं—एक तो महामन्दरमेरुकी अर्धसे दक्षिण अर्धके अधिपति दूसरे उत्तर अर्धके अधिपति । स्थिति भी दो प्रकारकी है—जघन्य और उत्कृष्ट । इनमेंसे पहले दक्षिण अर्धके अधिपति भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ॥ ३० ॥

भाष्यम्—भवनेषु तावद्भवनवासिना दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धं परा स्थिति । द्वयोर्यथोक्तयोर्भवनवासीन्द्रयोर् पूर्वो दक्षिणार्धाधिपति पर उतरार्धाधिपति ॥

अर्थ—भवनवासियोंमेंसे जो दक्षिण अर्धके अधिपति हैं, उन भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ पल्यकी है । पहले कहे अनुसार भवनवासियोंके दो इन्द्रोंमेंसे—चमर बलि आदिमेंसे पहले दक्षिण अर्धके अधिपति है, और दूसरे उत्तर अर्धके अधिपति हैं ।

भावार्थ—असुरेन्द्रोंकी स्थिति आगे चलकर इसी प्रकरणमें बतानेके अतएव उस भेदको छोड़कर शेष भवनवासियोंमेंसे दक्षिण अर्धके अधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति—आयुका-प्रमाण डेढ़ पल्य समझना चाहिये ।

कमानुसार उत्तर अर्धके अधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण कितना है, सो बताते हैं—

सूत्र—शेषाणां पादोने ॥ ३१ ॥

भाष्यम्—शेषाणां भवनवासिष्वाधिपतीनां द्वेपल्योपमे पादोने परा स्थिति । के च शेषा ? उत्तरार्धाधिपतय इति ॥

अर्थ—भवनवासियोंमेंसे शेष अधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक पाद—चतुर्थ भाग कम दो पल्यकी उत्कृष्ट स्थिति है । प्रश्न—शेषसे किनको लेना या समझना चाहिये ? उत्तर—महामन्दरमेरुकी अर्धसे उत्तर अर्धके जो अधिपति है उनको, अथवा यों कहिये कि पूर्वसूत्रमें जिनका निर्देश किया जा चुका है, उनसे जो बाकी बचे, वे सभी भवनवासी शेष शब्दसे लिये जाते हैं । हाँ, असुरेन्द्रोंकी स्थितिका वर्णन आगेके सूत्रमें स्वतन्त्ररूपसे करेंगे अतएव उत्तरार्धाधिपतियोंमेंसे असुरेन्द्र बलिका यहाँपर ग्रहण नहीं समझना ।

भावार्थ—असुरेन्द्र बलिके सिवाय सभी उत्तरार्धाधिपतियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पौने दो पल्यकी है ।

अत्र दोनों असुरेन्द्रोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥ ३२ ॥

भाष्यम्—असुरेन्द्रयोस्तदक्षिणार्धाधिपत्युत्तरार्धाधिपत्यो सागरोपममधिकं च यथा सद्यस्य परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—असुरेन्द्र दो हैं—चमर और बलि । दक्षिण अर्धके अधिपति चमर और उत्तर अर्धके अधिपति बलि हैं । इनकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे एक सागर और एक सागरसे कुछ अधिक है ।

भावार्थ—सागरका प्रमाण पहले बता चुके हैं, तदनुसार चमरेन्द्रोंकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरकी है, और उत्तरार्धाधिपति बलिराजकी उत्कृष्ट स्थिति एक सागरसे कुछ अधिक है । यहाँपर भावनेन्द्रोंकी उत्कृष्ट स्थिति सामान्यसे बताई है । विशेष कथन “व्याख्याततो विशेषप्रतिपत्ति” इस वाक्यके अनुसार आगमसे समझ लेना चाहिये । यथा—असुरकुमारियोंकी उत्कृष्ट स्थिति साठे चार पत्थकी है । बाकी नागकुमारी प्रभृति सम्पूर्ण भवनवासिनियोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ कम एक पत्थकी है । इत्यादि ।

इस प्रकार भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन किया । अब जघन्य स्थितिका वर्णन करना चाहिये और उसके बाद क्रमानुसार व्यन्तर और ज्योतिष्कोंकी स्थितिका वर्णन करना चाहिये । परन्तु ऐसा करनेमें गौरव होता है, अतएव ग्रन्थलाघवके लिये इस विषयको आगेके लिये छोड़कर पहले वैमानिक निकायकी स्थितिका वर्णन करनेके लिये प्रस्तावरूप सूत्रको कहते हैं—

सूत्र—सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥ ३३ ॥

भाष्यम्—सौधर्ममादि कृत्वा यथाक्रममित ऊर्ध्वं परा स्थितिर्वक्ष्यते ।

अर्थ—अब यहाँसे आगे वैमानिक देवोंकी—सौधर्म कल्पसे लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान-तकके सभी देवोंकी आयुकी उत्कृष्ट स्थिति क्रमसे बतावेंगे । अर्थात्—इस सूत्रके द्वारा केवल इस बातकी प्रस्तावना की है, कि अब वैमानिकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन किया जायगा ।

अब प्रतिज्ञानुसार वैमानिकोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतानेके लिये सबसे पहले सौधर्म और ऐशान आदि कल्पवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—सागरोपमे ॥ ३४ ॥

भाष्यम्—सौधर्मे कल्पे देवानां परा स्थितिर्द्वै सागरोपमे इति ।

अर्थ—सबसे पहले सौधर्म कल्पमें देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दो सागर प्रमाण है ।

भावार्थ—यह उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र अथवा सामानिक देवोंकी अपेक्षासे समझनी चाहिये । शेष सामान्य दूसरे देवोंकी स्थिति जघन्य स्थितिसे लेकर उत्कृष्टके मध्यमें अनेक भेदरूप है ।

अत्र ऐशान कल्पवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्र—अधिके च ॥ ३५ ॥

भाष्यम्—ऐशाने द्वे सागरोपमे अधिके परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—ऐशान कल्पवासी देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दो सागर प्रमाण है, और कुछ अधिक है।

भावार्थ—यह भी इन्द्र और सामानिकोंकी अपेक्षासे ही समझनी चाहिये। तथा इस सूत्रमें यद्यपि ऐशान कल्पका नाम नहीं लिया है, फिर भी यथासङ्ख्य—क्रमसे ऐशानका ही बोध होता है। क्योंकि पहले प्रस्तावनारूप सूत्रमें यथाक्रम शब्दका उल्लेख किया है। अन्यथा पहले सूत्रमें सौधर्म कल्पका सम्बन्ध भी नहीं लिया जा सकता।

क्रमानुसार सनत्कुमार कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्र—सप्त सनत्कुमारे ॥ ३६ ॥

भाष्यम्—सनत्कुमारे कल्पे सप्त सागरोपमाणि परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—सनत्कुमार कल्पमें रहनेवाले देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरकी है। यह भी स्थिति इन्द्रादिकोंकी है।

माहेन्द्र कल्पसे लेकर अच्युत पर्यन्त कल्पोंके देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदशपञ्चदशभिरधिकानि च ॥३७॥

भाष्यम्—एभिर्विशेषादिभिरधिकानि सप्त माहेन्द्रादिषु परा स्थितिर्भवति। सप्तैति वर्तते। तद्यथा—माहेन्द्रे सप्त विशेषाधिकानि। ब्रह्मलोकत्रिभिरधिकानि सप्त वृशेत्यर्थः। लान्तके सप्तभिरधिकानि सप्त चतुर्दशेत्यर्थः। महाशुके दशभिराधिकानि सप्त सप्तदशेत्यर्थः। सहस्रारे एकादशभिरधिकानि सप्त अष्टादशेत्यर्थः। आनतप्राणतयोस्त्रयोदशभिरधिकानि सप्त विंशतिरित्यर्थः। आरणाच्युतयो पञ्चदशभिरधिकानि सप्त द्वाविंशतिरित्यर्थः ॥

अर्थ—पूर्व सूत्रसे इस सूत्रमें सप्त शब्दकी अनुवृत्ति आती है। अतएव इस सूत्रका अर्थ यह होता है, कि माहेन्द्र आदि कल्पवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति इस सूत्रमें बताये गये विशेषादिकोंसे अधिक सात सागर प्रमाण क्रमसे समझनी चाहिये। अर्थात्—माहेन्द्र कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरसे कुछ अधिक है। ब्रह्मलोकवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन अधिक सात सागर अर्थात् दश सागर प्रमाण है। लान्तक विमानवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरसे अधिक सात सागर अर्थात् चौदह सागर प्रमाण है। महाशुक विमानवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति दश सागरसे अधिक सात सागर अर्थात् सत्रह सागर प्रमाण है। सहस्रार कल्पवर्ती देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति ग्यारह सागरसे अधिक सातसागर अर्थात् अठारह सागर प्रमाण है। आनत और प्राणत कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तेरह सागरसे

अधिक सात सागर अर्थात् बीस सागर प्रमाण है । आरण और अच्युत कल्पके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति पद्म सागरमे अधिक सात सागर अर्थात् बाईस सागर प्रमाण है । यहाँपर आनत और प्राणत कल्पकी पृथक् पृथक् स्थिति न बताकर इकट्ठी बताई है । इसी प्रकार आरण और अच्युतकी भी इकट्ठी ही बताई है । इसका कारण यह है, कि ये दो दो कल्प एक एक इन्द्रके द्वारा भोग्य हैं ।

कल्पातीत देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैं -

सूत्र—आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ ३८ ॥

भाष्यम्—आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेनाधिका स्थितिर्भवति नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च । आरणाच्युते द्वाविंशतिर्ग्रैवेयकेषु पृथगेकैकेनाधिका त्रयोविंशतिरित्यर्थः । एवमेकैकेनाधिका संवेषु नवसु यावत्सर्वेषामुपरि नवमे एकत्रिंशत् । सा विजयादिषु चतुर्ष्वप्येकेनाधिका द्वात्रिंशत् । साप्येकेनाधिकां सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशदिति ॥

अर्थ—आरण और अच्युत कल्पके ऊपर नव ग्रैवेयक और विजयादिक चार तथा सर्वार्थसिद्ध इनमें क्रमसे एक एक सागर अधिकाधिक उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण समझना । आरण अच्युत कल्पमें बाईस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है, यह बात ऊपरके सूत्रकी न्यास्यामें बता चुके हैं । इसके ऊपर नव ग्रैवेयकोंमें पृथक् पृथक्—एक एक ग्रैवेयकोंमें एक एक सागर अधिक अधिक होनेसे उन उन ग्रैवेयकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण होता है । अर्थात् पहले ग्रैवेयकी तीस सागर, दूसरे ग्रैवेयककी चौबीस सागर, तीसरे ग्रैवेयककी पच्चीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है । इसी प्रकार अन्तिम ग्रैवेयक तक एक एक सागरका प्रमाण बढ़ता गया है । अन्तिम—नवमें ग्रैवेयकी उत्कृष्ट स्थिति इकतीस सागरकी है । ग्रैवेयकोंके ऊपर चारों विजयादिकोंमें एक ही सागरकी वृद्धि है । अर्थात् विजय वैजयन्त जयन्त और अपराचित इन चारों ही विमानवाले देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति बत्तीस सागरकी है । इसके ऊपर सर्वार्थसिद्धमें एक सागर और बढ़ जाती है । अर्थात् सर्वार्थसिद्ध विमानके देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी है ।

१—साप्येकेनाधिका त्वजघन्योत्कृष्टा इति पाठान्तरम् साधीय । २—सर्वार्थसिद्धके देवोंकी ३३ सागरकी स्थिति अजघन्योत्कृष्ट है, यह बात आगे चलकर लिखी है, तथा आगमका नियम भी ऐसा ही है । परन्तु यहाँ भाष्यकारके लेखसे यह बात प्रकट नहीं होती । एक एक सागरकी क्रमसे वृद्धि बतानेसे सर्वार्थसिद्धके देवोंकी ३३ सागर उत्कृष्ट स्थिति सिद्ध होता है, और आगे बताये हुए “परत परत पूवापूवाऽनन्तरा” सूत्रके द्वारा सर्वार्थसिद्धमें अजघन्य ३२ सागरकी स्थिति सिद्ध होती है । उस सूत्रकी भाष्यके साथ “अजघन्योत्कृष्टासर्वार्थसिद्ध इति” ऐसा जो पाठ है, वह कांक्ष्य है । वह पाठ भाष्यकारके

भावार्थ — सर्वार्थसिद्धके देवोंकी स्थितिमें यह विशेषता समझनी चाहिये, कि वहाँपर जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद नहीं है। एक ही भेद है, जिसका कि प्रमाण तेतीस सागर है। अर्थात् सर्वार्थसिद्धमें जिनने भी देव होते हैं, सबकी आयुकी स्थिति तेतीस सागर ही हुआ करती है।

भाष्यम्—अत्राह—मनुष्यतिर्यग्यानिजाना परापरे स्थिती व्याख्याते। अथौपपातिकानां किमेकैव स्थितिः परापरे न विद्येते इति। अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पहले मनुष्य और तिर्यग्योंकी जो स्थिति बताई है, वह दो प्रकारकी बताई है—उत्कृष्ट और जघन्य। यहाँपर औपपातिक जन्मवालोंकी जो स्थिति बताई है, वह एक ही प्रकारकी है—एक उत्कृष्ट भेदरूप ही है। उसमें उत्कृष्ट और जघन्य ऐसे दो भेद नहीं हैं। सो क्या वह एक ही प्रकारकी है—उसमें जघन्योत्कृष्ट भेद है ही नहीं? या और ही कुछ बात है? इसके उत्तरमें आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—अपरा पल्योपममधिकं च ॥ ३९ ॥

भाष्यम्—सौधर्मादिष्वेव यथाक्रममपरा स्थिति पल्योपममधिकं च। अपरा जघन्या निकृष्टेत्यर्थः। परा प्रकृष्टा उत्कृष्टेत्यनर्थान्तरम्। तत्र सौधर्मोऽपरा स्थिति पल्योपममैशाने पल्योपममधिकं च।

अर्थ—अब जघन्य स्थितिका वर्णन करते हैं। वह भी क्रमसे सौधर्मादिकके विषयमें ही समझनी चाहिये। सौधर्म और ऐशानमें जघन्य स्थिति क्रमसे एक पल्य और एक पल्यसे कुछ अधिक है। अर्थात् सौधर्म कल्पमें जघन्य स्थितिका प्रमाण एक पल्य है, और ऐशान कल्पमें एक पल्यसे कुछ अधिक है। अपर जघन्य और निकृष्ट शब्दोंका एक ही अर्थ है। तथा पर प्रकृष्ट और उत्कृष्ट शब्दोंका एक अर्थ है।

सूत्र—सागरोपमे ॥ ४० ॥

भाष्यम्—सानत्कुमारेऽपरा स्थितिर्द्वै सागरोपमे ॥

अर्थ—सानत्कुमार कल्पमें रहने वाले देवोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण दो सागरोपम है।

सूत्र—अधिके च ॥ ४१ ॥

भाष्यम्—माहेन्द्रे जघन्या स्थितिरधिके द्वे सागरोपमे ॥

अर्थ—माहेन्द्रकल्पवर्ती देवोंकी जघन्यस्थितिका प्रमाण दो सागरोपमसे कुछ अधिक है।

१—स्थिति शब्द खीलिक है। अतएव उसके विशेषणरूपमें जानेपर ये शब्द भी खीलिक हो जाते हैं। जैसा कि अपरा जघन्या आदि भूलमें पाठ दिया गया है।

यहाँसे आगे जगन्म स्थितिका क्या हिसाब है, सो बताते हैं—

सूत्र-परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥ ४२ ॥

भाष्यम्—माहेन्द्रात्परत पूर्वा परा (पूर्वा) ऽनन्तरा जघन्या स्थितिर्भवति । तद्यथा-
माहेन्द्रे परा स्थितिर्विशेषाधिकानि सप्त सागरोपमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्या स्थितिर्भवति,
ब्रह्मलोके दश सागरोपमाणि परा स्थिति सा लान्तके जघन्या । एवमा सर्वार्थसिद्धादिति ।
(विजयादिपुचतुर्षु परा स्थितिस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि साऽजघन्योत्कृष्टा सर्वार्थसिद्ध इति)

अर्थ—माहेन्द्र कल्पसे आगेके कल्पोंमें जघन्य स्थितिका प्रमाण इस प्रकार है, कि पहले कल्पकी जो उत्कृष्ट स्थिति होती है, वही आगेके कल्पकी जघन्य स्थितिका प्रमाण हो जाता है । जैसे कि—माहेन्द्र कल्पमें उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण सात सागरसे कुछ अधिक है, वही आगेके कल्प—ब्रह्मलोकमें जघन्य स्थितिका प्रमाण है । इसी प्रकार ब्रह्मलोकमें उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण जो दश सागरोपम है, वही आगेके कल्प—अन्तकमें जघन्य स्थितिका प्रमाण हो जाता है । इसी तरह आगेके सम्पूर्ण कल्पोंमें सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त यही क्रम समझना चाहिये (विजयादिक चार विमानोंमें उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण तेतीस सागर हैं, वही आगेके विमान सर्वार्थसिद्धमें जघन्य स्थितिका प्रमाण है । किन्तु सर्वार्थसिद्ध विमानकी स्थितिमें जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है । वहाँ तेतीस सागरकी ही स्थिति है ।)

उपपात जन्मवालोंकी जघन्य स्थितिके विषयमें प्रश्न करते हुए पूछा था, कि इनकी स्थिति एक उत्कृष्ट भेदरूप ही है या क्या ? उपपात जन्म नारक—जीवोंका भी है, और उनकी भी उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन पहले कर चुके हैं, किन्तु अभीतक जघन्य स्थितिका वर्णन नहीं किया है, अतएव उनके विषयमें भी यही प्रश्न है । परन्तु यहाँपर देवोंकी ही जगन्म स्थितिका अभीतक उल्लेख किया है । इसलिये यहाँपर नारकजीवों की भी जगन्म स्थिति बताना आवश्यक है । इसके सिवाय अन्यत्र उसके वर्णन करनेमें ग्रन्थ—गौरव और यहाँपर वर्णन करनेमें ग्रन्थका लाजब होता है । क्योंकि उपर्युक्त सूत्रमें बताया हुआ ही क्रम नारक—जीवोंकी जघन्य स्थितिके विषयमें है । अतएव अप्रकृत भी नारक—जीवोंकी जघन्य स्थितिको बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

१—इस सूत्रमें बताया हुए निम्नमें अनुसार विजयादिकमें जघन्य ३१ सागर और उत्कृष्ट ३२ सागर स्थिति सिद्ध होती है । परन्तु यहाँ कांसर्य पाठमें ३३ सागर नियम तरह बताई, सो समझमें नहीं आता । दूसरी बात यह है, कि यह पाठ भाष्यकारका मालूम भी नहीं होता । भाष्यकारको सर्वार्थसिद्धमें जघन्य ३२ सागरकी स्थिति इष्ट है, एवमा मालूम होता है । जैसा कि टीकाकारने भा लिखा है कि—‘भाष्यकारेण तु सर्वार्थसिद्धेऽपि जघन्या द्वात्रिंशत् सागरोपमाप्यधीता तत्र विद्वा केनाभिप्रायेण । आगमस्तावदय—’सर्व्यसिद्धदेवाण भते । केवतिय काल ठेई पण्णा १ गोयमा । अजहण्णुकेसेण तित्तिस्स सागरोपमाइ ठेई पण्णा । (५३० पं ४ सूत्र १०२) । सूत्र ३८ के भाष्यमें दिये हुए अजघन्योत्कृष्ट पाठसे टीकाकारका ममाना हो सकता है, परन्तु वह पाठ कहीं मिलता है, और कहीं नहीं । सम्भव है कि उन्हें यह पाठ न मिला हो, अथवा इसको उन्होंने प्रथम—त्रेपक समझा हो ।

सूत्र—नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ४३ ॥

भाष्यम्—नारकाणां च द्वितीयादिषु भूमिषु पूर्वा पूर्वा परा स्थितिरनन्तरा परत परतोऽपरा भवति । तद्यथा—रत्नप्रभाया नारकाणामेक सागरोपम परा स्थिति । सा जघन्या शर्कराप्रभायाम् । त्रीणि सागरोपमाणि परारिथति शर्कराप्रभाया सा जघन्या बालुका प्रभायामिति । एव सर्वासु । तम प्रभाया द्वाविंशति सागरोपमाणि परा स्थिति सा जघन्या महातम-प्रभायामिति ॥

अर्थ—नारक-भूमियोंमें भी नारक जीवोंकी जघन्य स्थितिका क्रम वही है, जो कि पूरे सूत्रमें देवोंके विषयमें बताया है । अर्थात् पहली पहली भूमिमें नारक-जीवोंकी जो अव्यवहित परा-उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण है, वही आगे आगेकी अन्यवहित भूमिमें जघन्य स्थितिका प्रमाण हो जाता है । यह क्रम द्वितीयादिक भूमियोंमें रहनेवाले नारकोंके विषयमें ही है । जैसे कि पहली भूमि-रत्नप्रभामें नारकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक सागरोपम है, वही आगेकी अव्यवहित दूसरी भूमि-शर्कराप्रभाके नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण है । शर्कराप्रभामें नारकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण तीन सागर है, वही आगेकी अन्यवहित तीसरी भूमि बालुकाप्रभामें नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण है । यही क्रम अन्ततक-सातवीं भूमितक सभी भूमियोंके विषयमें समझना चाहिये । इस क्रमके ही अनुसार छठी भूमिमें जो उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बाईस सागरोपम है, वही छठेसे अन्यवहित आगेकी-सातवीं भूमिके नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण समझना चाहिये ।

भावार्थ—इस स्थितिके विषयमें यह बात विशेषरूपसे जाननेकी है, कि सातवीं भूमिमें पाँच बिल-नरक हैं, जिनमेंसे चार चारों दिशाओंमें हैं, और एक चारोंके मध्यमें है, जिसको अप्रतिष्ठान नरक कहते हैं । चार दिशाओंके जो चार बिल हैं, उनमें जघन्य ३२ सागर और उत्कृष्ट ३३ सागर प्रमाण स्थिति है । किन्तु मध्यके अप्रतिष्ठान नरकमें जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है । वहाँपर उत्पन्न होनेवाले या रहनेवाले नारकोंकी अजघन्योत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरकी ही है ।

इस सूत्रमें द्वितीयादिक भूमियोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण बताया है, किन्तु पहली भूमिकी जघन्य स्थितिका प्रमाण अज्ञात ही रह जाता है, अतएव उसको भी बतानेके लिये सूत्र करते हैं —

सूत्र—दश वर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ४४ ॥

भाष्यम्—प्रथमाया भूमौ नारकाणां दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थिति ।

अर्थ—पहली भूमि-रत्नप्रभामें उपपन्न नारकोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण दश हजार वर्षका है ।

स्थितिके प्रकरणको पाकर भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्कोंकी स्थितिका भी वर्णन करना चाहते हैं। किन्तु भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थिति पहले बता चुके हैं, जघन्य स्थिति अभीतक नहीं बताई है, अतएव उसीका प्रमाण बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—भवनेषु च ॥ ४५ ॥

भाष्यम्—भवनवासिना च दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिरिति ॥

अर्थ—भवनवासी देवोंकी भी जघन्य स्थितिका प्रमाण दश हजार (१००००) वर्षका है ।

क्रमानुसार व्यन्तर देवोंकी भी जघन्य स्थितिका प्रमाण बताते हैं—

सूत्र—व्यन्तराणां च ॥ ४६ ॥

भाष्यम्—व्यन्तराणां च देवानां दश वर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिरिति ।

अर्थ—व्यन्तर देवोंकी भी जघन्य स्थितिका प्रमाण दश हजार वर्षका ही है ।

व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति अभीतक नहीं बताई है, अतएव उसको भी यहाँपर बताते हैं—

सूत्र—परा पल्योपमम् ॥ ४७ ॥

भाष्यम्—व्यन्तराणां परा स्थिति पल्योपम भवति ॥

अर्थ—व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्योपम है ।

क्रमानुसार ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति बताते हैं—

सूत्र—ज्योतिष्काणामधिकम् ॥ ४८ ॥

भाष्यम्—ज्योतिष्काणां देवानामधिक पल्योपम परा स्थितिर्भवति ।

अर्थ—ज्योतिष्क निकायके देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्यसे कुछ अधिक है। अधिकता प्रमाण इस प्रकार है—चन्द्रमाका एक लाख वर्ष अधिक, और सूर्यका एक हजार वर्ष अधिक। ज्योतिष्क देवियोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण आधा पल्य और पचास हजार वर्ष है ।

इस सूत्रमें बताया है ज्योतिष्कोंके सिवाय ग्रहादिकोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण बताते हैं—

सूत्र—ग्रहाणामेकम् ॥ ४९ ॥

भाष्यम्—ग्रहाणामेकम् पल्योपम स्थितिर्भवति ।

अर्थ—ग्रहोंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पल्योपम है ।

सूत्र—नक्षत्राणामर्धम् ॥ ५० ॥

भाष्यम्—नक्षत्राणां देवानां पत्न्योपमार्धं परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—भस्विनी भरणी आदि नक्षत्र जातिके ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति आधा पत्यु प्रमाण है ।

सूत्र—तारकाणां चतुर्भागः ॥ ५१ ॥

भाष्यम्—तारकाणां च पत्न्योपमचतुर्भागं परा स्थितिर्भवति ॥

अर्थ—प्रकीर्णक ताराओंकी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण एक पत्युका चतुर्थ भाग है ।

ताराओंकी जघन्य स्थिति बताते हैं—

सूत्र—जघन्या त्वष्टभागः ॥ ५२ ॥

भाष्यम्—तारकाणां तु जघन्या स्थिति पत्न्योपमाष्टभागः ॥

अर्थ—ताराओंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण एक पत्युका आठवाँ भाग मात्र है ।

सूत्र—चतुर्भागः शेषाणाम् ॥ ५३ ॥

भाष्यम्—तारकाभ्यः शेषाणां ज्योतिष्काणां चतुर्भागं पत्न्योपमस्यापरा स्थितिरिति ॥

इति श्रीतत्त्वार्थसमूहे अर्हत्प्रवचने देवगतिप्रदर्शनी नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

अर्थ—ताराओंसे शेष जो ज्योतिष्क देव हैं, उनकी अपरा—जघन्या स्थिति पत्युका एक चतुर्थ भाग है ॥

इस प्रकार तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमें देवगतिका जिसमें वर्णन किया गया है

वेसा चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ॥

पञ्चमोऽध्यायः ।



तत्त्वोक्त नामनिर्देश करते समय ग्रन्थि आदिमें सात तत्त्व गिनाये थे, उनमें सबसे पहला जीव तत्त्व था । गत चार अध्यायोंमें निर्देश स्वामिन्वादि अनुयोगोंके द्वारा तथा लक्षण विधानादिके द्वारा उसका वर्णन किया । अब उसके अनन्तर क्रमानुसार अजीव तत्त्वका वर्णन होना चाहिये । अतएव इस अध्यायमें उसीका वर्णन करेंगे । इसी आशयसे भाष्यकार प्रकट करते हैं—

भाष्यम्—उक्ता जीवाः, अजीवान् दक्ष्याम ।

अर्थ—जीव तत्त्वका वर्णन गत चार अध्यायोंमें किया जा चुका है । अब उसके अनन्तर यहाँपर अजीव तत्त्वका वर्णन करेंगे ।

भाष्यार्थ—जो तीनों कालमें द्रव्य प्राण और भाव प्राणोंको धारण करता है, उसको जीव कहते हैं^१ । उसके चार गतियोंकी अपेक्षासे चार भेद हैं^२ । उसका लक्षण दोनों प्रकारका साकार और अनाकार उपयोग है । इत्यादि विषयोंकी अपेक्षा जीव तत्त्वका वर्णन सामान्यतया पूर्ण हुआ । उसके अनन्तर निर्दिष्ट अजीव तत्त्व है । कालको साथ लेकर गिननेसे अजीव द्रव्यके पाँच भेद होते हैं । इनके विषयमें की गई प्रतिज्ञाके अनुसार इन अजीव द्रव्योंके वर्णनका अवसर प्राप्त है । उनमेंसे एक काल द्रव्यको छोड़ कर शेष चार धर्मादिक द्रव्योंके स्वरूप और भेदोंको बतानेके लिये सूत्र करते हैं ।—

सूत्र—अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥ १ ॥

भाष्यम्—धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय इत्यजीव काया । तान् लक्षणत परस्ताद्दक्ष्याम । कायग्रहण प्रवेशवयवचहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च ॥

अर्थ—धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये अजीव काय हैं । इनका लक्षण आगे चलकर लिखेंगे । यहाँपर काय शब्दका ग्रहण जो किया है, सो प्रदेश और अवयवोंका बहुत्व दिखानेके लिये, अथवा अद्वारूप समयका निषेध दिखानेके लिये है ।

भाष्यार्थ—अजीव द्रव्य पाँच है—धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और काल । पाँचों ही द्रव्य अस्तिरूप-सत् है । अतएव उनके साथ अस्ति शब्दका प्रयोग किया जाता है । दूसरी बात

१—जीवति जीवियति अजीवीत् इति जीव । द्रव्य प्राण १० हैं—५ इन्द्रिय ३ योग १ आयु १ श्वासोद्वास । भाव प्राण चेतनारूप है, सत्तारी जीवने दोनों ही प्राण पाये जाते हैं । सिद्धोंके एक भावप्राण ही रहता है । २—नारदी तिर्यच मनुष्य और देव । ३—जीवके अनन्तर अजीव द्रव्यका और उसमें धर्मादिक ४ का काल द्रव्यने साथ साथ वर्णन आगे करेंगे, ऐसी आचार्यने प्रथम प्रतिज्ञा की थी, तदनुसार । ४—यद् अस्ति मिया-अग् धातुके लट् लकारका प्रयोग नहीं है, किन्तु अभ्यय है ।

यह है, कि धर्मादिक चार द्रव्योंके प्रदेश बहुत हैं, और काल द्रव्यमे यह बात नहीं है, वह एक प्रदेशी ही है, अतएव काय शब्दके द्वारा उसका भेद दिखाया है, यहाँपर काय शब्दका अर्थ प्रदेश और अयवोंका बहुत्व विवक्षित है। अतएव धर्मादिक चार द्रव्योंमें यह अर्थ घटित होता है, और काल द्रव्यमें घटित नहीं होता, इस बातको दिखानेके लिये ही काय शब्दका प्रयोग किया है।

धर्मादिक पाँचो ही द्रव्य अजीव भी हैं। क्योंकि उनमें जीवत्व—चैतन्य नहीं पाया जाता। जीवसे सर्वथा विरुद्ध अथवा जीवका सर्वथा अभाव ऐसा अजीव शब्दका अर्थ यहाँपर अभीष्ट नहीं है, किन्तु ये द्रव्य जीवरूप नहीं है, इतना ही अर्थ अभीष्ट है।

इस कथनसे धर्मादिक चार द्रव्योंमें अजीवत्व और कायत्व दोनों ही धर्म पाये जाते हैं, अतएव उनके लिये अजीव काय शब्दका प्रयोग किया है, क्योंकि ये अजीव भी है, और काय भी है। अर्थात् अजीव काय शब्दमें कर्मधारय समास माना है^१। कर्मधारय समास जिन पदोंमें हुआ करता है, उनकी वृत्ति परस्पर एक दूसरेको छोड़कर भी रहा करती है। जैसे कि “नीलोत्पल”। नील और उत्पल शब्दका कर्मधारय समास है, अतएव इन दोनों शब्दोंकी परस्परमें एक दूसरेको छोड़कर भी वृत्ति पाई जाती है। नीलको छोड़कर उत्पल शब्द रक्तोत्पल आदिमें भी रहता है, और उत्पल शब्दको छोड़कर नील शब्द वस्त्रादिकके साथ भी पाया जाता है। इसी प्रकार अजीव काय शब्दके विषयमें समझना चाहिये। अजीव शब्दको छोड़कर काय शब्दकी वृत्ति जीवमें पाई जाती है^२, और कायको छोड़कर अजीव शब्दकी वृत्ति काल द्रव्यमें भी पाई जाती है।

धर्म और अधर्म शब्दसे पुण्य पापको अथवा वैशेषिकादिकोंके माने हुए गुण विशेषको

१—काय शब्दकी निरुक्ति इस प्रकार है—चीयते इति काय । काय शब्दसे शरीरावयवौना ग्रहण होता है, उसीके उपमा सादृश्यकी अपेक्षासे जिसमें बहुतमे अवयव या प्रदेश पाये जाते हैं, उनमें भी काय शब्दके द्वारा ही कह दिया जाता है, अतएव धर्मादिक और पुत्रके साथ काय शब्दका प्रयोग किया गया है।

२—प्रतिषेध दो प्रसारका हुआ करता है—प्रसज्य और पर्युदास। इनका लक्षण इस प्रकार है—“प्रतिषेधो ऽर्थनिवृत्ति, एव क्षान्ध विधे पर । तद्दानस्वपदोक्तश्च पर्युदासोऽन्यथेत ॥” अर्थात् जिसमें सर्वथा निषेध पाया जाय, उसको प्रसज्य और जिसमें मद्दश मद्दार्थका ग्रहण हो, उसको पर्युदास कहते हैं। अस्तित्वादि गुणोंकी अपेक्षा जीव द्रव्य और धर्मादिक अजीव द्रव्योंमें सादृश्य पाया जाता है।

कोई कोई कहते हैं, कि जीवनामधर्मके उदयसे प्राणोंका धारण हुआ करता है। यहाँपर अजीव शब्दसे उस जीवनाम कर्मका ही निषेध अभीष्ट है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि आगममें कोई भी जीवनामकर्म नहीं माना है। इसके सिवाय एक दोष यह भी आनेगा, कि यदि जिनके जीवनामधर्मका उदय नहीं है, वे अजीव है, ऐसा अर्थ माना जाय, तो मिद्ध भी अजीव ठहरेंगे

३—अजीवाश्च ते कायान्च । ४—राहो शिर शिलापुत्ररुस्य शरीरम्, की तरह अमेदमें पछी माननेसे पछी तत्पुत्र समाप्त भी हो सक्ता है। यथा—अजीवाना काया अजीवमया इति । ५—युप्रदेशी होनेसे जीव काय तो है, और इसी लिये पचास्तिकाममें बह परिगणित है, परन्तु अजीव नहीं है, और काल द्रव्य काय, नहीं है, अजीव है।

नहीं समझना चाहिये । किन्तु ये स्वतन्त्र द्रव्य है, जैसा कि आगेके सूत्रमें बताया जायगा । पुण्य पाप तो कर्मके भेद हैं, जिनका कि पुद्गल द्रव्यके भेदोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

धर्मादिक चारोंही द्रव्यता सूत्र द्वारा अभीतक अनुक्त है, अतएव इनके विषयमें सन्देह ही रह सकता है, कि ये द्रव्य हैं, अथवा पर्याय हैं । अतएव इस सन्देहकी निवृत्तिके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—द्रव्याणि जीवाश्च ॥ २ ॥

भाष्यम्—एते धर्माद्व्यश्चत्वारो जीवाश्च पञ्च द्रव्याणि च भवन्तीति । उक्तं हि “मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु, सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ” इति ॥

अर्थ—उपर्युक्त सूत्रमें बताये हुए धर्मादिक चार और अनन्तर चार अध्यायोंमें जिनका वर्णन किया गया है, वे जीव द्रव्य हैं । अर्थात् पाँचोंकी ही द्रव्य सज्ञा है । जैसा कि पहले अध्यायके सूत्र “मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ” और “सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य ” में द्रव्य शब्दका प्रयोग किया गया है ।

भावार्थ—द्रव्यका लक्षण आगे चलकर इसी अध्यायके सूत्र ३१ द्वारा बतावेंगे । वैशेषिकादि मतवालोंका कहना है, कि द्रव्य शब्दसे द्रव्यत्व जातिना ग्रहण हुआ करता है । जाति यह सामान्य नामका एक पदार्थ है, अतएव द्रव्यत्व भी एक सामान्य पदार्थ ही है । और इस द्रव्यत्व सामान्यके सम्बन्धसे ही द्रव्य कहा जाता है । परन्तु यह अभिमत ठीक नहीं है । क्योंकि सामान्य नामका पदार्थ पदार्थसे या द्रव्यसे भिन्न है, या अभिन्न है ? इनमेंसे किसी भी एक पक्षके लेनेपर सामान्य नामका कोई स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध नहीं होता, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट करेंगे ।

इस सूत्रमें जो पाँच द्रव्य गिनाये हैं, उनके विषयमें तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं ।—ये कभी भी अपने स्वभावसे च्युत होते हैं या नहीं ? पाँच यह सस्या कभी विपटित होती हैं या नहीं ? और ये पाँचों ही द्रव्य मूर्त हैं अथवा अमूर्त ? इन तीनों ही प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये सूत्र करते हैं ।

सूत्र—नित्यावस्थितान्यरूपाणि च ॥ ३ ॥

भाष्यम्—एतानि द्रव्याणि नित्यानि भवन्ति । तद्भावाव्ययं नित्यमिति । वक्ष्यते अत्र स्थितानि च । न हि कदाचित्पञ्चत्व भूतार्थत्व च व्यभिचरन्ति । अरूपाणि च, नैषा रूपमस्तीति । रूप मूर्तिमूर्त्याश्रयाश्च स्पर्शाद्वय इति ॥

अर्थ—ये पूर्वोक्त सूत्र द्वारा बताये हुए द्रव्य नित्य हैं, अवस्थित हैं, और अरूप हैं । नित्य शब्दका अभिप्राय आगे चलकर “तद्भावाव्ययम् नित्यम् ” इस सूत्रके द्वारा बतावेंगे, अर्थात् वस्तुका जो भाव-स्वभाव है, उसके व्यय न होनेको नित्य कहते हैं । अतएव धर्मादिक

चार और जीव इनमेंसे कोई भी द्रव्य ऐसा नहीं है, कि जो अपने स्वरूपको छोड़ देता हो। धर्म द्रव्य अधर्मादिकरूप नहीं हो सकता, अधर्म द्रव्य धर्मादिकरूप नहीं हो सकता, इसी तरह आकाश शेष धर्मादिकरूप नहीं हो सकता, न पुद्गल शेष द्रव्यरूप हो सकता है, और न जीवद्रव्य ही शेष द्रव्यरूप हो सकता है। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने स्वरूपको कायम रखता है—कोई भी द्रव्य कभी भी सर्वथा नष्ट नहीं होता, अतएव इस कथनसे पहले प्रश्नका उत्तर हो जाता है।

द्रव्यास्तिक नयको प्रधानतया लक्ष्यमें रखकर आचार्यने नित्य शब्दके द्वारा वस्तुके ध्रौव्य अशका प्रतिपादन किया है। अतएव एकान्तवादरूप नित्यत्व नहीं समझना चाहिये। द्रव्योंके समान उनके गुण भी नित्य हैं, वे भी सर्वथा नष्ट नहीं हुआ करते हैं। क्योंकि मुख्यतया द्रव्योंका और गौणतया द्रव्योंके आश्रित रहनेवाले गुणोंका अस्तित्व ध्रुव है।

दूसरे प्रश्नका उत्तर अवस्थित शब्दके द्वारा दिया है। अर्थात् द्रव्योंकी सख्या अवस्थित है। वह न कभी कम होती है और न अधिक। क्योंकि सभी द्रव्य अनादिनिघन है, और उनका परिणमन परस्परमें कभी भी एकका दूसरे रूप नहीं हुआ करता। सभी द्रव्य लोकमें अवस्थित रहकर परस्परमें सम्बन्ध रहते हैं। सम्बद्ध होनेपर भी कोई भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणत नहीं होता, और न दूसरे द्रव्यको अपने रूप ही परिणमाता है। अतएव अस्तिकार्योंकी पाँच सरया अवस्थित है।

तीसरे प्रश्नका उत्तर अरूप शब्दके द्वारा दिया है। यह विशेषण वास्तवमें धर्म अधर्म आकाश और जीव इन चारका ही है, पुद्गलका नहीं है। यही कारण है, कि अग्रिम सूत्रके द्वारा धर्मादिककी रूपवत्ताका निषेध किया जायगा। यहाँपर रूप शब्दका अर्थ मूर्ति है। रूप रस गन्ध स्पर्श इन गुणोंको और इन गुणोंसे युक्त द्रव्यको भी मूर्ति कहते हैं।

१—काल द्रव्यका आगे चलकर वर्णन करेंगे, अतएव उसका यहाँपर ग्रहण नहीं किया है। कालको सम्मिलित करनेसे छह द्रव्य होते हैं। उस अनेकासे छहो द्रव्योंके विषयमें यह नियम समझना चाहिये। —“नेधुवे त्यप्” (सिद्ध ० अ० ६ पा० २ सूत्र १७) इति निदानि ध्रुवाणीत्यर्थः।

३ कालको माथ गिननेसे छह द्रव्य हैं। कोई कोई नित्यावस्थित ऐसा एक ही शब्द रखकर और नित्य शब्दकी अवस्थितका विशेषण मानकर उसका अर्थ ऐसा करते हैं, कि जैसे किमीसे कहा जाय, कि यह मनुष्य नित्य प्रजालित है, उसका अर्थ यह होता है, कि यह प्रायः बोलता ही रहता है, इसी प्रकार नित्यावस्थित शब्दका भी यही अर्थ है, कि ये द्रव्य निय अवस्थित रहते हैं। अर्थात् नित्य शब्दका अर्थ आभीक्ष्ण्य है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। ऐसा माननेपर माध्यकी सगति नहीं होती।

४—रूपिण पुद्गल इस सूत्रके द्वारा। इसके अर्थकी निषेधपरता आगे मालूम होगी। बिना विधिके निषेध नहीं हो सकता, अतएव यहाँपर पाँचों ही द्रव्योंका अरूपाणि ऐसा विशेषण दिया है। कोई कोई अरूपीणि ऐसा पाठ करते हैं, और कोई कोई इन प्रत्यय न करके मत्वर्थीय मनुषु प्रत्ययसे मानते हैं।

५—“गुणा रूपादय पुंसि गुणि लिङ्गस्तु तद्वति।” कोई कोई यहाँपर रूप शब्दसे केवल रूप को ही लेते हैं, सो ठीक नहीं है, क्योंकि चारों गुणोंका ग्राहकत्व है। इनमेंसे कोई भी एक गुण शेष तीन गुणोंको छोड़कर नहीं रह सकता।

उपर्युक्त सूत्रमें नित्य असम्मित और अन्य ऐसे तीन विशेषण दिये हैं, ये सामान्यतः पाँचों ही विशेष्यरूप द्रव्योंके सिद्ध होते हैं । परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है, अतएव सामान्य विधिके अपवादरूप कथनको करनेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—रूपिणः पुद्गलाः ॥ ४ ॥

भाष्यम्—पुद्गला एव रूपिणो भवन्ति । रूपमपामस्त्येषु वास्तीति रूपिण ।

अर्थ—उक्त धर्मादिक पाँच द्रव्योंमेंसे एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है, कि जो रूपी है रूपी शब्दका अर्थ रूपमाला है । इस शब्दकी व्युत्पत्ति दो प्रकारसे बताई है—एक तो सम्बन्धकी अपेक्षासे दूसरी अधिहरणकी अपेक्षामें । सम्बन्धकी अपेक्षामें रूप और रूपवान्में कथचित् भेद दिखाया है, आर अधिहरणकी विराममें कथचित् इनमें अमेद है, ऐसा अभिप्राय प्रकृत किया है । क्योंकि जिनेन्द्रभगवान्के प्रत्यक्षित तत्त्वएकान्तात्मक नहीं अनेहान्तरूप हैं और इसी लिये कदाचित् सम्बन्ध अथवा अधिहरण दोनोंमेंसे किसी भी अपेक्षामें दोनों अर्थ भी सद्गत हो सकते हैं । क्योंकि भस्मादि गुण द्रव्यसे भिन्न न कभी हुए न हैं, और न होंगे, और इनका भेद-व्यवहार लोकमें प्रसिद्ध ही है, जैसे कि आमका पीला रंग, पीले आमका मीठा रस, मीठे आमकी सुगन्ध, सुगन्धित आमका रिस्र्ध स्पर्श इत्यादि ।

भाष्यार्थ—इस सूत्रके द्वारा दो अर्थ व्यक्त होते हैं । एक तो धर्मादिकके साथ साथ पुद्गल भी अरूपी सिद्ध होते थे, उसकी निवृत्ति, दूसरा अनन्त पुद्गलोंके साथ रूपित्वका नित्यतादात्म्य । पहला अर्थ करते समय रूपिण पुद्गला एव अर्थात् रूपी द्रव्य पुद्गल ही है, अन्य नहीं ऐसा अवधारणरूप अर्थ करना चाहिये । दूसरा अर्थ करते समय पुद्गला रूपिण एव अर्थात् सब पुद्गल रूपी ही है, ऐसा अवधारण करना चाहिये । क्योंकि वैशेषिकादि मत वालोंने रूपादि रहित भी पुद्गल माने हैं । उसके निराकरणके लिये ऐसा अवधारण आवश्यक है । वास्तवमें कोई भी पुद्गल ऐसा नहीं है, जो कि रूप रस गन्ध स्पर्श युक्त न हो, सर्वांगों चारों गुण पाये जाते हैं । यह दूसरी बात है, कि किन्हींमें कोई गुण व्यक्त हो, किसीमें अव्यक्त ।

१—उपर्युक्त क्षणे द्रव्य क्षण निर्गुण निष्प्रिय च तिष्ठति, ऐसा उनका सिद्धान्त है । तथा उन्होंने पृथामे चारों गुण, जलमें तीन गुण, अग्निमें दो गुण, और वायुमें एक ही गुण माना है । पृथिवी आदिके परमाणु भी भिन्न भिन्न ही माने हैं । २—जिनमें जो गुण दिखाई नहीं पन्ता, उसके अस्तित्वका ज्ञान अनुमान द्वारा उसमें हो जाता है । जैसे कि वायु रूपवान् स्पर्शरत्नात् घटादिवत् । अतएव प्रत्येक पुद्गलमें रूप रस गन्ध स्पर्श चारों ही गुण मानने चाहिये । ३—यदि यह बात नहीं मानी जायगी, और एक गुणवाली दो गुणवाली तीन गुणवाली द्रव्य भी यदि मानी जायगी, तो प्रत्यक्ष विरोध भी आवेगा । देखा जाता है, कि वायुसे जलही उत्पत्ति होती है, जलसे मोती आदि पृथ्वीकी और पृथ्वीसे धामिनी उत्पत्ति होता है । वायु आदिकमें जो गुण नहीं होंगे, वे जलविक कथद्रव्यमें कैसे आसक्त हैं ? क्योंकि यह सिद्धान्त है कि “ कारणगुणा कार्यगुणान्तरभते । ”

तथा पृथिवी जल अग्नि और वायुको भिन्न भिन्न द्रव्य और उनके परमाणुओंको सर्वथा भिन्न भिन्न जो बताया है, सो भी ठीक नहीं है । ये सब एक पुद्गल द्रव्यकी ही पर्याय हैं ।

इस सूत्रमें बहुवचनका प्रयोग जो किया है, सो बहुत्व सख्याको दिखानेके लिये है । क्योंकि मूलमें पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं, अणु और स्कन्ध । इनके भी उत्तरभेद अनेक हैं, जैसा कि आगेके कथनसे मालूम होगा । परन्तु कोई भी भेद ऐसा नहीं है, जो रूपादि युक्त न हो^१ । रूपादिके साथ पुद्गल द्रव्यका नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है ।

उक्त द्रव्योंकी और भी विशेषता दिखानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र-आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ५ ॥

भाष्यम्—आ आकाशाद् धर्मादीन्येकद्रव्याण्येव भवन्ति । पुद्गलजीवास्त्वनेकद्रव्याणि इति ॥

अर्थ—पूर्वोक्त सूत्रमें धर्मादिक द्रव्य जो गिनाये है, उनमेंसे धर्मसे लेकर आकाश पर्यन्त धर्म अधर्म और आकाश ये तीन जो द्रव्य हैं, वे एक एक हैं । बाकीके पुद्गल और जीव अनेक द्रव्य हैं ।

भावार्थ—वर्ष द्रव्य सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त होकर रहनेवाला एक है । जो लोककी बराबर असख्यातप्रदेशी होकर भी अखण्ड है । उसकी समान जातिका—गतिमें सहकारी दूसरा कोई भी द्रव्य नहीं है । इसी प्रकार अधर्म द्रव्य भी लोकप्रमाण असख्यातप्रदेशी एक ही है । वह भी लोकमें व्याप्त होकर रहनेवाला एक ही अखण्ड द्रव्य है । उसकी भी समान जातिका—स्थितिमें सहकारी और कोई दूसरा द्रव्य नहीं है । सामान्यसे आकाश एक अखण्ड अनन्त प्रदेशी है । विशेष अपेक्षासे उसके दो भेद हैं—लोककाकाश और अलोककाकाश । लोककाकाश असख्यप्रदेशी है, अलोककाकाश अनन्तप्रदेशी है । वास्तवमें ये दो भेद आकाशके उपचारसे हैं । आकाश एक अखण्ड द्रव्य ही है, और उसके समान भी अवगाहन देनेवाला दूसरा कोई द्रव्य नहीं है । इस प्रकार ये तीनों द्रव्य एक एक ही हैं । किंतु जीव और पुद्गल द्रव्यमें यह बात नहीं है । जीव भी अनन्त हैं, और पुद्गल भी अनन्त हैं, तथा प्रत्येक जीव और प्रत्येक पुद्गलकी सत्ता स्वतन्त्र और भिन्न भिन्न है ।

१—रूपादिगुणवत्ता अथवा घूर्ति (रूपादि चारों गुणोंके समूहको घूर्ति कहते हैं) यह पुद्गलका सामान्य लक्षण है । लक्षण अपने लक्ष्यको छोड़कर कभी नहीं रह सकता । अन्यथा वह लक्षण ही नहीं माना जा सकता । पुद्गलमें चारों गुणोंका अस्तित्व किस तरह सिद्ध होता है, सो पहले बता चुके हैं । २—यहाँपर अनन्तमें मतलब अक्षया नन्तता है, क्योंकि जीव पुद्गल आकाश फलके साथ आदि अक्षयानन्तरादिमें ही गिने गये हैं । अक्षयानन्तरा लक्षण इस प्रकार है—सत्यपि व्ययसद्भावे, नरीनपूद्गेरभाववचवचेत् । यस्य क्षयो न नियत, सोऽन्तो जिनमते भणित ॥ जैन सिद्धान्तमें अद्वैतादि मन तालोंकी तरह एक ही जीव या उसको विशु नहीं माना है, और न अणुत्व ही माना है ।

उक्त द्रव्योंकी और भी विशेषताको बतानेके लिये सूत्र करते हैं —

सूत्र—निष्क्रियाणि च ॥ ६ ॥

भाष्यम्—आ आकाशादेव धर्मादीनि निष्क्रियाणि भवन्ति । पुद्गलजीवास्तु क्रिया वन्त । क्रियेति गतिकर्मात् ॥

अर्थ—धर्मादिक—आकाशपर्यन्त तीनों ही द्रव्य निष्क्रिय हैं । किन्तु पुद्गल और जीव ये दोनों द्रव्य क्रियावान् है । यहाँपर क्रिया शब्दसे गति कर्मने लिया है ।

भावार्थ—क्रिया दो प्रकारकी हुआ करती है । एक तो परिणामलक्षणा दूसरी परिस्पन्दलक्षणा । अस्ति भवति आदि क्रियाएँ जोकि वस्तुके परिणमनमात्रको दिखाती हैं, उनको परिणामलक्षणा कहते हैं । जो एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रतक वस्तुको लेजानेमें अथवा उसका आकारान्तर बनानेमें कारण है, उसको परिस्पन्दलक्षणा क्रिया कहते हैं । यदि प्रकृतमें परिणामलक्षणा क्रिया ली जाय, तो धर्मादिक द्रव्योंके अभावका प्रसङ्ग आता है । क्योंकि कोई भी द्रव्य कूटस्थनित्य नहीं हो सकता । तदनुसार धर्मादिकमें भी कोई न कोई परिणमन पाया ही जाता है । अस्ति भवति गत्युपग्रह करोति आदि क्रियाओंका सभय व्यवहार धर्मादिकमें भी होता ही है । अतएव परिस्पन्दलक्षणा क्रियामा ही धर्मादिकमें निषेध समझना चाहिये । जीव और पुद्गल द्रव्य सक्रिय हैं, क्योंकि ये गतिमान् हैं, और इनके अनेक आकाररूप परिणमन होते हैं । धर्मादिक द्रव्योंका जो आकार है, वह अनादिनालसे है और अनन्तकाल तक वही रहेगा । अर्थात् जीव पुद्गलके समान धर्म अधर्म और आकाश द्रव्यका न तो आकारान्तर ही होता है, और न क्षेत्रान्तरमें गमन ही होता है ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भयता प्रवेशाययवहुत्व कायसङ्गामिति । तत् क एष धर्मादीना प्रवेशाययवनियम इति । अत्रोच्यते ।—सर्वेषां प्रवेशा सन्ति अन्यत्र परमाणो । अवयवास्तु स्कन्धानामेव । वक्ष्यते हि—“अणव” स्कन्धाश्च । सङ्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते ।

अर्थ—प्रश्न—आपने इसी अध्यायकी आदिमें काय सज्ञाके द्वारा प्रदेश और अवयवोंके बहुत्वको बताया है । अतएव इस विषयमें यह जाननेकी आवश्यकता है, कि धर्मादिक द्रव्योंके प्रदेश और अवयवोंके लिये नियम क्या ओर कैसा है ? उत्तर—एक परमाणुके सिवाय

१—अवगाहणादो नणु गुणतओ चैव पक्षधम्मव्व । उप्पादादिसभावा तह जीवगुणाणि का दोसो ॥ अवगाटार च विणा कतोऽवगाहोति तेण सज्जेगो । उप्पत्ती सोऽवस्स गच्छुवकारादओ चैव ॥ प य पच्चयतो भिण्ण दब्बमिद्विं गतो जतो तेण । तण्णासमि वह वा नभादओ सब्बहा णिच्चा ॥ (विशेषावयवके नमन्कारनिर्युत्तौगाथा—२८२१-२३)

२—निधिय णि च तानीति परिस्पन्दविमुक्ति । सूत्रेन त्रिजगद्वय विस्पाण स्पदहानित ॥ १ ॥ सामर्थ्या त्तकियौ जीवपुद्गलविति निदचय । जीवस्य निधक्यत्व हि न क्रियाहेतुता तनौ ॥२॥ नन्वेव न क्रियत्वपि धर्मादानां व्यवास्थिते । न्स्पु स्वयमभिप्रेता जनस्थानम्यक्रिया ॥ ७ ॥ इत्यपारत परिस्पन्दक्रियाया प्रतिषधनात् । उक्त्य, दादिक्रियाधिदेरन्यथा सत्त्वहा नित ॥ ९ ॥ (धर्माविद्यानां दस्वामी, तत्त्वार्थश्लोकावार्त्तम्)

सभी द्रव्योंके प्रदेश हुआ करते हैं। किन्तु अवयव स्कन्धोंके ही हुआ करते हैं। जैसा कि “अणवः स्कन्धाश्च” और “सद्घातभेदेभ्य उत्पद्यन्ते” इनके द्वारा अभिप्राय स्पष्ट करेंगे।

भावार्थ—इसी अध्यायके प्रारम्भके—पहले ही सूत्रमें “अजीवकाया” शब्दका प्रयोग किया है, और उसमें काय शब्दका अर्थ—“प्रदेशावयवबहुत्व” ऐसा किया है, जिसका अभिप्राय प्रदेशोंका बहुत्व और अवयवोंका बहुत्व होता है। परन्तु प्रदेश और अवयवोंके विषयमें कोई भी अभीतक नियम नहीं बताया है। अतएव पूँउनेवालेका आशय यह है, कि प्रदेश किसको कहते हैं, और अवयव किसको कहते हैं^१ तथा धर्मादिक द्रव्योंमेंसे किसके कितने किस प्रकारसे समझना^२ उत्तर—धर्म अधर्म आकाश और जीव तथा पुद्गल द्रव्यके भी प्रदेश हुआ करते हैं। परमाणुके प्रदेश—निषेधका अभिप्राय यह है, कि उसके द्वितीयादिक प्रदेश नहीं होते, क्योंकि निरवयव पुद्गल द्रव्याशक्तो एकप्रदेशी माना है^३। जितनेमें एक मूर्तिमान् द्रव्य—परमाणु आ जाय, उतने भागको प्रदेश कहते हैं। जो स्वभावसे ही पृथक् पृथक् हो सकें, अथवा प्रयोगपूर्वक जो पृथक् पृथक् किये जा सकें, या हो सकें, उनको अवयव कहते हैं। धर्म अधर्म आकाश और जीव इनमें प्रदेश है, परन्तु अवयव नहीं हैं, क्योंकि ये अखण्ड द्रव्य हैं। पुद्गल द्रव्य दो प्रकारके हैं—अणु और स्कन्ध। अणु भी दो प्रकारके हैं—द्रव्यपरमाणु और भावपरमाणु। स्कन्धके द्व्यणुकादिके भेदसे अनेक भेद है। इनमेंसे परमाणुके लिये भाष्यकारने प्रदेशका निषेध किया है, इसका यह अर्थ नहीं है, कि स्कन्धोंके प्रदेश होते हैं। क्योंकि ऊपरके कथनसे यह बात तो स्पष्ट ही हो चुकी, कि प्रदेश अखण्ड द्रव्यके हुआ करते हैं। और स्कन्धोंमें भेद तथा सघात दोनों बातें पाई जाती हैं। अतएव स्कन्धोंके लिये अवयव शब्दका प्रयोग हुआ करता है, और धर्मादिकके लिये प्रदेश शब्दका प्रयोग हुआ करता है, जो द्रव्यपरमाणु है, उसके प्रदेश नहीं है, ऐसा ही कहा जाता है, क्योंकि उसके एक ही प्रदेश माना है, दो आदिक नहीं। भावपरमाणुके लिये यह नियम नहीं है^४।

इस कथनसे धर्मादिकके बहुत प्रदेश है, यह बात मालूम हुई, परन्तु वे जितने कितने हैं, सो नहीं मालूम हुआ। अतएव उनकी इयत्ता बतानेके लिये सूत्र करते हैं।—

१—यहाँपर पर्यायांश परमाणुरा प्रद्वय नहीं समझना। क्योंकि इन्हींने प्रशमरति श्लोक २०८ में लिखा है, कि “परमाणुरप्रदेशो वर्णोदिगुणेषु भजनीय।” २—“निरवयव खउ देश खस्य क्षेत्रप्रदेश इति दृष्ट,” ३—पुद्गल द्रव्यके सबसे छोटे खण्डको द्रव्यपरमाणु और उसके रूपादि पर्यायांशोंको भाव परमाणु कहते हैं। दिग्गम्य सम्प्रदायमें परमाणुके दो भेद नहीं माने हैं। गुणाशोंको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं।

४—“नाणो” इस सूत्रके द्वारा अणुके प्रदेशोंका जो निषेध किया है, उसका तात्पर्य पूर्वसूत्रमें उल्लिखित प्रदेशोंके निषेध करनेका है। पहले सूत्रमें सत्यात असत्यात और धनन्तका उल्लेख है। किन्तु एक प्रदेश तीनों मेंसे किसीमें भी नहीं आता, क्योंकि सत्यात राति दासे शुरु होती है। एकको सत्यातमें न लेकर सत्यातका वाच्यमें लिखा है। ५—जैसा कि प्रशमरतिका धान्य पहले दिया गया है।

सूत्र--असह्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः ॥ ७ ॥

भाष्यम्--प्रदेशो नामापेक्षिक सर्वसूक्ष्मस्तु परमाणोरवगाह इति ॥

अर्थ--उपर्युक्त पाँच द्रव्योंमेंसे धर्म और अधर्म द्रव्यके असह्यात प्रदेश हैं, अर्थात् प्रत्येक द्रव्यके असह्यात असह्यात प्रदेश है। धर्मद्रव्य भी असह्यात प्रदेशी है, और अधर्म द्रव्य भी असह्यात प्रदेशी ही है। प्रदेश शब्दसे आपेक्षिक और सबसे सूक्ष्म परमाणुका अवगाह समझना चाहिये।

भावार्थ--परमनिरुद्ध निरवयव देशको प्रदेश कहते हैं। इसका स्वरूप समझनेमें द्रव्यपरमाणुकी अपेक्षा है। क्योंकि उसकी अपेक्षासे ही प्रदेशका स्वरूप आगममें बताया है^१। जितने देशको एक द्रव्य परमाणु रोकता है, उसको प्रदेश कहते हैं। सबसे सक्ष्म कहनेका अभिप्राय यह है, कि जितने क्षेत्रमें एक द्रव्यपरमाणुका अवगाहन होता है, उतने ही क्षेत्रमें अनेक परमाणुओंका तथा तन्मय स्कन्धका भी अवगाहन हुआ करता है, और हो सकता है^२। परन्तु कोई भी एक परमाणु ऐसा नहीं है, कि वो प्रदेशोंका अवगाहन करता हो। अतएव परमाणुके सबसे सूक्ष्म अवगाहको ही प्रदेश समझना चाहिये। दूसरी बात यह भी है, कि धर्म अधर्म आकाश और जीवोंके प्रदेश आपेक्षिक होकर भी सूक्ष्म ही है न कि स्थल।

यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है, कि अवगाह गुण और अवगाहन देनेका कार्य आकाशका ही है, अतएव प्रदेश भी वास्तवमें आकाशके ही हो सकते हैं, न कि धर्मादिकों के^३ सो ठीक है। यदि ऐसा भी माना जाय, तो भी कोई आपत्ति नहीं है। प्रदेशका स्वरूप मालूम हो जानेपर धर्मादिकके प्रदेशोंकी भी इयत्ता मालूम हो सकती है। क्योंकि लोकाकाशके जितने प्रदेश है, उन्हींमें धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके भी प्रदेश व्याप्त होकर अवगाह कर रहे हैं--रह रहे हैं। अतएव धर्म और अधर्म दोनों ही द्रव्योंके प्रदेश वरानर है, यही बात यहाँपर व्यक्त की गई है।

असह्यात प्रदेशका प्रकरण उपस्थित है, और जीवके भी उतने ही प्रदेश माने हैं जितने कि धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्यके हैं, अतएव उसके भी प्रदेशोंकी सस्याका नियम बतानेके लिये सूत्र करते हैं --

सूत्र--जीवस्य ॥ ८ ॥

भाष्यम्--एकजीवस्य चासह्येया प्रदेशा भवन्तीति ॥

अर्थ--ज्ञान दर्शनरूप उपयोग स्वभाववाले जीवद्रव्य अनन्त हैं। उनमेंसे प्रत्येक

१-लोककी बराबर असह्यात प्रदेशी धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य दोनों ही हैं। २-जैसा कि पहले लिखा जा चुका है। ३-"सव्याणुगणदाणरिह ।" (द्रव्यसंग्रह)

जीवके प्रदेश कितने हैं ? तो उनका भी प्रमाण असंख्यात ही है । जितने प्रदेश लोकाकाश और धर्म तथा अधर्म द्रव्यके हैं, उतने ही प्रदेश एक एक जीव द्रव्यके भी हैं ।

भावार्थ—यहाँपर यह शका हो सकती है, कि धर्म और अधर्म द्रव्यके अनन्तर पठित क्रमके अनुसार आकाश द्रव्यके प्रदेश बताने चाहिये, सो न बताकर उससे पहले जीव द्रव्यके प्रदेशोंको बतानेका क्या कारण है ? उत्तर—इस क्रम-भंगका कारण यह है, कि इसके द्वारा पहले समान सख्यावाले द्रव्यके प्रदेशोंको बता दिया जाय । प्रश्न—यदि यही बात है, तो एक योग करना ही उचित था—पूर्वसूत्रमें ही धर्म अधर्मके साथ एक जीव द्रव्यका भी पाठ कर देना चाहिये था, सो न करके पृथक् क्यों किया ? उत्तर—इसका कारण यह है, कि इस सामर्थ्यसे आचार्यका अभिप्राय जीव द्रव्यके एक संकोच विकास स्वभावको भी साथमें बतानेका है । अन्यथा यह भ्रम हो सकता था, कि धर्म अधर्मके समान जीव द्रव्यके प्रदेश भी सम्पूर्ण लोकमें सतत फैले हुए ही रहते होंगे । परन्तु यह बात नहीं है, धर्म और अधर्म द्रव्यके प्रदेश सतत लोकमें विस्तृत ही रहते हैं—जैसे है वैसे ही बने रहते हैं—न घटते हैं न बढ़ते हैं । किन्तु जीवके प्रदेश सकुचित और विस्तृत हुआ करते हैं । क्योंकि जीव शरीरप्रमाण रहा करता है । जब हाथीके शरीरमें जीव रहता है, तब उसके वे सम्पूर्ण प्रदेश हाथीके शरीरके बराबर हो जाते हैं, और जब जीव उस शरीरसे निकलकर चींटीके शरीरमें पहुँचता है, तब उसके वे ही सब प्रदेश सकुचित होकर चींटीके शरीरके आकार और प्रमाणमें हो जाते हैं । यदि चींटीके शरीरसे निकलकर हाथीके शरीरमें जाता है, तब वे ही प्रदेश विस्तृत होकर हाथीके शरीरप्रमाण हो जाते हैं । इसी तरह सम्पूर्ण जीवोंके विषयमें समझना चाहिये ।

कमानुसार आकाश द्रव्यके प्रदेशोंकी इयत्ता बताने है—

सूत्र—आकाशस्यानन्ताः ॥ ९ ॥

भाष्यम्—लोकालोकाकाशस्यानन्ताः प्रदेशाः । लोकाकाशस्य तु धर्माधर्मकजीवैस्तुल्या ॥

अर्थ—सूत्रमें आकाश शब्दका सामान्यतया पाठ किया है । अतएव लोक या अलोक दोनोंके पृथक् पृथक् प्रदेशोंको न बताकर दोनोंके समुदायरूपमें ही बताते हैं, कि लोकाकाश और अलोकाकाश दोनोंके मिलकर अनन्त प्रदेश हैं । यदि विभागकी अपेक्षा रखकर

१—समुद्रघात अवस्थामें शरीरके बाहर भी जीवक प्रदेश निकल जाते हैं । फिर भी जीवको शरीरप्रमाण ही कहा जाता है, क्योंकि समुद्रघातके अनन्तर प्रदोकोके सङ्घनित होकर शरीरप्रमाण हो जानेपर ही मरण हुआ करता है । २—यहाँपर अनन्त शब्दसे अक्षयानन्त शक्ति ही लेनी चाहिये ।

देखा जाय, तो लोकानाशके प्रदेश धर्म द्रव्यके अथवा अधर्म द्रव्यके यद्वा एक जीव द्रव्यके प्रदेशोंकी बराबर है ।

भाषार्थ—विशेष दृष्टिमें यदि देगा जाय, तो जीव और अजीव द्रव्यका आधारभूत लोकानाश असत्स्यात प्रदेशी है । अर्थात् तार्हीका अगेदानाश अनन्त-अपर्यवसान है, क्योंकि अनन्तमेंमें असम्पदानके कम हो जानेपर भी अनन्त ही शेष रहते हैं । धर्म अधर्म एक जीव द्रव्य और लोकानाश इन चारोंके प्रदेश विस्तृत समाप्त हैं, किन्तु भी न कुछ कम हैं न अधिक ।

कमानुसार पुद्गल द्रव्यके प्रदेशोंकी सख्या बताते हैं—

सूत्र—संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

भाष्यम्—संख्येया असंख्येया अनन्ताश्च पुद्गलाना प्रदेशा भवन्ति । अनन्ता इति पतते ।

अर्थ—इस सूत्रमें पूर्वसूत्रसे अनन्त शब्दकी अनुवृत्ति आती है । अतएव इसका आशय यह है, कि पुद्गल द्रव्यके प्रदेश सरयात असरयात और अनन्त इस तरह तीनों ही प्रकारके होते हैं ।

भाषार्थ—निर्गम पूरण गलन स्तभाप पाया जाय, उसको पुद्गल कहते हैं । इनकी परमाणुसे लेकर महास्कन्ध पर्यन्त ओक विधित अवस्थाए है । सख्यात परमाणुओंका स्कन्ध सरयात प्रदेशी, असख्यात परमाणुओंका स्कन्ध असख्यात प्रदेशी, और अनन्त परमाणुओंका स्कन्ध अनन्त प्रदेशी कहा जाता है । यद्यपि सूत्रमें अनन्त प्रदेशिताका उल्लेख नहीं किया है, परन्तु च शब्दके द्वारा पूर्वसूत्रसे अनन्त शब्दका अनुवर्णन होता है ।

अणु और स्कन्ध इस तरह पुद्गल द्रव्यके दो भेद है । जन कि अणु भी पुद्गल द्रव्य है, क्योंकि वह भी परण गलन स्वभावको धारण करनेवाला है, तो पुद्गल द्रव्यके प्रकरणमें उसके भी प्रदेश बताने चाहिये । किन्तु यहाँपर स्कन्धोंके ही प्रदेश बताये हैं । सो क्या अणुके प्रदेश ही नहीं हैं ? यदि यही बात है, तब तो उसको असद्वरूप कहना चाहिये । यदि हे तो कितने हैं ? सत्स्यात असरयात और अनन्त प्रदेशोंके होनेपर वह अणु नहीं कहा जा सकता । किन्तु पुद्गल द्रव्यके प्रदेश तीन ही प्रकारके बताये है, सो तानोंमें से यदि किसी भी प्रकारके प्रदेश नहीं माने जायेंगे, तो अणुमें पुद्गलत्वके अभावका प्रसङ्ग आवेगा । उत्तर—अनेक द्रव्य परमाणुओंके द्वारा जिस प्रकार घटादिक पुद्गलस्कन्ध सप्रदेश है, उस प्रकार परमाणु नहीं है, । वह किस प्रकारका है, सो बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—नाणोः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—अणो' प्रदेशा न भवन्ति । अनादिरमध्येऽप्रदेशो हि परमाणुः ।

अर्थ—परमाणुके प्रदेश नहीं होते । उसके आदि मध्य और प्रदेश इनमेंसे कुछ भी नहीं है ।

भावार्थ—यहाँपर प्रदेशोंका जो निषेध किया है, सो द्रव्यरूप प्रदेशोंका ही है, तथा इसका भी अभिप्राय यह है, कि परमाणु स्वयं प्रदेशरूप है—एक प्रदेशवान् है, उसके द्वितीयादिक प्रदेश नहीं है । अर्थात् द्वितीयादिक प्रदेशोंका ही निषेध है, न कि एक प्रदेशात्मकताका । इसी लिये उसके आदि और मध्यका भी निषेध किया है । क्योंकि जो अनेक प्रदेशी होगा उसीमें आदि मध्य विभाग हो सकते हैं । जो एक प्रदेशी है, वह अपना एक प्रदेश ही रखता है, फिर उसमें आदि मध्यका विभाग कैसे हो सकता है ?

धर्म अधर्म पुद्गल और जीव द्रव्य आकाशके समान आत्मप्रतिष्ठ—निराधार हैं, अथवा आधारकी अपेक्षा नहीं रखते हैं ? उत्तर—निश्चयनयसे सभी द्रव्य आत्मप्रतिष्ठ हैं,—आधारकी अपेक्षा नहीं रखते । अतएव धर्म अधर्म पुद्गल और जीव द्रव्य भी वास्तवमें अपने आधारपर ही स्थित हैं । किन्तु व्यवहारनयसे देखा जाय तो—

सूत्र—लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

भाष्यम्—अवगाहिनामवगाहो लोकाकाशे भवति ॥

अर्थः—प्रवेश करनेवाले पुद्गलादिकोंका अवगाह—प्रवेश लोकाकाशमें होता है ।

भावार्थः—रहीपर भी समा जानेको या स्थान-लाभ करनेको अवगाह कहते हैं, सभी द्रव्य लोकाकाशमें ठहरे हुए हैं । परन्तु उनका ठहरना दो प्रकारका है ।—सादि और अनादि । सामान्यतया सभी द्रव्य अनादिकालसे लोकाकाशमें ही समाये हुए हैं । किन्तु विशेष दृष्टिसे जीव और पुद्गलका अवगाह सादि कहा जा सकता है । क्योंकि ये दोनों ही द्रव्य सक्रिय-गतिशील है, इनमें क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर हुआ करता है । अतएव इनका लोकाकाशके भीतर ही कभी कहीं और कभी कहीं अवगाह होता है । परन्तु धर्म अधर्म द्रव्य ऐसे नहीं हैं । वे नित्य-व्यापी हैं । अतएव उनका अवगाह सम्पूर्ण लोकेमें सदा तदवस्थ रहता है—नित्य है ।

धर्मादिक द्रव्य लोकमें किस प्रकार व्याप्त हैं, और कितने भागमें व्याप्त है, यह बात सूत्र द्वारा अभीतरक अनुक्त है, अतएव इसी बातको बतानेके लिये सूत्र करते हैं—

सूत्र—धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

भाष्यम्—धर्माधर्मयोः कृत्स्ने लोकाकाशेऽवगाहो भवतीति ॥

अर्थ—धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यका अवगाह पूर्ण लोकाकाशमें है ।

भावाय—अवगाह दो प्रकारसे सम्भव हो सकता है—एक तो पुरुषके मनकी तरह, दूसरा दूध पानीकी तरह । इनमेंसे दूध पानीकासा अवगाह प्रकृतमें अभीष्ट है, यह बात शब्दके द्वारा बताई है । अथा जिस प्रकार आत्मा शरीरमें व्याप्त होकर रहता है, उसी प्रकार धर्म अधर्म भी लोकाकाशमें व्याप्त होकर अनादिकासे रह रहे हैं । ऐसा कोई भी लोकत्र प्रदेश नहीं है, जहाँपर धर्म या अधर्म द्रव्य न हो ।

पुद्गल द्रव्यके अवगाहका स्वरूप बताते हैं —

सूत्र—एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

भाष्यम्—अप्रदेशसरयेयासंख्येयानन्तप्रदेशाना पुद्गलानामेकादिव्याकाशप्रदेशेषु भाज्योऽवगाह । भाज्यो विभाष्यो विकल्प्य इत्यनर्थान्तरम् । तद्यथा--परमाणुरेकस्मिन्नेव प्रदेशे, द्व्यणुकस्यैकस्मिन् द्वयोश्च । त्र्यणुकस्यैकस्मिन् द्वयोस्त्रिषु च, एव चतुरणुकादीनां सरयेयासंख्येयप्रदेशस्यैकादिषु सरयेयेषु असंख्येयेषु च, अनन्तप्रदेशस्य च ॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य चार प्रकारके हैं—अप्रदेश, सस्येयप्रदेश, असस्येयप्रदेश और अनन्तप्रदेश । इनका लोकेमें अवगाह जो होता है, सो एकसे लेकर सख्यात अथवा असख्यात प्रदेशोंमें यथायोग्य समझ लेना चाहिये । भाज्य विभाष्य और विकल्प्य इन शब्दोंका एक ही अर्थ है, कि एकसे लेकर असख्यात पर्यन्त नितने प्रदेशोंके भेद सम्भव हैं, और अप्रदेशसे लेकर अनन्त प्रदेशतक नितने स्कन्धोंके भेद सम्भव हैं, उनका यथायोग्य अवगाह अवगाहन समझ लेना चाहिये । यथा—जो परमाणु—अप्रदेश है, उसका अवगाह एक ही प्रदेशोंमें होता है, क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेशरूप ही है । अतएव उसका अवगाह दो आदिक प्रदेशोंमें नहीं हो सकता । द्व्यणुकका अवगाह एक प्रदेशोंमें भी हो सकता है, और दो प्रदेशोंमें भी हो सकता है । त्र्यणुकका अवगाह एक प्रदेशोंमें भी हो सकता है, दोमें भी हो सकता है और तीनमें भी हो सकता है । इसी प्रकार चतुरणुकादिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये । किन्तु इतनी विशेषता है, कि जो सख्यात या असख्यात प्रदेशवाले स्कन्ध है, वे एकसे लेकर यथायोग्य सख्यात या असख्यात प्रदेशोंमें अवगाहन करते हैं, सख्यात प्रदेशी स्कन्ध असख्यात प्रदेशोंमें अवगाहन नहीं कर सकता है । अनन्त प्रदेशवाला स्कन्ध एकसे लेकर असख्यात तक प्रदेशोंमें आ सकता है । वह अनन्त प्रदेशोंमें अवगाहन नहीं करता । क्योंकि लोकके प्रदेश असख्यात ही है न कि अनन्त ।

भावाय—पुद्गल द्रव्यमें जो अणु द्रव्य है उनका एक ही प्रदेशोंमें, किन्तु स्कन्धोंका योग्यतानुसार एकसे लेकर असख्यात तक प्रदेशोंमें अवगाहन हुआ करता है । इस विषयमें यह शका हो सकती है, कि एक प्रदेशोंमें सख्यात असख्यात या अनन्त प्रदेशवाले स्कन्धोंका समावेश किस तरह हो सकता है । अथवा लोक जब असख्यात प्रदेशों ही है, तब उसमें अनन्तानन्त

पुद्गल प्रभृति द्रव्य किस तरह समा सकते हैं । थोड़े क्षेत्रमें अधिक प्रमाणवाली वस्तु कैसे आ सकती है । क्या एक घटमें सम्पूर्ण समुद्रोंका जल आ सकता है ? परन्तु यह शका ठीक नहीं है । क्योंकि परिणमन विशेषके द्वारा ऐसा भी समभव हो सकता है, कि छोटे क्षेत्रमें अधिक प्रमाणवाली वस्तु आ जाय । जैसे कि एक मन रुई की जगहमें कई मन लोहा या पत्थर आ सकता है । अथवा एक ही कमरेमें अनेक दीपकोंका प्रकाश समा सकता है, उसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिये ।

जीव द्रव्यका अवगाह कितने क्षेत्रमें होता है, सो बताते हैं—

सूत्र—असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

भाष्यम्—लोकाकाशप्रदेशानामसंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवति, आ सर्वलोकविवृति ॥

अर्थ—लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं, उनके असख्यातवें भागसे लेकर सम्पूर्ण लोकपर्यन्तमे जीवोंका अवगाह हुआ करता है ।

भाष्यार्थ—यह कथन प्रत्येक जीवकी अपेक्षासे है । प्रत्येक जीवका अवगाह क्षेत्र कमसे कम लोकका असख्यातवें भाग और ज्यादा से ज्यादा सम्पूर्ण लोकतक हो सकता है । सूत्रमें “ जीवानाम् ” ऐसा बहुवचन जो दिया है, सो जीव अनन्त हैं, इसलिये दिया है । कोई एक जीव एक समयमें लोकके एक असख्यातवें भागको रोकता है, तो वही जीव दूसरे समयमें अथवा कोई दूसरा जीव लोकके दो असख्यातवें भागोंको रोकता है, कभी तीन चार आदि भागोंको या सख्येय भागोंको अथवा सम्पूर्ण लोकको भी रोकता है । सपूर्ण लोकमें व्याप्ति समुद्धातकी अपेक्षासे है । क्योंकि जब केवली भगवान् समुद्धात करते हैं, उस समय उनकी आत्माके प्रदेश क्रमसे दृढ कपाट प्रतर और लोकपर्ण हुआ करते हैं ।

भाष्यम्—अत्राह—को हेतुरसंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भवतीति । अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—जब कि जीवके प्रदेश लोकाकाशकी बराबर हैं, तब उसको भी धर्म द्रव्यकी तरह पूर्ण लोकमें ही रहना चाहिये । समान सख्यावाले प्रदेश जिन द्रव्योंके हों, उनके

१—क्योंकि अणुके असख्यातवें भाग प्रमाण शरीरकी जघन्य अवगाहना मानी है ।

२—पहले दृढ समुद्धातमें फेरलीके प्रदेश ऊर्ध्व और अधो दिशाकी तरफ निकलकर लोकके अन्ततक और विक्रममें शरीर प्रमाण ही फैलकर दण्डाकार परिणत होते हैं । दूसरे समयमें वे ही प्रदेश चौड़े होकर वातवत्मको छोड़कर लोकके अन्ततक जाकर कपाटके आकारमें बन जाते हैं । तीसरे समयमें वे ही प्रदेश वातवल्बुके सिवाय पूर्ण लोकमें फैल जाते हैं, उसको प्रतर कहते हैं । चौथे समयमें जब वे ही प्रदेश पैल्लकर सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हो जाते हैं, तब लोकपूर्ण समुद्धात कहा जाता है । पीछे उधो कमसे चार ही समयमें सङ्कचित होते हैं, लोकपूर्णके प्रतर, प्रतरसे कपाट, कपाटसे दण्ड, और दंडसे शरीरकार हो जाते हैं । आमुककी स्थितिसे परावर रूप क्रमोंकी स्थितिको करने के लिये यह समुद्धात होता है ।

त्रको विषम सख्यावाला क्यों होना चाहिये ? अतएव जीवका अवगाह लोकके असख्या
वें भाग आदिमें होता है, इसका क्या कारण है ?

सूत्र-प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत् ॥ १६ ॥

भाष्यम्—जीवस्य हि प्रवेशाना सत्तारविसर्गाविष्टी प्रदीपस्येव । तद्यथा—सैलवर्त्यग्न्युपा-
नवृद्ध प्रदीपो महतीमपि कूटागारजाला प्रकाशयत्यर्ष्वीमपि । माणिकावृत माणिका द्रोणा
तो द्रोणमादकावृतश्चादक प्रस्थावृत प्रस्थ पाण्यावृत पाणिमिति । एवमेव प्रवेशाना सत्तार-
सर्गाभ्या जीवो महान्तमणु वा पञ्चविधं शरीरस्कन्ध धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवप्रदेशसमुदायं
आप्नोतीत्यवगाहत् इत्यर्थः । धर्माधर्माकाशजीवाना परस्परं पुद्गलेषु च घृत्तिर्न विरुध्यतेऽमू-
चात् ।

अर्थ—दीपकके समान जीव द्रव्यके प्रदेशोंमें संहार और विसर्ग अर्थात् संकोच और
स्तारका स्वभाव माना हैं, यही कारण है, कि उसका अवगाह लोकके असख्यातवें भाग
दिमें भी हो सकता है ।

भावार्थ—तेल बत्ती और अग्निरूप उपादान कारणोंके द्वारा उत्पन्न और वृद्धिको प्राप्त
भा जो दीपक घरकी बड़ी बड़ी शालाओंको प्रकाशित करता है, वही छोटे छोटे कमरोंको भी
प्रकाशित करता है । मानीसे आवृत मानीको, द्रोणसे आच्छादित द्रोणको, आदकसे दका
भा आदक को, और प्रस्थसे आवृत प्रस्थ को, तथा हाथसे दका हुआ हाथ को प्रकाशित
करता है । इसी प्रकार जीव भी अपने प्रदेशोंके संहार विसर्ग—संकोच विस्तारके कारण मोटे
र छोटे पञ्चविध शरीर स्कन्धो व्याप्त किया करता है—धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और
वके प्रदेश समूहका अवगाहन किया करता है । धर्म अधर्म आकाश और जीव द्रव्य परस्पर-
भी अवगाहन कर सकते हैं, और इन सबका अवगाह पुद्गलोंमें भी हो सकता है । इनकी
अवगाहवृत्ति विरुद्ध—प्रमाणवाचित या असंगत नहीं है, क्योंकि ये अमर्त द्रव्य हैं ।

भावार्थः—जीवका स्वभाव ही ऐसा है, कि अवगाहके योग्य जितने बड़े शरीरानुसार
प्रको वह पाता है उतनेमें ही अवगाह कर लेता है । जब वह शरीर रहित हो जाता है, तब
सका प्रमाण अन्त्य शरीरसे तीसरे भाग कम रहता है । किंतु सशरीर अवस्थामें असख्यातवें
भासे लेकर सम्पूर्ण लोकात्मके निमित्तके अनुसार व्याप्त हुआ करता है । कभी तो महान्
वकाशको छोड़कर थोड़े अवकाशको सकुचित होकर घेरता है । और कभी थोड़े अवकाशको
छोड़कर महान् अवकाशको विस्तृत होकर घेरता है । जद्यन्य अवकाशका प्रमाण लोकका
संख्यातवें भाग और उत्कृष्ट प्रमाण सम्पूर्ण लोक है । इसके मध्यकी अवस्थाएँ अनेक हैं ।

दीपकका दृष्टान्त जो दिया है, सो संकोचविस्तार स्वभावको दिखानेके लिये है, उसका
अभिप्राय नहीं है, कि जिस प्रकार दीपक सम्पूर्ण लोकको व्याप्त नहीं कर

संक्रांता, उसी प्रकार आत्मा भी नहीं कर सकता, अथवा जिस प्रकार दीपक अनित्य है, उसीप्रकार आत्मा भी अनित्य है. इत्यादि। क्योंकि दृष्टान्तमें और दार्ष्टान्तमें सर्वथा समानता नहीं हो सकती। अन्यथा दृष्टान्त और दार्ष्टान्तका भेद ही नहीं रह सकता। अथवा स्याद्वाद-सिद्धान्तके अनुसार दीपकादिक भी सर्वथा अनित्य ही हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार आकाश सर्वथा नित्य नहीं है, उसी प्रकार दीपक सर्वथा अनित्य नहीं है। क्योंकि जैनधर्ममें सभी वस्तु उत्पादादि त्रयात्मक मानी है।

भाष्यम्—अत्राह—सति प्रवेशसदृशविस्मयसम्भवे कस्मादसख्येयमागादिषु जीवानामवगाहो भवति नैकप्रदेशादिष्विति ? अत्रोच्यते--सयोगत्वात्ससारिणाम्, चरमशरीरत्रिभागही नावगाहित्वाच्च सिद्धानामिति ॥

अर्थ—प्रश्न—जब कि जीव द्रव्यके प्रदेशोंमें सकोच और विस्तारका संभव है, फिर लोकके असख्यातवें भागादिकमें ही उनके अवगाहका क्या कारण है ? एक प्रदेशादिकमें भी उनका—जीवोंका अवगाह क्यों नहीं हो सकता ? उत्तर—इसका कारण यह है, कि जितने ससारी जीव हैं वे, सत्र सयोग—सशरीर हैं, और जो सिद्ध जीव है, वे चरम शरीरसे त्रिभाग-हीन अवगाहको धारण करनेवाले हैं।

भाषार्थ—जब जीवका स्वभाव सकुचित और विस्तृत होनेका है, और विस्तृत होकर लोकपर्यन्त विस्तृत हो भी जाता ही है, तो उसका सकोच भी अन्त्यपरिमाण—एक प्रदेशतक क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर—यह है, कि यद्यपि जीवमें सकुचित विस्तृत होनेका स्वभाव है, फिर भी उस स्वभावकी अभिव्यक्ति परनिमित्तसे ही हुआ करती है, और वह परनिमित्त पंचविध शरीर है। संसारी जीव इन शरीरोंसे आक्रान्त है। शरीरप्रमाण ही उसका अवगाह हो सकता है। शरीर पौद्गलिक होनेपर भी स्कन्धरूप है, वह एक दो तीन आदि प्रदेशोंमें नहीं रह सकता। वह कमसे कम अगुलके असख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्रमें ही रह सकता है। क्योंकि शरीरकी अवगाहनाका जघन्य प्रमाण अगुलके असख्यातवें भाग ही है। सिद्ध जीवोंका आकार जिस शरीरसे उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है, उससे त्रिर्भाग कम रहता है। क्योंकि सिद्ध जीव कर्म और नोकर्मसे सर्वथा रहित हैं। फिर उनके लिये ऐसा कोई कारण-शेष नहीं रहता, कि जिसके वश उनके प्रदेशोंमें सकोच विस्तार हो सके, इसी लिये शरीरसे छूटते समय उनका जितना प्रमाण होता है, उतना ही तदवस्थ बना रहता है। विना निमित्तके फिर सकोच विस्तार हो भी कैसे सकता है। अतएव जीवोंका अवगाह एक आदि प्रदेशोंमें नहीं, किंतु असख्येय मागादिकमें ही संभव है।

भाष्यम्—अत्राह—उक्तं भवता धर्मादीनस्ति कायान् परस्ताह्लक्षणतो वक्ष्याम इति । तत् किमेषा लक्षणमिति ? अत्रोच्यते ॥

१—शरीरके भीतर जो पोलका भाग है, जिसमें कि वायु भरी रहती है, उतना भाग सकुचित होकर कम

अर्थ—मन्त्र—आपने पहले कहा था, कि धर्मादिक द्रव्योंका लक्षण आगे चलकर कहेंगे । सो अब कहिये कि उनका क्या लक्षण है ?

उत्तरः—

सूत्र—गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

भाष्यम्—गतिमतां गते स्थितिमतां स्थितेरुपग्रहो धर्माधर्मयोरुपकारो यथा सद्द्रव्यम् । उपग्रहो निमित्तमपेक्षा कारणम् हेतुरित्यन्तर्धान्तरम् । उपकार प्रयोजन गुणोऽथ इत्यन्तर्धान्तरम् ॥

अर्थ—गतिमान् पदार्थोंकी गतिमें और स्थितिमान् पदार्थोंकी स्थितिमें उपग्रह करना—निमित्त बनना—सहायता करना क्रमसे धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है । उपग्रह निमित्त अपेक्षा कारण और हेतु ये पर्यायवाचक शब्द हैं । तथा उपकार प्रयोजन गुण और अर्थ इन शब्दोंका एक ही अर्थ है ।

भावार्थ—जीव और पुद्गल द्रव्य गतिमान् हैं । जिस समय ये गमनरूप क्रियामें परिणत होते हैं, उस समय इनके उस परिणमनेमें बाह्य निमित्त कारण धर्म द्रव्य हुआ करता है, और जिस समय ये स्थित होते हैं, उस समय इनकी स्थितिमें अधर्म द्रव्य बाह्य सहायक हुआ करता है । ये दोनों ही द्रव्य उदासीन कारण हैं, न कि प्रेरक । प्रेरणा करके किसी भी द्रव्यको ये न तो चलाते हैं, न ठहराते हैं । यदि ये प्रेरक कारण होते, तो बड़ी गड़बड़ उपस्थित होती । न तो कोई पदार्थ गमन ही कर सकता था, न ठहर ही सकता था । क्योंकि धर्म द्रव्य यदि गमन करनेके लिये प्रेरित करता, तो उसका प्रतिपक्षी अधर्म द्रव्य उन्हीं पदार्थोंको ठहरनेके लिये प्रेरित करता ।

इसी प्रकार यदि ये द्रव्य लोक मात्रमें व्याप्त न होते, तो युगपत् सम्पूर्ण लोकमें जो पदार्थोंका गमन और अवस्थान हुआ करता है, सो नहीं बन सकता था । तथा ये द्रव्य आकाशके समान अनन्त भी नहीं है । यदि अनन्त होते, तो लोक और अलोकका विभाग नहीं बन सकता था । तथा लोकका प्रमाण और आकार ठहर नहीं सकता था ।

धर्म और अधर्म द्रव्य अतीन्द्रिय हैं, फिर भी उनके उपकार प्रदर्शनके द्वारा आपने

१—गद् परिणयाण धम्मो पुमालजीवाण गमणसहयारी । तोय जह मच्छाण अच्छताणव सो णेई ॥ १८ ॥

२—ठाणजुदाण अधम्मो पुमालजीवाण ठाणसहयारी । छाया जह पडियाण मच्छन्ता पेव सो धरई ॥ १९ ॥ (द्रव्यसंग्रह)

३—लोकालोकविभागी स्त लोकेस्य सान्तत्वात्, लोक सान्त धर्मिमद्द्र योपचितत्वात् प्रासादादिवत् । इद्य अनुमान परम्परसे लोककी सान्तता और सान्त लोकके सिद्ध होनेसे लोकालोकका विभाग सिद्ध होता है । परन्तु लोकका सान्ततामें और उसके प्रमाण तथा आकारके बने रहनेमें कोई न कोई बाध निमित्त भी अवश्य चाहिये । वे ही धर्म और अधर्म द्रव्य हैं ।

उनका अस्तित्व जो बताया सो ठीक है । इसी प्रकार इनके अनन्तर जिसका पाठ किया है उस आकाशका भी उपकार क्या है, सो बताना चाहिये । अतएव सूत्र कहते हैं—

सूत्र—आकाशस्यावगाहः ॥ १८ ॥

भाष्यम्—अवगाहिनां धर्माधर्मपुद्गलजीवानामवगाह आकाशस्योपकारः । धर्माधर्मयोरन्तः प्रवेशसम्भवेन पुद्गलजीवानां सयोगविभागेऽश्नोति ।

अर्थ—अवगाह करनेवाले धर्म अधर्म पुद्गल और जीव द्रव्य है । इनको अवगाह देना आकाशका उपकार है । इनमेंसे धर्म और अधर्म द्रव्यके अवगाहमें उपकार अन्तःप्रवेशके द्वारा किया करता है, और पुद्गल तथा जीवोंके अवगाहमें सयोग और विभागके द्वारा भी उपकार किया करता है ।

भावार्थ—धर्म और अधर्म द्रव्य पूर्ण लोकमें इस तरहसे सदा व्याप्त बने रहते हैं कि उनके प्रदेशोंका लोकाकाशके प्रदेशोंसे कभी भी विभाग नहीं होता । अतएव इनके अवगाहमें आकाश जो उपकार करता है, सो अन्तःप्रवेश देकर करता है, किन्तु जीव और पुद्गल द्रव्यमें यह बात नहीं है । क्योंकि ये अल्पक्षेत्र-असंख्येय भागको रोकते हैं, और किया वान् हैं ।—एक क्षेत्रसे हटकर दूसरे क्षेत्रमें पहुँचते हैं । अतएव इनके अवगाहमें सयोग विभागके द्वारा आकाश उपकार किया करता है । तथा अन्तःप्रवेश देकर भी उपकार किया करता है । च शब्दके द्वारा जीव पुद्गलोंका उपकार दोनों प्रकारका होता है, यह सिद्ध किया है ।

यद्यपि “ लोकाकाशेऽवगाह ” इस सूत्रमें आकाशका स्वरूप या लक्षण पहले बता चुके हैं, कि सम्पूर्ण पदार्थोंको अवगाह देना उसका कार्य है । अतएव पुनः यहाँ उसके बतानेकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी यहाँपर उसके उल्लेख करनेका कारण है, और वह यह कि “ लोकाकाशेऽवगाह ” इस सूत्रमें तो अवगाही पदार्थोंका प्राधान्य है, जिसका आशय यह है, कि जीव पुद्गलोंका अवगाह कहाँपर है ? तो लोकाकाशमें । इससे यह सिद्ध नहीं होता, कि अवगाह स्वभाव आकाशका ही है । अतएव यही बात यहाँपर इस सूत्रके द्वारा बताई है, कि आकाशका स्वभाव पदार्थोंको अवगाह देना है, और यही उसका लक्षण है ।

बहुतसे लोग आकाशका लक्षण शब्द मानते हैं । कोई प्रधानके विकारको आकाश कहते हैं । परन्तु ये सभी कल्पनाएँ मिथ्या है । शब्द पुद्गलकी पर्याय है, जैसा कि आगे चर्च कर बताया जायगा, और जैसा कि उसके गुण स्वभावसे सिद्ध होता है । शब्द यदि आकाशका गुण होता, तो इन्द्रिय द्वारा उपलब्ध नहीं हो सकता था, और न मूर्त पदार्थके द्वारा रूक सकता था । एव न मूर्त पदार्थके द्वारा उत्पन्न ही हो सकता था । अतएव वह पुद्गलकी

ही पर्याय है । जो प्रधानका विकार मानते हैं, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि नित्य निरवयव और निष्क्रिय प्रधानका अनित्य सावयव और सक्रिय शब्दरूप परिणमन कैसे हो सकता है ।

यहाँपर यह शका भी हो सकती है, कि अवगाह द्विष्ट धर्म है । अतएव जिस प्रकार आकाशमें वह कहा जाता है, उसी प्रकार अवगाही जीव पुद्गलमें भी कहा जा सकता है, परन्तु यह शका ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँपर अधेयकी प्रधानता नहीं है, आधार ही की प्रधानता है । अतएव आकाशका ही लक्षण मानना उचित है ।

क्रमानुसार पुद्गल द्रव्यका उपकार बताते हैं —

सूत्र—शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥ १९ ॥

भाष्यम् । पञ्चविधानि शरीराण्यौदारिकादीनि चाङ्गमनः प्राणापानाविति पुद्गलानां उपकार । तत्र शरीराणि यथोक्तानि । प्राणापानौ च नामकर्माणि व्याख्यातो । द्वीन्द्रियाद्यो जिह्वेन्द्रियस्योगात् भाषात्वेन गृह्णन्ति नान्ये, सक्षिप्तश्चमनस्त्वेन गृह्णन्ति नान्ये इति । वक्ष्यते हि—“सकषायत्वाज्जीव” कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्त इति ॥

अर्थ—शरीर वचन मन और प्राणापान यह पुद्गल द्रव्यका उपकार है । औदारिक आदि शरीर पाँच प्रकारके हैं, इनका स्वरूप पहले बता चुके हैं । प्राणापानका नामकर्मके प्रकरणमें व्याख्यान किया है । द्वीन्द्रिय आदि जीव जिह्वा इन्द्रियके द्वारा भाषारूपसे पुद्गलोंको ग्रहण करते हैं, और दूसरा कोई ग्रहण नहीं करता । जो सज्ञी जीव हैं, वे मन रूपसे उनको ग्रहण करते हैं, और दूसरा कोई ग्रहण नहीं करता । यह बात आगे चलकर भी कहेंगे, कि सकषायताके कारणसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण किया करता है ।

भावार्थ—पुद्गल स्कन्धोंके सामान्यतया २२ भेद है । जिनमेंसे ९ भेद ऐसे हैं, जोकि खासकर जीवके ग्रहण करनेमें आते हैं । वे पाँच भेद दो भागोंमें विभक्त हैं कार्माणवर्गणा—और नोर्कर्मवर्गणा । जिनसे ज्ञानावरणादिक आठ कर्म बनते हैं, उनको कार्माणवर्गणा कहते हैं, जिनसे शरीर पर्याप्ति और प्राण बनते हैं, उनको नोर्कर्मवर्गणा कहते हैं । इसके चार भेद हैं—आहारवर्गणा भाषावर्गणा मनोवर्गणा और तैजसवर्गणा । कार्माणवर्गणाओंको योगमें प्रवृत्त सकषाय जीव ग्रहण किया करता है, यह बात आगे चलकर लिखेंगे । शरीरके योग्य पुद्गल वर्गणाओंका ग्रहण ससारी जीवमात्रके हुआ करता है । प्राणापान पर्याप्त जीवोंमें ही पाया जाता है । भाषावर्गणाका ग्रहण द्वीन्द्रियादिक जीव ही किया करते हैं । जिससे हृदयस्थ अष्टदल कमलके आकारका द्रव्य मन बना करता है, उन मनोवर्गणाओंका ग्रहण सज्ञी जीवके ही हुआ करता है । इन कर्म और नोर्कर्मोंके

१—ऊर्म्मगुण सन्दीप श्लेहवर्त्यो यथा समादत्ते । आदाय शरीरतया परिणमयति चाथ तस्नेहम् । तद्वत् रागादिगुण स्वयोगवर्त्यात्सदीप आदत्ते । स्कन्धानादाय तथा परिणमयति ताश्च कर्मतया ॥ २—नोर्कर्मके विषय में औदारिक वैश्विक और आहारक इन तीन ही कर्मोंकी प्रधानता है । ये तीनों शरीर और प्राणापान आहार वर्गणाके द्वारा बना करते हैं ।

ऊपर ही सत्कारके कार्यमात्र निर्भर हैं, और इनकी सिद्धि पुद्गल द्रव्यसे ही होती है। अतएव यह पुद्गल द्रव्यका ही उपकार है। यहाँपर उपकारका मतलब कारणपना बतानेका है। परन्तु धर्मादिककी तरह पुद्गल द्रव्य उदासीन कारण नहीं है, प्रेरक भी है।

भाष्यम्—किञ्चान्यत्—

अर्थ—ऊपर जो पुद्गल द्रव्यका उपकार बताया है, उसके सिवाय और भी उसके उपकार हैं। अर्थात् शरीरादिकके सिवाय और और आकार या प्रकारके द्वारा भी पुद्गल द्रव्य निमित्त बना करता है। किस किस प्रकारसे बनता है, इस बातको बतानेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूत्र—सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥ २० ॥

भाष्यम्—सुखोपग्रहो ऽ सुखोपग्रहो जीवितोपग्रहश्च मरणोपग्रहश्चेति पुद्गलानामुपकारः । तद्यथा—इष्टा स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दा सुखस्योपकाराः । अनिष्टा दुःखस्य । स्थानाच्छादनानुलेपनभोजनार्दीनि विधिप्रयुक्तानि जीवितस्यानपवर्तन चायुष्कस्य । विषशस्त्राग्न्यादीनि मरणस्य, अपवर्तन चायुष्कस्य ।

अर्थ—सुखमें निमित्त बनना, दुःखमें निमित्त बनना, जीवनमें निमित्त बनना, और मरणमें निमित्त बनना यह सब भी पुद्गल द्रव्यका ही उपकार है। यथा—इष्ट रूप स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द सुखके निमित्त हैं। ये ही विषय यदि अनिष्ट हों, तो दुःखके निमित्त हुआ करते हैं। विधिपूर्वक जिनका सेवन किया गया है, ऐसे स्नान आच्छादन अनुलेपन और भोजन आदि जीवनके निमित्त हैं, और आयुका अनपवर्तन भी उसका निमित्त है। इसी प्रकार विष शस्त्र अग्नि आदि पदार्थ और आयुका अपवर्तन मरणका निमित्त है।

भावार्थ—सत्कारमें कोई भी पदार्थ इष्ट ही हो, या अनिष्ट ही हो यह बात नहीं है। एक ही पदार्थ किसीको इष्ट प्रतीत होता है, तो किसीको अनिष्ट। अथवा किसी एक व्यक्तिको जो पदार्थ कभी इष्ट मालूम होता है, उसीको वही पदार्थ कालान्तरमें अनिष्ट भी प्रतीत होता है। अतएव यह निश्चय है, कि स्वभावसे कोई भी पदार्थ न इष्ट है, और न अनिष्ट। जो पदार्थ रागके विषयमूत हुआ करते हैं, उनको इष्ट कहते हैं, और जो द्वेषके विषय हुआ करते हैं उनको अनिष्ट कहते हैं। यही कारण है, कि जीवके ग्रहणमें आनेवाले पौंचों ही इन्द्रियोंके विषय—स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द इष्ट और अनिष्ट दोनों ही प्रकारके माने हैं, तथा बताये हैं, और क्रमसे सुख तथा दुःखके निमित्त कहे गये हैं।

यदि स्नानादिका विधिपूर्वक सेवन न किया जाय, तो वे ही कदाचित् अपायके कारण भी हो जाते हैं, परन्तु देश काल मात्रा और अपनी प्रकृतिके अनुरूप जो स्नान भोजन गमन शयन

आसन आदि किया जाता है, वह प्राण-धारणमें उपकारी होता है, और इसीलिये वह जीवनका निमित्त बनता है। आयुर्कर्मकी लम्बी स्थितिका विष शत्रु अग्नि-प्रहार मत्र-प्रयोग आदिके द्वारा कम हो जानेको अपवर्तन कहते हैं। जिस आयुका बन्धकी विशेषज्ञके कारण अपवर्तन नहीं हो सकता, वह भी पुद्गल द्रव्यका ही उपकार है। एव च जिसका अपवर्तन हो सकता है, उसमें भी पुद्गलका ही उपकार है। जीवनमें जो सहायक है, उनसे विरुद्ध स्वभाव रखनेवाले पुद्गल मरणके उपकारक समझने चाहिये।

पहले सूत्रमें शरीरादिके द्वारा पुद्गल द्रव्यका उपकार बताया है, और इस सूत्रमें सुखादिके द्वारा बताया है। इस प्रकार विभाग करनेका कारण यह है, कि सुखादिकमें कर्मके उदय की अपेक्षा है, और शरीरादिकमें पुद्गलोंके ग्रहणमात्रकी अपेक्षा है। जैसे कि सुखमें साता वेदनीयकर्मके उदयकी और दुःखमें असातावेदनीयकर्मके उदयकी अपेक्षा है। जीवनमें आयुर्कर्मके उदयकी और मरणमें उसके अभावकी अपेक्षा है।

भाष्यम्—अत्राह—उपपन्न तावदेतद् सोपक्रमणामपवर्तनीयायुषाम् । अथानपवर्त्यायुषां कथमिति । अत्रोच्यते—तेषामपि जीवितमरणोपग्रह पुद्गलानामुपकार । कथमिति चेत् तदुच्यते—कर्मण स्थितिक्षयाभ्याम् । कर्म हि पौद्गलमिति । आहारश्च त्रिविधः सर्वेषामेवोपकुरुते । किं कारणम् ? शरीरस्थित्युपचयबलवृद्धिर्भीत्यर्थं ह्याहार इति ॥

अर्थ—प्रश्न—जिनके आयुर्कर्मका अनशन अथवा रोग आदिकी बाधासे, अपक्षय होता हो, या अन्य किन्हीं कारणोंसे अपवर्तन होता हो, उनके लिये पुद्गल द्रव्यका उपकार माना जाय, यह तो ठीक है, परन्तु जिनकी आयु अनपवर्त्य है, ऐसे देव नारक चरमशरीरी उत्तम पुरुष और भोग चमियोंके जीवन और मरणमें पुद्गलका उपकार किस तरह माना जा सकता है ? उत्तर—नो अनपवर्त्य आयुके धारक हैं, उनके जीवन और मरणमें भी पुद्गल द्रव्यका उपकार है।

प्रश्न—जब उनकी आयु न बढ़ सकती है, और न घट सकती है, फिर पुद्गल द्रव्य उसमें क्या उपकार करते हैं ? उत्तर—कर्मकी स्थिति और क्षयके द्वारा उनके भी पुद्गल उपकार किया करते हैं। क्योंकि ज्ञानावर्णादिक सभी कर्म पौद्गलिक हैं। आयुर्कर्म भी पौद्गलिक ही है। देवादिकोंका जीवन मरण कर्मके उदय और क्षयकी अपेक्षासे ही हुआ करता है। अतएव उनके

१—टीकाकारने विभागका कारण यही लिखा है। यथा—“सुखादीनामुदयापेक्षत्वाद् प्राच्यानां प्रद्वणमात्र विषयत्वात्।” परन्तु यह हेतु हमारी समझमें ठीक नहीं आया, क्योंकि कर्मका उदय दोनोंमें ही निमित्त है। सुखादिक में यदि वेदनीयादिके उदयकी अपेक्षा है, तो शरीर योग्य पुद्गलोंके ग्रहणमें भी शरीरानामकमें और धन संपातादिके उदयकी अपेक्षा है। श्लोकार्थिककार श्रीविद्यानन्दि आचार्यने इस विभागका कारण ऐसा बताया है, कि शरीरादिकमें पुद्गलविषाकी कर्मोंके उदयकी अपेक्षा है, और सुखादिकमें जीव विषाकी कर्मोंकी अपेक्षा है, तथा आयुर्कर्मकी भी उन्होंने कथिञ्च जीवविषाकी माना है।

मी पुद्गलोंका उपकार सिद्ध है । इसके सिवाय तीन प्रकारकी आहार जो माना है, वह, ते प्राणिमात्रके लिये उपकारक है । इसका कारण^१ कारण यह है, कि शरीरकी स्थिति रक्षा और वृद्धि तथा बलकी वृद्धि और प्रीति^२ आदि आहारके द्वारा ही सिद्ध हुआ करते हैं ।

भावार्थ—धास्तवमें जीव अमूर्त है, और इसीलिये अदृश्य है । ससारी जीवोंका एक श्रेयावगाह कर्मनोकर्मरूप पुद्गलके साथ हो रहा है, और उसके निमित्तसे ही सब कार्य होते हैं । ससारी प्राणियोंको सुख दुःखका अनुभव जो होता है, वह भी पुद्गलाश्रित ही है, क्योंकि उनको जो सुख अथवा दुःख होता है वह कर्मजनित और सेन्द्रिय तथा शरीराधीन होता है न कि आत्मसमुत्थ । सुखादिके होनेमें अन्तरङ्ग कारण कर्मोदय और बाह्य कारण नोकर्म तथा तीन प्रकारका आहार प्रभृति है । अतएव सुखादिकर्म मी पुद्गल द्रव्यका ही उपकार मानना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—शृङ्गीमस्तावदूधर्माधर्माकाशपुद्गलजीवद्रव्याणामुपकुर्वन्तीति । अथ जीवाना क उपकार इति^३ अत्रोच्यते ।—

अर्थ—प्रश्न—धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल जीवोंका उपकार करते हैं, यह बात समझे, परन्तु जीव द्रव्य किस तरह उपकार करते हैं^४ वे दूसरे जीवोंका ही उपकार करते हैं, या क्या^५ अथवा धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल निरन्तर पर पदार्थोंका अनुग्रह करते हैं तो समझे । सभी धर्मादिक द्रव्य जीवोंका उपकार करते हैं, धर्म अधर्म और आकाश पुद्गल द्रव्यका उपकार करते हैं, आकाश द्रव्य धर्म अधर्म और पुद्गलका उपकारक है । इस प्रकार ये द्रव्य पर पदार्थोंका जो अनुग्रह करते हैं, सो हमारी समझमें आया, परन्तु जीव द्रव्य क्या उपकार करता है सो अभी तक नहीं मालूम हुआ । अतएव उसीको कहिये कि उसका क्या उपकार है^६ उत्तर—

सूत्र—परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥ २१ ॥

भाष्यम्—परस्परस्य हितहितोपदेशाभ्यामुपग्रहो जीवानामिति ॥

अर्थ—जीवोंका उपकार परस्परमें—एक दूसरेके लिये हित और अहितका उपदेश देनेके द्वारा हुआ करता है ।

१—जो—आहार लोमाहार और प्रक्षेपाहार । जिस तरह धीमें पडा हुआ प्ला सब तरफसे धीको खींचता है, वही प्रकार मत्स्यन्तरसे गर्भमें आया हुआ जीव अपयोस अवस्था और जमकालमें सभी प्रदेशोंके द्वारा घारी योग्य पुद्गलोंको ग्रहण किया करता है, इसको ओज—आहार कहते हैं । पर्याप्त अवस्थामें त्वगिन्द्रियके द्वारा जो ग्रहण होता है, उसको लोमाहार कहते हैं । प्रास लेकर जो भोजारूपसे ग्रहण होता है, उसको कपलाहार या प्रक्षेपाहार कहते हैं । दिगम्बर सम्प्रदायमें छह प्रकारका आहार माना है ।—नोकर्म आहार, कर्म आहार, कवलाहार, टेप्याहार ओज—आहार, और मानस—आहार । यथा—गोकम्म कमदारी, कवलाहारां य टेप्याहारा । ओजमणोविय कमतो, आहारोष्ठम्बिहोणेओ ॥ २—स्थितिका अर्थ अवस्थान, रक्षावा अर्थ थावक कारणकी निवृत्ति, शुद्धिका अर्थ कर्मनिवृत्त—बदना है । उपचयका अर्थ मोस मन्वाका पोषण, बलका अर्थ उत्साह शक्ति, प्राणका अर्थ सामर्थ्य, और

भावार्थ—भविष्यमें और वर्तमानमें जो शक्य है, युक्त है और न्याय्य है, उसको हित समझना चाहिये, और जो इसके विपरीत है, उसको अहित समझना चाहिये । प्रत्येक जीव परस्परको हिताहितका उपदेश देकर अनुग्रह किया करता है । जैसा उपदेशके द्वारा जीवोंका उपकार होता है, वैसा घनदानादिके द्वारा नहीं हो सकता । अतएव उसीको यहाँ-पर मुरुपतया उपकाररूपसे बताया है । यहाँपर उपकारका अर्थ निमित्त है, इसलिये अहितो-पदेश अथवा अहितानुष्ठानको भी यहाँ उपकार शब्दसे ही कहा है । पहले यद्यपि उपयोग जीवका लक्षण बताया जा चुका है, परन्तु वह अन्तरङ्ग लक्षण है, और यह परस्परोपकारिता उसका बाह्य लक्षण है ।

भाष्यम्—अत्राह—अथ कालस्योपकार क इति ? अत्रोच्यते—

अर्थ—प्रश्न—पचास्तिकायरूप घर्मादिकु द्रव्योंका उपकार क्या है, सो मालूम हुआ । परन्तु अकाररूप जो काल द्रव्य माना है, उसका अभीतक उपकार नहीं बताया । अतएव कहिये कि उसका क्या उपकार है ?

भावार्थ—अभीतक सूत्रद्वारा जिनका उल्लेख किया गया है, वे धर्म अधर्म आकाश पुद्गल और जीव ये पाँच ही द्रव्य हैं । जबकि कालको अभीतक द्रव्यरूपसे बताया ही नहीं है, तब उसके उपकारके विषयमें प्रश्न करना युक्तिसंगत कैसे कहा जा सकता है । यह ठीक है, परन्तु आगे चलकर "कालश्च" ऐसा सूत्र भी कहेंगे । उस सूत्रके द्वारा जिसका उल्लेख किया जायगा उस कालका जबतक असाधारण लक्षण या उपकार नहीं बताया जाय, तबतक यह नहीं मालूम हो सकता, कि वह घर्मादिकमें ही अन्तर्भूत है, अथवा पदार्थान्तर है । और इसी लिये यह प्रश्न किया गया है, कि कालका क्या उपकार है ? उत्तर—

सूत्र—वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥२२॥

भाष्यम्—तद्यथा—सर्वभावाना वर्तना कालाश्रया वृत्ति । वर्तना उत्पत्ति, स्थितिरथ गति प्रथमसमयाश्रयेत्यर्थ । परिणामो द्विविध—अनादिरादिमाश्च । त परस्ताद् वक्ष्याम । क्रिया गति, सा त्रिविधा—प्रयोगगति विश्रसागति मिश्रिकेति । परत्वापरत्वे त्रिविधे—प्रशसा-कृते, क्षेत्रकृते, कालकृते इति । तत्र प्रशसाकृते परो धर्म पर ज्ञानमपरोऽधर्म अपरमज्ञान-मिति । क्षेत्रकृते एकविकालावस्थितयोर्विप्रकृष्ट परो भवति, सन्निकृष्टोऽपर । कालकृते द्विरष्टवर्षाद् वर्षशतिक परोभवति, वर्षशतिकाद्द्विरष्टवर्षोऽपरो भवति । तदेव प्रशसाक्षेत्र-कृते परत्वापरत्वे वर्जयित्वा वर्तनादीनि कालकृतानि कालस्योपकार इति ॥

अर्थ—जो कार्यके द्वारा अनुमानसे सिद्ध है, और जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा, उस कालका उपकार वर्तना परिणाम क्रिया और परत्वापरत्व है । वह इस प्रकारसे है, कि—प्रथम समयके आश्रयसे होनेवाली गति स्थिति उत्पत्ति और वर्तना ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं । कालके आश्रयसे सम्पूर्ण पदार्थोंका

जो वर्तन होता है, उसको वर्तना कहते हैं। परिणाम दो प्रकारका है—अनादि और आदिमान्। इसका वर्णन आगे चल कर किया जायगा। किया शब्दसे यहाँपर गति ली गई है। वह तीन प्रकार की है—प्रयोगगति, विखसागति, और मिश्रगति। परत्वापरत्व तीन प्रकारका है—प्रशसाकृत, क्षेत्रकृत, और कालकृत। धर्म महान् है, ज्ञान महान् है, अधर्म निकृष्ट है, अज्ञान निकृष्ट है, इसी प्रकारसे किसी भी वस्तुकी प्रशसा या निन्दा करनेको प्रशसाकृत परत्वापरत्व समझना चाहिये। एक समयमें एक ही दिशामें ठहरे हुए दो पदार्थोंमेंसे जो दूरवर्ती है, उसको पर कहा जाता है, और जो निकटवर्ती है, उसको अपर कहा जाता है। इसका नाम क्षेत्रकृत परत्वापरत्व है। सोलह वर्षकी उमरवालेसे सौ वर्षकी उमर वाला पर—बड़ा कहा जाता है, और सौ वर्षकी उमरवालेसे सोलह वर्षकी उमरवाला अपर—छोटा समझा जाता है। इसीको कालकृत परत्वापरत्व कहते हैं। इनमेंसे प्रशसाकृत और क्षेत्रकृत परत्वापरत्वको जोड़कर बाकीका कालकृत परत्वापरत्व और वर्तना परिणाम तथा क्रिया यह सब कालद्रव्यका उपकार है।

भावार्थ—सभी पदार्थ अपने अपने स्वभावके अनुसार वर्त रहे हैं, और सदा वर्तते हैं। किन्तु इसको वर्तनेवाला काल द्रव्य है। कालकी यह प्रयोजक शक्ति ही वर्तना शब्दके द्वारा यहाँ बताई है। किन्तु धर्मादिक द्रव्य जिस तरह उदासीन कारण माने हैं, उसी प्रकार काल द्रव्य भी उदासीन प्रयोजक है। किन्तु पदार्थोंके वर्तनमें वह बाह्य निमित्त कारण है अवश्य। यदि काल कारण न माना जायगा, तो बड़ी गड़बड़ उपस्थित होगी। क्योंकि हर एक पदार्थके क्रमभावी परिणामन युगपत् उपस्थित होंगे। अन्तरङ्ग और कालके सिवाय बाकी सब बाह्य कारणोंके मिल जानेपर फिर कौन ऐसी शक्ति है, कि जो भविष्य परिणामोंको नहीं होने देती। अतएव काल भी एक कारणभूत द्रव्य मानना पड़ता है।

वर्तना आदिक कालके उपकार हैं—असाधारण लक्षण हैं। क्योंकि यदि काल न हो, तो द्रव्योंका वर्तन ही नहीं हो सकता, और न उनका परिणामन हो सकता, न गति हो सकती और न परत्वापरत्वका व्यवहार ही बन सकता है।

भात बनानेके लिये चावलोंको बटलेईमें डाल दिया, बटलेईमें पानी भरा हुआ है, नीचे अग्नि जल रही है, इत्यादि सभी कारणोंके मिल जानेपर भी पाक प्रथम क्षणमें ही सिद्ध नहीं होता, योग्य समय लेकर ही सम्पन्न हुआ करता है। फिर भी यदि प्रथम क्षणमें ही उस पाकका कुछ भी अंश सिद्ध हुआ नहीं माना जायगा, तो द्वितीयादिक क्षणोंमें भी वह नहीं माना जा

१—वर्तन्ते पदार्था, तेषां वर्तयिता काल । स्वयमेव वर्तमाना पदार्था वर्तन्ते यथा सा कालाभया प्रयोजिका वृत्ति वर्तना । वृत्तधाता "प्याश्रययुच्" (पा० अ० ३ पाद ३ सूत्र १०७) इति युच । अथवा वृत्तिवर्तनशैलता अत्रुदात्तेतश्च ह्लादे " (पा० अ० ३ पाद २ सूत्र १५९) इति युच । अर्थात्—प्रतिद्रव्यपर्योयमन्तर्णतिक समयस्वसत्तावृत्ति वर्तना ।

सकना । अतएव पाककी वृत्ति-वर्तना प्रथम क्षणसे ही होती है । इसी लिये वर्तनाको प्रथम समयधर्या कहा है । इसी प्रकार प्रनिक्षणकी वर्तनाके विषयमें समझना चाहिये । क्षणवर्ती पर्याय या परिवर्तन इतना सूक्ष्म है, कि वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता, और इसी लिये उसके आकार आदिका कोई वर्णन भी नहीं कर सकना, जैसा कि पहले कहा भी जा चुका है, किन्तु स्थूल परिवर्तनको देखकर उसका अनुमान होना है । वह अनुमानगम्य परिवर्तन अपनी सत्ताका अनुभव करनेमें एक ही क्षण लगाता है । अतएव वर्तनाको अन्तर्नीतैःसमया कहा है ।

कोई कोई कहते हैं, कि वस्तुक्रिया अथवा पदार्थोंका वर्तन सूर्यकी गतिके आधीन है । उसीसे काल नामका सम्पूर्ण व्यवहार सिद्ध होता है । कालनामका कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है । सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि सूर्यकी गतिक्रियामें भी कालकी ही अपेक्षा है । अन्यथा उसका भी प्रतिसमय परिवर्तन क्रमसे नहीं हो सकता । इसके सिवाय जहाँपर सूर्यकी गति क्रिया नहीं पाई जाती, ऐसे स्वर्गादिकोंमें कालकृत व्यवहार किसतरह सिद्ध होगा ? अतएव काल भी एक द्रव्य मानना ही चाहिये ।

परिणामका स्वरूप आगे चलकर “तद्भाव परिणाम ” इस सूत्रके प्रसङ्गमें कहेंगे । उसके साष्टि और अनादि भेदोंमें तथा तीनों प्रकारकी गतिमें और कालकृत परत्वापरत्वमें जो कालकी अपेक्षा पडती है, वह स्पष्ट ही है । अतएव उसके विषयमें विशेष आगम-ग्रथोंसे जानना चाहिये ।

भाष्यम्—अत्राह—उक्त भवता शरीरादीनि पुद्गलानामुपकार इति । पुद्गला इति च तन्ब्रान्तरिीया जीवान् परिभाषन्ते । स्पर्शादिरहिताश्चान्ये । तत्कथमेतद्विति ? अत्रोच्यते—एतदादिविप्रतिपत्तिप्रतिषेधार्थं विशेषवचनविवक्षयाचेदमुच्यते—

अर्थ—प्रश्न—आपने शरीरादिक पुद्गल द्रव्यके उपकार हैं, ऐसा कहा है, परन्तु कितने ही मत-वाले पुद्गल शब्दसे जीवको कहते हैं^१ । उनके मतमें जीव और पुद्गल दो स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं । या यों कहिये कि जिस प्रकारका जीव द्रव्य उपयोग लक्षणवाला पुद्गलसे भिन्न आपने माना है, वैसा वे नहीं मानते । इसके सिवाय किसी किसीके मतमें जीव और पुद्गल दो माने तो है, परन्तु उन्होंने पुद्गलोंको स्पर्शादि गुणोंसे रहित भी माना है^२ । अतएव कहिये कि यह किस प्रकारसे है ? पुद्गलका स्वरूप कैसा माना जाय ? उत्तर—तुमने जिस विप्रतिपत्तिका उल्लेख किया है, उसका और उसी तरहकी और भी जो विप्रतिपत्ति इस विषयमें है, उन सबका निषेध करनेके लिये और पुद्गल द्रव्यका विशेषतया स्वरूप बतानेकी इच्छासे ही आगेका सूत्र किया जाता है—

*—सर्वेश्वरवादो नास्तिक अथवा बार्हस्पत्यसिद्धान्तवाले । २—वैशेषिकोंने पृथ्वी आदिको क्रमसे चार गुण तीन गुण दो गुण और एक गुणवाला माना है ।

१४६ वम्बई, कार्तिक सुदी १३ सोम १९४७

१ जिसने इसके स्वप्नका दर्शन प्राप्त किया है, उसका मन किसी दूसरी भी जगह भ्रमण नहीं करता। जिसे कृष्णका लेशमात्र भी समागम रहता है, उसके मनको ससारका समागम ही अच्छा नहीं लगता ॥ १ ॥

मे जिस समय हँसते खेलते हुए प्रगटरूपसे हरिको देखूँ, उसी समय मेरा जीवन सफल है। ओषाकनि कहते हैं कि हे उन्मुक्त आनन्दमें विहार करनेवाले ! तू ही हमारे जीवनका एक मात्र आधार है ॥ २ ॥

२ ग्यारहवें गुणस्थानमेंसे च्युत हुआ जीव कमसे कम तीन, ओर अधिकसे अधिक पन्द्रह भ्रमण करता है, ऐसा अनुभव होता है। ग्यारहवेंमे प्रकृतियोंका उपशमभाज होनेसे मन, वचन ओर शरीरका योग प्रबल शुभभाजमें रहता है, इससे सात्ताका वप होता है, और यह सात्ता बहुत करके अधिक अनुत्तर विमानोंमें ले जानेवाली ही होती है।

१४६

एतु स्वप्ने जो दर्शन पांमेरे, तेनु मन न चढे वीजे भांमेरे,
थाय कृष्णनो लेश प्रसंगेरे, तेने न गमे ससारनो सगरे ॥ १ ॥
हसता रमता प्रगट हरी देखुरे, मारू जीज्यु सफल तव लेखुरे,
मुक्कानन्दनो नाथ विहारिरे, ओषा जीवनदोरी अमारिरे ॥ २ ॥



श्रीमद् राजचन्द्र.

वर्ष २४ सु

दि स १९४७

२४वाँ वर्ष

१४७

जम्बई, कार्तिक सुदी १४, १९

(१)

आत्माने ज्ञान पा लिया, यह तो निःसंशय है, प्रथी-भेद हो गया, यह तीनों कालोंमें सत्य है, सन ज्ञानियोंने भी यह बात स्वीकार की है। अब अन्तकी निर्भिकल्पसमाधि पाना ही राकी है, जो सुलभ है, ओर उसके पानेका हेतु भी यही है कि किसी भी प्रकारसे अमृत-सागरका लोकन करते हुए थोड़ीसी भी मायाका आरण बाधा न पहुँचा सक, अजलोकन-सुखका किचित भी त्रिस्मरण न हो जाय, एक 'तू ही तू' के त्रिना दूसरी रटन न रहे, और मायामय किमी भयका, मोहका, सरूप और विकल्पका एक भी अश बाकी न रह जाय।

यदि यह एकत्र भी योग्य रीतिसे प्राप्त हो जाय तो फिर चाहे जैसे आचरण किया जाय, जैसे बोला जाय, चाहे जैसे आहार-विहार किया जाय, तो भी उसे किसी भी तरहकी बाधा न उसे परमात्मा भी पहुँच नहीं सकते, और उसका किया हुआ सभी कुछ ठीक है। ऐसी दशा पां परमार्थके लिये किया हुआ प्रयत्न सफल होता है, ओर ऐसी दशा हुए त्रिना प्रगट-मार्गके प्रकाश करनेकी परमात्माकी आज्ञा नहीं है, ऐसा मुझे मालूम होता है, इसलिये इस दशाको पानेके बाद प्रगट-मार्गको कहने और परमार्थका प्रकाश करनेका दृढ निश्चय किया है, तबतक नहीं, और दशाको पानेमें अब कुछ अधिक समय भी नहीं है। रुपयेंसे पन्द्रह आनेतक तो इसे पा गया निर्भिकल्पता तो है ही, परन्तु निवृत्ति नहीं है। यदि निवृत्ति हो तो दूसरोंके परमार्थके लिये क्या कर चाहिये, उसका विचार किया जा सके। उसके बाद त्यागकी आवश्यकता है, और उसके बाद दूसरोंके द्वारा त्याग करनेकी आवश्यकता है।

महान् पुरुषोंने कैसी दशा पाकर मार्गका उपदेश किया है, क्या क्या करके मार्गका उपदेश किया है, इस बातका आत्माको अच्छी तरह स्मरण रहा करता है, ओर यही बात हम बातका चिह्न मात्र होती है कि प्रगट मार्गका उपदेश करने देनेकी ईश्वरीय इच्छा है। इसके लिये अभी हालमें तो सम्पूर्ण गुप्त हो जाना ही योग्य है। एक अक्षर भी इस विषयमें बात करनेकी इच्छा नहीं होती। आपकी इच्छाके रक्षा करनेके लिये कुछ कुछ प्रवृत्ति रहती है, अथवा बहुत परिचयमें आये हुए योगपुरुषकी इच्छा के लिये कुछ कहना अथवा लिखना पड़ता है, इसके सिवाय अन्य सन प्रकारसे गुप्तता ही रक्खी है अज्ञानी होकर बास करनेकी इच्छा रोक रक्खी है, जिससे कि अपूर्णकालमें ज्ञानके प्रकाश होनेपर बाध न आये।

इतने कारणोंसे के लिये कुछ नहीं लिखता। गुणगुणा इयातिका उत्तर नहा लिखता। सूत्रको दृष्टातक भी नहीं हूँ। केवल व्यवहारकी रक्षाके लिये थोड़ीसी पुस्तकोंके पत्रे उलटता हूँ। राकी तो सभी कुछ पत्थरपर पानीके चित्र जैसा रख छोड़ा है। तमय आत्म योगमें प्रवेश है, वही उल्लास है,

योजना भी है, और योग (मन, वचन और काय) बाह्यरूपमें पूर्वकर्मको भोग रहा है ।
नाश होनेतक गृहस्थाशासमें रहना योग्य लगता है । परमेश्वर जान बूझकर वेदोदय रखता
कि पचमकालमें परमार्थकी वर्षा ऋतु होने देनेकी उमकी थोड़ी ही इच्छा मादूम होती है ।
तीर्थकरने जो जो समझा अथवा जो जो प्राप्त किया है उसे इस कालमें न समझ सकें
न पा सकें, ऐसी कोई भी बात नहीं है, यह निर्णय बहुत समयसे कर रक्खा है । यद्यपि तीर्थकर
इच्छा नहीं है, परन्तु तीर्थकरके क्रिये अनुसार करनेकी इच्छा है, द्रतनी अधिक उमत्तता आ
उत्तमे शमन करनेकी शक्ति भी आ गई है, परन्तु जान बूझकर ही शमन करनेकी इच्छा
। ।

आपसे निश्चि है कि वृद्धसे युवा बनें, और इस अलख-यातके अप्रणीके भी अप्रणी बनें ।
खेको बहुत समझना ।

गुणठाणाओंके भेद केवल समझनेके लिये किये हैं । उपशम और क्षपक ये दो तरहकी श्रेणियाँ
पशममें प्रत्यक्ष-दर्शनकी समाप्ता नहीं होती, किन्तु क्षपकमें होती है । प्रत्यक्ष-दर्शनकी समाप्ताके
यह जीव ग्यारहवें गुणस्थानतक जाकर वहाँसे पीछे लौटता है । उपशमश्रेणी दो प्रकारकी
क आज्ञारूप, आर दूसरी मार्गको जाने बिना स्वाभाविक उपशम होनेरूप । आज्ञारूप उपशम-
ला आज्ञाका आराधन होनेतक पतित नहीं होता, किन्तु पिछला तो एकदम ठेठ पहुँच जानेके
ी मार्ग न जाननेके कारण पतित हो जाता है । यह आँखसे देखी हुई, और आत्मासे अनुभव की
त है । समझ है, यह किसी शास्त्रमें मिल भी जाय, और न मिले तो कोई हर्ज नहीं । यह बात
रके हृदयमें थी, यह हमने जान लिया है ।

दशपूर्वधारी इत्यादिकी आज्ञाका आराधन करनेकी महानीरदेवकी शिक्षाके विषयमें आपने
खा है वह ठीक है । इसने तो बहुत ही अधिक कहा था, परन्तु उसमेंसे थोडा ही बाकी बचा
पर प्रकाशक पुरुष गृहस्थाशासमें है, बाकीके गुफामें हैं । कोई कोई जानते भी है, परन्तु उनमें
योगबल नहीं ।

आधुनिक कहे जानेवाले मुनियोंका सूत्रार्थ सुननेतकके भी योग्य नहीं । सूत्र लेकर उपदेश
ती कुछ दिनों पीछे जरूरत नहीं पड़ेगी । सूत्र और उसके कोने कोने सब कुछ जाने हुए है ।

(२)

(१) जिनसे मार्ग चला है, ऐसे महान् पुरुषोंके विचार, बल, निर्भयता आदि गुण भी
ही थे ।

एक राज्यके प्राप्त करनेमें जितने पराक्रमकी आवश्यकता है उससे भी कहीं अधिक पराक्रमकी
त्यक्ता अपूर्व अभिप्रायसहित धर्म-सततिके चलानेके लिये चाहिए ।

थोड़े समय पहिले मुझमें वैसी तथारूप शक्ति मादूम होती थी, अभी उसमें विकलता देखनेमें
है, उसका हेतु क्या होना चाहिये. यह विचार करने योग्य है ।

सभव है, वह मार्ग सप्रदायकी रीतिद्वारा बहुतसे जीनोंको मिल भी जाय, किन्तु दर्शनकी रातिसे तो वह फिरले ही जीनोंको प्राप्त होता है ।

यदि जिनभगवान्का अभिमत मार्ग निरूपण करने योग्य गिना जाय तो उसका सप्रदाय-भेदकी कोटिसे निरूपण होना बिलकुल असभव है, क्योंकि उस मार्गकी रचनाको साप्रदायिक स्वरूपमें लाना अत्यन्त कठिन है ।

दर्शनकी अपेक्षासे किसी जीनका उपकारी होने जितना विरोध आता है ।

(२) जो कोई महान् पुरुष हुए हैं वे पहिलेसे ही स्वस्वरूप (निजशक्ति) समझ सकते थे, मानी महान् कार्यके बीजको पहिलेसे ही अव्यक्तरूपमें वपन किये रखते थे—अथवा स्वाचरणको अनिरोध जैसा रखते थे ।

मुझमें वह दशा विशेष विरोधमें पड़ी हुई जैसी माद्धम होती है । वह विरोध क्यों माद्धम होता है, उसके कारणोंको भी यहाँ लिख देता हूँ —

१ ससारीकी रीतिके समान विशेष व्यवहार रहनेसे ।

२ ब्रह्मचर्यका धारण ।

(३)

वीतराग दर्शन

(१) उद्देश प्रकरण
सर्वज्ञ-मीमांसा
पददर्शन अपलोकन
वीतराग अभिप्राय विचार
व्यवहार प्रकरण
मुनिधर्म
आगारधर्म
मतमतातर निराकरण
उपसंहार
(२) नवतत्त्वविचेन
गुणस्थानविवेचन
कर्मप्रकृतिविचेन
विचारपद्धति
श्रवणादिविचेन
बोधजीवसपत्ति
जीवाजीवनिभक्ति
शुद्धात्मपदभाजना

(३) अग उपाग मूल उद्देश
आशय प्रकाशिता टीका
व्यवहारहेतु
परमार्थहेतु
परमार्थ गौणताकी प्रसिद्धि
व्यवहार विस्तारका पर्यवसान
अनेकांतदृष्टि हेतु
स्वगत मतातर निवृत्तिप्रयत्न
उपक्रम उपसंहार अरिसिधि लोकवर्णन
स्थूलत्व हेतु
वर्तमानकालमें आत्मसाधन भूमिका
वीतरागदर्शन व्याख्याका अनुक्रम

(४) मूल

लोकसंस्थान ?

धर्म अधर्म अस्तिकायरूप द्रव्य ?

स्वाभाविक अभव्यत्व ?

अनादि अनत सिद्धि ?

अनादि अनतका ज्ञान किस तरह हो ?

आत्माका सकोच-प्रिस्तार ?

सिद्ध ऊर्ध्वगमन—चेतन, खडकी तरह क्यों नहीं है ?

केवलज्ञानमें लोकालोकाका ज्ञान कैसा होता है ?

लोकस्थिति मर्यादाका हेतु ?

शाश्वत वस्तु लक्षण ?

उत्तर.

उन उन स्थानोंमें रहनेवाली सूर्य चन्द्र आदि वस्तु
अथवा नियमित गति हेतु ?

दु पम सुपम आदि काल ?

मनुष्यकी ऊँचाई आदिका प्रमाण ?

अग्निफाय आदिका निमित्तयोगसे एकदम उत्पन्न
हो जाना ?

एक सिद्धमें अनत सिद्धोंकी अग्रगहना ?

१४८

वन्वर्द्ध, कार्तिक १९४७

(१)

उपशमभाव

सोलह भावनाओंसे भूषित होनेपर भी जहाँ स्वयं सर्वोत्कृष्ट माना गया है, वहाँ दूसरोंकी उत्कृष्टताके कारण अपनी न्यूनता होती हो, और कोई मत्सरभाव आकर चला जाय तो वह उसको उपशम-भाव या, क्षायिक नहीं या, यह नियम है ।

(२)

यह दशा क्यों घट गई ? और यह दशा बढ़ी क्यों नहीं ? लोकके समक्षसे, मानेच्छासे, अजा-गुत्तपनेसे, और स्त्री आदि परिपहोंकी जय न करनेसे ।

जिस क्रियामें जीनको रँग लगता है, उसकी यही स्थिति होती है, ऐसा जो जिनभगवान्का अभिप्राय है वह सत्य है ।

श्रीतीर्थकरने महामोहनीयके जो तीस स्थान कहे हैं, वे सत्य हैं ।

अनतज्ञानी पुरुषोंने जिसका कोई भी प्रायश्चित्त नहीं कहा और जिसके त्यागकी ही एकांत आज्ञा दी है, ऐसे काममे जो व्याकुल नहीं हुआ, वही परमात्मा है ।

१४९

वन्वर्द्ध, कार्तिक सुदी १४, १९४७

अनन्तकालसे आत्माको आमत्रिपयक जो भ्रांति हो रही है, यह एक अवाच्य अद्भुत विचार करने जैसी बात है । जहाँ मतिकी गति नहीं, वहाँ वचनकी गति कैसे हो सकती है ?

निरंतर उदासीनताके क्रमका सेवन करना, सत्पुरुषकी भक्तिमें लीन होना, सत्पुरुषोंके चरित्रोंका स्मरण करना, सत्पुरुषोंके लक्षणोंका चिंतन करना, सत्पुरुषोंकी मुखाकृतिका हृदयसे अवलोकन

करना, उनके मन, उचन और कायकी प्रत्येक चेष्टाके अद्भुत रहस्योंका फिर फिरसे निदि यासन करना, और उनके द्वारा माने हुएको सर्वथा माय करना ।

१५० बम्बई, कार्तिक सुदी १४, बुव १९४७

निरतर एक ही श्रेणी रहती है । पूर्ण हरि कृपा है ।

(सत् श्रद्धाको पाकर)

जो कोई तुम्हारी धर्मके निमित्तसे इच्छा करे उसका सम रखो ।

१५१ बम्बई, कार्तिक वदी ३ शनि १९४७

यह दृढ विश्वासपूर्वक मानना कि यदि इसको उदयकालमें व्यवहारका वजन न होता तो यह तुम्हें ओर दूमेरे गद्दतसे मनुष्योंको अपूर्ण हितको देनेवाला होता । जो कुछ प्रवृत्ति होती है, उसके कारणसे उसने कुछ विपमता नहीं मानी, परंतु यदि उसे निवृत्ति होती तो यह दूसरी आत्माओंके लिये मार्ग मिलनेका कारण हो जाता । अभी उसे विव्रन होगा । पचमकालकी भी प्रवृत्ति है, इस भ्रममें मोक्ष जानेवाले मनुष्योंका सभय होना भी कम है, इत्यादि कारणोंसे ऐसा ही हुआ होगा, तो उसके लिये कुछ खेद नहीं ।

१५२ बम्बई, कार्तिक वदी ५ सोम १९४७

सतकी शरणमें जा

सत्सग यह बड़ेसे बड़ा साधन है ।

सत्पुरुषकी श्रद्धाके बिना छुटकारा नहीं ।

इन दो विषयोंका शाल इत्यादिसे उनको उपदेश करते रहना । सत्सगकी वृद्धि करना ।

१५३ बम्बई, नारायदा मोहल्ला, कार्तिक वदी ९ शुक्र १९४७

एक ओर तो परमार्थ-मार्गको शीघ्रतासे प्रकाशित करनेकी इच्छा है, और दूसरी ओर अलख ' लय ' में लीन हो जानेकी इच्छा रहती है । यह आत्मा अलख ' लय ' में पूरी पूरी समाविष्ट हो गई है । योगके द्वारा समावेश करना यही एक रटन लगी हुई है । परमार्थके मार्गको यदि गद्दतसे मुमुक्षु पाये, अलख-समाधि पाये, तो बहुत अच्छा हो, ओर इसके लिये कुछ मनन भी है । दीनबधुकी जेसी इच्छा होगी वैसा हो रहेगा ।

निरतर ही अद्भुत दशा रहा करती है । हम अगधूत हुए हैं, और अगधूत करनेकी गद्दतसे जीनोंके प्रति दृष्टि हैं ।

महावीरदेवने इस कालको पचमकाल कहकर दु पम कहा, व्यासने कलियुग कहा, इस प्रकार

अनेक महापुरुषोंने इस कालको कठिन कहा है, यह बात निस्सन्देह सत्य है, क्योंकि भक्ति और सत्संग विदेश चले गये हैं, अर्थात् सप्रदायमें नहीं रहे, ओर इनके मिले विना जीवका छुटकारा नहीं। इस कालमें इनका मिलना दु पम हो गया है, इसीलिये इस कालको दु पम कहा है, यह बात योग्य ही है। दु पमके त्रिपयमें कमसे कम लिखनेकी इच्छा होती है, परन्तु लिखने अथवा बोलनेकी अधिक इच्छा नहीं रही। चेष्टाके ऊपरसे ही समझमें आ जाया करे ऐसी निश्चल इच्छा है।

ॐ श्रीसद्गुरुचरणाय नमः

१५४

वम्बई, कार्तिक वदी ९ शुक्र १९४७

मुनि ..के सबधमें आपका लिखना यथार्थ है। भग-स्थितिकी परिपक्वता हुए विना, दीन-वधुकी कृपा विना, और सत-चरणकी सेवा विना तीनों कालमें भी मार्गका मिलना कठिन ही है।

जीवके ससार-परिभ्रमणके जो जो कारण है, उनमें मुख्य सत्रसे बड़े कारण ये हैं कि स्वयं जिस ज्ञानके त्रिपयमें शक्ति हैं, उसी ज्ञानका उपदेश करना, प्रगटरूपमें उसी मार्गकी रक्षा करनी, तथा उसके लिये हृदयमें चल-विचल भाव होनेपर भी अपने श्रद्धालुओंको उसी मार्गके यथार्थ होनेका उपदेश देना। इसी तरह यदि आप उस मुनिके सत्रधमें विचार करेंगे तो यह बात ठीक ठीक लागू होगी।

जिसका जीव स्वयं ही शकामें बुद्धिकियाँ खाता हो, फिर भी यदि वह नि शक मार्गके उपदेश कर नका दम रखकर समस्त जीवन बिता दे, तो यह उसके लिये परम शोचनीय है। मुनिके सबधमें यहाँ-पर कुछ कठोर भाषाओं लिखा गया है, ऐसा मादूम होता है, फिर भी यहाँ वैसा अभिप्राय बिलकुल भी नहीं है। जैसा है वैसा ही करणार्द्र चित्तसे लिखा है। इसी तरहसे दूसरे अनत जीव पूर्वकालमें भटके हैं, वर्तमानकालमें भटक रहे हैं, और भविष्यकालमें भी भटकेँगे।

जो छूटनेके लिये ही जीता है, वह बधनमें नहीं आता, यह वाक्य नि सदेह अनुभवपूर्ण है। बधनका त्याग करनेपर ही छुटकारा होता है, ऐसा समझनेपर भी उसी बधनकी वृद्धि करते रहना, उसीमें अपना महत्त्व स्थापित करना, ओर पूज्यताका प्रतिपादन करना, यह जीवको बहुत ही अधिक भटकानेवाला है। यह बुद्धि ससार-मीमाके निकट आये हुए जीवको ही होती है, और समर्थ चक्रवर्ती जैसी पदवीपर आरूढ़ होनेपर भी उसका त्याग करके कर-पात्रमें भिक्षा माँगकर जीने-वाले ऐसे जीव सतके चरणोंको अनत अनन्त प्रेमभाससे पूजते हैं, ओर वे जरूर ही छूट जाते हैं।

दीनबधुकी ऐसी दृष्टि है कि छूटनेके इच्छुकको बाँधना नहीं, और बँधनेके इच्छुकको छोड़ना नहीं। यहाँ किसी शकाशील जीवको ऐसी शका हो सकती है कि जीवको तो बँधना कभी भी अच्छा नहीं लगता, सबको छूटनेकी ही इच्छा रहती है, तो फिर जीव क्यों बँध जाता है ? इस शकाका इतना ही समाधान है कि ऐसा अनुभव हुआ है कि जिसे छूटनेकी दृढ इच्छा होती है, उसको बधनकी शका ही मिट जाती है, और इस कथनका साक्षी यह सत् है।

१५५ वम्बई, कार्तिक वदी १४ गुरु १९४७

अतरकी परमार्थ वृत्तियोंको थोड़े समयतक प्रगट करनेकी इच्छा नहीं होती । धर्मकी इच्छा करनेवाले प्राणियोंके पत्र, प्रश्न आदिको तो इस समय बचनरूप माना है, क्योंकि जिन इच्छाओंको अभी हालमें प्रगट करनेकी इच्छा नहीं, उनके कुछ अश मिश्र होकर इनके कारणसे प्रगट करने पड़ते हैं ।

नित्य नियममें तुम्हें तथा अय सब भाईयोंको इस समय तो मैं इतना ही कहता हूँ कि जिस किसी भी मार्गसे अनतकालसे प्रसित आप्रहका, अपनेपनका, और असत्सगका नाश हो उसी मार्गमें वृत्ति लगानी चाहिये, यही चिंतन रखनेसे और परभयका दृढ़ विश्वास रखनेसे कुछ अशोंमें जय प्राप्त हो सकेगी ।

DR. H. K. BHAKRODAR SHARMA

INDIAN LIBRARY

१५६

वम्बई, कार्तिक, वदी १४, गुरु १९४७

अभी हालमें तो मैं किसीको भी स्पष्टरूपसे धर्मोपदेश देनेके योग्य नहीं, अथवा ऐसा करनेकी मेरी इच्छा नहा है । इच्छा न होनेका कारण उदयमें रहनेवाले कर्म ही हैं । मैं तो यही चाहता हूँ कि कोई भी जिज्ञासु हो वह धर्मप्राप्त महापुरषसे ही धर्मको प्राप्त करे, तथापि मैं जिस वर्तमानकालमें हूँ वह काल ऐसा नहीं है ।

सबसे पहिले मनुष्यमें यथायोग्य जिज्ञासुपना आना चाहिये, पूर्णके आप्रहों ओर असत्सगको हटाना चाहिये, और जिससे धर्म प्राप्त करनेकी इच्छा हो वह रज्य भी उसे पाया हुआ है कि नहीं, इस बातकी पूर्ण जाँच करनी चाहिये, यह सतकी समझने जैसी बात है ।

१५७

वम्बई, मगसिर सुदी ४ सोम १९४७

नीचे एक वाक्यपर सामान्यतः स्याद्वाद घटाया है —

“ इस कालमें कोई भी मोक्ष नहीं जाता । ”

“ इस कालमें कोई भी इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता । ”

“ इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता । ”

“ इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ सर्वथा मोक्ष नहीं जाता । ”

“ इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्त नहीं होता । ”

अब इसके ऊपर सामान्य विचार करते हैं । पहिले एक आदर्शनि कहा कि इस कालमें कोई भी मोक्ष नहीं जाता । अर्थात् यह वाक्य निकला क्योंकि शक्य है कि क्या इस कालमें महाविदेहसे भी मोक्ष नहीं जाते ? वहाँसे तो जा सकते हैं, इसलिये फिरसे वाक्य बोले । अब उसने दूसरी बार कहा — इस कालमें कोई भी इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता । तब फिर प्रश्न हुआ कि जबू, सुधर्मास्वामी इत्यादि कैसे मोक्ष चले गये ? वह भी तो यही काल था, इसलिये फिर वह सामनेवाया पुरुष विचार करके बोला — ‘इस कालमें, कोई भी इस कालमें जन्मा हुआ इस क्षेत्रसे मोक्ष नहीं जाता ।’ फिर प्रश्न

हुआ कि किसीका मिथ्यात्व तो नाश होगा या नहीं ? उत्तर मिला कि हाँ, होता है । तो फिर शकाकारने पूँठा कि यदि मिथ्यात्व नष्ट हो सकता है तो मिथ्यात्वसे मोक्ष हुआ कहा जायगा या नहीं ? फिर सामनेवालेने जवाब दिया कि हाँ, ऐसा तो हो सकता है । अन्तमें शकाकार बोला कि ऐसा नहीं, परन्तु ऐसा होगा कि ' इस कालमें, कोई भी इस कालमें उत्पन्न हुआ सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्त नहीं होता । '

इसमें भी अनेक भेद हैं । परन्तु यहाँतक कदाचित् साधारण स्याद्वाद मानें तो यह जैनशास्त्रके लिये स्पष्टीकरण हुआ जैसा गिना जायगा । वेदान्त आदि तो इस कालमें भी सब कर्मोंसे सर्वथा मुक्तिका प्रतिपादन करते हैं, इसलिये अभी और भी आगे जाना पड़ेगा, उसके बाद कहीं जाकर वाक्यकी सिद्धि हो पाये । इस तरह वाक्य बोलनेकी अपेक्षा रखना उचित कहा जा सकता है, परन्तु ज्ञानके उत्पन्न हुए बिना इस अपेक्षाका स्मृत रहना समझ नहीं, अथवा हो सकता है तो वह सत्पुरुषकी कृपासे ही सिद्ध हो सकता है ।

इस समय बस यही । थोड़े लिखेको बहुत समझना । ऊपर लिखी हुई सिर घुमा देनेवाली बातें लिखना मुझे पसन्द नहीं । शककरके श्रीफलका सभाने बखान किया है, परन्तु यहाँ तो छालसहित अमृतका नारियल है, इसलिये यह कैसे पसन्द आ सकता है, परन्तु साथ ही इसे नापसन्द भी नहीं किया जा सकता ।

अन्तमें आज, कल और हमेशके लिये यही कहना है कि इसका सग होनेके बाद सब प्रकारसे निर्भय रहना सीखना । आपको यह वाक्य कैसा लगता है ?

१५८

बम्बई, मगसिर सुदी ९ शनि १९४७

ॐ सत्त्वरूप

यहाँ तो तीनों ही काल समान हैं । चाद व्यग्रहारके प्रति निपमता नहीं है, और उसको त्यागनेकी इच्छा रखी है, परन्तु पूर्ण प्रकृतियोंके हटाये बिना कोई छुटकारा नहीं ।

कालकी दुःपमता से यह प्रवृत्ति मार्ग बहुतसे जीनोंको सत्का दर्शन करनेसे रोकता है । तुम सबसे यही अनुरोध है कि इस आत्माके सबधमें दूसरोंसे कोई बातचीत मत करना ।

१५९

बम्बई, मगसिर सुदी १३ बुध १९४७

आप हृदयके जो जो उद्गार लिखते हैं, उन्हें पढ़कर आपकी योग्यताके लिये प्रसन्न होता हूँ, परम प्रसन्नता होती है, और फिर फिरसे सत्ययुगका स्मरण हो आता है ।

आप भी जानते ही हैं कि इस कालमें मनुष्योंके मन मायामय सपत्तिकी इच्छायुक्त हो गये हैं । किन्हीं निरले मनुष्योंका ही निर्माण-मार्गकी दृढ़ इच्छायुक्त रहना समझ है, अथवा वह इच्छा किन्हीं निरलोंको ही सत्पुरुषके चरणोंके सेवन करनेसे प्राप्त होती है । इसमें सदेह नहीं कि महा अधकारवाले इस कालमें अपना जन्म किसी कारणसे तो हुआ ही है, परन्तु क्या उपाय किया जाय, इसको तो सम्पूर्णतासे जब वह सुझायेगा तभी कुछ उपाय बन सकेगा ।

१६०

मन्वई, मगमिर सुदी १४, १९४७

आनन्दमूर्ति सत्स्वरूपको अभेदभावसे तीनों काल नमस्कार करता हूँ

जो जो इच्छायें उसमें कहीं हैं, ये कन्याणकारक ही हैं, परन्तु इस इच्छाकी सत्र प्रकारकी स्मरणार्थ तो सगे पुरुषके चरणकमलकी सेवामें ही अन्तर्भूत हैं (यह सत्र अनन्तज्ञानियोंका माना हुआ निश्चय तत्र आपकी शिवा है), और यह ऋद्धा ससगममें ही अन्तर्भूत है।

परिभ्रमण करते हुए जीवने अनादिकात्से अतक अपूर्णको नहीं पाया, जो पाया है वह सत्र पूर्णपूर्व ही है। इन सत्रकी वामनाका त्याग करनेका अभ्यास करना। दृढ़ प्रेमसे और परम उल्लासमें यह अभ्यास जयवत होगा, और यह कर्मकी अनुकूलता मिलनेपर महापुरुषके योगसे अपूर्णकी प्राप्ति करायेगा।

सत्र प्रकारकी नियाका, योगका, तपका, आर इमके सिवाय अन्य प्रकारका ऐसा लक्ष रचना कि आत्माको छुड़ानेके लिये ही सत्र बुद्ध है, बधनके लिये नहीं, जिससे बधन हो उन सबका (सामान्य क्रियासे लेकर सत्र योग आदि पर्यन्त) त्यागना ही योग्य है।

मिथ्या नामधारीका यथायोग्य

१६१

मन्वई, मगसिर वदी १४, १९४७

मात्र हुए सत्स्वरूपको अभेदभावसे अपूर्व समाधिमें स्मरण करता हूँ

अन्तिम स्वरूपके समझनेमें और अनुभव करनेमें थोड़ीसी भी कमी नहीं रहा है, वह जैसे है वैसे ही सत्र प्रकारसे समझमें आ गया है। सत्र प्रकारोंका केवल एकदेश छोड़कर शेष सत्र बुद्ध अनुभवमें आ चुका है। एकदेश भी ऐसा नहीं रहा जो समझमें न आया हो, परन्तु योग (मन, वचन, काय) पूर्वक सगहीन होनेके लिये वनवासकी आवश्यकता है, और ऐसा होनेपर ही वह एकदेश भी अनुभवमें आ जायगा, अर्थात् उसीमें रटा जायगा, परिपूर्ण लोकालोक-ज्ञान उत्पन्न होगा, किन्तु इसे उत्पन्न करनेकी (वैसी) आकाक्षा नहीं रही है, तो फिर वह उत्पन्न भी कैसे होगा? यह भी आश्चर्यकारक है। परिपूर्ण स्वरूपज्ञान तो उत्पन्न हो चुका ही है, और इस समाधिमेंसे निकलकर लोकालोक-दर्शनके प्रति जाना कैसे होगा? यह भी केवल एक मुझे ही नहीं, परन्तु पत्र लिखनेवालेको भी एक शका होती है।

दुःखनी और कोठी जैसी जातिमें भी थोड़े ही वर्षों मार्गको पाये हुए कई एक पुरुष हो गये हैं। जन-समुदायको उन महात्माओंकी पहिचान न होनेके कारण उनसे कोई निरले लोग ही स्वार्थकी सिद्धि कर सके हैं, जीवको उन महात्माओंके प्रति मोह ही उत्पन्न न हुआ, यह केसा अद्भुत ईश्वरीय विधान है।

इन सत्रने कोई अन्तिम ज्ञानको पाया न था, परन्तु उसका मिलना उनके बहुत ही समीपमें था। ऐसे बहुतमें पुरुषोंके पद वगैरे यहाँ देखे हैं। ऐसे पुरुषोंके प्रति बहुत रोमांच उल्लासित होता है, और माना निम्नतर उनकी चरणोंकी ही सेवा करते रहें, यही एक आकाक्षा रहा करती है। ज्ञानियाका अपेक्षा ऐसे मुमुक्षुको देखकर अतिशय उल्लास होता है, उसका कारण यही है कि वे ज्ञानके चरणोंका

निरन्तर मेहनत किया करते हैं, और इनके इस दासत्वके प्रति हमारा दासत्व होनेका भी यही कारण है। भोजा भगत, निरात कोली इत्यादि पुरुष योगी (परम योग्यतावाले) थे।

निरजनपदको समझनेवाले निरजन कसी स्थितिमें रखते हैं, यह विचारनेपर उनकी अतीन्द्रिय गतिपर गभीर समाधिपूर्ण हँसी आती है।

अब हम अपनी दशा किसी भी प्रकारसे नहीं कह सकते, फिर लिख तो कहाँसे सकेगे ? आपका दर्शन होनेपर ही जो कुछ जानी कह सकेगी वह कहेगी, बाकी तो लाचारी है। हमें कुछ मुक्ति तो चाहिये नहीं, और जिस पुरुषको जेनदर्शनका केवलज्ञान भी नहीं चाहिये, उस पुरुषको परमेश्वर अब कौनसा पद देगा, क्या यह कुछ आपके विचारमें आता है ? यदि आता हो तो आश्चर्य करना, अन्यथा यहाँसे किसी रीतिसे कुछ भी बाहर निकाला जा सके ऐसी सभाजना दिखाई नहीं देती।

आप बारम्बार लिखते है कि दर्शनके लिये बहुत आतुरता है, परन्तु महाश्रीरदेवने इसे पचमकाल कहा है, आर न्यासभगवान्ने कलियुग कहा है, वह कहाँसे साथ रहने दे सकता है ? और यदि रहने दे तो आपको उपाधिमुक्त क्यों न रखे ?

१६२

बम्बई, मगसिरवदी १४, १९४७

यह भूमि (बम्बई) उपाधिका शोभा-स्थान है।

आदिको यदि एकबार भी आपका सत्संग हो जाय तो जहाँ एक लक्ष करना चाहिये वहाँ लक्ष हो सकता है, अन्यथा होना दुर्लभ है, क्योंकि हालमें हमारी वाद्यवृत्ति उद्भूत कम है।

१६३

बम्बई, पौष सुदी ५ गुरु १९४७

अलख नाम धुनी लगी गगनमें, मगन भया मन मेराजी।

आसन मारी मुरत दृढधारी, दिया अगम-घर डेराजी।

दरश्या अलख देदाराजी।

१६४

बम्बई, पौष सुदी १० सोम १९४७

प्रश्नव्याकरणमें सत्यका माहात्म्य पढा है, उसपर मनन भी किया था।

हालमें हरिजनकी सगतिके अमानसे काल कठिनतासे व्यतीत होता है। हरिजनकी सगतिके भी उसके प्रति भक्ति करना यह बहुत प्रिय लगता है।

आपकी परमार्थनिपयक जो परम आकाक्षा है, वह ईश्वरेच्छा हुई तो किसी अपूर्व मार्गसे सफल हो जायगी। जिनको भ्रातृत्वे कारण परमार्थका लक्ष मिलना दुर्लभ हो गया है, ऐसे भारतक्षेत्रवासी मनुष्योंके प्रति यह परम कृपालु परमरूपा करेगा, परन्तु अभी हालमें कुछ समयतक उसकी इच्छा हो, ऐसा माझम नहीं होता।

१६५

बम्बई पोप सुदी १४ शुक्र १९४७

करना फकीरी क्या दिलगीरी; सदा मगन मन रहनाजी

मुमुक्षुओंको इस वृत्तिको अधिकाधिक बढ़ाना उचित है। परमार्थकी चिंताका होना यह एक जुदा नियम है। अतरंगमेसे व्यवहारकी चिंताका वेदन कम करना यह मार्ग पानेका एक साधन है।

हमारी वृत्ति जो करना चाहती है, वह एक निष्कारण परमार्थ ही है, और इस नियममें आप भी बारम्बार जान ही चुके हैं, तथापि कुछ समयाय कारणही न्यूनताके कारण अभी हालमें तो वेसा कुछ अधिक नहीं किया जा सकता, इसलिये अनुरोध है कि ऐसा कथन प्रगट न करना कि हालमें हम कोई परमार्थ-ज्ञानी हैं, अथवा समर्थ हैं, क्योंकि यह हमें वर्तमानमें प्रतिकूल जेसा है।

तुममेंसे जो कोई मार्गको समझे हैं, वे उसे साथ करनेके लिये निरंतर सत्पुरुषके चरित्रका मनन करना चाह रक्खें, उस नियममें प्रसंग आनेपर हमसे पूँछें, तथा सत्साक्षका, सत्कामका और सद्ब्रतका सेवन करें।

मि निमित्तमात्र

१६६

बम्बई, पोप वदी २ सोम १९४७

हमको प्रत्येक मुमुक्षुओंका दासत्व प्रिय है, इस कारण उन्होंने जो कुछ भी उपदेश किया है, उसे हमने पढ़ा है। यथायोग्य अवसर प्राप्त होनेपर इस नियममें उत्तर लिखा जा सकेगा, तथा अभी हम जिस आश्रम (जिस स्थितिमें रहना है वह स्थिति) में हैं उसे छोड़ देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। तुमने हमारे समागमकी जो आवश्यकता बताई वह अवश्य हितैषी है, तथापि अभा इस दशाको पानेका योग नहीं आ सकता। यहाँ तो निरंतर ही आनन्द है। वहाँ सबको धर्मयोगकी वृद्धि करनेके लिये निनति है।

१६७

बम्बई, पोप १९४७

“ जीवको मार्ग नहीं मिला, इसका क्या कारण है ”? इस बातपर बारम्बार विचार करके यदि योग्य लगे तो साधका (नीचेका) पत्र पढ़ना। हमें तो माझम होता है कि मार्ग सरल है, सुलभ है, परन्तु प्राप्तिका योग मिलना ही दुर्लभ है।

सत्स्वरूपको अभेदभावसे और अनन्य भक्तिसे जपोनम

जो निरन्तर अप्रतिबद्धभावसे विचरते हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुषोंकी आज्ञाकी सम्यक् प्रतीतिके हुये बिना, तथा उसमें अचल स्नेह हुए बिना सत्स्वरूपके विचारकी यथार्थ प्राप्ति नहीं होती, और वैसी दशा आनेसे जिसने उनके चरणारविन्दका सेवन किया है, वह पुरुष वसी दशाको कम से कम पा जाता है। इस मार्गका आराधन किये बिना जीवने अनादिकालसे परिभ्रमण किया है। जहाँतक जीवको स्वच्छद्रूपी अधापन मोजूद है, वहाँतक इस मार्गका दर्शन नहीं होता। यह अधापन हटा-नेके लिये जीवको इस मार्गका विचार करना चाहिये, दृढ़ मोक्षेच्छा करनी चाहिये, और इस विचारमें

जो कोई दूसरे भी तुम्हारे सहजासी (श्रावक आदि) धर्म-क्रियाके नामसे क्रिया करते हों, उसका निषेध नहीं करना। जिसने हालमें उपाधिरूप इच्छा स्वीकार की है ऐसे उस पुरुषको भी किसी प्रकारसे प्रगट न करना। ऐसी धर्म-कथा किसी दृढ़ जिज्ञासुसे ही थोड़े शब्दोंमें करना (वह भी यदि वह इच्छा रखता हो तो), जिससे उसका लक्ष मार्गकी ओर फिरे। बाकी हालमें तो तुम सब अपनी सफलताके लिये ही मिथ्या धर्म वासनाओंका, विषय आदिकी प्रियताका, और प्रतिबन्धका त्याग करना सीखो। जो कुछ प्रिय करने योग्य है, उसे जीवने कभी नहीं जाना, और बाकी कुछ भी प्रिय करने योग्य है नहीं, यह हमारा निश्चय है।

योग्यताके लिये ब्रह्मचर्य महान् साधन है, और असत्सग महान् विघ्न है।

१७२

बम्बई, माघ सुदी ११ गुरु. १९४७

उपाधि-योगके कारण यदि शास्त्र-गानन न हो सकता हो तो अभी उसे रहने देना, परंतु उपाधिसे नित्य थोड़ा भी अपकाश लेकर जिससे चित्तवृत्ति स्थिर हो, ऐसी निवृत्तिमें बैठनेकी बहुत आवश्यकता है, और उपाधिमें भी निवृत्तिके लक्ष रखनेका ध्यान रखना।

जितना आयुका समय है उस संपूर्ण समयको यदि जीव उपाधियोंमें लगाये रखे तो मनुष्यत्वका सफल होना कैसे संभव हो सकता है? मनुष्यत्वकी सफलताके लिये ही जीना कल्याण-कारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिये। तथा उस सफलताके लिये जिन जिन साधनोंकी प्राप्ति करना योग्य है, उन्हें प्राप्त करनेके लिये नित्य ही निवृत्ति प्राप्त करनी चाहिये। निवृत्तिका अभ्यास किये बिना जीवकी प्रवृत्ति दूर नहीं हो सकती, यह एक ऐसी बात है जो प्रत्यक्ष समझमें आ जाती है।

जीवका ब्रजन धर्मके रूपमें मिथ्या वासनाओंके सेवन करनेसे हुआ है, इस महालक्षको रखते हुए ऐसी मिथ्या वासनाएँ किस तरह दूर हों, इसका विचार करनेका प्रयत्न चाह्य रखना।

१७३

बम्बई, माघ सुदी १९४७

(१)

बचनावली

१ जीव अपने आपको भूल गया है, और इसी कारण उसका सत्सुखसे वियोग हुआ है, ऐसा सब धर्मोंमें माना है।

२ ज्ञान मिलनेसे ही अपने आपको भूलजानेरूपी अज्ञानका नाश होता है, ऐसा सन्देह-रहित मानना।

३ उस ज्ञानकी प्राप्ति ज्ञानीके पाससे ही होनी चाहिये, यह स्वाभाविकरूपसे समझमें आनेवाली बात है, तो भी जीव लोक-लज्जा आदि कारणोंसे अज्ञानीका आश्रय नहीं छोड़ता, यही अनतानुवर्धी कपायका मूल है।

४ जो ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा करता है उसे ज्ञानीकी इच्छानुसार चलना चाहिये, ऐसा जिनागम आदि सभी शास्त्र कहते हैं। अपनी इच्छासे चलते हुए जीव अनादिकालसे भटक रहा है।

५ जबतक प्रत्यक्ष-ज्ञानीकी इच्छानुसार, अर्थात् उसकी आज्ञानुसार नहीं चला जाय, तब-तक अज्ञानकी निवृत्ति होना संभव नहीं ।

६ ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन वही कर सकता है जो एकनिष्ठासे तन, मन, धनकी आसक्ति-का त्याग करके उसकी भक्तिमें लगे ।

७ यद्यपि ज्ञानी लोग भक्तिकी इच्छा नहीं करते, परन्तु उसको किये बिना मोक्षाभिलाषीको उपदेश नहीं लगता, तथा वह उपदेश मनन और निदिध्यासन आदिका हेतु नहीं होता, इसलिये मुमुक्षु-ओंको ज्ञानीकी भक्ति अग्रय करना चाहिये, ऐसा सत्पुरुषोंने कहा है ।

८ ऋषभदेवजीने अपने अज्ञानमें पुत्रोंको शीघ्रसे शीघ्र मोक्ष जानेका यही मार्ग बताया था ।

९ परीक्षित राजाको शुकदेवजीने यही उपदेश किया है ।

१० यदि जीव अनन्त कालतक भी अपनी इच्छानुसार चलकर परिश्रम करता रहे तो भी वह अपने आपसे ज्ञान नहीं प्राप्त कर पाता, परन्तु ज्ञानीकी आज्ञाका आराधक अन्तमुहूर्तमें भी केवल-ज्ञान पा सकता है ।

११ शास्त्रमें कहीं हुई आज्ञाय परोक्ष हैं, और वे जीवको अधिकारी होनेके लिये ही कहा गई हैं, मोक्षप्राप्तिके लिये तो ज्ञानीकी प्रत्यक्ष आज्ञाका आराधन होना चाहिये ।

(२)

चाहे जैसे निकट मार्गसे भी यदि परमात्मामें परमस्नेह होता हो तो भी उसे करना ही योग्य है । सरल मार्ग मिलनेपर उपाधिके कारणसे तमय भक्ति नहीं रहती, और एकसरीखा स्नेह नहीं उभराता, इस कारण खेद रहा करता है, और बारम्बार जननासकी इच्छा हुआ करती है । यद्यपि वैराग्य तो ऐसा है कि प्रायः घर और वनमें आत्माको कोई भी भेद नहीं लगता, परन्तु उपाधिके प्रसंगके कारण उसमें उपयोग रखनेकी बारम्बार जरूरत रहा करती है, जिससे कि उस समय परम स्नेहपर आग्रह लाना पड़ता है, और ऐसे परम स्नेह और अनन्य प्रेमभक्तिके आये बिना देहत्याग करनेकी इच्छा नहीं होती ।

यदि कदाचित् सत्र आत्माओंकी ऐसी ही इच्छा हो तो कहीं भी दीनतासे उस इच्छाको निवृत्त करना, किन्तु प्रेमभक्तिकी पूर्ण लय आये बिना देहत्याग नहीं किया जा सकता, और बारम्बार यही रटन रहनेसे हमेशा यही मन रहता है कि 'वनमें जाँय' 'वनमें जाँय' । यदि आपका निरंतर ससग रहा करे तो हमें घर भी वनवास ही है ।

श्रीमद्भागवतमें गोपायनाकी सुंदर आख्यायिका दी हुई है, और उनकी प्रेमभक्तिका वर्णन किया है । ऐसी प्रेमभक्ति इस कलि-कालमें प्राप्त होना कठिन है, यद्यपि यह सामान्य कथन है, तथापि कलि-कालमें निश्चय मतिसे यही रटन लगी रहे तो परमात्मा अनुग्रह करके शीघ्र ही यह भक्ति प्रदान करता है । यह दशा बारम्बार याद आती है, और ऐसा उमत्तपना परमात्माको पानेका परमद्वार है, यही दशा विदेही थी ।

भरतजीको हरिणके सगसे जन्मकी वृद्धि हुई थी, और उससे वे जड़भरतके भवमें असंग

रहे थे। इसी कारणसे मुझे भी असगता बहुत याद आती है, और कभी कभी तो ऐसा हो जाता कि असगताके बिना परम दुःख होता है। अनतकालसे प्राणीको जितना यम दुःखदायक नहीं लगता उससे भी अधिक हमें सग दुःखदायक लगता है। ऐसी बहुतसी अतर्कितियाँ हैं जो एक ही प्रवाहक हैं, जो लिखी भी नहीं जाती, और उन्हें लिखे बिना चुप भी रहा नहीं जाता, और आपका नियोग सग खलता रहता है, कोई सुगम उपाय भी नहीं मिलता। उदयकर्म भोगते हुए दीनता करना उचित नहीं। भविष्यके एक क्षणकी भी चिन्ता नहीं है।

सत् सत् और सत्के साधन स्वरूप आप वहाँ हैं। अधिक क्या कहें? ईश्वरकी इच्छा ऐसी है, और उसे प्रसन्न रखे बिना छुटकारा नहीं, नहीं तो ऐसी उपाधियुक्त दशामें न रहें और मनमाना करें। परम . के कारण प्रेममक्तिमय ही रहें, परन्तु प्रारब्ध कर्म प्रमल है।

१७४

वम्बई, माघ वदी ३, १९४४

सर्वथा निर्विकार होनेपर भी परब्रह्म प्रेममय पराभक्तिके वश है, यह गुप्त शिक्षा, जिसने हृदयमें इस वातका अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानियोंकी है

यहाँ परमानन्द है। असगवृत्ति होनेसे समुदायमें रहना बहुत कठिन मालूम होता है। जिसका यथार्थ आनन्द किसी भी प्रकारसे नहीं कहा जा सकता, ऐसा सत्स्वरूप जिसके हृदयमें प्रकाशित हुआ है, ऐसे महाभाग्य ज्ञानियोंकी और आपकी हमारे ऊपर कृपा रहे, हम तो आपकी चरण-रज हैं, और तीनों कालमें निरजनदेवसे यही प्रार्थना है कि ऐसा ही प्रेम बना रहे।

आज प्रमातसे निरजनदेवका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है। आज बहुत दिनों इच्छित पराभक्ति किसी अनुपमरूपमें उदित हुई है। श्रीभागवतमें एक कथा है कि गोपियों भगवान् वासुदेव (कृष्णचन्द्र) को मक्खनकी मटकीमें रखकर बेचनेके लिये निकली थीं, वह प्रसंग आज बहुत याद आ रहा है। जहाँ अमृत प्रवाहित होता है, यही सहस्रदल-कमल है, और वही यह मक्खनकी मटकी है, और जो आदिपुरुष उसमें विराजमान हैं, वे ही यहाँ भगवान् वासुदेव हैं। सत्पुरुष सत्त्ववृत्तिरूपी गोपीको उसकी प्राप्ति होनेपर वह गोपी उल्लासमें आकर दूसरी किन्हीं मुमुक्षु आत्माओं कहती है कि 'कोई माधव लो, हरे कोई माधव लो'—अर्थात् वह वृत्ति कहती है कि हमें आदिपुरुषकी प्राप्ति हो गई है, और वम यह एक ही प्राप्त करनेके योग्य है, दूसरा कुछ भी प्राप्त करनेके योग्य नहीं इसलिये तुम इसे प्राप्त करो। उल्लासमें वह फिर फिर कहती जाती है कि तुम उस पुराणपुरुषकी प्राप्त करो, और यदि उस प्राप्तिकी इच्छा अचल प्रेमसे करते हो तो हम तुम्हें इस आदिपुरुषको दे दें। हम इसे मटकीमें रखकर बेचने निकली हैं, योग्य ग्राहक देखकर ही देती हैं, कोई ग्राहक बनो अचल प्रेमसे कोई ग्राहक बनो, तो हम वासुदेवकी प्राप्ति करा दें।

मटकीमें रखकर बेचनेको निकालनेका गूढ़ आशय यह है कि हमें सहस्रदल कमलमें वासुदेव भगवान् मिल गये हैं। मक्खनका केवल नाममात्र ही है। यदि समस्त सृष्टिको मद्यकर मक्खन निकालें तो केवल एक अमृतरूपी वासुदेवभगवान् ही निकलते हैं। इस कथाका असली सूक्ष्म स्वरूप

यही है, किन्तु उसको स्थूल बनाकर, व्यासजाने उसे इस रूपसे वर्णन किया है, ओर उसके द्वारा अपनी अद्भुत भक्तिका परिचय दिया है। इस कथाका और समस्त भागवतका अक्षर अक्षर केवल इस एकको ही प्राप्त करनेके उद्देशसे भरा पड़ा है, और यह (हमें) बहुत समय पहले समझमें आ गया है। आज बहुत ही ज्यादा स्मरणमे है, क्योंकि साक्षात् अनुभूतिकी प्राप्ति हुई है, ओर इस कारण आजकी दशा परम अद्भुत है। ऐसी दशासे जीव उमच हुए विना न रहेगा। तथा वासुदेवहरि जान बूझकर कुछ समयके लिये अतर्धान भी हो जानेवाले लक्षणोंके धारक हैं, इसीलिये हम असगता चाहते हैं, ओर आपका सहवास भी असगता ही है, इस कारण भी वह हमे विशेष प्रिय है।

यहाँ सत्सगकी कमी है, ओर निकट स्थानमें निवास है। हरि-इच्छापूर्वक ही मूमने फिरनेकी वृत्ति रक्खी है, इसके कारण यद्यपि कोई खेद तो नहीं, परन्तु भेदका प्रकाश नहीं किया जा सकता, यही चिंता निरन्तर रहा करती है।

अनेक अनेक प्रकारसे मनन करनेपर हमें यही दृढ़ निश्चय हुआ है कि भक्ति ही सर्वोपरि मार्ग है, और वह ऐसी अनुपम वस्तु है कि यदि उसे सत्पुरुषके चरणोंके समीप रहकर की जाय तो वह क्षणभरमें मोक्ष दे सकती है।

विशेष कुछ लिखा नहीं जाता, परमानन्द है, परन्तु असत्सग है, अर्थात् सत्सग नहीं है।

(२)

किसी ब्रह्मरसके भोक्ताको कोई त्रिरला योगी ही जानता है।

१७५

गम्बई, माघ वदी ३, १९४७

भेजी हुई वचनापत्रोंमें आपकी प्रसन्नता होनेसे हमारी प्रसन्नताको उत्तेजना मिली। इसमें सतका अद्भुत मार्ग प्रकाशित किया गया है। यदि यह एक ही वृत्तिसे इन त्रिक्योंका आराधन करेगा, ओर उसी पुरुषकी आज्ञामें लीन रहेगा तो अनन्तकालसे प्राप्त हुआ परिभ्रमण मिट जायगा।

उमे मायाका विशेष मोह है, और वही मार्गके मिलनेमें महान् प्रतिबन्ध माना गया है, इसलिये मेरी उससे ऐसी वृत्तियोंको धीरे धीरे कम करनेकी प्रार्थना है।

१७६

गम्बई, माघ वदी ११ शुक्र १९४७

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः

जो सर्वत्र एकत्व (परमात्मस्वरूप) को ही देखता है, उसे मोह क्या ओर शोक क्या ?

यदि वास्तविक सुख जगत्की दृष्टिमें आया होता तो ज्ञानी पुरुषोसे नियत किया हुआ मोक्ष-स्थान ऊर्ध्वलोकमें नहीं होता, परन्तु यह जगत् ही मोक्ष-स्थान होता।

यद्यपि यह बात सत्य ही है कि ज्ञानीको तो सर्वत्र ही मोक्ष है, फिर भी उस ज्ञानीको यह

(२)

कोई ब्रह्मरसना भोगी, कोई ब्रह्मरसना भोगी।

जाणे कोई वीरला योगी, कोई ब्रह्मरसना भोगी।

(२)

नाना प्रकारके नय, नाना प्रकारके प्रमाण, नाना प्रकारके भगजाल, और नाना प्रकारके अनुयोग ये मत्र लक्षणारूप ही हैं, लक्ष तो केवल एक सच्चिदानन्द है ।

१८१

वम्बई, माघ वदी १३, १९४७

‘सत्’ कुछ दूर नहीं है, परन्तु दूर लगता है, और यही जीवका मोह है । ‘सत्’ जो कुछ है, वह ‘सत् ही’ है, वह सरल है, सुगम है, और उसकी सर्वात्र प्राप्ति हो सकती है, परन्तु जिसको भ्रातिरूप आरण-तम ठाया हुआ है उस प्राणीको उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? अधिकारके चाहे कितने भी भेद क्यों न करें किन्तु उनमें कोई ऐसा भेद नहीं आ सकता जो उजाळ हो । जिसे आरण-तिमिर व्याप्त है ऐसे प्राणीकी कल्पनामेंकी कोई भी कल्पना ‘सत्’ मात्र नहीं होती, और वह प्राणी ‘सत्’ के पासतक भी आ सके यह सम्भव नहीं है । जो ‘सत्’ है वह भ्राति नहीं है, वह भ्रातिसे सर्वाथा व्यतिरिक्त (जुदा) है, कल्पनासे ‘पर’ (दूर) है, इसलिये जिसने उसको प्राप्त करनेका दृढ निश्चय किया है, उसे ‘वह स्वयं कुछ भी नहीं जानता,’ ऐसा पहिले दृढ़ निश्चय-युक्त निचार करना चाहिये, और बादमें ‘सत्’ की प्राप्तिके लिये ज्ञानीकी शरणमें जाना चाहिये, ऐसा करनेसे अन्वय ही मार्गकी प्राप्ति होती है ।

ये जो वचन लिखे हैं, वे सत्र मुमुक्षुओंको परमबन्धुके समान हैं, परमरक्षकके समान हैं, और उन्हें सम्पक् प्रकारसे निचार करनेपर ये परमपदको देनेवाले हैं । इनमें निर्ग्रन्थ प्रवचनकी समस्त द्वादशांगी, पट्टदर्शनका सर्वोत्तम तत्त्व, और ज्ञानीके उपदेशका बीज सक्षेपसे कह दिया है, इसलिये फिर फिरसे उनकी सँभाल करना, निचारना, समझना, समझनेका प्रयत्न करना, इनको बाधा पहुँचानेवाले दूसरे प्रकारोंसे उदासीन रहना, और इन्हींमें ही वृत्तिका लय करना, तुम्हें और अन्य किसी भी मुमुक्षुको गुप्त रीतिसे कहनेका हमारा यही एक मत्र है । इसमें ‘सत्’ ही कहा है, यह समझनेके लिये अधिकसे अधिक समय अन्वय लगाना ।

१८२

वम्बई, माघ वदी १३, १९४७

सत्स्वरूपको अभेदभावसे नमोनमः

क्या लिखें ? वह तो कुछ मूर्खता भी नहीं, क्योंकि दशा कुछ जुदी ही रहती है, फिर भी प्रसंग पाकर कोई सद्बृत्ति देनेवाली पुस्तक होगी तो भेजूँगा ।

हमारे ऊपर तुम्हारी चाहे जैसी भी भक्ति क्यों न हो, तो भी बाकीके सत्र जीवोंके और विशेष करके धर्म-जीवोंके तो हम तीनों कालमें दास ही हैं । हालमें तो सबको इतना ही करना चाहिये कि पुराना छोड़े बिना तो छुटकारा ही नहीं, और यह छोड़ने योग्य ही है, यह मानना दृढ़ करना । मार्ग सरल है, पर प्राप्ति दुर्लभ है ।

१८३

राम्बई, माघ वदी १९४७

सतको नमोनमः

‘ काम ’ शब्द चाऊ अर्थात् इच्छा, और पचेन्द्रियोक्ते विषयोके अर्थमें प्रयुक्त होता है ।

‘ अनन्य ’ अर्थात् जिनके समान कोई दूसरा न हो अर्थात् सर्वात्पृष्ट । ‘ अनन्यभक्तिमान ’ अर्थात् जिसके समान कोई दूसरा नहीं ऐसा भक्तिपूर्वक उत्पृष्टमान ।

जिनके वचन-बलसे जीव निर्माण-मार्गको पाता है, ऐसी सजीवन मूर्तिका योग यद्यपि जीवको पूर्वकालमें अनेक बार हो चुका है, परन्तु उसकी पहिचान नहीं हुई । जीवने पहिचान करनेका प्रयत्न शायद किया भी होगा, तथापि जीवको दृढ़ पकड़े रखनेवाली सिद्धि-योग आदि, ऋद्धि-योग आदि एव इसी तरहकी दूसरी कामनाओंसे उसकी मुद्रकी दृष्टि मलिन थी, और यदि दृष्टि मलिन हो तो उससे सतमूर्तिके प्रति लक्ष न लगकर वह लक्ष अल्प वस्तुओंमें ही रहता है, जिससे पहिचान नहीं हो पाती, और जब पहिचान होती है तब जीवको कोई अपूर्व ही स्नेह पेदा हो जाता है, और वह ऐसा कि उस मूर्तिके नियोगमें उसे एक घड़ीभर आयु भोगना भी विडम्बना मान्य होती है, अर्थात् उसके नियोगमें वह उदासीन भावसे उसीमें वृत्ति रखकर जीता है, और इसे दूसरे पदार्थोंका सयोग ओर मृत्यु ये दोनों समान ही हो जाते हैं । जब ऐसी दशा आ जाती है, तब जीव मार्गके बहुत ही निकट आ जाता है, ऐसा समझना चाहिये । ऐसी दशा आनेमें मायाकी सगति बहुत ही विषरूप है, परतु इसी दशाको रानेका जिसका दृढ निश्चय है उमे प्राय करके थोड़े ही समयमें वह दशा प्राप्त हो जाती है ।

तुम सब लोग हालमें तो हमें एक प्रकारका बधन करने लगे हो, उसके लिये हम क्या करें, यह कुछ भी नहीं सूझता । ‘ सजीवन मूर्ति ’ से मार्ग मिल सकता है, ऐसा उपदेश करते हुए हमने स्वयं अपने आपको ही बधनमें डाल लिया है, और इस उपदेशका अर्थ तुमने हमारे ऊपर ही लगाना शुरू कर दिया । हम तो सजीवन मूर्तिके केवल दास हैं, उनकी मात्र चरण रज हैं । हमारी ऐसी अलौकिक दशा भी कहीं है कि जिस दशामें केवल असंगता ही रहती हो ? हमारा उपाधियोग तो जैसा तुम प्रत्यक्ष देखते वैसा ही है ।

ये दो अतकी बातें मैंने तुम सबोंके लिये लिपी हैं । जिससे हमको अब कम बधन हो, ऐसा करनेकी सभसे प्रार्थना है । दूसरी बात एक यह भी कहनी है कि तुम लोग हमारे विषयमें अब किसीसे कुछ भी न कहना । उदयकाल तुम जानते ही हो ।

मुमुक्षु वै० योगमार्गके अच्छे परिचयी हैं, इतना ही जानता हूँ, योग्य जीव हैं । जिस ‘पद’के साक्षात्कारके विषयमें तुमने पूँछा है वह उन्हें अभीतक साक्षात्कार नहीं हुआ है ।

कुछ दिन पहिले उत्तर दिशामें विचरनेकी बात उनके मुखसे सुनी थी, किन्तु इस विषयमें इस समय कुछ भी नहीं लिखा जा सकता । यद्यपि मैं तुम्हें इतना निरास दिला सकता हूँ कि उन्होंने तुम्हें मिथ्या नहीं कहा है ।

आपकी सर्वोत्तम प्रज्ञाको हम नमस्कार करते हैं । कलिकालमें यदि परमात्माको किमी भक्तिमान पुरुषके ऊपर प्रसन्न होना हो तो उनमेंसे आप भी एक हैं । हमें इस कालमें आपका सहारा मिला, और उसीसे हम जीवित हैं ।

१८७

वम्बई, फाल्गुन सुदी ११, १९४७

‘सत्’ सत् है, सरल है, सुगम है, उसकी प्राप्ति सर्वत्र होती है ।

‘सत्’ है, उसे कालसे बाधा नहीं, वह सबका अधिष्ठान है, और वह बाणीसे अकथ्य है, उसकी प्राप्ति होती है, और उसकी प्राप्तिका उपाय है ।

सभी सम्प्रदायों एव दर्शनोंके महात्माओंका लक्ष एक ‘सत्’ ही है । बाणीद्वारा अकथ्य होनेके कारण उसे मूक-श्रेणीसे समझाया गया है, जिससे उनके कथनमें कुछ भेद मादम होता है, किन्तु वस्तुतः उसमें कोई भेद नहीं है ।

सत्र कालमें लोकका स्वरूप एकसा नहीं रहता, वह क्षणक्षणमें बदलता रहता है, उसके अनेक नये नये रूप होते हैं, अनेक स्थितियों पैदा होती हैं, और अनेक लय होती जाती हैं, एक क्षणके पहिले जो रूप बाह्यज्ञानसे मादम न होता था वह सामने दिखाई देने लगता है, तथा क्षणभरमें बहुत दीर्घ विस्तारवाले रूप लय हो जाते हैं । महात्माके ज्ञानमें झलकनेवाला लोकका स्वरूप अज्ञानीपर अनुग्रह करनेके लिये कुछ जुदे रूपसे कहा जाता है, परन्तु जिसकी सर्व कालमें एकसी स्थिति नहीं, ऐसा यह रूप ‘सत्’ नहीं है, इस कारण उसे चाहे जिस रूपमें वर्णन करके उस समय भ्राति दूर की गई है, और इसके कारण यह नियम नहीं है कि सर्वत्र यही स्वरूप होता है, ऐसा समझमें आता है । बाल-जीव तो उस स्वरूपको शाश्वतरूप मानकर भ्रातिमें पड़ जाते हैं, परन्तु कोई सत्पात्र जीव ही ऐसे त्रिभिद्यतापूर्ण कथनसे तग आकर ‘सत्’ की तरफ झुकता है । बहुत करके सत्र मुमुक्षुओंने इसी तरहसे मार्ग पाया है । इस जगत्के वारम्भार भ्रातिरूप वर्णन करनेका बड़े पुरुषोंका एक यही उद्देश है कि उस स्वरूपको विचार करनेसे प्राणी भ्राति पाते हैं कि ओर वस्तुका स्वरूप क्या है ? इस तरह जो अनेक प्रकारसे कहा गया है, उसमें क्या मानूँ ? और मुझे कल्याणकारक क्या है ?’ ऐसे विचार करते करते, इसको एक भ्रातिका ही त्रिपय मानकर, ‘जहाँसे ‘सत्’ की प्राप्ति होती है ऐसे सत्की शरण त्रिना छुटकारा नहीं,’ ऐसा समझकर वे उसकी खोज करते हैं, और उसकी शरणमें जाकर ‘सत्’ पाते हैं और स्वयं सत्स्वरूप हो जाते हैं ।

जनक त्रिदेही सत्सारमें रहनेपर भी त्रिदेही रह सके, यह यद्यपि एक बड़ा आश्चर्य है, और यह महाकठिन है, तथापि परमज्ञानमें ही जिसकी आत्मा तन्मय हो गई है, ऐसी वह तन्मय आत्मा जिस तरहसे रहती है उसी तरह वह भी रहता है, चाहे जैसा कर्मकाव्यद्वय क्यों न आ जाय फिर भी उसको तदनुसार रहनेमें बाधा नहीं पहुँचती । जिनको देह भी दूर हो गया है, ऐसे उस महा-भाग्यकी देह भी मानो आत्मभासे ही रहती है ।

श्रीकृष्ण महात्मा थे । वे ज्ञानी होनेपर

हो सकती है ?

जैन ग्रन्थोंसे

भी जाना जा सकता है, और वह यथार्थ ही है, तथापि उनकी गतिके सन्धमें जो भेद बताया गया है, उसका कुछ जुदा ही कारण है।

स्वर्ग, नरक आदिकी प्रतीतिका उपाय योग-मार्ग है। उसमें भी जिनको दूरदेशी सिद्धि प्राप्त होती है, वह उसकी प्रतीतिके लिये योग्य है। यह प्रतीति सर्वकालमें प्राणियोंको दुर्लभ ही रहती है। ज्ञान-मार्गमें इस विशेष बातका उल्लेख नहीं किया, परन्तु ये सब हैं जरूर।

जितने स्थानमें मोक्ष बताई गई है वह सत्य है। कर्मसे, भातिसे, अथवा मायासे छूटनेका नाम ही मोक्ष है, यही मोक्ष शब्दकी व्याख्या है।

जीन एक भी है, ओर अनेक भी है।

१८८

बम्बई, फाल्गुन वदी १ गुरु १९४७

“एक देखिये जानिये” इस दोहेके विषयमें आपने लिखा है। इस दोहेको हमने आपको निश्चयताकी दृढ़ता होनेके लिये नहीं लिखा था, परन्तु यह दोहा स्वाभाविक तोरसे हमें प्रशस्त लगा इसलिये इसे आपको लिख भेजा था। ऐसी छोटी गोपागनाओंमें थी। श्रीमद्भागवतमें महात्मा व्यासने वासुदेव भगवान्के प्रति गोपियोंकी प्रेम-भक्तिका वर्णन किया है, वह परम आल्हादक और आश्चर्यकारक है।

नारद-भक्तिसूत्र नामका एक छोटासा शिक्षाशास्त्र महर्षि नारदजीका रचा हुआ है। उसमें प्रेम-भक्तिका सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन किया गया है।

१८९

बम्बई, फाल्गुन वदी ८ बुध १९४७

श्रीमद्भागवत परमभक्तिरूप ही है। इसमें जो जो वर्णन किया गया है, वह सब केवल लक्षको सूचित करनेके लिये है।

यदि मुनिसे सर्वव्यापक अविद्यान—आत्माके विषयमें पूँजा जाय तो उनसे लक्षरूप कुछ भी उत्तर नहीं मिल सकता, और कल्पित उत्तरसे कार्य-सिद्धि नहीं होती। आपको ज्योतिष आदिकी भी हालमें इन्छा नहा करनी चाहिये, क्योंकि यह कल्पित है, और कल्पितपर हमारा कुछ भी लक्ष नहीं है।

१९०

बम्बई, फाल्गुन वदी ८ बुध १९४७

परमात्माकी कृपासे परस्पर समागम लाभ हो, ऐसी मेरी इच्छा है।

यहाँ उपाधियोग विशेष रहता है, तथापि समाधिमें योगकी अप्रियता कभी न हो, ऐसा ईश्वरका अनुग्रह रहेगा, ऐसा माझ्म होता है।

१९१

बम्बई, फाल्गुन वदी १० शनि १९४७

आज जमकुडलीके साथ आपका पत्र मिला। जमकुडलीके सबमें अभी उत्तर नहीं मिल

सकना । भक्तिनिपयक प्रश्रौंका उत्तर प्रसंग पाकर लिखेंगा । हमने आपको जिस विस्तारपूर्ण पत्रमें “अधिष्ठान” के सत्रधमें लिखा था, वह आपसे भेट होनेपर ही समझने आ सकता है ।

“अधिष्ठान” अर्थात् जिसमेंसे वस्तु उत्पन्न हुई हो, जिसमें वह स्थिर रहे, आर जिसमें वह लय पाये । “जगत्का अधिष्ठान” का अर्थ इसी व्याख्याके अनुसार ही समझना ।

जेनदर्शनमें चैतन्यको सर्वव्यापक नहीं कहा है । इस निपयमें आपके जो कुछ भी लक्षमें हो उसे लिखें ।

१९२

गम्रई, फागुन वदी ११ रनि १९४७

ज्योतिषको कल्पित कहनेका यही हेतु है कि यह निपय पारमार्थिक ज्ञानकी अपेक्षासे कल्पित ही है, और पारमार्थिक ही सत्य है, और उसीकी ही रटन लगी हुई है ।

हालमें ईश्वरने मेरे सिरपर उपाधिका बोझा विशेष रख रक्खा है, ऐसे करनेमें उसकी इच्छाको सुखरूप ही मानता हूँ । जेनप्रथ इस कालको पचमकालके नामसे कहते हैं, और पुराणप्रथ इसे कलिकालके नामसे कहते हैं, इस तरह इस कालको कठिन ही काल कहा गया है । उसका यही हेतु है कि इस कालमें जीवको ‘सत्सग और सत्साख’ का संयोग मिलना अति कठिन है, और इसीलिये इस कालको ऐसा उपनाम दिया गया है । हमें भी पचमकाल अथवा कलियुग हालमें तो अनुभव दे रहा है । हमारा चित्त अतिशय निस्पृह है, और हम जगत्में सस्पृह होकर रह रहे हैं, यह सब कलियुगकी ही कृपा है ।

१९३

गम्रई, फागुन वदी १४ बुध १९४७

देहाभिमाने गलिते, विज्ञाते परमात्मनि ।

यत्र यत्र मनो याति, तत्र तत्र समाधयः ॥

‘मैं कर्त्ता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ,’ इत्यादि रूपसे रहनेवाला जिसका देहाभिमान नष्ट हो गया है, और जिसने सर्वोत्तम पदरूप परमात्माको जान लिया है, उसका मन जहाँ कहीं भी जाता है, वहाँ वहाँ उसको समाधि ही है ।

कई बार आपके निस्तृत पत्र मिलते हैं, और ये पत्र पढ़कर पहिले तो आपके समागममें ही रहनेकी इच्छा होती है, तथापि कारणसे उस इच्छाका किसी भी तरहसे निस्मरण करना पड़ता है, तथा पत्रका सविस्तार उत्तर लिखनेकी इच्छा होती है, ता वह इच्छा भी बहुत करके शायद ही पूर्ण हो पाती है । इसके दो कारण हैं — एक तो यह है कि इस निपयमें अधिक लिखने योग्य दशा नहीं रही, और दूसरा कारण उपाधियोग है । उपाधियोगकी अपेक्षा निवृत्त दशावाला कारण अधिक बलवान है । यह दशा बहुत निस्पृह है, और उसके कारण अन्य और उसमें भी परमार्थके निपयमें लिखनेके लिये तो केवल

शक्ति तो बहुत ही अभिक्त शून्य हो गई है। हाँ, याणी प्रसंग पाकर अत्र भी कुछ कार्य कर सकती है, और उससे आशा रखती है कि समागम होनेपर जरूर ईश्वर कृपा करेंगे।

याणी भी जैसी पहिले क्रमपूर्वक बात कर सकती थी, वैसी अत्र नहीं माझ्म होती। लेखन-शक्तिके शून्यता पाने जैसी हो जानेका एक कारण यह भी है कि चित्तमें उदित हुई धात बहुत नयोसे युक्त होती है, और ये सत्र नय लिखनेमें नहीं आ सकते, जिससे चित्त विरक्त हो जाता है।

आपने एक बार भक्तिके विषयमें प्रश्न किया था। इस सबधमें अधिक ज्ञात तो समागम होनेपर ही हो सकती है, और बहुत करके सत्र बातोंके लिये समागम ही ठीक माझ्म होता है, तो भी बहुत ही सक्षिप्त उत्तर लिखता हूँ।

परमात्मा और आत्माका एक रूप हो जाना (!) वह परामक्तिकी अन्तिम हृदय है। एक ऐसी ही तल्लीनताका रहना ही परामक्ति है। परम महात्मा गोपागनायें महामा वासुदेवकी भक्तिमें इसी प्रकारसे लीन रहीं थीं। परमात्माको निरजन और निर्देहरूपसे चिंतन करनेपर जीवको ऐसी तल्लीनता प्राप्त करना अति कठिन है, इसलिये जिमको परमात्माका साक्षात्कार हुआ है, ऐसा देहधारी परमात्मा उस परामक्तिका एकतम कारण है। उस ज्ञानी पुरुषके सर्व चरित्रमें ऐक्यभावका लक्ष्य होनेसे उमके हृदयमें निराजमान परमात्माका ऐक्यभाव होता है, और यही परामक्ति है। ज्ञानी पुरुष और परमात्मामें त्रिभुज भी अंतर नहीं है, और जो कोई अंतर मानता है, उसे मार्गीकी प्राप्ति होना अत्यंत कठिन है। ज्ञानी तो परमात्मा ही है, और उसकी पहिचानके बिना परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, इसीलिये सत्र प्रकारसे भक्ति करने योग्य ऐसी देहधारी दिव्यमूर्ति—ज्ञानीरूप परमात्माकी—को नमस्कार आदि भक्तिसे लगाकर परामक्तिके अततक एक तल्लीनतासे आराधन करना, ऐसा शास्त्रका लक्ष्य है। परमात्मा ही इस देहधारीरूपसे उत्पन्न हुआ है, ऐसी ही ज्ञानी पुरुषके प्रति जीवको बुद्धि होनेपर भक्ति उदित होती है, और यह भक्ति क्रम क्रमसे परामक्तिरूप हो जाती है। इस विषयमें श्रीमद्भागवतमें, भगवद्गीतामें बहुतसे भेद बता करके इसी लक्ष्यकी प्रशंसा की है, अधिक क्या कहें? ज्ञानी—तीर्थकरदेवमें लक्ष्य होनेके लिये जैनधर्ममें भी पंचपरमेष्ठी मंत्रमें “ नमो अरिहताण ” पदके बाद ही सिद्धको नमस्कार किया है, यही भक्तिने तारेंमें यह सूचित करता है कि प्रथम ज्ञानी पुरुषकी भक्ति करो, यही परमात्माकी प्राप्ति और भक्तिका निदान है।

दूसरा एक प्रश्न (एकसे अधिक बार) आपने ऐसे लिखा था कि व्यवहारमें व्यापार आदिके सत्रधमें इस वर्ष जैसा चाहिये वेसा लाभ नहीं दीखता, और कठिनाई रहा करती है। जिसको परमात्माकी भक्ति ही प्रिय है ऐसे पुरुषको ऐसी कठिनाई न हो तो फिर उसे सब्बे परमात्माकी ही भक्ति नहीं है, ऐसा समझना चाहिये, अथवा जान बूझकर परमात्माकी इच्छारूप मायाने ऐसी कठिनाईयोंको भेजनेके कार्यका निस्मरण किया समझना चाहिये। जनक विदेही और महात्मा कृष्णके विषयमें मायाका निस्मरण हुआ माझ्म होता है, तथापि ऐसा नहीं है। जनक विदेहीकी कठिनाईके सबधमें यहाँ कहनेका मौका नहीं है, क्योंकि वह कठिनाई अग्रगत कठिनाई है, और महात्मा कृष्णकी सकटरूप कठिनाई प्रगत ही है। इसी तरह उनकी अष्टसिद्धि और नवनिधि भी प्रसिद्ध ही हैं, तथापि कठिनाई तो थी ही और होनी भी चाहिये। यह कठिनाई मायाकी है, और

नके लिये जीवको योग्य होना प्रशस्त है। उस योग्य होनेमें बाधा करनेवाला यह मायाप्रपञ्च है, जिसका परिचय ज्यों ज्यों कम हो वैसा आचरण किये बिना योग्यताका आरण भग नहीं होता। पग पगपर भयपूर्ण अज्ञान-भूमिमें जीव बिना विचारे ही करोड़ों योजन तक चलता चला जाता है, वहाँ योग्यताका अन्काश कहाँसे मिल सकता है ? ऐसा न होनेके लिए, किये हुए कार्यके उपद्रवको जैसे बने वैसे शान्त करके (इस विषयकी) सर्प प्रकारसे निवृत्ति करके योग्य व्यवहारमें आनेका प्रयत्न करना ही उचित है। यदि सर्पया लचारी हो तो व्यवहार करना चाहिये, किन्तु उस व्यवहारको प्रारब्धका उदय समझकर केवल निस्पृह-बुद्धिसे करना चाहिये। ऐसे व्यवहारको ही योग्य व्यवहार मानना। यहाँ ईश्वरानुग्रह है।

(२) कार्यरूपी जालमें आ फँसनेके बाद प्रायः प्रत्येक जीवको पश्चात्ताप होता है, कार्यके जन्म होनेके पहिले ही विचार हो जाय और वह दृढ़ रहे, ऐसा होना बहुत ही कठिन है—ऐसा जो विचक्षण मनुष्य कहते हैं वह यथार्थ ही है। पश्चात्ताप करनेसे कार्यका आया हुआ परिणाम अथवा नहीं होता, किन्तु किसी ऐसे ही दूसरे प्रसंगमें उससे उपदेश अर्पण मिल सकता है। ऐसा ही होना योग्य था, ऐसा मानकर शोकका परित्याग करना और केवल मायाकी प्रकृताका विचार करना यही उत्तम है। मायाका स्वरूप ही ऐसा है कि इसमें 'सत्' प्राप्त ज्ञानी पुरुषको भी रहना मुशकिल है, तो फिर जिसमें अभी मुमुक्षुताके अशोककी भी मलिनता है, ऐसे पुरुषको उसके स्वरूपमें स्थिर रहना अत्यन्त कठिन, सम्भ्रममें डालनेवाला एव चलायमान करनेवाला हो, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है—ऐसा जरूर मानना।

१९९

ब्रम्हई, चैत्र सुदी ९ शुक्र १९४७

जम्बूस्वामीका दृष्टांत प्रसंगको प्रबल करनेवाला और बहुत आनन्दकारक लिखा गया है।

छुटा देनेकी इच्छा होनेपर भी, चोरोद्वारा अपहरण हो जानेके कारण जम्बूका त्याग है, ऐसी लोक-प्रवाहकी मान्यता परमार्थके लिये कलरूप है, ऐसा जो महात्मा जन्मका आशय था वह सत्य था।

इस प्रकार यहाँ इस बातका अन्त करके अब आपको प्रश्न होगा कि चित्तकी मायाके प्रसंगोंमें आकुल-व्याकुलता हो, ओर उसमें आत्मा चिंतित रहा करे, क्या यह ईश्वर-प्रसन्नताका मार्ग है ? तथा अपनी बुद्धिसे नहीं, किन्तु लोक-प्रवाहके कारण भी कुटुम्ब आदिके कारणसे शोकयुक्त होना, क्या यह वास्तविक मार्ग है ? क्या हम आकुल होकर कुछ कर सकते हैं ? और यदि कर सकते हैं तो फिर ईश्वरपर विश्वास रखनेका क्या फल हुआ ?

निस्पृह पुरुष क्या ज्योतिष जैसे कल्पित विषयको सासारिक प्रसंगमें लक्ष करते होंगे ? हालमें तो हमारी यही इच्छा है कि आप, हम ज्योतिष जानते हैं अथवा कुछ कर सकते हैं, ऐसा न मानें तो ठीक हो।

२००

मन्वई, चेत्र सुदी १० शनि १९४७

सर्वात्मस्वरूपको नमस्कार

वह दशा जिसमे अपना ओर विराना कुठ भी भेदभाज नहीं रहता—उसकी प्राप्ति अज समीप ही है, (इस देहमें ह), और उसके कारण परेच्छासे रहते हैं । पूर्वमें जिस जिस त्रिधा, बोध, ज्ञान, ओर क्रियाकी प्राप्ति हो गई है, उन सबको इस जममें ही निस्मरण करके निर्निकल्प हुए त्रिना छुटकारा नहीं, और इन्नी कारण इस तरहसे रहते है, तथापि आपकी अल्पधिक आजुलता देखकर यत्किंचित् आपको उत्तर देना पड़ा हे, और वह भी स्वेच्छासे नहीं दिया है । ऐसा होनेसे आपसे प्रार्थना है कि इन सत्र मायायुक्त त्रिधा अथवा मायायुक्त मार्गके सत्रधमें आपकी तरफसे मेरी दूसरा दशा होनेतक स्मरण न दिलाया जाय, यही उत्तम है ।

२०१

मन्वई, चेत्र सुदी १४ गुरु १९४७

ज्ञानीकी परिपक्व अस्था (दशा) होनेपर राग-द्वेषकी सर्था निवृत्ति हो जाती है, ऐसी हमारी मान्यता है ।

ईश्वरेच्छाके अनुसार जो हो उसे होने देना, यह भक्तिमानके लिये सुख देनेवाली बात है ।

२०२

मन्वई, चेत्र सुदी १५ गुरु १९४७

परमार्थमें नीचेकी बातें विशेष उपयोगी है —

१ पार होनेके लिये जीनकी पहिले क्या जानना चाहिये ?

२ जीनके परिभ्रमण करनेमें मुख्य कारण क्या है ?

३ वह कारण किस तरह दूर हो सकता है ?

४ उसके लिये सुगमसे सुगम अर्थात् अल्पकालमें ही फल देनेवाला उपाय कौनसा है ?

५ क्या ऐसा कोई पुरुष ह कि जिससे इस त्रिपयका निर्णय हो सके ? क्या तुम मानते हो इस कालमें कोई ऐसा पुरुष होगा ? और मानते हो तो किन कारणोंसे ? ऐसे पुरुषके कौनसे लक्षण हो सकते हैं ? वर्तमानमें ऐसा पुरुष तुम्हें किस उपायसे प्राप्त हो सकता है ?

६ क्या यह हो सकता है कि सत्पुरुषकी प्राप्ति होनेपर जीनको मार्ग न मिले ? ऐसा हो तो उसका क्या कारण है ? यदि इसमें जीनकी अयोग्यता जान पड़े तो वह योग्यता किस त्रिपयकी है ?

७ के सगसे योग्यता आनेपर क्या उसके पाससे ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है ?

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये योग्यता बहुत बलवान कारण है । ईश्वरेच्छा बलवान है और सुखकारक है । बारम्बार यही शका मनमें उठा करती है कि क्या बधनहीन कभी बधनमें फँस सकता है ? आपकी इस त्रिपयमें क्या राय है ?

२०३

वम्बई, चैत्र वदी ३ रति १९४७

उस पूर्णपदकी ज्ञानी लोग परम प्रेमसे उपासना करते हैं

लगभग चार दिन पहले आपका पत्र मिला। परमस्वरूपके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है। सद्वृत्तियाँ रखनेकी आपकी इच्छा रहती है—यह पढ़कर वारम्बार आनन्द होता है। चित्तकी सरलताका वैराग्य और 'सत्' प्राप्त होनेकी अभिलाषा—ये प्राप्त होना परम दुर्लभ है, और उसकी प्राप्तिमें परम कारणरूप 'सत्सग' का प्राप्त होना तो और भी परम दुर्लभ है। महान् पुरुषोंने इस कालको कठिन काल कहा है, उसका मुख्य कारण तो यही है कि जीवको 'सत्सग' का योग मिलना बहुत कठिन है, और ऐसा होनेसे ही कालको भी कठिन कहा है। चौदह राजू लोक मायामय अग्निसे प्रज्ज्वलित है। उस मायामें जीवकी बुद्धि रच-पच रही है, और उससे जीव भी उस त्रिविध तापरूपी अग्निसे जला करता है, उसके लिये परमकारण्य मूर्तिका उपदेश ही परम शीतल जल है, तथापि जीवको चारों ओरसे अपूर्ण पुण्यके कारण उसकी प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन हो गई है।

परन्तु इसी वस्तुका चितवन रखना। 'सत्' में प्रीति, साक्षात् 'सत्' रूप सतमें प्रीति, और उसके मार्गकी अभिलाषा—यही निरन्तर स्मरण रखने योग्य है, और इनके स्मरण रहनेमें वैराग्य आदि चरित्रगुण पुस्तकें, वैराग्ययुक्त सरल चित्तवाले मनुष्योंका सग और अपनी चित्त-शुद्धि—ये सुन्दर कारण हैं। इन्हींकी प्राप्तिकी रटन रखना कल्याणकारक है। यहाँ समाधि है।

२०४

वम्बई, चैत्र वदी ७ गुरु. १९४७

आप्यु सौने ते अक्षरधामरे

यद्यपि काल बहुत उपाधि सयुक्त जाता है, किन्तु ईश्वरेच्छानुसार चलना श्रेयस्कर और योग्य है, इसलिये जैसे चल रहा है, वैसे चाहे उपाधि हो तो भी ठीक, और न हो तो भी ठीक, हमें तो दोनों समान ही हैं।

ऐसा तो समझमें आता है कि भेदका भेद दूर होनेपर ही वास्तविक तत्त्व समझमें आता है। परम अभेदरूप 'सत्' सर्वत्र है।

२०५

वम्बई, चैत्र वदी १४ गुरु १९४७

जिसे लगी है, उसीको ही लगी है, और उसीने उसे जानी है, और वही "पी पी" पुकारता फिरता है। यह ब्राह्मी वेदना कैसे कही जाय ? जहाँ कि वाणीका भी प्रवेश नहीं है। अधिक क्या कहें ? जिसे लगी है उसीको ही लगी है। उसीके चरणकी शरण सगसे मिलती है, और जब मिल जाती है तभी छुटकारा होता है। इसके बिना दूसरा सुगम मोक्षमार्ग है ही नहीं, तथापि कोई प्रयत्न नहीं करता। मोह बड़ा बलवान है।

२०६

बम्बई, चैत्र १९४७

सुदृढ स्वभावासे आत्मार्थका प्रयत्न करना । आम-कल्याण प्राप्त करनेमें प्रायः प्रमत्त परिपत्रोंके वारम्बार आनेका सभाजना है, परन्तु यदि उन परिपत्रोंको शांत चित्तसे सह लिया जाय तो दीर्घकालमें ही सरुने योग्य कल्याण बहुत अल्पकालमें ही सिद्ध हो जाता है ।

तुम सत्र ऐसे शुद्ध आचरणसे रहना कि जिससे तुमको काल बीतनेपर, निमग्न दृष्टिसे देखनेवाले मनुष्योंमेंसे बहुतोंको, अपनी उस दृष्टिपर पश्चात्ताप करनेका समय आवे ।

धैर्य रखकर आम-कल्याणमें निर्भय रहना । निराश न होना । आत्मार्थमें प्रयत्न करते रहना ।

२०७

बम्बई, वेशाख सुदी ७ शुक्र १९४७

परब्रह्म आनन्दमूर्ति है, हम उसका तीनों कालोंमें अनुग्रह चाहते हैं

कुछ निवृत्तिका समय मिला करता है । परब्रह्म-विचार तो ज्योंका त्यों रहा ही करता है । कभी कभी तो उसके लिये आनन्दकी किरणें बहुत बहुत स्फुरित होने लगती हैं और कुछकी कुछ (अभेद) ज्ञात समझमें आती हैं, परन्तु वह ऐसी है जो किसीसे कही नहीं जा सकती, हमारी यह वेदना अथाह है । वेदनाके समय कोई न कोई साता पूँउनेवाला चाहिये, ऐसा व्यावहारिक मार्ग है, परन्तु हमें इस परमार्थ-मार्गमें साता पूँउनेवाला कोई नहीं मिलता, और जो है भी उसका प्रयोग रहता है ।

२०८

बम्बई, वेशाख वदी ३, १९४७

निरहको भी सुखदायक मानना ।

जैसे हरिके प्रति निरहासिको जलानेसे उसका साक्षात् प्राप्ति होती है, वैसे ही सतके निरहानुभवसे साक्षात् उसकी प्राप्ति होती है । ईश्वर-इच्छासे अपने सत्रधर्मों में ऐसा ही समझना ।

पूर्णकाम हरिका स्वरूप है, उसमें जिसकी निरन्तर लौ लगी रहती है, ऐसे पुरुषोंसे भारत क्षेत्र प्रायः शून्य जैसा हो गया है, माया-मोह ही सरत्र दिखाई देता है, मुमुक्षु बन्चित् ही दिखाई देते हैं, और उसमें भी मतातर आदिके कारणोंसे ऐसे मुमुक्षुओंको भी योगका मिलना अति कठिन हो गया है । आप जो हमें वारम्बार प्रेरित करते हो, उसके लिये हमारी जैसी चाहिये वैसी योग्यता नहीं है, और जतक हरिने साक्षात् दर्शन देकर उस बातकी प्रेरणा नहीं की, ततक उस निपयमें मेरी कोई इच्छा नहीं होती, और होगी भी नहीं ।

२०९

बम्बई, वेशाख वदी ८ रवि १९४७

हरिके प्रतापसे जब हरिका स्वरूप मिलेगा तब समझाऊँगा

चित्तकी दशा चैतन्यमय रहा करती है, इस कारण हमारे व्यवहारके सत्र काम प्रायः अव्यवस्थासे ही होते हैं । हरि-इच्छाको सुखदायक मानते हैं, इसलिये जो उपाधि-योग रहता है उसे भी हम समाधि-योग मानते हैं ।

चित्तकी अव्यवस्थाके कारण मुहूर्त मात्रमें हो सकनेवाले कार्यके विचार विचारमें ही पन्द्रह दिन निकल जाते हैं और कभी तो उस कार्यके बिना किये ही रह जाना पड़ता है। सभी प्रसंगोंमें यदि ऐसा ही होता रहे तो भी हानि नहीं मानी, परन्तु आपको कुछ कुछ ज्ञान-वार्ता कही जाय तो विशेष आनन्द रहता है, और इस सन्धमें चित्तको कुछ व्यवस्थित करनेकी इच्छा रहा करती है, फिर भी उस स्थितिमें अभी हाल हीमें प्रवेश नहीं किया जा सकता, ऐसी चित्तकी निरकुश दशा हो रही है, और उस निरकुशताकी प्राप्तिमें हरिकी परम कृपा ही कारणीभूत है, ऐसा हम मानते हैं, और उस निरकुशताको पूर्ण किये बिना चित्त यथोचित समाधियुक्त नहीं होता, ऐसा लगता है। इस समय तो सत्र-कुछ अच्छा लगता है, ओर कुछ भी अच्छा नहीं लगता, ऐसी स्थिति हो रही है। जब सत्र-कुछ मात्र अच्छा ही लगा करेगा तभी निरकुशताकी पूर्णता होगी। इसीका अपर नाम पूर्ण कामना है—जहाँ सर्वत्र हरि ही हरि स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस समय वे कुछ अस्पष्ट जैसे दीखते हैं, परन्तु वे हैं स्पष्ट, ऐसा अनुभव है।

जो रस जगत्का जीवन है, उस रसका अनुभव होनेके बाद हरिके प्रति अतिशय लो लगी है, और उसका परिणाम ऐसा आयेगा कि हम जहाँ जिस रूपमें हरि-दर्शन करनेकी इच्छा करेंगे, उसी रूपमें हरि दर्शन देंगे, ऐसा भविष्यकाल ईश्वरेच्छाके कारण लिखा है।

हम अपने अतरंग विचारको लिख सकनेमें अतिशय अशक्त हो गये हैं, इस कारण समागमकी इच्छा करते हैं, परन्तु ईश्वरेच्छा अभी ऐसा करनेमें असहमत माझम होती है, इसलिये नियोगमें ही रहते हैं।

उस पूर्णस्वरूप हरिमें जिमकी परम भक्ति है, ऐसा कोई भी पुरुष हालमें दिखाई नहीं देता, इसका क्या कारण है? तथा ऐसी अति तीव्र अथवा तीव्र मुमुक्षुता भी किसीमें दिखाई नहीं देती, इसका क्या कारण होना चाहिये? यदि कहीं तीव्र मुमुक्षुता दिखाई भी देती होगी तो वहाँ अनन्तगुण-नाभीर ज्ञानानन्तर पुरुषका लक्ष क्यो नहीं देखनेमें आता, इसके कारणके सन्धमें जो आपको लगे सो लिखना।

दूसरी बड़ी आश्चर्यकारक बात तो यह है कि आप जेसोंको सम्यग्ज्ञानके वीजकी—पराभक्तिके मूलकी—प्राप्ति होनेपर भी उसके बादका भेद क्यों नहीं प्राप्त होता? तथा हरिविषयक अलख लयरूप वैराग्य जितना चाहिये उतना क्यों वृद्धिगत नहीं होता? इसका जो कुछ भी कारण आपके ध्यानमें आता हो सो लिखना।

हमारे चित्तकी ऐसी अव्यवस्था हो जानेके कारण किसी भी काममें जैसा चाहिये वैसा उपयोग नहीं रहता, सृष्टि नहीं रहती, अथवा खतर ही नहीं रहती, उसके लिये क्या करें? क्या करें इससे हमारा आशय यह है कि व्यवहारमें रहनेपर भी ऐसी सर्वोत्तम दशा दूसरे किसीको दु खरूप न हो, ऐसा हम क्या करें? अभी तो हमारे आचार ऐसे हैं कि कभी कभी उनसे किसीको दु ख पहुँच जाता है।

हम दूसरे किसीको भी आनन्दरूप लगे, इसकी हरिको चिन्ता रहती है, इसलिये वे इसे करेंगे। हमारा काम तो उस दशाकी पूर्णता प्राप्त करनेका है, ऐसा मानते हैं, तथा दूसरे किसीको भी सत्तापरूप होनेका तो स्वप्नमें भी विचार नहीं है, हम तो सत्रके दास हैं, तो फिर हमें दु खरूप कौन मानेगा?

तथापि यदि व्यग्रहार-प्रसंगमें हरिकी माया हमको नहीं तो सामनेवालेको भी एकके बदले दूसरा भाग पैदा कर दे तो लखारी है, परन्तु इसके लिये भी हमें तो शोक ही होगा। हम तो हरिको सर्व शक्तिमान मानते हैं, ओर उन्हींको सत्र कुठ सौप रक्खा है।

अधिक क्या लिखें ? परमानन्द हरिको एक क्षणभर भी न भूलना, यही हमारी सर्वकृति, वृत्ति और लिखनेका हेतु है।

२१०

बम्बई, वैशाख वदी ८ रवि १९४७

ॐ नमः

प्रबोधशतक भेजा है, वह पहुँचा होगा। इस शतकका तुम सगोंको श्रवण, मनन और निदि-
ध्यासन करना चाहिये। सुननेवालेको सत्रसे पहिले यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि इस पुस्तकको
हमने वेदातकी श्रद्धा करनेके लिये नहीं भेजी, इसे किसी दूसरे ही कारणसे भेजी है, और वह कारण
बहुत करके विशेष विचार करनेपर तुम जान सकोगे।

हालमें तुम्हारे पास कोई ऐसा बोध करनेवाला साधन न होनेके कारण यह शतक ठीक साधन है,
ऐसा समझकर इसे भेजा है। इसमेंसे तुम्हें क्या जानना चाहिये, इसका विचार तुम स्वयं कर लेना।

किसीको यह सुनकर हमारे विषयमें ऐसी शका नहीं करनी चाहिये कि इस पुस्तकमें जो
कुछ मत बताया गया है, वही हमारा भी मत है। केवल चित्तकी स्थिरताके लिये इस पुस्तकके विचार
उद्भूत उपयोगी है और इसीलिये इसे भेजा है, ऐसा समझना।

२११

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ७ शनि १९४७

ॐ नमः

कराल काल होनेसे जीवको जहाँ अपनी वृत्ति लगानी चाहिये वहाँ वह नहीं लगा सकता।
इस कालमें प्रायः सत्धर्मका तो लोप ही रहता है, इसीलिये इस कालको कलियुग
कहा गया है।

सत्धर्मका योग सत्पुरुषके विना नहीं होता, क्योंकि असत्में सत् नहीं होता।

प्रायः सत्पुरुषके दर्शनकी और योगकी इस कालमें अप्राप्ति ही दिखाई देती है। जब यह
दशा है तो सत्धर्मरूप समाधि मुमुक्षु पुरुषको कहाँसे प्राप्त हो सकती है ? ओर अमुक काल व्यतीत
होनेपर भी जन ऐसी समाधि प्राप्त नहीं होती तो मुमुक्षुता भी कैसे रह सकती है ? प्रायः ऐसा होता
है कि जीव जैसे परिचयमें रहता है, उसी परिचयरूप अपनेको मानने लगता है। इस बातका प्रत्यक्ष
अनुभव भी होता है कि अनार्य कुलमें परिचय रखनेवाला जीव अनार्यतामें ही अपनी दृढ़ता रखता है,
और आर्यत्वमें मति नहीं करता।

इसलिये महान् पुरुषोंने और उनके आधारसे हमने ऐसा दृढ़ निश्चय किया है कि जीवके
लिये सत्संग ही मोक्षका परम साधन है।

जैसी अपनी योग्यता है, वैसी योग्यता रखनेवाले पुरुषोंके सगको ही सत्सग कहते हैं। अपनेसे बड़े पुरुषके सगके नित्रासको हम परम सत्सग कहते हैं, क्योंकि इसके समान कोई हितकारक साधन इस जगतमें हमने न देखा है और न सुना है।

पूर्णतः महान् पुरुषोंका चिंतन करना यद्यपि कल्याणकारक है, तथापि वह स्वरूप-स्थितिका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जीनको क्या करना चाहिये—यह बात उनके स्मरण करने मात्रसे समझमें नहीं आती। प्रत्यक्ष सयोग होनेपर त्रिना समझाये भी स्वरूप स्थिति होनी हमें समझ लगती है, और उससे यही निश्चय होता है कि उस योगका और उस प्रत्यक्ष चिंतनका फल मोक्ष होता है, क्योंकि सत् पुरुष ही मूर्तिमान मोक्ष है।

मोक्षगत (अर्हत आदि) पुरुषका चिंतन बहुत कालसे भावानुसार मोक्ष आदि फलका देनेवाला होता है।

सम्यक्त्वप्राप्त पुरुषका निश्चय होनेपर ओर योग्यताके कारणसे जीन सम्यक्त्व पाता है।

२१२

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १५ रवि १९४७

ॐ

जीन भक्तिकी पूर्णता पानेके योग्य तभी होता है जन कि वह एक तृण मात्र भी हरिसे नहीं मोंगता, और सब दशाओंमें भक्तिमय ही रहता है।

व्यवहार-चिन्ताओसे अरुचि होनेपर सत्सगके अभानमें किसी भी प्रकारसे शान्ति नहीं होती, ऐसा जो आपने लिखा सो ठीक ही है, तो भी व्यावहारिक चिन्ताओकी अरुचि करना उचित नहीं है।

सर्वत्र हरि इच्छा बलवान है, यह बतानेके लिये ही हरिने ऐसा किया है, ऐसा निस्सन्देह समझना, इसलिये जो कुछ भी हो उसे देखे जाओ, और फिर यदि उससे अरुचि पैदा हो तो देख लेंगे। अब जब कभी समागम होगा तब इस नियमसे हम बातचीत करेंगे। अरुचि मत करना। हम तो इसी मार्गसे पार हुए हैं।

छोटम ज्ञानी पुरुष थे। उनके पदकी रचना बहुत श्रेष्ठ है। 'साकाररूपसे हरिकी प्रगट प्राप्ति' इसी शब्दको मैं प्राय 'प्रत्यक्षदर्शन' लिखता हूँ।

२१३

बम्बई, ज्येष्ठ वदी ६ शनि १९४७

हरि-इच्छासे जीना है, ओर पर इच्छासे चलना है। अविक क्या कहें ?

आज्ञाकित,

२१४

बम्बई, ज्येष्ठ १९४७

हालमें छोटमशुत पद-सग्रह वगैरह पुस्तकों वाँचनेका परिचय रखना। वगैरह शब्दसे ऐसी पुस्तकों समझना जिनमें सत्सग, भक्ति, आर वीतरागताके माहात्म्यका वर्णन किया हो।

जिनमें मन्मथ आदिके मालाभरता वर्णित किया हो ऐसी जो पुस्तकें, पर या काव्य हा, उन्हें धारण्यार माना जाता और उन्हें मूर्तिमें स्थाना उपित समझता ।

अभी हालमें यदि मन्मथके पढ़ोकी श्रम हो तो उसे निरुत्त कर्मा ही ठीक है, क्योंकि उसके (मन्मथके) पढ़ो और मन्मथके अरिक्त गौरवता होती चाटिय, उमके मित पथार्थ पढ़ोकी प्राप्ति नहीं होती, तथापि यदि मन्मथ पुस्तकें न हो गो "उत्पादन्यता" अथवा "मन्मथ" के मन्मथ आदिको पढ़ना और विचारना ।

२१५

बर्बर, आषाढ सुदी १ मीमा १९४०

जबकि मुझे द्वारा विद्या परम मन्मथ समझा नहीं गया, और उमकी प्राप्ति नहीं हुई, तब-तक भक्तिमें प्रवृत्ति करनेमें अकाल और अशुचि दोष होता है । अकाल और अशुचि मन्मथ विचार है, तो भी सभोमें विद्या है । 'एकत्वमें' प्रभावता प्रथम पदर यह सेव्य भक्तिके त्रिये योग्य फल है । स्वल्प विचार भक्ति तो मन्मथ काव्यमें भोज है । मन्मथ प्रकाशकी प्रियोंका कारण एक केवल व्यवस्थित मन है । चाय मन्मथ आदिके रचित ता आर पुन स्वयं वाणी, शरीरका नाम प्रुचि है ।

२१६

बर्बर, आषाढ सुदी ८ मीमा १९४०

(१)

निःशुक्रतासे निर्भयता उत्पन्न होती है; और उससे निःसंगता प्राप्त होती है प्रकृतिके विचारकी दृष्टिमें जीवक कर्म आज प्रकाशकी विचारता त्रिये रूप है, और इस कारण दोषाके प्रसार भी अनन्त ही भागित होते हैं, परन्तु सबसे बड़ा दोष तो यह है कि जिसके कारण 'तीन मुमुक्षुता' उत्पन्न नहीं होती, अथवा 'मुमुक्षुता' ही उत्पन्न नहीं होती ।

प्राय करके मनुष्यामा किसी न किसी धर्म-मतमें होती ही है, और इस कारण उसे उसी धर्म-मतके अनुसार प्रवृत्ति करनी चाटिये—ऐसा यह माताती है, परन्तु इसका नाम मुमुक्षुता नहीं है ।

मुमुक्षुता तो उमका नाम है कि सत्र प्रकारकी मोहासक्ति छोड़कर केवल एक मोक्षके लिये ही यत्न करना, और तीन मुमुक्षुता उसे कहते हैं कि आन्व्य भेगपूर्वक प्रतिक्षण मोक्षके मार्गमें प्रवृत्ति करना ।

तीन मुमुक्षुताके विषयमें यहाँ कुछ कहना नहीं है, परन्तु मुमुक्षुताके विषयमें ही कहना है । अपने दोष देगनेमें निष्पक्षपात होना, यही मुमुक्षुताके उत्पन्न होनेका लक्षण है, और इसके कारण स्वच्छन्दका नाश होता है । जहाँ स्वच्छन्दकी थोड़ी अथवा बहुत हानि हुई है, वहाँ उतनी ही बोध-बीजके योग्य भूमिका तैयार होती है । जहाँ स्वच्छन्द प्राय दब जाता है, वहाँ फिर 'मार्गप्राप्ति' को रोक रानेनाउठे केवल तीन कारण ही मुख्यरूपमें होते हैं, ऐसा हम समझते हैं ।

इस लोकाकी अन्य भी सुचेष्टा, परम विनयकी न्यूनता, और पदार्थका अनिर्णय, इन स-कारणोंके दूर करनेके बीजको फिर कभी कहेंगे । उसके पहिले उहीं कारणोंको विस्तारसे कहते हैं ।

इस लोकाकी अन्य भी सुचेष्टा, यह बात बहुत करके तीव्र मुमुक्षुताकी उत्पत्ति होनेके पहिले

हुआ करती है। उसके होनेके कारण ये हैं कि “वह ‘सत्’ है” इम प्रकारकी नि शकपनेसे दृढ़ता नहीं हुई, अथवा “वह परमानन्दरूप ही है” ऐसा निश्चय नहीं हुआ, अथवा तो मुमुक्षुतामें भी कुछ आनन्दका अनुभव होता है, इससे बाह्य सात्ताके कारण भी कई बार प्रिय लगते हैं, और इस कारण इस लोककी अल्प भी सुखेच्छा रहा करती है, जिससे जीवकी योग्यता रुक हो जाती है।

याथातथ्य परिचय होनेपर सद्गुरुमे परमेश्वर-शुद्धि रखकर उनकी आज्ञानुसार चलना, इसे परम विनय कहा है। उससे परम योग्यताकी प्राप्ति होती है। जगतक यह परम विनय नहीं आती, तत्रतक जीवको योग्यता नहीं आती।

कदाचित् ये दोनों प्राप्त भी हुए हों, तथापि वास्तविक तत्त्व पानेकी कुछ योग्यताकी कमीके कारण पदार्थ निर्णय न हुआ हो, तो चित्त व्याकुल रहता है, मिथ्या समता आती है, और कम्पित पदार्थमें ‘सत्’ की मान्यता होने लगती है, जिससे ब्रह्म काल व्यतीत हो जानेपर भी उस अपूर्ण पदार्थसम्बन्धी परम प्रेम उत्पन्न नहीं होता, और यही परम योग्यताकी हानि है।

ये तीनों कारण, हमें मिले हुए अधिकांश मुमुक्षुओंमें हमने देखे हैं। केवल दूसरे कारणकी यत्किंचित् न्यूनता किसी किसीमें देखी है। और यदि उनमें सब प्रकारसे परम विनयकी कमीकी पूर्ति होनेका प्रयत्न हो तो योग्य हो, ऐसा हम मानते हैं। परम विनय इन तीनोंमें बलवान साधन है। अविक क्या कहे? अनन्त कालमें केवल यही एक मार्ग है।

पहिला और तीसरा कारण दूर करनेके लिये दूसरे कारणकी हानि करनी और परम विनयमें रहना योग्य है।

यह कलियुग है, इसलिये क्षणभर भी वस्तुके विचार बिना न रहना ऐसी महात्माओंकी शिक्षा है।

(२)

मुमुक्षुके नेत्र महात्मानों पहिचान लेते हैं।

२१७

बम्बई, आपाठ सुदी १३, १९४७

ॐ

सुखना सिंधु श्रीसहजानन्दजी, जगजीवनके जगवदजी,

शरणागतना सदा सुखकंदजी, परमस्नेही छो परमानन्दजी।

हालमें हमारी दशा कैसी है, यह जाननेकी आपकी इच्छा है, परन्तु वह जैसे विस्तारसे चाहिये धैर्य विस्तारसे नहीं लिखी जा सकती, इसलिये इसे पुन पुन नहीं लिखी। यहाँ संक्षेपमें लिखते हैं।

एक पुराण-पुरुष और पुराण-पुरुषकी प्रेम-संपत्ति बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता, हमें किसी भी पदार्थमें बिलकुल भी रुचि नहीं रही, कुछ भी प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होती, व्यवहार कैसे चलता है, इसका भी भान नहीं, जगत् किस स्थितिमें है, इसकी भी स्मृति नहीं रहती, शत्रु-मित्रमें कोई भी भेदभान नहीं रहा, कौन शत्रु है और कौन मित्र है, इसकी भी खबर रक्खी नहीं जाती, हम देहधारी हैं या और कुछ, जन यह याद करते हैं तब मुस्किलसे जान पाते हैं, हमें क्या करना है, यह किसीकी भी समझमें आने जैसा नहीं है, हम सभी पदार्थोंसे उदास हो जानेसे चाहे जैसे

प्रवर्तते है, व्रत नियमका भी कोई नियम नहीं रक्खा, भेदभात्रका कोई भी प्रसंग नहीं, हमने अपनेसे भिन्न जगत्में कुछ भी माना नहीं, हमारे समुल ऐसे सत्सर्गाके न मिलनेसे खेद रहा करता है, सपत्ति भरपूर है, इसलिये सपत्तिकी इच्छा नहीं, शब्द आदि अनुभव किये हुए नियम स्मृतिमें आ जानेके कारण—अथवा चाहे उसे ईश्वरेच्छा कहो—परन्तु उसकी भी अत्र इच्छा नहीं रही, अपनी इच्छासे ही धोड़ी ही प्रवृत्ति की जाती है, हरिकी इच्छाका क्रम जैसे चलता है वैसे ही चलते चले जाते हैं। हृदय प्रायः शून्य जैसा हो गया है, पाँचों इन्द्रियों शून्यरूपसे ही प्रवृत्ति करती है, नय-प्रमाण बगैरह शास्त्र-भेद याद नहीं आते, कुछ भी बाँचनेमें चित्त नहीं लगता, गानेकी, पीनेकी, बठनेकी, सोनेकी, चलनेकी, और बोलनेकी वृत्तियाँ सब अपनी अपनी इच्छानुसार होती रहती हैं, तथा हम अपने स्वार्थीन हैं या नहीं, इसका भी यथायोग्य भान नहीं रहा है।

इस प्रकार सत्र तरहसे विचित्र उदासीनता आ जानेसे चाहे जैसी प्रवृत्ति हो जाया करती है। एक प्रकारसे पूर्ण पागलपन है, एक प्रकारसे उस पागलपनको कुछ ठिपाकर रखते हैं, आर जितनी मात्रामें उसे ठिपाकर रखते हैं उतनी ही हानि है। योग्यरूपसे प्रवृत्ति हो रही है अथवा अयोग्य रूपसे, इसका कुछ भी हिसान नहीं रक्खा। आदि-पुरुषमें एक अखंड प्रेमके सिन्धुय दूसरे मोक्ष आदि पदार्थोंकी भी आकाशका नाश हो गया है, इतना सत्र होनेपर भी सत्तोप्रजनक उदासीनता नहीं आई, ऐसा मानते हैं। अखंड प्रेमका प्रवाह तो नशेके प्रवाह जैसा प्रवाहित होना चाहिये, परन्तु वैसा प्रवाहित नहीं हो रहा, ऐसा हम जान रहे हैं, ऐसा करनेसे वह अखंड नशेका प्रवाह प्रवाहित होगा, ऐसा निश्चयरूपसे समझते हैं। परन्तु उसे करनेमें काल कारणभूत हो गया है, और इन सत्रका दोष हमपर है अथवा हरिपर, उसका ठीक ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता। इतनी अधिक उदासीनता होनेपर भी व्यापार करते हैं, छेते हैं, देते हैं, लिखते हैं, बाँचते हैं, निभाते जा रहे हैं, खेद पाते हैं, ओर हँसते भी हैं, जिसका ठिकाना नहीं—ऐसी हमारी दशा है, और उसका कारण केवल यही है कि जन्तु हरिकी सुखद इच्छा नहीं मानी तबतक खेद मिटनेवाला नहीं, यह बात समझमें आ रही है, समझ भी रहे हैं, आर समझेंगे भी, परन्तु सत्र हरि ही कारणरूप है।

जिस मुनिको आप समझाना चाहते हो, वह हालमें योग्य है या नहीं, सो हम नहीं जानते, क्योंकि हमारी दशा हालमें मद-योग्यको लाभ करनेवाली नहीं, हम ऐसी जजालको हालमें नहीं चाहते, इसे रक्की ही नहीं, ओर उन सत्रका कारवार कैसा चलता है, इसका स्मरण भी नहीं है।

ऐसा होनेपर भी हमें इन सत्रकी अनुकया आया करती है। उनसे अथवा किसी भी प्राणीसे हमने मनसे मित्रभात्र नहीं रक्खा, और रक्खा जा सकेगा भी नहीं।

भक्तिनाली पुस्तकें कभी कभी बाँचते हैं, परन्तु जो सब कुछ करते हैं वह बिना ठिकानेकी दशासे ही करते हैं।

प्रभुकी परम कृपा है, हमें किसीसे भी मित्रभात्र नहीं रहा है, किसीके भी प्रति दोष-बुद्धि नहीं आती, मुनिके विषयमें हमें कोई हलका विचार नहीं, परन्तु वे ऐसी प्रवृत्तिमें पड़े हैं, जिसमें हरिकी प्राप्ति उन्हें न हो। अकेला बीज-ज्ञान ही उनका कल्याण कर सके, ऐसी इनकी और दूसरे

बहुतसे मुमुक्षुआकी दशा नहीं है, सिद्धात-ज्ञान भी साथमें होना चाहिये । यह सिद्धात-ज्ञान हमारे हृदयमें आपरितरूपसे पड़ा हुआ है । यदि हरिकी इच्छा प्रगट होने देनेकी होगी तो वह प्रगट होगा ।

हमारा देश हरि है, जाति हरि है, काल हरि है, देह हरि है; रूप हरि है, नाम हरि है, दिशा हरि है, सत्र कुठ हरि ही हरि है, ओर फिर भी हम इस प्रकार कारवारमें लगे हुए हैं, यह इसीकी इच्छाका कारण है । ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

२१८

बम्बई, आपाढ़ वदी ४ शनि १९४७

जीन स्वभाससे ही दूषित है, तो फिर उसके दोषकी ओर देखना, यह अनुकम्पाका त्याग करने जेसी बात है, और वडे पुरुष इस तरहकी आचरण करनेकी इच्छा नहीं करते । कलियुगमें असत्सग एव नासमझीके कारण भूलसे भरे हुए रास्तेपर न चला जाय, ऐसा होना बहुत ही कठिन है ।

२१९

बम्बई, आपाढ़ १९४७

(१)

श्रीसद्गुरु कृपा माहात्म्य

बिना नयन पाने नहीं, निना नयनकी बात ।
सेने सद्गुरुके चरन, से पाने साक्षात् ॥ १ ॥
बुझी चहत जो प्यासको, है बुझनकी रीत,
पाने नहीं गुरुगम निना, एही अनादि स्थित ॥ २ ॥
एही नहीं है कल्पना, एहि नहीं निभग,
कयि नर पचमकालमें, देखी वस्तु अभग ॥ ३ ॥
नहिं दे तु उपदेशकु, प्रथम लेहि उपदेश,
सत्रसे न्यारा अगम है, वो ज्ञानीका देश ॥ ४ ॥
जप, तप, ओर व्रतादि सत्र, तहा लगी भ्रमरूप,
जहाँ लगी नही सतकी, पाई कृपा अनूप ॥ ५ ॥
पायाकी ए बात है, निज छदनको छोड़,
पिठे लग सत्पुरुषके, तो सत्र वधन तोड़ ॥ ६ ॥

(२)

तृपातुरको पिलानेकी मेहनत करना । जो तृपातुर नहीं, उसे तृपातुर करनेकी अभिलाषा पेदा करना । जिसे यह अभिलाषा पेदा न हो, उसके प्रति उदासीन रहना ।

उपाधि इतनी लगी हुई है कि यह काम भी नहीं हो पाता । परमेश्वरको अनुकूल नहीं आता तो क्या करें ?

२२० बम्बई, श्रावण सुदी १ बुध १९४७

सर्वाशक्तिमान हरिकी इच्छा सदैव सुखरूप ही होती है, और जिसे भक्तिके कुछ भी अंश प्राप्त है ऐसे पुरुषको तो जरूर यही निश्चय करना योग्य है कि “हरिकी इच्छा सदैव सुखरूप ही होती है”। आपका नियोग रहनेमें भी हरिकी ऐसी ही इच्छा है, ओर वह इच्छा क्या होगी, यह मैं किसी तरहसे माझम हुआ है, जिसे समागम होनेपर कहेंगे।

हम आपसे “ज्ञानधारा” सबधी थोड़ा भी मूल-मार्ग इस वारके समागममें कहेंगे, ओर ह मार्ग पूरी तरहसे इसी जन्ममें आपसे कहेंगे, ऐसी हमें हरिकी प्रेरणा है, ऐसा माझम होता है।

ऐसा माझम होता है कि आपने हमारे लिये ही जन्म धारण किया होगा। आप हमारे अत्यंत प्रियकारी हैं, आपने हमें हमारी इच्छानुसार सुख दिया, इसके लिये हम नमस्कारके सिवाय दूसरा क्या बदला दें ?

परन्तु हमें ऐसा माझम होता है कि हरि हमारे हाथसे आपको परामक्ति दिलवयेगा, हरिके वरूपका ज्ञान करायेगा, और इसे ही हम अपना महान् भाग्योदय समझेंगे।

हमारा चित्त तो बहुत ही अधिक हरिमय रहा करता है, परन्तु सग सर्जन कलियुगका ही होता है। रात दिन मायाके प्रसंगमें ही रहना होता है, इसलिये चित्तका पूर्ण हरिमय रह सकना बहुत ही कठिन होता है, ओर तबतक हमारे चित्तका उद्रेग भी नहीं मिटगा।

ईश्वरार्पण

२२१ बम्बई, श्रावण सुदी ९ गुरु १९४७

चमत्कार बताकर योगको सिद्ध करना, यह योगीका लक्षण नहीं है।

सर्वोत्तम योगी तो वही है कि जो सब प्रकारकी स्पृहासे रहित होकर सत्यमें केवल अनन्य नेष्टासे सत्र प्रकारसे सत्का ही आचरण करता है, ओर जिसको जगत् विसृत हो गया है। हम यही चाहते हैं।

२२२ बम्बई, श्रावण सुदी ९ गुरु १९४७

खभातसे पाँच-सात कोसपर क्या कोई ऐसा गाँव है कि जहाँ अज्ञातरूपसे रहें तो अनुकूल हो ? यदि ऐसा कोई स्थल ध्यानमें आये कि जहाँ जल, वनस्पति आर सृष्टि-रचना ठीक हो तो लिखना। धर्म-पुण्यसे पहले और श्रावण वदी १ के बाद यहाँसे थोड़े समयके लिये निवृत्त होनेकी इच्छा है। जहाँ हमें लोग धर्मके सबधसे भी पहिचानते हों, ऐसे गाँवमें भी हालमें तो प्रवृत्ति ही मानी है, इसलिये हालमें खभात आनेका विचार सभ्य नहीं है।

हालमें थोड़े समयके लिये यह निवृत्ति लेना चाहता हूँ। जबतक सर्वकालके लिये (आयुपर्यंत) निवृत्ति पानेका प्रसंग न आया हो तबतक धर्म-सम्बधसे भी प्रगटमें आनेकी इच्छा नहीं है। जहाँ मान निर्भिकारपनेसे रहा जा सके ऐसी व्यवस्था करना।

समाधि

२२३

वम्बई, श्रावण सुदी १९४७

इस जगत्में, चतुर्थकाल जैसे कालमें भी सत्सगकी प्राप्ति होना बहुत दुर्लभ है, तो फिर इस दुःपमकालमें तो उसकी प्राप्ति होना अन्यत ही दुर्लभ है, ऐसा समझकर जिस जिस प्रकारसे सत्सगका नियोग रहनेपर भी आत्मामें गुणोत्पत्ति हो सके, उस उस प्रकारसे आचरण करनेका पुरुषार्थ बारम्बार, जन कभी भी और प्रसग प्रसगपर करना चाहिये, तथा निरन्तर सत्सगकी इच्छा—असत्सगमें उदासीनता—रहनेमें उसका मुख्य कारण पुरुषार्थ ही है, ऐसा समझकर निवृत्तिके जो कोई कारण हों उन उन कारणोंका बारम्बार विचार करना योग्य है ।

हमको इस तरह लिखते हुए यह स्मरण आ रहा है कि “ क्या करें ” अथवा “ किसी भी प्रकारसे नहीं होता ” ऐसा विचार तुम्हारे चित्तमें बारम्बार आता रहता होगा, तथापि ऐसा योग्य माझ्म होता है कि जो पुरुष दूसरे सप्त प्रकारके विचारको अकर्तव्यरूप समझकर आत्म-कल्याणमें ही उद्यमी होता है, उसको कुछ न जाननेपर भी उसी विचारके परिणाममें रहना योग्य है, और ‘ किसी भी प्रकारसे नहीं होता ’ इस तरह माझ्म होनेके प्रगट होनेका कारण या तो जीवको उत्पन्न हो जाता है, अथवा कृतकृत्यताका स्वरूप उत्पन्न हो जाता है ।

ज्ञानी पुरुषने दोषपूर्ण स्थितिमें इस जगत्के जीवोंको तीन प्रकारसे देखा है —(१) जीव किसी भी प्रकारसे दोष अथवा कल्याणका विचार नहीं कर सका, अथवा विचार करनेकी स्थितिमें वह बेसुध है—ऐसे जीवोंका यह प्रथम प्रकार है । (२) जीव अज्ञानतासे असत्सगके अभ्याससे भासमान होनेवाले बोधसे दोष करता है, और उस क्रियाको कल्याण-स्वरूप मानता है—ऐसे जीवोंका यह दूसरा प्रकार है । (३) जिसकी स्थिति मात्र उदयके आधीन रहती है, और सप्त प्रकारके पर-स्वरूपका साक्षात् ऐसा बोध-स्वरूप जीव केवल उदासीनतासे कर्त्ता दिखाई देता है—ऐसे जीवोंका यह तीसरा प्रकार है ।

इस प्रकार ज्ञानी पुरुषने तीन प्रकारके जीवोंके समूहको देखा है । प्रायः करके प्रथम प्रकारमें स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, आदिकी प्राप्ति-अप्राप्तिके प्रकारमें तद्रूप परिणामीके समान माझ्म होनेवाले जीवोंका समावेश होता है । दूसरे प्रकारमें जुदा जुदा धर्मोंकी नाम-क्रिया करनेवाले जीव, अथवा स्वच्छन्द परिणामी, जो अपने आपको परमार्थ-मार्गीपर चलनेवाला मानते हैं, ऐसी बुद्धिसे गृहीत जीवोंका समावेश होता है । तीसरे प्रकारमें ऐसे जीवोंका समावेश होता है कि जिन्हें स्त्री, पुत्र, मित्र आदिकी प्राप्ति-अप्राप्ति आदिके भावमें वैराग्य उत्पन्न हो गया है, अथवा वैराग्य हुआ करता है, जिनके स्वच्छन्द परिणाम नष्ट हो गये हैं, और जो निरन्तर ही ऐसे भावके विचारमें रहते हैं । अपना विचार तो ऐसा है कि जिससे तीसरा प्रकार सिद्ध हो जाय । जो विचारवान हैं उन्हें यथावृद्धिपूर्वक, सद्प्रयत्ने और सत्सगसे यह विचार प्राप्त होता है, और उनमें अनुक्रमसे दोषरहित वैसा स्वरूप उत्पन्न होता है । यह बात फिर फिरसे सोते हुए, जागते हुए, और दूसरी तरहसे भी विचारने और मनन करने योग्य है ।

२२४

राज, भाद्र सुदी ८, १९४७

ॐ

श्रीसहस्रभक्ति रहस्य

हे प्रभु ! हे प्रभु ! हे दीनानाथ दयाल ! हे करुणेश ! क्या कहूँ, मैं तो अनत दोषोंका पात्र हूँ ॥ १ ॥

मुझमें शुद्ध-भावन नहीं है, और न मुझमें तेरा पूरा रूप ही है, न मुझमें लघुता है और न दीनता है, तो फिर मैं परम स्वरूपकी तो बात ही क्या कहूँ ? ॥ २ ॥

न मैंने गुरुदेवकी आज्ञाको हृदयमें अचल किया है, न मुझमें आपके प्रति दृढ़ विश्वास ही है, ओर न परम आदर ही है ॥ ३ ॥

न मुझे सत्सङ्गका योग है, न सत्सेवाका योग है, न सम्पूर्णरूपसे अपनेको अर्पण करनेका भाव है, और न मुझे अनुयोगका आश्रय ही है ॥ ४ ॥

मैं पामर क्या कर सकता हूँ ? मुझे ऐसा विवेक नहीं है । मरण समयतक मुझे आपकी चरण-शरणका धीरज भी तो नहीं है ॥ ५ ॥

तेरे अचिन्त्य माहात्म्यका मुझमें प्रबुद्धित भाव नहीं है, न मुझमें स्नेहका एक भी अंश ही है, और न किसी प्रकारका परम प्रभाव ही मुझे प्राप्त हुआ है ॥ ६ ॥

मुझमें न तो अचल आसक्ति है और न निरहका ताप ही है, न तेरे प्रेमकी अलभ्य कथा है, और न उसका कुछ परिताप ही है ॥ ७ ॥

न मेरा भक्ति-मार्गमें प्रवेश है, न भजनमें दृढता है, न अपने धर्मकी समझ है, ओर न शुभ देशमें मेरा वास ही है ॥ ८ ॥

कलिकालसे काल-दोष हो गया है, इसमें मर्यादा और धर्म नहीं रहे, तो भी मुझे आकुलता नहीं है । हे प्रभु ! मेरे कर्म तो देखो ॥ ९ ॥

२२४

ॐ

श्रीसहस्रभक्ति रहस्य

हे प्रभु हे प्रभु हे प्रभु हे प्रभु, दीनानाथ दयाल, हु तो दोष अनतनु, भाजन छु करुणाळ ॥ १ ॥

शुद्धभावन सुजमा नथी, नथी सव तुजरूप, नथी लघुताके दीनता, शु कहु परमस्वरूप ? ॥ २ ॥

नथी आज्ञा गुरुदेवनी, अचल करी उरमाहि, आपतणो विश्वास दद, ने परमादर नाहिं ॥ ३ ॥

जोग नथी सत्सङ्गनो, नथी सत्सङ्ग जोग, केवल अर्पणता नथी, नथी आश्रय अनुयोग ॥ ४ ॥

हु पामर शु कथीं पाहु ? एवो नथी विवेक, चरण शरण धीरज नथी, मरण सुधीनी छन ॥ ५ ॥

अचिन्त्य तुज माहात्म्यनो, नथी प्रबुद्धित भावन, अश न एके स्नेहनो, न मळे परम प्रभाव ॥ ६ ॥

अचलरूप आसक्ति नाहिं, नाहिं विरहनो ताप, कथा अलभ तुज प्रेमनी, नाहिं तेनो परिताप ॥ ७ ॥

भक्तिमार्ग प्रवेश नाहिं नाहिं भजन दद भावन, समज नाहिं निज धर्मनी, नाहिं शुभ देश स्थान ॥ ८ ॥

कालदोष कळिधी थयो, नाहिं मर्यादा धर्म, तोये नाहिं व्याकुलता ? जुओ प्रभु भुज कम ॥ ९ ॥

जो सेवाके प्रतिकूल बधन है, उसका मैंने त्याग नहीं किया है, देह और इन्द्रियों मानती नहीं हैं, और बाह्य वस्तुपर राग किया करती हैं ॥ १० ॥

तेरा वियोग स्फुरित नहीं होता, वचन और नयनका कोई यम-नियम नहीं, तथा न भोगे हुए पदार्थोंसे ओर घर आदिसे उदासीन भाव नहीं है ॥ ११ ॥

न मैं अहंभासे रहित हूँ, न मैंने अपने वर्मका ही सचय किया है, और न मुझमें निर्मल-भासे अन्य धर्मोंके प्रति कोई निवृत्ति ही है ॥ १२ ॥

इस प्रकार मैं अनत प्रकारसे साधनोंसे रहित हूँ । मुझमें एक भी तो सद्गुण नहीं, मैं अपना मुँह कैसे बतार्क ॥ १३ ॥

हे दीनबधु दीनानाथ ! आप केवल करुणाकी मूर्ति हो, और मैं परम पापी अनाथ हूँ । हे प्रभुजी ! मेरा हाथ पकड़ो ॥ १४ ॥

हे भगवन् ! मैं बिना ज्ञानके अनत कालसे भटका फिरा, मैंने सतगुरुकी सेवा नहीं की, और अभिमानका त्याग नहीं किया ॥ १५ ॥

सतके चरणोंके आश्रयके बिना मैंने अनेक साधन जुटाये, परन्तु उनसे पार नहीं पाई, और त्रिकला अश मात्र भी उनसे उदित नहीं हुआ ॥ १६ ॥

जितने भर साधन थे सब बधन हो उठे, और कोई उपाय नहीं रहा । जब सत् साधन ही नहीं समझा, तो फिर बधन कैसे दूर हो सकता है ? ॥ १७ ॥

न प्रभु प्रभुकी लौ ही लगी, ओर न सद्गुरुके पेरोंमें ही पड़े, जब अपने दोष ही नहीं देखे तो फिर किस उपायसे पार पा सकते हैं ? ॥ १८ ॥

मैं सपूर्ण जगतमें अधमसे अधम और पतितसे पतित हूँ, इस निश्चयपर पहुँचे बिना साधन भी क्या करेंगे ? ॥ १९ ॥

हे भगवन् ! मैं फिर फिरसे तेरे चरण-कमलोंमें पड़ पड़कर यही माँगता हूँ कि तू ही सद्गुरु सत है, ऐसी मुझमें दृढता उत्पन्न कर ॥ २० ॥

सेवाने प्रतिकूल जे, ते बधन नथी त्याग, देहेन्द्रिय माने नहिं, करे बाह्यपर राग ॥ १० ॥

तुज वियोग स्फुरतो नथी, वचन नयन यम नाहिं, नहिं उदास अनभक्त थी, तेम गृहादिक माहि ॥ ११ ॥

अहंभावधी रहित नहिं, स्वधमसचय नाहिं, नथी निवृत्ति निर्मलपणे, अन्य धर्मनी काइ ॥ १२ ॥

एम अनन्त प्रकारथी, साधन रहित हुय, नहिं एक सद्गुण पण, सुख उताडु श्रुय ॥ १३ ॥

केवल करुणामूर्ति छे, दीनबधु दीननाथ, पापी परम अनाथ छउ, ग्रहो प्रभुजी हाथ ॥ १४ ॥

अनत कालथी आश्रयो, बिना भान भगवान, सेव्या नहिं गुरु सतने, मूव्यु नहिं अभिमान ॥ १५ ॥

सतचरण आश्रयबिना, साधन कर्यो अनेक, पार न तेथी पाभियो, उग्रयो न अश विवेक ॥ १६ ॥

सद्गु साधन बधन थया, रह्यो न कोई उपाय, सत् साधन समज्यो नहिं, त्या बधन श्रु जाय ? ॥ १७ ॥

प्रभुं प्रभुं लय लागी नहिं, पळ्यो न सद्गुरु पाय, दीटा नहिं निज दोष तो, तरिये कोण उपाय ? ॥ १८ ॥

अधमाधम अधिको पतित, सकळ जगत्मा हुय, ए निश्चय आव्या बिना, साधन करणे श्रुय ? ॥ १९ ॥

पडी पडी तुज पद पकज, परिपरी भागु एज, सद्गुरु सत स्वरूप तुज, ए दृढता करि देज ॥ २० ॥

२२५

राज, भाद्र सुदी ८, १९४७

ॐ सत्

शु साधन वाकी रह्यु ? कैवल्य वीज शु ?

यम नियम सजम आप कियो, पुनि त्याग विराम अथाग लह्यो,
 वनवास लियो मुख मोन रह्यो, हठ आसन पत्र लगाय दियो ॥ १ ॥
 मनपीननिरोध स्वरोध कियो, हठजोग प्रयोग सुतार भयो,
 जपभेद जपे तप त्योंहि तपे, उरसेंहि उदासि लही सबषे ॥ २ ॥
 सत्र शासनके नय धारि हिये, मत मडन खडन भेद लिये,
 वह साधन बार अनत कियो, तदपी कछु हाथ हजू न पर्यो ॥ ३ ॥
 अब क्यों न विचारत हैं मनसें, कलु और रहा उन सामनसें ?
 निम सद्गुरु कोउ न भेद लहे, मुख आगळ है कह बात कहे ? ॥ ४ ॥
 करुना हम पावत है तुमकी, वह बात रही सुगुर गमकी,
 पलमें प्रगटे मुख आगळसे, जब सद्गुरुचर्नसु प्रेम बसे ॥ ५ ॥
 तनसे, मनसे, धनसें, सत्रसें, गुरुदेवकि आन स्वआत्म बसे,
 तब कारज सिद्ध बने अपनो, रस अमृत पावहि प्रेमघनो ॥ ६ ॥
 वह सत्य सुत्रा दरसावहिंगे, चतुरागुल है द्रगसे मिल हैं,
 रसदेन निरजनको पिवही, गहि जोग जुगोजुग सो जियही ॥ ७ ॥
 पर प्रेम प्रवाह बढे प्रसुसें, आगमभेद सुऊर बसे,
 वह केवलको विज ग्यानि कहे, निजको अनुभौ बतलाइ दिये ॥ ८ ॥

२२६

राज, भाद्र सुदी ८, १९४७

(१) जड़का जड़रूप ही परिणमन होता है, और चेतनका चेतनरूपसे ही परिणमन होता है । दोनोंमेंसे कोई भी अपने स्वभाबको छोडकर परिणमन नहीं करता ॥ १ ॥

जो जड़ है वह तीनों कालमें जड़ ही रहता है, इसी तरह जो चेतन है, वह तीनों कालमें चेतन ही रहता है, यह बात प्रगटरूपसे अनुभबमें आई है, इसमें सशय क्यो करना चाहिये ? ॥२॥

यदि किसी भी कालमें जड़ चेतन हो जाय और चेतन जड़ हो जाय, तो बध और मोक्ष नहीं बन सकते, ओर निवृत्ति-प्रवृत्ति भी नहीं बन सकती ॥ ३ ॥

२२६

(१) जड़भावे जड़ परिणमे, चेतन चेतन भाव, कोई कोई पलटे नहीं, छोडी आप स्वभाब ॥ १ ॥
 जड़ ते जड़ त्रण कालमा, चेतन चेतन तेम, प्रगट अनुभवरूप छे, सशय तेमा केम ? ॥ २ ॥
 जो जड़ त्रण कालमा, चेतन चेतन होय, बध मोक्ष तो नहीं घटे, निवृत्ति प्रवृत्ति होय ॥ ३ ॥

आत्मा जबतक बध और मोक्षके सन्धसे अज्ञात रहती है, तबतक अपने स्वभावका त्याग ही रहता है, यह जिनभगवान्ने कहा है ॥ ४ ॥

आत्मा अपने पदकी अज्ञानतासे बधके प्रसंगमें प्रवृत्ति करती है, परन्तु इससे आत्मा रम्य जड़ नहीं हो जाती, यह सिद्धांत प्रमाण है ॥ ५ ॥

अरूपी रूपीको पकड़ लेता है, यह बहुत आश्चर्यकी बात है, जीव बधनको जानता ही नहीं, यह कैसा अनुपम जिनभगवान्का सिद्धांत है ॥ ६ ॥

पहले देह-दृष्टि थी इससे देह ही देह दिखाई देती थी, परन्तु अब आत्मामें दृष्टि हो गई है, इसलिये देहसे स्नेह दूर हो गया है ॥ ७ ॥

जड़ और चेतनका यह सयोग अनादि अनन्त है, उसका कोई भी कर्त्ता नहीं है, यह जिनभगवान्ने कहा है ॥ ८ ॥

मूळद्रव्य न तो उत्पन्न ही हुआ था, और न कभी उसका नाश ही होगा, यह अनुभवसे सिद्ध है, ऐसा जिनवरने कहा है ॥ ९ ॥

जो वस्तु मौजूद है उसका नाश नहीं होता, और जिस वस्तुका सर्पथा अभान है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, पदार्थोंकी अवस्था देखो, जो बात एक समयके लिये है वह हमेशाके लिये है ॥१०॥

(२) परम पुरुष, सद्गुरु, परम ज्ञान आर सुखके धाम जिस प्रभुने निजका ज्ञान दिया, उसे सदा प्रणाम है ॥ १ ॥

(३) जिस जिस प्रकारसे आत्माका चिंतन किया हो, वह उसी उसी प्रकारसे प्रतिभासित होती है ।

निपयार्त्तपनेसे मूढताको प्राप्त विचार-शक्तिवाले जीवको आत्माकी नित्यता नहीं भासित होती, ऐसा प्राय दिखाई देता है, और ऐसा होता है, यह बात यथार्थ ही है, क्योंकि अनित्य निपयमें आत्म-बुद्धि होनेके कारण उसे अपनी भी अनित्यता ही भासित होती है ।

विचारवानको आत्मा विचारवान लगती है । शून्यतासे चिंतन करनेवालेको आत्मा शून्य लगती है, अनित्यतासे चिंतन करनेवालेको आत्मा अनित्य लगती है, और नित्यतासे चिंतन करनेवालेको आत्मा नित्य लगती है ।

बध मोक्ष सयोगयी, ज्यालग आत्म अभान, पण त्याग स्वभावनी, भाखे जिनभगवान् ॥ ४ ॥

वर्त्ते बधप्रसंगमां, ते निजपद अज्ञान, पण जडता नहिं आत्मने, ए सिद्धांत प्रमाण ॥ ५ ॥

मधे अरूपी रूपीने, ए अचरजनी बात, जीव बधन जाणे नहीं, केवो जिनसिद्धांत ॥ ६ ॥

प्रथम देह दृष्टि हती, तेथी भास्यो देह, हवे दृष्टि थई आत्ममा, गयो देहकी नेह ॥ ७ ॥

जड चेतन सयोग आ, राण अनादि अनन्त, कोई न कर्त्ता तेहनो, भाखे जिनभगवत ॥ ८ ॥

मूळ द्रव्य उत्पन्न नहिं, नहिं नाश पण तेम, अनुभवयी ते सिद्ध छे, भाखे जिनवर एम ॥ ९ ॥

क्षेय तेहनो नाश नहिं, नहिं तेह नहिं क्षेय, एक समय ते ती समय, भेद अवस्था ज्येय ॥ १० ॥

(२) परम पुरुष प्रभु सद्गुरु, परम ज्ञान सुख धाम, जेणे आप्णु मान निज, तेने सदा प्रणाम ॥ १ ॥

२२७

रत्नज, भाद्रपद १९४७

(१)

हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है—

जिसने नव-पूरीको भी पढ़ लिया, परन्तु यदि उसने जीवको नहीं पहिचाना, तो यह सत्र अज्ञान ही कहा गया है, इसमें आगम साक्षी है । ये समस्त पूर्व जीवको विशेषरूपसे निर्मल बनानेके लिये कहे गये हैं । हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ १ ॥

ज्ञानको किसी प्रथममें नहीं बताया, कपिकी चतुराईको भी ज्ञान नहीं कहा, मन्-तत्रोक्तो भी ज्ञान नहीं बताया, ज्ञान कोई भाषा भी नहीं है, ज्ञानको किसी दूसरे स्थानमें नहीं कहा—ज्ञानको ज्ञानार्थ ही देखो । हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ २ ॥

जबतक ' यह जीव है ' ओर ' यह देह है ' इस प्रकारका भेद मालूम नहीं पड़ा, तबतक पचक्खण करनेपर भी उसे मोक्षका हेतु नहीं कहा । यह सत्यता निर्मल उपदेश पाँचवें अगमे कहा गया है । हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ३ ॥

न केवल ब्रह्मचर्यसे, और न केवल सयमसे ही ज्ञान पहिचाना जाता है, परन्तु ज्ञानको केवल ज्ञानसे ही पहिचानो । हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ४ ॥

विशेष शास्त्रोंको जाने या न जाने, किन्तु उसके साथ अपने स्वरूपका ज्ञान करना अथवा वेसा निश्वास करना, इसे ही ज्ञान कहा गया है । इसके लिये समति आदि प्रथ देखो । हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ५ ॥

यदि ज्ञानीके परमार्थसे आठ समितियोंको जान लिया, तो ही उसे मोक्षार्थका कारण होनेसे ज्ञान कहा गया है, केवल अपनी कल्पनाके बलसे करोड़ों शास्त्र रच देना, यह केवल मनका अहंकार ही है । हे सब भव्यो ! सुनो, जिनवरने इसे ही ज्ञान कहा है ॥ ६ ॥

२२७

जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सब भव्यो सामळो—

जो हाय पूर्व भणेल नव पण, जीवने जाण्यो नहीं, तो सर्व ते अज्ञान भाएयु, साक्षी छे आगम अहीं,
ए पूव सब कइया विशेषे, जीव करवा निर्मळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सामळो ॥ १ ॥
नहिं ग्रथ माहि ज्ञान भाएयु, ज्ञान नहिं कधि-चाहुरी, नहिं मन् तगे ज्ञान दाएया, ज्ञान नहिं भाषा ठरी,
नहिं अन्य स्थाने ज्ञान भाएयु, ज्ञान ज्ञानीमा कळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सब भव्यो सामळो ॥ २ ॥
आ जीव अने आ देह एवो, भेद जो भास्यो नहीं, पचक्खण कीया त्या सुधी, मोक्षाय ते भाख्या नहीं,
ए पाचमे अगे कळो, उपदेश केवळ निमळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सब भव्यो सामळो ॥ ३ ॥
केवळ नहिं ब्रह्मचर्यधी,
केवळ नहिं सयमथकी, पण ज्ञान केवळधी कळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सब भव्यो सामळो ॥ ४ ॥
शास्त्रो विशेषे सहीत पण जो, जाणियु निजरूपने, का तेहवो आशय, करजो, भावधी साचा मने,
तो ज्ञान तेने भाखियु, जा समति आदि स्थळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने, सर्व भव्यो सामळो ॥ ५ ॥
आठ समिति जाणीए जो, ज्ञानीना परमार्थधी, तो ज्ञान भाएयु तेहनं, अनुसार ते मोक्षार्थधी,
निज कल्पनाधी कोटि शास्त्रो, मात्र मननी आमळो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने सर्व भव्यो सामळो ॥ ६ ॥

स्वार्थ नहीं है, इसलिये कह देना योग्य है कि वे प्रायः केवल 'सत्' से त्रिमुख मार्गमें ही प्रवृत्ति करते हैं। जो उस तरह आचरण नहीं करता, वह हालमें तो अप्रगट रहनेकी ही इच्छा करता है। आश्चर्यकी बात तो यह कि कलिकालने थोड़े समयमें परमार्थको धेरकर अनर्थको परमार्थ बना दिया है।

२३५

व्याणीआ, भाद्रपद वदी ७, १९४७

चित्त उदास रहता है, कुछ भी अच्छा नहीं लगता, और जो कुछ अच्छा नहीं लगता वही अप्रिय नजर पड़ता है, वही सुनाई देता है, तो अब क्या करें ? मन किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं कर सकता। इस कारण प्रत्येक कार्य स्थगित करना पड़ता है, कुछ भी बॉचन, लेखन अथवा जन-परिचयमें रूचि नहीं होती। प्रचलित मतके भेदोंकी जात कानमें पड़नेसे हृदयमें मृत्युसे भी अधिक वेदना होती है। या तो तुम इस स्थितिको जानते हो, या जिसे इस स्थितिका अनुभव हुआ है वह जानता है, अथवा हरि जानते हैं।

२३६

व्याणीआ, भाद्रपद वदी १० रति १९४७

“ जो आत्मामें रमण कर रहे हैं ऐसे निर्ग्रन्थ मुनि भी निष्कारण ही भगवान्की भक्तिमें प्रवृत्त रहते हैं, क्योंकि भगवान्के गुण ऐसे ही हैं ”—श्रीमद्भागवत।

२३७

व्याणीआ, भाद्रपद वदी ११ सोम १९४७

जब तक जीवको सतका सयोग न हो तब तक मतमतातरमें मव्यस्य रहना ही योग्य है।

२३८

व्याणीआ, भाद्रपद वदी १२ भौम १९४७

वताने योग्य तो मन है कि जो सत्स्वरूपमें अखंड स्थिर हो गया है (जैसे नाग बॉसुरीके ऊपर), तथापि उस दशाके वर्णन करनेकी सत्ता सर्गाधार हरिने व्याणीमें पूर्णरूपसे नहीं दी, और लेखमें तो उस व्याणीका अनतर्ग भाग भी मुद्रिकलेसे आ सकता है। यह परिस्थिति रखनेका एकतम कारण यही है कि पुरुषोत्तमके स्वरूपमें हमारी ओर तुम्हारी अनन्य प्रेम-भक्ति अखण्ड रहे, वह प्रेम-भक्ति परिपूर्ण प्राप्त होओ, यही याचना करते हुए—अब अधिक नहीं लिखता। ईश्वरच्छा

२३९

व्याणीआ, भाद्रपद वदी १४ गुरु १९४७

ॐ सत्

परम विश्राम सुभाष्य !

जैसे महात्मा व्यासजीको हुआ था, वैसा ही अब हमारा भी हाल है। आत्म-दर्शन पाने पर भी व्यासजी आनन्द-सम्पन्न नहीं हुए थे, क्योंकि उन्होंने हरिस अखंडरूपसे नहीं गाया था। हमारा भी

यही हाल है। परम प्रेमसे अखंड हरिरसना अखंडपनेसे अनुभव करना अभी कहाँसे आ सकता है? और जनतक ऐसा न हो तनतक हमे जगत्मे की एक वस्तुका एक अणु भी अच्छा लगनेवाला नहीं।

जिस युगमें भगवान् व्यासजी थे वह युग दूसरा था, यह कलियुग है, इसमें हरिस्वरूप, हरिनाम, और हरिजन देखनेमें नहीं आते, सुनने तरुमें भी नहीं आते, इन तीनोंमेंसे किसीकी भी स्मृति हो, ऐसी कोई भी चीज देखनेमें नहीं आती। सन साधन कलियुगसे घिर गये हैं। प्राय सभी जीव उन्मार्गमें प्रवृत्ति कर रहे हैं, अथवा समार्गके समुख चलनेवाले जीव दृष्टिगोचर नहीं होते। कहीं कोई मुमुक्षु है भी, परन्तु उन्हें अभी मार्गकी सन्निकटता प्राप्त नहीं हुई है।

निष्कपटीपना भी मनुष्योंमेंसे चला हीसा गया है, समार्गका एक भी अश ओर उसका सोरों अश भी किसीमें नजर नहीं पड़ता, केवलज्ञानका मार्ग तो सर्वथा विसर्जन ही हो गया है। कौन जाने हरिकी क्या इच्छा है? ऐसा कठिन काल तो अभी ही देखा है। सर्वथा मद पुण्यवाले प्राणियोंको देखकर परम अनुकपा उत्पन्न होती है, ओर सत्सगकी यूनताके कारण कुछ भी अच्छा नहीं लगता।

बहुत बार योड़ा योड़ा करके कहा गया है, तो भी ठीक ठीक शब्दोंम कहनेसे अधिक स्मरणमें रहेगा, इसलिये कहते हैं कि बहुत समयसे किसीके साथ अर्थ-संग्रह ओर काम-सवध विलजुल ही अच्छा नहीं लगता। अन तो धर्म-संग्रह ओर मोक्ष-संग्रह भी अच्छा नहीं लगता। धर्म-संग्रह ओर मोक्ष-संग्रह तो प्राय योगियोंको भी अच्छा लगता है, ओर हम तो उससे भी निरक्त ही रहना चाहते हैं। हालमें तो हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता, ओर जो कुछ अच्छा लगता भी है उसका अत्यन्त वियोग है। अधिक क्या लिखें? सहन करना ही सुगम है।

२४० वगणीआ, आसोज सुदी ६ गुरु १९४७

- १ 'परसमय' के जाने बिना 'स्वसमय' जान लिया है, ऐसा नहीं कह सकते।
- २ 'परद्रव्य' के जाने बिना 'स्वद्रव्य' जान लिया है, ऐसा नहीं कह सकते।
- ३ समतिसूत्रमें श्रीसिद्धसेन दिवाकरने कहा है कि जितने वचन-मार्ग हैं उतने ही नयपाद हैं, ओर जितने नयपाद हैं उतने ही परसमय हैं।
- ४ अक्षयभगत कविने कहा है —

कर्त्ता मटे तो छूटे कर्म, ए छे महा भजननो मर्म।

जो तु जीव तो कर्त्ता हरी, जो तु शिव तो वस्तु खरी।

तु छो जीव ने तु छो नाथ, एम रुही अखे झटकया हाथ।

यदि कर्त्तापनेका भाव गिट जाय तो कर्म छूट जाता है, यह महा भजनका मर्म है। यदि तू जीव है तो ही कर्त्ता है, यदि तू शिव है तो वस्तु भी सत्य है। तू ही जीव है ओर तू ही नाथ है, ऐसा कहकर 'अक्षय' ने हाथ झटक लिया।

२४१ वनाणीआ, आसोज सुदा ७ शुक्र १९४७

ॐ

(१)

अपनेसे अपने आपको अपूर्वकी प्राप्ति होना दुर्लभ है; जिससे यह प्राप्त होता है उसके स्वरूपकी पहिचान होना दुर्लभ है, और जीवकी भूल भी यही है।

इस पत्रमें लिखे हुए प्रश्नोंका सक्षेपमें नीचे उत्तर लिखा है —

१-२-३ ये तीनों प्रश्न स्मृतिमें होंगे। इनमें यह कहा गया है —

“ १ ठाणागमें जो आठ वादी कहे गये हैं, उनमें आप और हम कौनसे वादमें गर्भित होते हैं ?

२ इन आठ वादोंके अतिरिक्त कोई जुदा मार्ग ग्रहण करने योग्य हो तो उसे जाननेकी पूर्ण आकांक्षा है।

३ अथवा आठों वादियोंका एकीकरण करना, यही मार्ग है, या कोई दूसरा ? अथवा क्या उन आठों वादियोंके एकीकरणमें कुछ न्यूनाधिकता करके मार्ग ग्रहण करना योग्य है ? ओर है तो यह क्या है ? ”—

इस सत्रमें यह जानना चाहिये कि इन आठ वादियोंके अतिरिक्त दूसरे दर्शनों—संप्रदायोंमें मार्ग कुछ (अन्वय) समन्वित रहता है, नहीं तो प्राय (व्यतिरिक्त) जुदा ही रहता है। वे वादी, दर्शन, और सम्प्रदाय—ये सब किसी रीतिसे उसकी प्राप्तिमें कारणरूप होते हैं, परन्तु सम्यग्ज्ञानीके विना दूसरे जीवोंको तो वे बचन भी होते हैं। जिसे मार्गकी इच्छा उत्पन्न हुई है, उसे इन सर्वोंके साधारण ज्ञानको रचना और निचारना चाहिये, ओर वाकीमें मध्यस्थ रहना ही योग्य है। यहाँ ‘सागरण ज्ञान’ का अर्थ ऐसा ज्ञान करना चाहिये कि जिस ज्ञानके सभी शास्त्रोंमें वर्णन किये जानेपर भी जिसमें अधिक भिन्नता न आई हो।

“ जिस समय तीर्थंकर आकर गर्भमें उत्पन्न होते हैं अथवा जन्म लेते हैं, उस समय अथवा उस समयके पश्चात् क्या देवता लोग जान लेते हैं कि ये तीर्थंकर हैं ? ओर यदि जान लेते हैं तो किस तरह जानते हैं ? ”—इसका उत्तर इस तरह है कि जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है ऐसे देव अग्निज्ञानद्वारा तीर्थंकरको जानते हैं, सब नहीं जानते। जिन प्रकृतियोंके नाश हो जानेसे जन्मसे तीर्थंकर अग्निज्ञानसे युक्त होते हैं, उन प्रकृतियोंके उनमें दिखाई न देनेसे वे सम्यग्ज्ञानी देव तीर्थंकरको पहिचान सकते हैं।

(२)

मुमुक्षुताके सन्मुख होनेकी इच्छा तुम दोनोंको यथायोग्य प्रणाम करता हूँ।

हालमें अधिकतर परमार्थ-

उदयमें रहता है, ओर इस कारण

उसी तरह प्रवृत्ति करनेमें काल

आपके प्रश्नोंका सक्षेपमें ही

उत्तर दिया है।

शातमूर्ति

२४२
ॐ सत्

व्याणीआ, आसोज सुदी १९४७

हम परदेशी पंखी साधु, और देशके नाहि रे.

एक प्रश्नके सिवाय नाकीके प्रश्नका उत्तर जान-बूझकर नहीं लिख सका। “काल क्या खाता है?” इसका उत्तर तीन प्रकारसे लिखता हूँ।

सामान्य उपदेशमें काल क्या खाता है, इसका उत्तर यह है कि वह प्राणी मात्रकी आयु खाता है। व्यवहारनयसे काल ‘पुराना’ खाता है। निश्चयनयसे काल पदार्थ मात्रका रूपांतर करता है—पर्यायांतर करता है।

अन्तके दो उत्तर अधिक विचार करनेसे ठीक प्रैठ सकेंगे। ‘व्यवहारनयसे काल पुराना खाता है’ ऐसा जो लिखा है, उसे नीचे विशेष स्पष्ट किया है—

“काल पुराना खाता है”—पुराना किसे कहते हैं? जिस चीजको उत्पन्न हुए एक समय हो गया, वही दूसरे समयमें पुरानी कही जाती है। (ज्ञानीकी अपेक्षासे) उस चीजको तीसरे समय, चौथे समय, इस तरह सरयात समय, असत्यात समय, अनत समय काल बदला ही करता है। वह दूसरे समयमें जैसी होती है वैसी तीसरे समयमें नहीं होती, अर्थात् दूसरे समयमें पदार्थका जो स्वरूप था, उसे खाकर तीसरे समयमें कालने पदार्थको कुछ दूसरा ही रूप प्रदान कर दिया, अर्थात् वह पुरानेको खा गया। पदार्थ पहिले समयमें उत्पन्न हुआ, और उसी समय काल उसको खा जाय, ऐसा व्यवहारनयसे मनना सभ्य नहीं है। पहिले समयमें पदार्थका नयापन गिना जायगा, पर तु उस समय काल उसे खा नहीं जाता, किन्तु दूसरे समयमें त्रदल देता है, इसलिये ऐसा कहा है कि वह पुरानेको खाता है।

निश्चयनयसे यात्रमात्र पदार्थ रूपान्तरित होते ही है। कोई भी पदार्थ किसी भी कालमें कभी भी सर्वथा नाश नहीं होता, ऐसा सिद्धांत है, और यदि पदार्थ सर्वथा नाश हो जाया करता तो आज कुछ भी न रहता, इसीलिये ऐसा कहा है कि काल खाता नहीं, परंतु रूपान्तर करता है। इन तीन प्रकारके उत्तरोंमें पहिला उत्तर ऐसा है जो आसानीसे सबका समझमें आ सकता है।

यहाँ भी दशाके प्रमाणमें बाह्य उपाधि विशेष है। आपने इस बार कुछ थोड़ेसे व्यावहारिक (यद्यपि शास्त्रसम्बन्धी) प्रश्न लिखे थे, परंतु हालमें ऐसे बाँचनमें भी चित्त पूरी तरह नहीं रहता, फिर उनका उत्तर कैसे लिखा जा सके ?

२४३

व्याणीआ, आसोज वदी १ रवि १९४७

ॐ

यह तो आप जानते ही हो कि पूर्वापर अनिरुद्ध भगवत्सबधी ज्ञानके प्रगट करनेके लिये जबतक उसकी इच्छा नहीं, तबतक किसीका अधिक समागम नहीं किया जाता।

जबतक हम अभिन्नरूप हरिपदको अपनेमें न मारें तबतक हम प्रगट-मार्ग नहीं कहेंगे।

तुम लोग भी, जो हमें जानते हैं उन लोगोंके सिवाय अधिक लोगोंको, हमें नाम, स्थान और गोंगसे वताना नहीं ।

एकसे अनन्त है, जो अनन्त है वह एक है ।

२४४

वनाणीआ, आसोज वदी ५, १९४७

आदि-पुरुष खेल लगाकर बैठा है

एक आत्म वृत्तिके सिवाय नया-पुराना तो हमारे है कहाँ? और उसके लिखने जितना मनको अवकाश भी कहाँ है? नहीं तो सभी कुछ नया ही है, और सभी कुछ पुराना है ।

२४५

वनाणीआ, आसोज वदी १० सोम १९४७

ॐ

(१) परमार्थ-विषयमें मनुष्योंका पत्र-व्यवहार अधिक चलता है, और हमें वह अनुकूल नहीं आता । इस कारण बहुतसे उत्तर तो लिखे ही नहीं जाते, ऐसी हरि इच्छा है, और हमें यह बात प्रिय भी है ।

(२) एक दशासे प्रवृत्ति है, और यह दशा अभी बहुत समयतक रहेगी । उस समयतक उदयानुसार प्रवृत्ति करना योग्य समझा है, इसलिये किसी भी प्रसंगपर पत्र आदिकी पहुँच मिलनेमें यदि त्रिलम्ब हो जाय अथवा पहुँच न दी जाय, अथवा कुछ उत्तर न दिया जाय, तो उसके लिये खेद करना योग्य नहीं, ऐसा निश्चय करके ही हमसे पत्र-व्यवहार रक्वना ।

२४६

वनाणीआ, आसोज वदी १९४७

(१) यही स्थिति—यही भाव और यही स्वरूप है । भले ही आप कल्पना करके दूसरी राह ले लें किन्तु यदि यथार्थ चाहते हो तो यह लो ।

निर्भग ज्ञान-दर्शन अन्य दर्शनमें माना गया है । इसमें मुरय प्रवर्तकोने जिस धर्म-मार्गका बोध दिया है, उसके सम्यक् होनेके लिये स्यात् मुद्रात्री आनन्दयकना है ।

स्यात् मुद्रा स्वरूपस्थित आत्मा है । श्रुतज्ञानकी अपेक्षा स्वरूपस्थित आत्मासे कहीं हुई शिक्षा है ।

(२) पुनर्जन्म है—जरूर है—इसके लिये मैं अनुभवसे हँ कहनेमें अचल हूँ ।

(३) इस कालमें मेरा जम लेना, मानूँ तो दुःखदायक है, और मानूँ तो सुखदायक भी है ।

(४) अब ऐसा कोई बॉचन नहीं रहा कि जिसे बॉचनेकी जरूरत हो । जिसके सगमें आकर तद्रूपकी प्राप्ति हो जाया करती थी, ऐसे सगकी इस कालमें न्यूनता हो गई है ।

निकराल काल !

विकराल कर्म !

निकराल आत्मा !

जैसे

परतु इस तरह

...

अब ध्यान रक्वो । यही कल्याण है ।

(५) यदि इतनी ही रोज कर सको तो सत्र कुछ पा जाओगे, निश्चयसे इसमें है । मुझे अनुभव है । सत्य कहता हूँ । यथार्थ कहता हूँ । नि शक मानो ।
इस स्वरूपके सत्रधमें कुछ कुछ किसी स्थलपर लिख डाला है ।

२४७ व्रतार्णीआ, आसोज वदी १२ गुरु १९४७

ॐ पूर्णकामचित्तको नमो नमः

आत्मा ब्रह्म-समाधिमें है, मन वनमें है, एक दूसरेके आभाससे अनुक्रमसे देह कुछ क्रिया करती है । इस स्थितिमें तुम दोनोंके पत्रोंका विस्तारपूर्वक और सतोपरूप उत्तर कैसे लिखा जाय, यह तुम्हीं कहो ।
जिनका धर्ममें ही नियास है, ऐसे इन सुमुद्गुओंकी दशा ओर रांति तुमको स्मरणमें रखनी योग्य है, ओर अनुकरण करने योग्य है ।

जिससे एक समयके लिये भी निरह न हो, इस तरहसे सत्सगमें ही रहनेकी इच्छा है, परंतु वह तो हरि इच्छाके आवीन है ।

कलियुगमें सत्सगकी परम हानि हो गई है, अधकार उाया हुआ है, इस कारण सत्सगकी अपूर्णताका जीवको यथार्थ भान नहीं होता ।

तुम सत्र परमार्थ निपयमें केली प्रवृत्तिमें रहते हो, यह लिखना ।

किसी एक नहीं कहे हुए प्रसगके निपयमे विस्तारसे पत्र लिखनेकी इच्छा थी, उसका भी निरोध करना पड़ा है । वह प्रसग गभीर होनेके कारण उसको इतने वर्षोंतक हृदयमें ही रक्खा है । अब समझते हैं कि कहे, परन्तु तुम्हारी सत्सगतिके मिलने पर कहे तो कहे ।

२४८ व्रतार्णीआ, आसोज वदी १३ शुक्र १९४७

श्री स्वमूर्तिरूप श्री निरहकी वेदना हमें अधिक रहती है, क्योंकि वीतरागता विशेष है, अन्य सगमें बहुत उदासीनता है । परंतु हरि इच्छाका अनुसरण करके प्रसग पानर निरहमें रहना पड़ता है, और उस इच्छाको सुखदायक मानते है, ऐसा नहीं है । भक्ति और सत्सगमें निरह रखनेकी इच्छा सुखदायक माननेमे हमारा विचार नहीं रहता । श्रीहरिकी अपेक्षा इस निपयमें हम अधिक स्वतंत्र हैं ।

२४९

बम्बई, १९४७

आर्त्तध्यानका ध्यान करनेकी अपेक्षा धर्मध्यानमें वृत्ति लाना, यही श्रेयस्कर है, और जिसके लिये आर्त्तध्यानका ध्यान करना पड़ता हो, वहसि या तो मनको उठा लेना चाहिये, अथवा उस कृत्यको कर डालना चाहिये कि जिससे निरक्त हुआ जा सके ।

स्वच्छद जीवके लिये बहुत बड़ा दोष है । यह जिसका दूर हो गया है, उसे मार्गका क्रम पाना बहुत सुलभ है ।

२५०

वम्बई, १९४७

यदि चित्तकी स्थिरता हुई हो तो ऐसे समयमें यदि सत्पुरुषोंके गुणोंका चिन्तवन, उनके बचनोका मनन, उनके चारित्रिका कथन, कीर्तन, और प्रत्येक चेष्टाका फिर फिरसे निदिध्यासन हो सकता हो, तो इससे मनका निग्रह अशक्य हो सकता है, और मनको जीतनेकी सचमुच यही कर्साटी है।

ऐसा होनेसे ध्यान क्या है, यह समझमें आ जायगा, परन्तु उदासीनभाससे चित्त-स्थिरताने समयमें उसकी खूबी मालूम पड़ेगी।

२५१

वम्बई, १९४७

१ उदयको अत्र परिणामसे भोगा जाय, तो ही उत्तम है।

२ “ दोके अक्षमें रहनेवाली वस्तुको कितना भी क्यों न छेदें, फिर भी छेदी नहीं जाती, और भेदनेसे भेदी नहीं जाती ”—श्रीआचाराग।

२५२

वम्बई, १९४७

आत्माके लिये विचार-मार्ग और भक्ति-मार्गकी आराधना करना योग्य है, परन्तु जिसकी विचार-मार्गकी सामर्थ्य नहीं उसे उस मार्गका उपदेश करना योग्य नहीं, इत्यादि जो लिखा वह ठीक ही है।

श्री स्वामीने केवलदर्शनसंगी कही हुई जो शका लिखी उसे वोंची है। दूसरी उद्धतसी बातें समझ लेनेके बाद ही उस प्रकारकी शकाका समाधान हो सकता है, अथवा प्रायः उस प्रकारको समझनेकी योग्यता आती है।

हालमें ऐसी शकाको सक्षिप्त करके अथवा शांत करके विशेष निकट आत्मार्थका विचार ही योग्य है।

२५३

वनाणीआ, कार्तिक सुदी ४ गुरु १९४८

काल विपम आ गया है। सत्सका योग नहीं है, और वीतरागता विशेष है, इसलिये कहीं भी साता नहीं, अर्थात् मन कहीं भी विश्रान्ति नहीं पाता। अनेक प्रकारकी विडवना तो हमें नहीं है, तथापि निरन्तर सत्सग नहीं, यही बड़ी भारी विडम्बना है। लोक-सग अच्छा नहीं लगता।

२५४

वनाणीआ, कार्तिक सुदी ७ रवि १९४८

चाहे जो क्रिया, जप, तप अथवा शास्त्र-वाचन करके भी एक ही कार्य सिद्ध करना है, और वह यह है कि जगत्को निश्चुत कर देना, और सत्के चरणमें रहना।

और इस एक ही लक्षके ऊपर प्रवृत्ति करनेसे जीवको उसे क्या करना योग्य है, और क्या करना अयोग्य है, यह बात समझमें आ जाती है, अथवा समझमें आने लगती है।

इस लक्षके समुख हुए बिना जप, तप, ध्यान अथवा दान किसीकी भी यथायोग्य सिद्धि नहीं है, और जबतक यह नहीं तबतक ध्यान आदि कुछ भी कामके नहीं हैं ।

इसलिये इनमेंसे जो जो साधन हो सकते हों उन सबको, एकलक्षकी—जिसका उल्लेख हमने ऊपर किया है—प्राप्ति होनेके लिये, करना चाहिये । जप, तप आदि कुछ निषेध करने योग्य नहीं, तथापि वे सब एकलक्षकी प्राप्तिके लिये ही हैं, और इस लक्षके बिना जीनकी सम्यक्त्व-सिद्धि नहीं होती । अधिक क्या कहें ? जितना ऊपर कहा है उतना ही समझनेके लिये समस्त शास्त्र रचे गये हैं ।

२५५

व्याणीआ, कार्तिक सुदी ८, १९४८

ॐ

किसी भी प्रकारका दर्शन हो, उसे महान् पुरुषोने सम्यग्ज्ञान माना है—ऐसा नहीं समझना चाहिये । पदार्थके यथार्थ-बोध प्राप्त होनेको ही सम्यग्ज्ञान माना गया है ।

जिनका एक धर्म ही निवास है, वे अभी उस भूमिकामें नहीं आये । दर्शन आदिकी अपेक्षा यथार्थ बोध श्रेष्ठ पदार्थ है । इस बातके कहनेका यही अभिप्राय है कि किसी भी तरहकी कल्पनासे तुम कोई भी निर्णय करते हुए निवृत्त होओ ।

ऊपर जो कल्पना शब्दका प्रयोग किया गया है वह इस अर्थमें है कि “हमारे तुम्हें उस समागमकी सम्मति देनेसे समागमी लोग उस्तु-ज्ञानके सबधमें जो कुछ प्ररूपण करते हैं, अथवा बोध करते हैं, वेसी ही हमारी भी मान्यता है, अर्थात् जिसे हम सत् कहते हैं, उसे भी हम हालमें मोन रहनेके कारण उनके समागमसे उस ज्ञानका बोध तुम्हें प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं ।”

२५६ व्याणीआ, कार्तिक सुदी ८ सोम १९४८

यदि जगत् आत्मरूप माननेमें आये, और जो कुछ हुआ करे वह ठीक ही माननेमें आये, दूसरेके दोष देखनेमें न आये, अपने गुणोकी उत्कृष्टता सहन करनेमें आये, तो ही इस सत्सारेमें रहना योग्य है, अन्य प्रकारसे नहीं ।

वर्ष २५वाँ

२५७

ॐ

वृषाणीभा, कार्तिक सुदी १९४८

यथायोग्य वदन स्वीकार करना ।

समागम होनेपर दो-चार कारण मन खोलकर आपसे बात नहीं करने देते । अनतकालकी वृत्ति, समागमी लोगोंकी वृत्ति और लोक-लज्जा ही प्राय इस कारणका मूल होता है । ऐसी दशा प्राय मेरी नहीं रहती कि ऐसे कारणोंसे किसी भी प्राणीके ऊपर कटाक्ष आये, परन्तु हालमें मेरी दशा कोई भी लोकोत्तर बात करते हुए रुक जाती है, अर्थात् मनका कुछ पता नहीं चलता ।

‘ परमार्थ-मौन ’ नामका कर्म हालमें भी उदयमें है, इससे अनेक प्रकारका मौन भी अगीकार कर रक्खा है, अर्थात् अधिकतर परमार्थसत्रधी बातचीत नहीं करते । ऐसा ही उदय काल है । क्वचित् साधारण मार्गसत्रधी बातचीत करते हैं, अन्यथा इस नियममें वाणीद्वारा, तथा परिचयद्वारा मौन और शून्यता ही ग्रहण कर रक्खी है । जतक योग्य समागम होकर चित्त ज्ञानी पुरुषका स्वरूप नहीं जानता, ततक ऊपर कहे हुए तीन कारण सर्वाथा दूर नहीं होते, ओर ततक ‘ सत् ’ का यथार्थ कारण भी प्राप्त नहीं होता ।

ऐसी परिस्थिति होनेका कारण, तुम्हें मेरा समागम होनेपर भी बहुत व्यावहारिक ओर लोक-लज्जा-युक्त बात करनेका प्रसंग रहेगा, और उससे मुझे बहुत अरुचि है, आप किसीके भी साथ मेरा समागम होनेके पश्चात् इस प्रकारकी बातोंमें गुंथ जाँय, इसे मैंने योग्य नहीं समझा ।

२५८

ॐ

आनन्द, मगसिर सुदी गुरु १९४८

(ऐसा जो) परमसत्य उसका हम ध्यान करते हैं

भगवान्को सब कुछ समर्पण किये बिना इस कालमें जीवका देहाभिमान मिटना सभ्य नहीं है, इसलिये हम सनातनधर्मरूप परमसत्यका निरन्तर ही ध्यान करते हैं । जो सत्यका ध्यान करता है, वह सत्य हो जाता है ।

२५९

ॐसत्

वम्बई, मगसिर सुदी १४ भौम १९४८

श्रीसहजसमाधि

यहाँ समाधि है, सृष्टि रहती है, तथापि निरुपायता है । असंग-वृत्ति होनेसे अणुमात्र भी उपाधि सहन हो सके, ऐसी दशा नहीं है, तो भी सहन करते हैं ।

निवार करके वस्तुको फिर फिरोसे समझना, मनसे किये हुए निश्चयको साक्षात् निश्चय नहीं मानना ।

ज्ञानीद्वारा किये हुए निश्चयको जानकर प्रवृत्ति करनेमें ही कन्याण है—फिर तो जैसी होनहार । सुधाके निपयमें हमे सन्देह नहीं है । तुम उसका स्वरूप समझो, और तब ही फल मिलेगा ।

२६०

बम्बई, मगसिर वदी १४ गुरु १९४८

अनुक्रमे सयम स्पर्शतोजी, पाम्यो क्षायकभाव रे,
सयमश्रेणी फूलडेजी, पूजू पद निप्पाव रे ।

(आत्माकी अभेद चिन्तनारूप) सयमके एकके बाद एक क्रमका अनुभन करके क्षायिकभाज (जड़ परिणतिका त्याग) को प्राप्त जो श्रीसिद्धार्थके पुत्र, उनके निर्मल चरण-कमलको सयम-श्रेणीरूप फलोसे पूजता हूँ ।

ऊपरके रचन अतिशय गभीर है ।

यथार्थबोध स्वरूपका यथायोग्य

२६१

बम्बई, पोप सुदी ३ रति १९४८

अनुक्रमे सयम स्पर्शतोजी, पाम्यो क्षायकभाव रे,
सयमश्रेणी फूलडेजी, पूजू पद निप्पाव रे ।

दर्शन सकलना नय ग्रहे, आप रहे निज भावे रे,
हितरूरी जनने सर्जीवनी, चारो तेह चरावे रे ।

दर्शन जे थयां जूजवां, ते ओघ नजरने फेरे रे,
दृष्टि थिरादिरु तेहमा, समकित दृष्टिने हेरे रे ।

योगनां बीज इहां ग्रहे, जिनवर शुद्ध प्रणामो रे,
भावाचारज सेवना, भव उद्वेग सुठामो रे ।

२६२

बम्बई, पोप सुदी ५, १९४८

क्षायिक चरित्रको स्मरण करते हैं

जनक त्रिदेहीकी बात लक्ष्मै है । करसनदासका पत्र लक्ष्मै है ।

बोधस्वरूपका यथायोग्य

१ इस पदके अर्थके लिये देखो ऊपर न २६० अनुवादक

२ समस्त दर्शनोंको नयरूपसे समझे, और स्वयं निजभावमें लीन रहे । तथा मनुष्योंको हितकर सर्जीवनीका चारा चराये ।

३ जो हमें भिन्न भिन्न दर्शन दिखाई पड़ते हैं, वे केवल ओघ दृष्टिके फेरसे ही दिखाई देते हैं । स्थिर आदि दृष्टिका भेद समकित-दृष्टिसे होता है ।

४ इस दृष्टिमें योगना बीज ग्रहण करे, तथा जिनपरको शुद्ध प्रणाम करे, भावाचार्यकी सेवा और सवारे उद्वेग हो, यही मोक्षकी प्राप्तिका माग है ।

२६३

बम्बई, पौष सुदी ७ गुरु १९४८

ज्ञानीकी आत्माका अवलोकन करते हैं; और वैसे ही हो जाते हैं.

आपकी स्थिति लक्षमें है। अपनी इच्छा भी लक्षमें है। गुरु-अनुग्रहवाली जो बात लिखी है, वह भी सत्य है। कर्मका उदय भोगना पड़ता है, यह भी सत्य ही है। आपको पुन पुन अतिशय खेद होता है, यह भी जानते हैं। आपको नियोगका असह्य ताप रहता है, यह भी जानते हैं। बहुत प्रकारसे सत्सगमें रहना योग्य है, ऐसा मानते हैं, तथापि हालमें तो ऐसा ही सहन करना योग्य माना है।

चाहे जैसे देश-कालमें यथायोग्य रहना—यथायोग्य रहनेकी ही इच्छा करना—यही उपदेश है। तुम अपने मनकी कितनी भी चिन्ता क्यों न लिखो तो भी हमे तुम्हारे ऊपर खेद नहीं होगा। ज्ञानी अन्यथा नहीं करता, अन्यथा करना उसे मूर्खता भी नहीं, फिर दूसरे उपायकी इच्छा भी नहीं करना, ऐसा निवेदन है।

कोई इस प्रकारका उदय है कि अपूर्व वीतरागता होनेपर भी व्यापारसबधी कुछ प्रवृत्ति कर सकते हैं, तथा दूसरी खाने-पानेकी प्रवृत्ति मुश्किलसे कर सकते हैं। मनको कहीं भी विश्राम नहीं मिलता, प्राय करके वह यहाँ किसीके समागमकी इच्छा नहीं करता। कुछ लिखा नहीं जा सकता। अप्रिक परमार्थ-वाक्य बोलनेकी इच्छा नहीं होती। किसीके पूछे हुए प्रश्नोंके उत्तर जाननेपर भी लिख नहीं सकते, चित्तका भी अधिक सग नहीं है, आत्मा आत्म-भायसे रहती है।

प्रति समयमें अनत गुणविशिष्ट आत्मभाय बढ़ता जाता हो, ऐसी दशा है। जो प्राय समझनेमें नहीं आती अथवा इसे जान सकें ऐसे पुरुषका समागम नहीं है।

श्रीगर्भमानकी आत्माको स्वाभाविक स्मरणपूर्वक प्राप्त हुआ ज्ञान था, ऐसा माद्वम होता है। पूर्ण वीतरागका-सा वोग हमें स्वाभाविक ही स्मरण हो आता है, इसीलिये ००० हमने ०००० लिखा था कि तुम 'पदार्थ' को समझो। ऐसा लिखनेमें और कोई दूसरा अभिप्राय न था।

२६४

बम्बई, पौष सुदी ११ सोम १९४८

(१)

स्वरूप स्वभायमें है। ज्ञानीके चरण-सेवनके विना अनन्तकालतक भी प्राप्त न हो सके, ऐसा यह दुर्लभ भी है। आत्म-सयमका स्मरण करते रहते हैं। यथारूप वीतरागताकी पूर्णताकी इच्छा करते हैं।

हम ओर तुम हालमें प्रत्यक्षरूपसे नियोगमें रहा करते हैं। यह भी पूर्ण-निबन्धनका कोई बड़ा प्रयत्न उदयमें होनेके ही कारणसे हुआ माद्वम होता है।

(२)

हम कभी कोई काव्य, पद अथवा चरण लिखकर भेजें ओर यदि आपने उन्हें कहीं अन्यत्र वाँचा अथवा सुना भी हो, तो भी उन्हें अपूर्ण ही समझो। हम स्वयं तो हालमें यथाशक्य ऐसा कुछ करनेकी इच्छा करने जैसी दशामें नहीं हैं।

श्रीबोधस्वरूपका यथायोग्य

२६५

बम्बई, पोप वदी ३ रति १९४८

एक परिनामके न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्ब न धरतु है,
एक करतूति दोइ दर्ब कर्तू न करै,
दोइ करतूति एक दर्ब न करतु है,
जीव पुदगल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपनें अपने रूप कोउ न टरतु है,
जइ परिनामनिको करता है पुदगल;
चिदानन्द चेतन सुभाव आचरतु है । (समयसार-नाटक)

२६६

बम्बई, पोप वदी ९ रति १९४८

एक परिनामके न करता दरव दोइ

(१) नस्तु अपने स्वरूपमें ही परिणमती है, ऐसा नियम है । जीव जीवरूप परिणमा करता है, ओर जइ जइरूप परिणमा करता है । जीवका मुरय परिणमन चेतन (ज्ञान) स्वरूप है, ओर जइका मुरय परिणमन जइत्य स्वरूप है । जीवका तो चेतन परिणाम है तह किसी भी प्रकारसे जइ होकर नहीं परिणमता, ओर जइका जो जइत्य परिणाम है वह कभी चेतन परिणामसे नहीं परिणमता, ऐसी वस्तुकी मर्यादा है, ओर चेतन, अचेतन ये दो प्रकारके परिणाम तो अनुभवसिद्ध है । उनमेंके एक परिणामको दो द्रव्य मिलकर नहीं कर सकते, अर्थात् जीव और जइ मिलकर केवल चेतन परिणामसे परिणम नहीं सकते, अथवा केवल अचेतन परिणामसे नहीं परिणम सकते । जीव चेतन परिणामसे परिणमता है ओर जइ अचेतन परिणामसे परिणमता है, ऐसी वस्तुस्थिति है, इसलिये जिनभगवान् कहते हैं कि एक परिणामको दो द्रव्य नहीं कर सकते । जो जो द्रव्य है, वह सज अपनी स्थितिमें ही होता है, ओर अपने स्वभावमें ही परिणमता है ।

दोय परिनाम एक दर्ब न धरतु है

इसी तरह एक द्रव्य दो परिणामोंमें भी नहीं परिणम सकता, ऐसी नस्तुस्थिति है । एक जीव द्रव्य चेतन ओर अचेतन इन दो परिणामोंसे नहीं परिणम सकता, अथवा एक पुदगल द्रव्य अचेतन ओर चेतन इन दो परिणामोंसे नहीं परिणम सकता, केवल सज अपने ही परिणाममें परिणम सकता है । अचेतन पदार्थमें चेतन परिणाम नहीं होता, ओर चेतन पदार्थमें अचेतन परिणाम नहीं होता, इसलिये एक द्रव्य दो प्रकारके परिणामोंसे नहीं परिणम सकता, अर्थात् दो परिणामोंको धारण नहीं कर सकता ।

एक करतूति दोइ दर्ब कर्तू न करै

इसलिये दो द्रव्य एक क्रियाको कभी भी नहीं करते । दो द्रव्योंका सर्वथा मिल जाना योग्य नहीं है, क्योंकि यदि दो द्रव्योंके मिलनेसे एक द्रव्य उत्पन्न होने लगे तो

कर दे, और ऐसा तो कभी भी हो नहीं सकता कि वस्तु अपने स्वरूपका ही सर्वथा त्याग कर दे। जब ऐसा नहीं होता तो दो द्रव्य सर्वथा एक परिणामको प्राप्त हुए बिना एक भी क्रिया कहाँसे कर सकते हैं ? अर्थात् कभी नहीं कर सकते।

दोड़ करतूति एक दर्ब न करतु है

इसी तरह एक द्रव्य दो क्रियाओंको भी धारण नहीं करता, क्योंकि एक समयमें दो उपयोग नहीं हो सकते, इसलिये—

जीव पुद्गल एक खेत-अवगाही दोड

जीव और पुद्गलने कदाचित् एक क्षेत्रको रोक रक्खा हो तो भी—

अपनें अपनें रूप कोड न टरतु है

कोई अपने अपने स्वरूपके सिवाय दूसरे परिणामको प्राप्त नहीं होता, और इसी कारण ऐसा कहा गया है कि—

जड परिनामनिकौ करता है पुद्गल

देह आदिसे जो परिणाम होते हैं, उनका कर्ता पुद्गल है, क्योंकि वे देह आदि जड है, और जड परिणाम तो पुद्गलमें ही होता है। जब ऐसा ही है तो फिर जीव भी जीव-स्वरूपमें ही रहता है, इसमें अब किसी दूसरे प्रमाणकी भी आवश्यकता नहीं, ऐसा मानकर कहते हैं कि—

चिदानद चेतन सुभाउ आचरतु है

काव्यकर्ताके कहनेका अभिप्राय यह है कि यदि तुम इस तरह वस्तुस्थितिको समझो तो ही जइसनभी निज स्वरूपभाज भिड सकता है, और तो ही अपने स्वरूपका तिमोभाव प्रगट हो सकता है। विचार करो, स्थिति भी ऐसी ही है।

बहुत गहन बातको यहाँ सक्षेपमें लिखा है। (यद्यपि) जिसको यथार्थ बोध है उसे तो यह आसानीसे ही समझमें आ जायगी।

इस बातपर कईवार मनन करनेसे बहुत कुछ बोग हो सकेगा।

(२) चित्त प्राय करके उनमें रहता है, आत्मा तो प्राय मुक्तस्वरूप जैसी लगती है। वीतरागता विशेष है, वेगारकी तरह प्रवृत्ति करते हैं, दूसरोंका अनुसरण भी करते हैं। जगत्से बहुत उदास हो गये हैं, बस्तीसे तग आ गये हैं, दशा किसीसे भी कह नहीं सकते, कहें भी तो वैसा सत्सग नहीं है, मनको जैसा चाहें वैसा फिरा सकते हैं, इसीलिये प्रवृत्तिमें रह सके हैं। किसी प्रकारसे रागपूर्णक प्रवृत्ति न हो सकने जैसी दशा है, और ऐसी ही बनी रहती है। लोक-परिचय अच्छा नहीं लगता, जगत्में साता नहीं है, तथापि किये हुए कर्मोंकी निर्जरा करनी है इसलिये निरुपाय हैं।

यथार्थ बोधस्वरूपका यथायोग्य

जसे बने वैसे सच्चिचारका परिचय करनेके लिये (उपाधिमें लगे रहनेसे) जिससे योग्य रीतिसे प्रवृत्ति न होती हो, उस बातको ज्ञानियोंने लक्षमें रखने योग्य बताई है।

दूसरे काममें प्रवृत्ति करते हुए भी अन्यत्वभाजनासे वर्तान करनेका अभ्यास रखना योग्य है। वैराग्यभाजनासे भूषित ज्ञातसुधारस आदि प्रय निरन्तर चिंतन करने योग्य हैं। प्रमादमें वैराग्यकी तीव्रता—मुमुक्षुता—को गढ़ करना योग्य नहीं, ऐसा निश्चय रखना योग्य है। श्रीगोधरस्वरूप

२६८

बम्बई, माघ सुदी ५ बुध १९४८

अनतकालसे अपने स्वरूपका विस्मरण होनेसे जीवको अयभाजका अभ्यास हो गया है। दीर्घकालतक सत्सगमें रहकर मोक्ष-भूमिकाका सेवन होनेसे वह विस्मरण ओर अन्यभाजका अभ्यास दूर होता है, अर्थात् अन्यभाजसे उदासीनता प्राप्त होती है। इस कालके विषम होनेसे अपने रूपमें तमयता रहनी कठिन है, तथापि सत्सगका दीर्घकालीन सेवन तमयता प्राप्त करा सकता है, इसमें सन्देह नहीं होता।

जिन्दगी अल्प है, और जजाल अनन्त है, सरयात धन है, और तृष्णा अनन्त है, वहाँ स्वरूप-स्मृति सभर नहीं हो सकती, परन्तु जहाँ जजाल अल्प है, और जिन्दगी अप्रमत्त है, तथा तृष्णा अल्प है, अथवा है ही नहीं, ओर सर्वसिद्धि है, वहाँ पूर्ण स्वरूप स्थिति होनी सभर है। अमूल्य जेसा यह ज्ञान जीवन प्रपचसे आवृत होकर वहा चला जा रहा है। उदय प्रलयान है।

२६९

बम्बई, माघ सुदी १३ बुध १९४८

(राग—प्रभाती)

जीवे नवि पुगली नैव पुगल कदा, पुगलाधार नहीं तास रगी,
पर तणो ईश नहीं अपर ऐश्वर्यता, वस्तुधर्म कदा न परसगी।

(श्रीसुमतिनाथनु स्तवन—देवचन्द्रजी)

२७०

बम्बई, माघ वदी २ रवि १९४८

(१)

अत्यन्त उदास परिणामसे रहनेवाले चैतन्यको, ज्ञानी लोग प्रवृत्तिमें होनेपर भी वैसा ही रखते हैं, फिर भी ऐसा कहा गया है—

माया दुस्तर है, दुरत है, क्षणभर भी—एक समयके लिये भी—इसको आत्मामें स्थान देना योग्य नहीं, ऐसी तीव्र दशा आनेपर अत्यन्त उदास परिणाम उत्पन्न होता है, और ऐसे उदास परिणामकी प्रवृत्ति (गृहस्थपनेसे युक्त) अवध-परिणामी कह जाने योग्य है। जो बोध-स्वरूपमें स्थित है, वह मुदिकलसे इस तरहकी प्रवृत्ति कर सकता है, क्योंकि उसको तो परम वैराग्य है।

त्रिदेहीपनेसे जो राजा जनककी प्रवृत्ति थी, वह अत्यन्त उदास परिणामके कारण ही थी, प्राय

उन्हें वह स्वभावतः आत्मामेंसे हुई थी, तथापि मायाके किसी दुरत प्रसंगम जैसे ममुद्रमे नात्र यकि-चित् डोलायमान होती है, जैसे ही परिणामोंका डोलायमान होना समझ होनेसे, प्रत्येक मायाके प्रसंगम जिसकी सर्पथा उदास अस्थायी थी, ऐसे निजगुरु अष्टानमन्त्री शरण स्वीकार करनेके कारण, वे मायाको आसानीसे पार कर सकने योग्य हो सके थे, क्योंकि महात्माके आत्मनका ऐसा ही प्राच्य है ।

(२)

(१) यदि तुम और हम ही लोकिरु दृष्टिसे प्रवृत्ति करेगे तो फिर अलोकिरु दृष्टिसे प्रवृत्ति कौन करेगा ?

आत्मा एक है अथवा अनेक, कर्ता है या अकर्ता, जगत्का कोई कर्ता है अथवा जगत् स्वतः ही उत्पन्न हुआ है, इत्यादि बातें क्रमपूर्वक सत्सग होनेपर ही समझने योग्य हैं, ऐसा समझकर इस विषयमें हालमें पत्रद्वारा नहीं लिखा ।

सम्यक् प्रकारसे ज्ञानमें अखंड निरास रचनेका फल निश्चयसे मुक्ति है ।

सत्सारसन्धी तुम्हें जो जो चिंतायें हैं, उन चिंताओंको प्रायः हम जानते हैं, और इस विषयमें तुम्हें जो अमुक अमुक विकल्प रहा करते हैं, उन्हें भी हम जानते हैं । इसी तरह सत्सगके नियोगके कारण तुम्हें परमार्थ-चिंता भी रहा करती है, उसे भी हम जानते हैं, दोनों ही प्रकारके विकल्प होनेसे तुम्हें आकुलता-व्याकुलता रहा करती है, इसमें भी आश्चर्य नहीं माद्रम होता, अथवा असमझता नहीं माद्रम होती । अत्र इन दोनों ही प्रकारोंके विषयमें जो कुछ मेरे मनमें है, उसे खुले शब्दोंमें नीचे लिखनेका प्रयत्न किया है ।

सत्सारसन्धी जो तुम्हें चिंता है, उसे ज्यों ज्यों वह उदयमें आये, त्यों त्यों उसे वेदन करना—सहन करना—चाहिये । इस चिंताके होनेका कारण ऐसा कोई कर्म नहीं है कि जिसे दूर करनेके लिये ज्ञानी पुरुषको प्रवृत्ति करते हुए वाधा न आये । जबसे यथार्थ बोधकी उत्पत्ति हुई है, तभीसे किन्हीं भी प्रकारके सिद्धि-योगसे अथवा विद्याके योगसे निजसन्धी अथवा परसन्धी सासारिक साधन न करनेकी प्रतिज्ञा ले रखी है, और यह याद नहीं पड़ता कि इस प्रतिज्ञामें अत्रतक एक पलभरके लिये भी मदता आई हो । तुम्हारी चिंता हम जानते हैं, और हम उस चिंताके किन्हीं भी भागको जितना वन सके उतना वेदन करना चाहते हैं, परन्तु ऐसा तो कभी हुआ नहीं, वह अत्र कैसे हो ? हमें भी उदय-काल ऐसा ही रहता है कि हालमें ऋद्धि-योग हाथमें नहीं है ।

प्राणीमात्र प्रायः आहार-पानी पा जाते हैं, तो फिर तुम जैसे प्राणीको कुटुम्बके लिये इससे निरुद्ध परिणाम आये, ऐसा सोचना कदापि योग्य ही नहीं है । कुटुम्बकी लाज वारम्बार बीचमें आकर जो आकुलता पैदा करती है, उसे चाहे तो रक्जो अथवा न रक्खो, तुम्हारे लिये दोनों ही समान हैं, क्योंकि जिसमें अपनी लाचारी है, उसमें तो जो हो सके उसे ही योग्य मानना, यही दृष्टि सम्यक् है ।

हमें जो निर्विकल्प नामकी समाधि है, वह तो आत्माकी स्वरूप-परिणति रहनेके कारण ही है । आत्मके स्वरूपके समझमें तो हममें प्रायः करके निर्विकल्पता ही रहना समझ है, क्योंकि अन्य भागमें मुख्यतः हमारी बिलकुल भी प्रवृत्ति नहीं है ।

जिस दर्शनमें वध, मोक्षकी यथार्थ व्यस्त्या यथार्थरूपसे कही गई है, वह दर्शन निकट मुक्तिका कारण है, और इस यथार्थ व्यवस्थाको कहने योग्य हम यदि किसीको विशेषरूपसे मानते हैं तो वह श्रीतीर्थकरदेव ही हैं ।

और इन तीर्थकरदेवका जो अतर आशय है, वह प्रायः सुरूपसे यदि आजकल किसीमें, इस क्षेत्रमें हो, तो वह हम ही होंगे, ऐसा हमें दृढरूपसे भासता है ।

क्योंकि हमारा जो अनुभूत ज्ञान है उसका फल वीतरागता है, और वीतरागता कहा हुआ जो श्रुतज्ञान है, वह भी उसी परिणामका कारण मादम होता है, इस कारण हम उसके सच्चे वास्तविक अनुयायी हैं—सच्चे अनुयायी हैं ।

किसी भी प्रकारसे वन और घर ये दोनों ही हमारे लिये तो समान हैं, तथापि पूर्ण वीतराग-भावके लिये वनमें हमें रहना अधिक रुचिकर लगता है, सुखकी इच्छा नहीं है, परन्तु वीतरागताकी इच्छा है ।

जगत्के कल्याणके लिये पुरुषार्थ करनेके निपयमें लिखा, तो उस पुरुषार्थके करनेकी इच्छा किसी प्रकारसे रहती भी है, तथापि उदयके अनुसार चलनेका इस आत्माका स्वभाव जैसा हो गया है, ओर वेसा उदय-फाल हालमें समीपमें मादम नहीं होता, फिर उसकी उदीर्णा करके वेसा काल ले आने जैसी हमारी दशा नहीं है ।

“ भिक्षा माँगकर गुजर चला लेंगे, परन्तु खेदखिन्न न होंगे, ज्ञानके अनन्त आनन्दके सामने यह दुःख तृणमात्र है ”—इस आशयका जो वचन लिखा है, उस उचनको हमारा नमस्कार हो ! ऐसा वचन वास्तविक योग्यताके बिना निकलना सभ्य नहीं है ।

(२) “ जीव पौद्गलिक पदार्थ नहीं है, पुद्गल नहा है, और उसका पुद्गल आधार नहीं है, और वह पुद्गलके रगवाला भी नहीं है, अपनी स्वरूप-सत्ताके सिंगाय जो कुछ भय है, उसका वह स्वामी नहीं है, क्योंकि परका ऐश्वर्य स्वरूपमें नहा होता, वस्तुत्वकी दृष्टिसे देखनेपर वह कभी भी परसगी भी नहीं है ”—इम तरह “ जीव नमी पुग्गली ” आदि पदका सामाय अर्थ है ।

सुखदुःखरूप करमफल जाणो, निश्चय एक आनन्दो रे,

चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचदो रे ।

(वासुपूज्यस्तन—आनन्दवन)

(३)

यहाँ समाधि है । पूर्णज्ञानसे युक्त समाधि वारवार याद आया करती है ।

‘ परमसत् ’ का ध्यान करते हैं । उदासी रहती है ।

२७१

बम्बई, माघ वदी ४, बुध १९४८

जहाँ चारों ओर उपाधिकी अलावा प्रव्यलित हो रही हो, ऐसे प्रसंगमें समीपि रहनी परम दुष्कर है, और यह बात तो परमज्ञानी बिना होनी अत्यन्त ही कठिन है । हमें भी आश्चर्य होता है, तथापि प्रायः ऐसी ही प्रवृत्ति होती है, ऐसा अनुभूत है ।

१ दुःख और सुख ये दोनों कर्मक फलरूप जाणो । निश्चयते तो एक आनन्द ही है । जिनिश्वरभगवा कहते हैं कि आत्मा कभी भी चेतन भावका नहीं छोड़ती ।

इस देहको धारण करके यद्यपि कोई महान् श्रीमत्ता नहीं भोगी, शब्द आदि विषयोंका पूरा वैभवा प्राप्त नहीं हुआ, कोई विशेष राज्याधिकार सहित दिन नहीं बिताये, अपने निजके गिने जानेवाले ऐसे किसी वाम-आरामका सेवन नहीं किया, और अभी हालमें तो युवावस्थाका पहिला भाग ही चाढ़ है, तथापि इनमेंसे किसीकी हमें आत्मभासे कोई इच्छा उत्पन्न नहीं होती, यह एक बड़ा आश्चर्य मानकर प्रवृत्ति करते हैं। और इन पदार्थोंकी प्राप्ति-अप्राप्ति दोनों समान जानकर बहुत प्रकारसे अतिकल्प समाधिकी ही अनुभव करते हैं।

ऐसा होनेपर भी बारम्बार जनवासकी याद आया करती है, किसी भी प्रकारका लोभ-परिचय रुचिकर नहीं लगता, सत्सगकी ही निरन्तर कामना रहा करती है, और हम अव्यस्थित दशासे उपाधि-योगमें रहते हैं।

एक अतिकल्प समाधिके सिवाय दूसरा कुछ वास्तविक रीतिसे स्मरण नहीं रहता, चिंतन नहीं रहता, रुचि नहीं रहती, अथवा कोई भी काम नहीं किया जाता।

ज्योतिष आदि विद्या अथवा अणिमा आदि सिद्धिको मायिक पदार्थ जानकर आत्माको इनका कचित् ही स्मरण होता है। इनके द्वारा कोई बात जानना अथवा सिद्ध करना कभी भी योग्य माहूम नहीं होता, और इस बातमें किसी प्रकारसे हालमें चित्तका प्रवेश भी नहीं रहा।

पूर्वनिवर्धन जिस जिस प्रकारसे उदय आये, उस उस प्रकारसे ००० अनुक्रमसे वेदन करते जाना, ऐसा करना ही योग्य लगा है।

तुम भी, ऐसे अनुक्रममें भले ही थोड़ेसे थोड़े अशमें ही प्रवृत्त क्यों न हुआ जाय, तो भी प्रवृत्ति करनेका अभ्यास रखना, और किसी भी कामके प्रसंगमें अधिक शोकमें पड़ जानेका अभ्यास कम करना, ऐसा करना अथवा होना यही ज्ञानीकी अत्रस्थामें प्रवेश करनेका द्वार है।

तुम किसी भी प्रकारका उपाधिकी प्रसंग लिखते हो, यह यद्यपि बॉचनेमें तो आता ही है, तथापि उस विषयका चित्तमें जरा भी आभास न पड़नेके कारण प्राय उत्तर लिखना भी नहीं बनता, इसे आप चाहे दोष कहो या गुण, परन्तु वह क्षमा करने योग्य है।

हमें भी सासारिक उपाधि कोई काम नहीं है, तथापि उसमें निजपना नहीं रह जानेके कारण उससे घमराहट पैदा नहीं होती। उस उपाधिके उदय-काळके कारण हालमें समाधिकी अस्तित्व गौणमा हो रहा है, और उसके लिये शोक रहा करता है। वीतरागभावका यथायोग्य

२७८

वर्ष, माघ १९४८

दीर्घकालतक यथार्थ-बोधका परिचय होनेसे बोध-बीजकी प्राप्ति होती है, और यह बोध-बीज प्राय निश्चय सम्पन्न ही होता है।

जिनभगवान्ने जो बार्ध्म प्रकारके परिपह कहे हैं उनमें 'दर्शन' परिपह नामका भी एक परिपह कहा गया है। इन दोनों परिपहोंका विचार करना योग्य है। यह विचार करनेकी

तुम्हारी भूमिका है, अर्थात् उस भूमिका (गुणस्थानक) के विचारनेसे किनी प्रकारसे तुम्हें यथार्थ धीरज प्राप्त होना समझ है ।

यदि किसी भी प्रकारसे अपने आप मनमें कुछ ऐसा सकल्प कर ले, कि ऐसी दशामें आ जाँय, अथवा इस प्रकारका ध्यान करे तो सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जायगी, तो यह सकल्प करना प्राय (ज्ञानीका स्वरूप समझनेपर) मिथ्या है, ऐसा माद्रम होता है ।

यथार्थ-बोध किसे कहते हैं, इसका विचार करके—अनेक बार विचार करके—ज्ञानियोंने अपनी कल्पना निवृत्त करनेका ही विधान किया है ।

अध्यात्मसारका बौध्दन, श्रवण चाद्र है—यह अच्छा है । प्रथके अनेक बार बौध्दनेकी चिन्ता नहीं, परन्तु जिससे किसी प्रकार उसका दीर्घकालतक अनुप्रेक्षण रहा करे, ऐसा करना योग्य है ।

परमार्थ प्राप्त होनेके लिये किसी भी प्रकारकी आकुलता-व्याकुलता रखनेको ' दर्शन ' परिपह कहते हैं । यह परिपह उत्पन्न हो तो सुखकारक है, परन्तु यदि उसको धीरजसे वेदन किया जाय तो उसमेंसे दर्शनकी उत्पत्ति होना समझ है ।

तुम्हें किसी भी प्रकारसे दर्शनपरिपह है, ऐसा यदि तुम्हें लगता हो तो उसका धीरजसे वेदन करना ही योग्य है, ऐसा उपदेश है । हम जानते हैं कि तुम्हें प्राय दर्शनपरिपह है ।

हालमें तो किसी भी प्रकारकी आकुलताके विना वराग्य-भाननासे—गीतराग भावसे—ज्ञानियोंमें परम भक्तिभावसे—सत्शास्त्र आदि और सत्सगका परिचय करना ही योग्य है ।

परमार्थके सन्नयमे मनसे किये हुए सकल्पके अनुसार किसी भी प्रकारकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, अर्थात् किसी भी प्रकारके दिव्य-तेजयुक्त पदार्थ इत्यादि दिखाई देने आदिकी इच्छा, मन कल्पित ध्यान आदि, इन सब सकल्पोंकी जैसे मने तेसे निवृत्ति करना चाहिये ।

शातसु-भारसमें कही हुई भानना, और अध्यात्मसारमे कहा हुआ आत्मनिश्चयाधिकार फिर फिरसे मनन करने योग्य हैं । इन दोनोंमें विशेषता मानना ।

आत्मा है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय, आत्मा नित्य है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय, आत्मा कर्ता है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय, आत्मा भोक्ता है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय, मोक्ष है यह जिस प्रमाणसे जाना जाय, और उसका उपाय है, यह जिस प्रमाणसे जाना जाय—वह बात बारम्बार विचारने योग्य है । अध्यात्मसार अथवा दूसरे किसी भी ग्रन्थमें यह बात हो तो विचारनेमे बाधा नहीं है । कल्पनाका त्याग करके ही विचारना योग्य है ।

जनकविदेहीकी बात हालमें जाननेसे तुम्हें कोई फल न होगा ।

२७९

ॐ

बम्बई, माघ १९४८

भक्तिके कारण सुखरूप भासित होनेवाले इन सप्तरी प्रसंगों और प्रकारोंमें जन्तक जीवको प्रेम रहता है, तन्तक जीवको अपने स्वरूपका भासित होना असमझ है, और सत्सगका माहात्म्य भी याथातथ्यरूपसे भासित होना असमझ है । जन्तक यह सत्सारगत प्रेम असत्सारगत प्रेमरूप

नहीं हो जाता तत्रतक निश्चयसे अप्रमत्तपनेसे बारम्बार पुरुषार्थका स्वीकार करना ही योग्य है, यह बात तीनों कालमें सदेहरहित है, ऐसा जानकर निष्कामरूपसे लिखी है।

२८०

वम्बई, फाल्गुन सुदी ४ बुध १९४८

(१)

आरम्भ और परिग्रहका ज्यो ज्यों मोह दूर होता जाता है, ज्यों ज्यों उनसे अपनेपनका अभिमान मद पड़ता जाता है, ज्यों त्यों मुमुक्षुता बढ़ती जाती है। अनतकाउसे जिससे परिचय चला आ रहा है ऐसा यह अभिमान प्राय एकदम निवृत्त नहीं हो जाता, इस कारण तन, मन, धन आदि जिनमें अपनापन आ गया है, उन सबको ज्ञानीके प्रति अर्पण किया जाता है, ज्ञानी प्राय उन्हें कुछ ग्रहण नहीं करते, परन्तु उनसे अपनेपनके दूर करनेका उपदेश देते हैं, ओर करने योग्य भी यही है कि आरम्भ, परिग्रहको बारम्बारके प्रसंगमें विचार विचारकर अपना होते हुए रोकना, तभी मुमुक्षुता निर्मल होती है।

(२)

“जीनको सत्पुरुषकी पहिचान नहीं होती, उसके प्रति भी अपने समान ही व्यावहारिक कल्पना रहा करती है—जीनकी यह दशा किस उपायसे दूर हो ?” इस प्रश्नका उत्तर यथार्थ ही लिखा है। यह उत्तर वैसा है जिसे ज्ञानी अथवा ज्ञानीके आश्रयमें रहनेवाला ही जान सकता है, कह सकता है, अथवा लिख सकता है। मार्ग कैसा होना चाहिये, यह जिसे बोध नहीं है, ऐसे शास्त्राभ्यासी पुरुष, उसका यथार्थ उत्तर न दे सकें, यह भी यथार्थ ही है। “शुद्धता विचारे ध्याये” इस पदके विषयमें फिर कभी लिखेंगे।

अंशारामजीकी पुस्तकके सत्रधमें आपने विशेष बॉचन करके जो अभिप्राय लिखा है, उसके विषयमें बातचीत होनेपर फिर कभी कहेंगे। हमने इस पुस्तकका बहुतसा भाग देखा है, परन्तु हमें उनको बातें मिद्धान्त ज्ञानसे बराबर बैठती हुई नहीं मालूम होती। और ऐसा ही है, तथापि उस पुरुषकी दशा अच्छी है, मार्गानुसारी जैसी है, ऐसा तो कह सकते हैं। जिसे हमने सैद्धान्तिक अथवा यथार्थ ज्ञान माना है, वह तो अत्यन्त ही सूक्ष्म है, और वह प्राप्त हो सकनेवाला ज्ञान है। विशेष फिर।

२८१

वम्बई, फाल्गुन सुदी १० बुध १९४८

‘फिर कभी लिखेंगे, फिर कभी लिखेंगे’ ऐसा बहुतबार लिखकर भी लिखा नहीं जा सका, यह क्षमा करने योग्य है, स्थिति प्रा... जैसी रहती है, इसलिये कार्यमें अव्ययस्था हो जाती है।... है समयतक रखे त्रिना छुटकारा नहीं है।

बानी पुरुष बहुत

५
हुए

५ वि-प्रसंग ओर उदासीन—

। आत्मासबधी जो

विचार है वे अखडग्रूपसे नहीं हो सकते, अथवा गौणतासे हुआ करते हैं, ऐसा होनेके कारण बहुत काळतक प्रपचमें रहना पड़ता है, और उसमें तो अत्यन्त उदास परिणाम हो जानेके कारण क्षणभरके लिये भी चित्त नहीं टिक सकता, इस कारण ज्ञानी सर्वसग-परित्याग करके अप्रतिग्रहरूपसे निचरते हैं। सर्वसग शब्दका लक्ष्यार्थ यह है कि ऐसा सग जो अखडग्रूपसे आत्मव्यान अथवा बोधको मुद्रयतासे न रख सके। यह हमने संक्षेपमें ही लिखा है, और इसी क्रमको वाटासे और अतरसे भजा करते हैं।

देह होनेपर भी मनुष्य पूर्ण वीतराग हो सकता है, ऐसा हमारा निश्चल अनुभव है, क्योंकि हम भी निश्चयसे उसी स्थितिको पानेवाले हैं, ऐसा हमारी आत्मा अखडग्रूपसे कहती है, और ऐसा ही है—अग्रय ऐसा ही है। पूर्ण वीतरागकी चरण रज मस्तकपर हो, ऐसा रहा करता है। अत्यन्त कठिन वीतरागता अत्यंत आश्चर्यकारक है, तथापि वह स्थिति प्राप्त हो सकती है, इसी देहमें प्राप्त हो सकती है, यह निश्चय है। उसे प्राप्त करनेके लिये हम पूर्ण योग्य हैं, ऐसा निश्चय है, इसी देहमें ऐसा हुए बिना हमारी उदासीनता मिट जायगी, ऐसा माझम नहीं होता, और ऐसा होना समझ है—अग्रय ऐसा ही है।

प्राय करके प्रश्नोंका उत्तर लिखना न बन सकेगा, क्योंकि चित्त-स्थिति जैसी कही है वैसी ही रहा करती है। हालमें वहाँ कुछ बाँचना, विचारना चाहूँ है या नहीं, यह प्रसंग पाकर लिखना। त्यागकी इच्छा करते हैं, परन्तु होता नहीं, वह त्याग कदाचित् तुम्हारी इच्छाके अनुसार ही करें, तथापि उतना भी हालमें तो बनना समझ नहीं है। अभिन्न बोधमयका प्रणाम पहुँचे

२८२

बम्बई, फाल्गुन सुदी ११ बुध १९४८

(१)

उदास परिणाम आमाको भजा करता है। निरुपायताका उपाय काल है। समझनेके लिये जो निगत टिप्पणी है, वह ठीक है। ये बातें जबतक जीवके समझनेमें नहीं आती, तबतक यथार्थ उदासीन परिणति भी होना कठिन लगती है।

“सत्पुरुष पहिचाननेमें नहीं आते” इत्यादि प्रश्नोंको उत्तर सहित लिख भेजनेका विचार तो होता है, परन्तु लिखनेमें जैसा चाहिये वैसा चित्त नहीं रहता, और वह भी अल्पकालके लिये ही रहता है, इसलिये मनकी बात लिखनेमें नहीं आ पाती। आत्माको उदास परिणाम अत्यंत भजा करता है। एक-आधी जिज्ञासा-वृत्तिवाले पुरुषको करीब आठ दिन पहिले एक पत्र भेजनेके लिये लिखा था। बादमें अमुक कारणसे चित्तके रुक जानेपर वह पत्र ज्यों का त्यों छोड़ दिया, जो कि आपको पढ़नेके लिये भेजा है।

जो वास्तविक ज्ञानीकी पहिचानते हैं, वे ध्यान आदिकी इच्छा नहीं करते, ऐसा हमारा अतरग अभिप्राय रहा करता है। जो ज्ञानीकी ही इच्छा करता है, उसे ही पहिचानता है और भजता है, वह वैसा ही हो जाता है, और उसे ही उत्तम मुमुक्षु जानना चाहिये।

(२)

विशेष करके वैराग्य प्रकरणमें, श्रीरामको जो अपने वैराग्यके कारण माझ्म हुए, वे बताये हैं, वे फिर फिरसे निचार करने जैसे हैं ।

२८३ वम्बई, फाल्गुन सुदी ११॥ गुरु १९४८

चि चद्रुके स्वर्गासकी खर पढकर खेद हुआ । जो जो प्राणी देह धारण करते हैं, वे स्र देहका त्याग करते हैं, यह बात हमें प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध दिखाई देती है, ऐसा होनेपर भी अपना चित्त इस देहकी अनित्यता निचारकर नित्य पदार्थके मार्गमें नहीं चळता, इस शोचनीय बातका बारम्बार निचार करना योग्य है ।

मनको धीरज देकर उदासी छोड़े निना काम नहीं चलेगा । दिलगीरी न करते हुए धीरजसे उस दु खको सहन करना, यहाँ अपना धर्म है ।

इस देहको भी कभी न कभी इसी तरह त्याग देना है, यह बात स्मरणमें आया करती है, और ससारके प्रति विशेष वैराग्य रहा करता है ।

पूर्वकर्मके अनुसार जो कुछ भी सुख-दु ख प्राप्त हो उसे समानभाससे वेदन करना, यह ज्ञानीकी शिक्षा याद आ जाती है, सो लिखी है । मायाकी रचना गहन है ।

२८४ वम्बई, फाल्गुन सुदी १३ शुक्र १९४८

परिणाममे अत्यत उदासीनता रहा करती है । ज्यों ज्यों ऐसा होता है त्यों त्यों प्रवृत्ति-प्रसग भी बढ़ा करता है । जिस प्रवृत्तिका प्रसग होगा, ऐसी कल्पना भी न की थी, वह प्रसग भी प्राप्त हो जाया करता है, और इस कारण ऐसा मानते हैं कि पूर्वमें बंधे हुए कर्म निवृत्त होनेके लिये शीघ्रतासे उदयमें आ रहे हैं ।

२८५ वम्बई, फा सुदी १४ शुक्र १९४८

फिसीका दोष नहीं; हमने कर्म बंधे हैं इसलिये हमारा ही दोष है.

ज्योतिषकी आम्नायसन्धी जो थोड़ीसी बातें लिखीं, वे पढ़ीं हैं । उसका बहुतासा भाग जानते हैं, तथापि उसमें चित्त जरा भी प्रवेश नहीं करता, और उस निपयका पढना अथवा सुनना कदाचित् चमत्कारिक भी हो तो भी भाररूप ही माझ्म होता है, उसमे जरासी भी रचि नहीं रही है ।

हमें तो केवल एक अपूर्व सत्के ज्ञानमें ही रचि रहती है, दूसरा जो कुछ भी करनेमें अथवा अनुकरण करनेमें आता है, वह सत्र आसपासके बधनके कारण ही करते हैं ।

हालमें जो कुछ ध्यनहार करते हैं, उसमें देह और मनको बाध उपयोगमें चलाना पड़ता है, इससे अत्यत आनुलता आ जाती है ।

जो कुछ पूर्वमें बधन किया गया है, उन कर्मोंके निवृत्त होनेके लिये—भोग उनेके लिये—

थोड़े ही कालमें भोग लेनेके लिये—इस व्यापार नामके व्यावहारिक कामका दूसरेके लिये सेवन कर रहे है ।

इस कामकी प्रवृत्ति करते समय जितनी हमारी उदासीन दशा थी, उससे भी आज विशेष है ।

कोई भी जीव परमार्थकी इच्छा करे, ओर व्यावहारिक सगमें प्रीति रखे, ओर परमार्थ प्राप्त हो जाय, ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता । पूर्वकर्म देखते हुए तो इस कामकी निवृत्ति हालमें ही हो जाय, ऐसा दिखाई नहीं देता ।

इस कामके पीछे ' त्याग ' ऐसा हमने ज्ञानमें देखा था, और हालमें भी ऐसा ही स्वरूप दिखाई देता है, इतनी आश्चर्यकी बात है । हमारी वृत्तिको परमार्थके कारण अन्काश नहीं है, ऐसा होनेपर भी बहुत कुछ समय इस काममें बिताते हैं ।

२८६ बम्बई, फाल्गुन सुदी १५ रवि १९४८

जिस ज्ञानसे भयका अन्त होता है, उस ज्ञानका प्राप्त होना जीवको बहुत दुर्लभ है, तथापि वह ज्ञान, स्वरूपसे तो अत्यन्त ही सुगम है, ऐसा हम मानते हैं । उस ज्ञानके सुगमतासे प्राप्त होनेमें जिस दशाकी आवश्यकता है, वह दशा प्राप्त होनी भी बहुत बहुत कठिन है, ओर इसके प्राप्त होनेके जो कारण हैं उनके मिले बिना जीवको अनतकालसे भटकना पड़ा है । इन दो कारणोंके मिलनेपर मोक्ष होता है ।

२८७ बम्बई, फाल्गुन वदी ४ गुरु १९४८

चित्तमें अग्रिक्षेपरूपसे रहना—समाधि रखना । उस बातको चित्तमें निवृत्ति करनेके लिये आपको लिखी है, ओर इसमें उस जीवकी अनुकपाके सिवाय और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है । हमें तो चाहे जो कुछ भी हो, तो भी समाधि ही रखनेकी दृढ़ता रहती है । अपने ऊपर यदि कोई आपत्ति, प्रिडम्बना, घमराहट अथवा ऐसा ही कुछ आ पड़े, तो उसके लिये किसीपर दोषका आरोपण करनेकी हमारी इच्छा नहीं होती । तथा उसे परमार्थ-दृष्टिसे देखनेसे तो वह जीवका ही दोष है, व्यावहारिक-दृष्टिसे देखनेपर नहीं देखने जैसा है, और जहाँतक जीवकी व्यावहारिक-दृष्टि होती है वहाँतक परमार्थिक दोषका रयाल आना बहुत दुःकर है ।

मोक्षके दो मुख्य कारण जैसे आपने लिखे हैं वे वैसे ही हैं । विशेष फिर लिखूँगा ।

२८८ बम्बई, फाल्गुन वदी ६ शनि १९४८

यहाँ भाव समाधि तो है, द्रव्य-समाधि लानेके लिये पूर्वकर्मको निवृत्त होने देना योग्य है ।

दु पमकालका बड़ेसे बड़ा चिह्न क्या है ? अथवा दु पमकाल किसे कहते हैं ? अथवा उसे कौनसे मुख्य लक्षणसे पहिचान सकते हैं ? यही विज्ञप्ति ।

बोधनीन

२८९

बम्बई, फाल्गुन वदी १० बुध १९४८

(१)

ॐ

उपाधि उदयरूपसे है । जिससे पूर्वकर्म तुरत ही निवृत्त हों, ऐसा करते हैं ।

(२)

किसी भी प्रकारसे सत्सगका योग बने तो उमे किये रहना यही कर्तव्य है, और जिस प्रकारसे जीवको अपनापन विशेष हुआ करता हो अथवा वह बढ़ा करता हो, तो उस प्रकारसे जैसे बने तैसे सकोच करते रहना, यह भी सत्सगमें फल देनेवाली भावना है ।

२९० बम्बई, सोमनती अमानस्या फा वदी सोम १९४८

ॐ

हम जानते हैं कि जो परिणाम बहुत समयमें प्राप्त होनेवाला है, वह उसमें थोड़े समयमें प्राप्त होनेके लिये ही यह उपाधि-योग विशेषरूपसे रहता है ।

हालमें हम यहाँ व्यापारिक काम तो प्रमाणमें बहुत करते हैं, उसमें मन भी पूरी तरहसे देते हैं, तो भी वह मन व्यवहारमें लगता नहीं है, अपने ही निपयमें रहता है, इसलिये व्यवहार बहुत बोझारूप रहता है । समस्त लोक तीनों कालमें दुःखसे पीड़ित माना गया है, और उसमें भी यह काल रहता है, यह तो महादुःख का काल है, और सर्वथा मिश्रितिका कारण कर्तव्यरूप जो ' श्रीसत्सग ' है, वह तो सर्वकालमें प्राप्त होना दुर्लभ ही है, फिर वह इस कालमें प्राप्त होना बहुत बहुत ही दुर्लभ हो, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है । हमारा मन प्रायः क्रोधसे, मानसे, मायासे, लोभसे, हास्यसे, रतिसे, अरतिसे, भयसे, शोकसे, जुगुप्सासे अथवा शब्द आदि निपयोंमें अप्रतिबन्ध जैसा है, कुटुम्बसे, वनसे, पुत्रसे, वैभवासे, स्त्रीसे, अथवा देहसे मुक्त जैसा है, उम मनका भी सत्सगमें बधन रखना बहुत बहुत रहा करता है ।

२९१

बम्बई, चैत्र सुदी २ बुध १९४८

यह लोक-स्थिति ही ऐसी है कि उसमें सत्यकी भावना करना परम कठिन है । समस्त रचना असत्यके आग्रहकी भावना करानेवाली है ।

लोक-स्थिति आश्चर्यकारक है ।

ज्ञानीको सर्वसग-परित्याग करनेका हेतु क्या होगा ?

२९२

बम्बई, चैत्र सुदी ९ बुध १९४८

किन्हीं किन्हीं दुःखके प्रसंगोंमें ग्लानि हो आती है और उसके कारण वैराग्य भी रहा करता है, परंतु जीवका सच्चा कल्याण और सुख तो ऐसा समझनेमें मालूम होता है कि इस मव ग्लानिको कारण अपना

उपार्जन किया हुआ प्रारब्ध है, जिसे भोगे बिना छुटकारा नहीं होता, और उसे समतासे भोगना ही योग्य है, इसलिये मनकी ग्लानिको जैसे जने तेसे शांत करना और जो कर्म उपार्जित नहीं किये वे भोगनेमें नहीं आते, ऐसा समझकर दूसरे किमीके प्रति दोष-दृष्टि करनेकी वृत्तिको जैसे वने तेसे शांत करके समतासे प्रवृत्ति करना, यह योग्य माध्यम होता है, और यही जीवनका कर्तव्य है।

२९३

बम्बई, चत्र सुदी १३ शुक्र १९४८

ॐ

(१)

एक समयके लिये ॥ अप्रमत्तधाराको निस्मरण नहीं करनेवाला ऐसा आत्माकार मन वर्तमान समयमें उदयानुसार प्रवृत्ति करता है, और जिस किसी भी प्रकारसे प्रवृत्ति होती है उसका कारण पूर्वमें ग्रह करनेमें आया हुआ उदय ही है, उस उदयमें प्रीति भी नहीं आर अप्रीति भी नहीं, समता है, और करने योग्य भी यही है।

(२)

समाकितकी स्पर्शना कब हुई समझनी चाहिये ? उस समय केशी दशा रहती है ? इम विषयका अनुभव करके लिखना।

सासारिक उपाधिका जो कुछ भी होता हो उस होने देना, यही कर्तव्य है, और यही अभिप्राय रहा करता है। वीरजसे उदयका वेदन करना ही योग्य है।

(३)

प्रतिग्रहपना दु खदायक है।

स्वरूपस्थ यथायोग्य

२९४

बम्बई, चैत्र वदी १ बुध १९४८

आत्म-समाप्तिपूर्वक योग-उपाधि रहा करती है, इस प्रतिबन्धके कारण हालमें तो कुछ भी इच्छित काम नहीं किया जा सकता।

इमी हेतुके कारण श्रीऋषभ आदि ज्ञानियोंने शरीर आदिके प्रवृत्ति करनेके भानका भी त्याग किया था।

२९५

बम्बई, चैत्र वदी ५ रवि १९४८

सत्संग होनेके समागमकी इच्छा करते हैं, परंतु उपाधि-योगके उदयका भी वेदन किये बिना उपाय नहीं। जगत्में कोई दूसरे पदार्थ तो हमें किसी भी रुचिके कारण नहीं रहे। जो कुछ रुचि रही है वह केवल एक सत्यता ध्यान करनेवाले 'सत' के प्रति, जिन्में आत्माका वर्णन है ऐसे

‘ सत् शास्त्र ’ के प्रति, और परेच्छासे परमाथके निमित्त कारण ‘ दान आदि ’ के प्रति रही हैं । आत्मा तो कृतार्थ हुआ जान पड़ता है ।

२९६

वम्बई, चैत्र वदी ५ रति १९४८

जगत्के अभिप्रायको देखकर जीवने पदार्थका बोध प्राप्त किया है; ज्ञानीके अभिप्रायको देखकर नहीं प्राप्त किया । जो जीव ज्ञानीके अभिप्रायसे बोध पाता है, उस जीवको सम्यग्दर्शन होता है।

मार्ग हम दो प्रकारके मानते हैं । एक उपदेश प्राप्तिका मार्ग और दूसरा वास्तविक मार्ग । विचारसागर उपदेश-प्राप्तिके लिये विचारने योग्य ग्रथ हैं । जब हम जैन शास्त्रोंको बाँचनेके लिये कहते हैं तब जैनी होनेके लिये नहीं कहते, जब वेदात्त शास्त्र बाँचनेके लिये कहते हैं तो वेदाती होनेके लिये नहीं कहते, इसी तरह अन्य शास्त्रोंको बाँचनेके लिये जो कहते हैं तो अन्य होनेके लिये नहीं कहते । जो कहते हैं वह केवल तुम सब लोगोंको उपदेश देनेके लिये ही कहते हैं । हालमें जेन और वेदाती आदिके भेदका त्याग करो । आत्मा वैसी नहीं है ।

२९७

वम्बई, चैत्र वदी १२ रति १९४८

जहाँ पूर्ण-कामता है, वहाँ सर्वज्ञता है।

जिसे बोध बीजकी उत्पत्ति हो जाती है, उसे स्वरूप-सुखसे परितृप्ति रहती है, और विषयके प्रति अप्रयत्न दश रहती है ।

जिस जीवनेमें क्षणिकता है, उसी जीवनमें ज्ञानियोंने नित्यता प्राप्त की है, यह अचरजकी बात है । यदि जीवको परितृप्ति न रहा करती हो तो उसे अखड आत्म-बोध हुआ नहीं समझना ।

२९८ वम्बई, वैशाख सुदी ३ शुक्र १९४८ अक्षय तृतीया

(१)

भान-समाधि है, बाह्य उपाधि है, जो भानको गौण कर सके ऐसी वह स्थितियाली है, तथापि समाधि रहती है ।

(२)

हमने जो पूर्ण-कामताके विषयमें लिखा है, वह इस आशयसे लिखा है कि जिस प्रमाणसे ज्ञानका प्रकाश होता जाता है, उस प्रमाणसे शब्द आदि व्यावहारिक पदार्थोंसे निस्पृहता आती जाती है, आत्म-सुखके कारण परितृप्ति रहती है । अन्य किसी भी सुखकी इच्छा न होनी यह पूर्ण ज्ञानका लक्षण है ।

ज्ञानी अनिरय जीवनमें नित्यता प्राप्त करता है, ऐसा जो लिखा है वह इस आशयसे लिखा है कि उसे मृत्युसे भी निर्भयता रहती है । जिसे ऐसा हो जाय उसे फिर अनित्यता रही है, ऐसा न कहें, तो यह बात सत्य है ।

जिसे सदा ध्यान-भान हो जाता है उसको 'मैं ज्ञान भागता अकर्ता हूँ' ऐसा जोन उत्पन्न होनेकी जो अहम-प्रदम-मुक्ति है, उमता तिर्य हो जाता है ।

ऐसा ही समुच्चय आन भान वारम्बार रक्ष करना है, तथापि नैसर्गिक इच्छा करते हैं ऐसा तो नहीं ।

समाप्तिरूप

२९९

बम्बई, वैशाख सुदी ५ रवि १९४८

हाटों तो अनुक्रमसे उपाधि-योग विशेष रत्न करता है ।

आतन्ताउ व्यवहार करनेके व्यतीत किया है, तो फिर उसकी जगहमें, जिससे परमार्थका विसर्जन न किया जाय उसी तरह वर्णन करना, ऐसा जिसका निरचय हो गया है, उसे वेमे ही होता है, ऐसा हम मानते हैं ।

वनमें उदासीनताम स्थित योगीजन और तीर्थकर आदिके आत्म-रुकी याद आती है ।

३००

बम्बई, वैशाख सुदी १२ रवि १९४८

१ मनमें वारम्बार विचारसे निरचय हो रहा है कि किसी भी प्रकारसे उपयोग फिरकर अन्य-भागमें अपनापन नहीं होगा, और अगण्ड आम-व्यापन रत्न करता है, ऐसी दशामें विकृत उपाधि-योगका उदय आश्चर्यकारक है । हाटमें तो थोड़े क्षणोंकी निवृत्ति भी मुदिरुलसे ही रहती है, ओर प्रवृत्ति कर सकनेकी योग्यतामाला तो चित्त है नहीं, और हाटमें ऐसी प्रवृत्ति करना यही कर्तव्य है, तो उदासीनतासे ऐसा करते हैं, मन कहीं भी नहीं लगता, और बुद्ध भी अच्छा नहीं लगता ।

२ निरूपम आत्म-व्यान जो तीर्थकर आदिने किया है, वह परम आश्चर्यकारक है । उस कालमें भी आश्चर्यकारक था । अधिक क्या कहा जाय ? 'वनकी मारी कोयल' की कहानतके अनुसार इस कालमें और इस प्रवृत्तिमें हम पड़े हैं ।

३०१

बम्बई, वैशाख वदी ६ भोम १९४८

ज्ञानीसे यदि किसी भी प्रकारसे धन आदिकी बाँटा रखी जाती है, तो जीनको दर्शनानरणीय कर्मका प्रतिबन्ध विशेष उत्पन्न होता है । ज्ञानी तो प्राय इस तरह ही प्रवृत्ति करता है कि जिससे अपनेसे किसीको ऐसा प्रतिबन्ध न हो ।

ज्ञानी अपना उपजीवन—आजीविका—भी पूर्वकर्मके अनुसार ही करता है, जिससे ज्ञानमे प्रति-बद्धता आये इस तरहकी आजीविका नहीं करता, अथवा इस तरह आजीविका करानेके प्रसंगकी इच्छा नहीं करता, ऐसा मानते हैं ।

जिसे ज्ञानीके प्रति सर्वथा निस्पृह भाक्ति है, उससे अपनी इच्छा पूर्ण होती हुई न देखकर भी

‘ सत् शाल ’ के प्रति, और परेच्छासे परमार्थके निमित्त कारण ‘ दान आदि ’ के प्रति रही है । आत्मा तो कृतार्थ हुआ जान पड़ता है ।

२९६

वम्बई, चैत्र वदी ५ रति. १९४८

जगत्के अभिप्रायको देखकर जीवने पदार्थका बोध प्राप्त किया है; ज्ञानीके अभिप्रायको देखकर नहीं प्राप्त किया । जो जीव ज्ञानीके अभिप्रायसे बोध पाता है, उस जीवको सम्यग्दर्शन होता है

मार्ग हम दो प्रकारके मानते हैं । एक उपदेश प्राप्तिका मार्ग और दूसरा वास्तविक मार्ग । विचारसागर उपदेश-प्राप्तिके लिये विचारने योग्य ग्रन्थ है । जब हम जैन शास्त्रोंको बाँचनेके लिये कहते हैं तब जैनी होनेके लिये नहीं कहते, जब वेदात्त शास्त्र बाँचनेके लिये कहते हैं तो वेदाती होनेके लिये नहीं कहते, इसी तरह अन्य शास्त्रोंको बाँचनेके लिये जो कहते हैं तो अन्य होनेके लिये नहीं कहते । जो कहते हैं वह केवल तुम सब लोगोंको उपदेश देनेके लिये ही कहते हैं । हालमें जैन और वेदाती आदिके भेदका त्याग करो । आत्मा वैसी नहीं है ।

२९७

वम्बई, चैत्र वदी १२ रति १९४८

जहाँ पूर्ण-कामता है, वहाँ सर्वज्ञता है.

जिसे बोध बीजकी उत्पत्ति हो जाती है, उसे स्वरूप-मुखसे परितृप्ति रहती है, और निप्रयके प्रति अप्रयत्न दशा रहती है ।

जिस जीवनमें क्षणिकता है, उसी जीवनमें ज्ञानियोंने नित्यता प्राप्त की है, यह अचरजकी बात है । यदि जीवको परितृप्ति न रहा करती हो तो उसे अखड आत्म-बोध हुआ नहीं समझना ।

२९८ वम्बई, वैशाख सुदी ३ शुक्र १९४८ अक्षय तृतीया

(१)

भात्र-समाधि है, बात उपाधि है, जो भात्रको गोण कर सके ऐसी यह स्थितिवाली है, तथापि समाधि रहती है ।

(२)

हमने जो पूर्ण-कामताके निप्रयमें लिखा है, वह इस आशयसे लिखा है कि जिस प्रमाणसे ज्ञानका प्रकाश होता जाता है, उस प्रमाणसे शब्द आदि व्यावहारिक पदार्थोंसे निस्पृहता आती जाती है, आत्म-सुखके कारण परितृप्ति रहती है । अन्य किसी भी सुखकी इच्छा न होनी यह पूर्ण ज्ञानका लक्षण है ।

ज्ञानी अनित्य जीवनमें नित्यता प्राप्त करता है, ऐसा जो लिखा है वह इस आशयसे लिखा है कि उसे श्रुत्युसे भी निर्भयता रहती है । जिसे ऐसा हो जाय उसे फिर अनित्यता रही है, ऐसा न कहें, तो यह बात सत्य ही है ।

जिसे सच्चा आत्म-भान हो जाता है उसकी 'मैं' अथ भावना अकर्ता हूँ' ऐसा बोध उत्पन्न होनेकी जो अहप्रत्यय-बुद्धि है, उसका निःशेष हो जाता है।

ऐसा ही समुज्ज्वल आम भान वारम्बार रहा करता है, तथापि जैसेकी इच्छा करते हैं वैसे तो नहीं।

समाप्तिरूप

२९९

बम्बई, वैशाख सुदी ५ रवि १९४८

हालमें तो अनुक्रमसे उपाधि-योग विशेष रहा करता है।

अनतकाल व्यग्रहार करनेमें व्यतीत किया है, तो फिर उसकी जजालमें, जिससे परमार्थका निसर्जन न किया जाय उसी तरह बर्तान करना, ऐसा जिसका निश्चय हो गया है, उसे वैसे ही होना है, ऐसा हम मानते हैं।

वनमें उदासीनतासे स्थित योगीजन और तीर्थंकर आदिके आत्मत्वकी याद आती है।

३००

बम्बई, वैशाख सुदी १२ रवि १९४८

१ मनमें वारम्बार विचारसे निश्चय हो रहा है कि किसी भी प्रकारसे उपयोग फिरकर अय-भागमें अपनापन नहीं होता, और अलण्ड आत्म-यान रहा करता है, ऐसी दशामें निकट उपाधि-योगका उदय आश्चर्यकारक है। हालमें तो थोड़े क्षणोंकी निवृत्ति भी मुदिकलसे ही रहती है, ओर प्रवृत्ति कर सकनेकी योग्यतागाला तो चित्त है नहीं, ओर हालमें ऐसी प्रवृत्ति करना यही कर्तव्य है, तो उदासीनतासे ऐसा करते हैं, मन कहीं भी नहीं लगता, ओर बुद्ध भी अच्छा नहीं लगता।

२ निरूपम आत्म-यान जो तीर्थंकर आदिने किया है, वह परम आश्चर्यकारक है। उस कालमें भी आश्चर्यकारक था। अधिक क्या कहा जाय ? 'वनकी मारी कोयल' की कहानतके अनुसार इस कालमें और इस प्रवृत्तिमें हम पड़े हैं।

३०१

बम्बई, वैशाख वदी ६ भोम १९४८

ज्ञानीसे यदि किसी भी प्रकारसे धन आदिकी बाँटा रखी जाती है, तो जीनको दर्शनानरणीय कर्मका प्रतिबन्ध विशेष उत्पन्न होता है। ज्ञानी तो प्राय इस तरह ही प्रवृत्ति करता है कि जिससे अपनेसे किसीको ऐसा प्रतिबन्ध न हो।

ज्ञानी अपना उपजीवन—आजीविका—भी पूर्वकर्मके अनुसार ही करता है, जिससे ज्ञानमें प्रतिबन्धता आये इस तरहकी आजीविका नहीं करता, अथवा इस तरह आजीविका करानेके प्रसंगकी इच्छा नहीं करता, ऐसा मानते हैं।

जिसे ज्ञानीके प्रति सर्वथा निस्पृह भाक्ति है, उससे - 'इच्छा पूर्ण होती हुई न दे'

जिसे दोष देना नहीं आता, ऐसे जीवकी ज्ञानोके आश्रयसे धीरजपूर्णक चलनेसे आपत्तिका नाश होत है, अथवा आपत्ति बहुत मद पड जाती है, ऐसा मानते है, तथापि इस कालमें ऐसी धीरज रहना बहुत ही कठिन है, और इस कारण जैसा कि ऊपर कहा है, बहुतवार ऐसा परिणाम आनेसे रुक जाता है।

हमें तो ऐसी जजालमें उदासीनता रहती है, हमारे भीतर निचमान परम त्रैगुण्य व्यग्रहार-निपय मनको कभी भी नहीं लगने देता, और व्यग्रहारका प्रतिबन्ध तो सारे दिन ही रखना पड़ता है। हाल तो ऐसा उदय चल रहा है। इससे माझम होता है कि वह भी सुखना ही हेतु है।

आज पाँच माम हुए तबसे हम जगत्, ईश्वर और अन्यमान—इन सबसे उदासीनरूपसे रहते हैं, तथापि यह बात गभीर होनेके कारण तुम्हें नहीं लिखी। तुम जिस प्रकारसे ईश्वर आदिके निपय श्रद्धाशील हो, तुम्हारे लिये उसी तरह प्रवृत्ति करना कल्याणकारक है। हमें तो किसी भी तरहका भेदभाज उत्पन्न न होनेके कारण सज कुछ जजालरूप ही है, अर्थात् ईश्वर आदि तकमें उदासीनता रहती है। हमारे इस प्रकारके लिखनेको पढकर तुम्हें किसी प्रकारसे सदेहमें पडना योग्य नहीं।

हालमें तो हम 'अत्ररूप' से रहते है, इस कारण किसी प्रकारकी ज्ञान-वार्ता भी नहीं लिख सकते, परन्तु मोक्ष तो हमें सर्वथा निकटरूपसे ही है, यह बात तो शकारहित है। हमारा चित्त आत्माके मित्राय किसी दूसरे स्थलपर प्रतिबद्ध होता ही नहीं, क्षणभरके लिये भी अन्य-भाजमें स्थित नहीं रहता—स्वरूपमें ही स्थिर रहता है। ऐसा जो हमारा आश्चर्यकारक स्वरूप है, वह हालमें तो कैसे भी कहा नहीं जाता। बहुत महिने वीत जानेके कारण तुम्हें लिखकर ही सतोप माने लेते हैं नमस्कार वॉचना। हम भेदरहित हैं।

३०२ वम्बई, वैशाख वदी १३ भौम १९४८

जिसे निरंतर ही अभेद-ध्यान रहा करता है, ऐसे श्रीबोध-पुरुषका यथायोग्य वॉचना। यह भाजनिपयक तो समाप्ति ही रहती ही है, और वाह्यनिपयक उपाधि-योग रहता है, तुम्हारे आये हुए तानों पत्र प्राप्त हुए हैं, और इसी कारण प्रत्युत्तर नहीं लिखा।

इस कालकी ऐसी निपयता है कि जिसको बहुत समयतक सत्सगका सेवन हुआ हो, तो ही जीव-निपयक लोक-भावना कम हो सकती है, अथवा लयको प्राप्त हो सकती है। लोक-भाजनाके आग्रणके कारण ही जीवको परमार्थ भाजनाके प्रति उल्लास-परिणति नहीं होती, और जबतक यह नहीं होती तबतक लोक-सहजास भजरूप ही होता है।

जो निरंतर सत्सगके सेवन करनेकी इच्छा करता है ऐसे मुमुक्षु जीवको, जबतक उस योगका निरट रहता है, तबतक दृढ भाजसे उस भाजनाकी इच्छासहित प्रत्येक कार्य करते हुए निचारपूर्णक प्रवृत्ति करके अपनेको लघु मानकर, अपने देखनेमें आनेवाले दोषकी निवृत्ति चाह करके, सरलतासे वर्तान करते रहना योग्य है, और जिम कार्यके द्वारा उस भाजनाकी उन्नति हो, ऐसी ज्ञान वार्ता अथवा ज्ञान-लेख अथवा प्रथका कुछ कुछ निचार करते रहना योग्य है।

जो बात ऊपर कही है, उसमें तुम लोगोंको बाधा करनेवाले अनेक प्रसंग यह हम जानते हैं, तथापि उन सब बाधा पहुँचानेवाले प्रसंगोंमें जैसे बने जैसे सब पूर्णक प्रवृत्ति करनेकी इच्छा करना, यह कम क्रमसे ही होने जैसी बात है। किसी भी सताप करना योग्य नहीं, जो कुछ पुरुषार्थ ही उसे करनेकी दृढ़ इच्छा रखनी ही योग्य परमबोध स्वरूपकी पहिचान है ऐसे पुरुषको तो निरंतर ही पुरुषार्थके विषयमें वेसी दृढ़ता में धबड़ाना योग्य नहीं है।

अनतकालमें भी जो प्राप्त नहीं हुआ, उसकी प्राप्तिके लिये यदि अमुक काल में तो भी कोई हानि नहीं है। एहि केवल इसीमें है कि अनतकालमें भी जो प्राप्त न हो विषयमें भ्रांति हो—भूल हो। यदि परम ज्ञानीका स्वरूप भासमान हो गया है मार्गमें भी अनुक्रमसे जीवका प्रवेश हो सकता है, यह आसानीसे समझमें आ सकने वाला है।

जिस तरह मन ठीक रीतिसे चले, इस तरहसे वर्तन करो। नियोग है तो उन्हीं में भी नियोग है, यह बात सत्य है, तथापि यदि ज्ञानीके नियोगमें भी उन्हीं में भी नियोग है। धीरजका त्याग करना योग्य नहीं।

श्रीस्वरूपक

३०३ बम्बई, मशाग वदी १४

(१)

मोहमयीसे जिसकी अमोहरूप स्थिति है, ऐसे श्री का यथायोग्य "माके कारण ही यह सब कुछ है," ऐसा जो अवतकका किया हुआ निरामा यन्त्रसे तो याथातथ्य है, तथापि 'मा', 'उमके कारण ही', 'यह सब कुछ निर्णय', ये जो इस वाक्यके चार भाग होते हैं, यह बहुत समयके ज्ञानसे यथा जाता है, ऐसा मानते हैं। जिसकी समझमें यह आ जाता है, उसके यशमें मन रहने विधायक है, तथापि यदि न रहता है तो भी यह आत्मस्वरूप ही रहता है। यह उत्तर ऊपर दिया है, यही सबसे मुख्य है। जो वाक्य दिया गया है निचारने योग्य है।

महामात्री देव दो कारणोंसे विद्यमान रहती है—प्राक्कर्मके भोगोंके निरामा यन्त्रके प्रिये, तथापि यह महात्मा इन दोनोंमें उद्यमरूपमें उद्यम आई हुई प्रवृत्ति ऐसा मानते हैं।

ध्यान, जप, तप, जीव यदि इन निरामा यन्त्रोंके द्वारा ही हमारे द्वारा कर्तव्य कार्यका यथायोग्य हो और यदि उनमें निधायक समझा हो तो—पिठोमें मुक्ति 'निरामा, यन्त्र' ही हो तो—धीर धर्म गई हो तो यह भाविपूर्वक धरम गई है, ऐसा समझते हो। मायके अनेक प्रकारके भावोंमें विचारोंकी इच्छा ही तो ही नियोगी इच्छा ही है। अन्त में निरामा यन्त्रसे निरामा यन्त्रक भावना करनेके लिये नियोग आदर्श

जिसे दोष देना नहीं आता, ऐसे जीवकी ज्ञानिके आश्रयसे वीरजपूर्वक चलनेसे आपत्ति-का नाश होता है, अथवा आपत्ति बहुत मद पड़ जाती है, ऐसा मानते हैं, तथापि इस कालमें ऐसी धीरज रहना बहुत ही कठिन है, और इस कारण जैसा कि ऊपर कहा है, बहुतजार ऐसा परिणाम आनेसे रुक जाता है।

हमें तो ऐसी जजालमें उदासीनता रहती है, हमारे भीतर विद्यमान परम त्रेमग्व व्यग्रहार-प्रिययमें मनको कभी भी नहीं लगने देता, ओर व्यग्रहारका प्रतिग्रह तो सारे दिन ही रहना पड़ता है। हालमें तो ऐसा उदय चल रहा है। इससे माझम होता है कि वह भी सुखका ही हेतु है।

आज पाँच मास हुए तमसे हम जगत्, ईश्वर ओर अन्यभाज—इन सभसे उदासीनरूपसे रहते हैं, तथापि यह बात गभीर होनेके कारण तुम्हे नहीं लिखी। तुम जिस प्रकारसे ईश्वर आदिके प्रिययमें श्रद्धाशील हो, तुम्हारे लिये उसी तरह प्रवृत्ति करना फल्याणकारक है। हमें तो किसी भी तरहका भेदभाज उत्पन्न न होनेके कारण सज कुठ जजालरूप ही है, अर्थात् ईश्वर आदि तकमें उदासीनता रहती है। हमारे इस प्रकारके लिखनेको पढकर तुम्हें किसी प्रकारसे सदेहमें पडना योग्य नहीं।

हालमें तो हम 'अत्ररूप' से रहते हैं, इस कारण किसी प्रकारकी ज्ञान-वार्ता भी नहीं लिख सकते, परन्तु मोक्ष तो हमें सर्वथा निकटरूपसे ही है, यह बात तो शकारहित है। हमारा चित्त आत्माके सिवाय किसी दूसरे स्थलपर प्रतिबद्ध होता ही नहीं, क्षणभरके लिये भी अन्य-भाजमें स्थिर नहीं रहता—स्वरूपमें ही स्थिर रहता है। ऐसा जो हमारा आश्रयकारक स्वरूप है, वह हालमें तो कैसे भी कहा नहीं जाता। बहुत महिने वीत जानेके कारण तुम्हें लिखकर ही सतोप माने लेते हैं। नमस्कार वाँचना। हम भेदरहित हैं।

३०२ वम्बई, वैशाख वदी १३ भौम १९४८

जिसे निरतर ही अभेद-यान रहा करता है, ऐसे श्रीमोध-पुरूपका यथायोग्य वाँचना। यहाँ भाजप्रिययक तो समाधि ही रहती ही है, ओर ब्राह्मविपयक उपाधि-योग रहता है, तुम्हारे आये हुए तीनों पत्र प्राप्त हुए हैं, ओर इसी कारण प्रत्युत्तर नहीं लिखा।

इस कालकी ऐसी निपमता है कि जिसको बहुत समयतक सत्सगका सेजन हुआ हो, तो ही जीव-प्रिययक लोक-भाजना कम हो सकती है, अथवा लयको प्राप्त हो सकती है। लोक-भाजनाके आग्रणके कारण ही जीवको परमार्थ भाजनाके प्रति उल्लास-परिणति नहीं होती, ओर जगतक यह नहीं होती तजतक लोक-सहवास भजरूप ही होता है।

जो निरतर ससगके सेजन करनेकी इच्छा करता है ऐसे मुमुक्षु जीवको, जगतक उस योगका तिरह रहता है, तजतक दृढ़ भाजसे उस भाजनाकी इच्छासहित प्रत्येक कार्य करते हुए निचारपूर्वक प्रवृत्ति करके अपनेको लधु मानकर, अपने देखनेमें आनेवाले दोषकी निवृत्ति चाह करके, सरलतासे वर्तान करते रहना योग्य है, ओर जिस कार्यके द्वारा उस भाजनाकी उज्जति हो, ऐसी ज्ञान वार्ता अथवा ज्ञान-लेख अथवा ग्रन्थका कुठ कुठ निचार करते रहना योग्य है।

जो बात ऊपर कही है, उसमें तुम लोगोंको बाधा करनेवाले अनेक प्रसंग आया करते हैं, यह हम जानते हैं, तथापि उन सब बाधा पहुँचानेवाले प्रसंगोंमें जैसे बने वैसे सदुपयोगसे विचार-पूर्णक प्रवृत्ति करनेकी इच्छा करना, यह क्रम क्रमसे ही होने जैसी बात है। किसी भी प्रकारसे मनमें सताप करना योग्य नहीं, जो कुछ पुरुषार्थ हो उसे करनेकी दृढ़ इच्छा रखनी ही योग्य है, और जिसे परमबोध स्वरूपकी पहिचान है ऐसे पुरुषको तो निरन्तर ही पुरुषार्थके विषयमें वेसी प्रवृत्ति करते रहनेमें घबड़ाना योग्य नहीं है।

अनतकालमें भी जो प्राप्त नहीं हुआ, उसकी प्राप्तिके लिये यदि अमुक काल व्यतीत हो जाय तो भी कोई हानि नहीं है। हानि केवल इसीमें है कि अनतकालमें भी जो प्राप्त नहो हुआ, उसके विषयमें भ्रांति हो—भूल हो। यदि परम ज्ञानीका स्वरूप भासमान हो गया है तो फिर उसके मार्गमें भी अनुक्रमसे जीवका प्रवेश हो सकता है, यह आसानीसे समझमें आ सकता है जैसी बात है।

जिस तरह मन ठीक रीतिसे चले, इस तरहसे वर्तान करो। नियोग है तो उसमें कन्याणका भी नियोग है, यह बात सत्य है, तथापि यदि ज्ञानीके नियोगमें भी उसी विषय चित्त रहता है तो कल्याण है। धीरजका त्याग करना योग्य नहीं।

श्रीस्वरूपका यथायोग्य

३०३ बम्बई, वंशाख वदी १४ बुध १९४८

(१)

मोहमयीसं जिसकी अमोहरूप स्थिति है, ऐसे श्री का यथायोग्य.

“मनके कारण ही यह सब कुछ है,” ऐसा जो अवतकका किया हुआ निर्णय लिखा वह सामान्यरूपसे तो याथातथ्य है, तथापि ‘मन’, ‘उसके कारण ही’, ‘यह सब कुछ’, और ‘उसका निर्णय’, ये जो इस वाक्यके चार भाग होते हैं, यह बहुत समयके ज्ञानसे यथार्थरूपसे समझमें आता है, ऐसा मानते हैं। जिसकी समझमें यह आ जाता है, उसके वशम मन रहता है, यह बात निश्चयरूप है, तथापि यदि न रहता है तो भी वह आत्मस्वरूपमें ही रहता है। मनके वशमें होनेका यह उत्तर ऊपर लिखा है, यही सत्रसे मुरय है। जो वाक्य लिखा गया है वह बहुत प्रकारसे विचारने योग्य है।

महात्माकी देह दो कारणोंसे विद्यमान रहती है—प्रारब्ध कर्मको भोगनेके लिये, और जीवोंके कन्याणके लिये, तथापि वह महात्मा इन दोनोंमें उदासरूपसे उदय आई हुई प्रवृत्तिसे रहता है, ऐसा मानते हैं।

ध्यान, जप, तप, और यदि इन क्रियाओंके द्वारा ही हमारे द्वारा कहे हुए वाक्यको परम फटकर कारण समझते हो और यदि उसे निश्चयसे समझते हो तो—पीठसे बुद्धि लोक-सज्ञा, आत्म-सज्ञापर न जाती हो तो—और चली गई हो तो वह भ्रांतिपूर्णक चला गई है, ऐसा समझते हो तो—आर उस वाक्यको अनेक प्रकारके धीरजसे विचारनेकी इच्छा हो तो ही लिखनेकी इच्छा होती है।

अभी इससे विशेषरूपसे निश्चयविषयक धारणा करनेके लिये लिखना आवश्यक जैसा माउम होता है, तथापि चित्त अन्काशरूपसे नहीं रहता, इसलिये जो लिखा है उसको मुन्यन्पसे मानना।

(२)

सत्र प्रकारसे उपाधि-योगको तो निवृत्त करना ही योग्य है, तथापि यदि उस उपाधि-योगकी सत्संग आदिके लिये ही इच्छा की जाती हो, तथा पिछली चित्त-स्थिति समभासे रहती हो तो उस उपाधि योगमें प्रवृत्ति करना श्रेयस्कर है । अप्रतिमद् प्रणाम.

३०४

वम्बई, वैशाख १९४८

चाहे कितनी ही विपत्तियाँ क्यों न पड़े, तथापि ज्ञानीद्वारा सांसारिक फलकी इच्छा करनी योग्य नहीं.

उदय आये हुए अतरायको सम-परिणामसे वेदन करना योग्य है, त्रिपम-परिणामसे वेदन करना योग्य नहीं ।

तुम्हारी आजीविकासवधी स्थिति बहुत समयसे मादूम है, यह पूर्वकर्मका योग है ।

जिसे यथार्थ ज्ञान है, ऐसा पुरुष अन्यथा आचरण नहीं करता, इसलिये तुमने जो आकुलताके कारण इच्छा प्रगट की है, उसे निवृत्त करना ही योग्य है ।

यदि ज्ञानीके पास सासारिक वैभवं हो तो भी मुमुक्षुको उसकी किसी भी प्रकारसे इच्छा करना योग्य नहीं है । प्रायः करके यदि ज्ञानीके पास ऐसा वैभव होता है तो वह मुमुक्षुकी त्रिपत्ति दूर करनेके लिये उपयोगी होता है । पारमार्थिक वैभवंसे ज्ञानी, मुमुक्षुको सासारिक फल देनेकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि ज्ञानी अकर्तव्य नहीं करते ।

हम जानते हैं कि तुम्हारी इस प्रकारकी स्थिति है कि जिसमें धीरज रहना कठिन है, ऐसा होनेपर भी धीरजमें एक अशकी भी न्यूनता न होने देना, यह तुम्हारा कर्तव्य है, और यही यथार्थ बोध पानेका मुख्य मार्ग है ।

हालमें तो हमारे पास ऐसा कोई सासारिक साधन नहीं है कि हम उम मार्गसे तुम्हारे लिये धीरजके कारण हो सके, परन्तु ऐसा प्रसंग लक्षमें रखेंगे, बाकीने दूसरे प्रयत्न करने योग्य ही नहीं हैं ।

किसी भी प्रकारका भविष्यका सासारिक विचार छोड़कर वर्तमानमें समतापूर्वक प्रवृत्ति करनेका दृढ़ निश्चय करना ही तुम्हें योग्य है, भविष्यमें जो होना होगा, वह होगा, वह तो अनिवार्य है, ऐसा मानकर परम् पुरुपार्थकी ओर सन्मुख होना ही योग्य है ।

किन्ती प्रकारसे भी लोकलज्जारूपी इस भयके स्थान ऐसे भविष्यको विस्मरण करना ही योग्य है । उसकी चिन्तासे परमार्थका विस्मरण होता है, और ऐसा होना महा आपत्तिरूप है, इसलिये इतना ही वारम्बार विचारना योग्य है कि जिससे वह आपत्ति न आये । बहुत समयसे आजीविका और लोक-लज्जाका खेद तुम्हारे अतरमें इकट्ठा हो रहा है, इस त्रिपयमें अत्र तो निर्भयपना ही अगीकार करना योग्य है । फिरसे कहते हैं कि यही कर्तव्य है । यथार्थ बोधका यही मुख्य मार्ग है । इस स्थलमें भूल खाना योग्य नहीं है ।

लज्जा और आजीविका मिथ्या हैं । कुटुम्ब आदिका ममत्त्व रखेंगे तो भी जो होना होगा

वह तो होगा ही। उसमें समता रखोगे तो भी जो होना होगा वह होगा, इसलिये निश्चय ही शकतासे निरभिमानी होना ही योग्य है—सम परिणामसे रहना योग्य है, और यही हमारा उपदेश है।

यह जनतक नहीं होता तत्रतक यथार्थ बोध भी नहीं होता।

३०५

वर्म्बई, वैशाख १९४८

जिनागम उपशमस्वरूप है। उपशमस्वरूप पुरुषोंने उसका उपशमके लिये प्ररूपण किया है—उपदेश किया है। वह उपशम आत्मार्थके लिये है, दूसरे किसी भी प्रयोजनके लिये नहीं। आत्मार्थके लिये यदि उसका आराधन नहीं किया गया, तो उस जिनागमका श्रवण और वॉचन निष्फल जैसा है, यह बात हमें तो निस्संदेह यथार्थ माहम होती है।

* दुःखकी निवृत्ति सभी जीव चाहते हैं, और इस दुःखकी निवृत्ति, जिससे दुःख उत्पन्न होता है, ऐसे राग, द्वेष और अज्ञान आदि दोषकी निवृत्ति हुए बिना संभव नहीं है। उस राग आदिकी निवृत्ति एक आत्म-ज्ञानको छोड़कर दूसरे किसी भी प्रकारसे भूतकालमें हुई नहीं, वर्तमानकालमें होती नहीं, और भविष्यकालमें हो नहीं सकेगी, ऐसा सत्य ज्ञानी पुरुषोंको भासित हुआ है। अतएव जीवके लिये प्रयोजनरूप जो आत्म-ज्ञान है, उसका सर्वश्रेष्ठ उपाय सद्गुरुके वचनका श्रवण करना अथवा सत्शास्त्रका विचारना ही है। जो कोई जीव दुःखकी निवृत्तिकी इच्छा करता हो—उसे दुःखसे सर्वथा मुक्ति प्राप्त करनी हो—तो उसे एक इसी मार्गकी आराधना करनेके सिवाय और कोई दूसरा उपाय नहीं है। इसलिये जीवको सत्य प्रकारके मतमतातरका, बुल-धर्मका, लोक सज्ञारूप वर्मका, ओषसज्ञा-रूप धर्मका उदास भावसे सेवन करके, एक आत्म-विचार कर्तव्यरूप धर्मका सेवन करना ही योग्य है।

एक बड़ी निश्चयकी बात तो मुमुक्षु जीवको यही करनी योग्य है कि सत्सगके समान कल्याण-का अर्थ कोई बलवान कारण नहीं है, और उस सत्सगमें निरंतर प्रति समय निवास करनेकी इच्छा करना, असत्सगका प्रत्येक क्षणमें अन्यथाभाव विचारना, यही श्रेयरूप है। बहुत बहुत करके यह बात अनुभवमें लाने जैसी है।

प्रारब्धके अनुसार स्थिति है, इसलिये बलवान उपाधि-योगसे विपमता नहीं आती, अत्यंत अरुचि हो जानेपर भी, उपशम—समाधि—यथारूप रहती है, तथापि निरंतर ही चित्तमें सत्सगकी भावना रहा करती है। सत्सगका अत्यंत माहात्म्य जो पूर्वभगमें वेदन किया है, वह फिर फिरसे स्मृतिमें आ जाता है, और निरंतर अभगरूपसे वह भावना स्फुरित रहा करती है।

जनतक इस उपाधि-योगका उदय है, तत्रतक समवस्थापूर्वक उसे निबाहना, ऐसा प्रारब्ध है, तथापि जो काल व्यतीत होता है वह प्रायः उसके त्यागके भावमें ही व्यतीत होता है।

निवृत्ति जैसे क्षेत्रमें चित्तकी स्थिरतापूर्वक यदि हालमें सूत्ररूपागसूत्रके श्रवण करनेकी तो श्रवण करनेमें कोई बाधा नहीं। वह केवल जीवके उपशमके लिये ही करना योग्य है। निशेषता है, और किस मतकी न्यूनता है, पड़नेके लिये उसका श्रवण

ऐसा हमारा निश्चय है कि जिन पुरुषोंने इस सूत्रकृतागकी रचनाभी है वे आत्मस्वरूप पुरुष थे ।

‘ जीवको यह कर्मरूपी जो क्लेश प्राप्त हुआ है, वह कैसे दूर हो ? ’ इस प्रश्नको मुमुक्षु शिष्यके हृदयमें उद्भूत करके, वह ‘ बोध प्राप्त करनेसे दूर हो सकता है ’ यह सूत्रकृतागका प्रथम वाक्य है । फिर शिष्यको दूसरा प्रश्न होता है कि ‘ वह बधन क्या है, और वह क्या जाननेसे दूर हो सकता है, तथा उस बधनको वीरस्वामीने किस प्रकारसे कहा है ? ’ इस प्रकारके वाक्यद्वारा यह प्रश्न रक्खा गया है, अर्थात् शिष्यके प्रश्नमें यह वाक्य रखकर ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं कि हम तुम्हें आत्मस्वरूप ऐसे श्रीवीरस्वामीका कहा हुआ आत्मस्वरूप कहेंगे, क्योंकि आत्मस्वरूपके लिये आत्मस्वरूप पुरुष ही अत्यन्त प्रतीतिके योग्य है । इसके पश्चात् ग्रन्थकार जो उस बधनका स्वरूप कहते हैं, वह फिर फिरसे विचार करने योग्य है । तत्पश्चात् इसपर विशेष विचार करनेसे ग्रन्थकारको याद आया कि यह समाधि-मार्ग आत्माके निश्चयके बिना प्राप्त नहीं होता, तथा जगत्वासी जीव अज्ञानी उपदेशकोंसे जीवका अन्यथा स्वरूप जानकर—कल्याणका अन्यथा स्वरूप जानकर—अन्यथाको ही सत्य मान बैठे हैं, उस निश्चयका भंग हुए बिना—उस निश्चयमें सन्देह पड़े बिना—जो समाधि-मार्ग हमने अनुभव किया है, वह उन्हें किस प्रकारसे सुनानेसे कैसे फलीभूत होगा—ऐसा जानकर ग्रन्थकार कहते हैं कि ‘ ऐसे मार्गका त्याग करके कोई एक श्रमण ब्राह्मण अज्ञातपनेसे, बिना विचारे अन्यथा प्रकारसे मार्ग कहते हैं । ’ इस अयथा प्रकारके कथनके पश्चात् ग्रन्थकार निवेदन करते हैं कि कोई पचमहाभूतका ही अस्तित्व मानते हैं, ओर इन्हींसे आत्माका उत्पन्न होना भी मानते हैं, जो ठीक नहीं बैठता, ऐसा कहकर ग्रन्थकार आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करते हैं । जिस जीवने अपनी नित्यता ही नहीं जानी, तो फिर वह निर्वाणका यत्न किस प्रयोजनसे करेगा ? ऐसा अभिप्राय बताकर नित्यता दिखलाई गई है । इसके पश्चात् भिन्न भिन्न प्रकारसे कल्पित अभिप्राय दिखाकर यथार्थ अभिप्रायका उपदेश करके यथार्थ मार्गके बिना छुटकारा नहीं, गर्भ दूर नहीं होता, जन्म दूर नहीं होता, मरण दूर नहीं होता, दुःख दूर नहीं होता, आधि, व्याधि और उपाधि कुछ भी दूर नहीं होती, और जैसा हम ऊपर कह आये हैं कि ऐसे सबके सब मतनादी ऐसे ही विषयोंमें निमग्न हैं कि जिससे जन्म, जरा, मरण आदिका नाश नहीं होता—इस प्रकार विशेष उपदेशरूप आग्रहपूर्वक प्रथम अध्ययन समाप्त किया है । उसके पश्चात् अनुक्रमसे इससे बढ़ते हुए परिणामसे आत्मार्थके लिये उपशम-कल्याणका उपदेश दिया है । इसे लक्षपूर्वक पढ़ना और श्रवण करना योग्य है । कुल-धर्मके लिये सूत्रकृतागका पढ़ना और श्रवण करना निष्फल है ।

श्रीस्तभतीर्थवासी जिज्ञासुको श्री००० मोहमयीसे अमोहस्वरूप श्री०००० का आत्म-समान-भानकी स्मृतिपूर्वक यथायोग्य वाचना ।

हालमें यहाँ बाए प्रवृत्तिका सयोग विशेषरूपसे रहता है । ज्ञानीका देह उपार्जन किये हुए पूर्वकर्मके निवृत्त करनेके लिये और अन्यकी अनुकृपाके लिये होता है ।

जिस भावसे सत्कारकी उत्पत्ति होती है, वह भाव जिसमें निवृत्त हो गया है, ऐसा ज्ञानी भी वाय प्रवृत्तिकी निवृत्ति और सत्समागमके निवासनी इच्छा करता है। जहाँतक इस योगका उदय प्राप्त नहीं होता, यहाँतक जो प्राप्त स्थितिमें अनिपमतासे रहते हैं, ऐसे ज्ञानीके चरणारविन्दकी फिरसे स्मृति आ जानेसे हम उनको परम भिक्षिभवायसे नमस्कार करते हैं।

हाटमें जिस प्रवृत्ति-योगमें रहते हैं वह बहुत प्रकारकी परेच्छाके कारणसे रहते हैं। आत्म-दृष्टिकी अगडतामें इस प्रवृत्ति-योगसे कोई बाधा नहीं आती, इसलिये उदय आये हुए योगकी ही आराधना करते हैं।

हमारा प्रवृत्ति-योग जिज्ञासुके प्रति कल्याण प्राप्त होनेके समयमें किसी प्रकार नियोग-रूपसे रहता है।

जिसमें सत्स्वरूप रहता है, ऐसे ज्ञानीमें लोक स्पृहा आदिका त्याग करके जो भावपूर्वक भी आश्रितरूपसे रहता है, वह निकटरूपसे कल्याणको प्राप्त करता है, ऐसा मानते हैं।

निवृत्तिके समागमकी हम बहुत प्रकारसे इच्छा करते हैं, क्योंकि इस प्रकारके अपने रागको हमने सर्वथा निवृत्त नहीं किया।

कालका कलिस्वरूप चल रहा है। उसमें अनिपमतासे मार्गकी जिज्ञासापूर्वक, बाकी दूसरे अन्य जाननेके उपायोंमें उदासीनतासे प्रतीति करते हुए भी जो ज्ञानीके समागममें रहता है, वह अत्यन्त निकटरूपसे कल्याण पाता है, ऐसा मानते हैं।

जगत, ईश्वर आदि सर्वथा प्रश्न हमारे बहुत विशेष समागममें समझने चाहिये।

इस प्रकारके विचार (कभी कभी) करनेमें हानि नहीं है। कदाचित् उसका यथार्थ उत्तर अमुक कालतक न मिले, तो इस कारण धीरजका त्याग करनेको उद्यत होती हुई मतिको रोक लेना योग्य है।

जहाँ अनिपमतासे आत्म-यान रहता है, ऐसे 'श्रीरायचन्द्र' के प्रति फिर फिरसे नमस्कार करके यह पत्र इस समय हम पूर्ण करते हैं।

३०७

वन्द्यै, वैशाख १९४८

जो आत्मामें ही रहते हैं ऐसे ज्ञानी पुरुष सहज-प्राप्त प्रारब्धके अनुसार ही प्रवृत्ति करते हैं। वास्तवमें तो बात यह है कि जिस कालमें ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त हुआ, उसी कालमें ज्ञानी मुक्त हो जाता है। देह आदिमें अप्रतिपन्न ज्ञानीको कोई भी आश्रय अथवा आलम्बन नहीं है। धीरज प्राप्त होनेके लिये उसे " ईश्वरेच्छा आदि " भावनाका होना योग्य नहीं है। भक्तिवतको जो कुछ प्राप्त होता है उसमें किसी प्रकारके श्लेशको देखकर, तटस्थ धीरज रहनेके लिये यह भावना किसी प्रकारसे योग्य है। ज्ञानीको तो प्रारब्ध, ईश्वरेच्छा आदि सभी बातोंमें एक ही भाव—समान ही भाव है। उसे साता-असातामें कुछ भी किसी प्रकारसे राग द्वेष आदि कारण नहीं होने, वह तो दोनोंमें ही उदासीन है। जो उदासीन है, वह मूलस्वरूपमें निरालम्बन है और निरालम्बनरूप उसकी उदासीनताको हम ईश्वरेच्छासे भी ब्रह्मण मानते हैं।

ईश्वर-इच्छा शब्दको भी अर्थान्तरसे समझना योग्य है। ईश्वर-इच्छारूप आलवन, यह आश्रयरूप ऐसी भक्तिको ही योग्य है। निराश्रय ज्ञानीको तो सभी कुछ समान है। अथवा ज्ञानी सहज-परिणामी है, सहज-स्वरूपा है, सहज-स्वभावासे स्थित है, सहज-स्वभावासे प्राप्त उदयको भोगता है, सहज स्वभावासे जो होता है सो होता है, जो नहीं होता सो नहीं होता, वह कर्त्तव्यरहित है, कर्त्तव्यभावा उसीमें लय हो जाता है, इसलिए तुम्हें ऐसा जानना चाहिये कि उस ज्ञानीके स्वरूपमें प्रारब्धके उदयकी सहज-प्राप्ति अधिक योग्य है। जिसने ईश्वर-इच्छाके विषयमें किसी प्रकारसे इच्छा स्थापित की है, उसे इच्छायान कहना योग्य है। ज्ञानी इच्छारहित है या इच्छासहित, ऐसा कहना भी नहीं बनता, वह तो केवल सहज-स्वरूप है।

३०८

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १० रवि १९४८

ईश्वर आदिके सत्रयमें जो निश्चय है, उस विषयमें हालमें विचारका त्याग करके सामान्यरूपसे समयसारका पढ़ना योग्य है, अर्थात् ईश्वरके आश्रयसे हालमें धीरज रहता है, यह धीरज उसने विकल्पमें पढ़ जानेसे रहना कठिन है।

निश्चयसे अकर्त्ता, और व्यवहारसे कर्त्ता इत्यादि व्याख्यान जो समयसारमें है, वह विचारने योग्य है, परन्तु यह व्याख्यान ऐसे ज्ञानीसे समझना चाहिये कि जिसके बोधसत्रधी दोष निवृत्त हो गये हैं।

जो है वह स्वरूप, समझने तो योग्य ऐसे ज्ञानीसे है कि जिसे निर्विकल्पता प्राप्त हो गई है, उसीके आश्रयसे जीवके दोष नष्ट होकर उसकी प्राप्ति होती है, और वह समझमें आता है।

छह मास सपूर्ण हुए तबसे, जिसे परमार्थके प्रति एक भी विकल्प उत्पन्न नहीं हुआ ऐसे श्री को नमस्कार है।

३०९

बम्बई ज्येष्ठ वदी १० शुक्र १९४८

जिसकी प्राप्तिके पश्चात् अनतकालकी याचकता दूर होकर सर्व कालके लिये अयाचकता प्राप्त होती है, ऐसा जो कोई भी हो तो उसे हम तरण-तारण मानते हैं—उसीको भजो।

मोक्ष तो इस कालमें भी प्राप्त हो सकता है अथवा होता है, परन्तु उस मुक्तिका दान करनेवाले पुरुषकी प्राप्ति परम दुर्लभ है, अर्थात् मोक्ष दुर्लभ नहीं, दाता दुर्लभ है।

सत्सारासे अरुचि प्राप्त किये हुए तो बहुत काल हो गया है, तथापि अभी सत्साराका प्रसंग विश्रांतिको प्राप्त नहीं होता, यह एक प्रकारका महान् क्लेश रहा रहता है।

हालमें तो निर्बल होकर अपनेको श्रीहरिके हाथमें सौंपे देते हैं।

हमें तो कुछ भी करनेके लिये मन नहीं होता, और लिखनेके लिये भी मन नहीं होता, कुछ कुछ वाणीसे प्रवृत्ति करते हैं, उसमें भी मन नहीं होता ? केवल आत्मरूप मोन और तत्सवधी प्रसंगमें ही मन रहता है, और सग तो इससे भिन्न प्रकारका ही रहता है।

ऐसी ही ईश्वरेच्छा होगी। ऐसा मानकर जैसी स्थिति प्राप्त होती है वैसे ही योग्य समझकर रहते हैं।

मन तो मोक्षके सन्धमें भी स्पृहायुक्त नहीं है, परन्तु प्रसंग यह रहता है। इस प्रसंगमें 'वनकी भारी कोयल' ऐसी एक गुजरात देशकी कहानत योग्य ही है। ॐ शान्ति शान्ति शान्ति।

३१०

बम्बई, ज्येष्ठ १९४८

(१)

प्रभु-भक्तिमें जैसे बने तैसे तत्पर रहना, यह मुझे तो मोक्षका धुरधर मार्ग लगा है, चाहे तो मनसे भी स्थिरतापूर्वक बैठकर प्रभु भक्ति अन्वय करना योग्य है।

इस समय तो मनकी स्थिरता होनेका मुख्य उपाय तो प्रभु-भक्ति ही समझो। आगे भी वही ओर वँसा ही है, तो भी इसे स्थूलतासे लिखकर बताना अधिक योग्य लगता है।

उत्तरायनमूत्रमें दूसरा इच्छित अध्ययन पढ़ना। वृत्तिसत्रों अयनकी प्रारम्भकी चौबीस गायथें मनन करना।

शम, सनेग, निर्देद, आस्था, और अनुकृपा इत्यादि सद्गुणोंसे योग्यता प्राप्त करनी चाहिये, और किसी समय तो महात्माके सयोगसे धर्म मिल ही जायगा। सत्संग, सत्शास्त्र और सद्बुद्धि, ये उत्तम साधन हैं।

(२)

यदि सृगण्डसूत्रकी प्रासिका साधन हो तो उसका दूसरा अध्ययन, तथा उदकपेदाखाला अयन पढ़नेका परिचय रखना। तथा उत्तरायनके बहुतेसे वैराग्य आदि चरित्रखाले अयन पढ़ते रहना। और प्रभातमें जल्दी उठनेका परिचय रखना। एकातमे स्थिर होकर बैठनेका परिचय रखना। माया अर्थात् जगत्—लोक—का जिसमें अधिक वर्णन किया गया है, ऐसी पुस्तकोंके पढ़नेकी अपेक्षा, जिनमें सत्पुरुषके चरित्र अथवा वैराग्य-कथा विशेषरूपसे हों, ऐसी पुस्तकोंके पढ़नेकी भावना रखना।

(३)

जिसके द्वारा वैराग्यकी वृद्धि हो ऐसी बाँचन विशेषरूपसे रखना, मतमतांतरका त्याग करना, और जिससे मतमतांतरकी वृद्धि हो ऐसी पुस्तके नहीं पढ़ना। असत्संग आदिमे उत्पन्न होती हुई रुचिको हटानेका विचार बारम्बार करना योग्य है।

३११

बम्बई, ज्येष्ठ १९४८

जो विचारवान पुरुषको सर्वथा बलेशरूप भासित होता है, ऐसे इस ससारमें फिरसे आत्मभासने जन्म न लेनेकी निश्चल प्रतिज्ञा है। तीनों कालमें अब इसके पश्चात् इस ससारका स्वरूप अन्यथा रूपसे भासमान होना योग्य नहीं है, और यह भासमान हो—ऐसा तीनों कालमें होना संभव नहीं।

यहाँ आत्मभानसे समाधि है । उदय-भात्रके प्रति उपाधि रहती है । श्रीतीर्थकरने तेरहवें गुण स्थानकमें रहनेवाले पुरुषका निमलिखित स्वरूप कहा है —

आत्मभात्रके लिये जिसने सर्व ससार सवृत्त कर दिया है—अर्थात् जिसके सत्र ससारकी आती हुई इच्छा निरुद्ध हो गई है, ऐसे निर्ग्रन्थको—सत्पुरुषको—तेरहवें गुणस्थानकमें समझना चाहिये ।

मनसमित्तसे युक्त, वचनसमित्तसे युक्त, कायसमित्तसे युक्त, किसी भी वस्तुका ग्रहण और त्याग करते हुए समित्तसे युक्त, दीर्घ शका आदिका त्याग करते हुए समित्तसे युक्त, मनका सकोच करनेवाला, वचनका सकोच करनेवाला, कायाका सकोच करनेवाला, सर्व इन्द्रियोंके सकोचपनेसे ब्रह्मचारी, उपयोगपूर्वक चलनेवाला, उपयोगपूर्वक खड़ा होनेवाला, उपयोगपूर्वक बैठनेवाला, उपयोगपूर्वक शयन करनेवाला, उपयोगपूर्वक बोलनेवाला, उपयोगपूर्वक आहार लेनेवाला, उपयोगपूर्वक श्वासेच्छ्वास लेनेवाला, आँखके एक निमेषमात्र भी उपयोगरहित आचरण न करनेवाला, अथवा जिसकी उपयोगरहित एक भी क्रिया नहीं है, ऐसे निर्ग्रन्थको एक समयमें क्रियाका बंध होता है, दूसरे समयमें उसका वेदन होता है, तीसरे समयमें वह कर्मरहित हो जाता है, अर्थात् चौथे समयमें उसकी क्रिया-सन्धी सर्व चेष्टायें निवृत्त हो जाती हैं ।

श्रीतीर्थकर जैसेको कैसा अत्यन्त निश्चल

(अपूर्ण)

३१२

बम्बई, आपाद सुदी ९ रवि १९४८

जिनका चित्त शब्द आदि पाँच विषयोंकी प्राप्तिकी इच्छासे अत्यन्त व्याकुल रहा करता है, ऐसे जीव जहाँ विशेषरूपसे दिखाई देते हैं, ऐसा दुःखकाल कलियुग नामका काल है । उसमें भी जिसे परमार्थके सबधमें विह्वलता नहीं हुई, जिसके चित्तको निक्षेप नहीं हुआ, जिसे सगद्द्वारा प्रवृत्ति-भेद नहीं हुआ, जिसका चित्त दूसरी प्रीतिके सन्धसे आवृत नहीं हुआ, जिसका विज्ञान दूसरे कारणोंमें नहीं रहा—ऐसा जो कोई भी हो तो वह इस कालमें ' दूसरा श्रीराम ' ही है ।

फिर भी देखकर खेदपूर्वक आश्चर्य होता है कि इन गुणोंसे किसी अशमें भी सपन्न अल्प जीव भी दृष्टिगोचर नहीं होते ।

निद्राके सिवाय वाक्यके समयमेंसे एकाध घटेके सिवाय शेष समय मन, वचन और कायासे उपाधिके योगमें रहता है । कोई उपाय नहीं है, इसलिये सम्यक्परिणतितसे सबेदन करना ही योग्य है ।

महान् आश्चर्यको प्राप्त करानेवाले ऐसे जल, वायु, चन्द्र सूर्य, अग्नि आदि पदार्थोंके गुण सामान्य प्रकारसे भी जीवोंकी दृष्टिमें नहीं आते, और अपने छोटेसे घरमें अथवा ओर भी दूसरी किन्हीं चीजोंमें किसी प्रकारका मानो आश्चर्यकारक स्वरूप देखकर अहंभात्र रहता है, यह देखकर ऐसा होता है कि लोगोंका अनादिकालका दृष्टि-भ्रम दूर नहीं हुआ । जिससे यह दूर हो ऐसे उपायमें जीवका अल्प ज्ञान भी नहीं रहता, और उसकी पहिचान होनेपर भी स्वेच्छासे नर्तन करनेकी बुद्धि बारम्बार उदित होती रहती है, ऐसे बहुतसे जीवोंकी स्थिति देखकर ऐसा समझो कि यह लोक अभी अनन्तकालतक रहनेवाला है ।

३१३

वन्धई आपाठ १९४८

सूर्य उदय-अस्त रहित है। वह केवल लोगोंको जिस समय चतुकी मर्यादासे बाहर चला जाता है उस समय अस्त, और जिस समय चतुकी मर्यादाके भीतर रहता है उस समय उदित माद्रम होता है, परन्तु वास्तवमें सूर्यमें तो उदय-अस्त कुछ भी नहीं है। ज्ञानी भी इसी तरह है, वह समस्त प्रसंगोंमें जैसा है वैसा ही है, परन्तु ज्ञात यह है कि केवल समागमकी मर्यादाको छोड़कर लोगोंको उसका ज्ञान ही नहीं रहता, इसलिये जिस प्रसंगमें जैसी अपनी दशा हो सकती है वैसी ही दशा लोग ज्ञानीकी भी कल्पना कर लेते हैं, तथा यह कल्पना जीवकी ज्ञानीके परम आत्मभान, परितोषभान, और मुक्तभानको माद्रम नहीं होने देती, ऐसा जानना चाहिये।

हालमें तो जिस प्रकारसे प्रारब्धके कर्मका उदय हो उसी तरह प्रवृत्ति करते हैं, और इस तरह प्रवृत्ति करना किसी प्रकारसे तो सुगम ही माद्रम होता है।

यद्यपि हमारा चित्त नेत्रके समान है—नेत्रमें दूसरे अययोंके समान एक रज-कण भी सहन नहीं हो सकता। दूसरे अययोंरूप अन्य चित्त है। जिस चित्तसे हम रहते हैं वह चित्त नेत्ररूप है, उसमें वाणीका उठना, समझाना, यह करना अथवा यह न करना, ऐसा निचार होना यह बद्धत मुद्रिकलसे बन पाता है। बहुतेसी क्रियायें तो शून्यताकी तरह होती हैं, ऐसी रिशति होनेपर भी उपाधि योगका तो बलपूर्वक आराधन कर रहे हैं। इसका वेदन करना कम कठिन नहीं माद्रम होता, क्योंकि यह आँखके द्वारा जमीनकी रेतको उठाने जैसा कार्य होता है, जिस तरह यह कार्य दु खसे—अल्पत दु खसे—होना कठिन है, वैसे ही चित्तको उपाधि परिणामरूप होना कठिन है। सुगमतासे चित्तके स्थित होनेसे वह सम्यक्प्रकारसे वेदनाका अनुभव करता है—अखड समाधि-रूपसे अनुभव करता है। इस बातके लिखनेका आशय तो यह है कि ऐसे उत्कृष्ट वैराग्यमें ऐसे उपाधि-योगके अनुभव करनेके प्रसंगको केसा गिना जाय ? और यह सब किसके लिये किया जाता है ? जानते हुए भी उसे क्यों छोड़ नहीं दिया जाता ? यह सब निचार करने योग्य है।

ईश्वरेच्छा जैसी होगी वैसा हो जायगा। विकल्प करनेसे खेद होता है, और वह तो जबतक उसकी इच्छा होगी तबतक उसी प्रकार प्रवृत्ति करेगा। सम रहना ही योग्य है।

दूसरी तो कुछ भी स्पृहा नहीं, कोई प्रारब्धरूप स्पृहा भी नहीं। सत्त्वारूप पूर्वमें उपर्जित की हुई किसी उपाधिरूप स्पृहाको तो अनुक्रमसे सनेदन करनी ही योग्य है। एक सत्सग—तुम्हारे सत्सगकी स्पृहा रहा करती है, और तो रुचिमात्रका समाधान हो गया है। इस आश्चर्यरूप ज्ञातको कहाँ कहनी चाहिये ? आश्चर्य होता है। यह जो देह मिला है यदि वह पहिले कभी भी नहीं मिला हो तो भविष्यकालमें भी वह प्राप्त होनेवाली नहीं। धन्यरूप—कृतार्थरूप ऐसे हममें उपाधि-योग देखकर सभी लोग भूल करें, इसमें आश्चर्य नहीं, तथा पूर्वमें जो सत्पुरुषकी पहिचान नहीं हुई, तो वह ऐसे ही योगके कारणसे नहीं हुई। अधिक लिखना नहीं सूझता। नमस्कार पहुँचे।

समस्तरूप श्रीरायचन्द्रका यथायोग्य

यदि कोई दूसरा भी परमार्थसन्धी विचार—प्रश्न—उत्पन्न हो और यदि उसे लिखकर रख सको तो लिख रखनेका विचार योग्य है ।

पूर्वमे आराधना की हुई, जिसका नाम केवल उपाधि है, ऐसी समाधि उदयरूपसे रहती है ।

हालमे वहाँ बाँचन, श्रमण, और मननका साधन किस प्रकार रहता है ?

आनन्दघनजीके दो वाक्य याद आ रहे हे, उन्हें लिखकर यह पत्र समाप्त करता हूँ ।

ईणविध परखी मन विसरामी, जिनवर गुण जे गावे रे,

दीनमंधुनी महेर नजरथी, आनदघन पद पावे हो ।

मल्लिजिन सेवक किम अवगणिये हो ।

मन महिलानु वहाला उपरे, वीजा काम करंत रे ।

३२०

वम्बई, श्रावण वदी १०, १९४८

मन महिलानु वहाला उपरे, वीजां काम करत रे,

तेम श्रुतधर्मे मन दृढ धरे, ज्ञानाक्षेपकवत रे ।

धन धन सासन श्रीजिनवरतणु ।

जिस प्रकार घरसन्धी दूसरे समस्त कार्य करते हुए भी पतिव्रता (महिला) स्त्रीका मन अपने प्रिय भर्तारमे ही लीन रहता है, उसी तरह सम्यग्दृष्टि जीवका चित्त ससारमें रहकर समस्त कार्योंके प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए भी, वह ज्ञानासे श्रमण किये हुए उपदेश-धर्ममें ही लीन रहता है ।

समस्त ससारमें स्त्री और पुरुषके स्नेहको ही प्रधान माना गया है, उसमें भी पुरुषके प्रति स्त्रीका प्रेम इससे भी किसी प्रकार विशेष प्रधान माना गया है, और इसमें भी पतिके प्रति पतिव्रता स्त्रीका स्नेह तो सर्वप्रधान गिना गया है । यह स्नेह ऐसा सर्वप्रधान क्यों माना गया है ? इसके उत्तरमें सिद्धांतको प्रबलरूपसे दिखानेके लिये इस दृष्टान्तको देनेवाले सिद्धांतकार कहते हैं कि हम उस स्नेहको सर्वप्रधान इसीलिये मानते हैं कि दूसरे सत्र घरसन्धी (और दूसरे भी) काम करते रहनेपर भी उस पतिव्रता महिलाका चित्त पतिमें ही लीनरूपसे, प्रेमरूपसे, स्मरणरूपसे, ध्यानरूपसे और इच्छारूपसे रहता है ।

परन्तु सिद्धांतकार कहते हैं कि इस स्नेहका कारण तो ससार प्रत्ययी है और यहाँ तो अससार-प्रत्ययी करनेके लिये कहनेका लक्ष्य है, इसलिये जिसमें वह स्नेह लीनरूपसे, प्रेमरूपसे, स्मरणरूपसे, ध्यानरूपसे और इच्छारूपसे करना योग्य है—जिसमें वह स्नेह अससार-परिणामनको प्राप्त करता है—उस उपदेश-धर्मको कहते हैं ।

उस स्नेहको पतिव्रतारूप ऐसे मुमुक्षुको ज्ञानासन्धी श्रमणरूप उपदेश आदि धर्ममें उसी प्रकारसे करना योग्य है, और जत्र जो जीन उसके लिये उसी प्रकारसे आचरण करता है, तत्र वह “काता” नामकी समकित्तसन्धी दृष्टिमें स्थित हो जाता है, ऐसा हम मानते हैं ।

१ इस प्रकार परीक्षा करके मनको विश्राम देनेवाले जिनवरका जो गुणगान करता है, वह दीनबधुकी कृपा-दृष्टिसे आनन्दसे भरपूर पदको पाता है ।

ऐसे अर्थसे भरपूर ये दो पद हैं। पहिला पद भक्तिप्रधान है, परन्तु यदि इस प्रकारसे गूढ़ आशयसे जीवका निदिध्यासन न हो, तो फिर दूसरा पद ज्ञानप्रधान जैसा भासित होता है, और तुम्हें भी भासित होगा, ऐसा समझकर उस दूसरे पदका उस प्रकारका भास-बोध-होनेके लिये फिरसे पत्रके अतमें केवल प्रथमका एक ही पद लिखकर प्रधानरूपसे भक्तिको प्रदर्शित किया है।

भक्तिप्रधान दशासे आचरण करनेसे जीवके स्वच्छद आदि दोष सुगमतासे नष्ट हो जाते हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुषोंका प्रधान आशय है।

उस भक्तिमें जिस जीवको अल्प भी नित्यात्म भक्ति उत्पन्न हो गई हो, तो वह बहुतसे दोषोंसे दूर करनेके लिये योग्य होती है। अल्पज्ञान, अथवा ज्ञानप्रधान-दशा, ये असुगम मार्गकी ओर, स्वच्छद आदि दोषकी ओर, अथवा पदार्थसंबन्धी भ्रातिकी ओर ले जाते हैं, प्राय करके ऐसा ही होता है, उसमें भी इस कालमें तो बहुत कालतक जीवनपर्यन्त भी जीवको भक्तिप्रधान-दशाका ही आराधन करना योग्य है। ज्ञानियोंने ऐसा ही निश्चय किया माद्वम होता है (हमें ऐसा माद्वम होता है, और ऐसा ही है)।

तुम्हारे हृदयमें जो मूर्त्तिके दर्शन करनेकी इच्छा है, (तुम्हें) उमका प्रतिबन्ध करनेवाली तुम्हारी प्रारब्ध-स्थिति है, और उस स्थितिके परिपक्व होनेमें अभी देरी है, फिर उस मूर्त्तिको प्रत्यक्ष-रूपमें तो हालमें गृहस्थाश्रम है, और चित्रपटमें सत्यस्त-आश्रम है, यह ध्यानका एक दूसरा मुख्य प्रतिबन्ध है। उस मूर्त्तिसे उस आत्मस्वरूप पुरुषकी दशा फिर फिरसे उसके वाक्य आदिके अनुसंधानसे निवारण करना योग्य है, और यह उसके हृदय-दर्शनसे भी महान् फल है। इस बातको यहाँ सक्षिप्त करनी पड़ती है।

भृगी ईलीकाने चटकावे, ते भृगी जग जोवे रे.

यह वाक्य परम्परागत है। ऐसा होना किसी तरह संभव है, तथापि उस प्रोफेसरकी गवेपणाके अनुसार यदि मान लें कि ऐसा नहीं होता, तो भी इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि जग दृष्टान्त वैसा प्रभाज उत्पन्न कर सकता है, तो फिर सिद्धातका ही अनुभव अथवा निवारण करना चाहिये। प्राय करके इस दृष्टान्तके सबन्धमें किसीको ही शका होगी, इसलिये यह दृष्टान्त मान्य है, ऐसा माद्वम होता है। यह लोक-दृष्टिसे भी अनुभवयोग्य है, इसलिये सिद्धातमें उसकी प्रमत्तता समझकर महान् पुरुष उस दृष्टान्तको देते आये हैं, और किसी तरह ऐसा होना हम सबन भी मानते हैं। कदाचित् थोड़ी देरके लिये वह दृष्टान्त सिद्ध न हो ऐसा प्रमाणित हो भी जाय, तो भी तीनों कालमें निराबाध—अखड-सिद्ध बात उसके सिद्धात-पदकी तो है ही।

जिनस्वरूप थइ जिन आराधे, ते सहि जिनवर होवे रे

आनन्दघनजी तथा दूसरे सत्र ज्ञानीपुरुष ऐसा ही कहते हैं। और फिर जिनभगवान् आर ही प्रकारसे कहते हैं कि अनन्तपार जिनभगवान्की भक्ति करनेपर भी जीवका कन्याण नहीं हुआ। जिनभगवान्के मार्गमें चलनेवाले श्री-पुरुष ऐसा कहते हैं कि वे जिनभगवान्की आराधना करते हैं, और उहाँकी आराधना करते जाते हैं, अथवा उनकी आराधना करनेका उपाय करते हैं, फिर भी ऐसा माद्वम नहीं होता कि वे जिनवर हो गये हैं, तीनों कालमें अगडरूप सिद्धात तो यहाँ खडित हो जाता है, तो फिर यह बात शका करने योग्य क्यों नहीं है ?

३२३ ' वन्दे, श्रावण नदी ११ गुरु १९४८

शुभेच्छा सपन भाई ०००० स्तमतीर्थ

जिसकी आत्मस्वरूपमें स्थिति है ऐसा जो उसका निष्काम स्मरणपूर्वक यथायोग्य चिन्तना । उस तरफसे "आजकल क्षायिक समकित नहीं होता" इत्यादि सत्रधी व्याख्यानकी चर्चापिपयक तुम्हारा लिखा हुआ पत्र प्राप्त हुआ है । जो जीव उस उस प्रकारसे प्रतिपादन करते हैं—उपदेश करते हैं, और उस सबधमें जीवोंको विशेषरूपसे प्रेरणा करते हैं, वे जीव यदि उतनी प्रेरणा—गन्धेपणा—नीचके कल्याणके पिपयमें करेंगे तो इस प्रश्नके समाधान होनेका उन्हें कभी न कभी असंभव असंभव मिलेगा । उन जीवोंके प्रति दोष-दृष्टि करना योग्य नहीं है, केवल निष्काम करणामे ही उन जीवोंको देखना योग्य है । इस सबधमें किसी प्रकारका चिन्तमें खेद लाना योग्य नहीं, उस उस प्रमगपर जीवको उनके प्रति क्रोध आदि करना योग्य नहीं । कदाचित् उन जीवोंको उपदेश देकर समझानेकी तुम्हें चिन्ता होती हो तो भी उसके लिये तुम वर्तमान दशाको देखते हुए तो लाचार ही हो, इसलिये अनुकवा-बुद्धि और समता-बुद्धि-पूर्वक उन जीवोंके प्रति सरल परिणामसे देखना, तथा ऐसी ही इच्छा करना चाहिये, और यही परमार्थ-मार्ग है, ऐसा निश्चय रखना योग्य है ।

हालमें उन्हें जो कर्मसत्रधी आग्रण है, उसे भग करनेके लिये यदि उन्हें स्वयं ही चिन्ता उत्पन्न हो तो फिर तुमसे अथवा तुम जैसे दूसरे सत्सगीके मुखसे, उन्हें कुछ भी वास्त्वान् श्रमण करनेकी उल्लास-वृत्ति उत्पन्न हो, तथा किमी आत्मस्वरूप सत्पुरुषके सयोगसे मार्गकी प्राप्ति हो, परन्तु ऐसी चिन्ता उत्पन्न होनेका यदि उनके पाम साधन भी हो तो हालमें वे ऐसी चेष्टापूर्वक आचरण न करें । और जन्तक उस उस प्रकारकी जीवकी चेष्टा रहती है तत्रतक तीर्कर जैसे ज्ञानी-पुरुषका वाक्य भी उसके लिये निष्फल होता है, तो फिर तुम लोगोंके वाक्य निष्फल हों और उन्हें यह क्लेशरूप मादम पड़े, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं । ऐसा समझकर ऊपर प्रदर्शित की हुई अतरग भावनासे उनके प्रति बर्ताव करना, और किसी प्रकारसे भी जिससे उन्हें तुम्हारेसे क्लेशका कम कारण उपस्थित हो ऐसा विचार करना, यह मार्गमें योग्य गिना गया है ।

फिर, एक दूसरा अनुरोध कर देना भी स्पष्टरूपसे लिखने योग्य मादम होता है, इसलिये लिखे देते हैं । वह यह है कि हमने पहिले तुम लोगोंसे कहा था कि जैसे बने वैसे हमारे सबधमें दूसरे जीवोंसे कम ही बात करना । इस अनुक्रममें चलनेका लक्ष यदि विस्मृत हो गया हो तो अब फिरसे स्मरण रखना । हमारे सबधमें और हमारेद्वारा कहे गये अथवा लिखे गये वाक्योंके सबधमें ऐसा करना योग्य है, और हालमें इसके कारणोंको तुम्हें स्पष्ट बता देना योग्य नहीं । परन्तु यदि यह लक्ष अनुक्रमसे अनुसरण करनेमें विस्मृत होता है, तो यह दूसरे जीवोंको क्लेश आदिका कारण होता है, यह भी अब "क्षायिककी चर्चा" इत्यादिके सबधसे तुम्हारे अनुभवमें आ गया है । इसका परिणाम यह होता है कि जो कारण जीवको प्राप्त होनेसे कल्याणके कारण हों, उन जीवोंको उन कारणोंकी प्राप्ति इस भयमें होती हुई रक जाती है, क्योंकि वे तो अपनी अज्ञानतासे, जिसकी पहिचान नहीं हुई ऐसे सत्पुरुषके सबधमें तुम लोगोंसे जानी हुई बातसे, उस सत्पुरुषके प्रति निमुख होते हैं, उसके पिपयमें आग्रहपूर्वक

दूसरी दूसरी चेष्टायें कल्पित कर लेते हैं, और फिरसे ऐसा सयोग मिलनेपर वेसी विमुखता प्राय करके और बलवान हो जाती है । ऐसा न होने देनेके लिये, और इस भ्रममें यदि उन्हें ऐसा सयोग अज्ञानपनसे मिल भी जाय तो वे कदाचित् श्रेयको प्राप्त कर सकेंगे, ऐसी धारणा रखकर, अतरगमें ऐसे सत्पुरुषको प्रगट रखकर बाह्यरूपसे गुप्त रखना ही अधिक योग्य है । वह गुप्तपना कुछ माया-कपट नहीं है, क्योंकि इस तरह उर्ताय करना माया-कपटका हेतु नहीं है, वह भविष्य कल्याणका ही हेतु है । यदि ऐसा हो तो वह माया-कपट नहीं होता, ऐसा मानते हैं ।

जिसे दर्शनमोहनीय उदयमें प्रलयानरूपसे है, ऐसे जीवको अपनेद्वारा किसी प्रकार सत्पुरुष आदिके नियममें अज्ञापूर्वक गोलनेका अपसर प्राप्त न हो, इतना उपयोग रखकर चलना, यह उसका और उपयोग रखनेवाले दोनोंके कल्याणका कारण है ।

ज्ञानी पुरुषके नियममें अज्ञापूर्वक गोलना, तथा इस प्रकारके प्रसंगमें उत्साही होना, यह जीवके अनत ससारके उद्वेगके कारण है, ऐसा तीर्थकर कहते हैं । उस पुरुषके गुणगान करना, उस प्रसंगमें उत्साही होना, और उसकी आज्ञामें सरल परिणामसे परम उपयोग-दृष्टिपूर्क रहना, इसे तीर्थकर अनत ससारका नाश करनेवाला कहते हैं, और ये वाक्य जिनागममें हैं । बहुतेसे जीव इन वाक्योंको श्रवण करते होंगे, फिर भी जिन्होंने प्रथम वाक्यको निष्फल और दूसरे वाक्यको सफल किया हो, ऐसे जीव तो क्वचित् ही देखनेमें आते हैं । जीवने अनतवार प्रथम वाक्यको सफल और दूसरे वाक्यको निष्फल किया है । उस तरहके परिणाममें आनेमें उसे त्रिलकुल भी समय नहीं लगता, क्योंकि अनादि कालसे उसकी आत्मामें मोह नामकी मदिरा व्याप्त हो रही है, इसलिये गारम्भार निचारकर वेसे वेसे प्रसंगमें यथाशक्ति, यथात्रल और वीर्यपूर्वक ऊपर कहे अनुसार आचरण करना योग्य है ।

कदाचित् ऐसा मान लो कि ' इस कालमें क्षायिक समकित नहीं होता, ' ऐसा जिन आगममें स्पष्ट लिखा है । अब उस जीवको निचार करना योग्य है कि ' क्षायिक समकितका क्या अर्थ होता है ? ' जिसके एक नमकारमत्र जितना भी व्रत-प्रत्याख्यान नहीं होता, फिर भी वह जीव अधिकसे अधिक तीन भ्रममें और नहीं तो उसी भ्रममें परम पदको प्राप्त करता है, ऐसी महान् आश्चर्य करनेवाली उस समकितकी व्याख्या है, फिर अब ऐसी वह कौनसी दशा समझनी चाहिये कि जिसे क्षायिक समकित कहा जाय ? ' यदि तीर्थकर भगवान्की दृढ़ श्रद्धा ' का नाम क्षायिक समकित मान लो उस श्रद्धाको कैसी समझनी चाहिये ? और जो श्रद्धा हम समझते हैं वह तो निश्चयसे इस काठमें होती ही नहीं । यदि ऐसा मालूम नहीं होता कि अमुक दशा अथवा अमुक श्रद्धानो क्षायिक समकित कहा है, तो फिर हम कहते हैं कि जिनागमके शब्दोंका केवल यही अर्थ हुआ कि क्षायिक समकित होता ही नहीं । अब यदि ऐसा समझो कि ये शब्द किसी दूसरे आशयसे कहे गये हैं, अथवा किसी पीठके कालके प्रिसर्जन दोषसे लिख दिये गये हैं, तो जिस जीवने इस नियममें आग्रहपूर्वक प्रतिपादन किया हो, वह जीव कैसे दोषको प्राप्त होगा, यह सखेद करुणापूर्वक विचारना योग्य है ।

हालमें जिन्हें जिनसूत्रोंके नामसे कहा जाता है, उन सूत्रोंमें ' क्षायिक समकित नहीं है ' ऐसा स्पष्ट नहीं लिखा है, तथा परम्परागत और दूसरे भी बहुतेसे ग्रन्थोंमें यह बात चली आती है, ऐसा हमने

पढा है, और सुना भी है, और यह वाक्य मिथ्या है अथवा मृया है, ऐसा हमारा अभिप्राय नहीं है, तथा वह वाक्य जिस प्रकारसे लिखा है, वह एकात अभिप्रायसे ही लिखा है, ऐसा भी हमें नहीं लगता। कदाचित् ऐसा समझो कि वह वाक्य एकातरूपसे ऐसा ही हो तो भी किसी भी प्रकारसे व्याकुल होना योग्य नहीं। कारण कि यदि इन सब व्याख्याओंको सत्पुरुषके आशयपूर्णक नहीं जाना तो फिर ये व्याख्यायें ही सफल नहीं है। कदाचित् समझो कि इसके स्थानमें, जिनागममें लिखा हो कि चोथे कालकी तरह पाँचवें कालमें भी बहुतसे जीवोंको मोक्ष होगा, तो इस बातका श्रयण करना कोई तुम्हारे और हमारे लिये कल्याणकारी नहीं हो सकता, अथवा मोक्ष-प्राप्तिका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि जिस दशामें वह मोक्ष-प्राप्ति कही है, उसी दशाकी प्राप्ति ही इष्ट है, उपयोगी है, और कल्याणकारी है। श्रयण करना तो एक बात मात्र है, इसी तरह इससे प्रतिकूल वाक्य भी मात्र एक बात ही है। ये दोनों ही बातें लिखीं हों, अथवा कोई एक ही लिखी हो, अथवा दोनोंमेंसे एक भी बात न लिखकर कोई भी व्यनस्था न बताई गई हो, तो भी वह बध अथवा मोक्षका कारण नहीं है।

केवल बध दशा ही बध है, और मोक्ष दशा ही मोक्ष है, क्षायिक दशा ही क्षायिक है, अन्य दशा ही अन्य है, जो श्रयण है वह श्रयण है, जो मनन है वह मनन है, जो परिणाम है वह परिणाम है, जो प्राप्ति है वह प्राप्ति है—ऐसा सत्पुरुषका निश्चय है। जो बध है वह मोक्ष नहीं है, जो मोक्ष है वह बध नहीं है, जो जो है वह वही है, जो जिस स्थितिमें है वह उसी स्थितिमें है। जिस प्रकार वज्र-सुद्धि दूर हुए बिना मोक्ष—जीवन्मुक्ति—मानना कार्यकारी नहीं है, उसी तरह अक्षायिक दशासे क्षायिक मानना भी कार्यकारी नहीं है। केवल माननेका फल नहीं, फल केवल दशाका ही है।

जब यह बात है तो फिर अब अपनी आत्मा हालमें कौनसी दशामें है, और उस क्षायिक समकित्ती जीवकी दशाका निचार करने योग्य है या नहीं, अथवा उससे उतरती हुई अथवा उससे चढ़ती हुई दशाके निचारको जीव यथार्थरूपसे कर सकता है अथवा नहीं? इसीका निचार करना जीवको श्रेयस्कर है। परन्तु अनतकाल बीत गया, फिर भी जीवने ऐसा निचार नहीं किया। उसे ऐसा निचार करना योग्य है, ऐसा उसे भासित भी नहीं हुआ, और यह जीव अनतवार निष्कलतासे सिद्ध-पदतकका उपदेश कर चुका है, ऊपर कहे हुए उस क्रमको उसने बिना निचारे ही किया है—निचारपूर्वक यथार्थ निचारसे नहीं किया। जिस प्रकार जीवने पूर्वमें यथार्थ निचारके बिना ही ऐसा किया है, उसी तरह वह उस दशा (यथार्थ निचारदशा) के बिना वर्तमानमें ऐसा करता है, और जन्तक जीवको अपने ज्ञानके बलका भान नहीं होगा, तबतक वह भविष्यमें भी इसी तरह प्रवृत्ति करता रहेगा। जीवके किसी भी महापुण्यके योगका त्याग करनेसे, तथा जैसे मिथ्या उपदेशपर चलनेसे जीवका बोध-बल आरणको प्राप्त हो गया है, ऐसा जानकर इस विषयमें सावधान होकर यदि वह निराकरण होनेका निचार करेगा तो वह वैसा उपदेश करनेसे, दूसरेको प्रेरणा करनेसे और आग्रहपूर्वक बोलनेसे रुक जायगा। अधिक क्या कहें? एक अक्षर बोलते हुए भी अतिशय अतिशय प्रेरणासे भी वाणी मोनको ही प्राप्त होगी। और उस मोनको प्राप्त होनेके पहिले ही जीवसे एक अक्षरका सत्य बोल जाना भी अशक्य है, यह बात किसी भी प्रकारसे तीनों कालमें सदेह करने योग्य नहीं है।

तीर्थकरने भी ऐसा ही कहा है, और वह हालमें उसने आगममें भी है, ऐसा ज्ञात है। कदाचित् यदि ऐसे कहा हुआ अर्थ आगममें नहीं भी हो, तो भी जो शब्द ऊपर कहे हैं वे आगम ही हैं—जिनागम ही हैं। ये शब्द राग, द्वेष और अज्ञान इन तीनों कारणोंसे रहित, प्रगटरूपसे लिखे गये हैं, इसलिये सेननीय हैं।

धोड़ेसे वाक्योंमें ही लिख डालनेके लिये विचार किया हुआ यह पत्र विस्तृत हो गया है, और यद्यपि यह बहुत ही संक्षेपमें लिखा है, फिर भी बहुत प्रकारसे अपूर्ण स्थितिसे यह पत्र अत्र समाप्त करना पड़ता है।

तुम्हें तथा तुम्हारे जैसे दूसरे जिन जिन भाईयाका तुम्हें समागम है उन्हें, उस प्रकारके प्रसंगमें इस पत्रके प्रथम भागको विशेषरूपसे स्मरणमें रखना योग्य है, और बाकीका दूसरा भाग तुम्हें और दूसरे अथ मुमुक्षु जीयोंको मारम्भार विचारना योग्य है। यहाँ समाधि है। “ प्रारब्धदेही ”

३२४ बम्बई, श्रावण वदी १४ रवि १९४८
ॐ

स्वस्ति श्रीसायला प्राम शुभस्थाने रिजत, परमार्थके अखंड निश्चयी, निष्कामस्वरूप () के वारम्भार स्मरणरूप, मुमुक्षु पुरणोंसे अनन्य प्रेमसे सेवन करने योग्य, परम सरल, और ज्ञातमूर्ति ऐसे श्री “ सुभाष्य ” के प्रति श्री “ मोटमयी ” स्थानसे निष्कामस्वरूप ऐसे स्मरणरूप सत्पुरुषका विनयपूर्वक यथायोग्य पहुँचे।

जिसमें प्रेम भक्ति प्रदान निष्कामरूपसे लिखी है ऐसे तुम्हारे लिखे हुए बहुतसे पत्र अनुक्रमसे प्राप्त हुए हैं। आत्माकार-स्थिति और उपाधि-योगरूप कारणसे केवल इन पत्रोंकी पहुँच मात्र लिख सका हूँ।

यहाँ भाई रेवाशकरकी शारीरिक स्थिति यथायोग्य न रहनेमें, और व्यनहारसन्धी काम-कानके उद जानेसे उपाधि-योग भी विशेष रहता आया है, और रहा करता है, इस कारण इस चौमासेमें बाहर निकलना अशक्य हो गया है, और इसके कारण तुम्हारा निष्काम समागम प्राप्त नहीं हो सका, और फिर दिवालीके पहिले उस प्रकारका संयोग प्राप्त होना समझ भी नहीं है।

तुम्हारे लिखे हुए बहुतसे पत्रोंमें जीन आदि स्वभाज और परभाजके बहुतसे प्रश्न लिखे हुए आते थे, इसी कारणसे उनका भी प्रत्युत्तर नहीं लिखा जा सका। इस बीचमें दूसरे भी जिज्ञासुओंके बहुतसे पत्र मिले हैं, प्राय करके इसी कारणसे ही उनका भी उत्तर नहीं लिखा जा सका।

हालमें जो उपाधि-योग रहता है, यदि उस योगके प्रतिपक्षके त्यागनेका विचार करें तो त्याग हो सकता है, तथापि उस उपाधि योगके सहन करनेसे जिस प्रारब्धकी निवृत्ति होती है, उसे उसी प्रकारसे सहन करनेके बिनाय दूसरी इच्छा नहीं होती, इसलिये इसी योगसे उस प्रारब्धको निवृत्त होने देना योग्य है, ऐसा समझते हैं, और ऐसी ही स्थिति है।

शास्त्रोंमें इस कालको क्रम क्रमसे क्षीण होनेके योग्य कहा है, और इस प्रकारसे क्रम क्रमसे हुआ भी करता है। मुख्यरूपसे यह क्षीणता परमार्थसंबन्धी क्षीणता ही कही है। जिस कालमें अत्यंत कठिणतासे परमार्थकी प्राप्ति हो, उस कालको दुःख कहेना चाहिये। यद्यपि जिससे सर्वकालमें

परमार्थकी प्राप्ति होती है ऐसे पुरुषोंका सयोग दुर्लभ ही है, परन्तु ऐसे कालमें तो यह अत्यन्त ही दुर्लभ हो रहा है। जीवोंकी परमार्थवृत्ति क्षीण होती जा रही है, इस कारण उसके प्रति ज्ञानी पुरुषोंके उपदेशका बल कम होता जाता है, और इससे परम्परासे वह उपदेश भी क्षीण होता जा रहा है—अर्थात् अत्र क्रम क्रमसे परमार्थ-मार्गके व्यञ्छेद होनेका काल आ रहा है।

इस कालमें, और उसमें भी आजकल लगभग सा वर्षोंसे मनुष्योंकी परमार्थवृत्ति बहुत क्षीण हो गई है, और यह बात प्रत्यक्ष है। सहजानदस्वामीके समयतक मनुष्योंमें जो सरल वृत्ति थी, उसमें और आजकी सरल वृत्तिमें महान् अंतर हो गया है। उस समयतक मनुष्योंकी वृत्तिमें कुछ कुछ आज्ञाकारित्व, परमार्थकी इच्छा, और तत्सवर्धा निश्चयमें दृढ़ता—ये बातें जैसी थीं वैसी आज नहीं रही हैं, इस कारण आज तो उद्भूत ही क्षीणता आ गई है। यद्यपि अभी इस कालमें परमार्थवृत्तिका सर्वाथा व्यञ्छेद नहीं हुआ, तथा भूमि भी सत्पुरुषोंसे रहित नहीं हुई है, तो भी यह काल उस-कालकी अपेक्षा अधिक विषम है—बहुत विषम है—ऐसा मानते हैं।

इस प्रकारका कालका स्वरूप देखकर हृदयमें अखडरूपसे महान् अनुकंपा रहा करती है। किसी भी प्रकारसे जीवोंकी अत्यन्त दुःखकी निवृत्तिका उपाय जो सर्वोत्तम परमार्थ, यदि उस परमार्थसंग्रही वृत्ति कुछ बढ़ती जाती हो, तो ही उसे सत्पुरुषकी पहिचान होता है, नहीं तो नहीं होती। वह वृत्ति फिरसे जीवित हो, और किन्हीं भी जीवोंको—बहुतसे जीवोंको—परमार्थसंग्रहा मार्ग प्राप्त हो, ऐसी अनुकंपा अखडरूपसे रहा करती है, तो भी ऐसा होना हम बहुत दुर्लभ मानते हैं, और उसके कारण भी ऊपर बता दिये हैं।

जिस पुरुषका चोथे कालमें मिलना दुर्लभ था, ऐसे पुरुषका सयोग इस कालमें हुआ है, परन्तु जीवोंकी परमार्थसंग्रही चिन्ता अत्यन्त क्षीण हो गयी है, अर्थात् उस पुरुषकी पहिचान होना अत्यन्त कठिन है। उसमें भी गृहवास आदिके प्रसंगमें उस पुरुषकी स्थिति देखकर तो जीवोंको प्रतीति आना और भी दुर्लभ है—अत्यन्त ही दुर्लभ है, और यदि कदाचित् प्रतीति आ भी गई तो हालमें जो उसका प्रारब्धका क्रम रहता है, उसे देखकर उसका निश्चय रहना दुर्लभ है, और यदि कदाचित् उसका निश्चय भी हो जाय तो भी उसका सत्संग रहना दुर्लभ है, और परमार्थका जो मुख्य कारण है वह तो यही है, उसे ऐसी स्थितिमें देखकर ऊपर बताये हुए कारणोंको अधिक बलवानरूपसे देखते हैं, और यह बात देखकर फिर फिरसे अनुकंपा उत्पन्न हो आती है।

ईश्वरेशसे जिस किसी जीवका भी कन्याण वर्तमानमें होना होगा, वह तो उसी तरह होगा, और हम इस विषयमें ऐसा भी मानते हैं कि वह दूसरेसे नहीं परन्तु हमसे ही होगा। परन्तु हम ऐसा मानते हैं कि जैसी हमारी अनुकंपायुक्त इच्छा है, जिससे जीवोंको वैसा परमार्थ विचार और परमार्थ-प्राप्ति हो सके, वैसा मयोग हमें किसी प्रकारसे कम ही हुआ है। हम ऐसा मानते हैं कि यदि यह देह गंगा यमुना आदिके प्रदेशमें अथवा गुजरात देशमें उत्पन्न हुई होती—वहाँ वृद्धिगत हुई होती तो यह एक बलवान कारण होता। तथा हम ऐसा मानते हैं कि यदि प्रारब्धमें गृहवास वाक्ती न होता और ब्रह्मचर्य या वनवास होता तो यह भी एक दूसरा बलवान कारण होता। कदाचित् गृहवास वाक्ती होता और उपाधि-

योगरूप प्रारब्ध न होता, तो वह परमार्थका तीसरा बलवान कारण होता, ऐसा मानते हैं। पहिले कहे हुए दो कारण तो हो चुके हैं, इसलिये अब उनका निवारण नहीं हो सकता, फिर भी अभी ऐसा होना जानी है कि तीसरा उपाधि-योगरूप प्रारब्ध शीघ्रतासे निवृत्त हो—उसका निष्काम करुणा-पूर्वक वेदन हो। किन्तु यह विचार भी अभी योग्य स्थितिमें है, अर्थात् ऐसी ही इच्छा रहती है कि उस प्रारब्धका सहजमें ही प्रतीकार हो जाय, अथवा उस प्रकारका उदय विशेष उदयमें आकर थोड़े ही कालमें समाप्त हो जाय, तो ही प्रेसी निष्काम करुणा रह सकती है। ओर इन दो प्रकारोंमें तो हालमें उदासीनतासे अर्थात् सामान्यरूपसे ही रहना है, ऐसी आत्म-भाषना है, और इस सत्रधमें वारम्बार महान् विचार रहा करता है।

जबतक उपाधि-योग समाप्त नहीं होता तबतक किस प्रकारके सम्प्रदायपूर्वक परमार्थ कहना, यह मौनरूपसे और अनिचार अथवा निर्निचारेमें ही रखा है—अर्थात् हालमें यह विचार करनेके विषयमें उदास भाव रहता है।

आत्माकार स्थिति हो जानेसे प्रायः करके चित्त एक अश भी उपाधि-योगका वेदन करने योग्य नहीं है, फिर भी वह तो जिस प्रकारसे सहन करनेको मिले उसी प्रकारसे सहन करना है, इसलिये उसमें समाधि है। परन्तु किन्हीं जीवोंसे परमार्थसत्रधी प्रसंग पड़ता है, तो उन्हें उस उपाधि-योगके कारण हमारी अनुकपाके अनुसार लाभ नहीं मिलता, और तुम्हारी लिखी हुई जो कुछ परमार्थसत्रधी बात आती है वह भी चित्तमें मुदिक्लसे ही प्रवेश हो पाती है, क्योंकि हालमें उसका उदय नहीं है। इस कारण पत्र आदिके प्रसंगसे भी तुम्हारे सित्राय दूसरे मुमुक्षु जीवोंको इच्छित अनुकपासे परमार्थवृत्ति नहीं दी जा सकती, यह बात भी चित्तको बहुत बार लगा करती है।

चित्तके बधनयुक्त न हो सकनेके कारण, जो जीव सत्साराके सत्रधमें खी आदिरूपसे प्राप्त हुए हैं, उन जीवोंकी इच्छाको भी क्लेशित करनेकी नहीं होती, अर्थात् उसे भी अनुकपासे, ओर मैं वाप आदिके उपकार आदि कारणोंसे उपाधि-योगका बलवान रीतिसे सहन करते हैं। ओर जिस जिसकी जो कामना है, उस उस प्रारब्धके उदयमें जिस प्रकारसे वह कामना प्राप्त होनी है, जबतक वह उस प्रकारसे न हो, तबतक निवृत्ति ग्रहण करते हुए भी जीव उदासीन ही रहता है। इसमें किसी प्रकारकी हमारी कामना नहीं है, हम तो इस सत्रमें निष्काम ही हैं, फिर भी उस प्रकारके बधन रखनेरूप प्रारब्ध उदयमें रहता है, इसे भी दूसरे मुमुक्षुकी परमार्थवृत्ति उत्पन्न करनेमें हम निष्काम समझते हैं।

जबसे तुम हमें मिले हो तभीसे यह बात—जो ऊपर अनुक्रमसे लिखी है—कहनेकी इच्छा थी, परन्तु उस उस प्रकारसे उमका उदय नहीं था, इसलिये ऐसा नहीं बना, अब वह उदय प्रताने योग्य था इसलिये इसे सक्षेपमें कह दिया है, इसे तुम्हें बारम्बार विचारनेके लिये लिखा है। इसमें बहुत विचार करके सूक्ष्मरूपमें हृदयमें धारण करने योग्य बात लिखी है। तुम और गोगलीआके सित्राय इस पत्रके समाचार जानने योग्य दूसरे जीव हालमें तुम्हारे पास नहीं हैं, इतनी बात मरण रखनेके लिये ही लिखी है। किसी बातमें, शब्दोंके सक्षिप्त होनेके कारण, यदि कुछ ऐसा भाग्य दे कि हमें किसी प्रकारकी सत्सारा-सुख-वृत्ति प्राप्ती है, तो उस अर्थको फिरसे विचारना योग्य है।

है कि तीनों कालमें हमारे सत्रधमें यह माध्यम होना कल्पित ही समझना चाहिये, अर्थात् ससार-सुख-वृत्तिसे हमें निरन्तर उदास भाव ही रहता है। ये वाक्य यह समझकर नहीं लिखे कि तुम्हारा हमारे प्रति कुछ कम निश्चय है, अथवा यदि होगा तो वह निवृत्त हो जायगा, इन्हें किसी दूसरे ही हेतुसे लिखा है।

जगत्में किसी भी प्रकारसे जिसकी किसी भी जीवके प्रति भेद-दृष्टि नहीं, ऐसे श्री निष्काम आत्मस्वरूपका नमस्कार पहुँचे।

“ उदासीन ” शब्दका अर्थ सम भाव है।

३२५

वम्बई, श्रावण १९४८

मुमुक्षुजन यदि सत्सगमे हों तो वे निरन्तर उच्छासित परिणाममें रहकर अल्प कालमें ही आत्म साधन कर सकते हैं, यह बात यथार्थ है। तथा सत्सगके अभासमें सम परिणति रहना कठिन है, फिर भी ऐसे करनेमें ही आत्म-साधन रहता है, इसलिये चाहे जैसे मिथ्या निमित्तमें भी जिस प्रकारसे सम परिणति आ सके, उसी प्रकारसे प्रवृत्ति करना योग्य है। यदि ज्ञानीके आश्रयमें ही निरन्तर वास हो तो थोड़े ही साधनसे भी सम परिणति आती है, इसमें तो कोई भी विवाद नहीं। परन्तु जत्र पूर्वकर्मके बधनसे अनुकूल न आनेवाले निमित्तमें रहना होता है, उस समय चाहे किसी भी तरह, जिससे उसने प्रति द्वेषरहित परिणाम गृहे, ऐसे प्रवृत्ति करना ही हमारी वृत्ति है, और यही शिक्षा भी है।

वे जिस तरह सत्पुरुषके दोषका उच्चारण भी न कर सकें, उस तरह यदि तुमसे प्रवृत्ति करना बन सकता हो तो कष्ट सहकर भी उस तरह आचरण करना योग्य है। हालमें हमारी तुम्हें ऐसी कोई शिक्षा नहीं है कि जिससे तुम्हें उनसे बहुत तरहसे प्रतिकूल चलना पड़े। यदि किसी बाव-तमें वे तुम्हें बहुत प्रतिकूल समझते हों तो वह जीवका अनादिका अभ्यास है, ऐसा जानकर धारिज रखना ही अधिक योग्य है।

जिसके गुणगान करनेसे जीव भय-मुक्त हो जाता है, उसके गुणगानसे प्रतिकूल होकर दोषभाससे प्रवृत्ति करना, यह जीवको महा दुःखका देनेवाला है, ऐसा मानते हैं, और जब वैसे प्रकारमें जीव आकर फँस जाते हैं तो हम समझते हैं कि जीवको कोई ऐसा ही पूर्वकर्मका बन्धन होना चाहिये। हमें तो इस निषयमें द्वेषरहित परिणाम ही रहता है, और उनके प्रति करुणा ही आती है। तुम भी इस गुणज्ञा अनुकरण करो, और जिस तरह उन लोगोंको गुणगान करनेके योग्य सत्पुरुषके अवर्णवाद बोलनेका अन्तर उपस्थित न हो, ऐसा योग्य मार्ग ग्रहण करो, यही अनुरोध है।

हम स्वयं उपाधि-प्रसंगमें रहते आये हैं और रह रहे हैं, इसके ऊपरसे हम स्पष्ट जानते हैं कि उस प्रसंगमें सम्पूर्ण आत्मभाससे प्रवृत्ति करना दुर्लभ है, इसलिये निरुपाधिपूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका सेवन करना आवश्यक है। ऐसा जानते हुए भी हालमें तो हम ऐसा ही कहते हैं कि जिससे उस उपाधिका बहन करते हुए निरुपाधिका विसर्जन न हो जाय, ऐसा ही करते रहो।

जत्र हम जैसे भी सत्सगका सेवन करते हैं, तो फिर वह तुम्हें कैसे असेवनीय हो सकता है, यह जानते हैं, परन्तु हालमें तो हम पूर्वकर्मको ही भज रहे हैं, इसलिये तुम्हें दूसरा मार्ग हम कैसे बतायें, यह तुम ही विचारो।

एक क्षणभरके लिये भी इस ससर्गमें रहना अच्छा नहीं लगता, ऐसा होनेपर भी ऋतु समयसे इसे सेवन किये चले आते हैं, और अभी अमुक कालतक सेवन करनेका विचार रखना पड़ा है, और तुम्हें भी यही अनुरोध कर देना योग्य समझा है। जैसे बने तैसे विनय आदि साधनसे सपन्न होकर सत्संग, सन्शास्त्राभ्यास, और आमविचारमें प्रवृत्ति करना ही श्रेयस्कर है।

एक समयके लिये भी प्रमाद करनेकी तीर्थकरदेवकी आज्ञा नहीं है।

३२६

बम्बई, श्रावण वदी १९४८

जिस पुरुषको द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे किसी भी प्रकारकी प्रतिबद्धता नहीं रहती, वह पुरुष नमन करने योग्य है, कीर्तन करने योग्य है, परम प्रेमपूर्वक गुणगान करने योग्य है, और फिर फिरसे विशिष्ट आमपरिणामसे ध्यान करने योग्य है।

आपके बहूतसे पत्र मिले हैं। उपाधि सयोग इस प्रकारसे रहता है कि उसकी विद्यमानतामें पत्र लिखने योग्य अपेक्षा नहीं रहता, अथवा उम उपाधिको उदयरूप समझकर मुख्यरूपसे आराधना करते हुए, तुम जैसे पुरुषको भी जानबूझकर पत्र नहीं लिखा, इसके लिये क्षमा करें।

जगत्से चित्तमें इस उपाधि-योगकी आराधना कर रहे हैं, उस समयसे जेसा मुक्तभाव रहता है, वैसा मुक्तभाव अनुपाधि-प्रसंगमें भी नहीं रहता था, ऐसी निश्चल दशा मगसिर सुदी ६ से एकधारासे चली आ रही है।

३२७

बम्बई, भाद्रपद सुदी १ भौम १९४८

अस्त

तुम्हारा वैराग्य आदि विचारोंसे पूर्ण एक सविस्तर पत्र करीब तीन दिन पहले मिला था। जीवको वैराग्य उत्पन्न होता, इसे हम एक महान् गुण मानते हैं। और इसके साथ शम, दम, निवेक आदि साधनोंका अनुक्रमसे उत्पन्न होनेरूप योग मिले तो जीवको कल्याणकी प्राप्ति सुलभ हो जाती है, ऐसा मानते हैं। (ऊपरकी छानमें जो योग शब्द लिखा है उसका अर्थ प्रसंग अथवा सत्संग करना चाहिये)।

- अनत कालसे जीव ससारमें परिभ्रमण कर रहा है, और इस परिभ्रमणमें इसने अनत तप, जप, वैराग्य आदि साधन किये मादम होते हैं, फिर भी जिससे यथार्थ कल्याण सिद्ध होता है, ऐसा एक भी साधन हो सका हो, ऐसा मालूम नहीं होता। ऐसे तप, जप, अथवा वैराग्य, अथवा दूसरे साधन केवल ससाररूप ही हुए हैं, ऐसा जो हुआ है वह किस कारणसे हुआ ? यह बात फिर फिरसे विचारने योग्य है। (यहाँपर किसी भी प्रकारसे जप, तप, वैराग्य आदि साधन सब निष्फल हैं, ऐसा कहनेका अभिप्राय नहीं है, परन्तु ये जो निष्फल हुए हैं, उसका क्या हेतु होगा, यह विचार करनेके लिये यह लिखा गया है। जिसे कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसे जीवको वैराग्य आदि साधन तो निश्चयसे होते ही हैं)।

३३३

वम्बई, भाद्रपद वदी ३ शुक्र १९४८

यहाँसे लिखे हुए पत्रके तुम्हें मिलनेसे होनेवाले आनन्दको निवेदन करते हुए, तुमने हालमें दीक्षासत्र की वृत्तिके क्षोभ प्राप्त करनेके विषयमें जो लिखा, सो वह क्षोभ हालमें योग्य ही है।

क्रोध आदि अनेक प्रकारके दोषोंके क्षय हो जानेपर ही सत्सार त्यागरूप दीक्षा लेना योग्य है, अथवा किसी महान् पुरुषके सयोगसे कोई योग्य प्रसंग आनेपर ऐसा करना योग्य है। इसके सिवाय किसी दूसरी प्रकारसे दीक्षाका धारण करना कार्यकारी नहीं होता, और जीव वैसे दूसरी प्रकारकी दीक्षारूप भ्रान्तिसे ग्रस्त होकर अपूर्ण कल्याणको चूकता है, अथवा जिससे विशेष अन्तराय उपस्थित हो ऐसे योगका उपार्जन करता है, इसलिये हालमें तो तुम्हारे क्षोभको हम योग्य ही समझते हैं।

यह हम जानते हैं कि तुम्हारी यहाँ समागममें आनेकी विशेष इच्छा है, फिर भी हालमें तो उस सयोगकी इच्छाका निरोध करना ही योग्य है, अर्थात् वह सयोग बनना असंभव है, और उस बातका खुलासा जो प्रथमके पत्रमें लिखा है, उसे तुमने पढ़ा ही होगा। इस तरफ आनेकी इच्छामें तुम्हारे बड़ों आदिका जो निरोध है, हालमें उस निरोधको उल्लंघन करनेकी इच्छा करना योग्य नहीं।

मताग्रहमें बुद्धिका उदासीन करना ही योग्य है, और हालमें तो गृहस्थ धर्मको अनुसरण करना भी योग्य है। अपना हितरूप जानकर अथवा समझकर आरंभ परिग्रहका सेवन करना योग्य नहीं। और इस परमार्थको वारम्बार विचार करके सद्ग्रन्थका वाँचन, श्रवण, और मनन आदि करना योग्य है।

निष्काम यथायोग्य

३३४

वम्बई, भाद्रपद वदी ८ बुध १९४८

अनमस्कार

जिस जिस कालमें जो जो प्रारब्ध उदय आये उस सत्रको सहन करते जाना, यही ज्ञानी पुरुषोंका सनातन आचरण है, और यही आचरण हमे उदय रहा करता है, अर्थात् जिस सत्सारमें स्नेह नहीं रहा, उस सत्सारके कार्यकी प्रवृत्तिका उदय रहता है, और उस उदयका अनुक्रमसे वेदन हुआ करता है। उदयके इस क्रममें किसी भी प्रकारकी हानि-वृद्धि करनेकी इच्छा उत्पन्न नहीं होता, और हम ऐसा मानते हैं कि ज्ञानी पुरुषोंका भी वही सनातन आचरण है, फिर भी जिसमें स्नेह नहीं रहा, अथवा स्नेह रखनेकी इच्छा निवृत्त हो गई है, अथवा निवृत्त होने आई है, ऐसे इस सत्सारमें कार्यरूपसे-कारणरूपसे प्रवृत्ति करनेकी इच्छा नहीं रही, इस कारण आत्मामें निवृत्ति ही रहा करती है। ऐसा होनेपर भी जिससे उसके अनेक प्रकारके सग-प्रसंगमें प्रवृत्ति करना पड़े, ऐसे पूर्वमें किसी प्रारब्धका उपार्जन किया है, जिसे हम सग परिणामसे सहन करते हैं, परन्तु अभी भी कुछ समयतक वह उदयमें है, ऐसा जानकर कभी कभी खेद होता है, कभी कभी विशेष खेद होता है। और उस खेदका कारण विचारकर देखनेसे तो वह परानुकपारूप ही माद्म होता है। हालमें तो उस प्रारब्धको स्वाभाविक उदयके अनुसार वेदन किये बिना अन्य इच्छा उत्पन्न नहीं होती, तथापि उस उदयमें हम दूसरे किसीको सुख, दुःख, राग, द्वेष, लाभ और अलाभके कारणरूपसे माद्म होते हैं, इस माद्म होनेमें लोक-प्रसंगकी विचित्र भ्रांति देखकर खेद होता है। जिस सत्सारमें साक्षी कर्त्तिके रूपसे माना

जाता है, उस सप्ताहमें उस साक्षीसे साक्षीरूप रहना, और कर्त्तव्यसे भासमान होना, यह दुधारी तलवारपर चलनेके समान है ।

ऐसा होनेपर भी यदि वह साक्षी पुरुष भातियुक्त लोगोंको, किसीको रोद, दुःख और अलाभका कारण माद्रम न पड़े, तो उस प्रसंगमें उस साक्षी-पुरुषको अत्यंत कठिनाई नहीं है । हमें तो अत्यंत कठिनाईके प्रसंगका उदय रहता है ।

इसमें भी उदासीनभान ही ज्ञानीका सनातन धर्म है (यहाँ धर्म शब्द आचरणके अर्थमें है) ।

एक बार जब एक तुच्छ तिनकेके दो भाग करनेकी क्रियाके कर सकनेकी शक्तिका भी उपशम हो, उस समय जो ईश्वरच्छा होगी वही होगा ।

अचित्यदशास्वरूप

३३५

बम्बई, आसोज सुदी १ बुध १९४८

जीनके कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको समागममें श्रवण करके निदिध्यासन करना योग्य है ।

वनस्पति आदिके सयोगसे पारेका बंधकर चाँदी बगोरह रूप हो जाना समन नहीं होता, यह बात नहीं है । योग सिद्धिके भेदसे किसी तरह ऐसा हो सकता है, और जिसे उस योगके आठ अंगों मेंसे पाँच अंग प्राप्त हो गये हैं, उसे सिद्धि-योग होता है । इसके सिवाय कोई दूसरी कल्पना करना केवल कालक्षेपरूप ही है । यदि उसका निचार भी उत्पन्न हो तो वह भी एक कोतुकरूप ही है, और कौतुक आत्म-परिणामके लिये योग्य नहीं है । पारेका स्वाभाविकरूप पारापन ही है ।

३३६

बम्बई, आसोज सुदी ७ भौम १९४८

प्रगट आत्मस्वरूप अविच्छिन्नरूपसे सेवन करने योग्य है ।

वास्तविक बात तो ऐसी है कि किये हुए कर्म विना भोगे निवृत्त होते नहीं, और नहीं किये हुए किसी कर्मका फल मिलता नहीं । किसी किसी समय अकस्मात् किसीको वर अथवा शाप देनेसे जो शुभ अथवा अशुभ फल मिलता हुआ देखनेमें आता है, वह किसी नहीं किये हुए कर्मका फल नहीं है—वह भी किसी प्रकारसे किये हुए कर्मका ही फल है ।

एकेन्द्रियका एकाग्रतारीपना अपेक्षासे समझने योग्य है ।

३३७

बम्बई, आसोज सुदी १०, १९४८

ॐ

(१)

भगवती आदि सिद्धांतोंमें जो किन्हीं किन्हीं जीवोंके भगवतरका वर्णन किया है, उसमें कुछ शशय होने जैसी बात नहीं । तीर्थंकर तो भला पूर्ण आत्मस्वरूप हैं, परन्तु जो पुरुष केवल योग, ध्यान आदिके अभ्यासके तलसे रहते हों, उन पुरुषोंके भी बहुतसे पुरुष भगवतरको जो अभ्यास हैं, और ऐसा होना कुछ कल्पित बात नहीं है । जिस पुरुषको आत्माका निश्चयात्मक ज्ञान है, ^{जो अभ्यास} ~~जो अभ्यास~~ भगवतरका ज्ञान होना योग्य है—होता है । क्वचित् ज्ञानके तारतम्य-क्षयोपशम-भेदसे वैसा कर्मी

नहीं भी होता, परन्तु जिसकी आत्मामें पूर्ण शुद्धता रहती है, वह पुरुष तो निश्चयसे उस ज्ञानको जानता है—भगवत्को जानता है। आत्मा नित्य है, अनुभवरूप है, वस्तु है—इन सब प्रकारके अथतरूपसे दृढ़ होनेके लिये शास्त्रमें वे प्रसंग कहे गये हैं।

यदि किसीको भगवत्का स्पष्ट ज्ञान न होता हो तो यह यह कहनेके बराबर है कि किसीको आत्माका स्पष्ट ज्ञान भी नहीं होता, परन्तु ऐसा तो है नहीं। आत्माका स्पष्ट ज्ञान तो होता है, और भगवत् भी स्पष्ट माद्वम होता है। अपने तथा परके भगवत् जाननेके ज्ञानमें किसी भी प्रकारका मिस-वाद नहीं है।

तीर्थकरको भिक्षाके लिये जाते समय प्रत्येक स्थानपर सुवर्ण-वृष्टि इत्यादि हो ही हो—ऐसा शास्त्रके कहे-नेका अर्थ नहीं समझना चाहिये। अथवा शास्त्रमें कहे हुए वाक्योंका यदि उस प्रकारका अर्थ होता हो तो वह सापेक्ष ही है। यह वाक्य लोक-भाषाका ही समझना चाहिये। जैसे यदि किसीके घर किसी सज्जन पुरुषका आगमन हो तो वह कहता है कि 'आज अमृतका मेघ बरसा', जैसे उसका यह कहना सापेक्ष है—यथार्थ है, परन्तु वह शब्दके भावार्थसे ही यथार्थ है, शब्दके मूल अर्थमें यथार्थ नहीं है। इसी तरह तीर्थकर आदिकी भिक्षाके विषयमें भी है। फिर भी ऐसा ही मानना योग्य है कि 'आत्मस्वरूपमें पूर्ण ऐसे पुरुषके प्रभावाके बलसे यह होना अत्यन्त सम्भव है'। ऐसा कहनेका प्रयोजन नहीं है कि सर्वत्र ही ऐसा हुआ है, परन्तु कहनेका अभिप्राय यह है कि ऐसा होना सम्भव है—ऐसा होना योग्य है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप है, वहाँ सर्व-महत्-प्रभाव-योग आश्रितरूपसे रहता है, यह निश्चयात्मक बात है—निन्देत् अगीकार करने योग्य बात है। जहाँ पूर्ण आत्मस्वरूप रहता है वहाँ यदि सर्व-महत्-प्रभाव-योग न रहता हो तो फिर वह दूसरी कौनसी जगह रहे ? यह निश्चयसे योग्य है। उस प्रकारका दूसरा तो कोई स्थान होना सम्भव नहीं, तो फिर सर्व-महत्-प्रभाव-योगका अभाव ही होगा। परन्तु जब पूर्ण आत्मस्वरूपका प्राप्त होना भी अभावरूप नहीं है, तो फिर महत्-प्रभाव-योगका अभाव तो कहाँसे हो सकता है ? और यदि कदाचित् ऐसा कहा जाय कि आत्मस्वरूपकी पूर्ण प्राप्ति होना तो योग्य है, किन्तु महत्-प्रभाव-योगकी प्राप्ति होना योग्य नहीं, तो यह कहना एक विस्मयदायक पद करके सिनाय और कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह कहने-वाला शुद्ध आत्मस्वरूपके महत्त्वसे अत्यन्त हीन ऐसे प्रभाव-योगको महान् समझता है—अगीकार करता है, और यह ऐसा सूचित करता है कि वह वक्ता आत्मस्वरूपका जाननेवाला नहीं है।

उस आत्मस्वरूपसे कोई भी महान् नहीं है। जो प्रभाव-योग पूर्ण आत्मस्वरूपको भी प्राप्त न हो। इस प्रकारका इस सृष्टिमें कोई प्रभाव-योग उत्पन्न हुआ नहीं, वर्तमानमें है नहीं, और आगे उत्पन्न होगा नहीं परन्तु इस प्रभाव-योगमें आत्मस्वरूपको कोई प्रवृत्ति कर्त्तव्य नहीं है, यह बात तो अत्रय है, और यदि उसे उस प्रभाव-योगमें कोई कर्त्तव्य माद्वम होता है तो वह पुरुष आत्मस्वरूपके अत्यन्त अज्ञानमें ही रहता है, ऐसा मानते हैं। कहनेका अभिप्राय यह है कि आत्मरूप महाभाग्य तीर्थकरमें सब प्रकारका प्रभाव-योग होना योग्य है—होता है, परन्तु उसके एक अंशका भी प्रकट करना उन्हें योग्य नहीं। किसी ^{उद्देश्य} के पुण्यके प्रभावसे सुवर्ण-वृष्टि इत्यादि हो, ऐसा कहना असम्भव नहीं, और वह तीर्थकरपदको वाञ्छितकारक भी नहीं है। जो तीर्थकर हैं वे आत्मस्वरूपके सिनाय कोई अन्य प्रभाव आदि नहीं करते, और जो करते हैं वे आत्मरूप तीर्थकर कहे जाने योग्य नहीं, ऐसा मानते हैं, और ऐसा ही है।

जो जिनभगवान्‌के कहे हुए शास्त्र माने जाते हैं, उनमें कुछ बोलोंके विच्छिन्न हो जानेका कथन है, और उनमें केवलज्ञान आदि दस बोल मुख्य हैं, और उन दस बोलोंके विच्छिन्न हुए दिखानेका आशय यही बतानेका है कि इस कालमें 'सर्वाथा मुक्ति नहीं होती'। ये दस बोल जिमें प्राप्त हो गये हों, अथवा जिसे इनमेंका एक भी बोल प्राप्त हो गया हो तो उसे चरम-शरीरी जीव कहना योग्य है, ऐसा समझकर इस बातको निच्छेदरूप माना है। फिर भी एकातसे ऐसा ही कहना योग्य नहीं—ऐसा हमें मादम होता है, और ऐसा ही है। क्योंकि इन बोलोंमें क्षायिक समकितका भी निषेध है, और यह चरम-शरीरीके ही हो, ऐसा तो ठीक नहीं, अथवा ऐसा एकात भी नहीं है। महाभाग श्रेणिकके क्षायिक समकित होनेपर भी वे चरम-शरीरी नहीं थे, इस प्रकार उहीं जिनभगवान्‌के शास्त्रोंमें कथन है। तथा जिनकल्पी साधुके विहारका व्यग्रच्छेद कहना श्रेताम्बरोंका ही कथन है, दिगम्बरोंका कथन नहीं। 'सर्वाथा मोक्ष होना' इस कालमें सभ्य नहीं है, ऐसा दोर्नान्ता ही अभिप्राय है, और वह भी अत्यंत एकातरूपसे नहीं कहा जा सकता। हम मानते हैं कि इस कालमें चरम-शरीरीपना नहीं है, परन्तु यदि अशरीरी-भाररूपसे आत्म-स्थिति है, तो वह भाजनयसे चरम शरीरीपना ही नहीं किन्तु सिद्धपत्नी भी है। और वह अशरीरी-भाव इस कालमें नहीं है—यदि यहाँ ऐसा कहें तो यह यह कहनेके तुल्य है कि हम ही स्वयं मौजूद नहीं हैं। निरोप क्या कहें? यह सर्वाथा एकात नहीं है। कदाचित् यह एकात हो भी तो वह, जिसने आगमको कहा है, उसी आशयी संपुरूपद्वारा समझने योग्य है, और यही आत्मस्थितिका उपाय है।

(२)

पुनर्जन्म है—अवश्य है, इसके लिये मैं अनुभवसे 'हाँ' कहनेमें अचल हूँ।

(३)

परम प्रेमरूप भक्तिके बिना ज्ञान शून्य ही है। जो अटका है यह केवल योग्यताकी कमीके ही कारण अटका हुआ है।

ज्ञानीके पाससे ज्ञानकी इच्छा करनेकी अपेक्षा बोध-स्वरूप समझकर भक्तिकी इच्छा करना, यह परम फलदायक है। जिसपर ईश्वर कृपा करे उसे कलियुगमें उस पदार्थकी प्राप्ति हो। यह महाकठिन है।

३३८

बम्बई, आसोज वदी ६, १९४८

ॐ

(१) यहाँ आत्माकारता रहती है। आत्माके आत्म स्वरूपभासे परिणामके होनेको आत्माकारता कहते हैं।

(२) जो कुछ होता है उसे होने देना। न उदासीन होना। न अनुधमी होना। न परमात्मासे ही इच्छा करनी, और न व्याकुल होना। यदि अहंभाव रुकावट डालता हो तो जितना बने उसको रोकना, और ऐसा होनेपर भी यदि वह दूर न होता हो तो उसे ईश्वरके लिये अर्पण कर देना। परन्तु दीनता न आने देना। आगे क्या होगा, इसका विचार नहीं करना, और जो हो उसे करते रहना। अधिक उपेक्ष-बुन करनेका प्रयत्न नहीं करना। अल्प भी भय नहीं रखना। जो कुछ करनेका अभ्यास हो गया है उसे विस्मरण किये रहना—तो ही ईश्वर प्रसन्न होगा—तो ही परमभक्ति पानेका फल मिलेगा—तो ही हमारा ओर तुम्हारा सयोग हुआ योग्य है।

और उपाधिमें क्या होता है, यह आगे चलकर देख लेंगे। देख लेंगे—इसका अर्थ बहुत गभीर है। सर्वात्मा हरि समर्थ है। महत् पुरुषोंकी कृपासे निर्बल मति कम ही रहती है। यद्यपि आपके उपाधि-योगमें लक्ष रखा करता है, परन्तु जो कुछ सत्ता है वह सब सर्वात्माके ही हाथ है। और वह सत्ता निश्चयसे आकाक्षारहित ऐसे ज्ञानीको ही प्राप्त होती है। जबतक उस सर्वात्मा हरिकी इच्छा जैसे हो, वैसे ज्ञानीको भी चलना, यह आज्ञाकित धर्म है।

ऊपर जो उपाधिमेंसे अहंभावके छोड़नेके वचन लिखे हे, उनके ऊपर आप थोड़े समय विचार करें। आपकी उसीमें उस प्रकारकी दशा हो जाय ऐसी आपकी मनोवृत्ति है। फिरसे निवेदन है कि उपाधिमें जैसे वने तैसे नि शक रहकर उद्यम करना। आगे क्या होगा, यह विचार छोड़ देना।

३३९

वम्बई, आसोज वदी ८, १९४८

लोक-व्यापक अधिकारमें अपनेद्वारा प्रकाशित ज्ञानी पुरुष ही याथातथ्य देखते हैं। लोककी शब्द आदि कामनाओंके प्रति देखते हुए भी उदासीन रहकर जो केवल अपनेको ही स्पष्टरूपसे देखते हैं, ऐसे ज्ञानीको हम नमस्कार करते हैं, और इस समय इतना ही लिखकर ज्ञानसे स्फुरित आत्मभावको तटस्थ करते हैं।

३४०

वम्बई, आसोज १९४८

ॐ

(१) जो कुछ उपाधि की जाती है, वह कुछ निज-भावके कारण करनेमें नहीं आती—उस प्रकारसे नहीं की जाती। वह जिस कारणसे की जाती है, वह कारण अनुक्रमसे वेदन करने योग्य ऐसा प्रारब्ध कर्म है। जो कुछ उदयमें आये उसका अप्रतिपाद परिणामसे वेदन करना, इस प्रकार जो ज्ञानीका बोध है, वह हममें निश्चल रहता है—अर्थात् हम उसी प्रकारसे वेदन करते हैं। परन्तु इच्छा तो ऐसी रहती है कि अन्य कालमें ही—एक समयमें ही—यदि वह उदय असत्ताको प्राप्त होता हो तो हम इन सबमेंसे उठकर चले जाँय—आत्माने इतनी स्वतंत्रता रखा करती है। फिर भी निद्रा-काल, भोजन-काल तथा अमुक अवकाश-कालके सिवाय उपाधिका प्रसंग रखा करता है, और कुछ भिन्नरूप नहीं होता, तो भी किसी भी प्रसंगपर आत्मोपयोग अप्रधानभावका सेवन करते हुए देखा जाता है, और उस प्रसंगपर मृत्युके शोकसे भी अधिक शोक होता है, यह बात निस्सन्देह है।

ऐसा होनेके कारण, और जबतक गृहस्थ-प्रत्ययी प्रारब्ध उदयमें रहे, तबतक सर्वथा अया-चक भावके सेवन करनेमें चित्त रहनेमें ही ज्ञानी पुरुषोंका मार्ग रहता है, इस कारण इस उपाधिका सेवन करते हैं। यदि उस मार्गकी उपेक्षा करें तो भी हम ज्ञानीका विरोध नहीं करते, फिर भी उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती। यदि उसकी उपेक्षा करें तो गृहस्थ अवस्था भी वनयासरूपसे सेवन होने लग जाय, ऐसा तीव्र धैर्य रखा करता है।

सर्व प्रकारके कर्त्तव्यमें उदासीनरूप ऐसे हमसे यदि कुछ हो सकता हो तो एक यही हो सकता

है कि पूर्वोपरिचित कर्मका समता भावसे वेदन करना, और जो कुछ किया जाता है वह उसके आधारसे किया जाता है, ऐसी दशा रहती है ।

(२) हमें ऐसा हो आता है कि हम यद्यपि अप्रतिग्रहतासे रह सकते हैं तो भी हमें ससारके बाह्य प्रसङ्गकी, अंतर प्रसङ्गकी, और कुटुम्ब आदिके स्नेहके सेवन करनेकी इच्छा नहीं होती, तो फिर तुम जैसे मार्गच्छानको—जिसे प्रतिबद्धतारूप भयकर यमका साहचर्य रहता है—उसके दिन-रात सेवन करनेका अत्यन्त भय क्यों नहीं दृष्टता ?

ज्ञानी पुरुषसे सहमत होकर जो ससारका सेवन करता है, उसे तीर्थंकर अपने मार्गसे बाहर कहते हैं । कदाचित् जो ज्ञानी पुरुषसे सहमत होकर ससारका सेवन करते हैं, यदि वे सब तीर्थंकरके मार्गसे बाहर ही कहे जाने योग्य हों, तो फिर श्रेणिक आदिको मिथ्यात्वका होना सम्भव होता है, और तीर्थंकरके वचनमें विसाद आता है । यदि तीर्थंकरका वचन विसादयुक्त हो तो उन्हें फिर तीर्थंकर कहना ही योग्य नहीं ।

तीर्थंकरके कहनेका आशय यह है कि जो ज्ञानी पुरुषसे सहमत होकर आत्मभावसे, स्वच्छद-तासे, कामनासे, अनुरागसे, ज्ञानीके उचनकी उपेक्षा करके, अनुपयोग परिणामी होकर ससारका सेवन करता है, वह पुरुष तीर्थंकरके मार्गसे बाहर है ।

३४१

वम्बई, असाज १९४८

हम किसी भी प्रकारके अपने आत्मिक-बन्धनके कारण ससारमें नहीं रह रहे हैं । जो स्त्री है उससे पूर्वमें ग्रंथे हुए भोग और कर्मको निवृत्त करना है, और जो कुटुम्ब है उसका पूर्वमें लिया हुआ कर्ज वापिस देकर निवृत्त होनेके लिये उसमें रह रहे है । तनके लिये, धनके लिये, भोगके लिये, सुखके लिये, स्वार्थके लिये अथवा अन्य किसी तरहके आत्मिक-बन्धनके कारण हम ससारमें नहीं रह रहे है । जिस जीवको मोक्ष निकटतासे न रहता हो, वह जीव ऐसे अतरंग भेदको कैसे समझ सकता है ?

किसी दुःखके भयसे हमने ससारमें रहना स्वीकार किया है, यह बात भी नहीं है । मान-अपमानका तो जो कुछ भेद है वह सब निवृत्त ही हो गया है ।

३४२

वम्बई, असाज १९४८

(१)

(१) जिस प्रकारसे यहाँ कहा गया था, यहाँ उससे भी सुगमरूपसे ध्यानका स्वरूप लिखा है ।

१ किसी निर्मल पदार्थमें दृष्टिके स्थापित करनेका अभ्यास करके प्रथम उसे चञ्चलतारहित स्थितिमें लाना ।

२ इस तरह कुछ स्थिरता प्राप्त हो जानेके बाद दाहिनी आँखमें सूर्य और बाँईमें चन्द्र स्थित है, इस प्रकारकी भावना करना ।

३ इस भावनाको तत्रतः सुदृढ बनाना, जबतक कि यह भावना उस पदार्थके आकार-दर्शनको उत्पन्न न कर दे ।

वीतराग पुरुषका मूलमार्ग, आप श्रीमद्ने अनत कृपा करके मुझे प्रदान किया। इस अनत उपकारके प्रत्युपकारका बदला चुकानेके लिये मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। फिर आप श्रीमत् कुछ भी लेनेके लिये सर्वथा निस्पृह हैं, इससे मैं मन, वचन और कायाकी एकाग्रतासे आपके चरणारविन्दमें नमस्कार करता हूँ। आपकी परमभक्ति और वीतराग पुरुषके मूल धर्मकी उपासना मेरे हृदयमें भगवत्पर्यंत अखंडरूपसे जागृत रहा करे, इतना ही चाहता हूँ, यह सफल होओ ! ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

३४४

विक्रम संवत् १९४८

भववासी मूढदशा.

(१) रविके उदोत अस्त होत दिन दिन प्रति,
अजुलीकै जीवन ज्यों जीवन घटतु है;
कालके ग्रसत छिन छिन होत छीन तन,
आरेकै चलत मानो काठसौ कटतु है;
एते परि मूरख न खोजै परमारथकौ,
स्वारथकै हेतु भ्रम भारत ठटतु है;
लगौ फिरै लोगनिसौ पग्यौ परै जोगनिसौ,
विपरस भोगनिसौ नेकु न हटतु है ॥ १ ॥

(२) जैसे मृग मत्त वृषादित्यकी तपत मांही,
तृषावत मृषाजल कारन अटतु है;
तैसें भववासी मायाहीसौ हित मानि मानि,
ठानि ठानि भ्रम श्रम नाटक नटतु है;
आगैको धुकत धाइ पीछे बछरा चवाइ;
जैसे नैन हीन नर जेवरी घटतु है,
तैसें मूढ चेतन सुकृत करतूति करै,
रोवत हँसत फल खोवत खटतु है ॥ २ ॥

(समयसार—नाटक)

३४५

वम्बई, १९४८

ससारमें ऐसा क्या सुख है कि जिसके प्रतिग्रहमें जीव रहनेकी इच्छा करता है ?

३४६

वम्बई, १९४८

किं बहुणा इह जह जह, रागद्वोसा लहुं विलिज्जति,
तह तह पयट्टिअच्च, एसा आणा जिणिदाणम् ।

कितना कहें, जिस जिस तरह इस राग-दोषका विशेषरूपसे नाश हो उस उस तरह आचरण करना, यही जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा है।

३४७

बम्बई, आसोज १९४८

(१)

जिस पदार्थमेंसे नित्य ही विशेष व्यय होता हो और आय कम हो, तो वह पदार्थ क्रमसे अपने-पनका त्याग कर देता है, अर्थात् नाश हो जाता है—ऐसा विचार रखकर ही इस व्ययसायका प्रसंग रखना चाहिये।

पूर्वमें उपर्जित किया हुआ जो कुछ प्रारब्ध है, उसके वेदन करनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है, और योग्य भी इसी रीतिसे है, ऐसा समझकर जिस जिस प्रकारसे जो कुछ प्रारब्ध उदयमें आता है, उसे सम परिणामसे वेदन करना ही योग्य है, और इसी कारणसे यह व्ययसाय प्रसंग योग्य है।

चित्तमें किसी रीतिसे उस व्ययसायका कर्त्तव्य नहीं माद्रम होनेपर भी, वह व्ययसाय केवल खेदका ही हेतु है, इस प्रकार परमार्थका निश्चय होनेपर भी, प्रारब्धरूप होनेसे सत्संग आदि योगका अप्रधानभाजसे वेदन करना पड़ता है। उसका वेदन करनेमें इच्छा-अनिच्छा कुछ भी नहीं है, परन्तु आत्माको इस निष्फल प्रवृत्तिके सब्धको देखकर खेद होता है, और इस विषयमें बारम्बार विचार रहा करता है।

(२)

इन्द्रियके विषयरूपी क्षेत्रकी जमीनके जीतनेमें तो आत्मा असमर्थता बताती है, और समस्त पृथ्वीके जीत लेनेमें समर्थताका विचार करती है, यह कैसा आश्चर्यकारक है ?

प्रवृत्तिके कारण आत्मा निवृत्तिका विचार नहीं कर सकती, ऐसा कहना केवल एक वहाना मात्र है। यदि थोड़े समयके लिये भी प्रवृत्ति छोड़कर आत्मा प्रमादरहित होकर हमेशा निवृत्तिका ही विचार किया करे, तो उसका नल प्रवृत्तिमें भी अपना कार्य कर सकता है। क्योंकि हरेक वस्तुका अपने काम-ज्यादा बलके अनुसार ही अपना अपना कार्य करनेका स्वभाव है। जिस तरह मादक पदार्थ दूसरी खुराकके साथ मिळनेसे अपने असली स्वभावके परिणामन करनेको नहीं भूल जाता, उसी तरह ज्ञान भी अपने स्वभावको नहीं भूलता। इसलिये हरेक जीवको प्रमाद रहित होकर, योग्य कालमें निवृत्तिके मार्गका ही निरन्तर विचार करना चाहिये।

(३)

व्रतके संयधमें

यदि किसी जीवको व्रत लेना हो तो स्पष्टभाजसे दूसरेकी साक्षीसे ही लेना चाहिये, उसमें फिर स्वेच्छासे प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। व्रतमें रह सकनेवाली यदि कोई छूट रक्ती हो और किसी कारणविशेषसे यदि उस वस्तुका उपयोग करना पड़ जाय तो वैसा करनेके स्वयं अधिकारी न बनना चाहिये। ज्ञानीकी आज्ञाके अनुसार ही आचरण करना चाहिये, नहीं तो उसमें शिथिलता आ जाती है, और व्रतका भंग हो जाता है।

अपनी बुद्धिकी कल्पनासे अध्यात्मके प्रर्थोंको पढ़कर कथनमात्र अध्यात्म पाकर मोक्ष-मार्गकी कल्पना की है। ऐसे कल्पना कर लेनेसे जीवको सत्समागम आदि हेतुमें उस मान्यताका आप्रह वाधा उपस्थित करके परमार्थकी प्राप्तिमें स्तम्भरूप होता है।

जो जीव शुष्क-क्रियाकी प्रधानतामें ही मोक्ष-मार्गकी कल्पना करते हैं, उन जीवोंको तथा रूप उपदेशका आधार भी रहा करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, इस तरह चार तरहसे मोक्ष-मार्गके कहे जानेपर भी पहिलेके दो पद तो उनके विस्मृततुल्य ही होते हैं, और चारित्र शब्दका अर्थ वेप तथा केवल वाह्य-विरतिमें ही समझे हुएके समान होता है। तथा तप शब्दका अर्थ केवल उपवास आदि व्रतका करना भी केवल वाह्य-सज्ञामें ही समझे हुएके समान रहता है। तथा यदि कभी ज्ञान-दर्शन पद कहने भी पड़ जाय तो वहाँ लौकिक-कथनके समान भागोंके कथनको ज्ञान, और उसकी प्रतीति अथवा उस कहनेवालेकी प्रतीतिमें ही दर्शन शब्दका अर्थ समझे हुएके समान रहता है।

जो जीव वाह्य-क्रिया (दान आदि) और शुद्ध व्यवहार-क्रियाके उत्पादन करनेको ही मोक्ष-मार्ग समझते हैं, वे जीव शास्त्रोंके किसी एक वचनको नासमझीसे ही ग्रहण करके ममझते हैं। यदि दान आदि क्रिया किसी अहकार आदिसे, निदान बुद्धिसे, अथवा जहाँ उस प्रकारकी क्रिया सभन न हो ऐसे छोड़े गुणस्थान आदि स्थानमें की जाय, तो वह सत्कारका ही हेतु है, ऐसा शास्त्रोंका मूल आशय है। परन्तु दान आदि क्रियाओंके मूलसे ही उत्पादन कर डालनेका शास्त्रोंका अभिप्राय नहीं है, इमे जीव केवल अपनी मतिकी कल्पनासे ही निषेध करता है। तथा व्यवहार दो प्रकारका है—एक परमार्थहेतुमूल व्यवहार और दूसरा व्यवहाररूप व्यवहार। पूर्वमें इस जीवके अनर्तोगार आत्मार्थ करनेपर भी आत्मार्थ नहीं हुआ, ऐसे शास्त्रोंमें वाक्य हैं। उन वाक्योंको पढ़कर जीव अपने आपको व्यवहारका विलकुल ही उत्पादन करनेवाला समझा हुआ मान लेता है, परन्तु शास्त्रकारने तो ऐसा कुछ भी नहीं कहा। जो व्यवहार परमार्थहेतुमूल व्यवहार नहीं, और केवल व्यवहारहेतु व्यवहार है, शास्त्रकारने उसीके दुराग्रहका निषेध किया है। जिस व्यवहारका फल चतुर्गति होता है, वह व्यवहार व्यवहार-हेतु कहा जा सकता है, अथवा जिस व्यवहारसे आत्माकी विमान दशा दूर होने योग्य न हो, उस व्यवहारको व्यवहारहेतु व्यवहार कहा जा सकता है, इसका शास्त्रकारने निषेध किया है, और वह भी एकातसे नहीं किया। केवल दुराग्रहसे अथवा उसीमें मोक्ष-मार्ग माननेवालेको उसे सच्चे व्यवहारके ऊपर लानेके लिये इसका निषेध किया है। और परमार्थहेतुमूल व्यवहार—शम, सनेग, निर्वेद, अनुकपा, आस्था, अथवा सद्गुरु, सदाश्रम और मन वचन आदि समिति, तथा गुप्ति—का निषेध नहीं किया। और यदि उसका निषेध करने योग्य होता तो फिर शास्त्रोंका उपदेश करके वाकी क्या समझाने जैसा रह जाता था, अथवा फिर किन साधनोंको करानेका उपदेश करना वाकी रह जाता था, जिससे शास्त्रोंका उपदेश किया ? अर्थात् उस प्रकारके व्यवहारसे परमार्थ प्राप्त किया जाता है, और जीवको उस प्रकारका व्यवहार अग्र्य ही ग्रहण करना चाहिये, जिससे वह परमार्थ प्राप्त करे, ऐसा शास्त्रोंका आशय है। शुष्क-अध्यात्म अथवा उसके समागमी इस आशयके समझे विना ही उस व्यवहारका उत्पादन करके अपने और दूसरेको बोधि-दुर्लभता करते हैं।

शम, सपेग आदि गुणोंके उत्पन्न होनेपर अथवा वैराग्यविशेष, निष्पक्षता होनेपर, कपाय आदिके कृश होनेपर अथवा किसी भी प्रज्ञाविशेषसे समझनेकी योग्यता होनेपर, जो सद्वृत्तके पाससे समझने योग्य अध्यात्म प्रर्थोंको—जो वहाँतक प्राय करके शक्य जैसे है—अपनी कल्पनासे जैसे तेसे पदकर निश्चय करके, उस प्रकारके अतर्भेदके उत्पन्न हुए बिना ही अथवा दशाके बदले बिना ही, विभाजके दूर हुए बिना ही, अपने आपमें ज्ञानकी कल्पना कर लेता है, तथा क्रिया और शुद्ध व्यवहाररहित होकर प्रवृत्ति करता है—यह शुष्क-अध्यात्मीका तीसरा भेद है। जीवको जगह जगह इस प्रकारका संयोग मिलता आया है, अथवा ज्ञानरहित गुरु या परिग्रह आदिके इच्छुक गुरु, केवल अपने मान पूजा आदिकी कामनासे फिरनेवाले जीवोंको, अनेक प्रकारसे कुमार्गपर चढ़ा देते हैं, और प्राय करके कोई ही ऐसी जगह होती है, जहाँ ऐसा नहीं होता। इससे ऐसा माझ्न होता है कि कालकी दुःपमता है।

यह जो दुःपमता लिखी है वह कुछ जीवको पुरुषार्थरहित करनेके लिये नहीं लिखी, परन्तु पुरुषार्थकी जागृतिके लिये ही लिखी है।

अनुकूल संयोगमें तो जीवको कुछ कम जागृति हो तो भी कदाचित् हानि न हो, परन्तु जहाँ इस प्रकारका प्रतिकूल योग रहता हो वहाँ मुमुक्षुको अन्वेष ही अधिक जागृत रहना चाहिये, जिससे तथारूप पराभय न हो, और वह उस प्रकारके किसी प्रवाहमें प्रवाहित न हो जाय।

यद्यपि वर्तमान कालको दुःपम काल कहा है, फिर भी यह ऐसा भी है कि इसमें अनत भयको छेदकर केवल एक भय बाकी रखनेवाला एकाग्रतारीपना भी प्राप्त हो सकता है। इसलिये विचारानान जीवको इस लक्ष्यको रक्क, ऊपर कहे हुए प्रवाहोंमें न पड़ते हुए, यथाशक्ति वैराग्य आदिका अन्वेष ही आराधन करके, सद्वृत्तका योग प्राप्त करके, कपाय आदि दोषको नष्ट करनेवाले ओर अज्ञानसे रहित होनेके सत्य मार्गको प्राप्त करना चाहिये। मुमुक्षु जीवमें जो शम आदि गुण कहे हैं, वे गुण अन्वेष संभव होते हैं, अथवा उन गुणोंके बिना मुमुक्षुता ही नहीं कही जा सकती।

नित्य ही उस प्रकारका परिचय रखते हुए, उस उस बातको श्रवण करते हुए, निचारते हुए, फिर फिरसे पुरुषार्थ करने हुए वह मुमुक्षुता उत्पन्न होती है। उस मुमुक्षुताके उत्पन्न होनेपर जीवको परमार्थ-मार्ग अवश्य समझमें आता है।

३४९

बम्बई, मार्तिक वदी ९, १९४९

प्रमादके कम होनेका उपयोग, इस जीवको मार्गके विचारमें स्थिति कराता है, और निचार-मार्गमें स्थिति कराता है। इस बातको फिर फिरसे निचार करके उस प्रयत्नको वहाँ किसी भी तरह दूर करना योग्य है। यह बात भूलने योग्य नहीं है।

३५०

बम्बई, मार्तिक वदी १२ बुध १९४९

“पुनर्जन्म है—अन्वेष है, इसके लिये मैं अनुभवसे हों कहनेमें अच्छे हूँ,” यह वाक्य पूर्वभक्तके किसी संयोगके स्मरण होते समय सिद्ध होनेसे लिखा है। जिसको पुनर्जन्म आदि स्वरूप किया है उस पदार्थको किसी प्रकारसे जानकर ही यह वाक्य लिखा गया है।

३५१

बम्बई, मगमिर वदी ९ सोम. १९४९

(१) उपात्रिके सहन करनेके लिये जितनी चाहिये उतनी कठिनाई भेरेमें नहीं है, इसलिये उपाधिसे अत्यंत निवृत्ति पानेकी इच्छा रहा करती है, फिर भी उदयरूप जानकर वह यथाशक्ति सहन होती है ।

परमार्थका दु ख मिटनेपर भी सत्सारका प्रासंगिक दु ख तो रहा ही करता है, और वह दु ख अपनी इच्छा आदिके कारण नहीं, परन्तु दूसरेकी अनुरूपता तथा उपकार आदिके कारण ही रहता है, और उस पिडननामें चित्त कभी कभी विशेष उद्वेगको प्राप्त हो जाता है ।

इतने लेखके ऊपरसे वह उद्वेग स्पष्ट समझमें नहीं आ सकता, कुछ अशमें तुम्हें समझमें आयेगा । इस उद्वेगके सिवाय हमें दूसरा कोई भी सत्सारके प्रसंगका दु ख नहीं माझ्म होता । जितने प्रकारके सत्सारके पदार्थ हैं, यदि उन सभमें निस्पृहता हो और उद्वेग रहता हो, तो वह अयकी अनुरूपता अथवा उपकार अथवा इसी प्रकारके किसी कारणसे रहता है, ऐसा मुझे निश्चयरूपसे माझ्म होता है ।

इस उद्वेगके कारण कभी तो आँखोंमें आँसु आ जाते हैं, और उन सभ कारणोंके प्रति प्रवृत्ति करनेका मार्ग अमुक अशमें परतत्र ही दिखाई देता है, इसलिये समान उदासीनता आ जाती है ।

ज्ञानीके मार्गका विचार करनेपर माझ्म होता है कि यह देह किसी भी प्रकारसे मूर्च्छा करनेके योग्य नहीं है, उसके दु खसे इस आत्माको शोक करना योग्य नहीं । आत्माको आत्म-अज्ञानसे शोक करनेके सिवाय उसे दूसरा कोई शोक करना योग्य नहीं है । प्रगट्स्वरूपसे यमकी समीपमें देखनेपर भी जिसकी देहमें मूर्च्छा नहीं आती, उस पुरुषको नमस्कार है । इसी बातका चिंतन रखना, यह हमें तुम्हें और सभको योग्य है ।

देह आत्मा नहीं है । आत्मा देह नहीं है । जैसे घड़ेको देखनेवाला घड़ेसे भिन्न है, इसी तरह देहको देखनेवाली, जाननेवाली आत्मा देहसे भिन्न है, अर्थात् वह देह नहीं है ।

विचार करनेसे यह बात प्रगट् अनुभवसे सिद्ध होती है, तो फिर इससे भिन्न देहके स्वाभाविक क्षय वृद्धिरूप आदि परिणामको देखकर हर्ष-शोक युक्त होना किसी भी प्रकारसे योग्य नहीं है, और तुम्हें और हमें उसका निर्धारण करना—रखना—योग्य है, और यही ज्ञानीके मार्गकी मुख्य ध्वनि है ।

(२) व्यापारमें यदि कोई यात्रिक व्यापार सूझ पड़े तो आजकल कुछ लाभ होना संभव है ।

३५२

बम्बई, मगसिर वदी १३ शनि. १९४९

भाजसार खुशालरायजीने मदवाइमें केवल पाँच मिनिटके भीतर देहको त्याग दिया है । सत्सारमें उदासीन रहनेके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

३५३

बम्बई, माघ सुदी ९ गुरु १९४९

तुम सभ मुमुक्षुओंके प्रति नम्रतासे यथायोग्य पहुँचें । हम निरन्तर ज्ञानी पुरुषकी सेनाकी इच्छा

करते हैं, परन्तु इस दुःख पम कालमें तो उसकी प्राप्ति परम दुःख देखते हैं, और इससे ज्ञानी पुरुषके आश्रयमें जिसकी बुद्धि स्थिर है, ऐसे मुमुक्षुजनमें सत्सङ्गपूर्वक भक्तिभावसे रहनेकी प्राप्तिको महाभाग्य-रूप मानते हैं, फिर भी कालमें तो उससे विपर्यय ही प्रारम्भोदय रहता है। हमारा सत्सङ्गका लक्ष आमामें हाँ रहता है, फिर भी उदयाधीन स्थिति है, और वह ह्यलम् इम प्रकारके परिणामसे रहती है कि तुम मुमुक्षुजनोंके पत्रकी पढ़ूँचमान भी पिछसे दी जाती है। परन्तु किसी भी स्थितिमें हमारे अपराध-योग्य परिणाम नहीं हैं।

३५४

बम्बई, माघ वदी ७ बुध १९४९

यदि कोई मनुष्य हमारे विषयमें कुछ कहे तो उसे जहाँतक उने गभीर मनसे सुन रखना, इतना ही मुख्य कार्य है। यह बात ठीक है या नहीं, यह जाननेके पहिले कोई हर्ष-विवाद जैसा नहीं होता।

मेरी चित्त-वृत्तिके विषयमें जो कभी कभी लिखा जाता है, उसका अर्थ परमार्थके ऊपर लेना चाहिये, और इस लिखनेका अर्थ व्यवहारमें कुछ मिथ्या परिणामनाला दिखाना योग्य नहीं है।

पड़े हुए सस्कारोंका मिटना दुर्लभ होता है। कुछ कन्याणका कार्य हो अथवा चिंतन हो, यही सामनका मुख्य कारण है, वाञ्छी ऐसा कोई भी विषय नहीं कि जिसके पीछे उपाधि तापसे दीन-तापूर्वक तपना योग्य हो, अथवा इस प्रकारका कोई भय रखना योग्य नहीं कि जो अपनेको केवल लोक सङ्घसे ही रहता हो।

३५५

बम्बई, माघ वदी ११ रवि १९४९

ॐ

यहाँ प्रवृत्ति-उदयसे समाधि है।

प्रभावके विषयमें जो आपके विचार रहते हैं वे करुणाभावके कारण रहा करते हैं, ऐसा हम मानते हैं। कोई भी जीव परमार्थके प्रति केवल एक अंशसे भी प्राप्त होनेके कारणको प्राप्त हो, ऐसा निष्कारण करुणाशील रूपमद्रेय आदि तीर्थकरोंने भी किया है। क्योंकि सत्पुरुषोंके सम्प्रदायकी ऐसी ही सनातन करुणास्थिति होती है कि समयमात्रके अनन्तकाशसे समस्त लोक आत्मानस्थाके प्रति समुख हो, अन्तस्वरूपके प्रति समुख हो, आत्मसमाधिके प्रति समुख हो, और अन्य अन्तस्थाके प्रति समुख न हो, अन्य स्वरूपके प्रति समुख न हो, अन्य आधिके प्रति समुख न हो, जिस ज्ञानसे स्वात्मस्थ परिणाम होता है, वह ज्ञान सब जीवोंको प्रगट हो, अनन्तकाशरूपसे सब जीव उस ज्ञानके प्रति रचिसम्पन्न हो—इसी प्रकारका जिसका करुणाशील स्वभाव है, वह सनातन पुरषोंका सम्प्रदाय है।

आपके अतः कारणमें इसी प्रकारकी करुणा वृत्तिस प्रभावके विषयमें बारम्बार विचार आया करता है। और आपके विचारका एक अंश भी फल प्राप्त हो, अथवा उस फलके प्राप्त होनेका एक अंशमात्र भी कारण उत्पन्न हो, तो इस पंचम कालमें तीर्थकरका मार्ग बहुत अंशसे प्रगट होनेके बराबर है, परन्तु

ऐसा होना सभ्य नहीं, और यह इस मार्गसे होना योग्य नहीं, ऐसा हमें लगता है। जिससे यह सभ्य होना योग्य है, अथवा इसका जो मार्ग है, वह हालमें तो प्रवृत्तिके उदयमें है, और जन्तक वह कारण उनके लक्षमें न आ जाय, तबतक कोई दूसरा उपाय प्रतिग्रहरूप ही है—निःसशय प्रतिवधरूप ही है। जीन यदि अज्ञान-परिणामी हो तो जिस तरह उस अज्ञानको नियमितरूपसे आराधन करनेसे कल्याण नहीं है, उसी तरह मोहरूप मार्ग अथवा इस प्रकारका जो इस लोकसन्धी मार्ग है, वह मात्र ससार ही है। उसे फिर चाहे जिस आकारमें रखो तो भी वह ससार ही है। उस ससार-परिणामसे रहित करनेके लिये जन्म अससारगत वाणीका अस्वच्छद परिणामसे आधार प्राप्त होता है, उस समय उस ससारका आकार निराकारताको प्राप्त होता जाता है। वे अपनी दृष्टिके अनुसार दूसरा प्रतिग्रह क्रिया करते हैं, तथा अपनी उस दृष्टिसे यदि वे ज्ञानीके वचनकी भी आराधना करें तो कल्याण होना योग्य मादम नहीं होता।

इसलिये तुम उन्हें ऐसा लिखो कि यदि तुम किसी कल्याणके कारणके नजदीक होनेके उपायकी इच्छा करते हो, तो उसके प्रतिग्रहका कम होनेका उपाय करो, और नहीं तो कल्याणकी तृष्णाका त्याग करो। शायद तुम ऐसा समझते हो कि जैसे तुम स्वयं आचरण करते हो तैसे ही कल्याण है, मात्र जो अन्यत्रथा हो गई है, वही एक अकल्याण है। परन्तु यदि ऐसा समझते हो तो वह यथार्थ नहीं है। वास्तवमें जो तुम्हारा आचरण है, उससे कल्याण भिन्न है, और वह तो जन्म जन्म जिस जिस जीनको उस उस प्रकारका भ्रमस्थिति आदि योग समीपमें हो, तब तब उसे वह प्राप्त होने योग्य है। समस्त समूहमें ही कल्याण मान लेना योग्य नहीं है, और यदि ऐसे कल्याण होता हो तो उसका फल ससारार्थ ही है, क्योंकि पूर्वमें इसीसे जीन ससारी रहता आया है, इसलिये वह विचार तो जब जिसे आना होगा तब आयेगा। हालमें तुम अपनी रुचिके अनुसार अथवा जो तुम्हें भास होता है, उसे कल्याण मानकर प्रवृत्ति करते हो, इस विषयमें सहज ही, किसी प्रकारकी मानकी इच्छाके विना ही, स्वार्थकी इच्छाके विना ही, तुम्हें श्रेष्ठ उत्पन्न करनेकी इच्छाके विना ही, मुझे जो कुछ चित्तमें लगता है, उसे कह देता हूँ।

जिस मार्गसे कल्याण होता है उस मार्गके दो मुख्य कारण देखनेमें आते हैं। एक तो यह कि जिस सम्प्रदायमें आत्मार्थके लिये ही सम्पूर्ण असगतायुक्त क्रियायें हों—दूसरे किसी भी प्रयोजनकी इच्छासे न हों, और निरन्तर ही ज्ञान-दशाके ऊपर जीनोंका चित्त रहता हो, उसमें अग्र्य ही कल्याणके उत्पन्न होनेका योग मानते हैं। यदि ऐसा न हो तो योगका मिथना सभव नहीं है। यहाँ तो लोक-संज्ञासे, ओष-संज्ञासे, मानके लिये, पूजाके लिये, पदके महत्त्वके लिये, श्रान्तक आदिके अपनेपनके लिये, अथवा इसी तरहके किसी दूसरे कारणोंसे जप, तप आदि व्याख्यान आदिके करनेकी प्रवृत्ति चल पड़ी है, परन्तु वह किसी भी तरह आत्मार्थके लिये नहीं है—आत्मार्थके प्रतिवधरूप ही है। इसलिये यदि तुम कुछ इच्छा करते हो तो उसका उपाय करनेके लिये जो दूसरा कारण कहते हैं, उसके असगतासे साध्य होनेपर किसी समय भी कल्याण होना सभव है।

असगता अर्थात् आत्मार्थके सिवाय सग-प्रसगमें नहीं पड़ना—शिष्य आदि बनानेके कारण ससारके साधियोंके सगमें बातचीत करनेका प्रसग नहीं रखना, शिष्य आदि बनानेके लिये गृहवासी

वेपत्रालेको साथमें नहीं घुमाना। 'दीक्षा ले ले तो तेरा कल्याण होगा', इस प्रकारके वाक्य तीर्थकरदेव भी नहीं कहते थे। उसका हेतु एक यह भी था कि ऐसा कहना भी—उसका दीक्षा लेनेका विचार होनेके पहिले ही उसको दीक्षा देना—कल्याणकारक नहीं है। जिसमें तीर्थकरदेवने भी इस प्रकारके विचारसे प्रवृत्ति की है, उसमें हम छह छह मास दीक्षा लेनेका उपदेश जारी रखकर उसे शिष्य बनाते हैं, यह केवल शिष्यके लिये ही है, आत्मार्थके लिये नहीं। इसी तरह यदि पुस्तकको ज्ञानकी आराधनाके लिये, सत्र प्रकारके अपने मन्त्रभावसे रहित होकर रक्खा जाय तो ही आत्मार्थ है, नहीं तो वह भी एक महान् प्रतिग्रह है, यह भी विचारने योग्य है।

यह क्षेत्र अपना है, और उम क्षेत्रकी रक्षाके लिये चातुर्मासमें वहाँ रहनेके लिये जो विचार किया जाता है, वह क्षेत्र-प्रतिग्रह है। तीर्थकरदेव तो ऐसा कहते हैं कि द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भागसे—इन चार प्रतिग्रहोंसे यदि आत्मार्थ होता हो, अथवा निर्ग्रह हुआ जाता हो, तो वह तीर्थकरके मार्गमें नहीं है, परन्तु सप्ताहके ही मार्गमें है।

३५६

बम्बई, फाल्गुन सुदी ७ गुरु १९४९

आत्माको विभासे अन्तर्काशयुक्त करनेके लिये और स्वभासे अनवकाशरूपसे रहनेके लिये यदि कोई भी मुख्य उपाय हो तो वह आत्माराम जैसे ज्ञानी पुरुषका निष्काम बुद्धिसे भक्ति-योगरूप सग ही है। उसे सफल बनानेके लिये निवृत्ति-क्षेत्रमें उस प्रकारका संयोग मिलना, यह किसी महार् पुण्यका योग है, और उस प्रकारका पुण्य-योग प्रायः इस जगत्में अनेक अतरायोंसे युक्त दिखाई देता है। इसलिये हम समीपमें ही हैं ऐसा तारम्बार याद करके जिसमें इस सप्ताहकी उदासीनता कही हो, उसे हालमें बाँचो और उसका विचार करो। आत्मा केवल आत्मरूपसे ही रहे ऐसा चिंतन रखना, यही लक्ष्य है और शास्त्रका परमार्थरूप है।

इस आत्माको पूर्वम अनन्तकाल व्यतीत करनेपर भी नहीं जाना, इसपरसे ऐसा भाव्य होता है कि उसके जाननेका कार्य सबसे कठिन है, अथवा जाननेका तथारूप योग मिलना परम दुर्लभ है। जीव अनन्तकालसे ऐसा ही समझ करता है कि मैं अमुकको जानता हूँ, अमुकको नहीं जानता, परन्तु ऐसा नहीं है। ऐसा होनेपर भी जिस रूपसे वह स्वयं है उस रूपका तो निरन्तर ही विस्मरण चला आता है—यह अधिकाधिक प्रकारसे विचार करने योग्य है, और उसका उपाय भी बहुत प्रकारसे विचार करने योग्य है।

३५७

बम्बई, फाल्गुन सुदी १४, १९४९

(१)

जिस कालमें परमार्थ-धर्मकी प्रासिके कारण, प्राप्त होनेमें अल्पत दुःख पम हों, उस कालको तार्थकरदेवने दुःख काल कहा है, और इस कालमें यह बात स्पष्ट दिखाई देती है। सुगमसे सुगम ऐसा जो कल्याणका उपाय है, वह भी जीवको इस कालमें प्राप्त होना अत्यंत ही कठिन है। मुमुक्षुता, सरलता,

निवृत्ति, सत्सग आदि साधनोंको इस कालमें परम दुर्लभ जानकर, पूर्वके पुरुषोंने इस कालको ' दुःख
अनसर्पिणी ' काल कहा है, और यह बात स्पष्ट भी है । प्रथमके तीन साधनोंका संयोग तो कहीं भी
दूसरे किसी कालमें प्राप्त हो जाना सुगम था, परन्तु सत्सग तो सभी कालमें दुर्लभ ही मान्य होता है,
तो फिर इस कालमें तो वह सत्सग कहाँसे सुलभ हो सकता है ? प्रथमके तीन साधनोंको भी किसी रीतिसे
जीव इस कालमें पा जाय, तो भी धन्य है । कालसत्र की तीर्थकरकी वाणीको संय करनेके लिये हमें इस
प्रकारका उदय रहता है, और वह समाधिरूपसे सहन करने योग्य है ।

आत्मस्वरूप

(२)

वम्बई, फाल्गुन वदी १४, १९४९

इसके साथ मणिरत्नमाला तथा योगकल्पद्रुम पढ़नेके लिये भेजे हैं । जो कुछ धोये हुए कर्म
हैं, उनको भोगे बिना कोई उपाय नहीं है । चित्तारहित परिणामसे जो कुछ उदयमें आये, उसे सहन
करना, इस प्रकारका श्रीतीर्थकर आदि ज्ञानियोंका उपदेश है ।

३५८

वम्बई, चैत्र सुदी १, १९४९

ॐ

(१)

समता रमता उरधता, ज्ञायकृता सुखभासः

वेदकता चैतन्यता, ए स न जीवविलास ।

जिस तीर्थकरदेवने स्वरूपस्थ आत्मस्वरूप होकर, वक्तव्यरूपसे—जिस प्रकारसे वह आत्मा कही
जा सकती है उस प्रकारसे—उसे अत्यंत यथायोग्य कहा है, उस तीर्थकरको दूसरी सत्र प्रकारकी
अपेक्षाओंका त्याग करके हम नमस्कार करते हैं ।

पूर्वमें बहुतसे शास्त्रोंका विचार करनेसे, उस विचारके फलमें सत्पुरुषमें जिसके वचनसे भक्ति
उत्पन्न हुई है, उस तीर्थकरके वचनको हम नमस्कार करते हैं ।

बहुत प्रकारसे जीवका विचार करनेसे, वह जीव आत्मरूप पुरुषके बिना जाना जाय, यह सभय
नहीं, इस प्रकारकी निश्चल श्रद्धा उत्पन्न करके उस तीर्थकरके मार्ग-बोधको हम नमस्कार करते हैं ।

भिन्न भिन्न प्रकारसे उस जीवका विचार करनेके लिये—उस जीवके प्राप्त होनेके लिये—योग
आदि अनेक साधनोंके प्रयत्न परिश्रम करनेपर भी जिसकी प्राप्ति न हुई, ऐसा वह जीव, जिसके द्वारा सहज
ही प्राप्त हो जाता है—वही कहनेका जिसका उद्देश है—उस तीर्थकरके उपदेश-वचनको हम नमस्कार
करते हैं

(अपूर्ण)

(२)

इस जगत्में जिसमें वाणीसहित विचार-शक्ति मोजूद है, ऐसा मनुष्य-प्राणी कल्याणका विचार
करनेके लिये सत्रसे अधिक योग्य है । फिर भी प्रायः जीवको अनतवार मनुष्यता प्राप्त होनेपर भी वह
कल्याण सिद्ध नहीं हुआ, जिससे अबतक जन्म मरणके मार्गका आराधन करना पड़ा है । अनादि
इस लोकमें जीवोंकी संख्या अनंत कोटी है । उन जीवोंकी प्रति समय अनंत प्रकारकी जन्म, मरण

आदि स्थिति होती रहती है, इस प्रकारका अनतकाल पूर्वमें भी व्यतीत हुआ है। इन अनत-कोटी जीवोंमें जिसने आत्म-कल्याणकी आराधना की है, अथवा जिसे आत्म-कल्याण प्राप्त हुआ है—ऐसे जीव अत्यन्त ही थोड़े हैं। वर्तमानमें भी ऐसा ही है, और भविष्यमें भी ऐसी ही स्थिति होना सम्यक् है—ऐसा ही है। अर्थात् जीवको तीनों कालमें कल्याणकी प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है—इस प्रकारका जो श्रीतीर्थ-कर आदि ज्ञानीका उपदेश है वह सत्य है।

इस प्रकारकी जीव समुदायकी भ्राति अनादि सयोगसे चली आ रही है—ऐसा ठीक है—ऐसा ही है। वह भ्राति जिस कारणसे होती है, उस कारणके मुख्य दो भेद माह्य होते हैं—एक पारमार्थिक और दूसरा व्यावहारिक। और दोनों भेदोंका एकत्र जो अभिप्राय है वह यही है कि इस जीवको सच्ची मुमुक्षुता नहीं आई, जीवमें एक भी सत्य अक्षरका परिणाम नहीं हुआ, जीवको सत्पुरुषके दर्शनके लिये रुचि नहीं हुई, उस उस प्रकारके योगके मिलनेसे समर्थ अंतरायसे जीवको वह प्रतिग्रह रहता आया है, और उसका सबसे महान् कारण असत्सगकी वासनासे जन्म पानेवाला निज इच्छामान और असदर्शनमें सत्दर्शनरूप भ्राति है।

किसीका ऐसा अभिप्राय है कि आत्मा नामका कोई पदार्थ ही नहीं है। कोई दर्शनवाले ऐसा मानते हैं कि आत्मा नामक पदार्थ केवल सायोजिक ही है। दूसरे दर्शनवालोंका कथन है कि देहके रहते हुए ही आत्मा रहती है, देहके नाश होनेपर नहीं रहती। आत्मा अणु है, आत्मा सर्वव्यापक है, आत्मा शून्य है, आत्मा साकार है, आत्मा प्रकाशरूप है, आत्मा स्वतंत्र नहीं है, आत्मा कर्ता नहीं है, आत्मा कर्ता है भोक्ता नहीं है, आत्मा कर्ता नहीं है भोक्ता है, आत्मा कर्ता भी नहीं भोक्ता भी नहीं, आत्मा जड़ है, आत्मा कृत्रिम है, इत्यादि जिसके अनन्त नय हो सकते हैं, इस प्रकारके अभिप्रायकी भ्रातिके कारण असत्दर्शनके आराधन करनेसे, पूर्वमें इस जीवने अपने वास्तविक स्वरूपको नहीं जाना। उस सबको ऊपर कटे अनुसार एकात—अथयार्थरूपसे जानकर आत्मामें अथवा आत्माके नामपर ईश्वर आदिमें पूर्वमें जीवने आप्रह किया है। इस प्रकारका जो असत्सग, निज-इच्छामान, और मिथ्यादर्शनका परिणाम है वह जनतक नहीं मिटता, तत्रतक यह जीव क्लेशरहित शुद्ध असख्य-प्रदेशात्मक मुक्त होनेके योग्य नहीं है, और उस असत्सग आदिकी निवृत्ति करनेके लिये सत्सग, ज्ञानीकी आज्ञाका अत्यन्त अंगीकार करना, और परमार्थस्वरूप जो आत्मभाव है उसे जानना योग्य है।

पूर्वमें होनेवाले तीर्थकर आदि ज्ञानी-पुरुषोंने ऊपर कही हुई भ्रातिको अत्यन्त निवारण करके, अत्यन्त एकाग्रतासे—तमयतासे—जीवका स्वरूप निवारण करके जीवके स्वरूपमें शुद्ध स्थिति की है। उस आत्मा और दूसरे सब पदार्थोंको सब प्रकारकी भ्रातिरहित जाननेके लिये श्रीतीर्थकर आदिने अत्यन्त दुष्कर पुरुषार्थका आराधन किया है। आत्माको एक भी अणुके आहार परिणामसे अनन्य भिन्न करके उन्होंने इस देहमें स्पष्ट ऐसी 'अणाहार आत्मा'को स्वरूपसे जीवित रहनेवाला देखा है। उसे देखनेवाले तीर्थकर आदि ज्ञानी स्वयं ही शुद्धात्मा हैं, तो फिर उनका भिन्नरूपसे जो देखना कहा है, वह यद्यपि योग्य नहीं है, फिर भी वाणी धर्मसे ऐसा कहा है।

इस तरह अनन्त प्रकारसे निवारणके बाद भी जानने योग्य 'चेतन्यघन जीव'को तीर्थकरने दो

प्रकारसे कहा है, जिसे सत्पुरुषसे जानकर, निचारकर, सत्कार करके जीव अपने स्वरूपमें स्थिति करे । तीर्थकर आदि ज्ञानीने प्रत्येक पदार्थको वक्तव्य और अवक्तव्य इस तरह दो प्रकारके व्यवहार-धर्मयुक्त माना है । जो अवक्तव्यरूपसे है वह यहाँ अवक्तव्य ही है । जो वक्तव्यरूपसे जीवका धर्म है, उसे तीर्थकर आदि सत्र प्रकारसे कहनेके लिये समर्थ हैं, और वह जीवके त्रिशुद्ध परिणामसे अथवा सत्पुरुषसे जानने योग्य केवल जीवका धर्म ही है, ओर वही धर्म उस लक्षणसे अमुक मुख्य प्रकारसे इस दोहेमें कहा गया है । वह व्याख्या परमार्थके अत्यंत अभ्याससे अत्यंत स्पष्टरूपसे समझमें आती है, ओर उसके समझ लेनेपर अत्यंत आत्मस्वरूप भी प्रगट होता है, तो भी यथावकाश यहाँ उसका अर्थ लिखा है ।

(३)

समता रमता उरधता, ज्ञायकता मुखभास;
वेदकता चैतन्यता, ए सव जीवविद्यास ।

श्रीतीर्थकर ऐसा कहते हैं कि इस जगत्में इस जीव नामके पदार्थको चाहे जिस प्रकारसे कहा हो, परन्तु यदि वह प्रकार उसकी स्थितिके विषयमें हो, तो उसमें हमारी उदासीनता है । जिस प्रकार निरावाग्र-रूपसे उस जीव नामके पदार्थको हमने जाना है, उस प्रकारसे उसे हमने प्रगटरूपसे कहा है । जिस लक्षणसे उसे हमने कहा है, वह सब प्रकारसे निर्बाध ही कहा है । हमने उस आत्माको इस प्रकार जाना है, देखा है, स्पष्ट अनुभव किया है, और प्रगटरूपसे हम वही आत्मा हैं । वह आत्मा 'समता' लक्षणसे युक्त है । वर्तमान समयमें जो उस आत्माकी असत्य-प्रदेशात्मक चैतन्यस्थिति है, वह सत्र पहिलेके एक, दो, तीन, चार, दस, सख्यात, असख्यात ओर अनंत समयमें थी, वर्तमानमें है, और भविष्यमें भी उसकी स्थिति उसी प्रकारसे होगी । उसके असत्य प्रदेशात्मकता, चैतन्यता, अरूपित्व इत्यादि समस्त स्वभाव कभी भी छूटने योग्य नहीं है । जिसमें ऐसा 'समपना—समता' है वह जीव है ।

पशु, पक्षी, मनुष्य आदिकी देहमें और वृक्ष आदिमें जो कुछ रमणीयता दिखाई देती है, अथवा जिससे वह सत्र प्रगट स्फूर्तियुक्त माद्वम होता है—प्रगट सुदरतायुक्त माद्वम होता है—वह 'रमणीयपना—रमता' जिसका लक्षण है, वह जीव नामक पदार्थ है । जिसकी मौजूदगीके बिना समस्त जगत् शून्यवत् माद्वम होता है, जिसमें ऐसी रम्यता है—वह लक्षण जिसमें घटता है—वह जीव है ।

कोई भी जाननेवाला, कभी भी, किसी भी पदार्थको अपनी गैरमौजूदगीसे जान ले, यह बात होने योग्य नहीं है । पहिले अपनी मौजूदगी होनी चाहिये, और किसी भी पदार्थके ग्रहण, त्याग आदि अथवा उदासीन ज्ञान होनेमें अपनी मौजूदगी ही कारण है । दूसरे पदार्थके अगीकार करनेमें, उसके अल्पमात्र भी ज्ञानमें, यदि पहिले अपनी मौजूदगी हो, तो ही वह ज्ञान हो सकता है । इस प्रकार सबसे पहिले रहनेवाला जो पदार्थ है वह जीव है । उसे गौण करके अर्थात् उसके बिना ही यदि कोई कुछ भी जानना चाहे तो यह संभव नहीं है । केवल वही मुख्य हो, तो ही दूसरा कुछ जाना जा सकता है । इस प्रकार जिसमें प्रगट 'उरधता-धर्म' है, उस पदार्थको श्रीतीर्थकर जीव कहते हैं ।

प्रगट जब पदार्थ ओर जीव ये दोनों जिस कारणसे परस्पर भिन्न पड़ते हैं, जीवका वह लक्षण 'ज्ञायकता' नामका गुण है । किसी भी समय ज्ञायकरहित भावमें यह जीव-पदार्थ किसीका भी अनु-

भन नहीं कर सकता, और इस जीव नामक पदार्थके सिवाय दूसरे किसी भी पदार्थमें ज्ञायकता सभन नहीं हो सकती। इस प्रकार अत्यंत अनुभवका कारण जिसमें 'ज्ञायकता' लक्षण है, उस पदार्थको तीर्थकरने जीव कहा है।

शब्द आदि पाँच त्रिपयस्यधी अथवा समाप्ति आदि योगसबधी जिस स्थितिमें सुख होना सभन है, उसे भिन्न भिन्नरूपसे देवनेसे अन्तमें केवल उन सभमें सुखका कारण एक जीव पदार्थ ही समर्पित है। इमलिये तीर्थकरने जीवका 'सुखभास' नामका लक्षण कहा है, और व्यवहार दृष्टान्तसे निद्राद्वारा वह प्रगट मादम होता है। जिस निद्रामें दूसरे सभ पदार्थोंसे रहितपना है, वहाँ भी 'मैं सुखी हूँ' ऐसा जो ज्ञान होता है, वह बाकी वचे हुए जीव पदार्थका ही है, दूसरा ओर कोई वहाँ विद्यमान नहीं है, और निद्रामें सुखका आभास होना तो अत्यंत स्पष्ट है। वह जिससे भासित होता है, वह लक्षण जीव नामके पदार्थके सिवाय दूसरी किसी भी जगह नहीं देखा जाता।

यह स्वादरहित है, यह मीठा है, यह खटा है, यह चारा है, मैं इस स्थितिमें हूँ, मैं ठडमें ठिठ रहा हूँ, गरमी पड़ रही है, मैं ठु खी हूँ, मैं ठु लका अनुभव करता हूँ—इस प्रकारका जो स्पष्टज्ञान—वेदनज्ञान—अनुभवज्ञान—अनुभवपना यदि किसीमें भी हो तो वह जीव-पदमें ही है, अथवा वह जिसका लक्षण हो वह पदार्थ जीव ही होता है, यही तीर्थकर आदिका अनुभव है।

स्पष्ट प्रकाशपना—अनतानत-कोटी तेजस्वी दीपक, मणि, चंद्र, सूर्य आदिकी काति—जिसके प्रकाशके विना प्रगट होनेके लिये समर्थ नहीं है, अर्थात् वे सभ अपने आपको जताने अथवा जाननेके योग्य नहीं हैं, जिस पदार्थके प्रकाशमें चेतन्यरूपसे वे पदार्थ जाने जाते हैं—स्पष्ट भासित होते हैं—वे पदार्थ प्रकाशित होते हैं—यह पदार्थ जो कोई है तो वह एक जीव ही है। अर्थात् उस जीवका यह लक्षण—प्रगटरूपसे स्पष्ट प्रकाशमान अचल निराबाध प्रकाशमान चेतन्य—उस जीवके प्रति उपयोग लगानेसे प्रगट—प्रगटरूपसे दिखाई देता है।

ये जो लक्षण कहे हैं, इन्हें फिर फिरसे विचार करनेसे जीव निराबाधरूपसे जाना जाता है। जिसके जाननेसे जीव जाना गया है, उन लक्षणोंको तीर्थकर आदिने इस प्रकारसे कहा है।

३५९

ॐ

वम्बई, चैत्र सुदी ६ गुरु १९४९

उपाधिका योग विशेष रहता है। जैसे जैसे निवृत्तिके योगकी विशेष इच्छा होती जाती है, वैसे वैसे उपाधिकी प्राप्तिका योग विशेष दिखाई पड़ता है। चारों तरफसे उपाधिकी ही भीड़ है। कोई ऐसी दिशा इस समय मादम नहीं होती कि जहाँ इसी समय इसमेंसे छूटकर चले जाना हो तो किसीके अपराधी न गिने जाँय। छूटनेका प्रयत्न करते हुए किसीके सुल्य अपराधमें पकड़ा जाना स्पष्ट सभन दिखाई देता है, और यह वर्तमान अवस्था उपाधि-रहितपनेके अत्यंत योग्य है। प्रारब्धकी व्यवस्थाका इसी प्रकार धन्य किया गया होगा।

३६०

बम्बई, चैत्र सुदी ९, १९४९

(१)

आरभ, परिग्रह, असत्सग आदि कल्याणमें प्रतिबन्ध करनेवाले कारणोंका, जैसे बने तेसे कम परिचय हो, और उनमें उदासीनता प्राप्त हो—यही निचार हालमें मुख्यरूपसे रखना योग्य है।

(२)

हालमें उस तरफ श्रायकों आदिके होनेवाले समागमके सबधमें समाचार पड़े है। उस सममें जीवको रुचि अथवा अरुचि उत्पन्न नहीं हुई, इसे श्रेयका कारण जानकर, उसका अनुसरण करके, निरन्तर प्रवृत्ति करनेका परिचय करना योग्य है। ओर उस असत्सगका परिचय, जैसे कम हो, उसकी अनुकपाकी इच्छा करके रहना योग्य है। जैसे बने तैसे सत्सगके सयोगकी इच्छा करना ओर अपने दोषको देखना योग्य है।

३६१

बम्बई, चैत्र वदी १ रति १९४९

धार तरवारनी सोहली दोहली, चौदमा जिनतणी चरणसेवा;
धारपर नाचता देख वाजीगरा, सेवना-धारपर रहे न देवा।

(आनदघन—अनतजिन-स्तजन)

इस प्रकारके मार्गको किस कारणमें अत्यत कठिन कहा हे, यह निचारने योग्य है।

३६२

बम्बई, चैत्र वदी ९ रति १९४९

जिसे ससारसबकी कारणके पदार्थोंकी प्राप्ति सुलभतासे निरन्तर हुआ करे, और कोई बधन न हो, यदि ऐसा कोई पुरुष है, तो उसे हम तीर्थकरतुल्य मानते है। परन्तु प्राय इस प्रकारकी सुलभतासिके योगसे जीवको अल्प कालमें ससारसे अत्यत वैराग्य नहीं आता, ओर स्पष्ट आत्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता—ऐसा जानकर जो कुछ उस सुलभ-प्राप्तिको हानि करनेवाला सयोग मिलता है, उसे प्रकारका कारण जानकर, सुखपूर्वक रहना ही योग्य है।

३६३

बम्बई, चैत्र वदी ९ रति १९४९

ससारी-वेशसे रहते हुए कौनसी स्थितिसे व्यवहार करें तो ठीक हो, ऐसा कदाचित् भासित हो, ओ भी उस व्यवहारका करना तो प्रारब्धके ही आधीन है। किसी प्रकारके किसी राग, द्वेष अथवा आत्मज्ञानके कारणसे जो न होता हो, उसका कारण उदय ही मालूम होता है।

जलमें स्वामानिक शीतलता है, परन्तु सूर्य आदिके तापके समधसे वह उष्ण होता हुआ दिखाई

१ तलवारकी धारपर चलना तो सद्ज है, परन्तु चौदहवें तीर्थकरके चरणोंकी सेवा करना कठिन है। वाजीगर लोग तलवारकी धारपर नाचते हुए देखे जाते हैं, परन्तु प्रभुके चरणोंकी सेवारूप धारपर तो देवता लोग भी नहीं ठहर सकते।

देता है, उस तापका सबध दूर हो जानेपर वही जल फिर शीतल हो जाता है। बीचमें जो जल शीतलतासे रहित माद्धम होता था, वह केवल तापके सयोगसे ही माद्धम होता था। ऐसे ही हमें भी प्रवृत्तिका सयोग है, परन्तु हालमें तो उस प्रवृत्तिके वेदन किये बिना कोई दूसरा उपाय नहीं है।

३६४

बम्बई, चैत्र वदी ९, १९४९

जो मु यहाँ चातुर्मासिके लिये आना चाहते हैं, यदि उनकी आत्मा दु खित न हो तो उनसे कहना कि उन्हें इस क्षेत्रमें आना निवृत्तिरूप नहीं है। कदाचित् यहाँ उन्होंने सत्सगकी इच्छासे आनेका विचार किया हो तो वह सयोग बनना बहुत कठिन है, क्योंकि वहाँ हमारा आना-जाना बने, यह सभन नहीं है। यहाँ ऐसी परिस्थिति है कि यहाँ उन्हें प्रवृत्तिके बलवान कारणोंकी ही प्राप्ति हो, ऐसा समझकर यदि उन्हें कोई दूसरा विचार करना सुगम हो तो करना योग्य है। हालमें तुम्हारी वहाँ केसी दशा रहती है ? वहाँ विशेषरूपसे सत्सगका समागम करना योग्य है। आत्मस्थित

३६५

बम्बई, वैशाख वदी ६ रवि १९४९

(१) प्रत्येक प्रदेशसे जीनके उपयोगको आकर्षित करनेवाले ससारमें, एक समयके लिये भी अन्काश लेनेकी ज्ञानी पुरुषोंने हैं नहीं कहीं—इस नियमका सर्वथा निषेध ही किया है। उस आकर्षणसे यदि उपयोग अन्काश प्राप्त करे तो वह उसी समय आत्मरूप हो जाता है—उसी समय आत्मामें वह उपयोग अनन्य हो जाता है।

इत्यादि अनुभव-वार्त्ता जीनको सत्सगके दृढ़ निश्चयके बिना प्राप्त होनी अत्यत कठिन है। उस सत्सगको जिसने निश्चयरूपसे जान लिया है, इस प्रकारके पुरुषको भी इस दु पम कालमें उस सत्सगका सयोग रहना अत्यत कठिन है।

(२) जिस चिंताके उपद्रवसे तुम घबड़ाते हो, उस चिंताका उपद्रव कोई शत्रु नहीं है। प्रेम-भक्तिसे नमस्कार।

३६६

बम्बई, वैशाख वदी ८ भोम १९४९

जहाँ कोई उपाय नहीं, वहाँ खेद करना योग्य नहीं है।

ईश्वरेच्छाके अनुसार जो हो उसमें समता रखना ही योग्य है, ओर उसके उपायका यदि कोई विचार सूझ पड़े तो उसे करते रहना, मात्र इतना ही अपना उपाय है।

कचित् ससारके प्रसंगोंमें जबतक अपनेको अनुकूलता रहा करती है, तबतक उस ससारका स्वरूप विचारकर त्याग करना योग्य है, प्राय इस प्रकारका विचार हृदयमें आना कठिन है। उस ससारमें जब अपिकाधिक प्रतिकूल प्रसंगोंकी प्राप्ति होती है, तो कदाचित् जीनको पहिले वे रुचि-कर न होकर पीछेसे बेराम्य आता है, उसके बाद आत्म-साधनकी सूझ पड़ती है। और परमात्मा

श्रीकृष्णके वचनके अनुसार मुमुक्षु जीवको वे सत्र प्रसंग, जिन प्रसंगोंके कारण आत्म-साधन सूझता है, सुखदायक ही मानने योग्य हैं ।

अमुक समयतक अनुकूल प्रसंगयुक्त सत्संगमें कदाचित् यदि सत्संगका संयोग हुआ हो, तो भी इस कालमें उससे वैराग्यका जैसा चाहिये वैसा वेदन होना कठिन है । परन्तु उसके बाद यदि कोई कोई प्रसंग प्रतिकूल ही प्रतिकूल बनता चला जाय तो उसके विचारसे—उसके पश्चात्तापसे—सत्संग हितकारक हो जाता है, यह जानकर जिस किसी प्रतिकूल प्रसंगकी प्राप्ति हो, उसे आम-साधनका कारणरूप मानकर समाधि रखकर जागृत रहना चाहिये ।

कल्पितभागमें किसी प्रकारसे भूले हुएके समान नहीं है ।

३६७

वम्बई, वैशाख वदी ९, १९४९

श्रीमहागीरदेवसे गौतम आदि मुनिजन पूँछते थे कि हे पूज्य ! माहण श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रथ इन शब्दोंका क्या अर्थ है, सो हमें कहिये । उसके उत्तरमें श्रीतीर्थंकर इस अर्थको विस्तारसे कहते थे । वे अनुरूपसे इन चारोंकी बहुत प्रकारकी वीतराग अवस्थाओंको विशेष-अति विशेषरूपसे कहते थे, और इस तरह शिष्य उस शब्दके अर्थको धारण करते थे ।

निर्ग्रथकी अनेक दशाओंको कहते समय निर्ग्रन्थके तीर्थंकर 'आत्मवादप्राप्त' इस प्रकारका एक शब्द कहते थे । टीकाकार शौलाकाचार्य उस 'आत्मवादप्राप्त' शब्दका अर्थ इस प्रकार कहते हैं—
“उपयोग जिसका लक्षण है, असत्त्व-प्रदेशी, सकोच-विकासका भाजन, अपने किये हुए कर्मोंका भोक्ता, व्यवस्थासे द्रव्य-पर्यायरूप, नित्य-अनित्य आदि अनंत धर्मात्मक ऐसी आत्माको जाननेवाला आत्म-वादप्राप्त” है ।

३६८

वम्बई, ज्येष्ठ सुदी ११ शुक्र १९४९

सत्र परमार्थके साधनोंमें परम साधन सत्संग-सत्पुरुषके चरणके समीप निवास-है । सत्र कालमें उसकी कठिनता है, ओर इस प्रकारके निपम कालमें तो ज्ञानी पुरुषोंने उसकी अत्यंत ही कठिनता मानी है ।

ज्ञानी-पुरुषोंकी प्रवृत्ति, प्रवृत्ति जैसी नहीं होती । जैसे गरम पानीमें अग्निका मुख्य गुण नहीं कहा जा सकता, वैसे ही ज्ञानीकी प्रवृत्ति है, फिर भी ज्ञानी पुरुष भी किसी प्रकारसे निवृत्तिकी ही इच्छा करता है । पूर्वकालमें आराधन किये हुए निवृत्तिके क्षेत्र, वन, उपवन, योग, समाधि और सत्संग आदि ज्ञानी-पुरुषको प्रवृत्तिमें होनेपर भी बारम्बार याद आ जाते हैं, फिर भी ज्ञानी उदय-प्राप्त प्रारब्धका ही अनुसरण करते हैं । सत्संगकी रुचि रहती है, उसका लक्ष रहता है, परन्तु वह समय यहाँ नियमित नहीं है ।

कल्याणनिपयक जो जो प्रतिबन्धरूप कारण हैं, उनका जीवको बारम्बार विचार करना योग्य है । उन सत्र कारणोंको बारम्बार विचार करके दूर करना योग्य है, और इस मार्गके अनुसरण किये बिना कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती । मल, विकल्प, और अज्ञान ये जीवके अनादिके तीन दोष हैं । ज्ञानी पुरुषोंके वचनकी प्राप्ति होनेपर, उसका यथायोग्य विचार करनेसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है । उस

अज्ञानकी सतति बलवान होनेसे, उसका निरोध करनेके लिये और ज्ञानी पुरुषके वचनोंका यथायोग्य विचार करनेके लिये, मल और विक्षेपको दूर करना योग्य है । सरलता, क्षमा, स्व-दोषका निरीक्षण, अन्पारम्भ, परिग्रह इत्यादि ये मल दूर करनेके साधन हैं । ज्ञानी-पुरुषकी अत्यन्त भाक्ति यह विक्षेप दूर करनेका साधन है ।

यदि ज्ञानी-पुरुषके समागमका अतराय रहता हो तो उस उस प्रसंगमें बारम्बार उस ज्ञानी पुरुषकी दशा, चेष्टा, और उसके वचनोंका सूक्ष्म रीतिसे निरीक्षण करना, उनका याद करना और विचार करना योग्य है । और उस समागमके अतरायमें—प्रवृत्तिके प्रसंगोंमें—अत्यन्त सावधानी रखना योग्य है, क्योंकि एक तो समागमका ही बल नहीं, और दूसरी अनादि अन्यासनाली सहजाकार प्रवृत्ति रहती है, जिससे जीवपर आचरण आ जाता है । घरका, जातिका, अथवा दूसरे उस तरहके कामोंका कारण उपस्थित होनेपर उदासीनभावसे उन्हें प्रतिबन्धरूप जानकर, प्रवृत्ति करना ही योग्य है, उन कारणोंको मुख्य मानकर कोई प्रवृत्ति करना योग्य नहीं, और ऐसा हुए बिना प्रवृत्तिसे अवकाश नहीं मिलता ।

भिन्न भिन्न प्रकारकी कल्पनाओंसे आत्माका विचार करनेमें, लोक-सज्ञा, ओव सज्ञा और अस-त्सग ये जो कारण हैं, इन कारणोंमें उदासीन हुए बिना नि सत्त्व ऐसी लोकसबन्धी जप, तप आदि क्रियाओंमें साक्षात् मोक्ष नहीं है—परपरा भी मोक्ष नहीं है । ऐसा माने बिना नि सत्त्व असत्शास्त्र और असद्गुरुको—जो आत्मस्वरूपके आचरणके मुख्य कारण है—साक्षात् आत्म-घातक जाने बिना जीवको जीवके स्वरूपका निश्चय होना बहुत कठिन है—अत्यन्त कठिन है । ज्ञानी-पुरुषके प्रगट आत्मस्वरूपको कहनेवाले वचन भी उन कारणोंके सबन्धसे ही जीवके स्वरूपका विचार करनेके लिये बलवान नहीं होते ।

अत्र यह निश्चय करना योग्य है कि जिसको आत्मस्वरूप प्राप्त है—प्रगट है—उस पुरुषके बिना दूसरा कोई उस आत्मस्वरूपको यथार्थ कहनेके योग्य नहीं है, और उस पुरुषसे आत्माके जाने बिना दूसरा कोई कल्याणका उपाय नहीं है । उस पुरुषसे आत्माके जाने ही आत्मानो जान लिया है, इस प्रकारकी कल्पनाका मुमुक्षु जीवको सर्वथा त्याग ही करना योग्य है । उस आत्मरूप पुरुषके सत्सगकी निरन्तर कामना रखते हुए जिससे उदासीनभावसे लोक-धर्मसबन्धसे और कर्मसबन्धसे दूट सकें, इस प्रकारसे व्यवहार करना चाहिये । जिस व्यवहारके करनेमें जीवको अपनी महत्ता आदिकी इच्छा उत्पन्न हो, उस व्यवहारका करना योग्य नहीं है ।

हालमें अपने समागमका अतराय जानकर निराशभावको प्राप्त होते हैं, फिर भी वैसा करनेमें ईश्वरेच्छा जानकर, समागमकी कामना रखकर, जितना मुमुक्षु भाईयोंका परस्पर समागम बने उतना करना चाहिये, जितना बने उतना प्रवृत्तिमें निरक्तभाव रखना चाहिये, सःपुरुषके चरित्र और मार्गानुसारी (सुदरदास, प्रीतम, अखा, कबीर आदि) जीवोंके वचन, और जिनका मुख्य उद्देश्य आत्म-नियमक कथन करना ही है ऐसे (विचारसागर, सुदरदासके ग्रन्थ, आनन्दधनजी, बनारसीदास, अखा आदिके ग्रन्थ) ग्रन्थोंका परिचय रखना, और इन सब साधनोंमें मुख्य साधन श्रीसत्पुरुषके समागमको ही मानना चाहिये ।

इस कालको तीर्थकर आदिने स्वभावसे ही दुःपम काल कहा है। उसमें भी विशेष करके व्यवहारमें अनार्यताके योग्यभूत ऐसे इस क्षेत्रमें तो वह काल और भी ज्ञानरूपसे रहता है। लोगोंकी आत्म-प्रत्ययके योग्य-बुद्धि अत्यत नाश होने योग्य हो गई है। इस प्रकारके सत्र तरहके दुःपम योगमें व्यवहार करते हुए परमार्थका भूल जाना अत्यत सुलभ है, और परमार्थकी स्मृति होना अत्यत अत्यत दुर्लभ है। इस क्षेत्रकी दुःपमताकी इतनी विशेषता है जितनी कि आनन्दघनजीने चोदहवें जिन भगवान्‌के स्तननमे कही है, और आनन्दघनजीके कालकी अपेक्षा तो वर्तमान काल और भी विशेष दुःपम-परिणामी है। उसमें यदि आत्म-प्रत्ययी पुरुषके बचने योग्य कोई उपाय हो तो केवल एक निरतर अनिच्छित्तन वारासे सत्सगकी उपासना करना ही माध्यम होता है।

जिसे प्रायः सत्र कामनाओंके प्रति उदासीनभाव है, ऐसे हमें भी यह सब व्यवहार और काल आदि, गोते खाते खाते ससार-समुद्रसे मुक्तिरूपसे ही पार होने देता है। फिर भी प्रति समय उस परिश्रमका अत्यत खेद उत्पन्न हुआ करता है, और सताप उत्पन्न होकर सत्सगरूप जलकी अत्यतरूपसे तृप्ता रहा करती है, और यही एक दुःख माध्यम हुआ करता है।

ऐसा होनेपर भी इस प्रकार व्यवहारको सेवन करते हुए उसके प्रति द्वेष-परिणाम करना योग्य नहीं है—इस प्रकार जो सर्व ज्ञानी-पुरुषोंका अभिप्राय है, वह उस व्यवहारको प्रायः समताभावसे कराता है। ऐसा लगा करता है कि आत्मा उस विषयमें मानों कुछ करती ही नहीं।

निवार करनेसे ऐसा भी नहीं लगता कि यह जो उपाधि उदयमें है, वह सत्र प्रकारसे कष्टरूप ही है। जिससे पूर्वोपार्जित प्रारब्ध शान्त होता है, उस उपाधि-परिणामको आत्म-प्रत्ययी कहना चाहिये।

मनमें हमें ऐसा रहा करता है कि अल्प कालमें ही यह उपाधि-योग दूर होकर बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रथता प्राप्त हो तो अविक योग्य है, परन्तु यह बात अल्प कालमें हो सके, ऐसा नहीं सूझता, और जवत्क ऐसा न हो तवत्क उस चिन्ताका दूर होना सम्भव नहीं है।

यदि वर्तमानमें ही दूसरा समस्त व्यवहार छोड़ दिया हो, तो यह बन सकता है। दो-तीन उदयके व्यवहार इस प्रकारके रहते हैं कि जो भोगनेसे ही निवृत्त हो सकते हैं, और वे इस प्रकारके हैं कि कष्टमें भी उस विशेष कालकी स्थितिमेंसे अल्प कालमें उनका वेदन नहीं किया जा सकता, और इस कारण हम मूर्खकी तरह ही इस व्यवहारका सेवन किया करते हैं।

किसी द्रव्यमें, किसी क्षेत्रमें, किसी कालमें और किसी भागमें स्थिति हो जाय, ऐसा प्रसंग मानों कहीं भी दिखाई नहीं देता। उसमेंसे केवल सब प्रकारका अप्रतिबद्धभाव होना ही योग्य है, फिर भी निवृत्ति-क्षेत्र, निवृत्ति-काल, सत्सग और आत्म-विचारमें हमें प्रतिबद्ध रुचि रहती है।

यह योग किसी प्रकारसे भी जैसे बने तैसे थोड़े ही कालमें हो जाय—इसी चिन्तनमें रात-दिन रहा करते हैं।

३७१

बम्बई, प्र आपाढ़ वदी४ सोम १९४९

ॐ

जिसे प्रीतिसे ससारके सेवन करनेकी स्पष्ट इच्छा होती हो, तो उस पुरुषने ज्ञानीके वचनोंको ही नहीं सुना है, अथवा उसने ज्ञानी-पुरुषका दर्शन भी नहीं किया, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।

जिसकी कमर टूट गई है उसका प्रायः समस्त बल क्षीण हो जाता है। जिसे ज्ञानी-पुरुषके वचनरूप लकड़ीका प्रहार हुआ है, उस पुरुषमें उस प्रकारका ससारसन्धी बल होता है, ऐसा तीर्थंकर कहते हैं।

ज्ञानी-पुरुषको देखनेके बाद भी यदि स्त्रीको देखकर राग उत्पन्न होता हो, तो ऐसा समझो कि ज्ञानी-पुरुषको देखा ही नहीं।

ज्ञानी-पुरुषके वचनोंको सुननेके पश्चात् स्त्रीका सजीवन शरीर जीवनरहित रूपसे भासित हुए बिना न रहे, और धन आदि संपत्ति वास्तवमें पृथ्वीके विकाररूपसे भासमान हुए बिना न रहे।

ज्ञानी-पुरुषके सिवाय उसकी आत्मा दूसरी किसी भी जगह क्षणभर भी ठहरनेके लिये इच्छा नहीं करती।

इत्यादि वचनोंका पूर्वमें ज्ञानी-पुरुष मार्गानुसारी पुरुषको बोध देते थे, जिसे जानकर—सुनकर सरल जीव उसे आत्मामें धारण करते थे। तथा प्राणत्याग जैसे प्रसंग आनेपर भी वे उन वचनोंको अप्रधान न करने योग्य मानते थे, ओर वेसा ही आचरण करते थे।

सबसे अधिक स्मरण करने योग्य बातें तो बहुतासी हैं, फिर भी ससारमें एकदम उदासीनता होना, दूसरोंके अल्प गुणोंमें भी प्रीति होना, अपने अल्प गुणोंमें भी अत्यंत क्लेश होना, दोषके नाश करनेमें अत्यंत वीर्यका स्फुरित होना—ये बातें सत्सगमें अखंड एक शरणागत रूपसे ध्यानमें रखने योग्य हैं। जैसे बने वैसे निवृत्ति-काल, निवृत्ति-क्षेत्र, निवृत्ति-द्रव्य और निवृत्ति-मानका सेवन करना। तीर्थंकर, गौतम जैसे ज्ञानी-पुरुषको भी सन्बोधन करते थे कि 'हे गौतम! समयमात्र भी प्रमाद करना योग्य नहीं है'।

३७२

बम्बई, प्र आपाढ़ वदी१३ भौम १९४९

अनुकूलता-प्रतिकूलताके कारणमें कोई विषमता नहीं है। सत्सगके इच्छा करनेवाले पुरुषको यह क्षेत्र विषमतुल्य है। किसी किसी उपाधि-योगका अनुक्रम हमें भी रहा करता है। इन दो कारणोंकी निस्मृति करते हुए भी जो घरमें रहना है, उसमें कितनी ही प्रतिकूलतायें हैं, इसलिये हालमें तुम सब भाईयोंका विचार कुछ स्थगित करने योग्य (जैसा) है।

३७३

बम्बई, प्र आपाढ़ वदी१४ बुध १९४९

प्रायः करके प्राणी आशासे ही जाते हैं। जैसे जैसे सज्ञा विशेष होती जाती है, वैसे वैसे विशेष आशाके बलसे जीवित रहना होता है। जहाँ मात्र एक आत्मविचार और आत्मज्ञानका

होता है, वहीं सत्र प्रकारकी आशाकी समाधि होकर जीवके स्वरूपसे जीवित रहा जाता है। जिस वस्तुकी कोई भी मनुष्य इच्छा करता है, वह उसकी प्रासिकी भविष्यमें ही इच्छा करता है, और इस प्रासिकी इच्छारूप आशासे ही उसकी कल्पना जीवित रहती है; और वह कल्पना प्राय करके कल्पना ही रहा करती है। यदि जीवको यह कल्पना न हो और ज्ञान भी न हो, तो उसकी दुःखकारक भयकर स्थितिका अकथनीय हो जाना समझ है।

सत्र प्रकारकी आशा—और उसमें भी आत्माके सिवाय दूसरे अन्य पदार्थोंकी आशामें, समाधि किस प्रकारसे प्राप्त हो, यह कहो ?

३७४ वम्बई, द्वितीय आपाढ़ सुदी ६ बुध. १९४९

रक्खा हुआ कुछ रहता नहीं, और ठोड़ा हुआ कुछ जाता नहीं—इस प्रकार परमार्थ विचार करके किसीके प्रति दीनता करना अथवा विशेषता दिखाना योग्य नहीं है। समागममें दीनमान नहीं आना चाहिये।

३७५ वम्बई, द्वितीय आपाढ़ वदी ६, १९४९

श्रीकृष्ण आदिकी क्रिया उदासीन जैसी थी। जिस जीवको सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय, उसे उसी समय सत्र प्रकारकी सासारिक क्रियायें न रहें, यह कोई नियम नहीं है। हाँ, सम्यक्त्व उत्पन्न हो जानेके बाद सासारिक क्रियाओंका रसरहित हो जाना समझ है। प्राय करके ऐसी कोई भी क्रिया उस जीवकी नहीं होती जिससे परमार्थमें आति उत्पन्न हो, और जन्मतक परमार्थमें आति न हो, तन्तक दूसरी क्रियाओंसे सम्यक्त्वको बाधा नहीं आती। इस जगत्के लोग सर्पको पूजते हैं, परन्तु वे वास्तविक पूज्य-बुद्धिसे उसे नहीं पूजते, किन्तु भयसे पूजते हैं—भानसे नहीं पूजते, और इष्टदेवको लोग अत्यंत भानसे पूजते हैं। इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि जीव इस ससारका जो सेवन करता हुआ दिखाई देता है, वह पूर्वमें बाँधे हुए प्रारब्ध-कर्मसे ही दिखाई देता है—वास्तविक दृष्टिसे भानपूर्वक उस ससारमें उसे कोई भी प्रतिबन्ध नहीं होता, वह केवल पूर्वकर्मके उदयरूप भयसे ही है होता। जितने अशसे भान-प्रतिबन्ध न हो, उतने अशसे ही उस जीवके सम्यक्दृष्टिपना होता है।

अनतानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभका सम्यक्त्वके सिवाय नाश होना समझ नहीं है, ऐसा जो कहा जाता है वह यथार्थ है। ससारी पदार्थोंमें जीवको तीव्र स्नेहके बिना क्रोध, मान, माया और लोभ नहीं होते, जिससे जीवको ससारका अनत अनुबन्ध हो। जिस जीवको ससारी पदार्थोंमें तीव्र स्नेह रहता हो, उसे किसी प्रसंगमें भी अनतानुबन्धी चतुष्कर्मसे किसीका भी उदय होना समझ है, और जबतक उन पदार्थोंमें तीव्र स्नेह हो, तन्तक जीव अन्त्य ही परमार्थ-मार्गवाला नहीं होता। परमार्थ-मार्ग उसे कहते हैं कि जिसमें अपरमार्थका सेवन करता हुआ जीव सत्र प्रकारसे, सुखमें अथवा दुःखमें कायर हुआ करे। दुःखमें कायरता होना तो कदाचित् दूसरे जीवोंको भी समझ है, परन्तु ससार-सुखकी प्राप्तिमें भी कायरता होना—उस सुखका अच्छा नहीं लगना—उसमें नीरसता होना—यह परमार्थ-मार्गा पुरुषके ही होता है।

जीवको उस प्रकारकी नीरसता परमार्थ-ज्ञानसे अथवा परमार्थ-ज्ञानी पुरुषके निश्चयसे होना समझ है, दूसरे प्रकारसे होना समझ नहीं। अपरमार्थरूप ससारको परमार्थ-ज्ञानसे जानकर फिर उसके प्रति तीव्र क्रोध, मान, माया अथवा लोभ कोन करे अथवा वह कहाँसे हो ? जिस वस्तुका माहात्म्य दृष्टिमेंसे दूर हो गया है, फिर उस वस्तुके लिये अत्यंत क्लेश नहीं रहता। ससारमें भ्रातिरूपसे जाना हुआ सुख, परमार्थ-ज्ञानसे भ्राति ही भासित होता है, और जिसे भ्राति भासित हुई है, फिर उसे वस्तुका क्या माहात्म्य मादूम होगा ? इस प्रकारकी माहात्म्य दृष्टि परमार्थ ज्ञानी पुरुषके निश्चययुक्त जीवको ही होती है, और इसका कारण भी यही है। कदाचित् किसी ज्ञानके आरणके कारण जीवको व्यग्रच्छेदक ज्ञान न हो, तो भी उसे ज्ञानी-पुरुषकी श्रद्धारूप सामान्य ज्ञान तो होता है। यह ज्ञान बड़के बीजकी तरह परमार्थ-ब्रह्मका बीज है।

तीव्र परिणामसे और ससार-भयसे रहित भावसे ज्ञानी-पुरुष अथवा सम्यग्दृष्टि जीवको क्रोध, मान, माया अथवा लोभ नहीं होता। जो ससारके लिये अनुग्रह करता है, उसकी अपेक्षा परमार्थके नामसे भ्रातिगत परिणामसे, जो असद्गुरु, देव और धर्मका सेवन करता है, उस जीवको प्रायः करके अनतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ होता है, क्योंकि दूसरी ससारकी क्रियायें प्रायः करके अनत अनुबन्ध करनेवाली नहीं ह। केवल अपरमार्थको परमार्थ जानकर जीव आग्रहसे उसका सेवन किया करे, यह परमार्थ-ज्ञानी पुरुषके प्रति, देवके प्रति और धर्मके प्रति निरादर हैं—ऐसा कहना प्रायः यथार्थ है। यह सद्गुरु, देव और धर्मके प्रति, अमद्गुरु आदिके आग्रहसे, मिथ्या-बोधसे, आसातनासे, उपेक्षापूर्वक प्रवृत्ति करे, यह समझ है। तथा उस मिथ्या सगसे उसकी ससार-वासनाके परिच्छिन्न न होनेपर भी उसे परिच्छेदरूप मानकर वह परमार्थके प्रति उपेक्षक ही रहता है, यही अनत क्रोध, मान, माया और लोभका चिह्न है।

३७६

वमर्ई, दि आपाढ़ वदी १०सोम १९४९

शारीरिक वेदनाको, दहका धर्म जानकर और बाँधे हुए कर्मोंका फल समझकर सम्यक्प्रकारसे सहन करना योग्य है। बहुत बार शारीरिक वेदनाका विशेष बल रहता है, उस समय जैसे ऊपर कहा है, उस तरह सम्यक्प्रकारसे श्रेष्ठ जीवोंको भी स्थिर रहना कठिन हो जाता है। फिर भी हृदयमें बारम्बार उस बातका विचार करते हुए, और आत्माकी नित्य अड्य, अमेघ, और जरा, मरण आदि धर्मसे रहित भावना करते हुए—विचार करते हुए—कितनी ही तरहसे उस सम्यक्प्रकारका निश्चय आता है। बड़े पुरुषोंद्वारा सहन किये हुए उपसर्ग तथा परिपहके प्रसर्गोंकी जीवमें स्मृति उत्पन्न करके, उसमें उनके रहनेवाले अखंड निश्चयको फिर फिरसे हृदयमें स्थिर करने योग्य जाननेसे, जीवका वह सम्यक्-परिणाम फलीभूत होता है, और फिर वेदना—वेदनाके क्षय-कालके निवृत्त होनेपर—वह वेदना किसी भी कर्मका कारण नहीं होती। जिस समय शरीर व्यागिरहित हो उस समय जीवने यदि उससे अपनी भिन्नता समझकर, उसका अनित्य आदि स्वरूप जानकर, उससे मोह ममता आदिका त्याग किया हो, तो यह महान् श्रेय है। फिर भी यदि ऐसा न हुआ हो तो किसी भी व्याधिके उत्पन्न

बोधप्रिययक भ्राति प्रायः नहीं होती, परन्तु बोधके विशेष परिणामका अनन्काश होता है, ऐसा तो स्पष्ट दिखाई देता है । और उससे आत्मा अनेकवार व्याकुल होकर त्यागका सेवन करती थी, फिर भी उपाजित कर्मकी स्थितिको सम परिणामसे, अदीनतासे, अन्याकुलतासे सहना करना, यही ज्ञानी-पुरुषोंका मार्ग है, और हमें भी उसका ही सेवन करना है—ऐसी स्मृति होकर स्थिरता रहती है, अर्थात् आकुलता आदि भावकी होती हुई विशेष धनराहत समाप्त होती थी ।

जगतक सारे दिन निवृत्तिके ही योगमें काल न व्यतीत हो तततक सुख न मिले—इस प्रकारकी हमारी स्थिति है । ‘ आत्मा आत्मा ’, ‘ उसका विचार ’, ‘ ज्ञानी पुरुषकी स्मृति ’, ‘ उसने माहात्म्यकी कथा-वार्त्ता ’, ‘ उमके प्रति अत्यत भक्ति ’, ‘ उनके अनन्काश आत्म-चारित्रके प्रति मोह ’—यह हमको अभी आकर्षित किया ही करता है, और उस कालका सेवन करते हैं ।

पूर्वकालमें जो जो काल ज्ञानी-पुरुषके समागममें व्यतीत हुआ है, वह काल वन्य है, वह क्षेत्र अत्यत अत्यत धन्य है, उस श्रमणको, श्रमणके कर्त्तको और उसमें भक्तिभाज्युक्त जीवोंको त्रिनाल दडनत् हो । उस आत्मस्वरूपमें भक्ति, चिंतन, आम व्याख्यायारी ज्ञानी पुरुषकी गणी, अथवा ज्ञानके शास्त्र अथवा मार्गानुसारी ज्ञानी पुरुषके सिद्धांतकी अपूर्वताको हम अति भक्तिपूर्वक प्रणाम करते हैं ।

अखड आत्म-धुनकी एकतार उस बातको हमें अभी प्रगाहपूर्वक सेवन करनेकी अत्यत आतुरता रहा करती है, ओर दूसरी ओरसे इस प्रकारका क्षेत्र, इस प्रकारका लोक-प्रगाह, इस प्रकारका उपाधि-योग ओर दूसरी उस उस तरहकी बातोंको देखकर विचार मूर्च्छाकी तरह हो जाता है । ईश्वरेच्छा !

३८१

पेटलाद, भाद्रपद वदी ६, १९४९

ॐ

१. जिसके पाससे धर्म मॉगना, उस प्रात किये हुएकी पूर्ण चौकसी करनी—इस वाक्यका स्थिर चित्तसे विचार करना चाहिये ।

२. जिसके पाससे धर्म मॉगना, यदि उस पूर्ण ज्ञानीकी पहिचान जीवको हुई हो तो उस प्रकारके ज्ञानियोंका सत्सग करना, और यदि सत्सग हो जाय तो उसे पूर्ण पुण्यका उदय समझना । उस सत्सगमें उस परम ज्ञानीके उपदेश किये हुए शिक्षा-बोधको ग्रहण करना—जिससे कदाग्रह, मतमतातर, विश्वासघात, और असत्त्वचन इत्यादिका तिरस्कार हो—अर्थात् उन्हें ग्रहण नहीं करना, मतका आप्रह छोड़ देना । आत्माका धर्म आत्मामें ही है । आत्मत्व-प्राप्त पुरुषका उपदेश किया हुआ धर्म आत्म-मार्गरूप होता है, वाकीके मार्गके मतमें नहीं पड़ना ।

३. इतना होनेके बाद सत्सग होनेपर भी यदि जीवसे कदाग्रह, मतमतातर आदि दोष न छोड़े जा सकें, तो फिर उनसे छूटनेकी आशा भी न करनी चाहिये । हम स्वयं किसीको आदेश-व्रात अर्थात् ‘ ऐसा करो ’, यह नहीं कहते । वारम्बार पूँछो तो भी वह बात स्मृतिमें रहती है । हमारे सगमें आये हुए किन्हीं जीवोंको अभीतक भी हमने ऐसा नहीं कहा कि इस प्रकार चलो या यह करो । यदि कुछ कहा होगा तो वह केवल शिक्षा-बोधके रूपमें ही कहा होगा ।

४ हमारा उदय इस प्रकार रहता है कि इस तरहकी उपदेशकी बात करते हुए वाणी पीठे खिंच जाती है। हाँ, कोई साधारण प्रश्न पूँछे तो उसमें वाणी प्रकाश करती है, और उपदेशकी बातमें तो वाणी पीठे ही खिंच जाती है, इस कारण हम ऐसा मानते हैं कि अभी उस प्रकारका उदय नहीं है।

५ पूर्वजन्ती अनतज्ञानी यद्यपि महाज्ञानी हो गये हैं, परन्तु उससे जीवका कोई दोष दूर नहीं होता। अर्थात् यदि इस समय जीवमें मान हो तो उसे पूर्वजन्ती ज्ञानी कहनेके लिये नहीं आते, परन्तु हालमें जो प्रत्यक्ष ज्ञानी विराजमान हों, वे ही दोषको त्राताकर दूर करा सकते हैं। उदाहरणके लिये दूरके क्षीरसमुद्रसे यहाँके तृपातुरकी तृपा शात नहीं हो सकती, परन्तु वह यहाँके एक मीठे पानीके कलशसे ही शात हो सकती है।

६ जीव अपनी कल्पनासे कल्पना कर लेता है कि ध्यानसे कल्याण होगा, समाधिसे कल्याण होगा, योगसे कल्याण होगा, अथवा इस इस प्रकारसे कल्याण होगा, परन्तु उससे जीवका कोई कल्याण नहीं हो सकता। जीवका कल्याण तो ज्ञानी पुरुषके लक्षमें रहता है, और वह परम सत्सगसे ही समझमें आ सकता है। इसलिये वैसे विकल्पाका करना छोड़ देना चाहिये।

७ जीवको सबसे मुख्य बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि यदि सत्सग हुआ हो तो सत्सगमें श्रमण किये हुए शिक्षा-बोधके निष्पन्न होनेसे, सहजमें ही जीवके उत्पन्न हुए कदाग्रह आदि दोष तो छूट ही जाने चाहिये, जिससे दूसरे जीवोंको सत्सगके अगर्णनादके बोलनेका प्रसंग उपस्थित न हो।

८ ज्ञानी-पुरुषने कुछ कहना बाकी नहीं रखा है, परन्तु जीवने करना बाकी रखा है। इस प्रकारका योगानुयोग किसी समय ही उदयमें आता है। उस प्रकारकी वॉँडासे रहित महात्माकी भक्ति तो सर्वथा कल्याणकारक ही होती है, परन्तु किसी समय महामाने प्रति यदि उस प्रकारकी वॉँडा हुई और उस प्रकारकी प्रवृत्ति हो चुकी हो, तो भी वही वॉँडा यदि असत्पुरुषके प्रति की हो, और उससे जो फल होता है, उसकी अपेक्षा इसका फल जुदा ही होना समझ है। यदि सत्पुरुषके प्रति उस कालमें निश्चयता रही हो तो काल आनेपर उनके पाससे समार्गकी प्राप्ति हो सकती है। एक प्रकारसे हमें अपने आप इसके लिये बहुत शोक रहता था, परन्तु उसके कल्याणका विचार करके शोकको निस्मरण कर दिया है।

९ मन वचन और कायाके योगसे जिसका केनडीस्वरूप भाव होकर अहंभावन दूर हो गया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषके परम उपशमरूप चरणारविंदको नमस्कार करके, बारम्बार उसका चिंतन करके, तुम उसी मार्गमें प्रवृत्तिकी इच्छा करते रहो—यह उपदेश देकर यह पत्र पूरा करता हूँ।

निर्परात कालमें अकेले होनेके कारण उदास !!!

३८२

ॐ

खमात, माद्रपद १९४९

अनादिकालसे विपर्यय बुद्धि होनेसे, और ज्ञानी-पुरुषकी बहुतसी चरणये अज्ञानी-पुरुष जैनी ही दिखाई देनेसे ज्ञानी-पुरुषमें निभ्रम बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, अथवा जीवको ज्ञानी पुरुषके प्रति उस उस चेष्टाका निकल्प आया करता है। यदि ज्ञानी-पुरुषका दूसरी दृष्टियोंसे यथार्थ निश्चय हुआ हो

भक्ति-राग है, इस तरह दोनों ही अपनेको एक गुरुके शिष्य समझकर, और निरन्तर दोनोंका सत्सग रहा करता है यह जानकर, भाई जैसी बुद्धिसे यदि उस प्रकारसे प्रेमपूर्वक रहा जाय तो वह बात विशेष योग्य है। ज्ञानी-पुरुषके प्रति भिन्नभाषको सर्वथा दूर करना योग्य है।

३८६

बम्बई, आसोज सुदी ५ शनि १९४९

आत्माको समाधिस्थ होनेके लिये—आत्मस्वरूपमें स्थिति होनेके लिये—जिस मुखमें सुधारस वरसता है, वह एक अपूर्ण आधार है, इसलिये किसी प्रकारसे उसे वीज-ज्ञान भी कहो तो कोई हानि नहीं। केवल इतना ही भेद है कि ज्ञानी-पुरुष जो उससे आगे है, यह जाननेवाला होना चाहिये कि यह ज्ञान आत्मा है।

द्रव्यसे द्रव्य नहीं मिलता, यह जाननेवालेका कोई कर्तव्य नहीं कहा जा सकता। परन्तु वह किस समय ? वह उसी समय जब कि स्वद्रव्यको द्रव्य, क्षेत्र, काळ और भावसे यथास्थित समझ लेनेपर, स्वद्रव्य स्वरूप-परिणामसे परिणामित होकर, अन्य द्रव्यके प्रति सर्वथा उदास होकर, कृतकृत्य होनेपर, कुछ कर्तव्य नहीं रहता, ऐसा योग्य है, और ऐसा ही है।

३८७

बम्बई, आसोज सुदी ९ बुध १९४९

(१)

खुले पत्रमें सुधारसके निपयमें प्रायः स्पष्ट ही लिखा था, उसे जान-बूझकर लिखा था। ऐसा लिखनेसे उलटा परिणाम आनेवाला नहीं, यह जानकर ही लिखा था। इस बातकी कुछ कुछ चर्चा करनेवाले जीवको यदि वह बात पढ़नेमें आवे तो वह बात उससे सर्वथा निर्धारित हो जाय, यह नहीं हो सकता। परन्तु यह हो सकता है कि 'जिस पुरुषने ये वाक्य लिखे हैं, वह पुरुष किसी अपूर्ण मार्गका ज्ञाता है, और उससे इस बातका निराकरण होना मुख्यतासे सभ्य है,' यह जानकर उसकी उस पुरुषके प्रति कुछ भी भावना उत्पन्न हो। कदाचित् ऐसा मान ले कि उसे उस पुरुषनिपयक कुछ कुछ ज्ञान हो गया हो, और इस स्पष्ट लेखके पढ़नेसे उसे विशेष ज्ञान होकर, स्वयं अपने आप ही वह निश्चयपर पहुँच जाय, परन्तु वह निश्चय इस तरह नहीं होता। उसके यथार्थ स्थलका जान लेना उससे नहीं हो सकता, और उस कारणसे यदि जीवको विक्षेपकी उत्पत्ति हो कि यह बात किसी प्रकारसे जान ली जाय तो अच्छा है, तो उस प्रकारसे भी, जिस पुरुषने लिखा है उसके प्रति उसकी भावनाकी उत्पत्ति होना सभ्य है।

तीसरा प्रकार इस तरह समझना चाहिये कि 'यदि सत्पुरुषकी वाणी स्पष्टरूपसे भी लिखी गई हो तो भी जिसे उसका परमार्थ—सत्पुरुषका सत्सग—आज्ञाकितरूपसे नहीं हुआ, उसे समझाना कठिन होता है,' इस प्रकार उस पढ़नेवालेको कभी भी स्पष्ट ज्ञान होना सभ्य है। यद्यपि हमने तो अति स्पष्ट नहीं लिखा था, तो भी उन्हें इस प्रकार कुछ सभ्य मादूम होता है। परन्तु हम तो ऐसा समझते हैं कि यदि अति स्पष्ट लिखा हो तो भी प्रायः करके समझमें नहीं आता, अथवा निपरीत ही समझमें

आता है, और अतमें फिर उसे विशेष उत्पन्न होकर सगार्गमें भागना होना समझ होता है। इस पत्रमें हमने इच्छापूर्वक ही स्पष्ट लिखा था।

सहज स्वभावसे भी न विचार किया हुआ प्रायः परमार्थके सत्रयमें नहीं लिया जाता, अथवा नहीं बोला जाता, जो अपरमार्थरूप परिणामको प्राप्त करे।

(२)

उस ज्ञानके विषयमें हमारा लिखनेका जो दूसरा आशय है, उसे यहाँ विशेषतासे लिया है।

(१) जिस ज्ञानी-पुरुषको स्पष्ट आत्माका किसी अपूर्व लक्षणसे, गुणसे और वेदनरूपसे अनुभव हुआ है, और जिसकी आत्मा तद्रूप हो गई है, उस ज्ञानी-पुरुषने यदि उस सुधारसका ज्ञान दिया हो तो उसका परिणाम परमार्थ-परमार्थस्वरूप है।

(२) और जो पुरुष उस सुधारसको ही आत्मा जानता है, यदि उससे उस ज्ञानकी प्राप्ति हुई हो, तो वह व्यवहार-परमार्थस्वरूप है।

(३) वह ज्ञान कदाचित् परमार्थ परमार्थस्वरूप ज्ञानीने न दिया हो, परन्तु उस ज्ञानी पुरुषने जीवको इस प्रकार उपदेश किया हो, जिसे वह सगार्गके समुग आकर्षित हो, और यदि वह जीवको रचिकार हुआ हो तो उसका ज्ञान परमार्थ-व्यवहाररूप है।

(४) तथा इसके सिवाय शाय आदिका ज्ञाता जो सामान्यप्रकारसे मार्गानुसारी जैसी उपदेशकी बात करे, उसकी श्रद्धा करना, यह व्यवहार व्यवहाररूप है। इस तरह सुगमतासे समझनेके लिये ये चार प्रकार होते हैं।

परमार्थ-परमार्थस्वरूप मोक्षका निकट उपाय है। इसके बाद परमार्थ-व्यवहाररूप परपरा सत्रयसे मोक्षका उपाय है। व्यवहार-परमार्थस्वरूप बहुत कालमें किसी प्रकारसे भी मोक्षके साधनके कारणभूत होनेका उपाय है। व्यवहार-व्यवहारस्वरूपका फल आत्मप्रत्ययी होना समझ नहीं। इस बातको फिर किसी प्रमगपर विशेषरूपसे लिखेंगे, इससे वह विशेषरूपसे समझमें आयेगी। परन्तु यदि इतने सक्षेपमें विशेष समझमें न आये तो व्याकुल नहीं होना।

जिसे लक्षणसे, गुणसे, और वेदनसे आत्माका स्वरूप माझ हुआ है, उसे ध्यानका यह एकतम उपाय है, जिससे आत्म-प्रदेशकी स्थिरता होती है, और परिणाम भी स्थिर होता है। जिसने लक्षणसे, गुणसे, और वेदनसे आत्माका स्वरूप नहीं जाना, ऐसे मुमुक्षुको यदि ज्ञानी-पुरुषका बताया हुआ ज्ञान हो तो उसे अनुक्रमसे लक्षण आदिका बोध सुगमतासे होता है। मुम्बरस और उसका उत्पत्ति-क्षेत्र यह कोई अपूर्व-कारणरूप है, यह तुम निश्चयसे समझना। उसके बादका ज्ञानी-पुरुषका मार्ग जिसे क्लेशरूप न हो, इस प्रकार तुम्हें ज्ञानी-पुरुषका समागम हुआ है, इससे उस प्रकारका निश्चय रखनेके लिये कहा है। यदि उसके बादका मार्ग क्लेशरूप होता हो, और यदि उसमें किसीको अपूर्व-कारणरूपसे निश्चय हुआ हो तो किसी प्रकारसे उस निश्चयको पाँठे हटाना ही उपायरूप है, इस प्रकार हमारी आत्मामें लक्ष रहना करता है।

कोई अज्ञानभावसे पत्रकी स्थिरता करता है, परन्तु श्वासोच्छ्वासका निरोध करना उसे कल्याणका हेतु नहीं होता। और कोई ज्ञानीकी आज्ञापूर्वक श्वासोच्छ्वासका निरोध करता है, तो उसे उस

कारणसे जो स्थिरता आती है, वह आत्माको प्रगट करनेका हेतु होती है। आसो-प्यामकी स्थिरता होना, यह एक प्रकारसे बहुत कठिन बात है। उसका सुगम उपाय एकतार मुखरम करनेसे होता है, इसलिये वह विशेष स्थिरताका साधन है। परन्तु वह सुधारसे स्थिरता अज्ञानभाससे फलीभूत नहीं होती, अर्थात् कल्याणरूप नहीं होती, तथा उस गीज-ज्ञानका ध्यान भी अज्ञानभाससे कल्याणरूप नहीं होता इतना हमें विशेष निश्चय भासित हुआ करता है। जिसने वेदनरूपसे आत्माको जान लिया है, उस ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञासे वह कल्याणरूप होता है, और वह आत्माको प्रगट होनेका अत्यंत सुगम उपाय है।

यहाँ एक दूसरी भी अपूर्व बात लिखना मूझती है। आत्मा एक चदन वृक्षके समान है। उसके पास जो जो वस्तुयें विशेषतासे रहती हैं, वे सब वस्तुयें उसकी सुगंधका विशेष गौरव करती हैं। जो वृक्ष चदनके पासमें होता है, उम वृक्षमें चन्दनकी गंध विशेषरूपसे स्फुरित होती है। जैसे जैसे वृक्ष दूर होता जाता है, वैसे वैसे सुगंध मंद होती जाती है, और अमुक मर्यादाके पश्चात् असुगंधरूप वृक्षोंका वन आरम्भ हो जाता है, अर्थात् उनमें चदनकी सुगंध नहीं रहती। इसी तरह जत्रतक यह आत्मा विभाज परिणामका सेवन करती है, तत्रतक उसे चदन-वृक्ष कहते हैं, आर उसके सबके साथ अमुक अमुक सूक्ष्म वस्तुका मंत्र है, उसमें उसकी छाया-रूप सुगंध विशेष पड़ती है, जिसका ज्ञानीकी आज्ञासे ध्यान होनेसे आत्मा प्रगट होती है।

पत्रकी अपेक्षा भी सुधारसमें आत्मा विशेष समीप रहती है, इसलिये उस आत्माकी विशेष छाया-सुगंधका ध्यान करना योग्य उपाय है। यह भी विशेषरूपसे समझने योग्य है।

३८८

ॐ

वम्बई, आसोज वदी ३, १९४९

प्राय व्याकुलताके समय चित्त व्याकुलताको दूर करनेकी शीघ्रतामें योग्य होता है या नहीं, इस बातकी सहज सावधानी, कदाचित् सुसुक्ष्म जनको भी कम हो जाती है, परन्तु यह बात योग्य तो इस तरह है कि उस प्रकारके प्रसंगमें कुछ थोड़े समयके लिये चाहे जैसे काम-काजमें उसे मानके समान—निर्विकल्पकी तरह—कर डालना। व्याकुलताको बहुत लम्बे समयतक कायम रहनेवाली समझ बैठना योग्य नहीं है। और यदि वह व्याकुलता बिना धीरजके सहन की जाती है तो यह अल्पकालीन होनेपर भी अधिक कालतरु रहनेवाली हो जाती है, इसलिये इच्छा और “यथायोग्य” समझकर मोन रहना ही योग्य है। मौनका अर्थ यह करना चाहिये कि अंतरमें निकल्प और सताप न किया करना।

३८९

ॐ

वम्बई, आसोज वदी १९४९

आत्मभाषना भावार्ता, जीव लहे केवलज्ञान ३।

३९०

गम्बई, आसोज वरी १३ रनि १९४९

आपके समयसारके कर्त्तव्यसहित दो पत्र मिठे हैं। निराकार-साकार चेतनाविषयक कर्त्तव्यका ऐसा अर्थ नहीं है कि उसका मुग्ररसमे कोई समझ किया जा सके। उसे हम फिर लिखेंगे।

मुद्धता विचारि ध्यायि, मुद्धतामें फेलि करे,
मुद्धतामें थिर व्हे, अमृतधारा परसै।

इस कर्त्तव्यमें सुधारसका जो माहात्म्य कहा है, वह केवल एक विद्वत्ता (सत्र प्रकारके अन्य परिणाममें रहित असत्यात-प्रदेशी आमत्रय) परिणामसे स्वरूपस्थ और अमृतग्य आत्माका वर्णन है। उसका परमार्थ यथार्थरूपसे हृदयगत है, जो अनुक्रमसे समझमें आयेगा।

३९१

गम्बई, आसोज १९४९

जे अनुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदसिणो।
अमुद्ध तसि परकृत सफल होई स्वप्सो ॥ १ ॥
जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदसिणो।
सुद्ध तेसि परकृत अफल होई स्वप्सो ॥ २ ॥

ऊपरकी गाथाओंमें जहाँ 'सफळ' शब्द है वहाँ 'अफल' ठीक मात्रम होता है, और जहाँ 'अफल' शब्द है वहाँ 'सफळ' ठीक मात्रम होता है, इसलिये क्या इसमें लेख-दोष रह गया है, या ये गाथायें ठीक हैं? इस प्रश्नका समाधान यह है कि यहाँ लेख-दोष नहीं है। जहाँ सफळ शब्द है वहाँ सफळ ठीक है, और जहाँ अफळ शब्द है वहाँ अफल ठीक है।

मिथ्यादृष्टिकी क्रिया सफळ है—फलसहित है—अर्थात् उमें पुण्य-पापका फल भोगना है। सम्यग्दृष्टिकी क्रिया अफळ है—फलरहित है—उसे फल नहीं भोगना है—अर्थात् उसकी निर्जरा है। एककी (मिथ्यादृष्टिकी) क्रियाका सत्कारहेतुक सफळपना है, और दूसरेकी (सम्यग्दृष्टिकी) क्रियाका सत्कारहेतुक अफलपना है—ऐसा परमार्थ समझना चाहिये।

३९२

गम्बई, आसोज १९४९

(१) स्वरूप स्वभावमें है। यह ज्ञानीकी चरण-सेनाके बिना अनत कालतरु प्राप्त न हो, ऐसा कठिन भी है।

हम और तुम हालमें प्रत्यक्षरूपसे तो नियोगमें रहा करते हैं। यह भी पूर्व-निवृत्तके किसी महान् प्रतिपक्षके उदयमें होने योग्य कारण है।

(२) हे राम! जिस अनसरपर जो प्राप्त हो जाय उसमें सतोपसे रहना, यह सत्पुरुषोंका कहा हुआ सनातन धर्म है, ऐसा वसिष्ठ कहते थे।

(३) जो ईश्वरेच्छा होगी वह होगा। मनुष्यका काम केवल प्रयत्न करना ही है, और उसीसे जो अपने प्रारब्धमें होगा वह मिल जायगा, इसलिये मनमें सकल्प विकल्प नहीं करना चाहिये।

निष्काम यथायोग्य

“ सिरपर राजा है ” इतने वाक्यके ऊहापोह (विचार) से गर्भ-श्रीमत श्रीशालिभद्र, उसी समयसे स्त्री आदिके परिचयके त्याग करनेका प्रारम्भ करते हुए ।

यह देखकर श्रीधनाभद्रके मुखसे वैराग्यके स्वाभाविक वचन उद्ग्न होते हुए कि “ नित्य प्रति एक एक स्त्रीका त्याग करके अनुक्रमसे वह शालिभद्र बत्तीसों स्त्रियोंका त्याग करना चाहता है । इस प्रकार शालिभद्र बत्तीस दिनतक काल-शिकारीका विश्वास करता है, यह महान् आश्चर्य है । ”

यह सुनकर शालिभद्रकी बहिन और धनाभद्रकी पत्नी धनाभद्रके प्रति इस प्रकार सहज वचन कहती हुई कि “ आप जो ऐसा कहते हो, यद्यपि वह हमें मान्य है, परन्तु आपको भी उस प्रकारसे त्याग करना कठिन है । ” यह सुनकर चित्तमें किसी प्रकारसे क्लेशित हुए त्रिना ही श्रीधनाभद्र उस ही समय त्यागकी शरण लेते हुए, और श्रीशालिभद्रसे कहते हुए कि तुम किस निचारसे कालका विश्वास करते हो ? यह सुनकर, जिसका चित्त आत्मरूप हो गया है ऐसा वह श्रीशालिभद्र और धनाभद्र इस प्रकारसे गृह आदिको छोड़कर ससारका त्याग करते हुए कि “ मानों किसी दिन उन्होंने अपना कुछ किया ही नहीं । ”

इस प्रकारके सत्पुरुषके वैराग्यको सुनकर भी यह जीव बहुत वर्षोंके आग्रहसे कालका विश्वास कर रहा है, वह कौनसे बलसे करता होगा—यह निचारकर देखना योग्य है ।

वाणीका समय करना श्रेयरूप है, परन्तु व्यवहारका सबध इस तरहका रहता है कि यदि सर्वधाररूपसे उस प्रकारका समय रखें तो समागममें आनेवाले जीवोंको वह क्लेशका हेतु हो, इसलिये बहुत करके यदि प्रयोजनके सिवाय भी समय रक्खा जाय, तो उसका परिणाम किसी तरह श्रेयरूप आना सभय है ।

जीवके मूढ़भावका फिर फिरसे, प्रत्येक क्षणमें, प्रत्येक समागममें विचार करनेमें यदि साधनानी न रखनेमें आई तो इस प्रकार जो संयोग बना है, वह भी वृथा ही है ।

हालमें विशेषरूपसे नहीं लिखा जाता । उसमें उपाधिकी अपेक्षा चित्तका सक्षेपभाय विशेष कारणरूप है । (चित्तकी इच्छारूपमें किसी प्रवृत्तिका सक्षिप्त हो जाना—न्यून हो जाना—उसे यहाँ सक्षेपभाय लिखा है ।)

हमने ऐसा अनुभव किया है कि जहाँ कहीं भी प्रमत्त-दशा हो वहाँ आत्मामें जगत्-प्रत्ययी कामका

अनकाश होना योग्य है। जहाँ सर्पया अप्रमत्तता है, वहाँ आत्माके सिवाय दूसरे किसी भी भावका अनकाश नहीं रहता। यद्यपि तीर्थंकर आदि सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेनेके बाद किसी तरहकी देह-क्रिया सहित दिखाई देते हैं, परन्तु यदि आत्मा इस क्रियाका अवकाश प्राप्त करे तो ही वह उस क्रियाको कर सकती है। ज्ञान होनेके पश्चात् इस प्रकारकी कोई क्रिया नहीं हो सकती, और तो ही वहाँ सम्पूर्ण ज्ञान होना योग्य है, यह ज्ञानी पुरुषोंका सन्देहरहित निश्चय है—ऐसा हमें लगता है। जैसे पुर आदि रोगमें चित्तको कोई स्नेह नहीं होता, उसी तरह इन भावोंमें भी स्नेह नहीं रहता—लगभग स्पष्ट रूपसे नहीं रहता, और उस प्रकारके प्रतिपक्षके रहितपनेका विचार हुआ करता है।

३९६

मोहमयी, माघ वदी ४ शुक्र १९५०

तुम्हारा पत्र मिला है। उसके साथ जो प्रश्नोंकी सूची उतारकर भेजी है वह भी मिली है।

उन प्रश्नोंमें जो विचार प्रगट किये हैं, वे पहिले विचार-भूमिकामें विचारने योग्य हैं। जिस पुरुषने वह प्रथ बनाया है, उसने वेदात् आदि शास्त्रके अमुक प्रथके अचलोकनके ऊपरसे ही वे प्रश्न लिखे हैं। इसमें कोई अत्यन्त आश्चर्यकी बात नहीं लिखी है। इन प्रश्नोंका तथा इस तरहके विचारोंका बहुत समय पहिले विचार किया था, और इस प्रकारके विचारोंका विचार करनेके लिये तुम्हें तथा को कहा था। तथा दूसरे उस प्रकारके मुमुक्षुको भी इस प्रकारके विचारोंके अपलोकन करनेके निषयमें कहा था, अथवा अब भी कहते हैं, जिन विचारोंके करनेसे अनुरुमसे सत्-असत्का पूरा निवेक हो सके।

हालमें साल-आठ दिनसे शरीर जरसे प्रस्त था, अब दो दिनसे ठीक है।

जो कविता भेजी वह मिली है। उसमें आलापिकारूपमें तुम्हारा नाम बताया है, और कविता करनेमें जो कुछ निचक्षणता चाहिये, उसे दिखानेका विचार रखा है। कविता ठीक है।

कविताका कवितार्थके लिये आराधन करना योग्य नहीं—ससाराथके लिये आराधन करना योग्य नहीं। यदि उसका प्रयोजन भगवान्के भजनके लिये—आत्मकल्याणके लिये—हो तो जीसको उस गुणकी क्षयोपशमताका फल मिलता है। जिस विद्यासे उपशम गुण प्रगट नहीं हुआ—निवेक नहीं आया, अथवा समाधि नहीं हुई, उस विद्याके निषयमें श्रेष्ठ जीवको आग्रह करना योग्य नहीं है।

हालमें अब प्राय करके मोतीकी खरीद बंद ही रखी है। जो विलायतमें हैं उनको भी क्रम क्रमसे बेच डालनेका विचार कर रखा है। यदि यह प्रसंग न होता तो उस प्रसंगमें उत्पन्न होनेवाली जजाल और उसका उपशमन न होता। अब वह स्वसंवेदनरूपसे अनुभवमें आया है। वह भी एक प्रकारकी प्रारब्धकी निवृत्तिरूप है।

३९७

मोहमयी, माघ वदी ९ गुरु १९५०

यहाँके उपाधि-प्रसंगमें कुछ विशेष सहनशीलतासे रहना पड़े, इस प्रकारकी मांसम होनेके

कारण आगमों गुणकी विशेष स्पष्टता रहती है। प्रायः करके अगसे यदि बने तो नियमितरूपसे कोई सत्सगकी बात लिखना।

३९८

बम्बई, फाल्गुन सुदी ४ रति १९५०

वारवार अरुचि हो जाती है, फिर भी प्रारब्ध-योगसे उपाधिसे दूर नहीं हुआ जा सकता।

(२)

हालमें डेढ़ दो महिने हुए उपाधिके प्रसंगमें विशेष विशेषरूपसे सत्सगके स्वरूपका वेदन हुआ है। यद्यपि इस प्रकारके अनेक प्रसंगोंका वेदन किया है, फिर भी प्रायः ज्ञानपूर्वक वेदन नहीं किया। इस देहमें और उस पहिलेकी बोन-बीज हेतुवाली देहमें किया हुआ वेदन मोक्ष-कार्यमें उपयोगी है।

३९९

बम्बई, फाल्गुन सुदी ११ रति १९५०

“तीर्थंकरदेव प्रमादको कर्म कहते हैं, और अप्रमादको उससे विपरीत अर्थात् अकर्मरूप आत्म-स्वरूप कहते हैं। इस प्रकारके भेदसे अज्ञानी और ज्ञानीका स्वरूप है (कहा है)”—सूयगडसूत्र-वीर्य-अध्ययन।

“जिस कुलमें जन्म हुआ है, और जीव जिसके सहवासमें रहता है, उसमें यह अज्ञानी जीव ममता करता है, और उसीमें निमग्न रहा करता है”—(सूयगड—प्रथमाध्ययन)

“जो ज्ञानी-पुरुष भूतकालमें हो गये हैं, और जो ज्ञानी-पुरुष भविष्यकालमें होंगे, उन सब पुरुषोंने “शांति” (समस्त विभाव परिणामसे एक जाना—निवृत्त हो जाना) को सन धर्मोंका आधार कहा है। जैसे भूतमात्रको पृथ्वी आधारभूत है, अर्थात् जैसे प्राणीमात्र पृथ्वीके ही आधारसे रहते हैं—प्रथम उनको उसका आधार होना योग्य है—वैसे ही पृथ्वीकी तरह, ज्ञानी-पुरुषोंने सन प्रकारके कल्याणका आधार “शांति” ही कहा है”—(सूयगड)

४००

बम्बई, फाल्गुन सुदी ११ रति १९५०

ॐ

(१)

बुधवारको एक पत्र लिखेंगे, नहीं तो रविवारको विस्तारसहित पत्र लिखेंगे, ऐसा लिखा था, उसे लिखते समय चिन्तमें यह आया था कि तुम मुमुक्षुओंको कोई नियम जैसी स्थिरता होनी चाहिये, और उस नियममें कुछ लिखना सूझे तो लिखना चाहिये। लिखते समय ऐसा हुआ कि जो कुछ लिखा जाता है, उसे सत्सगके समागममें विस्तारसे कहना योग्य है, और वह कुछ फलस्वरूप होने योग्य है।

(२)

इतनी बातका निश्चय रखना योग्य है कि ज्ञानी-पुरुष भी प्रारब्ध कर्मके भोगे बिना निवृत्त नहीं होता, और बिना भोगे निवृत्त होनेकी ज्ञानीको कोई इच्छा भी नहीं होती। ज्ञानीके सिवाय दूसरे

जीवोंको भी इस तरहके ऋतुसे कर्म हैं, जो भोगनेपर ही निवृत्त होते हैं—अर्थात् वे प्रारब्ध जैसे होते हैं। परन्तु दोनोंमें इतना भेद है कि ज्ञानीकी प्रवृत्ति तो मात्र पूर्वोपाहित कारणसे होती है, और दूसरोंकी प्रवृत्तिका उद्देश भविष्य सत्सार है, इसलिये ज्ञानीका प्रारब्ध जुदा ही पड़ना है।

इस प्रारब्धका यह निश्चय नहीं कि वह निवृत्तिरूपसे ही उदय आवे। उदाहरणके लिये श्रीकृष्ण आदि ज्ञानी-पुरुषके प्रवृत्तिरूप प्रारब्ध होनेपर भी उनकी ज्ञान दशा थी, जैसे गृहस्थानस्थानमें भीतीर्थकर की थी। इस प्रारब्धका निवृत्त होना केवल भोगनेसे ही समभव होता है। ज्ञानी-पुरुषकी प्रारब्ध-स्थिति कुछ इस प्रकार की है कि जो उसका स्वल्प जाननेके लिये जीवोंको सदेहका हेतु हो, और उसके लिये ज्ञानी पुरुष प्राय करके जड़—गौन-दशा रगकर अपने ज्ञानीपनेको अस्पष्ट रखता है। फिर भी प्रारब्धके वशसे यदि वह दशा किसीके स्पष्ट जाननेमें आ जाय, तो फिर उसे उस ज्ञानी-पुरुषका प्रिचित्र प्रारब्ध सदेहका कारण नहीं होता।

४०१ नम्बई, फाल्गुन वदी १० शनि १९५०

श्रीशिक्षापत्र प्रथम बौचने-विचारनेमें एात्मं कोई बाग नहीं है। जहाँ कोई शकाका हेतु उपस्थित हो वहाँ विचार करना, अथवा कोई प्रश्न पूँउने योग्य हो तो पूँउनेमें कोई प्रतिपद्य नहीं है।

सुदर्शन सेठ पुरुषत्वमें था, फिर भी वह रानीके समागममें व्याकुलतासे रहित था। अत्यंत आम-व्यत्से कामके उपशम करनेसे कामेन्द्रियमें अजागृतपना ही समभव होता है। और यदि उस समय रानीने कदाचित् उसकी देहका सहवास करनेकी इच्छा भी की होती, तो भी श्रीसुदर्शनमें कामकी जागृति देरनेमें न आती—ऐसा हमें लगता है।

४०२ बम्बई, फाल्गुन वदी ११ रवि १९५०

शिक्षापत्र प्रथममें मुत्त्य भक्तिका प्रयोजन है। भक्तिके आधाररूप त्रिनेक, धैर्य और आश्रय इन तीन गुणोंकी उसमें विशेष पुष्टि की है, उसमें धैर्य और आश्रयका विशेष सम्यक्प्रकारसे प्रतिपादन किया है, जिनका विचार करके मुमुक्षु जीवको उन्हें अपना गुण मनाना चाहिये।

इसमें श्रीकृष्ण आदिके जो जो प्रसंग आते हैं, वे इस प्रकारके हैं कि वे शायद सदेहके हेतु हों, फिर भी उनमें श्रीकृष्णके स्वरूपको समझनेका फेर समझकर उपेक्षित रहना ही योग्य है। मुमुक्षुका प्रयोजन केवल हित बुद्धिसे बौचने-विचारनेका ही होता है।

४०३ बम्बई, फाल्गुन वदी ११ रवि १९५०

उपाधि दूर करनेके लिये दो प्रकारसे पुरुषार्थ हो सकता है—एक तो किसी भी व्यापार आदि कार्यसे, और दूसरे विद्या, मत्र आदि साधनसे। यद्यपि इन दोनोंमें पहिले जीवको अतरायके दूर होनेकी शक्यता होनी चाहिये। यदि पहिला बताया हुआ पुरुषार्थ किसी तरह नसे तो उसे करनेमें

हमें हालमें प्रतिबन्ध नहीं है, परन्तु दूसरे पुरुषार्थके नियमों तो सर्वथा उदासीनता ही है, और इसके स्मरणमें आ जानेसे भी चित्तमें खेद हो आता है, इस तरह उस पुरुषार्थके प्रति अनिच्छा ही है।

जितनी आकुलता है उतना ही मार्गका विरोध है, ऐसा ज्ञानी-पुरुष कह गये हैं।

४०४

वम्बई, फाल्गुन १९५०

ॐ

तीर्थंकर वारम्बार नाँचे कहा हुआ उपदेश करते थे —

हे जीव ! तुम समझो ! सम्यक्प्रकारसे समझो ! मनुष्यता मिलना बहुत दुर्लभ है, और चारों गतिर्याँ भयसे व्याप्त हैं, ऐसा जानो । अज्ञानसे सद्विवेकका पाना कठिन है, ऐसा समझो । समस्त लोको एकाल दुःखसे जल रहा है, ऐसा मानो । और सब जीव अपने अपने कर्मोंसे त्रिपर्याप्त भागका अनुभव करते हैं, उसका विचार करो । (सूयगड अघ्ययन ७-१२)

जिसका सर्व दुःखसे मुक्त होनेका विचार हुआ हो, उस पुरुषको आत्माकी गवेषणा करनी चाहिये, और यदि आत्माकी गवेषणा करना हो तो यम, नियम आदि सत्र साधनोंके आग्रहको अप्रधान करके सत्सगकी गवेषणा एव उपासना करनी चाहिये । जिसे सत्सगकी उपासना करना हो उसे सत्सगकी उपासना करनेके आमभागका सर्वथा त्याग करना चाहिये । अपने समस्त अभिप्रायका त्याग करके अपनी सर्व शक्तिसे उस सत्सगकी आज्ञाकी उपासना करनी चाहिये । तीर्थंकर ऐसा कहते हैं कि जो कोई उस आज्ञाकी उपासना करता है, वह अश्व ही सत्सगकी उपासना करता है । इस प्रकार जो सत्सगकी उपासना करता है वह अश्व ही आत्माकी उपासना करता है, और आत्माकी उपासना करनेवाला सत्र दुःखोंसे मुक्त हो जाता है । (द्वादशांगीका अखण्डसूत्र) ।

ऊपर जो उपदेश लिखा है, वह गाथा सूयगडमें निम्नरूपसे है —

सबुज्झहा जतत्रो माणुसत्त, ददुठु भय बाल्लिसेणं अलभो ।

एगतदुक्खे जरिए व लोए, सकम्मणुणा विप्परिया सुवेइ ॥

सत्र प्रकारकी उपाधि, आधि और व्याधिसे यदि मुक्तभावसे रहते हों, तो भी सत्सगमें सन्निष्ट भक्ति, हमें दूर होना कठिन माझ्म होती है । सत्सगकी सर्वोत्तम अपूर्वता हमें दिन-रात रहा करती है, फिर भी उदय-योग प्रारब्धसे उस प्रकारका अतराय रहा करता है । प्राय करके हमारी आत्मामें किसी बातका खेद उत्पन्न नहीं होता, फिर भी प्राय करके सत्सगके अतरायका खेद तो दिन-रात रहा करता है । सर्व भूमि, सब मनुष्य, सब काम, सब बात-चीत आदिके प्रसंग, स्वाभाविकरूपसे अज्ञात जैसे, सर्वथा परके, उदासीन जैसे, अरमणीय, अमोहकर और रसरहित भासित होते हैं । केवल ज्ञानी-पुरुष, मुमुक्षु पुरुष अथवा मार्गानुसारी पुरुषोंका सत्सग ही ज्ञात, निजका, प्रीतिकर, सुदर, आकर्षक और रसस्वरूप भासित होता है । इस कारण हमारा मन प्राय करके अप्रतिबद्धताका सेवन करते करते तुम जैसे मार्गच्छानान पुरुषोंमें प्रतिबद्धता प्राप्त करता है ।

४०५

बम्बई, फाल्गुन १९५०

ॐ

मुमुक्षु जीवको इस कालमें ससारकी प्रतिकूल दशाओंका प्राप्त होना, वह उसे ससारसे पार होनेके बराबर है। अनतकाउसे अभ्यसित इस ससारके स्पष्ट विचार करनेका समय प्रतिकूल समागममें अधिक होता है, यह बात निश्चय करनी योग्य है।

यदि प्रतिकूल समागम समतापूर्वक सहन किया जाय तो वह जीवको निर्वाणकी समापताका साधन है।

व्यापहारिक प्रसंगोंकी नित्य चित्र विचित्रता है। उसकी ऐसी स्थिति है कि उसमें केवल कल्पनासे ही सुख और कल्पनासे ही दुःख है। अनुकूल कल्पनासे वह अनुकूल भासित होता है, प्रतिकूल कल्पनासे वह प्रतिकूल भासित होता है, और ज्ञानी-पुरुषोंने वे दोनों ही कल्पनायें करनेकी मना की है। विचारवानको शोक करना ठीक नहीं—ऐसा श्रुतीर्थकर कहते थे।

४०६

बम्बई, फाल्गुन १९५०

(१)

अनन्य शरणके देनेवाले श्रीसद्गुरुदेवको अत्यंत भाक्तिसे नमस्कार हो

जिन्होंने शुद्ध आत्मस्वरूपको पा लिया है, ऐसे ज्ञानी पुरुषोंने नाचे कहे हुए छह पदोंको सम्यग्दर्शनके निवासका सर्वोत्कृष्ट स्थानक कहा है —

प्रथम पद — 'आत्मा हे'। जैसे घट, पट आदि पदार्थ हैं वैसे ही आत्मा भी है। अमुक गुणोंके होनेके कारण जैसे घट, पट आदिके होनेका प्रमाण मिलता है, वैसे ही जिसमें स्र-पर-प्रकाशक चैतन्य सत्ताका प्रत्यक्ष गुण मौजूद है, ऐसी आत्माके होनेका भी प्रमाण मिलता है।

दूसरा पद — 'आत्मा नित्य हे'। घट, पट आदि पदार्थ अमुक कालमें ही रहते हैं। आत्मा त्रिकालवर्ती है। घट, पट आदि सयोगजय पदार्थ हैं। आत्मा स्वामात्रिक पदार्थ है, क्योंकि उसकी उत्पत्तिके लिये कोई भी सयोग अनुभवमें नहीं आता। किसी भी सयोगी द्रव्यसे चेतन-सत्ता प्रगत होने योग्य नहीं है, इसलिये वह अनुपन्न है। वह असयोगी होनेसे अविनाशी है, क्योंकि जिसकी किसी सयोगसे उत्पत्ति नहीं होती, उसका किसीमें नाश भी नहीं होता।

तीसरा पद — 'आत्मा कर्ता हे'। स्र पदार्थ अर्थ-क्रियासे सपन्न हैं। सभी पदार्थोंमें कुछ न कुछ क्रियासहित परिणाम देखनेमें आता है। आत्मा भी क्रिया सपन्न है। क्रिया सपन्न होनेके कारण वह कर्ता है। श्रीजिनभगवान्ने इस कर्तापनेका तीन प्रकारसे विवेचन किया है — परमार्थसे आत्मा स्वभाव-परिणतिसे निजस्वरूप-ज्ञा कर्ता है। अनुपचरित (अनुभवमें आने योग्य—विशेष सबधसहित) व्यवहारसे आत्मा द्रव्य-कर्मका कर्ता है। उपचारसे आत्मा धर नगर आदिका कर्ता है।

चौथा पद — 'आत्मा भोक्ता है'। जो जो कुछ क्रियायें होती हैं, वे सब किसी प्रयोजनपूर्वक

ही होती है—निरर्थक नहीं होती । जो कुछ भी किया जाता है उसका फल अत्रय भोगनेमें आता है, यह प्रत्यक्ष अनुभव है । जिस तरह विष खानेसे विषका फल, मिश्री खानेसे मिश्रीका फल, अग्निसे स्पर्श करनेसे अग्नि-स्पर्शका फल, हिमके स्पर्श करनेसे हिम-स्पर्शका फल मिले बिना नहीं रहता, उसी तरह कपाय आदि अथवा अकपाय आदि जिस किसी परिणामसे भी आत्मा प्रवृत्ति करती है, उसका फल भी मिलना योग्य ही है, और वह मिलता है । उस क्रियाका कर्ता होनेसे आत्मा भोक्ता है ।

पंचमो पद—‘ मोक्षपद है ’ । जिस अनुपचरित-व्यवहारसे जीवके कर्मका कर्तृत्व निरूपण किया और कर्तृत्व होनेसे भोक्तृत्व निरूपण किया, वह कर्म दूर भी अत्रय होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष कपाय आदिकी तीव्रता होनेपर भी उसके अनभ्यासे—अपरिचयसे—उसके उपशम करनेसे—उसकी मदता दिखाई देती है—वह क्षीण होने योग्य मालूम होता है—क्षीण हो सकता है । उस सब बध-भाजके क्षीण हो सकने योग्य होनेसे उससे रहित जो शुद्ध आत्मभाव है, उसरूप मोक्षपद है ।

छठा पद—‘ उस मोक्षका उपाय है ’ । यदि कचित् ऐसा हो कि हमेशा कर्मका बध ही बध हुआ करे, तो उसकी निवृत्ति कभी भी नहीं हो सकती । परन्तु कर्मग्रसे विपरीत स्वभाववाले ज्ञान, दर्शन, समाधि, वैराग्य, भक्ति आदि साधन प्रत्यक्ष हैं, जिस साधनके बलसे कर्म-बध शिथिल होता है—उपशम होता है—क्षीण होता है, इसलिये वे ज्ञान, दर्शन, सयम आदि मोक्ष-पदके उपाय हैं ।

श्रीज्ञानी पुरुषोंद्वारा सम्यग्दर्शनके मुख्य निवासभूत कहे हुए इन छह पदोंको यहाँ संक्षेपमें कहा है । समीप-मुक्तिगामी जीवको स्वाभाविक विचारमें ये पद प्रामाणिक होने योग्य हैं—परम निश्चयरूप जानने योग्य हैं, उसकी आत्मामें उनका सम्पूर्णरूपसे विस्तारसहित विवेक होना योग्य है । ये उह पद सदेहरहित हैं, ऐसा परम पुरुषने निरूपण किया है । इन उह पदोंका विवेक जीवको निजस्वरूप समझनेके लिये कहा है । अनादि स्वप्न-दशाके कारण उत्पन्न हुए जीवके अहंभाव—ममत्वमानको दूर करनेके लिये ज्ञानी-पुरुषोंने इन छह पदोंकी देशना प्रकाशित की है । एक केवल अपना ही स्वरूप उस स्वप्नदशामें रहित है, यदि जीव ऐसा विचार करे तो वह सहजमात्रमें जागृत होकर सम्यग्दर्शनको प्राप्त हो, सम्यग्दर्शनको प्राप्त होकर निज स्वभावरूप मोक्षको प्राप्त करे । उसे किमी विनाशी, अशुद्ध और अन्यभाजमें हर्ष, शोक और संयोग उत्पन्न न हो, उस विचारसे निज स्वरूपमें ही निरन्तर शुद्धता, सम्पूर्णता, अविनाशीपना, अत्यंत आनन्दपना उसके अनुभवमें आता है । समस्त विभाव पर्यायोंमें केवल अपने ही अध्यासे एकता हुई है, उससे अपनी सर्वथा भिन्नता ही है, यह उसे स्पष्ट—प्रत्यक्ष—अत्यंत प्रत्यक्ष—अपरोक्ष अनुभव होता है । विनाशी अथवा अय पदार्थके संयोगमें उसे इष्ट-अनिष्ट-भाव प्राप्त नहीं होता । जन्म, जरा, मरण, रोग आदिकी बाधाहित, सम्पूर्ण माहात्म्यके स्थान ऐसे निज-स्वरूपको जानकर—अनुभव करके—वह कृतार्थ होता है । जिन जिन पुरुषोंको इन उह पदोंके प्रमाणभूत ऐसे परम पुरुषके वचनसे आत्माका निश्चय हुआ है, उन सब पुरुषोंने सर्व स्वरूपको पा लिया है वे आधि, व्याधि, उपाधि और सर्वसंगसे रहित हो गये हैं, होते हैं, और भविष्यमें भी वैसे ही होंगे ।

जिन सपुरुषोंने जन्म, जरा, और मरणका नाश करनेवाला, निज स्वरूपमें सहज-अस्थान होनेका उपदेश दिया है, उन सपुरुषोंको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार है । उनकी निष्कारण करुणासे

नित्य प्रति निरंतर स्तवन करनेसे भी आत्म-स्वभावात् प्रगटित होता है। ऐसे सब सत्पुरुष ओर उनके चरणारविन्द सदा ही हृदयमें स्थापित रहो !

जिसके वचन अगीकार करनेपर, छह पदोंसे सिद्ध ऐसा आत्मस्वरूप सहजमें ही प्रगटित होता है, जिस आत्म-स्वरूपके प्रगट होनेसे सर्वकालमें जीव सपूर्ण आनन्दको प्राप्त होकर निर्भय हो जाता है, उस वचनके कहनेवाले ऐसे सत्पुरुषके गुणोंकी व्याख्या करनेकी हममें असामर्थ्य ही है। क्योंकि जिसका कोई भी प्रत्युपकार नहीं हो सकता ऐसे परमात्मभावात्को, उसने किसी भी इच्छाके विना, केवल निष्कारण करुणासे ही प्रदान किया है। तथा ऐसा होनेपर भी जिसने दूसरे जीवको 'यह मेरा शिष्य है, अथवा मेरी भक्ति करनेवाला है, इसलिये मेरा है' इस तरह कभी भी नहीं देखा—ऐसे सत्पुरुषको अत्यंत भक्तिसे फिर फिरसे नमस्कार हो !

जिन सत्पुरुषोंने जो सद्गुरुकी भक्ति निरूपण की है, वह भक्ति केवल शिष्यके कल्याणके लिये ही कही है। जिस भक्तिके प्राप्त होनेसे सद्गुरुकी आत्माकी चेष्टामें वृत्ति रहे, अपूर्ण गुण दृष्टिगोचर होकर अन्य स्वच्छन्द दूर हो, और सहजमें आम-बोध मिले, यह समझकर जिसने भक्तिका निरूपण किया है, उस भक्तिको ओर उन सत्पुरुषोंको फिर फिरसे त्रिकाल नमस्कार हो !

यद्यपि कभी प्रगटरूपसे वर्तमानमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हुई, परन्तु जिसके वचनके विचार-योगसे केवलज्ञान शक्तिरूपसे मौजूद है, यह स्पष्ट जान लिया है—इस प्रकार श्रद्धारूपसे केवलज्ञान हुआ है—विचार दशासे केवलज्ञान हुआ है—इच्छा-दशासे केवलज्ञान हुआ है—मुरय नयके हेतुसे केवलज्ञान रहता है, जिसके सयोगसे जीव सर्व अव्याबाध सुखके प्रगट करनेवाले उस केवलज्ञानको, सहज-मात्रमें पानेके योग्य हुआ है, उस सत्पुरुषके उपकारको सर्वोत्कृष्ट भक्तिसे नमस्कार हो ! नमस्कार हो ! !

(२)

सम्पददर्शनस्वरूप श्रीजिनके उपदेश किये हुए निम्न लिखित छह पदोंका अन्तर्मात्मी जीवको अति-शयरूपसे विचार करना योग्य है।

आत्मा है, क्योंकि वह प्रमाणसे सिद्ध है—यह अस्तिपद।

आत्मा नित्य है—यह नित्यपद। आत्माके स्वरूपका किसी भी प्रकारसे उत्पन्न होना ओर विनाश होना संभव नहीं।

आत्मा कर्मका कर्ता है—यह कर्तापद।

आत्मा कर्मका भोक्ता है।

उस आत्माकी मुक्ति हो सकती है।

जिनसे मोक्ष हो सके ऐसे साधन निश्चित है।

४०७

ॐ

बम्बई, चैत्र सुदी १९५०

हालमें यहाँ बाह्य उपाधि कुछ कम रहती है। तुम्हारे पत्रमें जो पत्र लिखे हैं, उनका समाधान नीचे लिखा है, विचार करना।

पूर्वकर्म दो प्रकारके हैं। अथवा जीनसे जो जो कर्म किये जाते हैं, वे दो प्रकारसे किये जाते हैं। एक कर्म इस तरहके है कि उनकी काल आदिकी जिस तरह स्थिति है, वह उसी प्रकारसे भोगी जा सके। दूसरे कर्म इस प्रकारके हैं कि जो कर्म ज्ञानसे—विचारसे—निवृत्त हो सकते हैं। ज्ञानके होनेपर भी जिस तरहके कर्मको अग्र्य भोगना चाहिये, वे प्रथम प्रकारके कर्म कहे हैं, और जो ज्ञानसे दूर हो सकते हैं, वे दूसरे प्रकारके कर्म हैं।

केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर भी देह रहती है। उस देहका रहना कोई केवलज्ञानीकी इच्छासे नहीं, परन्तु प्रारब्धसे होता है। इतना सम्पूर्ण ज्ञान-बल होनेपर भी उस देहकी स्थितिके वेदन किये बिना केवलज्ञानी भी नहीं छूट सकता, ऐसी स्थिति है। यद्यपि उस प्रकारसे छूटनेके लिये कोई ज्ञानी-पुरुष इच्छा नहीं करता, परन्तु यहाँ कहनेका अभिप्राय यह है कि ज्ञानी-पुरुषको भी वह कर्म भोगना योग्य है। तथा अतराय आदि अमुक कर्मकी इस प्रकारकी व्यवस्था है कि वह ज्ञानी-पुरुषको भी भोगनी योग्य है, अर्थात् ज्ञानी-पुरुष भी उस कर्मको भोगे बिना निवृत्त नहीं कर सकता। सत्र प्रकारके कर्म इसी तरहके हैं कि वे फलरहित नहीं जाते, केवल उनकी निवृत्तिके क्रममें ही फेर होता है।

एक कर्म तो जिस प्रकारसे स्थिति वर्णरहका बध किया है, उसी प्रकारसे भोगने योग्य होता है। दूसरा कर्म ऐसा होता है, जो जीवनके ज्ञान आदि पुरुषार्थ-धर्मसे निवृत्त होता है। ज्ञान आदि पुरुषार्थ-धर्मसे निवृत्त होनेवाले कर्मकी निवृत्ति ज्ञानी-पुरुष भी करते हैं, परन्तु भोगने योग्य कर्मको ज्ञानी-पुरुष सिद्धि आदि प्रयत्नसे निवृत्त करनेकी इच्छा न करे, यह समय है।

कर्मको यथायोग्यरूपसे भोगनेमें ज्ञानी-पुरुषको सकोच नहीं होता। कोई अज्ञानदशा होनेपर भी अपनी ज्ञानदशा समझनेवाला जीव कदाचित् भोगने योग्य कर्मको भोगना न चाहे, तो भी छुटकारा तो भोगनेपर ही होता है, ऐसा नियम है। तथा यदि जीवनका किया हुआ धृत्य बिना भोगे ही फलरहित चला जाता हो, तो फिर बध मोक्षकी व्यवस्था भी कहाँसे बन सकती है ?

जो वेदनीय आदि कर्म हों तो उन्हें भोगनेकी हमें अनिच्छा नहीं होती। यदि कदाचित् अनिच्छा होती हो तो चित्तमें खेद हो कि जीवनको देहाभिमान है, उससे उपाजित कर्म भोगते हुए खेद होता है, और उससे अनिच्छा होती है।

मत्र आदिसे, सिद्धिसे और दूसरे उस तरहके अमुक कारणोंसे अमुक चमत्कारका हो सकता असंभव नहीं है। फिर भी जैसे हमने ऊपर बताया है वैसे भोगने योग्य जो 'निकाचित कर्म' है वे किसी भी प्रकारसे दूर नहीं हो सकते। कचित् अमुक 'शिथिल कर्म' की निवृत्ति होती है, परन्तु ऐसा नहीं है कि वह कुछ उपाजित करनेवालेके वेदन किये बिना निवृत्त हो जाता है, आकृतिके फेरसे उस कर्मका वेदन होता है।

कोई एक इस प्रकारका 'शिथिल कर्म' होता है कि जिसमें अमुक समय चित्तकी स्थिरता रहे तो वह निवृत्त हो जाय। उस तरहके कर्मका उन मत्र आदिमें स्थिरताके सत्रधसे निवृत्त होना संभव है। अथवा किसीके किसी पूर्णलाभका कोई इस प्रकारका बध होता है जो केवल उसकी थोड़ीसी ही कृपासे फलीभूत हो जाय—यह भी एक सिद्धि जैसा है। तथा यदि कोई अमुक मत्र आदिके प्रयत्नमें हो, और अमुक पूर्वतरायके नष्ट होनेका प्रसंग समीपमें हो, तो भी मत्र आदिमें कार्यकी सिद्धिका होना माना

जा सकता है, परंतु इस बातमें कुछ थोड़ा भी चित्त होनेका कारण नहीं। यह निष्फल बात है। इसमें आत्माके कन्याणका कोई मुख्य प्रसंग नहीं है। ऐसी कथा मुख्य प्रसंगकी निष्पत्तिका ही कारण होती है, इसलिये उस प्रकारके विचारके अथवा खोजके निर्णय करनेकी इच्छा करनेकी अपेक्षा उसका त्याग करना ही उत्तम है, और उसके त्याग होनेपर उसका सहजमें निश्चय हो जाता है।

जिससे आत्मामें विशेष आकुलता न हो ऐसे रहना। जो होने योग्य होगा वह तो होकर रहेगा, और आकुलता करनेसे भी जो होने योग्य होगा वह तो अशक्य होगा, उसके साथ आत्मा भी अपराधी बनेगी।

४०८

बम्बई, चैत्र वदी ११ भोग १९५०

जिस कारणके विषयमें लिखा था, चित्त अभी उस कारणके विचारमें है, और अभीतक उस विचारके चित्तके समाधानरूप अर्थात् पूर्ण न हो सकनेसे तुम्हें पत्र नहीं लिखा। तथा कोई प्रमाद-दोष जैसा कोई प्रसंग-दोष रहा करता है, जिसके कारण कुछ भी परमार्थकी बात लिखनेके सत्रमें चित्त घमडाकर लिखते हुए एकदम रुक जाता है। तथा जिस कार्यकी प्रवृत्ति रहती है, उस कार्यकी प्रवृत्तिमें और अपरमार्थके प्रसंगमें मानों मेरेसे यथायोग्य उदासीन बल नहीं होता। ऐसा लगनेसे, अपने दोषके विचारमें पड़ जानेसे पत्र लिखना रुक जाता है, और प्रायः करके उस विचारका समाधान नहीं हुआ, ऐसा जो ऊपर लिखा है, उसका यही कारण है।

यदि किसी भी प्रकारसे बने तो इस कष्टरूप ससारमें अधिक व्यनसाय न करना—सत्संग करना ही योग्य है।

मुझे ऐसा लगता है कि जीवको मूलरूपसे देखते हुए यदि मुमुक्षुता आई हो तो नित्य प्रति उसका ससार-बल घटता ही जाय। ससारमें धन आदि संपत्तिका घटना या न घटना तो अनियत है, किंतु ससारके प्रति जीवकी जो भावना है वह यदि मद होती चली जाय, तो वह अनुक्रमसे नाश होने योग्य हो। इस कालमें प्रायः करके यह बात देखनेमें नहीं आती। किसी भिन्न स्वरूपमें मुमुक्षुको और किसी भिन्न ही स्वरूपमें मुनि बगैरहको देखकर विचार आता है कि इस प्रकारके सगसे जीवकी ऊर्ध्व-दशा होना योग्य नहीं, किन्तु अपोदशा होना ही योग्य है। फिर जिसे सत्संगका कुछ समागम हुआ है, काल-दोषसे ऐसे जीवकी व्यवस्थाको भी पलटनेमें देर नहीं लगती। इस प्रकार स्पष्ट देखकर चित्तमें खेद होता है, और अपने चित्तकी व्यवस्था देखकर मुझे भी ऐसा होता है कि मुझे किसी भी प्रकारसे यह व्यनसाय करना योग्य नहीं—अशक्य योग्य नहीं। जरूर—अत्यंत जरूर—इस जीवका कुछ प्रमाद है, नहीं तो जिसे प्रगटरूपसे जान लिया है, ऐसे जहरको पीनेमें जीवकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? अथवा यदि ऐसा न हो तो फिर उसमें उदासीन प्रवृत्ति ही हो। तो भी उस प्रवृत्तिकी अब यदि किसी प्रकारसे भी समाप्ति हो तो यह होने योग्य है, नहीं तो जरूर किसी भी प्रकारसे जीवका ही दोष है। अभिक्त नहीं लिखा जा सकता, इससे चित्तमें खेद होता है। अथवा तो प्रगटरूपसे किसी मुमुक्षुको, इस जीवका दोष भी जितनी प्रकारसे बने उतनी प्रकारसे प्रकट करके, जीवका उतना तो खेद दूर करना चाहिये, और उस प्रकट दोषकी परिसमाप्तिके लिये उसके सगरूप उपकारकी इच्छा करना चाहिये।

मुझे अपने दोपके लिये चारम्बार ऐसा लगता है, जिस दोपके बलको परमार्थसे देवते हुए मने यह कहा है। परन्तु दूसरे आधुनिक जीवोंके दोपके सामने अपने दोपकी अत्यन्त अल्पता माझ्म होती है, यद्यपि ऐसा माननेकी कोई इच्छा नहीं है, फिर भी स्वभावसे कुछ ऐसा ही माझ्म होता है। ऐसा होनेपर भी किसी विशेष अपराधीकी तरह जबतक हम यह व्यवहार करते हैं तबतक अपनी आत्मामें ही लगे रहेंगे। तुम्हें और तुम्हारे सगमें रहनेवाले किसी भी मुमुक्षुको यह बात कुछ भी विचारने योग्य अन्वय माझ्म होती है।

(२)

यह त्यागी भी नहीं, अत्यागी भी नहीं। यह रागी भी नहीं, वीतरागी भी नहीं।

अपना क्रम निश्चल करो। उसके चारों ओर निवृत्त भूमिका रखो।

यह जो दर्शन होता है, क्या यह वृथा चला जाता है ? इसका विचार पुनः पुनः करते हुए मूर्च्छा आ जाती है।

सतजनोंने अपना क्रम नहीं छोड़ा है, जिन्होंने छोड़ दिया है, उन्होंने परम असमाधिको पाया है - सतपना अति अति दुर्लभ है। आनेके बाद सतका मिलना कठिन है। सतपनेकी जिज्ञासानाले अनेक हैं, परन्तु दुर्लभ सतपना तो दुर्लभ ही है।

(३)

क्षायोपशमिक ज्ञानके निकल होते हुए क्या देर लगती है ?

(४)

यदि इस जीवने उस वैभक्तिपरिणामको क्षीण न किया तो वह इसी भवमें प्रत्यक्ष दुःखका वेदन करेगा।

४०९

वर्षाई, चैत्र वदी १२, १९५०

जो मुमुक्षु जीव गृहस्थके व्यवहारमें रहता हो, उसे पहिले तो आत्मामें अखड नीतिका मूल स्थापित करना चाहिये, नहीं तो उपदेश आदिकी निष्फलता ही होती है।

द्रव्य आदि पैदा करने आदिमें सागोपाग न्यायसपन्न रहनेका नाम नीति है। इस नीतिके छोड़ते हुए प्राण जानेकी दशा आनेपर त्याग वेराग्य सबे स्वरूपमें प्रगट होते हैं, और वही जीवको सत्पुरुषके वचनके तथा आज्ञा-धर्मके अद्भुत सामर्थ्य, माहात्म्य और रहस्यको समझता है, और इससे सब वृत्तियोंके निजरूपसे प्रवृत्ति करनेका मार्ग स्पष्ट सिद्ध होता है।

प्रायः करके तुम्हें देश, काल, सग आदिका विपरीत संयोग रहता है, इसलिये चारम्बार, प्रत्येक पलमें, और प्रत्येक कार्यमें साधनासे नीति आदि धर्मोंमें प्रवृत्ति करना योग्य है। तुम्हारी तरह जो जीव कल्याणकी आकांक्षा रखता है और जिसे प्रत्यक्ष सत्पुरुषका निश्चय है, उसे प्रथम भूमिकामें यह नीति परम आधार है। जो जीव ऐसा मानता है कि उसे सत्पुरुषका निश्चय हुआ है, परन्तु उसमें यदि ऊपर कहीं हुई नीतिका प्राबल्य न हो, और वह उससे कल्याणकी याचना करे, तथा बात करे, तो

यह निश्चय केवल सत्पुरुषको ठगनेके ही वरानर है। यद्यपि सत्पुरुष तो आकाशरहित है, अर्थात् उसका ठगा जाना समन नहीं, परन्तु इस प्रकारसे प्रवृत्ति करनेवाले जीन अनइय अपराधी होते हैं।

इस बातपर बारम्बार तुम्हारे तथा तुम्हारे समागमनी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुओंको लक्ष रखना चाहिये।

यह बात कठिन है इसलिये नहीं हो सकती, यह कल्पना मुमुक्षुओंको अहितकारी है और त्याग्य है।

४१०

बम्बई, चैत्र वदी १४ शुक्र १९५०

उपदेशकी आकाशा रहा करती है। उस प्रकारकी आकाशा मुमुक्षु जीनको हितकारी है—जागृत्तिका विशेष हेतु है। ज्यों ज्यों जीनमें त्याग, वैराग्य और आश्रय-भक्तिका बल बढ़ता जाता है, त्यों त्यों सत्पुरुषके वचनका अपूर्ण और अद्भुत स्वरूप भासित होता है, और बध निवृत्तिके उपाय सहजमें ही सिद्ध हो जाते हैं। यदि प्रत्यक्ष सत्पुरुषके चरणारविंदका सयोग कुछ समयतक रहे तो फिर उसने नियोगमें भी त्याग, वैराग्य और आश्रय भक्तिकी उल्लान धारा रहती है, नहीं तो मिथ्या देश, काल, सग आदिके सयोगसे सामान्य वृत्तिके जीन, त्याग, वैराग्य आदिके बलमें नहीं बढ़ सकते, अथवा मद पड़ जाते हैं, अथवा उसका सर्वथा नाश ही कर देते हैं।

४११

बम्बई, वैशाख सुदी १ रनि १९५०

योगयासिष्ठके पढ़नेमें हानि नहीं है। आत्माको ससारका स्वरूप काराग्रहकी तरह बारम्बार प्रतिक्षण भासित हुआ करे, यह मुमुक्षुताका मुख्य लक्षण है। योगयासिष्ठ आदि जो जो ग्रथ उस कारणके पोषक है, उनके निचार करनेमें हानि नहीं है। मूल बात तो यह है कि जीनको वैराग्य आनेपर भी जो उसकी अत्यत शिथिलता है—ढीलेपन है, उसे दूर करना, उसे अत्यत कठिन माद्म होता है, और चाहे जिस तरहसे भी हो, प्रथम इसे ही दूर करना योग्य है।

४१२

बम्बई, वैशाख सुदी ९ रनि १९५०

जिस व्यनसायसे जीवकी भाव-निद्रा न घटती हो, उस व्यनसायको यदि किसी प्रारब्धके योगसे करना पड़ता हो तो उसे फिर फिर पीछे हटकर, 'मैं महान् भयकर हिंसायुक्त दुष्ट कामको ही किया करता हूँ', इस प्रकारसे फिर फिरसे निचारकर और 'जीनमें ढीलेपनसे ही प्राय करके मुझे यह प्रतिबध है', यह फिर फिरसे निश्चय करके, जितना बने उतना व्यनसायको कम करते हुए प्रवृत्ति हो, तो बोधका सफल होना समन है।

४१३

बम्बई, वैशाख सुदी ९ रनि १९५०

यहाँ उपाधिरूप व्यवहार रहता है। प्राय आत्म समाधिकी स्थिति रहती है, तो भी व्यनहा-रके प्रतिबधसे छूटनेकी बात बारम्बार स्मृतिमें आया करती है। उस प्रारब्धकी निवृत्ति होनेतक ये व्यनहारका प्रतिबध रहना योग्य है, इसलिये समचित्तपूर्वक स्थिति रहती है।

योगवासिष्ठ आदि प्रथमा व्रँचन होता हो तो वह हितकारी है । जिनागममें 'भिन भिन्न' आत्मा मानकर परिणाममें 'अनत आत्मयें' कहीं है, और वेदातमें उसे ' भिन्न भिन्न ' कहकर 'जो सर्वत्र चेतन-सत्ता दिखाई देती है वह एक ही आत्माकी है, और आत्मा एक ही है ' ऐसा प्रतिपादन किया गया है । ये दोनों ही बातें मुमुक्षु पुरुषको जरूर विचार करने योग्य है, और यथाशक्ति इन्हें विचारकर निश्चय करना योग्य हैं, यह बात नि सन्देह है । परन्तु जन्तक प्रथम वैराग्य और उपशमना बल जीमें दृढरूपसे न आया हो, तबतक उस विचारसे चित्तका समाधान होनेके बदले उलटी चंचलता ही होती है, और उस विचारका निर्णय नहीं होता । तथा चित्त मिश्रित होकर बादमें यथार्थरूपसे वैराग्य-उपशमको धारण नहीं कर सकता । इसलिये ज्ञानी-पुरुषोंने जो इस प्रश्नका समाधान किया है कि उसे समझनेके लिये इस जीमें वैराग्य-उपशम और तत्सगके बलको हालमें तो बढ़ाना ही योग्य है—इस प्रकार विचार करके जीमें वैराग्य आदि बल बढ़ानेके साधनोंका आराधन करनेके लिये नित्य प्रति विशेष पुरुषार्थ करना योग्य है ।

विचारकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् वर्धमानस्वामी जैसे महात्मा पुरुषने भी फिरसे विचार किया कि इस जीमें अनादि कालसे चारों गतियोंमें अनतानतवार जन्म-मरण होनेपर भी, अभी वह जन्म-मरण आदि स्थिति क्षीण नहीं होती । उसका अब किस प्रकारसे क्षय करना चाहिये ? और ऐसी कौनसी भूल इस जीमें रहती आई है कि जिस भूलका अबतक परिणाम होता रहा है ? इस प्रकारसे फिर फिर अत्यंत एकाग्रतासे सद्बोधके वर्धमान परिणामसे विचार करते करते जो भूल भगवान्ने देखी है, वह जिनागममें जगह जगह कही है, जिस भूलको समझकर मुमुक्षु जीव उससे रहित हो सके । जीवकी भूल देखनेपर तो वह अनत विशेष लगती है, परन्तु समसे पहिले जीवको सब भूलोंकी बीजभूत भूलका विचार करना योग्य है, जिस भूलके विचार करनेसे सब भूलोंका विचार होता है, और जिस भूलके दूर होनेसे सब भूलें दूर होती हैं । कोई जीव कदाचित् नाना प्रकारकी भूलोंका विचार करके उस भूलसे छूटना चाहे, तो भी वह करना योग्य है, और उस प्रकारकी अनेक भूलोंसे छूटनेकी इच्छाना भूल ही भूलसे छूटनेका सहज कारण होता है ।

शास्त्रमें जो ज्ञान बताया गया है, वह ज्ञान दो प्रकारसे विचार करने योग्य है —एक उपदेश-ज्ञान और दूसरा सिद्धात-ज्ञान । 'जन्म-मरण आदि वृशयुक्त इस ससारका त्याग करना ही योग्य है, अनित्य पदार्थोंमें विप्रेती पुरुषको रुचि नहीं करनी चाहिये, माता, पिता, राजन आदि सबका स्वार्थरूप सब्रह होनेपर भी, यह जीव उस जगलका ही आश्रय लिया करता है, यही उसका अविशेष है, प्रत्यक्षरूपसे इस ससारके त्रिविध तापरूप माझ्म होते हुए भी मूर्ख जीव उसीमें विश्रान्ति चाहता है, परिग्रह, आरम और सग—ये सब अनर्थोंके हेतु हैं', इत्यादि शिक्षा उपदेश-ज्ञान है । 'आत्माका अस्तित्व, नित्यता, एकत्व अथवा अनेकत्व, वय आदि भाव, मोक्ष, आत्माकी सब प्रकारकी अवस्था, पदार्थ और उसकी अवस्था' इत्यादि बातोंको जिस प्रकारसे दृष्टांतोंसे सिद्ध किया जाता है, वह सिद्धात-ज्ञान है ।

मुमुक्षु जीवको प्रथम तो वेदात और जिनागम इन सबका अलोकन उपदेशकी ज्ञान-प्राप्तिके लिये ही करना चाहिये, क्योंकि 'सिद्धात-ज्ञान' जिनागम और वेदातमें भिन्न भिन्न दिखाई देता है, और उस भिन्नताको देखकर मुमुक्षु जीव अदेशा—शका करता है, और यह शका चित्तमें असमाधि

पैदा करती है। इस प्रकार प्रायः होना योग्य ही है, क्योंकि 'सिद्धात ज्ञान' तो जीवके किसी अत्यंत उज्वल क्षयोपशम होनेपर और सद्गुरुके वचनकी आराधनासे उद्भूत होता है। 'सिद्धात-ज्ञान'का कारण 'उपदेश ज्ञान' है। पहिले सद्गुरु अथवा सत्शास्त्रसे जीवमें इस उपदेश-ज्ञानका दृढ़ होना योग्य है, जिस उपदेश-ज्ञानका फल वेराग्य और उपशम है। वेराग्य और उपशमका बल बढ़नेसे जीवमें स्वाभाविक क्षयोपशमकी निर्मलता होती है, और यह सहज हीमें सिद्धात-ज्ञान होनेका कारण होता है। यदि जीवमें असंग-दशा आ जाय तो आत्मस्वरूपका समझना सर्वथा सुलभ हो जाता है, और उस असंग-दशाका हेतु वेराग्य-उपशम है, जो फिर फिरसे जिनागममें तथा वेदात आदि बहुतसे शास्त्रोंमें कहा गया है—निस्तारसे गया है। इसलिये निःसशयरूपसे वेराग्य उपशमके कारण योग्यासिष्ठ आदि सद्ग्रन्थ विचारने चाहिये।

हमारे पास आनेमें किसी किसी प्रकारसे तुम्हारे परिचर्या श्री का मन रुकता था, और उस तरहकी रुकावट होना स्वाभाविक है, क्योंकि प्रारम्भके वशसे हमें ऐसा व्यवहारका उदय रहता है कि हमारे नियममें सहज ही शका उत्पन्न हो जाय, और उस प्रकारके व्यवहारका उदय देखकर प्रायः हमने धर्मसूत्रकी सगमें लौकिक—लोकतर प्रकारसे परिचय नहीं किया, जिससे लोगोंको हमारे इस व्यवहारके समागमका विचार करनेका कम अन्तर उपस्थित हो। तुमसे अथवा श्री से अथवा किसी दूसरे मुमुक्षुसे यदि हमने कोई भी परमार्थकी बात की हो तो उसमें परमार्थके सिवाय कोई दूसरा कारण नहीं है। इस ससारके नियम और भयकर स्वरूपको देखकर हमें उसकी निवृत्तिके नियममें बौध हुआ है, जिस बोधसे जीवमें शांति आकर समाधि-दशा हुई है, वह बोध इस जगत्में किसी अनन्त पुण्यके योगसे ही जीवको प्राप्त होता है—ऐसा महात्मा पुरुष फिर फिरसे कह गये हैं। इस दुःखकालमें अधकार प्रगट होकर बोधका मार्ग आरण्य-प्राप्त होने जैसा हो गया है। उस कालमें हमें देह-योग मिला, इससे किसी तरह खेद होता है, फिर भी परमार्थसे उस खेदका समाधान किया है। परन्तु उस देह योगमें कभी कभी किसी मुमुक्षुके प्रति लोक मार्गके प्रताकारको फिर फिरसे कहनेका मन होता है, जिसका सयोग तुम्हारे और श्री के सन्धमें सहज ही हो गया है। परन्तु उससे तुम हमारे कथनको मान्य करो, इस आग्रहके लिये कुछ भी कहना नहीं होता। केवल हितकारी जानकर ही उस बातका आग्रह हुआ करता है, अथवा होता है—यदि इतना लक्ष रहे तो किसी तरह सगका फल मिलना सभव है।

जैसे बने तैसे जीवको अपने दोषके प्रति लक्ष करके दूसरे जीवोंके प्रति निर्दोष दृष्टि रखकर प्रवृत्ति करना, और जिससे वेराग्योपशमका आराधन हो वैसा करना, यह स्मरण करने योग्य पहिली बात है।

(२)

एक चेतन्यमें यह सब किस तरह घटता है ?

४१४

बम्बई, वैशाख वदी ७, रवि १९५०

प्रायः जिनागममें 'सर्गिरति' साधुको पत्र-समाचार आदि लिखनेकी आज्ञा नहीं है, और यदि वेसी सर्गिरति भूमिकामें रहकर भी साधु पत्र-समाचार आदि लिखना चाहे तो वह अतिचार समझा जाय। इस तरह साधारणतया शास्त्रका उपदेश है, और यह मुख्य मार्ग तो योग्य ही मालूम होता है, फिर भी जिनागमकी रचना पूर्णपर अविरोध मात्रम होती है, और उस अविरोधकी रक्षाके लिये पत्र-समाचार आदिके लिखनेकी आज्ञा भी किसी प्रकारसे जिनागममें है। उसे तुम्हारे चित्तके समाधान होनेके लिये यहाँ संक्षेपसे लिखता हूँ।

जिनभगवान्की जो जो आज्ञायें हैं वे सब आज्ञायें, जिस तरह सर्ग प्राणी अर्थात् पिनकी आत्माके कल्याणके लिये कुछ इच्छा है उन सबको, वह कल्याण प्राप्त हो सके, और जिससे वह कल्याण वृद्धिगत हो, तथा जिस तरह उस कल्याणकी रक्षा की जा सके, उस तरह की गई है। यदि जिनागममें कोई ऐसी आज्ञा कही हो कि वह आज्ञा अमुरु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके सयोगसे न पल सकती हुई आत्माको बाधक होती हो तो वहाँ उस आज्ञाको गौण करके—उसका निषेध करके—श्रीतीर्थकरने दूसरी आज्ञा की है।

जिसने सर्गिरति की है ऐसे मुनिको सर्गिरति करनेके समयके अनंतरपर "सन्वाई पाणाई-वाय पच्चखामि, सन्वाई मुसानाय पच्चखामि, सन्वाई अदत्तादाणाई पच्चखामि, सन्वाई मेट्टणाई पच्चखामि, सन्वाई परिग्गाहाई पच्चखामि" इस उद्देश्यके वचनोंको बोलनेके लिये कहा है। अर्थात् 'सर्ग प्राणातिपातसे मैं निवृत्त होता हूँ,' 'सर्ग प्रकारके मृषानादसे मैं निवृत्त होता हूँ,' 'सर्ग प्रकारके अदत्तादानसे मैं निवृत्त होता हूँ,' 'सर्ग प्रकारके मैथुनसे मैं निवृत्त होता हूँ,' और 'सर्ग प्रकारके परिग्रहसे मैं निवृत्त होता हूँ,' (सब प्रकारके रात्रि-भोजनसे तथा दूसरे उस उस तरहके कारणोंसे मैं निवृत्त होता हूँ—इस प्रकार उसके साथ और भी बहुतसे त्यागके कारण समझने चाहिये), ऐसे जो वचन कहे हैं, वे सर्गिरतिकी भूमिकाके लक्षण कहे हैं। फिर भी उन पाँच महाव्रतोंमें—मैथुन-त्यागको छोड़कर—चार महाव्रतोंमें पीछेसे भगवान्ने दूसरी आज्ञा की है, जो आज्ञा यद्यपि प्रत्यक्ष-रूपसे तो महाव्रतको कदाचित् बाधक माद्रम हो, परन्तु ज्ञान-दृष्टिसे देखनेसे तो वह पोषक ही है।

उदाहरणके लिये 'मे सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ,' इस तरह पच्चखण होनेपर भी नदीको पार करने जैसे प्राणातिपातरूप प्रसंगकी आज्ञा करनी पड़ी है। जिस आज्ञाका, यदि लोकसमुदायका विशेष समागम करके, साधु आराधन करेगा, तो पंच महाव्रतोंके निर्मूल होनेका समय आयगा—यह जानकर, भगवान्ने नदी पार करनेकी आज्ञा दी है। वह आज्ञा, प्रत्यक्ष प्राणातिपातरूप होनेपर भी पाँच महाव्रतकी रक्षाका अमूल्य हेतु होनेसे, प्राणातिपातकी निवृत्तिरूप ही है, क्योंकि पाँच महाव्रतोंकी रक्षाका हेतुरूप जो कारण है वह प्राणातिपातकी निवृत्तिका ही हेतु है। यद्यपि प्राणातिपात होनेपर भी नदीके पार करनेकी अप्राणातिपातरूप आज्ञा होती है, फिर भी 'सब प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होता हूँ' इस वाक्यको एक बार क्षति पहुँचती है। परन्तु यह क्षति फिरसे विचार करनेपर तो उसकी विशेष दृढ़ताके लिये ही माद्रम होती है। इसी तरह दूसरे व्रतोंके लिये भी है।

‘मैं परिग्रहकी सर्वथा निवृत्ति करता हूँ,’ इस प्रकारका व्रत होनेपर भी वस्त्र, पात्र और पुस्तकका स्रवण देखा जाता है—इन्हें अगीकार किया ही जाता है। उसका, परिग्रहकी सर्वथा निवृत्तिके कारणका किसी प्रकारसे रक्षणरूप होनेसे ही विधान किया है, और उससे परिणाममें अपरिग्रह ही होता है। मूर्च्छा रहित भावसे नित्य आत्म-दशाकी वृद्धि होनेके लिये ही पुस्तकका अगीकार करना बताया है। तथा इस कालमें शरीरके सहननकी हीनता देखकर पहिले चित्तकी स्थितिके समभाज रहनेके लिये ही वस्त्र, पात्र आदिका ग्रहण करना बताया है, अर्थात् जब आत्म-हित देखा तो परिग्रह रखनेकी आज्ञा दी है। यद्यपि क्रियाकी प्रवृत्तिको प्राणातिपात कहा है, परन्तु भावकी दृष्टिसे इसमें अन्तर है। परिग्रह बुद्धिसे अथवा प्राणातिपात बुद्धिसे इसमेंका कुछ भी करनेके लिये कभी भगवान्ने आज्ञा नहीं दी। भगवान्ने जहाँ सर्वथा निवृत्तिरूप पाँच महाव्रतोंका उपदेश दिया है, वहाँ भी दूसरे जीवोंके हितके लिये ही उनका उपदेश दिया है, और उसमें उसके त्यागके समान दिखाई देनेवाले अपवादको भी आत्म-हितके लिये ही कहा है—अर्थात् एक परिणाम होनेसे जिसका त्याग कहा है, उसी क्रियाका ग्रहण कराया है।

मैथुन त्यागमें जो अपवाद नहीं है, उसका कारण यह है कि उसका राग-द्वेषके बिना भग्न नहीं हो सकता, और राग-द्वेष आत्माको अहितकारी है, इससे भगवान्ने उसमें कोई अपवाद नहीं बताया। नदीका पार करना राग-द्वेषके बिना हो सकता है, पुस्तकका ग्रहण करना भी राग-द्वेषके बिना होना समझ है, परन्तु मैथुनका सेवन राग द्वेषके बिना नहीं हो सकता, इसलिये भगवान्ने इस व्रतको अपवादरहित कहा है, और दूसरे व्रतोंमें आत्माके हितके लिये ही अपवाद कहा है। इस कारण जिस तरह जीवका—सयमका—रक्षण हो उसी तरह कहनेके लिये जिनागमकी रचना की गई है।

पत्र लिखने अथवा समाचार आदि कहनेका जो निषेध किया है, उसका भी यही हेतु है। जिससे लोक-समागमकी वृद्धि न हो, प्रीति-अप्रीतिके कारणकी वृद्धि न हो, खियाँ आदिके परिचयमें आनेका प्रयोजन न हो, सयम शिथिल न हो जाय, उस उस प्रकारका परिग्रह बिना कारण ही स्वीकृत न हो जाय—इस प्रकारके सम्मिलित अनन्त कारणोंको देखकर पत्र आदिका निषेध किया है, परन्तु वह भी अपवादसहित है। जैसे बृहत्कल्पमें अनार्थ-भूमिमें विचरनेकी मना की है, और वहाँ क्षेत्रकी मर्यादा वॉगी है, परन्तु ज्ञान, दर्शन, और सयमके कारण वहाँ भी विचरनेका विधान किया गया है। इन्हीं अर्थके ऊपरसे यह माध्यम होता है कि यदि कोई ज्ञानी-पुरुष दूर रहता हो—उनका समागम होना मुश्किल हो, और यदि पत्र-समाचारके सिवाय दूसरा कोई उपाय न हो तो फिर आत्म-हितके सिवाय दूसरी सत्र प्रकारकी बुद्धिका त्याग करके उस प्रकारके ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञासे अथवा किसी मुमुक्षु-सत्संगीकी सामान्य आज्ञासे वैसा करनेका जिनागमसे निषेध नहीं होता, ऐसा माध्यम होता है। इसका कारण यह है कि जहाँ पत्र-समाचारके लिखनेसे आत्म-हितका नाश होता हो वहाँ उसका निषेध किया गया है। तथा जहाँ पत्र-समाचार न होनेसे आत्म-हितका नाश होता हो, वहाँ पत्र-समाचारका निषेध किया हो, यह जिनागमसे बन सकता है या नहीं, वह अब विचार करने योग्य है।

इस प्रकार विचार करनेसे जिनागममें ज्ञान, दर्शन और सयमकी रक्षाने लिये पत्र-समाचार आदि व्यवहारके भी स्वीकार करनेका समावेश होता है। परन्तु किसी कालके लिये, किसी महात्

प्रयोजनके लिये, महात्मा पुरुषोंकी आज्ञासे अथवा केवल जीवके कल्याणके उद्देश्यसे ही, उसका किसी पात्रके लिये उपयोग बताया है, ऐसा समझना चाहिये। नित्यप्रति और साधारण प्रसंगमें पत्र-समाचार आदि व्यवहार करना योग्य नहीं है। ज्ञानी-पुरुषके प्रति उसकी आज्ञासे ही नित्यप्रति पत्र आदि व्यवहार करना ठीक है, परन्तु दूसरे लोकिक जीवके प्रयोजनके लिये तो वह सर्वथा निषिद्ध ही माझम होता है। फिर काल ऐसा आ गया है कि जिसमें इस तरह कहनेसे भी विषम परिणाम आना संभव है। लोक मार्गमें प्रवृत्ति करनेवाले साधु वगैरहके मनमें यह व्यवहार-मार्गका नाश करनेवाला भासमान होना संभव है। तथा इस मार्गके प्रतिपादन करनेसे अनुक्रमसे बिना कारण ही पत्र-समाचार आदिका चालू होना संभव है, जिससे साधारण द्रव्य त्यागकी भी हिंसा होने लगे।

यह जानकर इस व्यवहारको प्राय श्री से भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि वैसा करनेसे भी व्यवसायका बढ़ना ही संभव है। यदि तुम्हें सर्प पञ्चकलाण हो, तो फिर जो पत्र न लिखनेका साधुने पञ्चकलाण दिया है, वह नहीं दिया जा सकता, परन्तु यदि दिया हो तो भी हानि नहीं समझनी चाहिये। वह पञ्चकलाण भी यदि ज्ञानी पुरुषकी वाणीसे रूपांतरित हुआ होता तो हानि न थी, परन्तु वह जो साधारणरूपसे रूपांतरित हुआ है, वह योग्य नहीं हुआ। यहाँ मूल—सामाजिक—पञ्चकलाणकी व्याख्या करनेका अन्तर नहीं है, लोक-पञ्चकलाणकी बातका ही अन्तर है, परन्तु उसे भी साधारण-तया अपनी इच्छासे तोड़ डालना योग्य नहीं—इस समय तो इस प्रकारसे ही दृढ विचार रखना चाहिये। जब गुणोंके प्रगट होनेके साधनमें विरोध होता हो, तब उस पञ्चकलाणको ज्ञानी-पुरुषकी वाणीसे अथवा मुमुक्षु जीवके समागमसे सहज स्वरूपमें फेरफार करके रास्तेपर लाना चाहिये, क्योंकि बिना कारणके लोगोंमें शका पैदा होने देनेकी कोई बात करना योग्य नहीं है। वह पामर जीव दूसरे जीवको बिना कारण ही अहितकर होता है—इत्यादि बहुतसे कारण समझकर जहाँतक बने पत्र आदि व्यवहारका कम करना ही योग्य है। हमारे प्रति कदाचित् वैसा व्यवहार करना तुम्हें हितकर है, इसलिये करना योग्य माझम हो तो उस पत्रको भी श्री जैसे किसी सत्संगीसे बैचनकर ही भेजना, जिससे 'ज्ञान-चर्चाके सिवाय इसमें कोई दूसरी बात नहीं,' यह उनकी साक्षी तुम्हारी आत्माको दूसरी प्रकारके पत्र-व्यवहारको करनेसे रोकनेके लिये समझ हो। मेरे विचारके अनुसार इस बातमें श्री विरोध न समझें। कदाचित् उन्हें विरोध माझम होता हो तो किसी प्रसंगपर हम उनकी इस शकाको निवृत्त कर देंगे, फिर भी तुम्हें प्रायः विशेष पत्र व्यवहार करना योग्य नहीं। इस लक्षको न चूकना।

प्राय शब्दका अर्थ केवल इतना ही है, जिससे हितकारा प्रसंगमें पत्रका जो कारण बताया गया है, उसमें वाग्य न आये। विशेष पत्र-व्यवहार करनेसे यदि वह ज्ञानरूप चर्चा होगी तो भी लोक-व्यवहारमें बहुत सदेहका कारण होगी। केवल जिस तरह प्रसंग प्रसंगपर जो आत्म-हितार्थके लिये ही उसका विचारना और उसकी ही चिन्ता करनी योग्य है। हमारे प्रति किसी ज्ञान-प्रश्नके लिये पत्र लिखनेकी यदि तुम्हारी इच्छा हो तो वह श्री से पूँछकर ही लिखना, जिससे तुम्हें गुण उत्पन्न होनेमें कम बाधा उपस्थित हो।

तुम्हारे श्री को पत्र लिखनेके निषयमें चर्चा हुई, वह यद्यपि योग्य नहीं हुआ, फिर भी वे यदि तुम्हें कोई प्रायश्चित्त दें तो उसे ले लेना, परन्तु किसी ज्ञान-वार्ताके स्वयं लिखनेके बदले तुम्हें उसे लिखानेमें आगापीछा न करना चाहिये, ऐसा साधनमें यथायोग्य निर्मल अतः कारणसे कहना योग्य है—जो बात केवल जीवका हित करनेके लिये ही है। पर्युपण आदिमें साधु दूसरेसे लिखाकर पत्र-व्यवहार करते हैं, जिसमें आत्म-हित जैसा तो यद्यपि थोड़ा ही होता है, परन्तु वह रूढ़ी चल जानेके कारण लोग उसका निषेध नहीं करते। तुम उसी तरह उस रूढ़ीके अनुसार आचरण रखोगे, तो भी हानि नहीं है—जिससे तुम्हें पत्र लिखानेमें अड़चन न हो और लोगोंको भी सदेह न हो।

हमें उपमाकी कोई सार्थकता नहीं। केवल तुम्हारी चित्तकी समाधिके लिये ही तुम्हें लिखनेका प्रतिबन्ध नहीं किया।

४१५

बम्बई, वैशाख वदी ९, १९५०

सूरतसे मुनिश्री का पहिले एक पत्र आया था। उसके प्रत्युत्तरमें यहाँसे एक पत्र लिखा था। उसके पश्चात् पाँच छह दिन पहिले उनका एक पत्र मिला था, जिसमें तुम्हारे प्रति जो पत्र आदि लिखना हुआ, उसके सबधमें होनेवाली लोक-चर्चा निषयक बहुतासी बातें थी। इस पत्रका उत्तर भी यहाँसे लिख दिया है। वह संक्षेपमें इस तरह है—

“प्राणातिपात आदि महाव्रत सर्पत्यागके लिये हैं, अर्थात् सत्र प्रकारके प्राणातिपातसे निवृत्त होना, सत्र प्रकारके मृगामादसे निवृत्त होना—इस तरह साधुके पाँच महाव्रत होते हैं। और जब साधु इस आज्ञाके अनुसार चले, तब वह मुनिके सम्प्रदायमें रहता है, ऐसा भगवान्ने कहा है। इस प्रकारसे पाँच महाव्रतोंके उपदेश करनेपर भी जिसमें प्राणातिपात कारण है, ऐसी नदीके पार ग़रह करनेकी आज्ञा भी जिनभगवान्ने दी है। वह इसलिये कि जीवको नदी पार करनेसे जो बच होगा, उसकी अपेक्षा एक क्षेत्रमें निवास करनेसे बलवान् बध होगा, और परंपरासे पाँच महाव्रतोंकी हानिका अगसर उपस्थित होगा—यह देखकर—जिसमें उस प्रकारका द्रव्य-प्राणातिपात है, ऐसी नदीके पार करनेकी आज्ञा श्रीजिनभगवान्ने दी है। इसी तरह बल पुस्तक रखनेसे यद्यपि सर्पपरिग्रह-निरमण व्रत नहीं रह सकता, फिर भी देहकी साताके लिये त्याग करारक आत्मार्थकी साधना करनेके लिये देहकी साधनरूप समझकर, उसमेंसे सम्पूर्ण मूर्च्छा दूर होनेतरु जिनभगवान्ने बलके निस्तृह सब्रका और निचार-गलती वृद्धि होने-तक पुस्तकके रखनेका उपदेश किया है। अर्थात् सर्पत्यागमें प्राणातिपात तथा परिग्रहका सब प्रकारसे अगीकार करनेका निषेध होनेपर भी, इस प्रकारसे जिनभगवान्ने अगीकार करनेकी आज्ञा दी है। वह सामान्य दृष्टिसे देखनेपर कदाचित् निषम मालूम होगा, परन्तु जिनभगवान्ने तो सम ही कहा है। दोनो ही बात जीवके कल्याणके लिये ही कही गई हैं। जिस तरह सामान्य जीवका कल्याण हो वेसे पूर्वक ही कहा है। परन्तु इस प्रकारसे मेथुन-त्याग व्रतमें अपनाद नहीं कहा, क्योंकि मेथुनका द्वेषके बिना नहीं हो सकता, यह जिनभगवान्का अभिमत है। अर्थात् राग-द्वेषको बिना अपनादके ही मेथुन-त्यागका सेवन । इसी तरह वृहत्कल्पमूममें जहाँ

करनेकी भूमिका प्रमाण कहा है, वहाँ चारों दिशाओंमें अमुक नगरतककी मर्यादा बताई है, फिर भी उसके पश्चात् अनार्य-क्षेत्रमें भी ज्ञान, दर्शन और सयमकी वृद्धिके लिये निचरण करनेका अपवाद बताया गया है। क्योंकि आर्य-भूमिमें यदि किसी योग्य ज्ञानी-पुरुषका समीपमें निचरना न हो और प्रारब्ध-योगसे ज्ञानी-पुरुषका अनार्य-भूमिमें ही निचरना हो, तो वहाँ जानेमें भगवान्की प्रतिपादित आज्ञा भग नहीं होती।

इसी प्रकार यदि साधु पत्र समाचार आदिका समागम रखे तो प्रतिव्रतकी वृद्धि हो, इस कारण भगवान्ने इसका निषेध किया है। परन्तु वह निषेध ज्ञानी-पुरुषके साथ किसी उस प्रकारके पत्र-समाचार करनेमें अपवादरूप मालूम होता है, क्योंकि निष्कामरूपसे ज्ञानकी आराधनाके लिये ही ज्ञानीके प्रति पत्र-समाचारका व्यवहार होता है। इसमें दूसरा कोई ससार-प्रयोजनका उद्देश नहीं, बल्कि उल्टा ससार-प्रयोजन दूर होनेका ही उद्देश है, तथा ससारका दूर करना इतना ही तो परमार्थ है, जिससे ज्ञानी-पुरुषकी अनुज्ञासे अथवा किसी सत्सगी जनकी अनुज्ञासे पत्र-समाचारका कारण उपस्थित हो तो वह सयमके विरुद्ध ही है, यह नहीं कहा जा सकता। फिर भी तुम्हें साधुने जो प्रत्याख्यान दिया था, उसके भग होनेका दोष तुम्हारे ही सिरपर आरोपण करना योग्य है। यहाँ पञ्चखाणके स्वरूपका विचार नहीं करना है, परन्तु तुमने उन्हें जो प्रगट विश्वास दिखाया है, उसके भग करनेका क्या हेतु है? यदि उस पञ्चखाणके लेनेमें तुम्हारा यथायोग्य चित्त नहीं था, तो तुम्हें वह लेना ही योग्य न था, और यदि किसी लोक-द्वन्द्वासे बेसा हुआ तो फिर उसका भग करना योग्य नहीं; और यदि भग करनेका जो परिणाम है वह भग न करनेकी अपेक्षा आत्माका विशेष हित करनेवाला हो, तो भी उसे स्वेच्छासे भग करना योग्य नहीं। क्योंकि जीव राग-द्वेष अथवा अज्ञानसे सहज ही अपराधी होता है, उसका विचार किया हुआ हिताहित विचार बहुतराज विपर्यय होता है। इस कारण तुमने जिस प्रकारसे उस पञ्चखाणका भग किया है, वह अपराधके योग्य है, और उसका प्रायश्चित्त किसी भी तरह लेना योग्य है। 'परन्तु किसी तरहकी ससार-वृद्धिसे यह कार्य नहीं हुआ, और ससार कार्यके प्रसंगसे पत्र-समाचारके व्यवहार करनेकी मेरी इच्छा नहीं है, तथा यह जो कुछ पत्र आदिका लिखना हुआ है, वह मात्र किसी जीवके कल्याणकी बातके निषयमें ही हुआ है। और यदि वह न किया गया होता तो यह एक प्रकारसे कल्याणरूप ही था, परन्तु दूसरी प्रकारसे चित्तकी व्यग्रता उत्पन्न होकर अंतरमें क्लेश होता था, इसलिये जिसमें कुछ ससार-प्रयोजन नहीं, किसी तरहकी दूसरी वॉंठा नहीं—केवल जीवके हितका ही प्रसंग है—ऐसा समझकर इसका लिखना हुआ है। महाराजके द्वारा दिया हुआ पञ्चखाण भी मेरे हितके लिये था, जिससे मैं किसी ससारी प्रयोजनमें न पड़ जाऊँ, और उसके लिये उनका उपकार था। परन्तु मैंने सासारिक प्रयोजनसे यह कार्य नहीं किया है—आपके सघाड़ेके प्रतिव्रतको तोड़नेके लिये यह कार्य नहीं किया है। तो भी यह एक प्रकारसे मेरी भूल है, अब उसे अल्प साधारण प्रायश्चित्त देकर क्षमा करना योग्य है।' पर्यूपण आदि पत्रमें साधु लोग श्रावकसे श्रावकके नामसे पत्र लिखवाते हैं, उसके सिवाय किसी दूसरी तरहसे अब प्रवृत्ति न की जाय, और ज्ञान-वर्चा लिखी जाय तो भी बाधा नहीं है"—इत्यादि भाव लिखा है।

तुम भी उसे तथा इस पत्रकी विचारकर जैसे क्लेश उत्पन्न न हो जैसे करना। किसी भी

प्रकारसे सहन करना ही श्रेष्ठ है । ऐसा न बने तो सहज कारणमें ही उल्टा श्शेक्षरूप ही परिणाम आना समझ है । जहाँतक बने यदि प्रायश्चित्तका कारण न बने तो न करता, नहीं तो फिर थोड़ा प्रायश्चित्त लेनेमें भी बाधा नहीं है । वे यदि प्रायश्चित्त बिना दिये ही कदाचित् इस बातकी उपेक्षा कर दें तो भी तुम्हारे अर्थात् साधु को चित्तमें इस बातका इतना पथात्ताप करना तो योग्य है कि इस तरह करना ही योग्य न था । अत्र इसके बाद साधु जैसेकी समक्षतापूर्वक श्शानकके पाससे यदि कोई श्शिवनेवाला हो तो पत्र लिखानेमें बाधा नहीं—इतनी व्यवस्था उस सम्प्रदायमें चला करती है, इसमें प्रायः लोभ विरोध नहीं करेंगे । और उसमें भी यदि विरोध जैसा मादूम हो तो हालमें उस बातके लिये भी धीरज ग्रहण करना ही हितकारी है । लोक-समुदायमें क्लेश उत्पन्न न हो—हालमें इस लक्ष्यको चूकना योग्य नहीं है, क्योंकि उस प्रकारका कोई प्रयोजन नहीं है ।

श्री का पत्र बॉचकर सार्विक हर्ष हुआ है । जिस तरह जिज्ञासाका बल बढ़े उस तरह प्रयत्न करना यह प्रथम भूमि है । वैराग्य और उपशमके हेतु योगनासिष्ठ आदि प्रयोगोंके पढनेमें बाधा नहीं है । अनाथदासजीका जनाया हुआ विचारमाला नामका ग्रन्थ सटीक अत्रलोकन करने योग्य है । हमारा चित्त नित्य ससगकी ही इच्छा करता है, परन्तु स्थिति प्रारब्धके आधीन है । तुम्हारे समागमी भाईयोंसे जितना बने उतना सद्ग्रन्थोंका अत्रलोकन हो, वह अप्रमादपूर्वक करने योग्य है । और जिससे एक दूसरेका नियमित परिचय किया जाय उतना लक्ष्य रखना योग्य है ।

प्रमाद सत्र फर्माका हेतु है ।

४१६

वर्माई, वैशाख १९५०

मनका, वचनका तथा कायाका व्यवसाय, जितना समझते हैं, उसकी अपेक्षा इस समय विशेष रहा करता है, और इसी कारण तुम्हें पत्र आदि लिखना नहीं हो सकता । व्यवसायकी प्रियताकी इच्छा नहीं होती, फिर भी वह प्राप्त हुआ करता है, और ऐसा मादूम होता है कि वह व्यवसाय अनेक प्रकारसे वेदन करने योग्य है, जिसके वेदनसे फिरसे उसकी उत्पत्तिका सबंध दूर होगा—यह निवृत्त होगा । यदि कदाचित् प्रबलरूपसे उसका निरोध किया जाय तो भी उस निरोधरूप क्लेशके कारण, आत्मा आत्मरूपसे निवृत्ता परिणामकी तरह परिणमन नहीं कर सकती, ऐसा लगता है । इसलिये उस व्यवसायकी जिस प्रकारसे अनिच्छारूपसे प्राप्ति हो, उसे वेदन करना, यह किसी तरह विशेष सम्यक् मादूम होता है ।

किसी प्रगट कारणका अत्रलवन लेकर—विचारकर—परोक्षरूपसे चले आते हुए सर्वज्ञ पुरुषको केवल सम्यग्दृष्टिपनेसे भी पहिचान लिया जाय तो उसका महान् फल है, और यदि वेसे न हो तो सर्वज्ञको सर्वज्ञ कहनेका कोई आत्मसंबंधी फल नहीं, ऐसा अनुभवमें आता है ।

प्रत्यक्ष सर्वज्ञ पुरुषको भी यदि किसी कारणसे—विचारसे—अत्रलमनसे—सम्यग्दृष्टि-रूपसे भी न जाना हो तो उसका आत्म-प्रत्ययी फल नहीं है । परमार्थसे उसकी सेवा-असेनासे जीवको कोई जाति ()—भेद नहीं होता, इसलिये उसे कुछ सकल कारणरूपसे ज्ञानी-पुरुषने स्वीकार नहीं किया, ऐसा मादूम होता है ।

बहुतसे प्रत्यक्ष वर्तमानोंके ऊपरसे ऐसा प्रगट माद्धम होता है कि यह काल त्रिपम अथवा दु पम अथवा कलियुग है। काल-चक्रके परावर्तनमें दु पमकाल पूर्वमें अनतवार आ चुका है, फिर भी ऐसा दु पमकाल कभी कभी ही आता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस प्रकारकी परंपरागत बात चली आती है कि 'असमती-पूजा' नामसे आश्चर्ययुक्त 'हुड'—ढीठ—इस प्रकारके इस पचमकालको तीर्थंकर आदिने अनतकालमें आश्चर्यस्वरूप माना है, यह बात हमें बहुत करके अनुभवमें आती है—साक्षात् मानों ऐसी ही माद्धम होती है।

काल ऐसा है। क्षेत्र प्राय अनार्य जैसा है। उसमें स्थिति है। प्रसंग, द्रव्य काल आदि कारणसे सरल होनेपर भी लोक-संज्ञारूपसे ही गिनने योग्य है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भागके अलखन बिना निराधाररूपसे जिस तरह आत्मभाव सेवन किया जाय उस तरह यह आत्मा सेवन करती है, दूसरा उपाय ही क्या है ?

४१७

वैशाख १९५०

नित्यनियम

ॐ श्रीमत्परमगुरुभ्यो नमः

सत्रे उठकर ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करके रात-दिनमें जो कुछ पापके अठारह स्थानकोंमें प्रवृत्ति हुई हो, सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्रसबत्री जो कुछ अपराध हुआ हो, किसी भी जीवके प्रति किंचिन्मात्र भी अपराध किया हो, वह जानकर हुआ हो अथवा अनजानमें हुआ हो, उस सत्रके क्षमा करानेके लिये, उसकी निंदा करनेके लिये—त्रिशेष निंदा करनेके लिये, आत्मासे उस अपराधका प्रिसर्जन करके नि शल्य होना चाहिये (रात्रिमें शयन करते समय भी इसी तरह करना चाहिये)।

श्रीसत्पुरुषके दर्शन करके चार घड़ीके लिये सर्पसावध व्यापारसे निवृत्त होकर एक आसनपर बैठना चाहिये। उस समयमें " परमगुरु " शब्दकी पाँच मालायें गिनकर सत्शास्त्रका अध्ययन करना चाहिये। उसके पश्चात् एक घड़ी कायोत्सर्ग करके श्रीसत्पुरुषके वचनोंको कायोत्सर्गमें जप करके सद्वृत्तिका ध्यान करना चाहिये। उसके बाद आनी घड़ीमें भक्तिकी वृत्तिकी जागृत करनेवाले पदों (आज्ञानुसार) को बोलना चाहिये। आनी घड़ीमें " परमगुरु " शब्दको कायोत्सर्गरूपसे जपना चाहिये और " सर्पज्ञदेव " नामकी पाँच मालायें फेरनी चाहिये।

[हालमें अध्ययन करने योग्य शास्त्र — त्रैग्यशतक, इन्द्रियपराजयशतक, शातसुधारस, अध्यात्मकल्पद्रुम, योगदृष्टिममुच्चय, ननतरप, मूलपद्धति कर्मग्रन्थ, धर्मविदु, आत्मानुशासन, भावनागोत्र, मोक्षमार्गप्रकाश, मोक्षमाला, उपमितिभयप्रपचकथा, अध्यात्मसार, श्रीआनन्दघनजीकी चौगी-सीमेंसे नीचेके स्तवन — १, २, ५, ७, ८, ९, १०, १३, १५, १६, १७, १९, २२]

सात व्यसन (जूआ, मॉस, मदिरा, बेश्यागमन, शिकार, चोरी, परखी) का त्याग।

जूआ आमिष मदिरा दारी, आखेटक चोरी परनारी;

एई सात विसन दुखदाई, दुरित मूल दुरगतिके भाई।

रात्रिभोजनका त्याग । कुछको डोड़कर सर्प यनस्पतिका त्याग । कुछ तिथियोंमें त्रिना त्यागी हुई यनस्पतिका प्रतिग्रह । अमुक रसका त्याग । अन्नसर्चर्यका त्याग । परिग्रह-परिमाण । [शरीरमें विशेष रोग आदिके उपद्रवसे, वेसुधिते, राजा अथवा देव आदिके बलात्कारसे यहाँ बताया हुए नियमोंमें प्रवृत्ति करनेके लिये यदि समर्थ न हुआ जाय तो उसके लिये पश्चात्तापका स्थान समझना चाहिये । उस नियममें स्वेच्छापूर्वक न्यूनाधिकता कुछ भी करनेकी प्रतिज्ञा करना । सत्पुरुषकी आज्ञासे नियममें फेरफार करनेसे नियम भंग नहीं होता ।]

४१८

बम्बई, वैशाख १९५०

श्रीतीर्थकर आदि महात्माओंने ऐसा कहा है कि जिसे विपर्यास दूर होकर देह आदिमें होने-वाली आत्म-बुद्धि और आत्म-भागमें होनेवाली देह-बुद्धि दूर हो गई है—अर्थात् जो आत्म-परिणामी हो गया है—ऐसे ज्ञानी-पुरुषको भी जनतक प्रारम्भका व्यग्रसाय है, तत्रतक जागृतिमें रहना ही योग्य है, क्योंकि अनाशा प्राप्त होनेपर हमें वहाँ भी अनादि विपर्यास भयका हेतु मात्र ही हुआ है । जहाँ चार घनघाती कर्म छिन्न हो गये हैं, ऐसे सहजस्वरूप परमात्मामें तो सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण जागृतिरूप तुर्यान्स्था ही रहती है—अर्थात् वहाँ अनादि विपर्यासके निर्माजपनेको प्राप्त हो जानेसे वह विपर्यास किसी भी प्रकारसे उद्भूत हो ही नहीं सकता, परन्तु उससे न्यून ऐसे विरति आदि गुणस्थानकमें रहने-वाले ज्ञानीको तो प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक क्षणमें आत्म-जागृति होना ही योग्य है । प्रमादके कारण जिसने चोदह पूर्वका कुछ अज्ञानसे भी न्यून ज्ञान प्राप्त किया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको भी अनन्तकाल परिभ्रमण हुआ है, इसलिये जिसकी व्यवहारमें अनासक्त बुद्धि हुई है, उस पुरुषको भी यदि उस प्रकारके प्रारम्भका उदय हो तो उसकी क्षण क्षणमें निवृत्तिका चिन्तन करना, और निज भावकी जागृति रखनी चाहिये ।

इस प्रकारसे ज्ञानी-पुरुषको भी महाज्ञानी श्रीतीर्थकर आदिने अनुरोध किया है, तो फिर जिसका मार्गानुसारी अस्थामें भी अभी प्रवेश नहीं हुआ, ऐसे जीवको तो इस सब व्यग्रसायसे विशेष विशेष निवृत्त भाव रखना और विचार-जागृति रखना योग्य है—ऐसा बताने जैसा भी नहीं रहता, क्योंकि वह तो सहजमें ही समझमें आ सकता है ।

ज्ञानी पुरुषोंने दो प्रकारका बोध बताया है—एक सिद्धात बोध, और दूसरा उस सिद्धात-बोधके होनेमें कारणभूत उपदेश-बोध । यदि उपदेश-बोध जीवके अतःकरणमें स्थिर न हुआ तो उसे केवल सिद्धात-बोधका भले ही ध्रमण हो, परन्तु इसका कुछ फल नहीं हो सकता । पदार्थके सिद्धभूत स्वरूपको सिद्धात-बोध कहते हैं । ज्ञानी पुरुषोंने निष्कर्ष निकालकर जिस प्रकारसे अन्तमें पदार्थको जाना है—वह जिस प्रकारसे वाणीद्वारा कहा जा सके उस तरह बताया है—इस प्रकारका जो बोध है, उसे सिद्धात-बोध कहते हैं । परन्तु पदार्थके निर्णय करनेके लिये जीवको अतरायरूप उसकी अनादि विपर्यास भावको प्राप्त बुद्धि, व्यक्तरूपसे अथवा अव्यक्तरूपसे विपर्यास भावसे पदार्थके स्वरूपका निश्चय कर लेती है, उस विपर्यास बुद्धिका बल घटनेके लिये, यथावत् वस्तुस्वरूप जाननेके नियममें प्रवेश होनेके लिये, जीवको वेराग्य और उपशम नामके साधन कहे हैं,

जो जो साधन जीवको ससारका भय दृढ़ कराते हैं उन उन साधनसन्धी जो उपदेश कहा है, वह उपदेश-त्रोत्र है ।

यहाँ यह निचार होना समझ है कि उपदेश-त्रोत्रकी अपेक्षा सिद्धात बोधकी मुख्यता माद्धम होती है, क्योंकि उपदेश-बोध भी उसीके लिये है, तो फिर यदि सिद्धात बोधका ही पहिलेमें अगगाहन किया हो तो वह जीवको पहिलेसे ही उन्नतिका हेतु है । परन्तु यह निचार होना मिथ्या है, क्योंकि उपदेश-बोधसे ही सिद्धात-त्रोत्रका जन्म होता है । जिसे वैराग्य-उपशम सन्धी उपदेश-बोध नहीं हुआ, उसे बुद्धिका निर्यास भाग रहा करता है, और जन्तक बुद्धिका निर्यास भाग रहे तत्तक सिद्धातका निचार करना भी निर्यास भागसे ही समझ होता है । जैसे चक्षुमें जितनी मलिनता रहती है, वह उतना ही पदार्थको मलिन देखती है, और यदि उसका पटल अत्यत बलवान हो तो उसे मूल पदार्थ ही दिखाई नहीं देता, तथा जिसको चक्षुका यथावत् सपूर्ण तेज निचमान है, वह पदार्थको यथायोग्य देखता है । इसी प्रकार जिस जीवको गाढ़ निर्यास बुद्धि है, उसे तो किसी भी तरह सिद्धात-त्रोत्र निचारमें नहीं आ सकता । परन्तु जिसकी निर्यास बुद्धि मद् हो गई है उसे उस प्रमाणमें सिद्धातका अवगाहन होता है, और जिसने निर्यास बुद्धिका विशेषरूपसे क्षय किया है, ऐसे जीवको विशेषरूपसे सिद्धातका अवगाहन होता है ।

गृह-कुटुम्ब परिग्रह आदि भागमें जो अहता—ममता—है और उसकी प्राप्ति अप्राप्तिके प्रसंगमें जो राग द्वेष कपाय है, वही निर्यास-बुद्धि है । ओर जहाँ वैराग्य-उपशम उद्भूत होता है, वहाँ अहता—ममता तथा कपाय मद् पड़ जाते हैं—वे अनुक्रमसे नाश होने योग्य हो जाते हैं । गृह-कुटुम्ब आदि भागनिर्णयक अनासक्त बुद्धि होना वैराग्य है, और उसकी प्राप्ति-अप्राप्तिके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले कपाय-क्लेशका मद् होना उपशम है । अर्थात् ये दो गुण निर्यास बुद्धिको पर्यायांतर करके सद्बुद्धि पैदा करते हैं, और वह सद्बुद्धि जीव अजीव आदि पदार्थकी व्यवस्था जैसी माद्धम होती है—इस प्रकार सिद्धातका निचार करना योग्य है । जैसे चक्षु पटल आदि अंतरायके दूर होनेसे वह पदार्थको यथावत् देखती है, उसी तरह अहता आदि पटलकी मदता होनेसे जीवको ज्ञानी-पुरुषके कहे हुए सिद्धात-भाग—आत्मभाग—निचार-चक्षुसे दिखाई देते हैं । जहाँ वैराग्य और उपशम बलवान हैं, वहाँ प्रबलतासे निरेक होता है । जहाँ वैराग्य-उपशम बलवान न हो वहाँ निरेक बलवान नहीं होता, अथवा यथावत् निरेक नहीं होता । जो सहज आत्मस्वरूप है ऐसा केवलज्ञान भी प्रथम मोहनीय कर्मके क्षयके बाद ही प्रगट होता है, और इस बातसे जो ऊपर सिद्धात नताया है, वह स्पष्ट समझमें आ जायगा ।

फिर ज्ञानी-पुरुषोंकी विशेष शिक्षा वैराग्य-उपशमका बोध करनेवाली देखनेमें आती है । जिन-भगवान्के आगमपर दृष्टि डालनेसे यह बात विशेष स्पष्ट जानी जा सकेगी । सिद्धात-बोध, अर्थात् जिस आगममें जीव अजीव पदार्थका विशेषरूपसे जितना कथन किया है, उसकी अपेक्षा विशेषरूपसे अति विशेषरूपसे वैराग्य और उपशमका कथन किया है, क्योंकि उसकी सिद्धि हो जानेके पश्चात् सहजमें ही निचारकी निर्मलता होती है, और निचारकी निर्मलता सिद्धातरूप कथनको सहज ही में अथवा थोड़े ही परिश्रमसे अगीकार कर सकती है—अर्थात् उसकी भी सहज ही सिद्धि होती है, और

वैराग्य होनेके कारण जगह जगह इसी अधिकारका व्याख्यान किया गया है । यदि जीवको आरभ-परि-
ग्रहकी विशेष प्रवृत्ति रहती हो तो, और वैराग्य और उपशम हो, तो उसका भी नष्ट हो जाना समझ
है, क्योंकि आरभ-परिग्रह अवैराग्य और अनुपशमका मूल है, वैराग्य और उपशमका काल है ।

श्रीठाणागसूत्रमें इस आरभ और परिग्रहके बलको बतानेके पश्चात् उससे निवृत्त होना योग्य
है, यह उपदेश करनेके लिये इस भावसे द्विभगी कही है —

- १ जीवको मतिज्ञानानरणीय कबतरु होता है ? जन्तक आरभ और परिग्रह हो तबतक ।
- २ जीवको श्रुतज्ञानानरणीय कबतक होता है ? जन्तक आरभ और परिग्रह हो तबतक ।
- ३ जीवको अग्रधिज्ञानानरणीय कबतक होता है ? जन्तक आरभ और परिग्रह हो तबतक ।
- ४ जीवको मन पर्यवज्ञानानरणीय कबतरु होता है ? जन्तक आरभ और परिग्रह हो तबतक ।
- ५ जीवको केवलज्ञानानरणीय कबतक होता है ? जन्तक आरभ और परिग्रह हो तबतक ।

ऐसा कहकर दर्शन आदिके भेद बताकर उस बातको सग्रहवार बताई है कि वे आवरण
तबतक रहते हैं जन्तक आरभ और परिग्रह होता है । इस प्रकार आरभ परिग्रहका बल बताकर फिर
अर्थापत्तिरूपसे फिरसे उसका वहीपर कथन किया है ।

- १ जीवको मतिज्ञान कब होता है ? आरभ परिग्रहसे निवृत्त होनेपर ।
- २ जीवको श्रुतज्ञान कब होता है ? आरभ-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर ।
- ३ जीवको अग्रधिज्ञान कब होता है ? आरभ-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर ।
- ४ जीवको मन पर्यवज्ञान कब होता है ? आरभ-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर ।
- ५ जीवको केवलज्ञान कब होता है ? आरभ-परिग्रहसे निवृत्त होनेपर ।

इस प्रकार सग्रह भेदोंको फिरसे कहकर, आरभ-परिग्रहकी निवृत्तिका फल, जहाँ अतमे
केवलज्ञान है, वहाँतक लिया है । और प्रवृत्तिके फलको केवलज्ञानतकके आवरणका हेतुरूप कहकर,
उसका अत्यंत बलमानपना बताकर, जीवको उससे निवृत्त होनेका ही उपदेश किया है ।
फिरफिरसे ज्ञानी-पुरुषोंके वचन जीवको इस उपदेशका ही निश्चय करनेके लिये प्रेरणा करनेकी
इच्छा करते हैं, फिर भी अनादि असत्सगसे उत्पन्न हुई दुष्ट इच्छा आदि भावमें मूढ़ हुआ यह
जीव बोध नहीं प्राप्त करता, और उन भावोंकी निवृत्ति किये बिना अथवा निवृत्तिका प्रयत्न किये
बिना ही श्रेयकी इच्छा करता है, जो कभी भी समझ नहीं हुआ, वर्तमानमें होता नहीं, और भविष्यमें
होगा नहीं ।

४१९

ॐ

(१)

बम्बई, श्रेष्ठ सुदी १४ रवि १९५०

चित्तमें उपाधिके प्रसंगके लिये बारम्बार खेद होता है । यदि इम प्रकारका उदय इस देहमें
बहुत समयतक रहा करे तो समाधि दशापूर्वक जो लक्ष है, यह लक्ष ऐसेका ऐसा ही, प्रधानरूपसे
रखना पड़े, और जिसमें अत्यंत अप्रमाद-योग रखना योग्य है, उसमें प्रमाद-योग हो

कदाचित् वैसा न हो तो भी ' इस ससारमें किसी प्रकार रुचि-योग माद्धम नहीं होता—वह प्रत्यक्ष रसरहित स्वरूप ही दिखाई पड़ता है। उसमें कभी भी सद्भिचारवान जीवको अल्प भी रुचि नहीं होती,' यह निश्चय रहा करता है। वारम्बार ससार भयरूप लगता है। भयरूप लगनेका दूसरा कोई कारण माद्धम नहीं होता। इसका हेतु केवल यही है कि इसमें शुद्ध आत्मस्वरूपको अप्रधान रखकर प्रवृत्ति होती है, उससे महान् कष्ट रहता है, और नित्य छुटकारा पानेका लक्ष्य रहा करता है। फिर भी अभी तो अतराय रहता है, और प्रतिबन्ध भी रहा करता है। तथा उसी तरहके दूसरे अनेक विकल्पोंसे खारे लगनेवाले इस ससारमें हम बड़ी कठिनाईसे रह रहे हैं।

(२)

आत्म-परिणामकी निशेष स्थिरता होनेके लिये उपयोगपूर्वक वाणी और कायाका समय करना योग्य है।

४२०

मोहमयी, आपाद् सुदी ६ रवि १९५०

(१)

जीव और काया पदार्थरूपसे जुड़े जुड़े हैं। परन्तु जबतक उस देहसे जीव कर्म भोगता है, तबतक ये दोनों सबधरूपसे सहचारी हैं। श्रीजिनभगवान्ने जीव और कर्मका सबध क्षीर-नीरके सबधकी तरह बताया है। उसका हेतु भी यही है कि यद्यपि क्षीर और नीर एकत्र स्पष्ट दिखाई देते हैं, परन्तु परमार्थसे वे जुड़े जुड़े हैं—पदार्थरूपसे वे भिन्न हैं, अग्निका प्रयोग करनेपर वे फिर स्पष्ट जुड़े जुड़े हो जाते हैं। उसी तरह जीव और कर्मका सबध है। कर्मका मुख्य स्वरूप किसी प्रकारकी देह ही है, और जीवको इन्द्रिय आदि द्वारा क्रिया करता हुआ देखकर यह जीव है, ऐसा सामान्यरूपसे कहा जाता है। परन्तु ज्ञान-दशा आये बिना जीव और कायाकी जो स्पष्ट भिन्नता है, वह भिन्नता जीवके जाननेमें नहीं आती, परन्तु यह भिन्नता क्षीर-नीरकी तरह ही है। ज्ञानके सस्कारसे यह भिन्नता एकदम स्पष्ट हो जाती है। अब यहाँ ऐसा प्रश्न किया गया है कि ' यदि ज्ञानसे जीव और कायाको भिन्न भिन्न जान लिया है, तो फिर वेदनाका सहन करना या मानना किस कारणसे होता है ? यह फिर न होना चाहिये '। इस प्रश्नका समाधान निम्न प्रकारसे है —

जैसे सूर्यसे तपा हुआ पत्थर सूर्यके अस्त होनेके बाद भी अमुक समयतक तप्त रहता है, ओर पीछेसे अपने स्वरूपमें आता है, उसी तरह पूर्वके अज्ञान-सस्कारसे उपार्जित किये हुए वेदना आदि तापका इस जीवसे सबध है। यदि ज्ञान-प्राप्तिका कोई कारण मिल जाय तो फिर अज्ञानका नाश हो जाता है, और उससे उत्पन्न होनेवाला भागी कर्म नाश होता है, परन्तु उस अज्ञानसे उत्पन्न हुए वेदनीय कर्मका—उस अज्ञानके सूर्यकी तरह, उसके अस्त होनेके पश्चात्—पत्थररूपी जीवके साथ सबध रहता है, जो आयु कर्मके नाश होनेसे ही नाश होता है। केवल इतना ही भेद है कि ज्ञानी-पुरुषको कायामें आत्म-बुद्धि नहीं होती, और आत्मामें काय-बुद्धि नहीं होती—उसके ज्ञानमें दोनों ही स्वरूपसे भिन्न भिन्न माद्धम पड़ते हैं। मात्र जैसे पत्थरको सूर्यके तापका सबध रहता है, उसी तरह पूर्वसबधके

रहनेसे वेदनीय कर्म आयु पूर्ण होनेतक अविपमभाजसे सहन किया जाता है। परन्तु उस वेदनाको सहन करते हुए जीवके स्वरूप-ज्ञानका भग नहीं होता, अथवा यदि होता है तो उस जीवके उस प्रकारका स्वरूप ज्ञान ही संभव नहीं होता। आत्म-ज्ञान होनेसे पूर्वोपार्जित वेदनीय कर्मका नाश हो ही जाय, ऐसा कोई नियम नहीं है। वह अपनी स्थितिपूर्वक ही नाश होता है। फिर वह कर्म ज्ञानको आरण करनेवाला नहीं है—अव्यानाधभाजको ही आरणरूप है। अथवा तन्तक सपूर्ण अव्यानाधपना प्रगट नहीं होता, परन्तु पूर्ण-ज्ञानके साथ उसका विरोध नहीं है। सम्पूर्ण ज्ञानीको आत्मा अव्यानाध है, इस प्रकार निजरूपसे अनुभव है, फिर भी सत्रधसे देखते हुए उसका अव्यानाधपना वेदनीय कर्मसे अभुक्त भाजसे रका हुआ है। यद्यपि उस कर्ममें ज्ञानीको आत्म-बुद्धि न होनेके कारण अव्यानाध गुणको भी मात्र सबधका ही आरण है—साक्षात् आरण नहीं है।

वेदना सहन करते हुए जीवको थोड़ा भी विपमभाजका होना, यह अज्ञानका लक्षण है, परन्तु जो वेदना है वह अज्ञानका लक्षण नहीं है—वह पूर्वोपार्जित अज्ञानका ही फल है। वर्तमानमें यह केवल प्रारम्भरूप है, उसको सहन करते हुए ज्ञानीको अविपमभाज रहता है—अर्थात् जीव ओर काया भिन्न भिन्न हैं, ऐसा जो ज्ञान-योग है वह ज्ञानी-पुरपको निर्बाध ही रहता है। मात्र जितना विपमभाजसे रहितपना है वह ज्ञानको बाधक नहीं है, जो विपमभाज है वही ज्ञानको बाधाकारक है। जिसकी देहमें देह-बुद्धि ओर आत्मामें आत्म-बुद्धि है, जिसे देहसे उदासीनता है ओर आत्मामें जिसकी स्थिति है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको वेदनाका उदय प्रारम्भके सहन करनेरूप ही है, वह नये कर्मका हेतु नहीं है।

दूसरा प्रश्न यह है कि 'परमात्मस्वरूप सब जगह एकसा है, सिद्ध और ससारी जीव एकसे हैं, फिर सिद्धकी स्तुति करनेसे क्या कुछ नाधा आती है ?'

पछिले परमात्मस्वरूपका विचार करना योग्य है। व्यापकरूपसे परमात्मस्वरूप सर्वत्र है या नहीं, यह बात विचार करने योग्य है।

सिद्ध और ससारी जीव समान सत्तायुक्त स्वरूपसे मौजूद हैं, यह ज्ञानी-पुरुषोंने जो निश्चय किया है, वह यथार्थ है। परन्तु दोनोंमें इतना ही भेद है कि सिद्धोंमें वह सत्ता प्रगटरूपसे है, और ससारी जीवोंमें वह सत्ता केवल सत्तारूपसे है। जैसे दीपकमें अग्नि प्रगटरूपसे है, और चकमक पथरमें वह सत्तारूपसे है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये। जैसे दीपकमें और चकमक पथरमें जो अग्नि है, वह अग्निरूपसे समान है—व्यक्तिरूप (प्रगटरूप) से और शक्तिरूप (सत्तारूप) से भिन्न है, परन्तु उसमें वस्तुकी जातिरूपसे भेद नहीं है, उसी तरह सिद्धके जीवमें जो चेतन-सत्ता है, वही सत्ता सब ससारी जीवोंमें है, भेद केवल प्रगट-अप्रगटपनेका ही है। जिसे वह चेतन-सत्ता प्रगट नहीं हुई ऐसे ससारी जीवको, उस सत्ताके प्रगट होनेके हेतुरूप, प्रगट-सत्तायुक्त ऐसे सिद्धभगवानका स्वरूप विचार करने योग्य है—ध्यान करने योग्य है—स्तुति करने योग्य है, क्योंकि उससे आत्माको निज-स्वरूपका विचार-ध्यान-स्तुति करनेका भेद प्राप्त होता है, जो अवश्य करने योग्य है। आत्मस्वरूप सिद्धस्वरूपके समान है, यह विचारकर और वर्तमानमें इस आत्मामें उसकी अप्रगटता है, उसका अभान करनेके लिये उस सिद्ध-स्वरूपका विचार-ध्यान-स्तुति करना योग्य है। यह भेद समझकर सिद्धकी स्तुति करनेमें कोई बाधा नहीं मादम होती।

‘आत्मस्वरूपमें जगत् नहीं है,’ यह बात वेदात्ममें कही है, अथवा ऐसा योग्य है। परन्तु ‘बाह्य जगत् नहीं है,’ यह अर्थ केवल जीवको उपशम होनेके लिये ही मानने योग्य गिना जा सकता है।

इस प्रकार इन तीन प्रश्नोंका सक्षिप्त समाधान लिखा है, इसका विशेषरूपसे विचार करना। कुछ विशेष समाधान करनेकी इच्छा हो तो लिखना।

जिस तरह वैराग्य-उपशमकी वृद्धि हो, हालमें तो उसी तरह करना चाहिये।

(२)

जैनदर्शन जिसे सर्वप्रकाशकता कहता है, वेदान्त उसे व्यापकता कहता है।

४२१

बम्बई, आषाढ सुदी ६ रति १९५०

पुत्र-वृत्तियोंका उपगम करनेके लिये और निवृत्ति करनेके लिये जीवको अभ्यास—सतत अभ्यास—करना चाहिये, क्योंकि बिना विचारके, बिना प्रयासके, उन वृत्तियोंका उपशम अथवा निवृत्ति किस प्रकारसे हो सकती है? कारणके बिना कोई कार्य होना संभव नहीं है, तो फिर यदि इस जीवने उन वृत्तियोंके उपशम अथवा निवृत्ति करनेका कोई उपाय न किया हो, अर्थात् उसका अभाव न हो तो यह बात स्पष्टरूपसे संभव है। बहुत बार पूर्वकालमें वृत्तियोंके उपशमका तथा निवृत्तिका जीवने अभिमान किया है, परन्तु उस प्रकारका कोई साधन नहीं किया, और अवगत भी उस क्रममें जीव अपना कोई ठिकाना नहीं करता—अर्थात् अभी भी उसे उस अभ्यासमें कोई रस दिखाई नहीं देता। तथा कङ्कास माद्धम होनेपर भी उस कङ्कासके ऊपर पैर रखकर, यह जीव उपशम-निवृत्तिमें प्रवेश नहीं करता। इस बातका इस दुष्ट-परिणामी जीवको बारम्बार विचार करना चाहिये—यह बात किसी भी तरह विस्मरण करने योग्य नहीं।

जिस प्रकारसे पुत्र आदि सपत्तिमें इस जीवको मोह होता है, वह प्रकार सर्वथा नीरस और निन्दनीय है। यदि जीव जरा भी विचार करे तो स्पष्ट मालूम हो जाय कि इस जीवने किसीमें पुत्र-पनेकी भावना करके अपने अहित करनेमें कमी नहीं रखी, और किसीमें पिताभाव मानकर भी वैसा ही किया है, और कोई जीव अभीतक तो पिता-पुत्र हो सका हो, यह देखा नहीं गया। सब कहते ही कहते आते हैं कि यह इसका पुत्र है, यह इसका पिता है, परन्तु विचार करनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि यह बात किसी भी कालमें संभव नहीं। अनुत्पन्न इस जीवको पुत्ररूपसे मानना, अथवा उसे मनवानेकी इच्छा रहना, यह सब जीवकी मूर्खता है, और वह मूर्खता किसी भी प्रकारसे सत्सगकी इच्छावाले जीवको करना योग्य नहीं है।

जो तुमने मोह आदिके भेदके विषयमें लिखा, वह दोनोंको भ्रमणका हेतु है—अत्यंत विडम्बनाका हेतु है। ज्ञानी-पुरुष भी यदि इस तरह आचरण करे तो वह ज्ञानके ऊपर पाँव रखने जैसा है, और वह सब प्रकारसे अज्ञान-निद्राका ही हेतु है। इस भेदका विचार करके दोनोंको सरल भाव करना चाहिये। यह बात अल्पकालमें ही जागृत करने योग्य है।

जितना बने उतना तुम अथवा दूसरे तुम्हारे सत्सगियोंको निवृत्तिका अवकाश लेना चाहिये, वही जीवको हितकारी है।

४२२

मोहमयी, आपाद् सुदी ६ रवि १९५०

ॐ

(१)

इस जीवने पूर्वकालमें जो जो साधन किये हैं, वे सब साधन ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञासे किये हुए माद्वम नहीं होते—यह बात शकारहित माद्वम होती है। यदि ऐसा हुआ हो तो जीवको ससार-परिभ्रमण ही न हो। ज्ञानी-पुरुषकी जो आज्ञा है वह ससारमें परिभ्रमण करनेके लिये मार्ग-प्रतिबन्धके समान है, क्योंकि जिसे आत्मार्थके सिवाय दूसरा कोई प्रयोजन नहीं और आत्मार्थ सिद्ध करके भी जिसकी देह केवल प्रारब्धके वशसे ही मौजूद रहती है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञा सन्मुख जीवको केवल आत्मार्थमें ही प्रेरित करती है, और इस जीवने तो पूर्वकालमें कोई आत्मार्थ जाना ही नहीं—बल्कि उल्टा आत्मार्थ विस्मरणरूपसे ही चला आता है। यदि वह अपनी कल्पनामात्रसे आत्मार्थ साधन करे, तो उससे आत्मार्थ नहीं होता, बल्कि उल्टा 'आत्मार्थका साधन करता हूँ' इस प्रकार दुरभिमान उत्पन्न होता है, जो जीवको ससारका मुख्य हेतु है। जो बान स्वप्नमें भी नहीं आती, उसे जीव यदि निरर्थक कल्पनासे साक्षात्कार सरीखी मान ले तो उससे कल्याण नहीं हो सकता। तथा इस जीवके पूर्वकालसे अध रहते हुए भी यदि वह अपनी कल्पनामात्रसे ही आत्मार्थ मान भी ले तो उसमें सफलता न मिले, यह बात ऐसी है जो बिलकुल समझमें आ सकती है।

इससे इतना तो माद्वम होता है कि जीवके पूर्वकालीन समस्त मिथ्या साधन—कल्पित साधन दूर करनेके लिये अपूर्ण ज्ञानके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है, और उसका अपूर्व विचारके बिना उत्पन्न होना समन नहीं है, ओर वह अपूर्ण विचार अपूर्ण पुरुषकी आराधना किये बिना दूसरी किस तरह जीवको प्राप्त हो, यह विचार करते हुए अतमें यही सिद्ध होता है कि ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञाका आराधन, यह सिद्धि-पदका सर्वश्रेष्ठ उपाय है, ओर जनसे इस बातको जीव मानने लगता है, तभीसे दूसरे दोषोंका उपशम होना—निवृत्त होना शुरू हो जाता है।

श्रीजिनभगवान्ने इस जीवके अज्ञानकी जो जो व्याख्या की है, उसमें प्रतिसमय उसे अनन्त कर्मका व्यरसायी कहा है, ओर वह अनादि कालसे अनन्त कर्मका बन्ध करता चला आया है, ऐसा कहा है। यह बात यथार्थ है। परन्तु यहाँ आपको एक शका हुई है कि तो फिर उस तरहके अनन्त कर्मोंके निवृत्त करनेके लिये चाहे जैसा जलान साधन होनेपर भी अनन्त काल वीतनेपर भी उसमें सफलता नहीं मिल सकती ?

इसका उत्तर यह है कि यदि सर्वथा ऐसा ही हो तो जैसा तुमने लिखा है वैसा समन है। परन्तु जिनभगवान्ने प्रनाहसे जीवको अनन्त कर्मका कर्त्ता कहा है—वह अनन्तकालसे कर्मका कर्त्ता चला आता है, ऐसा कहा है। परन्तु यह नहीं कहा कि वह प्रतिसमय, जो अनन्त कालतक भोगना पड़े ऐसे कर्मको आगामी कालके लिये उपार्जन करता है। किसी जीवकी अपेक्षासे इस बातको दूर रखकर, विचार करते हुए ऐसा कहा है कि सब कर्मोंका मूलभूत जो अज्ञान-मोह परिणाम है, वह अभी जीवमें ऐसाका ~~वैसा~~ ही चला आता है, जिस परिणामसे उसे अनन्त कालतक परिभ्रमण हुआ है, ओर यदि यह भी

शस्त्र आदिका सन्ध हो, यह नहीं होता। यदि उन जीवोंकी स्थूल अग्नाहना हो, अथवा अग्नि आदिका अत्यंत सूक्ष्मपना हो, जिससे उनकी भी एकेन्द्रिय जीव जैसी सूक्ष्मता गिनी जाय, तो वे एकेन्द्रिय जीवका व्याघात करनेमें समर्थ गिने जाँय, परन्तु वैसा तो है नहीं। यहाँ तो जीवोंका अत्यंत सूक्ष्मत्व है, और अग्नि शस्त्र आदिका अत्यन्त स्थूलत्व है, इस कारण उनमें व्याघात करने योग्य सन्ध नहीं होता, ऐसा भगवान्‌ने कहा है। परन्तु इस कारण औदारिक शरीरको अग्निनाशी कहा है, यह बात नहीं है, उसके स्वभावासे अन्यथारूप होनेसे अथवा उपार्जित किये हुए उन जीवोंके पूर्वकर्मके परिणामसे औदारिक शरीरका नाश होता है। वह शरीर कुछ दूसरेसे नाश किया जाय तो ही उसका नाश हो, यह भी नियम नहीं है।

यहाँ हालमें व्यापारसन्धी प्रयोजन रहता है, इस कारण तुरत ही थोड़े समयके लिये भी निकल सकना कठिन है, क्योंकि प्रसंग इस प्रकारका है कि जिसमें समागमके लोग मेरी मौजूदगीको आवश्यक समझते हैं। उनके मनको चोट न पहुँच सके, अथवा उनके काममें यहाँसे मेरे दूर चले जानेसे कोई प्रबल हानि न हो सके, ऐसा व्यनसाय हो तो वैसा करके थोड़े समयके लिये इस प्रवृत्तिसे अन्काश लेनेका चित्त है। परन्तु तुम्हारी तरफ आनेसे लोगोंके परिचयमें आना जरूर ही सभन होगा, इसलिये उस तरफ आनेका चित्त होना कठिन है। इस प्रकारका प्रसंग रहनेपर भी यदि लोगोंके परिचयमें धर्मके प्रसंगसे आना पड़े, तो उसे विशेष शका योग्य समझकर जैसे बने तैसे उस परिचयसे धर्म-प्रसंगके नामसे विशेषरूपसे दूर रहनेका ही चित्त रहा करता है।

जिससे वैराग्य-उपशमके बलकी वृद्धि हो, उस प्रकारके सत्संग-सत्शास्त्रका परिचय करना, यह जीवको परम हितकारी है। दूसरे परिचयको जैसे बने तैसे निवृत्त करना ही योग्य है।

४२४

बम्बई, श्रावण सुदी ११ रति १९५०

ॐ

योगशास्त्र आदि ग्रंथोंके बॉचने-विचारनेमें कोई दूसरी बाधा नहीं। हमने पहिले लिखा था कि उपदेश ग्रंथ समझकर इस प्रकारके ग्रंथोंके विचारनेसे जीवको गुण प्रगट होता है। प्रायः वैसे ग्रंथ वैराग्य और उपशमके लिये हैं। सत्पुरुषसे जानने योग्य सिद्धांत ज्ञानको जानकर जीवमें सरलता, निरभिमानता आदि गुणोंके उद्भूत होनेके लिये योगशास्त्र, उत्तराध्ययन, सूत्ररूपांग आदिके विचारनेमें कोई बाधा नहीं, इतना स्मरण रखना।

वेदात और जिन-सिद्धांत इन दोनोंमें अनेक प्रकारसे भेद है।

वेदात एक ब्रह्मस्वरूपमे सर्व स्थितिको कहता है, जिनागममें उससे भिन्न ही रूप कहा गया है। समयसार पढ़ते हुए भी बहुतसे जीवोंका एक ब्रह्मकी मान्यतारूप सिद्धांत हो जाता है। बहुत सत्संगसे तथा वैराग्य और उपशमका बल विशेषरूपसे बढ़नेके पश्चात् सिद्धांतका विचार करना चाहिये। यदि ऐसा न किया जाय तो जीव दूसरे मार्गमें आरूढ़ होकर वैराग्य और उपशमसे हीन हो जाता है। 'एक ब्रह्मरूप' के विचार करनेमें बाधा नहीं, अथवा 'अनेक आत्मा' के विचार

करनेमें भी बाधा नहीं। तुम्हें तथा दूसरे किसी मुमुक्षुको मात्र अपने स्वरूपका जानना ही मुख्य फल है, और उसके जाननेके शम, सतोय, विचार और सत्संग ये साधन हैं। उन साधनोंके सिद्ध हो जानेपर और वैराग्य-उपशमके परिणामकी वृद्धि होनेपर हा, 'आत्मा एक' है अथवा 'आत्मा अनेक है,' इत्यादि भेदका विचार करना योग्य है।

४२५

बम्बई, श्रावण सुदी १४, १९५०

नि सारताको अयत्नरूपसे जाननेपर भी व्ययसायका प्रसंग आत्म-वीर्यकी कुछ भी मदताका ही कारण होता है, यह होनेपर भी उस व्ययसायको करते हैं। जो आत्मासे सहन करने योग्य नहीं, उसे सहन करते हैं। यही निनती है।

४२६

बम्बई, श्रावण सुदी १४, १९५०

जिस तरह आम जल अप्रमादी हो, उस तरह सत्संग-सद्वाचनका समागम नित्यप्रति करना योग्य है। उसमें प्रमाद करना योग्य नहीं—अवश्य ऐसा करना योग्य नहीं।

४२७

बम्बई, श्रावण सुदी १, १९५०

जैसे पानीके स्वभासे शीतल होनेपर भी उसे यदि किसी जस्तनमें रक्कर नीचे अग्नि जलती हुई रख दी जाय, तो उसकी इच्छा न होनेपर भी वह पानी उष्ण हो जाता है, उसी तरह यह प्रकृति भी समाधिसे शीतल ऐसे पुरुषके प्रति उष्णताका कारण होता है, यह बात हमें तो स्पष्ट लगती है।

वर्धमानस्वामीने गृहवासमें ही यह सर्व व्यवसाय असार है—फल-व्ययका भागी है—ऐसा जान लिया था, तथापि उन्होंने उस गृहवासको त्यागकर मुनि-चर्या ग्रहण की भी। उस मुनि-चर्या में भी अत्यन्त बलसे समर्थ होनेपर भी, उस बलकी अपेक्षा भी अत्यन्त अधिक मन्त्री जल्दतर है; ऐसा जानकर उन्होंने मौन और अनिद्राका लगभग साढ़े बारह वर्षतक रोपन किया है, जिससे व्यवसाय-व्ययभी तो प्रायः पैदा न हो सके।

जो वर्धमानस्वामी गृहवासमें होनेपर भी अयोगी जैसे थे—अन्यथागी जैसे थे—निरस्तुत थे—और सहज स्वभासे मुनि जैसे थे—आत्मस्वरूप परिणामयुक्त थे, वे वर्धमानस्वामी सर्व प्रकृति में असा-रता जानकर—नीरस्ता जानकर भी दूर रहे, उस व्यवसायको करते हुए दूसरे जीवने उपाधे जिस प्रकारसे समाधि रखनेका विचार किया है, यह विचार करने योग्य है। उसी विचारकर फिर फिरसे उस चर्याको प्रत्येक कार्यमें, प्रत्येक प्रवृत्तिमें, स्मरण करके व्यवसायको प्रसंगमें रहती हुई इस रक्तिका नाश करना ही योग्य है। यदि ऐसा न किया जाय तो प्रायः करके ऐसा लगता है कि अभी इस जीवनकी मुमुक्षु-पदमें यथायोग्य अभिलाषा नहीं हुई, अथवा यह जीवन मात्र लोक-संज्ञासे ही कल्याण हो जाय, इस प्रकारकी यथायोग्य अभिलाषा नहीं हुई, अथवा यह जीवन मात्र लोक-संज्ञासे ही कल्याण हो जाय, इस प्रकारकी मानना करना चाहता है। परन्तु उसे कल्याण करनेकी अभिलाषा करना योग्य नहीं है, क्योंकि दोनों ही जीवोंके एकसे परिणाम हों, और एकको बध हो, दूसरेको बध न हो, ऐसा त्रिकालमें भी योग्य नहीं।

४२८

श्रीमान् महागीरस्थामी जैसोंने भी अप्रसिद्ध पद रखकर गृहवासरूपका वेदन किया, गृहवाससे निवृत्त होनेपर भी साढ़े बारह (बरस) जैसे दीर्घ कालतक मौन रखा, निद्रा छोड़कर निपम परीपह सहन किये, इसका क्या हेतु है ? और यह जीव इस प्रकार वर्तान करता है, तथा इस प्रकार कहता है, इसका क्या हेतु है ?

जो पुरुष सद्गुरुकी उपासनाके त्रिना केन्द्र अपनी कल्पनासे ही आत्म स्वरूपका निश्चय करे, वह केन्द्र अपने स्वच्छन्दके उदयका वेदन करता है—ऐसा विचार करना योग्य है ।

जो जीव सत्पुरुषके गुणका विचार न करे, और अपनी कल्पनाके ही आश्रयसे चले, वह जीव सहजमात्रमें भ्रम-वृद्धि उत्पन्न करता है, क्योंकि वह अमर होनेके लिये जहर पीता है ।

४२९

बम्बई, श्रावण वदी ७, १९५०

तुम्हारी और दूसरे मुमुक्षु लोगोंकी चित्तकी दशा माझम की है। ज्ञानी पुरुषोंने अप्रतिबद्धताको ही प्रधान मार्ग कहा है, और सत्रसे अप्रतिबद्ध दशाका लक्ष रखकर ही प्रवृत्ति रहती है, तो भी सत्सग आदिमें अभी हमें भी प्रतिबद्ध बुद्धि रखनेका ही चित्त रहता है। हालमें हमारे समागमका प्रसंग नहीं है, ऐसा जानकर तुम सत्र भाईयोंको, जिस प्रकारसे जीवको शांत दातमान उद्भूत हो, उस प्रकारसे बौचन आदिका समागम करना योग्य है—यह बात दृढ़ करने योग्य है ।

४३०

बम्बई, श्रावण वदी ९ शनि १९५०

जीवमें जिस तरह त्याग वैराग्य और उपशम गुण प्रगट हों—उदित हों, उस क्रमको लक्षमें रखनेकी जिस पत्रमें सूचना लिखी थी, वह पत्र प्राप्त हुआ है ।

जबतक ये गुण जीवमें स्थिर नहीं होते तबतक जीवसे यथार्थरूपसे आत्मस्वरूपका विशेष विचार होना कठिन है। 'आत्मा रूपी है या अरूपी है ?' इत्यादि विकल्पोंका जो उससे पहिले ही विचार किया जाता है, वह केन्द्र कल्पना जैसा है। जीव कुछ भी गुण प्राप्त करके यदि शीतल हो जाय, तो फिर उसे विशेष विचार करना चाहिये। आत्म-दर्शन आदि प्रसंग, तीव्र मुमुक्षुताके उत्पन्न होनेके पहिले प्राय करके कल्पितरूपसे ही समझमें आते हैं, जिससे हालमें इस विषयकी शकाका शांत करना ही योग्य है ।

४३१

बम्बई, श्रावण वदी ९ शनि १९५०

(१) प्रारब्ध-वशसे प्रसंगकी चारों दिशाओंके दबावसे कुछ व्ययसाययुक्त कार्य होते हैं, परन्तु चित्तके परिणामके साधारण प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए विशेष सकुचित रहनेके कारण, इस प्रकारका पत्र आदि लिखना वगेरह नहीं हो सकता, जिसमें अधिक नहीं लिखा, इसलिये दोनों जने क्षमा करें ।

(२) इस समय किसी भी परिणामकी ओर ध्यान नहीं ।

४३२

वन्दई, श्रावण नदी १५ गुर १९५०

तुम्हें कुछ ज्ञान-वार्ताके प्रसंगमें उपकारक प्रदन उठते हैं, उन्हें तुम हठे लिखकर सूचित करते हो, और उनके समाधानकी तुम्हारी विशेष इच्छा रहती है। इसमें किसी भी प्रकारसे यदि तुम्हें उन प्रश्नोंका समाधान लिखा जाय तो ठीक हो, यह विचार चित्तमें रहते हुए भी उदय योगसे वेसा नहीं बनता। पत्र लिखनेमें चित्तकी स्थिरता बहुत ही कम रहती है, अथवा चित्त उस कार्यमें अल्पमात्र छाया जैसा ही प्रवेश कर सकता है। जिससे तुम्हें विशेष विस्तारसे पत्र नहीं लिखा जाता। चित्तकी स्थितिके कारण एक एक पत्र लिखते हुए दस दस पॉच-पॉच गार, दो दो चार-चार लाइन लिखकर उस पत्रको अधूरा छोड़ देना पड़ता है। क्रियामें रुचि नहीं है, तथा हालमें उस क्रियामें प्रारम्भ-बलके भी विशेष उदययुक्त न होनेसे तुम्हें तथा दूसरे मुमुक्षुओंको विशेषरूपसे कुछ ज्ञान चर्चा नहीं लिखी जा सकती। इसके लिये चित्तम रेट रहता है, परन्तु हालमें तो उसका उपशम करनेका ही चित्त रहता है। हालमें इसी तरहकी कोई आत्म-दशाकी स्थिति रहती है। प्रायः जान-बूझकरके कुछ करनेमें नहीं आता, अर्थात् प्रमाद आदि दोषके कारण वह क्रिया नहीं होती, ऐसा नहीं मादूम होता।

समयसार प्रथकी कविता आदिका तुम जो मुखरससंगी ज्ञानविषयक अर्थ समझते हो वह वैसा ही है, ऐसा सब जगह है, ऐसा कहना योग्य नहीं। बनारसीदासने समयसार प्रथको हिन्दी भाषामें करते हुए बहुतसे कवित्त, संज्ञा वगैरहमें उस प्रकारकी ही बात कही है, और वह किसी तरह बीज-ज्ञानसे मिलती हुई मादूम होती है, फिर भी कहीं कहीं उस प्रकारके शब्द उपमा-रूपसे भी आते हैं। बनारसीदासने जो समयसार बनाया है, उसमें जहाँ जहाँ वे शब्द आये हैं वहाँ वहाँ सब जगह वे उपमा-रूपसे ही हैं, ऐसा मादूम नहीं होता, परन्तु बहुतसी जगह वे शब्द वस्तुरूपसे कहे हैं, ऐसा मादूम होता है। यद्यपि यह बात कुछ आगे चलनेपर मिल सकती है, अर्थात् तुम जिसे बीज-ज्ञानमें कारण मानते हो, उससे कुछ आगे बढ़ती हुई बात अथवा वही बात, उसमें विशेष ज्ञानसे अगीकार की हुई मादूम होती है।

उनकी समयसार प्रथकी रचनाके ऊपरसे मादूम होता है कि बनारसीदासको कोई उस प्रकारका संयोग नना होगा। मूल समयसारमें बीज ज्ञानके विषयमें इतनी अधिक स्पष्ट बात कही हुई नहीं मादूम होती, और बनारसीदासने तो बहुत जगह वस्तुरूपसे और उपमा-रूपसे वह बात कही है। जिसके ऊपरसे ऐसा मादूम होता है कि बनारसीदासको, साथमें अपनी आत्माके विषयमें जो कुछ अनुभव हुआ है, उन्होंने उसका भी कुछ उस प्रकारसे प्रकाश किया है, जिससे वह बात किसी निचक्षण जीवके अनुभवको आधारभूत हो—उसे विशेष स्थिर करनेवाली हो।

ऐसा भी लगता है कि बनारसीदासने लक्षण आदिके भेदसे जीवका विशेष निश्चय किया था, और उस उस लक्षण आदिके सतत मनन होते रहनेसे, उनके अनुभवमें आत्म स्वरूप कुछ तीक्ष्णरूपसे आया है, और उनको अव्यक्तरूपसे आत्म-द्रव्यका भी लक्ष्य हुआ है, और उस 'अव्यक्त लक्ष्य' से उन्होंने उस बीज ज्ञानको गाया है। 'अव्यक्त लक्ष्य' का अर्थ यहाँ यह है कि चित्त-वृत्तिके विशेषरूपसे आत्म-विचारमें लगे रहनेसे, बनारसीदासको जिस अर्थमें परिणामकी

है, उस निर्मल धाराके कारण अपना निजका यही द्रव्य है, ऐसा यद्यपि स्पष्ट जाननेमें नहीं आया, तो भी अस्पष्टरूपसे अर्थात् स्वाभाविकरूपसे भी उनकी आत्मामें वह छाया भासमान हुई है, और जिसके कारण यह बात उनके मुखसे निकल सकी है, और आगे जाकर वह बात उन्हें सहज ही एकदम स्पष्ट हो गई हो, प्रायः उनकी ऐसी दशा उस प्रथके लिखते समय रही है ।

श्रीडूगरके अंतरमे जो खेद रहता है, वह किसी प्रकारसे योग्य ही है, और वह खेद प्रायः तुम्हें भी रहा करता है, वह हमारे जाननेमें है । तथा दूसरे भी बहुतसे मुमुक्षु जीवोंको इस प्रकारका खेद रहा करता है । यह जाननेपर भी और 'तुम सबका यह खेद दूर किया जाय तो ठीक है' ऐसा मनमें रहनेपर भी, प्रारब्धका वेदन करते हैं । तथा हमारे चित्तमें इस निषयमें अत्यंत बलवान् खेद रहता है । जो खेद दिनमें प्रायः अनेक प्रसंगोंपर स्फुरित हुआ करता है, और उसे उपशान्त करना पड़ता है, और प्रायः तुम लोगोंको भी हमने विशेषरूपसे उस खेदके निषयमें नहीं लिखा, अथवा नहीं बताया । हमें उसे बताना भी योग्य नहीं लगता था । परन्तु हालमें श्रीडूगरके कहनेसे प्रसंग पाकर उसे बताना पड़ा है । तुम्हें और डूगरको जो खेद रहता है, उस निषयमें हमें उससे अस्वस्थता गुणनिश्चिष्ट खेद रहता होगा, ऐसा लगता है । क्योंकि जिस जिस प्रसंगपर वह बात आत्म-प्रदेशमें स्मरण होती है, उस उस प्रसंगपर समस्त प्रदेश शिथिल जैसे हो जाते हैं, और जीवका 'नित्य स्वभावा' होनेसे, जीव इस प्रकारका खेद करते हुए भी जीता है—इस प्रकार तकका खेद होता है । फिर परिणामांतर होकर थोड़े अन्तकाशमें भी उसकी बात प्रत्येक प्रदेशमें स्फुरित होकर निकलती है, और वैसीकी वैसी ही दशा हो जाती है । फिर भी आत्मापर अत्यन्त दृष्टि करके उस प्रकारको हालमें तो उपशान्त करना ही योग्य है—ऐसा जानकर उसे उपशान्त किया जाता है ।

श्रीडूगरके अथवा तुम्हारे चित्तमें यदि ऐसा होता हो कि साधारण कारणोंके सबबसे हम इस प्रकारकी प्रवृत्ति नहीं करते, तो वह योग्य नहीं है । यदि यह तुम्हारे मनमें रहता हो तो प्रायः वैसा नहीं है, ऐसा हमें लगता है । नित्यप्रति उस बातका विचार करनेपर भी उसके साथ अभी बलवान् कारणोंका सबब है, ऐसा जानकर जिस प्रकारकी तुम्हारी इच्छा प्रभावके हेतुमें है, उस हेतुको मन्द करना पड़ता है । और उसके अरोधक कारणोंके क्षीण होने देनेमें आत्म-वीर्य कुछ भी फलीभूत होकर स्वस्थितिमें रहता है । तुम्हारी इच्छाके अनुसार हालमें जो प्रवृत्ति नहीं की जाती, उस निषयमें जो बलवान् कारण अरोधक हैं, उनको तुम्हें विशेषरूपसे बतानेका चित्त नहीं होता, क्योंकि अभी उनके विशेषरूपसे बतानेमें अन्तकाशको जाने देना ही योग्य है ।

जो बलवान् कारण प्रभावके हेतुके अरोधक हैं, उनमें हमारा बुद्धिपूर्वक कुछ भी प्रमाद हो, ऐसा किसी भी तरह सम्भव नहीं है । तथा अन्यत्वरूपसे अर्थात् नहीं जाननेपर भी जो जीवसे सहजमें हुआ करता हो, ऐसा कोई प्रमाद हो, यह भी मादम नहीं होता । फिर भी किसी अशमें उस प्रमादको समझ समझते हुए भी उससे अरोधकता हो, ऐसा मादम हो सके, यह बात नहीं है, क्योंकि आत्माकी निश्चय वृत्ति उसके सम्मुख नहीं है ।

लोगोंमें उस प्रवृत्तिको करते हुए मानभग होनेका प्रसंग आये तो उस मानभगपनेके सहन न हो सकनेके कारण प्रभावके हेतुकी उपेक्षा की जाती हो, ऐसा भी नहीं लगता, क्योंकि उस माना-

मानमें प्राय करके चित्त उदासीन जैसा है, अथवा उस क्रममें चित्तको विशेष उदासीन किया हो, तो हो सकना सम्भव है ।

शब्द आदि विषयोंके प्रति कोई भी बलवान कारण अरोधक हो, ऐसा भी माद्धम नहीं होता । यद्यपि यह कहनेका प्रयोजन नहीं है कि उन विषयोंका सर्वाक्षायिक भाव ही है, फिर भी उसमें अनेक रूपसे नीरसता भासित हो रही है । उदयसे भी कमी मदरुचि उत्पन्न होती हो, तो वह भी विशेष अस्थायी पानेके पहिले ही नाश हो जाती है, और उस मद रुचिका पेदन करते हुए भी आत्मामें खेद ही रहता है, अर्थात् उस रुचिके आधारहीन होती जानेसे वह भी बलवान कारणरूप नहीं है ।

दूसरे और भी अनेक प्रभावक पुरुष हुए हैं, उनका अपेक्षा किसी रीतिसे हममें विचार-दशा आदिका प्राबल्य ही होगा । ऐसा लगता है कि उस प्रकारके प्रभावक पुरुष आज माद्धम नहीं होते, और मात्र उपदेशकरूपमें नाम जैसी प्रभावनासे प्रवर्तन करते हुए कोई कोई ही देखनेमें-सुननेमें आते हैं । उनकी विद्यमानताके कारण हमें कोई अरोधकता हो, ऐसा भी माद्धम नहीं होता ।

४३३

बम्बई, भाद्र सुदी ३ रवि १९५०

जीवको ज्ञानी-पुरुषकी पहिचान होनेपर, तथाप्रकारसे अनन्तानुवर्धी शोक, मान, माया, लोभका शिथिल होना योग्य है, जिसके होनेपर अनुक्रमसे उसका क्षय होता है । ज्यों ज्यों जीवको सत्पुरुषकी पहिचान होती है, त्यों त्यों मताभिग्रह, दुराग्रह आदि भाव शिथिल पड़ने लगते हैं, और अपने दोषोंको देखनेकी ओर चित्त फिर जाता है, प्रिकथा आदि भावमें नीरसता लगने लगती है, अथवा शुगुप्ता उत्पन्न होती है । जीवको अनित्य आदि भावनाके चिंतन करनेके प्रति, उल-वर्षिके स्फुरित होनेमें जिस प्रकारसे ज्ञानी-पुरुषके पास उपदेश सुना हे, उससे भी विशेष बलवान परिणामसे वह पच-विषय आदिमें अनित्य आदि भावको दृढ़ करता है ।

अर्थात् सत्पुरुषके मिलनेपर, यह सत्पुरुष है, इतना जानकर, सत्पुरुषके जाननेके पहिले जिस तरह आत्मा पचविषय आदिमें आसक्त थी, उस तरह उसके पश्चात् आसक्त नहीं रहती, और अनुक्रमसे जिससे वह आसक्ति-भाव शिथिल पड़े, इस प्रकारके वरामयमें जीव प्रवेश करता है । अथवा सत्पुरुषका संयोग होनेके पश्चात् आत्मज्ञान कोई दुर्लभ नहीं है, फिर भी सत्पुरुषमें—उसके वचनमें—उस वचनके आशयमें, जबतक प्रीति-भक्ति न हो तबतक जीवमें आत्म-विचार भी प्रगट होना योग्य नहीं, और सत्पुरुषका जीवको संयोग हुआ है, इस प्रकार ठीक ठीक जीवको भासित हुआ है, ऐसा कहना भी कठिन है ।

जीवको सत्पुरुषका संयोग मिलनेपर तो ऐसी भावना होती है कि अबतक मेरे जो प्रयत्न कल्याणके लिये थे, वे सब निष्फल थे—लक्षके बिना छोड़े हुए बाणकी तरह थे, परन्तु अब सत्पुरुषका अपूर्ण संयोग मिला है, तो वह मेरे सब साधनोंके सफल होनेका हेतु है । लोको-प्रसङ्गमें रह-कर अबतक जो निष्फल—लक्षरहित साधन किये हैं, अब उस प्रकारसे सत्पुरुषके संयोगमें

जबकि अन्त-आत्मामें विचारकर दृढ़ परिणाम रखकर, जीवको इस संयोगमें—

अपने स्वरूपका त्याग कर दिया हो । करोड़ों प्रकारसे उन अनंत परमाणुरूप सोनेके आकारोंको यदि एक स्वरूप करो, तो भी वे सब परमाणु अपने ही स्वरूपमें रहते हैं, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको नहीं छोड़ते, क्योंकि यह होना किसी भी तरहसे अनुभवमें नहीं आ सकता ।

उस सोनेके अनंत परमाणुओंकी तरह सिद्धोंकी अनंतकी अवगाहना गिनो तो कोई बाधा नहीं है, परन्तु उससे कुछ कोई भी जीव किसी भी दूसरे जीवकी साथ केवल एकरूपसे मिल गया है, यह बात नहीं है । सब अपने अपने भावमें स्थितिपूर्वक ही रह सकते हैं । जीवरूपसे जीवकी एक जाति हो, इस कारण कोई एक जीव अपनापन त्याग करके दूसरे जीवोंके समुदायमें मिलकर स्वरूपका त्याग कर दे, इसका क्या हेतु है ? उनके निजके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, कर्मग्रह और मुक्तानस्था, ये अनादिसे भिन्न हैं, और यदि फिर जीव मुक्तानस्थामें, उस द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका त्याग कर दे तो फिर उसका अपना स्वरूप ही क्या रहा ? उसका अनुभव ही क्या रहा ? और अपने स्वरूपके नष्ट हो जानेसे उसकी कर्मसे मुक्ति हुई अथवा अपने स्वरूपसे ही मुक्ति हो गई ? इस भेदका निवारण करना चाहिये । इत्यादि प्रकारसे जिनभगवान्ने सर्वाथा एकत्वका निषेध किया है ।

४३६

तीर्थकरने सर्पसगको महाश्रमरूप कहा है, वह सत्य है ।

इस प्रकारकी मिश्र गुणस्थान जैसी स्थिति कततक रखनी चाहिये ? जो बात चित्तमें नहीं है उसे करना, और जो चित्तमें है उसमें उदास रहना, यह व्यवहार किस तरह हो सकता है ?

वैश्य-वेषसे और निर्ग्रथमानसे रहते हुए कोटाकोटी निवार हुआ करते हैं ।

वेप और उस वेपसगधी व्यवहारको देखकर लोकदृष्टि उस प्रकारसे माने यह ठीक है, और निर्ग्रथमानसे रहनेवाला चित्त उस व्यवहारमें यथार्थ प्रवृत्ति न कर सके, यह भी सत्य है, इसलिये इस तरहसे दो प्रकारकी एक स्थितिपूर्वक बर्तान नहीं किया जा सकता । क्योंकि प्रथम प्रकारसे रहते हुए निर्ग्रथमानसे उदास रहना पड़े तो ही यथार्थ व्यवहारकी रक्षा हो सकती है, और यदि निर्ग्रथमानसे रहें तो फिर वह व्यवहार चाहे जैसा हो उसकी उपेक्षा करनी ही योग्य है । यदि उपेक्षा न की जाय तो निर्ग्रथमानकी हानि हुए बिना न रहे ।

उस व्यवहारके त्याग किये बिना, अथवा अत्यंत अल्प किये बिना यथार्थ निर्ग्रथता नहीं रहती, और उदयरूप होनेसे व्यवहारका त्याग नहीं किया जाता ।

इस सब विभाव-योगके दूर हुए बिना हमारा चित्त दूसरे किसी उपायसे सतोष प्राप्त करे, ऐसा नहीं लगता ।

वह विभाव-योग दो प्रकारका है,—एक पूर्वमें निष्पन्न किया हुआ उदयरूप, और दूसरा आत्मसुद्धिपूर्वक समासहित किया जाता हुआ भावस्वरूप ।

आत्मभावपूर्वक विभावसगधी योगकी उपेक्षा ही श्रेयस्कर मादम् होती है । उसका नित्य ही निवारण किया जाता है । उस विभावरूपसे रहनेवाले आत्मभावको बहुत कुछ परिक्षीण कर दिया है, और अभी भी वही परिणति रहा करती है ।

उस सम्पूर्ण विभान-योगके निवृत्त किये विना चित्त मिश्राति प्राप्त करे, ऐसा नहीं माळ्म होता, और हालमें तो उस कारणसे विशेष क्लेश ही सहन करना पड़ता है । क्योंकि उदय तो विभाव-क्रियाका है, और इच्छा आत्मभाजमें स्थिति करनेकी है ।

फिर भी ऐसा रहा करता है कि यदि उदयकी विशेष कालतक प्रवृत्ति रहे तो आत्मभाज विशेष चञ्चल परिणामको प्राप्त होगा । क्योंकि आत्मभाजके विशेष अनुसन्धान करनेका अवकाश उदयकी प्रवृत्तिके कारण प्राप्त नहीं हो सकता, और उसमें वह आत्मभाज कुछ शिथिलताको प्राप्त होता है ।

जो आत्मभाज उत्पन्न हुआ है, उस आत्मभाजपर यदि विशेष लक्ष किया जाय तो अन्य कालमें ही उसकी विशेष वृद्धि हो, और विशेष जागृत अग्रस्था उत्पन्न हो, और थोड़े ही कालमें हितकारी उच्च आत्म-दशा प्रगट हो, और यदि उदयकी स्थितिके अनुसार ही उदय-कालके रहने देनेका विचार किया जाय तो अब आत्म-शिथिलता होनेका प्रसंग आयेगा, ऐसा लगता है । क्योंकि दीर्घ कालका आत्मभाज होनेसे इस समयतक चाहे जैसा उदय-त्रल होनेपर भी वह आत्मभाज नष्ट नहीं हुआ, परन्तु कुछ कुछ उसकी अजागृत अग्रस्था हो जानेका समय आया है । ऐसा होनेपर भी यदि अब केवल उदयपर ही ध्यान दिया जायगा तो शिथिलभाव उत्पन्न होगा ।

ज्ञानी पुरुष उदयके वश होकर देहादि धर्मकी निवृत्ति करते हैं । यदि इस तरह प्रवृत्ति की हो तो आत्मभाज नष्ट न होना चाहिये । इसलिये उस बातको लक्षमें रखकर उदयका वेदन करना योग्य है, ऐसा निचार करना भी अत्र योग्य नहीं । क्योंकि ज्ञानके तारतम्यकी अपेक्षा यदि उदय-त्रल बढ़ता हुआ देखनेमें आये तो वहाँ ज्ञानीको भी जरूर जागृत दशा करनी योग्य है, ऐसा श्रीसर्वज्ञने कहा है ।

यह अत्यन्त दुःख का काल है इस कारण, और हृत्-पुण्य लोगोंने इस भरत क्षेत्रको घेर रक्खा है इस कारण, परम सत्सग, सत्सग अथवा सरल परिणामी जीयोंका समागम मिलना भी दुर्लभ है, ऐसा मानकर जैसे अल्प कालमें साजवान हुआ जाय, वेसे करना योग्य है ।

४३७

4

क्या मोनदशा धारण करनी चाहिये ?

व्यवहारका उदय ऐसा है कि जिस तरह वह धारण की हुई दशा लोगोंको कपायका निमित्त हो, वेसे व्यवहारकी प्रवृत्ति नहीं होती ।

तब क्या उस व्यवहारको छोड़ देना चाहिये ?

यह भी निचार करनेसे कठिन माळ्म देता है । क्योंकि उस तरहकी कुछ स्थितिके वेदन करनेका चित्त रहा करता है, फिर वह चाहे शिथिलतासे हो, उदयसे हो, परेच्छासे हो अथवा जैसा सर्वज्ञने देखा है उससे हो । ऐसा होनेपर भी अल्प कालमें व्यवहारके घटानेमें ही चित्त है ।

वह व्यवहार किस प्रकारसे घटाया जा सकेगा ?

क्योंकि उसका विस्तार विशेषरूपसे देखनेमें आता है । व्यापारस्वरूपसे, कुटुम्ब-प्रतिग्रहसे, सुवाजस्था-प्रतिबन्धसे, दयास्वरूपसे, निकारस्वरूपसे, उदयस्वरूपसे—इत्यादि कारणोंसे वह व्यवहार विस्ताररूप माळ्म होता है ।

मैं ऐसा मानता हूँ कि जत्र अनतकालसे अप्राप्तकी तरह आत्मस्वरूपको केवलज्ञान केवलदर्शन-स्वरूपसे अतर्मुद्धर्तमें ही उत्पन्न कर लिया है, तो फिर वर्ष—छह मासके समयमें इतना यह व्यवहार कैसे न निवृत्त हो सकेगा ? उसकी स्थिति केवल जागृतिके उपयोगांतरसे है, और उस उपयोगके बलका नित्य ही विचार करनेसे अल्प कालमें वह व्यवहार निवृत्त हो सकने योग्य है। तो भी उसकी किस प्रकारसे निवृत्ति करनी चाहिये, यह अभी विशेषरूपसे मुझे विचार करना योग्य है, ऐसा मानता हूँ। क्योंकि वीर्यसत्रधी दशा कुछ मद रहती है। उस मद दशाका क्या हेतु है ?

उदयके बलसे ऐसा परिचय—मात्र परिचय ही—प्राप्त हुआ है, ऐसा कहनेमें क्या कोई बाधा है ? उस परिचयकी विशेष—अति विशेष अरुचि रहती है। उसके होनेपर भी परिचय करना पड़ा है। यह परिचयका दोष नहीं कहा जा सकता, परन्तु निजका ही दोष कहा जा सकता है। अरुचि होनेसे इच्छारूप दोष न कहकर उदयरूप दोष कहा है।

४३८

बहुत विचार करके निम्नरूपसे समाधान होता है।

एकात द्रव्य, एकात क्षेत्र, एकात काल और एकात भावरूप संयमकी आराधना किये बिना चित्तकी शांति न होगी, ऐसा लगता है—ऐसा निश्चय रहता है।

उस योगका अभी कुछ दूर होना संभव है, क्योंकि उदयका बल देखनेपर उसके निवृत्त नहोतेक कुछ विशेष समय लगेगा।

४३९

अवि अप्पणो वि देहमि, नायरत्ति ममाइयं.

—(महात्मा पुरुष) अपनी देहमें भी ममत्व नहीं करते।

४४०

काम, मान और जल्दीवाजी इन तीनोंका विशेष संयम करना योग्य है।

४४१

हे जीव ! असारभूत लगनेवाले इस व्यवसायसे अब निवृत्त हो, निवृत्त !

उस व्यवसायके करनेमें चाहे जितना बलवान प्रारब्धोदय दिखाई देता हो तो भी उससे निवृत्त हो, निवृत्त !

यद्यपि श्रीसर्गज्ञने ऐसा कहा है कि चौदहवें गुणस्थानमें रहनेवाला जीव भी प्रारब्धके वेदन किये बिना मुक्त नहीं हो सकता, तो भी तन्मू उदयका आश्रयरूप होनेसे, अपना दोष जानकर उसका अत्यंत तीव्रतासे विचार करके,

मात्र केवल प्रारब्ध हो, ओर दूसरी कर्मदशा न रहती हो तो वह प्रारब्ध सहज ही निवृत्त हो जाता है, ऐसा परम पुरुषने स्वीकार किया है। परन्तु वह केवल प्रारब्ध उसी समय कहा जा सकता है जब प्राणोंके अततक भी निष्ठाभेद-दृष्टि न हो, ओर तुझे सभी प्रसंगोंमें ऐसा होता है, इस प्रकार जबतक सम्पूर्ण निश्चय न हो तबतक यही श्रेयस्कर है कि उसमें त्याग बुद्धि करनी चाहिये। इस बातका विचार करके, हे जीव ! अब तू अल्प कालमें ही निवृत्त हो, निवृत्त !

४४२

हे जीव ! अब तू सग-निवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा !

यदि सर्वथा सग-निवृत्तिरूप प्रतिज्ञाका विशेष अनकाश देखनेमें आये तो एकदेश सग निवृत्तिरूप इस व्यवसायका त्याग कर।

जिस ज्ञान-दशामें त्याग-अत्याग कुछ भी समझ नहीं, उस ज्ञान-दशाकी जिसमें सिद्धि है, ऐसा तू सर्वसग त्याग दशाका यदि अल्प कालमें ही वेदन करेगा, तो यदि तू सम्पूर्ण जगत्के समागममें रहे तो भी तुझे वह बाधारूप न हो, इस प्रकारसे आचरण करनेपर भी सर्वज्ञने निवृत्तिको ही प्रशस्त कहा है, क्योंकि ऋषभ आदि सग परम पुरुषोंने अतमें ऐसा ही किया है।

४४३

बम्बई, भाद्र सुदी १० रवि १९५०

यह आत्मभाव है ओर यह अन्यभाव है, इस प्रकार बौद्ध-जीवके आत्मामें परिणामित होनेसे अन्यभासमें स्वाभाविक उदासीनता उत्पन्न होती है, और वह उदासीनता अनुक्रमसे उस अन्यभाससे सर्वथा मुक्त करती है। इसके पश्चात् जिसने निज ओर परके भासको जान लिया है ऐसे ज्ञानी-पुरुषको पर-भासके कार्यका जो कुछ प्रसंग रहता है, उस प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए भी उससे उस ज्ञानीका संबन्ध छूटा ही करता है, उसमें हित-बुद्धि होकर प्रतिबन्ध नहीं होता।

प्रतिबन्ध नहीं होता, यह बात एकांत नहीं है। क्योंकि जहाँ ज्ञानका विशेष प्राबल्य न हो, वहाँ पर-भासके विशेष परिचयका उस प्रतिबन्धरूप हो जाना भी समझ होता है, ओर इस कारण भी श्रीजिन-मगवान्ने ज्ञानी-पुरुषके लिये भी निज ज्ञानसे संबन्ध रखनेवाले पुरुषार्थका बखान किया है। उसे भी प्रमाद करना योग्य नहीं, अथवा पर-भासका परिचय करना योग्य नहीं, क्योंकि वह भी किसी अशसे आत्म-धाराको प्रतिबन्धरूप कहे जाने योग्य है।

ज्ञानीको प्रमाद बुद्धि समझ नहीं है, ऐसा यद्यपि सामान्यरूपसे श्रीजिन आदि महात्माओंने कहा है, तो भी उस पदको चौथे गुणस्थानसे समझ नहीं माना, उसे आगे जाकर ही समझित माना है। जिससे विचारवान जीवको तो अवश्य ही जैसे बने तैसे पर-भासके परिचित कार्यसे दूर रहना—निवृत्त होना ही योग्य है।

प्रायः ऋषके विचारवान जीवको तो यही बुद्धि रहती है। फिर भी किसी प्रारब्धके वशसे यदि

पर-भाजका परिचय बलवानरूपसे उदयमें हो तो निज पद बुद्धिमें स्थिर रहना कठिन है, ऐसा मानकर नित्य ही निवृत्त होनेकी बुद्धिकी विशेष भावना करनी चाहिये, ऐसा महान् पुरुषोंने कहा है ।

अल्प काष्ठमें अव्याग्राध स्थिति होनेके लिये तो अत्यंत पुरपाई करके जीवको पर-परिचयसे निवृत्त होना ही योग्य है । धीमे धीमे निवृत्त होनेके कारणोंके ऊपर भार देनेकी अपेक्षा जिस प्रकारसे शीघ्रतासे निवृत्ति हो जाय, उस विचारको करना चाहिये । और वैसा करते हुए यदि असाता आदि आपत्ति-योगका वेदन करना पड़ता हो तो उसका वेदन करके भी पर-परिचयसे शीघ्रतासे दूर होनेका मार्ग ग्रहण करना चाहिये—यह बात भूल जाने योग्य नहीं ।

ज्ञानकी बलवान तारतम्यता होनेपर तो जीवको पर-परिचयमें कभी भी स्वात्मबुद्धि होना सम्व नहीं, और उसकी निवृत्ति होनेपर भी ज्ञान-बलसे उसे एकातररूपसे ही विहार करना योग्य है । परन्तु जिसकी उससे निम्न दशा है, ऐसे जीवको तो अस्य ही पर-परिचयका छेदन करके सत्सग करना चाहिये, जिस सत्सगसे सहज ही अव्याग्राध स्थितिका अनुभव होता है ।

ज्ञानी-पुरुष—जिसे एकात्म विचरते हुए भी प्रतिग्रह सम्व नहीं—भी सत्सगकी निरन्तर इच्छा रखता है । क्योंकि जीवको यदि अन्याग्राध समाप्तिकी इच्छा हो तो सत्सगके समान अन्य कोई भी सरल उपाय नहीं है ।

इस कारण दिन प्रतिदिन प्रत्येक प्रसंगमें बहुत बार प्रत्येक क्षणमें सत्सगके आराधन करनेकी ही इच्छा वृद्धिगत हुआ करती है ।

४४४

बम्बई, भाद्र वदी ५ गुरु १९५०

ॐ

योगवासिष्ठ आदि जो जो श्रेष्ठ पुरुषोंके वचन हैं, वे सत्र अष्टवृत्तिका प्रतीकार करनेके लिये ही हैं । जिस जिस प्रकारसे अपनी भ्राति कल्पित की गई है, उस उस प्रकारसे उस भ्रातिकी समझकर तत्सत्रधी अभिमानको निवृत्त करना, यही सत्र तीर्थकर महात्माओंका कथन है, और उसी वाक्यके ऊपर जीवको विशेषरूपसे स्थिर होना है—विशेष विचार करना है, और उसी वाक्यको मुराररूपसे अनुप्रेक्षण करना योग्य है—उसी कार्यकी सिद्धिके लिये ही सत्र साधन कहे हैं । अहृष्टि आदिके बढ़नेके लिये, बाह्य क्रिया अथवा मतके आग्रहके लिये, सम्प्रदाय चलानेके लिये, अथवा पूजा-छावा प्राप्त करनेके लिये किसी महापुरुषका कोई उपदेश नहीं है, और उसी कार्यको करनेकी ज्ञानी पुरुषकी सर्वथा आज्ञा है । अपनी आत्मामें प्रादुर्भूत प्रशसनीय गुणोंसे उत्कर्ष प्राप्त करना योग्य नहीं, परन्तु अपने अल्प दोषको भी देखकर फिर फिरसे पश्चात्ताप करना ही योग्य है, और अग्रमाद भाजसे उससे पीछे फिरना ही उचित है, यह उपदेश ज्ञानी-पुरुषके वचनमें सर्वत्र सन्निविष्ट है । और उस भाजके प्राप्त होनेके लिये सत्सग सहस्र और सत्साध आदि जो साधन कहे हैं, वे अपूर्ण निमित्त हैं ।

जीवको उस साधनकी आराधना निजस्वरूपके प्राप्त करनेके कारणरूप ही है, परन्तु जीव यदि वहाँ भी वचना बुद्धिसे प्रवृत्ति करे तो कभी भी कल्याण न हो । वचना-बुद्धि अर्थात् सत्सग सहस्र आदिमें

सच्चे आगभाससे जो माहात्म्य बुद्धि करना योग्य है, उस माहात्म्य बुद्धिका न होना, और अपनी आत्माको अज्ञानता ही रहती चर्चा आई है, इसलिये उसकी अल्पज्ञता—लघुता विचारकर अमाहात्म्य बुद्धि नहीं करना। उसका (माहात्म्यबुद्धि आदिका) ससग-सद्वृत्त आदिमें आराधन नहीं करना भी वचना-बुद्धि है। यदि जीव यहाँ भी लघुता धारण न करे तो जीव प्रत्यक्षरूपसे भव-भ्रमणसे भयभीत नहीं होता, यही विचार करने योग्य है। जीवको यदि प्रथम इस बातका अधिक रक्ष हो तो सन साधारण और आत्मार्थका सहज ही सिद्ध होना समझ है।

४४५

वम्बई, आसोज सुदी ११ बुध १९५०

जिसे स्वप्नमें भी समाप्त-सुखकी इच्छा नहीं रही, और जिसे ससारका सम्पूर्ण स्वरूप निस्सारभूत भावित हुआ है, ऐसा तानी-पुरष भी बार-बार आत्मास्थका नारम्भार स्मरण कर करके जो प्रारम्भका उदय हो उसका वेदन करता है, परन्तु आत्मस्थामें प्रमाद नहीं होने देता। प्रमादके अन्तःश-योगमें ज्ञानीको भी किमी अशमें समारसे जो व्यामोहका सभन होना कहा है, उस ससारमें साधारण जीवको रहते हुए, लौकिक भाससे उसके व्यवसायको करते हुए आत्म-हितकी इच्छा करना, यह न होने जैसा ही कार्य है। क्योंकि लौकिक भासके कारण जहाँ आत्माको निवृत्ति नहीं होती, वहाँ दूसरी तरहसे हित विचार होना समझ नहीं। यदि एककी निवृत्ति हो तो दूसरेका परिणाम होना समझ है। अहितके हेतुभूत ससारसन्धी प्रसंग, लौकिक भाव, लोक-वेषा, इन सन्धी सँभालको जैसे बने तैसे दूर करके—उसे कम करके—आत्म-हितको अन्तःश देना योग्य है।

आत्म-हितके लिये ससगके समान दूसरा कोई प्रलवान् निमित्त मादम नहीं होता। फिर भी उस ससगमें भी जो जीव लौकिक भाससे अन्तःश नहीं लेता, उसे प्रायः यह निष्फल ही होता है, और यदि सहज ससग फलवान हुआ हो तो भी यदि विशेष-अति विशेष लोकादेश रहता हो तो उस फलके निर्मूल हो जानेमें देर नहीं लगती। तथा स्त्री, पुत्र, आरभ, परिग्रहके प्रसंगमेंसे यदि निज-बुद्धिको हटानेका प्रयास न किया जाय तो ससगका फलवान होना भी कैसे समझ हो सकता है? जिस प्रसंगमें महाज्ञानी पुरष भी सँभल सँभलकर चलते हैं, उसमें फिर इस जीवको तो अत्यन्त अत्यन्त सँभलपूर्वक—यूनतापूर्वक चलना चाहिये, यह बात कभी भी भूलने योग्य नहीं है। ऐसा निश्चय करके, प्रत्येक प्रसंगमें, प्रत्येक कार्यमें ओर प्रत्येक परिणाममें उसका लक्ष रखकर जिससे उससे छुटकारा हो जाय उसी तरह करते रहना, यह हमने श्रीनर्चमानस्वामीकी छत्रस्थ मुनिचर्याके दृष्टांसे कहा था।

४४६

वम्बई, आसोज वदी ३ बुध १९५०

(१)

‘भगवत् भगवत्की सँभाल करेगा, पर उसी समय करेगा जब जीव अपना अहंभाव छोड़ देगा,’ इस प्रकार जो भद्रजनका वचन है, वह भी विचार करनेसे हितकारी है।

(२)

राग, द्वेष और अज्ञानका आत्यंतिक अभाव करके जो सहज शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थित हो गया है, वह स्वरूप हमारे स्मरण करनेके, ध्यान करनेके और पानेके योग्य स्थान है ।

(३)

सर्पज्ञ-पदका ध्यान करो ।

४४७

वम्बई, आसोज वदी ६ शनि. १९५०

ॐ

सत्पुरुषको नमस्कार

आत्मारथी, गुणप्राही, सत्सग-योग्य भाई श्रीमोहनलालके प्रति श्री डरजन, श्री वम्बईसे लिखित जिनन्मुक्तदशाके इच्छुक रायचन्द्रका आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य पहुँचे ।

तुम्हारे लिखे हुए पत्रमें जो आत्मा आदिके विषयमें प्रश्न हैं, और जिन प्रश्नोंके उत्तर जाननेकी तुम्हारे चित्तमें विशेष आतुरता है, उन दोनोंके प्रति मेरा सहज सहज अनुमोदन है । परन्तु जिस समय तुम्हारा वह पत्र मुझे मिला उस समय मेरी चित्तकी स्थिति उसका उत्तर लिख सकने जैसी न थी, और प्रायः वैसा होनेका कारण भी यह था कि उस प्रसंगमें बाह्योपाधिके प्रति विशेष वैराग्य परिणाम प्राप्त हो रहा था । इस कारण उस पत्रका उत्तर लिखने जैसे कार्योंमें भी प्रवृत्ति हो सकना संभव न था । थोड़े समयके पश्चात् उस वैराग्यमेंसे अपकाश लेकर भी तुम्हारे पत्रका उत्तर लिखूँगा, ऐसा निश्चय किया था । परन्तु पीछेसे वैसा होना भी असंभव हो गया । तुम्हारे पत्रकी पहुँच भी मैंने न लिखी थी, ओर इस प्रकार उत्तर लिख भेजनेमें जो निष्ठम्ब हुआ, इससे मेरे मनमें खेद हुआ था, और इसमेंका अमुक भाव अबतक भी रहा करता है । जिस अपसरपर विशेष करके यह खेद हुआ, उस अपसरपर यह सुननेमें आया कि तुम्हारा विचार तुरत ही इस देशमें आनेका है । इस कारण कुछ चित्तमें ऐसा आया कि तुम्हें उत्तर लिखनेमें जो निष्ठम्ब हुआ है वह भी तुम्हारे समागम होनेसे विशेष लाभकारक होगा । क्योंकि लेखद्वारा बहुतसे उत्तरोंका समझाना कठिन था, और तुम्हें पत्रके तुरत ही न मिल सकनेके कारण तुम्हारे चित्तमें जो आतुरता उत्पन्न हुई, वह समागम होनेपर उत्तरको तुरत ही समझ सकनेके लिये एक श्रेष्ठ कारण मानने योग्य था । अत्र प्राग्बन्धके उदयसे जब समागम हो तब कुछ भी उस प्रकारकी ज्ञान-वार्ता होनेका प्रसंग आने, यह आकाक्षा रखकर सक्षेपमें तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर लिखता हूँ । इन प्रश्नोंके उत्तरोंका विचार करनेके लिये निरंतर तत्संबन्धी विचाररूप अभ्यासकी आवश्यकता है । वह उत्तर सक्षेपमें लिखा गया है, इस कारण बहुतसे सदेहोंकी निवृत्ति होना तो कदाचित् कठिन होगी तो भी मेरे चित्तमें ऐसा रहता है कि मेरे वचनोंमें तुम्हें कुछ भी विशेष विश्वास है, इससे तुम्हें धीरज रह सकेगा, और वह प्रश्नोंके यथायोग्य समाधान होनेका अनुक्रमसे कारणभूत होगा, ऐसा मुझे लगता है । तुम्हारे पत्रमें २७ प्रश्न हैं, उनका उत्तर सक्षेपमें नीचे लिखता हूँ.—

१. प्रश्न —आत्मा क्या है ? क्या वह कुठ करती है ? ओर उसे कर्म दू ख देता है या नहीं ?

उत्तर —(१) जैसे घट पट आदि जड़ वस्तुयें हैं, उसी तरह आत्मा ज्ञानस्वरूप वस्तु है। घट पट आदि अनित्य हैं—त्रिकालमें एक ही स्वरूपसे स्थिरतापूर्वक रह सकनेवाले नहीं हैं। आत्मा एक स्वरूपसे त्रिकालमें स्थिर रह सकनेवाली नित्य पदार्थ है। जिस पदार्थकी उत्पत्ति किसी भी सयोगसे न हो सकती हो वह पदार्थ नित्य होता है। आत्मा किसी भी सयोगसे उत्पन्न हो सकती हो, ऐसा मादम नहीं होता। क्योंकि जड़के चाटे कितने भी सयोग क्यों न करो तो भी उससे चेतनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो धर्म जिस पदार्थमें नहीं होता, उस प्रकारके बहुतसे पदार्थोंके इकठे करनेसे भी उसमें जो धर्म नहीं है, वह धर्म उत्पन्न नहीं हो सकता, ऐसा सबको अनुभन हो सकता है। जो घट, पट आदि पदार्थ हैं, उनमें ज्ञानस्वरूप देखनेमें नहीं आता। उस प्रकारके पदार्थोंका यदि परिणामातर पूर्वक सयोग किया हो अथवा सयोग हुआ हो, तो भी वह उसी तरहकी जातिका होता है, अर्थात् वह जड़स्वरूप ही होता है, ज्ञानस्वरूप नहीं होता। तो फिर उस तरहके पदार्थके सयोग होनेपर आत्मा अथवा जिसे ज्ञानी-मुरूप मुरय 'ज्ञानस्वरूप लक्षणयुक्त' कहते हैं, उस प्रकारके (घट पट आदि, गृष्ठी, जल, वायु, आकाश) पदार्थसे किसी तरह उत्पन्न हो सकने योग्य नहीं। 'ज्ञानस्वरूपत्व', यह आत्माका मुरय लक्षण है, और जड़का मुख्य लक्षण 'उसके अमातरूप' है। उन दोनोंका अनादि सहज स्वभावन है। ये, तथा इसी तरहके दूसरे हजारों प्रमाण आत्माको 'नित्य' प्रतिपादन कर सकते हैं। तथा उसका विशेष विचार करनेपर नित्यरूपसे सहजस्वरूप आत्मा अनुभवमें भी आती है। इस कारण सुख-दुःख आदि भोगनेवाले, उससे निवृत्त होनेवाले, विचार करनेवाले, प्रेरणा करनेवाले इत्यादि भावन जिसकी विद्यमानतासे अनुभनमें आते हैं, ऐसी वह आत्मा मुरय चेतन (ज्ञान) लक्षणसे युक्त है। और उस भावसे (स्थितिसे) वह सब कालमें रह सकनेवाली 'नित्य पदार्थ' है। ऐसा माननेमें कोई भी दोष अथवा बाधा मादम नहीं होती, बल्कि इससे सत्यके स्वीकार करनेरूप गुणकी ही प्राप्ति होती है।

यह प्रश्न तथा तुम्हारे दूसरे बहुतसे प्रश्न इस तरह हैं कि जिनमें विशेष लिखने, कहने और समझानेकी आवश्यकता है। उन प्रश्नोंका उस प्रकारसे उत्तर लिखा जाना हालमें कठिन होनेसे प्रथम तुम्हें पददर्शनसमुच्चय त्रय भेजा था, जिसके बौचने और विचार करनेसे तुम्हें किसी भी अशमें समाधान हो, और इस पत्रसे भी कुठ विशेष अशमें समाधान हो सकना संभव है। क्योंकि इस सबधमें अनेक प्रश्न उठ सकते हैं, जिनके फिर फिरसे समाधान होनेसे, विचार करनेसे समाधान होगा।

(२) ज्ञान दशामें—अपने स्वरूपमें यथार्थ बोधसे उत्पन्न हुई दशामें—वह आत्मा निज भावका अर्थात् ज्ञान, दर्शन (यथास्थित निश्चय) और सहज-समाधि परिणामका कर्ता है, अज्ञान दशामें क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि प्रकृतियोंका कर्ता है, और उस भावके फलका भोक्ता होनेसे प्रसंगतः घट पट आदि पदार्थोंका निमित्तरूपसे कर्ता है। अर्थात् घट पट आदि पदार्थोंका मूल द्रव्योंका वह कर्ता नहीं, परन्तु उसे किसी आकारमें लानेरूप क्रियाका ही कर्ता है। यह जो कर्ता दशा कही है, जैनदर्शन उसे 'कर्म' कहता है, वेदातदर्शन उसे 'आत्मा' कहता है।

दर्शन भी इसीसे मिलते जुलते इसी प्रकारके शब्द कहते हैं। वास्तविक विचार करनेसे आत्मा घट पट आदिका तथा क्रोध आदिका कर्त्ता नहीं हो सकती, वह केवल निजस्वरूप ज्ञान-परिणामका ही कर्त्ता है—ऐसा स्पष्ट समझमें आता है।

(३) अज्ञानभायसे किए हुए कर्म प्रारम्भ कालसे बीजरूप होकर समयका योग पाकर फलरूप वृक्षके परिणामसे परिणमते हैं, अर्थात् उन कर्मोंको आत्माको भोगना पड़ता है। जैसे अग्निसे स्पर्शसे उष्णताका सबंध होता है और वह उसका स्वाभाविक वेदनारूप परिणाम होता है, वैसे ही आत्माको क्रोध आदि भायके कर्त्तापनेसे जन्म, जरा, मरण आदि वेदनारूप परिणाम होता है। इस बातका तुम विशेषरूपसे विचार करना और उस सबंधमें यदि कोई प्रश्न हो तो लिखना। क्योंकि इस बातको समझकर उससे निवृत्त होनेरूप कार्य करनेपर जीवको मोक्ष दशा प्राप्त होती है।

२ प्रश्न.—ईश्वर क्या है ? वह जगत्का कर्त्ता है, क्या यह सच है ?

उत्तर —(१) हम तुम कर्म-बन्धनमें फँसे रहनेवाले जीव हैं। उस जीवका सहजस्वरूप अर्थात् कर्म रहितपना—मात्र एक आत्मस्वरूप—जो स्वरूप है, वही ईश्वरपना है। जिसमें ज्ञान आदि ऐश्वर्य है वह ईश्वर कहे जाने योग्य है और वह ईश्वरपना आत्माका सहज स्वरूप है। जो स्वरूप कर्मके कारण मादम नहीं होता, परन्तु उस कारणको अन्य स्वरूप जानकर जब आत्माकी ओर दृष्टि होती है, तभी अनुक्रमसे सर्जिता आदि ऐश्वर्य उसी आत्मामें मादम होता है। और इससे विशेष ऐश्वर्ययुक्त कोई पदार्थ—कोई भी पदार्थ—देखनेपर भी अनुभवमें नहीं आ सकता। इस कारण ईश्वर आत्माका दूसरा पर्यायवाची नाम है, इससे विशेष सत्तायुक्त कोई पदार्थ ईश्वर नहीं है। इस प्रकार निश्चयसे मेरा अभिप्राय है।

(२) वह जगत्का कर्त्ता नहीं, अर्थात् परमाणु आकाश आदि पदार्थ नित्य ही होने समय है, वे किसी भी वस्तुमेंसे बन्नेसे समभव नहीं। कदाचित् ऐसा मानें कि वे ईश्वरमेंसे बने हैं तो यह बात भी योग्य नहीं मादम होती। क्योंकि यदि ईश्वरको चेतन मानें तो फिर उससे परमाणु, आकाश वगैरह कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? क्योंकि चेतनसे जड़की उत्पत्ति कभी समभव ही नहीं होती। यदि ईश्वरको जड़ माना जाय तो वह सहज ही अनेश्वर्यवान् ठहरता है। तथा उससे जीवरूप चेतन पदार्थकी उत्पत्ति भी नहीं हो सकती। यदि ईश्वरको जड़ और चेतन उभयरूप मानें तो फिर जगत् भी जड़-चेतन उभयरूप होना चाहिये। फिर तो यह उसका ही दूसरा नाम ईश्वर रखकर सतोप रखने जैसा होता है। तथा जगत्का नाम ईश्वर रखकर सतोप रख लेनेकी अपेक्षा जगत्को जगत् कहना ही विशेष योग्य है। कदाचित् परमाणु, आकाश आदिको नित्य मानें और ईश्वरको कर्म आदिके फल देनेवाला मानें, तो भी यह बात सिद्ध होती हुई नहीं मादम होती। इस विषयपर पट्दर्शनसमुच्चयमें श्रेष्ठ प्रमाण दिये हैं।

३ प्रश्न —मोक्ष क्या है ?

उत्तर —जिस क्रोध आदि अज्ञानभायमें देह आदिमें आत्माको प्रतिबन्ध है, उससे सर्वाथा निवृत्ति होना—मुक्ति होना—उसे ज्ञानियोंने मोक्ष-पद कहा है। उसका थोड़ासा विचार करनेसे वह प्रमाणभूत मादम होता है।

४. प्रश्न — मोक्ष मिलेगा या नहीं? क्या यह इसी देहमें निश्चितरूपसे जाना जा सकता है?

उत्तर — जैसे यदि एक रस्सीके नटुतसे नधनोंसे हाथ बंध दिया गया हो, और उसमेंसे क्रम क्रमसे ज्यों ज्यों बंधन खुलते जाते हैं त्यों त्यों उस बंधनकी निवृत्तिका अनुभव होता है, और वह रस्सी बलहीन होकर स्वतन्त्रभावको प्राप्त होती है, ऐसा माद्वम होता है—अनुभवमें आता है, उसी तरह आत्माको अज्ञानभावके अनेक परिणामरूप नधनका समागम लगा हुआ है, वह बंधन ज्यों ज्यों छूटता जाता है, त्यों त्यों मोक्षका अनुभव होता है। और जब उसकी अत्यन्त अल्पता हो जाती है तब सहज ही आत्मामें निजमान प्रकाशित होकर अज्ञानभानरूप बंधनसे छूट सकनेका अवसर आता है, इस प्रकार स्पष्ट अनुभव होता है। तथा सम्पूर्ण आत्मभान समस्त अज्ञान आदि भावसे निवृत्त होकर इसी देहमें रहनेपर भी आत्माको प्रगट होता है, और सर्प सवयसे केवल अपनी भिन्नता ही अनुभवमें आती है, अर्थात् मोक्ष-पद इस देहमें भी अनुभवमें आने योग्य है।

५. प्रश्न — ऐसा पढ़नेमें आया है कि मनुष्य, देह छोड़नेके बाद कर्मके अनुसार जानवरोंमें जन्म लेता है, वह पत्थर और वृक्ष भी हो सकता है, क्या यह ठीक है?

उत्तर — देह छोड़नेके बाद उपाजित कर्मके अनुसार ही जीवकी गति होती है, इससे वह तिर्यच (जानवर) भी होता है, और पृथ्वीकाय अर्थात् पृथ्वीरूप शरीर भी धारण करता है, और बाकीकी इसी चार इन्द्रियोंके विना भी जीवको कर्मके भोगनेका प्रसंग आता है, परन्तु वह सर्वथा पत्थर अथवा पृथिवी ही हो जाता है, यह बात नहीं है। वह पत्थररूप काया धारण करता है, और उसमें भी अव्यक्त भावसे जीव जीवरूपसे ही रहता है। वहाँ दूसरी चार इन्द्रियोंका अव्यक्त (अप्रगट)-भावना होनेसे वह पृथ्वीकायरूप जीव कहे जाने योग्य है। क्रम क्रमसे ही उस कर्मको भोगकर जीव निवृत्त होता है। उस समय केवल पत्थरका दल परमाणुरूपसे रहता है, परन्तु उसमें जीवका सन्ध बला आता है, इसलिये उसे आहार आदि सज्ञा नहीं होती। अर्थात् जीव सर्वथा जड़—पत्थर—हो जाता है, यह बात नहीं है। कर्मकी विषमतासे चार इन्द्रियोंका अव्यक्त समागम होकर केवल एक स्पर्शन इन्द्रियरूपसे जीवको जिस कर्मसे देहका समागम होता है, उस कर्मके भोगते हुए वह पृथिवी आदिमें जन्म लेता है, परन्तु वह सर्वथा पृथ्वीरूप अथवा पत्थररूप नहीं हो जाता, जानवर लेते समय सर्वथा जानवर भी नहीं हो जाता। जो देह है वह जीवका वेपधारीपना है, अथवा अज्ञानरूपपना नहीं।

६-७. प्रश्नोत्तर — इसमें छठे प्रश्नका भी समाधान आ गया है।

इसमें सातवें प्रश्नका भी समाधान आ गया है, कि केवल पत्थर अथवा पृथ्वी किसी कर्मका कर्ता नहीं है। उनमें आकर उत्पन्न हुआ जीव ही कर्मका कर्ता है, और वह भी दूध और पानीकी तरह है। जैसे दूध और पानीका संयोग होनेपर भी दूध दूध है और पानी पानी ही है, उसी तरह एकेन्द्रिय आदि कर्मनवसे जीवका पत्थरपना—जड़पना—माद्वम होता है, तो भी वह जीव अंतरमें तो जीवरूपसे ही है, और वहाँ भी वह आहार भय आदि सज्ञापूर्वक ही रहता है, जो अव्यक्त जैसी है।

८. प्रश्न — आर्यधर्म क्या है? क्या सबकी उत्पत्ति वेदसे ही हुई है?

उत्तर —(१) आर्यधर्मकी व्याख्या करते हुए सत्रके सत्र अपने अपने पक्षको ही आर्यधर्म कहना चाहते हैं। जैन जैनधर्मको, बौद्ध बौद्धधर्मको, वेदाती वेदातधर्मको आर्यधर्म कहें, यह साधारण बात है। फिर भी ज्ञानी-पुरुष तो जिससे आत्माको निज स्वरूपकी प्राप्ति हो, ऐसा जो आर्य (उत्तम) मार्ग है उसे ही आर्यधर्म कहते हैं, और ऐसा ही योग्य है।

(२) सत्रकी उत्पत्ति वेदमेंसे होना समझ नहीं हो सकता। वेदमें जितना ज्ञान कहा गया है उससे हजार गुना आश्रययुक्त ज्ञान श्रुतिार्थकर आदि महात्माओंने कहा है, ऐसा मेरे अनुभवमें आता है, और इससे मैं ऐसा मानता हूँ कि अल्प ज्ञानसे सम्पूर्ण ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकती। इस कारण वेदमेंसे सत्रकी उत्पत्ति मानना योग्य नहीं है। हाँ, वैष्णव आदि सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति उसके आश्रयसे माननेमें कोई बाधा नहीं है। जैन बौद्धके अन्तिम महावीर आदि महात्माओंके पूर्व वेद विद्यमान थे, ऐसा मान्य होता है। तथा वेद बहुत प्राचीन ग्रंथ हैं, ऐसा भी मान्य होता है। परन्तु जो कुछ प्राचीन हो वह सत्र सम्पूर्ण हो अथवा सत्य हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, तथा जो पीछेसे उत्पन्न हो वह सत्र असम्पूर्ण और असत्य हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। वाकी तो वेदके समान अभिप्राय और जैनके समान अभिप्राय अनादिसे चला आ रहा है। सर्प भाग अनादि ही हैं, मात्र उनका रूपांतर हो जाता है, सर्पवा उत्पत्ति अथवा सर्पवा नाश नहीं होता। वेद, जैन, और दूसरे सत्रके अभिप्राय अनादि हैं, ऐसा माननेमें कोई बाधा नहीं है, फिर उसमें किस बातका प्रवाद हो सकता है ? फिर भी इन सत्रमें विशेष बलवान सत्य अभिप्राय किसका मानना योग्य है, इसका हमें तुम्हें सत्रको निचार करना चाहिये।

९. प्रश्न —वेद किसने बनाये ? क्या वे अनादि हैं ? यदि वेद अनादि हों तो अनादिका क्या अर्थ है ?

उत्तर—(१) वेदोंकी उत्पत्ति बहुत समय पहिले हुई है।

(२) पुस्तकरूपसे कोई भी शास्त्र अनादि नहीं, और उसमें कहे हुए अर्थके अनुसार तो सभी शास्त्र अनादि हैं। क्योंकि उस उस प्रकारका अभिप्राय भिन्न भिन्न जीव भिन्न भिन्नरूपसे कहते आये हैं, और ऐसा ही होना समझ है। जीव आदि भाग भी अनादि हैं, और क्षमा आदि भाग भी अनादि हैं। हिंसा आदि धर्म भी अनादि हैं और अहिंसा आदि धर्म भी अनादि हैं। केवल जीवको हितकारी क्या है, इतना निचार करना ही कार्यकारी है। अनादि तो दोनों हैं, फिर कभी किसीका कम मात्रामें बल होता है और कभी किसीका विशेष मात्रामें बल होता है।

१० प्रश्न —गीता किसने बनाई है ? वह ईश्वरकृत तो नहीं है ? यदि ईश्वरकृत हो तो क्या उसका कोई प्रमाण है ?

उत्तर—ऊपर कहे हुए उत्तरोंसे इसका बहुत कुछ समाधान हो सकता है। अर्थात् ' ईश्वर 'का अर्थ ज्ञानी (सम्पूर्ण ज्ञानी) करनेसे तो वह ईश्वरकृत हो सकती है, परन्तु नित्य, निष्क्रिय आकाशकी तरह ईश्वरके व्यापक स्वीकार करनेपर उस प्रकारकी पुस्तक आदिकी उत्पत्ति होना संभव नहीं। क्योंकि यह तो साधारण कार्य है, जिसका कर्तृत्त्व आरम्भपूर्वक ही होता है—अनादि नहीं होता।

गीता वेदव्यासजीकी रची हुई पुस्तक मानी जाती है, और महात्मा श्रीकृष्णने अर्जुनको उस प्रकारका बोध किया था, इसलिये मुग्धरूपसे श्रीकृष्ण ही उसके कर्ता कहे जाते हैं, यह बात सभ्य है। प्रथम श्रेष्ठ है। उस तरहका आशय अनादि काटसे चला आ रहा है, परन्तु वे ही श्लोक अनादिसे चले आते हैं, यह सभ्य नहीं है, तथा निश्चित ईश्वरसे उमका उत्पत्ति होना भी सभ्य नहीं। यह क्रिया किसी सक्रिय अर्थात् देहधारीसे ही होने योग्य है, इसलिये जो सम्पूर्ण मानी है वह ईश्वर है, और उसके द्वारा उपदेश किये हुए ज्ञान ईश्वरीय शास्त्र है, यह माननेमें कोई बाधा नहीं है।

११ प्रश्न — पशु आदिके यज्ञ करनेसे थोड़ासा भी पुण्य होता है, क्या यह सच है ?

उत्तर — पशुके यज्ञसे, होमसे अथवा उसे थोड़ासा भी दुःख देनेसे पाप ही होना है, तो फिर उसे यज्ञमें करो अथवा चाहे तो ईश्वरके धाममें बैठकर करो। परन्तु यज्ञमें जो दान आदि क्रियायें होती हैं, वे बुद्ध पुण्यकी कारणभूत हैं। फिर भी हिंसा-मिश्रित होनेसे उनका भी अनुमोदन करना योग्य नहीं है।

१२ प्रश्न — जिस धर्मको आप उत्तम कहते हो, क्या उसका कोई प्रमाण दिया जा सकता है ?

उत्तर — प्रमाण तो कोई दिया न जाय, और इस प्रकार प्रमाणके बिना ही यदि उसकी उत्तमताका प्रतिपादन किया जाय तो फिर तो अर्थ-अनर्थ, धर्म-अधर्म सभीको उत्तम ही कहा जाना चाहिये। परन्तु प्रमाणसे ही उत्तम-अनुत्तमकी पहिचान होती है। जो धर्म ससारके क्षय करनेमें सजसे उत्तम हो और निजस्वभागमें स्थिति करानेमें बलवान हो, वही धर्म उत्तम और वही धर्म बलवान है।

१३ प्रश्न — क्या आप सिस्तीधर्मके नियमों कुछ जानते हैं ? यदि जानते हैं तो क्या आप अपने विचार प्रकट करेंगे ?

उत्तर — सिस्तीधर्मके नियमों में साधारण ही जानता हूँ। भरतपण्डके महात्माओंने जिस तरहके धर्मकी शोष की है—विचार किया है, उस तरहके धर्मका किसी दूसरे देशके द्वारा विचार नहीं किया गया, यह तो थोड़ेसे अभ्याससे ही समझमें आ सकता है। उसमें (सिस्तीधर्ममें) जीवकी सदा परवशता कही गई है, और वह दशा मोक्षमें भी इसी तरहकी मानी गई है। जिसमें जीवके अनादि स्वरूपका यथायोग्य विवेचन नहीं है, जिसमें कर्म-बन्धकी व्यवस्था और उसकी निवृत्ति भी जैसी चाहिये वैसी नहीं कही, उस धर्मका मेरे अभिप्रायके अनुसार सर्वोत्तम धर्म होना सभ्य नहीं है। सिस्तीधर्ममें जैसा मैंने ऊपर कहा, उस प्रकारका जैसा चाहिये वैसा समाधान देखनेमें नहीं आता। इस वाक्यको मैंने मतभेदके वश होकर नहीं लिखा। अधिक पूँउने योग्य मात्रा हो तो पूँउना—तो विशेष समाधान हो सकेगा।

१४ प्रश्न — वे लोग ऐसा कहते हैं कि बाइबल ईश्वर-प्रेरित है। ईसा ईश्वरका अवतार है—वह उसका पुत्र है और था।

उत्तर — यह बात तो श्रद्धासे ही मान्य हो सकती है, परन्तु यह प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती। जो बात गीता और वेदके ईश्वर-कर्तृत्वके नियमों लिखी है, वही बात बाइबलके सबधमें भी समझना चाहिये। जो जन्म-मरणसे मुक्त हो, वह ईश्वर अवतार ले, यह है। कर्णिके ।

द्वेष आदि परिणाम ही जन्मके हेतु हैं, ये जिसके नहीं हैं, ऐसा ईश्वर अवतार धारण करे, यह बात विचारनेसे यथार्थ नहीं माद्धम होती। 'वह ईश्वरका पुत्र है और या' इस बातको भी यदि किसी रूपकके तौरपर निचार करें तो ही यह कदाचित् ठीक बैठ सकती है, नहीं तो यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे वाधित है। मुक्त ईश्वरके पुत्र हो, यह किस तरह माना जा सकता है? और यदि मानें भी तो उसकी उत्पत्ति किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं? यदि दोनोंको अनादि मानें तो उनका पिता-पुत्र सब किस तरह ठीक बैठ सकता है? इत्यादि बातें निचारणीय हैं। जिनके निचार करनेसे मुझे ऐसा लगता है कि वह बात यथायोग्य नहीं माद्धम हो सकती।

१५ प्रश्न —पुराने करारमें जो भविष्य कहा गया है, क्या वह सब ईसाके विषयमें ठीक ठीक उतरा है?

उत्तर —यदि ऐसा हो तो भी उससे उन दोनों शास्त्रोंके विषयमें निचार करना योग्य है। तथा इस प्रकारका भविष्य भी ईसाको ईश्वरानतार कहनेमें प्रबल प्रमाण नहीं है, क्योंकि ज्योतिष आदिसे भी महात्माकी उत्पत्ति जानी जा सकती है। अथवा भले ही किसी ज्ञानसे वह बात कही हो परन्तु वह भविष्य-वेत्ता सम्पूर्ण मोक्ष-मार्गका जाननेवाला था, यह बात जबतक ठीक ठीक प्रमाणभूत न हो, तबतक वह भविष्य बगैरह केवल एक श्रद्धा-प्राप्त प्रमाण ही है, और वह दूसरे प्रमाणोंसे वाधित न हो, यह बुद्धिमें नहीं आ सकता।

१६ प्रश्न —इस प्रश्नमें 'ईसामसीह'के चमत्कारके विषयमें लिखा है।

उत्तर —जो जीव कार्यामेंसे सर्पथा निकलकर चला गया है, उसी जीवको यदि उमी कार्यामें दाखिल किया गया हो अथवा यदि दूसरे जीवको उसी कार्यामें दाखिल किया हो तो यह होना सम्भव नहीं है, और यदि ऐसा हो तो फिर कर्म आदिकी व्यवस्था भी निष्फल ही हो जाय। वाकी योग आदिकी सिद्धिसे बहुतसे चमत्कार उत्पन्न होते हैं, और उस प्रकारके बहुतसे चमत्कार ईसानो हुए हों तो यह सर्पथा मिथ्या है, अथवा असम्भव है, ऐसा नहीं कह सकते। उस तरहकी सिद्धियों आत्माके ऐश्वर्यके सामने अल्प हैं—आत्माके ऐश्वर्यका महत्त्व इससे अनन्त गुना है। इस विषयमें समागम होनेपर पूँछना योग्य है।

१७ प्रश्न —आगे चलकर कौनमा जन्म होगा, क्या इस बातकी इस भयमें खबर पड़ सकती है? अथवा पूर्वमें कौनमा जन्म था, इसकी कुछ खबर पड़ सकती है?

उत्तर.—हाँ, यह हो सकता है। जिसे निर्मल ज्ञान हो गया हो उसे वैसा होना सम्भव है। जैसे मादल इत्यादिके चिह्नोंके ऊपरसे बरसातका अनुमान होता है, वैसे ही इस जीवकी इस भयकी चेष्टाके ऊपरसे उसके पूर्व कारण कैसे होने चाहिये, यह भी समझमें आ सकता है—चाहे थोड़े ही अशोसे समझमें आये। इसी तरह वह चेष्टा भविष्यमें किस परिणामको प्राप्त करेगी, यह भी उसके स्वरूपके ऊपरसे जाना जा सकता है, और उसके विशेष निचार करनेपर भविष्यमें किस भयका होना सम्भव है, तथा पूर्वमें कौनसा भय था, यह भी अच्छी तरह विचारमें आ सकता है।

१८ प्रश्न —दूसरे भयकी खबर किसे पड़ सकती है?

उत्तर.—इस प्रश्नका उत्तर ऊपर आ चुका है।

लीन होना किया जाय तो किसी अभिप्रायसे यह बात स्वीकृत हो सकती है, परन्तु मुझे यह समझ नहीं लगती। क्योंकि सत्र पदार्थ सत्र जीव इस प्रकार सम परिणामको किस तरह प्राप्त कर सकते हैं, जिससे इस प्रकारका संयोग जने ? और यदि उस प्रकारके परिणामका प्रसंग आये भी तो फिर निपमता नहीं हो सकती। यदि अव्यक्तरूपमें जीवमें निपमता और व्यक्तरूपसे समताके होनेको प्रलय स्वीकार करें तो भी देह आदि सबधके विना निपमता किस आधारसे रह सकती है ? यदि देह आदिका सत्रध मानें तो सत्रको एकेन्द्रियपना माननेका प्रसंग आये, और वेसा माननेसे तो विना कारण ही दूसरी गतियोंका निषेध मानना चाहिए—अर्थात् ऊँची गतिके जीवको यदि उस प्रकारके परिणामका प्रसंग दूर होने आया हो तो उसके प्राप्त होनेका प्रसंग उपस्थित हो, इत्यादि बहुतसे विचार उठते हैं। अतएव सर्व जीवोंकी अपेक्षा प्रलय होना समझ नहीं है।

२४ प्रश्न — अनपदको भक्ति करनेसे मोक्ष मिलती है, क्या यह सच है ?

उत्तर — भक्ति ज्ञानका हेतु है। ज्ञान मोक्षका हेतु है। जिसे अक्षर-ज्ञान न हो यदि उसे अनपद कहा हो तो उसे भक्ति प्राप्त होना असंभव है, यह कोई बात नहीं है। प्रत्येक जीव ज्ञान-स्वभासे युक्त है। भक्तिके बलसे ज्ञान निर्मल होता है। निर्मल ज्ञान मोक्षका हेतु होता है। सम्पूर्ण ज्ञानकी आवृत्ति हुए विना सर्वथा मोक्ष हो जाय, ऐसा मुझे माह्य नहीं होता, और जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान है वहाँ सर्व भाषा-ज्ञान समा जाता है, यह कहनेकी भी आवश्यकता नहीं। भाषा-ज्ञान मोक्षका हेतु है, तथा वह जिसे न हो उसे आत्म-ज्ञान न हो, यह कोई नियम नहीं है।

२५ प्रश्न — कृपापतार और रामपतारका होना क्या यह सची बात है ? यदि हो तो वे कौन थे ? ये साक्षात् ईश्वर थे या उसके अश थे ? क्या उन्हें माननेसे मोक्ष मिलती है ?

उत्तर — (१) ये दोनों महात्मा पुरुष थे, यह तो मुझे भी निश्चय है। आत्मा होनेसे वे ईश्वर थे। यदि उनके सर्व आचरण दूर हो गये हों तो उन्हें सर्वथा मोक्ष माननेमें निगद नहीं है। कोई जीव ईश्वरका अश है, ऐसा मुझे नहीं माह्य होता। क्योंकि इसके विरोधी हजारों प्रमाण देखनेमें आते हैं। तथा जीवको ईश्वरका अश माननेसे वह मोक्ष सब व्यर्थ ही हो जायेंगे। क्योंकि फिर तो ईश्वर ही अज्ञान आदिका कर्त्ता हुआ, और यदि वह अज्ञान आदिका कर्त्ता हो तो वह फिर ऐश्वर्यरहित होकर वह अपना ईश्वरत्व ही खो बैठे, अर्थात् जीवका स्वामी होनेका प्रयत्न करते हुए ईश्वरको उल्टा हानिके सहन करनेका प्रसंग उपस्थित हो। तथा जीवको ईश्वरका अश माननेके बाद पुरुषार्थ करना किस तरह योग्य हो सकता है ? क्योंकि वह स्वयं तो कोई कर्त्ता-हर्त्ता सिद्ध हो नहीं सकता ? इत्यादि विरोध आनेसे किसी जीवको ईश्वरके अशरूपसे स्वीकार करनेकी भी मेरी बुद्धि नहीं होती। तो फिर श्रीकृष्ण अथवा राम जैसे महात्माओंके साथ तो उस सबधके माननेकी बुद्धि कैसे हो सकती है ? वे दोनों अव्यक्त ईश्वर थे, ऐसा माननेमें बाधा नहीं है। फिर भी उन्हें सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हुआ था या नहीं, यह बात विचार करने योग्य है।

(२) 'क्या उन्हें माननेसे मोक्ष मिलती है' इस प्रश्नका उत्तर सहज है। जीवके सत्र राग, द्वेष और अज्ञानका अभाव होना अर्थात् उनसे छूट जानेका नाम ही मोक्ष है। वह जिसके उपदेशसे

हो सके, उसे मानकर आर उसका परमार्थ स्वल्प विचारकर अपनी आत्मामें भी उसी तरहकी निष्ठा रखकर उसी महात्माकी आत्माके आकारसे (स्वरूपसे) प्रतिष्ठान हो, तभी मोक्ष होनी सम्यक है। बाकी दूसरी उपासना सर्वथा मोक्षका हेतु नहीं है—वह उसके साधनका ही हेतु होती है। वह भी निश्चयसे हो ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

२६ प्रश्न—ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर कौन थे ?

उत्तर—सृष्टिके हेतुरूप तीन गुणोंको मानकर उनके आश्रयसे उनका यह रूप बताया हो, तो यह बात ठीक बैठ सकती है, तथा उस प्रकारके दूसरे कारणोंसे उन ब्रह्मा आदिका स्वरूप समझमें आता है। परन्तु पुराणोंमें जिस प्रकारसे उनका स्वल्प कहा है, वह स्वरूप उसी प्रकारसे है, ऐसा माननेमें मेरा विशेष झुकाव नहीं है। क्योंकि उनमें बहुतसे रूपक उपदेशके लिये कहे हैं, ऐसा भी माझम होता है। फिर भी हमें उनका उपदेशके रूपमें लाभ लेना, और ब्रह्मा आदिके स्वरूपका सिद्धांत करनेकी जगजगमें न पड़ना, यही मुझे ठीक लगता है।

२७ प्रश्न—यदि मुझे सर्प काटने आये तो उस समय मुझे उसे काटने देना चाहिये या उसे मार डालना चाहिये ? यहाँ ऐसा मान लेते हैं कि उसे किसी दूसरी तरह हटानेकी मुझमें शक्ति नहीं है।

उत्तर—सर्पको तुम्हें काटने देना चाहिये, यह काम यद्यपि स्वयं करके बतानेसे निचारमें प्रवेश कर सकता है, फिर भी यदि तुमने यह जान लिया हो कि देह अनित्य है, तो फिर इम असारभूत देहकी रक्षाके लिये, जिसको उसमें प्राप्ति है, ऐसे सर्पको मारना तुम्हें कैसे योग्य हो सकता है ? जिसे आत्म-हितकी चाहना है, उसे तो फिर अपनी देहको छोड़ देना ही योग्य है। कदाचित् यदि किसीको आत्म-हितकी इच्छा न हो तो उसे क्या करना चाहिये ? तो इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि उसे नरक आदिमें परिश्रमण करना चाहिये, अर्थात् सर्पको मार देना चाहिये। परन्तु ऐसा उपदेश हम कैसे कर सकते हैं ? यदि अनार्थ-वृत्ति ही तो उसे मारनेका उपदेश किया जाय, परन्तु वह तो हमें और तुम्हें स्वप्नमें भी न हो, यही इच्छा करना योग्य है।

अत्र संक्षेपमें इन उत्तरोंको लिखकर पत्र समाप्त करता हूँ। पट्टदर्शनसमुच्चयके समझनेका विशेष प्रयत्न करना। मेरे इन प्रश्नोंके लिखनेके सन्तोचसे तुम्हें इनका समझना विशेष अकुलता-जनक हो, ऐसा यदि जरा भी माझम हो, तो भी विशेषतासे विचार करना, और यदि कुछ भी पत्रद्वारा पूँजने योग्य माझम दे तो यदि पूँजोगे तो प्राय करके उसका उत्तर लिखूँगा। विशेष समागम होनेपर समाधान होना अधिक योग्य लगता है।

लिखित आत्मस्वरूपमें नित्य निष्ठाके हेतुभूत विचारकी चिन्तामें रहनेवाले रायचन्द्रका प्रणाम।

महात्माके चित्तकी स्थिरता भी जिसमें रहनी कठिन है, ऐसे दृग्मन्त्रालमें तुम सत्रपर अनुकपा आती है, यह निचारकर लोकके आप्रेशमें प्रवृत्ति करते हुए मुझे तुमने जो प्रश्न आदि लिखनेरूप चित्तमें अकाश प्रदान किया, इससे मेरे मनको सतोप दृआ है ।

४४९

वम्वई, कार्तिक सुदी ३ बुध १९५१

श्री सत्पुरुषको नमस्कार

श्री सूर्यपुरस्थित, वेराग्यचित्त, सत्सग-योग्य श्री के प्रति—श्री मोहमयी भूमिसे जीवमुक्त दशाके इच्छुक श्री का आत्मस्मृतिपूर्वक यथायोग्य पहुँचे । विशेष विनती है कि तुम्हारे लिखे हुए तीनों पत्र थोड़े थोड़े दिनके अंतरसे मिले हैं ।

यह जीव अत्यंत मायाके आचरणसे दिशा-मूढ़ हो गया है, और उस सत्रसे उसकी परमार्थ-दृष्टि प्रगट नहीं होती—अपरमार्थमें परमार्थका दृढ़ आग्रह हो गया है, और उससे बोध प्राप्त होनेके सत्रसे भी जिससे उसमें बोधका प्रवेश हो सके, ऐसा भाव स्फुरित नहीं होता, इत्यादि रूपसे जीवकी निपम दशा कहकर प्रभुके प्रति दीनता प्रगट की है कि ' हे नाथ ! अत्र मेरी कोई गति (मार्ग) मुझे नहीं दिखाई देती । क्योंकि मने सर्वत्र लुटा देने जैसा काम किया है, और स्वाभाविक ऐश्वर्यके होते हुए प्रयत्न करनेपर भी उस ऐश्वर्यसे निपरीत मार्गका ही मैंने आचरण किया है, उस उस सत्रसे मेरी निवृत्ति कर, और उस निवृत्तिका सर्वोत्तम सदुपायभूत जो सद्गुरुके प्रति शरण भाव है, वह जिससे उत्पन्न हो, ऐसी कृपा कर ।' इस भावके बीस दोहे हैं, जिनमें " हे प्रभु ! हे प्रभु ! शु कहु ? दीनानाथ दयाल " यह प्रथम वाक्य है । वे दोहे तुम्हें याद होंगे । जिससे इन दोहोंकी विशेष अनुप्रेक्षा हो वैसे करोगे तो यह विशेष गुणावृत्तिका हेतु है ।

उनके साथ दूसरे आठ त्रोटक छंदोंकी अनुप्रेक्षा करना भी योग्य है, जिसमें इस जीवको क्या आचरण करना बानी रहा है, और जो जो परमार्थके नामसे आचरण किया वह अतक बृथा ही हुआ, तथा उस आचरणमें मिथ्या आग्रहको निवृत्त करनेके लिये जो उपदेश दिया है, वह भी अनुप्रेक्षा करनेसे जीवको विशेष पुरुषार्थका हेतु है ।

योगवासिष्ठका वॉचन पूरा हो गया हो तो थोड़े समय उसको बन्द रखकर अर्थात् अत्र फिरसे उसका वॉचना बन्द करके उत्तराध्ययनसूत्रका निचार करना । परन्तु उसका कुल सम्प्रदायके आग्रहार्थके निवृत्त करनेके लिये ही निचार करना । क्योंकि जीवको कुल-योगसे जो सम्प्रदाय प्राप्त हुआ रहता है, वह परमार्थरूप है या नहीं, ऐसा निचार करनेसे दृष्टि आगे नहीं चलती, और सहज ही उसे ही परमार्थ मानकर जीव परमार्थसे चूक जाता है । इसलिये मुमुक्षु जीवका तो यही कर्त्तव्य है कि जीवको सद्गुरुके योगसे कल्याणकी प्राप्ति अल्प कालमें ही होनेके साधनभूत वेराग्य और उप-शमके लिये योगवासिष्ठ, उत्तराध्ययन आदिका विचार करना योग्य है, तथा प्रत्यक्ष पुरुषके वचनोंका पूर्वापर अनिरोध भाव जाननेके लिये विचार करना योग्य है ।-

४५०

वम्बई, कार्तिक सुदी ३ बुध १९५१

श्रीकृष्ण चाहे जिस गतिको प्राप्त हुए हों, परंतु विचार करनेसे स्पष्ट मात्र ही होता है कि वे आमभारतमें उपयोगसहित थे। जिन श्रीकृष्णने काचनकी द्वारिकाका, उष्यन करोड़ यादवोंके समूहका और पंचपरियमके आकर्षित करनेवाले कारणोंके सयोगमें स्वामीपनेका भोग किया, उन कृष्णने जन देहको छोड़ा, तब उनकी क्या दशा थी, वह विचार करने योग्य है। और उसे विचारकर इस जीवको जरूर आहुततासे मुक्त करना योग्य है। बुढ़का संहार हो गया है, द्वारिका भस्म हो गई है, उसके शोकसे निवृत्त होकर ये अकेले वनमें भूमिके ऊपर सो रहे हैं। यहाँ जराकुमारने जन जाण मारा, उस समय भी जिसने धीरजको रखा है, उस कृष्णकी दशा विचार करने योग्य है।

४५१

वम्बई, कार्तिक सुदी ४ गुरु १९५१

मुमुक्षु जीवको दो प्रकारकी दशा रहती है—एक विचार-दशा और दूसरी स्थितिप्रज्ञ-दशा। स्थितिप्रज्ञ-दशा, विचार-दशाके लगभग पूरी हो जानेपर अध्यात्म सम्पूर्ण हो जानेपर प्रगट होती है। उस स्थितिप्रज्ञ-दशाकी प्राप्ति होना इस कालमें कठिन है, क्योंकि इस कालमें प्रचलित आत्म-परिणामका व्यापाररूप ही सयोग रहता है, और उससे विचार-दशाका सयोग भी सद्गुरुके सत्वगके अंतरायसे प्राप्त नहीं होता—ऐसे कालमें कृष्णदाम विचार-दशाकी इच्छा करते हैं, वह विचार-दशा प्राप्त होनेका मुख्य कारण है। और वेसे जीवको भय, चिन्ता, परामर्श आदि भावमें निज बुद्धि करना योग्य नहीं है। तो भी धीरजसे उन्हें समाधान होने देना, और चित्तका निर्भय रखना ही योग्य है।

४५२

वम्बई, कार्तिक सुदी ७, १९५१

मुमुक्षु जीवको अर्थात् विचारवान जीवको इस ससारमें अज्ञानके सिवाय दूसरा कोई भी भय नहीं होता। एक अज्ञानकी निवृत्तिकी इच्छा करनेरूप जो इच्छा है, उसके सिवाय विचारवान जीवको दूसरी कोई भी इच्छा नहीं होती, और पूर्ण कर्मके बत्से कोई वेसा उदय हो तो भी विचारवानके चित्तमें 'ससार काराग्रह है, समस्त लोक दुःखसे पीड़ित है, भयसे आकुल है, राग-द्वेषके प्राप्त फलसे प्रज्वलित है'—यह विचार निश्चयसे रहता है, और 'ज्ञान प्राप्तिका कुछ अंतराय है, इसलिये वह काराग्रहरूप ससार मुझे भयका हेतु है, और मुझे लोकका समागम करना योग्य नहीं, एक यही भय विचारवानको रखना योग्य है।

महात्मा श्रीतीर्थकरने निर्भयको प्राप्त हुए परिपक्व सहा करनेका आश्वासन उपदेश दिया है। उस परिपक्वके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए अज्ञानपरिपक्व और दर्शनपरिपक्व इस प्रकार दो परिपक्वोंका प्रतिपादन किया है। अर्थात् कितनी उदय-योगका प्राप्त्य दो ओर सत्वग-सत्पुरुषका योग होनेपर भी जीवकी अज्ञानके कारणोंको दूर करनेमें दिग्गत न चल सकती हो, घनराष्ट्र पैदा हो जाती हो, तो भी धीरज रखना चाहिये, रासग-सत्पुरुषके सयोगका विशेष विशेषरूपसे आराधन करना चाहिये।

तो ही अनुक्रमसे अज्ञानकी निवृत्ति होगी, क्योंकि यही निश्चित उपाय है, और यदि जीवकी निवृत्त होनेकी बुद्धि है तो फिर वह अज्ञान निराधार हो जानेपर किस तरह ठहर सकता है ?

एक मात्र पूर्व कर्मके योगके सिन्हाय वहाँ उसे कोई भी आगर नहीं है । वह तो जिस जीवको सत्सग-सत्पुरुषका सयोग हुआ है, और जिसका पूर्व कर्मकी निवृत्ति करनेका ही प्रयोजन है, उसीके कर्मसे दूर हो सकता है, ऐसा विचार करके मुमुक्षु जीवको उस अज्ञानसे होनेवाली आकुल-याकुलताको धीरजसे सहन करना चाहिये—इस तरह परमार्थ कहकर परिपहको कहा है । यहाँ हमने संक्षेपमें उन दोनों परिपहोंका स्वरूप लिखा है । इस परिपहका स्वरूप जानकर सत्सग-सत्पुरुषके सयोगसे, जिस अज्ञानसे घनराहट होती है, वह निवृत्त होगी—यह निश्चय रखकर, यथाउदय जानकर भगवान्ने धीरज रखना ही बताया है । परन्तु धीरजको इस अर्थमें नहीं कहा कि सत्सग-सत्पुरुषके सयोग होनेपर प्रमादके कारण मिला करना वह धीरज है और उदय है, यह बात भी विचारवान जीवको स्मृतिमें रखना योग्य है ।

श्रीतीर्थकर आदिने फिर फिरसे जीवोंको उपदेश दिया है, परन्तु जीव दिशा-भूढ़ ही रहना चाहता है, तो फिर वहाँ कोई उपाय नहीं चल सकता । उन्होंने फिर फिरसे ठोक ठोककर कहा है कि यदि यह जीव एक इसी उपदेशको समझ जाय तो मोक्ष सहज ही है, नहीं तो अनत उपायोंसे भी मोक्ष नहीं मिलती, और वह समझना भी कोई कठिन नहीं है । क्योंकि जीवका जो स्वरूप है केवल उसे ही जीवको समझना है, और वह कुछ दूसरेके स्वरूपकी बात नहीं कि कभी दूसरा उसे छिपा ले अथवा न बताये, और इस कारण वह समझमें न आ सके । अपने आपसे अपने आपका गुप्त रहना भी किस तरह हो सकती है ? परन्तु जिस तरह जीव स्वप्न दशामें असमाव्य अपनी मृत्युको भी देखता है, वैसे ही अज्ञान दशारूप स्वप्नरूप योगसे यह जीव, जो स्वयं निजका नहीं है, ऐसे दूसरे द्रव्योंमें निजपना मान रहा है, और यह मान्यता ही सत्सग है, यही अज्ञान है, नरक आदि गतिको हेतु भी यही है, यही जन्म है, मरण है, और यही देह है, यही देहका विकार है, यही पुत्र, यही पिता, यही शत्रु, यही मित्र आदि भावकी कल्पनाका कारण है, और जहाँ उसकी निवृत्ति हुई वहाँ सहज ही मोक्ष है । तथा इसी निवृत्तिके लिये सत्सग-सत्पुरुष आदि साधन कहे हैं, और यदि इन साधनोंमें भी जीव अपने पुरुषार्थको छिपाये वगेर लगाने तो ही सिद्धि है । अविक क्या कहे ? इतना संक्षेप कथन ही यदि जीवको लग जाय तो वह सर्व व्रत, यम, नियम, जप, यात्रा, भक्ति, शास्त्र-ज्ञान आदिसे मुक्त हो जाय, इसमें कोई संशय नहीं है ।

४५३

बम्बई, कार्तिक सुदी ७, १९५१

कृष्णदासके चित्तकी व्यग्रता देखकर तुम्हारे सत्रके मनमें खेद रहता है, यह होना स्वाभाविक है । यदि बने तो योगसासिष्ठ ग्रन्थको तीसरे प्रकरणसे उन्हें धँचाना अथवा श्रवण कराना, और प्रवृत्ति-क्षेत्रसे जिस तरह अवकाश मिले तथा सत्सग हो, उस तरह करना । दिनमें जिससे वैसा अधिक समय अनकाश मिल सके उतना लक्ष रखना योग्य है । कृष्णदासको चित्तमेंसे निक्षेपकी निवृत्ति करना उचित है ।

४५४

बम्बई, कार्तिक सुदी ९ शुभ १९५१

साफ मनसे सुलासा किया जाय ऐसी तुम्हारी इच्छा रहा करती है। उस इच्छाके कारण ही साफ मनसे सुलासा नहीं किया जा सका, और अब भी उस इच्छाके निरोध करनेके सिवाय तुम्हें दूसरा कोई भिषय फर्तव्य नहीं है। हम साफ चित्तसे सुलासा करेंगे, ऐसा समझकर इच्छाका निरोध करना योग्य नहीं, परन्तु सपुरुषके सगके माहात्म्यकी रक्षा करनेके लिये उस इच्छाको शांत करना योग्य है, ऐसा विचार कर उसका शान्त ही करना उचित है। सत्सगकी इच्छासे ही यदि ससारके प्रतिग्रथके दूर होनेकी दशाके सुधार करनेकी इच्छा रहती हो, तो भी हालमें उसे दूर करना ही योग्य है। क्योंकि हमें ऐसा लगता है कि तुम जो नारनार लिखते हो वह कुटुम्भ मोह है, सङ्कशेण परिणाम है, और किसी अशसे असाता सटन न करनेकी ही बुद्धि है। और जिस पुरुषको वह बात किसी भक्तजनने लिखी हो तो उसमें उसका रास्ता बनानेके बदले ऐसा होता है कि तनतक इस प्रकारकी निदानबुद्धि रहे तनतक सम्पन्नका निरोध ही रहता है। ऐसा विचारकर खेद ही होता है। उसे तुमको लिखना योग्य नहीं है।

४५५

बम्बई, कार्तिक सुदी १४ सोम १९५१

(१)

सत्र जीव आत्मरूपसे समरभारी हैं। दूसरे पदार्थमें जीव यदि निजबुद्धि करे तो वह परिभ्रमण दशाको प्राप्त करता है, और यदि निजके विषयमें निजबुद्धि हो तो परिभ्रमण दशा दूर होती है। जिसके चित्तमें इस मार्गका विचार करना आवश्यक है उसको, जिसकी आत्मामें वह ज्ञान प्रकाशित हो गया है, उसकी दासानुदासरूपसे अनन्य भक्ति करना ही परम श्रेय है।

और उस दासानुदास भक्तिमानकी भक्ति प्राप्त होनेपर जिसमें कोई विषमता नहीं आती, उस ज्ञानीको धन्य है। उतनी सर्वांश दशा जनतक प्रगट न हुई हो तनतक आत्माकी कोई गुरुरूपसे आराधना करे तो प्रथम उस गुरुरूपनेको छोड़कर उस शिष्यमें ही अपनी दासानुदासता करना योग्य है।

(२)

हे जीव ! स्थिर दृष्टिपूर्वक व अतरगमें देख, तो समस्त पर द्रव्योंसे मुक्त तेरा परम प्रसिद्ध स्वरूप तुझे अनुभवमें आयेगा।

हे जीव ! असम्यग्दर्शनके कारण वह स्वरूप तुझे भासित नहीं होता। उस स्वरूपमें तुझे शका है, व्यामोह है और भय है।

सम्यग्दर्शनका योग मिलनेसे उस अज्ञान आदिकी निवृत्ति होगी।

हे सम्यग्दर्शनसे युक्त ! सम्यक्चारित्रको ही सम्यग्दर्शनका फल मानना योग्य है, इसलिये उसमें अप्रमत्त हो।

जो प्रमत्तभान उत्पन्न करता है वह तुझे कर्म-बन्धकी सुप्रतीतिका कारण है।

हे सम्यक्चारित्रसे युक्त ! अब शिथिलता करना योग्य नहीं। जो बहुत अतराय था वह तो अब निवृत्त हुआ, फिर अब अतरायरहित पदमें किसलिये शिथिलता करता है ?

वर्ष २८वाँ
परमपद-प्राप्तिकी भावना
(अतर्गत)
गुणश्रेणीस्वरूप

४५६

ॐ

बम्बई, कार्तिक १९५१

ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? कब मैं ज्ञान और अन्यतरसे निर्मग्न बनूँगा ? समस्त सनधके तीक्ष्ण बधनको उदरकर कब मैं महान् पुरुषोंके पथपर विचरण करूँगा ? ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १ ॥

समस्त मानोंसे उदासीन वृत्ति होकर, देह भी केवल समयके ही हेतु रहे, तथा अन्य किसी कारणसे अन्य कुछ भी कल्पना न हो, ओर देहमें किंचिमात्र भी मूर्च्छाभास न रहे । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ २ ॥

दर्शनमोहनीयके नाश होनेसे जो ज्ञान उत्पन्न हो, तथा देहसे भिन्न शुद्ध चैतन्यके ज्ञानसे चारित्रमोहनीयको क्षीण हुआ देखें, इस तरह शुद्ध स्वरूपका ध्यान रहा करे । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ३ ॥

तीनों योगोंके मद हो जानेसे मुल्यरूपसे देहपर्यंत आत्म-स्थिरता रहे । तथा इस स्थिरताका घोर परिपहसे अथवा उपसर्गोंके भयसे कभी भी अत न आ सके । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ४ ॥

सयमके हेतु ही योगकी प्रवृत्ति हो और वह भी जिनभगवान्की आज्ञाके आधीन होकर निज-स्वरूपके लक्षसे हो । तथा वह भी प्रतिक्षण घटती हुई स्थितिमें हो, जो अन्तमें निज स्वरूपमें लीन हो जाय । ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ ५ ॥

४५६

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ? क्यारे यहशु बाह्यातर निमग्न जो ?

सर्व सवधनु नधन तिष्ण छेदीने, विचरशु कब महत्पुरुषने पथ जो ? अपूर्व० ॥१॥

सर्व भावयी औदासीन्यवृत्ति करी, मान देह ते सयमहेतु होय जो,

अन्य कारणे अन्य वशु कल्ये नहीं, देहे पण किंचित् मूर्छा नव जोय जो । अपूर्व० ॥२॥

दर्शनमोह ध्यतीत यह उपज्यो बोध जे, देह भिन्न केवल चैतन्यनु ज्ञान जो,

तेथी प्रक्षीण चारितमोह विलोकिये, बर्त्से पशु शुद्धस्वरूपनु ध्यान जो । अपूर्व० ॥३॥

आत्मस्थिरता व्रण सक्षिप्त योगनी, मुत्पणणे तो बर्त्से देहपर्यंत जो,

घोर परिपह के उपसर्गभये करी, आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अत जो । अपूर्व० ॥४॥

सयमना हेतुथी योगप्रवर्त्तना, स्वरूपलक्षे जिनआज्ञा आधीन जो,

ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमा, अते थाये निजस्वरूपमा लीन जो । अपूर्व० ॥५॥

पाँच विषयोंमें राग-द्वेषका अभाव हो, और पचप्रमादके कारण मनमें क्षोभ न हो । तथा द्रव्य, क्षेत्र, काळ और भावके प्रतिमत्र मित्रा ही लोभरहित होकर उदयके आधीन विचरण करें । ऐसा अपूर्व अत्रसर कत्र प्राप्त होगा ? ॥ ६ ॥

क्रोधके प्रति क्रोध स्वभाव रहे, मानके प्रति सरलताका मान रहे, मायाके प्रति साक्षी भावका माया रहे, और लोभके प्रति उसके समान लोभ न रहे । ऐसा अपूर्व अत्रसर कत्र प्राप्त होगा ? ॥ ७ ॥

बहुत उपमर्ग करनेवालेके प्रति भी क्रोध न रहे, यदि चक्रवर्ती भी बदना करे तो भी मान न हो, देह नाश होती हो तो भी एक रोममें भी माया उत्पन्न न हो, तथा प्रबल सिद्धिका कारण होनेपर भी लोभ न हो । ऐसा अपूर्व अत्रसर कत्र प्राप्त होगा ? ॥ ८ ॥

नम्रभाव, मुडभाव, स्नानाभाव, अदत धोवन, इत्यादि परम प्रसिद्ध लक्षणरूप जो द्रव्यसयम हे, तथा केश, रोम, नख अथवा शरीरका शृंगार न करनेरूप जो भावसयम हे, उस द्रव्य-भाव सयममय पूर्ण निर्मय अत्रसा रहे । ऐसा अपूर्व अत्रसर कत्र प्राप्त होगा ? ॥ ९ ॥

शत्रु-मित्रके प्रति समदर्शिता रहे, मान-अपमानमें समभाव रहे, जीवन-मरणम न्यूनाधिक मान न हो, तथा समार और मोक्षमें शुद्ध समभाव रहे । ऐसा अपूर्व अत्रसर कत्र प्राप्त होगा ? ॥ १० ॥

स्मशानमें अकेले विचरण करते हुए, पर्यंतमें वाघ सिंहके सयोगमें रहते हुए, मनमे क्षोभको प्राप्त न होकर अडोल आसनसे स्थिर रहें, और ऐसा समझें कि मानो परम मित्रका ही सत्र प्राप्त हुआ है । ऐसा अपूर्व अत्रसर कत्र प्राप्त होगा ? ॥ ११ ॥

घोर तपश्चर्यामें भी मनको सताप न हो, स्वादिष्ट भोजनमें भी मनको प्रसन्नता न हो, तथा रज-कणसे लेकर वैमानिक देवीकी ऋद्धितक सभीको एक पुद्गलरूप मानें । ऐसा अपूर्व अत्रसर कत्र प्राप्त होगा ? ॥ १२ ॥

पच विषयमा रागद्वेष विरहितता, पच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जां,
द्रव्य, क्षेत्र ने काळ, भाव प्रतिबंधण, विचरु उदयाधीनपण वीतलोभ जो । अपूर्व० ॥६॥
क्रोधप्रत्ये तो वत्तें क्रोधस्वभावता, मानप्रत्ये तो दीनपणानु मान जो,
मायाप्रत्ये माया साक्षी भावनी, लोभप्रत्ये नहीं लोभ समान जो । अपूर्व० ॥७॥
बहु उपमर्ग वर्त्ताप्रत्ये पण क्रोध नहीं, वदे चक्रि तथापि न मळे मान जो,
देह जाय पण माया थाय न रोममा, लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो । अपूर्व० ॥८॥
नम्रभाव, मुडभाव सह अज्ञानता, अदतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो,
केश, रोम, नख के अगे शृंगार नहीं, द्रव्यभाव सयममय निर्मय सिद्ध जो । अपूर्व० ॥९॥
शत्रु मित्रप्रत्ये वत्तें समदर्शिता, मान अमाने वत्तें वे ज स्वभाव जो,
जीवित के मरणे नहीं यूनार्थिकता, भय मोक्षे पण शुद्ध वत्तें समभाव जो । अपूर्व० ॥१०॥
एकाकी विचरतो वळी स्मशानमा, वळी पर्यंतमा वाघ सिंह सयोग जो,
अडोल आसन, ने मनमा नहीं क्षोभता, परम मित्रनो जाणे पाग्या योग जो । अपूर्व० ॥११॥
घार तपश्चर्यामा पण मनने ताप नहा, सरस अत्रे नहीं मनने प्रसन्नमाच जो,
इजकण के ऋद्धि वैमानिक देवनी, सर्वे माया पुद्गल एक स्वभाव जो । अपूर्व० ॥१२॥

इस तरह चारित्रमोहनीयका पराजय करके जहाँ अपूर्णकरण गुणस्थान है उस दशाको प्राप्त करें, तथा क्षपकत्रेणी आरूढ़ होकर अतिशय शुद्ध स्वभावका अपूर्ण चितन करें। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १३ ॥

स्वयभूरमणरूपी मोह-समुद्रको पार करके क्षीणमोह गुणस्थानमें आकर रहूँ, और वहाँ अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण वीतराग-स्वरूप होकर अपने केवलज्ञानको खजानेको प्रगट करूँ। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १४ ॥

जहाँ चार घनघाती कर्मोंका नाश हो जाता है, जहाँ ससारके बीजका आत्यतिक नाश हो जाता है, ऐसी सर्गभावकी ज्ञाता द्रष्टा, शुद्ध, कृतकृत्य प्रभु, और जहाँ अनत वीर्यका प्रकाश रहता है, उस अवस्थाको प्राप्त करें। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १५ ॥

जहाँपर जली हुई रस्तीकी आकृतिके समान वेदनीय आदि चार कर्म ही बाकी रह जाते हैं। उनकी स्थिति देहकी आयुके आधीन है और आयु कर्मका नाश होनेपर उनका भी नाश हो जाता है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १६ ॥

जहाँ मन, वचन, काय, और कर्मकी वर्गणारूप समस्त पुद्गलोंका सवध छूट जाता है, ऐसा वहाँ अयोगकेवली नामका महाभाग्य, सुगदायक, पूर्ण और वधरहित गुणस्थान रहता है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १७ ॥

जहाँ एक परमाणुमात्रकी भी स्पर्शता नहीं है, जो पूर्ण कलकरहित अडोल स्वरूप है, जो शुद्ध, निरजन, चैतन्यमूर्ति, अनन्यमय, अगुरुलघु, अमूर्त और सटजपदरूप है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १८ ॥

पूर्वप्रयोग आदि कारणोंसे जो ऊर्ध्व-गमन करके सिद्धालयको प्राप्त होकर सुस्थित होता है, और सादि-अनत अनत समाधि-सुखमें निराजमान होकर अनत दर्शन और अनत ज्ञानयुक्त हो जाता है। ऐसा अपूर्व अवसर कब प्राप्त होगा ? ॥ १९ ॥

एम पराजय करीने चारितमोहनो, आवु त्या ज्या करण अपूर्व भाव जो,
 श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढ़ता, अन वचितन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो । अपूर्व० ॥१३॥
 मोह स्वयभूरमण समुद्र तरी करी, स्थिति त्या ज्या क्षीणमोह गुणस्थान जो,
 अत समय त्या पूर्णस्वरूप वीतराग यद्, प्रगटावु निज केवलज्ञान निधान जो । अपूर्व० ॥१४॥
 चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्या, भवना बीजतणो आत्यतिक नाश जो,
 सर्वभाव शाता द्रष्टा सह शुद्धता, कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनत प्रकाश जो । अपूर्व० ॥१५॥
 वेदनीयादि चार कर्म वत्ते जहा, बली सींदरीवत् आकृति मात्र जो,
 ते देहायुष् आधीन जेनी स्थिति छे, आयुष् पूर्णे, मटिये दैहिकपात्र जो । अपूर्व० ॥१६॥
 मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा, छूटे जहा सकळ पुद्गल सवध जो,
 एष अयोगि गुणस्थानक त्या वर्त्तु, महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अवध जो । अपूर्व० ॥१७॥
 एक परमाणु मात्रनी मळे न स्पर्शता, पूर्ण कलकरहित अडोलस्वरूप जो,
 शुद्ध निरजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय, अगुरुलघु, अमूर्त सहजपदरूप जो । अपूर्व० ॥१८॥
 पूर्व प्रयोगादि कारणना योगधी, ऊर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो,
 सादि अनत अनत समाधिमुखमा, अनतदर्शन, ज्ञान अनत सहित जो । अपूर्व० ॥१९॥

इस पदको श्रीसर्जने ज्ञानमें देखा है, परन्तु श्रीभगवान् भी इसे कह नहीं सके । फिर इस रूपको अन्य वाणीसे तो क्या कहा जा सकता है ? यह ज्ञान केवल अनुभव-गोचर ही ठहरता है । ता अपूर्व अवसर कत्र प्राप्त होगा ? ॥ २० ॥

जिस परमपदकी प्राप्तिका मैंने ध्यान किया है, वह इस समय शक्ति वगैर यद्यपि केवल मनो-रूप ही है, तो भी यह रायचन्द्रके मनमें निश्चयसे है इसलिये प्रभुकी आज्ञासे उस स्वरूपको नश्य पाऊँगा । ऐसा अपूर्व अवसर कत्र प्राप्त होगा ? ॥ २१ ॥

४५७

केवल समग्रस्थित शुद्ध चेतन ही मोक्ष है ।

उस स्वभावका अनुसंधान ही मोक्ष-मार्ग है ।

प्रतीतिके रूपमें वह मार्ग जहाँ शुरू होता है वहाँ सम्यग्दर्शन है ।

एक देश आचरणरूपसे उस आचरणको धारण करना यह पंचम गुणस्थानक है ।

सर्व आचरणरूपसे उस आचरणको धारण करना यह छठा गुणस्थानक है ।

अग्रमत्तरूपसे उस आचरणमें स्थिति होना यह सप्तम गुणस्थानक है ।

अपूर्ण आत्म-जागृतिका होना यह अष्टम गुणस्थानक है ।

सत्तागत स्थूल कथायोंका बलपूर्वक निजस्वरूपमें रहना यह नौवाँ गुणस्थानक है ।

” सूक्ष्म	”	”	” दसवाँ	”
” उपशांत	”	”	” ग्यारहवाँ	”
” क्षीण	”	”	” बारहवाँ	”

४५८

ज्ञानी पुरुषोंकी प्रतिसमय अनंत सयम-परिणामोंकी वृद्धि होती है—ऐसा सर्जने कहा है, इ सत्य है ।

वह सयम, विचारकी तीक्ष्ण परिणतिसे तथा ब्रह्मरसमें स्थिर होनेसे प्राप्त होता है ।

४५९

आर्किचिनरूपमें निचरते हुए
मयात्मस्वरूप कत्र होऊँगा ?

एकांत मौनके द्वारा जिनभगवान्के समान ध्यानपूर्वक मैं

जे पद श्रीसर्वशे दीख ज्ञानमा, कही शक्या नहीं पण ते श्रीभगवान जो,
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शु कहे ? अनुभवगोचर मात्र रखु ते ज्ञान जो । अपूर्व० ॥ २० ॥
पह परमपदप्राप्तित् कर्तुं ध्यान में, गजावगर ने हाल मनोरथरूप जो;
तो पण निश्चय राजचन्द्र मनने रखो, प्रभुआज्ञाप थाञ्चु ते ज स्वरूप जो । अपूर्व० ॥ २१ ॥

४६०

एक बार विक्षेप शात हुए विना अति समीप आने दे सकने योग्य अपूर्व समय प्रकृत नहीं होगा। कैसे, कहाँ, स्थिति करे ?

४६१

वम्बई, कार्तिक सुदी १५ भोग १९५१

श्रीठाणागसूत्रज्ञी एक चोभगीना उत्तर यहाँ सक्षेपमें लिखा है —

(१) जो आत्माका तो भवात करे किन्तु दूसरेका न करे, वह प्रत्येकबुद्ध अथवा अशोच्या केजली है। क्योंकि वे उपदेश-मार्ग नहीं चलाते हैं, ऐसा व्यवहार है।

(२) जो आत्माका तो भवात नहीं कर सकता किन्तु दूसरेका भगात करता है, वह अचरिम-शरीरी आचार्य है, अर्थात् उसको कुछ भव धारण करना अभी और बाकी है। किन्तु उपदेश मार्गकी आत्माके द्वारा उसको पहिचान है, इस कारण उसके द्वारा उपदेश सुनकर श्रोता जीव उसी भगसे इस ससारका अत भी कर सकता है, ओर आचार्यको उसी भगसे भवात न कर सकनेके कारण उसे दूसरे भगमें रक्खा है। अथवा कोई जीव पूर्वकालमें ज्ञानाराधन कर प्रारब्धोदयमें मद क्षयोपगमसे वर्तमानमें मनुष्य देह पाकर, जिसने मार्ग नहीं जाना है, ऐसे किसी उपदेशकके पाससे उपदेश सुनने-पर पूर्ण सस्कारसे—पूर्वके आराधनसे—ऐसा विचार करे कि यह प्ररूपणा अत्रय ही मोक्षका हेतु नहीं है, क्योंकि उपदेष्टा अधपनेसे मार्गकी प्ररूपणा कर रहा है, अथवा यह उपदेश देनेवाला जीव स्वय अपरिणामी रहकर उपदेश दे रहा है, यह महा अनर्थ है—ऐसा विचार करते हुए उसका पूर्णराजन जागृत हो उठे, और वह उदयका नाश कर भवका अत करे—इसीसे निमित्तरूप ग्रहण कर ऐसे उपदेशका समास भी इस भगमें किया होगा, ऐसा माद्धम होता है।

(३) जो स्वय भी तरे ओर दूसरोंको भी तारे, वे श्री तीर्थकरादि हैं ।

(४) जो स्वय भी तरे नहीं और दूसरोंको भी तार न सके, वे अभव्य या दुर्मव्य जीव है। इस प्रकार यदि समाधान किया हो तो जिनागम विरोधको प्राप्त न हो।

४६२

वम्बई, कार्तिक १९५१

अन्यसत्रधी जो तादात्म्यपन है, वह तादात्म्यपन यदि निवृत्त हो जाय तो सहज स्वभासे आत्मा मुक्त ही है—ऐसा श्रीऋषभादि अनत ज्ञानी-पुरुष कह गये हैं। जो कुछ है वह सप्त कुछ उसी रूपमें समाया हुआ है।

४६३

वम्बई, कार्तिक वदी १३ रति १९५१

जत्र प्रारब्धोदय इत्यादि करणोंमें निर्मल हो तत्र विचारवान जीवको विशेष प्रवृत्ति करना योग्य नहीं, अथवा आसपासकी प्रवृत्ति बहुत संभालसे करनी उचित है, केवल एक ही लाभ देखते रहकर प्रवृत्ति करना उचित नहीं है।

दुमिधाने द्वारा किसी कर्मकी निवृत्तिकी इच्छा करते हैं तो वह नहीं होती, और आर्त्तघ्यान होकर ज्ञानके मार्गपर पग रक्खा जाता है ।

४६४

वन्धई, मगसिर सुदी ३ शुक्र १९५१

प्रश्न —उसका मय नहीं, अर्ध नहीं, आर वह अउच तथा अभेद्य है, इत्यादि रूपसे श्रीजिन-भगवान्‌ने परमाणुकी व्याख्या कही है, तो इसमें अनन्त पर्यायों किस तरह घट सकती हैं? अथवा पर्याय यह एक परमाणुका ही दूसरा नाम है या और कुछ? इस प्रश्नसूचक पत्र मिला था । उसका समाधान इस प्रकार है —

उत्तर —प्रत्येक पदार्थकी अनन्त पर्यायों (अवस्थाएँ) होती हैं । अनन्त पर्यायरहित कोई पदार्थ ही ही नहीं सकता—ऐसा श्रीजिनभगवान्‌का अभिमत है, और वह यथार्थ ही मादम होता है । क्योंकि प्रत्येक पदार्थ समय समयमें अवस्थांतरको प्राप्त करता हुआ प्रत्यक्ष दिखाई देता है । जिस तरह आत्मामें प्रतिक्षण सकल्प-विकल्प परिणतियोंके कारण अवस्थान्तर हुआ करती हैं, उसी तरह परमाणुमें भी वर्ण, गंध, रस, रूप अवस्थांतरको प्राप्त होते रहते हैं । ऐसी अवस्थांतरोंकी प्राप्ति होनेसे उस परमाणुके अनन्त भाग हुए, ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि वह परमाणु अपने एकप्रदेश-क्षेत्र-अवगाहिल्वको छोड़े बिना ही उन अवस्थान्तरोंको प्राप्त होता है । एकप्रदेश-क्षेत्र-अवगाहिल्वके अनन्त भाग ही नहीं सकते । एक ही समुद्रमें जिस तरह तरंगे उठती रहती हैं और वे तरंगें उसीमें समा जाती हैं, जुदी तरंगोंके कारण उस समुद्रकी जुदी जुदी अवस्थाएँ होनेपर भी जिस तरह समुद्र अपने अवगाहक क्षेत्रको नहीं छोड़ता, और न कहीं उस समुद्रके अनन्त भिन्न भिन्न हिस्से ही होते हैं, मात्र अपने ही स्वरूपमें वह ऋड़ा करता है, तरंगित होना यह समुद्रकी एक परिणति है, यदि जल शान्त हो तो शान्तता उसकी एक परिणति है—कोई न कोई परिणति उसमें होनी जरूर चाहिए । उसी तरह वर्ण, गंधादि परिणाम परमाणुमें बदलते रहते हैं, किन्तु उस परमाणुके कहीं टुकड़े हो जानेका प्रसंग नहीं आता, वे मात्र अवस्थान्तरको प्राप्त होते रहते हैं । जैसे सोना कुडलाकारको छोडकर मुकुटाकार होता है, उसी तरह परमाणुकी भी एक समयकी अवस्थासे दूसरे समयकी अवस्थामें कुछ अन्तर हुआ करता है । जैसे सोना दोनों पर्यायोंको धारण करनेपर भी सोना ही है, वैसे ही परमाणु भी परमाणु ही रहता है । एक पुरुष (जीव) बालकपन छोड़कर जवान होता है, जवानी छोड़कर बुद्ध होता है, किन्तु पुरुष वही रहता है, इसी तरह परमाणु भी पर्यायोंको प्राप्त होता है ।

आकाश भी अनन्त पर्यायी है, और सिद्ध भी अनन्त पर्यायी है—ऐसा जिनभगवान्‌का अभिप्राय है । इसमें विरोध नहीं मादम होता । वह बहुत कुछ मेरी समझमें आया है, किन्तु विशेषरूपमें नहीं लिखे जा सकनेके कारण, जिससे तुमको वह बात विचार करनेमें कारण हो, इस तरह ऊपर ऊपर से लिखी है ।

आँखमें मेप-उमेप जो अवस्थाएँ हैं, वे उसकी पर्यायें हैं । दीपककी हलन चलन स्थिति उसकी पर्याय है । आत्मानी सकल्प-विकल्प दशा अथवा ज्ञान परिणति यह उसकी पर्याय है । उसी तरहसे वर्ण गंध परिणामनको प्राप्त हों, यह परमाणुकी पर्याय है । यदि इस तरहका परिणामन न हो तो यह

जगत् इम विचित्रताको प्राप्त नहो सके, क्योंकि यदि एक परमाणुमें पर्यायें न होंगी तो सभी परमाणुओंमें भी पर्यायें न होंगी। सयोग, वियोग, एकत्व, पृथक्त्व इत्यादि परमाणुकी पर्यायें हैं और वे सभी परमाणुओंमें होती हैं। जिस तरह मेप-उन्मेपसे चक्षुका नाश नहीं होता, उसी तरह यदि इन भायोंका प्रति समय उसमें परिवर्तन होता रहे तो भी परमाणुका व्यय (नाश) नहीं होता।

४६५ मोहमयी (बम्बई), मगसिरवदी ८ बुध १९५१

यहाँसे निवृत्त होनेके बाद उहुत करके वनाणीआ, अर्थात् इस भयके जन्म-श्राममें साधारण व्यावहारिक प्रसगसे जानेकी जरूरत है। चित्तमें उहुत प्रकारोंसे उस प्रसगके टूट सकनेका निचार करनेसे उससे छूटा जा सकता है, यह भी सभय है। फिर भी बहुतसे जीयोंको अल्प कारणमें ही कमा अधिक सदेह होनेकी भी सभानना होती है, इसलिये अप्रतिबध भायको विशेष दृढ़ करके वहाँ जानेका निचार है। वहाँ जानेपर, एक महीनेसे अधिक समय लग जाना सभय है। कदाचित् दो महीने भी लग जाँय। उसके बाद फिर वहाँसे छोटकर इस क्षेत्रकी तरफ आना हो सकेगा, फिर भी जहाँ-तक हो सकेगा वहाँतक दो एक महीनेका एकान्तमें निवृत्ति योग मिल सके तो वैसा करनेकी इच्छा है, और वह योग अप्रतिबध भायसे हो सके इसका निचार कर रहा हूँ।

सय व्यवहारोंसे निवृत्त हुए त्रिना चित्त ठिकाने नहीं बैठता, ऐसे अप्रतिबध—असगभायका चित्तमें बहुत कुछ निचार किया है इस कारण उसी प्रवाहमें रहना होता है। किन्तु उपार्जित प्रारब्धके निवृत्त होनेपर ही वैसा हो सकता है, इतना प्रतिबध पूर्वकृत है—आत्माकी इच्छाका प्रतिबध नहीं है।

सर्प सामान्य लोक व्यवहारकी निवृत्तिसवधी प्रसगके विचारको किसी दूसरे प्रसगपर बतानेके लिये रखकर इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेकी विशेष इच्छा रहा करती है। किन्तु वह भी उदयके सामने नहीं बनता। फिर भी रात दिन यही चिन्तन रहा करता है, तो सभय है कि थोड़े समय बाद यह हो जाय। इस क्षेत्रके प्रति कुछ भी द्वेष भाय नहीं है, तथापि सगका विशेष कारण है। प्रवृत्तिके प्रयोजन त्रिना यहाँ रहना आत्माके कुछ विशेष लाभका कारण नहीं है, ऐसा जानकर इस क्षेत्रसे निवृत्त होनेका विचार रहता है।

यद्यपि प्रवृत्ति भी निजबुद्धिसे किसी भी तरह प्रयोजनभूत नहीं लगती है, तो भी उदयानुसार काम करते रहनेके ज्ञानाके उपदेशकी अगीकार कर उदयको भोगनेके लिये हमें प्रवृत्ति-योग लेना पड़ा है।

ज्ञानपूर्वक आत्मामें उत्पन्न हुआ यह निश्चय कभी भी नहीं बदलता है कि समस्त सग बड़ा भारी आस्रय है, चलते, देखते, प्रसग करते एक समयमात्रमें यह निजभायको निस्मरण करा देता है, और यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें भी आई है, आती है और आ सकती है। इस कारण रात दिन इस बड़े आस्रयरूप समस्त सगमें उदास भाव रहता है, और वह दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जाता है, इसीलिये विशेष परिणामको प्राप्त कर सब सगोंसे निवृत्ति हो, ऐसी अपूर्व कारण-योगसे इच्छा रहा करती है।

सभय है, यह पत्र प्रारम्भसे व्यावहारिक स्वरूपमें लिखा गया माझम हो, किन्तु इसमें यह बात निलकुल भी नहीं है। असगभायके प्रिययमें आत्म-भायनाका थोड़ासा विचारमात्र यहाँ लिखा है।

४६६

बम्बई, मगसिर वरी ९ शुक्र १९५१

ॐ

ज्ञानी पुरुषका सत्सग होनेसे—निश्चय होनेसे—और उसके मार्गका आराधन करनेसे ज्ञानका दर्शनमोहनीय कर्म उपशात हो जाता है अथवा क्षय हो जाता है, और क्रम क्रमसे सर्वज्ञानकी प्राप्ति होकर जीव शून्य होता है—यह बात यद्यपि प्रकट सत्य है, किन्तु उससे उपार्जित प्रारब्ध भी नहीं भोगना पड़ता, यह सिद्धांत नहीं हो सकता। जिसे केवलज्ञान हुआ है, ऐसे वीतरागीको भी जब उपार्जित प्रारब्धस्वरूप चार कर्मोंको भोगना पड़ता है, तो उससे नीची भूमिकामें स्थित जीवोंको प्रारब्ध भोगना ही पड़े, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है। जिस तरह उस सर्वज्ञ वीतरागीको घनघाती चार कर्मोंको, उनका नाश हो जानेके कारण, भोगना नहीं पड़ता है, और उन कर्मोंके पुन उत्पन्न होनेके कारणोंका स्थिति उम सर्वज्ञ वीतरागीमें नहीं है, उसी तरह ज्ञानीका निश्चय होनेपर अज्ञान भावसे जीवको उदासीनता होती है, और उस उदासीनताके कारण ही भविष्य कालमें उस प्रकारका कर्म उपार्जन करनेका उस जीवको कोई सुगम कारण नहीं रहता। यदि कदाचित् पूर्वानुसार किसी जीवको निर्वय उदय हो जाय, तो भी वह उदय क्रमशः उपशात एव क्षय होकर, जानकी ज्ञानीके मार्गकी पुन प्राप्ति होती है और वह अर्धपुद्गल परावर्तनमें अस्थायी ही सत्सग मुक्त हो जाता है। किन्तु समकितो जीवको, अथवा सर्वज्ञ वीतरागीको, अथवा अय किसी योगी या ज्ञानीको ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे उपार्जित प्रारब्ध न भोगना पड़े, अथवा दुःख न हो, यह सिद्धांत नहीं हो सकता।

तो फिर हमको तुमको जहाँ मात्र सत्सगका अन्य ही लाभ होता है, वहाँ सत्सग सात्त्विक दुःख निवृत्त हो जाने चाहिये—ऐसा मानने लगे तब तो केवलज्ञानादि निरर्थक ही हो जायेंगे। क्योंकि उपार्जित प्रारब्ध यदि विना भोगे ही नष्ट हो जाय तो फिर सत्सग मार्ग झूठा हा हो जाय। ज्ञानिके सत्सगसे अज्ञानीके प्रसंगकी रचि मुरझा जाती है एव मयासयका निशेक होता है, अनन्तानुधी क्रोधादि खप जाते हैं, और क्रम क्रमसे सत्सग द्वेष क्षय हो जाते हैं—यह सत्सग कुछ होना समझ है, और ज्ञानिके निश्चय-द्वारा यह अल्पकालमें ही अथवा सुगमतासे हो जाता है, यह सिद्धांत है। तो भी जो दुःख इस तरहसे उपार्जित किया हुआ है कि जिसका भोगे विना नाश न हो, उसे तो भोगना ही पड़गा, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

मेरी आंतरिक मान्यता तो यह है कि यदि परमार्थके हेतुसे किसी मुमुक्षु जीवको मेरा प्रसंग हो और वह अस्थायी मुझसे परमार्थके हेतुकी ही इच्छा करे, तो ही उसका कल्याण हो सकता है। किन्तु यदि त्रुष्यादि कारणोंकी कुछ भी इच्छा रहे अथवा ऐसे व्यवसायका मुझे उसके द्वारा पता चल जाय, तो फिर वह जीव अनुक्रमसे मलिन रासनाको प्राप्त होकर मुमुक्षुताका नाश करता है—ऐसा मुझे निश्चय है। और इसी कारणसे तुम्हारी तरफसे जब जब आन्तरिक प्रसंग लिखा आया है, तब तब तुमको कई बार उपालम्ब देकर सूचित भी किया था कि मेरे प्रति तुम्हारे द्वारा इस प्रकार व्यग्रताय व्यक्त न किया जाय, इसका तुम अस्थायी प्रयत्न करना। और हमें याद आ रहा है कि तुमने मेरी इस सूचनाको स्वीकार भी की थी, किन्तु तदनुसार योंही समयतक ही हुआ। बादमें अब फिर व्यग्रतायके संबंधमें तुम लिखने लगे हो, तो आजके हमारे पत्रपर मनन कर अस्थायी

तुम ठोड़ देना; और यदि नित्य बेसी ही वृत्ति रक्खा करोगे तो यह अवश्य ही तुम्हारे लिये हितकारी होगा। उससे मुझे ऐसा मालूम होगा कि तुमने मेरी आतवृत्तिको उल्लासित करनेका कारण दिया है। सत्सङ्गे प्रसङ्गमें कोई भी ऐसा करे तो मेरा चित्त बहुत विचारमें पड़ जाता है अथवा घबरा जाता है, क्योंकि 'परमार्थको नाश करनेवाली यह भावना इस जीवके उदयमें आई,' ऐसा भाव, जब जब तुम व्यसनायके सबधमें लिखा करते हो, तब तब मुझे प्रायः हुआ करता है। फिर भी आपकी वृत्तिमें विशेष परिवर्तन होनेके कारण थोड़ी बहुत घबराहट चित्तमें कम हुई होगी। तुमको परमार्थकी इच्छा है इसलिये इस बातपर तुमको अवश्य स्थिर होना चाहिये।

४६७

बम्बई, मगसिर वदी ११ रवि १९५१

पसोंके दिन लिखे हुए पत्रमें जो गभीर आगय लिखा है वह विचारवान जीवको आत्माको परम हितैषी होगा। हमने तुम्हें यह उपदेश अनेक बार थोड़ा-बहुत किया है, फिर भी आजीविकाके कष्टसे उत्पन्न हेतुके कारण तुम बहुत बार उसे भूल गये हो अथवा भूल जाते हो। हमारे प्रति माताके समान तुम्हारा भक्तिभाव है, ऐसा मानकर लिखनेमें कोई हानि नहीं है। तथा दुःख सहन करनेकी असमर्थताके कारण हमारेसे जैसे व्यवहारकी याचना तुम्हारे द्वारा दो प्रकारसे हुई है — एक तो किसी सिद्धि-योगसे दुःख मिटाया जा सके इस मतलबकी, और दूसरी याचना किसी व्यापार रोजगार आदिकी। इन दोनों प्रकारकी तुम्हारी याचनाओंमेंसे एक भी हमारे पास करना वह तुम्हारी आत्माके हितके कारणको रोकनेवाला और अनुक्रमसे मलिन वासनाका कारण होगा। क्योंकि जिस भूमिमें जो करना अनुचित है, और यदि कोई जीव वही उसमें करे, तो उस भूमिकाका उसे अवश्य ही त्याग करना पड़ेगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है। तुम्हारी हमारे प्रति निष्काम भक्ति होना चाहिये, और तुमपर कितना भी दुःख क्यों न आ पड़े फिर भी तुम्हें उसे धैर्यपूर्वक ही सहन करना चाहिये। यदि बेसा न हो सके तो भी उसके एक अक्षरकी भी सूचना हमको न करनी चाहिये—यही तुमको सर्वथा योग्य है। और तुमको बेसी स्थितिमें देखनेकी जितनी मेरी इच्छा है, और जितना तुम्हारा उस स्थितिमें हित है, वह पत्रद्वारा अथवा वचनद्वारा हमसे बताया नहीं जा सकता। फिर भी पूर्वमें किसी उसी उदयके कारण तुम उस बातको भूल जाते हो, जिससे तुम्हें हमको लिखकर सूचित करनेकी इच्छा मनी रहती है।

उन दो प्रकारकी याचनाओंमें, प्रथम कही हुई याचना तो किसी भी निकट-भयको करनी योग्य ही नहीं है, और यदि कदाचित् अल्पमात्र हो भी तो उसे मूलसे ही काट डालना उचित है। क्योंकि वह लोकोत्तर मिथ्यात्वका कारण है, ऐसा तार्थिकरादिका निश्चय है, और वह हमको भी सप्रमाण मालूम होता है। दूसरे प्रकारकी याचना भी करना योग्य नहीं है, क्योंकि वह भी हमारे लिये परिश्रमका कारण है। हमको व्यवहारका परिश्रम देकर व्यवहार निभाना, यह हम जीवकी सद्वृत्तिकी बहुत ही अल्पता बताता है। क्योंकि हमारे लिये परिश्रम करके तुम्हें व्यवहारको चला लेना पड़ता हो तो वह तुम्हारे लिये हितकारी है, और हमारे लिये भी ऐसे दुष्ट निमित्तका कारण नहीं है। ऐसी परिस्थिति होनेपर भी हमारे

चित्तमें ऐसा विचार रटा करता है कि जतनरु हमसे परिग्रह आदिका लेने देनेका व्यवहार उदयमें हो तत्रतक स्वयं उस कार्यको करना चाहिये, अथवा उसे व्यवहारसमधी नियमोंसे करना चाहिये। किंतु मुमुक्षु पुरुषको तत्समधी परिश्रम देकर नहीं करना चाहिये, क्योंकि उस कारणसे जीवके मलिन वासनाका पैदा हो जाना समझ है। कदाचित् हमारा चित्त शुद्ध ही रह सकता हो, किंतु फिर भी काठ ही बुझ ऐसा है कि यदि इन्द्रियसे भी शुद्धि रखें तो दूसरे जीवमें नियमता पैदा न होने पाये, और अशुद्ध वृत्तिमान जीव भी तदनुसार वर्तन कर परम पुरुषोंके मार्गका नाश न करे—इत्यादि विचारपर मेरा चित्त लगा रहता है।

तो फिर जिसका परमार्थ-वृत्त अथवा चित्त-शुद्धिभाव हमसे कम हो उसे तो अन्वय ही उस मार्गणाको मजबूत बनाये रखनी चाहिये, यही उसके लिये प्रबल श्रेय है, और तुम्हारे जैसे मुमुक्षु पुरुषको तो अन्वय ही प्रसा करना उचित है। क्योंकि तुम्हारा अनुकरण सहज ही दूसरे मुमुक्षुओंके हिताहितका कारण हो सकता है। प्राण जानेकी नियम अस्थानों में तुमको निष्कामता ही रखनी चाहिये—हमारा यह विचार तुम्हारी आजीवनिकाके कारण चाहे जैसे दुःखोंके प्रति अनुकंपा होनेपर भी मिटता नहीं है, किन्तु उन्टा और प्रलयान होता है। इस नियमों विशेष हेतु देकर तुम्हें निश्चय करानेकी इच्छा है और यह निश्चय तुम्हें होगा ही, ऐसा हमें पूर्ण विश्वास है।

इस प्रकार तुम्हारे अथवा दूसरे मुमुक्षु जीवोंके हितके लिये मुझे जो ठीक लगा वह लिखा है। इतना लिखनेके बाद मेरे आत्माथके समझमें मेरा कुछ दूसरा ही निचो विचार है, जिसको लिखना उचित न था। किन्तु तुम्हारी आत्माको दृष्टाने जैसा मैंने तुम्हें बुझा लिखा है, इसलिये उसका लिखना योग्य मानकर ही उसे यहाँ लिखा है। यह इस प्रकार है कि जतनरु परिग्रहादिका लेना देना हो—वैसा व्यवहार हमारे उदयमें हो, तत्रतक जिस किसी भी निष्काम मुमुक्षु अथवा संपन्न जीवकी अथवा उसकी हमारे द्वारा अनुरूप भावकी जो कुछ भी सेवा-चाकरी, उसको कटे बिना ही, की जा सके, उसे इत्यादि पदार्थसे भी करनी चाहिये। क्योंकि इस मार्गको क्रम आदि महापुरुषोंने भी कहीं कहीं जीवकी गुण निष्पन्नताके लिये आवश्यक माना है। यह हमारा अपना निजका विचार है और वैसा आचरण सत्पुरुषके लिये निषिद्ध नहीं है, किन्तु किसी प्रकारसे यह कर्तव्य ही है। यदि उस नियम या सेवा-चाकरीसे उस जीवके परमार्थका निरोध होता हो तो उसका भी सत्पुरुषको उपशमन ही करना चाहिये।

४६८

२२ई, मगधिर १९५१

श्रीजिन आत्म परिणामकी स्वस्थताको समाधि, और आत्म-परिणामकी अस्वस्थताको अममाधि कहते हैं। यह अनुभव-ज्ञानसे देखनेसे परम सत्य सिद्ध होता है।

अस्वस्थ कार्यकी प्रवृत्ति करना और आत्म-परिणामको स्वस्थ रखना, ऐसी नियम प्रवृत्ति श्रीतीर्थकर जैसे ज्ञानाद्वारा भी बनना कठिन कही है, तो फिर दूसरे जीवके द्वारा उस समन्वित कर दिखाना कठिन हो, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

किसी भी पर पदार्थके लिये इच्छाकी प्रवृत्ति करना, और किसी भी पर पदार्थमें प्रियोगकी चिन्ता करना, उसे श्रीजिन आर्त्तव्यान कहते हैं, इसमें सन्देह करना योग्य नहीं है ।

तीन वर्षोंके उपाधि-योगसे उत्पन्न हुए प्रिक्षेप भागको मिटानेका निचार रहता है । जो प्रवृत्ति दृढ वैराग्यवानके चित्तको बाधा कर सकती है वह प्रवृत्ति यदि अदृढ वैराग्यवान जीनको कल्याणके सम्मुख न होने दे तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है ।

ससारमें जितनी परिणतियोंको सारभूत माना गया है, उतनी ही आत्म-ज्ञानकी न्यूनता श्रीतीर्थ-करने कही है ।

परिणाम जड़ होता है, ऐसा सिद्धांत नहीं है । चेतनको चेतन परिणाम होता है और अचेतनको अचेतन परिणाम होता है, ऐसा जिनभगवानने अनुभव किया है । परिणाम अथवा पर्यायरहित कोई भी पदार्थ नहीं है, ऐसा श्रीजिनने कहा है, और वह सत्य है ।

श्रीजिनने जो आत्मानुभव किया है और पदार्थके स्वरूपको साक्षात्कार कर जो निरूपण किया है, वह सब मुमुक्षु जीनोंको अपने परम कल्याणके लिये अग्रय ही निचार करना चाहिये । जिन-भगवान्द्वारा कथित सब पदार्थके भाग एक आत्माको प्रकट करनेके लिये ही हैं, और माक्षेमागर्म प्रवृत्ति तो केवल दोषी ही होती है — एक आत्म-ज्ञानीकी और एक आम ज्ञानीके आश्रयमानकी — ऐसा श्रीजिनने कहा है ।

वेदकी एक श्रुतिमें कहा गया है कि आत्माको सुनना चाहिये, निचारना चाहिये, मनन करना चाहिये, अनुभव करना चाहिये, अर्थात् यदि केवल यही एक प्रवृत्ति की जाय तो जीन ससार-सागरको तैरकर पार पा जाय, ऐसा लगता है । बाकी तो श्रीतीर्थकरके समान ज्ञानीके बिना हर किसीको इस प्रवृत्तिको करते हुए कल्याणका निचार करना, उसका निश्चय होना तथा आत्म-स्वस्थताका प्राप्त होना दुर्लभ है ।

४६९

बम्बई, मगसिर १९५१

ईश्वरेच्छा बलवान है और काल भी बड़ा नियम है । पहिले ही जानते थे और स्पष्ट श्रद्धान था कि ज्ञानी-पुरुषको सकाम भावसहित भजनेसे आत्माको प्रतिग्रह होता है, और गृहस्त वार तो ऐसा होता है कि परमार्थ दृष्टि नष्ट होकर ससारार्थ दृष्टि हो जाती है । ज्ञानीके प्रति ऐसी दृष्टि होनेसे पुन सुलभ-बोधिता प्राप्त होना बड़ी कठिन बात है, ऐसा जानकर कोई भी जीन सकाम भावसे समागम न करे, इसी प्रकारका आचरण हो रहा था । हमने तुमको तथा श्री आदिको इस मार्गके सत्रधमें कहा था, किन्तु हमारे दूसरे उपदेशोंकी भाँति किसी पूर्व प्रारम्भ योगसे तत्काल ही उसका ग्रहण तुमको नहीं होता था । हम जब कभी भी तत्सम्पत्ती कुछ भी कहते थे तब पूर्वके आचार्योंने ऐसा आचरण किया है—आदि प्रकारके प्रत्युत्तर दिये जाते थे । उन उत्तरोंसे हमारे चित्तमें इसलिये बड़ा वेद होता था कि यह सकाम वृत्ति दु पम कालके कारण ऐसे मुमुक्षु पुरुषमें भी मौजूद है, नहीं तो उसका स्वप्नमें भी होना सम्भव न था । यद्यपि उस सकाम-वृत्तिसे तुम परमार्थ दृष्टिभावनको भूल जाओगे, ऐसा

सशय नहीं होता था, फिर भी प्रसंगानुसार परमार्थ दृष्टिके लिये शिथिलताका कारण होनेकी सम्भावना दिखाई देती थी। किन्तु उसको दोगते हुए बड़ा गेद तो इतलिये होता था कि इस मुमुक्षुकी कुटुम्बमें सकमबुद्धि विशेष होगी और परमार्थ दृष्टि भिट जायगी, अथवा उसकी उत्पत्तिकी सम्भावना दूर हो जायगी, और इस कारणसे दूसरे बटुतसे जीवोंको यः स्थिति परमार्थकी अप्राप्तिमें हेतुभूत होगी। फिर सकामभावसे भजनेवालेकी वृत्तिको शात करना हमारे द्वारा होना कठिन बात है, इतलिये सत्कामी जीवोंको पूर्वापर विरोध बुद्धि होने अथवा परमार्थ—पूत्र्यभावना दूर हो जानेकी सम्भावना हमें जो दिखाई देती थी, वह वर्तमानमें न हो, उसका विशेष उपयोग रहे, इमीलिये उसे सामान्यरूपसे लिखा है। पूर्वापर इस बातका माहात्म्य समझा जाय और दूसरे जीवोंका उपकार हो वैसा विशेष लक्ष रखना।

४७०

मोहमयी, पौष सुदी १ शुक्र १९५१

जिस किमी प्रकार असंगताद्वारा आमभाव साय हो उसी प्रकारका आचरण करना, यही जिनभगवान्की आज्ञा है।

इस उपाधिर्गुप व्यापारादि प्रसंगसे उटनेका बारबार विचार रहा करता है, तो भी उसका अपरिपक काल समझकर उदयके कारण व्यवहार करना पड़ता है। किन्तु उपरि-लिखित जिनभगवान्की आज्ञा प्राय विस्मरण नहीं होती है, और हालमें तो हम तुमको भी उसी भावके विचार करनेके लिये कहते हैं।

४७१

बम्बई पाप सुदी १० रवि १९५१

प्रत्यक्ष जेलखाना होनेपर भी उसकी त्याग करनेकी जीवकी इच्छा नहीं होती, अथवा वह अत्यागरूप शिथिलताको त्याग नहीं सकता, अथवा वह त्याग बुद्धि होनेपर त्याग करते करते काल-यापन करता जाता है—इन सत्र विचारोंको जीव कैसे दूर करे, अन्यकालमें वैसा करना कैसे हो, इन विषयमें हो सके तो पत्रद्वारा लिखना।

४७२

बम्बई, पाप सुदी २, १९५१

* २-२-३ मा—१९५१

द्रव्य,
क्षेत्र,
काल,
भाव,

एक लक्ष
JAIN LIBRARY.
—मा ब्रह्मसिंह, RAJPUTANA
उदयभव

* स्वष्टीकरण — २-२-३ मा—१९५१—[२=द्वितीया, २=दृष्टण पक्ष, ३=पौष, मा=माघ, १९५१=संवत् १९५१]=पौष वदी २, १९५१

द्रव्य=धन
क्षेत्र=स्थान
काल=समय

एक लक्ष=एक लाख

मोहमयी=बम्बई

मा व ८-१=एक वष और आठ महीने

—यह विचारणा पौष वदी २, १९५१ के दिन लिखी गई है कि द्रव्य मर्यादा एक लक्ष रुपयेकी करनी, बम्बईमें एक वष आठ महीने निवास करना, और ऐसी वृत्ति होनेपर भी उदयभावने अनुसार प्रवृत्ति करना।

*द्रव्य— एक लक्ष.	उदासीन.
क्षेत्र— मोहमयी	
काल— ८-१	इच्छा
भान— उदयभान	प्रारब्ध

४७३

बम्बई, पौष वदी १० रवि १९५१

(१)

विषम सप्ताहके बंधनको तोड़कर जो चल निकले, उन पुरुषोंको अनंत प्रणाम है।

चित्तकी व्यवस्था यथायोग्य न होनेसे उदय प्रारब्धके सिवाय अन्य सब प्रकारोंमें असंग्राम रखना ही योग्य मादूम होता है, और वह वहाँतक कि जिनके साथ जान-पहिचान है, उनको भी हालमें भूल जाँय तो अच्छी बात। क्योंकि सगसे निष्कारण ही उपाधि बढ़ा करती है, और नैसी उपाधि सहन करने योग्य हालमें मेरा चित्त नहीं है। निरुपायताके सिवाय कुछ भी व्यवहार करनेकी इच्छा मादूम नहीं होती है, और जो व्यापार व्यवहारकी निरुपायता है, उससे भी निवृत्त होनेकी चिंतना रहा करती है। उसी तरह मनमें दूसरेको बोध करनेके उपयुक्त मेरी योग्यता हालमें मुझे नहीं लगती, क्योंकि जबतक सब प्रकारके विषम स्थानकोंमें समवृत्ति न हो तबतक यथार्थ आत्मज्ञान नहीं कहा जा सकता, और जबतक ऐसा हो तबतक तो निज अभ्यासकी रक्षा करना ही योग्य है, और हालमें उस प्रकारकी मेरी स्थिति होनेसे मैं इसी प्रकार रह रहा हूँ, वह क्षम्य है। क्योंकि मेरे चित्तमें अन्य कोई हेतु नहीं है।

(२)

नेदात जगत्को मिथ्या कहता है, इसमें असत्य ही क्या है ?

४७४

बम्बई, पौष १९५१

ॐ

यदि ज्ञानी-पुरुषके दृढ आश्रयसे सर्वोत्कृष्ट मोक्षपद सुलभ है तो फिर प्रतिक्षण आत्मोपयोगको स्थिर करने योग्य वह कठिन मार्ग उस ज्ञानी-पुरुषके दृढ़ आश्रयसे होना सुलभ क्यों न हो ? क्योंकि

* यहाँ इस बातका फिरसे विचार किया मादूम होता है —

प्रश्न — एक लाख रुपया किस तरह प्राप्त हो ?

उत्तर — उदासीन रहनेसे।

प्रश्न — बम्बईमें किस तरह निवास हो ?

उत्तरमें कुछ नहीं कहा गया।

प्रश्न — एक वर्ष और आठ महीनेका काल किस तरह व्यतीत किया जाय ?

उत्तर — इच्छाभावेसे।

प्रश्न — उदयभान क्या है ?

उत्तर — प्रारब्ध।

— अनुनादक

उस उपयोगकी एकाप्रताके बिना तो मोक्षपदकी उत्पत्ति हे ही नहीं। ज्ञानी-पुरुषके वचनका दृढ़ आश्रय जिसको हो जाय उसको मर्म साधन सुलभ हो जाते हैं। ऐसा अखंड निश्चय सत्पुरुषोंने किया है। तो फिर हम कहते हैं कि इन वृत्तियोंका जय करना ही योग्य है। उन वृत्तियोंका जय क्यों नहीं हो सकता ? इतना तो सत्य है कि इस दुःख कालमें सत्सगकी समीपता अथवा दृढ़ आश्रय अधिक चाहिये, और असत्सगसे अत्यन्त निवृत्ति चाहिये, तो भी मुमुक्षुके लिये तो यही उचित है कि कठिन-से कठिन आत्म साधनकी ही प्रथम इच्छा करे, जिससे सर्व साधन अल्पकालमें ही फलीभूत हो जाँय।

श्रीतीर्थकरने तो इतनातक कहा है कि जिस ज्ञानी-पुरुषकी ससार-परिक्षाण दशा हो गई है, उस ज्ञानी-पुरुषके परपरा-कर्मग्रह होना समझ नहीं है, तो भी पुरुषार्थको ही मुख्य रखना चाहिये, जो दूसरे जीवके लिये भी आत्मसाधनके परिणामका हेतु हो।

ज्ञानी-पुरुषको आत्म-प्रतिग्रहणमें ससार सेना होती नहीं, किन्तु प्रारब्ध-प्रतिग्रहणमें होती है, फिर भी उससे निवृत्तिरूप परिणामकी प्राप्ति ही ज्ञानीकी रीति हुआ करती है। जिस रीतिके आश्रय करते हुए आज तीन वर्षोंसे विशेषरूपसे वसा किया है, ओर उसमें अत्यन्त आत्मदशाको सुखानेका समझ रहे, ऐसे उदयको भी यथाशक्य समझासे सहन किया है। यद्यपि उस वेदन कालमें सर्वसग निवृत्ति किसी भी प्रकारसे हो जाय तो उड़ी अच्छी बात हो, ऐसा सदैव ध्यान रहा है। फिर भी सर्वसग निवृत्तिसे जैसी दशा होनी चाहिये, वह दशा उदयमें रहे, तो अल्पकालमें ही विशेष कर्मकी निवृत्ति हो जाय, ऐसा जानकर जितना हो सका उतना उस प्रकारका प्रयत्न किया है। किन्तु मनमें अजय रहा करता है कि यदि इस प्रसगसे अर्थात् सरुल गृहवाससे दूर न हुआ जा सके, तो न सही, किन्तु यदि व्यापारदि प्रसगसे निवृत्त-दूर-हुआ जा सके तो उत्तम हो। क्योंकि आत्मभासे परिणामकी प्राप्तिमें ज्ञानीकी जो दशा होनी चाहिये, वह दशा इस व्यापार-व्यवहारसे मुमुक्षु जीवको दिखाई नहीं देती है। इस प्रकार जो लिखा है, उसके विषयमें अभी हालमें कभी कभी विशेष विचार उदित होता है, उसका जो कुछ भी परिणाम आये सो ठीक।

४७५

धर्मार्थ, माघ सुदी २ रवि १९५१

चित्तमें कोई भी विचारवृत्ति परिणामी है, यह जानकर हृदयमें आनंद हुआ है। असार एव केशरूप आरम्भ परिग्रहके कार्यमें रहते हुए यदि यह जीव कुछ भी निर्भय अथवा अजागृत रहे तो बहुत वर्षोंक उपासित भैरवगणके भी निष्फल चले जानेकी दशा हो जाती है, इस प्रकार नित्य प्रति निश्चयको याद करके निरुपाय प्रसगमें डरसे काँपते हुए चित्तसे अनिर्धार्यरूपमें प्रवृत्त होना चाहिये—इस बातका मुमुक्षु जीवके प्रत्येक कार्यमें, क्षण क्षणमें और प्रत्येक प्रसगमें लक्ष्य रखते बिना मुमुक्षुता रहनी दुर्लभ है, ओर ऐसी दशाका अनुभव किये बिना मुमुक्षुता भी समझ नहीं है। मेरे चित्तमें हालमें यही मुख्य विचार हो रहा है।

४७६

बम्बई, माघ सुदी ३ सोम १९५१

जिस प्रारब्धको भोगे बिना कोई दूसरा उपाय नहीं है, वह प्रारब्ध ज्ञानीको भी भोगना पड़ता है। ज्ञानी अततक आत्मार्थको त्याग करनेकी इच्छा न करे, इतनी ही भिन्नता ज्ञानीमें होती है, ऐसा जो महापुरुषोंने कहा है, वह सत्य है।

४७७

माघ सुदी ७ शनिवार तिथि सप्त १९५१ के वाढ डेढ़ वर्षसे अधिक स्थिति नहीं, और उतने कालमें उसके ग्राहक जीवनकाल किस तरह भोगा जाय, उसका विचार किया जायगा।

४७८

बम्बई, माघ सुदी ८ रवि १९५१

तुमने पत्रमें जो कुछ लिखा है, उसपर बारबार विचार करनेसे, जागृति रखनेसे, जिनमें पच-पिपयादिका अशुचि-स्वरूपका वर्णन किया हो, ऐसे शास्त्रों एवं सत्पुरुषोंके चरित्रोंको विचार करनेसे तथा प्रत्येक कार्यमें लक्ष्य रखकर प्रवृत्त होनेसे जो कुछ भी उदास भावना होनी उचित है सो होगी।

४७९

बम्बई, फाल्गुन सुदी १२ शुक्र १९५१

जिस प्रकारसे वधनोंसे छूटा जा सके, उसी प्रकारकी प्रवृत्ति करना यह हितकारी कार्य है। बाह्य परिचयको विचारकर निवृत्त करना यह छूटनेका एक मार्ग है। जीव इस बातको जितनी विचार करेगा उतना ही ज्ञानी-पुरुषके मार्गको समझनेका समय समीप आता जायगा।

४८०

बम्बई, फाल्गुन सुदी १४ रवि १९५१

अशरण इस सत्सारे निश्चित बुद्धिसे व्यग्रहार करना जिसको योग्य न लगता हो और उस व्यग्रहारके सन्त्रको निवृत्त करने एव कम करनेमें विशेष काल व्यतीत हो जाया करता हो, तो उस कामको अल्पकालमें करनेके लिये जीवको क्या करना चाहिये? समस्त सत्सार मृत्यु आदि भयोंके कारण अशरण है, यह शरणका हेतु हो ऐसी कल्पना करना केवल मृग तृष्णाके जलके समान है। विचार कर करके श्रीतीर्थकर जैसे महापुरुषोंने भी उससे निवृत्त होना—छूट जाना—यही उपाय देखा है। उस सत्सारेके मुख्य कारण प्रेम-बधन तथा द्वेष-बधन सत् ज्ञानियोंने स्वीकार किये हैं। उनकी व्यग्रताके कारण जीवको निजका विचार करनेका अवकाश ही प्राप्त नहीं होता है, और यदि होता भी है तो उस योगसे उन बधनोंके कारण आत्मतीर्थ प्रवृत्ति नहीं कर सकती, और वह समस्त प्रमादका हेतु है। और वसे प्रमादसे लेशमात्र-समयकाल-भी निर्भय अथवा अजागृत रहना, यह इस जीवकी अतिशय निर्बलता है, अप्रियेकितता है, आति है और उसके दूर करनेमें अति कठिन मोह है। समस्त सत्सार दो प्रकारोंसे बह रहा है—प्रेमसे और द्वेषसे। प्रेमसे विरक्त हुए बिना द्वेषसे

छूटा नहीं जाता, और प्रेमसे विरक्त पुरुषसे सर्त सगसे विरक्त हुए बिना व्यवहारमें रहकर अप्रेम (उदास) दशा रखनी एक भयकर व्रत है । यदि केवल प्रेमका त्याग करके व्यवहारमें प्रवृत्ति की जाय तो कितने ही जीवोंकी दयाका, उपकारका एव स्वार्थका भग करने जैसा होता है, और वसा विचार कर यदि दया उपकारादिके कारण कोई प्रेमदशा रगनेसे विरक्ताको चित्तमें छेश भी हुए बिना न रहना चाहिये, तो उसका विशेष विचार किम प्रकारसे किया जाय ?

४८१

वम्बई, फाल्गुन सुदी १५, १९५१

श्रीवीतरागको परम भक्तिसे नमस्कार

श्राजिन जैसे पुरुषने गृहवासमें जो प्रतिग्रह नहीं किया, यह प्रतिग्रह न होनेके लिये, आना अथवा पत्र लिखना नहीं हो सका, उसके लिये अत्यन्त दीनभासे क्षमा माँगता हूँ । सपूर्ण वीतरागता न होनेसे इस प्रकार रतन करते हुए अन्तरमें विशेष हुआ है और यह विशेष भी शान्त करना चाहिये, इम प्रकार ज्ञानीने मार्ग देया है । आत्माका जो अतर्क्यापार (अतर परिणामकी धारा) है वही बर और मोक्ष (कर्मसे आमाका न होना तथा उससे आत्माका छूट जाना) की व्यवस्थाका हेतु है, मात्र शरीर चेष्टा न-मोक्षकी व्यवस्थाका हेतु नहीं है ।

विशेष रोगादिके सगसे ज्ञानी-पुरुषके शरीरमें भी निर्मलता, मदता, म्लानता, कप, स्वेद, मूर्च्छा, बाह्य-प्रिभम आदि दिखाई देते हैं, तथापि जितनी ज्ञानद्वारा, बोधद्वारा, वेराग्यद्वारा, आत्माकी निर्मलता हुई है, उतनी निर्मलता होनेपर उस रोगको अतर्परिणामसे ज्ञानी सवेदन करता है, और सवेदन करते हुए कदाचित् बाह्यस्थिति उन्नत दिखाई देती हो, फिर भी अतर्परिणामके अनुसार ही कर्मग्र अथवा निवृत्ति होती है ।

४८२

वम्बई, फाल्गुन वदी ५ शनि १९५१

सुझ भाई श्रीमोहनलाखके प्रति, श्री डरवन ।
एक पत्र मिला है । ज्यों ज्यों उपाधिका त्याग होता जाता है त्यों त्यों समाधि-सुख प्रगट होता जाता है । ज्यों ज्यों उपाधिका ग्रहण होता जाता है त्यों त्यों समाधि-सुख कम होता जाता है । विचार करनेपर यह बात प्रत्यक्ष अनुभवसे सिद्ध हो जाती है ।

यदि इस ससारके पदार्थोंका कुछ भी विचार किया जाय तो उनके प्रति वरग्न उत्पन्न हुए बिना न रहे, क्योंकि अविचारके कारण ही उनमें मोहबुद्धि हो गयी है ।

आत्मा है, आत्मा नित्य है, आत्मा कर्मका कर्ता है, आत्मा कर्मका भोक्ता है, इसमें यह निश्चय हो सकती है, और निवृत्त हो सकनेके साधन है—इन उह कारणोंकी जिम्मे विचारपूर्वक सिद्धि ली है, उसको विवेकज्ञान अथवा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हुई समझ लेनी चाहिये, ऐसा श्रीनिम्न निरूपण किया है, ओर उस निरूपणका मुमुक्षु जीवकी विशेषरूपसे अभ्यास करना चाहिये

पूर्वके किसी विशेष अभ्यास-बलसे ही इन उह कारणोंका विचार उत्पन्न होता है मके आश्रयसे उस विचारके उत्पन्न होनेका योग बनता है ।

अनित्य पदार्थके प्रति मोहबुद्धि होनेके कारण आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व, एव अद्यात्माधिसमाधिसुख मानमें नहीं आता है। उससे मोहबुद्धिमें जीवको अनादिकालसे ऐसी एकाग्रता चली आ रही है कि उसका विभेद करते करते जीवको हार हारकर पीछे लौटना पड़ता है, और उस मोह-व्रथाको नाश करनेका समयके आनेके पहिले ही उस विभेदको छोड़ बैठनेका योग पूर्वकालमें अनेकवार बना है। क्योंकि जिसका अनादिकालसे अभ्यास पड़ गया है उसे, अत्यन्त पुरुषार्थके विना, अल्पकालमें ही छोड़ा नहीं जा सकता।

इसलिये पुन पुन सत्सग, सत्शास्त्र, और अपनेमें सरल विचार दशा करके उस त्रिपयमें विशेष श्रम करना योग्य है, जिसके परिणाममें नित्य, शाश्वत और सुखस्वरूप आत्मज्ञान होकर निज स्वरूपका परिभाषा होता है। इसमें प्रथममें ही उत्पन्न होनेवाला सशय, धैर्य एव विचारसे शांत हो जाता है। अधैर्यसे अद्या टट्टी कल्पना करनेसे जीवको केवल अपने हितको ही त्याग करनेका असर आता है, और अनित्य पदार्थका राग रहनेसे उसके कारणसे पुन पुन ससारके भ्रमणका योग रहा करता है।

कुछ भी आत्मविचार करनेकी इच्छा तुमको रहा करती है—यह जानकर बहुत सन्तोष हुआ है। उस संतोषमें मेरा कुछ भी स्वार्थ नहीं है। मात्र तुम समाधिके मार्गपर आना चाहते हो, इस कारण ससार-क्लेशसे निवृत्त होनेका तुमको प्रसंग प्राप्त होगा, इस प्रकारकी सभ्यता देखकर स्वाभाविक सन्तोष होता है—यही प्रार्थना है। ता० १६-३-९५ आ० म्व० प्रणाम।

४८३

मम्बई, फाल्गुन वदी ५ शनि १९५१

अधिकसे अधिक एक समयमें १०८ जीव मुक्त होते हैं, इस लोक-स्थितिको जिनागममें स्वीकार किया है, और प्रत्येक समयमें एक सौ आठ एक सौ आठ जीव मुक्त होते ही रहते हैं, ऐसा मानें तो इस क्रमसे तीनों कालमें जितने जीव मोक्ष प्राप्त करें, उतने जीवोंकी जो अनत सत्या हो, उस सत्यासे भी ससारी जीवोंकी सत्या, जिनागममें अनतगुनी प्ररूपित की गई है। अर्थात् तीनों कालमें जितने जीव मुक्त होते हैं, उनकी अपेक्षा ससारमें अनतगुने जीव रहते ह, क्योंकि उनका परिमाण इतना अधिक है। और इस कारण मोक्ष-मार्गका प्रगाह सदा प्रगाहित रहते हुए भी ससार-मार्गका उच्छेद हो जाना कभी सम्भव नहीं है, और उससे बध-मोक्षकी व्यवस्थामें भी विरोध नहीं आता। इस त्रिपयमें अधिक चर्चा समागम होनेपर करोगे तो कोई बाधा नहीं।

जीवकी बध-मोक्षकी व्यवस्थाके त्रिपयमें संक्षेपमें पत्र लिखा है। सबकी अपेक्षा हालमें विचार करने योग्य बात तो यह है कि उपाधि तो करते रहे और दशा सर्पत्र असग रहे, ऐसा होना अत्यंत कठिन है। तथा उपाधि करते हुए आत्म परिणाम चञ्चल न हो, ऐसा होना असम्भव जैसा है। उरुद्ध ज्ञानीको ठोड़कर हम सबको तो यह बात अधिक लक्षमें रखने योग्य है कि आत्मामें जितनी असम्पूर्ण समाधि रहती है, अथवा जो रह सकती है, उसका उच्छेद ही करना चाहिये।

४८४

म्यूर्ड, फाल्गुन वदी ७ रवि १९५१

सर्व विभाजसे उदासीन आर अत्यंत शुद्ध निज पर्यायको सहजम्पसे आत्माके सेवन करनेको श्रीजिनने तीव्र ज्ञानदशा कही ह। इस दशाके आये विना कोई भी जीव जन्मसे मुक्त नहीं होता, यह जो सिद्धांत श्रीजिनने प्रतिपादन किया ह, वह अग्यड सत्य हे।

कोई विरला ही जीव इस गहन दशाका विचार कर सकने योग्य होता है, क्योंकि अनादिसे अन्यत अज्ञान दशासे इस जीवने जो प्रवृत्ति की ह, उस प्रवृत्तिके एकदम असत्य और असार समझमें आनेसे उमकी निवृत्ति करनेकी बात सूझे, यह होना बहुत कठिन ह। इसलिए जिनभगवान्ने ज्ञानी-पुरुषका आश्रय करनेरूप भक्तिमार्गका निरूपण किया ह, जिस मार्गके आगमन करनेमें सुलभतासे ज्ञानदशा उत्पन्न होती ह।

ज्ञानी-पुरुषके चरणमें मनके स्थापित किये विना भक्तिमार्ग सिद्ध नहीं होता। उससे फिर किरसे जिनागममें ज्ञानीकी आज्ञाके आराधन करनेका जगह जगह कथन किया है।

ज्ञानी-पुरुषके चरणमें मनका स्थापित होना पहिले तो कठिन पड़ता है, परन्तु वचनकी अपूर्णतामें उस वचनका विचार करनेसे तथा ज्ञानीके प्रति अपूर्ण दृष्टिसे देखनेसे, मनका स्थापित होना सुलभ होता ह।

ज्ञानी-पुरुषके आश्रयमें विरोध करनेवाले पंचविषय आदि दोष हैं। उन दोषोंके आनेके साधनासे जस वने जैसे दूर ही रहना चाहिये, और प्राप्त साधनमें भी उदासीनता रखनी चाहिये, अथवा उन उन साधनोंमेंसे अहबुद्धि हटाकर उहाँ रोगरूप समझकर ही प्रवृत्ति करना योग्य है। अनादि दोषका इस प्रकारके प्रसंगमें विशेष उदय होता ह, क्योंकि आत्मा उस दोषको नष्ट करनेके लिये उसे अपने ममुख लाती है, उसका स्वरूपतर कर उसे आकर्षित करती है, और जागृतिमें शिथिल करके अपनेमें एकाग्र मुक्ति करा देती है। वह एकाग्र बुद्धि इस प्रकारकी होती है कि 'मुझे इस प्रवृत्तिसे उस प्रकारका विशेष प्राधा नहीं होती, मैं अनुक्रमसे उसे छोड़ दूँगा आर पहिलेकी अपेक्षा जागृत रहूँगा'। इत्यादि भ्रातदशाको वह दोष उत्पन्न करता है। इस कारण जीव उस दोषका सन्ध नहीं छोडता, अथवा वह दोष बढ़ता ही जाता है, इस बातका जीवको लक्ष नहीं आ सकता।

इस विरोधी साधनका दो प्रकारसे त्याग हो सकता है—एक तो उस साधनके प्रसंगकी निवृत्ति करना, और दूसरा विचारपूर्वक उसकी तुच्छता समझना।

विचारपूर्वक तुच्छता समझनेके लिये प्रथम इस पंचविषय आदिके साधनकी निवृत्ति करना अधिक योग्य है, क्योंकि उससे विचारका अवकाश प्राप्त होता ह।

उस पंचविषय आदि साधनकी सर्वथा निवृत्ति करनेके लिये यदि जीवका बल न चलता हो तो क्रम क्रमसे थोड़ा थोड़ा करके उसका त्याग करना योग्य है—परिग्रह तथा भोगोपभोगके पदार्थ अप परिचय करना योग्य है। ऐसा करनेसे अनुक्रमसे वह दोष मद पडे, आश्रय-भक्ति हट तो ज्ञानीके वचन आत्मानमें परिणम कर तीव्र ज्ञानदशा प्रगट होकर जीव मुक्त हो सकता है।

जीव यदि कभी कभी इस बातका विचार करे तो उससे अनादि अन्यायका बन्ध

हो जाय, परन्तु दिन प्रतिदिन हरेक प्रसंगमें, और हरेक प्रवृत्तिसे यदि वह फिर फिरसे विचार करे तो अनादि अभ्यासका बल घटकर अपूर्ण अभ्यासकी सिद्धि होनेसे सुलभ आश्रय-भक्तिमार्ग सिद्ध हो सकता है ।

४८५ वम्बई, फाल्गुन वदी १२ शुक्र १९५१

जन्म, जरा, मरण आदि दु खोंसे समस्त ससार अशरण है । जिसने सर्व प्रकारसे ससारकी आस्था छोड़ दी है, वही निर्भय हुआ है, और उसीने आत्म-स्वभावकी प्राप्ति की है । यह दशा विचारके त्रिना जीनको प्राप्त नहीं हो सकती, और सगके मोहसे पराधीन ऐसे इस जीनको यह विचार प्राप्त होना कठिन है ।

४८६

वम्बई, फाल्गुन १९५१

ॐ

जहाँतक बने तृष्णाको कम ही करना चाहिए । जन्म, जरा, मरण किसके होते हैं ? जो तृष्णा रखता है, उसे ही जन्म, जरा और मरण होते हैं । इसलिये जैसे बने तैसे तृष्णाको कम ही करते जाना चाहिये ।

४८७

जन्मतक यथार्थ सम्पूर्ण निजस्वरूप प्रकाशित हो, तबतक निजस्वरूपके निदिध्यासनमें स्थिर रहनेके लिये ज्ञानी-पुरुषके वचन आधारभूत हैं—ऐसा परमपुरुष तीर्ण करने जो कहा है, वह सत्य है । बारहने गुणस्थानमें रहनेवाली आत्माको निदिध्यासनरूप ध्यानमें श्रुतज्ञान अर्थात् मुक्त्यभूत ज्ञानीके वचनोंका आशय यहाँ आधारभूत है—यह प्रमाण जिनमार्गमें बारबार कहा है । बोधबीजकी प्राप्ति होनेपर, निर्वाणमार्गकी यथार्थ प्रतीति होनेपर भी उस मार्गमें यथास्थित स्थिति होनेके लिये ज्ञानी-पुरुषका आश्रय मुग्य साधन है, और वह ठेठ पूर्ण दशा होनेतक रहता है, नहीं तो जीनको पतित हो जानेका भय है—ऐसा माना गया है । तो फिर स्वयं अपने आपसे अनादिसे भ्रात जीनको सद्गुरुके सयोगके बिना निजस्वरूपका भान होना अशक्य हो, इसमें मशय कैसे हो सकता है ? जिसे निजस्वरूपका दृढ़ निश्चय रहता है, जब ऐसे पुरुषको भी प्रत्यक्ष जगत्का व्यनहार बारबार मुखा देनेके प्रसंगको प्राप्त करा देता है, तो फिर उससे न्यून दशामें भूल खा जानेमें तो आश्चर्य ही क्या है ? अपने विचारके बलपूर्वक जिसमें सत्सग-सत्शास्त्रका आधार न हो ऐसे समागममें यह जगत्का व्यनहार विशेष जोर मारता है, और उस समय बारबार श्रीसद्गुरुका माहात्म्य और आश्रयका स्वरूप तथा सार्थकता अत्यंत अपरोक्ष सत्य दिखाई देते हैं ।

४८८

बम्बई, चैत्र सुदी ६ सोम १९५१

आज एक पत्र मिला है। यहाँ कुशलता है। पत्र लिखते लिखते अथवा कुछ कहते कहते बारम्बार चित्तकी अप्रवृत्ति होती है—और 'कल्पित बातका इतना अधिक माहात्म्य ही क्या है ? कहना क्या ? जानना क्या ? सुनना क्या ? प्रवृत्ति कैसी ?' इत्यादि प्रश्नसे चित्तकी उसमें अप्रवृत्ति होती है, और परमार्थके सन्नधमें कहते हुए, लिखते हुए उससे दूसरे प्रकारके प्रक्षेपकी उत्पत्ति होती है। जिस प्रक्षेपमें मुख्य इस तीन प्रवृत्तिके निरोधके विना उसमें—परमार्थ कथनमें—भी हालमें अप्रवृत्ति ही श्रेयस्कर लगती है। इस वास्तव पहिले एक समिस्तर पत्र लिखा है, इसलिये यहाँ विशेष लिखने जैसा कुछ नहीं है। यहाँ मात्र चित्तमें विशेष स्थिति होनेसे ही यह लिखा है।

मोर्ताके व्यापार बगेरहकी प्रवृत्तिका अधिक न करना हो सके तो ठीक है, ऐसा जो लिखा है वह यथायोग्य है, और चित्तकी इच्छा भी नित्य ऐसी ही रहा करती है। लोभके हेतुसे वह प्रवृत्ति होती है या और किसी हेतुसे ? ऐसा विचार करनेपर लोभका निदान माद्धम नहीं होता। विषय आदिकी इच्छासे यह प्रवृत्ति होती है, ऐसा भी माद्धम नहीं होता। फिर भी प्रवृत्ति तो होती है, इसमें सन्देह नहीं।

जगत् कुछ लेनेके लिये प्रवृत्ति करता है, यह प्रवृत्ति देनेके लिये ही होती होगी, ऐसा माद्धम होता है। यहाँ जो यह माद्धम होता है, सो यह यथार्थ होगा या नहीं ? उसके लिये विचारवान् पुरुष जो कहें सो प्रमाण है।

४८९

बम्बई, चैत्र सुदी १३, १९५१

हालमें यदि किन्हीं वेदान्तसन्धी प्रयोगका बॉचन अथवा श्रवण करना रहता हो तो उस अभिप्रायका विशेष विचार होनेके लिये थोड़े समयके लिये श्रीआचार्याग, सूयगडाग तथा उत्तरायनका बॉचना-विचारना हो सके तो करना।

वेदान्तके सिद्धातमें तथा जिनागमके सिद्धातमें भिन्नता है, तो भी जिनागमको विशेष विचारका स्थल मानकर वेदातका पृथक्करण करनेके लिये उन आगमोंका बॉचना विचारना योग्य है।

४९०

बम्बई, चैत्र वदी ८ बुध १९५१

चेतनकी चेतन पर्याय होती है, और जड़की जड़ पर्याय होती है—यही पदार्थकी स्थिति है। प्रत्येक समय जो जो परिणाम होते हैं, वे सब पर्याय है। विचार करनेसे यह बात यथार्थ माद्धम होगी।

लिखना कम हो सकता है, इसलिये बहुतसे विचारोंका कहना बन नहीं सकता। तथा बहुतसे विचारोंके उपशम करनेरूप प्रकृतिका उदय होनेसे किसीको स्पष्टरूपसे कहना भी नहा हो सकता। हालमें यहाँ इतनी अधिक उपाधि नहीं रहती, तो भी प्रवृत्तिरूप सग होनेसे तथा क्षेत्रके सतापरूप होनेसे थोड़े दिनोंके लिये यहाँसे निवृत्त होनेका विचार होता है। अब इस विषयमें जो हो सो ठीक है।

पूर्ण ज्ञानी श्रीऋषभदेव आदि पुरुषोंको भी प्रारब्धोदय भोगनेपर ही क्षय हुआ है, तो फिर हम जैसोंको वह प्रारब्धोदय भोगना ही पड़े, इसमें कुछ भी सशय नहीं है। खेद केवल इतना ही होता है कि हमें इस प्रकारके प्रारब्धोदयमें श्रीऋषभदेव आदि जैसी अनिपमता रहे, इतना बल नहीं है, और इस कारण प्रारब्धोदयके होनेपर बारबार उससे अपरिपक्व कालमें ही छूटनेकी कामना हो आती है कि यदि इस निपम प्रारब्धोदयमें किसी भी उपयोगका यथातथ्यभाज न रहा तो फिर आत्म-स्थिरता होते हुए भी अगसर ढूँढ़ना पड़ेगा, और पश्चात्तापपूर्वक देह छूटेगी—ऐसी चिंता बहुत बार हो जाती है।

इस प्रारब्धोदयक दूर होनेपर निवृत्तिकर्मके वेदन करनेरूप प्रारब्धका उदय होनेका ही विचार रहा करता है, परन्तु यह तुरत ही अर्थात् एकमे डेढ़ वर्षके भीतर हो जाय, ऐसा तो दिखाई नहीं देता, और पल पल भी वीतनी कठिन पड़ती है। एकसे डेढ़ वर्ष बाद प्रवृत्तिकर्मके वेदन करनेका समर्थ क्षय हो जायगा—ऐसा भी नहीं माडूम होता। कुछ कुछ उदय विशेष मद पड़ेगा, ऐसा लगता है।

आत्माकी कुछ अस्थिरता रहती है। गतनर्पका मोतियोंका व्यापार लगभग निवृत्तने आया है। इस नर्पका मोतियोंका व्यापार गतनर्पकी अपेक्षा लगभग दुगुना हो गया है। गतनर्पकी तरह उसका कोई परिणाम आना कठिन है। थोड़े दिनोंकी अपेक्षा हालमें ठीक है, और इस वर्ष भी उसका गतवर्ष जैसा नहीं, तो भी कुछ परिणाम ठीक आयेगा यह समझ है। परन्तु उसके विचारमें बहुत समय व्यतीत होने जैसा होता है, और उसके लिये शोक होता है कि इस एक परिग्रहकी कामनाकी जो बलवान प्रवृत्ति जैसी होती है, उसे जात करना योग्य है, और उसे कुछ कुछ करना पड़े, ऐसे कारण रहते हैं। अब जैसे जैसे करके वह प्रारब्धोदय तुरत ही क्षय हो जाय तो अच्छा है, ऐसा बहुत बार मनमें आया करता है।

यहाँ जो आडत तथा मोतियोंका व्यापार है, उसमेंसे मेरा छूटना हां सके अथवा उसका बहुत समागम कम होना समझ हो, उसका कोई रास्ता ध्यानमें आये तो लिखना। चाहे तो इस निपयमें समागममें विशेषतासे कह सको तो कहना। यह बात लक्षमें रखना।

लगभग तीन वर्षसे ऐसा रहा करता है कि परमार्थसत्रधी अथवा व्यवहारसत्रधी कुछ भी लिखते हुए अरुचि हो जाती है, आर लिखते लिखते कल्पित जैसा लगनेसे बारम्बार अपूर्ण ओड़ देनेका ही मन होता है। जिस समय चित्त परमार्थमें एकाग्रत हो, उस समय यदि परमार्थसत्रधी लिखना अथवा कहना हो सके तो वह यथार्थ कहा जाय परन्तु चित्त यदि अस्थिरवत् हो और परमार्थसत्रधी लिखा अथवा कहा जाय तो वह केवल उदीरणा जैसा ही होता है। तथा उसमें अतर्कितिका यथातथ्य उपयोग न होनेसे, वह आत्म-बुद्धिसे लिखित अथवा कथित न होनेसे, कल्पितरूप ही कहा जाता है। जिससे तथा उस प्रकारके दूसरे कारणोंसे परमार्थके सत्रधमें लिखना अथवा कहना बहुत ही कम हो गया है। इस स्थलपर सहज प्रश्न होगा कि चित्तके अस्थिरवत् हो जानेका क्या हेतु है? जो चित्त परमार्थमें विशेष एकाग्रत रहता था उस चित्तके परमार्थमें अस्थिरवत् हो जानेका कुछ तो कारण होना ही चाहिये। यदि परमार्थ सशयका हेतु माडूम हुआ हो तो वैसा होना समझ है, अथवा किमी तथात्रिज आमार्थके मद होनेरूप तोत्र प्रारब्धोदयके त्रसे ऐसा हो सकता है। इन दो

तुओंमें परमार्थका विचार करते हुए, सिंगते हुए, अथवा कहते हुए चित्तका अस्थिरत्व रहना भय है ।

उसमें पहिले कहे हुए हेतुका होना समझ नहीं । केवल जो दूसरा हेतु कहा है, वही समझ है । आत्मगीर्णके मद हीनत्व तीन प्रारब्धोदय होनेमें उस हेतुको दूर करनेका पुन्यार्थ होनेपर भी आत्मभेष हुआ करता है, और उस प्रकारके उदयतक वह अस्थिरता दूर होनी कठिन है, और इससे परमार्थरत्नत्व चित्तके विना तत्सम्बन्धी लिपना या कहना, यह कल्पित जंसा ही लगता है । तो भी कुछ प्रसंगमें विशेष स्थिरता रहती है ।

व्याहारके समझमें कुछ भी सिंगते हुए उसके असारभूत और साक्षात् भ्रातिरूप लगनेसे उसके समझमें कुछ लिपना अथवा कहना तुच्छ ही है, यह आत्माको निकलताका हेतु है, और जो कुछ लिपना या कहना है, वह न कहा हो तो भी चल सकता है । इसलिये जतनक ऐसा रहे तत्रतक तो अवश्य पैसा करना योग्य है, ऐसा जानकर बहुतसी व्यावहारिक त्रुटि लिखने, करने अथवा कहनेकी आदत नहीं रहती है । केवल जिस व्यापार आदि व्यवहारमें तीन प्रारब्धोदयसे प्रवृत्ति है, वहाँ कुछ कुछ प्रवृत्ति होती है । यद्यपि उसकी भी यथार्थता मात्र नहीं होती ।

श्रीनिव वीतरागने द्रव्य-भार सयोगसे फिर फिर छूटनेका उपदेश दिया है, और उस सयोगका विधास परम ज्ञानीको भी नहीं करना चाहिये, यह निश्चल मार्ग जिहाने कहा है, उन श्रीनिव वीतरागके चरण कमलमें अत्यन्त नम परिणामसे नमस्कार है ।

दर्पण, जल, दीपक, सूर्य और चन्द्रके स्वरूपके ऊपर विचार करोगे तो यह विचार, केवलज्ञानसे पदार्थ प्रकाशित होते हैं, ऐसा जो कहा है, उमें समझनेमें कुछ कुछ उपयोगी होगा ।

४९५

केवलज्ञानसे पदार्थ किस तरह दिखाई देते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर समागममें समझनेसे स्पष्ट समझमें आ सकता है । तो भी संक्षेपमें नीचे लिखा है —

जैसे जहाँ जहाँ दीपक होता है, वहाँ वहाँ वह प्रकाशरूपसे होता है, उसी तरह जहाँ जहाँ ज्ञान होता है वहाँ वहाँ वह प्रकाशरूपसे ही होता है । जैसे दीपकका सहज स्वभाव ही पदार्थको प्रकाश करनेका होता है, वैसे ही ज्ञानका सहज स्वभाव भी पदार्थको प्रकाश करनेका है । दीपक द्रव्यका प्रकाशक है, और ज्ञान द्रव्य-भार दोनोंका प्रकाशक है । जैसे दीपकका प्रकाश होनेसे उसके प्रकाशकी सीमामें जो कोई पदार्थ होता है, वह पदार्थ कुदरती ही दिखाई देता है, उसी तरह ज्ञानकी मोजूदगीसे पदार्थ स्वाभाविकरूपसे दिखाई देते हैं । जिसमें सम्पूर्ण पदार्थ याथातथ्य और स्वाभाविकरूपसे दिखाई देते हैं, उसे केवलज्ञान कहा है । यद्यपि परमार्थसे ऐसा कहा है कि केवलज्ञान भी अनुभवमें तो केवल आत्मानुभवका ही कर्ता है, वह व्यवहारनयसे ही लोकालोक प्रकाशक है । जैसे दर्पण, दीपक और चन्द्र पदार्थके प्रकाशक हैं, उसी तरह ज्ञान भी पदार्थका प्रकाशक है ।

४९६

मन्वई, चैत्र वदी १२ रवि १९५१

श्रीजिन वीतरागने द्रव्य-भाव संयोगसे फिर फिर छूटनेका उपदेश किया है, और उस संयोगका विश्वास परम ज्ञानीको भी नहीं करना चाहिये, यह अखंड मार्ग जिसने कहा है, ऐसे श्रीजिन वीतरागके चरण-रुमलके प्रति अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो।

आत्म-स्वरूपके निश्चय होनेमें जीवकी अनादि कालसे भूल होती आती है। समस्त श्रुतज्ञान-स्वरूप द्वादशागमें सत्रसे प्रथम उपदेश करने योग्य आचारागमूत्र है। उसके प्रथम श्रुतस्कंधमें प्रथम अध्ययनके प्रथम उद्देशके प्रथम वाक्यमें जो श्रीजिनने उपदेश किया है, वह समस्त अगोंके समस्त श्रुतज्ञानका सारभूत है—मोक्षका वांछभूत है—मम्यक्त्रस्वरूप है। उस वाक्यमें उपयोग स्थिर होनेसे जीवको निश्चय होगा कि ज्ञानी-पुरुषके समागमकी उपासनाके बिना जीव जो कुछ मन्वईसे निश्चय कर ले, वह छूटनेका मार्ग नहीं है।

सभी जीवोंका स्वभाब परमात्मस्वरूप है, इमें मशय नहीं, तो फिर श्री अपनेको परमात्मस्वरूप मानें तो यह बात असत्य नहीं। परंतु जयतक वह स्वरूप याथातथ्य प्रगट न हो तयतक मुमुक्षु-जिज्ञासु-रहना ही अधिक उत्तम है, और उस रास्तेसे यथार्थ परमात्मस्वरूप प्रगट होता है, जिस मार्गको छोड़कर प्रवृत्ति करनेसे उस पदका भान नहीं होता, तथा श्रीजिन वीतराग सर्वज्ञ पुरुषोंकी आसातना करनेरूप प्रवृत्ति होती है। दूसरा कुछ मत-भेद नहीं है।

मृत्युका आगमन अश्य है।

४९७

तुम्हें वेदातत्रिपयक ग्रन्थके बॉचनेका अथवा उस प्रसगकी वातचीतके श्रण करनेका समागम हता हो तो जिसमे उस बॉचनसे तथा श्रणसे जीवमें पैराग्य और उपशमकी वृद्धि हो ऐसा करना योग्य है। उसमें प्रतिपादन किये हुए सिद्धातका यदि निश्चय होता हो तो करनेमें हानि नहीं, फिर भी ज्ञानी-पुरुषके समागमकी उपासनासे सिद्धातका निश्चय किये बिना आत्म विरोध ही होना सम्य है।

४९८

मन्वई, चैत्र वदी १४ बुध १९५१

ॐ

चारित्र—(श्रीजिनके अभिप्रायके अनुसार चारित्र क्या है? यह विचारकर समग्रस्थिति होना)—
दशासत्रगी अनुपेक्षा करनेसे जीवमें स्वस्थता उत्पन्न होती है। विचारद्वारा उत्पन्न हुई चारित्र-परिणाम-स्वभावरूप स्वस्वताके बिना ज्ञान निष्फल है, यह जो जिनभगवान्का अभिमत है वह अव्यानाथ सत्य है।

तत्सत्रगी अनुपेक्षा बहुतवार रहनेपर भी चंचल परिणतिके हेतु उपाधि-योगके तीव्र उदयरूप होनेसे चित्तमें प्राय करके खेदसे जेसा रहता है, और उस खेदसे शिथिलता उत्पन्न होकर कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। बाकी कुछ कहनेके विषयमें तो चित्तमें बहुत वार रहता है। यही दिनती है।

४९९

वम्बई, चैत्र १९५१

विषय आदि इच्छित पदार्थ भोगकर उनसे निवृत्त होनेकी इच्छा रखना और उस क्रमसे प्रवृत्ति करनेसे आगे चलकर उस विषय मूर्च्छाका उत्पन्न होना समझ न हो, यह होना कठिन है, क्योंकि ज्ञान दशाके विना विषयकी निर्मूलता होना समझ नहीं।

विषयोंका केवल उदय भोगनेसे ही नाश होना सम्भव है, परन्तु यदि ज्ञान-दशा न हो तो विषय-सेवन करनेमें उत्सुक परिणाम हुए विना न रहे, और उससे पराजित होनेके बदले उल्टी विषयकी वृद्धि ही होना सम्भव है।

जिन्हें ज्ञान-दशा है, वेसे पुरुष विषयाकाक्षासे अथवा विषयका अनुभव करके उससे विरक्त होनेकी इच्छामें उसमें प्रवृत्ति नहीं करते, और यदि वे इस तरह प्रवृत्ति करनेके लिये उद्यत हों तो ज्ञानपर भी आग्रह आ जाना सम्भव है। मात्र प्रारब्धसमयी उदय हो, अर्थात् छूटा न जा सके, उसीसे ज्ञानी-पुरुषकी भोग-प्रवृत्ति है। यह भी पूर्व और पश्चातमें पश्चात्तापयुक्त और मदतम परिणामयुक्त होती है।

सामान्य मुमुक्षु जीवको वैराग्यके उद्वेगके लिये विषयका आराधन करनेसे तो प्रायः करके उनमें पड़ जाना ही सम्भव है, क्योंकि ज्ञानी पुरुष भी उस प्रसंगको बहुत मुश्किलसे जीत सका है, तो फिर जिसकी केवल विचार-दशा है ऐसे पुरुषकी शक्ति नहीं है कि वह उस विषयको इस प्रकारसे जीत सके।

५००

जिस जीवको मोहनीय कर्मरूपी कपायका त्याग करना ही, और 'जय वह उसका एकदम त्याग करनेका विचार करेगा तब कर सकेगा' इस प्रकारके विश्वासेके ऊपर रहकर, जो उसका क्रम क्रमसे त्याग करनेका विचार नहीं करता, तो वह एकदम त्याग करनेका प्रसंग आनेपर मोहनीय कर्मके उलके सामने नहीं टिक सकता। कारण कि कर्मरूप शत्रुको धीरे धीरे निर्मूल किन्तु विना उसे निकाल बाहर करना एकदम असम्भव होता है। आत्माकी निर्मलताके कारण उसके ऊपर मोहका प्राबल्य रहता है। उसका जोर कम करनेके लिये यदि आत्मा प्रयत्न करे तो एक बारगी ही उसके ऊपर जय प्राप्त कर लेनेकी धारणामें वह ठगा जाती है। जनतक मोह-वृत्ति लड़नेके लिये सामने नहीं आती तभीतक मोहके वश होकर आत्मा अपनी बलवत्ता समझती है, परन्तु उस प्रकारकी कसोटिका अगसर उपस्थित होनेपर आत्माको अपनी कायरता समझमें आ जाती है। इसलिये जैसे बने तेसे पाँचों इन्द्रियोंको यज्ञमें लाना चाहिये। उसमें भी मुख्यतया उपस्थ इन्द्रियको वशमें लाना चाहिये। इसी प्रकार अनुक्रमसे दूसरी इन्द्रियों— (अपूर्ण)

५०१

स १९५१ वैशाख सुदी ५ सोमवारके दिन—सायंकालसे प्रत्याग्यान

स १९५१ वैशाख सुदी १४ भोमवारके दिन

५०२

बम्बई, वंशाख सुदी ११ रवि १९५१

(१)

धर्मको नमस्कार.

वीतरागको नमस्कार.

श्रीसत्पुरुषोंको नमस्कार

(२)

सो' धम्मो जत्थ दया, दसद्वदोसा न जस्स सो देवो,
सो हु गुरु जो नाणी, आरभपरिगगा विरओ ।

५०३

(१) सर्व श्रेयसे ओर सर्व दुःखसे मुक्त होनेका उपाय एक आत्म-ज्ञान है । विचारके बिना आत्म-ज्ञान नहीं होता, और असत्सग तथा असत्प्रसगसे जीवका विचार-बल प्रवृत्ति नहीं करता, इसमें किंचिन्मात्र भी सशय नहीं ।

आरभ-परिग्रहकी अल्पता करनेसे असत्प्रसगका बल घटता है । सत्सगके आश्रयसे असत्सगका बल घटता है । असत्सगका बल घटनेसे आत्म-विचार होनेका अनकाश प्राप्त होता है । आत्म-विचार होनेसे आत्म-ज्ञान होता है । ओर आत्म-ज्ञानसे निज स्वभावरूप, सर्व क्लेश और सर्व दुःखरहित मोक्ष प्राप्त होती है—यह बात सर्वथा सत्य है ।

जो जीव मोह-निद्रामें सो रहे है वे अमुनि है, मुनि तो निरन्तर आत्म-विचारपूर्णक जागृत ही रहते हैं । प्रमादाको सर्वथा भय है, अप्रमादाको किसी तरहका भी भय नहीं, ऐसा श्रीजिनने कहा है ।

समस्त पदार्थोंके स्वरूप जाननेका एक मात्र हेतु आत्मज्ञान प्राप्त करना है । यदि आत्म-ज्ञान न हो तो समस्त पदार्थोंके ज्ञानकी निष्फलता ही है ।

जितना आत्म-ज्ञान हो उतनी ही आत्म-समाधि प्रगट हो ।

किसी भी तथारूप सयोगको पारर जीवको यदि एक क्षणभर भी अतर्भेद-जागृति हो जाय तो उसे मोक्ष विशेष दूर नहीं है ।

अन्य परिणाममें जितनी तादात्म्यवृत्ति है, उतनी ही मोक्ष दूर है ।

यदि कोई आत्मयोग बन जाय तो इस मनुष्यताका किसी तरह भी मूल्य नहीं हो सकता । प्राय मनुष्य देहके बिना आत्मयोग नहीं बनता—ऐसा जानकर अत्यन्त निश्चय करके इसी देहमें आत्मयोग उत्पन्न करना योग्य है ।

विचारकी निर्मलतासे यदि यह जीव अन्य परिचयसे पाँडे हट जाय तो उसे सहजमें—अभी—आत्मयोग प्रगट हो जाय ।

१ जहाँ दया है वहाँ धर्म है, जिसके अठारह दोष नहीं वह देव है, तथा जो जानी ओर आरभ-परिग्रहसे रहित है वह गुरु है ।

अस्तसगके समागमका विशेष धिारा है, और यह जीव उससे अनादिकाउसे हीनसत्त्व ही जानेके कारण उससे अवकाश प्राप्त करनेके लिये, अथवा उसकी निवृत्ति करनेके लिए जैसे बने वैसे यदि सत्त्वगका आश्रय करे तो वह किसी तरह पुरुषार्थ-योग्य होकर विचार दशाको प्राप्त कर सकता है ।

जिस प्रकारसे इस सत्त्वारकी अनित्यता असारता अत्यतरूपसे भासित हो, उस प्रकारसे आत्म-विचार उत्पन्न होता है ।

इस समय इस उपाधि-कार्यसे छूटनेके लिये विशेष अति विशेष पीड़ा रहा करती है, और यदि इससे छूटे बिना जो कुछ भी काल व्यतीत होता है, तो वह इस जीवकी शिथिलता ही है, ऐसा लगता है, अथवा ऐसा निश्चय रहा करता है ।

जनक आदि जो उपाधिमें रहते हुए भी आत्मस्वभावासे रहते थे, उनकी ऐसे आलम्बनके प्रति कभी भी बुद्धि न होती थी । 'श्रीजिन जैसे जनन्यागी भी जिसे छोड़कर चल दिये, ऐसे भयक हेतुभय उपाधि योगकी निवृत्तिको करते करते यदि यह पामर जीव काल व्यतीत करेगा तो अश्रेय होगा,' यह भय जीवके उपयोगमें रहता है, क्योंकि ऐसा ही कर्तव्य है ।

जो राग द्वेष आदि परिणाम अज्ञानके बिना सभविता नहीं होते, उन राग-द्वेष आदि परिणामोंके होनेपर, जीव-मुक्तिको सर्वाथा मानकर, जीव जीव-मुक्त दशाकी आसातना करता है—इस प्रकार प्रवृत्ति करता है, उन राग-द्वेष परिणामोंका सर्वाथा क्षय करना ही कर्तव्य है ।

जहाँ अत्यत ज्ञान हो, वहाँ अत्यत त्याग होता है । अत्यत त्यागक प्रगट हुए बिना अत्यत ज्ञान नहा होता, ऐसा श्रीतीर्थकरने स्वीकार किया है ।

आत्म-परिणामपूर्वक जितना अय पदार्थका तादात्म्य—अध्यास—निवृत्त किया जाय, उसे श्रीजिनने त्याग कहा है ।

उस तादात्म्य—अध्यास—निवृत्तिरूप त्याग होनेके लिये इस यादव प्रसगका त्याग भी उपकारक है—कार्यकारी है । यादव प्रसगके त्यागके लिये अनर्त्याग नहीं कहा—ऐसा होनेपर भी इस जीवकी अतर्त्यागके लिये यादव प्रसगकी निवृत्तिको कुछ भी उपकारक मानना योग्य है ।

हम नित्य छूटनेका ही विचार करते हैं, और जैसे मने जिससे वह कार्य तुरत ही निवृत्त जाय वैसे जाप जपा करते हैं । यद्यपि ऐसा लगता है कि वह विचार और जाप अभी तथारूप नहीं है—शिथिल है, इसलिये अत्यत विचार और उग्रतासे उस जापके आराधन करनका अल्पकालमें सयोग लुटाना योग्य है—ऐसा रहा करता है ।

प्रसगपूर्वक कुछ परस्परके सबंध जैसे वचन इस पत्रमें लिखे हे । उनके विचारमें स्फुरित होनेसे, उन्हे रत्न-विचार-बलकी वृद्धिके लिये और तुम्हारे बॉचने विचारनेके लिये लिखा है ।

(२) जीव, प्रदेश, पर्याय, सरयात, असह्यात, अनत आदिके विषयमें तथा रसकी व्यापक ताके विषयमें ऋमपूर्वक समझना योग्य होगा ।

आत्मस्वरूप उसी तरह नहीं है—उसमें कोई बड़ा भेद देखनेमें आता है, और उस उम प्रकारसे सार्य आदि दर्शनमें भी भेद देखा जाता है ।

मात्र एक श्रीजिनेने जो आत्मस्वरूप कहा है वह विशेषातिशेष अविरोधी देखनेमें आता है—उस प्रकारसे वेदन करनेमें आता है । जिनभगवान्का कहा हुआ आत्मस्वरूप सम्पूर्णतया अविरोधा होना उचित है, ऐसा मालूम होता है । परन्तु वह सम्पूर्णतया अविरोधी ही है, ऐसा जो नहीं कहा जाता, उसका हेतु केवल इतना ही है कि अभी सम्पूर्णतया आत्मावस्था प्रगट नहीं हुई । इस कारण जो अस्थायी अप्रगट है, उस अस्थायी वर्तमानमें अनुमान करते हैं, जिससे उस अनुमानको उसपर अत्यन्त भार न देने योग्य मानकर, वह विशेषातिशेष अविरोधी है, ऐसा कहा है—वह सम्पूर्ण अविरोधी होने योग्य है, ऐसा लगता है ।

सम्पूर्ण आत्मस्वरूप किसी भी तो पुरुषमें प्रगट होना चाहिये—इस प्रकार आत्मामें निश्चय प्रतीति-भाव आता है । और वह कैसे पुरुषमें प्रगट होना चाहिये, यह विचार करनेसे वह जिनभगवान् जैसे पुरुषको प्रगट होना चाहिये, यह स्पष्ट मालूम होता है । इस सृष्टिमण्डले यदि किसीमें भी सम्पूर्ण आत्मस्वरूप प्रगट होने योग्य हो तो वह सर्वप्रथम श्रीवर्धमान स्वामीमें प्रगट होने योग्य लगता है, अथवा उस दशाके पुरुषोंमें सबसे प्रथम सम्पूर्ण आत्मस्वरूप (अपूर्ण)

ॐ

५१०

वम्बई, वैशाख वदी १० रवि १९५१

‘अल्पकालमें उपाधिरहित होनेकी इच्छा करनेवालेको आत्म परिणतिको किस विचारमें लाना योग्य है, जिससे वह उपाधिरहित हो सके ?’ यह प्रश्न हमने लिखा था । इसके उत्तरमें तुमने लिखा कि जत्रतक रागका बंधन है तत्रतक उपाधिरहित नहीं हुआ जाता, और जिससे वह बंधन आत्म-परिणतितसे कम पड़ जाय, वैसी परिणति रहे तो अल्पकालमें ही उपाधिरहित हुआ जा सकता है—इस तरह जो उत्तर लिखा है, वह यथार्थ है ।

यहाँ प्रश्नमें इतनी विशेषता है कि ‘यदि बलपूर्वक उपाधि योग प्राप्त होता हो, उसके प्रति राग-द्वेष आदि परिणति कम हो, उपाधि करनेके लिये चित्तमें बारम्बार खेद रहता हो, और उस उपाधिके त्याग करनेमें परिणाम रहा करता हो, वैसा होनेपर भी उदय-बलसे यदि उपाधि प्रसंग रहता हो तो उसको किस उपायसे निवृत्ति की जा सकती है ?’ इस प्रश्नविषयक जो लक्ष पहुँचे सो लिखना ।

भार्यप्रकाश ग्रन्थ हमने पढ़ा है । उसमें सम्प्रदायके विवादका कुछ कुछ समाधान हो सके, ऐसी रचना की है, परन्तु तार्किकसे यह वास्तविक ज्ञानवानकी रचना नहीं, ऐसा मुझे लगता है ।

श्रीङ्गरने ‘अखे पुरुख एरु वरख है’ यह जो सनेया लिखाया है, वह वाँचा है । श्रीङ्गरको इस सनेयाका विशेष अनुभव है, परन्तु इस सनेयामें भी प्रायः करके उपाधि जैसा उपदेश देखनेमें आता है, आर उसमें अमुक ही निर्णय किया जा सकता है, और कभी जो निर्णय किया जाय तो वह पूर्णपर अविरोधी ही रहता है—ऐसा प्रायः करके लक्षमें नहीं आता । जीवके पुरुषार्थ-वर्मको इस प्रकारकी

राणी अनेक तरहसे बलवान मनाती है, इतना उम राणीका उपकार नहुतसे जीवोंके प्रति होना समभव है।

तुम्हारे आजके पत्रमें अतमें श्रीद्गारने जो सागी लिखाई है—‘व्यवहारनी जाळ पादडे पांढडे परजळी’—यह जिसमें प्रथम पद है, यह यथार्थ है। यह मागी उपाधिसे उदासीन चित्तको धीरजका कारण हो सकती है।

५११

बम्बई, वैशाख मदी १४ गुरु १९५१

शरण (आश्रय) और निधय कर्तव्य है। अभेयसे खेद नहीं करना चाहिये। चित्तमें देह आदि भयका विषय भी करना योग्य नहीं। अस्मिर परिणामका उपशम करना योग्य है।

५१२

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी २ रति १९५१

अपारकी तरह ससार-समूहसे तारनेवाले ऐसे सद्धर्मका निष्कारण करणासे जिसने

उपदेश किया है, उस ज्ञानी-पुरुषके उपकारको नमस्कार हो ! नमस्कार हो !

मुझे प्राय करके निवृत्ति मिठ सकती है, परन्तु यह क्षेत्र स्वभासे विशेष प्रवृत्तियुक्त है, इस कारण निवृत्ति क्षेत्रमें जैसे ससमागममें आत्म परिणामका उत्कर्ष होता है, वसा प्राय करके विशेष प्रवृत्तिराजे क्षेत्रमें होना कठिन पड़ता है। कभी विचारवानको तो प्रवृत्ति क्षेत्रमें ससमागम विशेष लाभदायक हो जाता है। तानी-पुररपकी, भीड़में निर्मल दशा दिखाई देती है। इत्यादि निमित्तसे भी यह विशेष लाभदायक होता है। पर-परिणतिके कार्य करनेका प्रसंग रहे और स्व परिणतिके स्थिति रक्खे रहना यह, आनदघनजीने जो चौदहवें जिनभगवान्की सेवा कही है, उससे भी विशेष कठिन है।

ज्ञानी-पुररपके जिस समयसे नवमासे विद्युत् ब्रह्मचर्य दशा रहे, उस समयसे जो समय सुख प्रगट होता है, यह अगर्णनीय है। उपदेश-मार्ग भी उस सुखके प्रगट होनेपर ही प्ररूपण करने योग्य है।

५१३

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १० रति १९५१

ॐ

नहुत बड़े पुररपोंके ऋद्धि-योगके सव्रमें शास्त्रमें बात आती है, तथा लोक-कथनमें भी तैसी बातें सुनी जाती हैं, उस नियममें आपको सशय रहता है, उसका उत्तर सक्षेपमें इस तरह है—

अष्ट महासिद्धि आदि जो जो सिद्धियाँ कहीं हैं, ‘ॐ’ आदि जो मंत्र योग कहा है, वह सब सत्य है। परन्तु आत्मेन्द्रियके सामने यह सत्र लुच्छ है। जहाँ आत्म स्थिरता है, वहाँ सब प्रकारका सिद्धि योग रहता है। इस कालमें तैसे पुरुष दिखाई नहीं देते, उससे यह उसकी अप्रतीति होनेका कारण हो जाता है। परन्तु वर्तमानमें किसी किसी जीवमें ही उस तरहकी स्थिरता देखनेमें आती है। बहु-तसे जीवोंमें सत्त्वका यूनता रहती है, ओर उस कारणसे वसे चमत्कार आदि दिखाई नहीं देते, परन्तु

उनका अस्तित्व ही नहीं, यह बात नहीं है। तुम्हें इस बातकी शका रहती है, यह आश्चर्य मात्र होता है। जिसे आत्मप्रतीति उत्पन्न हो जाय, उसे सहज ही इस बातकी नि शकता होती है। क्योंकि आत्मा जो समर्थता है, उस समर्थताके सामने सिद्धि-लुब्धिकी कोई भी विशेषता नहीं।

ऐसे प्रश्नोंको आप कभी कभी लिखते हो, इसका क्या कारण है, सो लिखना। इस प्रकारके प्रश्नोंका विचारवानको होना कैसे सम्भव हो सकता है ?

५१४

मनमें जो राग द्वेष आदिका परिणाम हुआ करता है, उसे समय आदि पर्याय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि समय अत्यन्त सूक्ष्म है, ओर मनके परिणामोंकी ऐसी सूक्ष्मता नहीं है। पदार्थका अन्यतसे अत्यन्त सूक्ष्म परिणतिका जो प्रकार है वह समय है।

राग-द्वेष आदि विचारोंका उद्भव होना, यह जीवके पूर्वोपाजित किये हुए कर्मके सत्रसे ही होता है। वर्तमान कालमें आत्माका पुरुषार्थ उसमें कुछ भी हानि वृद्धिमें कारणरूप है, फिर भी वह विचार विशेष गहन है।

श्रीजिनने जो स्वाध्याय-काल कहा है, वह यथार्थ है। उस उस प्रसंगपर प्राण आदिका कुछ साधि-भेद होता है। उस समय चित्तमें सामान्य प्रकारमें विक्षेपका निमित्त होता है, हिंसा आदि योगका प्रसंग होता है, अथवा वह प्रसंग कोमल परिणाममें वित्ररूप कारण होता है, इत्यादि अपेक्षाआसे स्वाध्यायका निरूपण किया है।

अमुक स्थिरता होनेतक विशेष लिखना नहीं बन सकता, तो भी जितना बना उतना प्रयास करके ये तीन पत्र लिखे हैं।

५१५

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १५ शुक्र १९५१

वह तथारूप गभीर वाक्य नहीं है, तो भी आशयके गभीर होनेसे एक लौकिक वचन हालमें आत्मामें बहुत बार याद हो आता है। वह वाक्य इस तरह है—**राई रूप, माई रूप, पण सात भरतारवाळी तो मोहुज न उघाडे।** यद्यपि इस वाक्यके गभीर न होनेसे लिखनेमें प्रवृत्ति न होती, परन्तु आशयके गभीर होनेसे ओर अपने विषयमें विशेष विचार करना दिखाई देनेके कारण तुम्हें पत्र लिखनेका स्मरण हुआ, इसलिये यह वाक्य लिखा है। इसके ऊपर यथाशक्ति विचार करना।

५१६

बम्बई, ज्येष्ठ वदी २ रवि १९५१

विचारवानको देह छूटनेके सत्रमें हर्ष विपाद करना योग्य नहीं। आत्मपरिणामका विभावपना ही हानि ओर वही मृत्यु मरण है। स्वभाव-सन्मुखता और उस प्रकारकी इच्छा वह हर्ष विपादको दूर करती है।

५१७

मम्बई, ज्येष्ठ वर्षी ५ बुध १२७१

सममें सम-भाजकी इच्छा रहती है ।

ए श्रीपालनो रासकरता, ज्ञान अमृत रस पुठ्यो रे । मुज० । (श्रीयोगविजयजी)

तीव्र वैराग्यमानको, जिम उदयका प्रसंग शिथिल करनेमें बहुत बार फलीभूत होता है, ऐसे उदयका प्रसंग देखकर चित्तमें अत्यंत उदासभाव आता है । यह मत्सर किस कारणसे परिचय करने योग्य है ? तथा उसकी निवृत्तिकी इच्छा करनेवाले विचारमानको प्रारम्भशमे उसका प्रसंग रहा करता हो तो यह प्रारम्भ किसी दूमरी प्रकार शीघ्रतासे वेदन किया जा सकता है अथवा नहीं ? उसका तुम तथा भीड़गर विचार करके लिखना ।

जिम तीर्थकरने जानका फत्र निरति कहा है, उस तीर्थकरको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो ।

इच्छा न करते हुए भी जीवको भोगना पड़ता है, यह पूर्वकर्मके सत्रधको यगार्ग सिद्ध करता है ।

५१८

मम्बई, ज्येष्ठ १९५१

ज्ञानीके मार्गके आशयको उपदेश करनेवाले वाक्य—

१. सहज स्वरूपसे जीवकी स्थिति होना, इसे श्रीमातराग मोक्ष कहते हैं ।

२ जीव सहज स्वरूपसे रहित नहीं, परन्तु उस सहज स्वरूपका जीवको केवल भान नहीं है, यह भान होना, यही सहज स्वरूपस स्थिति है ।

३ सगके योगसे यह जीव सहज भित्तिकी भूल गया है, सगकी निवृत्तिसे सहज स्वरूपका अपरोक्ष भान प्रगट होता है ।

४ इसीलिये सत्र तीर्थकर आदि ज्ञानियोंने असगताको ही सर्वोच्छ्रेष्ठ कहा है, जिसमें सत्र आत्म-भाजन सन्निविष्ट हो जाते हैं ।

५ समस्त जिनागममें कहे हुए वचन एकमात्र असगतामें ही समा जाते हैं, क्योंकि उस होनेके लिये वे समस्त वचन कहे हैं । एक परमाणुसे लेकर चोदह राजू लोककी ओर मेप उभे लेकर अलेक्षी अस्त्यातककी जो सत्र क्रियाओंका वर्णन किया गया है, उनका इसी असगत समझानेके लिये वर्णन किया है ।

६ सर्व भावसे असगता होना, यह सत्रसे कठिनसे कठिन साधन है, ओर उसके आश्रय बिना सिद्ध होना अत्यंत कठिन है—ऐसा विचारकर श्रीतीर्थकरने सत्सगको उसका आधार कहा है, जिस सत्सगके सत्रधसे जानकी सहज स्वरूपभूत असगता उत्पन्न होती है ।

७ यह सत्सग भी जीवकी बहुत बार प्राप्त होनेपर भी फलान नहीं हुआ, ऐसा श्रीगी रागने कहा है, क्योंकि उस सत्सगको पहिचानकर इस जीवने उसे परम हितकारी नहीं समझा—परम कहेसे उसकी उपासना नहीं की—ओर प्राप्तकी भी अप्राप्त फलजान होने योग्य मज्ञासे ठी

१ इस श्रीपालने रासकी लिखते हुए जानामृत रस बरसा है ।

दिया है, ऐसा कहा है। यह जो हमने कहा है, उमी रातके विचारमें, जिसमें हमारी आत्मों आत्म-गुण आनिर्भूत होकर सहज समाधिपर्यंत प्राप्त हुआ, ऐसे सत्सगको भी अत्यंत अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

८ अन्वय ही इस जात्रको प्रथम सत्र साधनोंको गोण मानकर, निर्माणके मुख्य हेतु ऐसे सत्सगकी ही सर्वाधिपर्यंत उपासना करना योग्य है, जिससे सत्र सात्रन सुख होते हैं—ऐसा हमारा आत्म साक्षात्कार है।

९ उस सत्सगके प्राप्त होनेपर यदि उस जीत्रको कल्याण प्राप्त न हो तो अन्वय इस जीत्रका ही दोष है, क्योंकि उस सत्सगके अपूर्ण, अल्प और अत्यंत दुर्लभ ऐसे सयोगमें भी उसने उस सत्सगके सयोगको बाधा करनेवाले ऐसे मिथ्या कारणोंका त्याग नहीं किया।

१०. मिथ्याग्रह, स्वच्छदता, प्रमाद और इन्द्रिय विषयोंसे यदि उपेक्षा न की हो, तो भी सत्सग फलान नहीं होता, अथवा सत्सगमें एकनिष्ठा, अपूर्ण भक्ति न की हो, तो भी सत्सग फलान नहीं होता। यदि एक इस प्रकारकी अपूर्ण भक्तिसे सत्सगकी उपासना की हो तो अल्पकालमें ही मिथ्याग्रह आदिका नाश हो, और अनुक्रममें जीत्र सत्र दोषोंसे मुक्त हो जाय।

११. सत्सगकी पहिचान होना जीत्रको दुर्लभ है। किसी महान् पुण्यके योगसे उसकी पहिचान होनेपर निश्चयमें यही सत्सग सत्पुरुष है, ऐसा जिसे साक्षात्मान उत्पन्न हुआ हो, उस जीत्रको तो अन्वय ही प्रवृत्तिका सकोच करना चाहिये, अपने दोषोंको प्रतिक्षण, हरेक कार्यमें, हरेक प्रसंगमें तीक्ष्ण उपयोगपूर्वक देखना चाहिये, और देखकर उनका क्षय करना चाहिये, तथा उस सत्सगके लिये यदि देह-त्याग करना पड़ता हो तो उसे भी स्वीकार करना चाहिये। परन्तु उससे किसी पदार्थमें विशेष भक्ति-स्नेह—होने देना योग्य नहीं। तथा प्रमादसे रसगारन आदि दोषोंसे उस सत्सगके प्राप्त होनेपर पुरुषार्थ-वर्म मद रहता है, और सत्सग फलान नहीं होता, यह जानकर पुरुषार्थ-वीर्यका गुप्त रखना योग्य नहीं।

१२ सत्सगकी अर्थात् सत्पुरुषकी पहिचान होनेपर भी यदि वह सयोग निरन्तर न रहता हो तो सत्सगसे प्राप्त उपदेशको प्रत्यक्ष सत्पुरुषके तुल्य समझकर उसका विचार तथा आराधन करना चाहिये, जिस आराधनसे जीत्रको अपूर्ण सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

१३ जीत्रको सत्रसे मुख्य और सत्रसे आन्वयिक यह निश्चय रखना चाहिये कि मुझे जो कुछ करना है वह जो आत्मके कल्याणरूप ही उसे ही करना है, और उसीके लिये इन तीन योगोंकी उदय-व्रलसे प्रवृत्ति होती हो तो होने देना, तो भी अन्तमें उस त्रियोगसे रहित स्थिति करनेके लिये उस प्रवृत्तिका सकोच करते करते जिससे उसका क्षय हो जाय, वही उपाय करना चाहिये। वह उपाय मिथ्या आग्रहका त्याग, स्वच्छदताका त्याग, प्रमाद और इन्द्रिय विषयका त्याग, यह मुख्य है। उसका सत्सगके सयोगमें अन्वय ही आराधन करते रहना चाहिये और सत्सगकी परोक्षतामें तो उसका अन्वय अन्वय ही आराधन करते रहना चाहिये। क्योंकि सत्सगके प्रसंगमें तो यदि जीत्रकी कुछ न्यूनता भी हो तो उसके निवारण होनेका साधन सत्सग मौजूद है, परन्तु सत्सगकी परोक्षतामें तो एक अपना आत्म-व्रल ही साधन है। यदि वह आत्म-व्रल सत्सगसे प्राप्त होना अनुसरण न करे, उसका आचरण न करे, आचरण करनेमें होनेवाले प्रमादको न छोड़े, तो कभी भी जीत्रका कल्याण न हो।

सक्षेपमें लिखे हुए ज्ञानोंके मार्गके आशयको उपदेश करनेवाले इन वाक्योंका मुमुक्षु जीवको अपनी आत्मामें निरन्तर ही परिणमन करना योग्य है, जिन्हें हमने आत्म-गुणको विशेष विचारनेके अर्थे शब्दरूपमें लिखा है ।

५१९

बम्बई, ज्येष्ठ सुदा १० रति १९५१

(१)

ज्ञानी-पुरुषको जो सुख रहता है, वह निज स्वभावमें स्थिरताका ही सुख रहता है । बाह्य अर्थमें उसे सुख-बुद्धि नहीं होती, इसलिये उस उस पदार्थसे ज्ञानीको सुख-दुःख आदिकी विशेषता अथवा न्यूनता नहीं कही जा सकती । यद्यपि सामान्यरूपसे शरीरको स्वस्थता आदिसे साता और पर आदिसे असाता ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंको ही होती है, परन्तु ज्ञानीको वह सत्र प्रसंग हर्ष-निपादका हेतु नहीं होता, अथवा यदि ज्ञानकी तरतमतामें न्यूनता हो तो उससे कुछ कुछ हर्ष-निपाद होता है, फिर भी सर्वथा अजागृतभावको पाने योग्य हर्ष-निपाद नहीं होता । उदय-प्रलसे कुछ कुछ सा परिणाम होता है, तो भी विचार-नागृतिके कारण उस उदयको क्षीण करनेके लिये ही ज्ञानी-रूपका परिणाम रहता है ।

जैसे वायुकी दिशा बदल जानेसे जहाज दूसरी तरफको चलने लगता है, परन्तु जहाज लानेवाला उस जहाजको अर्थात् मार्गकी ओर रखनेके ही प्रयत्नमें रहता है, उसी तरह ज्ञानी-पुरुष न वचन आदि योगको निजभावमें स्थिति होनेकी ओर ही लगाता है, फिर भी उदयरूप वायुके बरसे यत्किञ्चित् दिशाका फेर हो जाता है, तो भी परिणाम—प्रयत्न—तो अपने ही धर्ममें रहता है । ज्ञानी निर्धन ही हो अथवा धनवान ही हो, और अज्ञानी निर्धन ही हो अथवा धनवान ही हो, यह कोई नियम नहीं है । पूर्वमें निष्पन्न शुभ अशुभ कर्मके अनुसार ही दोनोंको उदय रहता है । ज्ञानी उदयमें सम रहता है, अज्ञानीको हर्ष निपाद होता है ।

जहाँ सम्पूर्ण ज्ञान है, वहाँ तो ब्रह्मिणी आदि परिग्रहका भा अप्रसंग है । उससे न्यून भूमिकाकी इन दशामे (चोथे पाँचवें गुणस्थानमें जहाँ उस योगका मिलना समन है, उस दशामे) रहनेवाले ज्ञानी—सम्यग्दृष्टिको ही—ब्रह्मिणी आदि परिग्रहकी प्राप्ति होती है ।

(२)

पर पदार्थसे जितने अशमें हर्ष-निपाद हो उतना ही ज्ञानका तारतम्य कमती होता है, ऐसा सिद्ध करने कहा है ।

५२०

बम्बई, आपाद सुदी १ रति १९५१

१ सत्यका ज्ञान होनेके पश्चात् मिथ्या प्रवृत्ति दूर न हो, ऐसा नहीं होता । क्या ज्ञानमें सत्यका ज्ञान हो उतने ही अशमें मिथ्याभाव प्रवृत्तिका दूर होना समन है, यह सिद्ध करने कहा है । कभी पूर्व प्रारब्धसे यदि मिथ्या उदय रहता हो, तो भी नि

न हो, यह ज्ञानका लक्षण है, और नित्य प्रति मिथ्या प्रवृत्ति क्षीण होती रहे, यही सत्य ज्ञानकी प्रतीतिका फल है। यदि मिथ्या प्रवृत्ति कुछ भी दूर न हो तो सत्यका ज्ञान भी सभ्य नहीं।

२. देखलोकमेंसे जो मनुष्यलोकमें आने, उसे अधिक लोभ होता है—इत्यादि जो लिखा है, यह सामान्यरूपसे लिखा है, एकातरूपसे नहीं।

५२१

वम्बई, आपाढ़ सुदी १ रवि १९५१

जैसे अमुक मनस्पतिकी अमुक ऋतुमें ही उत्पत्ति होती है, वेमे ही अमुक ऋतुमें ही उसकी विकृति भी होती है। सामान्य प्रकारसे आमके रस-स्वादकी आर्द्रा नक्षत्रमें विकृति होती है। परतु आर्द्रा नक्षत्रके बाद जो आम उत्पन्न होता है, उसकी विकृतिका समय भी आर्द्रा नक्षत्र ही हो, यह बात नहीं है। किन्तु सामान्यरूपसे चन्द्र पेशाख आदि मासमें उत्पन्न होनेवाले आमकी ही आर्द्रा नक्षत्रमें विकृति होना सभ्य है।

५२२

वम्बई, आपाढ़ सुदी १ रवि १९५१

दिन रात प्राय करके निचार-दशा ही रहा करती है। जिसका मक्षेपसे भी लिखना नहीं बन सकता। समागममें कुछ प्रसंग पाकर कड़ा जा सकेगा तो बेसा करनेकी इच्छा रहती है, क्योंकि उससे हमें भी हितकारक स्थिरता होगी।

कत्रीरपथी यहाँ आये हैं, उनका समागम करनेमें प्राय नहीं है। तथा यदि उनकी कोई प्रवृत्ति तुम्हें यथायोग्य न लगती हो तो उस बातपर अधिक लक्ष्य न देते हुए उनके निचारका कुछ अनुकरण करना योग्य लगे तो निचार करना। जो ब्राह्मणान हो, उसका समागम अनेक प्रकारसे आत्म भावकी उन्नति करता है।

लोकसवधी समागमसे विशेष उदास भाव रहता है। तथा एकात जैसे योगकविना कितनी ही प्रवृत्तियोंका निरोध करना नहीं बन सकता।

५२३

वम्बई, आपाढ़ सुदी ११ बुध १९५१

(१) जिस कपाय परिणाममें अनत सत्कारका वय हो, उस कपाय परिणामकी चिन्तनप्रचनमें अनतानुग्रही सज्ञा कही है। जिस कपायमें तमयतासे अप्रशस्त (मिथ्या) भावसे तीव्र उपयोगसे आत्माकी प्रवृत्ति होती है, यहाँ अनतानुग्रही स्थानक सभ्य है। मुरयत जो स्थानक यहाँ कहा है, उस स्थानकमें उस कपायकी विशेष सभ्यता है—जिस प्रकारसे सद्देन, सद्गुरु और सद्दर्मका द्रोह होता हो, उनकी अज्ञा हाती हो तथा उनमें प्रमुख भाव होता हो इत्यादि प्रवृत्तिमें, तथा असत् देन, असत् गुरु, और असत् धर्मका जिस प्रकारसे आग्रह होता हो, तत्सत्रवी कृतकृत्यता मान्य हो, इत्यादि प्रवृत्तिसे आचरण करते हुए अनतानुग्रही कपाय उत्पन्न होती है, अथवा ज्ञानीके वचनमें खी-पुत्र आदि भागोंमें जो मर्यादाके पश्चात्

इच्छा करते हुए अभिनाशी परिणाम कहा है, उस परिणामसे प्रवृत्ति करते हुए भी अनतानुबंधीका होना सम्य है। सशेषमें अनतानुबंधी कथायकी व्याख्या इस तरह मायस होती है।

(२) ' जो पुत्र आदि वस्तुएँ लोक-सत्तासे इच्छा करने योग्य मानी जाती हैं, उन वस्तुओंको दुःखदायक और असारभूत मानकर—प्राप्त होनेके बाद नाश हो जानेसे—ये इच्छा करने योग्य नहीं लगती थीं, वैसे पदार्थोंका हाटमें इच्छा उत्पन्न होती है, और उनसे अनित्य भाव जैसे बलवान हो वसा करनेकी अभिलाषा उद्भूत होती है '—इत्यादि जो उदाहरणसहित लिखा, उसे बाँचा है। जिस पुरुषकी गान-दशा स्थिर रहने योग्य है, ऐसे ज्ञानी पुरुषको भी यदि सत्सार-समागमका उदय हो तो जागृत-रूपसे ही प्रवृत्ति करना योग्य है, ऐसा वीतरागने जो कहा है, वह अन्यथा नहीं है, और हम सब जागृत भावसे प्रवृत्ति करनेमें कुछ शिथिलता रखें तो उस सत्सार-समागमसे बाधा होनेमें देर न लगे—यह उपदेश इन वचनोंद्वारा आत्मामें परिणमन करना योग्य है, इसमें सशय करना उचित नहीं। प्रसंगकी सर्याया निवृत्ति यदि अशक्य होती हो, तो प्रसंगको न्यून करना योग्य है, और न्यूनपूर्वक सर्याया निवृत्तिरूप परिणाम लाना ही उचित है, यह मुमुक्षु पुरुषका भूमिका धर्म है। सत्संग-सत्साधकके संयोगसे उस धर्मका विशेषरूपसे आराधन सम्य है।

५२४

मन्मई, आपाद सुदी १३ गुरु १९५१

श्रीमद् वीतरागाय नमः

- (१) केवलज्ञानका स्वरूप किस प्रकार घटता है ?
- (२) इस भरतक्षेत्रमें इस कालमें उसका होना सम्य हो सकता है या नहीं ?
- (३) केवलज्ञानमें किस प्रकारकी आम-स्थिति होती है ?
- (४) सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और केवलज्ञानके स्वरूपमें किस प्रकारसे भेद हो सकता है ?
- (५) सम्यग्दर्शनयुक्त पुरुषकी आत्मस्थिति कैसी होती है ?

उपर कहे हुए वचनोंपर यथाशक्ति विशेष विचार करना योग्य है। इसके समथमें पत्रद्वारा तुमसे जो लिगा जा सके, सो लिखना।

हालमें यहाँ उपाधिकी कुछ न्यूनता है।

५२५

मन्मई, आपाद वदी २ रवि १९५१

श्रीमद् वीतरागको नमस्कार

सत्समागम और सत्साधकके लाभको चाहनेवाले मुमुक्षुओंको आरभ परिग्रह और रसास्वा आदिका प्रतिबन्ध न्यून करना योग्य है, ऐसा श्रीत्रिन आदि महान् पुरुषाने कहा है। जनतक अपन दोष विचारकर उसे कम करनेके लिये प्रवृत्तिशील न हुआ जाय, तबतक सत्पुरुषको कहे हुए मार्गिक फल प्राप्त करना कठिन है। इस बातपर मुमुक्षु जीवको विशेष विचार करना चाहिये।

५२६

मन्मई, आपाद वदी ७ रवि १९५१

ॐ नमो वीतरागाय

१ इस भरतक्षेत्रमें इस कालमें केवलज्ञान सम्य है या नहीं ? इत्यादि जो प्रश्न लिखे थे, उनके उत्तरमें तुम्हारे तथा श्री लहरीभाईके विचार, प्राप्त हुए पत्रसे विशेषरूपसे मायस हुए हैं।

प्रश्नोंपर तुम्हें, लहेरामाई तथा श्रीङ्गारको विशेष विचार करना चाहिये । अन्य दर्शनमें जिस प्रकारसे कोयलज्ञान आदिका स्वरूप कहा है और जैनदर्शनमें उस विषयका जो स्वरूप कहा है, उन दोनोंमें बहुत कुछ मुख्य भेद देखनेमें आता है, उसका सत्रको विचार होकर समाधान हो जाय तो वह आत्माके कल्याणका अगभूत है, इसलिये इस विषयपर अधिक विचार किया जाय तो अच्छा है ।

२ 'अस्ति' इस पदसे लेकर सत्र भाग आत्मार्थके लिये ही विचार करने योग्य हैं । उसमें जो निज स्वरूपकी प्राप्तिका हेतु है, उसका ही मुख्यतया विचार करना योग्य है । और उस विचारके लिये अन्य पदार्थके विचारकी भी अपेक्षा रहती है, उसने लिये उसका भी विचार करना उचित है ।

परस्पर दर्शनोंमें बड़ा भेद देखनेमें आता है । उन सबकी तुलना करके अमुक दर्शन सच्चा है, यह निश्चय सत्र मुमुक्षुओंको होना कठिन है, क्योंकि उसकी तुलना करनेकी क्षयोपशमशक्ति किसी किसी जीवको ही होती है । फिर एक दर्शन सब अशोंमें सत्य है आर दूसरा दर्शन सत्र अशोंमें असत्य है, यह बात यदि विचारसे सिद्ध हो जाय तो दूसरे दर्शनोंके प्रवर्तकनी दग्धा आदि विचारने योग्य हैं । क्योंकि जिसका वैराग्य उपशम बलवान है, उसने सर्वाथा असत्यका ही निरूपण क्यों किया होगा ? इत्यादि विचार करना योग्य है । किन्तु सब जीवोंको यह विचार होना कठिन है, और वह विचार कार्यकारी भी है—करने योग्य है—परन्तु वह किसी माहात्म्यवानको ही हो सकता है । फिर वाकी जो मोक्षके इच्छुक जीव हैं, उन्हें उस सबधमें क्या करना चाहिये, यह भी विचार करना उचित है ।

सब प्रकारके सर्वांग समाधानके हुए बिना सब कर्मोंसे मुक्त होना असंभव है, यह विचार हमारे चित्तमें रहा करता है, और सत्र प्रकारके समाधान होनेके लिये यदि अनतकाल पुरुषार्थ करना पड़ता हो तो प्राय करके कोई भी जीव मुक्त न हो सके । इससे ऐसा माह्य होता है कि अल्पकालमें ही उस सत्र प्रकारके समाधानका उपाय हो सकता है । इससे मुमुक्षु जीवको कोई निराशाका कारण भी नहीं है ।

३ श्रावणसुदी ५-६ के बाद यहाँसे निवृत्त होना वने, ऐसा माह्य होता है । जहाँ क्षेत्र-स्पर्शना होगी वहीं स्थिति होगी ।

५२७

वेदात, जैन, सारय, योग, नैयायिक, बौद्ध

आत्मा—

नित्य

अनित्य + ,, + + + +

परिणामी + ,, + + + ,,

अपरिणामी

साक्षी

साक्षी—कर्ता

५२८

१. सात्त्विकदर्शन कहता है कि बुद्धि जड़ है। पातञ्जल और वेदान्तदर्शन भा ऐसा ही कहते हैं। जिनदर्शन कहता है कि बुद्धि चेतन है।

२. वेदान्तदर्शन कहता है कि आत्मा एक ही है। जिनदर्शन कहता है कि आत्मा अनंत है। जाति एक है। सात्त्विकदर्शन भी ऐसा ही कहता है। पातञ्जलदर्शन भी ऐसा ही कहता है।

३. वेदान्तदर्शन कहता है कि यह समस्त मित्र बन्धाके पुत्रके समान है, जिनदर्शन कहता है कि यह समस्त मित्र शास्त्रत है।

४. पातञ्जलदर्शन कहता है कि नित्य मुक्त ईश्वर एक ही होना चाहिये। सात्त्विकदर्शन इस बातका निषेध करता है। जिनदर्शन भी निषेध करता है।

५२९ वम्बई, आवाठ नदी ११ गुरु १९५१

जिस विचारवान पुरपकी दृष्टिमें ससारका स्वरूप नित्यप्रति क्लेशस्वरूप भासमान होता हो, सासारिक भोगोपभोगमें जिसे नीरसता जैसी प्रवृत्ति होती हो, उस विचारवानको दूसरी तरफ लोकोप्यन्तार आदि, व्यापार आदिका उदय रहता हो, तो वह उदय-प्रतिग्रह इन्द्रियके सुप्तके लिये नहीं, किन्तु आत्महितार्थ दूर करनेके लिये हो, तो उसे दूर कर सकनेका क्या उपाय करना चाहिये? इस सन्धमें कुछ कहना ही तो कहना।

५३०

वम्बई, आवाठ नदी १४ रवि १९५१

ॐ

जिस प्रकारसे सहज ही बन जाय, उसे करनेके लिये परिणति रहा करती है, अथवा अन्तमें यदि कोई उपाय न चले तो बलवान कारणको जिसमें गाम न हो वैसा प्रवृत्ति होता है। बहुत समयके व्यावहारिक प्रसंगकी अरुचिके कारण यदि थोड़े समय भी निवृत्तिसे किसी तथारूप क्षेत्रमें रहा जाय तो अच्छा, ऐसा चिन्तमें रहा करता था। तथा यहाँ अधिक समय रहनेके कारण, जो देहके जन्मके निमित्त कारण हैं, ऐसा माता पिता आदिके वचनके लिये, उनके चित्तकी प्रियताके अक्षोभके लिये, तथा कुछकुछ दूसरोंके चित्तकी अनुप्रेक्षाके लिये भी थोड़े दिनोंके वास्ते वगानीआ जानेका विचार उत्पन्न हुआ था। उन दोनों बातोंके लिये कभी संयोग मिले तो अच्छा, ऐसा विचार करनेसे कुछ यथायोग्य समाधान न होता था। उसके लिये विचारकी सहज उद्धृत विशेषतामें हालमें जो कुछ विचारकी अल्प स्थिरता हुई, उसे तुम्हें बताया था। सन् प्रकारके असंग लक्षके विचारको, यहाँसे अप्रसंग समझकर, दूर रखकर अल्पकालकी अल्प अममताका हालमें कुछ विचार रक्खा है, यह भी सहज स्वभावसे उदयानुसार ही हुआ है। श्रावण वदी ११ से भाद्रपद सुदी १० के लगभग तक किसी निवृत्ति क्षेत्रमें रहना ही तो वैसा, यथाशक्ति उदयको उपशम जैसा रखकर प्रवृत्ति करना चाहिये, यद्यपि विशेष निवृत्ति तो उदयका स्वरूप देखनेसे प्राप्त होनी कठिन जान पड़ती है।

किसी भी प्रसंगमें प्रवृत्ति करते हुए तथा लिखते हुए जो प्रायः निष्क्रिय परिणति रहती है, उस परिणतिके कारण हालमें विचारका बराबर कहना नहीं बनता । सहजात्मस्वरूपसे यथायोग्य

५३१

बम्बई, आपाढ़ वदी १५ सोम १९५१

ॐ नमो वीतरागाय

(१) सर्व प्रतिबन्धसे मुक्त हुए बिना सर्व दुःखसे मुक्त होना सम्भव नहीं ।

(२) जन्मसे जिसे मति श्रुत और अग्रि ये तीन ज्ञान थे, और आत्मोपयोगा वैराग्यदशा थी,

तथा अल्पकालमें भोग-कर्मको क्षीण करके सयमको ग्रहण करते हुए मन पर्यवज्ञान प्राप्त किया था, ऐसे श्रीमद् महाशिवस्वामी भी बारह वर्ष और साढ़े उठ महीनेतक मोन रहकर विचरते रहे । इस प्रकारका उनका आचरण, ' उस उपदेश-मार्गका प्रचार करनेमें किसी भी जीवको अव्यक्तस्वरूपसे विचार करके प्रवृत्ति करना योग्य है, ' ऐसी अखड शिक्षाका उपदेश करता है । तथा जिनभगवान् जैसेने जिस प्रतिबन्धकी निवृत्तिके लिये प्रयत्न किया, उस प्रतिबन्धमें अजागृत रहने योग्य कोई भी जीव नहीं होता, ऐसा बताया है, और अनन्त आत्मार्थका उस आचरणसे प्रकाश किया है—उस क्रमके प्रति विचारनेकी विशेष स्थिरता रहती है—उसे रखना योग्य है ।

जिस प्रकारका पूर्व प्रारब्ध भोगनेपर निवृत्त होने योग्य है, उस प्रकारके प्रारब्धका उदासीनतासे वेदन करना उचित है, जिससे उस प्रकारके प्रति प्रवृत्ति करते हुए जो कोई असुर प्राप्त होता है, उस उस असुरपर जागृत उपयोग न हो तो जीवको समाधिकी विरावना होते हुए देर न लगे । इसलिये सर्व सगुणभावकी मूलरूपसे परिणाम कर, जिससे भोगे विना छुटकारा न हो सके, जैसे प्रसंगके प्रति प्रवृत्ति होने देना योग्य है, तो भी उस प्रकारको करते हुए जिससे सर्वांशमें असंगता उत्पन्न हो, उस प्रकारका ही सेवन करना उचित है ।

कुछ समयसे ' सहज प्रवृत्ति ' और ' उदीरण प्रवृत्ति ' इम भेदसे प्रवृत्ति रहा करती है । मुख्यरूपसे सहज प्रवृत्ति रहती है । सहज-प्रवृत्ति उसे कहते हैं जो प्रारब्धोदयसे उत्पन्न हो परन्तु जिसमें कर्तव्य-परिणाम नहीं होता । दूसरी उदीरण-प्रवृत्ति वह है जो प्रवृत्ति पर पदार्थ आदिके सन्निवेश करनेकी पड़े । हालमें दूसरी प्रवृत्ति होनेमें आत्मा मद होता है । क्योंकि अपूर्ण समाधि-योगको उस कारणसे भी प्रतिबन्ध होता है, ऐसा सुना था और समझा था और हालमें जैसे स्पष्टरूपसे वेदन किया है । उन सन् कारणोंसे अग्रिक समागममें आने, पत्र आदिसे कुछ भी प्रश्नोत्तर आदिके लिखने, तथा दूसरे प्रकारसे परमार्थ आदिके लिखने-करनेकी भी मद हो जानेकी पर्यायका आत्मा सेवन करता है । इस पर्यायका सेवन किये बिना अपूर्ण समाधिकी हानि होना सम्भव था । ऐसा होनेपर भी यथायोग्य मद प्रवृत्ति नहीं हुई है ।

५३२

बम्बई, आपाढ़ वदी १५, १९५१

अनतानुसंधीका जो दूसरा भेद लिखा है, तत्सन्धी विशेषार्थ निम्नरूपसे है ।

उदयसे अथवा उदासभावसयुक्त मद परिणत बुद्धिसे जन्मतक भोग आदिमें प्रवृत्ति रहे, उस

समयतक ज्ञानीकी आज्ञापर पैर रखकर प्रवृत्ति होना समझ नहीं। किन्तु जहाँ भोग आदिमें तौत्र तमयतासे प्रवृत्ति हो वहाँ ज्ञानीकी आज्ञाकी कोई अजुदाता समझ नहीं—निर्भयतासे भोग प्रवृत्ति ही समझित है। जो अविनाशी परिणाम कहा है, वसा परिणाम जहाँ रहे, वहाँ भी अनतानुग्रीही समझ है। तथा 'मैं समझता हूँ, मुझे बाधा नहीं है' जीव इसी तरहकी गेहोशीमें रहे, तथा 'भोगसे निवृत्ति समझ है' और फिर भी यह कुछ भी पुरुषार्थ करे तो उस निवृत्तिका होना समझ होनेपर भी, मिथ्या ज्ञानसे ज्ञान-दशा मानकर वह भोग आदिमें प्रवृत्ति करे तो वहाँ भी अनतानुग्रीही समझ है।

जागृत अवस्थामें जैसे जैसे उपयोगकी शुद्धता होती है जैसे जैसे स्वप्नदशाका परिक्षय होना समझ है।

५३३

व्याणीआ, श्रावण सुदी १०, १९५१

सोमवारको रात्रिमें लगभग ग्यारह बजेके बाद मेरे द्वारा जो कुछ उचन-योग प्रकाशित हुआ था, वह यदि स्मरणमें रहा हो, तो वह यथाशक्ती लिखा जा सके तो लिखना।

जो पर्याय है, वह उस पदार्थका विशेष स्वरूप है, इसलिये मन पर्यवज्ञानको भी पर्यायार्थिक ज्ञान मानकर उसे विशेष ज्ञानोपयोगमें गिना है। उसके सामान्य प्रहरणरूप विषयके भासित न होनेसे उसे दर्शनोपयोगमें नहीं गिना, ऐसा सोमवारको दोपहरके समय कहा था। तदनुसार जैनदर्शनका अभिप्राय भी आज देखा है।

यह बात अधिक स्पष्ट लिखनेसे समझमें आ सकने जैसी है, क्योंकि उसको बहुतसे दृष्टत आदिसे कहना योग्य है, किन्तु यहाँ तो वसा होना असमझ है।

मन पर्यवके सत्रयमें जो प्रसंग लिखा है, उस प्रसंगको चर्चा करनेके भागसे नहीं लिखा।

५३४

व्याणीआ, श्रावण सुदी १२ शुक्र १९५१

'यह जीव निमित्तवासी है,' यह एक सामान्य वचन है। वह सग-प्रसंगसे होती हुई जीवकी परिणतिके विषयमें देखनेसे प्रायः सिद्धातरूप माध्यम हो सकता है।

५३५

व्याणीआ, श्रावण सुदी १५ सोम १९५१

आत्मार्थके लिये विचार-मार्ग और भक्ति-मार्गकी आराधना करना योग्य है, किन्तु विचार-मार्गके योग्य जिसकी सामर्थ्य नहीं, उसे उस मार्गका उपदेश करना उचित नहीं, इत्यादि जो लिखा है वह योग्य है, तो भी उस विषयमें हालमें कुछ भी लिखना चित्तमें नहीं आ सकता।

श्री ने केवलदर्शनके सबबमें कहीं हुई जो शका छिली है, उसे पढ़ी है। दूसरे अनेक भेदोंके समझनेके पश्चात् उस प्रकारकी शका निवृत्त होती है, अथवा वह क्रम प्रायः करके समझने योग्य होता है। ऐसी शकाकी हालमें कम करके अथवा उपशात करके विशेष निकट गेहो आत्मार्थका विचार करना योग्य है।

५३६
ॐ

ववाणीआ, श्रावण वदी ६ रवि. १९५१

यहाँ पर्यूपण पूर्ण होनेतक रहना सभव है। केवलज्ञान आदिका क्या इस कालमें होना सभव है? इत्यादि प्रश्न पहिले लिखे थे, उन प्रश्नोंपर यथाशक्ति अनुप्रेक्षा तथा श्री आदिके साथ परस्पर प्रश्नोत्तर करना चाहिये।

‘गुणके समुदायसे भिन्न गुणीका स्वरूप होना सभव है अथवा नहीं?’ तुम लोगोसे हो सके तो इस प्रश्नके ऊपर निचार करना। श्री को तो अग्रय निचार करना योग्य है।

५३७

ववाणीआ, श्रावण वदी ११ शुक्र १९५१

यहाँसे प्रसंग पाकर लिखे हुए जो चार प्रश्नोका उत्तर लिखा सा बाँचा है। पहिलेके दो प्रश्नोंके उत्तर सक्षेपमें हैं, फिर भी यथायोग्य हैं। तीसरे प्रश्नका उत्तर सामान्यतः ठीक है, फिर भी उस प्रश्नका उत्तर विशेष सूक्ष्म निचारसे लिखने योग्य है। वह तीसरा प्रश्न इस प्रकार है —

‘गुणके समुदायसे भिन्न गुणीका स्वरूप होना सभव है अथवा नहीं?’ अर्थात् ‘क्या समस्त गुणोका समुदाय ही गुणी अर्थात् द्रव्य है? अथवा उस गुणके समुदायके आधारभूत ऐसे भी किसी अन्य द्रव्यका अस्तित्व मौजूद है?’ इसके उत्तरमें ऐसा लिखा है कि आत्मा गुणी है, उसके गुण ज्ञान दर्शन वगैरह भिन्न हैं—इस प्रकार गुणी और गुणकी निरक्षा की है। परन्तु वहाँ विशेष निरक्षा करनी योग्य है। यहाँ प्रश्न होता है कि फिर ज्ञान दर्शन आदि गुणसे भिन्न बाकीका आत्मन ही क्या रह जाता है? इसलिये इस प्रश्नका यथाशक्ति निचार करना योग्य है।

चौथा प्रश्न यह है कि इस कालमें केवलज्ञान होना सभव है या नहीं? इसका उत्तर इस तरह लिखा है कि प्रमाणसे देखनेसे तो यह सभव है। यह उत्तर भी सक्षिप्त है। इसपर बहुत निचार करना चाहिये। इस चौथे प्रश्नके विशेष निचार करनेके लिये उसमें इतना विशेष और सम्मिलित करना कि जिस प्रमाणसे जैन आगममें केवलज्ञान माना है अथवा कहा है, वह केवलज्ञानका स्वरूप याथातथ्य ही कहा है—क्या ऐसा माह्य होता है या किसी दूसरी तरह? और यदि वेसा ही केवलज्ञानका स्वरूप ही, ऐसा माह्य होता हो तो वह स्वरूप इस कालमें भी प्रगट होना सभव है अथवा नहीं? अथवा जो जैन आगम कहता है, उसके कहनेका क्या कोई जुदा ही कारण है? ओर क्या केवलज्ञानका स्वरूप किसी दूसरी प्रकारसे होना और समझा जाना सभव है? इस बातपर यथाशक्ति अनुप्रेक्षण करना उचित है। इसी तरह जो तीसरा प्रश्न है, वह भी अनेक प्रकारसे निचार करने योग्य है। विशेष अनुप्रेक्षा-पूर्वक इन दोनों प्रश्नोंका उत्तर लिखना बने तो लिखना। प्रथमके दो प्रश्नोंके उत्तर सक्षेपमें लिखे हैं, उन्हें विशेषतासे लिखना बन सके तो उन्हें भी लिखना।

तुमने पाँच प्रश्न लिखे हैं। उनमेंके तिन प्रश्नोंका उत्तर यहाँ सक्षेपसे लिखा है।

प्रथम प्रश्न — जातिस्मरण ज्ञानवाला मनुष्य पहिलेके भयको किस तरह जान लेता है?

उत्तर — जिस तरह छुटपनमें कोई गौं, वस्तु आदि देखीं हों, और बड़े होनेपर किसी प्रसंगपर जिस समय उन गौं आदिका आत्मामें स्मरण होता है, उस समय उन गौं आदिका आत्मामें

मान होता है, उसी तरह जातिस्मरण ज्ञानवालेको भी पूर्वभ्रमका मान होता है। कदाचित् यहाँ यह प्रश्न होगा कि 'पूर्वभ्रममें अनुभ्रम किये हुए देह आदिका जैसा ऊपर कहा है वैसा मान होना समझ है—इस बातको यदि याथातथ्य मानें तो भी पूर्वभ्रममें अनुभ्रम देह आदि अथवा कोई देवलोक आदि निवास-स्थान जो अनुभ्रम किये हों, उस अनुभ्रमकी स्मृति हुई है, और वह अनुभ्रम याथातथ्य हुआ है, यह किस आधारमें समझना चाहिये ?' इस प्रश्नका समाधान इस तरह है—अमुक अमुक चेष्टा, लिंग तथा परिणाम आदिसे अपने आपको उसका स्पष्ट मान होता है, किन्तु दूसरे किसी जीवको उसकी प्रतीति होनेके लिये तो कोई नियम नहीं है। क्वचित् अमुक देशमें अमुक गाँवमें अमुक घरमें पूर्वमें देह धारण किया हो, और उसके चिह्न दूसरे जीवको बतानेसे, उस देश आदिकी अथवा उसके निशान आदिकी कुछ भी प्रियमानता हो, तो दूसरे जीवको भी प्रतीतिकारण होना समझ है, अथवा जातिस्मरण ज्ञानवालेकी अपेक्षा जिसका ज्ञान विशेष है, उसका उसे जानना समझ है। तथा जिसे जातिस्मरण ज्ञान है, उसकी प्रकृति आदिकी जाननेवाला ऐसा कोई विचारवान पुरुष भी जान सकता है कि इस पुरुषको किसी ऐसे ज्ञानका होना समझ है, या जातिस्मरण होना समझ है, अथवा जिसे जातिस्मरण ज्ञान है, कोई जीव उस पुरुषके पूर्वभ्रममें सत्रममें आया हो—विशेषरूपसे आया हो, उसे उस सत्रमके बतानेसे यदि कुछ भी स्मृति हो तो भी दूसरे जीवको प्रतीति आना समझ है।

दूसरा प्रश्न—जीव प्रतिसमय मरता रहता है, यह किस तरह समझना चाहिये ?

उत्तर—जिस प्रकार आत्माको स्थूल देहका नियोग होता है—जिसे मरण कहा जाता है—उसी तरह स्थूल देहकी आयु आदि सूक्ष्म पर्यायका भी प्रतिसमय हानि-परिणाम होनेसे नियोग हो रहा है, उससे वह प्रतिसमय मरण कहा जाता है। यह मरण व्यवहारनयसे कहा जाता है। निश्चयनयसे तो आत्माके स्वाभाविक ज्ञान दर्शन आदि गुण-पर्यायकी, विभाव परिणामके कारण, हानि हुआ करती है, और वह हानि आत्माके नित्यता आदि स्वरूपको भी पकड़े रहती है—यह प्रतिसमय मरण कहा जाता है।

तीसरा प्रश्न—केवलज्ञानदर्शनमें भूत और भविष्यकालके पदार्थ वर्तमानकालमें वर्तमानरूपसे ही दिखाई देते हैं, अथवा किसी दूसरी तरह ?

उत्तर—जिस तरह वर्तमानमें वर्तमान पदार्थ दिखाई देते हैं, उसी तरह भूतकालके पदार्थ भूतकालमें जिस स्वरूपसे थे उसी स्वरूपसे वर्तमानकालमें दिखाई देते हैं, और वे पदार्थ भविष्यकालमें जिस स्वरूपसे होंगे उसी स्वरूपसे वर्तमानकालमें दिखाई देते हैं। भूतकालमें जो जो पर्याय पदार्थमें रहता है, वे कारणरूपसे वर्तमान पदार्थमें भाजूद हैं, और भविष्यकालमें जो जो पर्याय रहेंगे, उनकी योग्यता वर्तमान पदार्थमें भाजूद है। उस कारणका और योग्यताका ज्ञान वर्तमानकालमें भी केवलज्ञानीको यथार्थ स्वरूपसे हो सकता है। यद्यपि इस प्रश्नके विषयमें बहुतसे विचार बताना योग्य है।

५३८ वराणांजा, श्रावण वदी १२ शनि १९५१

गत शनिवारको लिखा हुआ पत्र मिला है। उस पत्रमें मुख्यतया तीन प्रश्न लिखे हैं। उनका उत्तर निम्नरूपसे है —

पहला प्रश्न — एक मनुष्य-प्राणी दिनके समय आत्माके गुणोंद्वारा अमुक मर्यादातक देव सकता है, और रात्रिके समय अधेरेमें कुछ भी नहीं देख सकता। फिर दूसरे दिन इसी तरह देखता है, और रात्रिमें कुछ भी नहीं देखता। इस कारण इस तरह एक दिन रातमें, अत्रिच्छिन्नरूपसे प्रवर्तमान आत्माके गुणके ऊपर, अध्यवसायके बदले त्रिना ही, क्या नहीं देखनेका आश्रय आ जाता होगा ? अथवा देखना यह आत्माका गुण ही नहीं, और सूरजसे ही सब कुछ दिखाई देता है, इसलिये देखना सूरजका गुण होनेके कारण उसकी अनुपस्थितिमें कुछ भी दिखाई नहीं देता ? और फिर इसी तरह सुननेके दृष्टातमें कानको यथास्थान न रखनेसे कुछ भी सुनाई नहीं देता, तो फिर आत्माका गुण कैसे मुला दिया जाता है ?

उत्तर — ज्ञानाश्रयणीय तथा दर्शनाश्रयणीय कर्मका अमुक क्षयोपशम होनेसे इन्द्रियलब्धि उत्पन्न होती है। वह इन्द्रियलब्धि सामान्यरूपसे पाँच प्रकारकी कही जा सकती है। स्पर्शन् इन्द्रियसे श्रावण इन्द्रियतक सामान्यरूपसे मनुष्यको पाँच इन्द्रियोंकी लब्धिका क्षयोपशम होता है, उस क्षयोपशमकी शक्तिनी जहाँतक अमुक व्यापकता हो वहाँतक मनुष्य जान देख सकता है। देखना यह चक्षु इन्द्रियका गुण है, परन्तु अधिकारसे अथवा वस्तुके अमुक दूरीपर होनेसे उसे पदार्थ देखनेमें नहीं आ सकता, क्योंकि चक्षु इन्द्रियकी क्षयोपशम-लब्धि उस हृदयतक जाकर रुक जाती है। अर्थात् सामान्यरूपसे क्षयोपशमकी इतनी ही शक्ति है। दिनमें भी यदि विशेष अधिकार हो, अथवा कोई वस्तु बहुत अधिकारमें रखी हुई हो, अथवा अमुक सीमासे दूर हो तो वह चक्षुसे दिखाई नहीं दे सकती। तथा दूसरी इन्द्रियोंकी भी लब्धि-सम्बन्धी क्षयोपशम शक्तितक ही उनके विषय ज्ञान-दर्शनकी प्रवृत्ति है। अमुक व्याघात होनेतक ही वे स्पर्श कर सकती हैं, सूँघ सकती हैं, स्वाद पहिचान सकती हैं, या सुन सकती हैं।

दूसरा प्रश्न — आत्माके असरय प्रदेशोंके समस्त शरीरमें व्यापक होनेपर भी, आँखके बीचके भागकी पुतलीसे ही देखा जा सकता है, इसी तरह समस्त शरीरमें असरयात प्रदेशोंके व्यापक होनेपर भी एक छोटेसे कानसे ही सुना जा सकता है, अमुक स्थानसे ही गंधकी परीक्षा होती है, अमुक जगहसे ही रसकी परीक्षा होती है। उदाहरणके लिये मिश्रीका स्वाद हाथ पाँव नहीं जानते, जीभ ही जानती है। आत्माके समस्त शरीरमें समानरूपसे व्यापक होनेपर भी अमुक भागसे ही ज्ञान होता है, इसका क्या कारण होगा ?

उत्तर — जीवको ज्ञान दर्शन यदि क्षायिक भागसे प्रगट हुए हों तो सर्व प्रदेशसे उसे तथा-प्रकारका निराश्रयणपना होनेसे एक समयमें सर्व प्रकारसे सर्व भागका ज्ञायकभावन होना संभव है, परन्तु जहाँ क्षयोपशम भागसे ज्ञान दर्शन रहते हैं वहाँ 'भिन्न भिन्न प्रकारसे अमुक मर्यादामें ज्ञायकभावन होता है। जिस जीवको अत्यंत अल्प ज्ञान-दर्शनकी क्षयोपशम शक्ति रहती है, उस जीवको अक्षरके अनन्तमें भाग जितना ज्ञायकभावन होता है। उससे विशेष क्षयोपशमसे स्पर्शन इन्द्रियकी लब्धि

कुछ कुछ विशेष व्यक्त (प्रगट) होती है, उससे विशेष क्षयोपशमसे स्पर्शन और रसना इन्द्रियकी उच्चि उत्पन्न होती है, इस प्रकार विशेषतासे उत्तरोत्तर स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दको ग्रहण करने योग्य पचेन्द्रियसबधी क्षयोपशम होता है। फिर भी क्षयोपशम दशामें गुणकी सम-विपमता होनेसे, सर्वांगसे वह पचेन्द्रियसबधी ज्ञान-दर्शन नहीं होता, क्योंकि शक्तिका वेसा तारतम्य (सत्त्व) नहीं हे कि वह पाँचों निपय सर्वांगसे ग्रहण करे। यद्यपि अवाधि आदि ज्ञानमें वेसा होता है, परन्तु यहाँ तो सामान्य क्षयोपशम और वह भी इन्द्रिय-सापेक्ष क्षयोपशमकी बात है। अमुक नियत प्रदेशमें ही उस इन्द्रियलब्धिका परिणाम होता है, उसका हेतु क्षयोपशम तथा प्राप्तभूत योनिका सबध है, जिससे नियत प्रदेशमें (अमुक मर्यादा—भागमें) जीवको अमुक अमुक निपयका ही ग्रहण होना सम्भव है।

तीसरा प्रश्न —जब शरीरके अमुक भागमें पीड़ा होती है तो जीव वहाँ सलज्ज हो जाता है, इससे जिस भागमें पीड़ा है, उस भागकी पीड़ा सहन करनेके कारण क्या समस्त प्रदेश वहाँ खिच आते होंगे ? जगत्में भी कहावत हे कि जहाँ पीड़ा हो जीव वहाँ सलज्ज रहता हे।

उत्तर —उस वेदनाके सहन करनेमें बहुतसे प्रसर्गोंपर विशेष उपयोग रुकता है, ओर दूसरे प्रदेशोंका उस ओर बहुतसे प्रसर्गोंपर स्वाभाविक आकर्षण भी होता है। किसी अनसरपर वेदनाका बाहुल्य हो तो समस्त प्रदेश मूर्च्छागत स्थितिको प्राप्त करते हैं और किसी अवसरपर वेदना शयना भयकी बहुलतासे सर्व प्रदेश अर्थात् आत्माके दशम द्वार आदिकी एक स्थानमें स्थिति होती है। यह होनेका हेतु भी यही हे कि अव्याबाध नामक जीव-स्वभायके तथाप्रकारसे परिणामी न होनेके कारण, वीर्यातरायके क्षयोपशमकी वेसी सम-विपमता होती हे।

इस प्रकारके प्रश्न बहुतसे मुमुक्षु जीवोंको विचारकी शुद्धिके लिये करने चाहिये, और त्रेस शश्रोंका समाधान प्रतानेकी चित्तमें क्वचित् सहज इच्छा भी रहती है, परन्तु लिखनेमें विशेष उपयोगका रुक सकना बहुत मुश्किलसे होता है।

५३९ रामाणीआ, श्रायण वदी १४ सोम १९५१

प्रथम पदमें ऐसा कहा हे कि 'हे मुमुक्षु ! एक आत्माको जानते हुए तू समस्त लोकाळोकको जानेगा, और सब कुछ जाननेका फल भी एक आत्म-प्राप्ति ही है। इसलिये आत्मासे भिन्न ऐसे दूसरे भागोंके जाननेकी बारबारकी इच्छासे तू निवृत्त हो और एक निजस्वरूपमें दृष्टि दे, जिस दृष्टिसे समस्त सृष्टि स्वरूपसे तुझे अपनेमें दृष्टिगोचर होगी। तत्त्वस्वरूप सत्शास्त्रमें कहे हुए मार्गका भी यह तत्त्व है, ऐसा तत्त्वज्ञानियोंने कहा है, किन्तु उपयोगपूर्वक उसे चित्तमें उतारना कठिन है। यह मार्ग जुदा है, ओर उसका स्वरूप भी जुदा है, मात्र 'कथन-ज्ञानी' जैसा कहते हैं वह वेसा नहीं, इसलिये जगह जगह जाकर क्या पूँछता है, क्योंकि उस अपूर्वभायका अर्थ जगह जगहसे प्राप्त नहीं हो सकता।'

दूसरे पदका सक्षिप्त अर्थ —'हे मुमुक्षु ! यम, नियम आदि जो साधन शास्त्रोंमें कहे हैं, वे प्रपरोक्त अर्थसे निष्कल ठहरेंगे, यह बात भी नहीं हे। क्योंकि वे भी किसी कारणके लिये ही कहे हैं। वह कारण इस प्रकार है —जिससे आत्मज्ञान रह सके ऐसी पात्रता प्राप्त होनेके लिये, और

उसमें स्थिति हो ऐसी योग्यता लानेके लिये इन कारणोंका उपदेश किया है। इस कारण तत्त्वज्ञानीने इस हेतुसे ये साधन कहे हैं, परन्तु जीवकी समझमें एक साथ फेर हो जानेसे वह उन साधनोंमें ही अटक रहा, अथवा उसने उन साधनोंको भी अभिनिवेश परिणामसे ग्रहण किया। जिस प्रकार बालकको उँगलीसे चन्द्र दिखाया जाता है, उसी तरह तत्त्वज्ञानियोंने इस तत्त्वका सार कहा है।

५४० ववाणीआ, श्रावण वदी १४ सोम १९५१

प्रश्न — 'बालपनेका अपेक्षा युवावस्थामें इन्द्रिय-विकार विशेष उत्पन्न होता है, इसका क्या कारण होना चाहिये ?' ऐसा जो लिखा है उसके लिये सक्षेपमें इस तरह विचारना योग्य है।

उत्तर — ज्यों ज्यों क्रमसे अवस्था बढ़ती जाती है त्यों त्यों इन्द्रिय-बल भी बढ़ता है, तथा उस बलको विकारके कारणभूत निमित्त मिलते हैं, और पूर्व भवमें वैसे विकारके सस्कार रहते आये हैं, इस कारण वह निमित्त आदि योगको पाकर विशेष परिणामयुक्त होता है। जिस तरह बीज तथारूप कारण पाकर वृक्षाकार परिणमता है, उसी तरह पूर्वके बीजभूत सस्कारोंका क्रमसे विशेषाकार परिणमन होता है।

५४१ ववाणीआ, भाद्र सुदी ९ गुरु १९५१

निमित्तपूर्वक जिसे हर्ष होता है, निमित्तपूर्वक जिसे शोक होता है, निमित्तपूर्वक जिसे इन्द्रिय-जन्य त्रिपयके प्रति आकर्षण होता है, निमित्तपूर्वक जिसे इन्द्रियके प्रतिकूल त्रिपयोंमें द्वेष होता है, निमित्तपूर्वक जिसे उत्कर्ष आता है, निमित्तपूर्वक ही जिसे कषाय उत्पन्न होती है, ऐसे जीवको यथा-शक्ति उन सब निमित्तवासी जीवोंका सग त्याग करना योग्य है, और नित्यप्रति सत्सग करना उचित है, सत्सगके न मिलनेसे उस प्रकारके निमित्तसे दूर रहना योग्य है। प्रतिक्षण प्रत्येक प्रसगपर और प्रत्येक निमित्तमें अपनी निज दशाके प्रति उपयोग रखना योग्य है।

आजतक सर्वभावपूर्वक क्षमा माँगता हूँ।

५४२

अनुभवप्रकाश प्रथमसे श्रीप्रन्हादजीके प्रति सद्गुरुदेवता कहा हुआ जो उपदेश-प्रसग लिखा, वह वास्तविक है। तथारूप निर्निकल्प और अखण्ड निजस्वरूपसे अभिन्न ज्ञानके सिनाय, सर्व दुःख दूर करनेका अन्य कोई उपाय ज्ञानी-पुरुषोंने नहीं जाना।

५४३ राणपुर (हडमतीआ) भाद्र वदी १३ भौम १९५१

अंतिम पत्रमें प्रश्न लिखे थे, वह पत्र कहीं गुम गया माझ्म होता है। सक्षेपमें निम्न लिखित उत्तरका विचार करना।

(१) धर्म अर्धर्म द्रव्य, स्वभाव-परिणामी होनेसे निष्क्रिय कहे गये हैं। परमार्थसे ये द्रव्य भी

सक्रिय है। व्यवहार नपसे परमाणु, पुद्गल और समारी जीव सक्रिय हैं, क्योंकि वे अयोय ग्रहण, त्याग आदिसे एक परिमाणकी तरह सन्न होते हैं। नष्ट होना—निपस होना—यह यावत् पुद्गलके परमाणुका धर्म कहा है परमार्थसे गुण वर्ण आदिका पलटना और स्फुटका विवर जाना कहा है।

(उद्धृत पत्र)

५४४

राणपुर, आसोज सुदी २ शुक्र १९५१

कुठ भी बने तो जहाँ आत्मार्थकी चर्चा होती हो वहाँ जाना जाना और श्रवण आदिका ममाग करना योग्य है। चाहे तो जैनदर्शनके मियाय दूसरे दर्शनकी व्याख्या होती हो तो उसे भी विचारके लिये श्रवण करना योग्य है।

५४५

श्रीरामात, आसोज सुदी १९५१

सत्यसमर्था उपदेशका सार.

वस्तुको यथार्थ स्वरूपसे जैसे जानना—अनुभव करना—उसे उसी तरह कहना वह सत्य है। यह सत्य दो प्रकारका है—एक परमार्थ सत्य और दूसरा व्यवहार सत्य।

परमार्थ सत्य अर्थात् आत्माके सिवाय दूसरा कोई पदार्थ आत्माका नहीं हो सकता, ऐसा निश्चय समझकर भाषा बोलनेमें, व्यवहारसे देह, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, धान्य, गृह आदि वस्तुओंके समझमें बोलनेके पहिले, एक आत्माका ठोडकर दूसरा कुठ भी मेरा नहीं है—यह उपयोग रहना चाहिये। अन्य आत्माके भ्रममें बोलते समय उन आत्मामें जाति, लिंग, और उस प्रकारके औपचारिक भेद न होनेपर भी केवल व्यवहारनयमें प्रयोजनके लिये ही उसे सञ्चोदित किया जाना है—इस प्रकार उपयोगपूर्वक बोला जाय तो वह पारमार्थिक भाषा है, ऐसा समझना चाहिये।

जैसे कोई मनुष्य अपनी आरोपित देहकी, घरकी, स्त्रीकी, पुत्रकी अथवा अन्य पदार्थकी जिस समय बात करता हो, उस समय 'स्पष्टरूपसे उन सत्र पदार्थोंसे बोलनेवाला मैं भिन्न हूँ, और वे मेरे नहीं हैं,' इस प्रकार बोलनेवालेको स्पष्टरूपसे भान हो तो वह सत्य कहा जाता है। जिस प्रकार कोई ग्रथकार श्रेणिक राजा और चेलना रानीका वर्णन करता हो, तो वे दोनों आत्मा थे, और केवल श्रेणिकके भ्रमकी अपेक्षासे ही उबका तथा स्त्री, पुत्र, धन, राज्य वगैरहका सत्र था, इस बातके लक्ष्यमें रखनेके पश्चात् बोलनेकी प्रवृत्ति करे—यही परमार्थ सत्य है। व्यवहार सत्यके आये विना परमार्थ सत्य वचनका बोलना नहीं हो सकता। इसलिये व्यवहार सत्यको निम्न प्रकारसे जानना चाहिये—

व्यवहार सत्य—जिस प्रकारसे वस्तुका स्वरूप देखनेसे, अनुभव करनेसे, श्रवण करनेसे अथवा बोलनेसे हमें अनुभवमें आया हो, उसी प्रकारसे याथातथ्यरूपसे वस्तुका स्वरूप कहने और उस प्रसंगपर वचन बोलनेका नाम व्यवहार सत्य है। जैसे किसीने किसी मनुष्यका लाल घोड़ा जो दिनोंके बारह बजे देखा हो, और किसीके पूँठनेपर उसी तरह याथातथ्य वचन बोल

व्यवहार सत्य है। इसमें भी यदि किसी प्राणीके प्राणोंका नाश होता हो, और उन्मत्ततासे वचन बोला गया हो—यद्यपि वह वचन सत्य ही हो—तो भी वह असत्यके ही समान है, ऐसा जानकर प्रवृत्ति करना चाहिये। जो सत्यसे निपरीत हो उसे असत्य कहा जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, दुःगुण ये अज्ञान आदिसे ही बोले जाते हैं। वास्तवमें क्रोध आदि मोहनीयके ही अंग हैं। उसकी स्थिति दूसरे समस्त कर्मोंसे अधिक अर्थात् सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी है। इस कर्मके क्षय हुए बिना ज्ञानावरण आदि कर्म सम्पूर्णरूपसे क्षय नहीं हो सकते। यद्यपि सिद्धान्तमें पहिले ज्ञानावरण आदि कर्मोंको ही गिनाया है, परन्तु इस कर्मकी महत्ता अधिक है, क्योंकि सत्साराके मूलभूत राग-द्वेषका यह मूलस्थान है, इसलिये सत्सारामें भ्रमण करनेमें इसी कर्मकी मुरयता है। इस प्रकार मोहनीय कर्मकी प्रबलता है, फिर भी उसका क्षय करना सरल है। अर्थात् जैसे वेदनीय कर्म भोगे बिना निष्फल नहीं होता, सो बात इस कर्मके निषेधमें नहीं है। मोहनीय कर्मकी प्रकृतिरूप क्रोध, मान, माया, और लोभ आदि कषाय तथा नोकषायका अनुक्रमसे क्षमा, नम्रता, निरभिमानता, सरलता, अदभता, और सतोष आदिकी निषेध भावनाओंसे, अर्थात् केवल विचार करनेमात्रसे ऊपर बताई हुई कषाय निष्फल की जा सकती है। नोकषाय भी निषेध करनेसे क्षय की जा सकती है, अर्थात् उसके लिये ब्राह्म कुण्ड नहीं करना पड़ता। 'मुनि' यह नाम भी इस पूर्वोक्त रीतिसे विचार कर वचन बोलनेसे ही सत्य है। प्राय करके प्रयोजनके बिना नहीं बोलनेका नाम ही मुनिपना है। राग द्वेष और अज्ञानके बिना यथास्थित वस्तुका स्वरूप कहते हुए या बोलते हुए भी मुनिपना—मौनभाव—समझना चाहिये। पूर्व तीर्थंकर आदि महात्माओंने इसी तरह विचार कर मौन वारण किया था, और लगभग साढ़े षारह वर्ष मोन धारण करनेवाले भगवान् वीर-प्रभुने इसी प्रकारके उच्छृङ्खल विचारपूर्वक आत्मामेंसे फिरा फिरार मोहनीय कर्मके सबधको निकाल बाहर करके केवलज्ञानदर्शन प्रगट किया था।

आत्मा विचार करे तो सत्य बोलना कुछ कठिन नहीं है। व्यवहार सत्य-भाषा अनेकवार बोलनेमें आती है, किन्तु परमार्थ सत्य बोलनेमें नहीं आया, इसलिये इस जीनको सत्साराका भ्रमण मिटता नहीं है। सम्यक्त्व होनेके बाद अभ्याससे परमार्थ सत्य बोला जा सकता है, और बादमें विशेष अभ्यासपूर्वक स्वाभाविक उपयोग रहा करता है। असत्यके बोले बिना माया नहीं हो सकती। विश्वासघात करनेका भी असत्यमें ही समावेश होता है। झूठे दस्तावेज लिखानेको भी असत्य जानना चाहिये। तप-प्रधान मान आदिकी भावनासे आत्म-हितार्थ करने जैसा ढोंग बनाना, उसे भी असत्य समझना चाहिये। अखंड सम्यग्दर्शन प्राप्त हो तो ही सम्पूर्णरूपसे परमार्थ सत्य वचन बोला जा सकता है, अर्थात् तो ही आत्मामेंसे अन्य पदार्थोंसे भिन्नरूप उपयोग होनेसे वचनकी प्रवृत्ति हो सकती है। यदि कोई पूँछे कि लोक शास्त्रत क्यों कहा गया है, तो उसका कारण ध्यानमें रखकर यदि कोई बोले तो वह सत्य ही समझा जाय।

व्यवहार सत्यके भी दो विभाग हो सकते—
 ह्यार सत्य । निश्चय सत्यपर उपयोग रखकर, "

व्यवहार सत्य और दूसरा देश व्यन-
 अथवा जिसके समर्थसे

बोला गया हो उसे प्रीतिकर हो, पथ्य और गुणकारी हो, इसी तरहके सत्य वचन बोलनेवाला प्रायः सर्व वेदरति त्यागी हो सकता है। ससारके ऊपर भाग न रखनेवाला होनेपर भी पूर्वकमसे अथवा किसी दूसरे कारणसे ससारमें रहनेवाले गृहस्थको एक देशसे सत्य वचन बोलनेका नियम रखना योग्य है। यह मुरारूपसे इस तरह है—मनुष्यसन्धी (कयासन्धी), पशुसन्धी (गायसन्धी), भूमिसन्धी (पृथ्वीसन्धी), झूठी गवाही, ओर पूँजीको अर्थात् भरोसे—निद्राससे—रखने योग्य दिये हुए द्रव्य आदि प्रदार्थको वापिस मँगा लेना, उसके बारेमें इन्कार कर देना—ये पाँच स्थूल भेद हैं। इन वचनोंके बोलते समय परमार्थ सत्यके ऊपर ध्यान रखकर यथास्थित अर्थात् जिस प्रकारमे वस्तुओंका स्वरूप यथार्थ हो उसी तरह कहनेका, एकदेश व्रत धारण करनेवालेको अग्र्य नियम करना योग्य है। इस वृहे हुए सत्यके विषयमें उपदेशको विचार कर उस क्रममे आना ही लाभदायक है।

५४६

एवभूत दृष्टिसे ऋजुसूत्र स्थिति कर। ऋजुसूत्र दृष्टिसे एवभूत स्थिति कर।
 नेगम दृष्टिसे एवभूत प्राप्ति कर। एवभूत दृष्टिसे नेगम विशुद्ध कर।
 सग्रह दृष्टिसे एवभूत हो। एवभूत दृष्टिसे सग्रह विशुद्ध कर।
 व्यग्रहार दृष्टिसे एवभूतके प्रति जा। एवभूत दृष्टिसे व्यग्रहारकी निवृत्ति कर।
 शब्द दृष्टिसे एवभूतके प्रति जा। एवभूत दृष्टिसे शब्द निर्विकल्प कर।
 समभिरूढ दृष्टिसे एवभूत अनलोकन कर। एवभूत दृष्टिसे समभिरूढ स्थिति कर।
 एवभूत दृष्टिसे एवभूत हो। एवभूत स्थितिसे एवभूत दृष्टिको शमन कर।

ॐ शांति शांति शांति ।

५४७

म केवल शुद्ध चेतन्यस्वरूप सहज निज अनुभवनस्वरूप हूँ।
 मात्र व्यवहार दृष्टिसे इम वचनका वक्ता हूँ।
 परमार्थसे तो केवल मैं उस वचनसे व्यजित मूल अर्थरूप हूँ।
 तुम्हारेमे जगत् भिन्न है, अभिन्न हूँ, भिन्नाभिन्न हूँ।
 भिन्न, अभिन्न, भिन्नाभिन्न, यह अत्रकाश स्वरूपसे नहा है।
 व्यवहार दृष्टिसे ही उसका निरूपण करते हैं।

—जगत् मेरेमें भासमान होनेसे अभिन्न है, परन्तु जगत् जगत्स्वरूप है। मैं निजस्वरूप हूँ, इस कारण जगत् मेरेसे सर्वथा भिन्न है। उन दोनों दृष्टियोंसे जगत् मेरेसे भिन्नाभिन्न है।

ॐ शुद्ध निर्विकल्प चतन्य

५४८ बम्बई, असोज सुदी १२ सोम १९५१

देखत भूली टळें तो सर्व दुःखनो क्षय थाय—

ऐसा स्पष्ट अनुभव होता है, ऐसा होनेपर भी उसी 'साफ दिखाई देनेवाली भूल' के प्रवाहमें ही जीन बहा चला जा रहा है। ऐसे जीनोंको इस जगत्में क्या कोई ऐसा आधार है कि जिस आधारसे—आश्रयसे—वह प्रवाहमें न बहे ?

५४९ बम्बई, आसोज सुदी १२, १९५१

वेदातदर्शन कहता है कि आत्मा असग है। जिनदर्शन भी कहता है कि परमार्थनयसे आत्मा असग ही है। इस असगताका सिद्ध होना—परिणत होना—यह मोक्ष है। प्रायः करके उस प्रकारका साक्षात् असगता सिद्ध होनी असम्भन है, और इसीलिये ज्ञानी-पुरुषोंने जिसे 'सब दुःख क्षय करनेकी इच्छा है, ऐसे मुमुक्षुको सत्सगकी नित्य ही उपासना करनी चाहिये, ऐसा जो कहा है, वह अत्यंत सत्य है।

५५० बम्बई, आसोज सुदी १३ मोंम १९५१

समस्त विश्व प्रायः करके पर-कथा और पर-वृत्तिमें बहा चला जा रहा है, उसमें रहकर स्थिरता कहाँसे प्राप्त हो ? ऐसे अमूच्य मनुष्यमनको एक समय भी पर-वृत्तिसे जाने देना योग्य नहीं, और कुछ भी वैसा हुआ करता है, उसका उपाय कुछ विशेषरूपसे खोजना चाहिये।

ज्ञानी-पुरुषका निश्चय होकर अतर्भेद न रहे तो आत्म-प्राप्ति सर्वथा सुलभ है—इस प्रकार ज्ञानी पुकार पुकार कर कह गये हैं, फिर भी न मालूम लोग क्यों भूलते हैं ?

५५१ बम्बई, आसोज सुदी १३, १९५१

जो कुछ करने योग्य कहा हो, वह निस्मरण न हो जाय, इतना उपयोग करके क्रमपूर्वक भी उसमें अनश्य परिणति करना योग्य है। मुमुक्षु जीनोंमें त्याग, वैराग्य, उपशम और भक्तिने सहज स्वभावरूप किये बिना आत्म-दशा कैसे आने ? किन्तु शिथिलतासे, प्रमादसे यह बात निस्मृत हो जाती है।

५५२ बम्बई, आसोज वदी ३ रवि १९५१

अनादिसे निपरीत अन्यास चला आ रहा है, उससे वैराग्य उपशम आदि भागोंकी परिणति एकदम नहीं हो सकती, अथवा होनी कठिन पड़ती है, फिर भी निरन्तर उन भागोंके प्रति लक्ष रखनेसे सिद्धि अनश्य होती है। यदि सत्समागमका योग न हो तो वे भाग जिस प्रकारसे वृद्धिगत हों, उस प्रकारके द्रव्य क्षेत्र आदिकी उपासना करनी, सत्शास्त्रका परिचय करना योग्य है। सब कार्योंकी

मध्य भूमिका ही कठिन होती है, तो फिर अनतकालसे अनन्यस्त ऐसी मुमुक्षुताके लिये वैसा हो तो हममें कोई आश्चर्य नहीं। सहजामन्वयत्पसे प्रणाम।

५५३

मोहमयी, आमोन पत्री ११, १०५१

‘समज्या ते शमाई गया’ तथा ‘समज्या ते शमाई गया’—इन शायोंका क्या कुछ भिन्न अर्थ होता है ? तथा दोनोंमें कौनसा वाच्य विशेषार्थका वाचक मात्रम होता है, तथा समझने योग्य क्या है ? और शान्त किसे करना चाहिये ? तथा समुच्चय वाच्यका एक परमार्थ क्या है ? वह विचार करने योग्य है—विशेषरूपसे विचार करने योग्य है। और जो विचारमें आये तथा विचार करनेसे उन वाच्योंका विशेष परमार्थ लक्षमें आया हो तो उसे छिपाना बने तो लिखना।

५५४

जो सुगर्की इच्छा न करता हो वह या तो नास्तिक है या सिद्ध है अथवा जड़ है।

५५५

दु गको नाश करनेकी सत्र जीव इच्छा करते हैं।

दु गका आत्यतिक अभाय कैसे हो ? उसे न बतानेसे दु ख उत्पन्न होना समझ है। उस मार्गको दु गमें छुड़ानेका उपाय जीव समझता है।

जन्म, जरा, मरण यह मुराररूपसे दु ख है। उसका बीज कर्म है। कर्मका बीज राग-द्वेष है। अथवा उसके निम्न पाँच कारण हैं—

मिथ्यात्व, अतिरति, प्रमाद, कपाय, योग।

पहिले कारणका अभाय होनेपर दूसरेका अभाय, फिर तीसरेका, फिर चौथेका, आर अतमें पाँचवें कारणका अभाय होता है, यह अभाय होनेका क्रम है।

मिथ्यात्व मुख्य मोह है। अतिरति गीण मोह है।

प्रमाद और कपायका अतिरतिम अतर्भाव हो सकता है। योग सहचारीपनेसे उत्पन्न होता है। चारोंके नाश हो जानेके बाद भी पूर्व हेतुसे योग हो सकता है।

५५६

वन्दई, आसोज १९५१

सत्र जीवोंको अप्रिय होनेपर भी जिस दु खका अनुभव करना पड़ता है, वह दु ख सकारण होना चाहिये। इस भूमिकासे मुख्यतया विचारवानकी विचारश्रेणी उदित होती है, और ७.

क्रमसे आत्मा, कर्म परलोक, मोक्ष आदि भावोंका स्वरूप सिद्ध हुआ हो, ऐसा माद्म होता है

वर्तमानमें जो अपनी विद्यमानता है, तो भूतकालमें भी उसकी विद्यमानता है

और भविष्यमें भी वैसा ही होना चाहिये। इस प्रकारके विचारका आश्रय ममत्त्व

उचित है। किसी भी वस्तुका पूर्व-पश्चात् अस्तित्व न हो तो उसका अस्तित्व मयमें भी नहीं होता—यह अनुभवा विचार करनेसे होता है।

वस्तुकी सर्पथा उत्पत्ति अथवा सर्पथा नाश नहीं होता—उसका अस्तित्व सर्पफालमें है, रूपांतर-परिणाम ही हुआ करता है, वस्तुत्वमें परिवर्तन नहीं होता—यह श्रीजिनका जो अभिमत है, वह विचारने योग्य है।

पद्दर्शनसमुच्चय कुछ कुछ गहन है, तो भी फिर फिरसे विचार करनेसे उसका बहुत कुछ बोध होगा।

ज्यों ज्यों चित्तकी शुद्धि और स्थिरता होती है, ज्यों ज्यों ज्ञानीके वचनोका विचार यथायोग्य रीतिसे हो सकता है। सर्वज्ञानका फल भी आत्म-स्थिरता होना ही है, ऐसा वीतराग पुरुषोंने जो कहा है, वह अत्यंत सत्य है।

५५७

निर्णयमार्ग अगम अगोचर है, इसमें सशय नहीं। अपनी शक्तिसे, सद्गुरुके आश्रय बिना उस मार्गकी खोज करना असंभव है, ऐसा बारबार दिखाई देता है। इतना ही नहीं, किन्तु श्रीसद्गुरु-चरणके आश्रयपूर्वक जिसे बोध-बीजकी प्राप्ति हुई हो, ऐसे पुरुषको भी सद्गुरुके समागमका नित्य आराधन करना चाहिये। जगतके प्रसंगको देखनेमें ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसे समागम और आश्रयके बिना निरालव बोधका स्थिर रहना कठिन है।

५५८

ॐ

दृश्यको जिसने अदृश्य किया, और अदृश्यको दृश्य किया, ऐसे ज्ञानी-पुरुषोंका आश्चर्यकारक अनंत ऐश्वर्य वीर्य-वाणीसे कहा जा सकता समझ नहीं।

५५९

बीती हुई एक पल भी पीछे नहीं मिलती आर वह अमूल्य है, तो फिर समस्त आयु-स्थितिकी तो बात ही क्या है ? एक पलका भी हीन उपयोग यह एक अमूल्य कौस्तुभ खो देनेके अपेक्षा भी विशेष हानिकारक है, तो फिर ऐसी साठ पलकी एक घडीका हीन उपयोग करनेसे कितनी हानि होनी चाहिये ? इसी तरह एक दिन, एक पक्ष, एक मास, एक वर्ष और अनुक्रमसे समस्त आयु-स्थितिका हीन उपयोग, यह कितनी हानि और कितने अश्रेयका कारण होना समझ है, यह विचार शुद्ध हृदयसे करनेसे तुरत ही आ सकेगा।

सुख और आनन्द सब प्राणियों, सब जीवों, सब सत्तों, और सब जतुओंको निरन्तर प्रिय है फिर भी वे दुःख और आनन्दको भोगते हैं, इसका क्या कारण होना चाहिये ? तो उत्तर मिलता है कि अज्ञान और उसके द्वारा जिन्दगीका हीन उपयोग होते हुए रोकनेके लिये प्रत्येक प्राणीकी इच्छा होनी चाहिये। परन्तु किस साधनके द्वारा ?

५६०

निन पुरुषोंकी अतर्मुण्डादि हो गई है, उन पुरुषोंको भी श्रीगीतरामने सतत जागृतिरूप में उपदेश किया है, क्योंकि अतर्कालके अध्यासयुक्त पदार्थोंका जो सग रहता है, वह न जाने किस ढिको आकर्षित कर ले, यह भय रचना उचित है।

जब ऐसी भूमिकामें भी इस प्रकार उपदेश दिया गया है तो फिर जिसकी विचार-दशा : ऐसे मुमुक्षु जीवको सतत जागृति रचना योग्य है, ऐसा न कहा गया हो, तो भी यह स्पष्ट प्रमज्ञा जा सकता है कि मुमुक्षु जीवको जिस जिस प्रकारसे पर-अध्यास होने योग्य पदार्थ आदिका भाग हो, उस उस प्रकारसे अनन्य करना उचित है। यद्यपि आरभ परिग्रहका त्याग स्थूल दिखाई देता है, फिर भी अतर्मुण्डादिका हेतु होनेसे नारम्भर उसके त्यागका ही उपदेश किया है।

आत्मस्वरूपको यथास्थित जाननेका नाम समझना है। तथा उससे अन्य विकल्पसे रहित उपयोगके होनेका नाम शांत करना है। वस्तुतः दोनों एक ही हैं।

जैसा है वैसा समझ लेनेसे उपयोग निजस्वरूपमें समा गया, और आत्मा स्वभासमय हो गई—यह 'समजीने शमाई रह्या' इस प्रथम वाक्यका अर्थ है।

अन्य पदार्थके सयोगमें जो अध्यास हो रहा था, और उस अध्यासमें जो अहंभाव मान रक्खा था, वह अध्यासरूप अहंभाव शान्त हो गया—यह 'समजीने शमाई गया' इस दूसरे वाक्यका अर्थ है।

पर्यायान्तरसे इनका भिन्न अर्थ हो सकता है। वास्तवमें तो दोनों वाक्योंका एक ही परमार्थ विचार करने योग्य है।

जिस जिसने समझ लिया उन सबने 'मेरा', 'तेरा' इत्यादि अहंभाव-ममत्वभाव-शान्त कर दिया। क्योंकि वैसा कोई भी निजस्वभाव देखा नहीं गया, और निजस्वभावको तो अचित्तव्यव्यावाहिकस्वरूप मर्यादा भिन्न ही देखा, इसलिये सब कुछ उसीमें समाविष्ट हो गया।

आमाके सिवाय पर पदार्थमें जो निज मान्यता थी, उसे दूर करके परमार्थसे मौनभाव हुआ। तथा वाणीद्वारा 'यह इसका है', इत्यादि कथन करनेरूप व्यवहार, गचन आदि योगके रहनेतक कचित् रहा भी, किन्तु आत्मामेंसे 'यह मेरा है' यह विकल्प मर्यादा शान्त हो गया—जैसा है वैसे अचित्तव्यवस्थानुभवागोचर पदमें लीनता हो गई।

ये दोनों वाक्य जो लोक-भाषामें व्यवहृत हुए हैं, वे आत्म-भाषामेंसे आये हैं। जो ऊपर कहा है तदनुसार जिसने शान्त नहीं किया, वह समझा भा नहीं—इस तरह इस वाक्यका सारभूत अर्थ हुआ। अथवा जितने अशोंसे जिमने शांत किया उतने ही अशोंसे उसने समझा, इतना भिन्न अर्थ हो सकता है, फिर भी मुख्य अर्थमें ही उपयोग लगाना उचित है।

अनतकालसे यम, नियम, शास्त्रानुलोमन आदि कार्य करनेपर भी समझ लेना और शान्त करना यह भेद आत्मामें आया नहीं, और उससे परिश्रमणकी निवृत्ति हुई नहीं।

जो समझने और शांत करनेका एकीकरण करे वह स्वान्भव-पदमें रहे—उसका परिश्रमण निवृत्त हो जाय। सहस्ररुकी आज्ञाके विचारे बिना जीवने उस परमार्थको जाना नहीं, और जाननेके प्रतिग्रह करनेवाले असत्संग, स्वच्छन्द और अविचारका निरोध किया नहीं, जिससे समझना और शांत करना इन दोनोंका एकीकरण न हुआ—यह निश्चय प्रसिद्ध है।

यहाँसे आरंभ करके यदि ऊपर ऊपरकी भूमिकाकी उपासना करे तो जीव समझकर शान्त हो जाय, इसमें सन्देह नहीं है।

अनंत ज्ञानी-पुरपौंजा अनुभव किया हुआ यह शाश्वत सुगम भोक्षमार्ग जीवके लक्षमें नहीं आता, इससे उत्पन्न हुए खेदसहित आश्चर्यको भी यहाँ शांत करते है। सत्सग सद्दिचारसे शान्त करनेतकके समस्त पद अत्यंत सय हैं, सुगम हैं, सुगोचर हैं, सहज हैं और सन्देहरहित हैं। ॐ ॐ ॐ ॐ

५६२ बम्बई, कार्तिक सुदी ३ सोम १९५२

श्रीवेदात्म निरूपित मुमुक्षु जीवका लक्षण तथा श्राजिनद्वारा निरूपित सम्यग्दृष्टि जीवका लक्षण मनन करने योग्य है (यदि उस प्रकारका योग न हो तो बाँचने योग्य है), विशेषरूपसे मनन करने योग्य है—आत्ममें परिणामने योग्य है। अपने क्षयोपराम-बन्धको कम जानकर, अह-ममता आदिके परामय होनेके लिये नित्य अपनी न्यूनता देखना चाहिये—विशेष सग प्रसगको कम करना चाहिये।

५६३ बम्बई, कार्तिक सुदी १३ गुरु १९५२

(१) आत्म-हेतुभूत सगके सित्राय मुमुक्षु जीवको सर्वसगको घटाना ही योग्य है, क्योंकि उसने बिना परमार्थज्ञा आभिर्भूत होना कठिन है। ओर उस कारण श्रीजिनने यह ब्यवहार—द्रव्यसयमरूप साधुत्व उपदेश किया है। सहजात्मस्वरूप

(२) अतर्लक्ष्यकी तरह हाळमें जो वृत्ति र्तन करती हुई दिखाई देती है, वह उपकारक है, ओर वह वृत्ति क्रमपूर्वक परमार्थकी यथार्थतामें विशेष उपकारक होती है। हाळमें सुदरदासजीके ग्रथ अथवा श्रीयोगवासिष्ठ बाँचना। श्रौतोभाग यहीं है।

१०. १० १८९५

(३) निशदिन नैनमें नींद न आवे. नर तत्रहि नारायन पावे।

—सुदरदासजी

५६४ बम्बई, मगसिर सुदी १० मंगल १९५२

जिस जिस प्रकारसे परद्रव्य (वस्तु) के कार्यकी अल्पता हो, निजके दोष देखनेमें दृढ लक्ष रहे, और सत्समगम सत्सास्त्रमें बढती हुई परिणतिसे परम भक्ति रहा करे, उस प्रकारका आत्मभाव करते हुए तथा ज्ञानीके वचनोंका विचार करनेसे दशा-विशेष प्राप्त करते हुए जो यथार्थ समाधिको योग्य हो, ऐसा लक्ष रखना—यह कहा था।

५६५

शुभेच्छा, विचार, ज्ञान इत्यादि सत्र भूमिकाओंमें सर्वसगका परित्याग बलवान् उपकारी है, यह समझकर ज्ञानी-पुरपौंजे अनगारत्नका निरूपण किया है। यद्यपि परमार्थसे सर्वसग परित्याग, यथार्थ बोध होनेपर प्राप्त होना समन है, यह जानते हुए भी यदि नित्य सत्सगमें ही निवास हो तो

वैसा समय प्राप्त हो सकता है, ऐसा जानकर ज्ञानी-पुरुषोंने सामान्य रीतिसे बाह्य सर्ग-परित्यागका उपदेश दिया है, जिस निवृत्तिके सयोगसे शुभेच्छावान जीव सद्गुरु सत्पुरुष और सत्शास्त्रकी यथा-योग्य उपासना कर यथार्थ बोधको प्राप्त करे ।

५६६

बम्बई, पौष सुदी ६ रवि १९५२

दो अभिनिवेशोंके मार्ग-प्रतिबन्धक रहनेसे जीव मिथ्यात्वका त्याग नहीं कर सकता । ये अभिनिवेश दो प्रकारके हैं—एक लौकिक और दूसरा शास्त्रीय । कम क्रमसे सत्समागमके सयोगसे जीव यदि उस अभिनिवेशको छोड़ दे तो मिथ्यात्वका त्याग होता है—इस प्रकार ज्ञानी-पुरुषोंसे शास्त्र आदिद्वारा वारम्बार उपदेश दिये जानेपर भी जीव उसे छोड़नेके प्रति क्यों उपेक्षित होता है ? यह बात विचारने योग्य है ।

५६७

सत्र तु त्वोका मूल सयोग (सन्ध) है, ऐसा ज्ञानवत तीर्थकरोंने कहा है । समस्त ज्ञानी-पुरुषोंने ऐसा देखा है । वह सयोग मुर्यरूपसे दो तरहसे कहा है—अतरसन्धी और बाह्यसन्धी । अतर्सयोगका निचार होनेके लिए आत्माको बाह्य सयोगका अपरिचय करना चाहिये, जिस अपरिचयकी सपरमार्थ इच्छा ज्ञानी-पुरुषोंने भी की है ।

५६८

श्रद्धाज्ञान लक्षां छे तो पण, जो नवि जाय पमायो रे;

बंध्य तरू लपम ते पामे, समय ठाण जो नायो रे ।

गायो रे, गायो, भले वीर जगत् गुरु गायो ।

५६९

बम्बई, पौष सुदी ८ भोम १९५२

आत्मार्थके सिन्धाय, जिस जिस प्रकारसे जीवने शास्त्रकी मान्यता करके कृतार्थता मान रखी है, वह सत्र शास्त्रीय अभिनिवेश है । स्वच्छदता तो दूर नहीं हुई, और सत्समागमका सयोग प्राप्त हो गया है, उस योगमें भी स्वच्छदताके निर्वाहके लिए शास्त्रके किसी एक वचनको जो बहुवचनके समान प्रताता है, तथा शास्त्रको, मुर्य साधन ऐसे सत्समागमके समान कहता है, अथवा उसपर उससे भी अधिक भार देता है, उस जीवको भी अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश है ।

१ श्रद्धा और ज्ञानके प्राप्त कर लेनेपर भी तथा समयसे युक्त होनेपर भी यदि प्रमादका नाश नहीं हुआ तो जीव फलरहित वृक्षकी उपमाके प्राप्त होता है ।

आत्माने समझनेके लिए शास्त्र उपकारी हैं, और वे भी स्पष्ट रहित पुरुषोको ही हैं— इतना लक्ष रखकर यदि सत्शास्त्रका विचार किया जाय तो वह शास्त्रीय अभिनिवेश गिने जाने योग्य नहीं है। सक्षेपसे ही लिखा है।

५७०

मोहमयी क्षेत्रसत्रवी उपाधिका परित्याग करनेके अभी आठ महीने ओर दस दिन बाकी हैं, और उसका परित्याग होना समझ है।

दूसरे क्षेत्रमें उपाधि (व्यापार) करनेके अभिप्रायसे मोहमयी क्षेत्रकी उपाधिके त्याग करनेका विचार रहा करता है, यह बात नहीं है।

परन्तु जत्रतक सर्वसंग-परित्यागरूप योगका निराकरण न हो, तत्रतक जो गृहाश्रम रहे, उस गृहाश्रममे काल व्यतीत करनेके विषयमे विचार करना चाहिये, क्षेत्रका विचार करना चाहिये, जिस व्यग्रहारमें रहना है, उस व्यग्रहारका विचार करना चाहिये। क्योंकि पूर्वापर अविरोध भाव न हो तो रहना कठिन है।

५७१

भू —	ब्रह्म
स्थापना —	ध्यान
मुख —	योगबल
ब्रह्मप्रदण	निग्रय आदि सम्प्रदाय
ध्यान	निरूपण
योगबल	भू स्थापना मुख सर्वदर्शन अविरोध
स्वायु-स्थिति	
आत्मबल	

५७२

आहारका जय	निद्राका जय
आसनका जय	वाक्सयम
जिनोपदिष्ट आत्मध्यान	

जिनोपदिष्ट आत्मध्यान किस तरह हो सकता है ?

जिनोपदिष्ट ज्ञानके अनुसार ध्यान हो सकता है, इनालिये ज्ञानका तारतम्य चाहिये।

क्या विचार करते हुए, क्या मानते हुए, क्या दशा रहते हुए चौथा गुणस्थानक कहा जाता है ? किसके द्वारा चौथे गुणस्थानकसे तेरहवें गुणस्थानमें आते है ?

५७३

बम्बई, पौष वदी १९५२

योग असख जे जिन कहा, घटमाहि रिद्धि दाखी रे ।
नवपद तेमज जाणजो, आतमराम छे साखी रे ॥

श्रीश्रीपालरास

५७४

ॐ

गृह आदि प्रवृत्तिके योगसे उपयोगका विशेष चचल रहना सम्य है, ऐसा जानकर परम पुरुष सर्वांग-परित्यागका उपदेश करते हुए ।

५७५

ॐ

बम्बई, पौष वदी २, १९५२

सब प्रकारके भयके निवास-स्थानरूप इस ससारमें मात्र एक वैराग्य ही अभय है।

महान् मुनियोको भी जो वैराग्य-दशा प्राप्त होनी दुर्लभ है, वह वैराग्य दशा तो प्राय जिन्हें गृहनासमें ही रहती थी, ऐसे श्रीमहाजीर ऋषभ आदि पुरुष भी त्यागको ग्रहण करके घर छोड़कर चले गये, यही त्यागकी उत्कृष्टता बताई गई है ।

जन्तक गृहस्थ आदि व्यग्रहार रहे तबतक आत्मज्ञान न हो, अथवा जिसे आमज्ञान हो उसे गृहस्थ आदि व्यग्रहार न हों, ऐसा नियम नहीं है । वैसा होनेपर भी ज्ञानीको भी परम पुरुषोंने व्यग्रहारके त्यागका उपदेश किया है, क्योंकि त्याग आत्म ऐश्वर्यको स्पष्ट व्यक्त करता है । उससे ओर लोकको उपकारभूत होनेके कारण त्यागको अर्कृत्य-लक्षसे करना चाहिये, इसमें मन्देह नहीं है ।

निजस्वरूपमें स्थिति होनेको परमार्थ सयम कहा है । उस सयमके कारणभूत ऐसे अन्य निमित्तोको ग्रहण करनेको व्यग्रहार सयम कहा है । किसी भी ज्ञानी-पुरुषने उस सयमका निषेध नहीं किया । किन्तु परमार्थकी उपेक्षा (त्रिना लक्षके) से जो व्यग्रहार सयममें ही परमार्थ सयमकी मान्यता रखे, उसका अभिनिवेश दूर करनेके ही लिए उसको व्यग्रहार सयमका निषेध किया है । किन्तु व्यवहार सयममें कुछ भी परमार्थका निमित्त नहीं है—ऐसा ज्ञानी-पुरुषोंने नहीं कहा ।

परमार्थके कारणभूत व्यग्रहार सयमको भी परमार्थ सयम कहा है ।

१ श्रीपालरासमें निम्न दो पत्र इस तरह दिये हुए हैं—

अष्ट सरल समृद्धिनी, घटमाहि ऋद्धि दाखी रे । तिम नवपद ऋद्धि जाणजो, आतमराम छे साखी रे ॥

योग असख छे जिन कहा नवपद मुख ते जाणो रे । एह तणे अवलजने आतमस्थान प्रमाणो रे ।

अर्थ—जिस तरह अणिमा, मरिमा आदि आठ सिद्धियोंकी सम्पूर्णता घटमें दिखाई गई है, उसी तरह नवपदकी ऋद्धिको भी घटमें ही समझना चाहिये—इसकी आत्मा साखी है ॥ श्रीजिनभगवानने जो असखात योग कहे हैं, उन सबमें इस नवपदकी मुख्य समझना चाहिये । अतएव इस नवपदके आलम्बनसे जो आत्म ध्या करना है, वही प्रमाण है ।

अनवाटक

‘ प्रारब्ध है ’, ऐसा मानकर ज्ञानी उपाधि करता है, ऐसा मादम नहीं होता । परन्तु परिणतितसे छूट जानेपर भी त्याग करते हुए बाह्य कारण रोकते हैं, इसलिये ज्ञानी उपाधिसहित दिखाई देता है, फिर भी वह उसकी निवृत्तिके लक्षका नित्य सेवन करता है ।

५७६

बम्बई, पौष वदी ९ गुरु १९५२

ॐ

देहाभिमानरहित सत्पुरुषोंको अत्यन्त भक्तिपूर्वक त्रिकाल नमस्कार हो.

ज्ञानी-पुरुषोंने बारम्बार आरम्भ-परिग्रहके त्यागकी उत्कृष्टता कही है, ओर फिर फिरसे उस यागका उपदेश किया है, ओर प्राय. करके स्वयं भी ऐसा ही आचरण किया है, इसलिये मुमुक्षु पुरुषको अन्वय ही उसकी अल्पता करना चाहिये, इसमें सन्देह नहीं है ।

कौन कौनसे प्रतिग्रहसे जीव आरम्भ-परिग्रहका त्याग नहीं कर सकता, ओर वह प्रतिग्रह किस तरह दूर किया जा सकता है, इस प्रकारसे मुमुक्षु जीवको अपने चित्तमें विशेष विचार-अकुर उत्पन्न करके कुछ भी तथारूप फल लाना योग्य है । यदि जैसे न किया जाय तो उस जीवको मुमुक्षुता नहीं है, ऐसा प्राय. कहा जा सकता है ।

आरम्भ और परिग्रहका त्याग होना किम प्रकारसे कष्ट जाय, इसका पहले विचार कर, पीछेमे उपरोक्त विचार-अकुरको मुमुक्षु जीवको अपने अंतःकरणमें अन्वय उत्पन्न करना योग्य है ।

५७७

बम्बई, पौष वदी १३ रवि १९५२

उत्कृष्ट संपत्तिके स्थान जो चक्रवर्ती आदि पद हैं, उन सबको अनित्य जानकर विचारवान पुरुष उन्हें छोड़कर चउ दिये है, अथवा प्रारब्धोदयमे यदि उनका नाम उममें हुआ भी ता उन्होंने अमूर्च्छित-रूपसे उदासीनभावसे उसे प्रारब्धोदय समझकर ही आचरण किया है, ओर त्याग करनेका ही लक्ष रक्खा है ।

५७८

महात्मा बुद्ध (गौतम) जरा, दारिद्र्य, रोग, आर मृत्यु इन चारोंको, एक आत्मज्ञानके विना अन्य सब उपायोंसे अजेय समझकर, उनकी उत्पत्तिके हेतुभूत ससारको छोड़ कर चले जाते हुए । श्रीऋषभ आदि अनन्त ज्ञानी-पुरुषोंने भी इसी उपायकी उपायना की है, ओर सब जीवोंको उस उपायका उपदेश दिया है । उस आत्मज्ञानको प्राय. दुर्लभ देखकर, निष्कारण करुणाशील उन सत्पुरुषोंने भक्ति-मार्गका प्रकाश किया है, जो सब अशरणको निश्चल शरणरूप ओर सुगम है ।

५७९

बम्बई, माघ सुदी ४ रवि १९५२

असग आत्मस्वरूपको सत्सगका सयोग मिलनेपर सत्रसे सुलभ कहना योग्य है, इसमें सशय नहीं है। सत्र ज्ञानी-पुरुषोंने अतिशयरूपसे जो सत्सगका माहात्म्य कहा है, वह यथार्थ है। इसमें विचारवानको किसी तरहका निकल्प करना उचित नहीं है।

५८०

बम्बई, फाल्गुन सुदी १, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

ज्ञानीका सब व्यवहार परमार्थ-मूलक होता है, तो भी जिस दिन उदय भी आत्माकार प्रवृत्ति करेगा, उस दिनको धन्य है।

सर्प दु खोंसे मुक्त होनेका सर्वोत्कृष्ट उपाय जो आत्मज्ञान ऋह है, वह ज्ञानी-पुरुषोंका वचन सच्चा है—अत्यत सच्चा है।

जनतक जीनको तथारूप आत्मज्ञान न हो तत्रतक आत्यतिक वचनकी निवृत्ति होना सम्य नहीं, इसमें सशय नहीं है।

उस आत्मज्ञानके होनेतक जीनको 'मूर्तिमान आत्मज्ञान स्वरूप' सद्गुरुदेवका आश्रय निरन्तर अग्र्य ही करना चाहिये, इसमें सशय नहीं है। जब उस आश्रयका वियोग हो तत्र नित्य ही आश्रय-भाजना करनी चाहिये।

उदयके योगसे तथारूप आत्मज्ञान होनेके पूर्व यदि उपदेश कार्य-करना पड़ता हो तो विचारवान मुमुक्षु परमार्थ मार्गके अनुसरण करनेके हेतुभूत ऐमे सत्पुरुषकी भक्ति, सत्पुरुषके गुणगान, सत्पुरुषके प्रति प्रमोदभाजना और सत्पुरुषके प्रति अविरोध भाजनाका लोर्गोंको उपदेश देता है, जिस तरह मत-मतातरका अभिनिवेश दूर हो, और सत्पुरुषके वचन ग्रहण करनेकी आत्मवृत्ति हो, वैसा करता है। वर्तमान कालमें उस क्रमकी विशेष हानि होगी, ऐसा समझकर ज्ञानी-पुरुषोंने इस कालको दु पमकाल कहा है। और वैसा प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

सब कार्योंमें कर्त्तव्य केवल आत्मार्थ ही है—यह भाजना मुमुक्षु जीनको नित्य करनी चाहिये।

५८१

बम्बई, फाल्गुन सुदी १०, १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

(१) हालमें विस्तारपूर्वक पत्र लिखना नहीं होता, उससे चित्तमें वैराग्य उपशम आदिके विशेष प्रदीप्त रहनेमें सत्शास्त्रको ही एक विशेष आधारभूत निमित्त समझकर श्रीसुदरदास आदिके प्रथोंका हो सके तो दोसे चार घडीतक जिससे नियमित वाचना-पृच्छना हो वैसा करनेके लिए लिखा था। श्रीसुदरदासजीके ग्रथका आदिसे लेकर अततक हालमें विशेष अनुप्रेक्षापूर्वक विचार करनेके लिए विनती है।

(२) कायाके रहनेतक माया (अर्थात् कपाय आदि) सम्य रहें, ऐसा श्री को लगता है, वह अभिप्राय प्राय (बहुत करके) तो यथार्थ ही है। तो भी किसी पुरुष-

विशेषमें सर्वथा—सत्र प्रकारकी—सन्मलन आदि कपायका अभान होना सभय माद्धम होता है, और उसने अभान हो सकनेमें सदेह नहीं होता। उससे कायाके होनेपर भा कपायरहितपना सभय है—अर्थात् सर्वथा राग-द्वेषरहित पुरुष हो सकता है। यह पुरुष राग-द्वेषरहित है, इस प्रकार सामान्य जीव बाह्य चेष्टासे जान सकें, यह सभय नहीं। परन्तु इससे वह पुरुष कपायरहित—सम्पूर्ण वीतराग—न हो, ऐसे अभिप्रायको विचारवान सिद्ध नहीं करते। क्योंकि बाह्य चेष्टासे आत्म-दशाकी स्थिति सर्वथा समझमें आ सके, यह नहीं कहा जा सकता।

(३) श्रीसुदरदासने आत्मजागृत-दशामें 'सूरातन अग' कहा है, उसमें विशेष उल्लासित-परिणतिसे शूरवीरताका निरूपण किया है—

मारे काम क्रोध जिनि लोभ मोह पीसि डारे, इन्द्राँक कतल करी कियो रजपूतौ है,
मार्यो महामत्त मन मार्यो अहकार मीर, मारे मद मच्छर हू, ऐसो रन रूतौ है।
मारी आसा तृष्णा सोऊ पापिनी सापिनी दोऊ, सत्रको महार करि निज पदइ पहूतौ है,
सुदर कहत ऐसो साधु कोऊ सूरवीर, वैरी सत्र मारिके निचिंत होइ सूतौ है।

श्रीसुदरदास—सूरातन अग ११वाँ कवित्त

५८२

ॐ नमः

सर्वज्ञ

जिन

वीतराग

सर्वज्ञ है

राग-द्वेषका अत्यन्त क्षय हो सकता है।

ज्ञानके प्रतिबन्धक राग-द्वेष है।

ज्ञान, जीवका स्वत्वभूत धर्म है।

जीव एक अखण्ड सम्पूर्ण द्रव्य होनेसे उसका ज्ञान सामर्थ्य-सम्पूर्ण है।

५८३

सर्वज्ञ-पद तारम्बार श्रवण करने योग्य, बाँचने योग्य, विचार करने योग्य, लक्ष करने योग्य और स्वानुभन-सिद्ध करने योग्य है।

५८४

सर्वज्ञदेव

निर्ग्रन्थ गुरु

उपशममूल धर्म

सर्वज्ञदेव

निर्ग्रन्थ गुरु

दयामूल धर्म

सर्पज्ञदेव
निर्ग्रंथ गुरु
सिद्धातमूल धर्म

सर्पज्ञदेव
निर्ग्रंथ गुरु
जिनाज्ञामूल धर्म

सर्पज्ञका स्वरूप
निर्ग्रंथका स्वरूप
धर्मका स्वरूप
सम्यक् क्रियानाद

५८५

ॐ नम

प्रदेश }
समय }
परमाणु }

द्रव्य }
गुण }
पर्याय }

जड़ }
चेतन }

५८६

वम्बई, फाल्गुन सुदी ११ रवि १९५२

श्री सद्गुरु प्रसाद

यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होनेके पहिले ही जिन जीवोंको उपदेशरूपना रहता हो उन जीवोंको, जिस प्रकारसे वैराग्य उपशम और भक्ति-रू लक्ष हो, उस प्रकारसे समागममें आये हुए जीवोंको उपदेश देना योग्य है, और जिस तरह उन्हें नाना प्रकारके असद् आग्रहका तथा सर्वथा वेप व्यवहार आदिका अभिनिवेश कम हो, उस प्रकारसे उपदेश फलाभूत हो, जैसे आमार्थविचार कर कहना योग्य है। क्रम क्रमसे वे जीव जिससे यथार्थ मार्गके सम्मुख हों, ऐसा यथाशक्ति उपदेश करना चाहिये।

५८७

वम्बई, फाल्गुन वदी ३ सोम १९५२

देहधारी होनेपर भी जो निरावरण ज्ञानसहित रहते हैं, ऐसे महापुरुषोंको त्रिकाल नमस्कार हो।

देहधारी होनेपर भी परम ज्ञानी पुरुषमें सर्प कपायका अभाव होना संभव है, यह जो हमने लिखा है, सो उस प्रसंगमें अभाव शब्दका अर्थ क्षय समझकर ही लिखा है।

प्रश्न —जगत्वासी जीवको राग द्वेष नाश हो जानेकी खबर नहीं पड़ती। आर जा महान् पुरुष हैं वे जान लेते ह कि इस महात्मा पुरुषमें राग-द्वेषका अभाव अथवा उपशम रहता है—ऐसा लिखकर आपने शका की है कि 'जैसे महात्मा पुरुषको ज्ञानी-पुरुष अथवा दृढ़ मुमुक्षु जीव जान लेते हैं, उसी तरह जगत्के जीव भी क्यों नहीं जानते ? उदाहरणके लिये मनुष्य आदि प्राणियोंको देखकर जैसे जगत्वासी जीव जानते हैं कि वे मनुष्य आदि हैं, उसी तरह महात्मा पुरुष भी मनुष्य आदिको जानते हैं, इन

पदार्थोंको देखनेसे दोनों ही समानरूपसे जानते हैं, और प्रस्तुत प्रसंगमें तो जाननेमें भेद पाया जाता है, उस भेदके होनेका क्या कारण है, यह मुराररूपसे विचार करना योग्य है ।'

उत्तर—मनुष्य आदिको जो जगत्वासी जीव जानते हैं, वे देहिक स्वरूपसे तथा देहिक चेष्टासे ही जानते हैं । एक दूसरेकी मुद्रामें आकारमें और इन्द्रियोंमें जो भेद है, उसे चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जगत्वासी जीव जान सकते हैं, और उन जीवोंके कितने ही अभिप्रायोंको भी जगत्वासी जीव अनुमानसे जान सकते हैं, क्योंकि वह उनके अनुभवका विषय है । परन्तु जो ज्ञानदशा अत्रा वीतराग दशा है, वह मुराररूपसे देहिक स्वरूप तथा देहिक चेष्टाका विषय नहीं है—वह अतरात्मका ही गुण है । और अतरात्ममान बाह्य जीवोंके अनुभवका विषय न होनेसे, तथा जिन्हें तथारूप अनुमान भी हो ऐस जगत्वासी जीवोंको प्राय करके वैसा सस्कार न होनेसे वे, ज्ञानी अथवा वीतरागको नहीं पहिचान सकते । कोई कोई जीव ही सत्समागमके सयोगसे, सहज शुभ कर्मके उदयसे और तथारूप कुछ मस्कार प्राप्त कर, ज्ञानी अथवा वीतरागको यथाशक्ति पहिचान सकते हैं । फिर भी सभी सभी पहिचान तो दृढ़ मुमुक्षुताके प्रगट होनेपर, तथारूप सत्समागमसे प्राप्त उपदेशका अंगारण करनेपर, और अतरात्म-वृत्ति परिणमित होनेपर ही जीव, ज्ञानी अथवा वीतरागको पहिचान सकता है । जगत्वासी अर्थात् जो जगत्-दृष्टि जीव है, उनकी दृष्टिमें ज्ञानी अथवा वीतरागकी सभी मन्त्रा पहिचान कहाँसे हो सकती है ? जैसे अधिकारमें पड़े हुए पदार्थको मनुष्य-चक्षु नहीं देख सकती, उसी तरह देहमें रहनेवाले ज्ञानी अथवा वीतरागको जगत् दृष्टि जीव नहीं पहिचान सकता । जैसे अधिकारमें पड़े हुए पदार्थको देखनेके लिये प्रकाशकी अपेक्षा रहती है, उसी तरह जगत् दृष्टि जीवोंको ज्ञानी अथवा वीतरागकी पहिचानके लिये विशेष शुभ सस्कार और सत्समागमकी अपेक्षा होना योग्य है । यदि वह संयोग प्राप्त न हो, तो जैसे अकारमें पड़ा हुआ पदार्थ और अकार, दोनों ही एकरूप भासित होते हैं—उन्में भेद नहीं भासित होता—उसी तरह तथारूप योगके विना ज्ञानी अथवा अथ ससारी जीवोंकी एकाकारता भासित होती है—उन्में देह आदि चेष्टासे प्राय करके भेद भासित नहीं होता ।

जो देहधारी सर्व अज्ञान और सर्व कपायरहित हो गया है, उम देहधारी महात्माको त्रिकाल परमभक्तिमें नमस्कार हो । नमस्कार हो ! ब्रह्म महात्मा जहाँ रहता है, उस देहको, भूमिको, धरको, मार्गको, आसन आदि सबको नमस्कार हो ! नमस्कार हो !

५८८

बम्बई, चैत्र सुदी १ रति १९५२

(१)

प्राग्बोधयसे जिस प्रकारका व्यवहार प्रसंगमें रहता है, उमके प्रति दृष्टि रखते हुए जैसे पत्र आदि लिखनेमें अल्पतासे प्रवृत्ति होती है, वैसा अत्रिक योग्य है—यह अभिप्राय प्राय करके रहा करता है ।

आत्माके वास्तविकरूपसे उपकारभूत ऐसे उपदेश करनेमें ज्ञानी-पुरुरूप अल्पमात्रसे बर्ताव न करे ऐसा प्राय करके होना समझ है, फिर भी निम्न दो कारणोंद्वारा ज्ञानी-पुरुरूप भी उसी प्रकारसे करते हैं—

(१) उस उपदेशका जिज्ञासु जीवमें जिस तरह परिणमन हो, ऐसे सयोगोंमें वह जिज्ञासु जीव न रहता हो, अथवा उस उपदेशके विस्तारसे करनेपर भी उसमें उसके ग्रहण करनेकी तथारूप योग्यता न हो, तो ज्ञानी-पुरुष उन जीवोंको उपदेश करनेमें अल्पभाससे प्रवृत्ति करता है ।

(२) अथवा अपनेको वाह्य व्यवहार ऐसा उदय हो कि वह उपदेश जिज्ञासु जीवको परिणमन होनेमें प्रतिघ्नरूप हो, अथवा तथारूप कारणके विना वैसा वर्तान कर वह मुख्य-मार्गके विरोधरूप अथवा सशयके हेतुरूप होनेका कारण होता हो, तो भी ज्ञानी-पुरुष उपदेशमें अल्पभाससे ही प्रवृत्ति करता है अथवा मोन रहता है ।

(२)

सर्वसग-परित्याग कर चले जानेसे भी जीव उपापरिहित नहीं होता । क्योंकि जबतक अतर्प-रिणतिपर दृष्टि न हो और तथारूप मार्गमें प्रवृत्ति न हो, तबतक सर्वसग-परित्याग भी नाम मात्र ही होता है । और उसे असरमें भी अतर्परिणतिपर दृष्टि देनेका भान जीवको आना कठिन है । तो फिर ऐसे गृह-व्यवहारमें लौकिक अभिनिवेशपूर्वक रहकर अतर्परिणतिपर दृष्टि रख सकना कितना दु साध्य होना चाहिये, उसपर भी विचार करना योग्य है । तथा वैसे व्यवहारमें रहकर जीवको अन्तर्परिणतिपर कितना बल रखना उचित है, वह भी विचारना चाहिये, और अग्र्य वैसा करना चाहिये ।

अधिक क्या लिखें ? जितनी अपनी शक्ति हो उस सर्व शक्तिसे एक लक्ष रखकर, लौकिक अभिनिवेशको अल्प कर, कुछ भी अपूर्ण निराकरणपना दिखाई नहीं देता, इसलिये ' समझ लेनेका केवल अभिमान ही है, ' इस प्रकार जीवको समझाकर, जिस प्रकारसे जीव ज्ञान दर्शन और चारित्र्यमें सतत जाग्रत हो, उसीके करनेमें वृत्ति लगाना, और रात दिन उसी चिन्तनमें प्रवृत्ति करना, यही विचारवान जीवका कर्तव्य है । और उसके लिये सत्सग, सत्साध और सरलता आदि निजगुण उपकारभूत हैं, ऐसा विचारकर उसका आश्रय करना उचित है ।

जबतक लौकिक अभिनिवेश अर्थात् द्रव्यादि लोभ, तृष्णा, देहिक-मान, कुल, जाति आदिसवर्था मोह अथवा विशेष मान हो, उस बातका त्याग न करना हो, अपनी बुद्धिसे-स्वच्छसे-अमुक गच्छ आदिका आग्रह रखना हो, तबतक जीवको अपूर्ण गुण कैसे उत्पन्न हो सकता है ? उसका विचार सुगम है ।

हालमें अधिक लिखा जा सके इस प्रकारका यहाँ उदय नहीं है । तथा अधिक लिखना अथवा कहना भी किसी किसी प्रसंगमें ही होने देना योग्य है ।

तुम्हारी विशेष जिज्ञासासे प्रारब्धोदयका वेदन करते हुए जो कुछ लिखा जा सकता था, उसकी अपेक्षा भी कुछ कुछ उदाहरण करके विशेष ही लिखा है ।

५८९

बम्बई, चैत्र सुदी २ सोम १९५२

ॐ

जिसमें क्षण भरमें हर्ष और क्षण भरमें शोक हो आये, ऐसे इस व्यवहारमें जो ज्ञानी-पुरुष सम-दशासे रहते हैं, उन्हें अत्यन्त भक्तिसे धन्य मानते हैं, और सन मुमुक्षु जीवोंको इसी दशाकी उपासना करना चाहिये, ऐसा निश्चय समझकर परिणति करना योग्य है ।

ॐ सदगुरुचरणाय नमः

१ जिस ज्ञानमें देह आदि अत्यास दूर हो गया है, ओर दूसरे पदार्थमें अहता ममता नहीं रही, तथा उपयोग निज भ्रमात्ममें परिणमता है, अर्थात् ज्ञानस्वरूपताका सेवन करता है, उस ज्ञानको 'निराकरण-ज्ञान' कहना चाहिये।

२ सत्र जीवोंको अर्थात् सामान्य मनुष्योंको ज्ञानी अज्ञानीकी वाणीका भेद समझना कठिन है, यह बात यथार्थ है। क्योंकि बहुतसे शुष्कज्ञानी शिक्षा प्राप्त करके यदि ज्ञानी जैसा उपदेश करें, तो उसमें वचनकी समानता देखनेसे, सामान्य मनुष्य शुष्कज्ञानीको भी ज्ञाना मान ले, और मद दशागले मुमुक्षु जीवोंको भी उन उचनोंसे भ्राति हो जाय। परंतु उत्कृष्ट दशागले मुमुक्षु पुरुषको, शुष्कज्ञानीकी वाणीको शब्दसे ज्ञानीकी वाणी जैसी समझकर प्रायः भ्राति करना योग्य नहीं है। क्योंकि आशयसे, शुष्कज्ञानीकी वाणीसे ज्ञानीकी वाणीकी तुलना नहीं होती।

ज्ञानीकी वाणी पूर्वापर अतिरुद्ध, आत्मार्थ उपदेशक ओर अपूर्व अर्थका निरूपण करनेवाली होती है ओर अनुभवसहित होनेसे वह आत्माको सतत जागृत करती है।

शुष्कज्ञानीकी वाणीमें तथारूप गुण नहा होते। सबसे उत्कृष्ट गुण जो पूर्वापर अतिरोधभाज है, वह शुष्कज्ञानीकी वाणीमें नहीं रह सकता, क्योंकि उसे यथास्थित पदार्थका दर्शन नहीं होता; ओर इस कारण जगह जगह उसकी वाणी कल्पनासे युक्त होती है।

इत्यादि नाना प्रकारके भेदोंसे ज्ञानी और शुष्कज्ञानीकी वाणीकी पहिचान उत्कृष्ट मुमुक्षुको ही हो सकती है। ज्ञानी-पुरुषको तो सहज स्वभासे ही उसकी पहिचान है, क्योंकि वह स्वयं भानसहित है, ओर भानसहित पुरुषके विना इस प्रकारके आशयका उपदेश नहीं दिया जा सकता, इस बातको वह सहज ही जानता है।

जिसे ज्ञान और अज्ञानका भेद समझमें आ गया है, उसे अज्ञानी ओर ज्ञानीका भेद सहजमें समझमें आ सकता है। जिसका अज्ञानके प्रति मोह शान्त हो गया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको शुष्कज्ञानीके वचन किस तरह भ्राति उत्पन्न कर सकते हैं? हाँ, सामान्य जीवोंको अथवा मददशा और मयम-दशाके मुमुक्षुओंको शुष्कज्ञानीके वचन समानरूप दिखाई देनेसे, दोनों ही ज्ञानीके वचन हैं, ऐसी भ्राति होना सभ्य है। उत्कृष्ट मुमुक्षुको प्रायः करके वेसी भ्राति सभ्य नहीं, क्योंकि उसे ज्ञानीके वचनकी परीक्षाका बल विशेषरूपसे स्थिर हो गया है।

पूर्वकालमें जो ज्ञानी हो गये हों, ओर मात्र उनकी मुख-वाणी ही बाकी रही हो, तो भी वर्तमान कालमें ज्ञानी-पुरुष यह जान सकते हैं कि वह वाणी ज्ञानी-पुरुषकी है। क्योंकि रात्रि दिवसके भेदकी तरह अज्ञानी ओर ज्ञानीकी वाणीमें आशयका भेद होता है, और आम दशाके तारतम्यके अनुसार आशययुक्त वाणी ज्ञानी-पुरुषकी ही निकलती है। वह आशय उसकी वाणीके ऊपरसे 'वर्तमान ज्ञानी पुरुष'को स्वामात्रिक ही दृष्टिगोचर होता है, ओर कहनेवाले पुरुषकी दशाका तारतम्य लक्षमें आता है। यहाँ जो 'वर्तमान ज्ञानी पुरुष' लिखा है, वह किसी विशेष प्रज्ञानत प्रगट-बोध-बिजसहित-पुरुष

शब्दके ही अर्थमें लिखा है। ज्ञानीके वचनकी परीक्षा यदि सत्र जीवोंको सुलभ होती तो निर्वाण भी सुलभ ही हो जाता।

३. जिनागममें ज्ञानके मति श्रुत आदि पाँच भेद कहे हैं। वे ज्ञानके भेद सत्रे हैं—उपमायाचक नहीं हैं। अग्नि मन पर्यन्त आदि ज्ञान वर्तमान कालमें व्यवच्छेद सरीखे मालूम होते हैं, उसके उपरसे उन ज्ञानोंको उपमायाचक समझना योग्य नहीं है। ये ज्ञान मनुष्य-जीवोंको चारित्र्य पर्यायिके विशुद्ध तारतम्यसे उत्पन्न होते हैं। वर्तमान कालमें वह विशुद्ध तारतम्य प्राप्त होना कठिन है, क्योंकि कालका प्रत्यक्ष स्वरूप चारित्र्यमोहनाय आदि प्रकृतियोंके विशेष बलसहित प्रवृत्ति करता हुआ देखनेमें आता है।

सामान्य आत्मचारित्र्य भी किसी किसी जीवमें ही रहना सभ्य है। ऐसे कालमें उस ज्ञानीकी लब्धि व्यवच्छेद जैसी हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, इससे उस ज्ञानको उपमायाचक समझना योग्य नहीं। आत्मस्वरूपका विचार करते हुए तो उस ज्ञानकी कुछ भी असभ्यता दिखाई नहीं देती। जब सभी ज्ञानोंकी गिनतिका क्षेत्र आत्मा है, तो फिर अग्नि मन पर्यन्त आदि ज्ञानका क्षेत्र आत्मा हो तो इसमें सशय करना कैसे उचित है? यद्यपि शास्त्रके यथास्थित परमार्थसे अज्ञ-जीव जिस प्रकारसे व्याख्या करते हैं, वह व्याख्या विरोधयुक्त हो सकती है, किन्तु परमार्थसे उभ ज्ञानका होना सभ्य है।

जिनागममें उसकी जिस प्रकारके आशयसे व्याख्या कही हो वह व्याख्या, और अज्ञानी जीव आशयके बिना जाने ही जो व्याख्या करे, उन दोनोंमें महान् भेद हो तो इसमें आश्चर्य नहीं, और उस भेदके कारण उस ज्ञानके विषयमें सद्वह होना योग्य है। परन्तु आत्म-दृष्टिसे देखनेसे यह संदेहक स्थान नहीं है।

४ कालका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'समय' है। रूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'परमाणु' है, और अरूपी पदार्थका सूक्ष्मसे सूक्ष्म विभाग 'प्रदेश' है। ये तीनों ही ऐसे सूक्ष्म हैं कि अत्यन्त निर्मल ज्ञानकी स्थिति ही उनके स्वरूपको ग्रहण कर सकती है। सामान्यरूपसे ससारी जीवोंका उपयोग असत्वात् समयवर्ती है, उस उपयोगमें साक्षात् रूपसे एक समयका ज्ञान संभव नहीं। यदि वह उपयोग एक-समयवर्ती और शुद्ध हो तो उसमें साक्षात् रूपसे समयका ज्ञान हो सकता है। उस उपयोगका एक-समयवर्तित्व रूपाय आदिक अभाजसे होता है, क्योंकि कपाय आदिके योगसे उपयोग मूढ़ता आदि धारण करता है, तथा असत्वात् समयवर्तित्वको प्राप्त करता है। उस कपाय आदिके अभाजसे उपयोगका एक समयवर्तित्व होता है। अर्थात् कपाय आदिके सत्रसे उसे असत्वात् समयमेंसे एक एक समयको अलग करनेकी सामर्थ्य नहीं थी, उभ कपाय आदिके अभाजसे वह एक एक समयको अलग करके अनुगहन करता है। उपयोगका एक-समयवर्तित्व कपायरहितपना होनेके बाद ही होता है। इसलिये एक समयका, एक परमाणुका और एक प्रदेशका जिसे ज्ञान हो उसे केवलज्ञान प्रगट होता है, ऐसा जो कहा है, वह सत्य है। कपायरहितपनेके बिना केवलज्ञानका होना संभव नहीं है, और कपायरहितपनेके बिना उपयोग एक समयको साक्षात् रूपसे ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिये जब वह एक समयको ग्रहण करे उस समय अत्यन्त कपायरहितपना होना चाहिये, और जहाँ अत्यन्त कपायका अभाज हो वहाँ केवलज्ञान होता है। इसलिये यह कहा है कि एक समय, एक परमाणु और एक प्रदेशका जिसे अनुभव हो उसे

केवलज्ञान प्रगट होता है। जीवको विशेष पुरपार्थके लिये इस एक सुगम साधनका ज्ञानी-पुरपने उपदेश किया है। समयकी तरह परमाणु और प्रदेशकी सूक्ष्मता होनेसे तीनोंको एक साथ ग्रहण किया गया है। अतीवचारमें प्रवृत्ति करनेके लिये ज्ञानी-पुरपोंने असंख्यात योग कहे हैं, उनके बीचका एक यह 'विचारयोग' भी कहा है, ऐसा समझना चाहिये।

५. शुभेष्टामे लगाकर सर्व कर्मरहितपनेसे निजरूपरूप-स्थिति होनेतक अनेक भूमिकायें हैं। जो जो आत्मार्थी जीव हो गये हैं, और उनमें जिस जिस अंशसे जागृतदशा उत्पन्न हुई है, उस उस दशाके भेदमें उन्होंने अनेक भूमिआओंका आराधन किया है। श्राद्धीर मुद्रदास आदि साधुजन आत्मार्थी गिन जाने योग्य हैं, और शुभेष्टामे ऊपरकी भूमिकाओंमें उनकी स्थिति होना समझ है। अन्यत निजरूपरूप स्थितिके लिये उाकी जागृति और अनुभव भी लक्ष्य आता है। इससे विशेष स्पष्ट अभिप्राय हालमें देनेकी इच्छा नहीं होती।

६. केवलज्ञानके स्वरूपका विचार कठिन है, और श्रीद्वार उसका एकांत कोटासे निश्चय करते हैं, उसमें यद्यपि उाका अभिनिवेश नहीं है, परन्तु वैसा उन्हें भासित होता है, इसलिये वे कहते हैं।

मात्र एकांत कोटी ही है, और भूत-भविष्यका कुछ भी ज्ञान किमीको होना समझ नहीं, ऐसी मान्यता ठीक नहीं है। भूत-भविष्यका यथार्थ ज्ञान हो सकता है, परन्तु वह किहीं विरले पुरुषोंको ही और वह भी विद्वद् चारित्रके तारतम्यसे ही होता है। इसलिये वह संदेहरूप लगता है, क्योंकि ऐसी विद्वद् चारित्रकी तारतमता वर्तमानमें नहीं जैसी ही रहती है।

वर्तमानमें शास्त्रेत्ता मात्र शब्द-बोधसे जो केवलज्ञानका अर्थ कहते हैं, वह यथार्थ नहीं, ऐसा यदि श्रीद्वारको लगता हो तो वह समझ है। तथा भूत-भविष्य जाननेका नाम हा केवलज्ञान है, वह व्याख्या शास्त्रकारने भी मुख्यरूपसे नहीं कही। ज्ञानके अत्यंत शुद्ध होनेको ही ज्ञाना पुरुषोंने केवलज्ञान कहा है, और उस ज्ञानमें आत्म-स्थिति और आत्म समाधि ही मुख्यत कही है। जगत्का ज्ञान होना इत्यादि जो कहा गया है, वह सामान्य जीवोंसे पूर्ण विषयका ग्रहण होना असंभव जानकर ही कहा गया है, क्योंकि जगत्के ज्ञानके ऊपर विचार करते करते आत्म सामर्थ्य समझमें आ सकती है।

श्रीद्वार महात्मा श्रीऋषभ आदिके विषयमें एकांत कोटी न कहते हो, और उनके आज्ञा-वर्तियों (जैसे महावीरस्वामीके दर्शनमें पाँचसौ मुमुक्षुओंने केवलज्ञान प्राप्त किया) को जो केवलज्ञान कहा है, उस केवलज्ञानको एकांत कोटी कहते हों तो यह बात किसी तरह योग्य है। किन्तु केवलज्ञानका श्रीद्वार एकांत निषेध करें तो वह आत्माके ही निषेध करनके बराबर है।

योग हालमें जो केवलज्ञानकी व्याख्या करते हैं, वह केवलज्ञानकी व्याख्या विरोधी मालूम होती है, ऐसा उन्हें लगता हो तो वह भी समझ है। क्योंकि वर्तमान प्ररूपणामें मात्र जगत् ज्ञान ही केवलज्ञानका विषय कहा जाता है। इस प्रकारके समाधानके लिखते समय अनेक प्रकारका विरोध दृष्टिगोचर होता है। और उन विरोधोंको दिखाकर उसका समाधान लिखना हालमें तुरत बनना असंभव है। उसमें सन्नेपमें ही समाधान लिखा है। समाधानका समुदायार्थ इस तरह है—

“आत्मा जिस समय अत्यंत शुद्धज्ञान स्थितिका सेवन करे, उसका नाम मुख्यत केवलज्ञान है। सब प्रकारके राग-द्वेषका अभाव होनेपर अत्यंत शुद्धज्ञान-स्थिति प्रगट हो सकती है। उस

स्थितिमें जो कुठ जाना जा सके, यह केवलज्ञान है, और वह सदेह करने योग्य नहीं है। श्रीङ्गार जो एकान्त कोटी कहते हैं, वह भी महावीरस्वामीके समीपमें रहनेवाले आज्ञार्थी पॉचसौ केजली जैसेके प्रसंगमें ही होना समभव है। जगत्के ज्ञानका लक्ष छोड़कर जो शुद्ध आत्मज्ञान है, वही केवलज्ञान है—ऐसा विचार करते हुए आत्मदशा विशेषभाष्य सेवन करती है” —इस तरह इस प्रश्नके समाधानका सक्षिप्त आशय है।

जैसे बने वैसे जगत्के ज्ञानका विचार छोड़कर जिस तरह स्वरूपज्ञान हो, वैसे केवलज्ञानका विचार होनेके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। जगत्के ज्ञान होनेको मुख्यार्थरूपसे केवलज्ञान मानना योग्य नहीं। जगत्के जीयोंका विशेष लक्ष होनेके लिये बारम्बार जगत्के ज्ञानको साधमें लिया है, और वह कुछ कल्पित है, यह बात नहीं है। परन्तु उसके प्रति अभिनिवेश करना योग्य नहीं है। इस स्थलपर विशेष लिखनेकी इच्छा होती है और उसे रोकनी पड़ती है, तो भी सक्षेपमें फिरसे लिखते हैं।

आत्मासे सत्र प्रकारका अन्य अध्यास दूर होकर स्फटिककी तरह आत्मा अत्यंत शुद्धताका सेवन करे—यही केवलज्ञान है, और बारम्बार उसे जिनागममें जगत्के ज्ञानरूपसे कहा है, उस माहाम्यसे बाह्यदृष्टि जीव पुरुषार्थमें प्रवृत्ति करें, यही उसका हेतु है।

५९१

वम्बई चैत्र वदी ७ रवि १९५२

सत्समागमके अभावके अवसरपर तो विशेष करके आरभ परिग्रहसे वृत्ति न्यून करनेका अभ्यास रखकर जिनमें त्याग-वैराग्य आदि परमार्थ-साधनका उपदेश किया है, वैसे ग्रथ बाँचनेका परिचय करना चाहिये, और अप्रमत्तभासे अपने दोषोंका बारम्बार देखना ही योग्य है।

५९२

वम्बई, चैत्र वदी १४ रवि १९५२

अन्य पुरुषकी दृष्टिमें, जग व्यवहार लखाय।
चूँदावन जब जग नहीं, को व्यवहार बताय ?

—निहार वृदानन

५९३

वम्बई, वैशाख सुदी १ भौम १९५२

ॐ

करनेके प्रति वृत्ति नहीं है, अथवा एक क्षण भर भी जिसे करना भासित नहीं होता, और करनेसे उत्पन्न होनेवाले फलके प्रति जिसकी उदासीनता है, वैसा कोई आप्त पुरुष तथारूप प्रारब्ध-योगसे परिग्रह संयोग आदिमें प्रवृत्ति करता हुआ देखा जाता हो, और जिस तरह इच्छुक पुरुष प्रवृत्ति करे, उद्यम करे, ऐसे कार्यसहित वर्तान करते हुए देखनेमें आता हो, तो उस पुरुषमें ज्ञान-दशा है, यह किस तरह जाना जा सकता है ? अर्थात् वह पुरुष आप्त-परमार्थके लिये प्रतीति करने योग्य—है अथवा ज्ञानी है, यह किस लक्षणसे पहिचाना जा सकता है ? कदाचित् किसी मुमुक्षुको दूसरे किसी पुरुषके सत्सयोगसे

यह जाननमे आया भी हो, तो जिससे उस पहिचानमें भ्राति हो, वैया व्यग्रहार जो उस सत्पुरुषमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उस भ्रातिके निवृत्त होनेके लिये मुमुक्षु जीनको उस पुरुषको किस प्रकारसे पहिचानना चाहिये, जिससे उस उस तरहके व्यग्रहारमें प्रवृत्ति करते हुए भी ज्ञान-स्वरूपता उसके लक्षमें रहे ?

सर्व प्रकारसे जिसे परिग्रह आदि सयोगके प्रति उदासीन भाव रहता है, अर्थात् जिसे तथारूप सयोगोंमें अहता ममताभावा नहीं होता, अथवा वह भाव जिसका परिक्षीण हो गया है, ऐसे ज्ञानी-पुरुषको 'अनतानुमधी प्रकृतिसे रहित मात्र प्रारब्धके उदयसे ही जो व्यवहार रहता हो, वह व्यवहार सामान्य दशाके मुमुक्षुको तदेहका कारण होकर उसके उपकारभूत होनेमें निरोधरूप होता हो, उसे वह ज्ञानी-पुरुष जानता है, और उसके लिये भी परिग्रह सयोग आदि प्रारब्धोदय व्यवहारकी क्षीणताकी ही इच्छा करता है, वैया होनेतक उस पुरुषने किस प्रकारसे वर्तान किया हो, तो उस सामान्य मुमुक्षुके उपकार होनेमें हानि न हो ?

५९४

व्याणोआ, वैशाख वदी ६ रवि १९५२

आर्य श्रीमाणेकचद आदिके प्रति, श्रीस्तमतीर्थ

श्रीसुररालाके वैशाख वदी १ को देह छोड़ देनेकी जो खबर लिखी है, वह बाँची है। अधिक समयकी माँदगीके बिना ही युवाग्रहामें अकस्मात् देह छोड़ देनेके कारण, उसे सामान्यरूपसे पहिचान-नेवाले लोगोंको भी उस बातसे खेद हुए बिना न रहे, तो फिर जिसने कुटुम्ब आदि सम्बन्धके क्लेशसे उसमें मूर्च्छा की हो, जो उसके सहजासमे रहा हो, जिसने उसके प्रति आश्रय-भाजना रक्खी हो, उसे खेद हुए बिना कैसे रह सकता है ? इस ससारमें मनुष्य-प्राणीको जो खेदके अकथनीय प्रसंग प्राप्त होते हैं, उहाँ अकथनीय प्रसंगोंमेंका यह एक महान् खेदकारक प्रसंग है। उस प्रसंगमें यथार्थ विचारवान पुरुषोंके सिवाय सभी प्राणी विशेष खेदको प्राप्त होते हैं, और यथार्थ विचारवान पुरुषोंको विशेष वैराग्य होता है—उहें ससारकी अशरणता, अनित्यता और असारता विशेष दृढ़ होती है।

विचारवान पुरुषोंको उस खेदकारक प्रसंगका मूर्च्छाभाजसे खेद करना, वह मात्र कर्म-बन्धका हेतु भासित होता है, और वैराग्यरूप खेदसे कर्म-सगकी निवृत्ति भासित होती है, और वह सत्य है। मूर्च्छा-भाजसे खेद करनेसे भी जिस सन्धीका वियोग ही गया है उसकी फिरसे प्राप्ति नहीं होती, और जो मूर्च्छा होती है वह भी अविचार दशाका फल है, ऐसा विचारकर विचारवान पुरुष उस मूर्च्छाभाजप्रत्ययी खेदको शान्त करते हैं, अथवा प्राय करके वैया खेद उहें नहीं होता। किसी भी तरह उस खेदका हितकारी-पना देखनेमें नहीं आता, और आकस्मिक घटना खेदका निमित्त होती है, इसलिये वैसे अनसरपर विचारवान पुरुषोंको, जीनको हितकारी खेद ही उत्पन्न होता है। सर्व सगकी अशरणता, अब्रधुता, अनित्यता, और तुच्छता तथा अन्यत्वपना देखकर अपने आपको विशेष प्रतिबोध होता है कि 'हे जीव ! तुझमें कुछ भी इस ससारविषयक उदय आदि भाजसे मूर्च्छा रहती हो तो उसे त्याग कर त्याग कर, उस मूर्च्छाका कुछ भी फल नहीं है। उस ससारमें कभी भी शरणत्व आदि भाज प्राप्त होनेका नहीं, और अविचारभाजके बिना उस ससारमें मोह होना योग्य नहीं, जो मोह अनत जन्म मरण और खेदका हेतु है, दुःख ओर क्लेशका बीज है, उसे शात कर—उसको क्षय कर। हे जीव !

विन्मूकोई दूसरा हितकर उपाय नहीं है' इत्यादि, पत्र आत्मासे विचार करनेपर वैराग्यको शुद्ध और निश्चल करता है—जो कोई जीव यथार्थ विचारसे देखता है, उसे इसी प्रकारसे माळूम होता है।

इस-जीवको देह-सम्बन्ध हो जानेके बाद यदि मृत्यु न होती, तो इस ससारके सिवाय दूसरी जगह उसकी वृत्तिके लगानेकी इच्छा ही न होती। मुरयतया मृत्युके भयसे ही परमार्थरूप दूसरे-स्थानमें प्राप्ति-वृत्तिको प्रेरित किया है, और वह भी किसी निरले जीवको ही प्रेरित हुई है। बहुतसे जीवोंको ही-व्याप्त, निमित्तसे मृत्यु-भयके ऊपरसे बाल क्षणिक वैराग्य प्राप्त होकर, उसके विशेष कार्यकारी हुए विनाही, वह वृत्ति नाश हो जाती है। मात्र किसी किसी विचारवान अथवा सुलभ-योगी या लघुकर्मों की-वृत्तिको ही उस भयके ऊपरसे अविनाशी नि-श्रेयस पदके प्रति वृत्ति होती है।

मृत्यु-भय होता, तो भी यदि वह मृत्यु नियमितरूपसे वृद्धान्स्थानमें ही प्राप्त होती, तो भी जितने पूर्वमें विचारवान हो गये हैं, उतने न होते, अर्थात् वृद्धान्स्थातक तो मृत्यु-भय है ही नहीं, ऐसा समझकर जीव प्रमादसहित ही प्रवृत्ति करता। मृत्युका अवश्य आगमन देखकर, उसका अनियतरूपसे आगमन देखकर, उस प्रसंगके प्राप्त होनेपर स्वजन आदि सभसे अपना अरक्षण देखकर, परमार्थके विचार करनेमें अप्रमत्तमान ही हितकर माळूम हुआ है, और सभसंग अहितकार माळूम हुआ है। विचारवान पुरुषोंको वह निश्चय नि-सन्देह सत्य है—तीनों कालमें सत्य है। मूर्च्छामात्रके खेदका त्याग कर विचारवानको असगमान्-प्रत्ययी खेद करना चाहिये।

यदि इस ससारमें इस प्रकारके प्रसंग न हुआ करते, अपनेको अथवा परको जैसे प्रसंगोंकी अप्राप्ति दिखाई दी होती, अशरण आदि भान न होता, तो पंचविषयके सुख-साधनकी जिन्हें प्रायः कुछ भी न्यूनता न थी ऐसे श्रीऋषभदेव आदि परमपुरुष, और भरत जैसे चक्रवर्ती आदि उसका क्यों-त्याग करते? एकान्त असगमान्का वे किस कारणसे सेवन करते?

हे आर्य माणिकचन्द्र आदि! यथार्थ विचारकी न्यूनताके कारण, पुत्र आदि भावकी कल्पना और मूर्च्छाके कारण तुम्हें कुछ भी विशेष खेद प्राप्त होना समझ है, तो भी उस खेदका दोनोंको कुछ भी हितकारी फल न होनेसे, मात्र असग विचारके बिना किसी दूसरे उपायसे हितकारीपना नहीं है, ऐसा विचारकर, होते हुए खेदको यथाशक्ति विचारसे, ज्ञानी-पुरुषोंके वचनामृतसे, तथा साधु पुरुषके आश्रय समागम आदिसे और निरतिसे उपशांत करना ही कर्तव्य है।

५१५

मोहमयी, द्वितीय ज्येष्ठ सुदी २ शनि १९५२

ॐ

जिस हेतुसे अर्थात् शारीरिक रोगविशेषके कारण तुम्हारे नियममें छूट थी, वह रोगविशेष रहता है, इससे उस छूटको ग्रहण करते हुए आज्ञाका भंग अथवा अतिक्रम होना संभव नहीं। क्योंकि तुम्हारा नियम उसी प्रकारसे प्रारम्भ हुआ था। किन्तु यही कारणविशेष होनेपर भी यदि अपनी इच्छासे उस छूटका ग्रहण करना हो तो आज्ञाका भंग अथवा अतिक्रम होना संभव है।

सर्व प्रकारके आरम तथा परिग्रहके सबर्धके मूलका छेदन करनेके लिये समर्थ ब्रह्मचर्य परम साधन है।

सत्सत्कारका जो अशरण आदि भाग लिखा है वह यथार्थ है। वैसी परिणति अखण्ड रहे तो ही जीव अखण्ड वैराग्यको पाकर निजस्वरूप ज्ञानको प्राप्त कर सकता है। कभी कभी किसी निमित्तसे जैसे परिणाम होते हैं, परंतु उनको विप्र करनेवाले सग-प्रसगमें जीवका निवास होनेसे वह परिणाम अखण्ड नहीं रहता, और सत्सत्कारके प्रति अभिरुचि हो जाती है। इससे अखण्ड परिणतिके ईच्छावानं मुमुक्षुको उसके लिये नित्य समागमना आश्रय करनेकी परम पुरुषने शिक्षा दी है।

जनतक जीवको वह सयोग प्राप्त न हो तततक कुछ भी जैसे वैराग्यको आश्रयके हेतु तथा अप्रतिकूल निमित्तरूप ऐसे मुमुक्षु जनका समागम तथा सत्सत्कारका परिचय करना चाहिये। दूसरे सग-प्रसगसे दूर रहनेकी वारम्भार स्मृति रखनी चाहिये, और उस स्मृतिको प्रवृत्तिरूप करना चाहिये— वारम्भार जीव इस बातको भूल जाता है, और उससे इच्छित साधन तथा परिणामको प्राप्त नहीं करता।

५९६

वर्म्बई, दिवाय, ज्येष्ठ चर्दी ६-गुरु १, १९१३

ॐ

‘वर्तमान कालमें इस क्षेत्रसे निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती,’ ऐसा जिनागममें कहा है, और वेदांत आदि दर्शन ऐसा कहते हैं कि ‘इस कालमें इस क्षेत्रसे निर्वाणकी प्राप्ति हो सकती है’।

‘वर्तमान कालमें इस क्षेत्रसे निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती, इसके सिवाय दूसरे भी जट्टसे-भारोक्त जिनागममें तथा उसके आश्रयसे लिखे गये आचार्योंद्वारा रचित शास्त्रोंमें चिच्छेद कहा है। चिच्छेदज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, अविज्ञान, पूर्वज्ञान, यथायथा चारित्र, सूक्ष्मसाधन चारित्र, परिहारविशुद्धि चारित्र, क्षायिक समकित और पुलाकलत्रिय ये भाग मुख्यरूपसे चिच्छेद माने गये हैं।’

‘वर्तमान कालमें इस क्षेत्रसे आध्यात्मिकी कौन कौन मुख्य भूमिका उत्कृष्ट अधिकारीको प्राप्त हो सकती है, और उसके प्राप्त होनेका क्या मार्ग है?’ इन प्रश्नोंके परमार्थिके प्रति विचारका लक्ष्य रखना।

५९७

वर्म्बई, आषाढ सुदी २ रवि १९१३

ज्ञान क्रिया और भक्तियोग.

मृत्युके साथ जिसकी मित्रता हो, अथवा मृत्युसे भागकर जो छूट सकता हो, अथवा नहीं मरूँगा, ऐसा जिसे निश्चय हो, वह भले ही सुखपूर्वक सोने—(श्रीतीर्थकर—छह जीवनिकार्य अर्थात्)।

ज्ञान-मार्ग कठिनतासे आश्रय करने योग्य है। परमाणुवाद्-दशा पानेके पहिले उस भागमें स्थित होनेके अनेक स्थान हैं।

सदेह, निकल्प, स्वच्छदता, अतिपरिणामीपना इत्यादि कारण जीवको वारम्भार उस मार्गसे च्युत होनेके हेतु होते हैं, अथवा ये हेतु ऊर्ध्व भूमिका प्राप्त नहीं होने देते।

क्रिया मार्गमें असद् अभिमान, व्यवहार-आग्रह, सिद्धि-मोह, पूजा सत्कार आदि योग, और दैहिक-क्रियामें आत्मनिष्ठा आदि दोष समग्र हैं।

किसी किसी महात्माको छोड़कर बहुतसे विचारवाने जीवोंने उन्हीं कारणोंसे

आश्रय लिया है, और आज्ञाश्रितभाव अथवा परमपुरुष सद्वृत्तमें सर्वापेक्षा स्वार्थीभावको, सिरसे वदनीय माना है, और वैसे ही प्रवृत्ति की है। किन्तु वैसा योग प्राप्त होना चाहिये, नहीं तो जिसका चित्तार्माणिके समान एक एक समय है, ऐसी मनुष्य-देहका उल्टा परिभ्रमणकी वृद्धिका ही हेतु होना समभव है।

५९८

ॐ

श्री के अभिप्रायपूर्वक तुम्हारा लिखा हुआ पत्र तथा श्री का लिखा हुआ पत्र मिला है। श्री के अभिप्रायपूर्वक श्री ने लिखा है कि निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षासे ही जिनागम तथा वेदात् आदि दर्शनमें वर्तमान कालमें इस क्षेत्रसे मोक्षका निषेध तथा विधानका कहा जाना समभव है— यह विचार विशेष अपेक्षासे यथार्थ दिखाई देता है, और ने लिखा है कि वर्तमान कालमें सघयण आदिके हीन होनेके कारणसे केवलज्ञानका जो निषेध किया है, वह भी अपेक्षित है।

यहाँ विशेषार्थके लक्षमें आनेके लिये गत पत्रके प्रश्नको कुछ स्पष्टरूपसे लिखते हैं —

जिस प्रकार जिनागमसे केवलज्ञानका अर्थ वर्तमानमें, वर्तमान जैनसमूहमें प्रचलित है, उसी तरहका उसका अर्थ तुम्हें यथार्थ माळूम होता है या कुछ दूसरा अर्थ माळूम होता है ? सर्व देश काल आदिका ज्ञान केवलज्ञानीको होता है, ऐसा जिनागमका वर्तमानमें रूढ़ि-अर्थ है। दूसरे दर्शनमें यह मुख्यार्थ नहीं है, और जिनागमसे वैसा मुख्य अर्थ लोगोंमें वर्तमानमें प्रचलित है। यदि वहाँ केवलज्ञानका अर्थ हो तो उसमें बहुतसा विरोध दिखाई देता है। उस सनको यहाँ लिख सकना नहीं बन सकता। तथा जिस विरोधको लिखा है, उसे भी विशेष विस्तारसे लिखना नहीं बना। क्योंकि उसे यथानसर ही लिखना योग्य माळूम होता है। जो लिखा है, वह उपकार दृष्टिसे लिखा है, यह लक्ष रखना।

योगधारीपना अर्थात् मन वचन और कायासहित स्थिति होनेसे, आहार आदिके लिये प्रवृत्ति होते समय उपयोगातर हो जानेसे, उसमें कुछ भी वृत्तिका अर्थात् उपयोगका निरोध होना समभव है। एक समयमें किसीको दो उपयोग नहीं रहते, जब यह सिद्धांत है, तो आहार आदिकी प्रवृत्तिके उपयोगमें रहता हुआ केवलज्ञानीका उपयोग केवलज्ञानके ज्ञेयके प्रति रहना समभव नहीं, और यदि ऐसा हो तो केवलज्ञानको जो अप्रतिहत कहा है, वह प्रतिहत हुआ माना जाय। यहाँ कदाचित् ऐसा समाधान करें कि 'जैसे दर्पणमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही केवलज्ञानमें सर्व देश काल प्रतिबिम्बित होते हैं। तथा केवलज्ञानी उनमें उपयोग लगाकर उन्हें जानता है, यह बात नहीं है, किन्तु सहज स्वभावसे ही वे पदार्थ प्रतिभासित हुआ करते हैं, इसलिये आहार आदिमें उपयोग रहते हुए सहज स्वभावसे प्रतिभासित ऐसे केवलज्ञानका अस्तित्व यथार्थ है,' तो यहाँ प्रश्न हो सकता है कि दर्पणमें प्रतिभासित पदार्थका ज्ञान दर्पणको नहीं होता, और यहाँ तो ऐसा कहा है कि केवलज्ञानीको उन पदार्थोंका ज्ञान होता है, तथा उपयोगके सिनाय आत्माका ऐसा कौनसा दूसरा स्वरूप है कि जब आहार आदिमें उपयोग रहता हो, तब उससे केवलज्ञानमें प्रतिभासित होने योग्य ज्ञेयको आत्मा जान सके ? । ?

यदि सर्व देश काल आदिका ज्ञान जिस केरलीको हो उस केरलीको ' सिद्ध ' मानें तो यह समझ माना जा सकता है, क्योंकि उमें योगधारीपना नहीं कला है। किन्तु इमें भी यह समझना चाहिये कि फिर भी योगधारिणी अपेक्षासे सिद्धमें वैम केरलज्ञानकी मायता हो तो योगरहितपना होनेसे उसमें सर्व देश काल आदिका ज्ञान समझ हो सकता है—इतना प्रतिपादन करनेके लिये ही यह लिखा है, किन्तु सिद्धको वैसा ज्ञान होता ही है, इस अर्थका प्रतिपादन करनेके लिये नहीं लिखा। यद्यपि जिनागमके रूढ़ी-अर्थके अनुसार देगनेसे तो 'देहधारी केरली' और ' सिद्ध'में केरलज्ञानका भेद नहीं होता—दोनोंको ही सर्व देश काल आदिका सम्पूर्ण ज्ञान होता है, यह रूढ़ी-अर्थ है। परन्तु दूसरी अपेक्षासे जिनागम देगनेसे कुछ भिन्न ही माझ पड़ता है। जिनागममें निम्न प्रकारसे पाठ देगनेमें आता है—

“ केरलज्ञान दो प्रकारका कहा है—सयोगीभवस्थ-केरलज्ञान और अयोगीभवस्थ-केरलज्ञान। सयोगी केरलज्ञान दो प्रकारका कहा है—प्रथमसमय अर्थात् उत्पन्न होनेके समयका सयोगी-केरलज्ञान, और अप्रथमसमय अर्थात् अयोगी होनेके प्रवेश समयक पहिलेका केरलज्ञान। इसी तरह अयोगीभवस्थ-केरलज्ञान भी दो प्रकारका कहा है—प्रथमसमयका केरलज्ञान आर अप्रथम अर्थात् सिद्ध होनेके पहिलेके अन्तिम समयका केरलज्ञान। ”

इत्यादि प्रकारसे केरलज्ञानके भेद जिनागममें कहे हैं, उसका परमार्थ क्या होना चाहिये ? कदाचित् यह समाजान करें कि त्राट कारणकी अपेक्षासे केरलज्ञानके ये भेद बताये हैं, तो यहाँ ऐसी शका हो सकती है कि 'जहाँ कुछ भी पुरुषार्थ सिद्ध न होता हो, और जिसमें त्रिकल्पका अन्काशन हो उसमें भेद करनेकी प्रवृत्ति ज्ञानीके वचनोंमें समझ नहीं है। प्रथमसमय केरलज्ञान और अप्रथमसमय-केरलज्ञान इस प्रकारका भेद करनेमें यदि केरलज्ञानका तारतम्य घटता बढ़ता हो तो वह भेद समझ है, परन्तु तारतम्यमें तो वैसा होता नहीं, तो फिर भेद करनेका क्या कारण है ?—इत्यादि प्रश्न यहाँ होते हैं, उनके ऊपर और प्रथम पत्रके ऊपर यथाशक्ति विचार करना चाहिये।

५९९

हेतु अन्तःस्थ ?

एकमें किस तरह पर्यनसान हो सकता है ? अथवा होता ही नहीं ?
व्यवहार-रचना की है, ऐसा क्या किसी हेतुसे सिद्ध होता है ?

६००

स्वस्थिति—आत्मदशासत्रधी—विचार तथा उसका पर्यनसान ?
उसके पश्चात् लोकोपकारक प्रवृत्ति ? लोकोपकार प्रवृत्तिका नियम,
वर्तमानमें (हालमें) किस तरह प्रवृत्ति करना उचित है ?

लोकस्थानके सदा एक स्वरूपसे रहनेमें क्या कुछ रहस्य है ?

एक तारा भी घट-बूढ़ नहीं होता, ऐसी अनादि स्थितिको किस कारणसे मानना चाहिये ?

शाश्वतताकी व्याख्या क्या है ? आत्मा अथवा परमाणुको कदाचित् शाश्वत माननेमें मूल द्रव्यत्व कारण है, परन्तु तारा, चन्द्र, त्रिमान आदिमें वैसा क्या कारण है ?

६०७

सिद्ध-आत्मा लोकालोक-प्रकाशक है, परन्तु लोकालोक-व्यापक नहीं है, व्यापक तो अपनी अग्राहना प्रमाण ही है—जिस मनुष्यदेहसे सिद्धि प्राप्त की, उसका तीसरा भाग कम घन-प्रदेशाकार है। अर्थात् आत्मद्रव्य लोकालोक-व्यापक नहीं, किन्तु लोकालोक-प्रकाशक अर्थात् लोकालोक-ज्ञायक है। लोकालोकके प्रति आत्मा नहीं जाती, और लोकालोक भी कुछ आत्मामें नहीं आता, सब अपनी अपनी अग्राहनामें अपनी अपनी सत्तासे मौजूद हैं, वैसा होनेपर भी आत्माको उसका ज्ञान-दर्शन किस तरह होता है ?

यहाँ यदि दृष्टांत दिया जाय कि जिस तरह दर्पणमें वस्तु प्रतिबिम्बित होती है, वैसे ही आत्मामें भी लोकालोक प्रकाशित होता है—प्रतिबिम्बित होता है, तो यह समाधान भी अविरोधी दिखाई नहीं देता, क्योंकि दर्पणमें तो निम्नसा-परिणामी पुद्गल-राशिसे प्रतिबिम्ब होता है।

आत्माका अगुरुलघु धर्म है, उस धर्मके देखते हुए आत्मा सब पदार्थोंको जानती है, क्योंकि समस्त द्रव्योंमें अगुरुलघु गुण समान है—ऐसा कहनेमें आता है, तो अगुरुलघु वर्मका क्या अर्थ समझना चाहिये ?

६०८

वर्तमान कालकी तरह यह जगत् सर्गकालमें है।

वह पूर्वकालमें न हो तो वर्तमान कालमें भी उसका अस्तित्व न हो।

वह वर्तमान कालमें है तो भविष्यकालमें भी उसका अत्यंत नाश नहीं हो सकता।

पदार्थमात्रके परिणामी होनेसे यह जगत् पर्यायान्तररूपसे दृष्टिगोचर होता है, परन्तु मूल स्वभावसे उसकी सदा ही विद्यमानता है।

६०९

जो वस्तु समयमात्रके लिये है, वह सर्गकालके लिये है।

जो भाव है वह मौजूद है, जो भाव नहीं वह मौजूद नहीं।

दो प्रकारका पदार्थ स्वभाव विभाजपूर्ण स्पष्ट दिखाई देता है—जड़-स्वभाव और चेतन-स्वभाव।

६१०

'गुणातिशयता किसे कहते हैं ? उसका किस तरह आराधन किया जा सकता है ?

केवलज्ञानमें अतिशयता क्या है ? तीर्थकरमें अतिशयता क्या है ? विशेष हेतु क्या है ?

यदि जिनसम्मत केवलज्ञानको लोकालोक-ज्ञायक मानें तो उस केवलज्ञानमें आहार, निहार, विहार आदि क्रियायें किस तरह हो सकती हैं ?

वर्तमानमें उसकी इस क्षेत्रमें प्राप्ति न होनेका क्या हेतु है ?

६११

मति, श्रुत, अग्नि, मन पर्यन्त, परमाग्नि, केवल

RESEARCH LIBRARY
BANK OF INDIA

६१२

परमाग्नि ज्ञानके उत्पन्न होनेके पश्चात् केवलज्ञान उत्पन्न होता है, यह रहस्य विचार करने योग्य है ।

अनादि अनन्त कालका, अनन्त अलोकका—गणितसे अतीत अथवा असमयातसे पर ऐसे जीन-समूह, परमाणुसमूहके अनन्त होनेपर, अनन्तपनेका साक्षात्कार ही उस गणितातीतपनेके होनेपर—साक्षात् अनन्तपना किस तरह जाना जा सकता है ? इस विरोधका परिहार ऊपर कहे हुए रहस्यसे होने योग्य माध्यम होता है ।

तथा केवलज्ञान निरिक्कल्प है, उसमें उपयोगका प्रयोग करना पड़ता नहीं । सहज उपयोगसे ही वह ज्ञान होता है, यह रहस्य भी विचार करने योग्य है ।

क्योंकि प्रथम सिद्ध कौन है ? प्रथम जीन-पर्याय कौनसी है ? प्रथम परमाणु-पर्याय कौनसी है ? यह केवलज्ञान-गोचर होनेपर भी अनादि ही माध्यम होता है । अर्थात् केवलज्ञान उसके आदिको नहीं प्राप्त करता, और केवलज्ञानसे कुछ छिपा हुआ भी नहीं है, ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं । उनका समन्धान परमाग्नि-विचारसे तथा सहज उपयोगके विचारसे समझने आने योग्य दृष्टिगोचर होता है ।

६१३

कुछ भी है ?

क्या है ?

किस प्रकारसे है ?

क्या वह जानने योग्य है ?

जाननेका फल क्या है ?

बधका हेतु क्या है ?

बध पुद्गलके निमित्तसे हैं अथवा जीनके दोषसे है ?

जिस प्रकारसे समझते हैं उस प्रकारसे बध नहीं हटाया जा सकता, ऐसा सिद्ध होता है, इसलिये मोक्ष-पदकी हानि होती है । उसका नास्तित्व ठहरता है ।

अमूर्तता कोई वस्तु है या अस्तु ?

अमूर्तता यदि कोई वस्तु है तो वह कुछ स्थूल है या नहीं ?

मूर्त पुद्रलका और अमूर्त जीवका सयोग कैसे हो सकता है ?

धर्म, अयर्म और जीव द्रव्यका क्षेत्र-व्यापित्व जिस प्रकारसे जिनभगवान् कहते हैं, उस प्रकार माननेसे वे द्रव्य उत्पन्न-स्वभावीकी तरह सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनका मध्यम-परिणामीपना है।

वर्म, अयर्म और आकाश इन पदार्थोंकी द्रव्यरूपसे एक जाति, और गुणरूपसे भिन्न भिन्न जाति मानना ठीक है, अथवा द्रव्यत्वको भी भिन्न भिन्न मानना ही ठीक है।

द्रव्य किसे कहते हैं ? गुण-पर्यायके बिना उसका दूसरा क्या स्वरूप है ?

केवलज्ञान यदि सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका ज्ञायक ठहरे तो सत्र वस्तुएँ नियत मर्यादामें आ जाँय—उनकी अनतता सिद्ध न हो, क्योंकि उनका अनत-अनादिपना समझमें नहीं आता, अर्थात् केवलज्ञानमें उनका किस रीतिसे प्रतिभास हो सकता है ? उसका विचार बराबर ठीक ठीक नहीं बैठता।

६१४

जैनदर्शन जिसे सर्वप्रकाशकता कहता है, वेदान्त उसे सर्वव्यापकता कहता है।

दृष्ट वस्तुके ऊपरसे अदृष्टका विचार खोज करने योग्य है।

जिनभगवान्के अभिप्रायसे आत्माको स्वीकार करनेसे यहाँ लिखे हुए प्रसंगोंके ऊपर अधिक विचार करना चाहिये —

१ असख्यात प्रदेशका मूल परिमाण

२ सकोच-विकासवाली जो आत्मा स्वीकार की है, वह सकोच विकास क्या अरूपीमें हो सकता है ? तथा वह किस प्रकार हो सकता है ?

३ निगोद अवस्थाका क्या कुछ विशेष कारण है ?

४ सर्व द्रव्य क्षेत्र आदिकी जो प्रकाशकता है, आत्मा तद्रूप केवलज्ञान-स्वभावी है, या निज-स्वरूपमें अस्थित निजज्ञानमय ही केवलज्ञान है ?

५ आत्मामें योगसे विपरिणाम है, स्वभावसे विपरिणाम है। विपरिणाम आत्माकी मूल सत्ता है, सयोगी सत्ता है। उस सत्ताका कौनसा द्रव्य मूल कारण है ?

६ चेतन हीनाधिक अवस्थाको प्राप्त करे, उसमें क्या कुछ विशेष कारण है ? निज स्वभावका ? पुद्रल सयोगका ? अथवा उससे कुछ भिन्न ही ?

७ जिस तरह मोक्ष पदमें आत्मभाव प्रगट हो उस तरह मूल द्रव्य मानें, तो आत्माके लोक-व्यापक-प्रमाण न होनेका क्या कारण है ?

८ ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है, इस सिद्धांतको घटाते हुए आत्माको ज्ञानसे कथंचित् भिन्न किस अपेक्षासे मानना चाहिये ? जडत्वभासे अथवा अय किसी गुणकी अपेक्षासे ?

अमूर्तता कोई वस्तु है या अस्तु ?

अमूर्तता यदि कोई वस्तु है तो वह कुछ स्थूल है या नहीं ?

मूर्त्त पुद्गलका और अमूर्त्त जीवका सयोग कैसे हो सकता है ?

धर्म, अर्ध और जीव द्रव्यका क्षेत्र-व्यापित्व जिस प्रकारसे जिनभगवान् कहते हैं, उस प्रकार माननेसे वे द्रव्य उत्पन्न-स्वभावीकी तरह सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनका मध्यम-परिणामीपना है।

वर्म, अर्ध और आकाश इन पदार्थोंकी द्रव्यरूपसे एक जाति, ओर गुणरूपसे भिन्न भिन्न जाति मानना ठीक है, अथवा द्रव्यत्वको भी भिन्न भिन्न मानना ही ठीक है।

द्रव्य किसे कहते हैं ? गुण पर्यायके विना उसका दूसरा क्या स्वरूप है ?

केवलज्ञान यदि सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका ज्ञायक ठहरे तो सत्र वस्तुएँ नियत मर्यादामें आ जाँय—उनकी अनतता सिद्ध न हो, क्योंकि उनका अनत-अनादिपना समझमें नहीं आता, अर्थात् केवलज्ञानमें उनका किस रीतिसे प्रतिभास हो सकता है ? उसका विचार बराबर ठीक ठीक नहीं बैठता।

६१४

जैनदर्शन जिसे सर्वप्रकाशकता कहता है, वेदान्त उसे सर्वव्यापकता कहता है।

दृष्ट वस्तुके ऊपरसे अदृष्टका विचार खोज करने योग्य है।

जिनभगवान्के अभिप्रायसे आत्माको स्वीकार करनेसे यहाँ लिखे हुए प्रसंगोंके ऊपर अधिक विचार करना चाहिये—

१ असरयात प्रदेशका मूल परिमाण

२ सकोच-विकासगळी जो आत्मा स्वीकार की है, वह सकोच विकास क्या अरूपीमें हो सकता है ? तथा वह किस प्रकार हो सकता है ?

३ निगोद अस्थायीका क्या कुछ विशेष कारण है ?

४ सर्व द्रव्य क्षेत्र आदिकी जो प्रकाशकता है, आत्मा तद्रूप केवलज्ञान-स्वभावी है, या निज-स्वरूपमें अवस्थित निजज्ञानमय ही केवलज्ञान है ?

५ आत्मामें योगसे निपरिणाम है, स्वभावसे निपरिणाम है। निपरिणाम आत्माकी मूल सत्ता है, सयोगी सत्ता है। उस सत्ताका कौनसा द्रव्य मूल कारण है ?

६ चेतन हीनाधिक अवस्थाको प्राप्त करे, उसमें क्या कुछ विशेष कारण है ? निज स्वभावका ? पुद्गल सयोगका ? अथवा उससे कुछ भिन्न ही ?

७ जिस तरह मोक्ष-पदमें आत्मभाव प्रगट हो उस तरह मूल द्रव्य मानें, तो आत्माके लोक-व्यापक-प्रमाण न होनेका क्या कारण है ?

८ ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है, इस सिद्धांतको घटाते हुए आत्माको ज्ञानसे कथंचित् भिन्न किस अपेक्षासे मानना चाहिये ? जडत्वभावसे अथवा अन्य किसी गुणकी अपेक्षासे ?

९. मध्यम-परिणामवाली वस्तुकी नित्यता किस तरह समझ है ?

१०. शुद्ध चेतनमें अनेककी सरयाका भेद कैसे घटित होता है ?

६१५

सामान्य चेतन	सामान्य चैतन्य
विशेष चेतन	विशेष चैतन्य
निर्विशेष चेतन	(चैतन्य)
स्वाभाविक अनेक आत्मा (जीव)—निर्ग्रन्थ	
सोपाधिक अनेक आत्मा (जीव)—वेदात्त.	

६१६

चक्षु अप्राप्यकारी
मन अप्राप्यकारी
चेतनका ग्राह्य आगमन (गमन न होना)

६१७

ज्ञानी-पुरखोंको समय समयमें अनन्त समय-परिणाम वृद्धिगत होते हैं, ऐसा जो सर्वज्ञाने कहा है वह सत्य है। वह समय विचारकी तीक्ष्ण परिणतिसे तथा ब्रह्मरसके प्रति स्थिरता करनेसे उत्पन्न होता है।

६१८

श्रीतीर्थंकर आत्माको सकोच-विकासका भाजन योगदशामें मानते हैं, यह सिद्धांत विशेषरूपसे विचारणीय है।

६१९

बम्बई, आपाढ़ सुदी ४ भौम १९५२

जगमनी लुक्ति तो सर्वे जाणिये, समीप रहे पण शरीरनो नहीं सग जो,
एकाते वसवु रे, एरुज आसने, भूल पडे तो पडे भजनमा भग जो ।
ओधवजी अज्जा ते साधन भु करे ?

१ जगम (शिवलिंगके पूजनेवाले साधुओंका घग) साधुओंकी दलीलको तो सब जानते हैं। सगमें रहनेपर भी उन्हें शरीरका सग नहीं रहवा। परंतु बात तो यह है कि एकातमें एक ही आसनपर बैठना चाहिये, क्योंकि कोई भूल हो जाय तो भजनमें बाधा होना समझ है। हे ओधवजा, मैं अबला उन कौमसे साधनोंकी स्वीकार करूँ ?

अमूर्तता कोई वस्तु है या अस्तु ?

अमूर्तता यदि कोई वस्तु है तो वह कुछ स्थूल है या नहीं ?

मूर्त पुद्गलका और अमूर्त जीवका संयोग कैसे हो सकता है ?

धर्म, अधर्म और जीव द्रव्यका क्षेत्र-व्यापित्व जिस प्रकारसे जिनभगवान् कहते हैं, उस प्रकार माननेसे वे द्रव्य उत्पन्न-स्वभावीकी तरह सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनका मध्यम-परिणामीपना है।

वर्म, अपर्म और आकाश इन पदार्थोंकी द्रव्यरूपसे एक जाति, और गुणरूपसे भिन्न भिन्न जाति मानना ठीक है, अथवा द्रव्यत्वको भी भिन्न भिन्न मानना ही ठीक है।

द्रव्य किसे कहते हैं ? गुण पर्यायके बिना उसका दूसरा क्या स्वरूप है ?

केवलज्ञान यदि सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावका ज्ञायक ठहरे तो सब वस्तुएँ नियत मर्यादामें आ जाँय—उनकी अनतता सिद्ध न हो, क्योंकि उनका अनत-अनादिपना समझमें नहीं आता, अर्थात् केवलज्ञानमें उनका किस रीतिसे प्रतिभास हो सकता है ? उसका विचार बराबर ठीक ठीक नहीं बैठता।

६१४

जैनदर्शन जिसे सर्वप्रकाशकता कहता है, वेदान्त उसे सर्वव्यापकता कहता है।

दृष्ट वस्तुके ऊपरसे अदृष्टका विचार खोज करने योग्य है।

जिनभगवान्के अभिप्रायसे आत्माको स्वीकार करनेसे यहाँ लिखे हुए प्रसंगोंके ऊपर अधिक विचार करना चाहिये —

१ असह्यात प्रदेशका मूल परिमाण.

२ सकोच-विकासराही जो आत्मा स्वीकार की है, वह सकोच विकास क्या अरूपीमें हो सकता है ? तथा वह किम प्रकार हो सकता है ?

३ निगोद अवस्थाका क्या कुछ विशेष कारण है ?

४ सर्व द्रव्य क्षेत्र आदिकी जो प्रकाशकता है, आत्मा तद्रूप केवलज्ञान-स्वभावी है, या निज-स्वरूपमें अवस्थित निजज्ञानमय ही केवलज्ञान है ?

५ आत्मामें योगसे विपरिणाम है, स्वभावसे विपरिणाम है। विपरिणाम आत्माकी मूल सत्ता है, संयोगी सत्ता है। उस सत्ताका कोनसा द्रव्य मूल कारण है ?

६ चेतन हीनाधिक अवस्थाको प्राप्त करे, उसमें क्या कुछ विशेष कारण है ? निज स्वभावका पुद्गल संयोगका ? अथवा उससे कुछ भिन्न ही ?

७ जिस तरह मोक्ष-पदमें आत्ममान प्रगट हो उस तरह मूल द्रव्य मानें, तो आत्माके लोक-व्यापक-प्रमाण न होनेका क्या कारण है ?

८ ज्ञान गुण है और आत्मा गुणी है, इस सिद्धांतको घटाते हुए आत्माको ज्ञानसे कथंचिद् भिन्न किस अपेक्षासे मानना चाहिये ? जडरजभावसे अथवा अन्य किसी गुणकी अपेक्षासे ?

९ मध्यम-परिणामवाली वस्तुकी नित्यता किस तरह समझ है ?

१० शुद्ध चेतनमें अनेककी सख्याका भेद कैसे घटित होता है ?

६१५

सामान्य चेतन	सामान्य चैतन्य
निशेष चेतन	निशेष चैतन्य
निर्निशेष चेतन	(चैतन्य)
स्वाभाविक अनेक आत्मा (जीव)—निर्ग्रन्थ	
सोपाधिक अनेक आत्मा (जीव)—वेदा त.	

६१६

चक्षु अप्राप्यकारी
मन अप्राप्यकारी
चेतनका बाह्य आगमन (गमन न होना)

६१७

ज्ञानी-पुरुषोंको समय समयमें अनन्त समय-परिणाम वृद्धिगत होते हैं, ऐसा जो सर्वज्ञाने कहा है वह सत्य है। वह समय-विचारकी तीक्ष्ण परिणतिसे तथा ब्रह्मरसके प्रति स्थिरता करनेसे उत्पन्न होता है।

६१८

श्रीतीर्थंकर आत्माको सकोच-विकासका भाजन योगदशामें मानते हैं, यह सिद्धांत विशेषरूपसे विचारणीय है।

६१९

बम्बई, आपाङ्ग सुदी ४ मोम १९५२

जगमनी ज्युक्ति तो सर्वे जाणिये, समीप रहे पण शरीरनो नहीं सम जो,
एकते वसवु रे, एकज आसने, भूल पडे तो पडे भजनमा भग जो।

ओषधजी अज्जा ते साधन थु करे ?

१ जगम (शिवलिंगके पूजनेवाले साधुओंका वग) साधुओंकी दलीलनो तो सब जानते हैं। सधममें रहनेपर भी उन्हें शरीरका सम नहीं रहता। परन्तु बात तो यह है कि एकतामें एक ही आसनपर बैठना चाहिये, क्योंकि कोई भूल हो जाय तो भजनमें बाधा होना समझ है। हे ओषधजी, मैं अबला उन कौनसे साधनोंको स्वीकार करूँ ?

६२०

वम्बई, आपाढ़ सुदी ५ बुध. १९५२

ॐ

प्रश्न — 'श्रीसहजानन्दके वचनामृतमें आत्मस्वरूपके साथ अहर्निश प्रत्यक्ष भगवान्की भक्ति करना, और उस भक्तिको स्वधर्ममें रहकर करना, इस तरह जगह जगह मुख्यरूपसे बात आती है। अब यदि 'स्वधर्म' शब्दका अर्थ 'आत्मस्वभाव' अथवा 'आत्मस्वरूप' होता हो तो फिर स्वधर्मसहित भक्ति करना, यह कहनेका क्या कारण है?' ऐसा जो तुमने लिखा उसका उत्तर यहाँ लिखा है —

उत्तर — स्वधर्ममें रहकर भक्ति करना, ऐसा जो कहा है, उहाँ स्वधर्म शब्दका अर्थ वर्णाश्रमधर्म है। जिस ब्राह्मण आदि वर्णमें देह उत्पन्न हुई हो, उस वर्णकी श्रुति स्मृतिमें कहे हुए धर्मका आचरण करना, यह वर्णधर्म है, ओर ब्रह्मचर्य आदि आश्रमके क्रमसे आचरण करनेकी जो मर्यादा श्रुति-स्मृतिमें कही गई है, उस मर्यादासहित उस उस आश्रममें प्रवृत्ति करना, यह आश्रमधर्म है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं, तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यस्त ये चार आश्रम हैं। ब्राह्मण वर्णमें वर्ण-धर्मका आचरण इस तरह करना चाहिये, ऐसा जो श्रुति-स्मृतिमें कहा हो, उसके अनुसार ब्राह्मण आचरण करे तो वह स्वधर्म कहा जाता है, और यदि उस प्रकार आचरण न करते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिके आचरण करने योग्य धर्मका आचरण करे, तो वह परधर्म कहा जाता है। इस प्रकार जिस जिस वर्णमें देह धारण की हो, उस उस वर्णकी श्रुति-स्मृतिमें कहे हुए धर्मके अनुसार प्रवृत्ति करना, यह स्वधर्म कहा जाता है, और यदि दूसरे वर्णके धर्मका आचरण किया जाय तो वह परधर्म कहा जाता है।

यही बात आश्रमधर्मके प्रियमें भी है। जिन वर्णोंको श्रुति स्मृतिमें ब्रह्मचर्य आदि आश्रम-सहित प्रवृत्ति करनेके लिये कहा है, उस वर्णमें प्रथम चाबीस वर्षतक गृहस्थाश्रममें रहना, तत्पश्चात् क्रमसे वानप्रस्थ और सन्यस्त आश्रममें आचरण करना, इस तरह आश्रमका सामान्य क्रम है, उस उस आश्रममें आचरण करनेकी मर्यादाके समयमें यदि कोई दूसरे आश्रमके आचरणको ग्रहण करे तो वह परधर्म कहा जाता है, और यदि उस उस आश्रममें उस उस आश्रमके धर्मोंका आचरण करे तो वह स्वधर्म कहा जाता है। इस तरह वेदाश्रित मार्गमें वर्णाश्रमधर्मको स्वधर्म कहा है। उस वर्णाश्रम-धर्मको ही स्वधर्म शब्दसे समझना चाहिये, अर्थात् सहजानन्दस्वामीने यहाँ वर्णाश्रमधर्मको ही स्वधर्म शब्दसे कहा है।

भक्तिप्रधान संप्रदायोंमें प्रायः भगवद्भक्ति करना ही जीविका स्वधर्म है, ऐसा प्रतिपादन किया है, परन्तु यहाँ उस अर्थमें स्वधर्म शब्दको नहीं कहा। क्योंकि भक्तिको स्वधर्ममें रहकर ही करना चाहिये, ऐसा कहा है। इसलिये स्वधर्मको जुदारूपसे ग्रहण किया है, और उसे वर्णाश्रमधर्मके अर्थमें ही ग्रहण किया है। जीविका स्वधर्म भक्ति है, यह बतानेके लिये तो भक्ति शब्दके बदले क्वचित् ही इन संप्रदायोंमें स्वधर्म शब्दका प्रयोग किया गया है, ओर श्रीसहजानन्दके वचनामृतमें भक्तिके बदले स्वधर्म शब्द सज्ञा नाचकरूपसे भी प्रयुक्त नहीं किया, हों कहीं कहीं श्रीबल्लभाचार्यने तो यह प्रयोग किया है।

६२१

वम्बई, आपाढ वदी ८ रनि १९५२

भुजाके द्वारा जो स्वयभूरमण समुद्रको तिर गये हे, तैरते हे और तैरेंगे,
उन सत्पुरुषोंको निष्काम भक्तिसे त्रिकाल नमस्कार हो

एक धारासे वेदन करने योग्य प्रारब्धके सहन करते हुए, कुछ एक परमार्थ व्यग्रहाररूप प्रवृत्ति कृत्रिम जैसी लगती है, ओर उन कारणोंसे पहुँचमात्र भी नहीं लिखी। चित्तको जो सहज ही अलम्बन है, उसे खींच लेनेसे आर्तभाप होगा, ऐसा जानकर उस दयाके प्रतिग्रसे इस पत्रको लिखा है।

सूक्ष्मसगरूप और बाह्यसगरूप दुस्तर स्वयभूरमण समुद्रको जो वर्धमान आदि पुरुष भुजासे तिर गये है, उन्हें परमभक्तिसे नमस्कार हो। च्युत होनेके भयकर स्थानकमें सावधान रहकर, तथारूप सामर्थ्य निस्तृत करके जिसने सिद्धिको साजा है, उस पुरुषार्थको याद करके रोमाचित, अनत ओर मौन ऐसा आश्चर्य उत्पन्न होता है।

६२२

प्रारब्धरूप दुस्तर प्रतिग्रप रहता है, उसमें कुछ लिखना अथवा कहना कृत्रिम जैसा ही माझम होता है, और उससे हालमें पत्र आदिकी पहुँचमात्र भी नहीं लिखी। बहुतसे पत्रोंके लिये वेसा ही हुआ है, इस कारण चित्तको विशेष व्याकुलता होगी, उस विचाररूप दयाके प्रतिग्रसे यह पत्र लिखा है। आत्माको जो मूलज्ञानसे चलायममान कर डाले, ऐसे प्रारब्धका वेदन करते हुए ऐसा प्रतिग्रध उस प्रारब्धके उपकारका हेतु होता है, और किसी किसी कठिन अग्रसरपर कभी तो वह आत्माको मूलज्ञानके वमन करा देनेतककी दिग्गतिको प्राप्त करा देता है, ऐसा समझकर, उससे डरकर ही आचरण करना योग्य है। यह विचारकर पत्र आदिकी पहुँच नहीं लिखा, उसे क्षमा करनेकी नम्रता-सहित प्रार्थना है।

अहो ! ज्ञानी-पुरुषका आशय, गभीरता, धीरज ओर उपशम। अहो ! अहो ! बारम्बार अहो ! ॐ

६२३

वम्बई, आपाढ वदी १५ सोम १९५२

तुम्हें तथा दूसरे किसी सत्समागमकी निष्ठानाले भाईयोंको हमारे समागमकी अभिलाषा रहा करती है, वह बात जाननेमें है, परन्तु उस निषयके अमुक कारणोंका विचार करते हुए प्रवृत्ति नहीं होती। प्राय चित्तमें ऐसा रहा करता है कि हालमें अगिक समागम भी कर सकने योग्य दशा नहीं है। प्रथमसे ही इस प्रकारका विचार रहा करता था, ओर जो विचार अधिक श्रेयस्कर लगता था। किंतु उदयग्रसे बहुतसे भाईयोंको समागम होनेका प्रसंग हुआ, जिसे एक प्रकारसे प्रतिग्रध होने जैसा समझा था, और हालमें कुछ भी वेसा हुआ माझम होता है। वर्तमान आत्म दशा देवते हुए उतना प्रतिग्रध होने देने योग्य सत्ता मुझे समर्पित नहीं है। यहाँ प्रसंगसे कुछ कुछ स्पष्ट अर्थ कह देना उचित है।

इस आत्मामें गुणका विशेष प्राकृत्य समझकर, तुम सब किहीं मुमुक्षु भाईयोंकी भक्ति रहती हो
भी उससे उस भक्तिकी योग्यता मेरे विषयमें सभ्य है, ऐसा समझनेकी योग्यता मेरी नहीं है।

यहाँ एक प्रार्थना कर देना योग्य है कि इस आत्मामें तुम्हें गुणका प्राकृत्य भासमान होता हो
और उससे अतरमें भक्ति रहती हो, तो उस भक्तिका यथायोग्य विचारकर जैसे तुम्हें योग्य माद्रम हो
सा करना योग्य है। परन्तु इस आत्मके सन्धमें हालमें बाहर किसी प्रसंगकी चर्चा होने देना योग्य
नहीं। क्योंकि अतिरतिरूप उदय होनेसे गुणका प्राकृत्य हो, तो भी वह लोगोंकी भासमान होना कठिन
है, और उससे उसकी निराधना होनेका कुछ भी कारण होना सभ्य है, तथा इस आत्माद्वारा पूर्व
वहापुरुषके क्रमका खडन करनेके समान कुछ भी प्रवृत्तिका समझा जाना सभ्य है।

६२४

वम्बई, श्रावण सुदी ५ शुक्र १९५२

ॐ

१ प्रश्न — जिनागममें धर्मास्तिकाय आदि उह द्रव्य कहे गये हैं, उनमें कालको भी द्रव्य कहा
है, ओर अस्तिकाय पाँच कहे हैं, कालको अस्तिकाय नहीं कहा—इसका क्या कारण होना चाहिये ?
कदाचित् कालको अस्तिकाय न कहनेमें यह हेतु हो सकता है कि धर्मास्तिकाय आदि प्रदेशके
समूहरूप हैं, और पुद्गल-परमाणु भी वैसी ही योग्यतावाला द्रव्य है, और काल वैसा नहीं है। वह
मात्र एक समयरूप है, उससे कालको अस्तिकाय नहीं कहा। यहाँ ऐसी आशंका होती है कि एक
समयके बाद दूसरी फिर तीसरी इस तरह समयकी धारा चलती ही रहती है, और उस धारामें
बीचमें अवकाश नहीं होता, उससे एक दूसरे समयका सन्ध अथवा समूहात्मकपना होना सभ्य
है, जिमसे काल भी अस्तिकाय कहा जा सकता है। तथा सर्वज्ञको तीन कालका ज्ञान होता है, ऐसा
जो कहा है, उससे भी ऐसा माद्रम होता है कि सर्व काल समूह ज्ञान-गोचर होता है, और सर्व
समूह ज्ञान-गोचर होता हो तो कालका अस्तिकाय होना सभ्य है, और जिनागममें उसे अस्तिकाय
माना नहीं ?

उत्तर — जिनागमकी प्ररूपणा है कि काल औपचारिक द्रव्य है, स्वाभाविक द्रव्य नहीं।

जो पाँच अस्तिकाय कहे हैं, मुख्यरूपसे उनकी वर्तनाका नाम ही काल है। उस वर्तनाका दूसरा
नाम पर्याय भी है। जैसे धर्मास्तिकाय एक समयमें असंख्यता प्रदेशके समूहरूप माद्रम होता है, वैसा
काल समूहरूपसे माद्रम नहीं होता। जब एक समय रहकर नष्ट हो जाता है, तब दूसरा समय उत्पन्न
होता है। वह समय द्रव्यकी वर्तनाका सूक्ष्मसे सूक्ष्म भाग है।

सर्वज्ञको सर्व कालका ज्ञान होता है, ऐसा जो कहा है, उसका मुख्य अर्थ तो यह है कि उन्हें
पचासिकाय द्रव्य-पर्यायरूपसे ज्ञानगोचर होते हैं, और सर्व पर्यायका जो ज्ञान है, वही सर्व कालका
ज्ञान कहा गया है। एक समयमें सर्वज्ञ भी एक समयको ही मौजूद देखते हैं, और भूतकाल अथवा
भावीकालको मौजूद नहीं देखते। यदि वे इन्हें भी मौजूद देखें तो वह भी वर्तमानकाल ही कहा जाय।

सर्ज भूतकालको ' उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने ' और भारीकालको, ' आगे अमुक तरह होगा ' के रूपमें देखते हैं ।

परन्तु भूतकाल द्रव्यमे समा गया है, और भारीकाल सत्कारूपसे सन्निष्ठ है, दोनोंमेंसे एक ही वर्तमानरूपसे नहीं है, मात्र एक समयरूप ही वर्तमानकाल रहता है, इसलिये सर्जको ज्ञानमें भी इसी प्रकार भासमान होता है ।

जसे किसीने एक घड़ेको अभी देखा हो, उसके बाद वह दूसरे समयमें नाश हो गया है, ओर उस समय वह घड़ेरूपसे विद्यमान नहीं है, परन्तु देखनेवालेको वह घडा जैसा था वैसा ही ज्ञानमें भासमान होता है । इसी तरह इस समय मिट्टीका कोई पिंड पड़ा हुआ है, उसमेंसे थोड़ा समय बीतनेपर एक घड़ा उत्पन्न होगा, ज्ञानमें ऐसा भी भासमान हो सकता है, फिर भी मिट्टीका पिंड वर्तमानमें कुछ घड़ेरूपसे ही रहता । इसी तरह एक समयमें सर्जको त्रिकाल ज्ञान होनेपर भी वर्तमान समय तो एक ही है ।

सूर्यके कारण जो दिन और रात्रिरूप काल समझा जाता है, वह व्यग्रहारकाल है, क्योंकि सूर्य स्वाभाविक द्रव्य नहीं है ।

दिग्गम्य कालके असह्यात अणु स्वीकार करते हैं, परन्तु उनका एक दूसरेके साथ संग्र है, ऐसा उनका अभिप्राय नहीं है, ओर इससे उन्होंने कालको अस्तिकायरूपसे स्वीकार नहीं किया ।

२ प्रत्यक्ष सत्समागममें भक्ति वेराग्य आदि दृढ़ साधनसहित मुमुक्षुको, सद्गुरुकी आज्ञासे द्रव्या-पयोगका विचार करना चाहिये ।

३ श्रीदेवचन्द्रजीकृत अभिनन्दन भगवान्की स्तुतिका पद लिखकर जो उसका अर्थ पृष्ठपाया है, उसमें—'पुद्गलअनुभव त्यागधी, करवी ज थु परतीत हों'—ऐसा जो लिखा है, वह मूलपद नहीं है । मूलपद इस तरह है—'पुद्गलअनुभव त्यागधी, करवी जसु परतीत हों'—अर्थात् वर्ण गध आदि पुद्गल-गुणके अनुभवका अर्थात् रसका त्याग करनेसे, उसके प्रति उदासीन होनेसे, जसु ' अर्थात् जिसकी (आमाकी) प्रतीति होती है ।

६२५

निद्रा अनादि है । जीव अनादि है ।

पुद्गल परमाणु अनादि हैं । जीव ओर कर्मका सबध अनादि है ।

सयोगीभावमें तादात्म्य—अध्यास—होनेसे जीव जन्म-मरण आदि दुःखोका अनुभव करता है ।

६२६

पाँच अस्तिकायरूप लोक अर्थात् निद्रा है । चैतन्य लक्षण जीव है ।

वर्ण, गध, रस और स्पर्शयुक्त परमाणु हैं, वह सबध स्वरूपसे नहीं, निभावरूपसे है ।

६३०

कानिठा, श्रावण वदी १९५२

शरीर किसका है ? मोहका है । इसलिये असग भानना रखना योग्य है ।

६३१

राज, श्रावण वदी १३ शनि. १९५२

३०

१ प्रश्न — अमुक पदार्थके गमनागमन आदिके प्रयोगमें धर्मास्तिकाय आदिके अमुक प्रदेशमें ही किया होता है, और यदि इस तरह हो तो उनमें विभाग होना समन है, जिससे वे भी कालके समयकी तरह अस्तिकाय नहीं कहे जा सकते ?

उत्तर — जिस तरह धर्मास्तिकाय आदिके सर्प प्रदेश एक समयमें वर्तमान है, अर्थात् विद्यमान हैं, उसी तरह कालके सर्प समय कुछ एक समयमें विद्यमान नहीं होते, और फिर द्रव्यकी वर्तना पर्यायके सिद्धांत कालका कोई जुदा द्रव्यन नहीं है, जिससे उसका अस्तिकाय होना समन हो । अमुक प्रदेशमें धर्मास्तिकाय आदिमें किया हो, और अमुक प्रदेशमें न हो, इससे कुछ उसके अस्तिकाय होनेका भंग नहीं होता । वह द्रव्य केवल एक प्रदेशात्मक हो और उसमें समूहात्मक होनेकी योग्यता न हो, तो ही उसके अस्तिकाय होनेका भंग हो सकता है, अर्थात् तो ही वह अस्तिकाय नहीं कहा जा सकता । परमाणु एक प्रदेशात्मक है, तो भी उस तरहके दूसरे परमाणु मिलकर वह समूहात्मकरूप होता है, इसलिये वह अस्तिकाय (पुद्गलास्तिकाय) कहा जाता है । तथा एक परमाणुमें भी अनन्त पर्यायात्मकरूपना है, और कालके एक समयमें कुछ अनन्त पर्यायात्मकपना नहीं है, क्योंकि वह स्वयं ही वर्तमान एक पर्यायरूप है । एक पर्यायरूप होनेसे वह द्रव्यरूप नहीं ठहरता, तो फिर उसे अस्तिकाय रूप माननेका विरूप करना भी समन नहीं है ।

२ मूल अणुविक जीवोंका स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म होनेसे, सामान्य ज्ञानसे उसका विशेषरूपसे ज्ञान होना कठिन है, तो भी षड्दर्शनसमुच्चय ग्रन्थमें, जो हाथमें ही प्रसिद्ध हुआ है, १४१ से १४३ पृष्ठतक उसका कुछ स्वरूप समझाया गया है । उसका विचारना हो सके तो विचार करना ।

३ अग्नि अथवा दूसरे वलयान शस्त्रसे अणुविक मूल जीवोंका नाश हो जाना समन है, ऐसा समझमें आता है । यहाँसे भाप आदिरूप होकर जो पानी ऊपर आकाशमें बादलरूपसे एकत्रित होता है, वह भाप आदिरूप होनेसे अचित्त मालूम होता है, परन्तु बादलरूप होनेसे वह फिरसे सचित्त हो जाता है । वर्षा आदिरूपसे जमीनपर पड़नेपर भी वह सचित्त हो जाता है । मिट्टी आदिके साथ मिलनेसे भी वह सचित्त रह सकता है । सामान्यरूपसे मिट्टी अग्निके समान वलयान शस्त्र नहीं है, इसलिये वैसा ही तो भी उसका सचित्त रहना समन है ।

४ बीज जन्तक बोये जानेसे उगनेकी योग्यता रखता है, तन्तक निर्जीव नहीं होता, वह सजीव ही फटा जाता है । अमुक अनाधिके पश्चात् अर्थात् सामान्यरूपसे बीज (अन्न आदिका) तीन वर्षतक सजीव रह सकता है । इसके बीजमें उसमेंसे जीव च्युत भी हो सकता है, परन्तु उस अनाधिके

वीतनेके पश्चात् उसे निर्जीव अर्थात् निर्वाज हो जाने योग्य कहा है। कदाचित् उसका बीज जैसा आकार हो, भी परन्तु वह बानेसे उगनेकी योग्यतारहित हो जाता है। सभी बीजोंकी अत्रि तीन वर्षकी नहीं होती, कुछ ही बीजोंकी होती है।

५ फ्रेंच विद्वानद्वारा एतन् किये हुए यत्रकी विगतके बारेमें जो समाचार भेजा है, उसे बॉचा है। उसमें उस यत्रका जो 'आत्माके देखनेका यत्र' नाम रखा है, वह यथार्थ नहीं है। ऐसा किसी भी दर्शनकी व्याख्यामें आत्माका समावेश नहीं हो सकता। तुमने स्वयं भी उसे आत्माके देखनेका यत्र नहीं समझा है, ऐसा मानते हैं। तथापि 'उसमें कार्माण अथवा तैजस शरीर दिखाई दे सकते हैं, अथवा कोई दूसरा ज्ञान हो सकता है,' यह जाननेकी तुम्हारी जिज्ञासा माझ्म होती है। परन्तु कार्माण अथवा तैजस शरीर भी उस तरहसे नहीं देखे जा सकते। किन्तु चक्षु, प्रकाश, वह यत्र, मरने-वालेकी देह, और उसकी छाया अथवा किसी आभासविशेषसे बसा होना समझ है। उस यत्रविषयक अधिक विवरण प्रसिद्ध होनेपर, यह बात पूर्णपर अधिकतर जाननेमें आयेगी।

हजारों परमाणुओंके दिखाई देनेके विषयमें भी उनके लिखनेकी अथवा देखे हुए स्वरूपकी व्याख्या करनेमें कुछ कुछ पर्याय भेद माझ्म होता है। हवासे गमन करनेवाले किसी परमाणु स्क्वका (व्यावहारिक परमाणु—कुछ कुछ विशेष प्रयोगसे जो दृष्टिगोचर हो सकता हो) दृष्टिगोचर होना समझ है, अभी उनकी अपेक्षा कृति प्रसिद्ध होनेपर विशेष समाधान करना योग्य माझ्म होता है।

६३२

राज, श्रावण वदी १४ रवि १९५२

विचारवान पुरुष तो कैवल्यदशा होनेतरु मृत्युको नित्य समीप
समझकर ही प्रवृत्ति करते हैं।

प्राय उत्पन्न किये हुए कर्मकी रहस्यरूप मति मृत्युके समय ही होती है। दो प्रकारके भाव हो सकते हैं—एक तो क्वचित्, थोड़ा ही, परिचित होनेपर परमार्थरूप भाव, और दूसरा नित्य परिचित निज कल्पना आदि भावसे रूढि-धर्मका प्रवृत्तरूप भाव। सद्विचारसे यथार्थ आत्मदृष्टि अथवा वास्तविक उदासीनता तो सब जीवसमूहको देखनेपर, किसी किसी विरले जीवको ही क्वचित् क्वचित् होती है, और दूसरा जो अनादि परिचित भाव है, वही प्राय सब जीवोंमें देखनेमें आता है, और देहांत होनेके प्रसंगपर भी उसीका प्राणल्य देखा जाता है, ऐसा जानकर मृत्युके समीप आनेपर विचारवान पुरुष तथाकृत्य परिणति करनेका विचार छोड़कर पहिलेसे ही उस क्रममें रहता है। तुम स्वयं भी बाह्य क्रियाके विधि-नियमके आग्रहको निवर्जनपत् करने, अथवा उसमें अतर्पणामस उदासीन होकर, देह और तद्विषयक सन्धका चारम्भारका विक्षेप छोड़कर, यथार्थ आत्मभावके विचार करनेको लक्ष्यमें रखो तो ही सार्थकता है। अन्तिम अस्तर आनेपर अनशन आदि, सस्तर आदि, अथवा सल्लेखना आदि क्रियायें क्वचित् बनें या न भी बनें, तो भी जो जीवको ऊपर कहा है, वह भाव विसर्गके लक्ष्य है, उसका जन्म सफल है, और वह क्रमसे निःश्रेयसको प्राप्त होता है।

तुमको बाह्य क्रिया आदिके कितने ही कारणोंसे विशेष विधि-निषेधको लक्ष देखकर हमें खेद होता या कि इसमें काल व्यतीत होनेसे आत्मा-स्वया कितनी स्वरूप स्थितिको सेवन करती है, और वह किस यथार्थ स्वरूपका विचार कर सकती है कि तुम्हें उसका इतना अधिक परिचय खेदका कारण मालूम नहीं होता ? सहजमात्र ही जिसमें उपयोग लगाया हो तो वह किसी तरह ठीक कहा जा सकता है, परन्तु उसमें जो लगभग जागृति-कालका अधिक भाग व्यतीत होने जैसा होता है, वह किस लिये ? और उसका क्या परिणाम है ? वह क्यों तुम्हारे ध्यानमें नहीं आता ? इस विषयमें क्वचित् कुछ प्रेरणा करनेकी इच्छा हुई है, किन्तु तुम्हारी तथारूप रुचि और स्थिति न देखनेसे प्रेरित करते वृत्तिको सजुचित कर लिया है । अभी भी तुम्हारे चित्तमें इस बातको अज्ञान देने योग्य अगसर है । लोग अपनेको विचारवान अथवा सम्यग्दृष्टि समझें, केवल उसीसे कल्याण नहीं है, अथवा बाह्य व्यवहारके अनेक विधि निषेध करनेके माहात्म्यमें भी कुछ कल्याण नहीं है, ऐसा हमें तो लगता है । यह कुछ एकांतिक दृष्टिसे लिखा है अथवा इसमें ओर कोई हेतु है, इस विचारको छोड़कर जो कुछ उन वचनोंसे अतर्मुखवृत्ति होनेकी प्रेरणा हो, उसे करनेका विचार रखना ही सुविचार दृष्टि है ।

‘लोक-समुदाय कोई भला होनेवाला नहीं है, अथवा स्तुति-निन्दाके प्रयत्नके लिये विचारवानको इस देहकी प्रवृत्ति कर्तव्य नहीं है। बाह्य क्रियाकी अतर्मुखवृत्तिके बिना विधि निषेधमें कुछ भी वास्तविक कल्याण नहीं है । गच्छ आदिके भेदका निर्वाह करनेमें, नाना प्रकारके निरूपण सिद्ध करनेमें, आत्माको आरण करनेके बराबर है । अनेकानेक मार्ग भी सम्यक् एकांत निजपदकी प्राप्ति करानेके सिवाय दूसरे किसी अन्य हेतुसे उपकारक नहीं है, ऐसा समझकर जो लिखा है, वह केवल अनुरूप बुद्धिसे, निराग्रहसे, निष्कपटभासे, अदमभासे, और हितके लिये ही लिखा है—यदि तुम यथार्थ विचार करोगे तो यह दृष्टिगोचर होगा, और वह वचनके ग्रहण अथवा प्रेरणाके होनेका कारण होगा ।

६३३

रालज, माद्रपद-सुदी ८, १९५२

१ प्रश्न — प्राय करके सभी मार्गोंमें मनुष्यभक्तको मोक्षका एक साधन मानकर उसका बहुत बखान किया है, और जीवको जिस तरह वह प्राप्त हो अर्थात् जिसमें उसकी वृद्धि हो, उस तरह बहुतसे मार्गोंमें उपदेश किया मालूम होता है । जिनोक्त मार्गोंमें वैसा उपदेश किया मालूम नहीं होता । वेदोक्त मार्गोंमें ‘अपुत्रकी गति नहीं होती,’ इत्यादि कारणोंसे तथा चार आश्रमोंका क्रम-पूर्ण विचार करनेसे, जिससे मनुष्यकी वृद्धि हो, वैसा उपदेश किया हुआ दृष्टिगोचर होता है । जिनोक्त मार्गोंमें उससे उरटा ही देखा जाता है, अर्थात् वैसा न करते हुए, जब कभी भी जीवन्तो बराग्य हो जाय तो समाजका त्याग कर देना चाहिये—ऐसा उपदेश देखनेमें आता है । इससे बहुतसे लोगोंका गृहस्थाश्रमको ग्रहण किये बिना ही त्यागी हो जाना, और उससे मनुष्यकी वृद्धि रुक जाना समझ है, क्योंकि उनके अत्यागमें जो कुछ उनके सतानोत्पत्तिकी समाप्ति रहती, वह अत्र न होगी, और उससे वशके नाश होने जैसा हो जायगा । इससे दुर्लभ मनुष्यभक्तको जो मोक्षका साधनरूप माना है, उसकी वृद्धि रुक जाती है, इसलिये जिनभगवान्का वैसा अभिप्राय कैसे हो सकता है ?

उत्तर — लौकिक और अलौकिक (लोकोत्तर) दृष्टिमें गह्रा भेद है, अथवा ये दोनों दृष्टियाँ ही परस्पर विरुद्ध स्वभाववाला हैं । लौकिक दृष्टिमें व्यवहार (सामाजिक कारण) की मुख्यता है, और अलौकिक दृष्टिमें परमार्थकी मुख्यता है । इसलिये अलौकिक दृष्टिको लौकिक दृष्टिके फलके साथ प्राय (बहुत करके) मिला देना योग्य नहीं ।

जैन और दूसरे सभी मार्गोंमें प्राय मनुष्य देहका जो विशेष माहात्म्य बताया है, अर्थात् मोक्षके साधनका कारणरूप होनेमें उसे जो चिन्तामणिके समान कहा है, यह सत्य है । परन्तु यदि उससे मोक्षका साधन किया हो, तो ही उसका यह माहात्म्य है, नहीं तो वास्तविक दृष्टिमें पशुके देह जितनी भी उसकी कीमत् मादम नहीं होती ।

मनुष्य आदि वशकी वृद्धि करना, यह विचार मुख्यरूपसे लौकिक दृष्टिको है, परन्तु उस देहको पाकर अल्प मोक्षका साधन करना, अथवा उम साधनका विश्व करना, मुख्यरूपसे यही विचार अलौकिक दृष्टिको समझना चाहिये । अलौकिक दृष्टिमें मनुष्य आदि वशकी वृद्धि करना, यह जो नहीं बताया है, उससे उसमें मनुष्य आदिके नाश करनेका आशय है, ऐसा न समझना चाहिये । लौकिक दृष्टिमें तो युद्ध आदि अनेक प्रमोहों द्वारा मनुष्योंके नाश हो जानेका समय आता है, और उसमें बहुतसे लोग वशरहित हो जाते हैं, किन्तु परमार्थ अर्थात् अलौकिक दृष्टिमें ऐसा कार्य नहीं होता, जिसमें प्राय ऐसा होनेका समय आये । अर्थात् इस जगह अलौकिक दृष्टिसे निर्भरता, अविरोध, मनुष्य आदि प्राणियोंकी रक्षा और उनके वशकी मौजूदगी, यह स्वतः ही मन जाता है, और मनुष्य आदि वशकी वृद्धि करनेका जिसका हेतु है ऐसी लौकिक दृष्टि, उल्टी उस जगह वैर, विरोध, मनुष्य आदि प्राणियोंका नाश और उन्हें वशरहित करनेवाली ही होती है ।

अलौकिक दृष्टिको पाकर, अथवा अलौकिक दृष्टिके प्रभावसे, कोई भी मनुष्य छोटी अत्रयधामों त्यागी हो जाय, तो उससे जिसने गृहस्थाश्रम ग्रहण न किया हो उसके वशका, अथवा जिसने गृहस्थाश्रम ग्रहण किया हो और पुत्रकी उत्पत्ति न हुई हो उसके वशका, नाश होनेका समय आना सभय है, और उतने ही मनुष्योंका कम उदय होना समय है, जिससे मोक्ष-साधनके हेतुभूत मनुष्य देहकी प्राप्तिके रोकने जैसा हो जाय । किन्तु यह लौकिक दृष्टिसे ही योग्य हो सकता है, परमार्थ दृष्टिसे तो वह प्राय करके कल्पनामात्र ही लगता है ।

कल्पना करो कि किसीने पूर्वमें परमार्थमार्गका आराधन करके यहाँ मनुष्यमय प्राप्त किया हो, और उसे छोटी अवस्थासे ही त्याग-वैराग्य तीव्रतासे उदयमें आते हों, तो ऐसे मनुष्यको सतानकी उत्पत्ति होनेके पश्चात् त्याग करनेका उपदेश करना, अथवा उसे आश्रमके क्रममें रखना, यह यथार्थ नहीं मादम देता । क्योंकि मनुष्य देह तो केवल बाह्य दृष्टिसे अथवा अपेक्षारूपसे ही मोक्षकी साधनभूत है, मूलरूपसे तो यथार्थ त्याग-वैराग्य ही मोक्षका साधन समझना चाहिये । और जैसे कारणोंके प्राप्त करनेसे मनुष्य देहकी मोक्ष-साधकता सिद्ध नहीं होती, फिर उन कारणोंके प्राप्त होनेपर उस देहसे भोग आदिमें पड़नेकी सम्भ्यता रखना, यह मनुष्य देहको मोक्षके साधनरूप करनेके बराबर कहा जाय, अथवा उसे करनेके बराबर कहा जाय, यह विचारणीय है ।

वेदोक्त मार्गमें जो चार आश्रमोंकी व्यवस्था की है, वह एकांतरूपसे नहीं हैं। ब्रामदेन, शुक्रदेन, जड़भरतजी इत्यादि आश्रमके क्रम बिना ही त्यागरूपसे निचरे हैं। जिनसे वैसा होना अशक्य हो, वे परिणाममें यथार्थ त्याग करनेका लक्ष रखकर आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करें तो यह सामान्य रीतिसे ठीक है, ऐसा कहा जा सकता है। परन्तु आयुकी ऐसी क्षणभंगुरता है कि ऐसा क्रम भी किसी निरलेको ही प्राप्त होनेका अनसर आता है। कदाचित् वैसी आयु प्राप्त हुई भी हो, तो वैसी वृत्तिसे अर्थात् वैसे परिणामसे यथार्थ त्याग हो सके, ऐसा लक्ष रखकर प्रवृत्ति करना तो किसी किसीसे ही बन सकता है।

जिनोक्त मार्गका भी ऐसा एकात सिद्धात नहीं कि चाहे जिस अनस्थामें चाहे जिस मनुष्यको त्याग कर देना चाहिये। तथारूप सत्सग और सद्गुरुके योग होनेपर, उस आश्रयसे किसी पूर्णके सत्कारनाला अर्थात् विशेष वैराग्यज्ञान पुरुष, गृहस्थाश्रमके ग्रहण करनेके पहिले ही त्याग कर दे, तो उसने योग्य किया है, ऐसा जिनसिद्धान्त प्राय कहता है। क्योंकि अपूर्ण साधनोंके प्राप्त होनेपर भी भोग आदिके भोगनेके विचारमें पड़ना, और उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करके, अपनेको प्राप्त आत्म साधनको गुमा देने जैसा करना, और अपनेसे जो सतति होगी वह जो मनुष्यदेह पायेगी वह देह मोक्षके साधनरूप होगी, ऐसी मनोरथमात्र कल्पनामें पड़ना, यह मनुष्यभङ्गकी उत्तमता दूर करके उसे पशुवत् करनेके ही समान है।

इन्द्रियों आदि जिसकी शात नहीं हुई, और ज्ञानी-पुरुषकी दृष्टिमें जो अभी त्याग करने योग्य नहीं, ऐसे किसी मद अवया मोह-वैराग्यज्ञान जीवनको त्याग लेना प्रशस्त ही है, ऐसा जिनसिद्धात कुछ एकातरूपसे नहीं है। तथा प्रथमसे ही जिसे उत्तम सत्कारयुक्त वैराग्य न हो, वह पुरुष कदाचित् त्यागका परिणाममें लक्ष रखकर आश्रमपूर्वक आचरण करे, तो उसने एकातसे भूल ही की है, और उसने त्याग ही किया होता तो उत्तम था, ऐसा भी जिनसिद्धात नहीं है। केवल मोक्षके साधनका प्रसंग प्राप्त होनेपर उस अवसरको गुमा न देना चाहिये, यही जिनभगवान्का उपदेश है।

उत्तम सत्कारवाले पुरुष गृहस्थाश्रम किये बिना ही त्याग कर दें, तो उससे मनुष्यकी वृद्धि रुक जाय, और उससे मोक्ष साधनके कारण भी रुक जाय, यह निचार करना अल्प दृष्टिसे ही योग्य मालूम हो सकता है। किन्तु तथारूप त्याग-वैराग्यका योग प्राप्त होनेपर मनुष्य देहकी सफलता होनेके लिये उस योगका अप्रमत्तरूपसे, बिना मिलनके लाभ प्राप्त करना, यह निचार तो पूर्वापर अतिरिद्ध और परमार्थ दृष्टिसे ही सिद्ध कहा जा सकता है। आयु सम्पूर्ण होगी, और अपने सतति हों तो वे जरूर मोक्षका साधन करेंगी यह निश्चय कर, तथा सतति होगी ही यह मानकर, और पीछेसे ऐमेका ऐसेही त्याग प्रकाशित होगा ऐसे भविष्यकी कल्पना कर, आश्रमपूर्वक प्रवृत्ति करनेको कौन विचारवान् एकातरूपसे योग्य समझेगा ? अतएव अपने वैराग्यमें जिसे मदता न हो और ज्ञानी-पुरुष जिसे त्याग करने योग्य समझते हों, उसे दूसरे मनोरथमात्र कारणोंके अथवा अनिश्चित कारणोंके विचारको छोड़कर, निश्चित और प्राप्त उत्तम कारणोंका आश्रय करना, यही उत्तम है, और यही मनुष्यभङ्गकी सार्थकता है, बाकी वृद्धि आदिकी तो केवल कल्पनामात्र है। सबे मोक्षके मार्गका नाश कर, मात्र मनुष्यकी वृद्धि करनेकी कल्पना करने जैसा करें तो यह होना सरल है।

तथा जिस तरह हालमें पुत्रोत्पत्तिके लिये इस एक पुरुषको रचना पड़े, वैसे ही उसे (होनेवाले

पुत्रको) भी रुकना पड़े, उससे तो किसीको भी उत्कृष्ट त्यागरूप मोक्ष साधनको प्राप्त होनेका सयोग न आने देने जैसा ही होता है ।

तथा जन्म किमी किसी उत्तम सस्कारवान् पुरुषोंके गृहस्थाश्रमके पहिलेके त्यागसे वशवृद्धिके रोकनेके विचारको लेते हैं, तो वैसे उत्तम पुरुषके उपदेशसे, अनेक जीव जो मनुष्य आदि प्राणियोंका नाश करते हुए नहीं डरते हैं, वे उपदेश प्राप्त करके वर्तमानमें उस तरहसे मनुष्य आदिका नाश करते हुए क्यों नहीं रुक सकते, तथा शुभवृत्तिके प्राप्त करनेसे फिरसे वे मनुष्यभन्ने क्यों नहीं प्राप्त कर सकते ? और इस रीतिसे तो मनुष्यकी रक्षा और वृद्धि होना ही सम्भव है ।

अलौकिक दृष्टिमें तो मनुष्यकी हानि-वृद्धि आदिका निवारण मुख्य नहीं है, कल्याण अकल्याणका ही निवारण मुख्य है । जैसे कोई राजा यदि अलौकिक दृष्टि प्राप्त कर ले तो वह अपने मोहसे हजारों प्राणियोंके युद्धमें नाश होनेके हेतुको देखकर, बहुत बार बिना कारण ही वैसे युद्ध न करे, जिससे बहुतसे मनुष्योंका बचाव हो और उससे वशकी वृद्धि होकर बहुतसे मनुष्य बढ जाँय, यह भी निवारण क्यों नहीं लिया जा सकता ?

इत्यादि अनेक प्रकारसे निवारण करनेसे लौकिक दृष्टि दूर होकर अलौकिक दृष्टिसे निवारणकी जागृति होगी ।

(इत्यादि अनेक कारणोंसे परमार्थ दृष्टिसे जो बोध किया है, वही योग्य मादम् होता है । इस प्रकारके प्रश्नोत्तरोंमें विशेष करके उपयोगको प्रेरित करना कठिन होता है, तो भी संक्षेपमें जो कुछ लिखना बना है उसे उदीरणाकी तरह करके लिखा है ।)

जबतक बने तबतक ज्ञानी पुरुषके वचनोंको लौकिक आशयमें न उतारना चाहिये । अथवा अलौकिक दृष्टिसे ही निवारण करना योग्य है । और जबतक बने तबतक लौकिक प्रश्नोत्तरमें भी विशेष उपकारके बिना पडना योग्य नहीं, वैसे प्रसंगोंसे कितनी ही बार परमार्थ दृष्टिके क्षोभ प्राप्त करने जैसा परिणाम आता है ।

२ बड़के बड़फूल अथवा पीपलीकी पीपलीको कुछ उनके वशकी वृद्धिके करनेके हेतुसे, उनके रक्षणके हेतुसे, उन्हें अभक्ष कहा है, ऐसा नहीं समझना चाहिये । किन्तु उनमें कोमलता होती है, इसलिये उनमें अनतकायना होना सम्भव है, तथा उसके बदले दूसरी बहुतसी चीजोंसे निर्यापरूपसे रखा जा सकता है, फिर भी उसीके अगीकार करनेकी इच्छा रखना, यह वृत्तिकी तुच्छता होती है, इस कारण इन्हें अभक्ष कहा है, यह यथार्थ मादम् होता है ।

३ पानीकी बिरुद्धमें असह्यता जीव है, यह बात ठीक है । किन्तु ऊपर कहे अनुसार जो बड़के बड़फूल वगैरहके कारण हैं, वे कारण इसमें नहीं हैं, इस कारण उसे अभक्ष नहीं कहा । यद्यपि वैसे पानीके काममें लेनेकी भी आज्ञा है, ऐसा नहीं कहा, और उससे भी अनुक पाप होना ही सम्भव है, ऐसा उपदेश किया है ।

४ पहिलेके पत्रमें बीजके सचित्त-अचित्तके सबधमें समाधान लिखा है, उसे किसी विशेष हेतुसे

ही सक्षिप्त किया है। परंपरा रूढ़िके अनुसार लिखा-है, फिर भी उसमें जो कुछ कुछ विशेष भेद समझमें आता है, उसे नहीं लिखा। लिखने योग्य न लगनेसे उसे नहीं लिखा। क्योंकि वह भेद केवल विचार मात्र है, और उसमें कुछ उस तरहका उपकार गर्भित हुआ नहीं जान पड़ता। -

५ नाना प्रकारके प्रश्नोत्तरोंका लक्ष एक मात्र आत्मार्थके लिये हो, तो आत्माका बहुत उपकार होना समभव हो।

६३४ स्तमतीर्थके पास वड़गा, भाद्र सुदी ११ गुरु १९५२

सहजात्मस्वरूपसे यथायोग्य पहुँचें।

तान पत्र मिटे है। 'कुछ भी वृत्ति रोकते हुए विशेष अभिमान रहता है'। तथा 'तृष्णाके प्रगाहमे चलनेसे उसमें वह जाते हैं, और उसकी गतिके रोकनेकी सामर्थ्य नहीं रहती,' इत्यादि बातें, तथा 'क्षमापना और कर्कटी राक्षसीके योग-त्रासिष्टके प्रसंगकी, जगत्का भ्रम दूर होनेके लिये, जो विशेषता' लिखी, उसे पढ़ी है। हालमें लिखनेमें विशेष उपयोग नहीं रह सकता, इससे पत्रकी पहुँच भी लिखनेसे रह जाती है। संक्षेपमें उन पत्रोंका उत्तर निम्नरूपसे विचारने योग्य है।

१ वृत्ति आदिकी न्यूनता अभिमानपूर्वक होती हो तो करना योग्य है। विशेषता-इतनी है कि उस अभिमानपर निरंतर खेद रखना हो सके तो क्रमपूर्वक वृत्ति आदिकी न्यूनता हो सकती है, और तत्सम्बन्धी अभिमानका भी न्यून होना समभव है।

२ अनेक स्थलोंपर विचार-ज्ञान पुरपौने ऐसा कहा है कि ज्ञान होनेपर काम, क्रोध, तृष्णा आदि भाग निर्मूल हो जाते हैं, वह सत्य है। फिर भी उन वचनोंका ऐसा परमार्थ नहीं है कि ज्ञान होनेके पूर्व वे मन्द न पड़ें अथवा काम न हों। यद्यपि उनका समूल छेदन तो ज्ञानके द्वारा ही होता है, परन्तु जनतक कपाय आदिकी मदता अथवा न्यूनता न हो तबतक प्राय करके ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता। ज्ञान प्राप्त होनेमें विचार मुख्य साधन है। और उस विचारके वैराग्य (भोगके प्रति अनासक्ति) तथा उपशम (कपाय आदिकी अत्यन्त मदता, उसके प्रति विशेष खेद), ये दो मुख्य आगार हैं। ऐसा जानकर उसका निरंतर लक्ष रखकर वैसी परिणति करना योग्य है।

सत्पुरुषके वचनके यथार्थ ग्रहण किये बिना प्राय करके विचारका उद्भव नहीं होता। और सत्पुरुषके वचनका यथार्थ ग्रहण—सत्पुरुषकी प्रतीति—यह, कल्याण होनेमें सर्वोत्कृष्ट निमित्त होनेसे, उनकी अनन्य आश्रय-भक्ति परिणमित होनेसे होता है। प्राय करके ये दोनों परस्पर अन्यो-याश्रयके समान हैं। कहीं किसीकी मुरयता है, और कहीं किसीकी मुख्यता है, फिर भी ऐसा तो अनुभवमें आता है कि जो सच्चा सुमुमुक्षु हो उसे सत्पुरुषकी आश्रयभक्ति, अहंभाज आदिका छेदन करनेके लिये और अल्पकालमें विचारदशाके फलीभूत होनेके लिये उत्कृष्ट कारणरूप होता है।

भोगमें अनासक्ति हो, तथा लौकिक विशेषता दिखानेकी युद्धि कम की जाय, तो तृष्णा निर्मूल होती जाती है। यदि लौकिक मान आदिकी तुच्छता समझमें आ जाय तो उसकी विशेषता मादूम न दे, और उससे उसकी इच्छा सहज ही मद पड़ जाय, ऐसा यथार्थ मादूम होता है। बहुत ही

कठिनातासे आजीविका चलती हो तो भी मुमुक्षुको वह बहुत है। क्योंकि विशेषका कुछ आनन्दयक उपयोग (कारण) नहीं है—ऐसा जतक निश्चय न किया जाय, तत्रतक तृष्णा नाना प्रकारसे आरण किया ही करती है। लकिन विशेषतामें कुछ सारभूतता नहीं है, यदि ऐसा निश्चय करनेमें आ जाय, तो मुश्किलसे आजीविका जितना मिलता हो तो भी तृप्ति रह सकती है। मुश्किलसे आजीविका जितना नहीं मिलता हो, तो भी मुमुक्षु जीव प्राय करके आर्तव्यान होने नहीं देता, अथवा होनेपर उसपर विशेष रोद करता है, और आजीविकामें निराश होता हुआ भी यथाश्रम उपार्जन करनेकी मद कल्पना करता है, इत्यादि प्रकारसे वर्तन करते हुए तृष्णाका परामन क्षीण होने योग्य माद्वम होता है।

३ प्राय आभ्यात्मिक शास्त्र भी सत्पुरुषके वचनको आत्मज्ञानका हेतु होता है, क्योंकि ' परमार्थ आत्मा ' शास्त्रमें रहती नहीं, सत्पुरुषमें ही रहती है। यदि मुमुक्षुको किसी सत्पुरुषका आश्रय प्राप्त हुआ हो तो प्राय ज्ञानकी याचना करनी योग्य नहीं, मात्र तथारूप वेदाभ्य, उपशम आदि प्राप्त करनेका उपाय करना ही योग्य है। उसके योग्य प्रकारसे सिद्ध होनेपर ज्ञानीका उपदेश सुलभ होता है, ओर वह यथार्थ विचार तथा ज्ञानका हेतु होता है।

४ जतक कम उपाधियुक्त क्षेत्रमें आजीविका चलती हो तबतक विशेष प्राप्त करनेकी कल्पनासे मुमुक्षुको, किसी एक विशेष अलौकिक हेतुके विना, अधिक उपाधियुक्त क्षेत्रमें जाना योग्य नहीं, क्योंकि उससे बहुत सी सद्बृत्तियाँ मद पड़ जाती हैं, अथवा वृद्धिगत ही नहीं होती।

५ योगवासिष्ठके पहिलेके दो प्रकरण, और उस प्रकारके प्रथोका मुमुक्षुको विशेष करके लक्ष करना योग्य है।

६३५

ब्रह्मरत्न आदिमें होनेवाले ज्ञानके विषयमें प्रथम बम्बई पत्र मिला था। हालमें उस विषयकी वेगताका यहाँ दूसरा पत्र मिला है। यह सन ज्ञान होना समव है, ऐसा कहनेमें कुछ कुछ समझने भेदसे न्यायका भेद होता है। श्री का तुम्हें समागम है, तो उनके द्वारा उस मार्गका यथाशक्ति विशेष-पुरुषार्थ होता हो तो करने योग्य है। वर्तमानमें उस मार्गके प्रति हमारा विशेष उपयोग रहता नहीं। तथा पत्रद्वारा उस मार्गका प्राय विशेष लक्ष कराया जा सकता नहीं।

आत्माकी कुछ कुछ उजलताके लिये, उसका अस्तित्व तथा माहात्म्य आदि प्रतीतिमें आनेके लिये, तथा आत्मज्ञानके अधिकारीपनेके लिये वह साधन उपकारी है। इसके सिवाय प्राय दूसरी तरह उपकारी नहीं, इतना लक्ष अन्वय रखना योग्य है।

६३६

रालज, भाद्रपद १९५२

जैनदर्शनकी पद्धतिसे देखनेपर सम्यग्दर्शन, और वेदातकी पद्धतिसे देखनेपर हमें केवलज्ञान समझ है।

जैनदर्शनमें जो केवलज्ञानका स्वरूप लिखा है, उसे उसी तरह समझना मुश्किल होता है। फिर वर्तमानमें उस ज्ञानका उसीमें निषेध किया है, जिससे तत्सबधी प्रयत्न करना भी सफल नहीं माझ्म होता। जैन समागममें हमारा अविक निवास हुआ है, तो किसी भी प्रकारसे उस मार्गका उद्धार हम जैसोंके द्वारा विशेषरूपसे हो सकता है, क्योंकि उसका स्वरूप विशेषरूपसे समझमें आया है, इत्यादि। वर्तमानमें जैनदर्शन इतनी अधिक अव्यवस्थित अथवा विपरीत स्थितिमें देखनेमें आता है कि उसमेंसे मानो जिनभगवान्का* x x x चला गया है, और लोग मार्ग प्ररूपित करते हैं। बाह्य माथापच्ची बहुत बढ़ा दी है, और अतमार्गका ज्ञान प्रायः निच्छेद जैसा हो गया है। वेदोक्त मार्गमें तो दोसो चारसौ वर्षोंसे कोई कोई महान् आचार्य हुए भी देखनेमें आते हैं, जिससे लाखों मनुष्योंको वेदोक्त पद्धतिकी जागृति हुई है, तथा साधारणरूपसे कोई कोई आचार्य अथवा उस मार्गके जाननेवाले श्रेष्ठ पुरुष इसी तरह होते रहते हैं, और जैनमार्गमें बहुत वर्षोंसे वैसा हुआ माझ्म नहीं होता। जैनमार्गमें प्रजा भी बहुत थोड़ी ही बानी रही है, और उसमें भी सैकड़ों भेद हैं। इतना ही नहीं, किन्तु मूलमार्गके सन्मुख होनेकी बात भी उनके कानमें नहीं पड़ती, और वह उपदेशकके भी लक्षमें नहीं—ऐसी स्थिति हो रही है। इस कारण चित्तमें ऐसा आया करता है कि जिससे उस मार्गका अविक प्रचार हो तो वैसा करना, नहीं तो उसमें रहनेवाली समाजको मूललक्षरूपसे प्रेरित करना। यह काम बहुत कठिन है। तथा जैनमार्गको स्वयं चित्तमें उतारना तथा समझना कठिन है। उसे चित्तमें उतारते समय बहुतसे कारण मार्ग-प्रतिबन्धक हो जाँय, ऐसी स्थिति है। इसलिये वैसी प्रवृत्तिकी करते हुए डर माझ्म होता है। उसके साथ साथ यह भी होता है कि यदि यह कार्य इस कालमें हमारेसे कुछ भी बने तो उन सकता है, नहीं तो हालमें तो मूलमार्गके सन्मुख होनेके लिये किसी दूसरेका प्रयत्न काममें आये, ऐसा माझ्म नहीं होता। प्रायः करके मूलमार्ग दूसरे किसीके लक्षमें ही नहीं है। तथा उस हेतुके दृष्टान्तपूर्ण उपदेश करनेमें परमश्रुत आदि गुण आवश्यक हैं। इसी तरह बहुतसे अतरंग गुणोंकी भी आवश्यकता है। वे यहाँ मौजूद हैं, ऐसा दृढरूपसे माझ्म होता है।

इस रीतिसे यदि मूलमार्गको प्रगटरूपमें लाना हो तो प्रगट करनेवालेको सर्वसंगका परित्याग करना योग्य है, क्योंकि उससे वास्तविक समर्थ उपकार होनेका समय आ सकता है। वर्तमान दशाको देखते हुए, सत्ताके कर्मोंपर दृष्टि डालते हुए, कुछ समय पश्चात् उसका उदयमें आना समझ है। हम सहज-स्वरूप ज्ञान हैं, जिससे योग-साधनकी इतनी अपेक्षा न होनेसे उसमें प्रवृत्ति नहीं की, तथा वह सर्वसंग-परित्यागमें अथवा विशुद्ध देश-परित्यागमें साधन करने योग्य है। इससे लोगोंका बहुत उपकार होता है, यद्यपि वास्तविक उपकारका कारण तो आत्म-ज्ञानके त्रिना दूसरा कुछ नहीं है। हालमें दो वर्षतक तो वह योग-साधन विशेषरूपसे उदयमें आये वैसा दिखाई नहीं देता। इस कारण इसके बादके समयकी ही कल्पना की जाती है, और तीनसे चार वर्ष उस मार्गमें व्यतीत करनेमें आँये, तो ३६ वर्ष सर्वसंग-परित्यागी उपदेशकका समय आ सकता है, और लोगोंका कल्याण होना हो तो वह हो सकता है।

* यहाँ अक्षर राखित हैं। अनुवादक

जोटी उन्नतमें मार्गका उद्धार करनेके सवधमें अभिलाषा थी । उसके पश्चात् ज्ञान-दशाके आने-पर क्रमसे वह उपशम जैसी हो गई । परन्तु कोई कोई लोग परिचयमें आये, उन्हें कुछ विशेष-पता माझ्म होनेसे उनका कुछ मूलमार्गपर लक्ष आया, और इस ओर तो सैरुद्धों और हजारों मनुष्य समागममें आये, जिनमेंसे कुछ समझाले तथा उपदेशकके प्रति आस्थागळे ऐसे सौ-एक मनुष्य निकलेंगे । इसके ऊपरसे यह देखनेमें आया कि लोग पार होनेकी इच्छा करनेवाले तो बहुत हैं, परन्तु उन्हें वैसा सयोग नहीं मिलता । यदि सबे सबे उपदेशक पुरुषका सयोग मिले तो बहुतसे जीव मूल-मार्गको पा सकते हैं, और दया आदिका विशेष उद्योत होना समभव है । ऐसा माझ्म होनेसे कुछ चित्तमें आता है कि यदि इस कार्यको कोई करे तो अच्छा है । परन्तु दृष्टि डालनेसे वसा को पुरुष यानमें नहीं आता । इसलिये कुछ लिखनेवालेकी ओर ही दृष्टि आती है, परन्तु लिखनेवालेका जमसे ही लक्ष इस तरहका रहा है कि इस पदके समान एक भी जोखम-भरा पद नहीं है, ओर जहाँतक उस कार्यकी, अपनी जैसी चाहिये वैसी योग्यता न रहे, वहाँतक उसकी इच्छामात्र भी न करनी, और प्राय अतक उसी तरह प्रवृत्ति करनेमें आई है । मार्गका योडा बहुत स्वरूप भी किसी किसीको समझाया है, फिर भी किसीको एक व्रत—पञ्चखाणतक—भी दिया नहीं, अथवा तुम मेरे शिष्य हो, और हम गुरु है, यह भेद प्राय प्रदर्शित किया नहीं । कहनेका अभिप्राय यह है कि सर्वसग-परित्याग होनेपर उस कार्यकी प्रवृत्ति सहज-स्वभासे उदयमें आये तो करनी चाहिये, ऐसी ही मात्र कल्पना है ।

(२) उसका सच्चा सच्चा आग्रह नहीं है, मात्र अनुकपा आदि तथा ज्ञान-प्रभाव रहता है, इससे कभी कभी वह वृत्ति उठती है, अथवा अल्पाशसे ही अगमें वह वृत्ति है, फिर भी वह स्वाधीन है । हम समझते हैं कि यदि उस तरह सर्वसग परित्याग हो तो हजारों लोग उस मूलमार्गको प्राप्त करें । और हजारों लोग उस समार्गका आराधन कर सद्गतिको पायें, ऐसा हमारेसे होना समभव है । हमारे सगमें त्याग करनेके लिये अनेक जीवोंकी वृत्ति हो, ऐसा अगमें त्याग है ।

धर्म स्थापित करनेका मान बड़ा है । उसकी स्पृहासे भी क्वचित् ऐसी वृत्ति रह सकती है, परन्तु आत्मानो अनेक बार देखनेपर उसकी समनता, इस समयकी दशामें कम ही माझ्म होती है । और वह कुछ कुछ सत्तामें रही होगी तो वह भी क्षीण हो जायगी, ऐसा अवश्य माझ्म होता है । क्योंकि जैसी चाहिये वैसी योग्यताके विना देह छूट जाय, वैसी दृढ़ कल्पना हो, तो भी मार्गका उपदेश करना नहीं, ऐसा आत्म-निश्चय नित्य रहता है । एक इस बलवान कारणसे ही परिग्रह आदिके त्याग करनेका विचार रहा करता है । मेरे मनमें ऐसा रहता है कि यदि वेदोक्त धर्मका प्रकाशन करना अथवा स्थापित करना हो तो मेरी दशा यथायोग्य है, परन्तु जिन्नोक्त धर्म स्थापित करना हो तो अमी इतनी योग्यता नहीं, तो भी विशेष योग्यता है, ऐसा माझ्म होता है ।

६३७

(१)

हे नाथ ! या तो धर्मोन्नति करनेरूप इच्छाका सहजभासे समाधान हो, ऐसा हो जाय, अथवा वह इच्छा अन्वय कार्यरूप परिणत हो जाय ।

उसका कार्यरूप होना अत्यन्त बहुत दुष्कर मादम होता है । क्योंकि छोटी छोटी बातोंमें भी बहुत मतभेद है, ओर उसका मूल बहुत गहरा है । मूलमार्गसे श्लो ग लाखों कोस दूर हैं । इतना ही नहीं, परन्तु उन्हें यदि मूलमार्गकी जिज्ञासा उत्पन्न करानी हो, तो भी बहुत कालका परिचय होनेपर भी, वह होनी कठिन पड़े, ऐसी उनकी दुराग्रह आदिसे जड़प्रधान दशा रहती है ।

(२)

उन्नतिके साधनोंकी स्मृति करता हूँ —

बोधबीजके स्वरूपका निरूपण मूलमार्गके अनुसार जगह जगह हो ।

जगह जगह मतभेदसे कुछ भी कन्याण नहीं, यह बात फले ।

प्रत्यक्ष सद्गुरुकी आज्ञासे ही धर्म है, यह बात लक्ष्में आये ।

द्रव्यानुयोग—आत्मविद्याका—प्रकाश हो ।

त्याग वैराग्यकी विशेषतापूर्वक साधु लोग विचरें ।

नवतरंगप्रकाश

साधुधर्मप्रकाश

श्रावकधर्मप्रकाश.

सद्गुरुपदार्थ विचार.

बारह व्रतोंकी अनेक जीवोंको प्राप्ति

६३८

वडना, भाद्रपद सुदी १५ सोम १९५२

ॐ

(ज्ञानकी अपेक्षासे) सर्वव्यापक सच्चिदानन्द ऐसी में आत्मा एक हूँ—ऐसा विचार करना—
ध्यान करना ।

निर्मल, अत्यन्त निर्मल, परम शुद्ध, चैतन्यघन, प्रगट आत्मस्वरूप है ।

सब कुछ घटाते घटाते जो अग्राह्य अनुभन रहता है, वही आत्मा है ।

जो सबको जानती है, वह आत्मा है ।

जो सब भावोंका प्रकाश करती है, वह आत्मा है ।

उपयोगमय आत्मा है ।

अव्याप्यसमाधिस्वरूप आत्मा है ।

‘ आत्मा है ’ । आत्मा अत्यन्त प्रगट है, क्योंकि स्वसचेदन प्रगट अनुभनमें है ।

अनुत्पन्न और अमलिनस्वरूप होनेसे ‘ आत्मा नित्य है ’ ।

भातिरूपसे परमानन्ता ‘ कर्ता है ’ ।

उसके फलका ‘ भोक्ता है ’, भान होनेपर ‘ स्वभान-परिणामी ’ है ।

सर्वथा स्वभान-परिणाम वह ‘ मोक्ष है ’ ।

सद्गुरु, ससग, सद्शास्त्र, सद्दिचार और सयम आदि ‘ उसके साधन हैं ’ ।

आत्माके अस्तित्वसे लगाकर निर्वाणतकके पद सचे हैं—अत्यन्त सचे हैं, क्योंकि वे प्रगट अनुभनमें आते हैं ।

आतिरूपसे आत्माके परमात्मका कर्त्ता होनेसे शुभाशुभ कर्मकी उत्पत्ति होती है। कर्मके फल-युक्त होनेसे उस शुभाशुभ कर्मको आत्मा भोगती है। इसलिये उत्कृष्ट शुभसे उत्कृष्ट अशुभतक न्यूनाधिक पर्याय भोगनेरूप क्षेत्र अन्वय है।

निजस्वभावात् ज्ञानमें केवल उपयोगसे, तन्मयाकार, सहज-स्वभावात्से, निर्विकल्परूपसे जो आत्मा परिणामन करती है, वह 'केवलज्ञान' है।

तथारूप प्रतीतिभावात्से जो परिणामन करे, वह 'सम्यक्त्व' है।

निरन्तर वही प्रतीति रहा करे, उसे 'क्षायिक सम्यक्त्व' कहते हैं।

कचित् मद, कचित् तीव्र, कचित् विस्मरण, कचित् स्मरणरूप इस तरह प्रतीति रहे, उसे 'क्षयोपशम सम्यक्त्व' कहते हैं।

उस प्रतीतिको जगतक सत्तागत आचरण उदय नहीं आया, तबतक उसे 'उपशम सम्यक्त्व' कहते हैं।

आत्माको जब आचरण उदय आये, तब वह उस प्रतीतिसे गिर पड़ती है, उसे 'सास्वादन सम्यक्त्व' कहते हैं।

अत्यंत प्रतीति होनेके योग्य जहाँ सत्तागत अल्प पुद्गलका वेदन करना बाकी रहा है, उसे 'वेदक सम्यक्त्व' कहते हैं।

तथारूप प्रतीति होनेपर अन्य भावसंबन्धी अह-ममत्व आदि, हर्ष, शोक, क्रम क्रमसे क्षय होते हैं। मनरूप योगमें तारतम्यसहित जो कोई चारित्रकी आराधना करता है, वह सिद्धि पाता है, और जो स्वरूप-स्थिरताका सेवन करता है, वह स्वभावात् स्थितिको प्राप्त करता है।

निरन्तर स्वरूप-लाभ, स्वरूपपाकार उपयोगका परिणामन इत्यादि स्वभाव, अंतराय कर्मके क्षय होनेपर प्रगट होते हैं।

जो केवल स्वभावात् परिणामी ज्ञान है, वह केवलज्ञान है। ॐ सच्चिदानन्दाय नमः ।

६३९

आनन्द, भाद्र वदी १२ रति १९५२

पत्र मिला है। "मनुष्य आदि प्राणियोंकी वृद्धि" के संबंधमें तुमने जो पत्र लिखा था, वह पत्र जिस कारणसे लिखा गया था, उस कारणको प्रश्न मिलनेके समय ही सुना था। ऐसे प्रश्नसे विशेष आत्मार्थ सिद्ध होता नहीं अथवा वृद्धा कालक्षेप जेसा ही होता है। इस कारण आत्मार्थके प्रति लक्ष होनेके लिये, तुम्हें उस प्रकारके प्रश्नके प्रति अथवा उस तरहके प्रश्नोंके प्रति उदासीन रहना ही योग्य है, यह लिखा था। तथा यहाँ उस तरहके प्रश्नके उत्तर लिखने जैसी प्राय वर्तमानमें दशा रहती नहीं, ऐसा लिखा था।

अनियमित और अल्प आयुवाली इस देहमें आत्मार्थका लक्ष सबसे प्रथम करना योग्य है।

गच्छके मतमतान्तर बहुत ही छोटे छोटे विषयोंमें प्रबल आप्रही होकर भिन्न भिन्नरूपसे दर्शन-मोहनीयके कारण हो गये हैं, उसका समाधान करना कठिन है । क्योंकि उन लोगोंकी मतिमें, विशेष आचरणको प्राप्त किये बिना ही इतने अल्प कारणोंमें बलवान् आप्रह होना समभव नहीं ।

अचिरति, देशचिरति, सर्वचिरति, इनमेंके कौनसे आश्रमनाले पुरुषसे विशेष उन्नति होनी समभव है ?

सर्वचिरति बहुतसे कारणोंमें प्रतिबन्धके कारण प्रवृत्ति कर सकता नहीं ? देशचिरति और अचिर-तिकी तथारूप प्रतीति होना मुद्दिगुल है, और फिर जैनमार्गमें भी उस बातका समावेश कम है ।

यह विकल्प हमें क्यों उठता है ? और उसे शमन कर देनेका चित्त है, उसे शमन किये देते हैं ।

६४२

ॐ जिनाय नमः

(१) भगवान् जिनके कहे हुए लोकसरथान आदि भाग आध्यात्मिक दृष्टिसे ही सिद्ध हो सकते हैं ।

चक्रवर्ती आदिका स्वरूप भी आध्यात्मिक दृष्टिसे ही समझमें आ सकता है ।

मनुष्यकी ऊँचाईके प्रमाण आदिमें भी ऐसा ही है ।

कालप्रमाण आदि भी उसी तरह घटते हैं ।

निगोद आदि भी उसी तरह घट सकते हैं ।

सिद्धस्वरूप भी इसी भागसे मनन करने योग्य मादूम होता है ।

लोकशब्दका अर्थ, अनेकात शब्दका अर्थ आध्यात्मिक है । सर्वज्ञ शब्दका समझाना बहुत गूढ है । वर्मरुधिररूप चरित आध्यात्मिक परिभाषासे अलङ्कृत मादूम होते हैं । जन्मद्वीप-आदिका वर्णन भी आध्यात्मिक परिभाषासे निरूपित किया मादूम होता है ।

(२) अतीन्द्रिय ज्ञानके जिनभगवान्ने दो भेद बताये हैं — देशप्रत्यक्ष और सर्व प्रत्यक्ष देश प्रत्यक्षके दो भेद हैं — अचिर और मन पर्यन्त । इच्छितरूपसे अलोकन करते हुए आत्माके, इन्द्रियके अचलन बिना ही अमुक मर्यादाके जाननेको अचिर कहते हैं । अनिच्छितरूपसे मानसिक विशुद्धिके बलसे जाननेको मन पर्यन्त कहते हैं । सामान्य विशेष चैतन्य-आत्मदृष्टिमें परिनिष्ठित शुद्ध केवल-ज्ञान सर्व प्रत्यक्ष है ।

(३) श्रीजिनभगवान्के कहे हुए भाग आध्यात्म-परिभाषामय होनेसे समझमें आने कठिन हैं । परमपुरुषका संयोग प्राप्त होना चाहिये । जैन परिभाषाके विचारका यथाप्रकाश निदिध्यासन करना योग्य है ।

* उपदेश-छाया

(१)

खी, पुत्र, परिग्रह आदि भावोंके प्रति मूलज्ञान होनेके पश्चात् यदि ऐसी भावना रहे कि 'जत्र मैं चाहुंगा तत्र इन खियों आदिके समागमका त्याग कर सकूँगा,' तो वह मूलज्ञानके ही वमन कर देनेकी बात समझनी चाहिये, अर्थात् उससे मूलज्ञानमें यद्यपि भेद नहीं पड़ता, परन्तु वह आचरणरूप हो जाता है। तथा शिष्य आदि अथवा भक्ति करनेवाले मार्गसे च्युत हो जायेंगे अथवा अटक जायेंगे, ऐसी भावनासे यदि ज्ञानी-पुरुष भी आचरण करे तो ज्ञानी पुरुषको भी निराचरणज्ञान आचरणरूप हो जाता है, और उससे ही वर्धमान आदि ज्ञानी-पुरुष अनिद्रापूर्यक साढे बारह वर्षतक रहे, उन्होंने सर्वथा अमगताको ही श्रेयस्कर समझा, एक शब्दके भी उच्चारण करनेको यथार्थ नहीं माना, और सर्वथा निराचरण, योगरहित, भोगरहित और भयरहित ज्ञान होनेके बाद ही उपदेशका कार्य आरम्भ किया। इसलिये 'इसे इस तरह कहेंगे तो ठीक है, अथवा इसे इस तरह न कहा जाय तो मिथ्या है,' इत्यादि प्रिकल्पोंको साधु मुनियोंको न करना चाहिये।

आजकालके समयमें मनुष्योंकी कुछ आयु तो खीके पास चली जाती है, कुछ निद्रामें चली जाती है, कुछ धधमें चली जाती है, और जो कुछ थोड़ीसी बाकी रहती है, उसे कुगुरु छट छेते हैं। अर्थात् मनुष्य-भ्रम निरर्थक ही चला जाता है।

(२)

श्रावण वदी ३

प्रश्न — केवलज्ञानीने जो सिद्धांतोंका प्ररूपण किया है वह 'पर-उपयोग' है या 'स्व-उपयोग' ? शास्त्रमें कहा है कि केवलज्ञानी स्व-उपयोगमें ही रहते हैं।

उत्तर — तीर्थंकर किसीको उपदेश दें तो इससे-कुछ 'पर-उपयोग' नहीं कहा जाता। 'पर-उपयोग' उसे कहा जाता है कि जिस उपदेशको करते हुए रति, अरति, हर्ष-और-अहंकार होते हैं। ज्ञानी-पुरुषको तो तादात्म्य सत्रध होता नहीं, जिससे उपदेश करते हुए उसे रति अरति नहीं होते। रति-अरतिका होना, वह 'पर-उपयोग' कहा जाता है। यदि ऐसा हो तो केवली लोकालोकको जानते हैं—देखते हैं, उन्हें भी 'पर-उपयोग' कहा जाय। परन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि उनमें रति-अरतिमान नहीं है।

सिद्धांतकी रचनाके प्रियमें यह समझना चाहिये कि यदि अपनी बुद्धि न पहुँच, तो इससे वे वचन असत् हैं, ऐसा न कहना चाहिये। क्योंकि जिसे तुम असत् कहते हो, उसे तुम पहिले शास्त्रसे ही जीव अजीव कहना सीखे हो। अर्थात् उन्हीं शास्त्रोंके आधारसे ही, तुम जो कुछ जानते हो उसे

* सवत् १९५२ श्रावण मासप्रदमासमें श्रीमद् राजचंद्र आनंदके आगवात काण्डा, राजज, बडवा आदि स्थलोंमें निश्चितके लिये रहे थे। उस समय उनके समीपवासी भाइ अयालाल लालच दको स्मृतिमें श्रीमद्देवे उपदेश विचारोंकी जो छायामान रह गई, उसके आधारसे उन्होंने उस छायाका सार भिन्न भिन्न स्थलोंपर बहुत अपूर्ण और अव्यवस्थित रूपमें लिख लिया था। यही सार यहाँ उपदेश-छायाके रूपमें दिया है। — अनुवादक

तुमने जाना है, तो फिर उन्हें असत् कहना, यह उपकारके बदले दोष करनेके बराबर ही गिना जायगा। फिर शास्त्रके लिखनेवाले भी विचारवान थे, इस कारण वे सिद्धांतके विषयमें जानते थे। सिद्धान्त महाश्रीरस्वामीके बहुत वर्ष पश्चात् लिखे गये हैं, इसलिये उन्हें असत् कहना दोष गिना जायगा।

ज्ञानीकी आज्ञासे चलनेवाले भद्रिक मुमुक्षु जीवको, यदि गुरुने 'ब्रह्मचर्यके पालने अर्थात् स्त्रियों आदिके समागममें न जानेकी' आज्ञा की हो, तो उस वचनपर दृढ़ विश्वास कर, वह भी उस उस स्थानकमें नहीं जाता, जब कि जिसे मात्र आध्यात्मिक शास्त्र आदि बौंचकर ही मुमुक्षुता हो गई हो, उसे ऐसा अहंकार रहा करता है कि 'इसमें उसे जीतना ही क्या है?'—ऐसे ही पागलपनके कारण वह उन स्त्रियों आदिके समागममें जाता है। कदाचित् उस समागमसे एक दो बार वह वच भी जाय, परन्तु पीछेसे उस पदार्थकी ओर दृष्टि करते हुए 'यह ठीक है,' ऐसे करते करते उसे उसमें आनन्द आने लगता है, और उससे वह स्त्रियोंका सेवन करने लगता है।

भोलाभाला जीव तो ज्ञानीकी आज्ञानुसार ही आचरण करता है, अर्थात् वह दूसरे निकल्पोंको न करते हुए वैसे प्रसंगमें कभी भी नहीं जाता। इस प्रकार, जिस जीवको, 'इस स्थानकमें जाना योग्य नहीं' ऐसे ज्ञानीके वचनोंका दृढ़ विश्वास है, वह ब्रह्मचर्य व्रतमें रह सकता है। अर्थात् वह इस अकायमें प्रवृत्त नहीं होता, जब कि जिसे ज्ञानीकी आज्ञाकारिता नहीं, ऐसे मात्र आध्यात्मिक शास्त्र बौंचकर होनेवाले मुमुक्षु अहंकारमें फिरा करते हैं, और समझा करते हैं कि 'इसमें उसे जीतना ही क्या है?' ऐसी मान्यताको लेकर यह जीव च्युत हो जाता है, और आगे बढ़ नहीं सकता। यह जो क्षेत्र है वह निवृत्तिवाला है, किन्तु जिसे निवृत्ति हुई हो उसे ही तो है। तथा जो सच्चा ज्ञानी है, उसके सिनाय दूसरा कोई अब्रह्मचर्यके व्रत न हो, यह केवल कथनमात्र है। जैसे, जिसे निवृत्ति नहीं हुई, उसे प्रथम तो ऐसा होता है कि 'यह क्षेत्र ग्रेष्ठ है, यहाँ रहना योग्य है', परन्तु फिर ऐसे करते करते विशेष प्रेरणा होनेसे वृत्ति क्षेत्राकार हो जाती है। किन्तु ज्ञानीकी वृत्ति क्षेत्राकार नहीं होती, क्योंकि एक तो क्षेत्र निवृत्तिवाला है, और दूसरे उसने स्वयं भी निवृत्तिभाज प्राप्त किया है, इससे दोनों योग अनुकूल हैं। शुष्कज्ञानियोंको प्रथम तो ऐसा ही अभिमान रहा करता है कि इसमें जीतना ही क्या है? परन्तु पीछेसे वह धीरे धीरे स्त्रियों आदि पदार्थोंमें फँस जाता है, जब कि सच्चे ज्ञानीको वैसा नहीं होता।

हालमें सिद्धांतोंकी जो रचना देखनेमें आती है, उन्हीं अक्षरोंमें अनुक्रमसे तीर्थकरने उपदेश दिया हो, यह कोई बात नहीं है। परन्तु जैसे किसी समय किसीने वाचना, पृच्छना, परामर्तना, अनुप्रेक्षा और वर्मकथाके विषयमें पूँछा तो उस समय तत्समधी बात कह बताई। फिर किसीने पूँछा कि धर्मकथा कितने प्रकारकी है तो कहा कि चार प्रकारकी—आक्षेपणी, विक्षेपणी, निर्देष्टणी, सन्नेगणी। इस तरह जब बातें होतीं हों, तो उनके पास जो गणधर होते हैं, वे उन बातोंको ध्यानमें रख लेते हैं और अनुक्रमसे उनकी रचना करते हैं। जैसे यहाँ भी कोई मनुष्य कोई बात करनेसे ध्यानमें रखकर अनुक्रमसे उसकी रचना करता है। वार्ता तीर्थकर जितना कहें, उतना कुछ सबका सत्र उनके ध्यानमें नहीं रहता—केवल अभिप्राय ही ध्यानमें रहता है। तथा गणधर भी बुद्धिमान थे, इसलिये उन तीर्थकरोंद्वारा कहे हुए वाक्य कुछ उनमें नहीं आये, यह बात भी नहीं है।

सिद्धांतोंके नियम इतने अधिक सरत हैं, फिर भी यति लोगोंको उससे विरक्त आचरण करते हुए देखते हैं। उदाहरणके लिये कहा गया है कि साधुओंको तेल डालना नहीं चाहिये फिर भी ये लोग डालते हैं। इसमें कुछ ज्ञानीकी वाणीका दोष नहीं है, किंतु जीवकी समझनेकी शक्तिका ही दोष है। जीवमें सद्बुद्धि न हो तो प्रत्यक्ष योगमें भी उसको उन्टा माझम होता है, और यदि सद्बुद्धि हो तो सीधा भासित होता है।

प्राप्त = ज्ञानप्राप्त पुरुष। आप्त = विश्वास करने योग्य पुरुष।

मुमुक्षुमात्रको सम्यग्दृष्टि जीव नहीं समझ लेना चाहिये, जीवके भूलके स्थानक अनेक हैं। इसलिये विशेष विशेष जागृति रखनी चाहिये, व्याकुल होना नहीं चाहिये, मदता न करनी चाहिये, पुरुषार्थ-धर्मको वर्धमान करना चाहिये।

जीवको संपुरुषका सयोग मिलना कठिन है। अपना शिष्य यदि दूसरे धर्ममें चला जाय तो अपारमार्थिक गुरुको उर चढ़ आता है। पारमार्थिक गुरुको 'यह मेरा शिष्य है' यह भाव होना नहीं। कोई कुगुरु-आश्रित जीव बोधके श्रयण करनेके लिये कभी किसी सद्गुरुके पास गया हो और फिर वह अपने उसी कुगुरुके पास आये, तो वह कुगुरु उस जीवको अनेक विचित्र विकल्प देता देता है, जिसमें वह जीव फिरसे सद्गुरुके पास जाता नहीं। उस विचारे जीवको तो सत् असत् वाणीकी परीक्षा भी नहीं, झमालिये वह ठगा जाता है, और सार्गाते च्युत हो जाता है।

(२) राजज, श्रायण वदी ६ शनि १९५२

भक्ति यह सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। भक्तिमें अहंकार दूर होता है, स्वच्छद नाश होता है, और सीधे मार्गमें गमन होता है, अन्य विकल्प दूर होते हैं—ऐसा यह भक्तिमार्ग श्रेष्ठ है।

प्रदत्त — आत्मा किसके अनुभवमें आई कही जानी चाहिये ?

उत्तर — जिस तरह तलवारको म्यानमेंसे निकालनेपर वह उससे भिन्न माझम होती है, उसी तरह जिसे आत्मा देहसे स्पष्ट भिन्न माझम होती है, उसे आत्माका अनुभव हुआ कहा जाता है।

जिस तरह दूध और पानी मिले हुए हैं, उसी तरह आत्मा और देह मिले हुए रहते हैं। दूध और पानी क्रिया करनेसे जय भिन्न भिन्न हो जाते हैं तब वे भिन्न कहे जाते हैं। उसी तरह आत्मा और देह क्रियासे भिन्न हो जानेपर भिन्न भिन्न कहे जाते हैं। जबतक दूध दूधकी और पानी पानीकी पर्यायको प्राप्त न कर ले तबतक क्रिया माननी चाहिये। यदि आत्माको जान लिया हो तो फिर एक पर्यायसे लगाकर समस्त निजस्वरूप तककी आति होती नहीं। अपना दोष कम हो, आचरण दूर हो, तो ही समझना चाहिये कि ज्ञानीके वचन सच्चे हैं। हमें भव्य अभव्यकी चिंता न रखते हुए, हालमें तो जिससे उपकार हो ऐस लाभका धर्म-व्यापार करना चाहिये।

ज्ञान उसे कहते हैं जो हर्ष-शोकके समयमें उपस्थित रहे, अर्थात् जिससे हर्ष शोक न हों सम्यग्दृष्टि हर्ष-शोक आदिके समागममें एकाकार होता नहीं। उसके अचेत परिणाम होते अज्ञान आकर खड़ा हुआ कि वह जानते ही उसे तुरन्त दबा देता है, बहुत ही जागृति होती अज्ञानका ही है। जैसे कोई सिंह चला आ रहा हो और उससे सिंहीकी भय लगता न

मादम होता है कि मानी कोई कुत्ता ही चला आ रहा है, उसी तरह पौद्गलिक-सयोगको ज्ञानी समझता है। राज्यके मिलनेपर आनन्द होता हो तो वह अज्ञान है।

ज्ञानीकी दशा बहुत ही अद्भुत है। याथातथ्य कल्याण जो समझमें आया नहीं, उसका कारण वचनको आनरण करनेवाला दुराग्रहभान—कपाय है। दुराग्रहभानके कारण, मिथ्यात्व क्या है वह समझमें आता नहीं। दुराग्रहको छोड़ दें तो मिथ्यात्व दूर भागने लगे। कल्याणको अकल्याण और अकल्याणको कल्याण समझ लेना मिथ्यात्व है। दुराग्रह आदि भानके कारण जीवको कल्याणका स्वरूप वतानेपर भी समझमें आता नहीं। कपाय दुराग्रह आदिको छोड़ा न जाय तो फिर वह विशेष प्रकारसे पीडा देता है। कपाय सत्तारपसे मौजूद रहती है, और जब निमित्त आता है तब वह खड़ी हो जाती है, तबतक खड़ी होती नहीं।

प्रश्न —क्या विचार करनेसे समभान आता है ?

उत्तर —विचारवानको पुद्गलमें तन्मयता—तादात्म्यभान—होता नहीं। अज्ञानी यदि पौद्गलिक-सयोगके दर्पका पत्र बाँचे, तो उसका चेहरा प्रसन्न दिखाई देने लगता है, और यदि भयका पत्र बाँचे तो उदास हो जाता है।

सर्प देखकर जब आत्मवृत्तिमें भयका कारण उपस्थित हो उस समय तादात्म्यभान कहा जाता है। जिसे तन्मयता हो उसे ही दर्प-शोक होता है। जो निमित्त है वह अपना कार्य किये बिना नहीं रहता।

मिथ्यादृष्टिके मयमें साक्षी (ज्ञानरूपी) नहीं है*।

देह और आत्मा दोनों भिन्न भिन्न हैं, ऐसा ज्ञानीको भेद हुआ है। ज्ञानीके मयमें साक्षी है। ज्ञान, यदि जागृति हो तो ज्ञानके वेगसे, जो जो निमित्त मिलें उन्हें पीछे हटा सकता है।

जीव, जब विभाव परिणाममें रहे उसी समय कर्म बाँधता है, ओर जब स्वभान परिणाममें रहे उस समय कर्म बाँधता नहीं।

स्वच्छन्द दूर हो तो ही मोक्ष होती है। सद्गुरुकी आज्ञाके बिना आत्मार्थी जीवके आसोच्छ्वासके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता, ऐसी जिनभगवान्की आज्ञा है।

प्रश्न —पाँच इन्द्रियाँ किस तरह वश होती हैं ?

उत्तर —पदार्थोंके ऊपर तुच्छभान लानेसे। फूलोंके सुखानेसे उनकी सुगंधि थोड़े ही समय-तक रहकर नाश हो जाती है, फूल कुम्हला जाता है, ओर उससे कुछ सतोप होता नहीं। उसी तरह तुच्छ भान आनेसे इन्द्रियोंके नियममें लब्धता होती नहीं।

पाँच इन्द्रियोंमें जिह्वा इन्द्रियके वश करनेसे वाकीकी चार इन्द्रियाँ सहज ही वश हो जाती हैं।

प्रश्न —शिष्यने ज्ञानी-पुरुषसे प्रश्न किया कि ' बारह उपाग तो बहुत गहन है, और इससे मेरी समझमें नहीं आ सकते, इसलिये कृपा करके बारह अगोका सार ही बताइये कि जिसके अनुमार आचरण करूँ तो मेरा कल्याण हो जाय । '

* इसका आशय श्रीमद् राजचन्द्रकी गुजराती आवृत्तिके फुटनोटमें, सशोधक मनसुखराम रवजी भाई मेहताने निम्नरूपसे लिखा है —मिथ्यादृष्टिको विपरीतभावसे आचरण करते हुए भी कोई रोक बंधनेवाला नहीं, अर्थात् मिथ्यादृष्टिको कोई भय नहीं। —अनुवादक

ज्ञानीको ज्ञान-दृष्टिसे—अतर्कितसे—देखनेके पश्चात् स्त्रीको देखकर राग उत्पन्न होता नहीं। क्योंकि ज्ञानीका स्वरूप विषय-सुखकी कल्पनासे जुदा है। जिसने अनन्त सुखको जान लिया हो उसे राग होता नहीं, और जिसे राग होता नहीं, उसीने ज्ञानीको देखा है, और उसीको ज्ञानी-पुरुषका दर्शन करनेके पश्चात् स्त्रीका सजीवन शरीर अजीवनरूपसे भासित हुए बिना रहता नहीं। क्योंकि उसने ज्ञानीके वचनोंको यथार्थ रीतिसे सत्य जाना है। जिसने ज्ञानीके समीप, देह और आत्माको भिन्न-पृथक् पृथक्-जान लिया है, उसे देह ओर आत्मा भिन्न भिन्न भासित होते हैं, और उससे स्त्रीका शरीर और आत्मा जुदा जुदा मादूम होते हैं। उसने स्त्रीके शरीरको माँस, मिट्टी, हड्डी आदिका पुतला ही समझा है, इसलिये उसे उसमें राग उत्पन्न होता नहीं।

समस्त शरीरका ऊपर नीचेका बल कमरके ऊपर ही रहता है। जिसकी कमर टूट गई है, उसका सब बल नष्ट हो गया है। विषय आदि जीवकी तृष्णा है। ससाररूपी शरीरका बल इस विषय आदिरूप कमरके ऊपर ही रक्खा हुआ है। ज्ञानी-पुरुषके बोधके लगनेसे विषय आदिरूप कमरका भंग हो जाता है, अर्थात् विषय आदिकी तुच्छता मादूम होने लगती है, और उस प्रकारसे ससारका बल घटता है, अर्थात् ज्ञानी-पुरुषके बोधमें ऐसी सामर्थ्य है।

महावीरस्वामीको **स्रगम** नामके देवताने बहुत ही ऐसे ऐसे परीपह दिये कि जिनमें प्राण त्याग होते हुए भी देर न लगे। वहाँ कैसी अद्भुत समता रक्खी! उस समय उन्होंने विचार किया कि जिसके दर्शन करनेसे कल्याण होता हो, नाम स्मरण करनेसे कल्याण होता हो, उसीके समागममें आकर इस जीवको अनन्त ससारकी वृद्धिका कारण होता है! ऐसी अनुकंपा आनेसे आँखमें आँसू आ गये। कैसी अद्भुत समता है! दूसरेकी दया किम तरह अंकुरित हो निकली थी! उस समय मोहराजने यदि जरा ही धक्का लगाया होता तो तुरत ही तीर्थकरपना सभव न रहता, और कुछ नहीं तो देरता तो भाग ही जाता। जिसने मोहनीयके मलका मूलसे नाश कर दिया है, अर्थात् मोहको जीत लिया है, वह मोह कैसे कर सकता है ?

श्रीमहास्त्रीस्वामीके पास **गोशाल**ने आकर दो साधुओंको जला डाला, उस समय उन्होंने यदि जरा भी सामर्थ्यपूर्वक साधुओंकी रक्षा की होती, तो उन्हें तार्थकरपनेको फिरसे करना पड़ता। परन्तु जिसे 'मैं गुरु हूँ, यह मेरा शिष्य है' ऐसी भावना ही नहीं है, उसे येसा कुछ भी करना नहीं पड़ता। उन्होंने ऐसा विचार किया कि 'मैं शरीरके रक्षणका दातार नहीं, केवल भाग-उपदेशका ही दातार हूँ। यदि मैं इनकी रक्षा करूँ तो मुझे गोशालाकी भी रक्षा करनी चाहिये, अथवा समस्त जगत्की ही रक्षा करनी उचित है'। अर्थात् तीर्थकर ऐसा ममत्व करते ही नहीं।

वेदान्तमें इस कालमें चरमशरीरी होना कहा है। जिनभगवान्के मतानुसार इस कालमें एकान्तारी जीव होते हैं। यह कोई थोड़ा जात नहीं है, क्योंकि इसके पश्चात् कुछ मोक्ष होनेमें अधिक देर लगती नहीं। कुछ थोड़ा ही बाकी रह जाता है, और जो रहता है वह फिर सहजमें ही दूर हो जाता है। ऐसे पुरुषकी दशा—वृत्तियाँ—कैसी होती हैं? अनादिकी बहुतसी वृत्तियाँ शान्त हुई रहती हैं, और इतनी अधिक शान्ति हुई रहती है कि राग-द्वेष सब नाश होने योग्य हो जाते हैं—उपशांत हो जाते हैं।

सदृशियोंके उत्पन्न होनेके लिये जो जो कारण—साधन—बताये होते हैं, उन्हें न करनेको ज्ञानी कभी कहते ही नहीं। जैसे रात्रिमें भोजन करना हिंसाका कारण माद्धम होता है, इसलिये ज्ञानी कभी भी आज्ञा नहीं करते कि तू रात्रिमें भोजन कर। परन्तु जिस जिस अहभावसे आचरण किया हो, और रात्रिभोजनसे ही अथवा 'इस अमुकसे ही मोक्ष होगी, अथवा इसमें ही मोक्ष है' ऐसा दुराग्रहसे मान्य किया हो, तो वैसे दुराग्रहको छुड़ानेके लिये ज्ञानी-पुरुष कहते हैं कि 'इसे छोड़ दे, ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञासे वैसा (रात्रिभोजन-त्याग आदि) कर,' और वैसा करेगा तो कल्याण हो जायगा। अनादि कालसे दिनमें और रातमें भोजन किया है, परन्तु जीवकी मोक्ष हुई नहीं।

इस कालमें आराधकताके कारण घटते जाते हैं, और विराधकताके लक्षण बढ़ते जाते हैं। केशीस्वामी बड़े थे, और पार्ष्णनाथ स्वामीके शिष्य थे, तो भी उन्होंने पाँच महाव्रत स्वीकार किये थे।

केशीस्वामी और गोतमस्वामी महाविचारवान थे, परन्तु केशीस्वामीने यह नहीं कहा कि 'मैं दीक्षामें बड़ा हूँ, इसलिये तुम मेरेसे चारित्र्य ग्रहण करो'। विचारवान और सरल जीवको, जिसे तुरत ही कल्याणयुक्त हो जाना है, इस प्रकारकी बातका आग्रह होता नहीं।

कोई साधु जिसने अज्ञान-अनस्थापूर्वक आचार्यपनेसे उपदेश किया हो, ओर पीछेसे उसे ज्ञानी-पुरुषका समागम होनेपर, वह ज्ञानी-पुरुष यदि साधुको आज्ञा करे कि जिस स्थानमें तूने आचार्यपनेसे उपदेश किया हो, वहाँ जाकर सबसे पीछे एक कोनेमें बैठकर सत्र खोगोसे ऐसा कह कि 'मैंने अज्ञानभावसे उपदेश दिया है, इसलिये तुम लोग भूल खाना नहीं,' तो साधुको उस तरह किये बिना छुटकारा नहीं है। यदि वह साधु यह कहे कि 'मेरेसे ऐसा नहीं हो सकता, इसके नदले यदि आप कहो तो मैं पहाड़के ऊपरसे गिर जाऊँ, अथवा अथ जो कुछ कहो सो करूँ, परतु वहाँ तो मैं नहीं जा सकता'—तो ज्ञानी कहता है कि 'कदाचित् तू लाख बार भी परतके ऊपरसे गिर जाय तो भी वह किसी कामका नहीं है। यहाँ तो यदि वैसा करेगा तो ही मोक्षकी प्राप्ति होगी। वैसा किये बिना मोक्ष नहीं है। इसलिये यदि तू जाकर क्षमा माँगे तो ही तेरा कल्याण हो सकता है'।

गौतमस्वामी चार ज्ञानके धारक थे। आनन्द श्रावक उनके पास गया। आनन्द श्रावकने कहा कि 'मुझे ज्ञान उत्पन्न हो गया है'। उत्तरमें गोतमस्वामीने कहा कि 'नहीं, नहीं, इतना सत्र हो नहीं सकता, इसलिये तुम क्षमापना ले'। उस समय आनन्द श्रावकने विचार किया ये मेरे गुरु हैं, संभव है, इस समय ये भूल करते हों, तो भी 'आप भूल करते हो', यह कहना योग्य नहीं। ये गुरु हैं, इसलिये इनसे शान्तिसे ही बोलना ठीक है। यह सोचकर आनन्द श्रावकने कहा कि महाराज! सद्भूतचनका 'मिच्छामि दुःख' अथवा असद्भूतचनका 'मिच्छामि दुःख' 'गोतमने कहा कि असद्भूतचनका ही 'मिच्छामि दुःख' होता है। इसपर आनन्द श्रावकने कहा कि 'महाराज! मैं 'मिच्छामि दुःख' लेने योग्य नहीं हूँ'। इतनेमें गौतमस्वामी वहाँसे चले गये और उन्होंने जाकर महावीरस्वामीसे पूँछा। यद्यपि गोतमस्वामी स्वयं उसका समाधान कर सकते थे, परतु गुरुके मौजूद रहते हुए वैसा करना ठीक नहीं, इस कारण उन्होंने महावीरस्वामीके पास जाकर

सब बात कह दी। महानीरस्वामिने कहा कि 'हे गौतम ! हँ, आनन्द जैसा समझता है वैसे ही है, और तुम्हारी भूल है, इसलिये तुम आनन्दके पास जाकर क्षमा माँगो।' गौतमस्वामी 'तथास्तु' कहकर क्षमा माँगनेके लिये चल दिये। यदि गौतमस्वामीने मोक्ष नामक महासुभटको परामर्श न किया होता तो वे वहाँ जाते ही नहीं, और कदाचित् ऐसा कहते कि 'महाराज ! आपके जो इतने सब शिष्य हैं, उनकी मैं चाकरी कर सकता हूँ, पर वहाँ तो मैं न जाऊँगा,' तो वह बात स्वीकृत न होती। गौतमस्वामीने स्वयं वहाँ जाकर क्षमा माँगी।

'सास्वादनसमकित' अर्थात् वमन किया हुआ समकित—अर्थात् जो परीक्षा हुई थी, उसपर यदि आग्रह आ जाय, तो भी मिथ्यात्व और समकितकी कीमत उसे भिन्न भिन्न माद्वय होती है। जैसे छात्रमेंसे पहिले मकसदको निकाल लेनेपर पीछेसे उसे छात्रमें डालें, तो मस्खन ओर छात्र पहिले जैसे एकमेक थे, वैसे एकमेक वे फिर नहीं होते, उसी तरह समकित मिथ्यात्वकी साथ एकमेक होता नहीं। अथवा जिसे हीरामणिकी कीमत ही गई हो उसके सामने यदि मिट्टोरका टुकड़ा आये तो उसे हीरामणि साक्षात् अनुभवं आती है—यह दृष्टांत भी यहाँ घटता है।

सद्गुरु, सदेव और केजलीके प्ररूपित किये हुए धर्मको सम्यक्त्व कहा है, परन्तु सत्देव और केजली ये दोनों सद्गुरुमें गर्भित हो जाते हैं।

निर्ग्रथ गुरु अर्थात् पेसे रहित गुरु नहीं, परन्तु जिसका ग्रथि-भेद हो गया है, ऐसे गुरु। सद्गुरुकी पहिचान होना व्यवहारसे ग्रथि-भेद होनेका उपाय है। जैसे किसी मनुष्यने मिट्टोरका कोई टुकड़ा लेकर विचार किया 'मेरे पास असली मणि है, ऐसी कहीं भी मिलती नहीं।' बादमें उसने जब किसी चतुर आदमीके पास जाकर कहा कि 'मेरी मणि असली है,' तो उस चतुर आदमीने उससे भी बहुत बढ़िया बढ़िया अधिक अधिक कीमतकी मणियाँ बताकर कहा कि देख इनमें कुछ फरक माद्वय देता है ? बराबर देख। उस मनुष्यने जवाब दिया कि 'हाँ इनमें फरक तो माद्वय पड़ता है।' इसके बाद उस चतुर पुरुषने झाड़-फन्सूस बताकर कहा कि 'देख, तेरी जैसी मणियाँ तो हजारों मिलती हैं।' सब झाड़ फन्सूस दिखानेके पश्चात् जब उसे उस पुरुषने असली मणि बताई तो उसे उसकी ठीक ठीक कीमत माद्वय पड़ी, और उसने उस मणिको त्रिलकुल नकली समझकर फेंक दी। बादमें फिर, किसी दूसरे आदमीने मिलनेपर उससे कहा कि उसे जिस मणिको असली समझ रक्खा है, वैसी मणियाँ तो बहुत मिलती हैं। तो इस प्रकारके आग्रहसे बहम आ जानेसे जीव भूठ जाता है, परन्तु पीछेसे उसे वह झूठा ही समझता है—जिस तरह असलीकी कीमत हुई हो उसी तरहसे समझता है—वह तुरन्त ही जागृतिमें आता है कि असली बहुत होती नहीं। अर्थात् आग्रह तो होता है, परन्तु पहिलेकी जो पहिचान है वह भूली जाती नहीं। इसी प्रकार विचारवान सद्गुरुका संयोग होनेपर तत्त्व प्रतीति होती है, परन्तु बादमें मिथ्यात्वके समझे आग्रह आ जानेसे उसमें शका हो जाती है। यद्यपि तत्त्व-प्रतीति नष्ट नहीं हो जाती किन्तु उसे आग्रह आ जाता है। इसका नाम सास्वादनसम्यक्त्व है।

सद्गुरु और असद्गुरुमें रात दिन जितना अन्तर है।

एक जाहरी था। उसके पास व्यापारमें अधिक नुकसान हो जानेसे कुछ भी द्रव्य बाकी बचा नहीं। जब मरनेका समय नजदीक आ पहुँचा, तो वह खी बच्चोंका विचार करने लगा कि मेरे

पास बुठ भी तो द्रव्य नहीं है, किन्तु यदि अभी इस बातको कह दूँ तो लड़का छोटी उमरका है, इससे उसका देह छूट जायेगी। खीने सामने देगा और पूँजा कि कुठ फटना चाहते हैं ? पुरुषने कश 'क्या कहूँ ?' खीने कहा कि जिससे मेरा और बगोंका उदर पोषण हो ऐसा कोई मार्ग मताइये, और कुठ कहिये ? उस समय उस पुरुषने सौच विचारकर कहा कि घरमें जनाहरातके मन्दूकमें कीमती नगकी एक डिनिया है। उसे, जब तुझे बहुत जग्नरत पड़े, तो निकालकर मेरे भाईके पास जाकर बिकवा देना, उससे तुझे बहुतसा द्रव्य मिल जायगा। इतना कहकर वह पुरुष काल-धर्मको प्राप्त हुआ। कुछ दिनों बाद बिना पैसेके उदर-पोषणके लिये पीड़ित हुआ वह लड़का, अपने पिताके कहे हुए उस जनाहरातके नगको लेकर अपने काका (पिताके भाई जीहरी) के पास गया, और कहा कि काकानी मुझे इस नगको बेचना है, उसका जो पैसा आये उसे मुझे दे दो। उस जीहरी भाईने पूँजा, 'इस नगको बेचकर तुझे क्या करना है ?' लड़केने उत्तर दिया कि 'उदर भरनेके लिये पैसेकी जरूरत है।' इसपर उस जीहरीने कहा 'यदि सी-पचास रुपये चाहिये तो तू ले ले, रोज मेरी दुकानपर आ, और खर्च लेता रह। इस समय इस नगको रहने दे।' उस लड़केने उस जीहरी काकाकी बातको कबूल कर लिया, और उस जनाहरातको वापिस ले गया। तत्पश्चात् वह लड़का रोज जीहरीकी दुकानपर जाने लगा, ओर धीरे धीरे जीहरीके समागमसे हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम सनकी परीक्षा करना सीख गया, और उसे उन सनकी कीमत माझम हो गई। अब उस जीहरीने कहा 'तू जो पहिले अपने जनाहरातको बेचने लाया था उसे ला, उसे अब बेच देंगे।' इसपर लड़केने घरसे अपनी जवाहरातकी डिनिया लाकर देवी तो वह नग नकली माझम दिया, इससे उसने उसे तुरत ही फेर दिया। जब उस जीहरीने उसके फेर देनेका कारण पूँजा, तो लड़केने जमाव दिया कि वह तो बिलकुल नकली था, इसलिये फेर दिया है।

देखो, उस जीहरीने यदि उसे पहिले ही नकली बताया होता तो वह लड़का मानता नहीं, परन्तु जिस समय अपने आपको बहुतकी कीमत मालूम हो गई और नकलीको नकलीरूपसे समझ लिया, उस समय जीहरीको कहना भी पड़ा नहीं कि यह नकली है। इसी तरह अपने आपको सद्गुरुकी परीक्षा हो जानेपर यदि असद्गुरुको असद् जान लिया तो जीव असद्गुरुको ओझकर सद्गुरुके चरणमें जा पड़ता है, अर्थात् अपने आपमें कीमन करनेकी शक्ति आनी चाहिये।

गुरुके पास हर रोज जाकर यह जीव एकेन्द्रिय आदि जीवोंके सत्रमें अनेक प्रकारकी शक्याँ और कल्पनायें करके पूँछा करता है, परन्तु किसी दिन भी यह पूँछता नहीं कि एकेन्द्रियसे लगाकर पचेन्द्रियको जाननेका परमार्थ क्या है ? एकेन्द्रिय आदि जीवोंसमधी कल्पनाओंसे कुठ मिथ्यात्वरूपी प्रथीका छेदन होता नहीं। एकेन्द्रिय आदि जीवोंका स्वल्प जाननेका हेतु तो दयाका पालन करना है। मात्र प्रश्न करनेके लिये वैसी बातें करनेका कोई फल नहीं। वास्तविकरूपसे तो समकित प्राप्त करना ही उस सनका फल है। इसलिये गुरुके पास जाकर व्यर्थके प्रश्न करनेकी अपेक्षा गुरुको कहना चाहिये कि आज एकेन्द्रिय आदिकी बात आज जान ली है, अब उस बातको आप कलके दिन न करें, किन्तु समकितकी व्यवस्था करें—इस तरह कहे तो किसी दिन निस्तारा हो सकता है। परन्तु रोज रोज एकेन्द्रिय आदिकी माथापची करे तो इस जीवका कल्याण कब होगा ?

सत्र बात कह दी। महावीरस्वामीने कहा कि 'हे गोतम ! हौं, आनन्द जैसा समझता है वंसा ही है, और तुम्हारी भूल है, इसलिये तुम आनन्दके पास जाकर क्षमा माँगो।' गोतमस्वामी 'तथास्तु' कहकर क्षमा माँगनेके लिये चल दिये। यदि गोतमस्वामीने मोह नामक महासुमटको पराभय न किया होता तो वे वहाँ जाते ही नहीं, और कदाचित् ऐसा कहते कि 'महाराज ! आपके जो इतने सत्र शिष्य हैं, उनकी मैं चाकरी कर सकता हूँ, पर वहाँ तो मैं न जाऊँगा,' तो वह बात स्वीकृत न होती। गोतमस्वामीने स्वयं वहाँ जाकर क्षमा माँगी।

'सास्त्रादनसमकित' अर्थात् वमन किया हुआ समकित—अर्थात् जो परीक्षा हुई थी, उसपर यदि आवरण आ जाय, तो भी मिथ्यात्व और समकितकी कीमत उसे भिन्न भिन्न माद्धम होती है। जैसे छाठमेंसे पहिले मक्खनको निकाल देनेपर पीठसे उसे छालमें डाले, तो मक्खन और छाठ पहिले जैसे एकमेक थे, वेसे एकमेक वे फिर नहीं होते, उसी तरह समकित मिथ्यात्वकी साथ एकमेक होता नहीं। अथवा जिसे हीरामणिकी कीमत हो गई हो उसके सामने यदि निष्ठौरका टुकड़ा आये तो उसे हीरामणि साक्षात् अनुभवमें आती है—यह दृष्टात भी यहाँ घटता है।

सद्गुरु, सदेव और केवलीके प्ररूपित किये हुए वर्मको सम्यक्त्व कहा है, परन्तु सत्देव और केवली ये दोनों सद्गुरुमें गर्भित हो जाते हैं।

निर्ग्रथ गुरु अर्थात् पैसे रहित गुरु नहीं, परन्तु जिसका ग्रथि-भेद हो गया है, ऐसे गुरु। सद्गुरुकी पहिचान होना व्यग्रहारसे ग्रथि-भेद होनेका उपाय है। जैसे किमी मनुष्यने त्रिष्ठौरका कोई टुकड़ा लेकर विचार किया 'मेरे पास असली मणि है, ऐसी कहीं भी मिलती नहीं।' बादमें उसने जब किसी चतुर आदमीके पास जाकर कहा कि 'मेरी मणि असली है,' तो उस चतुर आदमीने उससे भी बहुत बढ़िया बढ़िया अधिक अधिक कीमतकी मणियां बतानेकर कहा कि देख इनमें कुछ फरक माद्धम देता है ? बराबर देख। उस मनुष्यने जबाब दिया कि 'हौं इनमें फरक तो माद्धम पड़ता है।' इसके बाद उस चतुर पुरुषने झाड़-फन्सूम बतानेकर कहा कि 'देख, तेरी जैसी मणियाँ तो हजारों मिलती हैं।' सत्र झाड़ फन्सूम दिखानेके पश्चात् जब उसे उस पुरुषने असली मणि बताई तो उसे उसकी ठीक ठीक कीमत माद्धम पड़ी, और उसने उस मणिसे त्रिलकुल नकली समझकर फेक दी। बादमें फिर, किसी दूसरे आदमीने मिलनेपर उससे कहा कि तूने जिस मणिको असली समझ रखा है, वैसी मणियाँ तो बहुत मिलती हैं। तो इस प्रकारके आग्रणसे ब्रह्म आ जानेसे जीव भूल जाता है, परन्तु पीठसे उसे वह झूठा ही समझता है—जिस तरह असलीकी कीमत हुई हो उसी तरहसे समझता है—वह तुरत ही जागृतिमें आता है कि असली बहुत होती नहीं। अर्थात् आग्रण तो होता है, परन्तु पहिलेकी जो पहिचान है वह भूली जाती नहीं। इसी प्रकार विचारवान सद्गुरुका संयोग होनेपर तत्त्व प्रतीति होती है, परन्तु बादमें मिथ्यात्वकी सगसे आग्रण आ जानेसे उसमें शंका हो जाती है। यद्यपि तत्त्व-प्रतीति नष्ट नहीं हो जाती किन्तु उसे आग्रण आ जाता है। इसका नाम सास्त्रादनसम्यक्त्व है।

सद्गुरु और असद्गुरुमें रात दिन जितना अन्तर है।

एक जौहरी था। उसके पास व्यापारमें अधिक नुकसान हो जानेसे कुछ भी द्रव्य बाकी बचा नहीं। जब मरनेका समय नजदीक आ पहुँचा, तो वह खी बच्चोंका विचार करने लगा कि मेरे

पास कुछ भी तो द्रव्य नहीं है, किन्तु यदि अभी इस बातको कह दूँ तो लड़का ठोटी उमरका है, इससे उसकी देह छूट जायेगी। खीने सामने देखा और पूँजा कि कुछ कहना चाहते हैं ? पुरुषने कइ 'क्या कहूँ ?' खीने कहा कि जिससे मेरा ओर बच्चोंका उदर पोषण हो ऐसा कोई मार्ग बताइये, और कुछ कहिये ? उस समय उस पुरुषने सोच विचारकर कहा कि घरमें जगहरातके सन्दूकमें कीमती नगकी एक डिविया है। उसे, जब तुझे बहुत जरूरत पड़े, तो निकालकर मेरे भाईके पास जाकर बिकना देना, उससे तुझे बहुतसा द्रव्य मिल जायगा। इतना कहकर वह पुरुष काल-धर्मको प्राप्त हुआ। कुछ दिनों बाद मिना पैसेके उदर-पोषणके लिये पीड़ित हुआ वह लड़का, अपने पिताके कहे हुए उस जगहरातके नगको लेकर अपने काका (पिताके भाई जोहरी) के पास गया, ओर कहा कि काकाजी मुझे इस नगको बेचना है, उसका जो पसा आये उसे मुझे दे दो। उस जोहरी भाईने पूँजा, 'इस नगको बेचकर तुझे क्या करना है ?' लड़केने उत्तर दिया कि 'उदर भरनेके लिये पैसेकी जरूरत है।' इसपर उस जोहरीने कहा 'यदि सो-पचास रुपये चाहिये तो तू ले ले, रोज मेरी दुकानपर आ, और खर्च लेता रह। इस समय इस नगको रहने दे।' उस लड़केने उस जोहरी काकाकी बातको कसूर कर लिया, और उस जगहरातको वापिस ले गया। तत्पश्चात् वह लड़का रोज जोहरीकी दुकानपर जाने लगा, ओर धीरे धीरे जोहरीके समागमसे हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम सबकी परीक्षा करना सीख गया, और उसे उन सभकी कीमत मालूम हो गई। अब उस जोहरीने कहा 'तू जो पहिले अपने जवाहरातको बेचने लाया था उसे ला, उसे अत्र बेच दोगे।' इसपर लड़केने घरसे अपनी जगहरातकी डिविया लाकर देखी तो वह नग नकली मात्र दिया, इससे उसने उसे तुरत ही फेंक दिया। जब उस जोहरीने उसके फेंक देनेका कारण पूँजा, तो लड़केने जवाब दिया कि वह तो मिथ्या नकली था, इसलिये फेंक दिया है।

देखो, उस जोहरीने यदि उसे पहिले ही नकली बताया होता तो वह लड़का मानता नहीं, परन्तु जिस समय अपने आपको वस्तुकी कीमत मालूम हो गई ओर नकलीको नकलीरूपसे समझ लिया, उस समय जोहरीको कहना भी पड़ा नहीं कि यह नकली है। इसी तरह अपने आपको सद्गुरुकी परीक्षा हो जानेपर यदि असद्गुरुको असत् जान लिया तो जीन असद्गुरुको छोड़कर सद्गुरुके चरणमें जा पड़ता है, अर्थात् अपने आपमें कीमत करनेकी शक्ति आनी चाहिये।

गुरुके पास हर रोज जाकर यह जीन एकेन्द्रिय आदि जीवोंके सभमें अनेक प्रकारकी शकायें और कल्पनायें करके पूँजा करता है, परन्तु किसी दिन भी यह पूँजा नहीं कि एकेन्द्रियसे लगाकर पचेन्द्रियको जाननेका परमार्थ क्या है ? एकेन्द्रिय आदि जीवोंसमूह की कल्पनाओंसे कुछ मिथ्यास्वरूपी प्रथाका उद्वेग होता नहीं। एकेन्द्रिय आदि जीवोंका स्वरूप जाननेका हेतु तो दयाका पालन करना है। मात्र प्रश्न करनेके लिये वैसी बातें करनेका कोई फल नहीं। वास्तविकरूपसे तो समकित प्राप्त करना ही उस सबका फल है। इसलिये गुरुके पास जाकर व्यर्थके प्रश्न करनेकी अपेक्षा गुरुको कहना चाहिये कि आज एकेन्द्रिय आदिकी बात आज जान ली है, अब उस बातको आप कलके दिन न करें, किन्तु समकितकी व्यवस्था करें—इस तरह कहे तो किसी दिन निस्तारा हो सकता है। परन्तु रोज रोज एकेन्द्रिय आदिकी माथापट्टी करे तो इस जीनका कल्याण कन होगा ?

समुद्र राग है। एकदम तो उसका खारापन दूर होता नहीं। उसके दूर करनेका उपाय यह है कि उस समुद्रमेंसे एक एक जलका प्रवाह लेकर उस प्रवाहमें, जिससे उस पानीका खारापन दूर हो और उसमें मिठास आ जाय ऐसा खार डालना चाहिए। उस पानीके सुखानेके दो उपाय हैं—एक तो सूर्यका ताप और दूसरी जमीन। इसलिये प्रथम जमीन तैयार करना चाहिये और बादमें नालियोंद्वारा पानी ले जाना चाहिये और पीठसे खार डालना चाहिए, जिससे उसका खारापन दूर हो जायगा। इसी तरह मिथ्यात्वरूपी समुद्र है, उसमें कदाग्रह आदिरूप खारापन है, इसलिये कुलमरूपी प्रवाहको योग्यतारूप जमीनमें ले जाकर उसमें सद्बोधरूपी खार डालना चाहिये—इससे सत्पुरुषरूपी तापसे खारापन दूर होगा।

* दुर्बल देहने मास उपवासी, जो छे मायारग रे,
तो पण गर्भ अनता लेशे, बोले बीजु अंग रे।

+ जितनी भ्रान्ति अधिक उतना ही अधिक मिथ्यात्व। सनसे बड़ा रोग मिथ्यात्व।

जत्र जत्र तपश्चर्या करना तत्र तत्र उसे स्वच्छदसे न करना, अहंकारसे न करना लोगोंके लिये न करना। जीवको जो कुठ करना है, उसे स्वच्छदसे न करना चाहिये। 'मैं होशियार हूँ' यह जो मान रखना, वह किस भ्रमके लिये? 'मैं होशियार नहीं', इस तरह जिसने समझ लिया वह मोक्षमें गया है। सनसे मुरय विग्र स्वच्छद है। जिसके दुराग्रहका छेदन हो गया है, वह लोगोंको भी प्रिय होता है—कदाग्रह छोड़ दिया हो तो दूसरे लोगोंको भी प्रिय होता है। इसलिये कदाग्रहके छोड़ देनेसे सब फल मिलना समभव है।

गीतमस्वामीने महावीरस्वामीसे वेदसन्धी प्रश्न पूँछे। उन प्रश्नोंका, जिसने सत्र दोषोंका क्षय कर दिया है ऐसे उन महावीरस्वामीने वेदके दृष्टात देकर समाधान (सिद्ध) कर बताया।

दूसरेको उच्च गुणोंमें चढ़ाना चाहिये, किन्तु किसीकी निन्दा करनी नहीं। किसीको स्वच्छदतासे कुछ भी कहना नहीं। कुठ कहने योग्य हो तो अहकाररहित भावसे ही कहना चाहिये। परमार्थ दृष्टिसे यदि राग-द्वेष घट गये हों तो ही फलदायक है, क्योंकि व्यन्हारसे तो भोले जीवोंके भी राग-द्वेष घटे हुए रहते हैं, परन्तु परमार्थसे रागद्वेष मड पड़ गये हों तो वह कल्याणका कारण है।

महान् पुरुषोंकी दृष्टिसे देखनेसे सत्र दर्शन एकसे हैं। जैन दर्शनमें बीसलाख जीव मतमतातरमें पड़े हुए हैं। ज्ञानीकी दृष्टिसे भेदाभेद होता नहीं।

जिस जीवको अनतानुग्रहीका उदय है, उसे सबे पुरुषकी बात भी रुचिकर होती नहीं, अथवा सबे पुरुषकी बात भी सुनना उसे अच्छा लगता नहीं।

मिथ्यात्वकी जो ग्रन्थि है, उसकी सात प्रकृतियाँ हैं। मान आने तो सातों साथ साथ आती हैं, उसमें अनतानुग्रहीकी चार प्रकृतियाँ चक्रवर्तीके समान हैं। वे किसी भी तरह ग्रन्थिमेंसे निकलने देती नहीं। मिथ्यात्व रखनाला (रक्षपाल) है। समस्त जगत् उसकी सेना चाकरी करता है।

* दुर्बल देह है, और एक एक मासका उपवास करता है, परन्तु यदि अतरगमें माया है, तो भी जीव अनत गर्भ धारण करेगा ऐसा दूसरे अगमें कहा गया है।

+ यहाँ मूलपाठमें केवल इतना ही है—जेटली भ्रात्रि वधारे तेच्छ वधारे। —अनुवादक

प्रश्न — उदयकर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर — ऐश्वर्यपद प्राप्त होते समय उसे धखा मारकर पीठे निकाठ बाहर करे, कि ' यह मुझे चाहिये नहीं, मुझे इसका करना क्या है ? ' कोई राजा यदि प्रधानपद दे तो भी स्वयं उसके लेनेकी इच्छा करे नहीं । ' इसका मुझे करना क्या है ? घरसगंधी उपाधि हो तो वही बहुत है '—इस तरह उस पदको मना कर दे । ऐश्वर्यपदकी अनिच्छा होनेपर भी राजा फिर फिरसे देनेकी इच्छा करे, ओर इस कारण गट ऊपर आ ही पड़े, तो उसे विचार होता है कि ' देख, यदि तेरा प्रधानपद होगा तो बहुतसे जीवोंकी दया पलेगी, हिंसा कम होगी, पुस्तक-शालायें खुलेंगी, पुस्तकें छपाई जायेंगी '—इस तरह धर्मके बहुतसे कारणोंको समझकर वैराग्य भावनासे वेदन करना, उसे उदय कहा जाता है । उच्छासीहित तो भोग करे, और उसे उदय बताने तो वह शिथिलता और ससारमें भटकनेका ही कारण होता है ।

बहुतसे जीव मोह-गर्भित वैराग्यसे और बहुतसे दुःख-गर्भित वैराग्यसे दीक्षा ले लेते हैं । ' दीक्षा लेनेसे अच्छे अच्छे नगर और गाँवोंमें फिरनेको मिलेगा । दीक्षा लेनेके पश्चात् अच्छे अच्छे पदार्थ खानेको मिलेंगे । बस मुश्किल एक इतनी ही है कि गरमीमें नगे पैरों चलना पड़ेगा, किन्तु इस तरह तो साधारण किसान अथवा पटेल लोग भी गरमीमें नगे पैरों चलते हैं, तो फिर उनकी तरह यह भी आसानीसे ही हो जायगा । परन्तु ओर किसी दूसरी तरहका दुःख नहीं है, ओर कन्याण ही है '—ऐसी भावनासे दीक्षा लेनेका जो वैराग्य है वह मोह-गर्भित वैराग्य है । पूनमके दिन बहुतसे लोग डाँकोर जाते हैं, परन्तु कोई यह विचार करता नहीं कि इससे अपना कन्याण क्या होता है ? पूनमके दिन रणठोरजीके दर्शन करनेके लिये उनके बाप दादे जाते थे, इसलिए उनके लड़के बच्चे भी जाते हैं । परन्तु उसके हेतुका विचार करते नहीं । यह भी मोह-गर्भित वैराग्यका भेद है ।

जो सासारिक दुःखसे समार त्याग करता है, उसे दुःख-गर्भित वैराग्य समझना चाहिये ।

जहाँ जाओ वहाँ कन्याणकी ही वृद्धि हो, ऐसी दृष्टि बुद्धि करनी चाहिये । कुल-गच्छके आप्रहको छुड़ाना, यहाँ सत्सगके माहात्म्यके सुननेका प्रमाण है । मतमतातर आदि, धर्मके बड़े बड़े अनतानुबन्धी पर्यंतके फाटककी तरह कभी मिलते ही नहीं । कदाग्रह करना नहीं और जो कदाग्रह करता हो तो उसे धीरजसे समझाकर छुड़ा देना, तो ही समझनेका फल है । अनतानुबन्धी मान, कल्याण होनेमें बाँचमें स्तरूप कहा गया है । जहाँ जहाँ गुणी मनुष्य हो, वहाँ वहाँ विचारवान जीव उसका सग करनेके लिये कहता है । अज्ञानीके लक्षण लोकिा भागके होते हैं । जहाँ जहाँ दुराग्रह हो, उस उस जगहसे दूरटना चाहिये । ' इसका मुझे आनन्दयकता नहीं, ' यही समझना चाहिये ।

(४) राजज, भाद्रपद सुदी ६ शनि १९५२

प्रमादसे योग उत्पन्न होता है । अज्ञानीको प्रमाद है । योगसे अज्ञान उत्पन्न होता हो, तो वह ज्ञानीमें भी सम्भ्र है, इसलिये ज्ञानीको योग होता है, परन्तु प्रमाद होता नहीं ।

" स्वभाजमें रहना ओर विभावसे दूरटना, " यही मुख्य बात समझनेकी है । बाळ-जीवोंके समझनेके लिये ज्ञानी-गुरुपौने सिद्धांतोंके बड़े भागका वर्णन किया है ।

किसीके ऊपर रोप करना नहीं, तथा किसीके ऊपर प्रसन्न होना नहीं। ऐसा करनेसे एक शिष्यको दो घड़ोंमें केवलज्ञान प्रगट होनेका शास्त्रमें वर्णन आता है।

चित्तना रोग होता है, उतनी ही उसकी दवा करनी पड़ती है। जीवको समझना हो तो महज ही विचार प्रगट हो जाय, परन्तु मिथ्यात्वरूपी महान् रोग मौजूद है, इसलिये समझनेमें बहुत काल व्यतीत होना चाहिये। शास्त्रमें जो सौन्दर्य रोग कहे हैं, वे सत्र इम जीवको मौजूद हैं, ऐसा समझना चाहिये।

जो साधन बताये हैं, वे सर्वथा सुलभ हैं। स्वच्छदसे, अहकारसे, लोक-लाजसे, कुलधर्मके रक्षणके लिये तपश्चर्या करनी नहीं—आत्मार्थके लिये ही करनी। तपश्चर्या बारह प्रकारकी कही है। आहार न लेना आदि ये बारह प्रकार हैं। सत्साधन करनेके लिये जो बुरा बताया हो उसे सत्पुरुषके आश्रयसे करना चाहिये। अपने आपसे प्रवृत्ति करना वही स्वच्छद है, ऐसा कहा है। सत्गुरुकी आज्ञाने बिना शशांसाद्युक्त क्रियाके बिना अथ कुठ भी करना नहीं।

साधुको लघुशका भी गुरुसे पूँठकर ही करनी चाहिये, ऐसी ज्ञानी पुरुषोंकी आज्ञा है।

स्वच्छदाचारसे शिष्य बनाना हो तो साधु आज्ञा माँगता नहीं, अथवा उसकी कल्पना ही कर लेता है। परोपकार करनेमें मिथ्या कल्पना रहा करती हो, और वैसे ही अनेक विकल्पोंद्वारा जो स्वच्छद छोड़े नहीं वह अज्ञानी, आत्माको भ्रम करता है। तथा वह इसी तरह सत्र बातोंका सेवन करता है, और परमार्थके रास्तेका उल्लंघन कर वाणी बोलना है। यही अपनी होशियारी है, और उसे ही स्वच्छद कहा गया है।

बाह्य व्रतको अधिक लेनेसे मिथ्यात्वका नाश कर देंगे—ऐसा जीव विचार करे, तो यह सभ्य नहीं। क्योंकि जैसे एक भैंसा जो हजारों ज्वार-बाजरेके पूलेके पूले खा गया है, वह एक तिनकेसे डरता नहीं, उसी तरह मिथ्यात्वरूपी भैंसा, जो पूलेरूपी अनतानुबन्धी कपायसे अनतों चारित्र्य खा गया है, वह तिनकेरूपी बाह्य व्रतसे कैसे डर सकता है? परन्तु जैसे भैंसेको यदि किसी वधनसे बाँध दें तो वह वशमें हो जाता है, वैसे ही मिथ्यात्वरूपी भैंसेको आत्माके बलरूपी वधनसे बाँध देनेसे वह वश हो जाता है, अर्थात् जत्र आत्माका बल बढ़ता तो मिथ्यात्व घटता है।

अनादिकालके अज्ञानके कारण चित्तना काल व्यतीत हुआ, उतना काल मोक्ष होनेके लिये चाहिये नहीं। कारण कि पुरुषार्थका बल कर्मोंकी अपेक्षा अधिक है। कितने ही जीव दो घड़ोंमें कल्याण कर गये हैं। सम्यग्दृष्टि किसी भी तरह हो आत्माको ऊँचे ले जाता है—अर्थात् सम्यक्त्व आनेपर जीवकी दृष्टि बदल जाती है।

मिथ्यादृष्टि, समकित्तिके अनुसार ही जप तप आदि करता है, ऐसा होनेपर भी मिथ्यादृष्टिके जप तप आदि मोक्षके कारणभूत होते नहीं, ससारके ही कारणभूत होते हैं। समकित्तिके ही जप तप आदि मोक्षके कारणभूत होते हैं। समकित्ति उन्हें दम रहित करता है, अपनी आत्माकी ही निन्दा करता है, और कर्म करनेके कारणोंसे पीछ हटता है। यह करनेसे उसके अहकार आदि स्वाभाविकरूपसे ही घट जाते हैं। अज्ञानोंके समस्त जप तप आदि अहकारकी वृद्धि करते हैं, और ससारके हेतु होते हैं।

जैनशास्त्रोंमें कहा है कि लक्ष्मियों उत्पन्न होती हैं। जैन और वेददर्शन जन्मसे ही लड़ते आते हैं, परन्तु इम बातको तो दोनों ही जने कबूल करते हैं, इसलिये यह सभव है। जत्र आत्मा साक्षी देता है उसी समय आत्मामें उल्लास-परिणाम आता है।

होम हवन आदि बहुतसे लौकिक रिवाजोंको प्रचलित देखकर तर्थाकर भगवान् अपने समयमें दयाका बहुत ही सूक्ष्म रीतिसे वर्णन किया है। जनेदर्शनके समान दयासन्धी विचार कोई दर्शन अथवा सप्रदायगले लोग नहीं कर सके। क्योंकि जैन लोग पचेन्द्रियका घात तो करते ही नहीं, किन्तु उन्होंने एकेन्द्रिय आदिमें भी जीवके अस्तित्वको विशेष अतिविशेष दृढ़ करके, दयाके मार्गका वर्णन किया है।

इस कारण चार वेद अठारह पुराण आदिका जिसने वर्णन किया है, उसने अज्ञानसे, स्वच्छरसे, मिथ्यात्वसे और सशयसे ही किया है, ऐसा कहा गया है। ये वचन बहुत ही भारी लिखे हैं। यहाँ बहुत अप्रिक विचार कर पीछेसे वर्णन किया है कि अन्य दर्शन—वेद आदि—के जो प्रथ हैं उन्हें यदि सम्यग्दृष्टि जीव बाँचे तो सम्यक् प्रकारसे परिणमन करता है, और जिन भगवान्के अथवा चाहे जिस तरहके ग्रन्थोंके यदि मिथ्यादृष्टि बाँचे करे तो वह मिथ्यात्वरूपसे परिणमन करता है।

जीवको ज्ञानी पुरुषके समीप उनके अपूर्ण वचनोंके सुननेसे अपूर्ण उल्लास-परिणाम आता है, परन्तु बादमें प्रमादी हो जानेसे अपूर्ण उल्लास आता नहीं। जिस तरह हम यदि अग्निकी सिगड़ीके पास बैठे हों तो ठंड लगती नहीं, और सिगड़ीसे दूर चले जानेपर फिर ठंड लगने लगती है, उसी तरह ज्ञानी-पुरुषके समीप उनके अपूर्ण वचनोंके श्रवण करनेसे प्रमाद आदि नष्ट हो जाते हैं, और उल्लास-परिणाम आता है, परन्तु पीछेसे फिर प्रमाद आदि उत्पन्न हो जाते हैं। यदि पूर्वके सस्कारमे ये वचन अतर्प-परिणामको प्राप्त करें तो दिन प्रतिदिन उल्लास परिणाम बढ़ता ही जाय, और यथार्थ रीतिसे भान हो। अज्ञानके दूर होनेपर समस्त भूल दूर हो जाती है—स्वरूप जागृतिमान होता है। बाहरसे वचनोंके सुननेसे अतर्पपरिणाम होता नहीं, तो फिर जिस तरह सिगड़ीसे दूर चले जानेपर फिर ठंड लगने लगती है, उसी तरह उसका दोष घटता नहीं।

केशीश्वामीने परदेशी राजाको ब्रह्म देते समय जो उसे 'जड़ जेसा' 'मूर्ख जैसा' कहा था, उसका कारण परदेशी राजामें पुरुषार्थ जागृत करनेका था। जड़ता—मूर्खता—के दूर करनेके लिये ही यह उपदेश दिया है। ज्ञानीके वचन अपूर्ण परमार्थको छोड़कर दूसरे किसी कारणसे होते नहीं। बाल-जीव ऐसी बातें किया करते हैं कि छद्मस्थमानसे ही केशीश्वामीने परदेशी राजाके प्रति जैसे वचन कहे थे, परन्तु यह बात नहीं। उनकी वाणी परमार्थके कारण ही निकली थी।

जड़ पदार्थको लेने-रखनेमें उन्मादसे प्रवृत्ति करे तो उसे असयम कहा है। उसका कारण यह है कि जल्दजाजीसे लेने-रखनेमें आत्माका उपयोग चूककर तादात्म्यभाव हो जाता है। इस कारण उपयोगके चूक जानेको असयम कहा है।

अंहारसे आचार्यभाज धारण कर दम रखे और उपदेश दे तो पाप लगता है। आत्मवृत्ति रखनेके लिये ही उपयोग रखना चाहिये।

श्रीआचारण सूत्रमें कहा है कि 'जो आसन्न हैं वे परिस्रग हैं' और जो 'परिस्रग हैं वे आसन्न हैं।' जो आसन्न है, वह ज्ञानीको मोक्षका हेतु होता है, और जो परिस्रग है वह सब होनेपर भी अज्ञानीको बधका हेतु होता है—ऐसा स्पष्टरूपसे कहा है। उसका कारण ज्ञानीमें उपयोगकी जागृति करना है, और वह अज्ञानीमें है नहीं।

उपयोग दो प्रकारके कहे हैं—१ द्रव्य उपयोग, २ भाव उपयोग

जैसी सामर्थ्य सिद्धभगवान्की है, वैसी सत्र जीवोंको हो सकती है। केवल अज्ञानके कारण ही वह ध्यानमें आती नहीं। जो निचारवान जीव हो उसे तो नित्य ही तत्समधी निचार करना चाहिये।

जीव ऐसा समझता है कि मैं जो क्रिया करता हूँ इससे मोक्ष है। क्रिया करना ही श्रेष्ठ बात है, परन्तु उसे यह लोक-संज्ञासे करे तो उसका फल मिलता नहीं।

जैसे किसी आदमीके हाथमें चिंतामणि स्तन आ गया हो, किन्तु यदि उसे उसकी खबर न हो तो वह निष्फल ही चला जाता है, और यदि खबर हो तो ही उसका फल मिलता है। इसी तरह यदि जीवको ज्ञानीकी सच्ची सच्ची खबर पड़े तो ही उसका फल है।

जीवकी अनादिकालसे भूल चली आती है। उसे समझनेके लिये जीवकी जो भूल-मिथ्यात्व-है, उसका मूलसे ही छेदन करना चाहिये। यदि उसका मूलसे छेदन किया जाय तो वह फिर अकुरित होती नहीं, अन्यथा वह फिरसे अकुरित हो जाती है। जिस तरह पृथ्वीमें यदि वृक्षकी जड़ वाकी रह गई हो तो वृक्ष फिरसे उग आता है। इसलिये जीवकी वास्तविक भूल क्या है, उसका निचार निचार कर उससे मुक्त होना चाहिये। 'मुझे किम कारणसे बधन होता है' ? 'वह किस तरह दूर हो सकता है' ? यह निचार पहले करना चाहिये।

रात्रि-भोजन करनेसे आलस-प्रमाद उत्पन्न होता है, जागृति होती नहीं, निचार आता नहीं, इत्यादि अनेक प्रकारके दोष रात्रि-भोजनसे पैदा होते हैं। मैथुन करनेके पश्चात् भी बहुतसे दोष उत्पन्न होते हैं।

कोई हरियाली विनारता हो तो वह हमसे देखा जा सकता नहीं। तथा आत्मा उज्वलता प्राप्त करे तो बहुत ही अनुरूप बुद्धि रहती है।

ज्ञानमें सीधा ही भासित होता है, उल्टा भासित नहीं होता। ज्ञानी मोहको प्रवेश करने देता नहीं। उसके जागृत उपयोग होता है। ज्ञानीके जिस तरहका परिणाम हो वैसा ही ज्ञानीको कार्य होता है। तथा जिस तरह अज्ञानीका परिणाम हो, वैसा ही अज्ञानीका कार्य होता है। ज्ञानीका चलना सीधा, बोलना सीधा और सत्र कुछ सीधा ही होता है। अज्ञानीका सब कुछ उल्टा ही होता है, वर्तनके विकल्प होते हैं।

मोक्षका उपाय है। ओष-भायसे खबर होगी, निचारभायसे प्रतीति आवेगी।

अज्ञानी स्वयं दरिद्री है। ज्ञानीकी आज्ञासे काम क्रोध आदि घटते हैं। ज्ञानी उसका वैध है। ज्ञानीके हाथसे चारित्र प्राप्त हो तो मोक्ष हो जाय। ज्ञानी जो जो व्रत दे वे सब ठेठ अन्ततक ले जाकर पार उतारनेवाले हैं। समकित आनेके पश्चात् आत्मा समाधिकी प्राप्त करेगी, क्योंकि अब वह सच्ची हो गई है।

(५)

भाद्रपद सुदी ९, १९५२

प्रश्न — ज्ञानसे कर्मकी निर्जरा होती है, क्या यह ठीक है ?

उत्तर — सार जाननेको ज्ञान कहते हैं और सार न जाननेको अज्ञान कहते हैं। हम किसी भी पापसे निवृत्त हों, अथवा कल्याणमें प्रवृत्ति करें, वह ज्ञान है। परमार्थको समझकर करना चाहिये। अहंकाररहित, लोकसंसाररहित, आत्मामें प्रवृत्ति करनेका नाम 'निर्जरा' है।

इस जिविकी साथ राग-द्वेष लगे हुए हैं। जीन यद्यपि अनतज्ञान-दर्शनसहित है, परन्तु राग-द्वेषके कारण वह उससे रहित ही है, यह बात जीनके ध्यानमें आती नहीं।

सिद्धको राग द्वेष नहीं। जैसा सिद्धका स्वरूप है, वैसा ही सप्त जीवोंका भी स्वरूप है। जीनको केवल अज्ञानके कारण यह ध्यानमें आता नहीं। उसके लिये विचारवानको सिद्धके स्वरूपका विचार करना चाहिये, जिससे अपना स्वरूप समझमें आ जाय।

जैसे किसी मनुष्यके हाथमें चिंतामणि रत्न आया हो, ओर उसे उसकी (पहिचान) हे तो उसे उस रत्नके प्रति बहुत ही प्रेम उत्पन्न होता है, परन्तु जिसे उसकी खबर ही नहीं, उसे उसके प्रति कुछ भी प्रेम उत्पन्न होता नहीं।

इस जीनकी अनादिकालकी जो भूल है, उसे दूर करना है। दूर करनेके लिये जीनकी बड़ीसे बड़ी भूल क्या है? उसका विचार करना चाहिये, ओर उसके मूलका छेदन करनेकी ओर लक्ष रखना चाहिये। जबतक भूल रहती है तबतक वह बढ़ती ही है।

‘ मुझे किस कारणसे बंधन होता है ’? ओर ‘ वह किससे दूर हो सकता है ’? इसके जाननेके लिये शास्त्र रचे गये हैं, लोगोंमें पुजनेके लिये शास्त्र नहीं रचे गये।

इस जीनका स्वरूप क्या है ?

जबतक जीनका स्वरूप जाननेमें न आये, तबतक अनन्त जन्म मरण करने पड़ते हैं। जीनकी क्या भूल है? वह अभीतक ध्यानमें आती नहीं।

जीनका क्लेश नष्ट होगा तो भूल दूर होगी। जिस दिन भूल दूर होगी उसी दिनसे साधुपना कहा जायेगा। यही बात श्रावकपनेके लिये समझनी चाहिये।

कर्मन्त्री वर्गणा जीनको दूध और पानीके सयोगकी तरह है। अग्निके सयोगसे जैसे पानीके जल जानेपर दूध बाकी रह जाता है, इसी तरह ज्ञानरूपी अग्निके कर्मवर्गणा नष्ट हो जाती है।

देहमें अहंभाज माना हुआ है, इस कारण जीनकी भूल दूर होती नहीं। जीन देहकी साथ एकमेक हो जानेसे ऐसा मानने लगता है कि ‘ मैं बनिया हूँ, ’ ‘ ब्राह्मण हूँ, ’ परन्तु शुद्ध विचारसे तो उसे ऐसा अनुभव होता है कि ‘ मैं शुद्ध स्वरूपमय हूँ ’। आत्माका नाम ठाम कुछ भी नहीं है— जीन इस तरह विचार करे तो उसे कोई गाली बगेरह दे, तो भी उससे उसे कुछ भी लगता नहीं।

जहाँ जहाँ कहीं जीन ममत्त्व करता है वहाँ वहाँ उसकी भूल है। उसके दूर करनेके लिये ही शास्त्र रचे गये हैं।

चाहे कोई भी मर गया हो उसका यदि विचार करे तो वह बेराम्य है। जहाँ जहाँ ‘ यह मेरा भाई बन्धु है ’ इत्यादि भावना है, वहाँ वहाँ कर्म-बंधका कारण है। इसी तरहकी भावना यदि साधु भी अपने चेलके प्रति रखे तो उसका आचार्यपना नाश हो जाय। वह अदभता, निरहकारता करे तो ही आत्माका कल्याण हो सकता है।

पाँच इन्द्रियाँ किस तरह बश होती हैं? वस्तुओंके ऊपर तुच्छ भाव लानेसे। जैसे फूलमें यदि सुगंध हो तो उससे मन सतुष्ट होता है, परन्तु वह सुगंध थोड़ी देर रहकर नष्ट हो जाती है, ओर फूल कुम्हला जाता है, फिर मनको कुछ भी सतोप होता नहीं। उसी तरह सप्त पदार्थोंमें तुच्छभाज

लानेसे इन्द्रियोंको प्रियता होती नहीं, और उससे क्रमसे इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। तथा पाँच इन्द्रियोंमें भी जिह्वा इन्द्रियके वश करनेसे वाकीकी चार इन्द्रियाँ सहज ही वश हो जाती हैं। तुच्छ आहार करना चाहिये। किसी रसगले पदार्थकी ओर प्रेरित होना नहीं। बलिष्ठ आहार करना नहीं।

जैसे किसी वर्तनमें खून, माँस, हड्डी, चमड़ा, वीर्य, मल, और मूत्र ये सात धातुएँ पड़ी हुई हों, और उसकी ओर कोई देखनेके लिये कहे तो उसके ऊपर अरुचि होती है, और द्यूकातक भी नहीं जाता, उसी तरह स्त्री-पुरुषके शरीरकी रचना है। परन्तु उसमें ऊपर ऊपरसे रमणीयता देकर जीनको मोह होता है, और उसमें वह तृष्णापूर्वक प्रेरित होता है। अज्ञानसे जीन भूलता है—ऐसा विचार कर, तुच्छ समझकर, पदार्थके ऊपर अरुचिभाज लाना चाहिये। इसी तरह हरेक वस्तुकी तुच्छता समझनी चाहिए। इस तरह समझकर मनका निरोध करना चाहिये।

तार्थकरने उपवास करनेकी आज्ञा की है, वह कैवल इन्द्रियोंको वश करनेके लिये ही की है। अक्रेडे उपवासके करनेसे इन्द्रियाँ वश होती नहीं, परन्तु यदि उपयोग हो तो—विचारसहित हो तो—वश होती हैं। जिस तरह लक्षरहित वाण व्यर्थ ही चला जाता है, उसी तरह उपयोगरहित उपवास आत्मार्थके लिये होता नहीं।

अपनेमें कोई गुण प्रगट हुआ हो, और उसके लिये यदि कोई अपनी स्तुति करे, और यदि उससे अपनी आत्मामें अहकार उत्पन्न हो तो वह पीछे हट जाती है। अपनी आत्माकी निन्दा करे नहीं, अम्यतर दोष विचारे नहीं, तो जीन लौकिक भावमें चला जाता है, परन्तु यदि अपने दोषोंका निरीक्षण करे, अपनी आत्माकी निन्दा करे, अहभावसे रहित होकर विचार करे, तो सत्पुरुषके आश्रयसे आत्मलक्ष होता है।

मार्गके पानेमें अनन्त अन्तराय हैं। उनमें फिर 'मैंने यह किया' 'मैंने यह कैसा सुन्दर किया' इस प्रकारका अभिमान होता है। 'मैंने कुछ भी किया ही नहीं' यह दृष्टि रखनेसे ही वह अभिमान दूर होता है।

लौकिक और अलौकिक इस तरह दो भाव होते हैं। लौकिकसे ससार और अलौकिकसे मोक्ष होती है।

बाह्य इन्द्रियोंको वश किया हो तो सत्पुरुषके आश्रयसे अतर्लक्ष हो सकता है। इस कारण बाह्य इन्द्रियोंको वशमें करना श्रेष्ठ है। बाह्य इन्द्रियाँ वशमें हो जाँय, और सत्पुरुषका आश्रय न हो तो लौकिकभावमें चले जानेकी सभावना रहती है।

उपाय किये बिना कोई रोग मिटता नहीं। इसी तरह जीनको लोभरूपी जो रोग है, उसका उपाय किये बिना वह दूर होता नहीं। ऐसे दोषके दूर करनेके लिये जीन जरा भी उपाय करता नहीं। यदि उपाय करे तो वह दोष हालमें ही भाग जाय। कारणको खडा करो तो ही कार्य होता है। कारण बिना कार्य नहीं होता।

सच्चे उपायको जीन खोजता नहीं। जीन ज्ञानी-पुरुषके वचनोंको श्रवण करे तो उसकी एवजमें प्रतीति होती नहीं। 'मुझे लोभ छोड़ना है, ऐसी बीजभूत भावना हो तो दोष दूर होकर अनुक्रमसे 'बीज-ज्ञान' प्रगट होता है।

प्रश्न — आत्मा एक है अथवा अनेक ?

उत्तर — यदि आत्मा एक ही हो तो पूर्वमें जो रामचन्द्रजी मुक्त हो गये हैं, उससे सत्रकी मुक्ति हो जानी चाहिये। अर्थात् एककी मुक्ति हुई हो तो सत्रकी मुक्ति हो जानी चाहिये, और तो फिर दूसरोंको सत्साध्य सद्गुरु आदि साधनोंकी भी आवश्यकता नहीं।

प्रश्न — मुक्ति होनेके पश्चात्, क्या जीव एकाकार हो जाता है ?

उत्तर — यदि मुक्त होनेके बाद जीव एकाकार हो जाता हो तो म्मानुभव आनन्दका अनुभव करे नहीं। कोई पुरुष यहाँ आकर बैठा, और वह भिदेह-मुक्त हो गया। बादम दूसरा पुरुष यहाँ आकर बैठा, वह भी मुक्त हो गया। परन्तु इस तरह तीसरे चौथे सत्रके सत्र मुक्त हो नहीं जाते। आत्मा एक है, उसका आशय यह है कि सत्र आमायें वस्तुम्वसे तो समान हैं, परन्तु स्वतंत्र हैं, म्मानुभव करती हैं। इस कारण आत्मा भिन्न भिन्न हैं। “आत्मा एक है, इसलिये तुझे कोई दूसरी भ्राति रखनेकी जरूरत नहीं। जगत् कुछ चीज ही नहीं, ऐसे भित्तरहित भावसे वर्तन करनेसे मुक्ति है” — ऐसा जो कहता है, उसे विचारना चाहिये कि तत्र तो एककी मुक्तिसे जम्बर सबका मुक्ति हो जानी चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं, इसलिये आत्मा भिन्न भिन्न हैं। जगत्की भ्राति दूर हो गई, इसमें ऐसा समझना नहीं कि चन्द्र सूर्य आदि ऊपरसे नीचे गिर पड़ते हैं। इसका आशय यही है कि आत्माकी विषयसे भ्रान्ति दूर हो गई है। स्थितिमें कोई कल्पना नहीं। आत्माके शुद्ध विचारको प्राप्त किये बिना कल्याण होता नहीं।

माया-कपटसे झूठ बोलनेमें बहुत पाप है। वह पाप दो प्रकारका है। मान और धन प्राप्त करनेके लिये झूठ बोलें तो उसमें बहुत पाप है। आजीविकाके लिये झूठ बोलना पड़ा हो, ओर पश्चात्ताप करे तो उसे पहिलेकी अपेक्षा कुछ कम पाप लगता है।

बाप स्वयं पचास बरसका हो, और उसका तीस बरसका पुत्र मर जाय तो वह बाप उसके पास जो आभूषण हांते हैं उन्हें निकाल लेता है। पुत्रके देहात-क्षणमें जो वैराग्य था, वह स्मशान वैराग्य था।

भगवान्ने किसी भी पदार्थको दूसरेको देनेकी मुनिको आज्ञा दी नहीं। देहको धर्मका साधन मानकर उसे निग्राहनेके लिये जो कुछ आज्ञा दी है, उतनी ही आज्ञा दी है, बाकी दूसरेको कुछ भी देनेकी आज्ञा दी नहीं। आज्ञा दी होती तो परिग्रहकी वृद्धि ही होती, ओर उससे अनुक्रमसे अन्न पान आदि लार कुटुम्बका अथवा दूसरोंका पोषण करके, वह नडा दाननीर होता। इसलिये मुनिको विचार करना चाहिये कि तीर्थकरने जो कुछ रखनेकी आज्ञा दी है, वह केवल तेरे अपने लिये ही है, ओर वह भी लौकिक दृष्टि छुड़ाकर समयमें लगनेके लिये ही दी है।

कोई मुनि गृहस्थके घरसे छुई लगा हो, ओर उसके लिये जानेसे वह उसे वापिस न दे, तो उसे तीन उपवास करने चाहिये—ऐसी ज्ञानी-पुरुषोंकी आज्ञा है। उसका कारण यही है कि वह मुनि उपयोगशून्य रहा है। यदि इतना अधिक बोझा मुनिके सिरपर न रखा जाता, तो उसका दूसरी वस्तुओंके भी लानेका मन होता, ओर वह कुछ समय बाद परिग्रहकी वृद्धि करके मुनिपनेको ही गुमा बैठता। ज्ञानीने इम प्रकारके जो कठिन मार्गका प्ररूपण किया है उसका यही कारण है कि वह जानता है कि यह जीव विज्ञासका पात्र नहीं है। कारण कि वह भ्रातिनाला है। यदि कुछ झूठ दी

होगी तो कालक्रमसे उस उस प्रकारमें विशेष प्रवृत्ति होगी, यह जानकर ज्ञानाने सुई जैसी निर्जीम यस्तुके सत्रधमें भी इस तरह आचरण करनेकी आज्ञा की है । लोककी दृष्टिमें तो यह बात साधारण है । परन्तु ज्ञानाकी दृष्टिमें उतनी छूट भी जड़मूलसे नाश कर सके, इतनी बड़ी माठम होता है ।

ऋषभदेवजीके पास अज्ञानवें पुत्र यह कहनेके अभिप्रायसे आये थे कि 'हमें राज प्रदान करो ।' वहाँ तो ऋषभदेवने उपदेश देकर अज्ञानवेंके श्रद्धानवेंको ही मूँड लिया । देखो महान् पुरुषकी करुणा !

केशीस्वामी और गौतमस्वामी कैसे सरल थे ! दोनोंने ही एक मार्गको जाननेसे पाँच महाव्रत ग्रहण किये थे । आजकलके समयमें दोनों पक्षोंका इकट्ठा होना हो तो वह न बने । आजकलके दूँदिया और तैम्पा, तथा हरेक जुदे जुदे सघाड़ोंका इकट्ठा होना हो तो वह न बने, उसमें कितना ही काल व्यतीत हो जाय । यद्यपि उसमें हे कुछ भी नहीं, परन्तु असरलताके कारण वह सभ्य ही नहीं ।

सत्पुरुष कुछ सत् अनुष्ठानका त्याग कराते नहीं, परन्तु यदि उसका आग्रह हुआ होता है तो आग्रह दूर करानेके लिये उसका एक बार त्याग कराते हैं । आग्रह दूर होनेके बाद पीछेसे उसे वे ग्रहण करनेको कहते हैं ।

चक्रवर्ती राजा जैसे भी नम्र होकर चले गये हैं ! कोई चक्रवर्ती राजा हो, उसने राज्यका त्याग कर दीक्षा ग्रहण की हो, और उसकी कुछ भूल हो गई, और कोई ऐसी बात हो कि उस चक्रवर्तीके राज्य-कालका दासीका कोई पुत्र उस भूलको सुधार सकता हो, तो उसके पास जाकर, चक्रवर्तीको उसके कथनके ग्रहण करनेकी आज्ञा की गई है । यदि उसे उस दासीके पुत्रके पास जाते समय ऐसा हो कि 'मैं दासीके पुत्रके पास कैसे जाऊँ' तो उसे भटक भटककर मरना है । ऐसे कारणोंके उपस्थित होने-पर लोक-लाजको छोड़नेका ही उपदेश किया है, अर्थात् जहाँ आत्माको ऊँचे ले जानेका कोई अवसर हो, वहाँ लोक-लाज नहीं मानी गई । परन्तु कोई मुनि नियम इच्छासे वेश्याके घर जाय, और वहाँ जाकर उसे ऐसा हो कि 'मुझे लोग देख लेंगे तो मेरी निन्दा होगी, इसलिये यहाँसे वापिस लौट चलना चाहिये' तो वहाँ लोक लाज रखनेका विधान है । क्योंकि ऐसे स्थानमें लोक-लाजका भय खानेसे ब्रह्मचर्य रहता है, जो उपकारक है ।

हितकारी क्या है, उसे समझना चाहिये । आठमकी तकरारको तिथिके लिये करना नहीं, परन्तु हरियालीके रक्षणके लिये ही तिथि पालनी चाहिये । हरियालीके रक्षणके लिये आठम आदि तिथि कहाँ गई हैं, कुछ तिथिके लिये आठम आदिको कहाँ नहीं । इसलिये आठम आदि तिथिके कदाग्रहको दूर करना चाहिये । जो कुछ कहा है वह कदाग्रहके करनेके लिये कहाँ नहीं । आत्माकी शुद्धिसे जितना करोगे उतना ही हितकारी है । जितना अशुद्धिसे करोगे उतना ही अहितकारी है, इसलिये शुद्धतापूर्वक सद्ब्रतका सेवन करना चाहिये ।

हमें तो ब्राह्मण, वैष्णव, चाहे जो हो सब समान ही हैं । कोई जैन कहा जाता हो ओर मतसे प्रसन्न हो तो वह अहितकारी है, मतरहित ही हितकारी है ।

सामायिक-शास्त्रकारने विचार किया कि यदि कायाको स्थिर रखनी होगी, तो पीठसे विचार करेगा, नियम नहीं बाँधा हो तो दूसरे काममें पड़ जायगा, ऐसा समझकर उस प्रकारका नियम बाँधा ।

जैसा मनका परिणाम हो वैसा ही सामायिक होता है। मनका घोड़ा दौड़ता हो तो कर्मत्रय होता है। मनका घोड़ा दौड़ता हो और सामायिक क्रिया हो तो उसका फल कसा हो ?

कर्मत्रयको थोड़ा थोड़ा छोड़नेकी इच्छा करे तो छूटे। जैसे कोई कोठी भरी हो, ओर उसमेंसे कण कण फरके निकाला जाय तो वह अतमें गाली हो जाता है। परन्तु वह इच्छासे कर्मको छोड़ना ही सार्थक है।

आनन्दयक छह प्रकारके हैं—सामायिक, चीनीमधो, बदना, प्रतिगमन, कायोत्सर्ग और प्रत्याग्यान। सामायिक अर्थात् सारय-योगकी विवृति।

याचना (भौंचना), पृच्छना (पूँटना), परिवर्तना (फिर फिरसे विचार करना) और धर्मकथा (धर्मविषयक कथा करनी), ये चार द्रव्य हैं, और अनुप्रेक्षा ये भाव हैं। यदि अनुप्रेक्षा न आवे तो पहिले चार त्रय्य हैं।

अज्ञानी लोग ' आजकल केवलज्ञान नहीं है, मोक्ष नहीं है ' ऐसी हीन पुरुषार्थकी बातें करते हैं। ज्ञानीका वचन पुरुषार्थ प्रेरित करनेवाला होता है। अज्ञानी शिथिल है, इस कारण वह ऐसे हीन पुरुषार्थके वचन कहता है। पचम काठकी, भवस्थितिकी अथवा आयुकी बातको मनमें लाना नहीं और इस तरहकी वाणी सुनना नहीं।

कोई हीन-पुरुषार्थी वाँरे करे कि उपादान कारणकी क्या जम्बरत है ? पूर्वम अशोच्याकेनली हो ही गये हैं। तो ऐसी बातोंसे पुरुषार्थ हीन न होना चाहिये। सत्सग और सत् सासनके बिना कभी भी कल्याण होता नहीं। यदि अपने आपसे ही कल्याण होता हो, तो मिट्टीमेंसे मय ही घड़ा उत्पन्न हो जाया करे। परन्तु लाखों वर्ष व्यतीत हो जायँ फिर भी मिट्टीमेंसे घड़ा स्वय उत्पन्न होता नहीं। उसी तरह उपादान कारणके बिना कल्याण होता नहीं। शास्त्रका वचन है कि तार्थकरका सयोग हुआ और फिर भी कल्याण नहीं हुआ, उसका कारण पुरुषार्थ-रहितपना ही है। पूर्वमें उन्हें ज्ञानीका सयोग हुआ था फिर भी पुरुषार्थके बिना जैसे वह योग निष्फल चला गया, उसी तरह जो ज्ञानीका योग मिला है, और पुरुषार्थ न करे तो वह योग भी निष्फल ही चला जायगा। इसलिये पुरुषार्थ करना चाहिये, और तो ही कल्याण होगा। उपादान कारण श्रेष्ठ है।

ऐसा निश्चय करना चाहिये कि सत्पुरुषके कारण—निमित्तसे—अनत जीन पार हो गये हैं। कारणके बिना कोई जीन पार होता नहीं। अशोच्याकेनलीको आगे पीछे वैसा सयोग मिला होगा। सत्सगके बिना समस्त जगत् इन ही गया है।

मीरानाई महाभक्तिगान थी।

सुदर आचरणवाले सुदर समागममे समता आती है। समताके विचारके लिये दो घड़ी सामायिक करना कहा है। सामायिकमें मनके मनोरथको उल्टा सीधा चिंतन करे तो कुछ भी फल न हो। सामायिकका मनके दौड़ते हुए घोड़ेको रोकनेके लिये प्ररूपण किया है। एक पक्ष, सन सराँके दिनससनधी चौधकी तिथिका आप्रह करता है, और दूसरा पक्ष पौंचमकी तिथिका आप्रह करता है। आप्रह करनेवाले दोनों ही मिथ्यात्वा हैं। ज्ञानी-पुरुषोंने तिथियोंकी मर्यादा आत्माके लिये ही की है। क्योंकि यदि कोई एक दिन निश्चित न किया होता तो प्राणदयक विधियोंका नियम रहता नहीं। आत्मारथके लिये तिथि

मर्यादाका लाम लेना चाहिये । बान्नी तिथि-त्रिथिके भेदको ठोड़ ही देना चाहिये । ऐसी कल्पना करना नहीं, ऐसी भगजालमें पड़ना नहीं ।

आनन्दघनजीने कहा हे —

फळ अनेकांत लोचन न देखे,

फळ अनेकांत क्रिया करी वापडा, रडवडे चार गतिमाटि लेखे ।

अर्थात् जिस क्रियाके करनेसे अनेक फळ हों वह क्रिया मोक्षके लिये नहीं हे । अनेक क्रियाओंका फळ मोक्ष ही होना चाहिये । आमाके अशोकें प्रगट होनेके लिये क्रियाओंका वर्णन किया गया है । यदि क्रियाओंका वह फळ न हुआ ही तो वे सत्र क्रियायें समारकी ही हेतु हैं ।

‘ निंदामि, गरिहामि, अप्पाण गोसिरामि ’ ऐसा जो कहा है, उसका हेतु कपायको विस्मरण करानेका है, परन्तु लोग तो निचारे एकदम आत्माको ही विस्मरण कर देते हैं ।

जीनको देवगतिकी, मोक्षके सुखकी, ओर अन्य उस तरहकी कामनाकी इच्छा न रखनी चाहिये । पचमकालके गुरु कैसे होते हैं, उसका एक सन्यासीका दृष्टान्त —

कोई सन्यासी अपने शिष्यके घर गया । ठंड बहुत पड़ रही थी । भोजन करने बैठनेके समय शिष्यने स्नान करनेके लिये कहा, तो गुरुने मनमें निचार किया कि ‘ ठंड बहुत पड़ रही है और इसमें स्नान करना पड़ेगा ’, यह निचार कर सन्यासीने कहा कि ‘ भैने तो ज्ञान-गगाजलमें स्नान कर लिया हूँ ’ । शिष्य बुद्धिमान् था, वह समझ गया ओर उसने ऐसा रास्ता पकड़ा जिससे गुरुको कुछ शिक्षा मिले । शिष्यने गुरुजीको भोजन करनेके लिये मानपूर्वक बुला कर उन्हें भोजन कराया । प्रसाद लेनेके बाद गुरु महाराज एक कमरेमें सो गये । गुरुजीको जत्र प्यास लगी, तो उन्होंने शिष्यसे जल माँगा । इसपर शिष्यने तुरत ही जत्राव दिया, ‘ महाराज, आप ज्ञान-गगामेंसे ही जल ले लें । ’ जत्र शिष्यने ऐसा काठिन रास्ता पकड़ा तो गुरुने स्वीकार किया कि ‘ मेरे पास ज्ञान नहीं ह । देहकी साताके लिये ही भैने स्नान न करनेके लिये ऐसा कह दिया था । ’

मिथ्यादृष्टिके पूर्वके जप-तप अभीतक भी एक आत्माहितार्थके लिये हुए नहीं ।

आत्मा मुख्यरूपसे आत्मस्वभावरसे आचरण करे, यह ‘ अध्यात्मज्ञान ’ । मुरारूपसे जिसमें आत्माका वर्णन किया हो वह ‘ अध्यात्मशास्त्र ’ । अक्षर (शब्द) अध्यात्मीका मोक्ष होता नहीं । जो गुण अक्षरोंमें कहे गये हैं, वे गुण यदि आत्मामें रहें तो मोक्ष हो जाय । संपुरुषमें भाव-अध्यात्म प्रगट रहता है । केवल वाणीके सुननेके लिये ही जो वचनोंको सुने, उसे शब्द-अध्यात्मी कहना चाहिये । शब्द-अध्यात्मी लोग अध्यात्मकी बातें करते हैं और महा अनर्थकारक आचरण करते हैं । इस कारण उन जैसोंको ज्ञान-दग्ध कहना चाहिये । ऐसे अध्यात्मियोंको शुष्क और अज्ञानी समझना चाहिये ।

ज्ञानी-पुरुषरूपी सूर्यके प्रगट होनेके पश्चात् सच्चे अध्यात्मी शुष्क रीतिसे आचरण करते नहीं, वे भाव-अध्यात्ममें ही प्रगटरूपसे रहते हैं । आत्मामें सच्चे सच्चे गुणोंके उत्पन्न होनेके बाद मोक्ष होती है । इस कालमें द्रव्य-अध्यात्मी ज्ञानदग्ध गहुत हैं । द्रव्य-अध्यात्मी केवल मंदिरके कलशकी शोभाके समान हैं ।

मोह आदि विकार इस तरहके हैं कि जो सम्यग्दृष्टिको भी चलायमान कर डालते हैं, इसलिये तुम्हें तो ऐसा समझना चाहिये कि मोक्ष-मार्गके प्राप्त करनेमें जैसे अनेक विघ्न हैं। आयु तो थोड़ी है, और कार्य महाभारत करना है। जिस प्रकार नोका तो छोटी हो ओर बड़ा महासागर पार करना हो, उसी तरह आयु तो थोड़ी है और ससाररूपी महासागर पार करना है। जो पुरुष प्रभुके नामसे पार हुए हैं, उन पुरुषोंको धन्य है। अज्ञानी जीवको खबर नहीं कि अमुक जगह गिरनेकी है, परन्तु वह ज्ञानियोंद्वारा देखी हुई है। अज्ञानी-द्रव्य-अयात्मी-कहते हैं कि मेरेमें कपाय नहीं है। सम्यग्दृष्टि चैतन्य-सयोगसे ही है।

कोई मुनि गुफामें ध्यान करनेके लिये जा रहे थे। वहाँ एक सिंह मिल गया। मुनिके हाथमें एक लकड़ी थी। 'सिंहके सामने यदि लकड़ी उठाई जाय तो सिंह भाग जायगा,' इम प्रकार मनमें होनेपर मुनिको विचार आया कि 'मैं आत्मा अजर अमर हूँ, देहसे प्रेम रखना योग्य नहीं। इसलिये हे जीव! यहीं खड़ा रह। सिंहका जो भय है वही अज्ञान है। देहमें मूर्च्छाके कारण ही भय है,' इस प्रकारकी भावना करते करते वे दो घड़ीतक वहाँ खड़े रहे, कि इतनेमें केवलज्ञान प्रगट हो गया। इसलिये विचार विचार दशामें बहुते ही अन्तर है।

उपयोग जीवके मित्रा होता नहीं। जब ओर चैतन्य इन दोनोंमें परिणाम होता है। देहधारी जीवमें अध्ययसायकी प्रवृत्ति होती है, सकल्प-विकल्प उपस्थित होते हैं, परन्तु निर्विकल्पपना ज्ञानसे ही होता है। अध्ययसायका ज्ञानसे क्षय होता है। यही ध्यानका हेतु है। परन्तु उपयोग रहना चाहिये।

धर्मध्यान और शुद्धध्यान उत्तम कहे जाते हैं। आर्त और रौद्रध्यान मिथ्या कहे जाते हैं। बाह्य उपाधि ही अध्ययसाय है। उत्तम लक्ष्य हो तो ध्यान कहा जाता है, और आत्मा सम्यक् परिणाम प्राप्त करती है।

माणिकदासजी एक वेदान्ती थे। उन्होंने मोक्षकी अपेक्षा सत्सगको ही अधिक यथार्थ माना है। उन्होंने कहा है —

निज छदनसे ना मिले, हीरो वैकुण्ठ धाम ।
सतकृपासे पाईये, सो हरि सनसे ठाम ।

कुगुरु ओर अज्ञानी पाखण्डियोंका इस कालमें पार नहीं।

बड़े बड़े वरबोड़ा चढ़ाने, ओर द्रव्य खर्च करे—यह सब ऐसा जानकर कि मेरा कल्याण होगा। ऐसा समझकर हजारों रुपये खर्च कर डालता है। एक एक पैसैको शूठ बोल बोलकर तो इकट्ठा करता है और एक ही साथ हजारों रुपये खर्च कर देता है। देखो, जीवका कितना अधिक अज्ञान! कुठ विचार ही नहीं आता।

आत्माका जैसा स्वरूप है, उसके उसी स्वरूपको 'यथाव्याप्त चारित्र' कहा है। भय अज्ञानसे है। सिंहका भय सिंहिनीको होता नहीं। नागका भय नागिनीको होता नहीं। इसका कारण यही है कि उनका अज्ञान दूर हो गया है।

जबतक सम्यक्त्व प्रगट न हो तबतक मिथ्यात्व है, और जब मिश्र गुणस्थानकका नाश हो जाय तब सम्यक्त्व कहा जाता है। समस्त अज्ञानी

सत्शास्त्र-सद्गुरुके आश्रयसे जो समय होता है, उसे 'सरागसयम' कहा जाता है। निवृत्ति अनिवृत्तिस्थानकका अन्तर पड़े तो सरागसयममेंसे 'वीतरागसयम' पैदा होता है। उसे निवृत्ति अनिवृत्ति दोनों ही बरानर है। स्वच्छदसे कल्पना होना 'भ्रान्ति' है। 'यह तो इस तरह नहीं, इस तरह होगा' इस प्रकारका भाव 'शका' है। समझनेके लिये विचार करके पूँछनेको 'आशका' कहते हैं।

अपने आपसे जो समझमें न आये, वह 'आशका मोहनीय है'। सच्चा जान लिया हो और फिर भी सच्चा सच्चा भाव न आये, वह भी 'आशका मोहनीय' है। अपने आपसे जो समझमें न आये उसे पूँछना चाहिये। मूलभूतरूप जाननेके पश्चात् उत्तर त्रिपयके अवधमें यह किस तरह होगा, इस प्रकार जाननेके लिये जिसकी आकांक्षा हो उसका सम्यक्त्व नष्ट होता नहीं, अर्थात् वह पतित होता नहीं। मिथ्या भ्रान्तिका होना शका है। मिथ्या प्रतीति अनतानुवधीमें ही गर्भित हो जाती है। नास-मझीसे दोषका देखना मिथ्यात्व है। क्षयोपशम अर्थात् क्षय और उपशम हो जाना।

(६) राजका बाह्य प्रदेश, वड़के नीचे दोपरके दो बजे

यदि ज्ञान-मार्गका आराधन करे तो रास्ते चलते हुए भी ज्ञान हो जाता है। समझमें आ जाय तो आत्मा सहजमें ही प्रगट हो जाय, नहीं तो जिदगी बीत जाय तो भी प्रगट न हो। केवल माहात्म्य समझना चाहिये। निष्काम बुद्धि और भक्ति चाहिये। अतः करणकी शुद्धि हो तो ज्ञान स्वतः ही उत्पन्न हो जाता। यदि ज्ञानीका परिचय हो तो ज्ञानकी प्राप्ति होती है। यदि किसी जीवको योग्य देखे तो ज्ञानी उसे कहता है कि समस्त कल्पना छोड़ देने जैसी ही हैं। ज्ञान ले। ज्ञानीको जीव यदि ओघ-सझासे पहिचाने तो यथार्थ ज्ञान होता नहीं।

जत्र ज्ञानीका त्याग—दृढ़ त्याग—आये अर्थात् जैसा चाहिये वैसा यथार्थ त्याग करनेको ज्ञानी कहे, तो माया भुला देती है, इसलिये बरानर जागृत रहना चाहिये, और मायाको दूर करते रहना चाहिये। ज्ञानीके त्याग—ज्ञानीके वताये हुए त्याग—के लिये कमर कसकर तैय्यार रहना चाहिये।

जत्र सत्सग हो तत्र माया दूर रहती है। और ससगका सयोग दूर हुआ कि वह फिर तैय्यारकी तैय्यार खड़ी है। इसलिये बाह्य उपायिको कम करना चाहिये। इससे विशेष सत्सग होता है। इस कारणसे बाह्य त्याग करना श्रेष्ठ है।

ज्ञानीको दुःख नहीं। अज्ञानीको ही दुःख है। समाधि करनेके लिये सदाचरणका सेवन करना चाहिये। जो नकली रग है वह तो नरुली ही है। असली रग ही सदा रहता है। ज्ञानीके मिलनेके पश्चात् देह टूट गई, अर्थात् देह धारण करना नहीं रहता, ऐसा समझना चाहिये। ज्ञानीके वचन प्रथम तो कड़ुने लगते हैं, परन्तु पीठस माझम होता है कि ज्ञानी-पुरुष ससारके अनन्त दुःखोंको दूर करता है। जैसे आपन कड़ुना तो होती है, परन्तु वह दीर्घकालके रोगको दूर कर देती है।

त्यागके ऊपर हमेशा लक्ष रखना चाहिये। त्यागको शिथिल नहीं रखना चाहिये। श्रावकको तीन मनोरथ चित्तपन करने चाहिये। सत्यमार्गकी आराधना करनेके लिये मायासे दूर रहना चाहिये। त्याग करते ही जाना चाहिये। माया किम तरह मुला देती है, उसका एक दृष्टान्त —

एक सन्यासी कटा करता था कि 'मैं मायाको घुसनेतक भी न दूँगा, मैं नम्र होकर विचरूँगा'। मायाने कटा कि 'मैं तेरे आगे आगे चढ़ूँगी'। सन्यासीने कहा कि 'मैं जगलमें अकेला विचरूँगा'। मायाने कहा 'मैं सामने आ जाऊँगी'। इस तरह वह सन्यासी जगलमें रहता, ओर 'मुझे ककड़ और रेत दोनों समान हैं' यह कहकर रेतपर सोया करता। एक दिन उसने मायासे पूँजा कि बोल अन्न दू कहौं है ? मायाने समझ लिया कि इसे गर्भ बहुत चढ़ रहा है, इसलिये उसने उत्तर दिया कि मेरे आनेकी जरूरत क्या है ? मैं अपने बड़े पुत्र अहंकारको तेरी खिदमतमें भेज ही चुकी हूँ।

माया इस तरह टगती है। इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि 'मैं सनसे न्यारा हूँ, सन्या त्यागी हो गया हूँ, अन्नधृत हूँ, नम्र हूँ, तपश्चर्या करता हूँ। मेरी बात अगम्य है। मेरी दशा बहुत ही श्रेष्ठ है। माया मुझे रोकेगी नहीं' ऐसी मात्र कल्पनासे मायाद्वारा टगाये जाना नहीं चाहिये।

स्वच्छन्दमें अहंकार है। जनतक राग-द्वेष दूर होते नहीं तत्रतक तपश्चर्या करनेका फल ही क्या है ? 'जनकविदेहीमें विदेहीपना हो नहीं सकता, यह केवल कल्पना है। ससारमें विदेहीपना रहता नहीं,' ऐसा विचार नहीं करना चाहिये। अपनापन दूर हो जानेमें उस तरह रहा जा सकता है। जनकविदेहीकी दशा उचित है। जन त्रिष्टुजीने रामको उपदेश दिया, उस समय राम गुरुको राज्य अर्पण करने लगे, परन्तु गुरुने राज्य लिया ही नहीं। शिष्य ओर गुरु ऐसे होने चाहिये।

अज्ञान दूर करना है। उपदेशसे अपनापन दूर हटाना है। जिसका अज्ञान गया उसका दुःख चला गया।

ज्ञानी गृहस्थानामें बाह्य उपदेश व्रत देते नहीं। जो गृहस्थानामें हों ऐसे परमज्ञानी मार्ग चलाते नहीं, मार्ग चलानेकी रीतिसे मार्ग चलाने नहीं, स्वयं अनिरत रहकर व्रत ग्रहण कराते नहीं, क्योंकि वेसा करनेसे ऋद्धतसे कारणोंमें विरोध आना समझ है।

सकाम भक्तिसे ज्ञान होता नहीं। निष्काम भक्तिसे ज्ञान होता है। ज्ञानीके उपदेशमें अद्भुतता है। वे अनिच्छामानसे उपदेश देते हैं, स्पृहारहित होते हैं। उपदेश ज्ञानका माहात्म्य है। माहात्म्यके कारण अनेक जीव बोध पाते हैं।

अज्ञानीका सकाम उपदेश होता है, जो ससारके फलका कारण है। जगतमें अज्ञानीका मार्ग अधिक है। ज्ञानीको मिथ्याभान क्षय हो गया है, अहंभान दूर हो गया है। इसलिये उसके अमूल्य वचन निकलते हैं। गाल-जीवोंको ज्ञानी-अज्ञानीकी पहिचान होती नहीं।

आचार्यजीने जीवोंको स्वभासे प्रमादी जानकर, दो दो तीन तीन दिनके अंतरसे नियम पालनेकी आज्ञा की है। तिथियोंके लिये मिथ्याग्रह न रख उसे ठोड़ना हा चाहिये। कदाग्रह छुड़ानेके लिये तिथियाँ बनाई है, परन्तु उसके उदडे उसी दिन कदाग्रह बढ़ता है। हालमें बहुत वर्षोंसे पर्युषणमें तिथियोंकी भ्रान्ति चला करती है। तिथियोंके नियमोंका चक्र तरुण करना मोक्ष जानेका रास्ता नहीं। क्वचित् पौंचमका दिन न पाळा जाय, और कोई छठम दिन

और आत्मामें कोमलता हो तो वह फलदायक होता है। जिससे वास्तवमें पाप लगता है, उसे रोकना अपने हाथमें है, यह अपनेसे बन सकने जैसा है, उसे जीन रोकता नहीं, और दूसरी तिथि आदिकी योंही फिर किया करता है। अनादिसे शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्शका मोह रहता आया है, उस मोहको दूर करना है। बड़ा पाप अज्ञानका है।

जिसे अत्रितिके पापकी चिन्ता होती हो उससे वहाँ रहा ही कैसे जा सकता है ?

स्वयं त्याग कर सकता नहीं और बहाना बनाये कि मुझे अन्तराय बहुत हैं। जब धर्मका प्रसंग आये तो कहता है कि 'उदय है'। 'उदय उदय' कहा करता है, परन्तु कुछ कुनेमें गिर पड़ता नहीं। गाड़ीमें बैठा हो, और गद्दा आ जाये तो सहजमें सँभलकर चलता है। उस समय उदयको भूल जाता है। अर्थात् अपनी तो शिथिलता हो, उसके बदले उदयका दोष निकालता है।

लौकिक और लोकोत्तर विचार जुदा जुदा होता है। उदयका दोष निकालना यह लौकिक विचार है। अनादि कालके कर्म तो दो घड़ोंमें नाश हो जाते हैं, इसलिये कर्मका दोष निकालना चाहिये नहीं, आत्माकी ही निन्दा करना चाहिये। धर्म करनेकी बात आये तो जीन पूर्ण कर्मके दोषकी बातको आगे कर देता है। पुरुषार्थ करना ही श्रेष्ठ है। पुरुषार्थको पहिले करना चाहिये। मिथ्यात्व, प्रमाद और अशुभ योगका त्याग करना चाहिये।

कर्मके दूर किये बिना कर्म दूर होनेवाले नहीं। इतनेके लिये ही ज्ञानियोंने शास्त्रोंकी रचना की है। शिथिल होनेके साधन नहीं बताये। परिणाम ऊँचे आने चाहिये। कर्म उदयमें आयेगा, यह मनमें रहे तो कर्म उदयमें आता है। बाकी पुरुषार्थ करे तो कर्म दूर हो जाय। जिससे उपकार हो वही लक्ष रखना चाहिये।

(७) गटना, सप्रे ११ वजे भाद्रपद सुदी १० गुरु १९५२

कर्म गिन गिनकर नाश किये नहीं जाते। ज्ञानी-पुरुष तो एक साथ ही सनके सन इकट्ठे कर नाश कर देता है।

विचारवानको दूसरे आलवन छोड़कर, जिससे आत्माके पुरुषार्थका जय हो, वैसा आलवन लेना चाहिये। कर्म-ब्रधनका आलवन नहीं लेना चाहिये। आत्मामें परिणाम हो वह अनुप्रेक्षा है।

मिट्टीमें घड़े बननेकी सत्ता है, परन्तु जब दड, चरु, कुम्हार आदि इकट्ठे हों तभी तो। इसी तरह आत्मा मिट्टीरूप है, उसे सद्गुरु आदिका साधन मिले तो ही आत्मज्ञान उत्पन्न होता है। जो ज्ञान हुआ हो वट, पूर्वकालीन ज्ञानियोंने जो ज्ञान सम्पादन किया है, उसके साथ और वर्तमानमें जो ज्ञान ज्ञानी-पुरुषोंने सम्पादन किया है, उसके साथ पूर्णपर समझ होना चाहिये, नहीं तो अज्ञानको ही ज्ञान मान लिया है, ऐसा कहा जायगा। •

ज्ञान दो प्रकारके हैं—एक बीजभूत ज्ञान और दूसरा वृक्षभूत ज्ञान। प्रतीतिसे दोनों ही समान हैं, उनमें भेद नहीं। वृक्षभूत—सर्पना निराकरण ज्ञान—हो तो उसी भयसे मोक्ष हो जाय, और बीजभूत ज्ञान हो तो अन्तमें पन्द्रह भयमें मोक्ष हो।

आत्मा अस्पृशी है, अर्थात् वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शरहित वस्तु है—अनस्तु नहीं।

जिसने पद्दर्शनोंकी रचना की है, उसने बहुत बुद्धिमानीका उपयोग किया है।

वध अनेक अपेक्षाओसे होता है, परन्तु मूल प्रकृतियाँ आठ हैं । वे कर्मकी आँटाको उधेड़नेके लिये आठ प्रकारकी कही है ।

आयु कर्म एक ही भवका बंधता है । अधिक भयका आयु बँवती नहीं । यदि अधिक भयकी आयु बँधे ता किसीको भी केवलज्ञान उत्पन्न न हो ।

ज्ञानी-पुरुष समतासे कल्याणका जो स्वरूप बताता है, वह उपकारके लिये ही बताता है । ज्ञानी-पुरुष मार्गमें भूले भटके हुए जीवको सीधा रास्ता बताते है । जो ज्ञानीके मार्गसे चले उसका कल्याण हो जाय । ज्ञानीके विरह होनेके पश्चात् बहुत काल चला जानेसे अर्थात् अवकार हो जानेसे अज्ञानकी प्रवृत्ति हो जाती है, और ज्ञानी-पुरुषोंके वचन समझमें नहीं आते । इससे लोगोको उल्टा ही भासित होता है । समझमें न आनेसे लोग गच्छके भेद बना लेते हैं । गच्छके भेद ज्ञानियोंने बनाये नहीं । अज्ञानी मार्गका लोप करता है । ज्ञानी हो तो मार्गका उद्योत करता है । अज्ञानी ज्ञानीके सामने होते हैं । मार्गके समुख होना चाहिये ।

बाल और अज्ञानी जीव छोटी छोटी बातोंमें भेद बना लेते हैं । तिलक ओर मुँहपत्ती वगैरहके आप्रहमें कल्याण नहीं । अज्ञानीको मतभेद करते हुए देर लगती नहीं । ज्ञानी-पुरुष रूढ़ि-मार्गके वदले शुद्ध-मार्गका प्ररूपण करते हैं तो ही जीवको जुदा भासित होता है, और वह समझता है कि यह अपना धर्म नहीं । जो जीव कदाप्रहरहित हो, वह शुद्ध मार्गका आदर करता है । विचारवानोको तो कल्याणका मार्ग एक ही होता है । अज्ञान मार्गके अनन्त भेद है ।

जैसे अपना लड़का कुवड़ा हो और दूसरेका लड़का अतिरूपमान हो, परन्तु प्रेम अपने लड़के-पर ही होता है, और वही अच्छा भी लगता है, उसी तरह जो कुल-धर्म अपने आपने स्वीकार किया है, वह चाहे कैसा भी दूषणयुक्त हो, तो भी वही सच्चा लगता है । वैष्णव, बौद्ध, श्वेताम्बर, दिगम्बर जैन आदि चाहे कोई भी हो, परन्तु जो कदाप्रहरहित भावसे शुद्ध समतासे आवरणोंको घटावेगा उसीका कल्याण होगा ।

(कायाकी) सामायिक कायाके रोगको रोकती है, आत्माके निर्मल करनेके लिये कायाके योगको रोकना चाहिये । रोकनेसे परिणाममें कल्याण होता है । कायाकी सामायिक करनेकी अपेक्षा एकद्वार तो आत्माकी सामायिक करो । ज्ञाना-पुरुषके वचन सुन सुनकर गँठ बाँधो, तो आत्माकी सामायिक होगी । मोक्षका उपाय अनुभनगोचर है । जैसे अभ्यास करते करते आगे बढ़ते हैं, ऐसे ही मोक्षके लिये भी समझना चाहिये ।

जब आत्मा कोई भी किया न करे तब अवध कहा जाता है ।

पुरुषार्थ करे तो कर्मसे मुक्त हो । अनन्तकालके कर्म हों और यदि जीव यमार्थ पुरुषार्थ करे, तो कर्म यह नहीं कहता कि मैं नहीं जाता । दो घड़ियों अनन्त कर्म नाश हो जाते हैं । आत्माकी पहिचान हो तो कर्मोंका नाश हो जाय ।

प्रश्न — सम्यक्त्व किससे प्रगट होता है ?

उत्तर — आत्माका यमार्थ लक्ष हो उससे । सम्यक्त्व दो तरहका है — १ व्यवहार और २

परमार्थ । सद्वृत्तोंके वचनोंका सुनना, उन वचनोंका विचार करना, उनकी प्रतीति करना, वह 'व्यग्रहार सम्यक्त्व' है । आत्माकी पहिचान होना वह 'परमार्थ सम्यक्त्व' है ।

अन्त करणकी शुद्धिके विना बोध असर करता नहीं, इसलिये प्रथम अंत करणमें कोमलता लानी चाहिये । व्यग्रहार और निश्चय इत्यादिकी मिथ्या चर्चामें आप्रहरहित रहना चाहिये—मध्यस्थ भावसे रहना चाहिये । आत्माके स्वभावका जो आग्रहण है, उसे ज्ञानी 'कर्म' कहते हैं ।

जब सात प्रकृतियोंका क्षय हो उस समय सम्यक्त्व प्रगट होता है । अनतानुबन्धी चार कपाय, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, समकितमोहनीय, ये सात प्रकृतियों जन्म क्षय हो जाँय, उस समय सम्यक्त्व प्रगट होता है ।

प्रश्न —कपाय क्या है ?

उत्तर—सत्पुरुष मिलनेपर जीवको बताते हैं कि तू जो विचार किये विना करता जाता है, उसमें कल्याण नहीं, फिर भी उसे करनेके लिये जो दुराग्रह रखता है, वह कपाय है ।

उन्मार्गको मोक्षमार्ग माने, और मोक्षमार्गको उन्मार्ग माने यह 'मिथ्यात्व मोहनीय' है । उन्मार्गसे मोक्ष होता नहीं, इसलिये मार्ग कोई दूसरा ही होना चाहिये—ऐसे भावको 'मिश्र मोहनीय' कहते हैं । 'आत्मा यह होगी'—ऐसा ज्ञान होना 'सम्यक्त्व मोहनीय' है । 'आत्मा है'—ऐसा निश्चयभाव 'सम्यक्त्व' है ।

नियमसे जीव कोमल होता है । दया आती है । मनके परिणाम उपयोगसहित हों तो कर्म कम लगे, और यदि उपयोगरहित हों तो अधिक लगे । अंत करणको कोमल करनेके लिये—शुद्ध करनेके लिये—व्रत आदि करनेका विधान किया है । स्वाद-बुद्धिको कम करनेके लिये नियम करना चाहिये । कुल-धर्म, जहाँ जहाँ देखते हैं वहाँ वहाँ रास्तेमें आता है ।

(८) बडवा, भाद्रपद सुदी १३ शनि १९५२

लौकिक दृष्टिमें वैराग्य भक्ति नहीं है, पुरुषार्थ करना और सत्य रीतिसे आचरण करना ध्यानमें ही आता नहीं । उसे तो लोग भूल ही गये हैं ।

लोग, जब बरसात आती है तो पानीको टङ्गामें भरकर रख लेते हैं, वैसे ही मुमुक्षु जीव इतना इतना उपदेश सुनकर उसे जरा भी ग्रहण करना नहीं, यह एक आश्चर्य है । उसका उपकार किस तरह हो ?

ज्ञानियोंने दोषके घटानेके लिये अनुभवके वचन कहे हैं, इसलिये ऐसे वचनोंका स्मरण कर यदि उन्हें समझा जाय—उनका श्रवण-मनन हो—तो सहज ही आत्मा उज्ज्वल हो जाय । वैसे करनेमें कुछ बहुत मेहनत नहीं है । उन वचनोंका विचार न करे तो कभी भी दोष घटे नहीं ।

मदाचार सेवन करना चाहिये । ज्ञानी-पुरुषोंने दया, सत्य, अदत्तादान, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-परिमाण गौरवको मदाचार कहा है । ज्ञानियोंने जिन सदाचारोंका सेवन करना प्रताया है, वे यथार्थ हैं—सेवन करने योग्य हैं । विना साक्षरि जीवको व्रत-नियम करने चाहिये नहीं ।

८ । नियम कपाय आदि दोषोंके गये विना जन्म, मरण आदि भी आते नहीं, तो फिर

गहन आशयवाले दया बगरह तो कहाँसे आये ? निपय कपायसहित मोक्ष जाते नहीं । अतः करणकी शुद्धिके विना आत्मज्ञान होता नहीं । भक्ति सत्र दोषोंका क्षय करनेवाली है, इसलिये वह सर्गोत्कृष्ट है ।

जीवको विकल्पका व्यापार करना चाहिये नहीं । मित्राचारवानको अनिचार और अकार्य करते हुए क्षोभ होता है । अकार्य करते हुए जिसे क्षोभ न हो वह अनिचारवान है ।

अकार्य करते हुए प्रथम जितना कष्ट रहता है उतना कष्ट दूसरी बार करते हुए रहता नहा । इसलिये पहिलेसे ही अकार्य करनेसे रुकना चाहिये—दृढ़ निश्चय कर अकार्य करना चाहिये नहीं ।

सत्पुरुष उपकारके लिये जो उपदेश करते हैं, उसे श्रवण करे और उसका मित्राचार करे, तो अन्वय ही जीवके दोष घटें । पारस मणिका संयोग हुआ, ओर पत्थरका सोना न बना, तो या तो असली पारसमणि ही नहीं, या असली पत्थर ही नहीं । उसी तरह जिसके उपदेशसे आत्मा सुवर्णमय न हो, तो या तो उपदेश ही सत्पुरुष नहीं और या उपदेश लेनेवाला ही योग्य जीव नहीं । जीव योग्य हो और सत्पुरुष सच्चा हो तो गुण प्रगट हुए निना नहीं रहें ।

लौकिक आलम्बन कभी करना हा नहीं चाहिए । जीव स्वयं जागृत हो तो समस्त विपरीत कारण दूर हो जाय । जैसे कोई पुरुष घरमें नौदमे पड़ा सो रहा है, उसके घरमें कुत्ते बिछा बगैरह घुस कर नुकसान कर जाय, और बादमें जागनेके बाद वह पुरुष नुकसान करनेवाले कुत्ते आदि प्राणियोंका दोष निकाले, किन्तु अपना दोष निकाले नहीं कि मैं सो गया था इसीलिये ऐसा हुआ है, इसी तरह जीव अपने दोषोंको देखता नहीं । स्वयं जागृत रहता हो तो समस्त विपरीत कारण दूर हो जाय, इसलिये स्वयं जागृत रहना चाहिये ।

जीव ऐसा कहता है कि मेरे तृष्णा, अहंकार, लोभ आदि दोष दूर होते नहीं, अर्थात् जीव अपने दोष निकालता नहीं, और दोषोंके ही दोष निकालता है । जैसे गरमी बहुत पड़ रही हो और इसलिये बाहर न निकल सकते हों, तो जीव सूर्यका दोष निकालता है, परन्तु वह छतरी ओर जूते, जो सूर्यके तापसे बचनेके लिये बताये हैं, उनका उपयोग करता नहीं । ज्ञानी-पुरुषोंने लौकिक भाव छोड़कर जिस मित्राचारसे अपने दोष घटाये हैं—नाश किये हैं—उन मित्राचारोंको और उन उपायोंको ज्ञानियोंने उपकारके लिये कहा है । उन्हें श्रवण कर जिससे आत्मामें परिणाम हो, वैसा करना चाहिये ।

किस तरहसे दोष घट सकता है ? जीव लौकिक भावोंको तो किये चला जाता है, और दोष क्यों घटते नहीं, ऐसा कहा करता है ।

सुमुखोंको जागृत अति जागृत होकर वैराग्यको बढ़ाना चाहिये । सत्पुरुषके एक वचनको सुनकर यदि अपनेमें दोषोंके रहनेके कारण बहुत ही खेद करेगा, और दोषको घटानेगा तो ही गुण प्रगट होगा । सत्संग-समागमकी आवश्यकता है । बाकी सत्पुरुष तो, जैसे एक मार्गदर्शक दूसरे मार्गदर्शकको रास्ता बताकर चला जाता है, उसी तरह रास्ता बताकर चला जाता है । शिष्य बनानेकी सत्पुरुषकी इच्छा नहीं । जिसे दुराग्रह दूर हुआ उसे आत्माका भान होता है । भ्रान्ति दूर हो तो तुरत ही सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय ।

बाह्यबलिजीको, जैसे केवलज्ञान पासमें ही—अतरमें ही—था कुछ बाहर न था, उसा तरह सम्यक्त्व अपने पास ही है ।

जीव अहकार रखता है, असत् वचन बोलता है, भ्रान्ति रखता है, उसका उसे बिलकुल भी भान नहीं। इस भानके हुए बिना निस्तारा होनेवाला नहीं।

शरीर वचनोंको दूसरा एक भी वचन नहीं पहुँचता। जीवको सत्पुरुषका एक शब्द भी समझमें नहीं आया। बड़प्पन रुकावट डालता हो तो उसे छोड़ देना चाहिये। कदाग्रहमे कुछ भी हित नहीं। हिम्मत करके अग्रह—कदाग्रहसे—दूर रहना चाहिये, परन्तु विरोध करना चाहिये नहीं।

जब ज्ञानी-पुरुष होते हैं, तब मतभेद कदाग्रह घटा देते हैं। ज्ञानी अनुकपाके लिये मार्गका बोध करता है। अज्ञानी कुगुरु जगह जगह मतभेदको बढ़ाकर कदाग्रहको सतर्क कर देते हैं।

सच्चे पुरुष मिलें और वे जो कल्याणका मार्ग बतायें उसीके अनुसार जीव आचरण करे, तो अश्रय कल्याण हो जाय। मार्ग विचारधानसे पूँटना चाहिये। सत्पुरुषके आश्रयसे श्रेष्ठ आचरण करना चाहिये। खोटी बुद्धि सत्रको हैरान करनेवाली है, वह पापकी करनेवाली है। जहाँ ममत्व हो वहीं मिथ्यात्व है। शत्रु सत्र दयालु होते हैं। कल्याणका मार्ग एक होता है, सो दोसौ नहीं होते। भीतरका दोष नाश होगा, और सम-परिणाम आयेगा, तो ही कल्याण होगा।

जो मतभेदका छेदन करे वही सत्पुरुष है। जो सम-परिणामके रास्तेमें चढ़ाने वही सत्सग है। विचारमानको मार्गका भेद नहीं।

हिन्दू और मुसलमान समान नहीं हैं। हिन्दूओंके धर्मगुरु जो धर्म-बोध कह गये थे, वे उसे बहुत उपकारके लिये कह गये थे। वैसा बोध पीरौणा मुसलमानोंके शास्त्रोंमें नहीं। आत्मापेक्षासे तो कुनबी, बनिये, मुसलमान कुछ भी नहीं हैं। उसका भेद जिसे दूर हो गया वही शुद्ध है, भेद भासित होना, यही अनादिकी भूल है। कुल्यचारके अनुसार जो सच्चा मान लिया, वही कपाय है।

प्रश्न — मोक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर — आत्माकी अत्यत शुद्धता, अज्ञानसे छूट जाना, सत्र कर्मोंसे मुक्त होना मोक्ष है। याथातथ्य ज्ञानके प्रगत होनेपर मोक्ष होता है। जनतक भ्रान्ति रहे तबतक आत्मा जगत्में रहती है। अनादिकालका जो चेतन है उसका स्वभाव जानना—ज्ञान—है, फिर भी जीव जो भूल जाता है, वह क्या है ? जाननेमें न्यूनता है। याथातथ्य ज्ञान नहीं है। वह न्यूनता किस तरह दूर हो ? उस जानने-रूप स्वभावको भूल न जाय, उसे बारबार दृढ करे, तो न्यूनता दूर हो सकती है।

ज्ञानी-पुरुषके वचनोंका अखलमन लेनेसे ज्ञान होता है। जो साधन हैं वे उपकारके हेतु हैं। अप्रिकारीपना सत्पुरुषके आश्रयसे ले तो साधन उपकारके हेतु हैं। सत्पुरुषकी दृष्टिसे चलनेसे ज्ञान होता है। सत्पुरुषके वचनोंके आत्मामें निष्पन्न होनेपर मिथ्यात्व, अन्नत, प्रमाद, अशुभ योग इत्यादि समस्त दोष अनुक्रमसे शिथिल पड़ जाते हैं। आत्मज्ञान विचारनेसे दोष नाश होते हैं। सत्पुरुष पुकार पुकारकर कह गये हैं, परन्तु जीवको तो लोक-मार्गमें ही पड़ा रहना है, और लोकोचर कहलवाना है, और दोष क्यों दूर होते नहीं, केवल ऐसा ही कहते रहना है। लोकका भय

१ पीरौणा नामका मुसलमानोंका एक पथ है, जिसके हिन्दू और मुसलमान दोनों अनुयायी होते हैं। श्रीयुक्त मिन मणिगल फेशरलाल परिव्रिका रहना है कि अहमदाबादसे कुछ मीलके पासलेपर पीरौणा नामक एक गाँव है, जहाँ इन लोगोंकी बस्ती पाई जाती है।—अनुवादक

छोड़कर सत्पुरुषोंके वचनोंको आत्मामें परिणमन करे, तो सब दोष दूर हो जाँय । जीवको अपनापन लाना ही न चाहिये । बड़ाई और महत्ता छोड़े बिना आत्मामें सम्यक्त्वके मार्गका परिणाम होना कठिन है ।

वेदातशास्त्र वर्तमानमें स्वच्छदतासे पढ़नेमें आते हैं, और उससे शुष्कता जैसा हो जाता है । पड़दर्शनमें झगडा नहीं, परन्तु आत्माको केवल मुक्त-दृष्टिसे देखनेपर तीर्थकरने लबा निचार किया है । मूल लक्ष होनेसे जो जो वक्ताओं (सत्पुरुषों) ने कहा है, वह यथार्थ है, ऐसा मादम होगा ।

आत्माको कभी भी विकार उत्पन्न न हो, तथा राग-द्वेष परिणाम न हो, उसी समय केवलज्ञान कहा जाता है । पददर्शनवालोंने जो निचार किया है, उससे आत्माका उन्हें भान होता है—तारतम्य भावमें भेद पड़ता है । पददर्शनको अपनी समझसे बैठायें तो कभी भी बैठे नहीं । उसका बैठना सत्पुरुषके आश्रयसे ही होता है । जिसने आमाका असग निष्क्रिय निचार किया हो, उसे भ्रान्ति होती नहीं—सशय होता नहीं, आत्माके अस्तित्वके सप्रथमें शका रहती नहीं ।

प्रश्न —सम्यक्त्व कैसे मादम होता है ?

उत्तर —जब भीतरसे दशा बदले, तब सम्यक्त्वकी खबर स्वयं हा पड़ती है । सदेव अर्थात् राग-द्वेष और अज्ञान जिसके क्षय हो गये हैं । सद्गुरु कौन कहा जाता है ? मिध्यात्वकी प्रथि जिसकी छिन्न हो गई है । सद्गुरु अर्थात् निर्ग्रथ । सद्धर्म अर्थात् ज्ञाना-पुरुषोंद्वारा बोध किया हुआ धर्म । इन तीनों तत्त्वोंको यथार्थ रीतिसे जाननेपर सम्यक्त्व हुआ समझा जाना चाहिये ।

अज्ञान दूर करनेके लिये कारण (साधन) बताये हैं । ज्ञानका स्वरूप जिस समय जान ले उस समय मोक्ष हो जाय ।

परम वेदरूपी सद्गुरु मिले और उपदेशरूपी दया आत्मामें लगे तो रोग दूर हो । परन्तु उस दयाको जीव यदि अतरमें न उतारे, तो उसका रोग कभी भी दूर होता नहीं । जीव सचे सचे साधनोंको करता नहीं । जैसे समस्त कुटुम्बको पहिचानना हो तो पहिले एक आदमीको जाननेसे सत्रकी पहिचान हो जाती है, उसी तरह पहिले सम्यक्त्वकी पहिचान हो तो आत्माके समस्त गुणोंरूपी कुटुम्बकी पहिचान हो जाती है । सम्यक्त्व सर्वोत्कृष्ट साधन बताया है । बाह्य वृत्तियोंको कम करके जीव अतर्परिणाम करे तो सम्यक्त्वका मार्ग आवे । चलते चलते ही गौंन आता है, बिना चले गौंन नहीं आ जाता । जीवको यथार्थ सत्पुरुषोंकी प्रताति हुई नहीं ।

बहिरात्मामेंसे अन्तरात्मा होनेके पश्चात् परमात्मभान प्राप्त होना चाहिये । जैसे दूध और पानी जुदा जुदा हैं, उसी तरह सत्पुरुषके आश्रयसे—प्रतीतिसे—देह और आत्मा जुदा जुदा है, ऐसा भान होता है । अतरमें अपने आत्मानुभवरूपसे, जैसे दूध और पानी जुदे जुदे होते हैं, उसी तरह देह और आत्मा जब भिन्न मादम हों, उस समय परमात्मभान प्राप्त होता है । जिसे आत्माका निचाररूपी ध्यान है—सतत निरन्तर ध्यान डे, जिसे आत्मा स्वप्नमें भी जुदा ही भासित होती है, जिसे किसी भी समय आत्माकी भ्रान्ति होती ही नहीं, उसे ही परमात्मभान होता है ।

अन्तरात्मा निरन्तर कपाय आदि दूर करनेके लिये पुरुषार्थ करती है । चौदहवें गुणस्थानतक यह निचाररूपी क्रिया रहती है । जिसे वैराग्य-उपशम रहता है, उसे ही निचारवान कहते हैं । आत्मामें

होनेके पश्चात् ससारमें आती नहीं। आत्मा स्वानुभय-गोचर है, वह चक्षुसे दिखाई देती नहीं, इन्द्रियसे रहित ज्ञान ही उसे जानता है। जो आत्माके उपयोगका मनन करे वह मन है सलप्रताके कारण मन भिन्न कहा जाता है। सकल्प-निकल्प त्याग देनेको 'उपयोग' कहते हैं। ज्ञानका आरण करनेवाला निकाचित कर्म जिसने न बंधा हो उसे सत्पुरुषका मोध लगता है। आयुका वध हो तो यह रुकता नहीं।

जीवने अज्ञान पकड़ रक्खा है, इस कारण उपदेश लगता नहीं। क्योंकि आरणके कारण लगनेका कोई रास्ता ही नहीं। जबतक लोकके अभिनिवेशकी कल्पना करते रहो तबतक आत्मा ऊँची उठती नहीं और तबतक कल्याण भी होता नहीं। बहुतसे जीव सत्पुरुषके बोधको सुनते हैं, परन्तु उन्हें विचार करनेका योग बनता नहीं।

इन्द्रियोंके निग्रहका न होना, कुल-धर्मका आग्रह, मान-झावाकी कामना, अमध्यस्थभाय यह कदाग्रह है। उस कदाग्रहको जीव जबतक नहीं छोड़ता तबतक कल्याण होता नहीं। नम पूर्वीको पढ़ा तो भी जीव भटका। चौदह राजू लोंक जाना, परन्तु देहमें रहनेवाली आत्माको न पहिचाना, इस कारण भटका। ज्ञानी-पुरुष समस्त शकाओंका निवारण कर सकता है। परन्तु पार होनेका साधन तो सत्पुरुषकी दृष्टिसे चलना ही है, और तो ही दुःख नाश होता है। आज भी जीव यदि पुरुषार्थ करे तो आत्मज्ञान हो जाय। जिसे आत्म-ज्ञान नहीं, उससे कल्याण होता नहीं।

व्यवहार जिसका परमार्थ है, वैसे आत्म-ज्ञानीकी आज्ञासे चलनेपर आत्मा लक्षमें आती है—कल्याण होता है।

आत्मज्ञान सहज नहीं। पचीकरण, विचारसागरको पढकर कथनमात्र माननेसे ज्ञान होता नहीं। जिसे अनुभय हुआ है, ऐसे अनुभवीके आश्रयसे, उसे समझकर उसकी आज्ञानुसार आचरण करे तो ज्ञान हो। समझे बिना रास्ता बहुत विकट है। हीरा निकालनेके लिये खानके खोदनेमें तो मेहनत है, पर हीरेके लेनेमें मेहनत नहीं। उसी तरह आत्मासन्धी समझका आना दुर्लभ है, नहीं तो आत्मा कुछ दूर नहीं, भान नहीं इससे वह दूर माळम होती है। जीवको कल्याण करने न करनेका भान नहीं है, और अपनेपनकी रक्षा करनी है।

चोथे गुणस्थानमें ग्रथि-भेद होता है। जो ग्यारहवेंमेंसे पड़ता है उसे उपशम सम्यक्त्व कहा जाता है। लोभ चारित्रिके गिरानेवाला है। चोथे गुणस्थानमें उपशम और क्षायिक दोनों होते हैं। उपशम अर्थात् सत्तामें आरणका रहना। कल्याणके सच्चे सच्चे कारण जीवके विचारमें नहीं। जो शास्त्र वृत्तिको न्यून करें नहीं, वृत्तिको सजुचित करें नहीं, परन्तु उल्टी उसकी वृद्धि ही करें, वैसे, शास्त्रोंमें न्याय कहाँसे हो सकता है ?

व्रत देनेवाले और व्रत लेनेवाले दोनोंको ही विचार तथा उपयोग रखना चाहिये। उपयोग रक्खे नहीं और भार रक्खे तो निकाचित कर्म बंधे। 'कम करना', परिग्रहकी मर्यादा करनी, यह जिसके मनमें हो वह शायिल कर्म बंधता है। पाप करनेपर कोई मुक्ति होती नहीं। केवल एक व्रतको लेकर जो अज्ञानको दूर करना चाहता है, ऐसे जीवको अज्ञान कहता है कि तेरे कितना ही चारित्रि में खा गया हूँ, उसमें यह तो क्या बड़ी बात है ?

जो साधन कोई बताये, वे साधन पार होनेके साधन हों तो ही वे सत्साधन हैं, बाकी तो सब निष्फल साधन हैं । व्यवहारमें अनन्त बाधाएँ आती हैं तो फिर पार किस तरह पड़े ? कोई आदमी जल्दी जल्दी बोले तो वह कपायी कहा जाता है, और कोई धीरजसे बोले तो उसमें शान्ति मालूम होती है, परन्तु अतर्परिणाम हो तो ही शान्ति कही जा सकती है ।

जिसे सोनेके लिये एक त्रितरा-भर चाहिये, वह दस घर फालतू रखे तो उसकी वृत्ति कब सजुचित होगी ? जो वृत्ति रोके उसे पाप नहीं । बहुतसे जीव ऐसे हैं जो इस तरहके कारणोंको इकट्ठा करते हैं कि जिससे वृत्ति न रुके—इससे पाप नहीं रुकता ।

(९)

भाद्रपद सुदी १५, १९५२

चौदह राजू लोककी जो कामना है वह पाप है, इसलिये परिणाम देखना चाहिये । कदाचित् ऐसा कहे कि चौदह राजू लोककी तो खर भी नहीं, तो भी जितनेका विचार किया उतना तो निश्चित पाप हुआ । मुनिको एक तिनकेके ग्रहण करनेकी भी छूट नहीं । गृहस्थ इतना ग्रहण करे तो उसे उतना ही पाप है ।

जड़ और आत्मा तमय नहीं होते । सूतकी आँटी सूतसे कुछ जुदी नहीं होती, परन्तु आँटी खोलनेमें कठिनता है, यद्यपि सूत घटता बढ़ता नहीं है । उसी तरह आत्मामें आँटी पड़ गई है ।

सत्पुरुष और सत्शास्त्र यह व्यवहार कुछ कल्पित नहीं । सद्गुरु सत्शास्त्ररूपी व्यवहारसे जब निज-स्वरूप शुद्ध हो जाय, तब केवलज्ञान होता है । निज-स्वरूपके जाननेका नाम समकित है । सत्पुरुषके वचनका सुनना दुर्लभ है, श्रद्धान करना दुर्लभ है, विचार करना दुर्लभ है, तो फिर अनुभव करना दुर्लभ हो, इसमें नयीनता ही क्या है ?

उपदेश-ज्ञान अनादि कालसे चला आता है । अकेली पुस्तकसे ज्ञान नहीं होता । यदि पुस्तकसे ज्ञान होता हो तो पुस्तकको ही मोक्ष हो जाय ! सद्गुरुकी आज्ञानुसार चलनेमें भूल हो जाय तो पुस्तक केवल अत्रलम्बनरूप है । चैतन्यभाज लक्ष्यमें आ जाय तो चेतनता प्राप्त हो जाय, चेतनता अनुभवगोचर है । सद्गुरुका वचन श्रवण करे, मनन करे और उसे आत्मामें परिणामाने तो कल्याण हो जाय ।

ज्ञान और अनुभव हो तो मोक्ष हो जाय ! व्यवहारका निषेध करना नहीं चाहिये । अकेले व्यवहारको ही लगे रहना नहीं चाहिये ।

आत्म-ज्ञानकी बात, जिससे वह सामान्य हो जाय—इस तरह करनी योग्य नहीं । आत्म-ज्ञानकी बात एकात्ममें कहनी चाहिये । आत्माका अस्तित्व विचारमें आवे तो अनुभवमें आता है, नहीं तो उसमें शका होती है । जैसे किसी आदमीको अधिक पटल होनेसे दिखाई नहीं देता, उसी तरह आवरणकी सलभताके कारण आत्माको दिखाई नहीं देता । नौदमें भी आत्माको सामान्यरूपसे जागृति रहती है । आत्मा सम्पूर्णरूपसे सोती नहीं, उसे आनरण आ जाता है । आत्मा हो तो ज्ञान होना सम्भव है, जड़ हो तो फिर ज्ञान किसे हो ?

अपनेको अपना भान होना—अपनेको अपना ज्ञान होना—वह जीवमुक्त होना है ।

चैतन्य एक हो तो भ्राति किसे हुई समझनी चाहिये ? मोक्ष किसे हुई समझनी चाहिये ? समस्त चैतन्यकी जाति एक है, परन्तु प्रत्येक चैतन्यका स्वतन्त्ररूपमे जुदा चैतन्य है । चैतन्यका स्वभाव एक है । मोक्ष स्थानुभ्रम-गोचर है । निराकरणमें भेद नहीं । परमाणु एकत्रित न हों, अर्थात् आत्मा और परमाणुका मन्थन न होना मुक्ति है, परस्वरूपमें मिलनेका नाम मुक्ति नहीं है ।

कल्याण करने न करनेका तो भान नहीं, परन्तु जीवको अपनापन रखना है । नव कर्मतक होता है ? जीव चैतन्य न हो तन्तक । एकेन्द्रिय आदि योनिमें भी जीवका ज्ञान-स्वभाव सर्वथा लुप्त नहीं हो जाता, अशसे गुला ही रहता है । अनादि कालसे जीव पँधा हुआ है । निराकरण होनेके पश्चात् वह बँधता नहीं । 'मैं जानता हूँ' ऐसा जो अभिमान है वही चैतन्यकी अशुद्धता है । इस जगत्में बंध और मोक्ष न होता तो फिर श्रुतिका उपदेश किसके लिये होता ? आत्मा स्वभासे सर्वथा निष्क्रिय है, प्रयोगसे सक्रिय है । जिस समय निर्भ्रकल्प समाधि होती है उसी समय निष्क्रियता कही है । निर्निादरूपसे वेदातके विचार करनेमें बाधा नहीं । आत्मा अर्हत्-पदका विचार करे तो अर्हत हो जाय । सिद्धपदका विचार करे तो सिद्ध हो जाय । आचार्यपदका विचार करे तो आचार्य हो जाय । उपाध्यायका विचार करे तो उपाध्याय हो जाय । स्त्रीरूपका विचार करे तो आत्मा स्त्री हो जाय, अर्थात् आत्मा जिस स्वरूपका विचार करे तद्रूप भावात्मा हो जाती है । आत्मा एक है अथवा अनेक है, इसकी चिन्ता नहीं करना । हमें तो इस विचारकी जरूरत है कि 'मैं एक हूँ' । जगत्भरको इकट्ठा करनेकी क्या जरूरत है ? एक-अनेकका विचार बहुत दूर दशाके पहुँचनेके पश्चात् करना चाहिये । जगत् और आत्माको स्वप्नमें भी एक नहीं मानना । आत्मा अचल है, निराकरण है । वेदात् सुनकर भी आत्माको पहिचानना चाहिये । आत्मा सर्वव्यापक है, अथवा आत्मा देह-व्यापक है, यह अनुभ्रम प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है ।

सत्र धर्मोंका तात्पर्य यही है कि आत्माको पहिचानना चाहिये । दूसरे जो सत्र साधन हैं वे जिस जगह चाहिये (योग्य है), उन्हें ज्ञानीकी आज्ञापूर्वक उपयोग करनेसे अधिकारी जीवको फल होता है । दया आदि आत्माके निर्मल होनेके साधन हैं ।

मिथ्यात्व, प्रमाद, अव्रत, अशुभ योग, ये अनुक्रमसे दूर हो जाँय तो सत्पुरुषका वचन आत्मामें प्रवेश करे, उससे समस्त दोष अनुक्रमसे नाश हो जाँय । आत्मज्ञान विचारसे होता है । सत्पुरुष तो पुकार पुकार कर कह गये हैं, परन्तु जीव लोक-मार्गमें पड़ा हुआ है, और उसे लोकोत्तर मार्ग मान रहा है । इससे किसी भी तरह दोष दूर नहीं होता । लोकका भय छोड़कर सत्पुरुषोंके वचन आत्मामें प्रवेश करे तो सत्र दोष दूर हो जाँय । जीवको अहंभान लाना नहीं चाहिये । मान-ब्रह्मई और महत्ताके ल्यागे विना सम्यक्मार्ग आत्मामें प्रवेश नहीं करता ।

ब्रह्मचर्यके विषयमें — परमार्थके कारण नदी उतरनेके लिये मुनिको ठडे पानीकी आज्ञा दी है, परन्तु अब्रह्मचर्यकी आज्ञा नहीं दी, और उसके लिये कहा है कि अल्प आहार करना, उपवास करना, एकांतर करना, और अन्तमें जहर खाकर मर जाना, परन्तु ब्रह्मचर्य भग नहीं करना ।

जिसे देहकी मूर्च्छा हो उसे कल्याण किस तरह माद्वम हो सकता है ? सर्प काट खाय और भय न हो तो समझना चाहिये कि आत्मज्ञान प्रगट हुआ है । आत्मा अजर अमर है । 'मैं' मरने-

बाबा नहीं, तो फिर मरणका भय क्या है ? जिसकी देहकी मूर्च्छा चली गई है उसे आत्म-ज्ञान हुआ कहा जाता है ।

प्रश्न — जीनको किम तरह बर्तान करना चाहिये ?

उत्तर — निम्न तरह सत्सगके योगसे आत्माको शुद्धता प्राप्त हो उस तरह । परन्तु सदा सत्सगका योग नहीं मिलता । जीनको योग्य होनेके लिये हिंसा नहीं करना, सत्य बोलना, मिना दिया हुआ नहीं लेना, मलचर्च पाठना, परिग्रहकी मर्यादा करनी, रात्रिभोजन नहीं करना—इत्यादि सदाचरणको, ज्ञानियोंने शुद्ध अंतःकरणसे करनेका विधान किया है । यह भी यदि आत्माका लक्ष रखकर किया जाता हो तो उपकारी है, नहीं तो उमसे केवल पुण्य-योग ही प्राप्त होता है । उससे मनुष्यभय मिलता है, देवगति मिलती है, रात्रि मिलता है, एक भयना सुख मिलता है, और पीछेमे चारों गतियोंमें भटकना पड़ता है । इसलिए ज्ञानियोंने तप आदि जो क्रियायें आत्माके उपकारके लिये, अहंकाररहित भावसे करनेके लिये कहीं हैं, उन्हें परमज्ञानी स्वयं भी जगत्के उपकारके लिये निश्चयरूपसे सेवन करता है ।

महान्तरात्मानि केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद उपवास नहीं किया, ऐसा किसी भी ज्ञानीने नहीं किया । फिर भी लोगोंके मनमें यह न हो कि ज्ञान होनेके पश्चात् खाना पीना सब एक सा है—इतनेके लिये ही अन्तिम समय तपना आवश्यकता प्रतानेके लिये उपवास किया, दानके सिद्ध करनेके लिये दीक्षा लेनेके पहिले स्वयं एकत्रपण्य दान दिया । इससे जगत्को दान सिद्ध कर दियाया, माता पिताकी सेवा सिद्धकर दिखाई । दीक्षा जो छोटी वयम न ली यह भी उपकारके लिये ही, नहीं तो अपनेको करना न करना दोनों ही समान हैं । जो साधन कहे है, वे आत्मलक्ष करनेके लिये हैं । परके उपकारके लिये ही ज्ञानी सदाचरण सेवन करता है ।

हालमें जेनदर्शनमें बहुत समयसे अव्यग्रह नुँएकी तरह आग्रण आ गया है, कोई ज्ञानी-पुरुष नहीं है । कितने ही समयसे कोई ज्ञानी नहीं हुआ, अथवा उसमें इतना अधिक कदाग्रह नहीं हो जाता । इस पंचमकालमें सत्पुरुषका याग मिलना दुर्लभ है, और उसमें हालमें तो विशेष दुर्लभ देखनेमें आता है । प्रायः पूर्वके सत्कारी जीव देखनेमें आते नहीं । बहुतसे जीवोंमें कोई कोई ही सच्चा मुमुक्षु—जिज्ञासु—देखनेमें आता है । प्राची तो तीन प्रकारके जीव देखनेमें आते हैं, जो बाह्य दृष्टिसे युक्त हैं —

१ ' क्रिया करना नहीं चाहिये, क्रियासे बस देवगति मिलती है, उससे अन्य कुछ प्राप्त नहीं होता । जिससे चार गतियोंका भ्रमण दूर हो, वही सत्य है '—ऐसा कहकर सदाचरणको केवल पुण्यका हेतु मान उसे नहीं करते, और पापके कारणोंका सेवन करते हुए अटकते नहीं । ऐसे जीवोंको कुछ करना ही नहीं है, और बस बड़ी बड़ी बातें करना है । इन जीवोंको ' अज्ञानवादी ' रूपमें रक्खा जा सकता है ।

२ ' एकान्त क्रिया करना चाहिये, उसीसे कल्याण होगा, '—इस प्रकार माननेवाले एकान्त व्यवहारमें कल्याण मानकर कदाग्रह नहीं छोड़ते । ऐसे जीवोंको ' क्रियावादी ' अथवा ' क्रियाजड़ ' समझना चाहिये । क्रिया-जड़को आत्माका लक्ष नहीं होता ।

३, 'हमको आत्मज्ञान है। आत्माको भ्रान्ति होती ही नहीं, आत्मा कर्ता भी नहीं, और भोक्ता भी नहीं, इसलिये वह कुछ भी नहीं'—इस प्रकार बोलनेवाले 'शुद्ध अध्यात्मी' शून्य ज्ञानी होकर अनाचार सेवन करते हुए रुकते नहीं।

इस तरह हालमें तीन प्रकारके जीव देखनेमें आते हैं। जीवको जो कुछ करना है, वह आत्माके उपकारके लिये ही करना है—यह बात वे भूल गये हैं। हालमें जैनोंमें चौरासीसे सौ गच्छ हो गये हैं। उन सबमें कदाग्रह हो गया है, फिर भी वे सब कहते हैं कि 'जैनधर्म हमारा है'।

'पडिक्कमामि, निंदामि' आदि पाठका लोकमें, वर्तमानमें ऐसा अर्थ हो गया माझम होता है कि 'मैं आत्माको निस्मरण करता हूँ'। अर्थात् जिसका अर्थ—उपकार—करना है, उसीको—आत्माको ही—निस्मरण कर दिया है। जैसे बारात चढ़ गई हो, और उसमें तरह तरहके बंधव बगेरह सब कुछ हों, परन्तु यदि एक बर न हो तो बारात शोभित नहीं होती, बर हो तो ही शोभित होती है, उसी तरह क्रिया बेराग्य आदि, यदि आत्माका ज्ञान हो तो ही शोभाको प्राप्त होते हैं, नहीं तो नहीं होते। जेनोंमें हालमें आत्माकी निस्मृति हो गई है।

सूत्र, चौदह पूर्णका ज्ञान, मुनिपना, श्रावकपना, हजारों तरहके सदाचरण, तपश्चर्या आदि जो जो साधन, जो जो मेहनत, जो जो पुरुषार्थ कहे हैं वे सब एक आत्माको पहिचाननेके लिये हैं। वह प्रयत्न यदि आत्माको पहिचाननेके लिये—खोज निकालनेके लिये—आत्माके लिये हो तो सफल है, नहीं तो निष्फल है। यद्यपि उससे बाह्य फल होता है, परन्तु चार गतियोंका नाश होता नहीं। जीवको सत्पुरुषका योग मिले, और लक्ष हो तो वह जीव सहजमें ही योग्य हो जाय, और बादमें यदि सद्गुरुकी आस्था हो तो सम्यक्त्व उत्पन्न हो।

शम=क्रोध आदिका क्रुश पड़ जाना।

सनेग=मोक्षमार्गके सिंगाय अथ किसी इच्छाका न होना।

निर्वेद=ससारसे थक जाना—ससारसे अटक जाना।

आस्था=सच्चे गुरुकी—सद्गुरुकी—आस्था होना।

अनुकपा=सब प्राणियोंपर समभान रखना—निर्भर बुद्धि रखना।

ये गुण समकित्ती जीवमें स्वाभाविक होते हैं। प्रथम सच्चे पुरुषकी पहिचान हो तो बादमें ये चार गुण आते हैं। वेदान्तमें त्रिचार करनेके लिये पट्ट सपत्तियों बताई हैं। विनेक बेराग्य आदि सद्गुण प्राप्त होनेके बाद जीव योग्य—सुमुक्षु—कहा जाता है।

समकित्त जो है वह देशचारित्र है—एक देशसे केवलज्ञान है। शास्त्रमें इस कालमें मोक्षका सर्वथा निषेध नहीं। जैसे रेलगाड़ीके रास्तेसे इष्ट मार्गपर जल्दी पहुँच जाते हैं और पैदलके रास्ते देरमें पहुँचते हैं, उसी तरह इस कालमें मोक्षका रास्ता पैदलके रास्तेके समान हो, और इससे वहाँ न पहुँच सकें, यह कोई बात नहीं है। जल्दी चले तो जल्दी पहुँच जाँय—रास्ता कुछ बद नहीं है। इसी तरह मोक्षमार्ग है, उसका नाश नहीं। अज्ञानी अकल्याणके मार्गमें कल्याण मान स्वच्छद कल्पना कर, जीवोंका पार होना बंद करा देता है। अज्ञानीके रागी भोलेभाले जीव अज्ञानिके कहे अनुसार चलते

हैं, और उस प्रकारके कर्मसे बंधे हुए दोनों कुगतिको प्राप्त होते हैं । ऐसी मुदिरुल जेन लोगोमें विशेष हो गई है ।

नय आत्माके समझनेके लिये कहे हैं, परन्तु जीन तो नयवादमें ही गुँथ जाते हैं । आत्माको समझते हुए नयमें गुँथ जानेसे वह प्रयोग उल्टा ही हो गया । समकितदृष्टि जीनको 'केवलज्ञान' कहा जाता है । उसे वर्तमानमें भान हुआ है, इसलिये 'देश-केवलज्ञान' कहा जाता है, बाकी तो आत्माका भान होना ही केवलज्ञान है । वह इस तरह कहा जाता है—समकितदृष्टिको जय आत्माका भान हो तब उसे केवलज्ञानका भान प्रगट हुआ, और जय उसका भान प्रगट हो गया, तो केवलज्ञान अजय होना चाहिये, इसलिये इस अपेक्षासे समकितदृष्टिको केवलज्ञान कहा है । सम्पत्त हुआ अर्थात् जमीन जोतकर बीज बो दिया, वृक्ष हुआ, फल आये, फल थोड़े ही खाये, और खाते खाते आयु पूर्ण हो गई, तो फिर अब दूसरे भयमें फल खावेंगे । इसलिये 'केवलज्ञान' इस कालमें नहीं—नहीं, ऐसा निपरीत भान नहीं लेना, और नहीं कहना । सम्पत्त प्राप्त होनेसे अनतभय दूर होकर एक भय बाकी रह जाता है, इसलिये सम्पत्त उत्कृष्ट है । आत्मामें केवलज्ञान है, परन्तु आरण दूर होनेपर केवलज्ञान होता है । इस कालमें सम्पूर्ण आरण दूर नहीं होता—एक भय बाकी रह जाता है, अर्थात् जितना केवलज्ञानारणीय दूर हो, उतना ही केवलज्ञान होता है । समकित आनेपर, भीतरमें—अतरमें—दशा बदल जाती है, केवलज्ञानका बीज प्रगट होता है । सदुरु विना मार्ग नहीं, ऐसा महान् पुरषोने कहा है । यह उपदेश विना कारण नहीं किया ।

समकित्ती अर्थात् मिथ्यात्वसे मुक्त, केवलज्ञानी अर्थात् चारित्राणसे सम्पूर्णरूपसे मुक्त, और सिद्ध अर्थात् देह आदिसे सम्पूर्णरूपसे मुक्त ।

प्रश्न —कर्म किस तरह कम होते हैं ?

उत्तर —क्रोध न करे, मान न करे, माया न करे, लोभ न करे—उससे कर्म कम होते हैं ।

बाह्य क्रिया करूँगा तो मनुष्य जन्म मिलेगा, और किसी दिन सत्पुरुषका सयोग होगा ।

प्रश्न —व्रत-नियम करने चाहिये या नहीं ?

उत्तर —व्रत-नियम करने चाहिये । परन्तु उसकी साथ झगड़ा, कलह, लड़के बच्चे, और घरमें मारामारी नहीं करना चाहिये । ऊँची दशा पानेके लिये ही व्रत-नियम करने चाहिये ।

सच्चे-झूठकी परीक्षा करनेके ऊपर एक सच्चे भक्तका दृष्टान्त —

एक राजा बहुत भक्तिमाल था । वह भक्तोंकी बहुत सेवा किया करता था । बहुतसे भक्तोंको अन्न-वस्त्र आदिसे पोषण करनेके कारण बहुतसे भक्त इकट्ठे हो गये । प्रधानने सोचा कि राजा विचारा भोला है, और भक्त लोग ठग हैं, इसलिये इस बातकी राजाको परीक्षा करानी चाहिय । परन्तु इम समय तो राजाको इनपर बहुत प्रेम है, इसलिये वह मानेगा नहीं, इसलिये किसी दूसरे अजस्रपर जात करूँगा । ऐसा निचार कुछ समय ठहरकर किसी अजस्रके मित्रनेपर उसने राजासे कहा—'आप बहुत समयसे सब भक्तोंकी एक-सी सेवा-चाकरी करते हैं, परन्तु उनमें कोई बड़ा होगा और कोई छोटा होगा, इसलिये सबकी परीक्षा करके ही भक्ति करना चाहिये ।' राजाने इस बातको स्वीकार किया और पूँछा कि तो फिर क्या करना चाहिये । राजाकी आज्ञा लेकर प्रधानने जो दो हजार भक्त थे उन सबको

इकट्ठा करके कहलजाया कि आप सब लोग दरवाजेके बाहर आएं, क्योंकि राजाको तेलकी जरूरत है इसलिये आज भक्त तेल निकालना है। तुम सब लोग बहुत दिनोंसे राजाके माल-मसाले खा रहे हो, तो आज राजाका इतना काम तुम्हें अन्वय करना चाहिये। जत्र भक्तोंमें, घाणीमें डालकर तेल निकालनेकी बात सुनी तो सबके सब भाग गये और अदृश्य हो गये। उनमें एक सच्चा भक्त था, उसने विचार किया कि राजाका नमक खाया है तो उसकी नमकहरामी कैसे की जा सकती है ? राजाने परमार्थ समझकर अन्न दिया है, इसलिये राजा चाहे कुछ भी करे, उसे करने देना चाहिये। यह विचार कर घाणीके पास जाकर उसने कहा कि 'आपकी भक्त-तेल निकालना हो तो निकालिये'। प्रधानने राजासे कहा—'देखिये, आप सब भक्तोंकी सेवा करते थे, परन्तु आपको सच्चे-झूठेकी परीक्षा न थी'। देखो, इस तरह, सच्चे जीव तो विरले ही होते हैं, और वैसे विरले सच्चे सद्गुरुकी भक्ति श्रेयस्कर है। सच्चे सद्गुरुकी भक्ति मन वचन और कायासे करनी चाहिये।

एक बात जबतक समझमें न आये तबतक दूसरी बात सुनना किस कामकी ? सुने हुएको भूलना नहीं। जैसे एक बार जो भोजन किया है, उसके पचे बिना दूसरा भोजन नहीं करना चाहिये। तप वगैरह करना कोई महाभारत बात नहीं, इसलिये तप करनेवालेको अहंकार करना नहीं चाहिये। तप यह छोटेमें ठोटा हिस्सा है। भूखे मरना और उपवास करनेका नाम तप नहीं। भीतरसे शुद्ध अंत करण हो तो तप कहा जाता है, और तो मोक्षगति होती है। वाह्य तप शरीरसे होता है। तप उह प्रकारका है—१ अतर्पित होना, २ एक आसनसे कायाको बैठाना, ३ कम आहार करना, ४ नीरस आहार करना और वृत्तियोंका सकुचित करना, ५ सलीनता और ६ आहारका त्याग।

तिथिके लिये उपवास नहीं करना, परन्तु आत्माके लिये उपवास करना चाहिये। बारह प्रकारका तप कहा है। उसमें आहार न करना, इस तपको जिह्वा इन्द्रियको वश करनेका उपाय समझकर कहा है। जिह्वा इन्द्रिय वश की तो यह समस्त इन्द्रियोंके वशमें होनेका निमित्त है। उपवास करो तो उसकी बात बाहर न करो, दूसरेकी निन्दा न करो, मोघ न करो। यदि इस प्रकारके दोष कम हों तो महान् लाभ हो। तप आदि आत्माके लिये ही करने चाहिये—लोकके दिखानेके लिये नहीं। कषायके घटनेका तप कहा है। लौकिक दृष्टिको भूल जाना चाहिये।

सब कोई सामायिक करते हैं, और कहते हैं कि जो ज्ञानी स्वीकार करे वह सत्य है। समकित होगा या नहीं, उसे भी यदि ज्ञानी स्वीकार करे तो सच्चा है। परन्तु ज्ञानी क्या स्वीकार करे ? अज्ञानीसे स्वीकार करने जैसा ही तुम्हारा सामायिक, व्रत और समकित है। अर्थात् वास्तविक सामायिक, व्रत और समकित तुम्हारेमें नहीं। मन वचन और काया व्यग्रहार-समतामें स्थिर रहें, यह समकित नहीं है। जैसे नींदमें स्थिर योग माद्धम होता है, फिर भी वस्तुतः वह स्थिर नहीं है, और इस कारण वह समता भी नहीं है। मन वचन और काया चोदह गुणस्थान-तक होते हैं, मन तो कार्य किये बिना बैठता ही नहीं। केन्द्रकी मनयोग चपल होता है, परन्तु आत्मा चपल नहीं होती। आत्मा चौथे गुणस्थानकमें चपल होती है, परन्तु सर्वथा नहीं। 'ज्ञान' अर्थात् आत्माको याथातथ्य जानना। 'दर्शन' अर्थात् आत्माकी याथातथ्य प्रतीति।

‘चारित्र’ अर्थात् आत्माका स्थिर होना। आत्मा और सद्गुरुको एक ही समझना चाहिये। यह बात निचारसे ग्रहण होती है। वह निचार यह कि देह अथवा देहके समान दूसरा भाग सद्गुरु नहीं, परन्तु सद्गुरुकी आत्मा ही सद्गुरु है। जिसने आत्मस्वरूप लक्षणसे, गुणसे, और वेदनसे प्रगट अनुभव किया है, ओर वही परिणाम जिसकी आत्माका हो गया है, वह आत्मा और सद्गुरु एक ही है, ऐसा समझना चाहिये। पूर्वमें जो अज्ञान झकड़ा किया है, वह दूर हो तो ज्ञानीकी अपूर्ण वाणी समझमें आये।

मिथ्यासना=धर्मके मिथ्या स्वरूपका सच्चा समझना।

तप आदि भी ज्ञानकी कसौटी है। साता-शील आचरण रक्खा हो और असाता आ जाय तो ज्ञान मद हो जाता है।

निचार बिना इन्द्रियों वश नहीं होतीं। अनिचारसे इन्द्रियों दौडतीं हैं। निवृत्तिके लिये उपवास करना बताया है। हालमें बहुतसे अज्ञानी जीव उपवास करके दुकानपर बैठते हैं, और उसे पौषध बताते हैं। ऐसे कल्पित पौषध जीवने अनादिकालसे किये हैं। उन सबको ज्ञानियोंने निष्कल ठहराया है। जब स्त्री, घर, बाल-बच्चे भूल जाय, उसी समय सामायिक किया कहा जाता है। व्यवहार-सामायिक बहुत नियंत्र करने योग्य नहीं, यद्यपि जीवने व्यवहाररूप सामायिकको एकदम जड़ बना डाला है। उसे करनेवाले जीवोंको खबर भी नहीं होती कि इससे कल्याण क्या होगा ? पहिले सम्यक्त्व चाहिये। जिस वचनके सुननेसे आत्मा स्थिर हो उस स्वरूपका वचन श्रवण हो तो पीछेसे सम्यक्त्व होता है। सामान्य निचारको लेकर इन्द्रियों वश करनेके लिये छह कायका आरम्भ कायासे न करते हुए जड़ वृत्ति निर्मल होती है, तब सामायिक हो सकता है।

भवस्थिति, पचमकालमें मोक्षका अभाव आदि शकाओंसे जीवने बाह्य वृत्ति कर रक्खी है। परन्तु यदि जीव ऐसा पुरुषार्थ करे, ओर पचमकाल मोक्ष होते समय हाथ पकड़ने आये, तो उसका उपाय हम कर लेंगे। वह उपाय कोई हार्थी नहीं, अथवा जाञ्जल्यमान अग्नि नहीं। मुफ्तमें ही जीवको भड़का रक्खा है। जीवको पुरुषार्थ करना नहीं, और उसको लेकर बहाना ढूँढ़ना है। इसे अपना ही दोष समझना चाहिये। समताकी वैराग्यकी बातें सुननी और निचारनी चाहिये। बाह्य बातोंको जैसे बने वैसे छोड़ देना चाहिये। जीव पार होनेका अभिलाषी हो, ओर सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करे तो समस्त वासनाये दूर हो जाँय।

सद्गुरुकी आज्ञामें सब साधन समा गये हैं। जो जीव पार होनेके अभिलाषी होते हैं, उनमें सब वासनाओंका नाश हो जाता है। जैसे कोई सौ पचास कोस दूर हो, तो वह दो चार दिनमें घर आकर मिल सकता है, परन्तु जो लाखों कोस दूर हो वह एकदम घर आकर केने मिल सकता है ? उसी तरह यह जीव कल्याणमार्गसे थोड़ा दूर हो तो वह कभी कल्याण प्राप्त कर सकता है, परन्तु यदि वह एकदम ही उल्टे रास्ते हो तो कहींसे पार हो सकता है ?

देह आदिका अभाव होना—मूर्च्छाका नाश होना—ही मुक्ति है। जिसका एक भव बाकी रहा हो उसे देहकी इतनी अधिक चिंता उचित नहीं। अज्ञान दूर होनेके पश्चात् एक भवकी कुछ कीमत नहीं। छावों भय चले गये तो फिर एक भय तो किस हिसाबमें है ?

शरीरके धर्म—रोग आदि—केरलीके भी होते हैं, क्योंकि वेदनीय कर्मको तो सत्रको भोगना ही पड़ता है। समकित आये बिना किसीकी सहज-समाधि होती नहीं। समकित होनेसे ही सहज-समाधि होती है। समकित होनेमें सहजमें ही आसक्तिभार दूर हो जाता है। उस दरामें आसक्ति-भारके सहज निषेध करनेसे बंध रहता नहीं। सत्पुरुषके वचन अनुसार—उसकी आज्ञानुसार—जो चले उसे अशसे समकित हुआ ह।

दूसरे सत्र प्रकारकी कल्पनायें छोड़कर, प्रत्यक्ष सत्पुरुषकी आज्ञासे उनके वचन सुनना, उनकी सच्ची श्रद्धा करना, और उन्हें आत्मामें प्रवेश करना चाहिये, तो समकित होता ह। शास्त्रमें कही हुई महावीर-स्वामीकी आज्ञानुसार चलनेवाले जीव वर्तमानमें नहीं हैं, इसलिये प्रत्यक्षज्ञानी चाहिये। काल निकराळ है। कुगुरुओंने लोभको मिथ्या मार्ग वताकर भुला दिया है—मनुष्यभर छूट लिया है, तो फिर जीव मार्गमें किस तरह आ सकता है? यद्यपि कुगुरुओंने छूट तो लिया है, परन्तु उसमें उन विचारोंका दोष नहीं, क्योंकि उन्हें उस मार्गकी खबर ही नहीं है। मिथ्यात्वस्वामी तिळ्ठीकी गौठ मोटी हैं, इसलिये सब रोग तो कहाँसे दूर हो सकता ह? जिसकी प्रीति छिन्न हो गई है, उसे सहज-समाधि होती है, क्योंकि जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है, उसकी मूल गौठ ही नष्ट हो गई, और उससे फिर अथ गुण अवश्य ही प्रगट हो जाते हैं।

सत्पुरुषका बोध प्राप्त होना यह अमृत प्राप्त होनेके समान है। अज्ञानी गुरुओंने विचारे मनुष्योंको छूट लिया है। किसी जीवको गच्छना आप्रह कराकर, किसीको मतका आप्रह कराकर, जिससे पार न हो सकें, ऐसे आलस्य देकर सत्र कुछ छूटकर व्याकुल कर डाला है—मनुष्य भ्रम ही छूट लिया है।

समसंरक्षणसे भगवान्की पहिचान होती है, इस सत्र माथापच्चीको छोड़ देना चाहिये। लाख समसंरण हों, परन्तु यदि ज्ञान न हो तो कल्याण नहीं होता, ज्ञान हो तो ही कल्याण होता है। भगवान् मनुष्य जैसे ही मनुष्य थे। वे खाते, पीते, उठते और बैठते थे—इन बातोंमें फेर नहीं है। फेर कुछ दूसरा ही है। समसंरण आदिके प्रसंग लौकिक-भाषना है। भगवान्का स्वरूप ऐसा नहीं है। भगवान्का स्वरूप—सर्वाथा निर्मल आत्मा—सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट होनेपर प्रगट होता है। सम्पूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाय यही भगवान्का स्वरूप है। वर्तमानमें भगवान् होता तो तुम उसे भी न मानते। भगवान्का माहात्म्य ज्ञान है। भगवान्के स्वरूपका चिंतन करनेसे आत्मा भानमें आती है, परन्तु भगवान्की देहसे भान प्रगट नहीं होता। जिसके सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रगट हो जाय उसे भगवान् कहा जाता है। जैसे यदि भगवान् मौजूद होते और वे तुम्हें बताते तो तुम उन्हें भी न मानते, इसी तरह वर्तमानमें ज्ञानी मौजूद हो तो वह भी नहीं माना जाता। तथा स्वधाम पहुँचनेके बाद लोग कहते हैं कि ऐसा ज्ञानी हुआ नहीं। ओर पीछेसे तो लोग उसकी प्रतिमाको पूजते हैं, परन्तु वर्तमानमें उसपर प्रतीति भी नहीं लाते। जीवको ज्ञानीकी पहिचान वर्तमानमें होती नहीं।

समकितका सच्चा सच्चा विचार करे तो नौयें समयमें केरलज्ञान हो जाय, नहीं तो एक भयमें केरलज्ञान होता है, और अतमें पन्द्रहवें भयसे तो केरलज्ञान ही जाता है, इसलिये समकित सर्वोत्कृष्ट है। जुदा जुदा विचार-भेदोंको आत्मामें लाभ होनेके लिये ही कहा है, परन्तु भेदमें ही आत्मामें घुमानेके लिये नहीं कहा। हरेकमें परमार्थ होना चाहिये।

समकित्तिको केवलज्ञानकी इच्छा नहीं।

अज्ञानी गुरुओंने लोगोंको कुमार्गपर चढ़ा दिया है, उल्टा पकड़ा दिया है, इससे लोग गच्छ, कुल, आदि लौकिक भाग्योंमें तदाकार हो गये हैं। अज्ञानियोंने लोकको एकदम मिथ्या ही मार्ग समझा दिया है। उनके सगसे इस काउठमें अधिकार हो गया है। हमारी कहीं दुई हरेक—प्रत्येक—वातको याद कर करके विशेषरूपसे पुरुषार्थ करना चाहिये। गच्छ आदिके कदमप्रहको ठोड़ देना चाहिये। जीव अनादि कालसे भटक रहा है। यदि समकित्त हो तो सहज ही समाधि हो जाय, और अतमें कल्याण हो। जीव सत्पुरुषके आश्रयसे यदि आज्ञाका सच्चा सच्चा आराधन करे, उसके ऊपर प्रतीति लाये, तो अमर्य ही उपकार हो।

एक ओर तो चौदह राजू खेरुना सुख हो, और दूसरी ओर सिद्धके एक प्रदेशका सुख हो, तो भी सिद्धके एक प्रदेशका सुख अनंतगुना हो जाता है।

वृत्ति चाहे किसी भी तरह हो रोकना चाहिये, ज्ञान विचारसे रोकना चाहिये, लोक-लाजसे रोकना चाहिये, उपयोगसे रोकना चाहिये, किमी भी तरह हो वृत्तिको रोकना चाहिये। मुमुक्षुओंको, किसी अमुक पदार्थके विना न चले ऐसा नहीं रखना चाहिये।

जीव जो अपनापन मानता है, वही दुःख है, क्योंकि जहाँ अपनापन माना और चिंता हुई कि अब कैसे होगा? अब कैसे करें? चिंतामें जो स्वल्प हो जाता है, वही अज्ञान है। विचारके द्वारा, ज्ञानके द्वारा देखा जाय तो मायम होता है कि कोई अपना नहीं। यदि एककी चिंता करो तो समस्त जगत्की ही चिंता करनी चाहिये। इसलिये हरेक प्रसंगमें अपनापन होते हुए रोकना चाहिये, तो ही चिंता—कल्पना—कम होगी। तृष्णाको जैसे बने कम करना चाहिये। विचार कर करके तृष्णाको कम करना चाहिये। इस देहको कुछ पचास सो रुपयेका तो खर्च चाहिये, ओर उसके बदले वह हजारों लाखोंकी चिंता कर अग्निसे सारे दिन जला करती है। बाह्य उपयोग तृष्णाकी वृद्धि होनेका निमित्त है। जीव मान बड़ाईके कारण तृष्णाको बढ़ाता है, उस मान-बड़ाईको रखकर मुक्ति होती नहीं। जैसे बने जैसे मान-बड़ाई, तृष्णाको कम करना चाहिये। निर्धन कौन है? जो धन माँगे—धनकी इच्छा करे—वह निर्धन है। जो न माँगे वह धनवान है। जिसे लक्ष्मीकी विशेष तृष्णा, उसकी दुःविधा, पीड़ा है, उसे जरा भी सुख नहीं। लोग समझते हैं कि श्रीमत लोग सुखी हैं, परंतु वस्तुतः उनके तो रोम रोममें पीड़ा है, इसलिये तृष्णाको घटाना चाहिये।

आहारकी बात अर्थात् खानेके पदार्थोंकी बात तुच्छ है, उसे करना नहीं चाहिये। विहारकी अर्थात् क्रीड़ाकी बात बहुत तुच्छ है। निहारकी बात भी बहुत तुच्छ है। शरीरकी साता और दीनता ये सब तुच्छताकी बातें करनी नहीं चाहिये। आहार विद्या है। विचार करो कि खानेके पीठे विद्या हो जाती है। विद्या गाय खाती है तो दूध हो जाता है, ओर वेतमें खाद डालनेसे अनाज हो जाता है। इस तरह उत्पन्न हुए अनाजके आहारको विद्यातुल्य समझ, उसकी चर्चा न करनी चाहिये। वह तुच्छ बात है।

सामान्य जीवोंसे सर्पधा मौन नहीं रखा जाता, और यदि रहें भी तो अतरकी कल्पना दूर होती नहीं, और जबतक कल्पना रहे तबतक उसके लिये कोई रास्ता निकालना ही चाहिये। इसलिये पीठेसे वे लिखकर कल्पनाको बाहर निकालते हैं। परमार्थ काममें बोलना चाहिये। व्यवहार

प्रयोजनके बिना व्यर्थकी बातें करनी नहीं। जहाँ माथापच्ची होती हो वहाँसे दूर रहना चाहिये—
वृत्ति कम करनी चाहिये।

क्रोध, मान, माया, लोभको मुझे कम करना है, ऐसा जत्र लक्ष होगा—जत्र उसका थोड़ा थोड़ा भी लक्ष्य किया जायगा—तत्र बादमें वह सरल हो जायगा। आत्माको आनरण करनेवाले दोष जत्र जाननेमें आ जाँय तत्र उन्हें दूर भगानेका अभ्यास करना चाहिये। क्रोध आदिके थोड़े थोड़े कम होनेके बाद सत्र सहज हो जायगा। तत्र उन्हें नियममें लेनेके लिये जैसे बने अभ्यास रखना चाहिये, और विचारमें समय प्रिताना चाहिये। किसीके प्रसंगसे क्रोध आदिके उत्पन्न होनेका निमित्त हो तो उसे मानना नहीं चाहिये, क्योंकि जत्र स्वय ही क्रोध करें तभी क्रोध होता है। जिस समय अपनेपर कोई क्रोध करे, उस समय विचारना चाहिये कि उस विचारको हालमें उस प्रकृतिका उदय है, यह स्वय ही घड़ी दो घड़ीमें शांत हो जायगा। इसलिये जैसे बने तैसे अतर्विचार कर स्वय स्थिर रहना चाहिये। क्रोध आदि कपायको हमेशा विचार विचारकर कम करना चाहिये। तृष्णा कम करनी चाहिये। क्योंकि वह एकांत दु खदायी है। जैसा उदय होगा वैसा होगा, इसलिये तृष्णाको अन्त्य कम करना चाहिये। बाह्य प्रसंगोंको जैसे बने वैसे कम करना चाहिये।

चेलातीपुत्रने किसीका सिर काट लिया था। बादमें वह ज्ञानीको मिला, और कहा कि मोक्ष दे, नहीं तो तेरा भी सिर काट डारूँगा। इसपर ज्ञानीने कहा कि क्या तू ठीक कहता है? त्रिपेक (सबके सच्चा समझना), शम (सत्रके ऊपर समभान रखना) और उपशम (वृत्तियोंको बाहर न जाने देना और अतर्दृष्टि रखना) को विशेषातिशेष आत्मामें परिणमानेसे आत्माको मोक्ष मित्रती है।

कोई सम्प्रदायवाला कहता है कि वेदातियोंकी मुक्तिकी अपेक्षा—इस भ्रम-दशाकी अपेक्षा—तो चार गतियों ही श्रेष्ठ हैं, इनमें अपने आपको सुख दु खका अनुभन तो रहता है।

सिद्धमें सत्र नहीं कहा जाता, क्योंकि वहाँ कर्म आते नहीं, इसलिये फिर उनका निरोध भी नहीं होता। मुक्तमें एक गुणसे—अशसे—लगाकर सम्पूर्ण अशोक्त सत्रभान ही रहता है। सिद्धदशामें स्वभानसुख प्रगत हो गया है, कर्मके आनरण दूर हो गये हैं, तो फिर अत्र सत्र-निर्जरा किसे रहेंगे वहाँ तीन योग भी नहीं होते। मिथ्यात्र, अत्रत, प्रमाद, कपाय, योग इन सबसे मुक्त उनको कर्मोंका आगमन नहीं होता। इसलिये उनके कर्मोंका निरोध भी नहीं होता। जैसे एक हजारकी रकम हो, और उसे थोड़ी थोड़ी पूरी कर दें तो खाता बढ़ हो जाता है, इसी तरह कर्मके जो पाँच कारण थे, उन्हें सत्र-निर्जरासे समाप्त कर दिया, इसलिये पाँच कारणों-व्पी खाता बढ़ हो गया, अर्थात् तट फिर पीछेसे किसी भी तरह प्राप्त नहीं होता।

धर्मसंयास=क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोंका छेदन करना।

जीव तो सदा जीवित ही है। वह किमी समय भी सोता नहीं अथवा मरता नहीं—मरना उसका सभन नहीं। स्वभासे सत्र जीव जीवित ही है। जैसे श्वासोच्छ्वासके बिना कोई जीव देखनेमें आता नहीं, उसी तरह ज्ञानस्वरूप चैतन्यके बिना कोई जीव नहीं है।

आत्माकी निंदा करना चाहिये ओर ऐसा खेद करना चाहिये जिससे वैराग्य उत्पन्न हो—ससार मिथ्या मादम हो। चाहे कोई भी मर जाय परतु जिसकी आँखमें आँसू आ जाँय—ससारको

असार मान जन्म, जरा, मरणको महा भयकर समझ वेराग्य प्राप्त कर आँसू आ जाँय—वह उत्तम है। अपना पुत्र मर जाय और रोने लगे, तो इसमें कोई विशेषता नहीं, वह तो मोहका कारण है।

आत्मा पुरुषार्थ करे तो क्या नहीं हो सकता ? इसने बड़े बड़े पर्यतके पर्यत काट डाले हैं, और कैसे कैसे विचारकर उनको रेलप्रेके काममें लिया है। यह तो केवल बाहरका काम है, फिर भी विजय प्राप्त की है। आत्माका विचार करना, यह कुछ बाहरकी बात नहीं। जो अज्ञान है उसके दूर होनेपर ज्ञान होता है।

अनुभवी वैद्य दवा देता है, परन्तु यदि रोगी उसे गलेमें उतारे तो ही रोग मिटता है। उसी तरह सद्गुरु अनुभवपूर्वक ज्ञानरूप दवा देता है, परन्तु उसे मुमुक्षु ग्रहण करनेरूप गले उतारे तो ही मिथ्यात्वरूप रोग दूर होता है।

दो घड़ी पुरुषार्थ करे तो केवलज्ञान हो जाय—ऐसा कहा है। रेलप्रे इत्यादि, चाहे केसा भी पुरुषार्थ क्यों न करें तो भी दो घड़ियों तैयार होती नहीं, तो फिर केवलज्ञान कितना सुलभ है, इसका विचार तो करो।

जो बातें जीवको शिथिल कर डालती हैं—प्रमादी कर डालती हैं, वेसी बातें सुनना नहीं। इसीके कारण जीव अनादिकालसे भटकता है। भ्रमस्थिति काल आदिका आलवन लेना नहीं। ये सत्र बहाने हैं।

जीवको सासारिक आलवन—विडम्बनायें—झोड़ना तो है नहीं, ओर वह मिथ्या आलवन लेकर कहता है कि कर्मके दल मौजूद हैं इसलिये मेरेसे कुछ बन नहीं सकता। ऐसे आलवन लेकर जीव पुरुषार्थ करता नहीं। यदि वह पुरुषार्थ करे आर भ्रमस्थिति अथवा काल रकानट डालें तो उसका उपाय हम कर लेंगे, परन्तु पहिले तो पुरुषार्थ करना चाहिये।

सत्पुरुषकी आज्ञाका आराधन करना भी परमार्थरूप ही है। उसमें लाभ ही है। यह व्यापार लाभका ही है।

जिस आदमीने लाखों रुपयोंके सामने पीठा फिरकर देखा नहीं, वह अत्र जो हजारके व्यापारमें बहाना निकालता है, उसका कारण यही है कि अत्रसे आत्मार्थकी इच्छा नहीं है। जो आत्मार्थी हो गया है वह पीठा फिरकर देतता नहीं—वह तो पुरुषार्थ करके सामने आ जाता है। शास्त्रमें कहा है कि आरण्य, स्वभान, भ्रमस्थिति कर्म पकती हैं ? तो कहते हैं कि जब पुरुषार्थ करे तब।

पाँच कारण मिल जाँय तो मुक्ति हो जाय। ये पाँचों कारण पुरुषार्थमें अन्तर्हित हैं। अनत चौथे आरे मिल जाँय, परन्तु यदि स्वयं पुरुषार्थ करे तो हा मुक्ति प्राप्त होती है। जीवने अनत कालसे पुरुषार्थ किया नहीं। समस्त मिथ्या आलवनोंको लेकर मार्गमें विच डाले है। कल्याण-वृत्ति उदित हो तब भ्रमस्थिति परिपक हुई समझनी चाहिये। शूरता हो तो वर्षका काम दो घड़ियों किया जा सकता है।

प्रश्न —व्यवहारमें चौथे गुणस्थानमें कौन कौन व्यवहार लागू होता है ? शुद्ध व्यवहार या और कोई ?

उत्तर —उसमें दूसरे सभी व्यवहार लागू होते हैं। उदयसे शुभाशुभ व्यवहार होता है, और परिणतिसे शुद्ध व्यवहार होता है।

परमार्थसे वह शुद्ध कर्त्ता कहा जाता है। प्रत्यायानी अप्रत्यायानीको खपा दिया है, इसलिये वह शुद्ध व्यनहारका कर्त्ता है। समकितीको अशुद्ध व्यनहार दूर करना है। समकिती परमार्थसे शुद्ध कर्त्ता है। नयके अनेक प्रकार हैं, परन्तु जिस प्रकारसे आत्मा ऊँची आये, पुरपार्थ वर्धमान हो, उसी प्रकार निचारना चाहिये। प्रत्येक कार्य करते हुए अपनी भूलके ऊपर लक्ष रखना चाहिये। एक यदि सम्यक् उपयोग हो तो अपनेको अनुभन हो जाय कि कैसी अनुभन दशा प्रगट होती है।

सत्सग हो तो समस्त गुण सहजमें ही हो जाँय। दया, सत्य, अदत्तादान, ब्रह्मचर्य, परिग्रह-मर्यादा आदि अहकाररहित करने चाहिये। लोगोंको बतानेके लिये कुछ भी करना नहीं चाहिये। मनुष्यभन मिळा है, और सदाचारका सेवन न करे, तो फिर पीठे पठताना होगा। मनुष्यभवमें सत्पुरुषके वचनके सुननेका—निचार करनेका—सयोग मिळा है।

सत्य बोलना, यह कुछ मुश्किल नहीं—त्रिलकुल सहज है। जो व्यापार आदि सत्यसे होते हैं उन्हें ही करना चाहिये। यदि छट महीनेतक इस तरह आचरण किया जाय तो फिर सत्यका बोलना सरल हो जाता है। सत्य बोलनेसे, कदाचित् प्रथम तो थोड़े समयतक थोड़ा नुकसान भी हो सकता है, परन्तु पीठेमें अनत गुणकी धारक आत्मा जो तमाम छुटी जा रही है, वह छुटती हुई बद हो जाती है। सत्य, बोलनेसे धीमे धीमे सहज हो जाता है, और यह होनेके पश्चात् त्रत लेना चाहिये—अभ्यास रखना चाहिये, क्योंकि उत्कृष्ट परिणामवाली आत्मा कोई निरली ही होती है।

जीवने यदि अलौकिक भयसे भय प्राप्त किया हो, तो उससे कुछ भी नहीं होता। लोक चाहे जैसे बोले उसकी परना न करते हुए, जिससे आत्म-हित हो उस सदाचरणका सेवन करना चाहिये।

ज्ञान जो काम करता है वह अद्भुत है। सत्पुरुषके वचनके बिना निचार नहीं आता। निचारके बिना वैराग्य नहीं आता—वैराग्यके बिना ज्ञान नहीं आता। इस कारण सत्पुरुषके वचनोंका बारंबार विचार करना चाहिये।

वास्तविक आशका दूर हो जाय तो बहुत-सी निर्जरा हो जाती है। जीन यदि सत्पुरुषका मार्ग जानता हो, उसका उसे बारबार बोध होता हो तो बहुत फल हो।

जो सात अथवा अनत नय हैं, वे सब एक आत्मार्थके लिये हैं, और आत्मार्थ ही एक सच्चा नय है। नयका परमार्थ जीवमेंसे निकल जाय तो फल होता है—अन्तमें उपशम आने तो फल होता है, नहीं तो जीनको नयका ज्ञान जालरूप ही हो जाता है, और वह फिर अहकार बढ़नेका स्थान होता है। सत्पुरुषके आश्रयसे वह जाल दूर हो जाता है।

व्याख्यानमें कोई भगजाल, राग (स्वर) निकालकर सुनाता है, परन्तु उसमें आत्मार्थ नहीं। यदि सत्पुरुषके आश्रयसे कपाय आदि मद करो और सदाचारका सेवन करके अहकार रहित हो जाओ, तो तुम्हारा और दूसरेका हित हो सकता है। दभरहित आत्मार्थसे सदाचार सेवन करना चाहिये, जिससे उपकार हो।

खारी जमीन हो और उसमें वर्षा हो तो वह किस काममें आ सकती है ? उसी तरह जबतक ऐसी स्थिति हो कि आत्मामें उपदेश प्रवेश न करे, तबतक वह किस कामका ? जबतक उपदेश-वार्ता आत्मामें प्रवेश न करे तबतक उसे फिर फिर मनन करना और निचारना चाहिये—उसका पीछा छोडना

नहीं चाहिये—फायर होना नहीं चाहिये—फायर हो जाय तो आत्मा ऊची नहीं जाती । ज्ञानका अभ्यास जिस तरह बने बढ़ाना चाहिये—अभ्यास रगना चाहिये—उसमें कुटिलता अथवा अहंकार नहीं रगना चाहिये ।

आत्मा अनंत शाश्वत है । कितना अभ्यास बढ़े उतना ही कम है । सुदूरविदास आदिके पढ़नेका अभ्यास रगना चाहिये । गण्डकी अथवा मतमतांतरकी पुस्तकें पढ़नेमें नहीं लेना । परम्परासे भी फदाग्रह आ जाय तो जीव पीठेमे मारा जाता है, झूलिये फदाग्रहकी चारोंमें नहीं पड़ना । मतोंसे अलग रहना चाहिये—दूर रहना चाहिये । जिस पुस्तकसे वैराग्य-उपशम हो, वे समकितदृष्टिकी पुस्तकें हैं । वैराग्यकी पुस्तकें पढ़ना चाहिये ।

दया सत्य आदि जो साधन हैं, वे विभारको त्याग करके साधन हैं । अतस्पर्शसे विचारको बढ़ा आश्रय मित्रता है । अतकके साधन विभारके आहार-स्वभ भे, उन्हें सचे साधनोंसे ज्ञानी-पुरुष दिला डालते हैं । जिसे कन्वाण करना हो उसे सत्य-साधन अवश्य करना चाहिये ।

सत्समागममें जीव आया और इन्द्रियोंकी दुग्धता न गई, तो वह सत्समागममें आया ही नहीं, ऐसा समझना चाहिये । जवनक सत्य बोल नहीं सततक गुण प्रगट नहीं होते । संपुरुष हाथसे पकड़कर मन दे तो छो । ज्ञानी-पुरुष परमार्थका ही उपदेश देता है । मुमुक्षुओंको सत्साधनोंका सेवन करना योग्य है ।

समकितके मूल चारट भा हैं —स्थूल प्राणातिपात, स्थूल मृषावाद, स्थूल कहनेका हेतु०—ज्ञानीने आत्माका और ही मार्ग समझाया है । व्रत दो प्रकारके हैं —समकितके बिना व्रत व्रत है, और समकितसहित अतर्जत है । समकितसहित व्रत व्रतोंका परमार्थ समझमें आ जाय तो फल होता है । वाद्यन अतर्जतके लिये है, जैसे कि एकका अक सिपानेके लिये लकीरें बनाई जाती हैं । यद्यपि प्रथम तो लकीरें करते हुए एकका अक टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है, परन्तु इस तरह करते करते पीठेसे वह अक ठीक ठीक बनने लगता है ।

जीवने जो जो कुछ श्रयण किया है, वह सब मिथ्या ही ग्रहण किया है । ज्ञानी विचारा क्या करे ? कितना समझाये ? यह समझानेकी रीतसे ही तो समझाता है । मार कृटक समझानेसे तो आत्मज्ञान होता नहीं । पहिले जो जो व्रत आदि किये थे सत्र निष्कल ही गये, इसलिये अब सत्पुरुषकी दृष्टिसे परमार्थ समझकर करो । एक ही व्रत हो, परन्तु वह मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे बध है, ओर सम्यग्दृष्टिकी अपेक्षासे निर्जरा है । पूर्वमें जो व्रत आदि निष्कल गये, उन्हें अब सफल करने योग्य सत्पुरुषका योग मिला है, इसलिये पुरपार्थ करना चाहिये । सदाचरणका आश्रयसहित सेवन करना चाहिये—मरण आनेपर पीठे हटना नहीं चाहिये । ज्ञानीके वचन श्रयण होते नहीं—मनन होते नहीं, नहीं तो दशा बदले बिना कैसे रह सकती है ?

आरभ-परिप्रटको न्यून करना चाहिये । पढ़नेमें चित्त न लगे तो उसका कारण नीरसता माध्य होती है । जैसे कोई आदमी नीरस आहार कर ले तो फिर उसे पीठेसे भोजन अच्छा नहीं लगता ।

ज्ञानियोंने जो कहा है, उससे जीव निपरीत ही चलता है, फिर सत्पुरुषकी वाणी कहाँसे सकती है ? लोक-लाज आदि शल्य हैं । इस शल्यके कारण जीवका पानी चमकता नहीं । उस २१

यदि सत्पुरुषके वचनरूपी टोंकीसे दरार पड़ जाय तो पानी चमक उठे । जीवका शल्य हजारों दिनके जातियोगके कारण दूर नहीं होता, परन्तु सत्सगका सयोग यदि एक महीनेतक भी हो तो वह दूर हो जाय, और जीव रास्तेसे चला जाय ।

बहुतसे लघुकर्माँ ससारी जीवोंको पुत्रके ऊपर मोह करते हुए जितना खेद होता है उतना भी वर्तमानके बहुतसे साधुओंको शिष्यके ऊपर मोह करते हुए होता नहीं !

तृष्णामाला जीव सदा भिखारी, सतोषमाला जीव सदा सुखी ।

सच्चे देवकी, सच्चे गुरुकी, सच्चे धर्मकी पहिचान होना बहुत मुश्किल है । सच्चे गुरुकी पहिचान हो, उसका उपदेश हो, तो देव, सिद्ध, धर्म इन सबकी पहिचान हो जाय । सनका स्वरूप सद्गुरुमें समा जाता है ।

सच्चे देव अर्हंत, सच्चे गुरु निर्ग्रन्थ, और सच्चे हरि राग-द्वेष जिसके दूर हो गये हैं । प्रयरहित अर्थात् गोंठरहित । मिथ्यात्व अतर्ग्रन्थि है । परिग्रह बाह्य ग्रन्थि है । मूलमें अभ्यन्तर ग्रन्थि छिन्न न हो तबतक धर्मका स्वरूप समझमें नहीं आता । जिसकी ग्रन्थि नष्ट हो गई है, ऐसा पुरुष मिले तो सचमुच काम हो जाय, और उसमें यदि सत्समागम रहे तो विशेष कल्याण हो । जिस मूल गोंठका शास्त्रमें छेदन करना कहा है, उसे सब भूल गये हैं, और बाहरसे तपश्चर्या करते हैं । दु खके सहन करनेसे भी मुक्ति होती नहीं, क्योंकि दु ख वेदन करनेका कारण जो वैराग्य है, जीव उसे भूल गया है । दु ख अज्ञानका है ।

अदरसे छूटे तभी बाहरसे छूटता है, अदरसे छूटे त्रिना बाहरसे छूटता नहीं । केवल बाहर बाहरसे जोड़ देनेसे काम नहीं होता । आत्म-साधनके त्रिना कल्याण होता नहीं ।

बाह्य और अन्तर जिसे दोनों साधन हैं, वह उत्कृष्ट पुरुष है, और इसलिये वह श्रेष्ठ है । जिस साधुके सगसे अतर्गुण प्रगट हो उसका सग करना चाहिये । कलई और चाँदीके रुपये दोनों समान नहीं कहे जाते । कलईके ऊपर सिक्का लगा दो, फिर भी उसकी रुपयेकी कीमत नहीं होती, और चाँदी हो तो उसके ऊपर सिक्का न लगाओ तो भी उसकी कीमत कम नहीं हो जाती । उसी तरह यदि गृहस्थ अस्थायीमें समकित हो, तो उसकी कीमत कम नहीं हो जाती । सग कहते हैं कि हमारे धर्मसे मोक्ष है । आत्मामें राग-द्वेषके नाश होनेपर ज्ञान प्रगट होता है । चाहे जहाँ बैठो और चाहे जिस स्थितिमें हो, मोक्ष हो सकती है, परन्तु राग-द्वेष नष्ट हो तभी तो । मिथ्यात्व और अहंकार नाश हुए त्रिना कोई राजपाट जोड़ दे, वृद्धकी तरह सूख जाय, फिर भी मोक्ष नहीं होती । मिथ्यात्व नाश होनेके पश्चात् ही सग साधन सफल हैं । इस कारण सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है ।

ससारमें जिसे मोह है, स्त्री-पुत्रमें अपनापन हो रहा है, ओर कपामका जो भरा हुआ है, वह रात्रि-भोजन न करे तो भी क्या हुआ ? जब मिथ्यात्व चला जाय तभी उसका सफल होता है ।

हालमें जैनधर्मके जितने साधु फिरते हैं, उन सभीको समकिति नहीं समझना, उन्हें दान देनेमें हानि नहीं, परन्तु ये हमारा कल्याण नहीं कर सकते । वैश कल्याण नहीं करता । जो साधु केवल नाब क्रियायें किया करता है, उसमें ज्ञान नहीं ।

ज्ञान तो यह है कि जिससे बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती हैं—ससारपरसे सच्ची प्राप्ति घट जाती है—जीव सच्चेको सच्चा समझने लगता है । जिससे आत्मामें गुण प्रगट हो वह ज्ञान ।

गनुष्यभन पाकर भटकनेमें और स्त्री-पुत्रमें तदाकार होकर, यदि आत्म विचार नहीं किया, अपना दोष नहीं देता, आमाकी निन्दा नहीं की, तो यह मनुष्यभन—चितामणि स्वरूप देह—घृथा ही चला जाता है ।

जीव कुमगसे ओर असद्गुरुसे अनादिकालसे भटका है, इसलिये सत्पुरुषको पहिचानना चाहिये । सत्पुरुष कैसा है ? सत्पुरुष तो यह है कि जिसका देहके ऊपरसे ममत्त्व दूर हो गया है—जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है । ऐसे ज्ञानी-पुरुषकी आज्ञासे आचरण करे तो अपने दोष कम हो जाँय, कषाय आदि मद् पड़ जाँय और परिणाममें सम्यक्त्व उत्पन्न हो ।

क्रोध, मान, माया, लोभ ये वास्तविक पाप हैं । उनसे बहुत कर्माका उपार्जन होता है । हजार वर्ष तप किया हो परन्तु यदि एक-दो घड़ी भी क्रोध कर लिया तो सब तप निष्फल चला जाता है ।

‘ छह खडका भोक्ता भी राज्य छोड़कर चला गया, ओर मैं ऐसे अन्य व्यवहारमें बड़प्पन और अहंकार कर बैठे हूँ ? ’—जीव ऐसा क्यों नहीं विचारता ?

आयुके इतने वर्ष व्यतीत हो गये, तो भी लोभ कुछ घटा नहीं, ओर न कुछ ज्ञान ही प्राप्त हुआ । चाहे कितनी भी तृष्णा हो पर तु जव आयु पूर्ण होती है उस समय वह जरा भी काममें आती नहीं, ओर तृष्णाकी हो तो उल्टे उससे कर्म ही बढ़ते हैं । अमुक परिग्रहकी मर्यादा की हो—उदाहरणके लिये दस हजार रुपयेकी—तो समता आती है । इतना मिल जानेके पश्चात् धर्मध्यान करेंगे, ऐसा विचार रखें तो भी नियममें आ सकते हैं ।

किसीके ऊपर क्रोध नहीं करना । जैसे रात्रि भोजनका त्याग किया है, वैसे ही क्रोध मान, माया, लोभ, असत्य आदि छोड़नेके लिये प्रयत्न करके उन्हें मद् करना चाहिये । उनके मद् पड़ जानेसे अन्त में सम्यक्त्व प्राप्त होता है । जीव विचार करे तो अनर्तों कर्म मद् पड़ जाँय, और यदि विचार न करे तो अनर्तों कर्माका उपार्जन हो ।

जव रोग उत्पन्न होता है तब स्त्री, बाल-बच्चे, भाई अथवा दूसरा कोई भी रोगको ले नहीं सकता । सतोपसे धर्मध्यान करना चाहिये, लड़के-बच्चों वगैरह किसीकी अनापश्यक चिंता नहीं करनी चाहिये । एक स्थानमें बैठकर विचार कर, सत्पुरुषके सगसे, ज्ञानीके वचन मननकर विचारकर धन आदिकी मर्यादा करनी चाहिये ।

ब्रह्मचर्यको याथातथ्य प्रकारसे तो कोई निरला ही जीव पाल सकता है, तो भी लोभ-लाजसे भी ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय तो वह उत्तम है ।

मिथ्यात्न दूर हो गया हो तो चार गति दूर हो जाती हैं । समकित न आया हो ओर ब्रह्मचर्यका पालन करे तो देवलोक मिलता है ।

जीवने वैश्य, ब्राह्मण, पशु, पुरुष, स्त्री आदिकी कल्पनासे ‘ मैं वैश्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, पशु हूँ ’—ऐसा मान रक्खा है, परन्तु जीव विचार करे तो यह स्वयं उनमेंसे कोई भी नहीं । ‘मेरा’ स्वरूप तो उससे खुदा ही है ।

सूर्यके उद्योतकी तरह दिन गीत जाता है, तथा अजुलिके जलकी तरह आयु वीत जाती है । जिस तरह लकड़ी आरीसे काटी जाती है, वैसे ही आयु व्यतीत हो जाती है, तो भी मूर्ख परमार्थका साधन नहीं करता और मोहके ढेरको इकट्ठा किया करता है ।

यदि सत्पुरुषके बचनरूपी टाँकीसे दरार पड़ जाय तो पानी चमक उठे । जीवका शल्य हजारों दिनके जातियोगके कारण दूर नहीं होता, परन्तु सत्सगका सयोग यदि एक महीनेतक भी हो तो वह दूर हो जाय, और जीन रास्तेसे चला जाय ।

बहुतसे लघुकर्मा ससारी जीनोंको पुत्रके ऊपर मोह करते हुए जितना खेद होता है उतना भी वर्तमानके बहुतसे साधुओंको शिष्यके ऊपर मोह करते हुए होता नहीं !

तृष्णागाला जीन सदा भिखारी, सतोपगाला जीन सदा सुखी ।

सच्चे देवकी, सच्चे गुरुकी, सच्चे धर्मकी पहिचान होना बहुत मुश्किल है । सच्चे गुरुकी पहिचान हो, उसका उपदेश हो, तो देव, सिद्ध, वर्म इन सत्रकी पहिचान हो जाय । सत्रका स्वरूप सदुरुमें समा जाता है ।

सच्चे देव अर्हंत, सच्चे गुरु निर्भ्रंथ, और सच्चे हरि राग-द्वेष जिसके दूर हो गये हैं । प्रथरहित अर्थात् गोंठरहित । मिध्यात्व अतर्भ्रंथि है । परिग्रह ग्राह्य ग्रन्थि है । मूलमें अभ्यतर ग्रथि छिन्न न हो तवतक धर्मका स्वरूप समझमें नहीं आता । जिसकी ग्रन्थि नष्ट हो गई है, तैसा पुरुष मिछे तो सचमुच काम हो जाय, और उसमें यदि सत्समागम रहे तो विशेष कन्याण हो । जिस मूल गोंठका शास्त्रमें छेदन करना कहा है, उसे सत्र भूल गये है, और बाहरसे तपश्चर्या करते हैं । दु खके सहन करनेसे भी मुक्ति होती नहीं, क्योंकि दु ख वेदन करनेका कारण जो वैराग्य है, जीन उसे भूल गया है । दु ख अज्ञानका है ।

अदरसे छूटे तभी बाहरसे छूटता है, अदरसे छूटे बिना बाहरसे छूटता नहीं । केवल बाहर बाहरसे ओड़ देनेसे काम नहीं होता । आत्म-सापनके बिना कल्याण होता नहीं ।

बाह्य ओर अतर जिसे दोनों साधन हैं, वह उत्कृष्ट पुरुष है, और इसलिये वह श्रेष्ठ है । जिस साधुके सगसे अतर्गुण प्रगट हो उसका सग करना चाहिये । कलई और चाँदीके रुपये दोनों समान नहीं कहे जाते । कलईके ऊपर सिक्का लगा दो, फिर भी उसकी रूपयेकी कीमत नहीं होती, और चाँदी हो तो उसके ऊपर सिक्का न लगाओ तो भी उसकी कीमत कम नहीं हो जाती । उसी तरह यदि गृहस्थ अनस्थामें समकित हो, तो उसकी कीमत कम नहीं हो जाती । सत्र कहते हैं कि हमारे धर्मसे मोक्ष है । आत्मामें राग-द्वेषके नाश होनेपर ज्ञान प्रगट होता है । चाहे जहाँ बैठी और चाहे जिस स्थितिमें हो, मोक्ष हो सकती है, परन्तु राग-द्वेष नष्ट हो तभी तो । मिध्यात्व और अहकार नाश हुए बिना कोई राजपाट ओड़ दे, वृक्षकी तरह सूख जाय, फिर भी मोक्ष नहीं होती । मिध्यात्व नाश होनेके पश्चात् ही सत्र साधन सफल हैं । इस कारण सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है ।

ससारमें जिसे मोह है, स्त्री-पुत्रमें अपनापन हो रहा है, ओर कपायका जो भरा हुआ है, वह रात्रि-भोजन न करे तो भी क्या हुआ ? जत्र मिध्यात्व चला जाय तभी उसका सफल होता है ।

हालमें जैनवर्मके जितने साधु फिरते हैं, उन सभीको समकित नहीं समझना, उन्हें दान देनेमें हानि नहीं, परन्तु वे हमारा कल्याण नहीं कर सकते । वेग कन्याण नहीं करता । जो साधु केवल बाह्य क्रियायें किया करता है, उसमें ज्ञान नहीं ।

ज्ञान तो यह है कि जिससे बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती हैं—ससारपरसे सच्ची प्रीति घट जाती है—जीन सच्चेको सच्चा समझने लगता है । जिससे आत्मामें गुण प्रगट हो वह ज्ञान ।

मनुष्यभ्रम पाकर भटकनेमें और स्त्री-पुत्रमें तदाकार होकर, यदि आत्म विचार नहीं किया, अपना दोष नहीं देखा, आत्माकी निन्दा नहीं की, तो वह मनुष्यभ्रम—चिंतामणि स्वरूप देह—वृथा ही चला जाता है ।

जीव कुसगसे और असद्गुरुसे अनादिकालसे भटका है, इसलिये सत्पुरुषको पहिचानना चाहिये । सत्पुरुष कैसा है ? सत्पुरुष तो यह है कि जिसका देहके ऊपरसे ममत्त्व दूर हो गया है—जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है । ऐसे ज्ञानी पुरुषकी आज्ञासे आचरण करे तो अपने दोष कम हो जाँय, कपाय आदि मद पड़ जाँय और परिणाममें सम्यक्त्व उत्पन्न हो ।

क्रोध, मान, माया, लोभ ये वास्तविक पाप हैं । उनसे बहुत कर्मोंका उपार्जन होता है । हजार वर्ष तप किया हो परन्तु यदि एक दो घड़ी भी क्रोध कर लिया तो सब तप निष्फल चला जाता है ।

‘छह खडका भोक्ता भी राज्य छोड़कर चला गया, और मे ऐसे अल्प व्यवहारमें बड़प्पन और अहंकार कर बैठा हूँ ?’—जीव ऐसा क्यों नहीं विचारता ?

आयुके इतने वर्ष व्यतीत हो गये, तो भी लोभ कुछ घटा नहीं, और न कुछ ज्ञान ही प्राप्त हुआ । चाहे कितनी भी तृष्णा हो परन्तु जब आयु पूर्ण होती है उस समय वह जरा भी काममें आती नहीं, और तृष्णा की हो तो उल्टे उससे कर्म ही बँरते हैं । अमुक परिग्रहकी मर्यादा की हो—उदाहरणके लिये दस हजार रुपयेकी—तो समता आती है । इतना मिल जानेके पश्चात् धर्म-यान करेंगे, ऐसा विचार रखें तो भी नियममें आ सकते हैं ।

किसीके ऊपर क्रोध नहीं करना । जैसे रात्रि भोजनका त्याग किया है, वैसे ही क्रोध मान, माया, लोभ, असत्य आदि छोड़नेके लिये प्रयत्न करके उन्हें मद करना चाहिये । उनके मद पड़ जानेसे अन्त में सम्यक्त्व प्राप्त होता है । जीव विचार करे तो अनन्त कर्म मद पड़ जाँय, और यदि विचार न करे तो अनन्त कर्मोंका उपार्जन हो ।

जब रोग उत्पन्न होता है तब स्त्री, बाल-बच्चे, भाई अथवा दूसरा कोई भी रोगको ले नहीं सकता । सतोपसे धर्म-यान करना चाहिये, लड़के-बच्चों वगैरह किसीकी अनारश्यक चिंता नहीं करनी चाहिये । एक स्थानमें बैठकर विचार कर, सत्पुरुषके सगसे, ज्ञानीके वचन मननकर विचारकर धन आदिकी मर्यादा करनी चाहिये ।

ब्रह्मचर्यको याथातथ्य प्रकारसे तो कोई निरला ही जीव पाल सकता है, तो भी लोक-लजसे भी ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय तो वह उत्तम है ।

मिथ्यात्व दूर हो गया हो तो चार गति दूर हो जाती हैं । समकित न आया हो और ब्रह्म-चर्यका पालन करे तो देवलोक मिलता है ।

जीवने वैश्य, ब्राह्मण, पशु, पुरुष, स्त्री आदिकी कल्पनासे ‘मैं वैश्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, पशु हूँ’—ऐसा मान रक्खा है, परन्तु जीव विचार करे तो वह स्वयं उनमेंसे कोई भी नहीं । ‘मेरा’ स्वरूप तो उससे जुदा ही है ।

सूर्यके उद्योतकी तरह दिन नीत जाता है, तथा अजुलिके जलकी तरह आयु नीत जाती है । जिस तरह लकड़ी आरीसे काटी जाती है, वैसे ही आयु व्यतीत हो जाती है, तो भी मूर्ख परमार्थका साधन नहीं करता और मोहके ढेरको इकट्ठा किया करता है ।

‘सबकी अपेक्षा मैं ससारमें बड़ा हो जाऊँ’ ऐसे उद्वेगके प्राप्त करनेकी तुष्णामें, पाँच इन्द्रियोंमें लड़लान, मद्यपायीकी तरह, मृग-तृष्णाके जलके समान, ससारमें जीव भ्रमण किया करता है, ओर कुल, गौत्र और गतियोंमें मोहके नचानेसे नाचा करता है ।

जिस तरह कोई अधा रस्तीको पटता जाता है, और बड़ड़ा उसे चबाता जाता है, उसी तरह अज्ञानीकी क्रिया निष्फल चली जाती है ।

‘मैं कर्ता हूँ, मैं करता हूँ, मैं कमा करता हूँ’ इत्यादि जो विभाव हैं, वही मिथ्यात्व है । अहंकारसे ससारमें अनंत दुःख प्राप्त होता है—चारों गतियोंमें भटकना होता है ।

किसीका दिया हुआ दिया नहीं जाता, किसीका लिया हुआ लिया नहीं जाता, जीव व्यर्थकी कल्पना करके ही भटका करता है । जिस प्रमाणमें कर्मोंका उपार्जन किया हो उसी प्रमाणमें लाम, अलाम, आयु, साता असाता मिलते हैं । अपने आपसे कुछ दिया लिया नहीं जाता । जीव अहंकारसे ‘मैंने इसे सुख दिया, मैंने दुःख दिया, मैंने अन्न दिया’ ऐसी मिथ्या भावनायें किया करता है ओर उसके कारण कर्म उपार्जन करता है । मिथ्यात्वमें विपरीत धर्मका उपार्जन करता है ।

जगत्में यह इसका पिता है यह इसका पुत्र है, ऐसा व्यवहार होता है, परन्तु कोई भी किसीका नहीं । पूर्ण कर्मके उदयसे ही सब कुछ बना है ।

अहंकारसे जो ऐसी मिथ्याबुद्धि करता है, वह भूला हुआ है—वह चार गतियोंमें भटकता है, और दुःख भोगता है ।

अधमात्म पुरुषके लक्षण —सत्पुरुषको देखकर जिसे रोप उत्पन्न होता है, उसके सबे वचन सुनकर जो उसकी निंदा करता है—खोटी बुद्धिवाला जैसे सद्बुद्धिवालेको देखकर रोप करता है—सरलको मूर्ख कहता है, जो विनय करे उसे धनका खुशामदी कहता है, पाँच इन्द्रियाँ जिसने बश की हों उसे भाग्यहीन कहता है, सबे गुणवालेको देखकर रोप करता है, जो स्त्री-पुरुषके सुखमें लड़लान रहता है—ऐसे जीव कुमतिको प्राप्त होते हैं । जीव कर्मके कारण अपने स्वरूप ज्ञानसे अध है, उसे ज्ञानकी खबर नहीं है ।

एक नामके लिए—मेरी नाक रहे तो अच्छा—ऐसी कल्पनाके कारण जीव अपनी शूरवीरता दिखानेके लिये लड़ाईमें उतरता है—पर नाककी तो राख हो जानेवाली है ।

देह कैसी है ? रेतके घर जैसी । स्मशानकी मढी जैसी । पर्वतकी गुफाके समान देहमें अधेरा है । चमड़ीके कारण देह ऊपर ऊपरसे सुदर मालूम होती है । देह अगुणका घर तथा माया और मैलके रहनेका स्थान है । देहमें प्रेम रखनेके कारण जीव भटका है । वह देह आनित्य है, बदफेजकी खान है । उसमें मोह रखनेसे जीव चार गतियोंमें भटकता है । किस तरह भटकता है ? घाणिके बैलकी तरह । आँखपर पट्टी बाँध लेता है, चलनेके मार्गमें उसे तग होकर चलना पड़ता है, छूटनेकी इच्छा होनेपर भी वह छूट नहीं सकता, भूखसे पीड़ित होनेपर भी वह कह नहीं सकता, आसोच्छ्वास वह निराकुलतासे छे नहीं सकता । उसकी तरह जीव भी परावीन है । जो ससारमें प्राप्ति करता है, वह इस प्रकारके दुःख सहन करता है ।

धुँरे जैसे कपड़े पहिनकर वे आइम्बर रचते हैं, परन्तु वे धुँरेकी तरह नाग हो जानेवाले हैं । आत्माका ज्ञान मायाके कारण दबा हुआ रहता है ।

जो जीव आमेच्छा रखता है, वह जैसेको नाकने मैलनी तरह त्याग देता है। जैसे मक्खियाँ मिठाईपर चिपटी रहती हैं, उसी तरह ये अभागे जीव कुटुम्बके सुखमें लपलीन हो रहे हैं। वृद्ध, युवा, बालक—ये सब ससारमें डूबे हुए हैं—कालके मुखमें हैं, ऐसा भय रखना चाहिये। उस भयको रख ससारमें उदासीनतासे रहना चाहिये।

सौ उपवास करे, परन्तु जतक भीतरसे वास्तविक दोष दूर न हों ततक फल नहीं होता। श्रावक किसे कहना चाहिये ? जिसे सतोप आया हो, कषाय जिसकी मद पड़ गई हों, भीतरसे गुण उदित हुए हों, सत्सग मिळा हो—उसे श्रावक कहना चाहिये। ऐसे जीवको बोध लगे तो समस्त वृत्ति बदल जाय—दशा बदल जाय। सत्सग मिलना यह पुण्यता योग है।

जीव अविचारसे भूले हुए हैं। जरा कोई कुठ कह दे तो तुरत ही बुरा लग जाता है, परन्तु विचार नहीं करते कि मुझे क्या ? वह कहेगा तो उसे ही कर्म-बध होगा।

सामायिक समताको कहते हैं। जीव अहकार कर बाह्य-क्रिया करता है, अहकारसे माया खर्च करता है—ये कुगतिके कारण हैं। सत्सगके बिना यह दोष नहीं घटता।

जीवको अपने आपको होशियार कहलाना बहुत अच्छा लगता है। वह बिना बुलाये होशियारी करके बढ़ाई लेता है। जिस जीवको विचार नहीं, उसके छूटनेका अन्त नहीं। यदि जीव विचार करे और समार्गपर चले तो छूटनेका अन्त आये।

अहकारसे मानसे कैवल्य प्रगट नहीं होता। वह बड़ा दोष है। अज्ञानमे बड़े छोटकी कल्पना रहती है। बाहुबलिजीने विचारा कि मैं अकुशरहित हूँ, इसलिये—

(११)

आनद, भाद्रपद वदी १४ सोम.

पदरह भेदोंसे जो सिद्ध कहा है, उसका कारण यह है कि जिसका राग द्वेष और अज्ञान नष्ट हो गया है, उसका चाहे जिस वेपसे, चाहे जिस स्थानसे और चाहे जिस लिंगसे कल्याण हो जाता है।

सत् मार्ग एक ही है, इसलिये आपह नहीं रखना। अमुक ढूँडिया है, अमुक तप्या है, ऐसी कल्पना नहीं रखना। दया सत्य आदि सदाचरण मुक्तिके मार्ग हैं इसलिये सदाचरण सेवन करना चाहिये।

लेंच करना किस लिये कहा है ? शरीरका ममताकी वह परीक्षा है। (सिरमें बाल होना) यह मोह बढ़नेका कारण है। उससे स्नान करनेका मन होता है, दर्पण लेनेका मन होता है, उसमें मुँह देखनेका मन होता है, और इससे फिर उनके साधनोंके लिये उपाधि करनी पड़ती है, इस कारण ज्ञानियोंने केशलेंच करनेके लिये कहा है।

यात्रा करनेका एक तो कारण यह है कि गृहवासकी उपाधिसे निवृत्ति मिल सके, दूसरे सो दोसी रूपयोंके ऊपरसे मूर्च्छाभाज कम हो सके, तथा परदेशमें देशाटन करनेसे कोई सत्पुरुष खोजते खोजते मिल जाय तो कल्याण हो जाय। इन कारणोंसे यात्रा करना बताया है।

जो सत्पुरुष दूसरे जीवोंको उपदेश देकर कल्याण बताते हैं, उन सत्पुरुषोंको तो अनत त्याग करना है। साधारण हमारे जीवकी विष्काम करुणाके सागर हैं। वाणीके उदय अनुसार उनकी

वाणी निकलती है। ये किसी जीवको ऐसा नहीं कहते कि तू दीक्षा ले ले। तार्थ्यकरने पूर्वमें जो कर्म गये हैं, उनका वेदन करनेके लिये वे दूसरे जीवोंका कल्याण करते हैं, नहीं तो उन्हें उदयानुसार दया रहती है। वह दया निष्कारण है, तथा उन्हें दूसरेकी निर्जरासे अपना कल्याण नहीं करना है। उनका कल्याण तो हो ही गया है। वह तीन लोकका नाथ तो पार होकर ही बैठा है। सत्पुरुष अथवा समकित्तीको भाँ ऐसी (सकाम) उपदेश देनेकी इच्छा नहीं होती। वह भी निष्कारण दयाके वास्ते ही उपदेश देता है। महाशिवस्वामी गृह्णसमें रहते हुए भी त्यागी जैसे थे।

हजारों वर्षका समय भी जेमा वैराग्य नहीं रख सकता, वैसा वैराग्य भगवान्का था। जहाँ जहाँ भगवान् रहते हैं, वहाँ जहाँ सम प्रकारका उपकार भी रहता है। उनकी वाणी उदयके अनुसार शांतिपूर्वक परमार्थ हेतुसे निकलती है, अर्थात् उनकी वाणी कल्याणके लिये ही होती है। उन्हें जन्मसे मति, श्रुत, अग्रि ये तीन ज्ञान थे। उस पुरुषके गुणगान करनेसे अनत निर्जरा होती है। ज्ञानीकी रात अगम्य है। उनका अभिप्राय जाननेमें नहीं आता। ज्ञानी-पुरुषकी सच्ची खूबी यह है कि उन्होंने अनादिसे दूर न होनेवाले राग-द्वेष और अज्ञानको छिन्न भिन्न कर डाला है। इस भगवान्की अनत कृपा है। उन्हें पच्चीसवीं वर्ष हो गये, फिर भी उनकी दया आदि आजकल भी मौजूद हैं। यह उनका अनत उपकार है। ज्ञानी आडम्बर दिखानेके लिये व्यवहार करते नहीं। वे सहज स्वभासे उदासीन भावसे रहते हैं।

ज्ञानी दोषके पास जाकर दोषका छेदन कर लता है, व कि अज्ञानी जीव दोषको छोड़ नहीं सकता। ज्ञानीकी वात अद्भुत है।

बाड़ेमें कल्याण नहीं है। अज्ञानीका राड़ा होता है। जैसे पत्थर स्वय नहीं तैरता और दूसरेको भी नहीं तैरता, उसी तरह अज्ञानी है। रातरागका मार्ग अनादिका है। जिसके राग द्वेष और अज्ञान दूर हो गये, उसका कल्याण हो गया। परन्तु अज्ञानी कहे कि मेरे धर्ममे कल्याण है, तो उसे मानना नहीं। इस तरह कल्याण होता नहीं। ढूँढियाभना अन्ना तत्पापना माना हो तो कपाय चढती है। तत्पा ढूँढियाके साथ बेटा हो तो कपाय चढती है, और ढूँढिया तत्पाके साथ बेटे तो कपाय चढती है—इन्हें अज्ञानी समझना चाहिये। दोनोंही समझे बिना बाडा बाँकर कर्म उपार्जन कर भटकते फिरते हैं। मोहरेकी* नाड़ेकी तरह वे मताग्रह पकड़े बैठे हैं। मुँहपति आदिके आग्रहको छोड़ देना चाहिये।

जैनमार्ग क्या है ? राग, द्वेष और अज्ञानका नाश हो जाना। अज्ञानी साधुओने भोले जीवोंको समझाकर उन्हें मार डालने जैसा कर दिया है। यदि प्रथम स्वय विचार करे कि मेरा दोष कौनसा कम

बोहरा (बोर) इस्लाम धर्मकी एक शाखाके अनुयायी मुसलमानोंकी प्द जाति होती है। बोहरा लोग मूलमें सिद्धपुर (गुजरात) के निवासी ब्राह्मण थे। ये लोग मुसलमानोंके राज्य-समयमें मुसलिम धर्मके अनुयायी हो गये थे। बोहरा लोग प्राय व्यापारी ही होते हैं। कहा जाता है कि जहाँतक बने ये लोग नौकरी पेशा करना पसंद नहीं करते। इनके धर्मग्रन्थ मुस्लिमोंका प्रधान केन्द्र सूतमें है। एक बारकी रात है कि कोई बोहरा व्यापारी गाड़ीमें माल भरकर चला जा रहा था। रास्तेमें कोई गड्डा आया तो गाड़ीवानने बोहराजैसे 'नादा' पकडकर होशियार होकर बैठ जानेको कहा। गाड़ेके दो अर्थ होते हैं। एक तो पाथजामेमें जो इजहारन्द होता है, उसे नादा कहते हैं, और दूसरे रस्सी—दोरी—को भी नादा कहते हैं। गाड़ीवानका अभिप्राय इस रस्सीको ही पकडकर बैठे रहनेका था। परन्तु बोहराजीने समझा कि गाड़ीवान इजहारन्दको पकडकर बैठनेके लिये कह रहा है। इसलिये वे अपने नाड़ेको जोरसे पकडकर बैठ गये। —अनुवादक

हुआ है, तो माउम होगा कि जैन-धर्म तो मेरेसे दूर ही रहा है। जीन उल्टी समझसे अपने कल्याणको भूल कर दूसरेका अकन्याण करता है। तप्या हूँदियाके साधुको, और हूँदिया तप्याके साधुको अन पानी न देनेके लिये अपने अपने शिष्योंको उपदेश करते हैं। कुगुरु लोग एक दूसरेको मिलने नहीं देते। यदि वे एक दूसरेको मिलने दें तो कपाय कम हो जाय—निन्दा घट जाय।

जीव निष्पक्ष नहीं रहता। यह अनादिसे पक्षमें पड़ा हुआ है, और उसमें रहकर कल्याण भूल जाता है।

बारह कुलकी जो गोचरी कही है, उसे बहुतसे मुनि नहीं करते। उनका कपड़े आदि परिग्रहका मोट दूर हुआ नहीं। एक बार आहार लेनेके लिये कहा है फिर भी वे दो बार खेते हैं। जिस ज्ञानी-पुरुषने वचनसे आत्मा उच्च दशा प्राप्त करे वह सच्चा मार्ग है—वह अपना मार्ग है। सच्चा धर्म पुस्तकमें है, परन्तु आत्मामें गुण प्रगट न हों तत्रतक वह कुछ फट नहीं देता। 'धर्म अपना है' ऐसी एक कल्पना ही है। अपना धर्म क्या है? जैसे महासागर किमीका नहीं, उसी तरह धर्म भी किसीके नापका नहीं है। जिसमें दया सत्य आदि हों, उसीको पाओ। वह किसीके नापका नहीं है। वह अनादिकालका है—शाश्वत है। जीनने गौँट परूड़ ली है कि धर्म अपना है। परन्तु शाश्वत मार्ग क्या है? शाश्वत मार्गसे सन मोक्ष गये है। रजोहरण, डोरी, मुँहपत्ती या कपड़ा कोई आ मा नहीं। बोहरेकी नाड़ेकी तरह जीन पक्षका आग्रह पकड़े बैठा है—ऐसी जीनकी मृदता है। 'अपने जेनधर्मके शाखोंमें सन कुठ है, शाख अपने पास है,' ऐसा मिध्याभिमान जीन कर बैठा है। तया क्रोड, मान, माया और लोभरूपी चोर जो रात दिन माल चुरा रहे हैं, उसका उसे मान नहीं।

तीर्थंकरका मार्ग सच्चा है। द्रव्यमें कोड़ीतक भी रखनेकी आज्ञा नहीं। वेणुगोंके कुलधर्मके कुगुरु आरभ-परिग्रहके छोडे त्रिना ही लोगोंने पाससे लक्ष्मी ग्रहण करते हैं, ओर उस तरहका तो एक व्यापार हो गया है। वे स्वय अग्निमें जलते हैं, तो फिर उनसे दूसरोंकी अग्नि किस तरह शात हो सकती है? जेनमार्गका परमार्थ सच्चे गुरुसे समझना चाहिये। जिस गुरुको स्वार्थ हो वह अपना अकन्याण करता है और उससे शिष्योंका भी अकन्याण होता है।

जैनलिंग धारण कर जीन अनतों बार भटका है—जाह्यती लिंग धारण कर लोकि क व्यन-हारमें अनतों बार भटका है। इस जगह वह जैनमार्गका निषेध करता नहीं। अतरगसे जो जितना सच्चा मार्ग वताये वह 'जैन' है। नहीं तो अनादि कालसे जीनने झूठेको सच्चा माना है, और वही अज्ञान है। मनुष्य देहकी सार्थकता तभी है जय कि मिध्या आग्रह—दुराग्रह—जोड़कर कन्याण होता हो। ज्ञानी सीध्रा ही प्रताता है। जय आत्मज्ञान प्रगट हो उसी समय आत्म-ज्ञानीपना मानना चाहिये—गुण प्रगट हुए त्रिना उसे मानना यह भूल है। जवाहरातकी कीमत जाननेकी शक्तिने त्रिना जनेपीपना मानना नहीं चाहिए। अज्ञानी मिध्याको सच्चा नाम देकर बाड़ा बंधवा देता है। यदि सतकी पहिचान हो तो किसी समय तो सत्यका ग्रहण होगा।

(१२)

आनद, भाद्रपद १५, मगल

जो जीन अपनेको सुसुख मानता हो, पार होनेका अभिलाषी मानता हो, और उसे देहमें रोग होते समय आकुलता-न्याकुलता होती हो, तो उस समय विचार करना चाहिये।

वहाँ चली गई ? जो पार होनेका अभिलाषा हो वह तो देहको असार समझता है—देहको आत्मासे भिन्न मानता है—उसे आकुलता आनी चाहिये ही नहीं । देहकी सभाल करते हुए वह सँभाली जाती नहीं, क्योंकि वह उसी क्षणमें नाश हो जाती है—उसमें क्षणभरमें रोग, क्षणभरमें वेदना हो जाती है । देहके सगसे देह दु ख देती है, इसलिये आकुलता व्याकुलता होती है, वहाँ अज्ञान है । शास्त्र श्रवण कर रोच रोच सुना है कि देह आत्मासे भिन्न है—क्षणभगुर है, परन्तु देहको यदि वेदना हो तो यह जीव राग-द्वेष परिणामसे शोर-गुल मचाता है । तो फिर, देह क्षणभगुर है, यह तुम शास्त्रमें सुनने जाते किस लिये हो ? देह तो तुम्हारे पास है तो अनुभव करो । देह स्पष्ट मिट्टी जैसी है—वह रक्खी हुई रक्खी नहीं जा सकती । वेदनाका वेदन करते हुए कोई उपाय चलता नहीं । अब फिर किसकी सँभाल करें ? कुछ भी नहीं बन सकता । इस तरह देहका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तो फिर उसकी ममता करके क्या करना ? देहका प्रगट अनुभव कर शास्त्रमें कहा है कि वह अनित्य है—देहमें मूर्च्छा करना योग्य नहीं ।

जन्तक देहमें आत्मबुद्धि दूर न हो तन्तक सम्यक्तर नहीं होता । जीवको सचाई कभी आई ही नहीं, यदि आई होती तो मोक्ष हो जाती । भले ही साधुपना, श्रावकपना अथवा चाहे जो स्वीकार कर लो, परन्तु सचाई बिना सत्र साधन वृथा हैं । देहमें आत्मबुद्धि दूर करनेके जो साधन बतायें हैं वे साधन, देहमें आत्मबुद्धि दूर हो जाय तभी सच्चे समझे जाते हैं । देहमें जो आत्मबुद्धि हुई है उसे दूर करनेके लिये, अपनेपनको त्यागनेके लिये साधन करने आवश्यक हैं । यदि वह दूर न हो तो साधुपना, श्रावकपना, शास्त्रश्रवण अथवा उपदेश सत्र कुछ अरण्यरोदनके समान है । जिसे यह भ्रम दूर हो गया है, वही साधु, वही आचार्य और वही ज्ञानी है । जैसे कोई अमृतका भोजन करे तो वह ठिपा हुआ नहीं रहता, उसी तरह भ्रातिका दूर होना किसीसे ठिपा हुआ रहता नहीं ।

लोग कहते हैं कि समकित है या नहीं, उसे केवलज्ञानी जाने । परन्तु जो स्वय आत्मा है वह उसे क्यों नहीं जानती ? आत्मा कुछ गौंन तो चली ही नहीं गई । अर्थात् समकित हुआ है, इसे आत्मा स्वय ही जानती है । जैसे किसी पदार्थके खानेपर वह अपना फल देता है, उसी तरह समकितके होनेपर भ्रान्ति दूर हो जानेपर उसका फल आत्मा स्वय ही जान लेती है । ज्ञानके फलको ज्ञान देता ही है । पदार्थके फलको पदार्थ, अपने लक्षणके अनुसार देता ही है । आत्मामेंसे—अन्तरमेंसे—यदि कर्म जानेको तैय्यार हुए हों, तो उसकी अपनेको खबर क्यों न पड़े ? अर्थात् खबर पड़ती ही है । समकितकी दशा ठिपी हुई नहीं रहती । कल्पित समकितको समकित मानना, पाँतलकी कठीको सोनेकी कठी माननेके समान है ।

समकित हुआ हा तो देहमें आत्मबुद्धि दूर होती है । यद्यपि अन्यत्रोत्र, मध्यत्रोत्र, त्रिशेषत्रोत्र जेसा भी बोध हुआ हो, तदनुसार ही पीछेसे देहमें आत्म बुद्धि दूर होती है । देहमें रोग होनेपर जिसे आकुलता माद्वम पड़े, उसे मिथ्यादीष्ट समझना चाहिए ।

जिस ज्ञानीको आकुलता-व्याकुलता दूर हो गई है, उसे अतरग पञ्चक्खण है ही । उसमें समस्त पञ्चक्खण आ जाते हैं । जिसके राग द्वेष दूर हो गये हैं, उसका यदि बीस बरसका पुत्र मर जाय तो भी उसे खेद नहीं होता । शरीरको व्याधि होनेसे जिसे व्याकुलता होती है, और जिसका कल्पना मात्र ज्ञान है, उसे शून्य अथात्मज्ञान मानना चाहिये । ऐसा कल्पित ज्ञानी शून्य-ज्ञानको अध्यात्मज्ञान मानकर अनाचारका सेवन करके ब्रह्म ही भटकता है । देखो शास्त्रका फल ।

आत्माको पुत्र भी नहीं होता और पिता भी नहीं होता । जो इस तरहकी कल्पनाको सत्य मान बैठा है वह मिथ्यात्वी है । कुसगसे समझमें नहीं आता, इसलिये समकित नहीं आता । सत्पुरुषके सगसे योग्य जीव हो तो सम्यक्त्व होता है ।

समकित और मिथ्यात्वकी तुरत ही खबर पड़ जाती है । समकित और मिथ्यात्वकी वाणी घड़ी घड़ीमें बुद्धी पड़ती है । ज्ञानीकी वाणी एक ही धारायुक्त पूर्णपर मित्रती चली आती है । जब अतरग गौंठ खुले उसी समय सम्यक्त्व होता है । रोगको जान ले, रोगकी दवा जान ले, पथ्यको जान ले और तदनुसार उपाय करे तो रोग दूर हो जाय । रोगके जाने बिना अज्ञानी जो उपाय करता है उससे रोग बढ़ता ही है । पथ्य सेवन करे और दवा करे नहीं, तो रोग कैसे मिट सकता है ? अर्थात् नहीं मिट सकता । तो फिर यह तो रोग कुछ और है, और दवा कुछ और है । कुछ शास्त्र तो ज्ञान कहा नहीं जाता । ज्ञान तो उसी समय कहा जाता है जब अतरगसे गौंठ दूर हो जाय । तप सयम आदिके लिये सत्पुरुषके बचनोंका श्रवण करना बताया गया है ।

ज्ञानी भगवान्ने कहा है कि साधुओको अचित्त आहार लेना चाहिये । इस कथनको तो बहुतसे साधु भूल ही गये हैं । दूध आदि सचित्त भारी भारी पदार्थोंका सेवन करके ज्ञानीकी आज्ञाके ऊपर पाँव देकर चलना कल्याणका मार्ग नहीं । लोग कहते हैं कि वह साधु है, परन्तु आत्म दशाकी जो साधना करे वही तो साधु है ।

नरसिंहमहेता कहते हैं कि अनादिकालसे ऐसे ही चलते चलते काल बीत गया, परन्तु निस्तारा हुआ नहीं । यह मार्ग नहीं है, क्योंकि अनादिकालसे चलते चलते भी मार्ग हाथ लगा नहीं । यदि मार्ग यही होता तो अत्रतक कुछ भी हाथमें नहीं आया—ऐसा नहीं हो सकता था । इसलिये मार्ग कुछ भिन्न ही होना चाहिये ।

तृष्णा किस तरह घटती है ? लौकिक भागमें मान-बड़ाई त्याग दे तो । 'घर-कुटुम्ब आदिका मुझे करना ही क्या है ? लोकमें चाहे जैसे हो, परन्तु मुझे तो मान-बड़ाईको छोड़कर चाहे किसी भी प्रकारसे, जिससे तृष्णा कम हो वैसा करना है'—ऐसा विचार करे तो तृष्णा घट जाय—मद पड़ जाय ।

तपका अभिमान कैसे घट सकता है ? त्याग करनेका उपयोग रखनेसे । 'मुझे यह अभिमान क्यों होता है'—इस प्रकार रोज विचार करनेसे अभिमान मद पड़ेगा ।

ज्ञानी कहता है कि जीव यदि कुजीरूपी ज्ञानका विचार करे तो अज्ञानरूपी ताला खुल जाय—कितने ही ताले खुल जाँय । यदि कुजी हो तो ताला खुलता है, नहीं तो हथौड़ी मारनेसे तो ताला टूट ही जाता है ।

'कल्याण न जाने क्या होगा' ऐसा जीवको ग्रहण है । वह कुछ हाथी घोड़ा तो है नहीं । जीवको ऐसी ही भ्रातिके कारण कल्याणकी कुजियाँ समझमें नहीं आती । समझमें आ जाँय तो सन सुगम है । जीवकी भ्राति दूर करनेके लिये जगत्का वर्णन किया है । यदि जीव हमेशाके अधमार्गसे थक जाय तो मार्गमें आ जाय ।

ज्ञानी जो परमार्थ—सम्यक्त्व—हो उसे ही कहते हैं । “ ‘ कषाय घटे वही कल्याण है । जीनके राग, द्वेष, अज्ञान दूर हो जाँय तो उसे कल्याण कहा जाता है ’—ऐसा तो लोग कहते हैं कि हमारे गुरु ही कहते हैं, तो फिर सत्पुरुष भिन्न ही क्या बताते है ” ? ऐसी उल्टी-सीधी कल्पनायें करके जीनको अपने दोषोंको दूर करना नहीं है ।

आत्मा अज्ञानरूपी पत्थरसे दब गई है । ज्ञानी ही आत्माको उँचा उठावेगा । आत्मा दब गई है इसलिये कल्याण सूझता नहीं । ज्ञानी जो सद्भिचाररूपी सरल कुजियोंको बताता है वे हजारों तारोंको लगती है ।

जीनके भीतरसे अजीर्ण दूर हो जाय तो अमृत अच्छा लगे, उसी तरह भक्तिरूपी अजीर्णके दूर होनेपर ही कल्याण हो सकता है । परन्तु जीनको तो अज्ञानी गुरुने भड़का रखा है, फिर भक्तिरूप अजीर्ण दूर कैसे हो सकता है ? अज्ञानी गुरु ज्ञानको बदले तप बताते हैं, तपमें ज्ञान बताते हैं—इस तरह उल्टा उल्टा बताते है, उससे जीनको पार होना बहुत कष्टसाध्य है । अहंकार आदिरीहित भावसे तप आदि करना चाहिये ।

कदाग्रह छोड़कर जीन विचार करे तो मार्ग जुदा ही है । समकित सुलभ है, प्रत्यक्ष है, सरल है । जीन गौनको छोड़कर दूर चला गया है, तो फिर जब वह पीछे फिरे तो गौन आ सकता है । सत्पुरुषोंके वचनोंका आस्थासहित श्रवण मनन करे तो सम्यक्त्व आता है । उसके उत्पन्न होनेके पश्चात् व्रत पञ्चमहायण आते हैं और तत्पश्चात् पाँचवाँ गुणस्थानक प्राप्त होता है ।

सर्चाई समझमें आकर उसकी आस्था हो जाना ही सम्यक्त्व है । जिसे सचे-झूठेकी कीमत हो गई है—वह भेद जिसका दूर हो गया है, उसे सम्यक्त्व प्राप्त होता है ।

असद्गुरुसे सत् समझमें नहीं आता । दया, सत्य, मिना दिया हुआ न लेना इत्यादि सदाचार सत्पुरुषके समीप आनेके सत् साधन हैं । सत्पुरुष जो कहते हैं वह सूत्रके सिद्धान्तका परमार्थ है । हम अनुभवसे कहते हैं—अनुभवसे शका दूर करनेको कह सकते हैं । अनुभव प्रगट दीपक है, और सूत्र कागजमें लिखा हुआ दीपक है ।

झूठियापना अथवा तप्पापना किया करो, परन्तु उससे समकित होनेवाला नहीं । यदि वास्तविक सच्चा स्वरूप समझमें आ जाय—भीतरसे दशा बदल जाय, तो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है । परमार्थमें प्रमाद अर्थात् आत्मामेंसे बाह्य वृत्ति । घातिकर्म उसे कहते हैं जो घात करे । परमाणु आत्मासे निरपेक्ष है, परमाणुको पक्षपात नहीं है, उसे जिस रूपसे परिणामार्थ वह उठी रूपसे परिणमता है ।

निकाचित कर्ममें स्थितिग्रह हो तो बरानर ग्रह होता है । स्थिति-काल न हो और विचार करे, पश्चात्तापसे ज्ञानका विचार करे, तो उसका नाश होता है । स्थिति-काल हो तो भोगनेपर छुटकारा होता है ।

शोर आदिद्वारा जिन कर्मोंका उपार्जन किया हो उनका भोगनेपर ही छुटकारा होता है । उदय आनेपर भोगना ही चाहिये । जो समता रखे उमे समताका फल होता है । सबको अपने अपने परिणामके अनुसार कर्म भोगने पड़ते हैं ।

ज्ञानी, स्त्रीत्वमें पुरुषत्वमें एक-समान है । ज्ञान आत्माका ही है ।

६४४

मन पर्ययज्ञान किस तरह प्रगट होता है ?

साधारणतया प्रत्येक जीवको मतिज्ञान ही होता है । उसके आश्रयभूत श्रुतज्ञानमें वृद्धि होनेसे उस मतिज्ञानका बल बढ़ता है । इस तरह अनुरुमसे मतिज्ञानके निर्मल होनेसे आत्माका असयमभाज दूर होकर सयमभाज उत्पन्न होता है, और उससे मन पर्ययज्ञान प्रगट होता है । उसके सबधसे आत्मा दूसरेके अभिप्रायको जान सकती है ।

किसी ऊपरके चिह्नके देखनेसे दूसरेके जो क्रोध हर्ष आदि भाज जाने जाते हैं, वह मतिज्ञानका निपय है । तथा उस तरहका चिह्न न होनेपर जो भाज जाने जाते हैं, वह मन पर्ययज्ञानका निपय है ।

६४५

आनन्द, आसोज सुदी १, १९५२

मूलमार्गहस्य

ॐ

श्रीसद्गुरुचरणाय नमः

अर, यदि पूजा आदिकी कामना न हो, अतरका ससारका दुःख प्रिय न हो, तो अखड वृत्तिको सन्मुख करके जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ १ ॥

जिनसिद्धान्तका शोभन कर जो कुठ जिन-वचनकी तुलना की है, उसे केवल परमार्थ-हेतुसे ही कहना है । उसके रहस्यको कोई सुमुख ही पाता है । जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ २ ॥

एकरूप और अनिरुद्ध जो ज्ञान दर्शन और चारित्रकी शुद्धता है, वही परमार्थसे जिनमार्ग है, ऐसा पण्डितजनोंने सिद्धांतमें कहा है । जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ३ ॥

जो चारित्रके लिंग और भेद कहे हैं, वे सब द्रव्य, देश, काल आदिकी अपेक्षाके भेदसे ही हैं । परन्तु जो ज्ञान आदिकी शुद्धता है वह तो तीनों कालमें भेदरहित है । जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ४ ॥

अत्र ज्ञान दर्शन आदि शब्दोंका सक्षेपसे परमार्थ सुनो । उसे समझकर विशेषरूपसे विचारनेसे उत्तम आत्मार्थ समझमें आयेगा । जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ५ ॥

६४५

मूल मारग साभळो जिननो रे, करी वृत्ति अखड स'मुख । मूल०
 नो'य पूजादिनी जो कामना रे, नो'य व्हाड अतर भवदुख । मूल० ॥ १ ॥
 करी जो जो वचननी तुलना रे, जो जो शोधिने जिनसिद्धात । मूल०
 मान वहेडु परमारथ हेतुथी रे, कोई पावे सुमुख वात । मूल० ॥ २ ॥
 शान दर्शन चारित्रनी शुद्धता रे, एकपणे अने अविच्छेद । मूल०
 जिनमारग ते परमार्थथी रे, एम कछु सिद्धाते बुद्ध । मूल० ॥ ३ ॥
 लिंग अने भेदो जे वृत्तना रे, द्रव्य देश कालादि भेद । मूल०
 पण शानादिनी जे शुद्धता रे, ते तो पणे काले अभेद । मूल० ॥ ४ ॥
 ह्ये शान दर्शनादि शब्दना रे, सक्षेपे झणो परमार्थ । मूल०
 तेने जोता विचारि विशेषथी रे, समजाये उत्तम आत्मार्थ । मूल० ॥ ५ ॥

आत्मा, देह आदिसे भिन्न है, उपयोगमय है, सदा अविनाशी है,—इस तरह सद्गुरुके उपदेशसे जाननेका नाम ज्ञान कहा है । जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ६ ॥

जो ज्ञानद्वारा जाना है, उसकी जो शुद्ध प्रतीति रहती है, उसे भगवान्ने दर्शन कहा है । उसका दूसरा नाम समकित भी है । जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ७ ॥

जीवकी जो प्रतीति हुई—उसे जो सबसे भिन्न असग समझा—उस स्थिर स्वभावके उत्पन्न होनेको चारित्र कहते हैं, उसमें लिंगका भेद नहीं है । जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ८ ॥

जहाँ ये तीनों अभेद-परिणामसे रहते हैं, वह आत्माका स्वरूप है । उसने जिनभगवान्के मार्गको पा लिया है, अथवा उसने निजस्वरूपको ही पा लिया है । जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ ९ ॥

ऐसे मूलज्ञान आदिके पानेके लिये, अनादिका वध दूर होनेके लिये, सद्गुरुका उपदेश पानेके लिये, स्वच्छन्द और प्रतिबन्धको दूर करो । जिनभगवान्के मूलमार्गको सुनो ॥ १० ॥

इस तरह जिनन्देवने मोक्षमार्गका शुद्ध स्वरूप कहा है । उसका यहाँ भक्तजनोंके हितके लिये संक्षेपसे स्वरूप कहा है । जिनभगवान्का मूलमार्गको सुनो ॥ ११ ॥

६४६ श्री आनन्द, आसोज सुदी २ गुरु १९५२

ॐ सद्गुरुप्रसाद

श्रीरामदासस्वामीकी बनाई हुई दासगोप नामकी पुस्तक मराठी भाषामें है । उसका गुजराती भाषांतर छपकर प्रगट हो गया है । इस पुस्तकको वॉचने-विचारनेके लिये भेजी है ।

उसमें प्रथम तो गणपति आदिकी स्तुति की है । उसके पदचात् जगत्के पदार्थोंका आत्मरूपसे वर्णन करके उपदेश किया है । बादमें उसमें वेदान्तकी मुख्यताका वर्णन किया है । उस, सबसे कुछ भी भय न करते हुए, अथवा शका न करते हुए, ग्रन्थकर्ताके आत्मार्थविषयक विचारोंका अग्रगाहन करना योग्य है ।

छे देहादिथी भिन्न आत्मा रे, उपयोगी सदा अविनाश । मूळ०
 एम जाणे सद्गुरु उपदेशथी रे, वहु ज्ञान तेजु नाम रास । मूळ० ॥ ६ ॥
 जे ज्ञाने करीने जाणियु रे, तेनी वत्ते छे शुद्ध प्रतीत । मूळ०
 वहु भगवते दर्शन तेहने रे, जेजु बीजु नाम समकित । मूळ० ॥ ७ ॥
 जेम आवी प्रतीति जीवनी रे, जाण्यो सर्वथी भिन्न असग । मूळ०
 तेरो शिर स्वभाव ते उपजे रे, नाम चारिन ते अणलिंग । मूळ० ॥ ८ ॥
 ते त्रणे अभेद परिणामथी रे, ज्योर वत्ते ते आत्मारूप । मूळ०
 तेह मारग जिननो पामियो रे, किंजा पाम्यो ते निजस्वरूप । मूळ० ॥ ९ ॥
 एवा मूळ ज्ञानादि पामवा रे, अने जना अनादिबध । मूळ०
 उपदेश सद्गुरुनो पामवा रे, टाळी स्वच्छन्द ते प्रतिबध । मूळ० ॥ १० ॥
 एम देव जिनदे भासियु रे, मोक्षमार्गानु शुद्ध स्वरूप । मूळ०
 भय्य जनोना हितने कारणे रे, संक्षेप वहु स्वरूप । मूळ० ॥ ११ ॥

आत्मार्थके विचारनेमें उससे क्रम क्रमसे सुखभता होती है ।

श्री...को जो व्याख्यान करना होता है, उससे जो अहभान आदिका भय रहता है, वह समन है। जिसने सदगुरुनिपयक तथा उनकी दशाधिपयक विशेषता समझ ली है, उसको उस तरहके प्रसंगके समान दूसरे प्रसंगोंमें प्रायः करके अहभान उदय नहीं होता, अथवा वह तुरत ही शांत हो जाता है। उस अहभानको यदि पहिले जहरके समान समझा हो तो वह पूर्णपर कम समन होता है। तथा कुछ कुछ अतरमें चातुर्य आदि भानसे, सूक्ष्म परिणतिसे भी, उसमें मिठास रक्खी हो तो वह पूर्णपर विशेषता प्राप्त करता है। परन्तु 'वह जहर ही है—निश्चयसे जहर ही है—स्पष्ट कालकूट जहर है, इसमें किसी तरह भी सशय नहीं, और यदि सशय हो तो सशय मानना नहीं, उस सशयको अज्ञान ही समझना चाहिये'—ऐसी तीव्र खाराश कर डाली हो तो वह अहभान प्रायः बल नहीं कर सकता। कदाचित् उस अहभानके रोकनेसे निरहभान हुआ हो तो भी उसका फिरसे अहभाव हो जाना समन है। उसे भी पहिलेसे जहर, ओर जहर ही मानकर प्रवृत्ति की हो तो आत्मार्थको बाधा नहीं होती।

६४७ श्रीआनन्द आसोज, सुदी ३ शुक्र १९५२

आत्मार्थी भाई मोहनलालके प्रति डरबन,

तुम्हारा लिखा हुआ पत्र मिला था। यहाँ उसका सक्षिप्त उत्तर लिखा है।

जान पड़ता है कि नैटालमें रहनेसे तुम्हारी बहुतसी सद्बृत्तियोंमें विशेषता आ गई है। परन्तु उसमें तुम्हारी उस तरह प्रवृत्ति करनेकी उत्कृष्ट इच्छा ही कारणभूत है। राजकोटकी अपेक्षा नैटाल ऐसा क्षेत्र जखर है कि जो बहुतसी बातोंमें तुम्हारी वृत्तिका उपकारक हो सकता है, यह माननेमें हानि नहीं है। क्योंकि तुम्हारी सरलताकी रक्षा करनेमें जिससे निजी निम्नोंका भय रह सके, ऐसे प्रपचमें अनुसरण करनेका दनाव नैटालमें विशेष करके नहीं है। परन्तु जिसकी सद्बृत्तियाँ विशेष बलमान न हों अथवा निर्बल हों, और उसे इंग्लैंड आदि देशमें स्वतंत्रतासे रहना हो तो उसे अमक्ष आदिसवधी दोष लग सकता है, ऐसा मालूम होता है। जैसे तुम्हें नैटाल क्षेत्रमें प्रपचका विशेष सयोग न होनेसे, तुम्हारी सद्बृत्तियाँ विशेषताको प्राप्त हुई हैं, वैसे राजकोट जैसी जगहमें होना कठिन हो, यह यथार्थ मालूम होता है। परन्तु किसी श्रेष्ठ आर्यक्षेत्रमें सत्सग आदि योगमें तुम्हारी वृत्तियोंका नैटालकी अपेक्षा भी विशेषता प्राप्त करना समन है। तुम्हारी वृत्तियोंको देखते हुए, नैटाल तुम्हें अनार्य क्षेत्ररूपसे असर कर सके, प्रायः ऐसी मेरी मान्यता नहीं। परन्तु वहाँ सत्सग आदि योगकी विशेष करके प्राप्ति न होनेसे कुछ आत्म-निराकरण न होनेरूप हानि मानना कुछ विशेष योग्य लगता है।

यहाँसे जो 'आर्य आचार-विचार' के सुरक्षित रखनेके सवधमें लिखा था, उसका भावार्थ यह था—आर्य-आचार अर्थात् मुख्यरूपसे दया, सत्य, क्षमा आदि गुणोंका आचरण करना, और आर्य विचार अर्थात् मुख्यरूपसे आत्माका अस्तित्व, नित्यत्व, वर्तमानकालमें—उस ॥ अज्ञान, तथा उस अज्ञान और भान न होनेके कारण, उन कारणोंकी निवृत्ति और आनन्दस्वरूप भानरहित निजपदमें स्वाभाविक स्थिति होना—इन सबका संक्षेपसे मुख्य अर्थको लेकर उन शब्दोंको लिखा है।

वर्णाश्रम आदि—वर्णाश्रम आदिपूर्वक आचार—यह सदाचारके अगभूतके समान है । विशेष पारमार्थिक हेतु न हो तो वर्णाश्रम आदिपूर्वक वर्तन करना ही योग्य है, ऐसा विचारसे सिद्ध है । यद्यपि वर्णाश्रम धर्म वर्तमानमें बहुत निर्मूल स्थितिमें प्राप्त हो गया है, तो भी हमें तो, जत्रतक हमें उल्लूक त्याग दशाको न प्राप्त करें और जत्रतक गृहाश्रममें वास हो, तत्रतक तो वैद्यरूप वर्णधर्मका अनुसरण करना ही योग्य है । क्योंकि उसमें अभक्ष आदि ग्रहण करनेका व्यवहार नहीं है । यहाँ ऐसी आशंका हो सकती है कि लुहाणा लोग भी उस तरह आचरण करते हैं तो फिर उनके अन्न आहार आदिके ग्रहण करनेमें क्या हानि है ? तो इसके उत्तरमें इतना ही कह देना उचित होगा कि बिना कारण उस रिवाजको बदलना भी योग्य नहीं । क्योंकि उससे, वादमें, दूसरे समागमवासी अथवा किसी प्रसंग आदिमें अपने रीति-रिवाजका अनुकरण करनेवाले, यह समझने लगेंगे कि किसी भी वर्णके यहाँ भोजन करनेमें हानि नहीं । लुहाणाके घर अन्न आहार ग्रहण करनेसे वर्णधर्मकी हानि नहीं होती, परन्तु मुसलमानोंके घर अन्न आहार ग्रहण करते हुए तो वर्णधर्मकी विशेष हानि होती है, और वह वर्णधर्मके लोप करनेके दोषके समान होता है । अपनी किसी लोकके उपकार आदि कारणसे वैसी प्रवृत्ति होती हो—यद्यपि रसलुब्धता बुद्धिसे वैसी प्रवृत्ति न होती हो—तो भी अपना वह आचरण ऐसे निमित्तका हेतु हो जाता है कि दूसरे लोग उस हेतुके समक्ष बिना ही प्राय उसका अनुकरण करते हैं, और अतमें अभक्ष आदिके ग्रहण करनेमें प्रवृत्ति करने लगते हैं, इसलिये उस तरह आचरण न करना अर्थात् मुसलमान आदिका अन्न आहार आदि ग्रहण नहीं करना, यह उत्तम है । तुम्हारी वृत्तिकी तो बहुत कुछ प्रतीति है, परन्तु यदि किसीकी उससे उतरती हुई वृत्ति हो तो उसका अभक्ष आदि आहारके संयोगसे प्राय उस मार्गमें चले जाना संभव है । इसलिये इस समागमसे जिस तरह दूर रहा जाय उस तरह विचार करना कर्तव्य है ।

दयाकी भावना विशेष रखनी हो तो जहाँ हिंसाके स्थानक हैं, तथा वैसे पदार्थ जहाँ खरीदे बेचे जाते हैं, वहाँ रहनेके अथवा जाने आनेके प्रसंगको न आने देना चाहिये, नहीं तो प्राय जैसी चाहिये वैसी दयाकी भावना नहीं रहती । तथा अभक्षके ऊपर वृत्ति न जाने देनेके लिये और उस मार्गकी उन्नतिका अनुमोदन करनेके लिये, अभक्ष आदि ग्रहण करनेवालेका, आहार आदिके लिये परिचय न रखना चाहिये ।

ज्ञान-दृष्टिसे देखनेसे तो ज्ञाति आदि भेदकी विशेषता आदि मादूम नहीं होती, परन्तु भक्षाभक्षके भेदका तो वहाँ भी विचार करना चाहिये, और उसके लिये मुख्यरूपसे इस वृत्तिका रखना ही उत्तम है । बहुतसे कार्य ऐसे होते हैं कि उनमें कोई प्रत्यक्ष दोष नहीं होता, अथवा उनसे कोई अन्य दोष नहीं लगता, परन्तु उसके सन्धसे दूसरे दोषोंको आश्रय मिलता है, उसका भी विचारवानको लक्ष रखना उचित है । नेटाळके लोगोंके उपकारके लिये कदाचित् तुम्हारी ऐसी प्रवृत्ति होती है, ऐसा भी निश्चय नहीं समझा जा सकता । यदि दूसरे किसी भी स्थलपर वैसा आचरण करते हुए पाधा मादूम हो, और आचरण करना न बने तो ही वह हेतु माना जा सकता है । तथा उन लोगोंके उपकारके लिये वैसा आचरण करना चाहिये, ऐसा विचारनेमें भी कुछ कुछ तुम्हारी समझ-फेर होती होगी, ऐसा लगा करता है । तुम्हारी सद्वृत्तिकी कुछ प्रतीति है, इसलिये इस नियममें अधिक लिखना योग्य नहीं जान पड़ता । जिस तरह सदाचार और सद्दिचारका आराधन हो, वैसा आचरण करना योग्य है ।

दूसरी नीच जातियाँ अथवा मुसलमानों आदिके किसी घेसे निमत्रणोंमें अब, आहार आदिके बदले, न पकाये हुए फलाहार आदि लेनेसे उक्त लोगोंके उपकारकी रक्षा समझ हो, तो उस तरह आचरण करना योग्य है ।

६४८

जीवकी व्यापकता, परिणामीपना, कर्मसम्बन्ध, मोक्ष-क्षेत्र ये किस किस प्रकारसे घट सकते हैं ? उसके विचारे विना तथारूप समाधि नहीं होती ।

गुण और गुणीका भेद समझना किस प्रकार योग्य है ?

जीवकी व्यापकता, सामान्य-विशेषात्मकता, परिणामीपना, लोकालोक-ज्ञायकता, कर्मसम्बन्ध, मोक्ष-क्षेत्र, यह पूर्वापर अनिरोधसे किस तरह भिन्न होता है ?

एक ही जीव नामक पदार्थको जुदे जुदे दर्शन, सम्प्रदाय और मत भिन्न भिन्न स्वरूपसे कहते हैं । उसके कर्मसम्बन्धका और मोक्षका भी भिन्न भिन्न स्वरूप कहते हैं, इस कारण निर्णय करना कठिन क्यों नहीं है ?

६४९

आत्मसाधन

द्रव्य.—मैं एक हूँ, असग हूँ, सर्व परमात्मे मुक्त हूँ ।

क्षेत्र —मैं अस्तरयात् निज अगगाहना प्रमाण हूँ ।

काल —मैं अजर, अमर, शाश्वत हूँ । स्वपर्याय-परिणामी समयात्मक हूँ ।

भाषा —मैं शुद्ध चैतन्यमात्र निर्विकल्प द्रष्टा हूँ ।

६५०

वचन सयम—

मनो सयम—

काय सयम—

काय सयम—

इन्द्रिय-सक्षेप,
इन्द्रिय-स्थिरता,

वचन सयम—

मोन,
वचन सक्षेप,

मनो सयम—

मनो सक्षेप,
आत्मचिन्तन.

वचन सयम—

मनो सयम—

काय सयम—

वचन सयम

मनो सयम

काय सयम

आसन स्थिरता,

सोपयोग यथासूत्र प्रवृत्ति

सोपयोग यथासूत्र प्रवृत्ति,

वचन-गुणातिशयता

मन स्थिरता

(३)

जिनके अनुसार—

आत्मा असह्यत प्रदेशी, सकोच-विकासकी भाजन, अरूपी, लोकप्रमाण प्रदेशात्मक है।

६५८

जिन—

मध्यम परिमाणकी नित्यता, क्रोध आदिका पारिणामिक भाग (?) ये आत्मामें किस तरह घटते हैं ?
 कर्म-बन्धकी हेतु आत्मा है ? पुद्गल है ? या दोनों हैं ? अथवा इससे भी कोई भिन्न प्रकार है ?
 मुक्तिमें आत्मा धन-प्रदेश किस तरह है ?

द्रव्यकी गुणसे भिन्नता किस तरह है ?

समस्त गुण मिलकर एक द्रव्य होता है, या उसके बिना द्रव्यका कुछ दूसरा ही विशेष स्वरूप है ?
 सर्व द्रव्यके वस्तुत्व गुणको निकाल कर विचार करें तो वह एक है या किसी दूसरी तरह ?

आत्मा गुणी है, ज्ञान गुण है, यह कहनेसे आत्माका कथंचित् ज्ञान-रहितपना ठीक है या नहीं ?

यदि आत्मामें ज्ञान रहितपना स्वीकार करें तो वह जड़ हो जायगी।

उसमें यदि चारित्र्य वीर्य आदि गुण मानें तो उसकी ज्ञानसे भिन्नता होनेसे वह जड़ हो जायगी,
 उसका समाधान किस तरह करना चाहिये ?

अभ्यन्त पारिणामिक भागमें किस तरह घट सकता है ?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और जीवको द्रव्य-दृष्टिसे देखें तो वह एक वस्तु है या नहीं ?
 द्रव्यत्व क्या है ?

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशका विशेष स्वरूप किस तरह प्रतिपादित हो सकता है ?

लोक असह्य प्रदेशी है, ओर द्वीप समुद्र असह्यताओं हैं, इत्यादि विरोधका किस तरह समाधान
 हो सकता है ?

आत्मामें पारिणामिकता किस तरह है ?

मुक्तिमें भी सब पदार्थोंका ज्ञान किस तरह होता है ?

अनादि-अनतका ज्ञान किस तरह हो सकता है ?

६५९

वेदान्त—

एक आत्मा, अनादि माया, बन्ध-मोक्षका प्रतिपादन, यह जो तुम कहते हो वह नहीं घट सकता।
 आनन्द और चैतन्यमें श्रीकपिलदेवजीने जो विरोध कहा है उसका क्या समाधान है ?

उसका यथायोग्य समाधान वेदान्तमें देखनेमें नहीं आता।

आत्माको नाना माने बिना बन्ध-मोक्ष ही नहीं सकता। और वह है तो जरूर, ऐसा होनेपर
 भी उसे कल्पित कहनेसे उपदेश आदि कार्य करने योग्य नहीं ठहरता।

६६० श्री नङ्गियाद, आसोज वदी १ गुरु १९५२

श्रीआत्मसिद्धिशाल*

ॐ

श्रीसद्गुरुचरणाय नमः

-जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनत ।

समजाव्युं ते पद नमु, श्रीसद्गुरु भगवत ॥ १ ॥

जिस आत्मस्वरूपके समझे विना, भूतकालमें मैंने अनत दुःख भोगे, उस स्वरूपको जिसने समझाया—अर्थात् भविष्यकालमें उत्पन्न होने योग्य जिन अनत दुःखोंको मैं प्राप्त करता, उसका जिसने मूल ही नष्ट कर दिया—ऐसे श्रीसद्गुरु भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ।

वर्तमान आ काळमां, मोक्षमार्ग बहु लोप ।

विचारवा आत्मार्थिने, भाख्यो अत्र अगोप्य ॥ २ ॥

इस वर्तमानकालमें मोक्ष-मार्गका बहुत ही लोप हो गया है । उस मोक्षके मार्गको, आत्मार्या जीवोंके विचारनेके लिये, हम यहाँ गुरु-शिष्यके सवादरूपमें स्पष्टरूपसे कहते हैं ।

कोई क्रियाजड थड़ रखा, शुष्कज्ञानमां कौइ ।

माने मारग मोक्षनी, करुणा उपजे जोइ ॥ ३ ॥

कोई तो क्रियामें लगे हुए हैं, और कोई शुष्क ज्ञानमें लगे हुए हैं, और इसी तरह वे मोक्ष-मार्गको भी मान रहे हैं—उन्हें देखकर दया आती है ।

बाह्य क्रियामां राचता, अतर्भेद न कांइ ।

ज्ञानमार्ग निपेधतां, तेह क्रियाजड आंहि ॥ ४ ॥

जो मात्र बाह्य क्रियामें ही रचे पड़े है, जिनके अतरमें कोई भी भेद उत्पन्न नहीं हुआ, और जो ज्ञान मार्गका निपेध किया करते है, उन्हें यहाँ क्रिया जड़ कहा है ।

बध मोक्ष छे कल्पना, भाखे वाणीमांहि ।

वर्त्ते मोहाविश्रमां शुष्कज्ञानी ते आंहि ॥ ५ ॥

बध और मोक्ष केवल कल्पना मात्र है—इस निश्चय वाक्यको जो केवल वाणीसे ही बोल करता है, और तथारूप दशा जिसकी हुई नहीं, और जो मोहके प्रभावमें ही रहता है, उसे यहाँ शुष्क-ज्ञानी कहा है ।

* श्रीमद् राजचंद्रने 'आत्मसिद्धि' की पद्य-बद्ध रचना भी सोभाष्य, श्री अचल आदि मुमुक्षु, तथा भय जीवोंके हितके लिये की थी । यह निम्न पद्यसे विदित होता है—

श्री सोभाष्य अने भी भागल, आदि मुमुक्षु काज ।

तथा भय हित कारणे, कस्यो बोध मुत्तकाज ॥

आत्मसिद्धिके हृत्त पद्योंना सजित विवेचन भाई अयालाल लालचन्दने किया है, जो श्रीमद्की दृष्टिमें आ चुका है । तथा किसी किसी पद्यका जो विस्तृत विवेचन दिया है, वह स्वयं श्रीमद्का लिखा हुआ है, जिसे उन्होंने पत्रोंके रूपमें समय समयपर लिखा था ।—अनुवादक

वैराग्यादि सफल तो, जो सह आत्मज्ञान ।

तेम ज आत्मज्ञाननी, प्राप्तियां निदान ॥ ६ ॥

वैराग्य त्याग आदि, यदि साथमें आत्मज्ञान हो तो ही सफल है, अर्थात् तो ही वे मोक्षकी प्राप्तिके हेतु हैं, और जहाँ आत्मज्ञान न हो वहाँ भी यदि उन्हें आत्मज्ञानके लिये ही किया जाता हो तो भी वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं ॥

वैराग्य, त्याग, दया आदि जो अंतरंगकी क्रियायें हैं, उनकी साथ यदि आत्मज्ञान हो तो ही वे सफल हैं—अर्थात् तो ही वे मनके मूलका नाश करती हैं । अथवा वैराग्य, त्याग, दया आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं, अर्थात् जीवमें प्रथम इन गुणोंके आनेसे उसमें सद्गुरुका उपदेश प्रवेश करता है । उज्ज्वल अतः करणके बिना सद्गुरुका उपदेश प्रवेश नहीं करता । इस कारण यह कहा है कि वैराग्य आदि आत्मज्ञानकी प्राप्तिके साधन हैं ।

यहाँ, जो जीव क्रिया-जड़ हैं, उन्हें ऐसा उपदेश किया है कि केवल कायाका रोकना ही कुछ आत्मज्ञानकी प्राप्तिका कारण नहीं । यद्यपि वैराग्य आदि गुण आत्मज्ञानकी प्राप्तिके हेतु हैं, इसलिये तुम उन क्रियाओंका अवगाहन तो करो, परन्तु उन क्रियाओंमें ही उलझे रहना योग्य नहीं है । क्योंकि आत्मज्ञानके बिना वे क्रियायें भी ससारके मूलका उद्देन नहीं कर सकती । इसलिये आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये उन वैराग्य आदि गुणोंमें प्रवृत्ति करो, और कायक्लेशमें—जिसमें कपाय आदिकी तथारूप कुछ भी क्षीणता नहीं—तुम मोक्ष-मार्गका दुरामह न रक्खो—यह उपदेश किया-जड़को दिया है ।

तथा जो शुष्क-ज्ञानी त्याग वैराग्य आदिरहित हैं—केवल उचन-ज्ञानी ही हैं—उन्हें ऐसा क । गया है कि वैराग्य आदि जो साधन हैं, वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिके कारण जरूर बताये हैं, परन्तु कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति होती नहीं, और तुमने जब वैराग्य आदिको भी नहीं प्राप्त किया तो फिर आत्मज्ञान तो तुम कहाँसे प्राप्त कर सकते हो ? उसका जरा आत्मामें निचार तो करो । ससारके प्रति बहुत उदासीनता, देहकी मूर्च्छाकी अल्पता, भोगमें अनासक्ति, तथा मान आदिकी कृशता इत्यादि गुणोंके बिना तो आत्मज्ञान फलीभूत होता ही नहीं, और आत्मज्ञान प्राप्त करने केनेपर तो वे गुण अत्यंत दृढ़ हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें आत्मज्ञानरूप जो मूल है वह प्राप्त हो गया है । तथा उसके बदले तो तुम ऐसा मान रहे हो कि तुम्हें आत्मज्ञान है, परन्तु आत्मामें तो भोग आदि कामनाकी अग्नि जला करती है, पूजा सत्कार आदिकी कामना बारबार स्फुरित होती है, थोड़ीसी असातासे ही बहुत आकुलता व्याकुलता हो जाती है । फिर यह क्यों लक्षमें आता नहीं कि ये आत्मज्ञानके लक्षण नहीं हैं ! 'मैं केवल मान आदिकी कामनासे ही अपनेको आत्मज्ञानी कहलजाता हूँ'—यह जो तुम्हारी समझमें नहीं आता उसे समझो, और प्रथम तो वैराग्य आदि साधनोंको आत्मामें उत्पन्न करो, जिससे आत्मज्ञानकी समुखता हो सके ।

त्याग विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान ।

अटके त्याग विरागमां, तो भूछे निजभान ॥ ७ ॥

जिसके चित्तमें त्याग-वैराग्य आदि साधन उत्पन्न न हुए हों उसे ज्ञान नहीं होता, और जो त्याग-वैराग्यमें ही उलझा रहकर आत्मज्ञानकी आकाक्षा नहीं रखता वह अपना भान भूल जाता है—

अर्थात् वह अज्ञानपूर्वक त्याग-वैराग्य आदि होनेसे, पूजा-सत्कार आदिसे परामभव पाकर आत्मार्थको ही भूल जाता है ॥

जिसके अतः कारणमें त्याग-वैराग्य आदि गुण उत्पन्न नहीं हुए, ऐसे जीवको आत्मज्ञान नहीं होता । क्योंकि जैसे मलिन अतः कारणरूप दर्पणमें आत्मोपदेशका प्रतिबिम्ब पड़ना संभव नहीं, उसी तरह केवल त्याग-वैराग्यमें रचा-पचा रहकर जो कृतार्थता मानता है, वह भी अपनी आत्माका भान भूल जाता है । अर्थात् आत्मज्ञान न होनेसे उसे अज्ञानका साहचर्य रहता है, इस कारण उस त्याग-वैराग्य आदिका भान उत्पन्न करनेके लिए, और उस भानके लिये ही, उसकी सर्व सयम आदिकी प्रवृत्ति हो जाती है, जिससे सत्कारका उच्छेद नहीं होता । वह केवल उसीमें उलझ जाता है, अर्थात् वह आत्मज्ञानको प्राप्त नहीं करता ।

इस तरह क्रिया-जड़को साधन—क्रिया—और उस साधनकी जिससे सफलता हो, ऐसे आत्मज्ञानका उपदेश किया है, और शुष्क-ज्ञानीको त्याग-वैराग्य आदि साधनका उपदेश करके केवल वचन-ज्ञानमें कल्याण नहीं, ऐसी प्रेरणा की है ।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहाँ समजबु तेह ।

त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥ ८ ॥

जहाँ जहाँ जो योग्य है, वहाँ वहाँ उसे समझे और वहाँ वहाँ उसका आचरण करे, यह आत्मार्थी पुरुषका लक्षण है ॥

जिस जगह जो योग्य है अर्थात् जहाँ त्याग-वैराग्य आदि योग्य हों, वहाँ जो त्याग-वैराग्य आदि समझता है, और जहाँ आत्मज्ञान योग्य हो वहाँ आत्मज्ञान समझता है—इस तरह जो जहाँ योग्य है उसे वहाँ समझता है, और वहाँ तदनुसार प्रवृत्ति करता है—वह आत्मार्थी जीव है । अर्थात् जो कोई मतार्थी अथवा मानार्थी होता है, वह योग्य मार्गको ग्रहण नहीं करता । अथवा क्रियामें ही जिसे दुराग्रह हो गया है, अथवा शुष्क ज्ञानके अभिमानमें ही जिसने ज्ञानीपना मान लिया है, वह त्याग-वैराग्य आदि साधनको अथवा आत्मज्ञानको ग्रहण नहीं कर सकता ।

जो आत्मार्थी होता है, वह जहाँ जहाँ जो जो करना योग्य है, उस सबको करता है, और जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है उस सबको समझता है । अथवा जहाँ जहाँ जो जो समझना योग्य है, जो उस सबको समझता है, और जहाँ जो जो आचरण करना योग्य है, उस सबका आचरण करता है—वह आत्मार्थी कहा जाता है ।

यहाँ 'समझना' और 'आचरण करना' ये दो सामान्य पद हैं । परन्तु यहाँ दोनोंको अलग अलग कहनेका यह भी आशय है कि जो जो जहाँ जहाँ समझना योग्य है उस सबको समझनेकी, और जो जो जहाँ आचरण करना योग्य है उस सबको वहाँ आचरण करनेकी जिसकी कामना है—वह भी आत्मार्थी कहा जाता है ।

सेवे सद्गुरु चरणने, त्यागी दर्ई निजपक्ष ।

पामे ते परमार्थने, निजपदनो छे लक्ष ॥ ९ ॥

अपने पक्षको छोड़कर जो सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह परमार्थको पाता है, और उसे आत्मस्वरूपका लक्ष होता है ॥

आशका'—बहुतसोंको क्रिया-जड़ता रहती है और बहुतसोंको शुष्क-ज्ञानीपना रहता है, उसका क्या कारण होना चाहिये ?

समाधान—जो अपने पक्ष अर्थात् मत-को छोड़कर सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह पदार्थको प्राप्त करता है, और निजपदका अर्थात् आत्म-स्वभावका लक्ष ग्रहण करता है। अर्थात् बहुतसोंको जो क्रिया-जड़ता रहती है, उसका हेतु यही है कि उन्होंने, जो आत्मज्ञान और आमज्ञानके साधनको नहीं जानता, ऐसे असद्गुरुका आश्रय ले रक्खा है। इससे वह अमद्गुरु उन्हें, वह अपने जो मात्र क्रिया-जड़ताके अर्थात् कायकेशिकके मार्गको जानता है, उसीमें लगा लेता है, और कुल-धर्मको दृढ़ कराता है। इस कारण उन्हें सद्गुरुके योगके मिलनेकी आकांक्षा भी नहीं होती, अथवा वैसा योग मिलनेपर भी उन्हें पक्षकी दृढ़ वासना सद्गुरुके सन्मुख नहीं होने देती, इसलिये क्रिया-जड़ता दूर नहीं होती, और परमार्थकी प्राप्ति भी नहीं होती।

तथा जो शुष्क ज्ञानी है, उसने भी सद्गुरुके चरणका सेवन नहीं किया, और केवल अपनी मतिकी कल्पनासे ही स्वच्छदरूपसे अध्यात्मके प्रथम पद लिये हैं। अथवा किसी शुष्क-ज्ञानीके पाससे वेसे ग्रन्थ अथवा वचनोंको सुनकर अपनेमें ज्ञानीपना मान लिया है, और ज्ञानी मनवानेके पदका जो एक प्रकारका मान है, उसमें उसे मिठास रहती आई है, और यह उसका पक्ष ही हो गया है। यथा किसी विशेष कारणसे शास्त्रोंमें दया, दान और हिंसा, पूजाकी जो समानता कही है, उन वचनोंको, उसका परमार्थ समझे बिना ही, हाथमें लेकर, केवल अपनेको ज्ञानी मनवानेके लिये, और पामर जीवोंके तिरस्कारके लिये, वह उन वचनोंका उपयोग करता है। परन्तु उन वचनोंको किस लक्षसे समझनेसे परमार्थ होता है, यह नहीं जानता। तथा जैसे दया, दान आदिकी शास्त्रोंमें निष्कलता कही है, उसी तरह नवपूर्वतक पद लेनेपर भी वे निष्कल चले गये—इस तरह ज्ञानकी भी निष्कलता कही है—और वह तो शुष्क ज्ञानका ही निषेध है। ऐसा होनेपर भी उसे उसका लक्ष होता नहीं। क्योंकि वह अपनेको ज्ञानी मानता है इसलिये उसकी आत्मा मूढताको प्राप्त हो गई है, इस कारण उसे विचारका अत्रकाश ही नहीं रहा। इस तरह क्रिया-जड़ अथवा शुष्क-ज्ञानी दोनों ही भूले हुए हैं, और वे परमार्थ पानेकी इच्छा रखते हैं; अथवा वे कहते हैं कि हमने परमार्थ पा लिया है। यह केवल उनका दुराग्रह है—यह प्रत्यक्ष मादृम होता है।

यदि सद्गुरुके चरणका सेवन किया होता तो ऐसे दुराग्रहमें पड़ जानेका समय न आता, जीव आत्म-साधनमें प्रेरित होता, तथारूप साधनसे परमार्थकी प्राप्ति करता, और निजपदके लक्षको ग्रहण करता, अर्थात् उसकी वृत्ति आत्माके सन्मुख हो जाती।

तथा जगह जगह एकाकाररूपसे विचरनेका जो निषेध है, और सद्गुरुकी ही सेवामें विचरनेका जो उपदेश किया है, इससे भी यही समझमें आता है कि वही जीवको हितकारी और मुख्य मार्ग है। तथा असद्गुरुसे भी कल्याण होता है, ऐसा कहना तो तीर्थंकर आदिकी—ज्ञानीकी—आसातना करनेके ही समान है। क्योंकि फिर तो उनमें और असद्गुरुमें कोई भी भेद नहीं रहा—फिर तो जन्माधमें और अत्यंत शुद्ध निर्मल चक्रवालेमें कुछ न्यूनाधिकता ही न ठहरी। तथा श्रीठाणगासूत्रकी चौभगी ग्रहण करके कोई ऐसा कहे कि 'अभयका पार किया हुआ भी पार हो जाता है,' तो वह वचन भी 'वदतो व्याघात' जैसा ही है। क्योंकि पाहल तो मूलमें ठाणगामें वह पाठ ही नहीं, और जो पाठ है वह

इस तरह है । उसका शब्दार्थ इस प्रकार है । उसका विशेषार्थ टीकाकारने इस तरह किया है । उसमें किसी भी जगह यह नहीं कहा कि अभव्यका पार किया हुआ पार होता है, और किमी टन्नामें किसीने जो यह वचन लिखा है, यह उसकी समझकी अपवार्थता ही मादम होती है ।

कदाचित् कोई इसका यह अर्थ करे कि ' जो अभव्य कहता है वह वयार्थ नहीं है—ऐसा भासित होनेके कारण यथार्थ लक्ष होनेसे जीव स्व-विचारको प्राप्त कर पार हो जाता है, ' तो वह किसी तरह सभय है । परन्तु उससे यह नहीं कहा जा सकता कि अभव्यका पार किया हुआ पार हो जाता है । यह विचारकर जिस मार्गसे अनत जीव पार हुए हैं, पार होते हैं और पार होंगे, उस मार्गका अवगाहन करना, और स्वकल्पित अर्थका मान आदिकी रक्षा छोड़कर त्याग करना ही श्रेयस्कर है । यदि तुम ऐसा कहे कि जीव अभव्यमें पार होता है, तो इससे तो अवश्य निश्चय होता है कि असद्गुरु ही पार करता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ।

तथा अशोच्या केरडीको, जि होने पूर्वमें किसीसे धर्म नहीं सुना, किसी तथारूप आरणके क्षय होनेसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, ऐसा जो शास्त्रमें निग्नपण किया है, यह आत्माके माहात्म्यकी वतानेके लिये, और जिसे सद्गुरुका योग न हो उसे जाग्रत करनेके लिये ओर उस उस अनेकात मार्गका निरूपण करनेके लिये ही प्रदर्शित किया है । उसे कुछ सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करनेके मार्गको उपेक्षित करनेके लिये प्रदर्शित नहीं किया । तथा यहाँ तो उन्हे उस मार्गके ऊपर दृष्टि अपनेके लिये ही उसे अधिक मजबूत किया है । किन्तु अशोच्या-केरली अर्थात् अशोच्या-केरलीके इस प्रसंगको सुनकर किमीसे जो शास्त्रत मार्ग चला आता है, उसका निषेध करनेका यहाँ आशय नहीं, ऐसा समझना चाहिये ।

किसी तीन आत्मार्थको कदाचित् ऐसे सद्गुरुका योग न मिला हो, ओर उसे अपनी तीव्र कामना कामनामें ही निज-विचारमें पड़ जानेसे, अथवा तीन आत्मार्थके कारण निज-विचारमें पड़ जानेसे आमज्ञान हो गया हो तो सद्गुरुके मार्गकी उपेक्षा न कर, और ' मुझे सद्गुरुसे ज्ञान नहीं मिला, इनलिये मैं बड़ा हूँ, ' ऐसा भाव न रख, विचारवान जीवको जिससे शास्त्रत मोक्षमार्गका लोप न हो, ऐसे वचन प्रकाशित करने चाहिये ।

एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जाना हो और जिसने उस गाँवका मार्ग न देखा हो, ऐसे किसी पचास वरसके पुरपको भी—यद्यपि वह लाखों गाँव देख आया हो—उस मार्गकी खबर नहीं पड़ती । किसीसे पूँछनेपर ही उसे उस मार्गकी खबर पड़ती है, नहीं तो वह भूल खा जाता है, और यदि उस मार्गका जाननेवाला कोई दस वरसका बालक भी उसे उस मार्गकी दिखा दे तो उससे वह इष्ट स्थानपर पहुँच सकता है—यह बात लौकिक व्यवहारमें भी प्रत्यक्ष है । इसलिये जो आत्मार्थी हो, अथवा जिसे आत्मार्थकी इच्छा हो उसे, सद्गुरुके योगसे पार होनेके अभिलाषी जीवका जिससे कल्याण हो, उस मार्गका लोप करना योग्य नहीं । क्योंकि उससे सर्व ज्ञानी पुरुषोंकी आज्ञा लोप करने जैसा ही होता है । आशका — ' पूर्वमें सद्गुरुका योग तो अनेक वार हुआ है, फिर भी जीवका कल्याण नहीं

हुआ। इससे सद्गुरुके उपदेशकी ऐसी कोई विशेषता दिखाई नहीं देती।' इसका उत्तर दूसरे पदमें कहा है।

उत्तर:—जो अपने पक्षको त्यागकर सद्गुरुके चरणकी सेवा करता है, वह परमार्थ प्राप्त करता है। अर्थात् पूर्वमें सद्गुरुके योग होनेकी तो बात सय है, परन्तु वहाँ जीवने उस सद्गुरुको जाना ही नहीं, उसे पहिचाना ही नहीं, उसकी प्रतीति ही नहीं की, और उसके पास अपना मान और मत छोड़ा ही नहीं, और इस कारण उसे सद्गुरुका उपदेश लगा नहीं, और परमार्थकी प्राप्ति हुई नहीं। जीव इस तरह यदि अपने मत अर्थात् स्वच्छद और कुलुर्गर्भका आप्रह दूर कर सदुपदेशके ग्रहण करनेका अभिलाषी हुआ होता तो अन्त्य ही परमार्थको पा जाता।

आशका — यहाँ असद्गुरुसे दृढ़ कराये हुए द्रुवोंधसे अथवा मान आदिकी तीव्र कामनासे यह भी आशका हो सकती है कि ' कितने ही जीवोंका पूर्वमें कल्याण हुआ है, और उन्हें सद्गुरुके चरणकी सेवा किये बिना ही कल्याणकी प्राप्ति हो गई है। अथवा असद्गुरुसे भी कल्याणकी प्राप्ति होती है। असद्गुरुको भले ही स्वयं मार्गकी प्रतीति न हो, परन्तु वह दूसरेको उसे प्राप्त करा सकता है। अर्थात् दूसरा कोई उसका उपदेश सुनकर उस मार्गकी प्रतीति करे, तो परमार्थको पा सकता है। इसलिए सद्गुरुके चरणकी सेवा किये बिना भी परमार्थकी प्राप्ति हो सकती है '।

उत्तर — यद्यपि कोई जीव स्वयं विचार करते हुए बोधको प्राप्त हुए हैं—ऐसा शास्त्रमें प्रसंग आता है, परन्तु कहीं ऐसा प्रसंग नहीं आता कि अमुक जीवने असद्गुरुसे बोध प्राप्त किया है। अन्, किसीने स्वयं विचार करते हुए बोध प्राप्त किया है, ऐसा जो कहा है, उसमें शास्त्रोंके कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि 'सद्गुरुकी आज्ञासे चलनेसे जीवका कल्याण होता है, ऐसा हमने जो कहा है वह बात यथार्थ नहीं, ' अथवा सद्गुरुकी आज्ञाका जीवको कोई भी कारण नहीं है, यह कहनेके लिये भी वैसा नहीं कहा। तथा जीवोंने अपने विचारसे स्वयं ही बोध प्राप्त किया है, ऐसा जो कहा है, सो उन्होंने भी यद्यपि वर्तमान देहमें अपने विचारसे अथवा बोधसे ही ज्ञान प्राप्त किया है, परन्तु पूर्वमें वह विचार अथवा बोध सद्गुरुने ही उनके सम्मुख किया है, और उसीसे वर्तमानमें उसका स्फुरित होना संभव है। तथा तीर्थंकर आदिको जो स्वयंबुद्ध कहा है, सो उन्होंने भी पूर्वमें तीसरे भगवत् सद्गुरुसे ही निश्चय समकित प्राप्त किया है, ऐसा बताया है। अर्थात् जो स्वयंबुद्धपना कहा है वह वर्तमान देहकी अपेक्षासे ही कहा है, उस सद्गुरुके पदका निषेध करनेके लिये उसे नहीं कहा। और यदि सद्गुरु-पदका निषेध करें तो फिर तो 'सदेव, सद्गुरु और सद्गुरुकी प्रतितिके बिना समकित नहीं होता ' यह जो बताया है, वह केवल कथनमात्र ही हुआ।

अथवा जिस शास्त्रको तुम प्रमाण कहते हो, वह शास्त्र सद्गुरु जिनभगवान्का कहा हुआ है, इस कारण उसे प्रामाणिक मानना चाहिये ? अथवा वह किसी असद्गुरुका कहा हुआ है इस कारण उसे प्रामाणिक मानना चाहिये ? यदि असद्गुरुके शास्त्रोंको भी प्रामाणिक माननेमें बाधा न हो तो फिर अज्ञान और राग-द्वेषके सेवन करनेसे भी मोक्ष हो सकती है, यह कहनेमें भी कोई बाधा नहीं—यह विचारणीय है।

आचारांगसूत्रमें कहा है—

प्रथम श्रुतस्फुट, प्रथम अच्ययनको प्रथम उद्देशका यह प्रथम वाक्य है । क्या यह जीव पूर्वसे आया है, पश्चिमसे आया है, उत्तरसे आया है, दक्षिणसे आया है, ऊँचेसे आया है, या नीचेसे आया है, अथवा किसी दूसरी ही दिशासे आया है ? जो यह नहीं जानता वह भ्रम्यादीष्टि है, जो जानता है वह सम्बन्धीष्टि है । इसके जाननेके निम्न तीन कारण है —

(१) तीर्थंकरका उपदेश,

(२) सद्गुरुका उपदेश,

और (३) जातिस्मरण ज्ञान ।

यहाँ जो जातिस्मरण ज्ञान फल है वह भी पूर्वके उपदेशके सयोगसे ही कहा है, अर्थात् पूर्वमें उसे बोध होनेमें सद्गुरुकी असभाजना मानना योग्य नहीं । तथा जगह जगह जिनगममें ऐसा कहा है —

गुरुणो छद्राणु वच—गुरुकी आज्ञानुसार चलना चाहिये ।

गुरुकी आज्ञानुसार चलनेसे अन्त जीव सिद्ध हो गये हैं, सिद्ध होते हैं और सिद्ध होंगे । तथा किसी जीवने जो अपने विचारसे बोध प्राप्त किया है, उसमें भी प्रायः पूर्वमें सद्गुरुका उपदेश ही कारण होता है । परन्तु कदाचित् जहाँ ऐसा न हो वहाँ भी उस सद्गुरुका नित्य अभिलाषी रहते हुए, सद्बिचारमें प्रेरित होते हुए ही, उसने स्वविचारसे आत्मज्ञान प्राप्त किया है, ऐसा कहना चाहिये । अथवा उसे किसी सद्गुरुकी उपेक्षा नहीं है, और जहाँ सद्गुरुकी उपेक्षा रहती है, वहाँ मान होना समन है, और जहाँ सद्गुरुके प्रति मान हो वहाँ कल्याण होना कहा है, अर्थात् उसे सद्बिचारके प्रेरित करनेका आत्मगुण कहा है ।

उस तरहका मान आत्मगुणका अग्र्य घातक है । बाहुबलिजीमें अनेक गुण विद्यमान होते हुए भी 'अपनेसे छोटे अद्धानवे भाईयोंको वदन करनेमें अपनी लघुता होगी, इसलिये यहीं ध्यानमें स्थित हो जाना ठीक है'—ऐसा सोचकर एक वर्षतक निराहाररूपसे अनेक गुणसमुदायसे वे ध्यानमें अग्रस्थित रहे, तो भी उन्हें आत्मज्ञान नहीं हुआ । बाकी दूसरी तरहके प्रकारकी योग्यता होनेपर भी एक इस मानके ही कारण ही वह ज्ञान रुका हुआ था । जिस समय श्रीऋषभदेवसे प्रेरित प्राणी और सुदरी सतिमानके ही कारण ही वह ज्ञान रुका हुआ था । तथा बारह बारह महीनेतक निराहाररूपसे, एक लक्षसे, एक आसनेसे, घाती कर्मोंका मूल हो रहा था । तथा बारह बारह महीनेकी दशाको सफल न होने आत्मविचारमें रहनेवाले ऐसे पुरुषको इतनेसे मानने उस तरहकी बारह महीनेकी दशाको सफल न होने दिया, अर्थात् उस दशासे भी मान समझमें न आया, और जब सद्गुरु श्रीऋषभदेवने सूचना की कि 'वह मान है', तो वह मान एक मुहूर्तमें ही गल हो गया । यह भी सद्गुरुका ही माहात्म्य बताया है ।

तथा सम्पूर्ण मार्ग ज्ञानीकी ही आज्ञाओं समाविष्ट हो जाता है, ऐसा बारवार कहा है । आचारांगसूत्रमें कहा है कि । सुधर्मात्प्राप्ति जन्मपूर्वप्राप्तिको उपदेश करते हैं कि समस्त जगत्का जिसने दर्शन किया है, ऐसे गणाधीरभगवान्को दर्शन इस तरह फल है । गुरुके आधीन होकर चलनेवाले वेने अन्त पुरुष मार्ग पाकर मोक्ष पाते गये हैं ।

उत्तराख्ययन, सुयमदांग आदि में जगत् जगत् गदी फला है ।

आत्मज्ञान समदर्शिता, त्रिचरे उदयप्रयोग ।

अपूर्व वाणी परमश्रुत सद्गुरुलक्षण योग्य ॥१०॥

आत्मज्ञानमें जिनकी स्थिति है, अर्थात् परभावकी इच्छासे जो रहित हो गये हैं, तथा शत्रु, मित्र, हर्ष, शोक, नमस्कार, तिरस्कार आदि भावके प्रति जिन्हें समता रहती है, केवल पूर्वमें उत्पन्न हुए कर्मोंके उदयके कारण ही जिनकी विचरण आदि क्रियायें हैं, जिनकी वाणी अज्ञानीसे प्रत्यक्ष भिन्न है, और जो पददर्शनके तात्पर्यको जानते हैं—वे उत्तम सद्गुरु हैं ॥

स्वरूपस्थित इच्छारहित त्रिचरे पूर्वप्रयोग ।

अपूर्व वाणी परमश्रुत सद्गुरुलक्षण योग्य ॥

आत्मस्वरूपमें जिसकी स्थिति है, विषय और मान पूजा आदिकी इच्छासे जो रहित है, और केवल पूर्वमें उत्पन्न हुए कर्मके उदयसे ही जो विचरता है, अपूर्ण जिसकी वाणी है—अर्थात् जिसका उपदेश निज अनुभवसहित होनेके कारण अज्ञानीकी वाणीकी अपेक्षा भिन्न पड़ता है—और परमश्रुत अर्थात् पददर्शनका यथाव्ययसे जो जानकार है—वह योग्य सद्गुरु है ।

यहाँ 'स्वरूपस्थित' जो यह प्रथम पद कहा, उससे ज्ञान-दशा कही है। तथा जो 'इच्छारहितपना' कहा, उससे चारित्र्यदशा कही है। 'जो इच्छारहित होता है वह किस तरह विचर सकता है' इस आशकाकी यह कहकर निवृत्ति की है कि वह पूर्वप्रयोग अर्थात् पूर्वके बंधे हुए प्रारब्धसे विचरता है—विचरण आदिकी उसे कामना बाकी नहीं है। 'अपूर्व वाणी' कहनेसे वचनातिशयता कही है, क्योंकि उसके बिना मुमुक्षुका उपकार नहीं होता। 'परमश्रुत' कहनेसे उसे पददर्शनके अनिरुद्ध दशाका जानकार कहा है, इससे श्रुतज्ञानकी विशेषता दिखाई है।

आशका —वर्तमानकालमें स्वरूपस्थित पुरुष नहीं होता इसलिये जो स्वरूपस्थित विशेषणयुक्त सद्गुरु कहा है वह आजकल होना संभव नहीं।

समाधान —वर्तमानकालमें कदाचित् ऐसा कहा हो ता उसका अर्थ यह हो सकता है कि 'केवल-भूमिका'के सबंधमें ऐसी स्थिति असंभव है, परन्तु उससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि आत्म-ज्ञान ही नहीं होता, और जो आत्मज्ञान है वही स्वरूपस्थिति है।

आशका —आत्मज्ञान हो तो वर्तमानकालमें भी मुक्ति होनी चाहिये, और जिनागममें तो इसका निषेध किया है।

समाधान —इस वचनको कदाचित् एकातसे इसी तरह मान भी लें तो भी उससे एकान्तारी-पनेका निषेध नहीं होता, और एकान्तारीपना आत्मज्ञानके बिना प्राप्त होता नहीं।

आशका —त्याग-त्रैराग्य आदिकी उत्कृष्टतासे ही उसका एकान्तारीपना कहा होगा।

समाधान —परमार्थसे उत्कृष्ट त्याग-त्रैराग्यके बिना एकान्तारीपना होता ही नहीं, यह सिद्धांत है, और वर्तमानमें भी चौधे, पाँचवें और उठे गुणस्थानका कुछ भी निषेध नहीं, और चौधे गुणस्थानसे ही आत्मज्ञान संभव है। पाँचवें विशेष स्वरूपस्थिति होती है, उठेमें ब्रह्म अशसे स्वरूपस्थिति होती

है, यहाँ प्रीतिरित प्रमादके उदयमें कुछ योदीसी ही प्रमाद-दशा आ जाती है, परन्तु वह आमज्ञानकी रोपक नहीं, चारित्रकी ही रोपक है ।

आशका — यहाँ तो 'स्वरूपस्थित' पदका प्रयोग किया है, और स्वरूपस्थिति तो तेरहवें गुण-स्थानमें ही समान है ।

समाधान — स्वरूपस्थितिकी पराकाष्ठा तो चौरहवें गुणस्थानके अन्तमें होती है, क्योंकि नाम गोन आदि चार कर्मोंका यहाँ नाश हो जाता है । परन्तु उसके पहिले केवलीके चार कर्मोंका संग रहता है, इन कारण सम्पूर्ण स्वरूपस्थिति तेरहवें गुणस्थानमें भी कही जाती है ।

आशका — यहाँ नाम आदि कर्मोंके कारण अज्ञात स्वरूपस्थितिका नियंत्रण करे तो वह ठीक है । परन्तु स्वरूपस्थिति तो केवलज्ञानरूप है, इन कारण यहाँ स्वरूपस्थिति कहनेमें दोष नहीं है, और यहाँ तो यह है नहीं, इसलिये यहाँ स्वरूपस्थिति कैसे कही जा सकती है ?

समाधान — केवलज्ञानमें स्वरूपस्थितिका विशेष तारतम्य है, और चौथे, पाँचवें, छठे गुण-स्थानमें वह उसमें अन्य है—ऐसा पटा जाता है, परन्तु यहाँ स्वरूपस्थिति ही नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता । चौथे गुणस्थानमें मिथ्याचरित दशा होनेसे आत्मस्वभावका आविर्भाव है और स्वरूप-स्थिति है । पाँचवें गुणस्थानमें एकदेशसे चारित्र-घातक कर्मायोंके निरोध हो जानेसे, चौथेकी अपेक्षा आत्मस्वभावका विशेष आविर्भाव है, और छठेमें कर्मायोंके विशेष निरोध होनेसे सर्व चारित्रका उदय है, उससे यहाँ आत्मस्वभावका और भी विशेष आविर्भाव है । केवल इतनी ही बात है कि छठे गुणस्थानमें पूर्ण निरूपित कर्मके उदयसे कचित् प्रमत्त दशा रहती है, इस कारण यहाँ 'प्रमत्त सर्वचारित्र' कहा जाता है । परन्तु उसका स्वरूपस्थितिके निरोध नहीं है, क्योंकि यहाँ आत्मस्वभावका बाहुल्यतासे आविर्भाव है । तथा आगम भी ऐसा कहता है कि चौथे गुणस्थानके तेरहवें गुणस्थानतक आत्मप्रतीति समान ही है—यहाँ केवल ज्ञानके तारतम्यका ही भेद है ।

यदि चौथे गुणस्थानमें अशस्ते भी स्वरूपस्थिति न हो तो फिर मिथ्यात्व नाश होनेका फल ही क्या हुआ ? अर्थात् कुछ भी नहीं हुआ । जो मिथ्यात्व नष्ट हो गया वही आत्मस्वभावका आविर्भाव है, और वही स्वरूपस्थिति है । यदि सम्पत्तसे उस रूप स्वरूपस्थिति न होती, तो श्रेणिक आदिकों एकान्तारीपना कैसे प्राप्त होता ? यहाँ एक भी मत—प्रसवग्याणतक भी नहीं था, और यहाँ भव तो केवल एक ही नाकी रहा—ऐसा जो अन्य ससारीपना हुआ वही स्वरूपस्थितिरूप समकितका बल है । पाँचवें और छठे गुणस्थानमें चारित्रका विशेष बल है, और मुरत्यतासे उपदेशक-गुणस्थान तो छडा और तेरहवाँ है । नाकीके गुणस्थान उपदेशककी प्रवृत्ति कर सकने योग्य नहीं हैं, अर्थात् तेरहवें और छठे गुणस्थानमें ही वह स्वरूप रहता है ।

प्रत्यक्ष सद्वृत्त सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार ।

एवो लक्ष थया विना, उगे न आत्मविचार ॥ ११ ॥

जन्तक जीनको पूर्वकालीन जिनतीर्थकरोकी बातपर ही लक्ष रहा करता है, और वह उनके ही उपकारको गाया करता है, और जिससे प्रत्यक्ष आत्म-भातिका समाधान हो सके, ^{वेसे} सद्वृत्तका

समागम मिलनेपर भी, 'उसमें परोक्ष जिनभगवान्‌के वचनोंकी अपेक्षा भी महान् उपकार समाया हुआ है,' इस बातको नहीं समझता, तत्रतक उसे आत्म-विचार उत्पन्न नहीं होता ।

सद्गुरुना उपदेशवण, समजाय न जिनरूप ।

समज्यावण उपकार शो ? समज्ये जिनस्वरूप ॥ १२ ॥

सद्गुरुके उपदेशके बिना जिनका स्वरूप समझमें नहीं आता, और उस स्वरूपके समझमें आये बिना उपकार भी क्या हो सकता है ? यदि जीव सद्गुरुके उपदेशसे जिनका स्वरूप समझ जाय तो समझनेवालेकी आत्मा अन्तमें जिनकी दशाको ही प्राप्त करे ॥

सद्गुरुना उपदेशयी, समजे जिननु रूप ।

तो ते पामे निजदगा, जिन छे आत्मस्वरूप ।

पाम्या शुद्धस्वभायने, छे जिन तेथी पूज्य ।

समजो जिनस्वभाय तो, आत्मभायनो गुज्य ॥

सद्गुरुके उपदेशसे जो जिनका स्वरूप समझ जाता है, वह अपने स्वरूपकी दशाको प्राप्त कर लेता है, क्योंकि शुद्ध आत्मभाव ही जिनका स्वरूप है । अथवा राग द्वेष और अज्ञान जो जिनभगवान्‌में नहीं, वही शुद्ध आत्मपद है, और वह पद तो सत्तासे सत्र जीवोंको मौजूद है । वह सद्गुरु-जिनके अलम्बनसे और जिनभगवान्‌के स्वरूपके कथनसे मुमुक्षु जीवको समझमें आता है ।

आत्मादि अस्तित्वना, जेह निरूपक शास्त्र ।

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोग नहीं, त्यां आधार सुपात्र ॥ १३ ॥

जो जिनागम आदि आत्माके अस्तित्वके तथा परलोक आदिके अस्तित्वके उपदेश करनेवाले शास्त्र हैं वे भी, जहाँ प्रत्यक्ष सद्गुरुका योग न हो वहीं सुपात्र जीवको आधाररूप हैं, परन्तु उन्हे सद्गुरुके समान भाति दूर करनेवाला नहीं कहा जा सकता ।

अथवा सद्गुरुए कहाँ, जे अवगाहन काज ।

ते ते नित्य विचारवा, करी मतांतर त्याज ॥ १४ ॥

अथवा यदि सद्गुरुने उन शास्त्रोंके विचारनेकी आज्ञा दी हो, तो उन शास्त्राक्तो, मतांतर अर्थात् कुलधर्मके सार्थक करनेके हेतु आदि भ्रातिको छोड़कर, केवल आत्मार्थके लिये ही नित्य विचारना चाहिये ।

रोके जीव स्वच्छद तो, पामे अवश्य मोक्ष ।

पाम्या एम अनत छे, भाय्यु जिन निर्दोष ॥ १५ ॥

जीव अनादिकालसे जो अपनी चतुराईसे और अपनी इच्छासे चलता आ रहा है, इसका नाम स्वच्छंद है । यदि वह इस स्वच्छंदकी रोक, तो वह जरूर मोक्षको पा जाय, और इस तरह भूतकालमें अनत जीवोंने मोक्ष पाया है—ऐसा राग द्वेष और अज्ञानमेंसे जिनके एक भी दोष नहीं, ऐसे निर्दोष वीतरागने कहा है ।

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगधी, स्वच्छन्द ते रोकाय ।

अन्य उपाय कर्मा थकी, प्राये वमणो धाय ॥ १६ ॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुके योगसे वह स्वच्छन्द रुक जाता है, नहीं तो अपनी इच्छासे दूसरे अनेक उपाय करनेपर भी प्राय करके वह दुगुना ही होता है ।

स्वच्छन्द मत आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष ।

समकित तेने भाखियु, कारण गणी प्रत्यक्ष ॥ १७ ॥

स्वच्छन्द तथा अपने मतके आग्रहको छोड़कर जो सद्गुरुके लक्षसे चलना है, उसे समकितका प्रत्यक्ष कारण समझकर वीतरागने 'समकित' कहा है ।

मानादिक शत्रु महा, निजछदे न मराय ।

जाता सद्गुरुशरणमा, अल्प प्रयासे जाय ॥ १८ ॥

मान और पूजा सत्कार-आदिका लोभ इत्यादि जो महाशत्रु है, वे अपनी चतुराईसे चलनेसे नाश नहीं होते, और सद्गुरुकी शरणमें जानेसे वे थोड़ेसे प्रयत्नसे ही नाश हो जाते हैं ।

जे सद्गुरुउपदेशधी, पाम्यो केवलज्ञान ।

गुरु रखा छत्रस्थ पण, विनय करे भगवान ॥ १९ ॥

जिस सद्गुरुके उपदेशसे जिसने केवलज्ञानको प्राप्त किया हो, और वह सद्गुरु अभी छत्रस्थ ही हो, तो भी जिसने केवलज्ञान पा लिया है, ऐसे केवली भगवान् भी अपने छत्रस्थ सद्गुरुका वैयावृत्य करते हैं ।

एवो मार्ग विनय तणो, भाख्यो श्रीवीतराग ।

मूल हेतु ए मार्गनो, समझे कोई सुभाग्य ॥ २० ॥

इस तरह श्रीजिनभगवान्ने विनयके मार्गका उपदेश दिया है । इस मार्गका जो मूल हेतु है— अर्थात् उससे आत्माका क्या उपकार होता है—उसे कोई ही भाग्यशाली अर्थात् सुलभ-बोधी अथवा आरावक जीव ही समझ पाता है ।

असद्गुरु ए विनयनो, लाभ लहे जो काइ ।

महामोहिनी कर्मधी, बूढे भवजल माहि ॥ २१ ॥

यह जो विनय-मार्ग कहा है, उसे शिष्य आदिसे करानेकी इच्छासे, जो कोई भी असद्गुरु अपनेमें सद्गुरुकी स्थापना करता है, वह महामोहिनीय कर्मज्ञा उपार्जन कर मनसमुद्रमें डूबता है ।

हाय मुमुक्षु जीव ते, समजे एह विचार ।

हाय मतार्थी जीव ते, अवळो ले निर्धार ॥ २२ ॥

जो मोक्षार्थी जीव होता है वह तो इस विनय-मार्ग आदिके विचारको समझ लेता है, किन्तु जो मतार्थी होता है वह उसका उल्टा ही निश्चय करता है । अर्थात् या तो वह स्वयं उस विनयको किसी शिष्य आदिसे कराता है, अथवा असद्गुरुके सद्गुरुकी भांति रख स्वयं इस विनय-मार्गका उपयोग करता है ।

होय मतार्थी तेहने, थाय न आतमलक्ष ।

तेह मतार्थिलक्षणो, अहीं कहां निर्पक्ष ॥ २३ ॥

जो मतार्थी जीव होता है, उसे आत्मज्ञानका लक्ष नहीं होता । ऐसे मतार्थी जीवके यहाँ निष्पक्ष होकर लक्षण कहते हैं ।

मतार्थीके लक्षणः—

वाह्य त्याग पण ज्ञान नहीं, ते माने गुरु सत्य ।

अथवा निजकुलधर्मना, ते गुरुमां ज ममत्व ॥ २४ ॥

जो केवल बाह्यसे ही त्यागी दिखाई देता है, परन्तु जिसे आत्मज्ञान नहीं, और उपलक्षणसे जिसे अतरंग त्याग भी नहीं है, ऐसे गुरुको जो सद्गुरु मानता है, अथवा अपने कुलधर्मका चाहे कैसा भी गुरु हो, उसमें ममत्व रखता है—वह मतार्थी है ।

जे जिनदेहप्रमाणने, समवसरणादि सिद्धि ।

वर्णन समजे जिननुं, रोकी रहे निजबुद्धि ॥ २५ ॥

जिनभगवान्की देह आदिका जो वर्णन है, जो उसे ही जिनका वर्णन समझता है, और वे अपने कुलधर्मके देव हैं, इसलिये अहभावके कल्पित रागसे जो उनके समवसरण आदि माहात्म्यको ही गाया करता है, और उसीमें अपनी बुद्धिको रोके रहता है—अर्थात् परमार्थ-हेतुस्वरूप ऐसे जिनका जो जानने योग्य अतरंग स्वरूप है उसे जो नहीं जानता, तथा उसे जाननेका प्रयत्न भी नहीं करता, और केवल समवसरण आदिमें ही जिनका स्वरूप बताकर मतार्थमें प्रसन्न रहता है—वह मतार्थी है ।

प्रत्यक्ष सद्गुरुर्योगमा वरें दृष्टि विमुख ।

असद्गुरुने दृढ करे, निजमानार्थे मुख्य ॥ २६ ॥

प्रत्यक्ष सद्गुरुका कभी योग मिले भी तो दुराग्रह आदिके नाश करनेवाली उनकी वाणी सुनकर, जो उससे उल्टा ही चलता है, अर्थात् उस हितकारी वाणीको जो ग्रहण नहीं करता, और 'वह स्वयं सच्चा दृढ मुमुक्षु है,' इस मानको मुख्यरूपसे प्राप्त करनेके लिये ही असद्गुरुके पास जाकर, जो स्वयं उसके प्रति अपनी विशेष दृढ़ता बताता है—वह मतार्थी है ।

देवादि गति भगमा, जे समजे श्रुतज्ञान ।

माने निज मतवेपनो, आग्रह मुक्तिनिदान ॥ २७ ॥

देव नरक आदि गतिके 'भग' आदिका जो स्वरूप किसी विशेष परमार्थके हेतुसे कहा है, उस हेतुको जिसने नहीं जाना, और उस भगजालको ही जो श्रुतज्ञान समझता है, तथा अपने मतका—वेपका—आग्रह रखनेको ही मुक्तिका कारण मानता है—वह मतार्थी है ।

लह्यं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्यं व्रत अभिमान ।

ग्रहे नहीं परमार्थने लेवा लौकिक मान ॥ २८ ॥

वृत्तिका स्वरूप क्या है ? उसे भी जो नहीं जानता, और 'मैं व्रतधारी हूँ' ऐसा अभिमान जिसने धारण कर रक्खा है । तथा यदि कभी परमार्थके उपदेशका योग बने भी, तो 'लोकमें जो अपना मान और पूजा सत्कार आदि हैं वह चला जायगा, अथवा वे मान आदि फिर पीछेसे प्राप्त न होंगे'—ऐसा समझकर, जो परमार्थको ग्रहण नहीं करता—वह मतार्थी है ।

अथवा निश्चयनय ग्रहे, मात्र शब्दनी मांय ।

लोपे सद्व्यवहारने, साधनरहित थाय ॥ २९ ॥

अथवा समयसार या योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थोंको बाँचकर जो केवल निश्चयनयको ही ग्रहण करता है । किस तरह ग्रहण करता है ? मात्र कथनरूपसे ग्रहण करता है । परन्तु जिसके अतरंगमें तथारूप गुणकी कुछ भी स्पर्शना नहीं, और जो सद्व्यवहार, सत्शास्त्र तथा वैराग्य, विवेक आदि सद्व्यवहारका लोप करता है, तथा अपने आपको ज्ञानी मानकर जो साधनरहित आचरण करता है—वह मतार्थी है ।

ज्ञानदशा पाम्यो नहीं, साधनदशा न काँइ ।

पामे तेनो सग जे, ते बुँडे भव माँहि ॥ ३० ॥

वह जीव ज्ञान-दशाको नहीं पाता, और इसी तरह वैराग्य आदि साधन-दशा भी उसे नहीं हैं । इस कारण ऐसे जीवका यदि किसीदूसरे जीवको सयोग होजाय तो वह जीव भी भय-सागरमें डूब जाता है ।

ए पण जीव मतार्थमां निजमानादि काज ।

पामे नहीं परमार्थने, अनधिकारिमां ज ॥ ३१ ॥

यह जीव भी मतार्थमें ही रहता है । क्योंकि ऊपर कहे अनुसार जीवको जिस तरह कुलधर्म आदिसे मतार्थता रहती है, उसी तरह इसे भी अपनेको ज्ञानी मनानेके मानकी इच्छासे अपने शुष्क मतका आग्रह रहता है । इसलिये वह भी परमार्थको नहीं पाता, और इस कारण वह भी अनधिकारी अर्थात् जिसमें ज्ञान प्रवेश होने योग्य नहीं, ऐसे जीवोंमें गिना जाता है ।

नहीं कपाय उपशातता, नहीं अतर्वैराग्य ।

सरळपणु न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्य ॥ ३२ ॥

जिसकी क्रोध, मान, माया और लोभरूप कपाय कृश नहीं हुई, तथा जिसे अतर्वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ, जिसे आत्मामें गुण ग्रहण करनेरूप सरळता नहीं है, तथा सत्य असत्यकी तुलना करनेकी जिसे पक्षपातरहित दृष्टि नहीं है, वह मतार्थी जीव भाग्यहीन है । अर्थात् जन्म, जरा, मरणका छेदन करनेवाले मोक्षमार्गके प्राप्त करने योग्य उसका भाग्य ही नहीं है, ऐसा समझना चाहिये ।

लक्षण कथां मतार्थीनां, मतार्थ जात्रा काज ।

हवे कहु आत्मार्थीनां, आत्म-अर्थ सुखसाज ॥ ३३ ॥

इस तरह मतार्थी जीवके लक्षण कहे । उसके कहनेका हेतु यही है कि जिससे उन्हें जानकर जीवोंका मतार्थ दूर हो । अब आत्मार्थी जीवके लक्षण कहते हैं । वे लक्षण कैसे हैं ? कि आत्माको अन्यात्राध सुखकी सामग्रीके हेतु हैं ।

आत्मार्थीके लक्षण—

आत्मज्ञान त्यां मुनिपणु, ते साचा गुरु होय ।

* वाकी कुळगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहीं जोय ॥ ३४ ॥

जहाँ आत्म-ज्ञान हो वहाँ मुनिपना होता है, अर्थात् जहाँ आत्म-ज्ञान नहीं वहाँ मुनिपना समव

नहीं है। ज समति पासह त मोर्णति पासह—जहाँ समकित अर्थात् आत्मज्ञान हे वहीं मुनिपना समझो, ऐसा आचारागमूत्रमें कहा है। अर्थात् आत्मार्थी जीव ऐसा समझता है कि जिसमें आत्मज्ञान हो वही सच्चा गुरु है, और जो आत्मज्ञानसे रहित हो एमे अपने कुलके गुरुको सदगुरु मानना—यह मात्र कल्पना है, उससे कुछ ससारका नाश नहीं होता।

प्रत्यक्ष सदगुरुमाप्तिनो, गणे परम उपकार।

त्रणे योग एकत्वर्था, वर्त आज्ञाधार ॥ ३५ ॥

वह प्रत्यक्ष सदगुरुकी प्राप्तिका महान् उपकार समझता है, अर्थात् शास्त्र आदिसे जो समाधान नहीं हो सकता, और जो दोष सदगुरुकी आज्ञा धारण किये बिना दूर नहीं होते, उनका सदगुरुके योगसे समाधान हो जाता है, और वे दोष दूर हो जाते हैं। इसलिये प्रत्यक्ष सदगुरुका वह महान् उपकार समझता है, और उस सदगुरुके प्रति मन वचन और कायाकी एकतासे आज्ञापूर्वक चलता है।

एक होय त्रण कालमां, परमार्थनो पंथ।

त्रे ते परमार्थने, ते व्यवहार समत ॥ ३६ ॥

तीनों कालमें परमार्थका पथ अर्थात् मोक्षका मार्ग एक ही होना चाहिये, और जिससे वह परमार्थ सिद्ध हो, वह व्यवहार जीवको मान्य रखना चाहिये, दूसरा नहीं।

एव विचारी अतरे, शोधे सदगुरुयोग ॥

काम एक आत्मार्थनु, जीवो नहीं मनरोग ॥ ३७ ॥

इस तरह अतरमें विचारकर जो सदगुरुके योगकी शोष करता है, केवल एक आत्मार्थकी ही इच्छा रखता है, मान पूजा आदि ऋद्धि-सिद्धिकी कुछ भी इच्छा नहीं रखता—यह रोग जिसके मनमें ही नहीं है—यह आत्मार्थी है।

कपायनी उपशातता, मात्र मोक्ष-अभिलाष।

भवे खेट प्राणी-दया, त्या आत्मार्थ निवास ॥ ३८ ॥

कपाय जहाँ क्रुश पड़ गई है, केवल एक मोक्ष-पदके सिंगय जिसे दूसरे किसी पदकी अभिलाषा नहीं, ससारपर जिसे वैराग्य रहता है, और प्राणीमात्रके ऊपर जिसे दया है—ऐसे जीवमें आत्मार्थका निवास होता है।

दशा न एवी ज्यासुधी, जीव लहे नहीं जोग्य।

मोक्षमार्ग पापे नहीं, मटे न अतरोग ॥ ३९ ॥

जत्रतक ऐसी योग-दशाको जीव नहीं पाता, तत्रतक उसे मोक्षमार्गकी प्राप्ति नहीं होती, और आत्म-भक्तिरूप अनत दुःखका हेतु अतर-रोग नहीं मिटता।

आवे ज्यां एवी दशा, सदगुरुबोध मुहाय।

ते बोधे सुविचारणा, त्या प्रगटे सुखदाय ॥ ४० ॥

जहाँ ऐसी दशा होती है, वहाँ सदगुरुका बोध शोभाको प्राप्त होता है—फलीभूत होता है, और उस बोधके फलीभूत होनेसे सुखदायक सुविचारदशा प्रगट होती है।

ज्या प्रगटे सुविचारणा, त्या प्रगटे निजज्ञान ।

जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पापे पद निर्माण ॥ ४१ ॥

जहाँ सुविचार-दशा प्रगट हो, वहीं आमज्ञान उत्पन्न होता है, ओर उस ज्ञानसे मोहका क्षय कर आत्मा निर्वाण-पदको प्राप्त करती है ।

उपजे ते सुविचारणा, मोक्षमार्ग समजाय ।

गुरुशिष्यसवादधी, भारु पदपद आंहि ॥ ४२ ॥

जिससे सुविचार-दशा उत्पन्न हो, ओर मोक्ष-मार्ग समझमें आ जाय, उस विषयको यहाँ पद-पदरूपसे गुरु शिष्यके सनादरूपमें कहता हूँ ।

पदपदनामरूथन—

आत्मा छे, ते नित्य छे, छे कर्ता निजरूम ।

छे भोक्ता, वळी मोक्ष छे, मोक्ष उपाय सुधर्म ॥ ४३ ॥

‘आमा हे’, ‘वह आत्मा नित्य है’, वह आत्मा अपने कर्मकी कर्ता है’, ‘वह कर्मकी भोक्ता है’, ‘उममें मोक्ष होती है’, और ‘उस मोक्षका उपायरूप सत्वधर्म है ।*

पदस्थानरु सक्षेपमां पददर्शन पण तेह ।

समजावा परमार्थने, कळा ज्ञानीए एह ॥ ४४ ॥

ये उह स्थानक अधवा छह पद यहाँ सक्षेपमें कहे हं, आर विचार करनेसे पददर्शन भी यही है । परमार्थ समझनेके लिये ज्ञानी-पुरुषने ये छह पद कहे है ।

१ शका-गिष्य उराच—

शिष्य आत्माके अस्तित्वरूप प्रथम स्थानकोके विषयमें शका करता है —

नथी दृष्टिमा आवतो, नथी जणातु रूप ।

नीजो पण अनुभन नही, तेथी न जीवस्वरूप ॥ ४५ ॥

वह दृष्टिमें नहीं आता, ओर उसका कोई रूप भी मालूम नहीं होता । तथा स्पर्श आदि दूसरे अनुभवमें भी उसका ज्ञान नहीं होता, इसलिये जीवका निजरूप नहीं है, अर्थात् जीव नहीं है ।

अथवा देह ज आतमा, अथवा इन्द्रिय प्राण ।

मिथ्या जूढो मानवो, नही जूढु एधाण ॥ ४६ ॥

अथवा जो देह ह वही आत्मा है, अथवा जो इन्द्रियाँ हे वही आत्मा ह, अथवा श्वासोच्छ्वास ही आत्मा है, अर्थात् ये सब एक एक करके देहस्वरूप हैं, इसलिये आत्माको भिन्न मानना मिथ्या ह । क्योंकि उसका कोई भी भिन्न चिह्न दिखाई नहीं देता ।

१ उपाध्याय यशोविन्धयजीने ‘सम्यक्त्वना पदस्थान स्वरूपनी चोपाद’ क नामसे गुजरातीमें १२५ चौपाईयें लिखी हैं । उसमें जिस गायार्थे सम्यक्त्वके पदस्थानरु बताये हैं, वह गायार्थ निम्नरूपमें है —

अत्थि जीवो तथा गिचो, कत्ता मुत्ताय पुण्णपाणा ।

अत्थि धुव गिचाण तस्सोवाओ अ छट्ठाणा ॥

* इसके विस्तृत विवेचनके लिये देखो अक न० ४०६

—अनुवादक

वृत्ती जो आतमा होय तो, जणाय ते नहीं जेम ।

जणाय जो ते होय तो, घटपट आदि जेम ॥ ४७ ॥

और यदि आत्मा हो तो वह मादम क्यों नहीं होती ? जैसे घट पट आदि पदार्थ मीजुद हैं, और वे मादम होते हैं, उसी तरह यदि आत्मा हो तो वह क्यों मादम नहीं होती ?

माँटे छे नहीं आतमा, मिथ्या मोक्षउपाय ।

ए अंतर शंकातणो, समजावो सदुपाय ॥ ४८ ॥

अतएव आत्मा नहीं है, और आत्मा नहीं, इसलिये उसके मोक्षके लिये उपाय करना भी व्यर्थ है—इस मेरी अतरकी शकाका कुछ भी सदुपाय हो तो कृपा करके मुझे समझाइये—अर्थात् इसका कुछ समाधान हो तो कहिये ।

समाधान—सद्गुरु उवाच—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्माका अस्तित्व हे —

भास्यो देहाध्यासधी, आत्मा देहसमान ।

पण ते वन्ने भिन्न छे, प्रगटलक्षणे भान ॥ ४९ ॥

देहायाससे अर्थात् अनादिकालके अज्ञानके कारण देहका परिचय हो रहा है, इस कारण तुझे आत्मा देह जैसी अर्थात् आत्मा देह ही भासित होती है । परन्तु आत्मा और देह दोनों भिन्न भिन्न हैं, क्योंकि दोनों ही भिन्न भिन्न लक्षणपूर्वक प्रगट देखनेमें आते हैं ।

भास्यो देहाध्यासधी, आत्मा देहसमान ।

पण ते वन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ॥ ५० ॥

अनादिकालके अज्ञानके कारण देहके परिचयसे देह ही आत्मा भासित हुई है, अथवा देहके समान ही आत्मा भासित हुई है । परन्तु जिस तरह तलवार और म्यान दोनों एक म्यानरूप मादम होते हैं फिर भी दोनों भिन्न भिन्न हैं, उसी तरह आत्मा और देह दोनों भिन्न भिन्न हैं ।

जे द्रष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप ।

अवाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीवस्वरूप ॥ ५१ ॥

वह आत्मा, दृष्टि अर्थात् आँखसे केमे दिखाई दे सकती है ? क्योंकि उल्टी आत्मा ही आँखको देखनेवाली है । जो स्थूल सूक्ष्म आदिके स्वरूपको जानता है, और सत्रमें किसी न किसी प्रकारकी बाधा आती है परन्तु जिसमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आ सकती, ऐसा जो अनुभन है, वही जीवका स्वरूप है ।

छे इन्द्रिय प्रत्येकने, निज निज विषयनु ज्ञान ।

पाँच इन्द्रिया विषयनु, पण आत्माने भान ॥ ५२ ॥

जो कर्णेन्द्रियसे सुना जाता है उसे कर्णेन्द्रिय जानती है, उसे चक्षु इन्द्रिय नहीं जानती, और जो चक्षु इन्द्रियसे देखा जाता है उसे कर्णेन्द्रिय नहीं जानती । अर्थात् सत्र इन्द्रियोंको अपने अपने विषयका ही ज्ञान होता है, दूसरी इन्द्रियोंके विषयका ज्ञान नहीं होता, और आत्मानो तो पाँचों इन्द्रियोंके

विषयका ज्ञान होता है अर्थात् जो उन पाँच इन्द्रियोंसे ग्रहण किये हुए विषयको जानता है, वह आत्मा है, और ऐसा जो कदा है कि आत्माके विना प्रत्येक इन्द्रिय एक एक विषयको ग्रहण करती है, वह केवल उपचारसे ही कदा है ।

देह न जाणे तेहने, जाणे न इन्द्रिय माण ।

आत्मानी सचावढे, तेह प्रवर्ते जाण ॥ ५३ ॥

उसे न तो देह जानती है, न इन्द्रियों जानती है, और न चासोच्छ्वासरूप प्राण ही उसे जानता है । वे सब एक आत्माकी सचासे ही प्रवृत्ति करते हैं, नहीं तो वे जड़रूप ही पड़े रहते हैं—तु ऐसा समझ ।

सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय ।

प्रगटरूप चैतन्यमय, ए एषाणं सदाय ॥ ५४ ॥

जामत स्वप्न और निद्रा अवस्थाओंमें रहनेपर भी वह उन सब अवस्थाओंसे भिन्न रहा करता है, और उन सब अवस्थाओंके घात जानेपर भी उसका अस्तित्व रहता है । वह उन सब अवस्थाओंको जाननेवाला प्रगटरूप चैतन्यमय है, अर्थात् जानते रहना ही उसका स्पष्ट स्वभाव है, और उसकी यह निशानी सदा ही रहती है—उस निशानीका कभी भी नाश नहीं होता ।

घट पट आदि जाण तु, तेथी तेने मान ।

जाणनार ते मान नहीं, कहिये केहु ज्ञान ? ॥ ५५ ॥

घट पट आदिकी तु स्वय ही जानता है, और तु समझता है कि वे सब मौजूद हैं, तथा जो घट पट आदिका जाननेवाला है, उसे तु मानता नहीं—तो उस ज्ञानको फिर कैसा कहा जाय ?

परमवुद्धि रूप देहमां, स्थूल देह मति अल्प ।

देह होय जो आत्मा, घटे न आम विकल्प ॥ ५६ ॥

दुर्बल देहमें तीक्ष्ण बुद्धि और स्थूल देहमें अल्प बुद्धि देखनेमें आती है । यदि देह ही आत्मा हो तो इस शका—विरोध—के उपस्थित होनेका असर ही नहीं आ सकता ।

जड चेतननो भिन्न छे, केवल प्रगट स्वभाव ।

एरूपणु पामे नहीं, व्रणे काळ द्वय भाव ॥ ५७ ॥

किसी कालमें भी जिसमें जाननेका स्वभाव नहीं वह जड़ है, आर जो सदा ही जाननेके स्वभावसे युक्त है वह चेतन है—इस तरह दोनोंका सर्वाथा भिन्न भिन्न स्वभाव है, और वह किसी भी प्रकार एक नहीं हो सकता । तीनों कालमें जड़ जड़रूपसे और चेतन चेतनरूपसे ही रहता है । इस तरह दोनोंका ही भिन्न भिन्न द्वैतभाव स्पष्ट अनुभवमें आता है ।

आत्मानी शका करे, आत्मा पोते आप ।

शकानो करनार ते, अचरज एह अमाप ॥ ५८ ॥

*आत्मा स्वय ही आत्माकी शका करती है । परन्तु जो शका करनेवाला है वही आत्मा है—इस बातको आत्मा जानती नहीं, यह एक असीम आश्चर्य है ।

* शंकराचार्यकी भी आत्माके अस्तित्वमें यही प्रसिद्ध युक्ति है—

सर्वो हि आत्मस्तित्वम् प्रत्येति, न तादमस्मीति । य एव हि निराकता तदेव तस्य स्वरूपम् ।

प्राप्सके विचारक डेकार्टे (Descartes) ने भी यही लिखा है—*cogito ergo sum—I am because I exist*—अर्थात् मैं हूँ क्योंकि मैं मौजूद हूँ । —अनुवादक ।

२ शका—शिष्य उवाच—

शिष्य कहता है कि आत्मा नित्य नहीं है—

आत्माना अस्तित्वना, आपे कथा प्रकार ।

संभव तेनो थाय छे, अतर कर्ये विचार ॥ ५९ ॥

आत्माके अस्तित्वमें आपने जो जो बातें कही, उनका अतरगमें विचार करनेसे वह अस्तित्व तो सभन माळूम होता है ।

वीजी शका थाय त्यां, आत्मा नहीं अविनाश ।

देहयोगथी उपजे, देहवियोगे नाश ॥ ६० ॥

परन्तु दूसरी शका यह होती है कि यदि आत्मा है तो भी वह अविनाशी अर्थात् नित्य नहीं है । वह तीनों कालमें रहनेवाला पदार्थ नहीं, वह केवल देहके सयोगसे उत्पन्न होती है और उसके वियोगसे उसका नाश हो जाता है ।

अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय ।

ए अनुभवयी पण नहीं, आत्मा नित्य जणाय । ॥ ६१ ॥

अथवा वस्तु क्षण क्षणमें बदलती हुई देखनेमें आती है, इसलिये सब वस्तु क्षणिक हैं, और अनुभवसे देखनेसे भी आत्मा नित्य नहीं माळूम होती ।

समाधान—सद्गुरु उवाच —

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्मा नित्य है—

देह मात्र सयोग छे, वळी जडरूपी दृश्य ।

चेतननां उत्पत्ति लय, कोना अनुभव वश्य ? ॥ ६२ ॥

समस्त देह परमाणुके सयोगसे बनी है, अथवा सयोगसे ही आत्माके साथ उसका सन्ध है । तथा वह देह जड़ है, रूपी है और दृश्य अर्थात् दूसरे किसी द्रष्टाके जाननेका विषय है, इसलिये जब वह अपने आपको भी नहीं जानती तो फिर चेतनकी उत्पत्ति और नाशको तो वह कहाँसे जान सकती है ? उस देहके एक एक परमाणुका विचार करनेसे भी वह जड़ ही समझमें आती है । इस कारण उसमेंसे चेतनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, और जब उसमें उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तो उसके साथ चेतनका नाश भी नहीं हो सकता । तथा वह देह रूपी अर्थात् स्थूल आदि परिणामगाली है, और चेतन द्रष्टा है, फिर उसके सयोगसे चेतनकी उत्पत्ति किस तरह हो सकती है ? और उसके साथ उसका नाश भी कैसे हो सकता है ? तथा देहमेंसे चेतन उत्पन्न होता है, और उसके साथ ही वह नाश हो जाता है, यह बात किसके अनुभवके आधीन है ? अर्थात् इस बातको कौन जानता है ? क्योंकि जाननेवाले चेतनकी उत्पत्ति देहसे प्रथम तो होती नहीं, और नाश तो उससे पहिले ही हो जाता है । तो फिर यह अनुभव किसे होता है ? ॥

आशका — जीवका स्वरूप अविनाशी अर्थात् नित्य त्रिकालवर्ती होना सभन नहीं । वह देहके योगसे अर्थात् देहके जन्मके साथ ही पैदा होता है, और देहके वियोग अर्थात् देहके नाश होनेपर वह नाश हो जाता है ।

समाधान — देहका जीवके साथ मात्र सयोग सबध है। वह कुछ जीवके मूल स्वरूपके उत्पन्न होनेका कारण नहीं। अथवा जो देह है वह केवल सयोगसे ही उत्पन्न पदार्थ है, तथा वह जड़ है अर्थात् वह किसीको भी नहीं जानती, और जब वह अपनेको ही नहीं जानती तो फिर दूसरेको तो वह क्या जान सकती है? तथा देह रूपी है—स्थूल आदि स्वभावयुक्त है, और चतुका नियम है। जब स्वयं देहका ही ऐसा स्वरूप है तो वह चेतनकी उत्पत्ति और नाशको किस तरह जान सकती है? अर्थात् जब वह अपनेको ही नहीं जानती तो फिर 'मेरेसे यह चेतन उत्पन्न हुआ है,' इसे कैसे जान सकती है? और 'मेरे छूट जानेके पश्चात् यह चेतन भी छूट जायगा—नाश हो जायगा'—इस बातको जड़ देह कैसे जान सकती है? क्योंकि जाननेवाला पदार्थ ही तो जाननेवाला रहता है—देह तो कुछ जाननेवाला ही नहीं सकता, तो फिर चेतनकी उत्पत्ति और नाशके अनुभवको किसके आधीन कहना चाहिये?

यह अनुभव देहके आधीन तो कहा जा सकता नहीं। क्योंकि वह प्रत्यक्ष जड़ है, और उसके जड़त्वको जाननेवाला उससे भिन्न कोई दूसरा ही पदार्थ समझना आता है।

कदाचित् यह कहें कि चेतनकी उत्पत्ति और नाशको चेतन ही जानता है, तो इस बातके बोझमें ही श्ममें त्राग आती है। क्योंकि फिर तो चेतनकी उत्पत्ति और नाश जाननेवालेके रूपमें चेतनका ही अगीकार करना पड़ा, अर्थात् यह वचन तो मात्र अपमिद्वातरूप और कथनमात्र ही हुआ। जैसे कोई कहे कि 'मेरे मुँहमें जीभ नहीं,' उसी तरह यह कथन है कि 'चेतनकी उत्पत्ति और नाशको चेतन जानता है, इसलिये चेतन नित्य नहीं।' इस प्रमाणकी कैसी यथार्थता है, उसे तो तुम ही विचार कर देखो।

जेना अनुभव वश्य ए, उत्पन्न लयनु ज्ञान।

ते तेषी जूदा विना, याय न केमे भान ॥ ६३ ॥

जिसके अनुभवमें इस उत्पत्ति और नाशका ज्ञान रहता है, उस ज्ञानको उससे भिन्न माने विना, यह ज्ञान किसी भी प्रकारसे समझ नहीं। अर्थात् चेतनकी उत्पत्ति और नाश होता है, यह किसीके भी अनुभवमें नहीं आ सकता ॥

देहकी उत्पत्ति और देहके नाशका ज्ञान जिसके अनुभवमें रहता है, वह उस देखे यदि जुदा न हो तो किसी भी प्रकारसे देहकी उत्पत्ति और नाशका ज्ञान नहीं हो सकता। अथवा जो जिसकी उत्पत्ति और नाशको जानता है वह उससे जुदा ही होता है, और फिर तो वह स्वयं उत्पत्ति और नाशरूप न ठहरा, परन्तु उसके जाननेवाला ही ठहरा। इसलिये फिर उन दोनोंकी एकता कैसे हो सकती है?

जे सयोगो देखिये, ते ते अनुभव दश्य।

उपजे नहीं संयोगधी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥ ६४ ॥

जो जो सयोग हम देखते हैं, वे सब अनुभवरूप आत्माके दृश्य होते हैं, अर्थात् आत्मा उन्हें जानती है, और उन सयोगोंके स्वरूपका विचार करनेसे ऐसा कोई भी सयोग समझमें नहीं आता जिससे आत्मा उत्पन्न होती हो। इसलिये आत्मा सयोगसे अनुत्पन्न है अर्थात् वह असयोगी है—स्वाभाविक पदार्थ है—इसलिये वह स्पष्ट 'नित्य' समझमें आती है ॥

जो जो देह आदि सयोग दिखाई देने हैं वे सब अनुभवस्वरूप आत्माके ही दृश्य है, अर्थात्

आत्मा ही उन्हें देखने और जाननेवाली है। उन सब सयोगोंका विचार करके देखो तो तुम्हें किसी भी सयोगसे अनुभवस्वरूप आत्मा उत्पन्न हो सकने योग्य मात्रस न होगी।

कोई भी सयोग ऐसे नहीं जो तुम्हें जानते हों, और तुम तो उन सब सयोगोंको जानते हो, इसीसे तुम्हारा उनसे भिन्नता, और असयोगीपना—उन संयोगोंसे उत्पन्न न होना—सहज ही सिद्ध होता है, और अनुभवमें आता है। उससे—किसी भी सयोगसे—जिसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, कोई भी सयोग जिसका उत्पत्तिके लिये अनुभवमें नहीं आ सकता, और जिन सयोगोंकी हम कल्पना करें उससे जो अनुभव भिन्न—सर्वाथा भिन्न—केवल उसके ज्ञातारूपसे ही रहता है, उस अनुभवस्वरूप आत्माको तुम नित्य स्पर्शरहित—जिसने उन सयोगोंके भावरूप स्पर्शको प्राप्त नहीं किया—समझो।

जडथी चेतन उँपजे, चेतनथी जड थाय।

एवो अनुभव कोईने, क्यारे कदी न थाय ॥ ६५ ॥

जडसे चेतन उत्पन्न होता है और चेतनसे जड़ उत्पन्न होता है, ऐसा किसीको कभी भी अनुभव नहीं होता।

कोइ सयोगी नहीं, जेनी उत्पत्ति थाय।

नाश न तेनो कोईमा, तेथी नित्य सदाय ॥ ६६ ॥

जिसकी उत्पत्ति किसी भी सयोगसे नहीं होती, उसका नाश भी किसीके साथ नहीं होता इसलिये आत्मा त्रिकाल 'नित्य' है ॥

जो किसी भी सयोगसे उत्पन्न न हुआ हो, अर्थात् अपने स्वभावरूपसे ही जो पदार्थ सिद्ध हो, उसका नाश दूसरे किसी भी पदार्थके साथ नहीं होता, और यदि दूसरे पदार्थके साथ उसका नाश होता हो तो प्रथम उसमेंसे उसकी उत्पत्ति होना आवश्यक थी, नहीं तो उसके साथ उसकी नाशरूप एकता भी नहीं हो सकती। इसलिये आत्माको अनुत्पन्न और अविनाशी समझकर यही प्रतीति करना योग्य है कि वह नित्य है।

क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिकृनी मांय।

पूर्वजन्म-सस्कार ते, जीव नित्यता त्यांय ॥ ६७ ॥

सर्प आदि प्राणियोंमें क्रोध आदि प्रकृतियोंकी विशेषता जन्मसे ही देखनेमें आती है—जुड़ वर्तमान देहमें उन्होंने वह अभ्यास किया नहीं। वह तो उनके जन्मसे ही है। यह पूर्व जन्मका ही सस्कार है। यह पूर्वजन्म जीवकी नित्यता सिद्ध करता है ॥

सर्पमें जन्मसे मोक्षकी विशेषता देखनेमें आती है। कवृत्तरमें जन्मसे ही अहिंसक-वृत्ति देखनेमें आती है। मकड़ी आदि जंतुओंको पकड़नेपर उन्हें पकड़नेसे दुःख होता है, यह भय सज्ञा उनके अनुभवमें पहिलेसे ही रहती है, और इस कारण ही वे भाग जानेका प्रयत्न करते हैं। इसी तरह किसी प्राणीमें जन्मसे ही प्रीतिकी, किसीमें समताकी, किसीमें निर्भयताकी, किसीमें गभीरताकी, किसीमें विशेष भय सज्ञाकी, किसीमें काम आदिके प्रति असंगताकी, और किसीमें आहार आदिमें अत्यधिक लुब्धताकी विशेषता देखनेमें आती है। इत्यादि जो भेद हैं अर्थात् क्रोध आदि सज्ञाकी जो न्यूनाधिकता हैं, तथा उन सब प्रकृतियोंका जो साहचर्य है, यह जो जन्मसे ही साथ देखनेमें आता है उसका कारण पूर्व-सस्कार ही हैं।

कदाचित् यह कहें कि गर्भमें धर्म और रेतसके गुणके सयोगसे उस उस तरहके गुण उत्पन्न

होते हैं, उनमें कुछ पूर्वजन्म कारण नहीं है, तो यह कहना भी यथार्थ नहीं। क्योंकि जो मा बाप काम-वासनाओं में विशेष प्रीतियुक्त देखनेमें आते हैं, उनके पुत्र बालपनेसे ही परम वीतराग जैसे देखे जाते हैं। तथा जिन माता पिताओंमें क्रोधकी विशेषता देखी जाती है, उनकी सततिमें समताकी विशेषता दृष्टि-गोचर होती है—यह सत्र फिर कैसे हो सकता है? तथा उस वीर्य-रेतसके वैसे गुण नहीं होते, क्योंकि वह वीर्य रेतस स्वयं चेतन नहीं है, उसमें तो चेतनका संचार होता है—अर्थात् उसमें चेतन स्वयं देह धारण करता है। इस कारण वीर्य और रेतसके आश्रित क्रोध आदि भाव नहीं माने जा सकते—चेतनके बिना वे भाव कहीं भी अनुभवमें नहीं आते। इसलिये वे केवल चेतनके ही आश्रित हैं, अर्थात् वे वीर्य और रेतसके गुण नहीं। इस कारण वीर्यकी न्यूनाधिकताकी मुरयतासे क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता नहीं हो सकती। चेतनके न्यूनाधिक प्रयोगसे ही क्रोध आदिकी न्यूनाधिकता होती है, जिससे वे गर्भस्थ वीर्य-रेतसके गुण नहीं कहे जा सकते, परन्तु वे गुण चेतनके ही आश्रित हैं, और वह न्यूनाधिकता उस चेतनके पूर्वके अभ्याससे ही सम्भव है। क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि चेतनका पूर्वप्रयोग उस प्रकारसे हो तो ही वह सस्कार रहता है, जिससे इस देह आदिके पूर्वके सस्कारोंका अनुभव होता है, और वे सस्कार पूर्व-जन्मको सिद्ध करते हैं, तथा पूर्व-जन्मकी सिद्धिसे आत्माकी नित्यता सहज ही सिद्ध हो जाती है।

आत्मा द्रव्ये नित्ये छे, पर्याये पलटाय ।

वाळादि वय ऋण्यनु, ज्ञान एरुने थाय ॥ ६८ ॥

आत्मा वस्तुरूपमें नित्य है, किन्तु प्रतिसमय ज्ञान आदि परिणामके पलटनेसे उसकी पर्यायमें परिवर्तन होता है। जैसे समुद्रमें परिवर्तन नहीं होता, केवल उसकी लहरोंमें परिवर्तन होता है। उदाहरणके लिये बाल युवा और वृद्ध ये जो तीन अवस्थाएँ हैं, वे आत्माकी विभान-पर्याय हैं। बाल अवस्थाके रहते हुए आत्मा बालक मादम होती है। उस बाल अवस्थाको छोड़कर जब आत्मा युवावस्था धारण करती है, उस समय युवा मादम होती है, और युवावस्था छोड़कर जब वृद्धावस्था धारण करती है, उस समय वृद्ध मादम होती है। इन तीनों अवस्थाओंमें जो भेद है वह पर्यायभेद ही है। परन्तु इन तीनों अवस्थाओंमें आत्म-द्रव्यका भेद नहीं होता, अर्थात् केवल अवस्थाओंमें ही परिवर्तन होता है, आत्मामें परिवर्तन नहीं होता। आत्मा इन तीनों अवस्थाओंको जानती है, और उसे ही उन तीनों अवस्थाओंकी स्मृति है। इसलिये यदि तीनों अवस्थाओंमें एक ही आत्मा हो तो ही यह होना सम्भव है। यदि आत्मा क्षण क्षणमें बदलती रहती हो तो वह अनुभव कभी भी नहीं हो सकता।

अथवा ज्ञान क्षणिकनु, जे जाणी वदनार ।

वदनारो ते क्षणिक नहीं, कर अनुभव निर्धार ॥ ६९ ॥

तथा अमुक पदार्थ क्षणिक है जो ऐसा जानता है, और क्षणिकत्वका कथन करता है, वह कथन करनेवाला अर्थात् जाननेवाला क्षणिक नहीं होता। क्योंकि प्रथम क्षणमें जिसे अनुभव हुआ हो उसे ही दूसरे क्षणमें वह अनुभव हुआ कहा जा सकता है, और यदि दूसरे क्षणमें वह स्वयं ही न हो तो फिर उसे वह अनुभव कहाँसे कहा जा सकता है? इसलिये इस अनुभवसे भी व आत्माके अक्षणिकत्वका निश्चय कर।

क्यारे कोई वस्तुनो, केवल होय न नाश ।

चेतन पाये नाश तो, केमां भळे तपास ॥ ७० ॥

तथा किसी भी वस्तुका किसी भी कालमें सर्पथा नाश नहीं होता, केवल अस्थायी ही होता है, इसलिये चेतनका भी सर्पथा नाश नहीं होता । तथा यदि चेतनका अस्थायीरूप नाश होता हो तो वह किसमें मिल जाता है? अथवा वह किस प्रकारके अस्थायीरूपको प्राप्त करता है? इसकी तू खोज कर । घट आदि पदार्थ जब टूट फूट जाते हैं तो लोग कहते हैं कि घड़ा नष्ट हो गया है—परन्तु कुछ मिट्टीपनेका नाश नहीं हो जाता । घड़ा छिन्न-भिन्न होकर यदि उसकी अत्यन्त बारीकी धूल हो जाय फिर भी वह परमाणुओंके समूहरूपमें तो मौजूद रहता ही है—उसका सर्पथा नाश नहीं हो जाता, और उसमेंका एक परमाणु भी कम नहीं होता । क्योंकि अनुभवसे देखनेपर उसका अस्थायीरूप तो हो सकता है, परन्तु पदार्थका समूह नाश हो सकना कभी भी संभव नहीं । इसलिये यदि तू चेतनका नाश कहे तो भी उसका सर्पथा नाश तो कभी कहे ही नहीं जा सकता, वह नाश केवल अस्थायीरूप ही कहा जायगा । जैसे घड़ा टूट फूट कर अनुक्रमसे परमाणुओंके समूहरूपमें रहता है, उसी तरह तुझे यदि चेतनका अवस्थातर नाश मानना हो तो यह किस स्थितिमें रह सकता है? अथवा जिस तरह घटके परमाणु परमाणु-समूहमें मिल जाते हैं, उसी तरह चेतन किस वस्तुमें मिल सकता है? इसकी तू खोज कर । अर्थात् इस तरह यदि तू अनुभव करके देवेगा तो तुझे मालूम होगा कि चेतन—आत्मा—किसीमें भी नहीं मिल सकता, अथवा पर-स्वरूपमें उसका अवस्थातर नहीं हो सकता ।

३ शंका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि आत्मा कर्मकी कर्ता नहीं है — ।

कर्त्ता जीव न कर्मनो, कर्म ज कर्त्ता कर्म ।

अथवा सहजः स्वभाव का; कर्म जीवनो-धर्म ॥ ७१ ॥

जीव कर्मका कर्त्ता नहीं—कर्म ही कर्मका कर्त्ता है, अथवा कर्म अनायास ही होते रहते हैं । यदि ऐसा न हो और जीवको ही उसका कर्त्ता कहो, तो फिर वह जीवका धर्म ही ठहरा, और वह उसका धर्म है इसलिये उसकी कभी भी निवृत्ति नहीं हो सकती ।

आत्मा सदा असग ने, करे प्रकृति बध ।

अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अवंध ॥ ७२ ॥

अथवा यदि ऐसा न हो तो यह मानना चाहिये कि आत्मा सदा असग है, और सत्त्व आदि गुणयुक्त प्रकृतियों ही कर्मका बंध करती हैं । यदि ऐसा भी न मानो तो फिर यह मानना चाहिये कि जीवको कर्म करनेकी प्रेरणा ईश्वर करता है, इस कारण ईश्वरेच्छापर निर्भर होनेसे जीवका उस कर्मसे 'अबंध' ही मानना चाहिये ।

माटे मोक्ष उपायनो, कोई न हेतु जणाय ।

कर्मतणु कर्त्तापणु, कां नहीं का नहीं जाय ॥ ७३ ॥

इसलिये जीव किसी तरह कर्मका कर्त्ता नहीं हो सकता, और न तब मोक्षके उपाय करनेका ही कोई कारण मालूम होता है । इसलिये या तो जीवको कर्मका कर्त्ता ही न मानना चाहिये और यदि उसे कर्त्ता मानो तो उसका वह स्वभाव किसी भी तरह नाश नहीं हो सकता ।

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि आत्मा कर्मका कर्ता किस तरह है—

होय न चेतन प्रेरणा, कोण ग्रहे तो कर्म ? ।

जडस्वभाव नहीं प्रेरणा, जुओ विचारी धर्म ॥ ७४ ॥

चेतन—आत्मा—की प्रेरणारूप प्रवृत्ति न हो तो कर्मको फिर कौन ग्रहण करेगा ? क्योंकि जड़का स्वभाव तो कुछ प्रेरणा करनेका है नहीं । जड़ और चेतन दोनोंके धर्मको विचार करके देखो ॥

यदि चेतनकी प्रेरणा न हो तो कर्मको फिर कौन ग्रहण करेगा ? प्रेरणारूपसे ग्रहण करानेरूप स्वभाव कुछ जड़का तो है नहीं । और यदि ऐसा हो तो घट पट आदिका भी क्रोध आदि भावमें परिणमन होना चाहिये, और फिर तो उन्हें भी कर्मको ग्रहण करना चाहिये । परन्तु ऐसा तो किसीको कभी भी अनुभव होता नहीं । इससे सिद्ध होता है कि चेतन—जीव—ही कर्मको ग्रहण करता है, और इस कारण उसे ही कर्मका कर्ता कहते हैं—इस तरह जीव ही कर्मका कर्ता सिद्ध होता है । इससे 'कर्मका कर्ता कर्म ही कहा जायगा या नहीं ?' तुम्हारी इस शकाका भी समाधान हो जायगा । क्योंकि जड़ कर्ममें प्रेरणारूप धर्म न होनेसे वह उस तरह कर्मके ग्रहण करनेको असमर्थ है, इसलिये कर्मका कर्तापन जीवमें ही है, क्योंकि प्रेरणाशक्ति उसीमें है ।

जो चेतन करतु नहीं, धता नहीं तो कर्म ।

तेथी सहज स्वभाव नहीं, तेमज नहीं जीवधर्म ॥ ७५ ॥

यदि आत्मा कर्मको न करती तो वह कर्म होता भी नहीं, इससे यह कहना योग्य नहीं कि वह कर्म सहज स्वभावसे—अनायास ही—हो जाता है । इसी तरह जीवका वह धर्म भी नहीं है, क्योंकि स्वभावका तो नाश होता नहीं । तथा यदि आत्मा कर्म न करे तो कर्म होता भी नहीं, अर्थात् वह भाव दूर हो सकता है, इसलिये आत्माका यह स्वाभाविक धर्म नहीं ।

केवल होत असग जो, भासत तने न केम ? ।

असग छ परमार्थथी, पण निजभाने तेम ॥ ७६ ॥

यदि आत्मा सर्वथा असग होती अर्थात् उसे कभी भी कर्मका कर्तापन न होता, तो फिर स्वयं तुम्हें ही वह आत्मा पहिलेसे ही क्यों न भासित होती ? यद्यपि परमार्थसे तो आत्मा असग ही है, परन्तु यह तो ज्ञान हो सकता है जब कि स्वरूपका भान हो जाय ।

कर्ता ईश्वर को नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव ।

अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोषप्रभाव ॥ ७७ ॥

जगत्का अथवा जीवोंके कर्मका कर्ता कोई ईश्वर नहीं है । क्योंकि जिसका शुद्ध आत्मस्वभाव प्रगट हो गया है वही ईश्वर है, और यदि उसे प्रेरक अर्थात् कर्मका कर्ता मानें तो उसे भी दोषका प्रभाव मानना चाहिये । इसलिये जीवके कर्मके कर्तापनमें ईश्वरकी प्रेरणा भी नहीं कही जा सकती ॥

अब तुमने जो कहा कि 'वे कर्म अनायास ही होते रहते हैं', तो यहाँ अनायासका क्या अर्थ होता है ?

(१) क्या कर्म आत्मके द्वारा बिना कर्मों के होते गये ?

- (२) या आत्माका कर्तृत्व न होनेपर भी कर्म हो गये ?
 (३) या ईश्वर आदि किसीके लगा देनेसे कर्म हो गये ?
 (४) या प्रकृतिके बलपूर्वक स्रवण हो जानेसे कर्म हो गये ?

इस तरह मुख्य चार विरुद्धोंसे अनायास कर्त्तापनका निचार करना योग्य है ।

प्रथम विकल्प यह है कि 'आत्माके द्वारा बिना विचारे ही कर्म हो गये'। परन्तु यदि ऐसा होता हो तो फिर कर्मका ग्रहण करना ही नहीं रहता, और जहाँ कर्मका ग्रहण करना न हो वहाँ कर्मका अस्तित्व भी नहीं हो सकता। परन्तु जीव तो उसका प्रत्यक्ष चिंतन करता है, और उसका ग्रहणाग्रहण करता है, ऐसा अनुभव होता है। तथा जिनमें जीव किसी भी तरह प्रवृत्ति नहीं करता, ऐसे क्रोध आदि भाव उसे कभी भी प्राप्त नहीं होते, इससे मालूम होता है कि आत्माके बिना विचारे हुए अथवा आत्मासे न किये हुए कर्मोंका ग्रहण आत्माको नहीं हो सकता। अर्थात् इन दोनों प्रकारोंसे अनायास कर्मका ग्रहण सिद्ध नहीं होता।

तीसरा विकल्प यह है कि 'ईश्वर आदि किसीके कर्म लगा देनेसे अनायास ही कर्मका ग्रहण होता है'—यह भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रथम तो ईश्वरके स्वरूपका ही निश्चय करना चाहिये, और इस प्रसंगको भी विशेष समझना चाहिये। फिर भी यहाँ ईश्वर अथवा विष्णु आदिको किसी तरह कर्त्ता स्वीकार करके उसके ऊपर निचार करते हैं—

यदि ईश्वर आदि कर्मका लगा देनेवाला हो तो फिर तो बीचमें कोई जीव नामका पदार्थ ही न रहा। क्योंकि जिन प्रेरणा आदि धर्मसे जो वह अस्तित्व समझमें आता था, वे प्रेरणा आदि तो ईश्वर-कृत ठहरे, अथवा वे ईश्वरके ही गुण ठहरे। तो फिर जीवका स्वरूप ही क्या बाकी रह गया जिससे उसे जीव—आत्मा—कहा जा सके ? अर्थात् कर्म ईश्वरसे प्रेरित नहीं हैं, किन्तु वे स्वयं आत्माके ही किये हुए हो सकते हैं।

तथा 'प्रकृति आदिके बलपूर्वक कर्म लग जानेसे कर्म अनायास ही हो जाते हो'—यह चौथा विकल्प भी यथार्थ नहीं है। क्योंकि प्रकृति आदि जड़ हैं, उन्हें यदि आत्मा ही ग्रहण न करे तो वे उससे किस तरह स्रवण हो सकते हैं ? अथवा द्रव्यकर्मका ही दूसरा नाम प्रकृति है। इसलिये यह तो कर्मको ही कर्मका कर्त्ता कहनेके बराबर हुआ, और इसका तो पूर्वमें निषेध कर ही चुके हैं। यदि कहो कि प्रकृति न हो तो अन्त करण आदि जो कर्मको ग्रहण करते हैं, उससे आत्मामें कर्तृत्व सिद्ध होता है—तो वह भी एकातसे सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि अन्त करण आदि भी अन्त करण आदिरूपसे चेतनकी प्रेरणाके बिना, पहिले ठहर ही कहाँसे सकते हैं ? क्योंकि चेतन कर्मोंका सलग्नताका मनन करनेके लिये जो अलग्गन लेता है, उसे अन्त करण कहते हैं। इसलिये यदि चेतन उसका मनन न करे तो कुछ स्वयं उस सलग्नतामें मनन करनेका धर्म नहीं है, वह तो केवल जड़ है। चेतन चेतनकी प्रेरणासे उसका अलग्गन लेकर कुछ ग्रहण करता है, उससे उसमें कर्त्तापनका आरोप होता है, परन्तु मुख्यरूपसे तो वह चेतन ही कर्मका कर्त्ता है।

यहाँ यदि वेदान्त आदि दृष्टिसे निचार करोगे तो हमारे ये वाक्य किसी भ्रातियुक्त पुरुषके कहे हुए मात्रम होंगे। परन्तु जिस प्रकारसे नाँचे कहा है उसके समझनेसे तुम्हें उन वाक्योंकी यथार्थता मात्रम होगी, और भ्राति दूर होगी।

यदि किसी भी प्रकारसे आमाको कर्मका कर्तृत्व न हो तो वह किसी भी प्रकारसे उसका भोक्ता भी नहीं हो सकती, और यदि ऐसा हो तो फिर उसे किसी भी तरहके दु खोंकी सभायना भी न माननी चाहिये । तथा यदि आत्माको किसी भी तरहके दु खोंकी बिलकुल भी सभायना न हो तो फिर वेदात्त आदि शास्त्र सर्ग दु खोंमें छूटनेके जिस मार्गका उपदेश करते हैं, उसका वे किसलिये उपदेश देते हैं ? वेदात्त आदि दर्शन कहते हैं कि 'जगतक आत्मज्ञान न हो तत्रतक दु खकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती'—सो यदि दु खका ही सर्गथा अभय हो तो फिर उसकी निवृत्तिका उपाय भी क्यों करना चाहिये ? तथा यदि आत्मामें कर्मोंका कर्तृत्व न हो तो उसे दु खका भोक्तृत्व भी कहाँसे हो सकता है ? यह विचार करनेसे आत्माको कर्मका कर्तृत्व सिद्ध होता है ।

प्रश्न —अब यहाँ एक प्रश्न हो सकता है और तुमने भी वह प्रश्न किया है कि 'यदि आमाको कर्मकी कर्त्ता मानें तो वह आत्माका धर्म ठहरता है, और जो जिसका धर्म होता है, उसका कभी भी उच्छेद नहीं हो सकता, अर्थात् वह उमसे सर्गथा भिन्न नहीं हो सकता । जैसे अग्निकी उष्णता और उसका प्रकाश उससे भिन्न नहीं हो सकते, इसी तरह यदि कर्मका कर्तृत्वं आत्माका धर्म सिद्ध हो तो उसका नाश भी नहीं हो सकता ।'

उत्तर—सर्ग प्रमाणाशके स्वीकार किये बिना ही यह बात सिद्ध हो सकती है, परन्तु जो विचारवान होता है वह किसी एक प्रमाणाशको स्वीकार करके दूसरे प्रमाणाशका उच्छेद नहीं करता । 'उस जीवको कर्मका कर्तृत्वं नहीं होता' और 'यदि हो तो उसकी प्रतीति नहीं हो सकती' इत्यादि प्रश्नोंके उत्तरमें जीवको कर्मका कर्त्ता सिद्ध किया गया है । परन्तु आत्मा यदि कर्मकी कर्त्ता हो तो उस कर्मका नाश ही न हो—यह कोई सिद्धान्त नहीं है । क्योंकि ग्रहण की हुई वस्तुसे ग्रहण करनेवाली वस्तुकी सर्गथा एकता कैसे हो सकती है ? इस कारण जीव यदि अपनेसे ग्रहण किये गये द्रव्य-कर्मका त्याग करे तो वह हो सकता सभय है । क्योंकि वह उसका सहकारी स्वभाव ही है—सहज स्वभाव नहीं । तथा उस कर्मको मैंने तुम्हें अनादिका भ्रम कहा है, अर्थात् उस कर्मका कर्त्तापिन जीवको अज्ञानसे ही प्रतिपादित किया है, इस कारण भी वह कर्म निवृत्त हो सकता है—यह बात साथमें समझनी चाहिये । जो जो भ्रम होता है, वह सन वस्तुकी उलटी स्थितिकी मान्यताएव ही होता है, और इस कारण वह निवृत्त किया जा सकता है, जैसे मृगजलमेंसे जलबुद्धि ।

कहनेका अभिप्राय यह है कि यदि अज्ञानसे भी आत्माको कर्त्तापिन न हो, तो फिर कुछ भी उपदेश आदिका श्रवण विचार और ज्ञान आदिके समझनेका कोई भी हेतु नहीं रहता ।

अब यहाँ जीवका परमार्थसे जो कर्त्तापिन है, उसे कहते हैं—

चेतन जां निजभानमां, कर्त्ता आपस्वभाय ।

वर्च नहीं निजभानमां, कर्त्ता कर्मप्रभाय ॥ ७८ ॥

आत्मा यदि अपने शुद्ध चैतन्य आदि स्वभावमें रहे तो वह अपने उसी स्वभावकी अर्थात् वह उसी स्वभावमें शिवा रहती है, ^१ ^२ ^३ ^४ ^५ ^६ ^७ ^८ ^९ ^{१०} ^{११} ^{१२} ^{१३} ^{१४} ^{१५} ^{१६} ^{१७} ^{१८} ^{१९} ^{२०} ^{२१} ^{२२} ^{२३} ^{२४} ^{२५} ^{२६} ^{२७} ^{२८} ^{२९} ^{३०} ^{३१} ^{३२} ^{३३} ^{३४} ^{३५} ^{३६} ^{३७} ^{३८} ^{३९} ^{४०} ^{४१} ^{४२} ^{४३} ^{४४} ^{४५} ^{४६} ^{४७} ^{४८} ^{४९} ^{५०} ^{५१} ^{५२} ^{५३} ^{५४} ^{५५} ^{५६} ^{५७} ^{५८} ^{५९} ^{६०} ^{६१} ^{६२} ^{६३} ^{६४} ^{६५} ^{६६} ^{६७} ^{६८} ^{६९} ^{७०} ^{७१} ^{७२} ^{७३} ^{७४} ^{७५} ^{७६} ^{७७} ^{७८} ^{७९} ^{८०} ^{८१} ^{८२} ^{८३} ^{८४} ^{८५} ^{८६} ^{८७} ^{८८} ^{८९} ^{९०} ^{९१} ^{९२} ^{९३} ^{९४} ^{९५} ^{९६} ^{९७} ^{९८} ^{९९} ^{१००} ^{१०१} ^{१०२} ^{१०३} ^{१०४} ^{१०५} ^{१०६} ^{१०७} ^{१०८} ^{१०९} ^{११०} ^{१११} ^{११२} ^{११३} ^{११४} ^{११५} ^{११६} ^{११७} ^{११८} ^{११९} ^{१२०} ^{१२१} ^{१२२} ^{१२३} ^{१२४} ^{१२५} ^{१२६} ^{१२७} ^{१२८} ^{१२९} ^{१३०} ^{१३१} ^{१३२} ^{१३३} ^{१३४} ^{१३५} ^{१३६} ^{१३७} ^{१३८} ^{१३९} ^{१४०} ^{१४१} ^{१४२} ^{१४३} ^{१४४} ^{१४५} ^{१४६} ^{१४७} ^{१४८} ^{१४९} ^{१५०} ^{१५१} ^{१५२} ^{१५३} ^{१५४} ^{१५५} ^{१५६} ^{१५७} ^{१५८} ^{१५९} ^{१६०} ^{१६१} ^{१६२} ^{१६३} ^{१६४} ^{१६५} ^{१६६} ^{१६७} ^{१६८} ^{१६९} ^{१७०} ^{१७१} ^{१७२} ^{१७३} ^{१७४} ^{१७५} ^{१७६} ^{१७७} ^{१७८} ^{१७९} ^{१८०} ^{१८१} ^{१८२} ^{१८३} ^{१८४} ^{१८५} ^{१८६} ^{१८७} ^{१८८} ^{१८९} ^{१९०} ^{१९१} ^{१९२} ^{१९३} ^{१९४} ^{१९५} ^{१९६} ^{१९७} ^{१९८} ^{१९९} ^{२००} ^{२०१} ^{२०२} ^{२०३} ^{२०४} ^{२०५} ^{२०६} ^{२०७} ^{२०८} ^{२०९} ^{२१०} ^{२११} ^{२१२} ^{२१३} ^{२१४} ^{२१५} ^{२१६} ^{२१७} ^{२१८} ^{२१९} ^{२२०} ^{२२१} ^{२२२} ^{२२३} ^{२२४} ^{२२५} ^{२२६} ^{२२७} ^{२२८} ^{२२९} ^{२३०} ^{२३१} ^{२३२} ^{२३३} ^{२३४} ^{२३५} ^{२३६} ^{२३७} ^{२३८} ^{२३९} ^{२४०} ^{२४१} ^{२४२} ^{२४३} ^{२४४} ^{२४५} ^{२४६} ^{२४७} ^{२४८} ^{२४९} ^{२५०} ^{२५१} ^{२५२} ^{२५३} ^{२५४} ^{२५५} ^{२५६} ^{२५७} ^{२५८} ^{२५९} ^{२६०} ^{२६१} ^{२६२} ^{२६३} ^{२६४} ^{२६५} ^{२६६} ^{२६७} ^{२६८} ^{२६९} ^{२७०} ^{२७१} ^{२७२} ^{२७३} ^{२७४} ^{२७५} ^{२७६} ^{२७७} ^{२७८} ^{२७९} ^{२८०} ^{२८१} ^{२८२} ^{२८३} ^{२८४} ^{२८५} ^{२८६} ^{२८७} ^{२८८} ^{२८९} ^{२९०} ^{२९१} ^{२९२} ^{२९३} ^{२९४} ^{२९५} ^{२९६} ^{२९७} ^{२९८} ^{२९९} ^{३००} ^{३०१} ^{३०२} ^{३०३} ^{३०४} ^{३०५} ^{३०६} ^{३०७} ^{३०८} ^{३०९} ^{३१०} ^{३११} ^{३१२} ^{३१३} ^{३१४} ^{३१५} ^{३१६} ^{३१७} ^{३१८} ^{३१९} ^{३२०} ^{३२१} ^{३२२} ^{३२३} ^{३२४} ^{३२५} ^{३२६} ^{३२७} ^{३२८} ^{३२९} ^{३३०} ^{३३१} ^{३३२} ^{३३३} ^{३३४} ^{३३५} ^{३३६} ^{३३७} ^{३३८} ^{३३९} ^{३४०} ^{३४१} ^{३४२} ^{३४३} ^{३४४} ^{३४५} ^{३४६} ^{३४७} ^{३४८} ^{३४९} ^{३५०} ^{३५१} ^{३५२} ^{३५३} ^{३५४} ^{३५५} ^{३५६} ^{३५७} ^{३५८} ^{३५९} ^{३६०} ^{३६१} ^{३६२} ^{३६३} ^{३६४} ^{३६५} ^{३६६} ^{३६७} ^{३६८} ^{३६९} ^{३७०} ^{३७१} ^{३७२} ^{३७३} ^{३७४} ^{३७५} ^{३७६} ^{३७७} ^{३७८} ^{३७९} ^{३८०} ^{३८१} ^{३८२} ^{३८३} ^{३८४} ^{३८५} ^{३८६} ^{३८७} ^{३८८} ^{३८९} ^{३९०} ^{३९१} ^{३९२} ^{३९३} ^{३९४} ^{३९५} ^{३९६} ^{३९७} ^{३९८} ^{३९९} ^{४००} ^{४०१} ^{४०२} ^{४०३} ^{४०४} ^{४०५} ^{४०६} ^{४०७} ^{४०८} ^{४०९} ^{४१०} ^{४११} ^{४१२} ^{४१३} ^{४१४} ^{४१५} ^{४१६} ^{४१७} ^{४१८} ^{४१९} ^{४२०} ^{४२१} ^{४२२} ^{४२३} ^{४२४} ^{४२५} ^{४२६} ^{४२७} ^{४२८} ^{४२९} ^{४३०} ^{४३१} ^{४३२} ^{४३३} ^{४३४} ^{४३५} ^{४३६} ^{४३७} ^{४३८} ^{४३९} ^{४४०} ^{४४१} ^{४४२} ^{४४३} ^{४४४} ^{४४५} ^{४४६} ^{४४७} ^{४४८} ^{४४९} ^{४५०} ^{४५१} ^{४५२} ^{४५३} ^{४५४} ^{४५५} ^{४५६} ^{४५७} ^{४५८} ^{४५९} ^{४६०} ^{४६१} ^{४६२} ^{४६३} ^{४६४} ^{४६५} ^{४६६} ^{४६७} ^{४६८} ^{४६९} ^{४७०} ^{४७१} ^{४७२} ^{४७३} ^{४७४} ^{४७५} ^{४७६} ^{४७७} ^{४७८} ^{४७९} ^{४८०} ^{४८१} ^{४८२} ^{४८३} ^{४८४} ^{४८५} ^{४८६} ^{४८७} ^{४८८} ^{४८९} ^{४९०} ^{४९१} ^{४९२} ^{४९३} ^{४९४} ^{४९५} ^{४९६} ^{४९७} ^{४९८} ^{४९९} ^{५००} ^{५०१} ^{५०२} ^{५०३} ^{५०४} ^{५०५} ^{५०६} ^{५०७} ^{५०८} ^{५०९} ^{५१०} ^{५११} ^{५१२} ^{५१३} ^{५१४} ^{५१५} ^{५१६} ^{५१७} ^{५१८} ^{५१९} ^{५२०} ^{५२१} ^{५२२} ^{५२३} ^{५२४} ^{५२५} ^{५२६} ^{५२७} ^{५२८} ^{५२९} ^{५३०} ^{५३१} ^{५३२} ^{५३३} ^{५३४} ^{५३५} ^{५३६} ^{५३७} ^{५३८} ^{५३९} ^{५४०} ^{५४१} ^{५४२} ^{५४३} ^{५४४} ^{५४५} ^{५४६} ^{५४७} ^{५४८} ^{५४९} ^{५५०} ^{५५१} ^{५५२} ^{५५३} ^{५५४} ^{५५५} ^{५५६} ^{५५७} ^{५५८} ^{५५९} ^{५६०} ^{५६१} ^{५६२} ^{५६३} ^{५६४} ^{५६५} ^{५६६} ^{५६७} ^{५६८} ^{५६९} ^{५७०} ^{५७१} ^{५७२} ^{५७३} ^{५७४} ^{५७५} ^{५७६} ^{५७७} ^{५७८} ^{५७९} ^{५८०} ^{५८१} ^{५८२} ^{५८३} ^{५८४} ^{५८५} ^{५८६} ^{५८७} ^{५८८} ^{५८९} ^{५९०} ^{५९१} ^{५९२} ^{५९३} ^{५९४} ^{५९५} ^{५९६} ^{५९७} ^{५९८} ^{५९९} ^{६००} ^{६०१} ^{६०२} ^{६०३} ^{६०४} ^{६०५} ^{६०६} ^{६०७} ^{६०८} ^{६०९} ^{६१०} ^{६११} ^{६१२} ^{६१३} ^{६१४} ^{६१५} ^{६१६} ^{६१७} ^{६१८} ^{६१९} ^{६२०} ^{६२१} ^{६२२} ^{६२३} ^{६२४} ^{६२५} ^{६२६} ^{६२७} ^{६२८} ^{६२९} ^{६३०} ^{६३१} ^{६३२} ^{६३३} ^{६३४} ^{६३५} ^{६३६} ^{६३७} ^{६३८} ^{६३९} ^{६४०} ^{६४१} ^{६४२} ^{६४३} ^{६४४} ^{६४५} ^{६४६} ^{६४७} ^{६४८} ^{६४९} ^{६५०} ^{६५१} ^{६५२} ^{६५३} ^{६५४} ^{६५५} ^{६५६} ^{६५७} ^{६५८} ^{६५९} ^{६६०} ^{६६१} ^{६६२} ^{६६३} ^{६६४} ^{६६५} ^{६६६} ^{६६७} ^{६६८} ^{६६९} ^{६७०} ^{६७१} ^{६७२} ^{६७३} ^{६७४} ^{६७५} ^{६७६} ^{६७७} ^{६७८} ^{६७९} ^{६८०} ^{६८१} ^{६८२} ^{६८३} ^{६८४} ^{६८५} ^{६८६} ^{६८७} ^{६८८} ^{६८९} ^{६९०} ^{६९१} ^{६९२} ^{६९३} ^{६९४} ^{६९५} ^{६९६} ^{६९७} ^{६९८} ^{६९९} ^{७००} ^{७०१} ^{७०२} ^{७०३} ^{७०४} ^{७०५} ^{७०६} ^{७०७} ^{७०८} ^{७०९} ^{७१०} ^{७११} ^{७१२} ^{७१३} ^{७१४} ^{७१५} ^{७१६} ^{७१७} ^{७१८} ^{७१९} ^{७२०} ^{७२१} ^{७२२} ^{७२३} ^{७२४} ^{७२५} ^{७२६} ^{७२७} ^{७२८} ^{७२९} ^{७३०} ^{७३१} ^{७३२} ^{७३३} ^{७३४} ^{७३५} ^{७३६} ^{७३७} ^{७३८} ^{७३९} ^{७४०} ^{७४१} ^{७४२} ^{७४३} ^{७४४} ^{७४५} ^{७४६} ^{७४७} ^{७४८} ^{७४९} ^{७५०} ^{७५१} ^{७५२} ^{७५३} ^{७५४} ^{७५५} ^{७५६} ^{७५७} ^{७५८} ^{७५९} ^{७६०} ^{७६१} ^{७६२} ^{७६३} ^{७६४} ^{७६५} ^{७६६} ^{७६७} ^{७६८} ^{७६९} ^{७७०} ^{७७१} ^{७७२} ^{७७३} ^{७७४} ^{७७५} ^{७७६} ^{७७७} ^{७७८} ^{७७९} ^{७८०} ^{७८१} ^{७८२} ^{७८३} ^{७८४} ^{७८५} ^{७८६} ^{७८७} ^{७८८} ^{७८९} ^{७९०} ^{७९१} ^{७९२} ^{७९३} ^{७९४} ^{७९५} ^{७९६} ^{७९७} ^{७९८} ^{७९९} ^{८००} ^{८०१} ^{८०२} ^{८०३} ^{८०४} ^{८०५} ^{८०६} ^{८०७} ^{८०८} ^{८०९} ^{८१०} ^{८११} ^{८१२} ^{८१३} ^{८१४} ^{८१५} ^{८१६} ^{८१७} ^{८१८} ^{८१९} ^{८२०} ^{८२१} ^{८२२} ^{८२३} ^{८२४} ^{८२५} ^{८२६} ^{८२७} ^{८२८} ^{८२९} ^{८३०} ^{८३१} ^{८३२} ^{८३३} ^{८३४} ^{८३५} ^{८३६} ^{८३७} ^{८३८} ^{८३९} ^{८४०} ^{८४१} ^{८४२} ^{८४३} ^{८४४} ^{८४५} ^{८४६} ^{८४७} ^{८४८} ^{८४९} ^{८५०} ^{८५१} ^{८५२} ^{८५३} ^{८५४} ^{८५५} ^{८५६} ^{८५७} ^{८५८} ^{८५९} ^{८६०} ^{८६१} ^{८६२} ^{८६३} ^{८६४} ^{८६५} ^{८६६} ^{८६७} ^{८६८} ^{८६९} ^{८७०} ^{८७१} ^{८७२} ^{८७३} ^{८७४} ^{८७५} ^{८७६} ^{८७७} ^{८७८} ^{८७९} ^{८८०} ^{८८१} ^{८८२} ^{८८३} ^{८८४} ^{८८५} ^{८८६} ^{८८७} ^{८८८} ^{८८९} ^{८९०} ^{८९१} ^{८९२} ^{८९३} ^{८९४} ^{८९५} ^{८९६} ^{८९७} ^{८९८} ^{८९९} ^{९००} ^{९०१} ^{९०२} ^{९०३} ^{९०४} ^{९०५} ^{९०६} ^{९०७} ^{९०८} ^{९०९} ^{९१०} ^{९११} ^{९१२} ^{९१३} ^{९१४} ^{९१५} ^{९१६} ^{९१७} ^{९१८} ^{९१९} ^{९२०} ^{९२१} ^{९२२} ^{९२३} ^{९२४} ^{९२५} ^{९२६} ^{९२७} ^{९२८} ^{९२९} ^{९३०} ^{९३१} ^{९३२} ^{९३३} ^{९३४} ^{९३५}

अपने स्वरूपके भानमें आत्मा अपने स्वभावकी अर्थात् चैतन्य आदि स्वभावकी ही कर्ता है, अन्य किसी भी कर्म आदिकी कर्ता नहीं; और जब आत्मा अपने स्वरूपके भानमें नहीं रहती, तो उसे कर्मभावकी कर्ता कहा है ।

परमार्थसे तो जीव निष्क्रिय ही है, ऐसा वेदान्त आदि दर्शनोंका कथन है; और जिन-प्रवचनोंमें भी सिद्ध अर्थात् शुद्ध आत्माकी निष्क्रियताका निरूपण किया है । फिर भी, यहाँ यह सदेह हो सकता है कि हमने आत्माको शुद्धान्स्थानमें कर्ता होनेसे सक्रिय क्यों कहा ? उस सदेहकी निवृत्ति इस तरह करनी चाहिये — शुद्धात्मा, परयोगकी परभावकी और निभावकी कर्ता नहीं है, इसलिये वह निष्क्रिय कही जाने योग्य है । परन्तु यदि ऐसा कहे कि आत्मा चैतन्य आदि स्वभावकी भी कर्ता नहीं, तब तो फिर उसका कुछ स्वरूप ही नहीं रह जाता । इस कारण शुद्धात्माको योग-क्रिया न होनेसे वह निष्क्रिय है, परन्तु स्वाभाविक चैतन्य आदि स्वभावरूप क्रिया होनेसे वह सक्रिय भी है । तथा चैतन्यस्वभाव, आत्माका स्वाभाविक गुण है, इस कारण उममें एकात्मरूपसे ही आत्माका परिणमन होता है, और उससे वहाँ परमार्थनयसे भी आत्माको सक्रिय विशेषण नहीं दिया जा सकता । परन्तु निज स्वभावनमें परिणमनरूप क्रिया होनेसे, शुद्ध आत्माको निज स्वभावका कर्तापन है, इस कारण उसमें सर्वाथा शुद्ध स्वधर्म होनेसे उसका एकात्मरूपसे परिणमन होता है, इसलिये उसे सक्रिय कहनेमें भी दोष नहीं है ।

जिस विचारसे सक्रियता और निष्क्रियताका निरूपण किया है, उस विचारके परमार्थको ग्रहण करके सक्रियता और निष्क्रियता कहनेमें कुछ भी दोष नहीं ।

४ शंका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि जीव कर्मका भोक्ता नहीं होता —

जीव कर्मकर्ता कही, पण भोक्ता नहीं सोय ।

शुं समजे जड कर्म के, फलपरिणामी होय ? ॥ ७९ ॥

यदि जीवको कर्मका कर्ता मान भी लें तो भी जीव उस कर्मका भोक्ता नहीं ठहरता । क्योंकि जड़ कर्म इस बातको क्या समझ सकता है कि उसमें फल देनेकी शक्ति है ?

फदळाता ईश्वर गण्ये, भोक्तापणु सधाय ।

एम कहे ईश्वरतणुं, ईश्वरपणु ज जाय ॥ ८० ॥

हाँ, यदि फल देनेवाले किसी ईश्वरको मानें तो भोक्तृत्वको सिद्ध कर सकते हैं, अर्थात् जीवको ईश्वर कर्म भोगवाता है, यह मानें तो जीव कर्मका भोक्ता सिद्ध होता है । परन्तु इसमें फिर यह भी विरोध आता है कि यदि ईश्वरको दूसरेको फल देने आदि प्रवृत्तियुक्त मानें तो उसका ईश्वरत्व ही नहीं रहता ॥

“ ईश्वरके सिद्ध हुए बिना—कर्मके फल देने आदिमें किसी भी ईश्वरके सिद्ध हुए बिना—जगत्की व्यवस्थाका टिकना संभव नहीं है ”—इस संवधमें निम्नरूपसे विचार करना चाहिये—

यदि ईश्वरको कर्मका फल देनेवाला मानें तो वहाँ ईश्वरका ईश्वरत्व ही नहीं रहता । क्योंकि दूसरेको फल देने आदिके प्रपञ्चमें प्रवृत्ति करते हुए, ईश्वरको देह आदि अनेक प्रकारका सग होना संभव है, और उससे उसकी यथार्थ शुद्धताका भंग होता है । जैसे मुक्त जीव निष्क्रिय है, अर्थात् जैसे वह परमात्मा आदिका कर्ता नहीं है, क्योंकि यदि वह परमात्मा आदिका कर्ता हो तो फिर उसे सत्सारकी ही प्राप्ति होनी चाहिये,

उसी तरह यदि ईश्वर भी दूसरेको फल देने आदिरूप क्रियामें प्रवृत्ति करे तो उसे भी परभाव आदिके कर्त्तापनेका प्रसंग आता है, और मुक्त जीवकी अपेक्षा उसकी 'यूनता ही ठहरती है—इससे तो उसका ईश्वरत्व ही उच्छेद करने जैसा हो जाता है ।

तथा जीव और ईश्वरका स्वभाव-भेद माननेसे भी अनेक दोष आते हैं । क्योंकि यदि दोनोंको ही चैतन्य-स्वभाव मानें तब तो दोनों ही समान धर्मके कर्त्ता हुए । फिर उसमें ईश्वर तो जगत् आदिकी रचना करे अथवा कर्मके फल देनेरूप कार्यको करे, और मुक्त गिना जाय, तथा जीव एक मात्र देह आदि सृष्टिकी ही रचना करे, और अपने कर्मोंका फल पानेके लिये ईश्वरका आश्रय ले, तथा बधनमें बद्ध समझा जाय—यह बात यथार्थ नहीं माडूम होती । यह नियमता किस तरह हो सकती है ?

तथा जीवकी अपेक्षा यदि ईश्वरकी सामर्थ्य विशेष मानें, तो भी विरोध आता है । क्योंकि ईश्वरको यदि शुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो फिर शुद्ध चैतन्य मुक्त जीवमें और उसमें कोई भेद ही न होना चाहिये, और फिर ईश्वरद्वारा कर्मका फल देना आदि कार्य भी न होना चाहिये, अथवा मुक्त जीवसे भी वह कार्य होना चाहिये । और यदि ईश्वरको अशुद्ध चैतन्यस्वरूप मानें तो फिर वह भी ससारी जीवोंके ही समान ठहरेगा, फिर उसमें सर्वज्ञ आदि गुण कहाँसे हो सकते हैं ? अथवा यदि देहधारी सर्वज्ञकी तरह उसे 'देहधारी सर्वज्ञ ईश्वर' मानें तो भी सब कर्मोंके फल देनेरूप जो विशेष स्वभाव है, वह ईश्वरमें कौनसे गुणके कारण माना जायगा ? तथा देह तो निनाशीक है, इस कारण ईश्वरकी देह भी नाश हो जायगी और वह मुक्त होनेपर कर्मका फल देनेवाला न रहेगा, इत्यादि अनेक प्रकारसे ईश्वरको कर्म-फलदाता कहनेमें दोष आते हैं, और ईश्वरकी उस स्वरूपसे माननेसे उसका ईश्वरत्व ही उत्थापन करनेके समान होता है ।

ईश्वर सिद्ध तथा विना, जगत्-नियम नहीं होय ।

पछी शुभाशुभ कर्मना, भोग्यस्थान नहीं कोय ॥ ८१ ॥

जब ऐसा फलदाता कोई ईश्वर सिद्ध नहीं होता, तो फिर जगत्का कोई नियम भी नहीं रहता, और शुभ अशुभ कर्मके भोगनेका स्थान भी कोई नहीं ठहरता—तो जीवको फिर कर्मका भोक्तृत्व भी कहाँ रहा ?

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि जीव अपने किये हुए कर्मको भोगता है —

भावकर्म निजरूपना, माटे चेतनरूप ।

जीववीर्यनी स्फुरणा, ग्रहण करे जडभूष ॥ ८२ ॥

जीवको भाव-कर्म अपनी भावित्वे ही है, इसलिये वह उसे चेतनरूप मान रहा है, और उस भावित्वा अनुमरण करके ही जीवका वीर्य स्फुरित होता है, इस कारण वह जब द्रव्य-कर्मकी वर्गणा ग्रहण करता है ॥

आशुका —कर्म तो जड़ है, तो वह क्या रागश शकता है कि इस जीवको मुझे इस देना है, अथवा उस स्वरूपसे परिणाम करता ? इत्यादि जीव कर्मका भोक्ता नहीं हो समाधान —जीव अपने स्वरूपसे ॥ कर्त्ता है । तथा 'जो अज्ञान है

नरूप है, यह जीवकी निजी कल्पना है, और उस कल्पनाके अनुसार ही उसके वीर्य-स्वभावकी स्फूर्ति होती है, अथवा उसके अनुरूप ही उसकी सामर्थ्यका परिणमन होता है, और इस कारण वह द्रव्यकर्मरूप पुद्गलकी वर्गणाको ग्रहण करता है ।

शेर सुधा समजे नहीं, जीव खाय फल थाय ।

एम शुभाशुभ कर्मनु, भोक्तापणु जणाय ॥ ८३ ॥

जहर और अमृत स्वय नहीं जानते कि हमें इस जीवको फल देना है, तो भी जो जीव उन्हें खाता है उसे उनका फल मिलता है । इसी तरह शुभ-अशुभ कर्म यद्यपि यह नहीं जानते कि हमें इस जीवको यह फल देना है, तो भी ग्रहण करनेवाला जीव जहर और अमृतके फलकी तरह कर्मका फल प्राप्त करता है ॥

जहर और अमृत स्वय यह नहीं जानते कि हमें खानेवालेको मृत्यु और दीर्घायु मिलती है, परन्तु जैसे उन्हें ग्रहण करनेवालेको स्वप्नसे ही उनका फल मिलता है, उसी तरह जीवमें शुभ-अशुभ कर्मका परिणमन होता है, और उसका फल मिलता है । इस तरह जीव कर्मका भोक्ता समझमें आता है ।

एक रांकने एक नृप, ए आदि जे भेद ।

कारण बिना न कार्य ते, ए ज शुभाशुभ वेच ॥ ८४ ॥

एक रक है और एक राजा है, इत्यादि प्रकारसे नीचता, उच्चता, कुरूपता, सुरूपता आदि बहुतसी विचित्रतायें देखी जाती हैं, और इस प्रकारका जो भेद है वह सबको समान नहीं रहता—यही जीवको कर्मका भोक्तृत्व सिद्ध करता है । क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती ॥

यदि उस शुभ-अशुभ कर्मका फल न होता हो तो एक रक है और एक राजा है इत्यादि जो भेद है, वह न होना चाहिये । क्योंकि जीवत्व और मनुष्यत्व तो सबमें समान है, तो फिर सबको सुख-दुःख भी समान ही होना चाहिये । इसलिये जिसके कारण ऐसी विचित्रतायें मादूम होती हैं, वही शुभाशुभ कर्मसे उत्पन्न हुआ भेद है । क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती । इस तरह शुभ और अशुभ कर्म भोगे जाते हैं ।

फळदाता ईश्वरतणी, एमां नयी जरूर ।

कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोगधी दूर ॥ ८५ ॥

इसमें फळदाता ईश्वरकी कुछ भी जरूरत नहीं है । जहर और अमृतकी तरह शुभाशुभ कर्मका भी स्वप्नसे ही फल मिलता है, और जैसे जहर और अमृत नि सत्व हो जानेपर, फल देनेसे नहीं हैं, उसी तरह शुभ-अशुभ कर्मके भोग लेनेसे कर्म भी नि सत्व हो जानेसे निवृत्त हो

जहर जहररूपसे फल देता है और अमृत अमृतरूपसे फल देता है, उसी अशुभ रूपसे फल देता है और शुभ कर्म शुभरूपसे फल देता है । इसलिये जीव जैसे कर्मको ग्रहण करता है, वैसे वैसे निपाकरूपसे कर्म भी फल देता है । तथा फल देनेके बाद नि सत्व हो जाते हैं, उसी तरह वे कर्म भी भोगसे दूर हो जाते

ते ते भोग्य विशेषनां, स्थानक द्रव्य स्वभाव ।

गहन बात छे शिष्य आ, कहीं सक्षेपे साव ॥ ८६ ॥

उत्कृष्ट शुभ अच्यवसाय उत्कृष्ट शुभ गति है, और उत्कृष्ट अशुभ अच्यवसाय उत्कृष्ट अशुभ गति है, शुभाशुभ अच्यवसाय मिश्र गति है, अर्थात् उस जीवके परिणामको ही मुख्यरूपसे गति कहा जाता है । फिर भी उत्कृष्ट शुभ द्रव्यका उर्ध्वगमन, उत्कृष्ट अशुभ द्रव्यका अधोगमन, शुभ-अशुभकी मिलावट स्थिति, इस तरह द्रव्यका विशेष स्वभाव होता है । तथा उन उन कारणोंसे वैसे ही भोग्यस्थान भी निर्धारित चाहिये । हे शिष्य ! इसमें जड़-चेतनके स्वभाव संयोग आदि सूक्ष्म स्वरूपका बहुतसा विचार समाजित है, इसलिये यह बात गहन है, तो भी उसे अत्यंत सक्षेपमें कही है ॥

शका — यदि ईश्वर कर्मका फल देनेवाला न हो अथवा उसे जगत्का कर्त्ता न मानें, कर्मके भोगनेके विशेष स्थानक—नरक आदि गति आदि स्थान—कहाँसे हो सकते हैं ? क्योंकि उसमें तो ईश्वरके कर्तृत्वकी आवश्यकता है ।

समाधान — मुख्यरूपसे तो उत्कृष्ट शुभ अच्यवसाय ही उत्कृष्ट देवलोक है, उत्कृष्ट अशुभ अच्यवसाय ही उत्कृष्ट नरक है, शुभ-अशुभ अच्यवसाय ही मनुष्य तिर्यच आदि गतियाँ हैं, तथा स्थान विशेष—ऊर्ध्वलोकमें देवगति—इत्यादि जो भेद हैं, वे भी जीवोंके कर्मद्रव्यके परिणाम-विशेष ही हैं । अर्थात् वे सब गतियाँ जीवके कर्मके परिणाम-विशेष आदिसे ही सभन हैं ।

यह बात बहुत गहन है । क्योंकि अचिन्त्य जीव वीर्य और अचिन्त्य पुद्गल-सामर्थ्यके संयोग विशेषसे लोकका परिणाम होता है । उसका विचार करनेके लिये उसे अधिक विस्तारसे कहा चाहिये । परन्तु यहाँ तो मुख्यरूपसे आत्मा कर्मका भोक्ता है, इतना लक्ष करानेका अभिप्राय होनेसे । इस कथनको अत्यंत सक्षेपसे कहा है ।

५ शका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि जीवको उस कर्मसे मोक्ष नहीं है —

कर्त्ता भोक्ता जीव हो, पण तेनो नहीं मोक्ष ।

वीर्यो काल अनत पण, वर्त्तमान छे दोष ॥ ८७ ॥

जीव कर्त्ता और भोक्ता भले ही हो, परन्तु उससे उसका मोक्ष हो सकता है, यह बात नहीं है क्योंकि अनतकाल बीत गया तो भी अभी जीवमें कर्म करनेरूप दोष विद्यमान है ही ।

शुभ करे फल भोगवे, देवादि गति मांय ।

अशुभ करे नरकादि फल, कर्मरहित न क्यांय ॥ ८८ ॥

यदि जीव शुभ कर्म करे तो उससे वह देव आदि गतिमें उसके शुभ फलका भोग करता है, और यदि अशुभ कर्म करे तो वह नरक आदि गतिमें उसके अशुभ फलका भोग करता है, परन्तु किसी भी जगह जीव कर्मरहित नहीं होता ।

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि उस कर्मसे जीवको मोक्ष हो ॥

जैम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफल प्रमाण ।

तेषु निवृत्ति सफलता, माटे मोक्ष सुजाण ॥ ८९ ॥

जिस तरह तूने जीवको शुभ-अशुभ कर्म करनेके कारण जीवको कर्मोंका कर्ता, और कर्ता होनेसे उसे कर्मका भोक्ता समझा है, उसी तरह उसे न करनेसे अथवा उस कर्मकी निवृत्ति करनेसे उसकी निवृत्ति भी होना समझ है । इसलिये उस निवृत्तिकी भी सफलता है, अर्थात् जिस तरह वह शुभाशुभ कर्म निष्फल नहीं जाता, उसी तरह उसकी निवृत्ति भी निष्फल नहीं जा सकती । इसलिये हे विचक्षण ! तू यह विचार कर कि उस निवृत्तिरूप मोक्ष है ।

वीत्यो काल अनंत ते, कर्म शुभाशुभ भाव ।

तेह शुभाशुभ छेदतां, उपजे मोक्ष स्वभाव ॥ ९० ॥

कर्मसहित जो अनंतकाल बीत गया—वह सब शुभाशुभ कर्मके प्रति जीवकी आसक्तिके कारण ही बीता है । परन्तु उसपर उदासीन होनेसे उस कर्मके फलका छेदन किया जा सकता है, और उससे मोक्ष स्वभाव प्रगट हो सकता है ।

देहादि संयोगनो, आत्यंतिक वियोग ।

सिद्ध मोक्ष शाश्वतपदे, निज अनंत सुखभोग ॥ ९१ ॥

देह आदि संयोगका अनुक्रमसे वियोग तो सदा होता ही रहता है, परन्तु यदि उसका ऐसा वियोग किया जाय कि वह फिरसे ग्रहण न हो, तो सिद्धस्वरूप मोक्ष-स्वभाव प्रगट हो, और शाश्वत पदमें अनंत आत्मानन्द भोगनेको मिले ।

६ शका—शिष्य उवाचः—

शिष्य कहता है कि मोक्षका उपाय नहीं है —

होय कदापि मोक्षपद, नहीं अविरोध उपाय ।

कर्मों काल अनंतनां, शार्थी छेद्यां जाय ? ॥ ९२ ॥

कदाचित् मोक्ष-पद हो भी परन्तु उसके प्राप्त होनेका कोई अविरोधी अर्थात् जिससे याथातथ्य प्रतीति हो, ऐसा कोई उपाय माद्वम नहीं होता । क्योंकि अनंतकालके जो कर्म हैं वे अल्प आयुकी मनुष्य-देहसे कैसे छेदन किये जा सकते हैं ?

अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक ।

तेमा मत साचो कयो ? वने न एह विवेक ॥ ९३ ॥

अथवा कदाचित् मनुष्य देहकी अल्प आयु वगैरहकी शका छोड़ भी दें, तो भी सत्सारमें अनेक मत और दर्शन हैं, और वे मोक्षके अनेक उपाय कहते हैं । अर्थात् कोई कुछ कहता है और कोई कुछ कहता है, फिर उनमें कौनसा मत सच्चा है, यह विवेक होना कठिन है ।

कयी जातिमां मोक्ष छे ? कया वेपमां मोक्ष ?

एनो निश्चय ना वने, घणा भेद ए दोष ॥ ९४ ॥

ब्राह्मण आदि किस जातिमें मोक्ष है, अथवा किस वेपसे मोक्ष है, इसका निश्चय होना

कठिन है। क्योंकि जैसे बहुतसे भेद हैं, और इस दोषके कारण भी मोक्षका उपाय प्राप्त होने योग्य दिखाई नहीं देता।

तेयी एम जणाय छे, मजे न मोक्ष-उपाय ।

जीवादि जाण्पातणो, शो उपकार ज थाय ॥ ९५ ॥

इससे ऐसा मालूम होता है कि मोक्षका उपाय प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये जीव आदिका स्वरूप जाननेसे भी क्या उपकार हो सकता है? अर्थात् जिस पदके लिये इसके जाननेकी आवश्यकता है, उस पदका उपाय प्राप्त होना असंभव दिखाई देता है।

पांचे उत्तरथी थयु, समाधान सर्वांग ।

समजु मोक्ष-उपाय तो, उदय उदय सद्भाग (ग्य) ॥ ९६ ॥

आपने जो पाँच उत्तर कहे हैं, उनसे मेरी शकाओंका सर्वांग—सम्पूर्ण रूपसे—समाधान हो गया है। परन्तु यदि मैं मोक्षका उपाय समझ दूँ तो मुझे सद्भाग्यका उदय—अति उदय—हो।

(यहाँ ' उदय ' ' उदय ' शब्द जो दो बार कहा है, वह पाँच उत्तरोंके समाधानसे होने-वाली मोक्षपदकी जिज्ञासाकी तीव्रता दिखाता है)।

समाधान—सद्गुरु उवाचः—

सद्गुरु समाधान करते हैं कि मोक्षका उपाय है —

पांचे उत्तरनी थई, आत्मा विपे प्रतीत ।

थाशे मोक्षोपायनी, सहज प्रतीत ए रीत ॥ ९७ ॥

जिस तरह तेरी आत्मामें पाँच उत्तरोंकी प्रतीति हुई है, इसी तरह मोक्षके उपायकी भी तुझे सहज ही प्रतीति हो जायगी।

यहाँ ' होगी ' और ' सहज ' ये दो शब्द जो सद्गुरुने कहे हैं, वे इसलिये कहे हैं कि जिसे पाँचों पदोंकी शका निवृत्त हो गई है, उसे मोक्षका उपाय समझना कुछ भी कठिन नहीं है, तथा उससे शिष्यकी विशेष जिज्ञासा-वृत्तिके कारण उसे अन्य मोक्षोपायका लाभ होगा—यह सद्गुरुके वचनका आशय है।

कर्मभाव अज्ञान छे, मोक्षभाव निजवास ।

अधकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञानप्रकाश ॥ ९८ ॥

जो कर्मभाव है वही जीवका अज्ञान है, और जो मोक्षभाव है वही जीवका निज स्वरूपमें स्थित होना है। अज्ञानका स्वभाव अधकारके समान है। इस कारण जिस तरह प्रकाश होनेपर दीर्घकालीन अधकार होनेपर भी नाश हो जाता है, उसी तरह ज्ञानका प्रकाश होनेपर अज्ञान भी नष्ट हो जाता है।

जे जे कारण वधनां, तेह वधनो पथ ।

ते कारण छेटक दशा, मोक्षपथ भवअत ॥ ९९ ॥

जो जो कर्म-वधके कारण हैं, वे सब कर्म-वधके मार्ग हैं, और उन सब कारणोंका छेदन करनेवाली जो दशा है वही मोक्षका मार्ग है।

राग द्वेष अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रथ ।

थाय निवृत्ति जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ ॥ १०० ॥

राग द्वेष और अज्ञानकी एकता ही कर्मकी मुख्य गाँठ है, इसके बिना कर्मका बंध नहीं होता। उसकी निवृत्ति जिससे हो वही मोक्षका मार्ग है ।

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभासरहित ।

जेथी केवल पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥ १०१ ॥

‘सत्’—अप्रिनाशी, ‘चैतन्यमय’—सर्वभावको प्रकाश करनेरूप स्वभावमय—अर्थात् अन्य सर्वविभाव और देह आदिके सयोगके आभाससे रहित, तथा ‘केवल’—शुद्ध—आत्माको प्राप्त करना, उसकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति करना, वही मोक्षका मार्ग है ।

कर्म अनत प्रकारनां, तेमा मुख्ये आठ ।

तेमा मुख्ये मोहनीय, हणाय ते कहू पाठ ॥ १०२ ॥

कर्म अनत प्रकारके हैं, परन्तु उनमें ज्ञानावरण आदि मुख्य आठ भेद होते हैं । उसमें भी मुख्य कर्म मोहनीय कर्म हैं । जिससे वह मोहनीय कर्म नाश किया जाय उसका उपाय कहता हूँ ।

कर्म मोहनीय भेद वे, दर्शन चारित्र नाम ।

हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ॥ १०३ ॥

उस मोहनीय कर्मके दो भेद हैं—एक दर्शनमोहनीय और दूसरा चारित्रमोहनीय । परमार्थमें अपरमार्थ बुद्धि और अपरमार्थमें परमार्थबुद्धिको दर्शनमोहनीय कहते हैं, और तथारूप परमार्थको परमार्थ जानकर आत्मस्वभाजमें जो स्थिरता हो, उस स्थिरताको निरोध करनेवाले पूर्व सस्काररूप कथाय और नोकपायको चारित्रमोहनीय कहते हैं ।

आत्मगोध दर्शनमोहनीयका और वीतरागता चारित्रमोहनीयका नाश करते हैं । ये उसको अचूक उपाय हैं । क्योंकि मिथ्याबोध दर्शनमोहनीय है, और उसका प्रतिपक्ष सत्य-आत्मगोध है, तथा चारित्रमोहनीय जो राग आदि परिणामरूप है, उसका प्रतिपक्ष वीतरागभाव है । अर्थात् जिस तरह प्रकाशके होनेसे अंधकार नष्ट हो जाता है—उह उसका अचूक उपाय है—उसी तरह बोध और वीतरागता अनुक्रमसे दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप अधकारके दूर करनेमें प्रकाश स्वरूप हैं, इसलिये वे उसके अचूक उपाय हैं ।

कर्मग्रथ क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह ।

प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो सन्देह ? ॥ १०४ ॥

क्रोध आदि भाजसे कर्मबंध होता है, और क्षमा आदि भाजसे उसका नाश हो जाता है । अर्थात् क्षमा रखनेसे क्रोध रोका जा सकता है, सरलतासे माया रोकी जा सकती है, सतोपसे लोभ रोका जा सकता है । इसी तरह रति अरति आदिके प्रतिपक्षसे वे सब दोष रोके जा सकते हैं । वही कर्म-बंधका निरोध है, और वही उसकी निवृत्ति है । तथा इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है, अथवा उसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है । क्रोध आदि रोकनेसे रुक जाते हैं, और जो कर्मके

बधक्रे रोकना है, वह अकर्म दशाका मार्ग है। यह मार्ग परलोकमें नहीं परन्तु यहीं अनुभूयमें आता है, तो इसमें फिर क्या सदेह करना ?

छोटी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प ।

कयो मार्ग आ साधये, जन्म तेहना अल्प ॥ १०५ ॥

यह मेरा मत है, इसलिये मुझे इसी मतमें लगे रहना चाहिये, अथवा यह मेरा दर्शन है, इसलिये चाहे जिस तरह भी हो मुझे उसीकी सिद्धि करनी चाहिये—इस आग्रह अथवा विकल्पको छोड़कर, ऊपर कहे हुए मार्गका जो साधन करेगा, उसके अल्प ही भय बाकी समझने चाहिये।

यहाँ 'जन्म' शब्दका जो बहुवचनमें प्रयोग किया है, वह यही बातनेके लिये किया है कि कश्चित् वे साधन अधूरे रहे हों अथवा उनका जघन्य या मध्यम परिणामोंसे आराधन हुआ हो, तो समस्त कर्मोंका क्षय न हो सकनेसे दूसरा जन्म होना समझ है, परन्तु वे जन्म बहुत नहीं—बहुत ही थोड़े होंगे। इसलिये 'समकित होनेके पश्चात् यदि वादमें जीव उसे वचन न करे, तो अधिकसे अधिक उसके पदरह भय होते हैं, ऐसा जिनभगवान्ने कहा है', तथा 'जो उत्कृष्टतासे उसका आराधन करे उसकी उसी भयमें मोक्ष हो जाती है'—यहाँ इन दोनों बातोंमें विरोध नहीं है।

पदपदना पदपश्च तं, पूठयां करी विचार ।

ते पदनी सर्वागता, मोक्षमार्ग निरधार ॥ १०६ ॥

हे शिष्य ! तूने जो विचार कर छह पदके उह प्रश्नोंको पूँजा है, सो उन पदोंकी सर्वागततामें ही मोक्षमार्ग है, ऐसा निश्चय कर। अर्थात् इनमेंके किसी भी पदको एकातसे अथवा अत्रिचारसे उत्थापन करनेसे मोक्षमार्ग सिद्ध नहीं होता।

जाति वेपनो भेद नहीं, कयो मार्ग जो होय ।

साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय ॥ १०७ ॥

जो मोक्षका मार्ग कहा है, यदि वह मार्ग हो, तो चाहे किसी भी जाति अथवा वेपसे मोक्ष हो सकती है, इसमें कुछ भी भेद नहीं। जो उसकी साधना करता है, वह मुक्ति-पदको पाता है। तथा उस मोक्षमें दूसरे किसी भी प्रकारका ऊँच नीच आदि भेद नहीं है। अथवा यह जो वचन कहा है उसमें दूसरा कोई भेद-केर-फार—नहीं है।

कपायनी उपशातता, मात्र मोक्ष-अभिलाष ।

भवे खेद अंतर दया, ते कहिये जिज्ञास ॥ १०८ ॥

क्रोध आदि कपाय जिसकी मन्द हो गई हैं, आत्मामें केवल मोक्ष होनेके सिवाय जिसकी दूसरी कोई भी इच्छा नहीं, ओर ससारके भोगोंके प्रति जिसे उदामीनता रहती है, तथा अतरगमें प्राणियोंके ऊपर जिसे दया रहती है, उस जीवको मोक्षमार्गका जिज्ञासु कहते हैं, अर्थात् वह जीव मार्गको प्राप्त करने योग्य है।

ते जिज्ञासु जीवने, थाय सहस्रयोध ।

तो पापे सपक्रीतने, वचें अंतरशोध ॥ १०९ ॥

उस जिज्ञासु जीवको यदि सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो वह समकितको पा जाता है और अतरकी शोभमें रहता है ।

मत दर्शन आग्रह तजी, वचें सद्गुरुलक्ष ।

लहे शुद्ध समकित ते, जेमा भेद न पक्ष ॥ ११० ॥

मत ओर दर्शनका आग्रह छोड़कर जो सद्गुरुको लक्षमें रखता है, वह शुद्ध समकितको प्राप्त करता है, जिसमें कोई भी भेद और पक्ष नहीं है ।

वचें निजस्वभावनों, अनुभव लक्ष प्रतीत ।

वृत्ति नहे निजभावमां, परमार्थ समकीत ॥ १११ ॥

जहाँ आत्म स्वभावका अनुभव लक्ष और प्रतीति रहती है, तथा आत्म-स्वभावमें वृत्ति प्रगहित होती है, नहीं परमार्थसे समकित होता है ।

वर्धमान समकित थई, टाळे मिथ्याभास ।

उदय थाय चारित्रनां, वीतरागपद वास ॥ ११२ ॥

वह समकित, बढ़ती हुई धारासे हास्य शोक आदि जो कुछ आत्मामें मिथ्या आभास मालूम हुआ है उसे दूर करता है, ओर उससे स्वभाव-समाविरूप चारित्रका उदय होता है, जिससे समस्त राग द्वेषके क्षयस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होती है ।

केवल निजस्वभावनु, अखड वचें ज्ञान ।

कहिये केवलज्ञान ते, देह छता निर्वाण ॥ ११३ ॥

जहाँ सर्व आभाससे रहित आत्म स्वभावका अखड—जो कभी भी खडित न हो—मद न हो—नाश न हो—ऐसा ज्ञान रहता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं । इस केवलज्ञानके प्राप्त करनेसे, देहके नियमान रहनेपर भी, उक्तृष्ट जीवन्मुक्त दशारूप निर्वाण यहींपर अनुभवमें आता है ।

कोटि वर्षनु स्वप्न पण, जाग्रत यतां शमाय ।

तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान यतां दूर थाय ॥ ११४ ॥

करोड़ों वर्षोंका स्वप्न भी जिस तरह जाग्रत होनेपर तुरत ही शान्त हो जाता है, उसी तरह जो अनादिका निमान है वह आत्मज्ञानके होते ही दूर हो जाता है ।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म ।

नहीं भोक्ता तुं तेहनो, एज धर्मनो मर्म ॥ ११५ ॥

हे शिष्य । देहमें जो जीवने आत्मभाज मान लिया है और उसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सजमें जो अहभाज-ममत्वभाज-रहता है, वह आत्मभाज यदि आत्मामें ही माना जाय, और जो वह देहाध्यास है—देहमें आत्म-सुद्धि और आत्मामें देहसुद्धि है—वह दूर हो जाय, तो तू कर्मका कर्त्ता भी नहीं, ओर भोक्ता भी नहीं—यही धर्मका मर्म है ।

एज धर्मधी मोक्ष छे, तुं छे मोक्षस्वरूप ।

अनत दर्शन ज्ञान तु, अव्यावाध स्वरूप ॥ ११६ ॥

इसी धर्मसे मोक्ष है, और तू ही मोक्षस्वरूप है, अर्थात् शुद्ध आत्मपद ही मोक्ष है । तू अनन्तज्ञान दर्शन तथा अव्याबाध सुखस्वरूप है ।

शुद्ध बुद्ध चैतन्यधन, स्वयज्योति सुखधाम ।

वीजु कहिये केटलु ? कर विचार तो पाम ॥ ११७ ॥

तू देह आदि सत्र पदार्थोंसे जुदा है । आत्मद्रव्य न किसी दूसरेमें मिलता है और न आत्मद्रव्यमें कोई मिलता है । परमार्थसे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे सदा भिन्न है, इसलिये तू शुद्ध है—बोध स्वरूप है—चैतन्य-प्रदेशात्मक है—स्वय-ज्योति है—तेरा कोई भी प्रकाश नहा करता—तू स्वभासे ही प्रकाश स्वरूप है, और अव्याबाध सुखका धाम है । अधिक कितना कहें ? अधिक क्या कहें ? सक्षपमें इतना ही कहते हैं कि यदि तू विचार करेगा, तो तू उस पदको पायेगा ।

निश्चय सर्वे ज्ञानीनो, आवी अत्र शमाय ।

धरी मौनता एम कही, सहजसमाधि मांय ॥ ११८ ॥

सत्र ज्ञानियोंका निश्चय इसीमें आकर समा जाता है—यह कहकर सहज मौन धारण करके—वचन-योगकी प्रवृत्तिका त्याग करके सहज समाधिमें स्थित हो गये ।

शिष्य-बोधवर्जाज-प्राप्ति रुथन—

सद्गुरुना उपदेशर्था, आव्यु अपूर्व भान ।

निजपद निज माही लह्यु, दूर थयु अज्ञान ॥ ११९ ॥

शिष्यको सद्गुरुके उपदेशसे अपूर्व—जो पूर्वमें कभी भी प्राप्त न हुआ हो—भान हुआ, उसे निजका स्वरूप अपने निजमें जैसाका तेसा भासित हुआ, और देहमें आत्म बुद्धिरूप उसका अज्ञान दूर हो गया ।

भास्यु निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप ।

अजर अमर अविनाशी ने, देहातीत स्वरूप ॥ १२० ॥

वह अपना निजका स्वरूप शुद्ध, चेतन्यस्वरूप, अजर, अमर, अविनाशी और देहसे स्पष्ट भिन्न भासित हुआ ।

कर्त्ता भोक्ता कर्मेनो, विभाव वर्त्ते ज्याय ।

वृत्ति वही निजभावमा, थयो अर्कृता ल्याय ॥ १२१ ॥

जहाँ विमान—मिथ्यात्व—रहता है, वहीं मुरयनयसे कर्मका कर्त्तापन और भोक्तापन है, आत्म-स्वभासे वृत्ति प्रवाहित होनेसे तो यह जीव अकर्त्ता हो जाता है ।

अथवा निजपरिणाम जे, शुद्ध चेतनारूप ।

कर्त्ता भोक्ता तेहनो, निर्विकल्पस्वरूप ॥ १२२ ॥

अथवा शुद्ध चैतन्यस्वरूप जो आत्म परिणाम है, जीव उमका निर्विकल्प स्वरूपसे कर्त्ता और भोक्ता है ।

मोक्ष कही निजशुद्धता, ते पामे ते पथ ।

समजाव्यो सक्षेप्या. मकळ मारी निर्ग्रन्थ ॥ १२३ ॥

आत्माका जो शुद्धपद है वही मोक्ष है, ओर जिससे वह मोक्ष प्राप्त किया जाय वह मोक्षका मार्ग है। श्रीसद्गुरुने कृपा करके निर्ग्रन्थके सकल मार्गको समझाया है।

अहो ! अहो ! श्रीसद्गुरु, करुणासिंधु अपार ।

आ पामरपर प्रभु कर्या, अहो ! अहो ! उपकार ॥ १२४ ॥

अहो ! अहो ! करुणाके अपार, समुद्रस्वरूप, आत्म-लक्ष्मीसे युक्त सद्गुरु ! आप प्रभुने इस पामर जीवपर आश्चर्यजनक उपकार किया है।

शुं प्रभु चरणरुने धरू ! आत्माथी सौ हीन ।

ते तो प्रभुए आपियो, वरुँ चरणाधीन ॥ १२५ ॥

मैं प्रभुके चरणोंके समक्ष क्या रक्खूँ ? (सद्गुरु तो यद्यपि परम निष्काम हैं—एकमात्र निष्कारण करुणासे ही उपदेशके देनेवाले हैं, परन्तु गिधने शिष्य-धर्मसे ही यह वचन कहा है)। जगत्में जितनेभर पदार्थ हैं, वे सब आत्माकी अपेक्षासे तो मूल्यहीन ही हैं। फिर उस आत्माकी ही जिसने प्रदान किया है, उसके चरणोंके समीप मैं दूसरी ओर क्या भेंट रक्खूँ ? मैं केवल उपचारसे इतना ही करनेको समर्थ हूँ कि मैं एक प्रभुके चरणोंके ही आधीन रहूँ।

आ देहादि आजर्था, वरुँ प्रभुआधीन ।

दास दास हुं दास छु, तेह प्रभुनो दीन ॥ १२६ ॥

इस देह आदि शब्दसे जो कुछ मेरा माना जाता है, वह आजसे ही सद्गुरु प्रभुके आधीन रहो। मैं उस प्रभुका दास हूँ—दास हूँ—दीन दास हूँ।

पद् स्थानक समजावीने, भिन्न वतान्यो आप ।

म्यानथकी तरवारवत्, ए उपकार अमाप ॥ १२७ ॥

हे सद्गुरु देव ! छह स्थानोंको समझाकर, जिस तरह कोई म्यानसे तलवारको अलग निकालकर बताता है, उसी तरह आपने देह आदिसे आत्माको स्पष्ट भिन्न बताई है। इसलिये आपने मेरा अमीम उपकार किया है।

उपसहार—

दर्शन पटे शमाप ठे, आ पद् स्थानक मांहि ।

विचारतां विस्तारथी, सशय रहे न काइ ॥ १२८ ॥

छहों दर्शन इन छह स्थानोंमें समाधि हो जाते हैं। इनका विशेषरूपसे विचार करनेसे इसमें किसी भी प्रकारका सशय नहीं रह जाता।

आत्मभ्रातिसम रोग नहीं, सद्गुरु वैद्य मुजान ।

गुरुआज्ञासम पथ्य नहीं, औपथ विचार ध्यान ॥ १२९ ॥

आत्माको जो अपने निज स्वरूपका भान नहीं—इसके समान दूसरा कोई भी रोग नहीं, सद्गुरुके समान उसका कोई भी सच्चा अथवा निपुण वैद्य नहीं, सद्गुरुकी आज्ञापूर्वक चखनेके समान दूसरा कोई भी पथ्य नहीं, और विचार तथा निदिध्यासनके समान उसकी दूसरी कोई भी औपधि नहीं।

जो इच्छो परमार्थ तो, करो मत्य पुरुपार्थ ।

भवस्थिति आदि नाम लइ, छेदो नहीं आत्मार्य ॥ १३० ॥

यदि परमार्थकी इच्छा करते हो तो सच्चा पुरुषार्थ करो, और भगवस्थिति आदिका नाम लेकर आत्मार्थका छेदन न करो ।

निश्चयवाणी साभळी, साधन तजवां नोय ।

निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवा सोय ॥ १३१ ॥

आत्मा अवग्रह है, असग है, सिद्ध है, इस निश्चय-प्रधान वाणीको सुनकर साधनोंका त्याग करना योग्य नहीं । परन्तु तथारूप निश्चयको लक्षमें रखकर साधन जुटाकर उस निश्चय स्वरूपको प्राप्त करना चाहिये ।

नय निश्चय एकांतधी, आमा नधी कहेल ।

एकाते व्यवहार नहीं, वचे साथ रेहल ॥ १३२ ॥

यहाँ एकातसे निश्चयनयको नहीं कहा, अथवा एकातसे व्यवहारनयको भी नहीं कहा । दोनों ही यहाँ जहाँ जिस जिस तरह घटते हैं, उस तरह साथ रहते हैं ।

गच्छमतनी जे कल्पना, ते नहीं सद्व्यवहार ।

भान नहीं निजरूपनु, ते निश्चय नहीं सार ॥ १३३ ॥

गच्छ-मतकी जो कल्पना है, वह सद्व्यवहार नहीं, किन्तु आत्मार्थके लक्षणमें जो दशा नहीं है और मोक्षके उपायमें जिज्ञासुके जो लक्षण आदि कहे हैं, वही सद्व्यवहार है, उसे यहाँ श्लेषसे कहा है । जीवको अपने स्वरूपका तो भान नहीं—जिस तरह देह अनुभवं आती है, उस तरह आत्माका अनुभव तो हुआ नहीं—ब्रह्मि देहाध्यास ही रहता है—और वह वैराग्य आदि साधनके प्राप्त किये बिना ही निश्चय निश्चय चिन्ताया करता है, किंतु वह निश्चय सारभूत नहीं है ।

आगळ ज्ञानी थई गया, वर्त्तमानमां होय ।

थाशे काल भविष्यमा, मार्गभेद नहीं कोय ॥ १३४ ॥

भूतकालमें जो ज्ञानी-पुरुष हो गये हैं, वर्त्तमानकालमें जो मौजूद हैं, और भविष्यकालमें जो होंगे, उनका किसीका भी मार्ग भिन्न नहीं होता, अर्थात् परमार्थसे उन सबका एक ही मार्ग है, और यदि उसे प्राप्त करने योग्य व्यवहारको, उसी परमार्थके साधकरूपसे, देश काल आदिके कारणभेदपूर्वक कहा जाय, तो भी वह एक ही फलको उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये उसमें परमार्थसे भेद नहीं है ।

सर्व जीव छे सिद्धसम, जे समजे ते थाय ।

सद्गुरुआज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण माय ॥ १३५ ॥

सब जीवोंमें सिद्ध-सत्ता समान है, परन्तु वह तो उसे ही प्रगट होती है जो उसे समझता है । उसके प्रगट होनेमें सद्गुरुकी आज्ञासे प्रवृत्ति करना चाहिये, तथा सद्गुरुसे उपदेश की हुई जिन-दशाका पालन करना चाहिये—ये दोनों ही निमित्त कारण हैं ।

उपादाननु नाम लई, ए जे तजे निमित्त ।

पामे नहीं सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित ॥ १३६ ॥

सद्गुरुकी आज्ञा आदि आत्म-साधनके निमित्त कारण हैं, और आत्माके ज्ञान दर्शन

उसके उपादान कारण हैं—ऐसा शालमें कहा है । इससे उपादानका नाम लेकर जो कोई उस निमित्तका त्याग करेगा वह सिद्धत्वको नहीं पा सकता, ओर वह भ्रातियों ही रहा करेगा । क्योंकि शास्त्रमें उस उपादानकी व्याख्या सच्चे निमित्तके निषेध करनेके लिये नहीं कही । परन्तु शास्त्रकारकी कही हुई उस व्याख्याका यही परमार्थ है कि उपादानके अजाप्रत रखनेसे सच्चा निमित्त मिलनेपर भी काम न होगा, इसलिये सद्निमित्त मिलनेपर उस निमित्तका अखण्ड लेकर उपादानको सम्मुख करना चाहिये, और पुरुषार्थहीन न होना चाहिये ।

मुखर्था ज्ञान कथे अने, अंतर लुप्त्यो न मोह ।

ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानीनो द्रोह ॥ १३७ ॥

जो मुखसे निश्चय-प्रधान वचनोंको कहता है, परन्तु अतरसे जिसका अपना मोह छूटा नहीं, ऐसा पामर प्राणी मान केवलज्ञानी कहलवानेकी कामनासे ही सद्ज्ञानी पुरुषका द्रोह करता है ।

दया शांति समता क्षमा, सत्य त्याग वैराग्य ।

होय मुमुक्षुघटविषे, एह सदाय सुजाग्य ॥ १३८ ॥

दया, शांति, समता, सत्य, त्याग, और वैराग्य गुण मुमुक्षुके घटमें सदा ही जाग्रत रहते हैं, अर्थात् इन गुणोंके बिना तो मुमुक्षुपना भी नहीं होता ।

मोहभाव क्षय होय ज्या, अथवा होय प्रशांत ।

ते कहिये ज्ञानी दशा, बाकी कहिये भ्रात ॥ १३९ ॥

जहाँ मोहभावका क्षय हो गया है, अथवा जहाँ मोह-दशा क्षीण हो गई हो, उसे ज्ञानीकी दशा कहते हैं, और नहीं तो जिसने अपनेमें ही ज्ञान मान लिया हो, वह तो केवल भ्राति ही है ।

सरल जगत् ते एठवत्, अथवा स्रमसमान ।

ते कहिये ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान ॥ १४० ॥

समस्त जगत्को जिसने उच्छिष्ट समान समझा है, अथवा जिसके ज्ञानमें जगत् स्वप्नके समान मायम होता है, वही ज्ञानीकी दशा है, बाकी तो सर केवल वचन-ज्ञान—मात्र कथन ज्ञान—ही है ।

स्थानक पाच विचारिनि, छठे वर्त्ते जेह ।

पांचे स्थानक पाचसु, एमां नहीं सदेह ॥ १४१ ॥

पाँचों पदोंका निचारकर जो छठे पदमें प्रवृत्ति करता है—जो मोक्षके उपाय ऊपर फहे हैं, उनमें प्रवृत्ति करता है—वह पाँचों स्थानक मोक्षपदको पाता है ।

देह छर्ता जेनी दशा, वर्त्ते देहातीत ।

ते ज्ञानीनां चरणमां, हो वदन अगणित ॥ १४२ ॥

जिसे पूर्व प्रारम्भके योगसे देह रहनेपर भी जिसकी दशा उस देहसे अतीत—देह आदिकी कल्पनारहित—आमामय रहती है, उस ज्ञानी-पुरुषके चरण-रूपमें अगणित बार वदन हो । वदन हो ।

श्रीसद्गुरुचरणार्पणमस्तु ।

६६१

जीवनको बंधनके मुख्य दो हेतु हैं—राग और द्वेष ।

रागके अभावसे द्वेषका अभाव होता है ।

राग मुख्य है ।

रागके कारण ही आत्मा संयोगमें तमय रहती है ।

वही मुख्यरूपसे कर्म है ।

ज्यों ज्यों राग-द्वेष मद् होते हैं त्यों त्यों कर्म-बंध भी मद् होता है, और ज्यों ज्यों राग-द्वेष तीव्र होते हैं त्यों त्यों कर्म-बंध भी तीव्र होता है । जहाँ राग-द्वेषका अभाव है वहाँ कर्म-बंधका सापराधिक अभाव है ।

राग द्वेष होनेका मुख्य कारण मिथ्यात्व—असम्यग्दर्शन है ।

सम्यग्ज्ञानसे सम्यग्दर्शन होता है, उससे असम्यग्दर्शनकी निवृत्ति होती है । उस जीवनको सम्यक्चारित्र प्रगट होता है । वहाँ वीतरागदशा है ।

सम्पूर्ण वीतरागदशा जिसे रहती है, उसे हम चरमशरीरी मानते हैं ।

६६२

*बधविहाण विमुक्क, वदिअ सिरिवद्धमाणजिणचंद ॥

×सिरिवीरजिण वदिअ, कम्मविवाग समासओ वुच्छ ।

कीरई जिण्ण हेऊहिं, जेण तो भण्णए कम्म ॥

+कम्मदब्बेहिं सम, सजोगा जो होई जीवस्स ।

सो बधो णायब्बो, तस्स वियोगो भवे मोक्खो ॥

६६३ नड्डियाद, आसोज वदी १० शनि १९५२

(१)

१ श्रीसद्गुरुदेवके अनुग्रहसे यहाँ समाधि है ।

श्री २ इसके साथ एकात्ममें अवगाहन करनेके लिये आत्मसिद्धिशान् भेजा है । वह हालमें को अग्राहन करने योग्य है ।

श्री ३ अथवा श्री ४ की यदि जिनागमके विचारनेका इच्छा हो तो आचाराग, सूय-गडाग, दशवेकालिक, उत्तराप्ययन और प्रश्नव्याकरण विचार करने योग्य है ।

* यह सम्पूर्ण गाथा निम्नरूपसे है —

बधविहाणविमुक्क वदिअ सिरिवद्धमाणजिणचद । गईआईसु वुच्छ, समासओ बधसामित्त ॥

अथात् कर्म बधकी रचनासे रहित श्रीवर्धमानजिनको नमस्कार करके गति आदि चौदह मार्गणाओंद्वारा संक्षेपसे बध-स्वामित्वको वढ़ूँगा ।

× श्रीवीरजिनको नमस्कार करके संक्षेपसे कर्मविपाक नामक ग्रन्थको कढ़ूँगा । जो जीवसे किसी हेतुद्वारा किं जाता है, उसे कर्म कहते हैं ।

+ अर्थके लिये देखो अक ६२७ ।

जहाँ सम्यग्दर्शनसहित त्रिपयारभकी निवृत्ति—राग-द्वेषका अभाव—हो जाता है, वहाँ समाधि का सदुपाय जो शुद्धाचरण है वह प्रकट होता है ॥ ५ ॥

जहाँ इन तीनोंके अभिन्न स्वभाससे परिणमन होनेसे आत्मस्वरूप प्रकट होता है, वहाँ निश्चयसे अनन्य सुखदायक पूर्ण परमपदकी प्राप्ति होती है ॥ ६ ॥

जीव अजीव पदार्थ, तथा पुण्य, पाप, आसन्न, वय, सत्त्व, निर्जरा ये सात तत्त्व मिलकर नौ पदार्थ होते हैं ॥ ७ ॥

जीव अजीवमें इन नौ तत्त्वोंका समावेश हो जाता है । वस्तुका विशेषरूपसे विचार करनेके लिये महान् मुनिराजोंने इन्हें भिन्न भिन्न प्ररूपित किया है ॥ ८ ॥

६६९ वराणीआ, कार्तिक वदी २ शुक्र १९५३

ज्ञानियोंने मनुष्यभक्तको चिंतामणि रत्नके समान कहा है, इसका यदि विचार करो तो यह प्रत्यक्ष समक्षमें आनेवाली बात है । विशेष विचार करनेसे तो उस मनुष्यभवका एक एक समय भी चिंतामणि रत्नसे परम माहात्म्यगान और मूल्यगान मालूम होता है । तथा यदि वह मनुष्यभक्त देहाधर्म ही व्यतीत हो गया, तो वह एक फूटी कौड़ीकी कीमतका भी नहीं, यह निस्तन्देह मालूम होता है ।

६७० वराणीआ, कार्तिक वदी १५ शुक्र १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

जत्रतक देहका और प्रारब्धका उदय बलवान हो तत्रतक देहसबधी कुटुम्बको—जिसका भरण-पोषण करनेका सबध न छूट सकनेगला हो, अर्थात् गृह्यासपर्यंत जिसका भरण-पोषण करना उचित हो—यदि भरण-पोषण मात्र मिलता हो, तो उसमें मुमुक्षु जीव सतोष करके आत्महितका ही विचार और पुरुषार्थ करता है । वह देह ओर देहसबधी कुटुम्बके माहात्म्य आदिके लिये परिग्रह आदिकी परिणामपूर्वक स्मृतिको भी नहीं होने देता । क्योंकि वे परिग्रह आदिकी प्राप्ति आदि ऐसे कार्य हैं कि वे बहुत करके आत्महितके असरको ही प्राप्त नहीं होने देते ।

६७१ वराणीआ, मगसिर सुदी १ शनि १९५३

ॐ सर्वज्ञाय नमः

अल्प आयु, अनियत प्राप्ति, असीम—गलतान—असत्सग, प्राय करके पूर्वकी अनाराधकता, बलनीर्यकी हीनता—इन कारणोंसे रहित जहाँ कोई निरला ही जीव होगा, ऐसे इस कालमें, पूर्वमें कभी भी न जाना हुआ, प्रतीति न किया हुआ, आराधन न किया हुआ, और स्वभाससे असिद्ध ऐसा मार्ग प्राप्त

त्रिपयारम निवृत्ति, रागद्वेषनो अभाव ज्यां थाय । सहित सम्यग्दर्शन, शुद्धाचरण त्या समाधि सदुपाय ॥ ५ ॥
 त्रणे अभिन्न स्वभासे, परिणामी आत्मस्वरूप ज्या थाय । पूर्ण परमपदप्राप्ति, निश्चयथी त्या अनन्य सुखदाय ॥ ६ ॥
 जीव अजीव पदार्थों, पुण्य पाप आसन्न तथा वध । सत्त्व निर्जरा मोक्ष, तत्त्व कक्षा नव पदार्थ सबध ॥ ७ ॥
 जीव अजीव विशेषे, नये तत्त्वनों समावेश थाय । वस्तु विचार विशेषे, भिन्न प्रवीण्या महान् मुनिराय ॥ ८ ॥

करना कठिन हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। फिर भी जिसने एक उसे ही प्राप्त करनेके सिवाय दूसरा कोई भी लक्ष नहीं रखा, वह इस कालमें भी अशुभ ही उभ मार्गका प्राप्त करता है।

मुमुक्षु जीव लौकिक कारणोंमें अधिक हर्ष विपाद नहीं करता।

६७२ वनाणीआ, मगसिर सुदी ६ गुरु १२५३

श्रीमाणकचन्द्रकी देहके छूट जानेके समाचार मालूम हुए।

सर्व देहधारी जीव मरणके समाप शरणाहित हैं। जिसने मात्र उस देहका प्रथममे ही यथार्थ स्वरूप जानकर उसका ममत्व नष्ट कर, निज-स्थिरताको अथवा ज्ञानीके मार्गकी यथार्थ प्रतीतिको पा लिया है, वही जीव उस मरण-मगयमें शरणसहित होकर प्रायः किरसे देह धारण नहीं करता, अथवा मरणकालमें देहके ममत्वमात्रकी अल्पता होनेसे भी वह निर्भय रहता है। देहके छूटनेका समय अनियत है, इसलिये विचारवान पुरुष अप्रमादभावसे पहिलेसे ही उसके मगयके निवृत्त करनेके अनिरोधी उपायोंका साधन करते हैं, और इसीका तुम्हें ओर हमें सबको लक्ष रखना चाहिये। यद्यपि प्राति प्रयत्नसे खेद होना सम्भव है, परन्तु इसमें अथ कोई उपाय न होनेसे, उस खेदको वैराग्यस्वरूपमें परिणमन करना ही विचारवानका कर्तव्य है।

६७३ वनाणीआ, मगसिर सुदी १० सोम १९५३

सर्वज्ञाय नमः

योगशास्त्रके आदिके दो प्रकरण, पचीकरण, दासयोग तथा विचारसागर ये प्रथ तुम्हें विचार करने योग्य हैं। इनमेंसे किसी प्रथको यदि तुमने पहिले बाँचा हो तो भी उन्हें किरसे बाँचना और विचारना योग्य है। ये प्रथ जैन-पद्धतिके नहीं हैं, यह जानकर उन प्रथोंका विचार करते हुए क्षोभ प्राप्त करना उचित नहीं।

लौकिक दृष्टिमें जो जो बातें अथवा वस्तुयें—जैसे शोभायुक्त गृह आदि आरम्भ, अलंकार आदि परिग्रह, लोक-दृष्टिकी विचक्षणता, लोकमाय धर्मकी श्रद्धा—ब्रह्मणकी मानी जाती है उन सब बातों और वस्तुओंका ग्रहण करना प्रत्यक्ष जहरका ही ग्रहण करना है, इस बातको यथार्थ समझे विना ही तुम उन्हें धारण करते हो, इससे उस वृत्तिका लक्ष नहीं होता। आरम्भमें उन बातों और वस्तुओंके प्रति जहर-दृष्टि आना कठिन समझकर कायर न होते हुए पुरुषार्थ करना ही उचित है।

६७४ वनाणीआ, मगसिर सुदी १२, १९५३

सर्वज्ञाय नमः

१ आत्मसिद्धिकी टीकाके पृष्ठ मिले हैं।

२ यदि सफलताका मार्ग समझमें आ जाय तो इस मनुष्यदेहका एक एक समय भी सर्वोत्कृष्ट चित्तमणि है, इसमें संशय नहीं।

(२) श्री तथा श्री आत्मसिद्धिशास्त्रको विशेषरूपसे मनन करें । तथा अन्य मुनियोंको भी प्रश्नव्याकरण आदि सूत्रोंको संपुरणके लक्षसे सुनाया जाय तो सुनायें ।

६८५

वराणीआ, माघ वदी १२, १९५३

+ ते माटे उभा कर जोडी, जिनवर आगळ कहिये रे ।

समय चरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनन्दघन लहिये रे ॥

(२) कर्मग्रन्थ शास्त्रको हालमें आदिसे अन्ततक पाँचनेका श्रमण करनेका और अनु-प्रेक्षा करनेका परिचय रख सको तो रखना । हालमें उसे पाँचनेमें सुननेमें नित्यप्रति दोसे चार घड़ी नियमपूर्वक व्यतीत करना योग्य है ।

६८६

वराणीआ, फाल्गुन सुदी २, १९५३

(१) एकान्त निश्चयसे मति आदि चार ज्ञान, सम्पूर्ण शुद्ध ज्ञानकी अपेक्षासे विकल्पज्ञान कहे जा सकते हैं, परंतु ये ज्ञान सम्पूर्ण शुद्ध ज्ञान अर्थात् निर्मिकल्पज्ञान उत्पन्न होनेके साधन हैं । उसमें भी श्रुतज्ञान तो मुख्य साधन है, उस ज्ञानका केवलज्ञान उत्पन्न होनेमें अन्ततक अवलमन रहता है । कोई जीव यदि इसका पहिलेसे ही त्याग कर दे तो वह केवलज्ञान प्राप्त नहीं करता ।

केवलज्ञानतककी दशा प्राप्त करनेका हेतु श्रुतज्ञानसे ही होता है ।

(२) कर्मवधकी विचित्रता सबको सम्यक् (अच्छी तरह) समझमें आजाय, ऐसा नहीं होता ।

६८७

* त्याग त्रैगुण्य न चित्तमा, वाय न तेने ज्ञान ।

अटके त्याग त्रैगुण्यमा, तो भूले निजभान ॥

× जहा कल्पना जल्पना, हा मानु दुख छाई ।

मिटे कल्पना जल्पना, तब तब तिन पाई ॥

पढे पार कहा पामवो, मिटे न मनकी आश ।

ज्यों मोल्हुके बैलको, घर ही मोश हजार ॥

‘मोहनीय’का स्वरूप इम जीवको वारम्बार अत्यन्त विचारने योग्य है । उस मोहनीयने महा मुनीश्वरोंको भी पलभरमें अपने पाशमें फँसाकर ऋद्धि-सिद्धिसे अत्यन्त विमुक्त कर दिया है, शारदत सुखको छीनकर उहाँ क्षणभंगुरतामें ललचाकर भटकाया है । इसलिये निर्मिकल्प स्थिति लाकर, आत्म-स्वभावामें रमण करना और केवल द्रष्टारूपसे रहना, यह ज्ञानियोंका जगह जगह उपदेश है । उस उपदेशके यथार्थ प्राप्त होनेपर इस जीवका कल्याण हो सकता है । जिज्ञासामें रहे यह योग्य है ।

+ इस कारण मैं हाथ जोड़कर खड़ा रहकर जिनमगवान्के आगे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे शास्त्रानुसार चारित्र्यकी शुद्ध सेवा प्रदान करो, जिससे मैं आनन्दघनको प्राप्त करूँ ।

* आत्मसिद्धि ७ ।

× अक ११ पृ १८१ — अनुवादक

* कर्म मोहिनी भेद वे, दर्शन चारित्र नाम ।

हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम ॥ ३^अ शान्ति ।

६८८

वराणीआ, फाल्गुन वदी ११, १९५३

(१) कर्मप्रथ विचारनेसे कपाय आदिका बहुतसा स्वरूप यथार्थ समझमें नहीं आता, उसे विशेष अनुप्रेक्षासे, त्याग वृत्तिके बलसे, समागममें समझना योग्य है ।

(२) ज्ञानका फल निरति है । वीतरागका यह वचन सप्त मुमुक्षुओंको नित्य स्मरणमें रखना योग्य है । जिसके बौचनेसे, समझनेसे ओर विचारनेसे आमा विभाजसे, विभाजके कार्यसे, ओर विभाजके परिणामसे उदास न हुई, विभाजकी त्यागी न हुई, विभाजके कार्यकी ओर विभाजके फलका त्यागी न हुई—उसका बौचना, विचारना और उसका समझना अज्ञान ही है । विचारवृत्तिके साथ त्यागवृत्तिको उत्पन्न करना यही विचार सफल है—यह कहनेका ही ज्ञानीका परमार्थ है ।

(३) समयका अत्रकाश प्राप्त करके नियमित रीतिसे दोसे चार घड़ीतक हालमें मुनियोंको शांत और निरक्त चित्तसे सूयगडाग सूत्रका विचारना योग्य है ।

६८९

वराणीआ, फाल्गुन वदी ११, १९५३

ॐ नमः सर्वज्ञाय

आत्मसिद्धिमें कहे हुए समकितके भेदोंका विशेष अर्थ जाननेकी जिज्ञासाका पत्र मिला है ।

१ आत्मसिद्धिमें तीन प्रकारके समकितका उपदेश किया है —

(१) आत्मपुरुषके वचनकी प्रतीतिरूप, आज्ञाकी अपूर्ण रुचिरूप, स्वच्छद निरोध भावसे आत्मपुरुषकी भक्तिरूप—यह प्रथम समकित है ।

(२) परमार्थकी स्पष्ट अनुभाषासे प्रतीति होना, यह दूसरे प्रकारका समकित है ।

(३) निर्विकल्प परमार्थ अनुभव, यह तीसरे प्रकारका समकित है ।

पहिला समकित दूसरे समकितका कारण है । दूसरा तीसरेका कारण है । ये तीनों ही समकित वीतराग पुरुषने मान्य किये हैं । तीनों समकित उपासना करने योग्य हैं—सत्कार करने योग्य हैं—भक्ति करने योग्य हैं ।

२ केवलज्ञानके उत्पन्न होनेके अंतिम समयतक वीतरागने सत्पुरुषके वचनोंका अवलंबन लेना कहा है । अर्थात् बारहवें क्षीणमोह गुणस्थानतक श्रुतज्ञानसे आत्माके अनुभवको निर्मल करते करते, उस निर्मलताकी सम्पूर्णता प्राप्त होनेपर केवलज्ञान उत्पन्न होता है । उसके उत्पन्न होनेके प्रथम समयतक सत्पुरुषका उपदेश किया हुआ मार्ग आधारभूत है—यह जो कहा है, वह निस्सन्देह सत्य है ।

६९०

(१)

लेख्या — जीके कृष्ण आदि द्रव्यकी तरह भासमान परिणाम ।

अध्ययसाय — छेदया-परिणामकी कुछ स्पष्टरूपसे प्रवृत्ति ।

सकल्प — प्रवृत्ति करनेका कुछ निर्धारित अध्ययसाय ।

विकल्प — प्रवृत्ति करनेका कुछ अपूर्ण, अनिर्धारित, सदेहात्मक अध्ययसाय ।

सजा — आगे पीछेकी कुछ विशेष चित्तजनशाक्ति अत्रया स्मृति ।

परिणाम — जलके द्रवण स्वभावकी तरह द्रव्यकी कथंचित् अत्रस्थातर पानेकी जो शक्ति है

उस अत्रस्थातरकी विशेष धारा—उह परिणति ।

अज्ञान — मिथ्यात्वसहित मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान ।

विभगज्ञान — मिथ्यात्वसहित अतीन्द्रिय ज्ञान ।

विज्ञान — कुछ विशेष ज्ञान ।

(२)

शुद्ध चैतन्य

शुद्ध चैतन्य शुद्ध चैतन्य

सद्भावकी प्रतीति—सम्यग्दर्शन

शुद्धात्मपद

ज्ञानकी सीमा कौनसी है ?

निरावरण ज्ञानकी क्या स्थिति है ?

क्या अद्वैत एकात्मसे घटता है ?

ध्यान और अध्ययन ।

उ० अप०

(३)

जैनमार्ग

१ लोऋ-सस्थान

२ धर्म, अवर्म, आकाश द्रव्य.

३ अरूपित्व

४ सुपम दुपमादि काल

५ उस उस कालमें भारत आदिकी स्थिति, मनुष्यकी ऊचाई आदिका प्रमाण ।

६ सूक्ष्म निगोद

७ दो प्रकारके जीव — भव्य और अभव्य

८ पारिणामिक भावसे विभाव दशा

९ प्रदेश और समय—उसका कुछ व्यावहारिक पारमार्थिक स्वरूप

१० गुण-समुदायसे द्रव्यका भिन्नत्व

११ प्रदेश-समुदायका वस्तुत्व

१२ रूप, रस, गंध और स्पर्शसे परमाणुकी भिन्नता.

- १३ प्रदेशका सकोच-विकास
 १४ उससे घनत्व या सूक्ष्मत्व
 १५ अस्पर्शगति
 १६ एक ही समयमें यहाँ ओर सिद्धक्षेत्रमें अस्तित्व, अथवा उसी समयमें लोकात-गमन
 १७ सिद्धसबधी अरगाह
 १८ जीवकी तथा दृश्य पदार्थकी अपेक्षासे अर्धि मन पर्यन्त और केवलज्ञानकी कुछ व्यापहारिक पारमार्थिक व्याख्या.

‘ उसी प्रकारसे मति-श्रुतकी भी व्याख्या ’

- १९ केवलज्ञानकी कोई अन्य व्याख्या
 २० क्षेत्रप्रमाणकी कोई अन्य व्याख्या
 २१ समस्त विश्वका एक अद्वैततत्त्वपर विचार
 २२ केवलज्ञानके बिना किसी अन्य ज्ञानसे जीवके स्वरूपका प्रत्यक्षरूपसे ग्रहण
 २३ विभाजका उपादान कारण
 २४ तथा उसका समाधानके योग्य कोई प्रकार
 २५ इस कालमें दस बोलोंके व्यवच्छेद होनेका कोई अन्य रहस्य
 २६ केवलज्ञानके दो भेद — बीजभूत केवलज्ञान और सम्पूर्ण केवलज्ञान.
 २७ वीर्य आदि आत्माके गुणोंमें चेतनता
 २८ ज्ञानसे आत्माकी भिन्नता
 २९ वर्तमानकालमें जीवके स्पष्ट अनुभव होनेके ध्यानके मुख्य भेद
 ३० उनमें भी सर्वोत्कृष्ट मुख्य भेद
 ३१ अतिशयका स्वरूप
 ३२ (उद्धृता) लब्धियाँ ऐसी मानी जाती हैं जो अद्वैततत्त्व माननेसे सिद्ध होती हैं
 ३३ लोक-दर्शनका वर्तमानकालमें कोई सुगम मार्ग
 ३४ देहात्-दर्शनका वर्तमानकालमें सुगम मार्ग
 ३५ सिद्धत्व-पर्याय सादि-अनन्त, मोक्ष अनादि-अनन्त
 ३६ परिणामी पदार्थ यदि निरन्तर स्वाकार परिणामी हो तो भी उसका अव्यवस्थित परिणामी-पना, तथा जो अनादिसे हो वह केवलज्ञानमें भासमान हो—ये पदार्थोंमें किस तरह घट सकते हैं ?

(४)

- १ कर्मव्यवस्था
 २ सर्वज्ञता
 ३ पारिणामिकता
 ४ नाना प्रकारके विचार और समाधान.

५ अन्यसे न्यून पराभव.

६ जहाँ जहाँ अन्य सत्र निकल हैं वहाँ वहाँ यह अनिकल है। तथा जहाँ यह अनिकल दिखाई देता है, वहीं अन्य किसीकी क्वचित् अनिकलता रहती है, अन्यथा नहीं।

*६९१

वम्बई, श्रावण १९५०

(१)

१ जिस पत्रमें प्रत्यक्ष-आश्रयका स्वरूप लिखा वह पत्र यहाँ मिला है। मुमुक्षु जीवको परम भक्तिसहित उस स्वरूपकी उपासना करनी चाहिये।

२ जो सत्पुरुष योग-त्रलसहित—जिनका उपदेश बहुतसे जाँकोंको थोड़े ही प्रयाससे मोक्षका सा-ग्ररूप हो सके ऐसे अतिशयसहित—होता है, वह जिस समय उसे प्रारब्धके अनुसार उपदेश-व्यवहारका उदय प्राप्त होता है, उसी समय मुख्यरूपसे प्रायः उस भक्तिरूप प्रत्यक्ष-आश्रय मार्गको प्रकाशित करता है, जैसे उदय-योगके बिना वह प्रायः उसे प्रकाशित नहीं करता।

३ सत्पुरुष जो प्रायः दूसरे किसी व्यवहारके योगमें मुख्यरूपसे उस मार्गको प्रकाशित नहीं करते, वह तो उनका करुणा-स्वभाव है। जगत्के जाँकोंका उपकार पूर्वापर विरोधको प्राप्त न हो अथवा बहुतसे जाँकोंका उपकार हो, इत्यादि अनेक कारणोंको देखकर अन्य व्यवहारमें प्रवृत्ति करते समय, सत्पुरुष जैसे प्रत्यक्ष-आश्रयरूप-मार्गको प्रकाशित नहीं करते। प्रायः करके तो अन्य व्यवहारके उदयमें वे अप्रकट ही रहते हैं। अथवा किसी प्रारब्धविशेषसे वे सत्पुरुषरूपसे किसीके जाननेमें आये भी हों, तो भी उसके पूर्वापर श्रेयका विचार करके, जहाँतक बने वहाँतक वे किसीके विशेष प्रसंगमें नहीं आते। अथवा वे बहुत करके अन्य व्यवहारके उदयमें सामान्य मनुष्यकी तरह ही विचरते हैं।

४ तथा जिससे उस तरह प्रवृत्ति की जाय वैसा प्रारब्ध न हो तो जहाँ कोई उस उपदेशका अवसर प्राप्त होता है, वहाँ भी प्रायः करके वे प्रत्यक्ष-आश्रय-मार्गका उपदेश नहीं करते। क्वचित् प्रत्यक्ष-आश्रय-मार्गके स्थानपर 'आश्रय-मार्ग' इस सामान्य शब्दसे, अनेक प्रकारका हेतु देखकर ही, कुछ कहते हैं, अर्थात् वे उपदेश-व्यवहारके चलानेके लिये उपदेश नहीं करते।

(२)

प्रायः करके जो किन्हीं मुमुक्षुओंको हमारा समागम हुआ है, उनको हमारी दशाके सत्रधमें थोड़े-बहुत अंगसे प्रतीति है। फिर भी यदि किसीको भी समागम न हुआ होता तो अधिक योग्य था।

यहाँ जो कुछ व्यवहार उदयमें रहता है, वह व्यवहार आदि भविष्यमें उदयमें आने योग्य है, ऐसा मानकर, जत्रतक तथा उपदेश-व्यवहारका उदय प्राप्त न हुआ हो तत्रतक हमारी दशाके नियममें तुम लोगोंको जो कुछ समझमें आया हो उसे प्रकाशित न करनेके लिये कहनेमें, यही मुख्य कारण था, और अब भी है।

६९२ श्रीवराणांआ, मोरारी, कार्तिकसे फाल्गुन १९५३

श्रीआनन्दधनजी चौबीसी-विवेचन

(१)

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहू रे ऋत ।

रीशयो साहित सग न परिहरे रे, भांगे साट्टि अनत ॥ ऋषभ० ॥

नाभिराजाके पुत्र श्रीऋषभदेवकी तीर्थकर भेरे परम प्रिय हैं । इस कारण मैं अब किसी भी स्वामाईका इच्छा नहीं करती । ये स्वामी ऐसे हैं कि जो प्रसन्न होनेपर फिर कभी भी सग नहीं डोड़ते । मेरा इनका सग हुआ है इसलिए तो उसकी आदि है, परंतु वह सग अटल होनेसे अनत है ॥ १ ॥

विशेषार्थ — जो स्वरूप-जिज्ञासु पुरुष हैं वे, जिन्होंने पूर्ण शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लिया है ऐसे भगवान्के स्वरूपमें अपनी वृत्तिको तमय करते हैं । इससे उनकी स्वरूपदशा जागृत होती जाती है, ओर वह सर्वोच्छ्रय यथाख्यात चारित्रको प्राप्त होता है । जैसा भगवान्का स्वरूप है वंसा ही शुद्धनयकी अपेक्षा आत्माका भी स्वरूप है । इस आत्मा और सिद्धभगवान्के स्वरूपमें केवल ओपाधिक भेद है । यदि स्वाभाविक स्वरूपसे देखते हैं तो आत्मा सिद्धभगवान्के ही तुल्य है । दोनोंमें इतना ही भेद है कि सिद्धभगवान्का स्वरूप निराकरण है, ओर वर्तमानमें इस आत्माका स्वरूप आरण्यसहित है । अस्तुत इनमें कोई भी भेद नहीं । उस आरण्यके क्षीण हो जानेसे आत्माका सिद्धस्वरूप प्रगट होता है ।

तथा जनतक यह सिद्धस्वरूप प्रगट नहीं हुआ ततक जिन्होंने स्वाभाविक शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर लिया है ऐसे सिद्धभगवान्की उपासना करनी ही योग्य है । इसी तरह अर्हत्भगवान्की भी उपासना करनी चाहिये क्योंकि वे भगवान् सयोगी सिद्ध हैं । यद्यपि सयोगरूप प्रारब्धके कारण वे देहधारी हैं, परन्तु वे भगवान् स्वरूप-समस्थित हैं । सिद्धभगवान्, ओर उनके ज्ञान, दर्शन, चारित्र अथवा वीर्यमें कुछ भी भेद नहीं है, अर्थात् अर्हत्भगवान्की उपासनामें भी यह आत्मा स्वरूप-तमयताको प्राप्त कर सकती है । पूर्व महात्माओंने कहा है —

जे जाणइ अरिहते, दब्बगुणपज्जेवेहिं य ।

सो जाणइ निय अप्पा, मोहो खलु जाइ तस्स लय ।

— जो अर्हत्भगवान्का स्वरूप, द्रव्य गुण ओर पर्यायसे जानता है, वह अपनी आत्माके स्वरूपको जानता है, ओर निश्चयसे उसका मोह नाश हो जाता है ।

उस भगवान्की उपासना जीवोंको किस अनुक्रमसे करनी चाहिये, उसे श्रीआनन्दधनजी नौवें स्तवनमें कहनेवाले हैं, उसे उस प्रसंगपर विस्तारसे कहेंगे ।

भगवान्सिद्धके नाम, गोत्र, वेदनीय ओर आयु इन कर्मोंका भी अभाव रहता है । वे भगवान् सर्वथा कर्मोंसे रहित हैं । तथा भगवान्अर्हत्को केवल आत्मस्वरूपको आरण्य करनेवाले कर्मोंका ही क्षय है, परन्तु उन्हें उपर कहे हुए चार कर्मोंका—वेदन करके क्षीण करनेपर्यन्त—पूर्वव रहता है, इस कारण वे परमात्मा साकार-भगवान् कहे जाने योग्य हैं ।

उन अर्हत्भगवान्में, जिन्होंने पूर्वमें तीर्थकर नामकर्मका शुभयोग उत्पन्न किया है, वे तीर्थकर-भगवान् कहे जाते हैं । उनका प्रताप उपदेश-त्रल आदि महत्पुण्ययोगके प्राप्ति होता है ।

भरतक्षेत्रमें वर्तमान अवसर्पिणीकालमें श्रीरूपभदेउसे लगाकर श्रीवर्धमानतक ऐसे चौबीस तीर्थकर हो गये हैं ।

वर्तमानकालमें वे भगवान् सिद्धालयमें स्वरूपस्थितभाउसे निराजमान हैं । परन्तु भूत-प्रज्ञापनीय नयसे उनमें तीर्थकरपदका उपचार किया जाता है । उस ओपचारिक नयदृष्टिसे उन चौबीस भगवानोंके स्तवनरूप इन चौबीस स्तवनोंकी रचना की गई है ।

सिद्धभगवान् सर्वाथा अमूर्तपदमें स्थित हैं इसलिये उनका स्वरूप सामान्यरूपसे चित्तन करना कठिन है । तथा अर्हंतभगवान्का स्वरूप भी मूलदृष्टिसे चित्तन करना तो वैसा ही कठिन है, परन्तु सयोगी-पदके अलवनपूर्वक चित्तन करनेसे वह सामान्य जीवोंकी भी वृत्तिके स्थिर होनेका कुठ सुगम उपाय है । इस कारण अर्हंतभगवान्के स्तवनसे सिद्धपदका स्तवन हो जानेपर भी इतना विशेष उपकार समझकर, श्रीआनदधनजीने चौबीस तीर्थकरोंके स्तवनरूप इस चौबीसीकी रचना की है । नमस्कारमेंमें भी प्रथम अर्हंतपदके रखनेका यही हेतु है कि उनका हमारे प्रति विशेष उपकारभाउ है ।

भगवान्के स्वरूपका चित्तन करना यह परमार्थदृष्टियुक्त पुरुषोंको गोणतासे निजस्वरूपका ही चित्तन करना है । सिद्धप्राभृतमें कहा है —

जारिस सिद्धसहावो, तारिस सहावो सव्वजीवाण ।

तम्हा सिद्धतरुई, फायव्वा भव्वजीवेहिं ॥

—जैसा सिद्धभगवान्का आत्मस्वरूप है, वैसा ही सन जीवोंकी आत्माका स्वरूप है, इसलिये भव्य जीवोंको सिद्धतनमें रुचि करनी चाहिये ।

इसी तरह श्रीदेवचन्द्रस्वामीने श्रीगान्धुपूज्यके स्तवनमें कहा है ।

जिनपूजा रे ते निजपूजना—यदि यवार्थ मूलदृष्टिसे देखें तो जिनभगवान्की पूजा ही आत्म-स्वरूपका पूजन है ।

इस तरह स्वरूपकी आकाक्षा रखनेवाले महात्माओंने जिनभगवान्की ओर सिद्धभगवान्की उपासनाको स्वरूपकी प्रासिका हेतु माना है । क्षीणमोह गुणस्थानतक उस स्वरूपका चित्तन करना जीवकी प्रबल अलवन है ।

तथा मात्र अकेले अध्यात्मस्वरूपका चित्तन जीवको व्यामोह पैदा करता है, बहुतसे जीवोंको वह शुष्कता प्राप्त कराता है, अथवा स्वेच्छाचारिता उत्पन्न करता है, अथवा उन्मत्त प्रलाप-दशा उत्पन्न करता है । तथा भगवान्के स्वरूपके ध्यानके अलवनसे भक्तिप्रधान दृष्टि होती है और अध्यात्मदृष्टि गौण होती है, इससे शुष्कता, स्वेच्छाचारिता और उन्मत्त-प्रलापित्व नहीं होता । आत्मदशा प्रबल होनेसे स्वामानिक अध्यात्मप्रधानता होती है, आत्मा उच्च गुणोंका सेवन करती है, अर्थात् शुष्कता आदि दोष उत्पन्न नहीं होते, ओर भक्तिमार्गके प्रति भी जुगुप्सा नहीं होती, तथा स्वामानिक आत्मदशा स्वरूप-धीनताको प्राप्त करती जाती है । जहाँ अर्हत् आदिके स्वरूपके ध्यानके अलवनके विना वृत्ति आत्माकारता सेवन करती है, वहाँ

(२)

* वीतरागियोंमें ईश्वर ऐसे ऋषभदेवभगवान् मेरे स्वामी है। इस कारण अब मैं किसी दूसरे कतकी इच्छा नहीं करती। क्योंकि वे प्रभु यदि एक बार भी रीझ जाँय तो फिर छोड़ते नहीं हैं। उन प्रभुका योग प्राप्त होना यह उसकी आदि है, परन्तु वह योग कभी भी निवृत्त नहीं होता, इसलिये वह अनन्त है।

चेतन्यवृत्ति जो जगत्के भागोंसे उदासीन होकर, शुद्धचेतय-स्वभावमें समग्रस्थित भगवान्में प्रीतियुक्त हो गई है, आनन्दधनजी उसके हर्षका प्रदर्शन करते हैं।

अपनी श्रद्धा नामकी सखीको आनन्दधनजीकी चेतयवृत्ति कहती है कि हे सखि ! मैंने ऋषभदेव-भगवान्की साथ लग्न किया है और वह भगवान् मुझे सर्गप्रिय है। यह भगवान् मेरा पति हुआ है, इसलिये अब मैं अन्य किसी भी पतिकी कभी भी इच्छा न करूँगी। क्योंकि अन्य सब जीव जन्म, जरा, मरण आदि दुःखोंसे आकुल व्याकुल हैं—क्षणभरके लिये भी सुखी नहीं हैं, ऐसे जीवोंको पति बनानेसे मुझे सुख कहाँसे हो सकता है ? तथा भगवान् ऋषभदेव तो अनन्त अव्याबाध सुख-समाधिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये यदि उनका आश्रय ग्रहण करूँ तो मुझे भी उस वस्तुकी प्राप्ति हो सकती है। वर्तमानमें उस योगके मिलनेसे, हे सखि ! मुझे परम शीतलता हुई है। दूसरे पतियोंका तो कभी नियोग भी हो जाता है, परन्तु मेरे इस स्वामीका तो कभी भी नियोग हो ही नहीं हो सकता। जबसे वह स्वामी प्रसन्न हुआ है तभीसे वह कभी भी सग नहीं छोड़ता। इस स्वामीके योगके स्वभावको सिद्धातमें 'सादि-अनन्त' कहा है, अर्थात् उस योगके होनेकी आदि तो है, परन्तु उसका कभी भी नियोग होनेवाला नहीं, इसलिये वह अनन्त है। इस कारण अब मुझे कभी भी उस पतिका नियोग नहीं होगा ॥ १ ॥

हे सखि ! इस जगत्में पतिका नियोग न होनेके लिये जियाँ जो नाना प्रकारके उपाय करती हैं, वे उपाय यथार्थ उपाय नहीं है, और इस तरह मेरे पतिकी प्राप्ति नहीं होती। उन उपायोंको मिथ्या बतानेके लिये उनमेंसे थोड़ेसे उपायोंको तुझे कहती हूँ —

कोई स्त्री तो पतिकी साथ काष्ठमें जल जानेकी इच्छा करती है, जिससे सदा ही पतिकी साथ मिलाप रहे। परन्तु वह मिलाप कुछ सभव नहीं है, क्योंकि वह पति तो अपने कर्मानुसार जहाँ उसे जाना था वहाँ चला गया, और जो स्त्री सती होकर पतिसे मिलनेकी इच्छा करता है, वह स्त्री भी मिलापके लिये किसी चितामें जलकर मरनेकी ही इच्छा करती है, परन्तु उसे तो अपने कर्मानुसार ही देह धारण करना है। दोनों एक ही जगह देह धारण करें और पति पत्न्यात्पसे सबद्ध होकर निरन्तर सुखका

* आनन्दधनजीकृत श्रीऋषभजिन स्तवनके पाँच पद्य निम्न प्रकारसे हैं —

- ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, ओर न चाहु रे क्त ।
 रीश्यो सादिव सग न परिहरे रे, भागे सादि अनन्त ॥ ऋषभ० ॥ १ ॥
 कोइ क्त कारण काष्ठभक्षण करे रे, मळशु कतने धाय ।
 ए मेळो नवि कदिये सभवे रे, मेळो ठाम न ठाय ॥ ऋषभ० ॥ २ ॥
 कोई पतिरजन अतिघणु तप करे रे, पतिरजन तनताप ।
 ए पतिरजन में नवि चित धरु रे, रजन धातुमेळाप ॥ ऋषभ० ॥ ३ ॥
 कोई कहे लीला रे अलख अलख तणी रे, लख पूरे मन आष ।
 दोप रहितने लीला नवि घटे रे, लीला दोपविलाप ॥ ऋषभ० ॥ ४ ॥
 चित प्रसन्ने रे पूजनफळ कछु रे, पूजा अस्त्रिण थड ।
 कपटरहित यद आतम अरपणा रे, आनन्दधनबोधे ॥ ॥

*(३)

प्रथम स्तननमें भगवान्में वृत्तिके लीन होनेरूप हर्षको बताया है, परन्तु वह वृत्ति अखड और पूर्णरूपसे लीन हो तो ही आनदघन पदकी प्राप्ति हो सकती है। इससे उस वृत्तिकी पूर्णताकी इच्छा करते हुए भी आनदघनजी दूसरे तीर्थकर श्रीअजितनाथका स्तनन करते हैं। जो पूर्णताकी इच्छा है, उसने प्राप्त होनेमें जो जो निग्रमसञ्चे हैं, उन्हें आनदघनजी भगवान्के दूसरे स्तननमें सक्षेपसे निवेदन करते हैं, और अपने पुरुषत्वको मद देखकर खेदखिन्न होते हैं—इस तरह वे ऐसी भावनाका चितवन करते हैं जिससे पुरुषत्व जाप्रत रहे।

हे सखि ! दूसरे तीर्थकर अजितनाथ भगवान्ने जो पूर्ण लीनताके मार्गका प्रदर्शन किया है—जो सम्यक् चारित्ररूप मार्ग प्रकाशित किया है—उसे जब मैं देखती हूँ तो वह मार्ग अजित है—मेरे समान निर्मल वृत्तिके मुमुक्षुसे अजेय है। तथा भगवान्का जो अजित नाम है वह सत्य ही है, क्योंकि जो बड़े बड़े पराक्रमी पुरुष कहे जाते हैं, उनके द्वारा भी जिस गुणोंके धामरूप पथका जय नहीं हुआ, उसका भगवान्ने जय किया है। इसलिये भगवान्का अजित नाम सार्थक ही है, और अनन्त गुणोंके धामरूप उस मार्गके जीतनेसे भगवान्का गुणोंका धाम कहा जाना सिद्ध है। हे सखि ! परन्तु मेरा नाम जो पुरुष कहा जाता है वह सत्य नहीं। तथा भगवान्का नाम तो अजित है, जिस तरह यह नाम तद्रूप गुणोंके कारण है, उसी तरह मेरा नाम जो पुरुष है वह तद्रूप गुणोंके कारण नहीं। क्योंकि पुरुष तो उसे कहा जाता है जो पुरुषार्थसे सहित हो—स्वपराक्रमसे सहित हो, परन्तु मैं तो वैसा हूँ नहीं। इसलिये मैं भगवान्से कहता हूँ कि हे भगवन् ! तुम्हारा नाम जो अजित है वह यथार्थ है, और मेरा नाम जो पुरुष है वह मिथ्या है। क्योंकि राग, द्वेष, अज्ञान, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दोषोंका तुमने जय किया है इस कारण तुम अजित कहे जाने योग्य हो, परन्तु उन्हीं दोषोंने तो मुझे जीत लिया है, इसलिये मेरा नाम पुरुष कैसे कहा जा सकता है ? ॥ १ ॥

हे सखि ! उस मार्गको पानेके लिये दिव्य नेत्रोंकी आवश्यकता है। चर्मनेत्रोंसे देखते हुए तो समस्त ससार भूला ही हुआ है। उस परम तत्त्वका विचार होनेके लिये जिन दिव्य नेत्रोंकी आवश्यकता है, उन दिव्य नेत्रोंका निश्चयसे वर्तमानकालमें प्रयोग हो गया है।

हे सखि ! उस अजितभगवान्का अजित होनेके लिये ग्रहण किया हुआ मार्ग कुछ इन चर्मचक्षुओंसे दिखाई नहीं पड़ता। क्योंकि वह मार्ग दिव्य है, और उसका अंतरात्मदृष्टिसे ही अवलोकन किया जा सकता है। जैसे एक गाँवसे दूसरे गाँवमें जानेके लिये पृथिवीपर सड़क वगैरह मार्ग होते हैं, उस तरह यह बाह्य मार्ग नहीं है, अथवा वह चर्मचक्षुसे देखनेपर दिखाई पड़नेवाला मार्ग नहीं है, कुछ चर्मचक्षुसे वह अतीन्द्रिय मार्ग दिखाई नहीं देता ॥ २ ॥

* आनदघनजीके अजितनाथ स्तननके दो पद्य निम्नरूपसे हैं—

पथको निहालु रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित गुणधाम ।

जे तेँ जीत्या रे तेणे हु जीतियो रे पुरुष किस्तु मुज नाम ॥ पंथडो० ॥ १ ॥

चरम नयण करि मारग जेवाता रे, भूत्यो सयल ससार ।

जिन नयणे करि मारग जेवियो रे, नयण ते दिव्य विचार ॥ पंथडो० ॥२॥

—अनुवादक

६९३

हे ज्ञातपुत्र भगवन् ! कालकी बलिहारी है ! इस भारतके पुण्यहीन मनुष्योंको तेरा सत्य अखड और पूर्वापर विरोधरहित शासन कहाँसे प्राप्त हो सकता है ? उसके प्राप्त होनेमे इस प्रकारके मित्र उपस्थित हुए है—तेरे उपदेश दिये हुए शास्त्रोंकी कल्पित अर्थसे विरागना की, कितनोंका तो समूह ही खडन कर दिया, ध्यानका कार्य और स्वरूपका कारणरूप जो तेरी प्रतिमा है, उससे कटाक्षदृष्टिसे लाखों लोग फिर गये, और तेरे आदर्श परंपरासे जो आचार्य पुरुष हुए उनके वचनोंमें और तेरे वचनोंमें भी शका डाल दी—एकांतका उपयोग करके तेरे शासनकी निंदा की ।

हे शासन देवि ! कुछ ऐसी सहायता कर कि जिससे मैं दूसरोंको कल्याण-मार्गका बोध कर सकूँ—उसका प्रदर्शन कर सकूँ—उसे सच्चे पुरुष प्रदर्शित कर सकूँ । सर्वोत्तम निर्भ्रय प्रवचनके बोधकी ओर फिराकर उन्हें इन आत्म-विरोधक पथोंसे पीछे खींचनेमें सहायता प्रदान कर ! समाधि और बोधिमें सहायता करना तेरा धर्म है ।

६९४

(१)

ॐ नमः

‘अनंत प्रकारके शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे आकुल व्याकुल जीवोंकी, उन दुःखोंसे छूटनेकी बहुत बहुत प्रकारसे इच्छा होनेपर भी वे उनमेंसे मुक्त नहीं हो सकते—इसका क्या कारण है ?’ यह प्रश्न अनेक जीवोंको हुआ करता है, परन्तु उसका यथार्थ समाधान तो किसी निरले जीवको ही होता है । जगतक दुःखके मूल कारणको यथार्थरूपसे न जाना हो, तबतक उसके दूर करनेके लिये चाहे कितना भी प्रयत्न क्या न किया जाय, तो भी दुःखका क्षय नहीं हो सकता, और उस दुःखके प्रति चाहे कितनी भी अज्ञान अप्रियता और अनिच्छा क्यों न हो, तो भी उन्हें वह अनुभव करना ही पड़ता है ।

अनास्तिक उपायसे यदि उस दुःखके दूर करनेका प्रयत्न किया जाय, ओर उस प्रयत्नके असह्य परिश्रमपूर्वक करनेपर भी, उस दुःखके दूर न होनेसे, दुःख दूर करनेकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षुको अत्यंत व्यामोह हो आता है, अथवा हुआ करता है कि इसका क्या कारण है ? यह दुःख क्यों दूर नहीं होता ? किसी भी तरह मुझे उस दुःखकी प्राप्ति इष्ट न होनेपर भी, स्वप्नमें भी उसके प्रति कुछ भी वृत्ति न होनेपर भी, उसकी ही प्राप्ति हुआ करती है, और मैं जो जो प्रयत्न करता हूँ उन सबके निष्फल हो जानेसे मैं दुःखका ही अनुभव किया करता हूँ, इसका क्या कारण है ?

क्या यह दुःख किसीका भी दूर नहीं होता होगा ? क्या दुःखी होना ही जीवका स्वभाव होगा ? क्या कोई जगत्का कर्त्ता ईश्वर होगा, जिसने इसी तरह करना योग्य समझा होगा ? क्या यह बात भवितव्यताके आधीन होगी ? अथवा यह कुछ भेरे पूर्वमें किये हुए अपराधोंका फल होगा ? इत्यादि अनेक प्रकारके निष्कर्षोंको मनसहित देहधारी जीव किया करते हैं, ओर जो जीव मनसे रहित हैं वे अव्यक्तरूपसे दुःखका अनुभव करते हैं, ओर वे अव्यक्तरूपसे ही उन दुःखोंके दूर हो जानेकी इच्छा किया करते हैं ।

इस जगत्में प्राणीमात्रकी व्यक्त अथवा अव्यक्त इच्छा भी यहीं है कि मुझे किसी भी तरहसे दूःख न हो और सर्वथा सुख ही सुख हो, और उनका प्रयत्न भी इसीलिये है, फिर भी वह दुःख क्यों दूर नहीं होता ? इस तरहके प्रश्न बड़े बड़े विचारवान जीवोंको भी भूतकालमें हुए थे, वर्तमानकालमें भी होते हैं और भविष्यकालमें भी होंगे । तथा उन अनतानत विचारवानोंमेंसे अनत विचारवानोंको तो उसका यथार्थ समाधान भी हुआ है और वे दुःखसे मुक्त हो गये हैं । वर्तमानकालमें भी जिन विचारवानोंको उसका यथार्थ समाधान होता है, वे भी तथारूप फलको प्राप्त करते हैं, और भविष्यकालमें भी जिन जिन विचारवानोंको यथार्थ समाधान होगा वे सब तथारूप फलको पायेंगे, इसमें संशय नहीं है ।

शरीरका दुःख यदि केवल औपम्य करनेसे ही दूर हो जाता, मनका दुःख यदि धन आदिके मिलनेसे ही भाग जाता, और वास्तुसर्गसम्पत्ती दुःख यदि मनको कुछ भी असह्य पेदा न कर सकता, तो दुःखके दूर करनेके लिये जो जो प्रयत्न किये जाते हैं वे सब, सभी जीवोंको सफल हो जाते । परन्तु जब यह होना समझ दिखाई न दिया, तभी विचारवानोंको प्रश्न उठा कि दुःखके दूर होनेके लिये कोई दूसरा ही उपाय होना चाहिये । तथा यह जो कुछ उपाय किया जाता है वह अयथार्थ है, और यह सम्पूर्ण श्रम व्यथा है, इसलिये उस दुःखका यदि यथार्थ मूल कारण जान लिया जाय और तदनुसार उपाय किया जाय तो ही दुःख दूर होना समझ है, नहीं तो यह कभी भी दूर नहीं हो सकता ।

जो विचारवान दुःखके यथार्थ मूल कारणको विचार करनेके लिये उत्कटित हुए हैं, उनमें भी किसी किसीको ही उसका यथार्थ समाधान हुआ है, और बहुतसे तो यथार्थ समाधान न होनेपर भी मति-व्यामोह आदि कारणोंसे ऐसा मानने लगे हैं कि हमें यथार्थ समाधान हो गया है, और वे तदनुसार उपदेश भी करने लगे हैं, तथा अनेक लोग उनका अनुसरण भी करने लगे हैं । जगत्में भिन्न भिन्न जो धर्म-मत देखनेमें आते हैं, उनकी उत्पत्तिका मुख्य कारण यही है ।

विचारवानोंकी विशेषतः यही मान्यता है कि धर्मसे दुःख मिट जाता है । परन्तु धर्मके स्वरूप समझनेमें तो एक दूसरेमें बहुत अन्तर पड़ गया है । बहुतसे तो अपने मूल विषयको ही भूल गये हैं, और बहुतसोंने उस विषयमें अपनी बुद्धिके एक जानेसे अनेक प्रकारसे नास्तिक आदि परिणाम बना लिये हैं ।

दुःखके मूल कारण और उनकी किस किस तरह प्रवृत्ति हुई, इसके सबधमें यहाँ थोड़ेसे मुख्य अभिप्रायोंको संक्षेपमें कहा जाता है ।

(२)

दुःख क्या है ? उसके मूल कारण क्या हैं ? और वह दुःख किस तरह दूर हो सकता है ? उसके सबधमें जिनभगवान् वीतरागने अपना जो मत प्रदर्शित किया है, उसे यहाँ संक्षेपसे कहते हैं.—

अब, वह यथार्थ है या नहीं, उसका अवलोकन करते हैं —

जिन उपायोंका प्रदर्शन किया है, वे उपाय सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं, अथवा उन तीनोंका एक नाम 'सम्यक्मोक्ष' है।

उन वीतरागियोंने अनेक स्थलोंपर सम्यक्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें सम्यग्दर्शनकी ही मुरयता कही है। यद्यपि सम्यग्ज्ञानसे ही सम्यग्दर्शनकी पहिचान होती है, तो भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके बिना ज्ञान, सत्सार-दुःख-का कारणभूत है इसलिये सम्यग्दर्शनकी ही मुरयता बताई है।

ज्यों ज्यों सम्यग्दर्शन शुद्ध होता जाता है, त्यों त्यों सम्यक्चारित्रके प्रति वीर्य उच्छासित होता जाता है, और क्रमपूर्वक सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति होनेका समय आता है। इससे आत्मामें स्थिर स्वभाव सिद्ध होता जाता है, और क्रमसे पूर्ण स्थिर स्वभाव प्रगट होता है, और आत्मा निजपदमें लीन होकर सर्व कर्म-कटकसे रहित होनेसे, एक शुद्ध आत्मस्वरूप मोक्षमें—परम अव्यायाव सुखके अनुभूत-समुद्रमें—स्थित हो जाती है।

सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होनेसे जिस तरह ज्ञान सम्यक्स्वभावको प्राप्त करता है—यह सम्यग्दर्शनका परम उपकार है—ऐसे ही सम्यग्दर्शन क्रमसे शुद्ध होकर पूर्ण स्थिर स्वभाव सम्यक्चारित्रको प्राप्त होता है, उसके लिये उसे सम्यग्ज्ञानके बल्की सच्ची आवश्यकता है। उस सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय वीतरागश्रुत और उस श्रुतत्वका उपदेष्टा महात्मा पुरुष है।

वीतरागश्रुतके परम रहस्यको प्राप्त असंग और परम करुणाशील महात्माका सयोग मिलना अतिशय कठिन है। महान् भाग्योदयके योगसे ही वह योग प्राप्त होता है, इसमें सशय नहीं है। कहा भी है—

तद्वा रुचाण समणाण—

उन श्रमण महात्माओंके प्रवृत्ति-लक्षणोंको परम पुरुषने इस तरह कहा है—

उन महात्माओंके प्रवृत्ति लक्षणोंसे अभ्यन्तरदशाके चिह्नोंका निर्णय किया जा सकता है। यद्यपि प्रवृत्ति-लक्षणोंके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे भी अभ्यन्तरदशाभिप्रेत मिश्रचय होता है, परन्तु किसी शुद्ध वृत्तिमान मुमुक्षुको ही उस अभ्यन्तरदशाकी परीक्षा होती है।

ऐसे महात्माओंके समागम और विनयकी क्या आवश्यकता है ? तथा चाहे कैसा भी पुरुष हो, परन्तु जो अच्छी तरह शास्त्र पढ़कर सुनाता हो ऐसे पुरुषसे भी जीव कल्याणके यथार्थ मार्गको क्यों नहीं पा सकता ? इस आशकाका समाधान किया जाता है—

ऐसे महात्मा पुरुषोंका योग मिलना अत्यन्त अत्यन्त कठिन है। जब श्रेष्ठ देश कालमें भी ऐसे महात्माका योग होना कठिन है, तो ऐसे दुःख-प्रधान कालमें वैसा हो तो इसमें कुछ कहना ही नहीं रहता। कदा भी है —

यद्यपि उस महात्मा पुरुषका योग क्वचित् मिलता भी है, तो भी यदि कोई शुद्ध वृत्तिमान मुमुक्षु पुरुष हो तो वह उस मूर्ध्निमानके समागममें ही अपूर्ण गुणको प्राप्त कर सकता है। जिन महात्मा पुरुषोंके वचनोंके प्रतापसे चक्रवर्ती राजा भी एक मूर्ध्निमानमें ही अपना राजपाट छोड़कर भयकर वनमें तपश्चर्या करनेके लिये चले जाते थे, उन महात्मा पुरुषोंके योगसे अपूर्ण गुण क्यों प्राप्त नहीं हो सकते ?

श्रेष्ठ देश कालमें भी क्वचित् ही महात्माका योग मिलता है। क्योंकि वे तो अप्रतिजद्ध-विहारी होते हैं। फिर ऐसे पुरुषोंका नित्य सग रह सकना तो किस तरह बन सकता है, जिससे मुमुक्षु जीव सर्व दुःखोंका क्षय करनेके अनन्य कारणोंकी पूर्णरूपसे उपासना कर सके ? उसके मार्गको भगवान् जिनने इस तरह अवलोकन किया है —

नित्य ही उनके समागममें आज्ञाधीन रहकर प्रवृत्ति करनी चाहिये, और उसके लिये बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग करना ही योग्य है।

जो उस त्यागको सर्वथा करनेमें समर्थ नहीं है, उन्हें उसे निम्न प्रकारसे एकदेशसे करना उचित है। उसके स्वरूपका इस तरह उपदेश किया है —

उस महात्मा पुरुषके गुणोंकी अतिशयतासे, सम्यक् आचरणसे, परम ज्ञानसे, परम शांतिसे, परम निवृत्तिसे, मुमुक्षु जीवकी अशुभ वृत्तियाँ परावृत्त होकर शुभ स्वभावको पाकर निजस्वरूपके प्रति समुल्लस्य होती जाती हैं।

उस पुरुषके वचन यद्यपि आगमस्वरूप हैं, तो भी वारंवार अपनेसे वचन-योगकी प्रवृत्ति

न होनेके कारण, निरंतर समागमका योग न बननेके कारण, उस वचनका उस तरहका श्रयण स्मरणमें न रहनेके कारण, बहुतसे भाषाओंका स्वरूप जाननेमें आर्तनकी आवश्यकता होनेके कारण, तथा अनुप्रेक्षाके बलकी वृद्धि होनेके लिए, वीतरागश्रुत—वीतरागशास्त्र—एक बलवान उपकारी साधन है। यद्यपि प्रथम तो उस महात्मा पुरुषद्वारा ही उसके रहस्यको जानना चाहिये, परन्तु बादमें तो विशुद्ध दृष्टि हो जानेपर, वह श्रुत महात्माके समागमके अतरायमें भी बलवान उपकारक होता है। अथवा जहाँ उन महात्माओंका सर्वथा सयोग ही नहीं हो सकता, जहाँ भी विशुद्ध दृष्टिवालेको वीतरागश्रुत परम उपकारी है, और इसीलिये महान् पुत्रोंने एक श्लोकसे लगाकर द्वादशागतकी रचना की है।

उस द्वादशागके मूल उपदेष्टा सर्वज्ञ वीतराग हैं। महात्मा पुरुष उनके स्वरूपका निरंतर ध्यान करते हैं, और उस पदकी प्राप्तिमें ही सन कुञ्ज गर्भित है, यह प्रतीतिसे अनुभवमें आता है। सर्वज्ञ वीतरागके रचनको धारण करके ही महान् आचार्योंने द्वादशागकी रचना की थी, और उनकी आज्ञामें रहनेवाले महात्माओंने अन्य अनेक निर्दोष शास्त्रोंकी रचना की है। द्वादशागके नाम निम्न प्रकारसे हैं —

(१) आचाराग, (२) सूत्रकृताग, (३) स्थानाग, (४) समायाग, (५) भगवती, (६) ज्ञाताधर्मकथाग, (७) उपासकदशाग, (८) अतकृतदशाग, (९) अनुत्तरीपपातिक, (१०) प्रदनव्याकरण, (११) विपाक और (१२) दृष्टिवाद।

उनमें इस प्रकारसे निरूपण किया है —

कालदोषसे उनमेंके अनेक स्थल तो विसृष्ट हो गये हैं, और केवल थोड़े ही स्थल बाकी बचे हैं —

जो अल्प स्थल बाकी बचे हैं, उन्हें श्वेताम्बराचार्य एकादश अगके नामसे कहते हैं। दिगम्बर इससे सहमत नहीं हैं और वे ऐसा कहते हैं —

विसृष्ट अथवा मत्ताग्रहकी दृष्टिसे तो उसमें दोनों सम्प्रदाय सर्वथा भिन्न भिन्न मार्गकी तरह देखनेमें आते हैं, परन्तु जब दीर्घदृष्टिसे देखते हैं तो उसका कुछ और ही कारण समझमें आता है।

चाहे जो हो परन्तु इस तरह दोनों बहुत पासमें आ जाते हैं—

निरादके अनेक स्थल तो प्रयोजनशून्य जैसे ही हैं, ओर वे भी परोक्ष हैं ।

अप्राप्त श्रोताको द्रव्यानुयोग आदि भावके उपदेश करनेसे, नास्तिक आदि भावोंके उत्पन्न होनेका समय आता है, अथवा शुष्कज्ञानी होनेका समय आता है ।

अब, इस प्रस्तावनाको यहाँ साक्षित करते हैं, ओर जिस महात्मा पुरुषने ————— (अपूर्ण)

यदि इस तरह अच्छी तरह प्रतीति हो जाय तो

*हिंसारहिओ धम्मो, अट्टारस दोसविरहिओ देवो ।

निग्गंथे पवयणे, सद्दहणे होई सम्मत्त ॥

तथा

जीनको या तो मोक्षमार्ग है, नहीं तो उन्मार्ग है ।

सर्प दुःखका क्षय करनेवाला एक परम सदुपाय, सर्प जीवोंको हितकारी, सर्प दृ खोंके क्षयका एक आत्यन्तिक उपाय, परम सदुपायरूप वीतरागदर्शन है । उसकी प्रतीतिसे, उसके अनुकरणसे, उसकी आज्ञाके परम अन्वयनसे, जीन भव-सागरसे पार हो जाता है । समन्यायसूत्रमें कहा है —

आत्मा क्या है ? कर्म क्या है ? उसका कर्त्ता कौन है ? उसका उपादान कौन है ? निमित्त कौन है ? उसकी स्थिति कितनी है ? कर्त्ता किसके द्वारा है ? वह किस परिमाणमें कर्म बाँध सकता है ? इत्यादि भावोंका स्वरूप जैसा निर्ग्रन्थ सिद्धातमें स्पष्ट सूक्ष्म और सकलनापूर्वक कहा है वैसा किसी भी दर्शनमें नहीं है । ————— (अपूर्ण)

* हिंसारहित धर्म, अट्टारह दोषोंसे रहित देव और निर्ग्रन्थ प्रवचनमें श्रदान करना सम्यक्त्व है ।—अनुवादक

(३)

जैनमार्ग विवेक

अपने समाधानके लिये यथाशक्ति जो जैनमार्ग समझा है, उसका यहाँ कुछ सक्षेपसे विचार करता हूँ—

वह जैनमार्ग, जिस पदार्थका अस्तित्व है उसका अस्तित्व और जिसका अस्तित्व नहीं है उसका नास्तित्व स्वीकार करता है।

वह कहता है कि जिनका अस्तित्व है ऐसे पदार्थ दो प्रकारके हैं—जीव और अजीव। ये पदार्थ स्पष्ट भिन्न भिन्न हैं। कोई भी किसीके स्वभावरूपा त्याग नहीं कर सकता।

अजीव रूपा और अरूपाके भेदसे दो प्रकारका है।

जीव अनन्त हैं। प्रत्येक जीव तीनों कालमें जुदा जुदा है। जीव ज्ञान दर्शन आदि लक्षणोंसे पहिचाना जाता है। प्रत्येक जीव असरयात प्रदेशकी अवगाहनासे रहता है, सकोच-निकासका भाजन है, अनादिसे कर्मका प्राहक है। यथार्थ स्वरूपको जाननेसे, उसे प्रतीतिमें लानेसे, स्थिर परिणाम होनेपर उस कर्मकी निवृत्ति होती है। स्वरूपसे जीव वर्ण, गंध, रस और स्पर्शसे रहित है, अजर, अमर और शाश्वत वस्तु है। (अपूर्णा)

(४)

मोक्षसिद्धान्त

भगवान्को परम भक्तिसे नमस्कार करके अनन्त अव्याप्य सुखमय परमपदकी प्राप्तिके लिये, भगवान् सर्वज्ञद्वारा निरूपण किये हुए मोक्ष-सिद्धान्तको कहता हूँ—

द्वयानुयोग, कारणानुयोग, चरणानुयोग और धर्मकथानुयोगके महानिधि वांतराग-प्रवचनको नमस्कार करता हूँ।

कर्मगुपी वेरीका पराजय करनेवाले अर्हंतभगवान्को, शुद्ध चेतन्यपदमें सिद्धालयमें निराजमान सिद्धभगवान्को, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन मोक्षके पचाचारोंका पालन करनेवाले, ओर दूमरे भव्य जीवोंको आचारमें लगानेवाले आचार्यभगवान्को, द्वादशगके अभ्यासी और उस श्रुत, शब्द, अर्थ और रहस्यसे अन्य भव्य जीवोंको अध्ययन करानेवाले ऐसे उपायायभगवान्को, तथा मोक्षमार्गका आत्मजागृतिपूर्वक साधन करनेवाले ऐसे साधुभगवान्को, मैं परम भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

श्रीरूपभेदसे श्रीमहावीरपर्यंत भरतक्षेत्रके वर्तमान चौबीस तीर्थंकरोंके परम उपकारका मैं बारम्बार स्मरण करता हूँ।

वर्तमानकालके चरम तीर्थंकरदेव श्रीमान् वर्धमानजिनकी शिक्षासे ही वर्तमानमें मोक्षमार्गका अस्तित्व मौजूद है। उनके इस उपकारको सुबोधित पुरुष बारम्बार आश्चर्यमय समझते हैं।

कालके दोगसे अपार श्रुत-सागरका बहुतमा भाग निश्चुत हो गया है, और वर्तमानमें केवल त्रिन्दुमात्र अथवा अल्पमात्र ही बानी बचा है। अनेक स्थलोंके विस्मृत हो जानेसे, और अनेक स्थलोंमें

स्थूल निरूपण रहनेके कारण, वर्तमान मनुष्योंको निर्ग्रन्थभगवान्के उस श्रुतका इस क्षेत्रमें पूर्ण लाभ नहीं मिलता ।

अनेक मतमतातर आदिके उत्पन्न होनेका हेतु भी यही है, और इसी कारण निर्मल आत्मके अभ्यासी महात्माओंकी भी अल्पता हो गई है ।

श्रुतके अल्प रह जानेपर भी, अनेक मतमतातरोंके मौजूद रहनेपर भी, समाजानके बहुतसे साधनोंके परोक्ष होनेपर भी, महात्मा पुरुषोंके क्वचित् क्वचित् मौजूद रहनेपर भी, हे आर्यजनों ! सम्यग्दर्शन, श्रुतका रहस्यभूत परमपदका पथ, आत्मानुभवका हेतु सम्यक्चारित्र और विशुद्ध आत्म-ध्यान आज भी विद्यमान है—यह परम हर्षका कारण है ।

वर्तमानकालका नाम दुःपम काल है । इस कारण अनेक अतरायोंके होनेसे, प्रतिकूलता होनेसे और साधनोंकी दुर्लभता होनेसे, मोक्षमार्गकी प्राप्ति दुःखसे होती है, परन्तु वर्तमानमें कुछ मोक्षका मार्ग ही विच्छिन्न हो गया है, यह निवार करना उचित नहीं ।

पचमकालमें होनेवाले महर्षियोंने भी ऐसा ही कहा है । तदनुसार यहाँ कहता हूँ ।

सूत्र ओर दूसरे अनेक प्राचीन आचार्योंका अनुकरण करके रचे हुए अनेक शास्त्र विद्यमान हैं । सुबोधित पुरुषोंने तो उनकी हितकारी बुद्धिसे ही रचना की है । इसलिये यदि किन्हीं मतवादी, हठवादी, और शिथिलताके पोषक पुरुषोंके द्वारा रची हुई कोई पुस्तकें, उन सूत्रों अथवा जिनाचारसे न मिलती हों, और प्रयोजनकी मर्यादासे बाह्य हों, तो उन पुस्तकोंके उदाहरण देकर भयभीरु महात्मा लोग प्राचीन सुबोधित आचार्योंके वचनोंके उत्थापन करनेका प्रयत्न नहीं करते । परन्तु यह समझकर कि उससे उपकार ही होता है, उनका बहुत मान करते हुए वे उनका यथायोग्य सदुपयोग करते हैं ।

जिनदर्शनमें दिग्भ्रर और श्रेताभ्रर ये दो मुख्य भेद हैं । मतदृष्टिसे तो उनमें महान् अंतर देखनेमें आता है । परन्तु जिनदर्शनमें तत्त्वदृष्टिसे वैसा विशेष भेद मुख्यरूपसे परोक्ष ही है । उनमें कुछ ऐसा भेद नहीं है कि जो प्रत्यक्ष कार्यकारी हो सकता हो । इसलिये दोनों सम्प्रदायोंमें उत्पन्न होनेवाले गुणगान पुरुष सम्यग्दृष्टिसे ही देखते हैं, और जिस तरह तत्त्व-प्रतीतिका अतराय कम ही वैसा आचरण करते हैं ।

जैनाभाससे निकले हुए दूसरे अनेक मतमतातर भी हैं । उनके स्वरूपका निरूपण करते हुए भी वृत्ति सुसूचित होती है । जिनमें मूल प्रयोजनका भी भान नहीं, इतना ही नहीं परन्तु जो मूल प्रयोजनसे निरुद्ध पद्धतिका ही अवलम्बन लेते हैं, उन्हें मुनित्वका स्वप्न भी कहाँसे हो सकता है ? क्योंकि वे तो मूल प्रयोजनको भूलकर क्लेशमें पड़े हुए हैं, और अपनी पूज्यता आदिके लिये जाँतोंको परमार्थ-मार्गमें अतराय करते हैं ।

वे मुनिका लिंग भी धारण नहीं करते, क्योंकि स्वकपोल-रचनासे ही उनकी सर्प प्रवृत्ति रहती है । जिनागम अथवा आचार्यकी परम्परा तो केवल नाममात्र ही उनके पास है, वास्तवमें तो वे उससे पराङ्मुख ही हैं ।

कोई कमडल जैसी और कोई डोरे जैसी अल्प वस्तुके ग्रहण-न्यागके आप्रहसे भिन्न भिन्न मार्ग

चलाता है, और तीर्थका भेद पैदा करता है, ऐसा महामोहसे मूढ़ जीन लिंगाभासपनेसे आज भी वीतरागदर्शनको घेरकर बैठा हुआ है—यही असयतिपूजा नामका आश्चर्य मात्र होता है ।

महात्मा पुरुषोकी अल्प भी प्रवृत्ति स्व और परको मोक्षमार्गके समुख करनेवाली होती है । लिगा-भासी जीन अपने बलको मोक्षमार्गसे पराङ्मुख करनेमें प्रवर्तमान देखकर हर्षित होते हैं, और वह सत्र, कर्म-प्रकृतिमें बढ़ते हुए अनुभाग और स्थितिबधका ही स्थानक है, ऐसा मैं मानता हूँ ।—(अपूर्ण)

(५)

द्रव्यप्रकाश

द्रव्य अर्थात् वस्तु—तत्त्व—पदार्थ । इसमें मुख्य तीन अधिकार हैं ।

प्रथम अधिकारमें जीन और अजीन द्रव्यके मुख्य भेद कहे हैं ।

दूसरे अधिकारमें जीन और अजीनका परस्पर सवध और उससे जीनका क्या हिताहित होता है, उसे समझानेके लिये, उसकी विशेष पर्यायरूपसे पाप पुण्य आदि दूसरे सात तत्त्वोंका निरूपण किया है । वे सातों तत्त्व जीन और अजीन इन दो तत्त्वोंमें समाविष्ट हो जाते हैं ।

तीसरे अधिकारमें यथास्थित मोक्षमार्गका प्रदर्शन किया है, जिसको लेकर ही समस्त ज्ञानी-पुरुषोंका उपदेश है ।

पदार्थके विवेचन और सिद्धातपर जिनकी नीज रक्खी गई है, और उसके द्वारा जो मोक्षमार्गका प्रतिबोध करते हैं, ऐसे दर्शन उह हैं—(१) बोद्ध, (२) न्याय, (३) साय, (४) जैन, (५) मीमांसक और (६) वैशेषिक । यदि वैशेषिकदर्शनका न्यायदर्शनमें अतर्भाव किया जाय तो नास्तिक-विचारका प्रदिपादन करनेवाला उद्वा चार्मीकदर्शन अलग गिना जाता है ।

प्रश्न—न्याय, वैशेषिक, साय, योग, उत्तरमीमासा और पूर्वमीमासा ये वेद-परिभाषामें उह दर्शन माने गये हैं, परन्तु यहाँ तो आपने इन दर्शनोंको जुदा पद्धतिसे ही गिनाया है । इसका क्या कारण है ?

समाधान—वेद-परिभाषामें बताये हुए दर्शन वेदको मानते हैं, इसलिये उन्हे उस दृष्टिसे गिना गया है, और उपरोक्त क्रम तो विचारकी परिपाटीके भेदसे बताया है । इस कारण यही क्रम योग्य है ।

द्रव्य और गुणका जो अनन्यत्व—अभेद—उताया गया है वह प्रदेशभेद-रहितपना ही है—क्षेत्रभेद-रहितपना नहीं । द्रव्यके नाशसे गुणका नाश होता है और गुणके नशसे द्रव्यका नाश होता है, इस तरह दोनोंका ऐक्यभाज है । द्रव्य और गुणका जो भेद कहा है, वह केवल कथनकी अपेक्षा है, वास्तविक दृष्टिसे नहीं । यदि सस्थान और सरयाविशेषके भेदसे ज्ञान और ज्ञानीका सर्वथा भेद हो तो फिर दोनों अचेतन हो जाँय—यह सर्वज्ञ वीतरागका सिद्धात है । आत्मा ज्ञानकी साथ समवाय सबधसे ज्ञानी नहीं है । समवृत्तिको समवाय कहते हैं ।

वर्ण, गध, रस और स्पर्श-परमाणु, द्रव्यके गुण हैं ।—(अपूर्ण)

(६)

यह अत्यत सुप्रसिद्ध है कि प्राणीमात्रको दुःख प्रतिकूल और अप्रिय है, तथा सुख अनुकूल और प्रिय है । उस दुःखसे रहित होनेके लिये और सुखकी प्राप्तिके लिये प्राणीमात्रका प्रयत्न रहता है ।

प्राणीमात्रका यह प्रयत्न होनेपर भी, वे दुःखका ही अनुभव करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि कहीं कहीं कोई सुखका अंश जो किसी किसी प्राणीको प्राप्त हुआ दिखाई देता भी है, तो वह भी दुःखकी बाहुल्यतासे ही देखनेमें आता है।

शका — प्राणीमानको दुःख अप्रिय होनेपर भी, तथा उसके दूर करनेके लिये उसका सदा प्रयत्न रहनेपर भी, यह दुःख दूर नहीं होता, तो फिर इससे तो ऐसा समझमें आता है कि उस दुःखके दूर करनेका कोई उपाय ही नहीं है। क्योंकि जिसमें सनका प्रयत्न निष्फल ही चला जाता हो वह बात तो निरुपाय ही होनी चाहिये ?

समाधान — दुःखके स्वरूपको यथार्थ न समझनेसे, तथा उस दुःखके होनेके मूल कारण क्या हैं, और वे किस तरह दूर हो सकते हैं, इसे यथार्थ न समझनेसे, तथा दुःख दूर करनेका जीवोंका प्रयत्न स्वभासे ही अयथार्थ होनेसे, वह दुःख दूर नहीं हो सकता।

दुःख यद्यपि सभीके अनुभवमें आता है, तो भी उसके स्पष्टरूपसे ध्यानमें आनेके लिये उसका यहाँ थोड़ासा व्याख्यान करते हैं —

प्राणी दो प्रकारके होते हैं —

(१) एक त्रस और दूसरे स्थानर। त्रस उन्हें कहते हैं जो स्वयं भय आदिका कारण देखकर भाग जाते हैं और जो चलने-फिरने आदिकी शक्ति रखते हैं।

(२) स्थानर उन्हें कहते हैं कि जो, जिस जगह देह धारण की है उसी जगह रहते हैं और जिनमें भय आदिके कारण समझकर भाग जाने वगैरहकी समझ-शक्ति न हो।

अथवा एकेन्द्रियसे लगाकर पाँच इन्द्रियतक पाँच प्रकारके प्राणी होते हैं। एकेन्द्रिय प्राणी स्थानर कहे जाते हैं, और दो इन्द्रियवाले प्राणियोंसे लगाकर पाँच इन्द्रियोंतकके प्राणी त्रस कहे जाते हैं। किसी भी प्राणीको पाँच इन्द्रियोंसे अधिक इन्द्रियों नहीं होतीं।

एकेन्द्रियके पाँच भेद हैं — पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति।

वनस्पतिका जीवत्व तो साधारण मनुष्योंको भी कुछ अनुमानसे समझमें आता है।

पृथिवी, जल, अग्नि, और वायुमें जीवका अस्तित्व आगम-प्रमाणसे और विशेष निचारबलसे कुछ समझमें आ सकता है—यद्यपि उसका सर्वथा समझमें आना तो प्रकृष्ट ज्ञानका ही विषय है।

अग्नि और वायुकायिक जीव कुछ कुछ गतियुक्त देखनेमें आते हैं, परन्तु वह गति अपनी निजकी शक्तिकी समझपूर्वक नहीं होती, इस कारण उन्हें भी स्थानर ही कहा जाता है।

यद्यपि एकेन्द्रिय जीवोंमें वनस्पतिमें जीव सुप्रसिद्ध है, फिर भी इस प्रथम अनुक्रमसे उसके प्रमाण आनेगे। पृथिवी, जल, अग्नि और वायुमें निम्न प्रकारसे जीवकी सिद्धि की गई है — (अपूर्ण)

(७)

जीवके लक्षण —

जीवका मुख्य लक्षण चैतन्य है,
वह देखके प्रमाण है,

वह असरयात प्रदेश प्रमाण है, वह असरयात प्रदेशतः लोक प्रमाण है,
 वह परिणामी है,
 अमूर्त है,
 अनत अगुरुलघुगुणसे परिणमनशील द्रव्य है,
 स्वाभाविक द्रव्य है,
 कर्त्ता है,
 भोक्ता है,
 अनादि ससारी है,
 भव्यतः एभिः परिपाक आदिसे वह मोक्ष-सा-गनमें प्रवृत्ति करता है,
 उसे मोक्ष होती है,
 वह मोक्षमें स्वपरिणामयुक्त है,

ससार-अवस्थामें मिथ्यात्व, अतिरिक्ति, प्रमाद, कषाय और योग उत्तरोत्तर बंधके स्थान हैं ।
 सिद्धान्तस्थामें योगका भी अभाव है,
 मात्र चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य ही सिद्धपद है,
 त्रिभाज-परिणाम भाजकर्म है ।

पुद्गलसमूह द्रव्यकर्म है । (अपूर्णा)

*(८)

आत्मत्व — ज्ञानानरणीय आदि कर्मोक्ता पुद्गलके समूहसे जो ग्रहण होता है, उसे द्रव्यात्मत्व जानना चाहिये । जिनभगवान्ने उसके अनेक भेद कहे हैं ।

बध — जीव जिस परिणामसे कर्मका बध करता है वट भाजकर्म है । कर्म प्रदेश, परमाणु और जीवका अ-योन्म-प्रवेशरूपसे समूह होना द्रव्यबध है ।

प्रवृत्ति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इस तरह चार प्रकारका बध है । प्रकृति और प्रदेशबध योगसे होता है । स्थिति और अनुभागबध कषायसे होता है ।

समर — जो आत्मत्वका निरोध कर सके वह चैतन्यस्वभाव भावसमर है, और उससे जो द्रव्यात्मत्वका निरोध करना है वह द्रव्यसमर है । व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुपेक्षा और परिपह-जय इस तरह चारित्रिके जो अनेक भेद हैं उन्हें भाजकर्मके ही भेद जानना चाहिये ।

निर्जरा — तपधर्याद्वारा जिस कालमें कर्मके पुद्गल रसको भोग लेते हैं, वह भावनिर्जरा है, तथा उन पुद्गल परमाणुओंका आत्मप्रदेशसे झड़ जाना द्रव्यनिर्जरा है ।

मोक्ष — सब कर्मोंके क्षय होनेरूप आत्मस्वभाव भाजकर्म है । कर्म-वर्गणासे आत्मद्रव्यका पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है ।

* इसमें नेमिचन्द्र आचार्यकृत द्रव्यसंग्रहकी उक्त गायोंका अनुवाद दिया गया है ।

— अनुवादक

पुण्य और पाप.—जीवको शुभ और अशुभ भागके कारण ही पुण्य पाप होते हैं। साता, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्रका हेतु पुण्य है। उसमें उल्टा पाप है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये मोक्षके कारण हैं। व्यवहारनयसे ये तीनों अलग अलग हैं। निश्चयसे आत्मा ही इन तीनों रूप है।

आत्माको छोड़कर ये तीनों रत्न अन्य किसी भी ऋष्यमें नहीं रहते, इमलिये आत्मा इन तीनों रूप है, और इस कारण मोक्षका कारण भी आत्मा ही है।

जीव आदि तत्त्वोंकी आस्थारूप आत्मस्वभाव सम्यग्दर्शन है।

मिथ्या आप्रहसे रहित होना सम्यग्ज्ञान है। सशय निरपर्यय और भ्रातिसे रहित जो आत्मस्वरूप और परस्वरूपकी यथार्थरूपसे ग्रहण कर सके वह सम्यग्ज्ञान है। उसके साकार उपयोगरूप अनेक भेद हैं।

जो भागोंके सामान्यस्वरूप उपयोगको ग्रहण कर सके वह दर्शन है। दर्शन शब्द श्रद्धाके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है, ऐसा आगममें कहा है।

छद्मस्थको पहिले दर्शन और पीछे ज्ञान होता है, केतलीभगवान्को दोनों साज साथ होते हैं। अशुभ भागसे निवृत्ति और शुभ भागमें प्रवृत्ति होना चारित्र है। व्यवहारनयसे श्रीवीतरागियोंने उस चारित्र व्रतको समिति-गुतिरूपसे कहा है।

ससारके मूळ हेतुओंका विशेष नाश करनेके लिये, ज्ञानी-पुरुषके जो वाह्य और अतरंग क्रियाका निरोध होना है, उसे वीतरागियोंने परम सम्यक्चारित्र कहा है।

मुनि ध्यानके द्वारा मोक्षके कारणभूत इन दोनों चारित्रोंको अवश्य प्राप्त करते हैं, उसके लिये प्रयत्नवान चित्तसे ध्यानका उत्तम अभ्यास करो।

यदि तुम स्थिरताकी इच्छा करते हो तो प्रिय अप्रिय वस्तुमें मोह न करो, राग न करो, द्वेष न करो। अनेक प्रकारके ध्यानकी प्राप्तिके लिये पैतास, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक परमेष्ठीपदके वाचक जो मंत्र हैं उनका जपपूर्वक ध्यान करो। इसका विशेष स्वरूप श्रीगुरुके उपदेशसे जानना चाहिये।

(९)

ॐ नमः

सर्व दु खोंका आत्यंतिक अभाव और परम अव्यानात्र सुखकी प्राप्ति ही मोक्ष है, और वही परम हित है। वीतराग सन्मार्ग उसका सदुपाय है।

उस समार्गका सक्षिप्त निरिचन इस तरह है —

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता ही मोक्षमार्ग है।

सर्वज्ञके ज्ञानमें भासमान तत्त्वोंकी सम्यक् प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है।

उस तत्त्वका बोध होना सम्यग्ज्ञान है।

उपादेय तत्त्वका अभ्यास होना सम्यक्चारित्र है।

शुद्ध आत्मपदस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होना, यह तीनोंकी एकता है।

पुण्य और पाप — जीवको शुभ और अशुभ भावके कारण ही पुण्य पाप होते हैं । सात्ता, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्रका हेतु पुण्य है । उससे उल्टा पाप है ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये मोक्षके कारण हैं । व्यवहारनयसे ये तीनों अलग अलग है । निश्चयसे आत्मा ही इन तीनों रूप है ।

आत्माको छोड़कर ये तीनों रत्न अन्य किसी भी द्रव्यमे नहीं रहते, इसलिये आत्मा इन तीनों रूप है, और इस कारण मोक्षका कारण भी आत्मा ही है ।

जीव आदि तत्त्वोंकी आस्धारूप आत्मस्वभावा सम्यग्दर्शन है ।

मिथ्या आग्रहसे रहित होना सम्यग्ज्ञान है । सशय निपर्यय और भ्रातिसे रहित जो आत्मस्वरूप और परस्वरूपको यथार्थरूपसे ग्रहण कर सके वह सम्यग्ज्ञान है । उसने साकार उपयोगरूप अनेक भेद हैं ।

जो भागोंके सामान्यस्वरूप उपयोगको ग्रहण कर सके वह दर्शन है । दर्शन शब्द ब्रह्मके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है, ऐसा आगममें कहा है ।

छद्मस्थको पहिले दर्शन और पीछे ज्ञान होता है, केतलीभगवान्को दोनों साथ साथ होते हैं । अशुभ भावसे निवृत्ति और शुभ भावमें प्रवृत्ति होना चारित्र्य है । व्यवहारनयसे श्रीवीतरागियोंने उस चारित्र्य व्रतको समिति-गुप्तिरूपसे कहा है ।

सत्कारके मूल हेतुओंका विशेष नाश करनेके लिये, ज्ञानी-पुरुषके जो बाह्य और अन्तरंग क्रियाका निरोध होना है, उसे वीतरागियोंने परम सम्यक्चारित्र्य कहा है ।

मुनि ध्यानके द्वारा मोक्षके कारणभूत इन दोनों चारित्र्योंको अवश्य प्राप्त करते हैं, उसके लिये प्रयत्नवान चित्तसे ध्यानका उत्तम अभ्यास करो ।

यदि तुम स्थिरताकी इच्छा करते हो तो प्रिय अप्रिय वस्तुमें मोह न करो, राग न करो, द्वेष न करो । अनेक प्रकारके ध्यानकी प्राप्तिके लिये पैंतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो ओर एक परमेष्ठीपदके वाचक जो मन्त्र हैं उनका जपपूर्वक ध्यान करो । इसका विशेष स्वरूप श्रीगुरुके उपदेशसे जानना चाहिये ।

(९)

ॐ नमः

सर्व दुःखोंका आत्यंतिक अभावा और परम अव्यावाय सुखकी प्राप्ति ही मोक्ष है, और वही परम हित है । वीतराग सन्मार्ग उसका सदुपाय है ।

उस सन्मार्गका सक्षिप्त त्रिनेचन इस तरह है —

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यकी एकता ही मोक्षमार्ग है ।

सर्वज्ञके ज्ञानमें भासमान तत्त्वोंकी सम्यक् प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है ।

उस तत्त्वका बोध होना सम्यग्ज्ञान है ।

उपादेय तत्त्वका अभ्यास होना सम्यक्चारित्र्य है ।

शुद्ध आत्मपदस्वरूप वीतरागपदमें स्थिति होना, यह तीनोंकी एकता है । -

सर्नज्ञदेव, निर्मथ गुरु और सर्नज्ञोपदिष्ट धर्मकी प्रतीतिसे तत्त्वकी प्रतीति होती है ।

सर्न ज्ञानानरण, दर्शनानरण, सर्न मोह, और सर्न वीर्य आदि अतरायका क्षय होनेसे आत्माका सर्नज्ञवीतराग-स्वभान प्रगट होता है । निर्मथपदके अभ्यासका उत्तरोत्तर क्रम उसका मार्ग है । उसका रहस्य सर्नज्ञोपदिष्ट धर्म है ।

(१०)

सर्नज्ञ-कथित उपदेशसे आत्माका स्वरूप जानकर उसकी सम्यक् प्रकार प्रतीति करके उसका ध्यान करो ।

ज्यों ज्यों ध्यानकी विशुद्धि होगी त्यों त्यों ज्ञानानरणीयका क्षय होगा ।

वह ध्यान अपनी कल्पनासे सिद्ध नहीं होता ।

जिन्हें ज्ञानमय आत्मा परमोक्त्यक्त भावसे प्राप्त हुई है, ओर जिन्होंने समस्त पर द्रव्यका त्याग कर दिया है, उस देवको नमस्कार हो ! नमस्कार हो !

बारह प्रकारके निदानरहित तपसे, बैराग्यभाजनासे भावित और अहभाजसे रहित ज्ञानीके ही कर्मोंकी निर्जरा होती है ।

वह निर्जरा भी दो प्रकारकी समझनी चाहिये —स्वकालप्राप्त और तपपूर्णक । पहिली निर्जरा चारों गतियोंमें होती है, और दूसरी व्रतधारीको ही होती है ।

ज्यों ज्यों उपशमकी वृद्धि होती है त्यों त्यों त्यों तप करनेसे कर्मकी अधिक निर्जरा होती है ।

उस निर्जराके क्रमको कहते हैं । मिथ्यादर्शनमें रहते हुए भी जिसे थोड़े समयमें उपशम-सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है, ऐसे जीवकी अपेक्षा असयत सम्यग्दृष्टिको असत्यात गुण निर्जरा होती है, उससे असत्यात गुण निर्जरा देशनिरतिको होती है, उससे असत्यात गुण निर्जरा सर्ननिरति ज्ञानीको होती है, उससे ————— (अपूर्ण)

(११)

ॐ

हे जीव इतना अधिक क्या प्रमाद ?

शुद्ध आम-पदकी प्राप्तिके लिये वीतराग समार्गकी उपासना करनी चाहिये ।

सर्नज्ञदेव
निर्मथ गुरु
दयानुराय धर्म } ये शुद्ध आमदृष्टि होनेके अवलम्बन हैं ।

श्रीगुरुसे सर्नज्ञद्वारा अनुभूत ऐसे शुद्ध आत्मप्राप्तिके उपायको समझकर, उसके रहस्यको ध्याना में लेकर आत्मप्राप्ति करो ।

सर्ननिरति-धर्म यथाजाति और यथाळिग है । देशनिरति-धर्म बारह प्रकारका है ।

स्वरूपदृष्टि होते हुए द्रव्यानुयोग सिद्ध होता है ।

विनाद-पद्धति शांत करते हुए चरणानुयोग सिद्ध होता है ।

प्रतीतियुक्त दृष्टि होते हुए करणानुयोग सिद्ध होता है ।

वाञ्छबोधके हेतुको समझाते हुए धर्मकथानुयोग सिद्ध होता है ।

(१२)

(१)		(२)	
मोक्षमार्गका अस्तित्व	निर्जरा	प्रमाण	आगम
आप्त	बध	नय	सयम.
गुरु	मोक्ष	अनेकात	वर्तमानकाळ.
धर्म	ज्ञान	लोक	गुणस्थान
वर्मकी योग्यता	दर्शन.	अलोक	द्रव्यानुयोग.
कर्म	चारित्र	अहिंसा	करणानुयोग
जीव	तप	सत्य.	चरणानुयोग
अजीव	द्रव्य	असत्य.	धर्मकथानुयोग
पुण्य	गुण	तद्गचर्य	मुनित्व.
पाप.	पर्याय	अपरिग्रह	गृहधर्म
आश्रम	ससार	आज्ञा	परिग्रह
सनर	एकोत्रियका अस्तित्व	व्यवहार	उपसर्ग.

६९५

ॐ नमः

मूल द्रव्य शाश्वत है मूल द्रव्य —जीव अजीव
पर्याय अशाश्वत है अनादि नित्य पर्याय —मेरू आदि

६९६

नमो जिणाण जिदभवाणं

जिनतरन-सक्षेप

आकाश अनत हे । उसमें जड़ चेतनात्मक त्रिष्व सन्निप्रिष्ट है ।
त्रिष्वकी मर्यादा दो अमूर्त्त द्रव्योंसे है, जिन्हें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहते हैं ।
जीव और परमाणु-पुद्गल ये दो द्रव्य सन्निय है । सब द्रव्य द्रव्यरूपसे शाश्वत हैं ।
जीव अनत हैं । परमाणु-पुद्गल अनतानत हैं ।
धर्मास्तिकाय एक है । अधर्मास्तिकाय एक है ।
आकाशास्तिकाय एक है । काळ द्रव्य हे
प्रत्येक जीव निद्र-प्रमाण क्षेत्रावगाह कर सकता है ।

६९७

(१)

ॐ नमः

सत्र जीव सुखकी इच्छा करते हैं ।

दुःख सत्रको अप्रिय है ।

सत्र जीव दुःखसे मुक्त होनेकी इच्छा करते हैं ।

उसका वास्तविक स्वरूप न समझनेसे दुःख दूर नहीं होता ।

उस दुःखके आत्यंतिक अभावको मोक्ष कहते हैं ।

अत्यंत वीतराग हुए बिना मोक्ष नहीं होती ।

सम्यग्ज्ञानके बिना वीतराग नहीं हो सकते ।

सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान असम्यक् कहा जाता है ।

वस्तुकी जिस स्वभावसे स्थिति है उस स्वभावसे उस वस्तुकी स्थिति समझनेको सम्यग्ज्ञान कहते हैं ।

सम्यग्दर्शनसे प्रतीत आत्मभावसे आचरण करना चारित्र्य है ।

इन तीनोंकी एकतासे मोक्ष होती है ।

जीव स्वाभाविक हैं । परमाणु स्वाभाविक है ।

जीव अनंत है । परमाणु अनंत हैं ।

जीव और पुद्गलका संयोग अनादि है ।

जन्तक जीवको पुद्गलका सन्ध है तन्तक जीव कर्मसहित कहा जाता है ।

भावकर्मका कर्ता जीव है ।

भावकर्मका दूसरा नाम विभाव कहा जाता है ।

भावकर्मके कारण जीव पुद्गलको ग्रहण करता है ।

इससे तैजस आदि शरीर और औदारिक आदि शरीरका संयोग होता है ।

भावकर्मसे त्रिमुख हो तो निजभाव प्राप्त हो सकता है ।

सम्यग्दर्शनके बिना जीव वास्तविकरूपसे भावकर्मसे त्रिमुख नहीं हो सकता ।

सम्यग्दर्शनके होनेका मुरय हेतु जिनवचनसे तत्त्वार्थमें प्रतीति होना है ।

(२)

ॐ नमः

विज्ञान अनादि है ।

आकाश सर्वव्यापक है ।

उसमें लोक सन्निरिष्ट है ।

जड़ चेतनसे सम्पूर्ण लोक भरपूर है ।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये द्रव्य जड़ हैं ।
 जीव द्रव्य चेतन हे ।
 धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य अमूर्त हैं ।
 वस्तुतः काल औपचारिक द्रव्य है ।
 धर्म, अधर्म, और आकाश एक एक द्रव्य हैं ।
 काल, पुद्गल और जीव अनत द्रव्य है ।
 द्रव्य, गुण और पर्यायात्मक है ।

 ६९८

एकात आत्मवृत्ति.
 एकात आत्मा
 केवल एक आत्मा
 केवल एक आत्मा ही
 केवल मात्र आत्मा
 केवल मात्र आत्मा ही.
 आत्मा ही
 शुद्ध आत्मा ही
 सहज आत्मा ही
 वस निर्विकल्प शब्दातीत सहजस्वरूप आत्मा ही.

 ६९९

मैं असग शुद्ध चेतन हूँ । वचनातीत निर्विकल्प एकात शुद्ध अनुभवस्वरूप हूँ ।
 मैं परम शुद्ध अखण्ड चिद्घातु हूँ ।
 अचिद् घातुके सयोग रसके इस आभासको तो देखो !
 आश्चर्यवत् आश्चर्यरूप, घटना है ।
 अन्य किसी भी विकल्पका अवकाश नहीं है ।
 स्थिति भी ऐसी ही है ।

७००

ॐ सर्वज्ञाय नमः—नमः सद्गुरवे

पंचास्तिकाय

शत इन्द्रोंद्वारा वन्दनीय, तीनों लोकोंको कल्याणकारी, मधुर और निर्मल जिनके वाक्य हैं, अनत जिनके गुण हैं, सत्ताको जिहोंने जीत लिया है, ऐसे सर्वज्ञ वीतरागको नमस्कार है ॥ १ ॥

जीनको चारों गतियोंसे मुक्त करके निर्माण प्राप्त करनेवाले ऐसे आगमको नमस्कार कर, सर्वज्ञ महामुनिके मुखसे उत्पन्न अमतरूप इस शास्त्रको कहता हूँ, उसे श्रवण करो ॥ २ ॥

पाँच अस्तिकार्योंके समूहस्वरूप अर्ध-समयको सर्वज्ञ वीतरागदेवने लोक कहा है । उसके पश्चात् अनत आकाशरूप मात्र अलोक ही अलोक है ॥ ३ ॥

जीव, पुद्गलसमूह, धर्म, अधर्म तथा आकाश ये पदार्थ नियमसे अपने अस्तित्वमें ही रहते हैं, ये अपनी सत्तासे अभिन्न हैं, और अनेक प्रदेशात्मक हैं ॥ ४ ॥

अनेक गुण और पर्यायोंसे सहित जिसका अस्तित्व-स्वभाव है उसे अस्तिकाय कहते हैं, उससे त्रैलोक्य उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

ये अस्तिकाय तीनों कालमें भावरूपसे परिणमन करते हैं । तथा इनमें परिवर्तन लक्षणगोले कालद्रव्यके मिला देनेसे उह द्रव्य हो जाते हैं ॥ ६ ॥

ये द्रव्य एक दूसरेमें प्रवेश करते हैं, एक दूसरेको अवकाश देते हैं, परस्पर मिल जाते हैं, और फिर जुदा हो जाते हैं, परन्तु फिर भी ये अपने अपने स्वभावका त्याग नहीं करते ॥ ७ ॥

सत्तास्वरूपसे समस्त पदार्थ एकरूप हैं । वह सत्ता अनत प्रकारके स्वभाववाली है, वह उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे युक्त है और सामाय-निशेषात्मक है ॥ ८ ॥

द्रव्यका लक्षण सत् है, वंह उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त है, गुण-पर्यायका आश्रयभूत है—ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है ॥ ९ ॥

द्रव्यकी उत्पत्ति और विनाश नहीं होते । उसका स्वभाव ही 'अस्ति' है । उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, उसकी पर्यायको लेकर ही होते हैं ॥ १० ॥

द्रव्य अपनी स्वकीय पर्यायोंको प्राप्त होता है—उस उस भावसे परिणमन करता है—इसलिये उसे द्रव्य कहते हैं, वह अपनी सत्तासे अभिन्न है ॥ ११ ॥

पर्यायसे रहित द्रव्य नहीं होता, और द्रव्यरहित पर्याय नहीं होती—दोनों ही अनन्यभावासे रहते हैं, ऐसा महामुनियोंने कहा है ॥ १२ ॥

द्रव्यके बिना गुण नहीं होते, ओर गुणोंके बिना द्रव्य नहीं होते—इस कारण दोनोंका (द्रव्य और गुणका) स्वरूप अभिन्न है ॥ १३ ॥

स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति नास्ति, स्यात् अयक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अयक्तव्य, स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य—इन विवक्षाओंको लेकर द्रव्यके सात भग होते हैं ॥ १४ ॥

भावका कभी नाश नहीं होता, और अभाजकी उत्पत्ति नहीं होती। उत्पाद और व्यय गुण-पर्यायिके स्वभाजसे ही होते हैं ॥ १५ ॥

जीव आदि उह पदार्थ हैं। जीवका गुण चैतय-उपयोग है। देव, मनुष्य, नारक, तिर्यच आदि उसकी अनेक पर्यायें हैं ॥ १६ ॥

मनुष्य-पर्यायसे मरण पानेवाला जीव, देव अथवा अन्य किसी स्थानमें उत्पन्न होता है। परन्तु दोनों जगह जीव न तो ध्रुव ही रहता है। उसका नाश होकर उससे अन्य कुछ उत्पन्न नहीं होता ॥ १७ ॥

जो जीव उत्पन्न हुआ था, उसी जीवका नाश होता है। वस्तुतः तो वह जीव न तो उत्पन्न होता है और न उसका नाश ही होता है। उत्पन्न और नाश तो देव और मनुष्य पर्यायिका ही होता है ॥ १८ ॥

इस तरह सत्का विनाश और असत् जीवकी उत्पत्ति होती है। जीवको जो देव मनुष्य आदि पर्याय होती हैं वे गतिनाम कर्मसे ही होती हैं ॥ १९ ॥

जीवने ज्ञानावरणीय आदि कर्मभारोंको सुदृढरूपसे—अतिशय गाढरूपसे—बाँध रक्खा है। उनका अभाज करनेसे अभूतपूर्व सिद्धपद मिलता है ॥ २० ॥

इस तरह गुण-पर्यायसहित जीव भाज, अभाज, भाजाभाज और अभाज-भावसे सप्ताममें परिभ्रमण करता है ॥ २१ ॥

जीव, पुद्गलसमूह, आकाश तथा वाकीके अस्तिकाय किसीके भी बनाये हुए नहीं—वे स्वरूपसे ही अस्तित्व-स्वभावाले हैं, और लोकके कारणभूत हैं ॥ २२ ॥

सत्ता स्वभाजवाले जीव और पुद्गलके परिवर्तनसे उत्पन्न जो काल है, उसे निश्चयकाल कहा है ॥ २३ ॥

वह काल पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध, और आठ स्पर्शसे रहित है, अगुरुलघु गुणसे सहित है, अमूर्त्त है और वर्तना लक्षणसे युक्त है ॥ २४ ॥

* समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाली, मुहूर्त्त, दिवस, रात्रि, मास, ऋतु, और सप्तसर आदि काल व्यग्रहारकाल है ॥ २५ ॥

कालके किसी भी परिमाण (माप) के विना बहुकाल और अल्पकालका भेद नहीं बन सकता। तथा उसकी मर्यादा पुद्गल द्रव्यके विना नहीं होती, इस कारण कालका पुद्गल द्रव्यसे उत्पन्न होना कहा जाता है ॥ २६ ॥

जीवत्वयुक्त, ज्ञाता, उपयोगसहित, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, देहके प्रमाण, निश्चयनयसे अमूर्त्त, और कर्मावस्थामें मूर्त्त ये जीवके लक्षण हैं ॥ २७ ॥

कर्म-मलमे सर्व प्रकारसे मुक्त होनेसे, ऊर्ध्वलोकके अतको प्राप्त होकर, वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी जीव इन्द्रियसे पर अनन्तसुखको प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

*मद गतिसे चलनेवाले पुद्गल-परमाणुकी जितनी देरमें अतिवृक्षम चाल हो, उसे समय कहते हैं। जितने समयमें नेत्रके पलक खुले उसे निमेष कहते हैं। असंख्यात समयोंका एक निमेष होता है। पदार्थ निमेषोंकी एक काष्ठा होती है। बीस काष्ठाओंकी एक कला होती है। कुछ अधिक बीस कलाओंकी एक नाली अथवा घटिका होती है। दो घटिकाका एक मुहूर्त्त होता है। तीस मुहूर्त्तका एक दिन रात होता है।—अनुवादक।

अपने स्वाभाविक भावोंके कारण आत्मा सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होती है, और अपने कर्मोंसे मुक्त होनेसे वह अनन्त सुखको पाती है ॥ २९ ॥

ब्रह्म, इन्द्रिय, आयु और स्वासोद्वास इन चार प्राणोंसे जो भूतकालमें जीवित था, वर्तमान-कालमें जीवित है, और भविष्यकालमें जीवित रहेगा, वह जीव है ॥ ३० ॥

अतः अगुरुलघु गुणोंसे निरन्तर परिणमनशील अनन्त जीव हैं। ये जीव असंख्यात प्रदेश-प्रमाण हैं। उनमें कितने ही जीवोंने लोक-प्रमाण अग्नाहनाको प्राप्त किया है ॥ ३१ ॥

कितने ही जीवोंने उस अग्नाहनाको प्राप्त नहीं किया। मिथ्यादर्शन कषाय और योगसिद्धि अनन्त ससारी जीव हैं। उनसे रहित अनन्त सिद्धजीव हैं ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार पद्मराग मणिको दूधमें डाल देनेसे वह दूधके परिणामकी तरह भासित होती है, उसी तरह देहमें स्थित आत्मा मात्र देह प्रमाण ही प्रकाशक है, अर्थात् आत्मा देह व्यापक है ॥ ३३ ॥

जिस तरह एक कायामें सर्व अस्त्याओंमें वहीका वही जीव रहता है, उसी तरह सर्वत्र ससार-अस्त्याओंमें भी वहीका वही जीव रहता है। अध्ययसाधनशेषसे ही कर्मरूपी रजोमलसे वह जीव मलिन होता है ॥ ३४ ॥

जिनके प्राण-धारण करना बाकी नहीं रहा है—जिनके उसका सर्वथा अभाव हो गया है—ये देहसे भिन्न और वचनसे अगोचर सिद्ध जीव हैं ॥ ३५ ॥

वास्तवमें देखा जाय तो सिद्धपद उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वह किमी दूसरे पदार्थसे उत्पन्न होनेवाला कार्य नहीं है। इसी तरह वह किसीके प्रति कारणभूत भी नहीं है, क्योंकि उसका अन्य किसी सन्धसे प्रवृत्ति नहीं होती ॥ ३६ ॥

यदि मोक्षमें जीवका अस्तित्व ही न हो तो फिर शाश्वत, अशाश्वत, मन्व्य, अमन्व्य, शून्य, अशून्य, विज्ञान और अविज्ञान ये भाव ही किसके हों ? ॥ ३७ ॥

कोई जीव कर्मके फलका वेदन करते हैं, कोई जीव कर्म सन्धके कर्तृत्वका वेदन करते हैं, और कोई जीव मात्र शुद्ध ज्ञानके ही स्वभावाका वेदन करते हैं—इस तरह वेदकभावसे जीवोंके तीन भेद हैं ॥ ३८ ॥

स्थानरकायिक जीव अपने अपने क्रिये हुए कर्मोंके फलका वेदन करते हैं। त्रस जीव कर्मबन्ध-चेतनाका वेदन करते हैं, और प्राणोंसे रहित अतीन्द्रिय जीव शुद्धज्ञान चेतनाका वेदन करते हैं ॥ ३९ ॥

ज्ञान और दर्शनके भेदसे उपयोग दो प्रकारका है। उसे जीवसे सर्व कालमें अभिन्न समझना चाहिये ॥ ४० ॥

मति, श्रुत, अग्रधि, मन पर्यध, और केवलके भेदसे ज्ञानके पाँच भेद हैं। कुमति, कुश्रुत और विभग ये अज्ञानके तीन भेद हैं। ये सब ज्ञानोपयोगके भेद हैं ॥ ४१ ॥

चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और अविनाशी अनन्त केवलदर्शन ये दर्शनोपयोगके चार भेद हैं ॥ ४२ ॥

आत्मा कुछ ज्ञान गुणके सबधसे ज्ञानी है, यह बात नहीं है। अभिन्नता ही है ॥ ४३ ॥

यदि द्रव्य भिन्न हो और गुण भिन्न हो, तो एक द्रव्यके अनत द्रव्य हो जाँय, अथवा द्रव्यका ही अमान हो जाय ॥ ४४ ॥

द्रव्य और गुण अभिन्नरूपसे रहते हैं—दोनोंमें प्रदेशभेद नहीं है । उनमें ऐसी एकता है कि द्रव्यके नाशसे गुणका नाश हो जाता है, और गुणके नाशसे द्रव्यका नाश हो जाता है ॥ ४५ ॥

व्यपदेश (कथन), सस्थान, सख्या और निपय इन चार प्रकारकी निजक्षाओंसे द्रव्य और गुणके अनेक भेद हो सकते हैं, परन्तु परमार्थनयसे तो इन चारोंका अभेद ही है ॥ ४६ ॥

जिस तरह किसी पुरुषके पास यदि धन हो तो वह धनवान कहा जाता है, उसी तरह आत्माको ज्ञान होनेसे वह ज्ञानवान कही जाती है । इस तरह तत्त्वज्ञ पुरुष भेद-अभेदके स्वरूपको दोनों प्रकारोंसे जानते हैं ॥ ४७ ॥

यदि आत्मा और ज्ञानका सर्वथा भेद हो तो फिर दोनों अचेतन ही हो जाँय—यह वीतराग सर्वज्ञका सिद्धान्त है ॥ ४८ ॥

यदि ऐसा मानें कि ज्ञानका समग्र होनेसे ही आत्मा ज्ञानी होती है, तो फिर आत्मा ओर अज्ञान (जडत्व) दोनों एक ही हो जाँयेंगे ॥ ४९ ॥

समवृत्तिको समग्राय कहते हैं । वह अपृथक्भूत और अयुतसिद्ध है, इसलिये वीतरागियोंने द्रव्य और गुणके सवग्रको अयुतसिद्ध कहा है ॥ ५० ॥

परमाणुके वर्ण, रस, गंध और स्पर्श ये चार गुण पुद्गलद्रव्यसे अभिन्न हैं । व्यवहारसे ही ये पुद्गल द्रव्यसे भिन्न कहे जाते हैं ॥ ५१ ॥

इसी तरह दर्शन और ज्ञान भी जीवसे अभिन्न हैं । व्यवहारसे ही उनका - आत्मासे भेद कहा जाता है ॥ ५२ ॥

आत्मा (वस्तरूपसे) अनादि-अनत है, और सत्तानकी अपेक्षा सादि-सात है, इसी तरह वह सादि-अनत भी है । पाँच भावाकी प्रधानतासे ही वे सव्र भग होते हैं । सत्तारूपसे तो जीव द्रव्य अनत हैं ॥ ५३ ॥

इस तरह सत्का विनाश और असत् जीवका उत्पाद परस्पर विरुद्ध होने पर भी, जिस तरह अनिरोधरूपसे सिद्ध होता है, उस तरह सर्वज्ञ वीतरागने कहा है ॥ ५४ ॥

नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव ये नामकर्मकी प्रकृतियाँ सत्का विनाश और असत्मानका उत्पाद करती हैं ॥ ५५ ॥

उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और पारिणामिक भावोंसे जीवके गुणोंका बहुत निस्तार है ॥ ५६ ॥

द्रव्यकर्मका निमित्त पाकर उदय आदि भावोंसे जीव परिणमन करता है, और भावकर्मका निमित्त पाकर द्रव्यकर्म परिणमन करता है, द्रव्यमान कर्म एक दूसरेके भावके कर्त्ता नहीं हैं, तथा वे किसी कर्त्ताके बिना नहीं होते ॥ ५७ ॥

सम अपने अपने स्वमानके कर्त्ता हैं, उसी तरह आत्मा भी अपने ही भावकी कर्त्ता है, आत्मा पुद्गलकर्मकी कर्त्ता नहीं है—ये वीतरागके वाक्य समझने चाहिये ॥ ५८ ॥

यदि कर्म ही कर्मका कर्ता हो, और आत्मा ही आमाका कर्ता हो, तो फिर उस कर्मके फलका भोग कौन करेगा ? और कर्म अपने फलको किसे देगा ? ॥ ५९ ॥

कर्म अपने स्वभावके अनुसार यथार्थ परिणामन करता है, और जीव अपने स्वभावके अनुसार भावकर्मका कर्ता है ॥ ६० ॥

सम्पूर्ण लोक पुद्गल-समूहसे—सूक्ष्म और नादर विभिन्न प्रकारके अन्त रूधोंमें—अतिशय गाढ़रूपमें भरा हुआ है ॥ ६१ ॥

आत्मा जिस समय अपने भावकर्मरूप स्वभावको करती है, उस समय यहाँ रहनेवाले पुद्गल-परमाणु अपने स्वभावके कारण द्रव्यकर्मभावको प्राप्त होते हैं, तथा परस्पर एकक्षेत्र अग्राह्यरूपसे अतिशय गाढ़रूप हो जाते हैं ॥ ६२ ॥

कोई कर्ता न होनेपर भी, जिस तरह पुद्गलद्रव्यसे अनेक स्फुरोंकी उत्पत्ति होती है, उसी तरह पुद्गलद्रव्य कर्मरूपसे स्वाभाविकरूपमें ही परिणामन करता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ६३ ॥

जीव और पुद्गल-मग्न परस्पर मजबूतरूपसे सम्यक् हैं । यथाकाल उदय आनेपर उससे जीव सुगन्धु पररूप फलका वेदन करता है ॥ ६४ ॥

इस कारण जीव कर्मभावका कर्ता है, और भोक्ता भी नहीं है । वेदकभावके कारण यह कर्मफलका अनुभव करता है ॥ ६५ ॥

इस तरह आत्मा अपने भावसे ही कर्ता और भोक्ता होती है । मोहसे चारों ओरसे आच्छादित यह जीव सत्सामें परिभ्रमण करता है ॥ ६६ ॥

(निष्क्यान्) मोहका उपशम होनेसे अध्या क्षय होनेसे, वीतराग-रूधित मार्गको प्राप्त धीर शुद्ध ज्ञानाचार्यत जीव निर्वाणपुरीको गमन करता है ॥ ६७ ॥

एक प्रकारसे, दो प्रकारसे, तीन प्रकारसे, चार गतियोंके भेदसे, पाँच गुणोंकी मुख्यतासे, उह कायके भेदसे, सात भगोंके उपयोगसे, आठ गुण अध्या आठ कर्मोंके भेदसे, नव तरोंके भेदसे और दश स्थानकसे जीवका निरूपण किया गया है ॥ ६८-६९ ॥

प्रतिबन्ध, स्थितिवन्ध, अनुभागावन्ध और प्रदेशवन्धसे सर्वथा मुक्त होनेसे जीव ऊर्ध्वगमन करता है । सत्सार अध्या कर्मान्ध्यामें जीव निदिशाको छोड़कर अन्य दिशाओंमें गमन करता है ॥ ७० ॥

स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश, और परमाणु इस तरह पुद्गल-अस्तिकायके चार भेद जानने चाहिये ॥ ७१ ॥

सकल समस्त लक्षणवालेको स्कन्ध, उसके आधे भागको देश, उसके आधे भागको प्रदेश, और जिमका कोई भाग न हो सके, उसे परमाणु कहते हैं ॥ ७२ ॥

बादर और सूक्ष्म परिणामनको प्राप्त स्कन्धोंमें पूरण (बढ़ना) ओर गलन (कम होना) स्वभाव होनेके कारण परमाणु पुद्गलके नामसे कहा जाता है । उसने उह भेद है, उससे त्रैलोक्य उत्पन्न होता है ॥ ७३ ॥

सर्व स्कन्धोंका जो सबसे अन्तिम भेद कहा है वह परमाणु है । वह सत्, असत्, एक, भागी और मूर्त होता है ॥ ७४ ॥

जो निरक्षासे मूर्त्त है और चार धातुओंका कारण है, उसे परमाणु समझना चाहिये । वह परिणमन-स्वभासे युक्त है, स्वय शब्दरहित है परन्तु शब्दका कारण है ॥ ७५ ॥

स्कधसे शब्द उत्पन्न होता है । अनत परमाणुओंके मिलाप (सघात) के समूहको स्कध कहते हैं । इन स्कधोंके परस्पर स्पर्श होनेसे (सन्नद्ध होनेसे) निश्चयसे शब्द उत्पन्न होता है ॥७६॥

वह परमाणु नित्य है, अपने रूप आदि गुणोंको अनकाश (आश्रय) प्रदान करता है, स्वय एकप्रदेशी होनेसे एक प्रदेशके वाद अनकाशको प्राप्त नहीं होता, दूसरे द्रव्यको (आकाशकी तरह) अनकाश प्रदान नहीं करता, स्कधके भेदका कारण है, स्कधके खडका कारण है, स्कधका कर्त्ता है और कालके परिमाण (माप) ओर सख्या (गणना) का हेतु है ॥ ७७ ॥

जो एक रस, एक वर्ण, एक गंध और दो स्पर्शसे युक्त है, शब्दकी उत्पत्तिका कारण है, एक प्रदेशात्मक शब्दरहित है, जिसका स्कधरूप परिणमन होनेपर भी जो उससे भिन्न है, उसे परमाणु समझना चाहिये ॥ ७८ ॥

जो इन्द्रियोंद्वारा उपभोग्य है, तथा काया मन और कर्म आदि जो जो अनत अमूर्त्त पदार्थ हैं, उन सबको पुद्गलद्रव्य समझना चाहिये ॥ ७९ ॥

धर्मास्तिकाय द्रव्य अरस, अवर्ण, अगंध, अशब्द और अस्पर्श है, सकल लोक-प्रमाण है, तथा अखड, विस्तीर्ण और असत्यात प्रदेशात्मक है ॥ ८० ॥

वह निरतर अनत अगुरुलघु गुणरूपसे परिणमन करता है, गति-क्रियायुक्त पदार्थोंको कारणभूत है, स्वय कार्यरहित है, अर्थात् वह द्रव्य किसीसे भी उत्पन्न नहीं होता ॥ ८१ ॥

जिस तरह मठलीको गमन करनेमें जल उपकारक होता है, उसी तरह जो जीन और पुद्गल द्रव्यकी गतिका उपकार करता है, उसे धर्मास्तिकाय समझना चाहिये ॥ ८२ ॥

जैसे धर्मास्तिकाय द्रव्य है, उसी तरह अवर्मास्तिकाय भी स्वतंत्र द्रव्य है । वह पृष्ठीकी तरह स्थिति-क्रियायुक्त जीन और पुद्गलको कारणभूत है ॥ ८३ ॥

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायसे लोक अलोकका विभाग होता है । ये धर्म और अधर्म द्रव्य अपने अपने प्रदेशोंकी अपेक्षा जुदे जुदे हैं, स्वय हलन-चलन क्रियासे रहित हैं, और लोक-प्रमाण हैं ॥ ८४ ॥

धर्मास्तिकाय कुछ जीन और पुद्गलको स्वय चलाता है, यह वात नहीं है । परन्तु जीन पुद्गल स्वय ही गति करते हैं, वट उन्हें केवल सहायकमात्र होता है ॥ ८५ ॥

जो सब जीनोंको और शेष पुद्गलोंको सम्पूर्ण अनकाश प्रदान करता है, उसे लोकाकाश कहते हैं ॥ ८६ ॥

जीव, पुद्गलसमूह, धर्म और अवर्मद्रव्य लोकसे अभिन्न हैं, अर्थात् वे लोकमें ही हैं—लोकके बाहर नहीं हैं । आकाश लोकसे भी बाहर है, और वह अनत है, उसे अलोक कहते हैं ॥ ८७ ॥

यदि आकाश गमन और स्थितिका कारण होता, तो धर्म और अधर्म द्रव्यके अमानके कारण सिद्धभगवान्का अलोकमें भी गमन हो जाता ॥ ८८ ॥

इस कारण सर्वत्र वीतरागदेवने सिद्धभगवान्का स्थान ऊर्ध्वलोकके अतमें बताया है । इस कारण आकाशको गमन और स्थानका कारण नहीं समझना चाहिये ॥ ८९ ॥

यदि गमन अथवा स्थायका हेतु आकाश होता, तो अलोकनी एगि हो जाती और लोकके अतकी वृद्धि हो जाती ॥ ९० ॥

इस कारण धर्म और अधर्म द्रव्य ही गमन और स्थितिके कारण हैं, आकाश नहीं। इस तरह सर्प उद्योगरामने श्रोता जीमोंको लोकके स्वभावका वर्णन किया है ॥ ९१ ॥

धर्म, अर्धम और लोककाशा अपृथक्भूत (एक क्षेत्रागगाही) और सदृश परिणामवाले हैं। ये तीनों द्रव्य निधयसे पृथक् पृथक् उपलब्ध होते हैं, और अपनी अपनी सत्तामें रहते हैं। इस तरह इनमें एकता और अनेकता दोनों हैं ॥ ९२ ॥

आकाश, काळ, जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य अमूर्त हैं, और पुद्गल द्रव्य मूर्त है। उनमें जीव द्रव्य चेतन है ॥ ९३ ॥

जिस तरह जीव और पुद्गल एक दूसरेको क्रियाके महायुक्त हैं, उस तरह दूसरे द्रव्य सहायक नहीं हैं। जीव पुद्गलद्रव्यके निमित्तसे क्रियामान होता है। काळके कारण पुद्गल अनेक स्वरूपसे परिणामन करता है ॥ ९४ ॥

जीवको जो इन्द्रिय प्राण त्रिय है वह पुद्गलद्रव्य मूर्त है, वाकीके सज अमूर्त हैं। मन अपने विचारके निहितरूपसे दोनोंको जानता है ॥ ९५ ॥

काळ परिणामसे उत्पन्न होता है। परिणाम काळसे उत्पन्न होता है। दोनोंका ऐसा ही स्वभाव है। निधयकाळसे क्षणभंगुरकाळ होता है ॥ ९६ ॥

काळ शब्द अपने अस्तित्वाका बोधक है। उसमें एक निय है और दूसरा उत्पाद और व्ययवाला है ॥ ९७ ॥

काळ, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल तथा जीव इन सजकी द्रव्य सजा है। काळकी अस्तिकाय संज्ञा नहीं है ॥ ९८ ॥

इस प्रकार निर्ग्रथके प्रयत्नके रहस्यभूत इस पचासिकायके स्वरूपके सक्षिप्त विवेचनको यथार्थरूपसे जानकर, जो राग-द्वेषसे मुक्त होता है वह सर्प दु खोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ९९ ॥

इस परमार्थको जानकर जिसने मोहका नाश कर दिया है, जिसने राग-द्वेषको शांत कर दिया है, वह जीव ससारकी दीर्घ परम्पराका नाश करके शुद्ध आत्मपदमें लीन होता है ॥ १०० ॥

इति पचासिकाय प्रथम अध्याय

ॐ जिनाय नमः—नमः श्रीसद्गुरवे.

मोक्षके कारण श्रीभगवान्महावीरको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके उस भगवान्के कहे हुए पदार्थोंके भेदरूप मोक्षके मार्गको कहता हूँ ॥ १ ॥

दर्शन ज्ञान तथा राग-द्वेषरहित चारित्र, और सम्यक्बुद्धि जिसे प्राप्त हुई है, ऐसे भव्य जीवको मोक्षमार्ग होता है ॥ २ ॥

सत्त्वार्थकी प्रतीति सम्यक्त्व है, उन भावोंका जानना ज्ञान है, और निरामान होना चारित्र है ॥ ३ ॥

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रय, सवर, निर्जरा, वध और मोक्ष ये नौ पदार्थ हैं ॥ ४ ॥

जीव दो प्रकारके होते हैं—ससारी और अससारी। दोनोंका लक्षण चैतन्योपयोग है। ससारी जीव देहसहित और अससारी देहरहित होते हैं ॥ ५ ॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये जीवोंसे युक्त हैं। इन जीवोंको मोहकी प्रबलता रहती है, ओर उन्हें स्पर्शन इन्द्रियके विषयका ज्ञान मौजूद रहता है ॥ ६ ॥

उनमें तीन प्रकारके जीव स्थानर हैं। अल्प योगनाले अग्निनाय और वायुकाय जीव त्रस हैं। उन सबको मनके परिणामसे रहित एकेन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ ७ ॥

ये पाँचों प्रकारके जीव मन-परिणामसे रहित और एकेन्द्रिय हैं, ऐसा सर्वज्ञने कहा है ॥ ८ ॥

जिस तरह अण्डमें पक्षीका गर्भ बढ़ता है, जिस तरह मनुष्यके गर्भमें मूर्च्छागत अनस्था होनेपर भी जीवत्व मौजूद है, उसी तरह एकेन्द्रिय जीवोंको भी समझना चाहिये ॥ ९ ॥

शबूक, शख, सीप, कृमि इत्यादि जो जीव रस और स्पर्शको जानते हैं, उन्हें दो इन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ १० ॥

जूँ, मकड़ी, चींटी, मिल्छ इत्यादि, और अनेक प्रकारके दूसरे भी जो काँड़े रस स्पर्श और गवको जानते हैं, उन्हें तीन इन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ ११ ॥

ढाँस, मच्छर, मक्खी, भ्रमरी, भ्रमर, पतंग इत्यादि जो रूप, रस, गंध और स्पर्शको जानते हैं, उन्हें चार इन्द्रिय जीव समझना चाहिये ॥ १२ ॥

देव, मनुष्य, नारक, तिर्यच (जलचर, स्थलचर और खेचर) ये वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्दको जानते हैं। ये बलवान पाँच इन्द्रियोंवाले जीव हैं ॥ १३ ॥

देवताओंके चार निकाय होते हैं। मनुष्य कर्म और अकर्मभूमिके भेदसे दो प्रकारके हैं। तिर्यच अनेक प्रकारके हैं। नारकी जीवोंकी जितनी पृथिवी-योनियाँ हैं, उतनी ही उनकी जातियाँ हैं ॥ १४ ॥

पूर्वमें बाँबी हुई आयुके क्षीण हो जानेसे जीव गति नामकर्मके कारण आयु और लेश्याके पश होकर दूसरी देहमें जाता है ॥ १५ ॥

इस तरह देहाश्रित जीवोंके स्वरूपके विचारका निर्णय किया। उनके भव्य और अभव्यके भेदसे दो भेद हैं। देहरहित सिद्धभगवान् हैं ॥ १६ ॥

जो सब कुछ जानता है, देखता है, दुःखका नाश करके सुखकी इच्छा करता है, शुभ और अशुभ कर्म करता है और उसके फलको भोगता है, वह जीव है ॥ १७ ॥

आकाश, काल, पुद्गल और धर्म अधर्म द्रव्यमें जीवत्व गुण नहीं हैं, उन्हें अचेतन कहते हैं, और जीवको सचेतन कहते हैं ॥ १८ ॥

सुख-दुःखका वेदन, हितमें प्रवृत्ति, अहितमें भीति, ये तीनों कालमें जिसे नहीं हैं, उसे सर्वज्ञ महामुनि अजीव कहते हैं ॥ १९ ॥

सस्थान, सघात, वर्ण, रस, स्पर्श, गंध और शब्द इस तरह पुद्गलद्रव्यसे उत्पन्न होनेवाली अनेक गुण-पर्याय हैं ॥ २० ॥

अरस, अरूप, अगध, अशब्द, अनिर्दिष्ट सस्थान, और वचनके अगोचर जिसका चैतन्य गुण है, वह जीव है ॥ २१ ॥

जो निश्चयसे ससारमें स्थित जीव है, उसके दो प्रकारके परिणाम होते हैं । परिणामसे कर्म उत्पन्न होता है, और उससे अच्छी और बुरी गति होती है ॥ २२ ॥

गतिकी प्राप्तिसे देह उत्पन्न होती है, देहसे इन्द्रियाँ और इन्द्रियोंसे निपय ग्रहण होता है, और उससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

ससार-चक्रनालमें उन भागोंसे परिभ्रमण करते हुए जीवोंमें किसी जीवका ससार अनादि-संतत है, और किसीका अनादि-अनत है—ऐसा भगवान् सर्वज्ञने कहा है ॥ २४ ॥

जिसके भागोंमें अज्ञान, राग, द्वेष और चित्तकी प्रसन्नता रहती है, उसके शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं ॥ २५ ॥

जीवको शुभ परिणामसे पुण्य होता है, और अशुभ परिणामसे पाप होता है । उससे शुभा-शुभ पुद्गलके ग्रहणरूप कर्मानस्था प्राप्त होती है ॥ २६ ॥

तृपातुरको, क्षुधातुरको, रोगीको अथवा अन्य किसी दुःखी चित्तनाशे जीवको, उसके दुःख दूर करनेके उपायकी क्रिया करनेको अनुकपा कहते हैं ॥ २७ ॥

जीवको क्रोध, मान, माया, ओर लोभकी मिठास क्षुभित कर देती है, और वह पाप-भायकी उत्पत्ति करती है ॥ २८ ॥

बहुत प्रमादवाली क्रिया, चित्तकी मलिनता, इन्द्रियके निपयोंमें लुब्धता, दूसरे जीवोंको दुःख देना, उनकी निन्दा करनी इत्यादि आचरणोंसे जीव पापाश्रय करता है ॥ २९ ॥

चार सज्ञायें, कृष्ण आदि तीन लेश्यायें, इन्द्रियाधीनत्व, आर्त्त और रौद्र ध्यान, और दुष्टभायनाली क्रियाओंमें मोह होना—यह भावपापाश्रय है ॥ ३० ॥

जीवको, इन्द्रियों कपाय ओर सज्ञाका जय करनेवाला कल्याणकारी मार्ग जिस कालमें रहता है, उस कालमें जीवको पापाश्रयरूप छिद्रका निरोध हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ ३१ ॥

जिसे किसी भी द्रव्यके प्रति राग द्वेष और अज्ञान नहीं रहता, ऐसे सुख-दुःखमें समदृष्टिके स्वामी निर्मग्न महात्माको शुभ-अशुभ आश्रय नहीं होता ॥ ३२ ॥

योगका निरोध करके जो तपश्चर्या करता है, वह निश्चयसे बहुत प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा करता है ॥ ३३ ॥

जिस समयकी जिस समय योगमें पुण्य-पापकी प्रवृत्ति नहीं होती, उस समय उसे शुभ और अशुभ कर्मके कर्तृत्वका भी सन्देह—निरोध—हो जाता है ॥ ३४ ॥

जो आत्मार्थका साधन करनेवाला, सवरयुक्त होकर, आत्मस्वरूपको जानकर तद्रूप ध्यान करता है, वह महात्मा साधु कर्म-रजको शङ्क डालता है ॥ ३५ ॥

जिसे राग, द्वेष, मोह और योगका व्यापार नहीं रहता, उसे शुभाशुभ कर्मको जलाकर भस्म कर देनेवाली ध्यानरूपी अग्नि प्रगट होती है ॥ ३६ ॥

जो, दर्शन-ज्ञानसे भरपूर और अन्य द्रव्यके ससगसे रहित ऐसे ध्यानको, निर्जराके हेतुसे करता है, वह महात्मा स्वभावसहित है ॥ ३७ ॥

जो सत्रयुक्त होकर सर्व कर्मोन्नी निर्जरा करता हुआ वेदनीय और आयुर्कर्मसे रहित होता है, वह महात्मा उसी भवसे मोक्ष जाता है ॥ ३८ ॥

जीवका स्वभाव अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन है । उसके अभिन्नस्वरूप आचरण करनेको (शुद्ध निश्चयमय स्थिर स्वभावको) सर्वज्ञ वीतरागदेवने निर्मल चारित्र कहा है ॥ ३९ ॥

वस्तुतः आत्माका स्वभाव निर्मल ही है, परन्तु गुण और पर्याययुक्त होकर उसने पर-ममय परिणामसे अनादिसे परिणामन किया है, इसलिये वह अनिर्मल है । यदि वह आत्मा स्व-समयको प्राप्त कर ले तो कर्म-बन्धसे रहित हो जाय ॥ ४० ॥

जो पर-द्रव्यमें शुभ अथवा अशुभ राग करता है, वह जीव स्व-चारित्रसे भ्रष्ट होता है, और वह पर-चारित्रका आचरण करता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ ४१ ॥

जिस भावसे आत्माको पुण्य और पाप-आश्रयकी प्राप्ति हो, उसमें प्रवृत्ति करनेवाली आत्मा पर-वारित्रमें आचरण करती है, ऐसा वीतराग सर्वज्ञने कहा है ॥ ४२ ॥

जो सर्व सगसे मुक्त होकर, अभिन्नरूपसे आत्म-स्वभावमें स्थित है, निर्मल ज्ञाता द्रष्टा है, वह जीव स्व-चारित्रका आचरण करनेवाला है ॥ ४३ ॥

पर-द्रव्यमें भावसे रहित, निर्विकल्प ज्ञान-दर्शनमय परिणामयुक्त जो आत्मा है, वह स्व-चारित्र आचरण है ॥ ४४ ॥

जिसे सम्यक्त्व, आत्मज्ञान, राग-द्वेषसे रहित चारित्र और सम्यक्बुद्धि प्राप्त हो गई है, ऐसे भव्य जीवको मोक्षमार्ग होता है ॥ ४५ ॥

तत्त्वार्थमें प्रतीति होना सम्यक्त्व है । तत्त्वार्थका ज्ञान होना ज्ञान है, और विषयके मोहयुक्त मार्गके प्रति शातभाज होना चारित्र है ॥ ४६ ॥

वर्मास्तिकाय आदिके स्वरूपकी प्रतीति होना सम्यक्त्व है, बाह्य अग और चौदह पूर्वका जानना ज्ञान है, तथा तपश्चर्या आदिमें प्रवृत्ति करना व्यवहार मोक्षमार्ग है ॥ ४७ ॥

जहाँ सम्यग्दर्शन आदिसे एकाग्रभावको प्राप्त आत्मा, एक आमाके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं करती, केवल अभिन्न आत्मामय ही रहती है, वहाँ सर्वज्ञ वीतरागने निश्चय मोक्षमार्ग कहा है ॥ ४८ ॥

जो आत्मा आत्म-स्वभावमय ज्ञान-दर्शनका अभेदरूपसे आचरण करती है, वह स्वय ही निश्चय ज्ञान दर्शन और चारित्र है ॥ ४९ ॥

जो इस सबको जानेगा और देखेगा, वह अव्याप्य सुखका अनुभव करेगा । इन भावोंकी प्रतीति भव्यको ही होती है, अभव्यको नहीं होती ॥ ५० ॥

दर्शन ज्ञान और चारित्र यह मोक्षमार्ग है, उसके सेवन करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, और (अमक कारणसे) उससे बध भी होता है, ऐसा मुनियोंने कहा है ॥ ५१ ॥

अहंत्व, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, गण और ज्ञानमें भक्तिसपन्न जीव बहुत पुण्यका उपार्जन करता है, परन्तु वह सब कर्मोंका क्षय नहीं करता ॥ ५२ ॥

। जिसके हृदयमें पर-द्रव्यके प्रति अणुमात्र भी राग रहता है, वह यदि सत्र आगमोंका जानने-जाला हो तो भी वह स्व-समयको नहीं जानता, ऐसा जानना चाहिये ॥ ५३ ॥

इमलिये सत्र इच्छाओंसे निवृत्त होकर नि सग और निर्ममत्व होकर जो सिद्धस्वरूपकी भक्ति करता है वह निर्वाणको प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

परमेष्ठीपदमें जिसे तत्त्वार्थकी प्रतीतिपूर्वक भक्ति है, और जिसकी बुद्धि निर्मम प्रपन्नमें रुचि-पूर्वक प्रपिष्ट हुई है, तथा जो समय-तपसहित आचरण करता है, उसे मोक्ष कुछ भी दूर नहीं है ॥ ५५ ॥

जो अहंत्वकी, भिन्नकी, चैत्यकी और प्रपन्नकी भक्तिसहित तपस्रचर्या करता है, वह नियमसे देवलोकको प्राप्त करता है ॥ ५६ ॥

इस कारण इच्छामात्रकी निवृत्ति करो । कहीं भी किंचिमात्र भी राग मत करो । क्योंकि वीतराग भव-सागरको पार हो जाता है ॥ ५७ ॥

मने प्रपन्नकी भक्तिमें उत्पन्न प्रेरणासे, मार्गकी प्रमानाके लिये, प्रपन्नके रहस्यभूत पचा-स्तिनायके समग्ररूप इस शास्त्रकी रचना की है ॥ ५८ ॥

इति पचास्तिकाय समाप्त

७०१ ववाणीआ, फाल्गुन वदी ११॥ मगल १९५३

सम्वत् १९५३ को फाल्गुन वदी १२ भौमवार—

जिन	मुख्य	आचार्य
सिद्धांत	पद्धति	धर्म
शास्त्ररस	अहिंसा	मुख्य
छिगादि	व्यवहार	जिनमुद्रा-सूचक
मतांतर	समावेश	
शास्त्ररस	प्रपन्न	
जिन	अन्यको	धर्मप्राप्ति
लोक आदि स्वरूप—	सहायकी	निवृत्ति—समाधान
जिन	प्रतिमा	कारण

कुछ गृह-व्यवहारको शांत करके परिगृह आदि कार्यसे निवृत्त होगा चाहिये । अप्रमत्त गुणस्थानतक पहुँचना चाहिये । सर्वथा भूमिकाका सहजपरिणामी प्यान—

७०२ ववाणीआ, फाल्गुन वदी १२ भौम १९५३

श्रीमद्राजचन्द्र स्व-आत्मदशा-प्रकाश

अहा ! इस दिनको धन्य है, जो अपूर्व शांति जाग्रत हुई है । दस वर्षकी अवस्थामें यह धारा उल्लसित हुई और उदय कर्मका गर्भ दूर हो गया । अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ १ ॥

७०२

धन्य रे दिवस आ अहो, जागी जे रे शांति अपूर्व रे,
दस वर्षे रे धारा उल्लसी, मद्यो उदय कर्मनो गर्भ रे । धन्य० ॥ १ ॥

सप्त उन्नीससौ इकतालीसमें अपूर्ण क्रम प्राप्त हुआ, और उन्नीससौ त्रियालिसमें अद्भुत वैराग्य-धारा प्रकाशित हुई । अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ २ ॥

सप्त उन्नीससौ सैंतालीसमें शुद्ध समकितका प्रकाश हुआ, श्रुतका अनुभव, बढ़ती हुई दशा और निजस्वरूपका भास हुआ । अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ३ ॥

इस समय एक भयानक उदय आया । उस उदयसे परिग्रह-कार्यके प्रपंचमें पड़ना पड़ा । ज्यों ज्यों उसे धक्का मारकर भगते थे, त्यों त्यों वह उल्टा बढ़ता ही जाता था और रचमात्र भी कम न होता था । अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ४ ॥

इस तरह यह दशा क्रमसे बढ़ती चली गई । इस समय वह कुछ क्षीण माझम होती है । मनमें ऐसा भासित होता है कि वह क्रमसे क्रमसे दूर हो जायगी । अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ५ ॥

जो कारणपूर्वक मनमें सत्यधर्मके उद्धार करनेका भाव है, वह इस देहसे अवश्य होगा—ऐसा निश्चय हो गया है । अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ६ ॥

अहा ! यह कैसी अपूर्ण वृत्ति है, इससे अप्रमत्तयोग होगा, और लगभग केवलभूमिकाको स्पर्श करके देहका वियोग होगा । अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ७ ॥

कर्मका जो भोग बानी रहा है, उसे अवश्य ही भोगना है । इस कारण एक ही देह धारण करके निजरूप निजदेशको जाऊँगा । अहा ! इस दिनको धन्य है ॥ ८ ॥

७०३

ववाणीआ, चैत्र सुदी ३ रत्रि . १९५३

रहस्यद्विष्ट अथवा समिति-विचार

परमभक्तिसे स्तुति करनेवालेके प्रति भी जिसे राग नहीं, और परमद्वेषसे परिग्रह-उपसर्ग करनेवालेके प्रति जिसे द्वेष नहीं, उस पुरुषरूप भगवान्‌को बारम्बार नमस्कार हो ।

द्वेषरहित वृत्तिसे प्रवृत्ति करना योग्य है, धीरज रखना चाहिये ।

ओगणीसैं ने एकतालीस, आन्वो अपूर्व अनुसार रे,
ओगणीसैं ने बेतालीस, अद्भुत वैराग्य धार रे । धन्य० ॥ २ ॥
ओगणीसैं ने सुडतालीस, समकित शुद्ध प्रकाश रे,
श्रुत अनुभव बढ़ती दशा, निजस्वरूप अवभास रे । धन्य० ॥ ३ ॥
त्वा आन्वो रे उदय कारमो, परिग्रह कार्य प्रपंच रे,
जेम जेम ते हडसेलीए, तेम वधे न घटे एक रच रे । धन्य० ॥ ४ ॥
बघतु एम ज चालियु, हवे दीसे क्षीण काई रे,
कमे करीने रे ते जये, एम भासे यनमाहि रे । धन्य० ॥ ५ ॥
यथाहेतु जे चित्तनो, सत्यधर्मनो उद्धार रे,
यथे अवश्य आ देहपी, एम यथो निरधार रे । धन्य० ॥ ६ ॥
आवी अपूर्ण वृत्ति अहो, यथे अप्रमत्त योग रे,
केवल लगभग भूमिका, स्पष्टीनि देह वियोग रे । धन्य० ॥ ७ ॥
अवश्य कर्मनो भोग छे, बाकी रह्यो अवशेष रे,
तेथी देह एक ज धारिने, जाणु स्वरूप स्वदेश रे । धन्य० ॥ ८ ॥

(१) शका —मुनि को आचाराग पढते हुए शका हुई है कि साधुको दीर्घशका आदि कारणोंमें भी बहुत सख्त मार्गका प्ररूपण देखनेमें आता है, तो ऐसी ऐसी अल्प क्रियाओंमें भी इतनी अधिक सख्ती रखनेका क्या कारण होगा ?

समाधान —सतत अतर्मुख उपयोगमें स्थिति रखना ही निर्ग्रथका परम धर्म है। एक समय भी उस उपयोगको बहिर्मुख न करना चाहिये, - यही निर्ग्रथका मुख्य मार्ग है। परन्तु उस समयके लिये जो देह आदि साधन बताये हैं, उनके निर्वाहके लिये सहज ही प्रवृत्ति भी होना उचित है। तथा उस तरहकी कुछ भा प्रवृत्ति करते हुए उपयोग बहिर्मुख होनेका निमित्त हो जाता है। इस कारण उस प्रवृत्तिके इस तरह ग्रहण करनेकी आज्ञा दी है कि जिससे वह प्रवृत्ति अतर्मुख उपयोगके प्रति रहा करे। यद्यपि केवल और सहज अतर्मुख उपयोग तो मुख्यतया केवलभूमिका नामके तेरहवें गुणस्थानमें ही होता है, किन्तु अनिर्मल विचारधाराकी प्रखलतासहित अतर्मुख उपयोग तो सातवें गुणस्थानमें भी होता है। वहाँ वह उपयोग प्रमादसे स्वलित हो जाता है, और यदि वह उपयोग वहाँ कुछ विशेष अशर्म से स्वलित हो जाय तो उपयोगके विशेष बहिर्मुख हो जानेसे उसकी असयम-भायसे प्रवृत्ति होती है। उसे न होने देनेके लिये, और देह आदि साधनोंके निर्वाहकी प्रवृत्ति भी ऐसी है जो ज़ेड़ी नहीं जा सकती इस कारण, जिससे वह प्रवृत्ति अतर्मुख उपयोगसे हो सके, ऐसी अद्भुत सकलनासे उस प्रवृत्तिका उपदेश किया है। इसे पाँच समितिके नामसे कहा जाता है।

जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोगपूर्वक चलना पड़े तो चलना, जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञापूर्वक बोलना पड़े तो बोलना, जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोग-पूर्वक आहार आदि ग्रहण करना, जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोगपूर्वक बख आदिको लेना रखना, जिस तरह आज्ञा की है उस तरह आज्ञाके उपयोगपूर्वक दीर्घशका आदि त्याग करने योग्य शरीरके मलका त्याग करना—इस प्रकार प्रवृत्तिरूप पाँच समितियाँ कहीं हैं। समयमें प्रवृत्ति करनेके जो जो दूरे प्रकारोंका उपदेश दिया है, उन सबका इन पाँच समितियोंमें समावेश हो जाता है। अर्थात् जो कुछ निर्ग्रथको प्रवृत्ति करनेकी आज्ञा की है वह, जिस प्रवृत्तिका त्याग करना अशक्य है, उसी प्रवृत्तिको करनेकी आज्ञा की है, और वह इस प्रकारसे ही की है कि जिस तरह मुख्य हेतु जो अतर्मुख उपयोग है उसमें अस्वलित भाव रहे। यदि इसी तरह प्रवृत्ति की जाय तो उपयोग सतत जाग्रत रह सकता है, और जिस जिस समय जीवकी जितनी जितनी ज्ञान-शक्ति और वीर्य-शक्ति है वह सब अप्रमत्त रह सकती है।

दीर्घशका आदि क्रियाओंको करते हुए भी जिससे अप्रमत्त सयमदृष्टि विस्मृत न हो जाय, इसलिये उन सख्त क्रियाओंका उपदेश किया है, परन्तु वे सत्पुरुषकी दृष्टि बिना समझमें नहीं आती। यह रहस्यदृष्टि सक्षेपमें लिखी है, उसपर अधिकाधिक विचार करना चाहिये। किसी भी क्रियामें प्रवृत्ति करते हुए इस दृष्टिको स्मरणमें रखनेका लक्ष रखना योग्य है।

जो जो ज्ञानीकी आज्ञारूप क्रियायें हैं, उन सब क्रियाओंमें यदि तथारूप भावसे प्रवृत्ति की जाय तो वह अप्रमत्त उपयोग होनेका साधन है। इस आशययुक्त इस पत्रका ज्यों-ज्यों विशेष विचार करोगे, त्यों-त्यों अपूर्व अर्थका उपदेश मिलेगा।

(२) हमेशा अमुक शास्त्राध्ययन करनेके पश्चात् इस पत्रके विचार करनेसे स्पष्ट ज्ञान हो सकता है ।

(३) कर्मग्रन्थका बौचन करना चाहिये । उसके पूरे होनेपर उसका फिरसे आवृत्तिपूर्वक अनुप्रेक्षण करना योग्य है ।

७०४

वराणीआ, चैत्र सुदी ४, १९५३

(१)

१ एकेन्द्रिय जीवको जो अनुकूल स्पर्श आदिकी अव्यक्तरूपसे प्रियता है, वह मैथुनसज्ञा है ।

२ एकेन्द्रिय जीवको जो देह ओर देहके निर्माह आदि सामानोंमें अव्यक्त मूर्च्छा है, वह परिग्रह-सज्ञा है । वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीवोंमें यह सज्ञा कुछ विशेष व्यक्त है ।

(२)

(१) तीनों प्रकारके समकितमेंसे चाहे किसी भी प्रकारका समकित आविर्भूत हो, तो भी अधिकसे अधिक पन्द्रह भवमें मोक्ष हो जाती है, ओर यदि समकित होनेके पश्चात् जीव उसका वमन कर दे तो उसे अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल-परावर्तनतक ससारमें परिभ्रमण होकर मोक्ष हो सकता है ।

(२) तीर्थकरके निर्ग्रथ, निर्ग्रथिनी, श्रावक और श्राविका—इन सत्रको जीव-अजीवका ज्ञान था, इसलिये उन्हें समकित कहा हो, यह बात नहीं है । उनमेंसे बहुतसे जीवोंको तो केवल सचे अतरंग भासे तीर्थकरकी ओर उनके उपदेश दिए हुए मार्गकी प्रतीति थी, इस कारण भी उन्हें समकित कहा है । इस समकितके प्राप्त करनेके पश्चात् जीवने यदि उसे वमन न किया हो तो अधिकसे अधिक उसके पन्द्रह भव होते हैं । सिद्धातमें अनेक स्थलोंपर यथार्थ मोक्षमार्गको प्राप्त सत्पुरुषकी यथार्थ प्रतीतिसे ही समकित कहा है । इस समकितके उत्पन्न हुए त्रिना, जीवको प्रायः जीव और अजीवका यथार्थ ज्ञान भी नहीं होता । जीव और अजीवके ज्ञान प्राप्त करनेका मुख्य मार्ग यही है ।

(३) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अविज्ञान, मन पर्यवज्ञान, केवलज्ञान, मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभगज्ञान, इन आठोंको जीवके उपयोगस्वरूप होनेसे अरूपी कहा है । ज्ञान और अज्ञान इन दोनोंमें इतना ही मुख्य अंतर है कि जो ज्ञान समकितसहित है वह ज्ञान है, और जो ज्ञान मिथ्यात्वसहित है, वह अज्ञान है, वस्तुतः दोनों ही ज्ञान हैं ।

(४) ज्ञानावरणीय कर्म और अज्ञान दोनों एक नहीं हैं । ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञानको आवरण-स्वरूप है, और अज्ञान ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमस्वरूप अर्थात् आरण दूर होनेरूप है ।

(५) अज्ञान शब्दका अर्थ साधारण भाषामें ज्ञानरहित होता है—उदाहरणके लिये जड़ ज्ञानसे रहित कहा जाता है, परन्तु निर्ग्रथ-भाषामें तो मिथ्यात्वसहित ज्ञानका नाम ही अज्ञान है, अर्थात् उस दृष्टिसे अज्ञानको अरूपी कहा है ।

(६) यहाँ शका हो सकती है कि यदि अज्ञान अरूपी हो तो वह फिर सिद्धमें भी होना चाहिये । उसका समाधान इस प्रकारसे है—मिथ्यात्वसहित ज्ञानको ही अज्ञान कहा है । उसमेंसे मिथ्यात्व नष्ट हो जानेसे ज्ञान बाकी बच जाता है । वह ज्ञान सम्पूर्ण शुद्धतासहित सिद्धभगवान्में रहता

ही है। सिद्धका केवलज्ञानीका ओर सम्यक्दृष्टिका ज्ञान मिथ्यात्वरहित है। जीवको मिथ्यात्व भ्रातिस्वरूप है। उस भ्रातिके यथार्थ समझमे आ जानेपर उसकी निवृत्ति हो सकती है। मिथ्यात्व दिशाकी भ्रातिरूप है।

(३)

ज्ञान जीवका स्वभाव है इसलिये वह अरूपी है, ओर ज्ञान जबतक विपरीतरूपसे जाननेका कार्य करता है, तबतक उसे अज्ञान ही कहना चाहिये, ऐसी निर्व्रथकी परिभाषा है। परन्तु यहाँ ज्ञानके दूसरे नामको ही अज्ञान समझना चाहिये।

शका — यदि ज्ञानका ही दूसरा नाम अज्ञान हो तो जिस तरह ज्ञानसे मोक्ष होना कहा है, उसी तरह अज्ञानसे भी मोक्ष होनी चाहिये। तथा जिस तरह मुक्त जीवोंमें ज्ञान बताया गया है, उसी तरह उनमें अज्ञान भी कहना चाहिये।

समाधान — जैसे कोई डोरा गँठके पड़नेसे उलझा हुआ ओर गँठके खुल जानेसे उलझन-रहित कहा जाता है, यद्यपि देखा जाय तो डोरे दोनों ही हैं, फिर भी गँठके पड़ने और खुल जानेकी अपेक्षा ही उन्हें उलझा हुआ ओर उलझनरहित कहा जाता है, उसी तरह मिथ्यात्वज्ञानको 'अज्ञान' ओर सम्यग्ज्ञानको 'ज्ञान' कहा गया है। परन्तु मिथ्यात्वज्ञान कुछ जड़ है ओर सम्यग्ज्ञान चेतन है, यह बात नहीं है। जिस तरह गँठनाला डोरा और त्रिना गँठका डोरा दोनों ही डोरे हैं, उसी तरह मिथ्यात्वज्ञानसे ससार-परिभ्रमण और सम्यग्ज्ञानसे मोक्ष होती है। जैसे यहाँसे पूर्व दिशामें दस कोसपर किसी गाँवमें जानेके लिये प्रस्थित कोई मनुष्य, यदि दिशाके भ्रमसे पूर्णके बदले पश्चिम दिशामें चला जाय, तो वह पूर्व दिशानाले गाँवमें नहीं पहुँच सकता, परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कुछ चलने-रूप ही किया नहीं की, उसी तरह देह और आत्माके भिन्न भिन्न होनेपर भी, जिसने देह और आत्माको एक समझ लिया है, वह जीव देह-बुद्धिसे ससार-परिभ्रमण करता है, परन्तु उससे यह नहीं कहा जा सकता कि उसने कुछ जाननेरूप ही कार्य नहीं किया। उक्त जीव जो पूर्णसे पश्चिमकी ओर गया है—यह जिस तरह पूर्णको पश्चिम मान लेनेरूप भ्रम है, उसी तरह देह और आत्माके भिन्न भिन्न होनेपर भी दोनोंको एक मानना भ्रम ही है। परन्तु पश्चिमकी ओर जाते हुए—चलते हुए—जिस तरह चलनेरूप स्वभाव तो रहता ही है, उसी तरह देह और आत्माको एक समझनेमें भी जाननेरूप स्वभाव तो रहता ही है। जिस तरह यहाँ पूर्णकी जगह पश्चिमकी ही पूर्ण मान लेनेरूप जो भ्रम है वह भ्रम, तथारूप सामग्रीके मिलनेसे समझमें आ जानेसे जब पूर्ण पूर्ण समझमें आता है और पश्चिम पश्चिम समझमें आता है, उस समय दूर हो जाता है, और पश्चिम पूर्णकी ओर चलने लगता है, उसी तरह जिसने देह और आत्माको एक मान रक्खा है, वह सद्वरु-उपदेश आदि सामग्रीके मिलनेपर, जब यह बात यथार्थ समझमें आ जाती है कि वे दोनों भिन्न भिन्न हैं, उस समय उसका भ्रम दूर होकर आत्माके प्रति ज्ञानोपयोग होता है। जैसे भ्रममें पूर्णको पश्चिम ओर पश्चिमको पूर्ण मान लेनेपर भी, पूर्ण पूर्ण ही था और पश्चिम पश्चिम ही था, केवल भ्रमके कारण ही वह विपरीत भासित होता था, उसी तरह अज्ञानमें भी, देह देह और आत्मा आत्मा होनेपर भी वे उस तरह भासित नहीं होते, यह विपरीत ज्ञान है। उसके यथार्थ समझनेमें आनेपर, भ्रमके निवृत्त हो जानेसे देह देह भासित होती है और आत्मा

आत्मा भासित होती है, और जो जाननेरूप स्वभाव निपरीत-भाजको प्राप्त होता था, वह अब सम्यक्भावको प्राप्त होता है। जिस तरह वास्तवमें दिशा-भ्रम कुछ भी वस्तु नहीं है, और केवल गमनरूप क्रियासे इष्ट गाँवकी प्राप्ति नहीं होती, उसी तरह वास्तवमें मिथ्यात्व भी कोई चीज नहीं है, और उसके साथ जाननेरूप स्वभाव भी रहता है, परन्तु बात इतनी ही है कि साथमें मिथ्यात्वरूप भ्रम होनेसे निज-स्वरूपभावमें परम स्थिति नहीं होती। दिशा-भ्रमके दूर हो जानेसे इच्छित गॉनकी ओर फिरनेके बाद मिथ्यात्व भी दूर हो जाता है, और निजस्वरूप शुद्ध ज्ञानात्मपदमें स्थिति हो सकती है, इसमें किसी भी सन्देहको कोई अन्काश नहीं है।

७०५

ववाणीआ, चैत्र सुदी ५, १९५३

तांनों समकितमेंसे किसी भी एक समकितको प्राप्त करनेसे जीव अधिकसे अधिक पन्द्रह भजमें मोक्ष प्राप्त करता है, और कमसे कम उसे उसी भजमें मोक्ष होती है, और यदि वह उस समकितका वमन कर दे तो वह अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परावर्तन कालतक ससार परिभ्रमण करके मोक्ष प्राप्त करता है। समकित प्राप्त करनेके पश्चात् अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल-परावर्तन ससार होता है।

यदि क्षयोपशम अथवा उपशम समकित हो तो जीव उसका वमन कर सकता है, परन्तु यदि क्षायिक समकित हो तो उसका वमन नहीं किया जाता। क्षायिकसमकितों जीव उसी भजमें मोक्ष प्राप्त करता है, यदि वह अधिक भव करे तो तीन भज करता है, और किसी जीवकी अपेक्षा तो कभी चार भज भी होते हैं। युगलियोंकी आयुके बध होनेके पश्चात् यदि क्षायिक समकित उत्पन्न हुआ हो तो चार भज होने समभव हैं—प्रायः किसी जीवको ही ऐसा होता है।

भगवान्के तीर्थकर निर्ग्रथ, निर्ग्रथिनी, श्रावक और श्राविकाको कुछ सबको ही जीव-अजीवका ज्ञान था, और इस कारण उन्हें समकित कहा है, यह शास्त्रका अभिप्राय नहीं है। उनमेंसे बहुतसे जीवोंको तो, 'तीर्थकर सबे पुरुष हैं, सबे मोक्षमार्गके उपदेष्टा हैं, और वे जिस तरह कहते हैं मोक्षमार्ग उसी तरह है,' ऐसी प्रतीतिसे, ऐसी रुचिसे, श्रीतीर्थकरके आश्रयसे और निश्चयसे समकित कहा गया है। ऐसी प्रतीति, ऐसी रुचि और ऐसे आश्रयका तथा ऐसी आज्ञाका जो निश्चय है, वह भी एक तरहसे जीव अजीवका ज्ञान ही है। 'पुरुष सबे मिले हैं और उनकी प्रतीति भी ऐसी सच्ची हुई है कि जिस तरह वे परमकृपाल कहते हैं, मोक्षमार्ग उसी तरह है—मोक्षमार्ग उसी तरह हो सकता है, उस पुरुषके लक्षण आदि भी वीतरागताकी सिद्धि करते हैं। तथा जो वीतराग होता है वह पुरुष यथार्थ वक्ता होता है, और उसी पुरुषकी प्रतीतिसे मोक्षमार्ग स्वीकार किया जा सकता है' ऐसी सुविचारणा भी एक तरहसे गौणरूपसे जीव-अजीवका ही ज्ञान है।

उस प्रतीतिसे, उस रुचिसे और उस आश्रयसे बादमें जीवाजीवका स्पष्ट विस्तारसहित अनुक्रमसे ज्ञान होता है। तथारूप पुरुषकी आज्ञाकी उपासना करनेसे, राग-द्वेषका क्षय होकर वीतराग-दशा होती है। तथारूप सपुरुषका प्रत्यक्ष योग हुए बिना यह समकित होना कठिन है। हाँ, उस पुरुषके वचनरूप शास्त्रोंसे पूर्वमें आराधक किसी जीवको समकित होना समभव है, अथवा कोई कोई आचार्य प्रत्यक्षरूपसे उस वचनके कारणसे किसी जीवको समकित प्राप्त कराते हैं।

७०६

वयाणीआ, चैत्र सुदी ६ बुध १९५३

वेशभूषामें ऊपरकी चटक-मटक न रखते हुए योग्य सादगीसे रहना ही अच्छा है। चटक-मटक रंगनेसे कोई पाँचसोके वेतनके पाँचसौ एक नहीं कर सकता, और योग्य सादगीसे रहनेसे कोई पाँचसौके चारसौ नित्यानमें नहीं कर सकता।

(२) धर्मका लौकिक वड़पन, मान-महत्वकी इच्छा, यह धर्मका दोहरूप है।

धर्मके बहाने अनार्थ देशमें जाने अथवा सूत्र आदिके भेजनेका निषेध करनेवाले—नगारा वनाकर निषेध करनेवाले—जहाँ अपने मान-महत्व वड़पनका सवाल आता है वहाँ, इसी धर्मको ठोकर मारकर, इसी धर्मपर पैर रखकर इसी निषेधका निषेध करते हैं, यह धर्मद्रोह ही है। उन्हें धर्मका महत्त्व तो केवल बहानेरूप है, और स्वार्थसन्धी मान आदिका सवाल ही मुग्य सवाल है—यह धर्मद्रोह ही है।

बीरचंद गाधीको खिलायत भेजने आदिके विषयमें ऐसा ही हुआ है।

जब धर्म ही मुख्य रग हो तब अहोभाग्य है।

(३) प्रयोगके बहाने पशुग्रह करनेवाला, यदि रोग—दु ख—को दूर करे तो तबकी बात तो तब रही, परन्तु इस समय तो यह विचारे निरपराधी प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाकर अज्ञानतामश कर्मका उपार्जन करता है! प्रकार भी विवेक-विचारके बिना ही इस कार्यकी पुष्टि करनेके लिये लिप्य मारते हैं।

७०७

वयाणीआ, चैत्र सुदी १० सोम १९५३

१ औपध आदि, मिलनेपर, बहुतसे रोग आदिके ऊपर असर करती है। क्योंकि उस रोग आदिके हेतुका बुद्ध कर्म-बन्ध ही उस तरहका होता है। औपध आदिके निमित्तसे वह पुद्गल विस्तारसे फैलकर अथवा दूर होकर वेदनीयके उदयके निमित्तको छोड़ देता है। यदि उस रोग आदिका उस तरह निवृत्त होने योग्य कर्म-बन्ध न हो तो उसके ऊपर औपध आदिका असर नहीं होता, अथवा औपध आदि प्राप्त नहीं होती, अथवा औपध मिले भी तो सम्यक् औपध आदि प्राप्त नहीं होती।

२ अमुक कर्म-बन्ध किस प्रकारका है, उसे यथार्थ ज्ञानदृष्टिके बिना जानना कठिन है। अर्थात् औपध आदि व्यवहारकी प्रवृत्तिका एकातसे निषेध नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि अपनी देहके सबधमें कोई परम आत्म-दृष्टियाला पुरुष उस तरह आचरण करे, अर्थात् वह औपध आदि ग्रहण न करे तो वह योग्य है। परन्तु दूसरे सामान्य जीव भी यदि उस तरह चलने लगें तो वह एकातिक दृष्टि होनेसे कितनी ही हानि पहुँचानेवाला है। फिर उसमें भी अपने आश्रित जीवोंके प्रति अथवा दूसरे किहीं जीवोंके प्रति रोग आदि कारणोंमें उस तरहका उपचार करनेके व्यवहारमें प्रवृत्तिका जा सकती है, फिर भी यदि कोई उपचार आदिके करनेकी उपेक्षा करे तो वह अनुकपा-मार्गको छोड़ देना जैसा ही होता है। क्योंकि कोई जीव चाहे कितना ही पीड़ित हो फिर भी यदि उसे दिलासा देने तथा औपध आदि देनेके व्यवहारको न किया जाय, तो वह उसे आर्तबन्धनके हेतु होने जैसा हो जाता है। गृहस्थ-व्यवहारमें ऐसी एकातिक दृष्टि करनेसे बहुत है।

३ त्याग-व्यवहारमें भी ज्ञानीने एकातसे उपचार आदिका निषेध नहीं किया। निर्ग्रन्थको यदि स्व-परिग्रहीत शरीरमें रोग आदि हो जाँय, तो औषध आदिके ग्रहण करनेके समयमें ऐसी आज्ञा है कि जयतक आर्त्तव्यान उत्पन्न न होने योग्य दृष्टि रहे, तयतक औषध आदि ग्रहण न करनी चाहिये, और यदि औषध ग्रहण करनेका कोई विशेष कारण दिताई दे तो निरवध औषध आदि ग्रहण करनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं होता, अथवा यथाशुभ औषध आदि ग्रहण करनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं होता। तथा दूसरे निर्ग्रन्थको यदि शरीरमें रोग आदि हुआ हो, तो जहाँ उसकी वैयावृत्य आदिके करनेका क्रम प्रदर्शित किया है, वहाँ भी उसे इसी तरह प्रदर्शित किया है कि जिससे कुछ विशेष अनुरूपा आदि दृष्टि रहे। अर्थात् इससे यह बात समझमें आ जायगी कि उसका गृहस्थ-व्यवहारमें एकातसे त्याग करना असमय है।

४ वे औषध आदि यदि कुछ भी पाप-क्रियासे उत्पन्न हुई हों, तो जिस तरह वे अपने औषध आदिके गुणको विना दिखाये नहीं रहती, उसी तरह उसमें होनेवाली पाप-क्रिया भी अपने गुणको विना दिखाये नहीं रहती। अर्थात् जिस तरह औषध आदिके पुद्गलोंमें रोग आदि पुद्गलोंके पराभय करनेका गुण मौजूद है, उसी तरह उसके लिये की जानेवाली पाप-क्रियामें भी पापरूपसे परिणमन करनेका गुण मौजूद है, और उससे कर्म-बन्ध होकर यथासत्तर उस पाप-क्रियाका फल उदयमें आता है। उस पाप-क्रियावाली औषध आदिके करनेमें, करानेमें और अनुमोदन करनेमें, उस ग्रहण करनेवाले जीवकी जैसी देह आदिके प्रति मूर्छा है, जैसी मनकी आकुलता व्याकुलता है, जैसा आर्त्तव्यान है, तथा उस औषध आदिकी जैसी पाप-क्रिया है, वे सब अपने अपने स्वभायसे परिणमन कर यथासत्तर फल देते हैं। जैसे रोग आदिका कारणरूप कर्म-बन्ध, जैसा अपना स्वभाय होता है, उसे वैसा ही प्रदर्शित करता है, और जैसे औषध आदिके पुद्गल अपने स्वभायको दिखाते हैं, उसी तरह औषध आदिकी उत्पत्ति आदिमें होनेवाली क्रिया, उसके कर्ताकी ज्ञान आदि वृत्ति, तथा उसके ग्रहण करनेवालेके जैसे परिणाम है, उसका जैसा ज्ञान आदि है, वृत्ति है, तदनुसार उसे अपने स्वभायका प्रदर्शित करना योग्य ही है। तथारूप शुभ शुभस्वरूपसे और अशुभ अशुभस्वरूपसे फलदायक होता है।

५ गृहस्थ-व्यवहारमें भी अपनी देहमें रोग आदि हो जानेपर जितनी मुख्य आत्मदृष्टि रह सके उतनी रखनी चाहिये, और यदि योग्य दृष्टिसे देखनेसे अग्रय ही आर्त्तव्यानका परिणाम आने योग्य दिखाई दे तो, अथवा आर्त्तव्यान उत्पन्न होता हुआ दिखाई दे तो, औषध आदि व्यवहारको ग्रहण करते हुए निरवध (निष्पाप) औषध आदिकी वृत्ति रखनी चाहिये। तथा क्वचित् अपने आपके लिये अथवा अपने आश्रित अथवा अनुरूपा-योग्य किन्हीं दूसरे जीवोंके लिये यदि सावध औषध आदिका ग्रहण हो तो यह लक्ष रखना उचित है कि उसका सावधपना निर्धनस—कूर—परिणामके हेतुके समान, अथवा अधर्म मार्गको पोषण करनेवाला न होना चाहिये।

६ सत्र जीवोंको हितकारी ऐसी ज्ञानी-पुरुषकी वाणीको किसी भी एकातदृष्टिसे ग्रहण करके उसे अहितकारी अर्थमें न उतारनी चाहिये, इस उपयोगको निरतर स्मरणमें रखना उचित है।

७०८

वराणाँआ, चैत्र सुदी १५ शनि १९५३

१ जो औपध वेदनीयके ऊपर असर करती है, वह औपध वास्तवमें वेदनीयके बन्को ही निवृत्त कर सकती है—ऐसा नहीं कहा है। क्योंकि यह औपध यदि कर्मरूप वेदनीयका नाश करनेवाली हो तो फिर अशुभ कर्म ही निष्फल हो जाय, अथवा स्वयं औपध ही शुभ कर्मरूप कही जाय। परन्तु यहाँ यह समझना चाहिये कि वह अशुभ वेदनीयकर्म इस प्रकारका है कि उसका अन्यथाभाज होनेमें औपध आदि निमित्त-कारणरूप हो सकती हैं। मद अथवा मन्थम और शुभ अथवा अशुभ बधको किसी सजातीय कर्मके मिलनेसे वह उत्कृष्ट बध भी हो सकता है। तथा जिस तरह मद अथवा मन्थम बाँधे हुए कितने ही शुभ बधका किसी अशुभ कर्मविशेषके पराभवसे अशुभ परिणामन होता है, उसी तरह उस अशुभ बधका किसी शुभ कर्मके योगसे शुभ परिणामन भी होता है।

२ मुख्यरूपसे तो बध परिणामके अनुसार ही होता है। उदाहरणके लिये यदि कोई मनुष्य किसी मनुष्यका तीव्र परिणामसे नाश करनेके कारण निकाचित कर्म बाँधे, परन्तु बहुतसे बचावके कारणोंसे और साक्षी आदिके अभावसे, राजनीतिके नियमोंके अनुसार, उस कर्मको करनेवाला मनुष्य यदि छूट जाय, तो यह नहीं समझना चाहिये कि उसका बध निकाचित नहीं होता। क्योंकि उसके निपाकके उदयका समय दूर होनेके कारण भी ऐसा हो सकता है। तथा बहुतसे अपराधोंमें राजनीतिके नियमानुसार जो दंड होता है वह भी कर्त्ताने परिणामके अनुसार ही होता है, यह एकातिक बात नहीं है। अथवा वह दंड किसी पूर्वमें उत्पन्न किये हुए अशुभ कर्मके उदयसे भी होता है, और वर्तमान कर्म-बध सत्तामें पड़ा रहता है, जो यथानसर निपाक देता है।

३ सामान्यरूपसे असत्य आदिकी अपेक्षा हिंसाका पाप विशेष होता है। परन्तु विशेषरूपसे तो हिंसाकी अपेक्षा असत्य आदिका पाप एकातरूपसे कम ही है, यह नहीं समझना चाहिये, अथवा वह अधिक ही है, ऐसा भी एकातसे न समझना चाहिये। हिंसाके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाग और उसके कर्ताके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भागका अनलनन लेकर ही कर्ताको उसका बन् होता है। इसी तरह असत्य आदिके सबधमें भी यही समझना चाहिये। किसी अमुक हिंसाकी अपेक्षा किसी अमुक असत्य आदिका फल एकगुना दोगुना अथवा अनतगुना विशेषतक होता है। इसी तरह किसी असत्य आदिकी अपेक्षा किसी हिंसाका फल भी एकगुना दोगुना अथवा अनतगुना विशेषतक होता है।

४ त्यागकी बारम्बार विशेष जिज्ञासा होनेपर भी, सत्कारके प्रति विशेष उदासीनता होनेपर भी, किसी पूर्वकर्मके प्राबल्यसे जो जीव गृहस्थानासको नहीं छोड़ सकता, वह पुरुष गृहस्थानासमें कुटुम्ब आदिके निर्वाहके लिये जो कुछ प्रवृत्ति करता है, उसमें उसने जैसे जैसे परिणाम रहते हैं, उसे तदनुसार ही बध आदि होता है। मोहके होनेपर भी अनुकया माननेसे, अथवा प्रमाद होनेपर भी उदय माननेसे कर्म-बध धोखा नहीं खाता। उसका तो परिणामके अनुसार ही बध होता है। कर्मके सूक्ष्म भेदोंका यदि बुद्धि विचार न कर सके तो भी शुभ और अशुभ कर्म तो फलसाहित ही होता है, इस निश्चयको जीवको भूलना नहीं चाहिये।

५ अर्हत्के प्रत्यक्ष परम उपकारी होनेसे तथा उनके सिद्धपदके प्ररूपक होनेके कारण भी सिद्धकी अपेक्षा अर्हत्को ही प्रथम नमस्कार किया है।

७०९

ववाणीआ, चैत्र वदी ५, १९५३

छहकायके स्वरूपकी भी सत्पुरुषकी दृष्टिसे प्रतीति करनेसे और विचारनेसे ज्ञान ही होता है। 'यह जीव किस दिशासे आया है,' इस वाक्यसे शास्त्रपरिज्ञा-अध्ययनका आरम्भ किया है। सद्गुरुके मुखसे उस आरम्भ-वाक्यके आशयको समझनेसे समस्त द्वादशांगीका रहस्य समझना योग्य है।

हालमें तो जो आचाराग आदिका वॉचन करो, उसका अधिक अनुप्रेक्षण करना। वह बहुतसे उपदेश-पत्रोंके ऊपरसे सहजमें ही समझमें आ सकेगा। सब मुमुक्षुओंको प्रणाम पहुँचे।

७१०

सायला, वैशाख सुदी १५, १९५३

मिथ्यात्व, अनिरति, प्रमाद, कपाय और योग ये कर्मबन्धके पाँच कारण हैं। किसी स्थलपर प्रमादको छोड़कर बाकीके चार ही कारण बतायें हों, तो वहाँ प्रमादका अतर्भाव मिथ्यात्व अनिरति और कपायमें ही किया गया है।

शास्त्रकी परिभाषानुसार प्रदेशबन्धका अर्थ निम्नरूपसे है—परमाणु सामान्यरूपसे एक प्रदेश-अवगाही है। उस एक परमाणुके ग्रहण करनेको एक प्रदेश कहा जाता है। जीव कर्मबन्धसे अनन्त परमाणुओंको ग्रहण करता है। वे परमाणु यदि फैले हों तो वे अनन्तप्रदेशी हो सकते हैं, इस कारण अनन्त प्रदेशोंका बन्ध कहा जाता है। उसमें भी मद अनन्त आदिसे भेद आता है, अर्थात् जहाँ अल्प प्रदेशबन्ध कहा हो वहाँ परमाणु तो अनन्त समझने चाहिये, परन्तु उस अनन्तकी सघनताको अल्प समझना चाहिये। तथा यदि उससे विशेष अधिक विशेष छिपा हो तो अनन्तताको सघन समझनी चाहिये।

जरा भी व्याकुल न होते हुए आदिसे अततक कर्मप्रथका वॉचना विचार करना योग्य है।

७११

ईडर, वैशाख वदी १२ शुक्र. १९५३

तथारूप (यथार्थ) आसका—मोक्षमार्गके लिये जिसके निश्चासपूर्वक प्रवृत्ति की जा सके ऐसे पुरुषका—जीवको समागम होनेमें कोई पुण्यका हेतु ही समझते हैं। तथा उसका पहिचान होनेमें भी महान् पुण्य ही समझते हैं, और उसकी आज्ञा-भक्तिसे आचरण करनेमें तो महान् महान् पुण्य समझते हैं—ऐसे ज्ञानीके जो वचन हैं वे सच्चे हैं, यह प्रत्यक्ष अनुभवमें आने जैसी बात है।

यद्यपि तथारूप आसपुरुषके अभाव जैसा यह काल चल रहा है, तो भी आत्मार्या जीवको उस समागमकी इच्छा करते हुए उसके अभावमें भी अन्वय ही विशुद्धिस्थानके अभ्यासका लक्ष्य करना चाहिये।

७१२

ईडर, वैशाख वदी १२ शुक्र १९५३

सर्वथा निराशा हो जानेसे जीवको सत्समागमका प्राप्त हुआ लाभ भी शिथिल हो जाता है। सत्समागमके अभावका खेद रखते हुए भी जो सत्समागम हुआ है, यह परम पुण्यका योग मिला है। इसलिये सर्वसग त्यागका योग बननेतक जनतक गृहस्थानामें रहना हो तबतक उस प्रवृत्तिको नीतिके

साथ साथ, कुछ सामधानीपूर्वक, परमार्थमें अति उत्साहसहित प्रवृत्ति करके विशुद्धिस्थानका नित्य ही अभ्यास करते रहना चाहिये ।

७१३

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १९५३

स्वभाव जाग्रतदशा

(१)

चित्रसारी न्यारी परजक न्यारी सेज न्यारी, चादरि भी न्यारी इहाँ झूठी मेरी थपना ।
अतीत अवस्था सैन निद्रावाहि कोउ पै न, विद्यमान पलरु न यामे अव छपना ॥
स्वास औ सुपन दोऊ निद्राकी अलग बूझै, सूझै सब अग लखि आतम दरपना ।
त्यागी भयौ चेतन अचेतनता भाव त्यागि, भालै हाँटि खोलिकै सभालै रूप अपना ॥

(२)

अनुभव-उत्साहदशा

जेसौ निरभेदरूप निहचै अतीत हुतौ, तैसौ निरभेद अव भेद कौन कहैगौ ।
दीसै कर्मरहित सहित सुख समाधान, पायौ निजथान फिर बाहरि न बहैगौ ॥
कबहुँ कदाचि अपनौ सुभाव त्यागि करि, राग रस राचिकै न परवस्तु गहैगौ ।
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयौ, याही भांति आगम अनतकाल रहैगौ ॥

(३)

स्थितिदशा

एक परिनामके न करता दरव दोइ, दोइ परिनाम एक दर्ब न धरतु है ।
एक करतूति दोइ दर्ब कबहुँ न करै, दोइ करतूति एक दर्ब न करतु है ॥
जीव पुदगल एक खेत-अवगाही दोउ, अपने अपने रूप दोउ कोउ न टरतु है ।
जड परिनामनिऊँ करता है पुदगल, चिदानन्द चेतन सुभाव आचरतु है ॥

(४)

ॐ सर्वज्ञ

आत्मा सर्व अयभाससे रहित है, जिसे सर्वा इसी तरहका अनुभव रहता है वह मुक्त है ।
जिसे अन्य सब द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे ओर भाससे सर्वा असगता रहती है, वह मुक्त है ।
अटल अनुभवरूप आत्मा जहाँसे सब द्रव्योंसे प्रत्यक्ष भिन्न भासित हो वहाँसे मुक्तदशा रहती है । वह पुरुष मान हो जाता है, वह पुरुष अप्रतिबद्ध हो जाता है, वह पुरुष असग हो जाता है, वह पुरुष निर्विकल्प हो जाता है, ओर वह पुरुष मुक्त हो जाता है ।

जिहोंने इस तरहकी असगदशा उत्पन्न की है कि तीनों कालमें देह आदिसे अपना कोई भी सन्ध न था, उन भगवान्‌रूप सत्पुरुषोंको नमस्कार है ।

(५)

तिथि आदिके विकल्पको छोड़कर निज विचारमें आचरण करना ही कर्त्तव्य है । शुद्ध सहज आत्मस्वरूप

७०९

वराणीआ, चैत्र वदी ५, १९५३

छहकायके स्वरूपकी भी सपुत्ररूपकी दृष्टिसे प्रतीति करनेसे ओर विचारनेसे ज्ञान ही होता है। 'यह जीव किस दिशासे आया है,' इस वाक्यसे शास्त्रपरिज्ञा-अध्ययनका आरम्भ किया है। सद्गुरुके मुखसे उस आरम्भ-वाक्यके आशयको समझनेसे समस्त द्वादशांगीका रहस्य समझना योग्य है।

हालमें तो जो आचाराग आदिका बौचन करो, उसका अधिक अनुप्रेक्षण करना। वह बहुतसे उपदेश-पत्रोंके ऊपरसे सहजमें ही समझमें आ सकेगा। सत्र मुमुक्षुओंको प्रणाम पहुँचे।

७१०

सायल, वैशाख सुदी १५, १९५३

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग ये कर्मबन्धके पाँच कारण हैं। किसी स्थलपर प्रमादको छोड़कर बाकीके चार ही कारण प्रतापे हों, तो यहाँ प्रमादका अतर्भाव मिथ्यात्व अविरति और कपायमे ही किया गया है।

शास्त्रकी परिभाषानुसार प्रदेशबन्धका अर्थ निम्नरूपसे है—परमाणु सामान्यरूपसे एक प्रदेश-अवगाही है। उस एक परमाणुके ग्रहण करनेको एक प्रदेश कहा जाता है। जीव कर्मबन्धसे अनन्त परमाणुओंको ग्रहण करता है। ये परमाणु यदि फैले हों तो वे अनन्तप्रदेशी हो सकते हैं, इस कारण अनन्त प्रदेशोंका बन्ध कहा जाता है। उसमें भी भेद अनन्त आदिसे भेद आता है, अर्थात् जहाँ अल्प प्रदेशबन्ध कहा हो वहाँ परमाणु तो अनन्त समझने चाहिये, परन्तु उस अनन्तकी सघनताको अल्प समझना चाहिये। तथा यदि उससे विशेष अधिक विशेष लिखा हो तो अनन्तताको सघन समझनी चाहिये।

जरा भी व्याकुल न होते हुए आदिसे अततक कर्मप्रथका बौचन विचार करना योग्य है।

७११

ईडर, वैशाख वदी १२ शुक्र. १९५३

तथारूप (यथार्थ) आत्मका—मोक्षमार्गके लिये जिसके विश्वासपूर्वक प्रवृत्ति की जा सके ऐसे पुरुषका—जीवको समागम होनेमें कोई पुण्यका हेतु ही समझते हैं। तथा उसका पहिचान होनेमें भी महान् पुण्य ही समझते हैं, और उसकी आज्ञा-भक्तिसे आचरण करनेमें तो महान् महान् पुण्य समझते हैं—ऐसे ज्ञानीके जो वचन हैं वे सच्चे हैं, यह प्रायश्च अनुभवमें आने जैसी बात है।

यद्यपि तथारूप आत्मपुरुषके अभाव जैसा यह काल चल रहा है, तो भी आत्मार्थी जीवको उस समागमकी इच्छा करते हुए उसके अभावमें भी अवश्य ही विशुद्धिस्थानके अभ्यासका लक्ष्य करना चाहिये।

७१२

ईडर, वैशाख वदी १२ शुक्र. १९५३

सर्वथा निराशा हो जानेसे जीवको सत्समागमका प्राप्त हुआ लाभ भी शिथिल हो जाता है। सत्समागमके अभावका खेद रखते हुए भी जो सत्समागम हुआ है, यह परम पुण्यका योग मिला है। इसलिये सर्वसग त्यागका योग बननेतक जबतक गृहस्थानासमें रहना हो तबतक उस प्रवृत्तिको नीतिके

साथ साथ, कुछ साधनापूर्वक, परमार्थमें अति उत्साहसहित प्रवृत्ति करके विद्युद्धिस्थानका नित्य ही अभ्यास करते रहना चाहिये ।

७१३

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी १९५३

स्वभाव जाग्रतदशा

(१)

चित्रसारी न्यारी परजक न्यारी सेज न्यारी, चादरि भी न्यारी इहाँ झूठी मेरी थपना ।
अतीत अस्थायी सैन निद्रावाहि कोड पै न, विद्यमान पलक न यामे अव छपना ॥
स्वास औ सुपन दोऊ निद्राकी अलग बूझै, सूझै सन अंग लखि आतम दरपना ।
त्यागी भयौ चेतन अचेतनता भाव त्यागि, भालै दृष्टि खोलिकै सभालै रूप अपना ॥

(२)

अनुभव-उत्साहदशा

जैसौ निरभेदरूप निहचे अतीत हृतौ, तैसौ निरभेद अव भेद कौन कहैगौ ।
दीसै कर्मराहित सहित सुख समाधान, पायौ निजथान फिर बाहरि न वहैगौ ॥
कनहँ कटाचि अपनौ सुभाव त्यागि करि, राग रस राचिकै न परवस्तु गहैगौ ।
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयौ, याही भाति आगम अनतकाल रहैगौ ॥

(३)

स्थितिदशा

एक परिनामकै न करता दरव दोइ, दोइ परिनाम एक दर्ब न धरतु है ।
एक करतति दोइ दर्ब कनहँ न करे, दोइ करतति एक दर्ब न करतु है ॥
जीव पुदगल एक खेत-अवगाही टोड, अपनै अपनै रूप दोड कोड न टरतु है ।
जड परिनामनिकौ करता है पुदगल, चिदानन्द चेतन सुभाव आचरतु है ॥

(४)

ॐ सर्वज्ञ

आत्मा सर्व अन्यभासे रहित है, जिसे सर्वा इसी तरहका अनुभव रहता है वह मुक्त है ।
जिसे अन्य सन द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भासे सर्वा असगता रहती है, वह मुक्त है ।
अटल अनुभवरूप आत्मा जहाँसे सन द्रव्योंसे प्रत्यक्ष भिन्न भासित हो वहाँसे मुक्तदशा रहती है । वह पुरुष मीन हो जाता है, वह पुरुष अप्रतिबद्ध हो जाता है, वह पुरुष असग हो जाता है, वह पुरुष निर्निकल्प हो जाता है, और वह पुरुष मुक्त हो जाता है ।

जिन्होंने इस तरहकी असगदशा उत्पन्न की है कि तीनों कालमें देह आदिसे अपना कोई भी सन्ध न था, उन भगवान्‌रूप सत्पुरुषोंको नमस्कार है ।

(५)

तिथि आदिके निकल्पको छोड़कर निज विचारमें आचरण करना ही कर्त्तव्य है । शुद्ध सहज आत्मस्वरूप

७१४

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ८ भौम. १९५३

जिसे किसीके प्रति राग और द्वेष नहीं रहा, उस महात्माको नमस्कार है !

१ परमयोगी श्रीऋषभदेव आदि पुरुष भी जिस देहका रक्षण नहीं कर सके, उस देहमें एक विशेषता यह है कि जबतक जीवको उसका समग्र रहे तत्रतक जीवको असगता—निर्मोहीपना—प्राप्त करके, अवाप्य अनुभवरूप निजस्वरूपको जानकर, अन्य सब भावोंसे व्यावृत्त (मुक्त) हो जाना चाहिये, जिससे फिरसे जन्म-मरणका आवागमन न रहे ।

२ उस देहको छोड़ते समय जितने अशमें असगता—निर्मोहीपना—यथार्थ समरसभावरहता है, उतना ही मोक्षपद प्राप्तमें रहता है, ऐसा परमज्ञानी पुरुषका निश्चय है ।

३. इस देहमें करने योग्य कार्य तो एक ही है कि किसीके प्रति किंचित् भी राग और द्वेष न रहे—सर्वत्र समदशा ही रहे—यही कल्याणका मुरय निश्चय है ।

४ कुछ भी मन उचन और कायाके योगसे जाने या बिना जाने कोई अपराध हुआ हो तो उसकी विनयपूर्वक क्षमा माँगता हूँ—अत्यन्त नम्रभावरसे क्षमा माँगता हूँ ।

७१५

बम्बई, ज्येष्ठ वदी ६ रवि १९५३

परमपुरुष-दशा-चर्चन

१. कीचसौ कनक जाकै नीचसौ नरेस पद, मीचसी मितार्ई गरुवाई जाकै गारसी ।

जहरसी जोग-जाति कहरसी करामाति, हहरसी हौस पुदगल-छवि छारसी ॥

जालसौ जग-विलास भालसौ भुवनवास, कालसौ कुटुवकाज लोक-लाज लारसी ।

सीठसौ सुजसु जानै बीठसौ उखत मानै, ऐसी जाकी रीति ताही बंदत बनारसी ॥

जो कचनको कीचड़के समान मानता है, राजगद्दीको नीचपदके समान समझता है, किसीसे मित्रता करनेको मरणके समान समझता है, बड़प्पनको लीपनेके गौरके समान मानता है, कामिया आदिको जो जहरके समान गिनता है, सिद्धि आदि ऐश्वर्यको जो असाताके समान समझता है, जगत्में पूज्यता होने आदिकी हविसको अनर्थके समान गिनता है, पुद्गलकी छवि ऐसी औदारिक आदि कायाको राखके समान समझता है, जगत्के भोग-विलासको जजालके समान मानता है, गृहवासको भालके समान समझता है, कुटुम्बके कार्यको काल-मृत्यु-के समान गिनता है, लोकमें लाज बढ़ानेकी इच्छाको मुखकी लाखके समान समझता है, कीर्तिकी इच्छाको नाकके मैलके समान समझता है, और पुण्यके उदयको जो निघाने समान समझता है—ऐसी जिसकी रीति है, उसे बनारसीदास नमस्कार करते हैं ।

२ किसीके लिये कुछ विकल्प न करते हुए असगभाव ही रखना । ज्यों ज्यों वे सत्पुरुषके वचनोंकी प्रतीति करेंगे, ज्यों ज्यों उसकी आज्ञापूर्वक उनकी अस्थि-मज्जा रँगी जायगी, त्यों त्यों वे सब जीव आत्म-कल्याणको सुगमतासे प्राप्त करेंगे—इसमें सन्देह नहीं है ।

सबसे अतः कारणसे विशेष सत्समागमके आशयसे जीवको उत्कृष्ट दशा भी बहुत थोड़े समयमें ही प्राप्त हो जाती है ।

३ **ज्यारहार** अथवा परमार्थसन्धी यदि कोई भी जीवकी वृत्ति हो तो उसे शमन करके, सर्वथा असंग उपयोगपूर्वक अथवा परम पुरुषकी उपरोक्त दशाके अलम्बनपूर्वक, आत्मामें स्थिति करना चाहिये, यही निवेदन है । क्योंकि अन्य कोई भी विकल्प रचना उचित नहीं है । जो कोई सबे अतः कारणसे सत्पुरुषके वचनको ग्रहण करेगा वह सत्यको पायेगा, इसमें कोई संशय नहीं, और शरीरका निर्वाह आदि व्यवहार सबके अपने अपने प्रारब्धके अनुसार ही प्राप्त होना योग्य है, इसलिये तत्सन्धी कोई भी विकल्प रचना उचित नहीं । उस विकल्पको यद्यपि तुमने प्राप्त शांत कर दिया है तो भी निश्चयकी प्रवृत्तिका लिये यह लिखा है ।

४ सब जीवोंके प्रति, सब भावोंके प्रति, अगाध एकरस वीतरागदशाका रचना ही सर्व ज्ञानका फल है ।

आमा, शुद्धचेतय जन्म जरा मरणरहित असंगस्वरूप है । इसमें सर्व ज्ञानका समावेश हो जाता है । उसकी प्रतीतिमें सर्व सम्पददर्शनका समावेश हो जाता है । आत्माकी असंगस्वरूपसे जो स्वभावदशा रहना है, वह सम्बन्धकारित उत्कृष्ट समय और वीतरागदशा है । उसकी सम्पूर्णताका फल सर्वदुःखोंका क्षय हो जाना है, यह त्रिलोक्य सन्देहरहित है—त्रिलोक्य सन्देहरहित है । यही प्रार्थना है ।

७१६

बम्बई, अष्टम वरी १२ शनि १९५३

आर्य श्रीसोभागके मरणके समाचार पढ़कर बहुत रोद हुआ । ज्यों ज्यों उनके अनेक अद्भुत गुणोंके प्रति दृष्टि जाती है, त्यों त्यों अधिकाधिक वेद होता है ।

जीवको देहका सम्बन्ध इसी तरहसे है । ऐसा होनेपर भी जीव अनादिसे देहका त्याग करते समय रोद प्राप्त किया करता है, और उसमें दृढ़ मोहसे एकभावकी तरह रहता है । यही जन्म मरण आदि ससारका मुख्य बीज है । श्रीसोभागने ऐसी देहको छोड़ते हुए, महान् मुनियोंको भी दुर्लभ ऐसी निश्चल असंगतासे निज उपयोगमय दशा रचकर अपूर्व हित किया है, इसमें संशय नहीं ।

उनके पूज्य होनेमें, उनका तुम्हारे प्रति बहुत उपकार होनेसे, तथा उनके गुणोंकी अद्भुतताके कारण, उनका प्रियोग तुम्हें अधिक खेदकारक हुआ है, और होना योग्य भी है । तुम उनके प्रति सामारिक पूज्यभावके वेदको विस्मरण कर, उन्होंने तुम सबके लिये जो परम उपकार किया हो, तथा उनके गुणोंकी जो तुम्हें अद्भुतता मान्य हुई हो, उसका प्रारम्भ स्मरण करके, उस पुरुषका प्रियोग हो गया है, इसका अंतरमें रोद रक्कड़, उन्होंने आराधना करने योग्य जो जो वचन और गुण बताये हैं उनका स्मरण कर, उसमें आत्माको प्रेरित करनेके लिये ही तुम सबसे प्रार्थना है । समागममें आये हुए मुमुक्षुओंको श्रीसोभागका स्मरण सहज ही अधिक समयतक रहने योग्य है ।

जिस समय मोहके कारण खेद उत्पन्न हो उस समयमें भी उनके गुणोंकी अद्भुतताको स्मरणमें लाकर, उत्पन्न होनेवाले खेदको शांत कर, उनके गुणोंकी अद्भुतताका प्रियोग हो गया है, इस तरह वह खेद करना योग्य है ।

इस क्षेत्रमें इस कालमें श्रीसोभाग जैसे पुरुष निरले ही मिलते हैं यह हमें वारम्बार भासित होता है धीरजपूर्वक सर्जोंको खेदका शान्त करना, और उनके अद्भुत गुणों और उपकारी वचनोंका आश्रय लेना ही योग्य है। श्रीसोभाग मुमुक्षुओंद्वारा विस्मरण किये जाने योग्य नहीं हैं।

जिसने सत्सारेके स्वरूपको स्पष्टरूपमें जान लिया है, उसे उस सत्सारेके पदार्थकी प्राप्ति अथवा अप्राप्तिसे हर्ष-शोक होना योग्य नहीं है, तो भी ऐसा जान पड़ता है कि अमुक गुणस्थानतक उसे भी सत्पुरुषके समागमकी प्राप्तिसे कुछ हर्ष, और उसके वियोगसे कुछ खेद हो सकता है।

आत्मसिद्धि प्रथके विचार करनेकी इच्छा हो तो विचार करना। परन्तु उसके पहिले यदि और बहुतेसे वचन और सद्प्रश्नोंका विचार करना बन सके, तो आत्मसिद्धि प्रबल उपकारका हेतु होगा, ऐसा माद्धम होता है।

श्रीसोभागकी सरलता, परमार्थसमधी निश्चय, मुमुक्षुओंके प्रति परम उपकारित्व आदि गुण वारम्बार विचार करने योग्य हैं। शांति शांति शांति

७१७

बम्बई, आपाठ सुदी ४ रवि १९५३

७ श्रीसोभागको नमस्कार.

१ श्रीसोभागकी मुमुक्षुदशा तथा ज्ञानीके मार्गके प्रति उनका अद्भुत निश्चय वारम्बार स्मृतिमें आया करता है।

२ सन जीन सुखकी इच्छा करते हैं, परन्तु कोई निरला ही पुरुष उस सुखके यथार्थ स्वरूपको समझता है।

जन्म मरण आदि अनत दु खोंके आत्यतिक (सर्था) क्षय होनेका उपाय, जीनको अनादिकालसे जाननेमें नहीं आया। जीन यदि उस उपायके जानने और करनेकी सच्ची इच्छा उत्पन्न होनेपर सत्पुरुषके समागमके लाभको प्राप्त करे तो वह उस उपायको समझ सकता है, और उस उपायकी उपासना करके सन दु खोंसे मुक्त हो जाता है।

वैसी सच्ची इच्छा भी प्रायः करके जीनको सत्पुरुषके समागमसे ही प्राप्त होती है। वैसा समागम, उस समागमकी पहिचान, बताए हुए मार्गकी प्रतीति और उस तरह आचरण करनेकी प्रवृत्ति होना जीनको परम दुर्लभ है।

‘मनुष्यता, ज्ञानीके वचनोंका श्रवण मिलना, उसकी प्रतीति होना, और उनके द्वारा कहे हुए मार्गमें प्रवृत्ति होना परम दुर्लभ है’—यह उपदेश श्रीनर्धमानस्वामीने उत्तराध्ययनके तीसरे अध्ययनमें किया है।

प्रत्यक्ष सत्पुरुषका समागम और उसके आश्रयमें निचरण करनेवाले मुमुक्षुओंको मोक्षसम्बन्धी समस्त साधन प्रायः (बहुत करके) अल्प प्रयाससे ओर अल्प ही कालमें सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु उस समागमका योग मिलना बहुत दुर्लभ है। मुमुक्षु जीनका चित्त निरन्तर उसी समागमके योगमें रहता है। सत्पुरुषका योग मिलना तो जीनको सन कालमें दुर्लभ ही है। उसमें भी ऐसे दुःषमकालमें तो

यह योग कश्चित् ही मिलता है। सत्पुरुष गिरेले ही विचरते हैं। उस समागमका अपूर्ण लाभ मानकर जीनको मोक्षमार्गीकी प्रतीति कर, उस मार्गीका निरन्तर आराधन करना योग्य है।

जब उस समागमका योग न हो तब आरभ-परिग्रहकी ओरसे वृत्तिको हटाना चाहिये, और सत्शास्त्रका विशेषरूपसे परिचय रखना चाहिये। यदि व्यापारिक कार्योंकी प्रवृत्ति करनी पड़ती हो तो भी जो जीन उसमेंसे वृत्तिको मद करनेकी इच्छा करता है, वह जीन उसे मद कर सकता है, और वह सत्शास्त्रके परिचयके लिये अधिक अन्काश प्राप्त कर सकता है।

आरभ-परिग्रहके ऊपरसे जिनकी वृत्ति खिन हो गई है, अर्थात् उसे असार समझकर जो जीन उससे पीछे हट गये हैं, उन जीनोंको सत्पुरुषोंका समागम और सत्शास्त्रका श्रवण विशेषरूपसे हितकारी होता है। तथा जिस जीनकी आरभ परिग्रहके ऊपर विशेष वृत्ति रहती हो, उस जीनमें सत्पुरुषके वचनोंका और सत्शास्त्रका परिणमन होना फठिन है।

आरभ-परिग्रहके ऊपरसे वृत्तिको कम करना और सत्शास्त्रके परिचयमें रुचि करना प्रथम तो फठिन माद्म होता है, क्योंकि जीनका अनादि-प्रकृतिमान उससे भिन्न ही है, तो भी जिसने वेसा करनेका निश्चय कर लिया है, वह उसे करनेमें समर्थ हुआ है। इसलिये विशेष उत्साह रखकर उस प्रवृत्तिको करना चाहिये।

सब मुमुक्षुओंको इस बातका निश्चय और नित्य नियम करना योग्य है। प्रमाद और अनियमितताको दूर करना चाहिये।

७१८

सच्चे ज्ञानके बिना और सच्चे चारित्रिके बिना जीनका कल्याण नहीं होता, इसमें सन्देह नहीं है। सत्पुरुषके वचनका श्रवण, उसकी प्रतीति, और उसकी आज्ञासे चलनेवाले जीन चारित्रिको प्राप्त करते हैं, यह निस्सन्देह अनुभव होता है।

यहाँसे योगनासिष्ठ पुस्तक भेजी है, उसका पाँच-सात बार फिर फिरसे वाचन और बारम्बार विचार करना योग्य है।

७१९

ई, आपाद् वदी १ गुरु १९५३

(१) शुभेच्छासे लगाकर शैलेसीकरणतक जिस ज्ञानीको सब क्रियायें मान्य हैं, उस ज्ञानीके वचन त्याग-वैराग्यका निषेध नहीं करते। इतना ही नहीं, किन्तु त्याग-वैराग्यका साधनभूत जो पहिले त्याग-वैराग्य आता है, ज्ञानी उसका भी निषेध नहीं करते।

(२) कोई जड़-क्रियामें प्रवृत्ति करके ज्ञानीके मार्गसे भ्रिमुख रहता हो, अथवा बुद्धिकी मूढ़ताके कारण उच्चदशाको प्राप्त करते हुए रुक जाता हो, अथवा जिसने असत् समागमसे मति-व्यामोह प्राप्त करके अथवा त्याग-वैराग्यको ही सच्चा त्याग-वैराग्य मान लिया हो, तो यदि उसके निषेध करनेके लिये ज्ञानी योग्य वचनसे करुणा बुद्धिसे उसका कश्चित् निषेध करता हो, तो व्यामोहयुक्त न होकर उसका सद्देहतु समझकर, यथार्थ त्याग-वैराग्यकी अन्तर तथा बाह्य क्रियामें प्रवृत्ति करना ही उचित है।

७२०

वम्बई, आपाढ वदी १ गुरु १९५३

(१) * सकळ संसारी इद्रियरामी, मुनि गुण आतमरामी रे,
मुख्यणे जे आतमरामी, ते कहिये निःकामी रे ।

(२) हे मुनियो ! तुम्हें आर्य सोमागकी अतरदशाकी और देह-मुक्त समयकी दशाकी, बारम्बार अनुप्रेक्षा करना चाहिये ।

(३) हे मुनियो ! तुम्हें द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे—असगभायसे—निचरण करनेके सतत उपयोगको सिद्ध करना चाहिये । जिसने जगत्के सुखकी स्पृहाको छोड़कर ज्ञानिके मार्गका आश्रय ग्रहण किया है, वह अस्य उस असग उपयोगको पाता है । जिस श्रुतसे असगता उल्लसित हो उस श्रुतका परिचय करना योग्य है ।

७२१

वम्बई, आपाढ वदी ११ रवि १९५३

परम संयमी पुरुषोंको नमस्कार हो.

असारभूत व्यवहारको सारभूत प्रयोजनकी तरह करनेका उदय मौजूद रहनेपर भी, जो पुरुष उस उदयसे क्षोभ न पाकर सहजभाय—स्वधर्मेमें निश्चलभायसे रहे है, उन पुरुषोंके भीष्म-व्रतका हम बारम्बार स्मरण करते हैं ।

७२२

वम्बई, श्रावण सुदी ३ रवि. १९५३

(१) परम उत्कृष्ट संयम जिनके लक्षमें निरन्तर रहा करता है, उन सत्पुरुषोंके समागमका निरन्तर ध्यान है ।

(२) प्रतिष्ठित (निर्प्रथ) व्यवहारकी श्री की जिज्ञासासे भी अनतगुण विशिष्ट जिज्ञासा रहती है । उदयके बलवान और वेदन किये बिना अटल होनेसे, अतरग खेदका समतासहित वेदन करते हैं । दीर्घकालको अत्यन्त अल्पभायमें लानेके ध्यानमें वर्तन करते हैं ।

(३) यथार्थ उपकारी पुरुषकी प्रत्यक्षतामें एकत्वभावना आत्मशुद्धिकी उत्कृष्टता करती है ।

७२३

वम्बई, श्रावण सुदी १५ गुरु. १९५३

(१) जिसकी दीर्घकालकी स्थिति है, उसे अल्पकालकी स्थितिमें लाकर जिन्होंने कर्मोंका क्षय किया है, उन महात्माओंको नमस्कार है ।

(२) सदाचरण सद्ग्रथ और सत्समागममें प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

७२४ बम्बई, श्रावण सुदी १५ गुरु १९५३

(१) मोक्षमार्गप्रकाश प्रथका मुमुक्षु जीवको विचार करना योग्य है ।

उसका अन्वेषण करते हुए यदि किसी विचारमें कुछ मतांतर जैसा माद्धम हो तो व्याकुल न होकर उस स्थलको अधिक मनन करना चाहिये, अथवा उस स्थलको सत्समागममें समझना चाहिये ।

(२) परमोत्कृष्ट समयमें स्थितिकी बात तो दूर रही, परन्तु उसके स्वरूपका विचार होना भी कठिन है ।

७२५ बम्बई, श्रावण सुदी १५ गुरु १९५३

‘क्या सम्यग्दृष्टि अभक्ष्य आहार कर सकता है’ ? इत्यादि जो प्रश्न लिखे हैं उन प्रश्नोंके हेतुको विचारनेसे कहना योग्य होगा कि प्रथम प्रश्नमें किसी दृष्टांतको लेकर जीवको शुद्ध परिणामकी हानि करनेके ही समान है । मतिकी अस्थिरतासे जीव परिणामका विचार नहीं कर सकता ।

यद्यपि किसी जगह किसी प्रथमें श्रेणिक आदिके सबधमें ऐसी बात कही है, परन्तु वह किमीके द्वारा आचरण करनेके लिये नहीं कही, तथा वह बात उसी तरह यथार्थ है, यह बात भी नहीं है ।

सम्यग्दृष्टि पुरुषको अल्पमात्र भी व्रत नहीं होता, तो भी सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् उसका यदि जीव वमन न करे तो वह अधिकसे अधिक पन्दरह भयमें मोक्ष प्राप्त कर सकता है, ऐसा सम्यग्दर्शनका बल है—इस हेतुसे कही हुई बातको अ यथारूपमें न ले जानी चाहिये । सत्पुरुषकी वाणी, त्रिपय और कपायके अनुमोदनसे अथवा राग-द्वेषके पोषणसे रहित होती है—यह निश्चय रखना चाहिये, और चाहे कैसा भी प्रसंग हो उसका उसी दृष्टिसे अर्थ करना उचित है ।

७२६ बम्बई, श्रावण वदी ८ शुक १९५३

(१) मोहमुद्गर और मणिरत्नमाला इन दो पुस्तकोंका हालमें बाँचनेका परिचय रखना । इन दोनों पुस्तकोंमें मोहके स्वरूपके तथा आत्म-साधनके बहुतसे उत्तम भेद बताये हैं ।

(२) पारमार्थिक करुणाशुद्धिसे निष्पक्षभाससे कल्याणके साधनके उपदेष्टा पुरुषका समागम, उपासना और उसकी आज्ञाका आराधन करना चाहिये । तथा उस समागमके नियोगमें सत्शास्त्रका बुद्धि-अनुसार परिचय रखकर सदाचारसे प्रवृत्ति करना ही योग्य है ।

७२७ बम्बई, श्रावण वदी १० रवि १९५३

मोक्षमार्गप्रकाश श्रवण करनेकी जिन जिज्ञासुओंको अभिलाषा है, उनको उसे श्रवण कराना— अधिक स्पष्टीकरणपूर्वक और धीरजसे श्रवण कराना । श्रोताको यदि किसी स्थलपर विशेष सशय हो तो उसका समाधान करना उचित है । तथा किसी स्थानपर यदि समाधान होना असंभव जैसा माद्धम हो तो उसे किसी महात्माके सयोगसे समझनेके लिये कहकर श्रवणको रोकना नहीं चाहिये । तथा उस सशयको किसी महात्माके सिनाय अन्य किसी स्थानमें पहुँचनेसे वह विशेष भ्रमका ही कारण होगा, और

उससे निस्सन्देह श्रमण किया हुआ श्रमणका लाभ व्यर्थ ही चला जायगा । यह दृष्टि यदि श्रोताको हो जाय तो वह अधिक हितकारी हो सकती है ।

७२८

ॐ

वम्बई, श्रमण वदी १२, १९५३

१ सर्वोत्कृष्ट भूमिकामें स्थिति होनेतक, श्रुतज्ञानका अवलम्बन लेकर सत्पुरुष भी स्वदशामें स्थिर रह सकते हैं, ऐसा जो जिनभगवान्का अभिमत है, वह प्रत्यक्ष सत्य दिखाई देता है ।

२ सर्वोत्कृष्ट भूमिकापर्यन्त श्रुतज्ञान (ज्ञानी-पुरुषके वचन) का अवलम्बन जब जब मद पड़ता है, तब तब सत्पुरुष भी कुछ कुछ अस्थिर हो जाते हैं, तो फिर सामान्य मुमुक्षु जीव अथवा जिन्हें विपरीत समागम—विपरीत श्रुत आदि अवलम्बन—रहते आये हैं, उन्हें तो बारम्बार विशेष अति विशेष अस्थिरता होना समभव है । ऐसा होनेपर भी जो मुमुक्षु, सत्समागम सदाचार और सत्शास्त्रके विचाररूप अवलम्बनमें दृढ़ निवास करते हैं, उन्हें सर्वोत्कृष्ट भूमिकापर्यन्त पहुँच जाना कठिन नहीं है—कठिन होनेपर भी कठिन नहीं है ।

७२९

ॐ

वम्बई, श्रमण वदी १२ बुध. १९५३

द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे जिन पुरुषोंको प्रतिबंध नहीं,
उन सत्पुरुषोंको नमस्कार है !

सत्समागम सत्शास्त्र और सदाचारमें दृढ़ निवास होना यह आत्मदशा होनेका प्रबल अवलम्बन है । यद्यपि सत्समागमका योग मिलना दुर्लभ है, तो भी मुमुक्षुओंको उम योगकी तीव्र जिज्ञासा रखनी चाहिये, और उसकी प्राप्ति करना चाहिये । तथा उस योगके अभावमें तो जीवको अग्रय ही सत्शास्त्र-रूप विचारके अवलम्बनसे सदाचारकी जागृति रखनी योग्य है ।

७३०

वम्बई, भाद्रपद सुदी ६ गुरु १९५३

परम कृपालु पूज्य श्रीपिताजी !

आजतक मैंने आपकी कुछ भी अविनय अमाप्ति अथवा अपराध किये हों, तो मैं दोनों हाथ जोड़कर मस्तक नमाकर शुद्ध अन्तःकरणसे क्षमा माँगता हूँ । कृपा करके आप क्षमा प्रदान करें । अपनी मातेश्वरीसे भी मैं इसी तरह क्षमा माँगता हूँ । इसी प्रकार अन्य दूसरे साथियोंके प्रति भी मैंने यदि किसी भी प्रकारका अपराध अथवा अविनय—जाने या बिना जाने—किये हों, तो उनकी भी शुद्ध अन्तःकरणसे क्षमा माँगता हूँ । कृपा करके सब क्षमा करवाजी ।

७३१

बम्बई, भाद्रपद सुदी ९ रति १९५३

१ बाह्यक्रिया और गुणस्थान आदिमें रहनेवाली क्रियाके स्वरूपकी चर्चा करना, हालमें प्रायः अपने और परके लिये उपकारी नहीं होगा।

२ इतना ही कर्त्तव्य है कि कुछ मतमतांतरपर दृष्टि न डालते हुए, असद्वृत्तिका निरोध करनेके लिये, जीवको सत्शास्त्रके परिचय और विचारमें ही स्थिति करनी चाहिये।

७३२

बम्बई, भाद्रपद वदी ८ रति १९५३

जीवको परमार्थके प्राप्त करनेमें अपार अतराय है, उसमें भी इस कालमें तो अतरायोंका अन्तर्णनाय बल रहता है। शुभेच्छासे लगाकर कैवल्यपर्यंत भूमिकाके पहुँचनेमें जगह जगह वे अतराय देखनेमें आते हैं, ओर वे अतराय जीवको वारम्बार परमार्थसे द्युत कर देते हैं। जीवको महान् पुण्यके उदयसे यदि सत्समागमका अर्पण लाभ रहा करे, तो वह निर्भिन्नतया कैवल्यपर्यंत भूमिकाको पहुँच जाता है। सत्समागमके नियोगमें जीवको आत्मत्रलको विशेष जाग्रत रखकर सत्शास्त्र और शुभेच्छा-सपन्न पुरुषोंके समागममें ही रहना उचित है।

७३३

बम्बई, भाद्रपद वदी १५ रति १९५३

ॐ

१ शरीर आदि बलके घटनेसे सब मनुष्योंसे सर्वथा दिगम्बरवृत्तिसे रहते हुए चारित्रिका निर्वाह नहीं हो सकता, इसलिये वर्तमानकाल जैसे कालमें चारित्रिकता निर्वाह करनेके लिये, ज्ञानीद्वारा उपदेश किया हुआ मर्यादापूर्वक श्वेताम्बरवृत्तिसे जो आचरण है, उसका निषेध करना उचित नहीं। तथा इसी तरह बलका आम्रह रखकर दिगम्बरवृत्तिका एकांत निषेध करके बल-मूर्च्छा आदि कारणोंसे चारित्रमें शिथिलता करना भी उचित नहीं है।

दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्व, देश काल और अधिकारीके संबन्धसे ही उपकारके कारण हैं। अर्थात् जहाँ ज्ञानीने जिस प्रकार उपदेश किया है, उस तरह प्रवृत्ति करनेसे आत्मार्थ ही होता है।

२ मोक्षमार्गप्रकाशमें, श्वेताम्बर सम्प्रदायद्वारा मान्य वर्तमान जिनागमका जो निषेध किया है, वह निषेध योग्य नहीं। यद्यपि वर्तमान आगमोंमें अमुक स्थल अधिक सदेहापद हैं, परन्तु सत्पुरुषकी दृष्टिसे देखनेपर उसका निराकरण हो जाता है, इसलिये उपशमदृष्टिसे उन आगमोंके अवलोकन करनेमें सहाय करना उचित नहीं है।

७३४

बम्बई, आसोज सुदी ८ रति १९५३

ॐ

(१)

(१) सत्पुरुषोंके अगाध गभीर सयमको नमस्कार हो।

(२) अत्रिपम परिणामसे जिन्होंने कालकूट विपकी पी लिया है, ऐसे श्रीऋषभ आदि परम पुरुषोंको नमस्कार हो !

(३) जो परिणाममें तो अमृत ही है, परन्तु प्रारम्भिक दशामें जो कालकूट विपकी तरह व्याकुल कर देता है, ऐसे श्रीसयम-को नमस्कार हो !

(४) उस ज्ञानको उस दर्शनको और उस चरित्रको बारम्बार नमस्कार हो !

(२)

जिनकी भक्ति निष्काम है ऐसे पुरुषोंका सत्सग अथवा दर्शन महान् पुण्यरूप समझना चाहिए ।

(३)

(१) पारमार्थिक हेतुनिशेषसे पत्र आदिका लिखना नहीं हो सकता ।

(२) जो अनित्य है, जो असार है और जो अशरणरूप है, वह इस जीवकी प्रतीतिका कारण क्यों होता है ? इस बातका रात-दिन निचार करना चाहिये ।

(३) लोकदृष्टि और ज्ञानीकी दृष्टिको पूर्व ओर पश्चिम जितना अन्तर है । ज्ञानीकी दृष्टि प्रथम तो निराखन ही होती है, वह रुचि उत्पन्न नहीं करती, और जीवकी प्रकृतिको अनुकूल नहीं आता, ओर इस कारण जीव उस दृष्टिमें रुचियुक्त नहीं होता । परन्तु जिन जीवोंने परिग्रह सहन करके थोड़े समयतक भी उस दृष्टिका आराधन किया है, उन्होंने सर्प दु खोंके क्षयरूप निर्माणको प्राप्त किया है—उन्होंने उसके उपायको पा लिया है ।

जीवकी प्रमादमें अनादिसे रति है, परन्तु उसमें रति करने योग्य तो कुछ दिखाई देता नहीं ।

७३५

बम्बई, असोज सुदी ८ रति १९५३

ॐ

(१) सब जीवोंके प्रति हमारी तो क्षमादृष्टि ही है ।

(२) सत्पुरुषका योग तथा सत्समागमका मिलना बहुत कठिन है, इसमें सन्देह नहीं । प्राप्ति ऋतुके तापसे तप्त प्राणीको शीतल वृक्षकी छायाकी तरह, मुमुक्षु जीवको सत्पुरुषका योग तथा सत्समागम उपकारी है । सब शास्त्रोंमें उस योगका मिलना दुर्लभ ही कहा गया है ।

(३) शातसुधारस और योगदृष्टिसमुच्चय प्रर्थोंका हालमें निचार करना ।

७३६

बम्बई, असोज सुदी ८ रति १९५३

ॐ

(१) विशेष उच्च भूमिकाको प्राप्त मुमुक्षुओंको भी सत्पुरुषोंका योग अथवा समागम आधार-भूत होता है, इसमें सन्देह नहीं । निवृत्तिमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका योग बननेसे जीव उत्तरोत्तर उच्च भूमिकाको प्राप्त करता है ।

(२) निवृत्तिमान भाव—परिणाम—होनेके लिये जीवको निवृत्तिमान द्रव्य क्षेत्र और कालको प्राप्त करना उचित है । शुद्ध बुद्धिसे रहित इस जीवको किसी भी योगसे शुभेच्छा—कल्याण करनेकी इच्छा—प्राप्त हो, और निस्पृह परम पुरुषका योग मिले, तो ही इस जीवको भान आ सकता है । उसके नियोगमें उसे सदासख और सदाचारका ही परिचय करना चाहिये—अनस्य करना चाहिये ।

७३७

बम्बई, आसोज वदी ७, १९५३

(१) उपरकी भूमिकाओंमें भी अक्काश मिलनेपर अनादि वासनाका सक्रमण हो जाता है, और वह आत्माको वारम्बार आकुञ्च-व्याकुल बना देता है । वारम्बार ऐसा ही हुआ करता है कि अब ऊपरकी भूमिकाकी प्राप्ति होना दुर्लभ ही है, और वर्तमान भूमिकाओं में उस स्थितिका फिरसे होना दुर्लभ है । जब ऊपरकी भूमिकाओं में भी ऐसे असख्य अन्तराय-परिणाम होते हैं, तो फिर शुभ इच्छा आदि भूमिकाओं वैसा हो, तो यह कुछ आश्चर्यकारक नहीं है ।

(२) उस अन्तरायसे खेद न पाकर आत्मार्थी जीवको पुरुषार्थ-टाटि करनी चाहिये और हिम्मत रखनी चाहिये, हितकारी द्रव्य क्षेत्र आदि योगकी खोज करनी चाहिये, सत्शास्त्रका विशेष परिचय रखकर वारम्बार हठपूर्वक भी मनको सद्दिचारमें प्रविष्ट करना चाहिये । तथा मनके दुर्भावसे आकुञ्च-व्याकुल न होकर धैर्यसे सद्दिचारके पथमें जानेका उद्यम करते हुए जय होकर ऊपरकी भूमिकाकी प्राप्ति होती है, और अविशेषमान होता है ।

३ योगदृष्टिसमुच्चय वारम्बार अनुप्रेक्षा करने योग्य है ।

७३८

बम्बई, आसोज वदी १४ रनि १९५३

ॐ

श्रीहरिभद्राचार्यने योगदृष्टिसमुच्चय नामक ग्रन्थकी सस्कृतमें रचना की है । उन्होंने योग-बिन्दु नामके योगके दूसरे ग्रन्थको भी बनाया है । हेमचन्द्राचार्यने योगशास्त्र नामक ग्रन्थ बनाया है । श्रीहरिभद्रकृत योगदृष्टिसमुच्चयका अनुसरण करके श्रीयशोविजयजीने गुजराती भाषामें स्वाध्यायकी रचना की है ।

उस ग्रन्थमें, शुभेच्छासे लगातार निर्वाणपर्यंतकी भूमिकाओंमें मुमुक्षु जीवको वारम्बार श्रमण करने योग्य विचार करने योग्य और स्थिति करने योग्य आशयसे बोध-तारतम्य तथा चारित्र-स्वभाव-तारतम्य प्रकाशित किया है । यमसे लगाकर समाधिपर्यंत अष्टांग योगके दो भेद हैं—एक प्राण आदिका निरोधरूप और दूसरा आत्मस्वभाव-परिणामरूप ।

योगदृष्टिसमुच्चयमें आत्मस्वभाव-परिणामरूप योगका ही मुख्य विषय है । उसका वारम्बार विचार करना चाहिये ।

३१वाँ वर्ष

७३९

शुद्ध चैतन्य

अनंत आत्मद्रव्य

केवलज्ञान स्वरूप

शक्तिरूपसे

वह

जिसे सम्पूर्ण प्रगट हो गया है, तथा प्रगट होनेके
मार्गको जिन पुरुषोंने प्राप्त किया है,
उन पुरुषोंको अत्यंत भक्तिसे नमस्कार है !

७४०

बम्बई, कार्तिक वदी १ बुध १९५४

जो आर्य इस समय अन्य क्षेत्रमें विहार करनेके आश्रममें हैं उनको, जिस क्षेत्रमें शातरस-
प्रधान वृत्ति रहे, निवृत्तिमान द्रव्य क्षेत्र काल और भागका लाभ मिले, वैसे क्षेत्रमें निचरना उचित है।

७४१

बम्बई, कार्तिक वदी ५ रवि १९५४

ॐ

सर्वाथा अतर्मुख होनेके लिये सत्पुरुषोंका मार्ग सत्र दु खोंके क्षय होनेका उपाय है, परन्तु वह
किसी किसी जीवकी ही समझमें आता है। महत्पुण्यके योगसे, विशुद्ध बुद्धिसे, तीव्र वैराग्यसे और
सत्पुरुषके समागमसे उस उपायको समझना उचित है।

उसके समझनेका अवसर एकमात्र यह मनुष्य देह ही है, और वह भी अनियमित कालके
भयसे प्रस्त है, और उसमें भी प्रमाद होता है, यह खेद और आश्चर्य है।

७४२

बम्बई, कार्तिक वदी १२, १९५४

ॐ

आत्मदशाको प्राप्त कर जो निर्द्वन्द्वरूपसे प्रारब्धके अनुसार निचरते हैं, ऐसे महात्माओंका
जीवको सयोग मिलना दुर्लभ है।

तथा उस योगके मिलनेपर जीवको उस पुरुषकी परीक्षा नहीं होती, और यथार्थ परीक्षा हुए
बिना उस महात्माके प्रति दृढ़ आश्रय नहीं होता।

तथा जबतक आश्रय दृढ़ न हो तबतक उपदेश नहीं लगता, और उपदेशके लगे बिना
सम्यग्दर्शनका योग नहीं बनता।

तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके बिना जन्म आदि दु खकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती ।
ऐसे महात्मा पुरुषका योग मिलना तो दुर्लभ ही है, इसमें सशय नहीं, परन्तु आत्मार्थी
जीवोंका भी योग मिलना कठिन है, तो भी क्वचित् क्वचित् वर्तमानमे वह योग मिल सकता है ।
सत्समागम और सत्शास्त्रका परिचय करना चाहिये ।

७४३

बम्बई, मगसिर सुदी ५ रवि १९५४

३०

१ क्षयोपशम, उपशम, क्षायिक, पारिणामिक, औदयिक और सान्निपातिक इन उह भागोंको
लक्षमें रखकर, आत्माको उन भागोंसे अनुप्रेक्षण करके देखनेसे सद्दिचारमें विशेष स्थिति होगी ।
२ ज्ञान दर्शन और चारित्रि जो आत्मस्वभावरूप हैं, उन्हें समझनेके लिये उपरोक्त भाग विशेष
अवलम्बनके कारण हैं ।

७४४

बम्बई, मगसिर सुदी ५ रवि १९५४

३०

खेद न करते हुए, हिम्मत रखकर, ज्ञानीके मार्गसे चलनेसे मोक्ष-नगरी सुलभ ही है ।
जिस समय निपय कपाय आदि विशेष विकार उत्पन्न करके निवृत्त हो जाँय, उस समय निचार-
वानको अपनी निरर्थिता देखकर बहुत ही खेद होता है, और वह अपनी चारम्बार निंदा करता है । वह
फिर फिरसे अपनेको तिरस्कारकी वृत्तिसे देखकर, फिरसे महान् पुरुषोंके चरित्र और वाक्योंका अवलम्बन
ग्रहण कर, आत्मामें शौर्य उत्पन्न कर, उन निपय आदिके पिरुद्ध अत्यन्त हठ करके, उन्हें हटा देता
है, तत्रतक वह हिम्मत हारकर नहीं बैठता, तथा वह केवल ही खेद करके भी नहीं रुक जाता ।
आत्मार्थी जीवोंने इसी वृत्तिके अवलम्बनको ग्रहण किया है, और अतमें उन्होंने इसीसे जय प्राप्त की है ।
इस बातको सत्र मुमुक्षुओंको मुखमार्गसे हृदयमें स्थिर करना चाहिये ।

७४५

बम्बई, मगसिर सुदी ५ रवि १९५४

(१) कौनसे गुणोंके अगमें आनेसे यथार्थरूपसे मार्गानुसारीपना कहा जा सकता है ?
(२) कौनसे गुणोंके अगमें आनेसे यथार्थरूपसे सम्यग्दृष्टिपना कहा जा सकता है ?
(३) कौनसे गुणोंके अगमें आनेसे श्रुतज्ञान केवलज्ञान हो सकता है ?
(४) तथा कौनसी दशा होनेसे केवलज्ञान यथार्थरूपसे होता है अथवा कहा जा सकता है ?
ये प्रश्न सद्दिचारवानको हितकारी हैं ।

७४६

बम्बई, पौष सुदी ३ रवि १९५४

ने क्षमा माँगकर लिखा है कि सहजभाससे ही व्यानहारिक बातका लिखना हुआ
है, उस सत्रधमे आप खेद न करें । सो यहाँ वह खेद नहीं है । परन्तु यदि वह बात तुम्हारी दृष्टिमें

रहेगी, अर्थात् जतक वह व्यावहारिक वृत्ति रहेगी, ततक वह समझना कि वह आत्महितके लिये बलवान प्रतिबन्ध है; और स्वप्नमें भी उस प्रतिबन्धमें न रहा जाय, इस बातका लक्ष रखना।

हमने जो यह अनुरोध किया है, उसके ऊपर तुम यथाशक्ति पूर्ण विचार करना और उस वृत्तिके मूलको ही अतरसे सर्वाथा निवृत्त कर देना। अन्यथा समागमका लाभ मिलना असम्भव है। यह बात शिथिलवृत्तिसे नहीं परन्तु उत्साहवृत्तिसे मस्तकपर चदानी उचित है।

७४७

आनन्द, पोप वदी १३ गुरु. १९५४

(१) श्रीसोभागकी मौजूदगीमें कुछ पहिलेसे सूचित करना था, और हालमें वैसा नहीं बना-ऐसी किसी भी लोऋट्टिमें जाना उचित नहीं।

(२) अनिपमभाजके बिना हमें भी अभ्यताके लिये दूसरा कोई अधिकार नहीं है। मौन रहना ही योग्य मार्ग है।

७४८

मोरजी, माघ सुदी ४ बुध. १९५४

शुभेच्छासे लगाकर क्षीणमोहतक सत्श्रुत ओर सत्समागमका सेवन करना ही योग्य है। सर्वाकालमें इस साधनकी जीवकी कठिनता है। उसमें फिर यदि इस तरहके कालमें वह कठिनता रहे, तो वह ठीक ही है।

दु पमकाल और हुडानसर्पिणी नामका आश्चर्यरूप अनुभवसे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। आत्म-कल्याणके इच्छुक पुरुषको उससे क्षोभ न पाकर, त्रारम्भार उस योगपर पैर रखकर, सत्श्रुत सत्समागम और सद्बृत्तिको बलवान बनाना उचित है।

७४९

मोरजी, माघ सुदी ४ बुध १९५४

आत्मस्वभाजकी निर्मलता होनेके लिये मुमुक्षु जीवकी दो साधनोंका अग्र्य ही सेवन करना चाहिये — एक सत्श्रुत और दूसरा सत्समागम।

प्रत्यक्षसत्पुरुषोंका समागम जीवकी कभी कभी ही प्राप्त होता है, परन्तु जीव यदि सद्दृष्टिमान हो तो वह सत्श्रुतके बहुत समयके सेवनसे होनेवाले लाभको, प्रत्यक्षसत्पुरुषके समागमसे बहुत ही अल्पकालमें प्राप्त कर सकता है। क्योंकि वहाँ प्रत्यक्ष गुणातिशयवान निर्मल चेतनके प्रभाययुक्त वचन ओर वृत्तिकी सक्रियता रहती है। जीवकी जिससे उस समागमका योग मिले, उस तरह विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

उस योगके अभ्यासमें सत्श्रुतका अग्र्य अग्र्य परिचय करना चाहिये। जिसमें शातरसकी मुर्यता है, शातरसके हेतुसे जिसका समस्त उपदेश है और जिसमें समस्त रस शातरसगर्भित है—ऐसे शाखके परिचयको सत्श्रुतका परिचय कहा है।

७५०

मोरनी, मान सुदी ४ बुध १०५४

ॐ

(१) सश्रुतका परिचय जीनको अग्र्य करना चाहिये ।

(२) मल निक्षेप और प्रमाद, उसमें बारम्बार अतराय उत्पन्न करते हैं । क्योंकि उनका शीर्षकालसे परिचय है, परन्तु यदि निश्चय करके उनके अपरिचय करनेकी प्रवृत्ति की जाय तो यह होना सभ्य है ।

(३) यदि मुरय अन्तराय हो तो वह जीनका अनिश्चय है ।

(२)

१ आत्मस्वरूपके निर्णय होनेमें अनादिसे जीनकी भूल होती आ रही है, इस कारण वह भूल अन भी हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं माझ्म होता ।

२ आत्मज्ञानके सिवाय सर्ग श्रेणोंसे और स्रग दु खोंसे मुक्त होनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है । सद्विचारके बिना आत्मज्ञान नहीं होता, और असत्सगके प्रसगसे जीनका निचार-बल प्रवृत्ति नहीं करता, इसमें जग भी सशय नहीं है ।

३ आत्म-परिणामकी स्वस्थताको श्रीतीर्थकर समाधि कहते हैं ।

आत्म-परिणामकी अस्वस्थताको श्रीतीर्थकर असमाधि कहते हैं ।

आत्म-परिणामकी सहज-स्वरूपसे परिणति होनेको श्रीतीर्थकर धर्म कहते हैं ।

आत्म-परिणामकी कुछ भी चचल प्रवृत्ति होनेको श्रीतीर्थकर कर्म कहते हैं ।

४ श्रीजिनतीर्थकरने जेसा उध और मोक्षका निर्णय किया हे, वैसा निर्णय वेदात आदि दर्शनोंमें दृष्टिगोचर नहीं होता । तथा श्रीजिनमें जेसा यथार्थ रक्तुरन देखनेमें आता है, वेसा यथार्थ-वक्तुत्व किसी अन्य दर्शनमें देखनेमें नहीं आता ।

५ आत्माके अतर्ब्यापारके (शुभ अशुभ परिणामधाराके) अनुसार ही बध मोक्षकी व्यवस्था हे, वह शारीरिक चेष्टाके अनुमार नहीं हे । पूर्वमें उपाजित वेदनीय कर्मके उदयके अनुसार रोग आदि उत्पन्न होते हैं, और तदनुसार ही निर्मल, मद, म्लान, उष्ण, शीत आदि शरीरकी चेष्टा होती है ।

६ निशेप रोगके उदयसे अथवा शारीरिक मद प्रलसे ज्ञानीका शरीर कम्पित हो सकता हे, निर्बल हो सकता है, म्लान हो सकता है, मद हो सकता है, रौद्र माझ्म हो सकता हे, अथवा उसे भ्रम आदिका उदय भी हो सकता हे, परन्तु जिस प्रमाणमें जीनमें बोध और वेराग्यकी वासना हुई हे, उस प्रमाणमें ही जीन उस प्रसगमें प्राय करके उस रोगका वेदन करता हे ।

७ किसी भी जीनको अग्निनाशी देहकी प्राप्ति हुई हो—यह कभी देखा नहीं, जाना नहीं और ऐसा सभ्य भी नहीं, और मृत्युका आगमन तो अवश्य होता ही है—यह अनुभव तो प्रत्यक्ष सदेहरहित है । ऐसा होनेपर भी यह जीन उस बातको फिर फिरसे भूल जाता है, यह आश्चर्य हे ।

८ जिस सर्गज्ञ वीतरागमें अनत सिद्धिया प्रगट हुई थीं, उस वीतरागने भी इस देहको अनित्य समझा हे, तो फिर दूसरे जीव तो इस देहको किस तरह नित्य बना सकेंगे ?

१ श्रीजिनका अभिमत है कि प्रत्येक द्रव्य अनत पर्यायोसे युक्त है। जीवकी अनत पर्याय हैं। परमाणुकी भी अनत पर्याय है। जीवके चेतन होनेके कारण उसकी पर्याय भी चेतन हैं, और परमाणुके अचेतन होनेसे उसकी पर्याय भी अचेतन हैं। जीवकी पर्याय अचेतन नहीं, और परमाणुकी पर्याय सचेतन नहीं—ऐसा श्रीजिनने निश्चय किया है, तथा वैसा ही योग्य भी है। क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थका स्वरूप भी विचार करनेसे वैसा ही प्रतीत होता है।

७५१

वनाणीआ, माघ वदी ४ गुरु १९५४

इस जीवको उत्तापनाका मूल हेतु क्या है, तथा उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती, और वह निवृत्ति किस तरह हो सकती है? इस प्रश्नका विशेषरूपसे विचार करना योग्य है—अतरमें उतरकर विचार करना योग्य है।

जबतक इस क्षेत्रमें रहना हो तबतक चित्तको अधिक दृढ़ बनाकर प्रवृत्ति करना चाहिये।

७५२

मोरखी, माघ वदी १५, १९५४

जिस तरह मुमुक्षुवृत्ति दृढ़ बने उस तरह करो। हार जाने अथवा निराश होनेका कोई कारण नहीं है। जब जीवको दुर्लभ योग ही मिल गया तो फिर थोड़ेसे प्रमादके छोड़ देनेमें उसे घबड़ाने जैसी अथवा निराश होने जैसी कुछ भी बात नहीं है।

७५३

* व्याख्यानसार.

१ प्रथम गुणस्थानकमें जो प्रथि है उसका भेदन किये विना, आत्मा आगेके गुणस्थानकमें नहीं जा सकती। कभी योगानुयोगके मिलनेसे जीव अकामनिर्जरा करता हुआ आगे बढ़ता है, और प्रथिभेद करनेके पास आता है, परन्तु यहाँ प्रथिकी इतनी अधिक प्रबलता है कि जीव यह प्रथिभेद करनेमें शिथिल होकर—असमर्थ हो जानेके कारण—वापिस लौट आता है। वह हिम्मत करके आगे बढ़ना चाहता है, परन्तु मोहनीयके कारण विपरीतार्थ समझमें आनेसे, वह ऐसा समझता है कि वह स्वयं प्रथिभेद कर रहा है, किन्तु उल्टा वह उस तरह समझनेरूप मोहके कारण प्रथिकी निविडता ही करता है। उसमेंसे कोई जीव ही योगानुयोग प्राप्त होनेपर अकामनिर्जरा करते हुए, अति बलवान होकर, उस प्रथिको शिथिल करके अथवा बलहीन करके आगे बढ़ता है। यह अरिमतसम्पद्यष्टि नामक चौथा गुणस्थानक है। यहाँ मोक्षमार्गकी सुप्रतीति होती है। इसका दूसरा नाम बोधवीज भी है। यहाँ आत्माके अनुभवाकी शुरुआत होती है, अर्थात् मोक्ष होनेके बीजको यहाँ रोपण होता है।

२ इस बोधवीज गुणस्थानक (चौथा गुणस्थानक) से तेरहवें गुणस्थानकतक आत्मानुभव

* श्रीमद् राजचन्द्रने ये व्याख्यान सत्र १९५४ में माघ महीनेके चैत्र महीनेतक, तथा सत्र १९५५में मोरखीमें दिये थे। यह व्याख्यानसार एक मुमुक्षुकी स्मृतिके ऊपरसे यहाँ दिया गया है। इस सारको इस मुमुक्षु भाईने भिन्न भिन्न स्थानोंपर अव्यवहितरूपसे लिख लिया था। यह उसीका सप्रह है।

—अनुवादक

एकसा रहता है। परंतु ज्ञानावरणीय कर्मकी निरावरणताके अनुसार ज्ञानकी कम ज्यादा मिश्रद्धता होती है, और उसके प्रमाणमे ही अनुभवका प्रकाश होना कहा जा सकता है।

३ ज्ञानावरणका सब प्रकारसे निरावरण होना केवलज्ञान—मोक्ष—है। वह कुछ बुद्धिबलसे कहनेमें नहीं आता, वह अनुभवके गम्य है।

४ बुद्धिबलसे निश्चय किया हुआ सिद्धांत, उससे विशेष बुद्धिबल अथवा तर्कके द्वारा कदाचित् बदल भी सकता है, परन्तु जो वस्तु अनुभवगम्य (अनुभवसे सिद्ध) हो गई है वह तीनों कालमें भी नहीं बदल सकती।

५ वर्तमान समयमें जैनदर्शनमें अनिरतिसम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थानकसे अप्रमत्त नामके सातवें गुणस्थानकतक आत्मानुभवको स्पष्ट स्वीकार किया है।

६ सातवेंसे सयोगकेनली नामक तेरहवें गुणस्थानकतकका समय अतमुद्धर्तका समय है। तेरहवें गुणस्थानकका समय कदाचित् लंबा भी होता है। वहाँतक आत्मानुभव प्रतीतिरूप रहता है।

७ इस कालमें मोक्ष नहीं, ऐसा मानकर जीव मोक्षकी कारणभूत किया नहीं कर सकता, और उस मान्यताके कारण जीवकी प्रवृत्ति अन्यथारूपसे ही होती है।

८ जिस तरह पिंजरेमें बंद किया हुआ सिंह यद्यपि पिंजरेसे प्रत्यक्ष भिन्न होता है, तो भी वह बाहर निकलनेकी सामर्थ्यसे रहित है, उसी तरह अल्प आयुके कारण अथवा सहनन आदि अन्य साधनोंके अभावसे आत्मारूपी सिंह कर्मरूपी पिंजरेमेंसे बाहर नहीं आ सकता—यदि ऐसा माना जाय तो यह मानना सकारण है।

९ इस असार ससारमें चार गतियाँ मुख्य हैं, ये कर्म-बधसे प्राप्त होती हैं। बधके बिना ये गतियाँ प्राप्त नहीं होतीं। बधरहित मोक्षस्थान, बधसे होनेवाले चतुर्गतिरूप ससारमें नहीं है। यह तो निश्चित है कि सम्यक्त्व अथवा चारित्रसे बध नहीं होता, तो फिर चाहे किसी भी कालमें सम्यक्त्व अथवा चारित्र प्राप्त करें, वहाँ उस समय बध नहीं होता, और जहाँ बध नहीं वहाँ ससार भी नहीं है।

१० सम्यक्त्व और चारित्रमें आत्माकी शुद्ध परिणति रहती है, किन्तु उसके साथ मन वचन और शरीरका शुभ योग रहता है। उस शुभ योगसे शुभ बध होता है। उस बधके कारण देव आदि गतिरूप ससार करना पड़ता है। किन्तु उससे निपरीत भागनाले सम्यक्त्व और चारित्र जितने अशोंमें प्राप्त होते हैं, उतने ही अशोंसे मोक्ष प्रगट होती है, उनका फल केवल देव आदि गतिका प्राप्त होना ही नहीं है। तथा जो देव आदि गति प्राप्त हुई हैं वे तो ऊपर कहे हुए मन वचन और शरीरके योगसे ही हुई हैं, और जो बधरहित सम्यक्त्व और चारित्र प्रगट हुआ है, वह कायम रहकर, उससे फिर मनुष्यभन पाकर—फिर उस भागसे संयुक्त होकर—मोक्ष होती है।

११ चाहे कोई भी काल हो, उसमें कर्म मौजूद रहता है—उसका बन्ध होता है, और उस बधकी निर्जरा होती है, और सम्पूर्ण निर्जराका नाम ही मोक्ष है।

१२. निर्जराके दो भेद है—सकामनिर्जरा अर्थात् सहेतु (मोक्षकी कारणभूत) निर्जरा, और अकामनिर्जरा अर्थात् निपाकनिर्जरा।

१३ अकामनिर्जरा औदयिक भावसे होती है। इस निर्जराको जीने अनतोंगर किया है, ओर वह कर्म-ब्रधकी ही कारण है।

१४ सकामनिर्जरा क्षायोपशमिक भावसे होती है। यह कर्मके अब्रधका कारण है। जितने अशोमे सकामनिर्जरा (क्षायोपशमिक भावसे) होती है उतने ही अशोमें आत्मा प्रगट होती है। यदि अकाम (निपाक) निर्जरा हो तो वह औदयिक भावसे होती है, ओर वह कर्म-ब्रधका कारण है। यहाँ भी कर्मकी निर्जरा तो होती है, परन्तु उससे आत्मा प्रगट नहीं होती।

१५ अनतवार चारित्र प्राप्त करनेसे जो निर्जरा हुई है, वह औदयिक भावसे (जो भाव बधरहित नहीं है) ही हुई है, क्षायोपशमिक भावसे नहीं हुई। यदि वह क्षायोपशमिक भावसे हुई होती, तो इस तरह भटकना न पडता।

१६. मार्ग दो प्रकारके हैं — एक लौकिक मार्ग और दूसरा लोकोत्तर मार्ग। ये दोनों एक दूसरेसे विरुद्ध हैं।

१७. लौकिक मार्गसे विरुद्ध लोकोत्तर मार्गके पाळन करनेसे उसका फल लौकिक नहीं होता। जैसा कृत्य होता है वसा ही उसका फल होता है।

१८ इस ससारमें जीवोंकी सरया अनत कोटी है। व्यग्रहार आदि प्रसगमें अनत जीव क्रोध आदिसे प्रवृत्ति करते हैं। चक्रवर्ती राजा आदि क्रोध आदि भावोंसे सग्राम करते हैं, ओर लाखों मनुष्योंका घात करते हैं, तो भी उनमेंसे किसी किसीको तो उसी कालमें मोक्ष हुई है।

१९ क्रोध, मान, माया और लोभकी चौकडीको कपायके नामसे कहा जाता है। यह कपाय अत्यंत क्रोधादिवाली है। यदि यह अनत कपाय ससारका कारण होकर अनतानुबन्धी कपाय होती हो, तो फिर चक्रवर्ती आदिको अनत ससारकी वृद्धि होनी चाहिए, और इस हिसाबसे तो अनत ससारके व्यतीत होनेके पहिले उन्हें किस तरह मोक्ष हो सकती है ? यह बात विचारने योग्य है।

२० तथा जिस क्रोध आदिसे अनत ससारकी वृद्धि हो वही अनतानुबन्धी कपाय है, यह भी निस्सन्देह है। इस हिसाबसे ऊपर कहे हुए क्रोध आदिको अनतानुबन्धी नहीं कहा जा सकता। इसलिये अनतानुबन्धीकी चौकड़ी किसी अन्य प्रकारसे ही होना समभव है।

२१ सम्यक्ज्ञान दर्शन और चारित्र इन तीनोंकी एकताको मोक्ष कहते हैं। वह सम्यक्ज्ञान दर्शन चारित्र, वीतरागज्ञान दर्शन चारित्र ही है। उसीसे अनत ससारसे मुक्ति होती है। यह वीतराग-ज्ञान कर्मके अब्रधका कारण है। वीतरागके मार्गसे चलना अथवा उनकी आज्ञानुसार चलना भी अब्रधका ही कारण है। उसके प्रति जो क्रोध आदि कपाय हों उनसे निमुक्त होना, यहाँ अनत ससारसे अत्यतरूपसे मुक्त होना है, अर्थात् यही मोक्ष है। जिससे मोक्षमें निपरीत ऐसे अनत ससारकी वृद्धि होती है, उसे अनतानुबन्धी कहा जाता है, और बात भी ऐसी ही है। वीतरागमार्गसे और उनकी आज्ञानुसार चलनेवालोंका कल्याण होता है, ऐसा जो बहुतसे जीवोंको कल्याणकारी मार्ग है, उसके प्रति क्रोध आदि भाव (जो महा निपरीतताके करनेवाले हैं) ही अनतानुबन्धी कपाय है।

२२ क्रोध आदि भाव लोकमें भी निष्फल नहीं जाते, तथा उनसे वीतरागद्वारा प्ररूपित वीतरागज्ञानका मोक्षधर्मका अथवा सत्धर्मका खडन करना, अथवा उनके प्रति तीव्र मद आदि जैसे

भागोंसे क्रोध आदि भाव होते हों उन भागोंसे, अनतानुबन्धी कपायसे बंध होकर भविष्यमें भी अनत ससारकी वृद्धि होती है ।

२३ अनुभवका किसी भी कालमें अभाव नहीं है । परंतु बुद्धिबलसे निश्चित की हुई जो अप्रत्यक्ष बात है, उसका क्वचित् अभाव भी हो सकता है ।

२४ क्या केवलज्ञान उसे कहते हैं कि जिसके द्वारा कुछ भी जानना शेष नहीं रहता ? अथवा आत्मप्रदेशोंका जो स्वभाव है, उसे केवलज्ञान कहते हैं ?—

(अ) आत्मासे उत्पन्न किया हुआ विभाजपरिणाम, ओर उससे जड़ पदार्थके सयोगरूपसे होनेवाले आरंभपूर्वक जो कुछ देखना और जानना होता है, वह इन्द्रियोंकी सहायतासे हो सकता है । परन्तु तत्सम्बन्धी यह विवेचन नहीं है । यह विवेचन तो केवलज्ञानसम्बन्धी है ।

(आ) विभाजपरिणामसे होनेवाला जो पुद्गलास्तिकायका सन्ध है, वह आत्मासे भिन्न है । उसका, तथा जितना पुद्गलका सयोग हुआ है उसका, न्यायपूर्वक जो ज्ञान—अनुभव—होता है वह सत्र अनुभवगम्यमें ही समाविष्ट होता है, और उसको लेकर जो समस्त लोकके पुद्गलोंका इसी तरहका निर्णय होता है, वह बुद्धिबलमें समाविष्ट होता है । उदाहरणके लिये जिस आकाशके प्रदेशमें अथवा उसके पास जो विभाजयुक्त आत्मा स्थित है, उस आकाशके प्रदेशके उतने भागको लेकर जो अष्टव अश्व अनुभव होता है, वह अनुभवगम्यमें समाविष्ट होता है, ओर उसके पश्चात् बाकीके आकाशको जिसे स्वयं केवलज्ञानीने भी अनत—जिसका अंत नहीं—कहा है, उस अनत आकाशका भी तदनुसार ही गुण होना चाहिये, यह बुद्धिबलसे निर्णय किया जाता है ।

(इ) आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है अथवा आत्मज्ञान ही गया है—यह बात अनुभवगम्य है । परन्तु उस आत्मज्ञानके उत्पन्न होनेसे आत्मानुभव होनेके पश्चात् क्या क्या होना चाहिये, यह जो कहा गया है, वह बुद्धिबलसे ही कहा है, ऐसा समझा जा सकता है ।

(ई) इन्द्रियोंके सयोगसे जो कुछ देखना जानना होता है, उसका यद्यपि अनुभवगम्यमें समावेश ही जाता है, यह ठीक है, परन्तु यहाँ तो आत्मतत्सम्बन्धी अनुभवगम्यकी बात है । यहाँ तो जिसमें इन्द्रियोंकी सहायता अथवा सबधकी आवश्यकता नहीं, उसके अतिरिक्त किसी दूसरेके सन्धकी ही बात है । केवलज्ञानी सहज ही देख और जान रहे हैं, अर्थात् उन्होंने लोकके सब पदार्थोंका अनुभव किया है—ऐसा जो कहा जाता है, तो उसमें उपयोगका सन्ध रहता है । कारण कि केवलज्ञानीके १३वाँ गुणस्थानक ओर १४वाँ गुणस्थानक इस तरह दो विभाग किये गये हैं । उनमें १३वें गुणस्थानवाले केवलज्ञानीके योग रहता है, यह स्पष्ट है, ओर जहाँ यह बात है वहाँ उपयोगकी खास जरूरत है, और जहाँ उपयोगकी खास जरूरत है, वहाँ बुद्धिबल है, यह कहे बिना चल नहीं सकता । तथा जहाँ यह बात सिद्ध होती है, वहाँ अनुभवकी साथ साथ बुद्धिबल भी सिद्ध होता है ।

(उ) इस तरह उपयोगके सिद्ध होनेसे आत्माके पासमें जो जड़ पदार्थ हैं, उसका तो अनुभव होता है, परंतु जो पदार्थ पासमें नहीं है—जिसका सन्ध नहीं है—उसका अनुभव कहनेमें कठिनाई आती है, ओर उसकी साथ ही 'दूरवर्ती पदार्थ अनुभवगम्य नहीं है,' ऐसा कहनेसे केवलज्ञानके प्रचलित

अर्थमें विरोध आता है । इस कारण यह सिद्ध होता है कि वहाँ बुद्धिबलसे ही सन पदार्थोंका, सन प्रकारसे, सब कालका ज्ञान होता है ।

२५ एक कालके कल्पित जो अनन्त समय हैं, उनके कारण अनन्तकाल कहा जाता है । तथा उसमेंके वर्तमानकालके पहिलेके जो समय व्यतीत हो गये हैं, वे फिरसे लौटकर आनेवाले नहीं यह बात न्याययुक्त है, फिर वह समय अनुभवगम्य किस तरह हो सकता है? यह विचारणीय है ।

२६ अनुभवगम्य जो समय हो गये हैं उनका जो स्वरूप है, उस स्वरूपको छोड़कर उनका कोई दूसरा स्वरूप नहीं होता, और इसी तरह अनादि अनन्तकालके जो दूसरे समय हैं उनका भी वैसा ही स्वरूप है—यह बुद्धिबलसे निर्णीत हुआ माद्म होता है ।

२७ इस कालमें ज्ञान क्षीण हो गया है, और ज्ञानके क्षीण हो जानेसे अनेक मतभेद हो गये हैं । ज्यों ज्यों ज्ञान कम होता है त्यों त्यों मतभेद बढ़ते हैं, और ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ता है त्यों त्यों मतभेद कम होते हैं । उदाहरणके लिये, ज्यों ज्यों पैसा घटता है त्यों त्यों क्लेश बढ़ता है, और जहाँ पैसा बढ़ा कि क्लेश कम हो जाता है ।

२८ ज्ञानके बिना सम्यक्त्वका विचार नहीं सञ्जता । ' मतभेद मुझे उत्पन्न नहीं करना है, ' यह बात जिसके मनमें है, वह जो कुछ वाचता और सुनता है वह सब उसको फलदायक ही होता है । मतभेद आदिके कारणको लेकर शास्त्र-ग्रन्थ आदि फलदायक नहीं होते ।

२९. जैसे रास्तेमें चलते हुए किसी आदमीके सिरकी पगड़ी काँटोंमें उलझ जाय, और उसकी मुसाफिरी अभी बाकी रही हो, तो पहिले तो जहाँतक बने उसे काँटोंको हटाना चाहिये, किन्तु यदि काँटोंको दूर करना सम्भव न हो तो उसके लिये यहाँ ठहरकर, रातभर वहीं न बिता देनी चाहिये, परन्तु पगड़ीको वहीं छोड़कर आगे बढ़ना चाहिये । उसी तरह जिनमार्गके स्वरूप और उसके रहस्यको समझे बिना अथवा उसका विचार किये बिना छोटी छोटी शकाओंके लिये वहीं बैठ जाना और आगे न बढ़ना उचित नहीं । जिनमार्ग वास्तविक रीतिसे देखनेसे तो जीवको कर्मके क्षय करनेका उपाय है, परन्तु जीव तो अपने मतमें गुँथा हुआ है ।

३० जीव प्रथम गुणस्थानसे निकलकर प्रथिभेद होनेतक अनन्तवार आया, और वहाँसे पीछे फिर गया है ।

३१ जीवको ऐसा भाव रहता है कि सम्यक्त्व अनायास ही आ जाता होगा, परन्तु वह तो प्रयास (पुरुषार्थ) किये बिना प्राप्त नहीं होता ।

३२ कर्म प्रकृति १५८ है । सम्यक्त्वके आये बिना उनमेंसे कोई भी प्रकृति समूल क्षय नहीं होती । जीव अनादिसे निर्जरा करता है, परन्तु मूलमेंसे तो एक भी प्रकृति क्षय नहीं होती । सम्यक्त्वमें ऐसी सामर्थ्य है कि वह प्रकृतिको मूलसे ही क्षय कर देता है । वह इस तरह कि वह अमुक प्रकृतिके क्षय होनेके पश्चात् आता है, और जीव यदि बलवान होता है तो वह धीरे धीरे सब प्रकृतियोंका क्षय कर देता है ।

३३ सम्यक्त्व सबको माद्म हो जाय, यह बात नहीं है । इसी तरह वह किसीको भी माद्म न पड़े, यह बात भी नहीं । विचारज्ञानको वह माद्म पड़ जाता है ।

३४ जीवको समझ आ जाय तो समझ आनेके बाद सम्यक्त्व बहुत सुगम हो जाता है। परन्तु समझ आनेके लिये जीवने आजतक सच्चा सच्चा लक्ष नहीं दिया। जीवको सम्यक्त्व प्राप्त होनेका जप जप योग मिला है, तप तप उसने उसपर बराबर ध्यान नहीं दिया। कारण कि जीवको अनेक अतराय मौजूद है। उनमें बहुतसे अन्तराय तो प्रत्यक्ष हैं, फिर भी वे जाननेमें नहीं आते। यदि कोई उन्हें बतानेवाला मिल जाय तो भी अतरायके योगसे उनका ध्यानमें लेना नहीं बनता। तथा बहुतसे अतराय अव्यक्त हैं, जिनका ध्यानमें आना भी मुश्किल है।

३५ सम्यक्त्वका स्वरूप केवल वचनयोगसे ही कहा जा सकता है। यदि वह एकदम कहा जाय तो उसमें जीवको उल्टा ही भाव माझ्म होने लगे, तथा सम्यक्त्वके ऊपर उल्टी अरुचि ही हो जाय। परन्तु यदि वही स्वरूप अनुक्रमसे ज्यों ज्यों दशा उठती जाती है, त्यों त्यों कहा जाय, अथवा समझाया जाय तो वह समझमें आ सकता है।

३६ इस कालमें मोक्ष है—यह दूसरे मार्गोंमें कहा गया है। यद्यपि जेनमार्गमें इस कालमें अमुक क्षेत्रमें मोक्ष होना नहीं कहा जाता, फिर भी उसमें यह कहा गया है कि उसी क्षेत्रमें इस कालमें सम्यक्त्व हो सकता है।

३७ ज्ञान दर्शन और चारित्र ये तीनों इस कालमें मौजूद हैं। प्रयोजनभूत पदार्थोंके जाननेको ज्ञान कहते हैं। उसकी सुप्रतीतिको दर्शन कहते हैं, और उससे होनेवाली जो क्रिया है उसे चारित्र कहते हैं। यह चारित्र इस कालमें जेनमार्गमें सम्यक्त्व होनेके बाद सातवें गुणस्थानतक प्राप्त किया जा सकता है, यह स्वीकार किया गया है।

३८ कोई सातवेंतक पहुँच जाय तो भी उड़ी रात है।

३९ यदि कोई सातवेंतक पहुँच जाय तो उसमें सम्यक्त्व समाधि हो जाता है, और यदि कोई वहाँतक पहुँच जाय तो उसे विश्वास हो जाता है कि आगेकी दशा किस तरहकी है? परन्तु सातवेंतक पहुँचे बिना आगेकी बात ध्यानमें नहीं आ सकती।

४० यदि उठती हुई दशा होती हो तो उसे निषेध करनेकी जरूरत नहाना, और यदि बढ़ती हुई दशा न हो तो उसे माननेकी जरूरत नहीं। निषेध किये बिना ही आगे बढ़ते जाना चाहिये।

४१ सामायिक उह और आठ काटिका निमाद ओड देनेके पश्चात् नवकोटि निना नहाना, और अन्तमें ननकोटिमें भी वृत्ति ओडे निना मोक्ष नहीं है।

४२ ग्यारह प्रकृतियोंके क्षय किये बिना सामायिक नहीं आता। जिसे सामायिक होता है उसकी दशा तो अद्भुत होती है। वहाँमें जीव छडे सातवें और आठवें गुणस्थानमें जाता है, और वहाँसे दो घडीमें मोक्ष हो सकती है।

४३ मोक्षमार्ग तलवारकी धारके समान है, अर्थात् वह एकपारा—एकप्रवाहरूप—है। तीनों कालमें जो एकपारासे अर्थात् एक समान रहे, वही मोक्षमार्ग है, प्रवाहमें जो अखंड है वही मोक्षमार्ग है।

४४ पहिले दो बार कहा जा चुका है फिर भी यह तीसरी बार कहा जाता है कि वहाँभी

वादर ओर बाह्य क्रियाका निषेध नहीं किया गया । कारण कि हमारी आत्मामें वह भाव कभी भी स्वप्नमें भी उत्पन्न नहीं हो सकता ।

४५ स्तडीयाली गौठ, मिथ्यात्व अथवा कपायका सूचन करनेवाली क्रियाओंके समर्थमें कदाचित् किसी प्रसंगपर कुछ कहा गया हो, तो वहाँ क्रियाके निषेध करनेके लिये तो कुछ भी नहीं कहा गया है । फिर भी यदि यह कथन किसी दूसरी तरह ही समझमें आया हो तो उसमें समझने-वालेको अपनी खुदकी ही भूल हुई समझनी चाहिये ।

४६ जिसने कपायभाजका छेदन कर डाला है, वह ऐसा कभी भी नहीं करता कि जिससे कपायभाजका सेवन हो ।

४७ जप्तक हमारी तरफसे ऐसा नहीं कहा गया हो कि अमुक क्रिया करनी चाहिये, तबतक यह समझना चाहिये कि वह सकारण ही है, ओर उससे यह सिद्ध नहीं होता कि क्रिया करनी ही न चाहिये ।

४८ हालमें यदि ऐसा कहा जाय कि अमुक क्रिया करनी चाहिये, और पीछेसे देश कालके अनुसार उस क्रियाको दूसरे प्रकारसे करनेके लिये कहा जाय, तो इससे श्रोताके मनमें शका हो सकता है कि पहिले तो दूसरी तरह कहा जाता था और अब दूसरी तरह कहा जाता है—परन्तु ऐसी शका करनेमें उसका श्रेय होनेके बदेले अश्रेय ही होता है ।

४९ बारहवें गुणस्थानके अन्त समयतक भी ज्ञानीकी आज्ञानुसार चलना पड़ता है । उसमें स्वच्छदमात्र नाश हो जाता है ।

५० स्वच्छदसे निवृत्ति करनेसे वृत्तियाँ शान्त नहीं होतीं, उल्टी उन्मत्त ही होतीं हैं, और उससे च्युत होनेका समय आता है, और ज्यों ज्यों आगे जानेके पश्चात् पतन होता है त्यों त्यों उसे जोरकी पटक लगती है—इससे जीव अधिक गहराईमें जाता है, अर्थात् वह पहिलेमें जाकर पड़ता है । इतना ही नहीं किन्तु उसे जोरकी पटक लगनेके कारण उसे वहाँ बहुत समयतक पड़े रहना पड़ता है ।

५१ यदि अभी भी शका करना हो तो करो, परन्तु इतना तो निश्चयसे श्रद्धान करना चाहिये कि जीसे लगाकर मोक्षतकके स्थानक मोजूद् हैं, और मोक्षका उपाय भी है, इसमें कुछ भी असत्य नहीं । यह निर्णय करनेके पश्चात् उसमें तो कभी भी शका न करना चाहिये, और इस प्रकार निर्णय हो जानेके पश्चात् प्रायः शका नहीं होती । यदि कदाचित् शका हो भी तो वह एकदेश ही शका होती है, और उसका समाधान हो सकता है । परन्तु यदि मूलमें ही अर्थात् जीसे लेकर मोक्षतकके स्थानकोंमें ही अथवा उसके उपायमें ही शका हो तो वह एकदेश शका नहीं, परन्तु सर्वदेश शका है, और उस शकासे प्रायः पतन ही होता है, ओर वह पतन इतना अधिक जोरसे होता है कि उसकी बहुत जोरकी पटक लगती है ।

५२ यह श्रद्धा दो प्रकारकी है—एक ओध और दूसरी विचारपूर्वक ।

५३ मतिज्ञान ओर श्रुतज्ञानसे जो कुछ जाना जा सकता है उसमें अनुमान सायमें रहता है । परन्तु उससे आगे, ओर अनुमानके बिना ही शुद्धरूपसे जानना यह मन पर्यवज्ञानका विषय है । अर्थात् मूलमें तो मति श्रुत और मन पर्यवज्ञान एक हैं, परन्तु मन पर्यवज्ञानमें अनुमानके बिना भी मतिकी निर्मलतासे शुद्धरूपसे जाना जा सकता है ।

५४ मतिकी निर्मलता समयके विना नहीं हो सकती। वृत्तिको रोकनेसे समय होता है, और उस समयसे मतिकी शुद्धता होकर अनुमानके विना शुद्ध पर्यायको जाननेका नाम मन पर्यवज्ञान है।

५५ मतिज्ञान लिंग-चिह्न-से जाना जा सकता है, और मन पर्यवज्ञानमें लिंग अथवा चिह्नकी आवश्यकता नहीं रहती।

५६. मतिज्ञानसे जाननेमें अनुमानकी आवश्यकता रहती है, और उस अनुमानकी सहायतासे जो ज्ञान होता है, उसमें फेरफार भी होता है। परन्तु मन पर्यवज्ञानमें ऐसा फेरफार नहीं होता। क्योंकि उसमें अनुमानकी सहायताकी जरूरत नहीं है। शरीरकी चेष्टासे क्रोध आदिकी परीक्षा हो सकती है, परन्तु जिसमें क्रोधदिका मूलस्वरूप ही मादूम न हो सके, उसके लिये यदि निपरीत चेष्टा की गई हो, तो उसके ऊपरसे क्रोध आदिकी परीक्षा करना कठिन है। तथा यदि शरीरकी किसी भी तरहकी चेष्टा न की गई हो, तो चेष्टाके विवृतुल देगे विना ही क्रोध आदिका जानना नहुत कठिन है, फिर भी उसका साक्षात्कार हो सकना मन पर्यवज्ञानका विषय है।

५७ लोगोंमें ओघसज्ञासे प्रचलित रुदिके अनुसार यह माना जाता है कि 'हमें सम्यक्त्व हे या नहीं, इसे तो केरली जाने, निश्चय सम्यक्त्व होनेकी बात तो केरलीगम्य ही है,' परन्तु बनारसीदास और उस दशाके अय पुरप ऐसा कहते हैं कि "हमें सम्यक्त्व हो गया है, यह हम निश्चयसे कहते हैं।"

५८ शास्त्रों में जो ऐसा कहा गया है कि 'निश्चय सम्यक्त्व हे या नहीं, उसे केरली जाने' सो यह बात अनुक नयसे ही सत्य है। तथा केरलीज्ञानीसे भिन्न बनारसीदास बगैरहने भी जो अस्पष्ट-रूपसे ऐसा कहा है कि "हमें सम्यक्त्व है, अथवा हमें सम्यक्त्व प्राप्त हो गया है," यह कथन भी सत्य है। कारण कि जो निश्चय सम्यक्त्व है उसे तो प्रत्येक रहस्यकी पर्यायसहित केरली ही जान सकते हैं, अथवा जहाँ प्रत्येक प्रयोजनभूत पदार्थके हेतु अहेतुको सम्पूर्णरूपसे केरलीके सिवाय अय कोई दूसरा नहीं जान सकता, वहाँ निश्चय सम्यक्त्वको केरलीगम्य कहा है। तथा उस प्रयोजनभूत पदार्थके सामान्य अथवा स्थूलरूपसे हेतु अहेतुका समझ सकना भी समझ है, और इस कारण बनारसी-दास बगैरहने अपनेको सम्यक्त्व होना कहा है।

५९ समयसारमें बनारसीदासकी बनाई हुई कवितामें कहा है कि "हमारे हृदयमें रोधबीज उत्पन्न हो गया है," अर्थात् उन्होंने कहा है कि हमें सम्यक्त्व है।

६० सम्यक्त्व प्राप्त होनेके पश्चात् अधिकमें अधिक पदरह भ्रमके भीतर मुक्ति हो जाती है, और यदि जीव बहोँसे च्युत हो जाता है तो अर्धपुद्गल परावर्तनमें मुक्ति होती है। यदि इस कालको अर्ध-पुद्गल-परावर्तन गिना जाय तो भी वह सादिसातके भगमें आ जाता है—यह बात शकारहित है।

६१ सम्यक्त्वके लक्षण —

- १ कपायकी मदता, अथवा उसके रसकी मदता।
- २ मोक्षमार्गकी ओर वृत्ति।
- ३ ससारका बधनरूप लगना या उसका खार अथवा जहररूप मादूम होना।
- ४ सब प्राणियोंके ऊपर दयाभाव, उसमें विशेष करके अपनी आत्माके ऊपर दयाभाव।
- ५ सत्देव सत्धर्म और सद्गुरुके ऊपर आस्था।

६२ आत्मज्ञान अथवा आत्मासे भिन्न कर्मस्वरूप अर्थात् पुद्गलात्मिनाय धर्मोद्देशको जो भिन्न भिन्न प्रकारसे, भिन्न भिन्न प्रसंगपर, अत्यन्त सूक्ष्मसे सूक्ष्म और अति विस्तृत स्वरूप ज्ञानोद्देशका प्रकाशित हुआ है, उसमें कोई हेतु गर्भित है या नहीं ? और यदि गर्भित है तो वह कौनसा है ? उस सबमें विचार करनेसे उसमें सात कारण गर्भित मान्य पड़ते हैं.—सद्बुतार्थप्रकाश, उसका विचार, उसकी प्रतीति, जीव-संरक्षण बगैरह । उन सात हेतुओंका फल मोक्षकी प्राप्ति होना है । तथा मोक्षकी प्राप्ति जो मार्ग है वह इन हेतुओंसे सुप्रतीत होता है ।

६३ कर्मके अनन्त भेद हैं । उनमें मुख्य १५८ हैं । उनमें मुख्य आठ कर्म प्रकृतियोंका वर्णन किया गया है । इन सब कर्मोंमें मुख्य कर्म मोहनीय है, इसकी सामर्थ्य दूसरोंकी अपेक्षा अत्यन्त है, और उसकी स्थिति भी सबकी अपेक्षा अधिक है ।

६४ आठ कर्मोंमें चार कर्म घनघाती हैं । उन चारोंमें भी मोहनीय अत्यन्त प्रबलरूपसे घनघाती है । मोहनीय कर्मके सिवाय जो आकीके सात कर्म हैं वे मोहनीय कर्मके प्रतापसे ही प्रबल होते हैं । यदि मोहनीय दूर हो जाय तो दूसरे कर्म भी निर्बल हो जाते हैं । मोहनीयके दूर होनेसे दूसरोंका पैर नहीं टिक सकता ।

६५ कर्मबन्धके चार प्रकार हैं—प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और रसबन्ध । उनमें प्रदेश स्थिति और रस इन तीन बन्धोंके ऐक्यका नाम प्रकृतिबन्ध रखा गया है । आत्माके प्रदेशोंकी साथ पुद्गलके जमाव—सयोग—को प्रदेशबन्ध कहते हैं । वहाँ उमकी प्रबलता नहीं होती, उसे दूर करना चाहें तो दूर कर सकते हैं । तथा मोहके कारण स्थिति और रसका बन्ध पड़ता है, और उस स्थिति तथा रसका जो बन्ध है, उसे जीव यदि बदलना चाहे तो उसका बदला जा सकता असम्भव है । ऐसे मोहके कारण इस स्थिति और रसकी प्रबलता है ।

६६ सम्यक्त्व अन्वोक्तिसे अपना दूषण बताता है—

‘मुझे ग्रहण करनेके बाद यदि ग्रहण करनेवालेकी इच्छा न हो तो भी मुझे उसे बलपूर्वक मोक्ष ले ही जाना पड़ता है । इसलिये मुझे ग्रहण करनेके पहिले यह विचार करना चाहिये कि यदि मोक्ष जानेकी इच्छाको बदलना होगा तो मैं यह कुछ काम आनेवाली नहीं । क्योंकि मुझे ग्रहण करनेके पश्चात् मैंने समयमें मुझे उसे मोक्षमें पहुँचाना ही चाहिये । यदि ग्रहण करनेवाला कदाचित् शिथिल हो जाय, तो भी हो सके तो उसी भयमें और नहीं तो अधिकसे अधिक पन्दरह भयोंमें, मुझे उसे अशुभ मोक्ष पहुँचाना चाहिये । यदि कदाचित् वह मुझे छोड़कर मेरेसे विरुद्ध आचरण करे अथवा अत्यन्त प्रबल मोहको वारण कर ले, तो भी अर्धपुद्गल-परानर्तनके भीतर तो मुझे उसे अशुभ मोक्ष पहुँचाना चाहिये ही—यह मेरी प्रतिज्ञा है ।’

अर्थात् यहाँ सम्यक्त्वकी महत्ता बताई है ।

६७ सम्यक्त्व केवलज्ञानसे कहता है—

‘मैं इतनातक कर सकता हूँ कि जीवको मोक्ष पहुँचा दूँ, और वृत्त उमसे कुछ विशेष कार्य नहीं कर सकता । तो फिर तबरे मुकाबलेमें मुझमें किस बातकी व्युत्पत्ता है ? इतना ही नहीं कि तुझे प्राप्त करनेमें मेरी जरूरत रहती है ।’

६८. किसी ग्रथ आदिका वाँचन शुरू करते हुए, पहिले मगलाचरण करना चाहिये, ओर उस ग्रथको फिरसे वाँचते हुए अथवा चाहे कहींमे भी उसका वाँचन शुरू करनेके पहिले मगलाचरण करनेकी शास्त्रपद्धति है । उसका मुख्य कारण यह है कि वाङ्मयवृत्तिमें आत्मवृत्ति करना है, इसलिये वैसा करनेमें प्रथम शातभाज करनेकी जरूरत है, ओर तदनुसार प्रथम मगलाचरण करनेसे शातभाज प्रवेश करता है । वाँचन करनेका जो क्रम हो उसे त्रयाशक्ति कभी भी न तोड़ना चाहिये । उसमें ज्ञानाँका दृष्टत लेनेकी जरूरत नहीं है ।

६९. आमानुभव-गम्य अथवा आत्मजनित सुख और मोक्षसुख ये सब एक ही है । मात्र शब्द जुदा जुदा हैं ।

७०. शरीरके कारण अथवा दूसरोंके शरीरकी अपेक्षा उनका शरीर विशेषतावाला देखनेमें आता है, कुछ इमलिये केवलज्ञानी केवलज्ञानी नहीं कहे जाते । तथा वह केवलज्ञान कुछ शरीरसे पैदा हुआ है, यह बात भी नहीं है । यह तो आत्माद्वारा प्रगट किया गया है । इस कारण उसकी शरीरसे विशेषता समझनेका कोई हेतु नहीं है, और विशेषतावाला शरीर लोगोंके देखनेमें नहीं आता, इमलिये लोग उसका बहुत माहात्म्य नहीं जान सकते ।

७१. जिसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञानकी अशसे भी खबर नहीं, यह जीव यदि केवलज्ञानके स्वरूपकी जाननेकी इच्छा करे तो वह किस तरह बन सकता है ? अर्थात् यह नहीं बन सकता ।

७२. मतिके स्फुरायमान होनेसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है, और श्रवण होनेसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह श्रुतज्ञान है, और श्रुतज्ञानका मनन होकर जो उसका अनुभव होता है वह पीठे मतिज्ञान हो जाता है, अथवा उस श्रुतज्ञानका अनुभव होनेके बाद यदि वह दूसरेको कहा जाय, तो उससे कहनेवालेको मतिज्ञान ओर सुननेवालेको श्रुतज्ञान होता है । तथा श्रुतज्ञान मतिके बिना नहीं हो सकता, और वही मतिपूर्वक श्रुत समझना चाहिये । इस तरह एक दूसरेका कार्य-कारण सबंध है । उनके अनेक भेद हैं । उन सब भेदोंको जैसे चाहिये वैसे हेतुपूर्वक तो समझा नहीं— क्योंकि हेतुपूर्वक जानना समझना कठिन है, तथा इसके अतिरिक्त आगे चलकर रूपी पदार्थोंको जाननेवाले अनेक भेदयुक्त अग्रधिवानको, और रूपी पदार्थोंको जाननेवाले मन पर्यवज्ञानकी जानने समझनेकी जिसकी किसी अशसे भी शक्ति नहीं, ऐसे मनुष्य पर ओर अरूपी पदार्थोंके समस्त भावोंसे जाननेवाले केवलज्ञानके प्रियमें जाननेका-समझनेका प्रदन करे, तो वे उसे किस तरह समझ सकते हैं ? अर्थात् नहीं समझ सकते ।

७३. ज्ञानोंके मार्गमें चलनेवालेको कर्मबंध नहीं है । तथा उस ज्ञानाँकी आज्ञानुसार चलनेवालेको भी कर्मबंध नहीं होता । क्योंकि क्रोध, मान, माया, लोभ आदिका बंधों अभाव है और उस अभावके कारण कर्मबंध नहीं होता । तब भी 'इरियापथ' में चलनेसे ज्ञानीको 'इरियापथ' की क्रिया होती है, और ज्ञानीकी आज्ञानुसार चलनेवालेको भी वह क्रिया होती है ।

७४. जिस विधासे जीव कर्म बंधता है, उसी विधासे जीव कर्म छोड़ता भी है ।

७५. उसी विधाका सासारिक हेतुके प्रयोजनसे विचार करनेमें जीव कर्मबन्ध करता है, और जीव जब उसी विधाका द्रव्यके स्वरूपको समझनेके प्रयोजनसे विचार करता है तो वह कर्म छोड़ता है ।

७६. क्षेत्रसमाप्तमें क्षेत्रसप्तमी जो जो बातें हैं उन्हें अनुमानसे माननी चाहिये । उनमें अनुभव नहीं होता । परन्तु उन सप्तका कारणपूर्वक ही वर्णन किया जाता है । उसकी विश्वासपूर्वक श्रद्धा रखना चाहिये । मूल श्रद्धामें फेर हो जानेसे आगे चलकर समझनेमें ठेठतक भूल चली जाती है । जैसे गणितमें यदि पहिलेसे भूल हो गई हो तो वह भूल अन्ततक चली जाती है ।

७७ ज्ञान पाँच प्रकारका है । वह ज्ञान यदि सम्यक्त्वके बिना, मिथ्यात्वसहित हो तो मति अज्ञान श्रुत अज्ञान और अवाधि अज्ञान कहा जाता है । उन्हें मिलाकर ज्ञानके कुछ आठ भेद होते हैं ।

७८ मति श्रुत और अवाधि यदि मिथ्यात्वसहित हों तो वे अज्ञान हैं, और सम्यक्त्वसहित हों तो ज्ञान हैं । इसके सिवाय उनमें कोई दूसरा भेद नहीं ।

७९ जीव राग आदिपूर्वक जो कुछ भी प्रवृत्ति करता है, उसका नाम कर्म है । शुभ अथवा अशुभ अव्यवसायवाले परिणमनको कर्म कहते हैं, और शुद्ध अव्यवसायवाला परिणमन कर्म नहीं, किंतु निर्जरा है ।

८० अमुक आचार्य ऐसा कहते हैं कि दिगम्बर आचार्योंकी मान्यता है कि “ जीवको मोक्ष नहीं होती, किन्तु मोक्ष समझमें आती है । वह इस तरह कि जीव शुद्धस्वरूपवाला है, इसलिये जब उसे बंध ही नहीं हुआ, तो फिर उसे मोक्ष कहाँसे हो सकती है ? परन्तु जीवने यह मान रखा है कि ‘ मैं बँधा हुआ हूँ । ’ यह मान्यता शुद्धस्वरूप समझ लेनेसे नहीं रहती—अर्थात् मोक्ष समझमें आ जाता है । ” परन्तु यह बात शुद्धनयकी अथवा निश्चयनयकी ही है । यदि पर्यायार्थिक नयवाले इस नयमें सल्लभ रहकर आचरण करें तो उन्हें भटक भटक कर मरना है ।

८१ ठाणागसूत्रमें कहा गया है कि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आसन्न, सर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये पदार्थ सद्भाव हैं, अर्थात् उनका अस्तित्व मौजूद है—उनकी कुछ कल्पना की गई हो यह बात नहीं ।

८२ वेदान्त शुद्धनय-आभासी है । शुद्धनयाभास मतवाले निश्चयनयके सिवाय किसी दूसरे नयको—व्यवहारनयको—नहीं मानते । जिनदर्शन अनेकान्तिक है—स्याद्वादी है ।

८३ कोई नयतत्त्वोंकी, कोई पदद्रव्योंकी, कोई पदपदोंकी और कोई दो राशिकी बात कहता है, परन्तु वह सब जीव अजीव इन दो राशियोंमें—दो तत्त्वोंमें—दो द्रव्योंमें ही गर्भित हो जाता है ।

८४ निगोदमें अनन्त जीव रहते हैं इम बातमें, तथा कदमूलमें सुँडकी नोक जितने सूक्ष्म भागमें अनन्त जीव रहते हैं इस बातमें, शका नहीं करना चाहिये । ज्ञानीने जैसा स्वरूप देखा वैसा ही कहा है । यह जीव, जो स्थूल देहके प्रमाण होकर रहता है, और जिसे अभी भी अपना निजका स्वरूप समझमें नहीं आया, उसे ऐसी सूक्ष्म बातें समझमें न आयें तो यह सच है । परन्तु उसमें शका करनेका कोई कारण नहीं है । इस बातको इस तरह समझना चाहिये—

चौमासेके समयमें किसी गाँवके बाह्य भागमें जो बहुतसी हरियाली देखनेमें आती है, उस थोड़ीसी हरियालीमें भी जब अनन्त जीव होते हैं, तो यदि इस तरहके अनेक गाँवोंका विचार करें तो जीवोंकी सख्याके प्रमाणका अनुभव न होनेपर भी, उसका बुद्धिबलसे विचार करनेसे उसका अनन्तपना

समय हो सकता है। कदमूल आदिमें अनतपना समय है। दूसरी हरियालीमें अनतपना समय नहीं, परन्तु कदमूलमें अनतपना घटता है। तथा कदमूलके यदि थोड़ेसे भागको भी काटकर छागाया जाय तो वह उग आता है, इस कारण भी उसमें जीर्णका आधिक्य रहता है। फिर भी यदि प्रतीति न होती हो तो आत्मानुभव करना चाहिये। आत्मानुभव होनेसे प्रतीति होती है। जबतक आत्मानुभव नहीं होता, तबतक उस प्रतीतिका होना मुश्किल है। इसलिये यदि उसकी प्रतीति करना हो तो प्रथम आत्माका अनुभवी होना चाहिये।

८५ जत्रतक ज्ञानापरणीयका क्षयोपशम नहीं हुआ, तबतक सम्यक्की प्राप्ति होनेकी इच्छा रखनेवालेको उस बातकी प्रतीति रखकर आज्ञानुसार ही चलना चाहिये।

८६ जीममें सकोच-विस्तारकी शक्तिरूप गुण रहता है, इस कारण वह सूक्ष्म स्थूल शरीरमें देहके प्रमाण स्थिति करता है। इसी कारण जहाँ थोड़े अणुकाशमें भी वह विशेषरूपसे सकोचपना कर सकता है, वहाँ जीव सकोचपूर्वक रहता है।

८७ ज्यों ज्यों जीव कर्म-पुद्गलोंको अधिक ग्रहण करता है, त्यों त्यों वह अधिक निमिड़ होकर अनेक देहोंमें रहता है।

८८ पदार्थोंमें अचिन्त्य शक्ति है। कोई भी पदार्थ अपने धर्मका त्याग नहीं करता। एक एक जीममें परमाणुरूपसे ग्रहण किये गये अनत कर्म हैं। तथा ऐसे अनत जीव, जिनकी साथ अनतानत कर्मरूपी परमाणु सन्नद्ध हैं, निगोदके आश्रयसे थोड़ेसे अवकाशमें रहते हैं—यह बात भी शका करने योग्य नहीं। साधारण गिनतांके अनुसार तो एक परमाणु एक आकाश-प्रदेशका अन्गाह्न करता है, परन्तु उसमें अचिन्त्य सामर्थ्य है। उस सामर्थ्य स्वभावाके कारण थोड़ेसे आकाशमें भी अनत परमाणु रहते हैं। जैसे किसी दर्पणके समुख यदि उस दर्पणसे किसी बहुत बड़ी वस्तुको रक्खा जाय, तो भी उसका उतना आकार उस दर्पणमें समा जाता है, तथा जैसे यद्यपि आँख एक छोटीसी वस्तु है, फिर भी उस छोटीसी वस्तुमें सूर्य चंद्र आदि बड़े बड़े पदार्थोंका स्वरूप दिखाई देता है, इसी तरह आकाश यद्यपि एक बड़ा विशाल क्षेत्र है, फिर भी वह आँखमें दृश्यरूपसे समा जाता है, तथा आँख जैसी छोटीसी वस्तु बड़े बड़े बहुतसे घरोंको देख सकती है। यदि थोड़ेसे आकाशमें अचिन्त्य सामर्थ्यके कारण अनत परमाणु न समा सकते हों, तो फिर आँखसे उसके परिमाण जितनी ही वस्तु दिखाई देनी चाहिये, उसमें उससे अधिक मोटा भाग न दिखाई पडना चाहिये। अथवा दर्पणमें भी बहुतसी घर आदि उड़ी बड़ी वस्तुओंका प्रतिबिम्ब नहीं पड सकता। इस कारण परमाणुकी अचिन्त्य सामर्थ्य है, और इस कारण थोड़ेसे आकाशमें भी अनत परमाणु समा सकते हैं।

८९ इस तरह परमाणु आदि द्रव्योंका जो सूक्ष्मभासे निरूपण किया गया है, वह यद्यपि परमाणुका विवेचन है, फिर भी वह सकारण है और वह हेतुपूर्वक ही किया गया है।

९० चित्तके स्थिर करनेके लिये, अथवा वृत्तिको बाहर न जाने देकर उसे अतरगमें ले जानेके लिये, परद्रव्यके स्वरूपका समझना उपयोगी है।

९१ परद्रव्यके स्वरूपका विचार करनेसे वृत्ति ग्राह्य न जाकर अतरगमें ही रहती है, और

नेजस्वरूप समझ लेनेके पश्चात्, उससे प्रादुर्भूत ज्ञानसे उसका 'वही' विषय हो जानेके कारण, अथवा उसे अमुक अशमें समझनेसे उसका उतना ही विषय रहनेके कारण, वृत्ति बलपूर्वक बाहर निकलकर, परंपदार्थोंमें रमण करनेके लिये दोड़ जाती है। उस समय जाने हुए परद्रव्यको फिरसे सूक्ष्मभासे समझते हुए वृत्तिको फिरसे अंतरगमें लाना पड़ता है, और इस तरह उसे अतरगमें लानेके पश्चात् उसका प्रेरोपरूपसे स्वरूप समझनेसे, ज्ञानके द्वारा उसका केवल उतना ही विषय हो जानेके कारण, वृत्ति फिरसे बाहर दौटने लगती है। उस समय जितना समझा हो उससे भी विशेष सूक्ष्मभासे फिरसे निचार करते हुए वृत्ति फिरसे अतरगमें प्रेरित होता है। इस तरह करते करते वृत्तिको बारम्बार अतरगभासे लाकर गात की जाती है, और इस तरह वृत्तिको अतरगमें लाते लाते कदाचित् आत्माका अनुभव भी हो जाता है, और जब यह अनुभव हो जाता है तो वृत्ति फिर बाहर नहीं जाती, परन्तु आत्मामें ही शुद्ध परिणतिरूप होकर परिणमन करती है, और तदनुसार परिणमन करनेसे बाह्य पदार्थोंका दर्शन सहज हो जाता है। इन कारणोंसे परद्रव्यका विवेचन उपयोगी अथवा हेतुभूत होता है।

९२ जीवको अपने आपको जो अल्पज्ञान होता है, उसके द्वारा वह बड़े बड़े ज्ञेय पदार्थोंके स्वरूपको जाननेकी इच्छा करता है, सो यह कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। जीव जीवको ज्ञेय पदार्थोंके स्वरूपका ज्ञान नहीं हो सकता, तो वहाँ जीव अपने अल्पज्ञानको उसे न समझ सकनेका कारण न मानना हुआ, अपनेसे बड़े ज्ञेय पदार्थोंमें दोष निकालता है। परन्तु सीधी तरहसे इस अपनी अल्पज्ञताको, उसे न समझ सकनेका कारण नहीं मानता।

९३ जीव जब अपने ही स्वरूपको नहीं जान सकता तो फिर वह जो परके स्वरूपको जाननेकी इच्छा करता है, उसे तो वह किस तरह जान (समझ) सकता है? और जबतक वह समझमें नहीं आता तबतक वह वहीं गुँगा रहकर डोलायमान हुआ करता है। श्रेयकारी निजस्वरूपका ज्ञान तबतक प्रगट नहीं किया, तबतक परद्रव्यका चाहे कितना भी ज्ञान प्राप्त कर लो, फिर भी वह किसी कामका नहीं। इसलिये उत्तम मार्ग तो दूसरी समस्त बातोंको छोड़कर अपनी आत्माको पहिचाननेका प्रयत्न करना ही है। जो सारभूत है उसे देखनेके लिये, 'यह आत्मा मद्भाववाली है,' 'वह कर्मको कर्ता है,' और उससे (कर्मसे) उसे बंध होता है, वह बंध किस तरह होता है,' 'वह बंध किस तरह निवृत्त हो सकता है,' 'और उस बंधसे निवृत्त हो जाना ही मोक्ष है'—इत्यादिके विषयमें बारम्बार और प्रत्येक क्षणमें निचार करना योग्य है, और इस तरह बारम्बार निचार करनेसे निचार वृद्धिगत होता है, और उसके कारण निजस्वरूपका अश अशसे अनुभव होता है। ज्यों ज्यों निजस्वरूपका अनुभव होता है, त्यों त्यों द्रव्यकी अचिन्त्य सामर्थ्य जीवके अनुभवमें आती जाती है। इससे ऊपर बताई हुई शकाओंके (उदाहरणके लिये योड़ेमें आकाशमें अनंत जीवोंका समा जाना अथवा उसमें अनंत पुद्गल परमाणुओंका समाना) करनेका अवकाश नहीं रहता, और उनकी यथार्थता समझमें आती है। यह होनेपर भी यदि उसे न माना जाता हो, अथवा उसमें शका करनेका कारण रहता हो, तो ज्ञानी कहते हैं कि वह ऊपर कहे हुए पुरपाथ करनेसे अनुभवसे सिद्ध होगा।

९४ जीव जो कर्मबन्ध करता है, वह देहास्थित आकाशमें रहनेवाले मूल्य पुद्गलोंमेंसे ही ग्रहण करके करता है। कुछ वह बाहरसे लेकर कर्मोंको नहीं बंधता।

९५ आकाशमें चौदह राजू लोकमें पुद्गल-परमाणु सदा भरपूर हैं, उसी तरह शरीरमें रहनेवाले आकाशमें भी सूक्ष्म पुद्गल-परमाणुओंका समूह भरा हुआ है। जीव जहाँसे सूक्ष्म पुद्गलोंको ग्रहण करके कर्मबन्ध करता है।

९६ यहाँ ऐसी शका की जा सकती है कि यदि शरीरसे दूर—उद्भूत दूर—रहनेवाले किसी पदार्थके प्रति जीव राग-द्वेष करे, तो वहाँके पुद्गल ग्रहण करके जो बन्ध बंध करता है, वह किस तरह करता है? उसका समाधान यह है कि वह राग-द्वेष परिणति तो आत्माकी विभावरूप परिणति है, और उस परिणतिके करनेवाली आत्मा है, और वह शरीरमें रहकर ही उसे करती है। इसलिये शरीरमें रहनेवाली जो आत्मा है, वह जिस क्षेत्रमें है, उस क्षेत्रमें रहनेवाले पुद्गल परमाणुओंको ही ग्रहण करके वह उनका बन्ध करती है—वह उन्हें ग्रहण करनेके लिये कहीं बाहर नहीं जाती।

९७ यश-अपयशकर्त्ति नामकर्म—नामकर्मसम्बन्ध जिस शरीरको लेकर है, वह शरीर जहाँतक रहता है—जहाँतक चलता है, वहाँसे आगे नहा चलता। जीव जब सिद्धान्स्थाको प्राप्त हो जाता है अथवा निरतिभाजको प्राप्त कर लेता है, उस समय वह सन्ध नहीं रहता। सिद्धान्स्थामें एक आत्माके सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं है, और नामकर्म तो एक तरहका कर्म है, तो फिर जहाँ यश-अपयश आदिका सन्ध किस तरह घट सक्ता है? तथा अविरतिभाजसे जो कुछ पापक्रिया होती है, वह पाप तो चाट्ट रहता है।

९८ निरति अर्थात् 'छुड़ाना', अथवा जो रतिसे विरुद्ध है उसे निरति कहते हैं। अनिरतिमें तीन शब्द हैं—अ + रि + रति — अ = नहीं + रि = विरुद्ध + रति = प्रीति—मोह, अर्थात् जो प्रातिसे—मोहसे—विरुद्ध नहीं वह अनिरति है। वह अनिरति बारह प्रकारकी है।

९९ पाँच इन्द्रिय, छद्मा मन, तथा पाँच स्थानर जीव, और एक त्रस जीव ये सब मिलकर उसके बारह भेद होते हैं।

१०० सिद्धान्त यह है कि कर्मके बिना जीवको पाप नहीं लगता। उस कर्मकी जबतक निरति नहीं की तबतक अनिरतिभाजका पाप लगता है—समस्त चौदह राजू लोकमेंसे उमको पापक्रिया चाट्ट रहती है।

१०१ कोई जीव किसी पदार्थका विचार करके मरणको प्राप्त हो जाय, और उस पदार्थका विचार इस प्रकारका हो कि वह विचार किया हुआ पदार्थ जबतक रहे, तबतक उससे पापक्रिया हुआ ही करती हो, तो तबतक उस जीवको अनिरतिभाजकी पापक्रिया चाट्ट रहती है। यद्यपि जीवने दूसरी पर्याय धारण करनेके पहिलेकी पर्यायके समय, जिस जिस पदार्थका विचार किया है, उसकी उसे खतर नहीं है तो भी, तथा वर्तमानकी पर्यायके समयमें वह जीव उस विचार किये हुए पदार्थकी क्रिया नहीं करता तो भी, जहाँतक उसका मोहभाज निरतिभाजको प्राप्त नहीं हुआ तबतक उसकी अव्यक्तरूपसे क्रिया चाट्ट ही रहती है।

१०२ इसलिये वर्तमानकी पर्यायके समयमें उसे उसकी अज्ञानताका लाभ नहीं मिल सकता। उस जीवको समझना चाहिये था कि इस पदार्थसे होनेवाली क्रिया तबतक कायम रहेगी तबतक उसकी

पापक्रिया चालू रहेगी। उस विचार क्रिये हुए पदार्थसे अव्यक्तरूपसे भी होनेवाली क्रियासे यदि मुक्त होना हो तो मोहभाज छोड़ना चाहिये। मोह छोड़नेसे अर्थात् विरतिभाज करनेसे पापक्रिया बंद हो जाती है। उस विरतिभाजको यदि उसी भयमें ग्रहण किया जाय तो वह पापक्रिया, जयसे जीन विरतिभाजको ग्रहण करे, तभीसे आती हुई रुक जाती है। यहाँ जो पापक्रिया लगती है वह चारित्रमोहनीयके कारणसे ही लगती है, और वह मोहभाजके क्षय होनेसे आती हुई रुक जाती है।

१०३ क्रिया दो प्रकारकी होती है—एक व्यक्त अर्थात् प्रगट, और दूसरी अव्यक्त अर्थात् अप्रगट। अव्यक्तरूपसे होनेवाली क्रिया यद्यपि सम्पूर्णरूपसे नहीं जानी जा सकती, परन्तु इसलिये वह होती ही नहीं, यह बात नहीं है।

१०४ पानीमें जो लहरे—हिलारें—उठती हैं वे व्यक्तरूपसे मादम होती हैं, परन्तु उस पानीमें यदि गधक अथवा कस्तूरी डाठ दी हो, और वह पानी शान्त अवस्थामें हो तो भी उसमें जो गधक अथवा कस्तूरीकी क्रिया है, वह यद्यपि दिखाई नहीं देती, तथापि वह उसमें अव्यक्तरूपसे मौजूद रहती ही है। इस तरह अव्यक्तरूपसे होनेवाली क्रियाका यदि श्रद्धान न किया जाय, और केवल व्यक्तरूप क्रियाका ही श्रद्धान हो, तो जिसमें अविरतिरूप क्रिया नहीं होती ऐसे ज्ञानीकी क्रिया, और जो व्यक्तरूपसे कुछ भी क्रिया नहीं करता ऐसे सोते हुए मनुष्यकी क्रिया, ये दोनों समान ही हो जाँयगी। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो यह बात नहीं। सोते हुए मनुष्यको अव्यक्त क्रिया रहती ही है, तथा इसी तरह जो मनुष्य (जो जीव) चारित्रमोहनीयकी निद्रामें सो रहा है, उसे अव्यक्त क्रिया न रहती ही, यह बात नहीं है। यदि मोहभाजका क्षय हो जाय तो ही अविरतिरूप चारित्रमोहनीयकी क्रिया बंद होती है। उससे पहिले वह बंद नहीं होती।

क्रियासे होनेवाला बंध मुख्यतया पाँच प्रकारका है —

मिथ्यात्व	अविरति	कपाय	प्रमाद	योग
५	१२	२५		१५

१०५ जबतक मिथ्यात्वकी मौजूदगी हो तबतक अविरतिभाव निर्मूल नहीं होता—नाश नहीं होता। परन्तु यदि मिथ्यात्वभाज दूर हो जाय तो अविरतिभाजको दूर होना ही चाहिये, इसमें सदेह नहीं। कारण कि मिथ्यात्वसहित विरतिभाजका ग्रहण करनेसे मोहभाज दूर नहीं होता। तथा जबतक मोहभाज कायम है तबतक अभ्यतर विरतिभाज नहीं होता। और मुख्यरूपसे रहनेवाले मोहभाजके नाश होनेमें अभ्यतर अविरतिभाज नहीं रहता, और यद्यपि बाह्य अविरतिभाजका ग्रहण न किया गया हो, तो भी जो अभ्यतर है वह सहज ही बाहर आ जाता है।

१०६ अभ्यतर विरतिभाजके प्राप्त होने पश्चात्, उदयाधीन बाह्यभाजसे कोई विरतिभाजका ग्रहण न कर सके, तो भी जय उदयकाल सम्पूर्ण हो जाय उस समय सहज ही विरतिभाव रहता है। क्योंकि अभ्यतर विरतिभाज तो पहिलेसे ही प्राप्त है। इस कारण अज अविरतिभाव नहीं है, जो अविरतिभाजकी क्रिया कर सके।

१०७ मोहभाजको लेकर ही मिथ्यात्व है। मोहभाजका क्षय हो जानेसे मिथ्यात्वका प्रतिपक्ष सम्यक्भाज प्रगट होता है। इसलिये यहाँ मोहभाज कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं होता।

१०८. यहाँ ऐसी शका की जा सकती है कि यदि पाँच इन्द्रियों और उद्धा मन तथा पाँच स्थानरकाय और छद्म त्रसकाय इस तरह बारह प्रकारसे विरतिका ग्रहण किया जाय, तो लोकमें रहनेवाले जीव और अजीव नामकी राशिके जो दो समूह हैं, उनमेंसे पाँच स्थानरकाय और छद्म त्रसकाय मिलकर जीवराशिकी तो विरति हो गई, परन्तु लोकमें भटकानेवाली जो अजीवराशि है, जो जीवसे भिन्न है, जबतक उसके प्रति प्रीतिकी इसमें निवृत्ति नहीं आती, तबतक उसे विरति किस तरह समझा जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि पाँच इन्द्रियाँ और छद्म मनसे जो विरति करना है, उसके विरतिभाजनमें अजीवराशिकी भी विरति आ जाती है ।

१०९. पूर्वमें इस जीवने ज्ञानीकी वाणीको निश्चयरूपसे कभी भी नहीं सुना, अथवा उस वाणीको सम्यक् प्रकारसे विरपर धारण नहीं किया—ऐसा सर्वदर्शनि कहा है ।

११०. सद्वृत्तद्वारा उपदिष्ट यथाक्त समयको पालते हुए—सद्वृत्तकी आज्ञासे चलते हुए—पापसे विरति होती है, और जीव अभेद्य ससार-समुद्रसे पार हो जाता है ।

१११. वस्तुस्वरूप कितने ही स्थानकोंमें आज्ञासे प्रतिष्ठित है, और कितने ही स्थानकोंमें यह सद्विचारपूर्वक प्रतिष्ठित है । परन्तु इस दुःपमकालकी इतनी अधिक प्रयत्नता है कि इससे आगेके क्षणमें भी विचारपूर्वक प्रतिष्ठित होनेके लिये जीव किस तरह प्रवृत्ति करेगा, यह जाननेकी इस कालमें शक्ति नहीं माद्वम होती, इसलिये वहाँ आज्ञापूर्वक ही प्रतिष्ठित रहना योग्य है ।

११२. ज्ञानीने कहा है कि 'समझो ! क्यों समझते नहीं ? फिर ऐसा अनसर मिलना दुर्लभ है ?'

११३. लोकमें जितने भी पदार्थ हैं, उनके वर्गीका, देवाधिदेवने, अपने ज्ञानमें भाषित होनेके कारण, यथार्थ वर्णन किया है । पदार्थ कुछ उन धर्मोंसे बाहर जाकर नहीं रहते । अर्थात् जिस तरह ज्ञानीमहाराजने उन्हें प्रकाशित किया है, उससे भिन्न प्रकारसे वे नहीं रहते । इस कारण वे ज्ञानीकी आज्ञानुसार ही प्रवर्तते हैं, ऐसा कहा है । कारण कि ज्ञानीने पदार्थका जेमा धर्म था उसे उसी तरह कहा है ।

११४. काल मूल द्रव्य नहीं है, वह औपचारिक द्रव्य है, और वह जीव तथा अजीव (अजीवमें मुख्यतया पुद्गलास्तिकायमें विशेषरूपसे समझमें आता है) मेंसे उत्पन्न होता है । अथवा जीवाजीवनी पर्याय-अवस्था ही काल है । हरेक द्रव्यके अनन्त धर्म हैं । उनमें ऊर्ध्वप्रचय और तिर्यक्-प्रचय नामके भी दो धर्म हैं, और कालमें तिर्यक्प्रचय नहीं है, उसमें केवल ऊर्ध्वप्रचय ही है ।

११५. ऊर्ध्वप्रचयसे पदार्थमें जो धर्मका उद्भव होता है, उस धर्मका तिर्यक्प्रचयसे फिर उसीमें समावेश हो जाता है । कालके समयको तिर्यक्प्रचय नहीं है, इस कारण जो समय चला गया वह फिर पीछे नहीं आता ।

११६. दिग्म्बरमतके अनुसार कालद्रव्यके लोकमें असर्यात अणु हैं ।

११७. हरेक द्रव्यके अनन्त धर्म हैं । उनमें कितने ही धर्म व्यक्त हैं, कितने ही अव्यक्त हैं, कितने ही मुरय ह, कितने ही सामान्य हैं, और कितने ही विशेष हैं ।

११८. असर्यातको असर्यातसे गुणा करनेपर भी असर्यात ही होते हैं, अर्थात् असर्यातके असर्यात भेद हैं ।

११९ एक अगुलके असख्यात भाग—अश—प्रदेश—एक अगुलमें असख्यात होते हैं। लोकके भी असख्यात प्रदेश होते हैं। उन्हें चाहे किसी भी दिशाकी समश्रेणीसे गिनो वे असख्यात ही होते हैं। इस तरह एकके बाद एक दूसरी तीसरी समश्रेणीका योग करनेसे जो योगफल आता है वह एकगुना, दोगुना, तीनगुना, चारगुना होता है, परन्तु असख्यातगुना नहीं होता। किन्तु एक समश्रेणी—जो असख्यात प्रदेशवाली है—उस समश्रेणीकी दिशावाली समस्त समश्रेणियोंको—जो असख्यातगुणी हैं—हरेकको असख्यातसे गुणा करनेसे, इसी तरह दूसरी दिशाकी समश्रेणीका गुणा करनेसे, और इसी तरह उक्त रीतिसे तीसरी दिशाकी समश्रेणीका गुणा करनेसे असख्यात होते हैं। इन असख्यातके भागोंका जबतक परस्पर गुणाकार किया जा सके, तबतक असख्यात होते हैं, और जब उस गुणाकारसे कोई गुणाकार करना बाकी न रहे, तब असख्यात पूरे ही जानेपर उसमें एक मिछा देनेसे जघन्यातिजघन्य अनत होते हैं।

१२० नय प्रमाणका एक अश है। जिस नयसे जो धर्म कहा गया है वहाँ उतना ही प्रमाण है। इस नयसे जो धर्म कहा गया है उसके सिवाय, वस्तुमें जो दूसरे और धर्म हैं उनका निषेध नहीं किया गया। क्योंकि एक ही समय चाणीसे समस्त धर्म नहीं कहे जा सकते। तथा जो जो प्रसंग होता है, उस उस प्रसंगपर वहाँ मुख्यतया वही धर्म कहा जाता है। उस उस स्थलपर उस उस नयसे प्रमाण समझना चाहिये।

१२१ नयके स्वरूपसे दूर जाकर जो कुछ कहा जाता है वह नय नहीं है, परन्तु नयाभास है, और जहाँ नयाभास है वहाँ मिथ्यात्व ठहरता है।

१२२ नय सात माने हैं। उनके उपनय सातसौ हैं, और विशेष भेदोंसे वे अनत हैं, अर्थात् जितने वचन हैं वे सब नय ही हैं।

१२३ एकांत ग्रहण करनेका स्वच्छद जीवको विशेषरूपसे होता है, ओर एकांत ग्रहण करनेसे नास्तिकभाव होता है। उसे न होने देनेके लिये इस नयका स्वरूप कहा गया है। इसके समझ जानेसे जीव एकांतभावको ग्रहण करता हुआ रुककर मध्यस्थ रहता है, और मध्यस्थ रहनेसे नास्तिकताको अपकाश नहीं मिल सकता।

१२४ नय जो कहनेमें आता है, सो नय स्वयं कोई वस्तु नहीं है। परन्तु वस्तुका स्वरूप समझने तथा उसकी सुप्रतीति होनेके लिये यह केवल प्रमाणका अश है।

१२५ यदि अमुक नयसे कोई बात कही जाय, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि दूसरे नयसे प्रतीत होनेवाले वर्मका अस्तित्व ही नहीं है।

१२६ केवलज्ञान अर्थात् मात्र ज्ञान ही, इसके सिवाय दूसरा कुछ नहीं। फिर उसमें अन्य कुछ भी गर्भित नहीं होता। जब सर्वथा सर्व प्रकारसे राग-द्वेषका क्षय हो जाय, उसी समय केवलज्ञान कहा जाता है। यदि किसी अशसे राग-द्वेष हों तो वह चारित्रमोहनीयके कारणसे ही होते हैं। जहाँ जितने अशसे राग-द्वेष हैं, वहाँ उतने ही अशसे अज्ञान है। इस कारण वे केवलज्ञानमें गर्भित नहीं हो सकते, अर्थात् वे केवलज्ञानमें नहीं होते। वे एक दूसरेके प्रतिपक्षी हैं। जहाँ केवलज्ञान है वहाँ राग-द्वेष नहीं, अथवा जहाँ राग-द्वेष है वहाँ केवलज्ञान नहीं है।

१२७ गुण और गुणी एक ही हैं। परन्तु किसी कारणसे वे भिन्न भी हैं। सामान्य प्रकारसे तो गुणोंके समुदायको ही गुणी कहते हैं, अर्थात् गुण गुणी एक ही हैं, भिन्न भिन्न वस्तु नहीं। गुणीसे गुण भिन्न नहीं हो सकते। जैसे मिथ्रीका टुकड़ा गुणी और उसकी मिठास उमका गुण भिन्न नहीं हो सकते। गुणी मिथ्री और गुण मिठास दोनों साथ साथ ही रहते हैं, मिठास उससे कुछ भिन्न नहीं होती। तथापि गुण और गुणी किसी अशसे भिन्न भी हैं।

१२८ केवलज्ञानीकी आत्मा भी देहव्यापक क्षेत्रमें अग्राहयुक्त है, फिर भी वह लोकार्थके समस्त पदार्थोंको भां, जो देहसे दूर हैं, एकदम जान सकती है।

१२९ स्व और परको भिन्न करनेवाला जो ज्ञान है वही ज्ञान कहा जाता है। इस ज्ञानको प्रयोजनभूत कहा गया है। इसके सिवाय बाकीका सब ज्ञान अज्ञान है। जिनभगवान् बुद्ध आदिदशारण्य शात हैं। उनकी प्रतीतिको जिन-प्रतिभिन्व सूचन करती है। उस शात दशाको पानेके लिये जो परिणति, अनुकरण, अथवा मार्ग है उसका नाम जैनमार्ग है। इस मार्गपर चलनेसे जेनत्व प्राप्त होता है।

१३० यह मार्ग आत्मगुणका रोकनेवाला नहीं, परन्तु उसका बोधक ही है—अर्थात् यह आत्मगुणको प्रगट करता है, इसमें कुछ भी सशय नहीं। यह बात परीक्ष नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष है। प्रतीति करनेकी इच्छा रखनेवालेको पुरुषार्थ करनेसे सुप्रतीति होकर यह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय होता है।

१३१ सूत्र और सिद्धात ये दोनों जुदा है। सिद्धातोंका रक्षण करनेके लिये उन्हें सूत्ररूपी सन्दूकमें रखा गया है। देश-कालका अनुसरण करके सूत्रोंकी रचना की गई है, और उनमें सिद्धात रूँधे गये हैं। ये सिद्धात किसी भी काल आर किसी भी क्षेत्रमें नहीं बदलते, अथवा खडित नहीं होते, और यदि वे खडित हो जाँय तो वे सिद्धात नहीं हैं।

१३२ सिद्धात गणितकी तरह प्रत्यक्ष है, इसलिये उनमें किसी तरहकी भूल अथवा अधूरापन नहीं रहता। अक्षर यदि कान-मात्रारहित हों तो मनुष्य उन्हें सुधारकर बाँच सकता है, परन्तु यदि अक्षरोंकी ही भूल हो जाय, तो फिर हिसाब ही गलती हो जाता है, इसलिये अक्षर कान मात्रारहित नहीं होते। इस दृष्टान्तको उपदेशमार्ग और सिद्धातमार्गपर घटाना चाहिये।

१३३ सिद्धात, चाहे जिस देशमें, चाहे जिस भाषामें, और चाहे जिस कालमें लिखे गये हों, तो भी वे असिद्धात नहीं होते। उदाहरणके लिये दो और दो चार ही होते हैं। फिर चाहे वे गुजराती, संस्कृत, प्राकृत, चीनी, अरबी, परशियन और इंग्लिश किसी भी भाषामें क्यों न लिखे गये हों। उन अक्षरोंको चाहे किसी भी नामसे बोला जाय, तो भी दो और दोका जोड़ चार ही होता है, यह बात प्रत्यक्ष है। जैसे नौको नोसे गुणा करनेसे किसी भी देशमें, किसी भी भाषामें, सफेद दिनमें अथवा अंधेरी रातमें, कभी भी गिनो ८१ ही होते हैं—कभी भी ८० अथवा ८२ नहीं होते, इसी तरह सिद्धातके विषयमें भी समझना चाहिये।

१३४ सिद्धात प्रत्यक्ष हैं—ज्ञानके अनुभवके विषय हैं, उसमें अनुमान काम नहीं आता। अनुमान तर्कका विषय है, और तर्क आगे बढ़नेपर कितनी ही बार झूठी भी हो जाती है। पराप्रत्यक्ष जो अनुभवगम्य है उसमें कुछ भी भूल नहीं होती।

१३५ जिसे गुणा और जोड़का ज्ञान हो गया है, वह कहता है कि नौको नौसे गुणा करनेसे ८१ होते हैं। परन्तु जिसे जोड़ और गुणाका ज्ञान नहीं हुआ—क्षयोपशम नहीं हुआ—वह अनुमानसे अथवा तर्कसे यदि ऐसा कहे कि 'नौको नौसे गुणा करनेसे कदाचित् ९८ होते हों, तो उसको कोन मना कर सकता है?' तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। क्योंकि उसे ज्ञान न होनेके कारण वह ऐसा कहे तो यह स्वाभाविक ही है। परन्तु यदि उसे गुणाकी रीतिको अलग अलग करके, एकसे नौतक अक वताकर नौ बार गिनाया जाय, तो उमे अनुभवमें आ जानेसे $९ \times ९ = ८१$ ही होते हैं, यह सिद्ध हो जाता है। कदाचित् उसका क्षयोपशम मद होनेसे गुणाकी अथवा जोड़की पद्धतिसे, $९ \times ९ = ८१$ होते हैं, यह उसे समझने न भी आये, तो भी नौको नौसे गुणा करनेपर तो ८१ ही होते हैं, इसमें कुछ भी फरक नहीं है। इसी तरह यदि सिद्धांत भी आचरणके कारण समझमें न आये, तो वे सिद्धांत असिद्धांत नहीं हो जाते—इस बातकी निश्चय प्रतीति रखना चाहिये। फिर भी यदि प्रतीति करनेकी जरूरत हो तो सिद्धांतके कहे अनुसार चलनेसे प्रतीति होकर वह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय होता है।

१३६ जबतक वह अनुभवका विषय न हो तबतक उसकी सुप्रतीति रखनेकी जरूरत है, और सुप्रतीतिसे क्रम क्रमसे वह अनुभवमें आ जाता है।

१३७ सिद्धांतके दृष्टान्त —

(१) ' राग-द्वेषसे बंध होता है । '

(२) ' बंधका क्षय होनेसे मुक्ति होती है । '

यदि इस सिद्धांतकी प्रतीति करना हो तो राग-द्वेष छोड़ो। यदि सत्र प्रकारसे राग-द्वेष छूट जाय तो आत्माकी सब प्रकारसे मोक्ष हो जाती है। आत्मा बंधनके कारण मुक्त नहीं हो सकती। जहाँ बंधन छूटा कि वह मुक्त ही है। बंधन होनेके कारण राग-द्वेष है। जहाँ राग-द्वेष सत्र प्रकारसे छूटे कि आत्माको सबसे छूटी हुई ही समझनी चाहिये। उसमें कुछ भी प्रश्न अथवा शका नहीं रहती।

१३८ जिस समय जिसके राग-द्वेष सर्वथा क्षय हो जाते हैं, उसे दूसरे समयमें ही केवलज्ञान हो जाता है।

१३९ जीव पहिले गुणस्थानक्रमसे आगे नहीं जाता—आगे जानेका विचार नहीं करता। तथा पहिलेसे आगे किस तरह बढ़ा जा सकता है? उसका क्या उपाय है? किस तरह पुरुषार्थ करना चाहिये? उमका वह विचारतक भी नहीं करता, और जब बातें करने बैठता है तो ऐसी ऐसी बातें करता है कि इस क्षेत्रमें इस कालमें तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त नहीं होता। ऐसी ऐसी गहन बातें, जो अपनी शक्तिके बाहर हैं, उन्हें वह किस तरह समझ सकता है? अर्थात् जितना अपनेको क्षयोपशम हो, उसके वादकी बातें यदि कोई करने बैठे तो वे कभी भी समझमें नहीं आ सकतीं।

१४० जो पहिले गुणस्थानक्रममें प्रथि ह, उसका भेदन करके आगे बढ़कर ससारी जीव चौधे-तक नहीं पहुँचा। कोई कोई जीव निर्जरा करनेसे उच्च भागोंमें आते हुए, पहिलेमेंसे निकलनेका विचार करके, प्रथिभेदके समीप आता है, परन्तु वहाँपर उसके ऊपर प्रथिका इतना अग्रिक जोर होता है कि वह प्रथिभेद करनेमें शिथिल होकर रुक जाता है, और इस तरह वह शिथिल होकर वापिस आ जाता

हे । इस तरह जीव अनतोंगार प्रथी-भेदके पाममें आकर वापिस फिर गया हे । कोई जीव ही प्रयत्न पुरुपार्थ करके निमित्त कारणोंका योग पाकर, पूर्ण शक्ति लगाकर प्रथिभेद करके आगे बढ़ता है, ओर जहाँ वह प्रथिभेद करके आगे उढा कि वह चौथेमें आ जाता हे, और जहाँ चौथेमें आया कि उस जीवको ऐसी ङाप पड़ती हे कि अत्र आगे पीछे मोक्ष हो ही जायगी ।

१४१ इस गुणस्थानकका नाम अनिरतसम्यग्दृष्टि है, यहाँ निरतिभात्रसे रहित सम्यग्ज्ञान दर्शन होता है ।

१४२ कहनेमें तो ऐसा आता है कि इस कालमें इस क्षेत्रसे तेरहनों गुणस्थानक प्राप्त नहीं होता, परन्तु यह कहनेवाले पहिलेमेंसे भी निकलते नहीं । यदि वे पहिलेमेंसे निकलकर चौथेतक आँने ओर वहाँ पुरुपार्थ करके सातवें अप्रमत्ततक गुणस्थानक पहुँच जाय, तो भी यह एक बडीसे बडी बात हे । सातवेंतक पहुँचे बिना उसके बादकी सुप्रतीति हो सकना मुश्किल हे ।

१४३ आराममें जो प्रमादरहित जाग्रतदशा हे वही सातवाँ गुणस्थानक हे । वहाँतक पहुँच-जानेसे उममें सम्यक्त्व समाप्ति हो जाता हे । जीव चौथे गुणस्थानकमें आकर वहाँसे पाँचवें देवनिरत, छठे सर्वनिरत और सातवें अप्रमत्तनिरतमें पहुँचता हे । वहाँ पहुँचनेसे आगेकी दशाका अशसे अनुभव अथवा उसकी सुप्रतीति होती है । चौथा गुणस्थानकवाला जीव सातवें गुणस्थानकमें पहुँचनेवालेकी दशाका यदि विचार करे तो उसकी किसी अशसे प्रतीति हो सकती हे । परन्तु यदि उसके पहिलेके गुणस्थानकवाला जीव उसका विचार करे तो उसकी किस तरह प्रतीति हो सकती है ? कारण कि जाननेका साधन जो आनरणरहित होना हे, वह पहिले गुणस्थानकवालेके पास नहीं होता ।

१४४ सम्यक्त्व-प्राप्त जीवकी दशाका स्वरूप भिन्न ही होता ह । पहिले गुणस्थानवाले दशाकी जो स्थिति अथवा भाव है, उसकी अपेक्षा चौथे गुणस्थानकके प्राप्त करनेवालीकी दशाकी स्थिति अथवा भाव भिन्न ही देखनेमें आते है, अर्थात् दोनोंमें भिन्न भिन्न दशाका आचरण देपनेमें आता है ।

१४५ पहिलेको शिथिल करे तो चौथेमें आ जाय, यह केवल कथनमात्र है । चौथेमें आनेमें जो वर्तन है, वह नियय विचारणीय है ।

१४६ पहिले ४, ५, ६ और ७ गुणस्थानककी जो बात कही गई है, वह कुछ कथनमात्र ओर श्रवणमात्र ही है, यह बात नहीं, उसे समझकर उसका बारम्बार विचार करना योग्य हे ।

१४७ यथाशक्त्य पुरुपार्थ करके आगे बढ़ना आवश्यक है ।

१४८ प्राप्त करनेमें कठिन ऐसा धीरज, सहनन, आयुकी अपूर्णता इत्यादिके अभावसे, कदाचित् सातवें गुणस्थानकके ऊपरका विचार न भी आ सके, परन्तु उसकी सुप्रतीति तो हो सकती है ।

१४९ जैसे सिंहको यदि लोहेके किसी जर्दस्त पिंजरेमें बंद कर दिया जाय तो वह सिंह जिस तरह अपनेको भीतर बन्द हुआ समझता हे—अपनेको पिंजरेमें बंद समझता है—ओर वह पिंजरेकी भूमिको भी देखता है, केवल लोहेके मजबूत सींफोंकी टाड़के कारण ही वह बाहर नहीं निकल सकता, उसी तरह सातवें गुणस्थानकके ऊपरके विचारकी सुप्रतीति हो सकती ह ।

१५० यह हो जानेपर भी मतभेद आदिके कारण अटककर जीव आगे नहीं बढ़ सकता ।

१३५ जिसे गुणा ओर जोड़का ज्ञान हो गया है, वह कहता है कि नौको नौसे गुणा करनेसे ८१ होते हैं। परन्तु जिसे जोड़ और गुणाका ज्ञान नहीं हुआ—क्षयोपशम नहीं हुआ—यह अनुमानसे अथवा तर्कसे यदि ऐसा कहे कि 'नौको नौसे गुणा करनेसे कदाचित् ९८ होते हों, तो उसको कोन मना कर सकता है?' तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है। क्योंकि उसे ज्ञान न होनेके कारण वह ऐसा कहे तो यह स्वाभाविक ही है। परन्तु यदि उसे गुणाकी रीतिको अलग अलग करके, एकसे नौतक अक ब्रताकर नौ बार गिनाया जाय, तो उसे अनुभवमें आ जानेसे $९ \times ९ = ८१$ ही होते हैं, यह सिद्ध हो जाता है। कदाचित् उसका क्षयोपशम मद होनेसे गुणाकी अथवा जोड़की पद्धतिसे, $९ \times ९ = ८१$ होते हैं, यह उसे समझमें न भी आये, तो भी नौको नौसे गुणा करनेपर तो ८१ ही होते हैं, इसमें कुछ भी फरक नहीं है। इसी तरह यदि सिद्धांत भी आरणके कारण समझमें न आये, तो वे सिद्धांत असिद्धांत नहीं हो जाते—इस बातकी निश्चय प्रतीति रखना चाहिये। फिर भी यदि प्रतीति करनेकी जरूरत हो तो सिद्धांतके कहे अनुसार चलनेसे प्रतीति होकर वह प्रत्यक्ष अनुभवका निपय होता है।

१३६ जबतक वह अनुभवका निपय न हो तबतक उसकी सुप्रतीति रखनेकी जरूरत है, और सुप्रतीतिसे क्रम क्रमसे वह अनुभवमें आ जाता है।

१३७. सिद्धांतके दृष्टान्त —

(१) ' राग-द्वेषसे बंध होता है । '

(२) ' बंधका क्षय होनेसे मुक्ति होती है । '

यदि इस सिद्धांतकी प्रतीति करना हो तो राग-द्वेष छोड़ो। यदि सब प्रकारसे राग-द्वेष छूट जाय तो आत्माकी सत्र प्रकारसे मोक्ष हो जाती है। आत्मा बंधनके कारण मुक्त नहीं हो सकती। जहाँ बंधन छूटा कि वह मुक्त ही है। बंधन होनेके कारण राग-द्वेष है। जहाँ राग द्वेष सत्र प्रकारसे छूटे कि आत्माको बंधसे छूटी हुई ही समझनी चाहिये। उसमें कुछ भी प्रश्न अथवा शका नहीं रहती।

१३८. जिस समय जिसके राग-द्वेष सर्वथा क्षय हो जाते हैं, उसे दूसरे समयमें ही केन्द्रज्ञान हो जाता है।

१३९. जीव पहिले गुणस्थानकमेंसे आगे नहीं जाता—आगे जानेका विचार नहीं करता। तथा पहिलेसे आगे किस तरह बढ़ा जा सकता है? उसका क्या उपाय है? किस तरह पुरपार्थ करना चाहिये? उसका वह विचारतक भी नहीं करता, और जब बातें करने बैठता है तो ऐसी ऐसी बातें करता है कि इस क्षेत्रमें इस कालमें तेरहवाँ गुणस्थान प्राप्त नहीं होता। ऐसी ऐसी गहन बातें, जो अपनी शक्तिके बाहर हैं, उन्हें वह किम तरह समझ सकता है? अर्थात् जितना अपनेको क्षयोपशम हो, उसके बादकी बातें यदि कोई करने बैठे तो वे कर्मा भी समझमें नहीं आ सकतीं।

१४०. जो पहिले गुणस्थानकमें प्रथि है, उसका भेदन करके आगे बढ़कर ससारी जीव चौथे-तक नहीं पहुँचा। कोई कोई जीव निर्जरा करनेसे उच्च भागोंमें आते हुए, पहिलेमेंसे निकलनेका विचार करके, प्रथिभेदके समीप आता है, परन्तु उहाँपर उसके ऊपर प्रथिका इतना अधिक जोर होता है कि वह प्रथिभेद करनेमें शिथिल होकर रुक जाता है, और इस तरह वह शिथिल होकर वापिस आ जाता

हार मार्गमें ही है। मोक्षमार्ग तो फेरफाररहित है—यह एक ही है। उसे प्राप्त करनेमें मिथिलताका निषेध किया गया है। वहाँ हिम्मत रखनी चाहिये। जीवको मूर्च्छारहित करना ही जरूरी है।

१५९ विचारधान पुरुषको व्यवहारके फेरफारसे व्याकुल न होना चाहिये।

१६० ऊपरकी भूमिकावाला नीचेकी भूमिकावालेकी बराबर नहीं है। परन्तु नीचेकी भूमिकावालेसे वह ठीक है। जीव स्वयं जिस व्यवहारमें हो, उससे यदि दूसरेका व्यवहार ऊँचा देखनेमें आने, तो उस उच्च व्यवहारका निषेध नहीं करना चाहिये। क्योंकि मोक्षमार्गमें कुछ भी फेरफार नहीं है। तीनों कालमें किसी भी क्षेत्रमें जो एक ही समान रहे वही मोक्षमार्ग है।

१६१ अल्पसे अल्प निवृत्ति करनेमें भी जीवको ठंड माट्टम होती है, तो फिर वेसी अनत प्रवृत्तियोंसे जो मिथ्यात्व होता है, उससे निवृत्ति प्राप्त करना यह कितना दुर्घर होना चाहिये? मिथ्यात्वकी निवृत्ति ही सम्यक्त्व है।

१६२ जीवाजीवकी विचाररूपसे तो प्रतीति की न गई हो, ओर कथनमात्र ही जीवाजीव है—यह कहना सम्यक्त्व नहीं है। तीर्थंकर आदिने भी इसका पूर्वमें आराधन किया है, इससे उन्हें पहिलेसे ही सम्यक्त्व होता है। परन्तु दूसरोंको कुछ अमुक कुलमें, अमुक जातिमें, अमुक वर्गमें अथवा अमुक देशमें अवतार लेनेसे जन्मसे ही वह सम्यक्त्व होता है, यह बात नहीं है।

१६३ विचारके बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञानके बिना सुप्रतीति अर्थात् सम्यक्त्व नहीं होता। सम्यक्त्वके बिना चारित्र नहीं होता, और जबतक चारित्र न हो तबतक जीव केवलज्ञान प्राप्त नहीं करता, और जबतक जीव केवलज्ञान नहीं पाता तबतक मोक्ष नहीं—यह देखनेमें आता है।

*१६४ देवका वर्णन। तत्त्व। जीवका स्वरूप।

१६५ कर्मरूपसे रहनेवाले परमाणु केवलज्ञानीको दृश्य होते हैं, इसके अतिरिक्त उनके लिये और कोई निश्चित नियम नहीं होता। परमाणुवालेको भी उनका दृश्य होना समझ है, और मन पर्यव-ज्ञानीको उनका अमुक देशसे दृश्य होना समझ है।

१६६ पदार्थोंमें अनत धर्म—गुण—आदि मौजूद रहते हैं। उनका अनतवाँ भाग वचनसे कहा जा सकता है, ओर उसका अनतवाँ भाग सूत्रमें उपनिबद्ध किया जा सकता है।

१६७ यथाप्रवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण ओर अपूर्णकरणके बाद युजनकरण ओर गुणकरण होते हैं। युजनकरणका गुणकरणसे क्षय किया जा सकता है।

१६८ युजनकरण अर्थात् प्रकृतिको योजन करना। तथा आत्माका गुण जो ज्ञान है, उससे दर्शन, ओर दर्शनसे चारित्र होना गुणकरण है, इस गुणकरणसे युजनकरणका क्षय किया जा सकता है। अमुक अमुक प्रकृति जो आत्मगुणकी निरोधक है उसका गुणकरणसे क्षय किया जा सकता है।

१६९ कर्मप्रकृति, उसके सूक्ष्मसे सूक्ष्म भाग, और उसके बंध, उदय, उदीरणा, स्रग्मण, सत्ता, ओर क्षयभावका जो वर्णन किया गया है, उसका परम सामर्थ्यके बिना वर्णन नहीं किया जा सकता। इनका वर्णन करनेवाला कोई जीवकोटिका पुरुष नहीं, परन्तु ईश्वरकोटिका ही पुरुष होना चाहिये, यह सुप्रतीति होती है।

* यह व्याख्यानसार श्रोतासे पुस्तकारूढ नहीं हो सका। — अनुवादक

१५१. मनभेद अथवा रूढ़ि आदि निर्जीव बातें हैं, अर्थात् उनमें मोक्ष नहीं है। इसलिये सचे प्रकारसे सत्यकी प्रतीति करनेकी आवश्यकता है।

१५२. शुभाशुभ और शुद्धाशुद्ध परिणामोंके ऊपर समस्त आचार रहता है। छोटी छोटी बातोंमें भी यदि दोष माना जाय तो वहाँ मोक्ष नहीं होती। लोक-रूढ़ि अथवा लोक-व्यवहारमें पड़ा हुआ जीव जो मोक्षतत्त्वका रहस्य नहीं जान सकता, उसका कारण यही है कि उसमें रूढ़िका अथवा लोकसंज्ञाका माहात्म्य मौजूद है। इससे वादर क्रियाका निषेध नहीं किया जाता। जो जीव कुछ भी न करते हुए एकदम अनर्थ ही अनर्थ किया करता है उसके लिये वादर क्रिया उपयोगी है। तो भी उससे यह कहनेका भी अभिप्राय नहीं है कि वादर क्रियासे आगे न बढ़ना चाहिये।

१५३. जीवको अपनी चतुराई और मरजीके अनुसार चलना मनको प्रिय लगता है, परन्तु वह जीवका बुरा करनेवाली वस्तु है। इस दोषके दूर करनेके लिये ज्ञानीका उपदेश है कि प्रथम किसीको उपदेश नहीं देना चाहिये, परन्तु पहिले तो स्वयं ही उपदेश, लेनेकी जरूरत है। जिसमें राग-द्वेष न हों, उसका सग हुए त्रिना सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। सम्यक्त्व प्राप्त होनेसे जीव बदल जाता है—जीवकी दशा बदल जाती है, अर्थात् वह प्रतिकूल हो तो अनुकूल हो जाती है। जिनभगवानकी प्रतिभा (शातभाजके लिये) का दर्शन करनेसे सातों गुणस्थानकमें रहनेवाली ज्ञानीकी जो शातदशा है, उसकी प्रतीति होती है।

१५४. जैनमार्गमें वर्तमानमें अनेक गच्छ प्रचलित हैं। उदाहरणके लिये तपगच्छ, अचल-गच्छ, लुकागच्छ, खरतरगच्छ इत्यादि। ये प्रत्येक गच्छ अपनेसे भिन्न पक्षालेको मिथ्यात्वी समझते हैं। इसी तरह दूसरे छहकोटि आठकोटि इत्यादि जो विभाग हैं, वे सब अपनेसे भिन्न कोटिवालेको मिथ्यात्वी मानते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो नौकोटि चाहिये। उसमेंसे जितनी कम हों उतना ही कम समझना चाहिये, और यदि उससे भी आगे जाय तो समझमें आता है कि नौकोटिके भी छोड़े बिना रास्ता नहीं है।

१५५. तीर्थंकर आदिने जो मार्ग प्राप्त किया वह मार्ग पामर नहीं है। रूढ़ीका थोड़ा भी जोड़ देना यह अत्यंत कठिन लगता है, तो फिर जीव महान् और महाभारत मोक्षमार्गको किस तरह ग्रहण कर सकेगा ? यह विचारणीय है।

१५६. मिथ्यात्व प्रकृतिके क्षय किये बिना सम्यक्त्व नहीं आता। जिसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय उसकी दशा अद्भुत रहती है। वहाँसे ५, ६, ७ और ८ वें में जाकर दो घड़ीमें मोक्ष हो सकता है। एक सम्यक्त्वके प्राप्त कर लेनेसे कैसा अद्भुत कार्य बन जाता है। इससे सम्यक्त्वकी चमत्कृति अथवा उसका माहात्म्य किसी अज्ञमें समझमें आ सकता है।

१५७. दुर्धर पुरुषार्थसे प्राप्त करने योग्य मोक्षमार्ग अनायास ही प्राप्त नहीं हो जाता। आत्म-ज्ञान अथवा मोक्षमार्ग किसीके शापसे अप्राप्त नहीं होते, अथवा किसीके आशीर्वादसे वे प्राप्त नहीं हो जाते। वे पुरुषार्थके अनुसार ही होते हैं, इसलिये पुरुषार्थकी जरूरत है।

१५८. सूत्र-सिद्धांत-शास्त्र सत्पुरुषके उपदेशके बिना फल नहीं देते। जो फेरफार हैं वह व्यन-

हार मार्गमें ही है। मोक्षमार्ग तो फेरफाररहित है—यह एक ही है। उसे प्राप्त करनेमें त्रिधिलताका निषेध किया गया है। वहाँ हिम्मत रखनी चाहिये। जीवको मूर्च्छारहित करना ही जम्बरी है।

१५९. निचारवान पुरुषको व्यवहारके फेरफारसे व्याकुल न होना चाहिये।

१६०. ऊपरकी भूमिकागाला नीचेकी भूमिकागालेकी बराबर नहीं है। परन्तु नीचेकी भूमिकागालेसे यह ठीक है। जीव स्वयं जिस व्यवहारमें हो, उससे यदि दूसरेका व्यवहार ऊँचा देखनेमें आवे, तो उस उच्च व्यवहारका निषेध नहीं करना चाहिये। क्योंकि मोक्षमार्गमें कुछ भी फेरफार नहीं है। तीनों कालमें किमी भी क्षेपमें जो एक ही समाप्त रहे वही मोक्षमार्ग है।

१६१. अन्यसे अन्य निवृत्ति करनेमें भी जीवको ठट्ठा मात्र ही होती है, तो फिर बेसी अनत प्रवृत्तियोंसे जो मिथ्यात्व होता है, उससे निवृत्ति प्राप्त करना यह कितना दुर्भर होना चाहिये? मिथ्यात्वकी निवृत्ति ही सम्यक्त्व है।

१६२. जीवाजीवकी विचाररूपसे तो प्रतीति की न गई हो, और कथनमात्र ही जीवाजीव है—यह कइना सम्यक्त्व नहीं है। तीर्थंकर आदिने भी इसका पूर्वमें आराधन किया है, इनसे उन्हें पहिलेसे ही सम्यक्त्व होता है। परन्तु दूसरोंको कुछ अमुक कुठमें, अमुक जातिमें, अमुक वर्गमें अथवा अमुक देशमें अतार लेनेसे जन्मसे ही वह सम्यक्त्व होता है, यह बात नहीं है।

१६३. विचारके बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञानके बिना सुप्रतीति अर्थात् सम्यक्त्व नहीं होता। सम्यक्त्वके बिना चारित्र नहीं होता, और जन्तक चारित्र न हो तन्तक जीव केवलज्ञान प्राप्त नहीं करता, और जन्तक जीव केवलज्ञान नहीं पाता तन्तक मोक्ष नहीं—यह देखनेमें आता है।

*१६४. देवका वर्णन। तत्त्व। जीवका स्वरूप।

१६५. कर्मरूपसे रहनेगाले परमाणु केवलज्ञानीको दृश्य होते हैं, इसके अतिरिक्त उनके लिये और कोई निश्चित नियम नहीं होता। परमाणुवालेको भी उनका दृश्य होना समझ है, और मन पर्यन्त-ज्ञानीको उनका अमुक देशसे दृश्य होना समझ है।

१६६. पदार्थोंमें अनन्त धर्म—गुण—आदि मौजूद रहते हैं। उनका अनन्तों भाग वचनसे कहा जा सकता है, और उसका अनन्तों भाग सूत्रमें उपनिबद्ध किया जा सकता है।

१६७. यथाप्रवृत्तिकरण, अनिवृत्तिकरण और अपूर्णकरणके बाद युजनकरण आर गुणकरण होते हैं। युजनकरणका गुणकरणसे क्षय किया जा सकता है।

१६८. युजनकरण अर्थात् प्रकृतिको योजन करना। तथा आत्माका गुण जो ज्ञान है, उससे दर्शन, और दर्शनसे चारित्र होना गुणकरण है, इस गुणकरणसे युजनकरणका क्षय किया जा सकता है। अमुक अमुक प्रकृति जो आत्मगुणकी निरोधक है उसका गुणकरणसे क्षय किया जा सकता है।

१६९. कर्मप्रकृति, उसके सूक्ष्मसे सूक्ष्म भाग, और उसके बध, उदय, उदीरणा, सन्नमण, सत्ता, और क्षयभाजका जो वर्णन किया गया है, उसका परम सामर्थ्यके बिना वर्णन नहीं किया जा सकता। इनका वर्णन करनेगाला कोई जीवकोटिका पुरुष नहीं, परन्तु ईश्वरकोटिका ही पुरुष होना चाहिये, यह सुप्रतीति होती है।

१७० किस किस प्रकृतिका किस रससे क्षय होना चाहिये ? किस प्रकृतिमें सत्ता है ? किसमें उदय होता है ? कौन सक्रमणसे है ? इत्यादिकी रचनाको कहनेवालेने, ऊपर कहे अनुसार 'प्रकृतिके स्वरूपको माप तोलकर ही कहा है'—इस उनकी परमज्ञानकी बातको यदि एक ओर रख दें तो भी, यह तो निश्चय होता है कि वह कथन करनेवाला ईश्वरज्ञोदिका ही पुरुष होना चाहिये ।

१७१. जातिस्मरणज्ञान मतिज्ञानके धारणा नामक भेदमें गर्भित होता है । वह पिछले भवको जान सकता है । जबतक पिछले भवमें असंज्ञापना न आया हो, तबतक वह आगे चल सकता है ।

१७२. (१) तीर्थकरने आज्ञा न दी हो, और जीव अपनी वस्तुके सिमाय परवस्तुका जो कुछ ग्रहण करता है, तो वह परका लिया हुआ और अदत्त ही गिना जाता है । उस अदत्तमेंसे तीर्थकरने परवस्तुकी जितनी ग्रहण करनेकी छूट दी है, उसको परवस्तु नहीं गिना जाता ।

(२) गुरुकी आज्ञानुसार किये गये आचरणके सत्रयमें अदत्त नहीं गिना जाता ।

१७३ उपदेशके मुख्य चार भेद हैं —

(१) द्रव्यानुयोग (२) चरणानुयोग (३) गणितानुयोग और (४) धर्मकथानुयोग ।

(१) लोकमें रहनेवाले द्रव्य, उनका स्वरूप, उनके गुण, धर्म, हेतु, अहेतु, पर्याय आदि अनतानत प्रकारोंका जिसमें वर्णन है, वह द्रव्यानुयोग है ।

(२) इस द्रव्यानुयोगका स्वरूप समझमें आनेके बाद, जिसमें आचरणसम्बन्धी वर्णन हो वह चरणानुयोग है ।

(३) द्रव्यानुयोग तथा चरणानुयोगकी गिनतीके प्रमाणका, तथा लोकमें रहनेवाले पदार्थ, भाव, क्षेत्र, काल आदिकी गिनतीके प्रमाणका जो वर्णन है वह गणितानुयोग है ।

(४) सत्पुरुषोंके धर्म-चरितकी कथायें—जिनका आश्रय लेनेसे वे गिरनेवाले जीवको अवलम्बनकारी होती हैं—धर्मकथानुयोग है ।

१७४ परमाणुमें रहनेवाले गुण स्वभावादि तो कायम रहते हैं, और पर्यायमें ही फेरफार होता है । उदाहरणके लिये पानीमें रहनेवाले शीत गुणमें फेरफार नहीं होता, परन्तु पानीमें जो तरंगें उठती हैं, उन्हींमें फेरफार होता है, अर्थात् वे एकके बाद एक उठकर उसमें समाती रहती हैं । इस तरह पर्यायावस्थाका ही अवस्थातर हुआ करता है, परन्तु इससे पानीमें रहनेवाली शीतलतामें अथवा स्वयं पानीमें परिवर्तन नहीं होता, वे तो कायम ही रहते हैं, और पर्यायरूप तरंगोंमें ही परिवर्तन हुआ करता है । तथा उस गुणकी हानि वृद्धिरूप जो फेरफार है वह भी पर्याय ही है । उसके निचारसे प्रतीति, प्रतीतिसे त्याग, और त्यागसे ज्ञान होता है ।

१७५ तैजस और कार्माण शरीर स्थूल देहके प्रमाण हैं । तैजस शरीर गरमी करता है, और यह आहारके पचानेका काम करता है । शरीरके अमुक अमुक अगके परस्पर रगड़नेसे जो वे गरम माद्वम होते हैं, सो वे तैजसके कारण ही माद्वम होते हैं । तथा सिरके ऊपर घृत आदि लगाकर शरीरकी परीक्षा करनेकी भी जो रूढ़ी प्रचलित है, उसका अर्थ भी यही है कि वह शरीर स्थूल शरीरमें है अथवा नहीं ? अर्थात् वह शरीर, स्थूल शरीरमें जीवकी तरह, समस्त शरीरमें रहता है ।

१७६ कार्माण शरीर भी इसी तरह है। वह तेजसकी अपेक्षा सूक्ष्म है। वह भी तेजसकी तरह रहता है। स्थूल शरीरके भीतर जो पाँड़ा होती है, अथवा जो क्रोध आदि होते हैं, वही कार्माण शरीर है। कार्माणसे क्रोध आदि होकर तेजोवैश्या आदि उत्पन्न होती हैं। यद्यपि वेदनाका अनुभव जीव ही करता है, परंतु जो वेदना होती है, वह कार्माण शरीरके कारण होती है। कार्माण शरीर जीवका अखंडवन है।

१७७ ऊपर कहे हुए चार अनुयोगोंके तथा उनके सूक्ष्म भागोंके स्वरूपका जीवको विचार करना योग्य है—समझना योग्य है। यह परिणाममें निर्जराका हेतु होता है, अथवा उससे निर्जरा होती है। चित्तकी स्थिरता करनेके लिये ही यह सप्त कहा गया है। कारण कि जीवने यदि सूक्ष्मसे सूक्ष्म स्वरूपको कुछ समझा हो तो उसके लिये बारबार विचार करना होता है, और उस विचारके करनेसे जीवकी वाचस्पृत्ति न होकर, वह विचार करनेतक भीतरकी भीतर ही समाई रहती है।

१७८ यदि जीवको अतिविचारका साधन न हो तो जीवकी वृत्ति बाह्य वस्तुके ऊपर जाकर, उससे तरह तरहके घाट घड़े जाते हैं। क्योंकि जीवको कोई अखंडवन तो चाहिये। उसे खाली बैठे रहना ठीक नहीं लगता, उसे ऐसी ही आदत पड़ गई है। इस कारण यदि उक्त पदार्थोंका ज्ञान हुआ हो तो उसके विचारके कारण, सत्चित्तवृत्ति बाहर निकलकर जानेके बदले, भीतर ही समा जाती है, और ऐसा होनेसे निर्जरा होती है।

१७९ पुद्गल परमाणु और उसकी पर्याय आदिकी सूक्ष्मताको, जितना वह वचनका नियम हो सकता है, उतना कहा गया है। वह इसलिये कि ये पदार्थ मूर्तिमान हैं—अमूर्तिमान नहीं। ये मूर्तिमान होनेपर भी इतने सूक्ष्म हैं कि उनका वारम्बार विचार करनेसे उनका स्वरूप समझमें आता है, और उनके उस तरह समझमें आनेसे, उससे सूक्ष्म अरूपी आत्मासन्धी ज्ञान करनेका काम सरल हो जाता है।

१८० मान और मत्ताग्रह ये मार्गप्राप्तिमें स्तम्भरूप हैं। उनका त्याग नहीं किया जा सकता, और इस कारण समझ भी नहीं आती। तथा समझ आनेमें विनय-भक्तिकी पहिले जरूरत पड़ती है। तथा वह भक्ति मान-मत्ताग्रहके कारण ग्रहण नहीं की जा सकती।

१८१ बाँचना, पूँटना, वारम्बार विचारना, चित्तमें निश्चय लाना और धर्मकथा। वेदात्ममें भी श्रवण मनन और निदिध्यासन ये भेद बताये हैं।

१८२ उत्तराध्ययनमें धर्मके मुख्य चार अंग कहे हैं—

(१) मनुष्यता (२) संपुरुषके वचनोंका श्रवण (३) उसकी प्रतीति और (४) धर्मका आचरण करना—ये चार वस्तुयें दुर्लभ हैं।

१८३ मिथ्यात्वके दो भेद हैं—व्यक्त और अव्यक्त। उसके तीन भेद भी किये गये हैं—उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य। जगतक उत्कृष्ट मिथ्यात्व रहता है तत्रतक जीव पहिले गुणस्थानकमेंसे बाहर नहीं निकलता। तथा जगतक उत्कृष्ट मिथ्यात्व होता है, तत्रतक वह मिथ्यात्व गुणस्थानक भी नहीं माना जाता। गुणस्थानक जीवके आश्रयसे होता है।

१८४ मिथ्यात्वके द्वारा मिथ्यात्व मद पड़ता है, और इस कारण जहाँ जरा आगे चले कि जीव तुरत ही मिथ्यात्व गुणस्थानकमें आ जाता है ।

१८५. गुणस्थानक आत्माके गुणको लेकर ही होता है ।

१८६ मिथ्यात्वमेंसे जीव एकदम न निकल्य हो, परन्तु यदि थोड़ा भी निकल गया हो, तो भी उससे मिथ्यात्व मद पड़ता है । यह मिथ्यात्व भी मिथ्यात्वके द्वारा मद होता है । मिथ्यात्व गुणस्थानकमें भी मिथ्यात्वका अंश जो कपाय होती है, उस अंशसे भी मिथ्यात्वमेंसे मिथ्यात्व गुणस्थानक हुआ कहा जाता है ।

१८७ प्रयोजनभूत ज्ञानके मूलमें—पूर्ण प्रतीतिमें—उसी तरहके मिलते जुलते अन्य मार्गकी सदृशताके अंशसे सदृशतारूप प्रतीति होना मिश्रगुणस्थानक है । परन्तु अमुक दर्शन सत्य है, और अमुक दर्शन भी सत्य है, इस तरह दोनोंके ऊपर एकसी प्रतीति रखना मिश्र नहीं, किन्तु मिथ्यात्व गुणस्थानक है । तथा अमुक दर्शनसे अमुक दर्शन अमुक अंशमें समान है—यह कहनेमें सम्यक्त्वको बाधा नहीं आती । कारण कि वहाँ तो अमुक दर्शनकी दूसरे दर्शनकी साथ समानता करनेमें पहिला दर्शन ही सम्पूर्णरूपसे प्रतीतिरूप होता है ।

१८८. पहिले गुणस्थानकसे दूसरेमें नहीं जाते, परन्तु चौथेसे पीछे फिरते हुए जब पहिलेमें आना रहता है, तब बीचका अमुक काल दूसरा गुणस्थानक कहा जाता है । उसे यदि चौथेके बाद पाँचवाँ गुणस्थानक माना जाय, तो जीव चौथेसे पाँचवेंमें चढ़ जाय, और यहाँ तो सास्वादनको चौथेसे पतित हुआ माना गया है । अर्थात् वह नीचे उतरता हुआ ही है, उसे पाँचवाँ नहीं कहा जा सकता, इसलिये उसे दूसरा ही कहना ठीक है ।

१८९ आनरण मौजूद है, यह बात तो सन्देह रहित है । इसे श्वेताम्बर और दिग्म्बर दोनो ही कहते हैं । परन्तु आनरणको साथ लेकर कथन करनेमें एक दूसरेमें कुछ थोड़ासा भेद आता है ।

१९० दिग्म्बर कहते हैं कि केवलज्ञान सत्तारूपसे नहीं, परन्तु शक्तिरूपसे रहता है ।

१९१ यद्यपि सत्ता और शक्तिका सामान्य अर्थ एक ही है, परन्तु विशेषार्थकी दृष्टिसे उसमें कुछ थोड़ासा फेर है ।

१९२ दृढ़रूपसे ओघ आस्थासे, निचारपूर्वक अभ्याससे ' निचारसहित आस्था ' होती है ।

१९३ तीर्थंकर जैसे भी सत्तारदशांशों विशेष सपृष्टिके स्वामी थे, फिर भी उन्हें त्याग करनेकी जरूरत पड़ी, तो फिर अन्य जीवोंको वैसा करनेके सिवाय कैसे छुटकारा हो सकता है ?

१९४ त्याग दो प्रकारका है—एक बाह्य और दूसरा अभ्यन्तर । बाह्य त्याग अभ्यन्तर त्यागका सहकारी है (त्यागके साथ वैराग्यको भी सम्मिलित किया जाता है, क्योंकि वैराग्य होनेपर ही त्याग होता है) ।

१९५ जीव ऐसा समझता है कि ' मैं कुछ समझता हूँ, और जब मैं त्याग करनेका निचार करूँगा तब एकदम त्याग कर सकूँगा, ' परन्तु यह मानना भूलसे भरा हुआ है । क्योंकि जबतक ऐसा प्रसंग नहीं आया, नभीतक अपना जोर रहता है । किन्तु जब ऐसा समय आता है तब जीव

शिथिल परिणामी होकर मद पड़ जाता है । इसलिये धीरे धीरे इस बातकी जाँच और परिचय करना चाहिये कि त्याग करते समय परिणाम कैसे शिथिल हो जाते हैं ?

१९६ आँख जीभ आदि इन्द्रियोंकी एक एक अगुल जगह जीतनी भी जिसे मुदिरुल हो जाती है, अथवा उसका जीतना असंभव हो जाता है, उसे यदि महान् पराक्रम करनेका अथवा महान् क्षेत्र जीतनेका काम सौंपा हो तो वह किस तरह जन सकता है ! इसलिये 'जब एकदम त्याग करनेका समय आयेगा तबकी बात तब रही'—इस विचारकी ओर लक्ष रखकर, हालमें तो धीरे धीरे त्यागकी कसरत करनेकी ही जगुरत है । उसमें भी प्रथम शरीर और शरीरके साथ सबंध रखनेवाले संगे सत्रधियोंकी जाँच करनी चाहिये, और शरीरमें भी प्रथम आँख जीभ और उपस्थ इन तीन इन्द्रियोंके नियमको देश देशसे त्याग करनेकी ओर लक्ष्य करना चाहिये, और उसके अभ्याससे त्याग एकदम सुगम हो जाता है ।

१९७ इस समय जाँच करनेके तौरपर अश अशसे जितना जितना त्याग करना है, उसमें भी शिथिलता न रखनी चाहिये । तथा रूढ़ीका अनुसरण करके त्याग करना भी ठीक नहीं । जो कुछ त्याग करना वह शिथिलतारहित द्वार दरवाजेरहित ही करना चाहिये, अथवा यदि कुछ द्वार-दरवाजे रखनेकी जरूरत हो तो उन्हें भी निश्चितरूपमें खुले हुए रखना चाहिये । परन्तु उन्हें इस तरह न रखना चाहिये कि उसका जिस समय जेसा अर्थ करना हो वैसा अर्थ हो सके । जिस समय जिसकी जरूरत पड़े, उस समय उसका अपनी इच्छानुसार अर्थ हो सके, ऐसी व्यवस्था ही त्यागमें न रखनी चाहिये । यदि इस तरहकी व्यवस्था की जाय कि अनिश्चितरूपसे अर्थात् जब जरूर पड़े तब मनवा-ठित अर्थ हो सके, तो जीव शिथिल-परिणामी होकर त्याग किया हुआ सत्र कुछ मिगाड डालता है ।

१९८ यदि अशसे भी त्याग करना हो तो उसकी पहिलेसे ही निश्चयरूपसे व्याख्या बाँधकर साक्षी रखकर त्याग करना चाहिये, तथा त्याग करनेके बाद अपनेको मनवाठित अर्थ नहीं करना चाहिये ।

१९९ ससारमें परिभ्रमण करानेवाली क्रोध, मान, माया और लोभकी चौकडीरूप कपाय है । उसका स्वरूप भी समझना चाहिये । उसमें भी जो अनतानुबन्धी कपाय है वह अनत ससारमें भटकानेवाली है । उस कपायके ज्ञय होनेका क्रम सामान्य रीतिसे इस तरह है कि पहिले क्रोध, फिर मान, फिर माया और फिर लोभका क्षय होता है, और उसके उदय होनेका क्रम सामान्य रीतिसे इस तरह है कि पहिले मान, और फिर क्रमसे लोभ, माया और क्रोधका उदय होता है ।

२०० इस कपायके असह्यात भेद हैं । जिस रूपमें कपाय होती है उसी रूपमें जीव ससार-परिभ्रमणके लिये कर्मबध करता है । कपायोंमें बढ़ासे बढ़ा त्रध अनतानुबन्धी कपायका है । जो अतर्मुहूर्तमें सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरकी आयुको बाँधती है, उस अनतानुबन्धीका स्वरूप भी जबरदस्त है । वह इस तरह कि क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार, मिथ्यात्वमोहरूपी राजाको बराबर सार-धानीसे सैन्यके मध्य भागमें रखकर उसकी रक्षा करते हैं, और जिस समय जिसकी जरूरत होती है उस समय वह बिना बुलाये ही मिथ्यात्वमोहनीयकी सेवा वजाने जुट पड़ता है । इसके पश्चात् उसका नौकरायरूप दूसरा परिवार है । वह कपायके अग्रभागमें रहकर मिथ्यात्वमोहनीयकी रखवाली करता है; परन्तु यह सत्र रखवाली करते हुए भी नहीं जैसी कपायका ही काम करता है । भटकाने-

१८४. मिथ्यात्वके द्वारा मिथ्यात्व मंद पड़ता है, और इस कारण जहाँ जरा आगे चले कि जीव तुरत ही मिथ्यात्व गुणस्थानकमें आ जाता है ।

१८५. गुणस्थानक आत्माके गुणको लेकर ही होता है ।

१८६. मिथ्यात्वमेंसे जीव एकदम न निकला हो, परन्तु यदि थोड़ा भी निकल गया हो, तो भी उससे मिथ्यात्व मंद पड़ता है । यह मिथ्यात्व भी मिथ्यात्वके द्वारा मंद होता है । मिथ्यात्व गुणस्थानकमें भी मिथ्यात्वका अंग जो कपाय होती है, उस अंशमें भी मिथ्यात्वमेंसे मिथ्यात्व गुण स्थानक हुआ कहा जाता है ।

१८७. प्रयोजनभूत ज्ञानके मूलमें—पूर्ण प्रतीतिमें—उसी तरहके मिलते जुलते अन्य मार्गकी सदृशताके अंशसे सदृशतारूप प्रतीति होना मिश्रगुणस्थानक है । परन्तु अमुक दर्शन सत्य है, और अमुक दर्शन भी सत्य है, इस तरह दोनोंके ऊपर एकसी प्रतीति रखना मिश्र नहीं, किंतु मिथ्यात्व गुणस्थानक है । तथा अमुक दर्शनसे अमुक दर्शन अमुक अंशमें समान है—यह कहनेमें सम्यक्त्वको बाधा नहीं आती । कारण कि वहाँ तो अमुक दर्शनकी दूसरे दर्शनकी साथ समानता करनेमें पहिला दर्शन ही सम्पूर्णरूपसे प्रतीतिरूप होता है ।

१८८. पहिले गुणस्थानकसे दूसरेमें नहीं जाते, परन्तु चौथेसे पीछे फिरते हुए जब पहिलेमें आना रहता है, तब बीचका अमुक काल दूसरा गुणस्थानक कहा जाता है । उसे यदि चौथेके बाद पाँचवाँ गुणस्थानक माना जाय, तो जीव चौथेसे पाँचवेंमें चढ़ जाय, और यहाँ तो सास्वादनको चौथेसे पतित हुआ माना गया है । अर्थात् वह नीचे उतरता हुआ ही है, उसे पाँचवाँ नहीं कहा जा सकता, इसलिए उसे दूसरा ही कहना ठीक है ।

१८९. आनरण मौजूद है, यह बात तो सन्देह रहित है । इसे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही कहते हैं । परन्तु आनरणको साथ लेकर कथन करनेमें एक दूसरेमें कुछ थोड़ासा भेद आता है ।

१९०. दिगम्बर कहते हैं कि केवलज्ञान सत्तारूपसे नहीं, परन्तु शक्तिरूपसे रहता है ।

१९१. यद्यपि सत्ता और शक्तिका सामान्य अर्थ एक ही है, परन्तु विशेषार्थकी दृष्टिसे उसमें कुछ थोड़ासा फेर है ।

१९२. दृढरूपसे ओघ आस्थासे, विचारपूर्वक अभ्याससे ' विचारसहित आस्था ' होती है ।

१९३. तीर्थंकर जैसे भी सत्तारदशांशों विशेष सद्बुद्धिके स्वामी थे, फिर भी उन्हें त्याग करनेकी जरूरत पड़ी, तो फिर अन्य जीवोंको वैसा करनेके सिवाय कैसे छुटकारा हो सकता है ?

१९४. त्याग दो प्रकारका है—एक बाह्य और दूसरा अभ्यन्तर । बाह्य त्याग अभ्यन्तर त्यागका सहकारी है (त्यागके साथ वैराग्यको भी सम्मिलित किया जाता है, क्योंकि वैराग्य होनेपर ही त्याग होता है) ।

१९५. जीव ऐसा समझता है कि ' मैं कुछ समझता हूँ, और जब मैं त्याग करनेका विचार करूँगा तब एकदम त्याग फर सकूँगा, ' परन्तु यह मानना भूलसे भरा हुआ है । क्योंकि जबतक ऐसा प्रसंग नहीं आया, तभीतक अपना जोर रहता है । किन्तु जब ऐसा समय आता है तब जीव

होनेसे आत्मा स्वभावाको छोड़कर आगे जाकर विशेषभावासे परिणमन करती है, वह विभावा है। इसी तरह जडके लिये भी समझना चाहिये।

२०६ कालके अणु लोक-प्रमाण असंख्यात हैं। उस अणुमें रूक्ष अथवा स्निग्ध गुण नहीं है। इससे एक अणु दूसरेमें नहीं मिल जाता, और हरेक जुदा जुदा रहता है। परमाणुके पुद्गलमें वह गुण होनेसे मूलसत्ताके मौजूद रहनेके कारण उसका—परमाणु पुद्गलका—स्वध होता है।

(२)

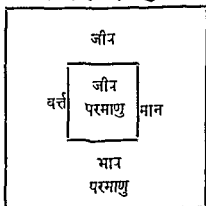
उत्पाद

व्यय

ध्रुव

} यह भाव एक वस्तुमें एक समयमें है।

जीव और परमाणुओंका



संयोग.

कोई जीव	एकेन्द्रियरूपसे पर्याय है	} वर्तमानभाव
”	दो इन्द्रियरूपसे ” है	
”	तीन इन्द्रियरूपसे ” है	
”	चार इन्द्रियरूपसे ” है	
”	पाँच इन्द्रियरूपसे ” है	
	संज्ञी	} वर्तमानभाव
	असंज्ञी	
	पर्याप्त अपर्याप्त	
	ज्ञानी	} वर्तमानभाव
	अज्ञानी	
	मिथ्यादृष्टि	} वर्तमानभाव
	सम्यग्दृष्टि	
	एक अश क्रोध	} वर्तमानभाव
	यानत अनत अश क्रोध	



चाली तो कपाय ही है, और उस कपायमें भी अनतानुसंधी कपायके चार योद्धा तो बहुत ही मार डालनेवाले हैं। इन चार योद्धाओंके बीचमें क्रोधका स्वभाव दूसरे अन्य तीनकी अपेक्षा कुछ जल्दी माद्धम हो जाता है। क्योंकि उसका स्वरूप सबकी अपेक्षा जल्दी ही माद्धम हो सकता है। इस तरह जब किसीका स्वल्प जल्दी माद्धम हो जाय, तो उस समय उसकी साथ लड़ाई करनेमें, क्रोधकी प्रतीति हो जानेसे, लड़नेकी हिम्मत होती है।

२०१. धनघाती चार कर्म—मोहनीय, ज्ञानानरणीय, दर्शनानरणीय और अतराय—जो आत्माके गुणोंको आरण करनेवाले हैं, उनका एक तरह क्षय करना सरल भी है। तथा वेदनीय आदि कर्म यद्यपि धनघाती नहीं हैं, तो भी उनका एक तरहसे क्षय करना दुष्कर है। वह इस तरह कि जब वेदनीय कर्मका उदय आये तो उसका क्षय करनेके लिये उसे भोगना ही चाहिये। उसे न भोगनेकी इच्छा हो तो भी वह इच्छा निरूपयोगी ही है—क्योंकि उसे तो भोगना ही चाहिये, और यदि ज्ञानानरणीयका उदय हो तो वह प्रयत्न करनेसे क्षय हो जाता है। उदाहरणके लिये, कोई श्लोक यदि ज्ञानानरणीयके उदयसे याद न रहता हो तो उसे दोवार, चारवार, आठवार, सोलहवार, बत्तीसवार, चौंसठवार, सौवार, अर्थात् उसे अधिकवार याद करनेसे ज्ञानानरणीयका क्षयोपशम अथवा क्षय होकर वह श्लोक याद रहता है, अर्थात् बलवान होनेके कारण ज्ञानानरणीयका उसी भयमें अमुक अशमें क्षय किया जा सकता है। यही बात दर्शनानरणीय कर्मके सबधमें भी समझनी चाहिये। महाप्रलयान मोहनीय कर्म भी इसी तरह शिथिल होता है—उसका तुरत ही क्षय किया जा सकता है। जैसे उसका आगमन—प्रवाह—आनेमें जबर्दस्त है, उसी तरह वह जल्दीसे दूर भी हो सकता है। मोहनीय कर्मका तीव्र बध होता है, तो भी वह प्रदेशत्रय न होनेसे उसका तुरत ही क्षय किया जा सकता है। तथा नाम आयु आदि कर्मका जो प्रदेशबध होता है, वह केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् अतत्क भोगना पड़ता है, जब कि मोहनीय आदि चार कर्म उसके पहिले ही क्षय हो जाते हैं।

२०२ उन्मत्तता यह चारित्रमोहनीयकी विशेष पर्याय है। वह क्वचित् हास्य, क्वचित् शोक, क्वचित् रति, क्वचित् अरति, क्वचित् भय, और क्वचित् सुगुप्सारूपसे माद्धम होती है। कुछ अंशसे उसका ज्ञानानरणीयमें भी समावेश होता है। स्वप्नमें विशेषरूपसे ज्ञानानरणीय-पर्याय ही माद्धम होती है।

२०३ 'सज्ञा' यह ज्ञानका भाग है। परन्तु परिग्रहसज्ञा लोभप्रकृतिमें गर्भित होती है। आहारसज्ञा वेदनीयमें गर्भित होती है, और भयसज्ञा भयप्रकृतिमें गर्भित होती है।

२०४ अनत प्रकारके कर्म मुख्य आठ प्रकारसे प्रकृतिके नामसे कह जाते हैं। वह इस तरह कि अमुक अमुक प्रकृति, अमुक अमुक गुणस्थानकतक होती है। इस तरह माप तोलकर ज्ञानीदिनेने दूसरोंके समझानेके लिये स्थूलरूपसे उसका विवेचन किया है। उसमें दूसरे कितने ही तरहके कर्म अर्थात् 'कर्मप्रकृति'का समावेश होता है, अर्थात् जिस प्रकृतिके नाम कर्मप्रथमें नहीं आते, वह प्रकृति ऊपर बताई हुई प्रकृतिकी ही विशेष पर्याय है, अथवा वह ऊपर बताई हुई प्रकृतिमें गर्भित हो जाती है।

—२०५ विभावका अर्थ विस्मयभाव नहीं, किन्तु उसका अर्थ विशेषभाव होता है। आत्मा जो आत्मारूपसे परिणमन करती है वह भाव अथवा स्वभाव है। तथा जब आत्मा और जडका संयोग

इसलिये “ चित्रे उदय प्रयोग ” ऐसा कहा है । सम्पूर्ण निज अनुभवरूप उनकी वाणी, अज्ञानीकी वाणीसे मिलक्षण और एकात आत्मार्थकी बोधक है, इस कारण उनमें वाणीकी अपूर्वता कही है, जो उनके वचनातिशयको सूचन करता है । वाणीधर्ममें रहनेवाला श्रुत भी उनमें ऐसी सापेक्षतासे रहता है कि जिससे कोई भी नय खडित न हो, यह उनके परमश्रुत गुणको सूचित करता है, और जिनमें परमश्रुत गुण रहता है, वे पूजनीय है, इससे उनके पूजातिशय गुणका सूचन होता है ।

ये श्रीजिन अरिहत्त तीर्थंकर, परमसद्गुरुकी भी पहिचान करानेवाले विद्यमान सर्वरिति सद्गुरु हैं, इसलिये मुरयतया इन सद्गुरुको लक्ष्य करके ही इन लक्षणोंको बताया है ।

(२) समदर्शिता अर्थात् पदार्थमें इष्टानिष्टबुद्धिरहितपना, इच्छारहितपना और ममत्वरहितपना । समदर्शिता चारित्रदशाका सूचन करती है । राग-द्वेषरहित होना यह चारित्रदशा है । इष्टानिष्टबुद्धि ममत्व और भावाभावाका उत्पन्न होना राग-द्वेष है । ‘ यह मुझे प्रिय है, यह मुझे अच्छा लगता है, यह मुझे अप्रिय है, यह मुझे अच्छा नहीं लगता ’—ऐसे भाव समदर्शोंमें नहीं होते ।

समदर्शों चाह्य पदार्थोंको ओर उनकी पर्यायोंको, वे पदार्थ और पर्याय जिस भावसे रहते हैं, उहे उसी भावसे देखता है, जानता है और कहता है, परन्तु वह उन पदार्थोंमें अथवा उनकी पर्यायोंमें ममत्व अथवा इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करता ।

आत्माका स्वाभाविक गुण देखना-जानना है, इसलिये वह ज्ञेय पदार्थको देखती जानती है, परन्तु जिस आत्माको समदर्शिता प्रगट हो गई है, वह आत्मा उस पदार्थको देखते जानते हुए भी, उसमें ममत्वबुद्धि, तादात्म्यभाव और इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करती । निपमदृष्टि आत्माको ही पदार्थमें तादात्म्यवृत्ति होती है—समदृष्टि आत्माको नहीं होती ।

कोई पदार्थ काला हो तो समदर्शों उसे काला ही देखता जानता और कहता है । कोई पदार्थ सफेद हो तो वह उसे वैसा ही देखता जानता ओर कहता है । कोई पदार्थ सुगंधित हो तो उसे वह वैसा ही देखता जानता ओर कहता है, कोई दुर्गंधित हो तो उसे वह वैसा ही देखता जानता ओर कहता है । कोई ऊँचा हो, कोई नीचा हो, तो उसे वह वैसा ही देखता जानता और कहता है । वह सर्पको सर्पकी प्रकृतिरूपसे देखता जानता और कहता है, और बाघको बाघकी प्रकृतिरूपसे देखता जानता ओर कहता है । इत्यादि प्रकारसे वस्तुमात्र जिस रूपसे जिस भावसे होती है, समदर्शों उसे उसी रूपसे, उसी भावसे देखता जानता ओर कहता है । वह हेय (छोड़ने योग्य) को हेयरूपसे देखता जानता ओर कहता है, और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) को उपादेयरूपसे देखता जानता ओर कहता है । परन्तु समदर्शों-जीन उन सबमें अपनापन, इष्टानिष्टबुद्धि ओर राग-द्वेष नहीं करता । सुगंध देखकर वह उसमें प्रियता नहीं करता, दुर्गंध देखकर वह उसमें अप्रियता—दुगुळा—नहीं करता । व्यग्रहारेमें कुछ अच्छा गिना जाता हुआ देखकर, वह ऐसी इच्छाबुद्धि (राग रति) नहीं करता कि यह मुझे मिल जाय तो ठीक है । तथा व्यवहारमें कुछ खराब समझा जाता हुआ देखकर, वह ऐसी अनिच्छाबुद्धि (द्वेष-अरति) नहीं करता कि यह मुझे न मिले तो ठीक है । प्राप्त स्थितिमें-सभोगमें-अच्छा बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, इष्टानिष्टबुद्धि, आजुलता व्याकुलता न करते हुए, उसमें समवृत्तिसे, अर्थात् अपने निज स्वभावसे, रागद्वेष-रहित भावसे रहना ही समदर्शिता है ।

(३)

प्रश्न— आत्मज्ञान समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग,
अपूर्ववाणी परमश्रुत, सद्गुरु लक्षण योग्य ।

(१) सद्गुरुके योग्य ये लक्षण मुरयतया कौनसे गुणस्थानकमें सभ्य हैं ?

(२) समदर्शिता किसे कहते हैं ?

उत्तर—(१) सद्गुरुके योग्य जो इन लक्षणोंको बताया है, वे लक्षण मुरयतया—निशेषरूपसे—
उपदेशक अर्थात् मार्गप्रकाशक सद्गुरुके ही लक्षण कहे हैं । तथा उपदेशक गुणस्थानक छद्म और तेरहवें
है, बीचके सातवेंसे बारहत्तकके गुणस्थान अल्पकालवर्ती हैं, अर्थात् उनमें उपदेशक प्रवृत्ति सभ्य
नहीं है । मार्गोपदेशक प्रवृत्ति छठेसे आरभ होती है ।

छठे गुणस्थानकमें संपूर्ण वीतरागदशा और केवलज्ञान नहीं है, वह तो तेरहवेंमें है, और
यथावत् मार्गोपदेशकत्व तो तेरहवें गुणस्थानमें रहनेवाले सम्पूर्ण वीतराग और कैवल्यसंपन्न परमसद्गुरु श्री-
जिनतीर्थकर आदिमें ही घटता है । तथापि छठे गुणस्थानमें रहनेवाला मुनि, जो सम्पूर्ण वीतरागता
और कैवल्यदशाका उपासक है, जिसकी उस दशाके लिये ही प्रवृत्ति-पुरुषार्थ-रहता है, जिसने उस
दशाको यद्यपि सम्पूर्ण रूपसे नहीं पाया, फिर भी जिसने उस सम्पूर्ण दशाके पानेके मार्गसाधनको, स्वयं
परम सद्गुरु श्रीतीर्थकर आदि आत्मपुरुषके आश्रय-वचनसे जाना है—उसकी प्रतीति की है, अनुभव
किया है, ओर इस मार्ग-साधनकी उपासनासे जिसकी वह उत्तरोत्तर दशा निशेष प्रगट होती जाती है,
तथा जिसके निमित्तसे श्रीजिनतीर्थकर आदि परम सद्गुरुकी और उनके स्वरूपकी पहिचान होती है—
उस सद्गुरुमें भी मार्गोपदेशकत्व अनिरोधरूपसे रहता है ।

उससे नीचेके पाँचवें ओर चौथे गुणस्थानकमें तो मार्गोपदेशकत्व सभ्य ही नहीं । क्योंकि
वहाँ मार्गकी, आत्माकी, तत्त्वकी और ज्ञानकी पहिचान नहीं, प्रतीति नहीं, तथा सम्यक्विरति नहीं,
और यह पहिचान—प्रतीति—और सम्यक्विरति न होनेपर भी उसकी प्ररूपणा करना, उपदेशक
होना, यह प्रगट मिथ्यात्व, कुगुरुपना ओर मार्गका विरोधरूप है ।

चौथे पाँचवें गुणस्थानमें यह पहिचान—प्रतीति—रहती है, ओर वहाँ आत्मज्ञान आदि गुण अशसे
ही रहते हैं, और पाँचवेंमें देशविरतिभाजको लेकर यद्यपि चौथेकी अपेक्षा निशेषता है, तथापि वहाँ
सर्वविरतिके जितनी विशुद्धि नहीं है ।

आत्मज्ञान समदर्शिता आदि जो लक्षण बताये हैं, उन्हें मुख्यतासे संयतिधर्ममें स्थित, वीतराग-
दशाके साधक, उपदेशक गुणस्थानमें रहनेवाले सद्गुरुको लक्ष्य करके ही बताया है, ओर उनमें वे
गुण बहुत अशसे रहते भी हैं । तथापि ये लक्षण सर्वांशसे—संपूर्णरूपसे—तो तेरहवें गुणस्थानमें
रहनेवाले सम्पूर्ण वीतराग और कैवल्यसंपन्न जीवन्मुक्त सयोगकेवली परमसद्गुरु श्रीजिन अरहत तीर्थकरमें
ही रहते हैं । क्योंकि उनमें आत्मज्ञान अर्थात् स्वरूपस्थिति संपूर्णरूपसे रहती है, जो उनकी ज्ञानदशा
अर्थात् ज्ञानातिशयको सूचन करता है । तथा उनमें समदर्शिता संपूर्णरूपसे रहती है, जो उनकी वीतराग
चारित्र्यदशा अर्थात् अपायागमातिशयको सूचित करता है । तथा वे संपूर्णरूपसे इच्छारहित हैं इसलिये
उनकी विचरने आदिकी देहिक आदि योगक्रियायें पूर्वप्रारब्धका वेदन करनेके लिये पर्याप्त ही हैं,

७५५

ॐ नमः

केवलज्ञान—

एक ज्ञान
सर्व अन्य भावोंके ससर्गसे रहित एकात शुद्धज्ञान
सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भावका सप्त प्रकारसे एक
समयमें ज्ञान
उस केवलज्ञानका हम ध्यान करते हैं
यह निजस्वभावरूप है

यह स्वतन्त्रभूत है
निरावरण है
भेदरहित है
निर्विकल्प है
सर्वभावका उत्कृष्ट प्रकाशक है

७५६

मैं केवलज्ञानस्वरूप हूँ—यह सम्यक् प्रतीत होता है ।

वैसे होनेके हेतु सुप्रतीत है ।

सर्व इन्द्रियोंका समय कर, सर्व परद्रव्योंसे निजस्वरूपको व्यावृत्त कर, योगको अचल कर, उपयोगसे उपयोगकी एकता करनेसे केवलज्ञान होता है ।

७५७

आकाशवाणी.

तप करो । तप करो । शुद्ध चैतन्यका ध्यान करो । शुद्ध चैतन्यका ध्यान करो ।

७५८

मैं एक हूँ, असग हूँ, सर्व परभावोंसे मुक्त हूँ । मैं असह्यात प्रदेशात्मक निज अग्राहना प्रमाण हूँ ।

मैं अजम, अजर, अमर, शाश्वत हूँ । मैं स्वपर्याय परिणामी समयात्मक हूँ ।

मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप मात्र निर्विकल्प द्रष्टा हूँ ।



साता-असाता, जीवन-मृत्यु, सुगन्ध-दुर्गन्ध, सुस्वर-दुस्वर रूप-कुरूप, शीत-उष्ण आदिमें हर्ष-शोक, रति-अरति, इष्टानिष्टबुद्धि और आर्तध्यान न रहना ही समदर्शिता है ।

समदर्शिमें हिंसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रहका त्याग अत्रय होता है । यदि अहिंसादि व्रत न हों तो समदर्शिता सम्य नहीं । समदर्शिता और अहिंसादि व्रतोंका कार्यकारण, अग्निनाभानी और अन्योन्याश्रयसत्रय है । यदि एक न हो तो दूसरा नहीं होता, और यदि दूसरा न हो तो पहिला नहीं होता ।

समदर्शिता हो तो अहिंसा आदि व्रत होते हैं ।

समदर्शिता न हो तो अहिंसा आदि व्रत नहीं होते ।

अहिंसा आदि व्रत न हों तो समदर्शिता नहीं होती ।

अहिंसा आदि व्रत हों तो समदर्शिता होती है ।

जितने अशमें समदर्शिता होती है, उतने ही अशमें अहिंसा आदि व्रत होते हैं, और जितने अशमें अहिंसा आदि व्रत होते हैं, उतने ही अशमें समदर्शिता होती है ।

सद्गुरुयोग्य लक्षणरूप समदर्शिता तो मुख्यतया सर्गिरति गुणस्थानकमें होती है । बादके गुणस्थानकमें वह उत्तरोत्तर वर्धमान होती जाती है—निशेष प्रगट होती जाती है । तथा क्षीणमोह गुणस्थानमें उसकी पराकाष्ठा, और बादमें सम्पूर्ण वीतरागता होती है ।

समदर्शिताका अर्थ लौकिकभारमें समानभार, अभेदभार, एकसमान बुद्धि और निर्विशेषपना नहीं है । अर्थात् कौंच और हीरे दोनोंको एकभा समझना, अथवा सश्रुत और असश्रुतमें समानभाव मानना, अथवा सद्धर्म और असद्धर्ममें अभेद समझना, अथवा सद्गुरु और असद्गुरुमें एकसी बुद्धि रखना, अथवा सदेव और असदेवमें निर्विशेषभार दिखाना—अर्थात् दोनोंको एकसमान समझना इत्यादि समानवृत्तिको समदर्शिता नहीं कहते, यह तो आत्माकी मूढ़ता, निवेकशून्यता, और निवेकनिकलता है । समदर्शी सत्को सत् जानता है, सत्का बोध करता है, असत्को असत् जानता है, असत्का निषेध करता है, सश्रुतको सश्रुत समझता है, उसका बोध करता है, कुश्रुतको कुश्रुत जानता है, उसका निषेध करता है, सद्धर्मको सद्धर्म जानता है, उसका बोध करता है, असद्धर्मको असद्धर्म जानता है, उसका निषेध करता है, सद्गुरुको सद्गुरु समझता है, उसका बोध करता है, असद्गुरुको असद्गुरु समझता है, उसका निषेध करता है, सदेवको सदेव समझता है, उसका बोध करता है, असदेवको असदेव समझता है, उसका निषेध करता है—इत्यादि जो जैसा होता है, जो उसे वैसा ही देखता है, जानता है, उसका प्ररूपण करता है, और उसमें राग-द्वेष इष्टानिष्टबुद्धि नहीं करता, उसे समदर्शी समझना चाहिये । ॐ

७५४

मोरवी, चैत्र वदी १२ रति १९५४

(१) कर्मप्रथ, गोमटसार शास्त्र आदिसे अततक विचारने योग्य हैं ।

(२) दु पमकालका प्रखल राज्य विद्यमान है । तो भी अडग निश्चयसे सत्पुरुषकी आज्ञामें वृत्ति लगाकर, जो पुरुष अगुप्त वीर्यसे सम्पन्नान दर्शन और चारित्रकी उपासना करना चाहते हैं, उन्हें परमशाक्तिका मार्ग अर्भ भी प्राप्त हो सकता है ।

६ जिस तरह आकाशमें विश्वका प्रवेश नहीं—आकाश सर्व भावोंकी वासनासे रहित ही है, उसी तरह सम्यग्दृष्टि पुरुषोंने, सर्व द्रव्योंसे भिन्न, सर्व अय पर्यायोंसे रहित ही आत्माको प्रत्यक्ष देखा है ।

७ जिसकी उत्पत्ति अन्य किसी भी द्रव्यसे नहीं होती, उस आत्माका नाश भी कहाँसे हो सकता है ?

८ अज्ञानसे और निजस्वरूपके प्रति प्रमादसे, आत्माको केवल मृत्युकी भ्रांति ही है । उस भ्रान्तिको निवृत्त कर, शुद्धचैतन्य निजअनुभूत प्रमाणस्वरूपमें परम जाग्रत होकर, ज्ञानी सदा ही निर्भय रहता है । इसी स्वरूपके लक्षसे सन जीवोंके प्रति साम्यभावात् उत्पन्न होता है, और सर्व परद्रव्योंसे वृत्तिको व्यावृत्त कर, आत्मा हे शरहित समाधिको पाती है ।

९ परमसुखस्वरूप, परमोत्कृष्ट शांत, शुद्धचैतन्यस्वरूप समाधिको जिसने सर्व कालके लिये प्राप्त किया, उन भगवान्को नमस्कार हो ! उस पदमें निरंतर लक्षरूप जिनका प्रगाह है, उन सत्पुरुषोंको नमस्कार हो !

१०. सनसे सन प्रकारसे मैं भिन्न हूँ, मैं एक केवल शुद्धचैतन्यस्वरूप, परमोत्कृष्ट अचित्तियसुख-स्वरूप, मात्र एकांत शुद्धअनुभूतरूप हूँ । फिर वहाँ निक्षेप क्या ? निकल्प क्या ? भय क्या ? खेद क्या ? दूसरी अवस्था क्या ? मैं शुद्ध शुद्ध प्रकृष्ट शुद्ध परमशान्त चैतन्य हूँ, मैं मात्र निमित्तरूप हूँ, निजस्वरूपमय उपयोग करता हूँ, तमय होता हूँ । ॐ शांति शांति शांति ।

७६१

बनाणीआ, ज्येष्ठ सुदी ६ गुरु १९५४

महान् गुणनिष्ठ स्थिर आर्य श्रीङ्गर ज्येष्ठ सुदी ३ सोमवारकी रात्रिको नौ बजे समाधिसहित देह-मुक्त हो गये ।

७६२

बम्बई, ज्येष्ठ वदी ४ बुध १९५४

ॐ नमः

जिससे मनकी वृत्ति शुद्ध और स्थिर हो, ऐसे सत्समागमका प्राप्त होना बहुत दुर्लभ है । तथा उसमें भी यह दुःपमकाल होनेसे जीवको उसका विशेष अन्तराय है । जिस जीवको प्रत्यक्ष सत्समागमका विशेष लाभ प्राप्त हो वह महत्पुण्यमान है । सत्समागमके वियोगमें सत्शास्त्रका सदाचारपूर्वक परिचय अवश्य करना चाहिये ।

७६३

बम्बई, ज्येष्ठ वदी १४ शनि १९५४

नमो वीतरागाय.

मुनियोंके समागममें ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण करनेके स्वधमें यथासुख प्रवृत्ति करना, प्रतिबन्ध नहीं । मुनियोंको जिनस्मरण पहुँचे ।

७५९

वनाणीआ, ज्येष्ठ १९५४

१ देहसे भिन्न स्वपरप्रकाशक परम ज्योतिस्वरूप ऐसी इस आत्मामें निमग्न होओ ।

हे आर्यजनो ! अतर्मुख होकर, स्थिर होकर, उस आत्मामें ही रहो, तो अनत अपार आनन्दका अनुभव करोगे ।

२ सर्व जगत्के जीव कुठ न कुठ पाकर सुख पानेकी ही इच्छा करते हैं । महान् चक्रवर्ती राजा भी बढ़ते हुए वैभवं और परिग्रहके सकल्पमें प्रयत्नशील रहते हैं, और वे उसके प्राप्त करनेमें ही सुख समझते हैं । परन्तु अहो ! ज्ञानियोंने तो उससे निरपेक्ष ही सुखका मार्ग निर्णय किया है, कि किंचित् मात्र भी ग्रहण करना यही सुखका नाश है ।

३ निपयसे जिसकी इन्द्रियाँ आर्च हैं, उसे शीतल आत्मसुख—आत्मत्व—कहाँसे प्रतीतिमें आ सकता है ?

४ परमधर्मरूप चन्द्रके प्रति राहु जैसे परिग्रहसे अब मैं निरक्ति लेनेकी ही इच्छा करता हूँ । हमे परिग्रहका क्या करना है? हमें उसका कुठ भी प्रयोजन नहीं ।

५ 'जहाँ सर्वोत्कृष्ट शुद्धि है वहाँ सर्वोत्कृष्ट सिद्धि है'—हे आर्यजनो ! तुम इस परम वाक्यका आत्मरूपसे अनुभव करो ।

७६०

वनाणीआ, ज्येष्ठ सुदी १ शनि १९५४

१ सर्व द्रव्यसे, सर्व क्षेत्रसे, सर्व कालसे और सर्व भागसे जो सर्व प्रकारसे अप्रतिबद्ध होकर निजस्वरूपमें स्थित हो गये, उन परम पुरुषोंको नमस्कार हो ।

२. जिसे कुठ प्रिय नहीं, जिसे कुठ अप्रिय नहीं, जिसका कोई शत्रु नहीं, जिसका कोई मित्र नहीं, जिसने मान, अपमान, लाभ, अलाभ, हर्ष शोक, जन्म, मृत्यु आदिके द्वन्द्वका अभाव कर, शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें स्थिति पाई है, पाता है और पावेगा, उसका अति उत्कृष्ट पराक्रम आनन्दसहित आश्चर्य उत्पन्न करता है ।

३ देहके प्रति जैसा बखका सबंध है, वैसा ही आत्माके प्रति जिसने देहके सबंधको याथातथ्य देखा है, जैसे म्यानके प्रति तलवारका सबंध है, वैसा ही देहके प्रति जिसने आत्माके सबंधको देखा है, तथा जिसने आत्माको अबद्ध—स्पष्ट—अनुभव किया है, उन महान् पुरुषोंको जीवन और मरण दोनों समान है ।

४ जो अचिन्त्य द्रव्यकी शुद्धचित्तिस्वरूप काति, परम प्रगट होकर उसे अचिन्त्य करती है, वह अचिन्त्य द्रव्य सहज स्वाभाविक निजस्वरूप है, ऐसा निश्चय जिस परम कृपालु सत्पुरुषने प्रकाशित किया, उसका अपार उपकार है ।

५ चंद्र भूमिका प्रकाश करता है—उसकी किरणोंकी कातिके प्रभाजसे समस्त भूमि श्वेत हो जाती है, परन्तु चन्द्र कभी भी भूमिरूप नहीं होता । इसी तरह समस्त विद्वन्की प्रकाशक आत्मा कभी भी विद्वन्रूप नहीं होती, वह सदा—सर्वदा—चैतन्यरूप ही रहती है । विद्वन्में जीव जो अभेदबुद्धि मानता है, यही भ्रान्ति है ।

(४) पुण्य पाप और आयु ये एक दूसरेको नहीं दिये जा सकते । उन्हें हरेक अपने आप ही भोगता है ।

(५) स्रच्छदसे, अपनी मतिकी कल्पनासे और सद्गुरुका आज्ञाके बिना ध्यान करना तरगरूप है, और उपदेश व्याख्यान करना अभिमानरूप है ।

(६) देहधारी आत्मा पथिक है, और देह वृक्ष है । इस देहरूपी वृक्षमें (वृक्षके नीचे) जीवरूपी पथिक—रास्तागिर—त्रिश्रान्ति लेने बैठा है । वह पथिक यदि वृक्षको ही अपना मानने लगे तो यह कैसे बन सकता है ?

(७) सुदरनिलास सुदर—श्रेष्ठ—प्रथ है । उसमें जहाँ कहीं कमी—भूल—है उसे हम जानते हैं । उस कमीको दूसरेको समझाना मुश्किल है । उपदेशके लिये यह प्रथ उपकारी है ।

(८) उह दर्शनोंके ऊपर दृष्टात — उह भिन्न भिन्न वेदोंकी दुकान लगी है । उनमें एक वेद्य सम्पूर्ण सच्चा है, और वह सत्र रोगोंको, उनके कारणोंको और उनके दूर करनेके उपायोंको जानता है । तथा उसकी निदान चिकित्सा सची होनेसे रोगीका रोग निर्मूल हो जाता है । वैद्य कमाता भी अच्छा है । यह देखकर दूसर पाँच कुनैच भी अपनी अपनी दुकान खोलते हैं । परन्तु जहाँतक उनके पास सच्चे वेद्यके घरकी दवा होती है, जहाँतक तो वे रोगीका रोग दूर करते हैं, और जत्र वे अपनी अय किमी कल्पनासे अपने घरकी दवा देते हैं, तो उससे उल्टा रोग बढ़ जाता है । तथा वे सस्ती दवा देते हैं, इससे लोभके मारे लोग उसे लेनेके लिये बहुत ललचाते हैं, परन्तु उससे उन्हें उल्टा नुकसान ही होता है ।

इमका उपनय यह है कि सच्चा वेद्य वीतरागदर्शन है, जो सम्पूर्ण सत्यस्वरूप है । वह मोहनिषय आदिको राग-द्वेषको और हिंसा आदिको सम्पूर्णरूपसे दूर करनेके लिये कहता है, जो वात पराधीन रोगीको मँहगी पड़ती है—अच्छी नहीं लगती । तथा जो अय पाँच कुनैच है, वे कुदर्शन हैं । वे जहाँतक वीतरागके घरकी बातें करते हैं, जहाँतक तो उनकी रोग दूर करनेकी बात ठीक है, परन्तु साथ साथ वे जो हिंसा आदि धर्मके बहाने, मोहकी ससार-वृद्धिकी और मिथ्यात्वकी बातें करते हैं, वह उनकी अपनी निजी कल्पनाकी ही बात है, और वह ससाररूप रोग दूर करनेके बदले उसकी वृद्धिका ही कारण होती है । नियमों रचे पचे पामर ससारियोंको मोहकी बातें मीठी लगती हैं—सस्ती पड़ती हैं, इसलिये वह कुनैचकी तरफ आकर्षित होता है, परन्तु परिणाममें वह अधिक ही रोगी पड़ता है ।

वीतरागदर्शन त्रिषयके समान है — वह रोगीको दूर करता है, निरोगीको रोग होनेके लिये दवा देता नहीं, और आरोग्यकी पुष्टि करता है । अर्थात् वह जीवका सम्यग्दर्शनसे मिथ्यात्व दूर करता है, सम्यग्ज्ञानसे जीवको रोगका भोग होनेसे बचाता है, और सम्यक्चारित्रसे सम्पूर्ण शुद्ध चेतनारूप आरोग्यकी पुष्टि करता है ।

७६७ वसो (गुजरात), प्रथम आसोज सुदी ६ सुध १९५४

१. श्रीमत् वीतराग भगवतोंका निश्चित किया हुआ अचिन्त्य चिन्तामणिस्वरूप, परम हित-

७६४

वन्वई; आपाङ सुदी ११ गुरु १९५४

ॐ

अनत अंतराय होनेपर भी धीर रहकर जिस पुरुषने अपार मोहजालको पार किया, उन श्री-भगवान्को नमस्कार है !

अनतकालसे जो ज्ञान सत्सारका हेतु होता था, उस ज्ञानकी एक समयमात्रमें जात्यतर करके, जिसने उसे भग्ननिवृत्तिरूप किया, उस कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शनको नमस्कार है !

निवृत्तियोगमें सत्समागमकी वृत्ति रखना योग्य है ।

७६५

मोहमयी, श्रावण सुदी १५ सोम १९५४

१. मोक्षमार्गप्रकाश ग्रन्थके विचारनेके बाद कर्मग्रन्थ विचारनेसे अनुकूल पड़ेगा ।

२. दिगम्बर सम्प्रदायमें द्रव्यमनको आठ पाखडीका कहा है । श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उस बातकी विशेष चर्चा नहीं की । योगशास्त्रमें उसके अनेक प्रसंग हैं । समागममें उसका स्वरूप जानना सुगम हो सकता है ।

७६६

कनिठा, श्रावण वदी १२ शनि १९५४

ॐ नमः

तुमने अपनी वृत्ति हालमें समागममें आनेके सन्धमें प्रगट की, उसमें तुम्हें अंतराय जैसा हुआ, क्योंकि इस पत्रके पहुँचनेके पहिले ही लोगोंमें पर्यूपणका प्रारम्भ हुआ समझा जायगा । इस कारण तुम यदि इस ओर आओ, तो गुण-अगुणका विचार किये बिना ही मताग्रही लोग निंदा करेंगे, और उस निमित्तको ग्रहण कर, वे बहुतेम जीवोंको उम निन्दाद्वारा, परमार्थकी प्राप्ति होनेमें अंतराय उत्पन्न करेंगे । इस कारण जिससे वैसा न हो उसके लिये, तुम्हें हालमें तो पर्यूपणमें बाहर न निकलनेसन्धी लोकपद्धतिकी ही रक्षा करना चाहिये ।

वैराग्यशतक, आनन्दघनचौबीसी, भगवद्गीता आदि पुस्तकोंका जितना बाँचना विचारना बने, उतना निवृत्तिका लाभ लेना । प्रमाद और लोकपद्धतिमें ही कालको सर्वथा ब्रथा गुमा देना यह सुसुबु जीवका लक्षण नहीं ।

(२)

(१) सत्पुरुष अन्याय नहीं करते । सत्पुरुष यदि अन्याय करें तो इस जगत्में बरसात किसके लिये पड़ेगी ? सूर्य किसके लिये प्रकाशित होगा ? वायु किसके लिये बहेगी ?

(२) आत्मा कैसी अपूर्ण वस्तु है ? जनतक वह शरीरमें रहती है—भले ही वह हजारों वर्ष रहे—तन्तक शरीर नहीं सड़ता । आमा पारेके समान है । चेतन निकल जाता है और शरीर मुर्दा हो जाता है, और वह सड़ने लगता है ।

(३) जीवमें जाग्रति और पुरुषार्थ चाहिये । कर्मबन्ध पड़नेके बाद उसमेंसे (सत्तामेंसे—उदय आनेके पहिले) छूटना हो तो अथाघाकाल पूर्ण होनेतक छूटा जा सकता है !

७६९

तीव्र वैराग्य, परम आर्जन, ब्राह्मण्यतर त्याग
आहारका जय
आसनका जय
निद्राका जय
योगका जय
आरम्भपरिग्रहविरति, ब्रह्मचर्यके प्रति निनास
एकातवास
अष्टांगयोग

सर्वज्ञध्यान
आत्मईहा
आत्मोपयोग
मूल आत्मोपयोग
अप्रमत्त उपयोग
केवल उपयोग
केवल आत्मा
अचिन्त्य सिद्धस्वरूप.

*७७०

जिनचेत यप्रतिमा
सर्वांगसयम
एकातस्थिरसयम
एकातशुद्धसयम
केवल ब्राह्मभावनिरपेक्षता

आत्मतत्त्वनिचार
जगत्तत्त्वनिचार
जिनदर्शनतत्त्वनिचार
अन्यदर्शनतत्त्वनिचार

समाधान

धर्मसुगमता
लोकानुग्रह

पद्धति

यथास्थित शुद्ध सनातन
सर्वोत्कृष्ट जयवत
धर्मका उदय

वृत्ति

* इस योजनाका उद्देश्य यह मालूम होता है कि “एकातस्थिरसयम,” “एकातशुद्धसयम” और “केवल ब्राह्मभावनिरपेक्षता” पूर्वक “सर्वांगसयम” प्राप्त कर, उसके द्वारा “जिनचेतन्यप्रतिमारूप” होकर, अयात् अडोल आत्मावस्था पाकर, जगत्के जीवोंके बन्धनके लिये, अर्थात् मार्गके पुनरोद्धारके लिये प्रवृत्ति करना चाहिये। यहाँ जो “वृत्ति” “पद्धति” और “समाधान” शब्द आये हैं, सो उनमें प्रथम ‘वृत्ति क्या है?’ इसके उत्तरमें कहा गया है कि “यथास्थित शुद्ध सनातन सर्वोत्कृष्ट जयवत धर्मका उदय करना” यह वृत्ति है। उसे ‘किस पद्धतिसे करना चाहिये?’ इसके उत्तरमें कहा गया है कि जिससे लोगोंमें “धर्म-सुगमता हो और लोकानुग्रह भी हो”। इसके बाद ‘इस वृत्ति और पद्धतिका परिणाम क्या होगा?’ इसके ‘समाधान’ में कहा गया है कि “आत्मतत्त्वनिचार, जगत्तत्त्वनिचार, जिनदर्शन तत्त्वनिचार और अन्यदर्शनतत्त्वनिचार” के सचमें ससारके जीवोंका समाधान करना।

अक ७७३ पृष्ठ ७३० (‘चित्ते’) जो कहा गया है कि “परानुग्रह परमकारण्यवृत्ति करते हुए भी प्रथम चैतन्यजिनप्रतिमा हो, चैतन्यजिनप्रतिमा हो”—इस वाक्यसे भी यह बात अधिक स्पष्ट होती है।

यहाँ यह स्पष्टीकरण श्रीमद् राजचन्द्रकी गुजराती आवृत्तिके सशोधक श्रीमन्मसुखभाई रवजीभाई मेहताके नोटके आधारसे लिखा गया है।

—अनुवादक

कारी, परम अद्भुत, सर्व दुःखोंका निःसशय आत्यतिक क्षय करनेवाला, परम अमृतस्वरूप ऐसा सर्वोत्कृष्ट शाश्वत धर्म जयवत वक्तो, त्रिकाल जयवत वक्तो !

२. उन श्रीमत् अनत चतुष्टयस्थित भगवतका और उस जयवत वर्मका आश्रय संदेव करना चाहिये। जिन्हें दूसरी कोई सामर्थ्य नहीं, ऐसे अयुध और अशक्त मनुष्योंने भी उस आश्रयके बलसे परम सुखके हेतु अद्भुत फलको पाया है, पाते हैं और पायेंगे। इसलिये उसका निश्चय और आश्रय अत्रय ही करना चाहिये, अधीरजसे खेद नहीं करना चाहिये।

३ चित्तमें देह आदि भयका निक्षेप भी करना उचित नहीं। जो पुरुष देहादिसवधी हर्ष-विपाद नहीं करते, वे पुरुष पूर्ण द्वादशागको संक्षेपमें समझे हैं—ऐसा समझो। यही दृष्टि कर्त्तव्य है।

४. 'मेने धम पाया नहीं, मैं धर्म कैसे पाऊँगा ?' इत्यादि खेद न करते हुए, वीतराग-पुरुषोंका धर्म देहादिसवधी हर्ष-विपाद वृत्तिको दूरकर, 'आत्मा असग शुद्ध चैतन्यस्वरूप है,' ऐसी जो वृत्ति है उसका निश्चय और आश्रय ग्रहण कर, उसी वृत्तिका बल रखना, और जहाँ मद वृत्ति होती हो वहाँ वीतरागपुरुषोंकी दशाका स्मरण करना, और उस अद्भुत चरित्रपर दृष्टि प्रेरित कर वृत्तिको अप्रमत्त करना, यह सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपकारक तथा कल्याणस्वरूप है। निर्विकल्प

७६८

श्रीमसो, आसोज सुदी ७, १९५४

*७—१२—५४

३१—११—२२

इस तरह काल व्यतीत होने देना योग्य नहीं। प्रत्येक समय आत्मोपयोगको उपकारी कर निवृत्ति होने देना उचित है।

अहो इस देहकी रचना ! अहो चेतन ! अहो उसकी सामर्थ्य ! अहो ज्ञानी ! अहो उसकी गवेपणा ! अहो उनका ध्यान ! अहो उनकी समाधि ! अहो उनका समय ! अहो उनका अप्रमत्त मान ! अहो उनकी परम जागृति ! अहो उनका वीतरागस्वभावन ! अहो उनका निरारण ज्ञान ! अहो उनके योगकी शांति ! अहो उचन आदि योगका उदय !

हे आत्मन् ! यह सन तुझे सुप्रतीत हो गया, फिर अप्रमत्तभावन क्यों ? मद प्रयत्न क्यों ? जघन्य-मद जागृति क्यों ? शिथिलता क्यों ? घमराहट क्यों ? अतरायका हेतु क्या ?

अप्रमत्त हो, अप्रमत्त हो।

परम जाग्रत स्वभावनको भज, परम जाग्रत स्वभावनको भज।

*७—१२ ५४ अर्थात् ७वाँ दिन, १२वाँ मास और ५४वाँ साल—अर्थात् आसोज सुदी ७, सन् १९५४।
तथा ३१—११—२२ अर्थात् ३१वाँ दिन, ११वाँ मास और २२वाँ दिन—अर्थात् आसोज सुदी ७, सन् १९५४
के दिन श्रीमद् राजचन्द्र ३१ वष ११ मास और २२ दिनके थे।

—अनुवादक

हे शिथिलता ! तुम क्यों अतराय करता हो ?
परम अनुग्रह कर अब अनुकूल हो ! अनुकूल हो !

७७५

हे सर्वोत्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन ! तुझे अत्यंत भक्तिसे नमस्कार हो !
इस अनादि अनंत ससारमें अनतानत जीव तेरे आश्रय बिना अनतानत दुःखका अनुभव करते हैं।
तेरे परम अनुग्रहसे निजस्वरूपमें रुचि होकर, परम वीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय हुआ,
कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ ।

हे जिनवीतराग ! तुम्हें अत्यंत भक्तिसे नमस्कार करता हूँ । तुमने इम पामरके प्रति अनतानत
उपकार किया है ।

हे कुदकुद आदि आचार्यों ! तुम्हारे वचन भी निजस्वरूपकी खोज करनेमें इस पामरको परम
उपकारी हुए हैं, इसलिये मैं तुम्हें अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ ।

हे श्रीसोभाग ! तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ, इसलिये मैं तुझे नम-
स्कार करता हूँ ।

७७६

जिस तरह भगवान् जिनने पदार्थोंका स्वरूप निरूपण किया है, उसी तरह सब पदार्थोंका स्वरूप
है । भगवान् जिनके उपदेश किये हुए आत्माके समाधिमार्गको श्रीगुरुके अनुग्रहसे जानकर, उसकी
परम प्रयत्नसे उपासना करो ।

७७७

श्रीनसो, आसोज १९५४

(१)

ॐ

ठाणागसूत्रमें नीचे बताया हुआ सूत्र क्या उपकार होनेके लिये लिखा है, उसका विचार करो।
*एग्रे समणे भगव महावीरं इमीसेण (इमीए) ओसप्पीणीए चउब्बीसाए तित्थयराण चरिम-
त्तित्थयरे सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिनिचुडे (जाव) सब्बदुखप्पहीणे ।

(२)

काल कराळ ! इस अवसर्पिणी कालमें चोरीस तीर्थकर हुए । उनमें अन्तिम तीर्थकर भ्रमण
भगवान्महावीर दीक्षित भी अकेले हुए ! उन्होंने सिद्धि भी अकेले ही पाई ! परंतु उनका भी प्रथम
उपदेश निष्फल गया !

* भ्रमण भगवान्महावीर एव हैं । वे इस अवसर्पिणी कालमें चौबीस तीर्थकरोंमें अन्तिम तीर्थकर हैं,
वे सिद्ध हैं, बुद्ध हैं, मुक्त हैं, परिनिर्वात हैं और उनके सर्व दुःख परिशोध हो गये हैं ।—अनुवादक

७७१

स्वपर परमोपकारक परमार्थमय सत्यधर्म जयवंत वर्त्तो.

आश्चर्यकारक भेद पड़ गये हैं ।

खड़ित है ।

सम्पूर्ण करनेके साधन कठिन माद्धम होते हैं ।

उंस प्रभावमें महान् अतराय हैं ।

देश-काल आदि बहुत प्रतिकूल हैं ।

वीतरागोंका मत लोक-प्रतिकूल हो गया है ।

रूढ़ीसे जो लोग उसे मानते हैं, उनके लक्षमें भी वह प्रतीत माद्धम नहीं होता, अथवा ने अन्यमतको ही वीतरागोंका मत समझकर प्रवृत्ति करते हैं ।

यथार्थ वीतरागोंके मत समझनेकी उनमें योग्यताकी बहुत कमी है ।

दृष्टिरागका प्रन्त्र राज्य विद्यमान है ।

वेप आदि व्यग्रहारमें बड़ी निडम्बना कर जीव मोक्षमार्गका अन्तराय कर बैठा है ।

तुच्छ पामर पुरुष निराधक वृत्तिके बहुत अग्रभागमें रहते हैं ।

किंचित् सत्य बाहर आते हुए भी उन्हें प्राणोंके घात होनेके समान दु ख माद्धम होता है, ऐसा दिखाई देता है ।

७७२

फिर तुम किसलिये उस धर्मका उद्धार करना चाहते हो ?

परम कारुण्य-स्वभासे उस सद्धर्मके प्रति परम भक्तिये

७७३

परानुग्रह परमकारुण्यवृत्ति करते हुए भी प्रथम चैतन्यजिनप्रतिमा हो, चैतन्यजिनप्रतिमा हो.

क्या वैसा काल है ? उसमें निर्विकल्प हो ।

क्या वैसा क्षेत्र योग है ? खोजकर ।

क्या वैसा पराक्रम है ? अप्रमत्त शूरवीर बन ।

क्या उतना आयुवृद्ध है ? क्या लिखें ? क्या कहें ? अन्तर्मुख उपयोग करके देख ।

ॐ शांति शांति शांति

७७४

हे काम ! हे मान ! हे सगउदय !

हे वचनवर्गणा ! हे मोह ! हे मोहदया !

शून्य (ज्ञानरहित) दशा मानते हैं, उसका ' बुद्धि'से निषेध किया गया है । इस तरह सिद्ध और बुद्ध होनेके बाद ' मुच्यति ' अर्थात् वे सर्वकर्मसे रहित होते हैं, और उसके पश्चात् ' परिणिव्वायति ' अर्थात् वे निर्वाण पाते हैं—कर्मरहित होनेसे वे फिरसे जन्म—अवतार—धारण नहा करते । ' मुक्त जीव कारणप्रियेयसे अवतार धारण करता है '—इस मतका ' परिणिव्वायति ' कहकर निषेध किया है । कारण कि भवके कारणभूत कर्मसे जो सर्वात् मुक्त हो गया है, वह फिरसे भव धारण नहीं करता, क्योंकि कारणके बिना कार्य नहीं होता । इस तरह निर्वाण-प्राप्त जीव ' सब्बदुक्खाणमत करेति '—अर्थात् सर्व दुःखोंका अंत करते हैं—उनके दुःखका सर्वथा अभाव हो जाता है—वे सहज स्वाभाविक सुख आनन्दका अनुभूत करते हैं—यह कहकर ' मुक्त आत्माओंको केवल शून्यता ही है, आनन्द नहीं ' इस मतका निषेध किया है ।

७७९

(१)

+ इणमेव निग्गय पावयण सच्चं अणुत्तर केवलिय पडिपुण्ण समुद्ध पेयाउय सल्लक-
त्तण सिद्धिमग्ग मुत्तिमग्ग निज्जाणमग्ग निव्वाणमग्ग अवितहमसदिद्ध सब्बदुक्खप्पहीणमग्ग ।
एत्थ टिया जीवा सिज्झति उज्झति मुच्यति परिणिव्वायति सब्बदुक्खाणमत करेति । तमा-
णाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसीयामो तहा तुयट्टामो तहा भुजामो तहा भासामो
तहा अब्भुट्टामो तहा उट्टाए उट्टेमोत्ति पाणाण भूयाण जीवाण सत्ताण सजमेण सजमामोत्ति ।

(२)

१. अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानाजनशलाकया ।

नेत्रमुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

—जो अज्ञानरूपी तिमिर (अधकार) से अध है, उनके नेत्रोंको जिसने ज्ञानरूपी अजनकी सलाईमें खोला, उन श्रीसद्गुरुको नमस्कार हो ।

२. मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तार कर्मभूभृताम् ।

ज्ञातार विश्वतत्त्वानां वदे तद्गुणलब्धये ॥

—मोक्षमार्गके नेता (मोक्षमार्गमें ले जानेवाले), कर्मरूपी पर्वतके भेत्ता (भेदनेवाले) और समग्र तत्त्वोंके ज्ञाता (जाननेवाले) को, मैं उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये नमस्कार करता हूँ ।

यहाँ ' मोक्षमार्गके नेता ' कहकर, आत्माके अस्तित्वसे लगाकर उसके मोक्ष और मोक्षके

+ यह निर्मयप्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, केवल भाषित है, पूर्ण है, अत्यंत शुद्ध है, न्यायसप्त है, शब्दका काटनेमें कैंचीके समान है, सिद्धिका मार्ग है, मुक्तिका मार्ग है, आवागमनरहित होनेका मार्ग है, निवाणका मार्ग है, सत्य है, अचदिग्ध है, और सर्व दुःखोंके क्षय करनेका मार्ग है । इस मार्गमें स्थित जीव सिद्धि पाते हैं, बोध पाते हैं, सब कर्मोंसे मुक्त होते हैं, निवाण पाते हैं, और सर्व दुःखोंका अंत करते हैं । आपकी आज्ञापूवक हम भी उसी तरह चलते हैं, उसी तरह खड़े होते हैं, उसी तरह बैठते हैं, उसी तरह सोते हैं, उसी तरह भोजन करते हैं, उसी तरह बोलते हैं, उसी तरह सावधानीसे प्रवृत्ति करते हैं, और उसी तरह उठते हैं, तथा उस तरह उठते हुए जिससे प्राण—भूत—जीव—सर्वोंकी हिंसा न हो ऐसे समयका आचरण करते हैं ।—अनुवादक

७७८

१. जो सर्व वासनाका क्षय करे वह सत्यासी । जो इन्द्रियोंको वशमें रखे वह गोसाईं । जो ससारसे पार हो वह यति (जति) ।

२ समकृती को आठ मर्दोंमेंसे एक भी मद नहीं होता ।

३ (१) अग्नि (२) अहकार (३) अर्धदग्धता—अपनेको ज्ञान न होनेपर भी अपनेको ज्ञानी मान बैठना, और (४) रसलुब्धता—इन चारमेंसे जिसे एक भी दोष हो, उस जानको समकित नहीं होता, ऐसा श्रीठाणगसूत्रमें कहा है ।

४ मुनिको यदि व्याख्यान करना पड़ता हो, तो ऐसा भाव रखकर व्याख्यान करना चाहिये कि वह स्वयं सञ्ज्ञाय (स्वाध्याय) करता है । मुनिको सबेरे सञ्ज्ञायकी आज्ञा है, वह मनमें की जाती है । उसके बदले व्याख्यानरूप सञ्ज्ञायको, ऊँचे स्वरसे मान, पूजा, सत्कार, आहार आदिकी अपेक्षा बिना, केवल निष्कामबुद्धिसे आत्मार्यके लिये ही करनी चाहिये ।

५. क्रोध आदि कपायका जब उदय हो, तब उसके सामने होकर उसे बताना चाहिये कि तूने मुझे अनादिकालसे हैरान किया है। अब मैं इस तरह तेरा बल न चलने दूँगा । देख, मैं अब तेरेसे युद्ध करने बैठा हूँ ।

६ निद्रा आदि प्रकृति और क्रोध आदि अनादि वैरीके प्रति क्षत्रियभासे रहना चाहिये, उनका अपमान करना चाहिये । यदि ये फिर भी न मानें, तो उन्हें क्रूर होकर उपशान्त करना चाहिये । यदि फिर भी वे न मानें, तो उन्हें खयालमें (उपयोगमें) रखकर, समय आनेपर उन्हें मार डालना चाहिये । इस तरह शूर क्षत्रियस्वभासे रहना चाहिये, जिससे वैरीका पराभव होकर समाधिसुख प्राप्त हो ।

७ प्रभुकी पूजामें पुष्प चढ़ाये जाते हैं । उसमें जिस गृहस्थको हरियालीका नियम नहीं है, वह अपने कारणसे उनका उपयोग कम करके, प्रभुको फल चढा सकता है । त्यागी मुनिको तो पुष्प चढ़ाने अथवा उसके उपदेशका सर्वथा निषेध ही है । ऐसा पूर्वाचार्योंका प्रवचन है ।

८ कोई सामान्य मुमुक्षु भाई-बहन साधनके विषयमें पूछे तो उसे ये साधन बताने चाहिये —

(१) सात व्यसनका त्याग

(२) हरियालीका त्याग

(३) कदमूलका त्याग

(४) अभक्ष्यका त्याग

(५) रात्रिभोजनका त्याग

(६) 'सर्वज्ञदेव' और 'परमगुरु'की

पाँच पाँच मालाओंकी जाप

(७) *भक्तिरहस्य दोहाका पठन-मनन

(८) ×क्षमापनाका पाठ

(९) सत्समागम और सत्साधक सेवन

९ 'सिञ्जति,' 'बुञ्जति,' 'मुञ्जति,' 'परिणिञ्जति' और 'सर्वदुःखाणमत करेति'—

इन शब्दोंके रहस्यका त्रिचार करना चाहिये । 'सिञ्जति' अर्थात् सिद्ध होते हैं । उसके बादमें 'बुञ्जति' अर्थात् बोधसहित-ज्ञानसहित-होते हैं । आत्माके सिद्ध होनेके बाद कोई उसनी

* अक २२४

× मोक्षमाला पाठ ५६ — अनुवादक

शून्य (ज्ञानरहित) दशा मानते हैं, उसका ' बुद्धति'से निषेध किया गया है । इस तरह सिद्ध और बुद्ध होनेके बाद ' मुच्यति ' अर्थात् वे सर्वकर्मसे रहित होते हैं, और उसके पश्चात् ' परिणिव्वायति ' अर्थात् वे निर्वाण पाते हैं—कर्मरहित होनेसे वे फिरसे जन्म—अतार—धारण नहा करते । ' मुक्त जीव कारणनिशेषसे अतार धारण करता है '—इस मतका ' परिणिव्वायति ' कहकर निषेध किया है । कारण कि भवके कारणभूत कर्मसे जो सर्वथा मुक्त हो गया है, वह फिरसे भव धारण नहीं करता, क्योंकि कारणके बिना कार्य नहीं होता । इस तरह निर्वाण-प्राप्त जीव ' सब्बदुक्खाणमत करेति '—अर्थात् सर्व दुःखोंका अंत करते हैं—उनके दुःखका सर्वथा अभाव हो जाता है—वे महज स्वामाधिक सुख आनन्दका अनुभव करते हैं—यह कहकर ' मुक्त आत्माओंको केवल शून्यता ही है, आनन्द नहीं ' इस मतका निषेध किया है ।

७७९

(१)

+ इणमेव निग्गयं पावयण सच्चं अणुत्तर केवलिय पट्टिपुण्ण समुद्ध णेयाउय सल्लक-
त्तण सिद्धिमग्ग मुत्तिमग्ग निज्जाणमग्ग निव्वाणमग्ग अविहमसदिद्ध सब्बदुक्खप्पहीणमग्ग ।
एत्थं ठिया जीवा सिज्झति बुद्धति मुच्यति परिणिव्वायति सब्बदुक्खाणमत करेति । तमा-
णाए तहा गच्छामो तहा चिद्दामो तहा णिसीयामो तहा तुयट्टामो तहा भुजामो तहा भासामो
तहा अब्भुट्टामो तहा उट्टाए उट्टेमोत्ति पाणाण भूयाण जीवाण सत्ताण सजमेणं सजमामोत्ति ।

(२)

१. अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानाजनशलाकया ।

नेत्रमुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

—जो अज्ञानरूपी तिमिर (अधकार) से अध है, उनके नेत्रोंको जिसने ज्ञानरूपी अजनकी सलाइसे खोला, उन श्रीसद्गुरुको नमस्कार हो ।

२. मोक्षमार्गस्य नेतारं भेचारं कर्मभूभृताम् ।

ज्ञातारं त्रिभुवत्त्वानां वदे तद्गुणलब्धये ॥

—मोक्षमार्गके नेता (मोक्षमार्गमें ले जानेवाले), कर्मरूपी पर्वतके भेत्ता (भेदनेवाले) और समग्र तत्त्वोंके ज्ञाता (जाननेवाले) को, मैं उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये नमस्कार करता हूँ ।

यहाँ ' मोक्षमार्गके नेता ' कहकर, आत्माके अस्तित्वसे लगाकर उसके मोक्ष और मोक्षके

+ यह निग्रंथप्रवचन सत्य है, अनुत्तर है, केवल मापित है, पूर्ण है, अत्यंत शुद्ध है, पायसपन्न है, शक्यके काटनेमें कैचीके समान है, सिद्धिका मार्ग है, मुक्तिका मार्ग है, आवागमनरहित होनेका मार्ग है, निवाणका मार्ग है, सत्य है, असदिग्ध है, और सर्व दुःखोंके क्षय करनेका मार्ग है । इस मार्गमें स्थित जीव सिद्धि पाते हैं, बोध पाते हैं, सब कर्मोंसे मुक्त होते हैं, निवाण पाते हैं, और सर्व दुःखोंका अंत करते हैं । आपकी आशापूर्वक हम भी उसी तरह चलते हैं, उसी तरह खड़े होते हैं, उसी तरह बैठते हैं, उसी तरह सोते हैं, उसी तरह भोजन करते हैं, उसी तरह बोलते हैं, उसी तरह सावधानीसे प्रवृत्ति करते हैं, और उसी तरह उठते हैं, तथा उस तरह उठते हुए तिससे प्राण—भूत—जीव—सत्त्वोंकी हिंसा न हो ऐसे समयका आचरण करते हैं ।—अनुवादक

उपायसहित समस्त पदोंको, मोक्षप्राप्त जीवको, तथा जीव अजीव आदि सब तत्त्वोंको स्वीकार किया है। मोक्ष बंधकी अपेक्षा रखता है, तथा बंध, बंधके कारण आत्म, पुण्य पाप कर्म, और बंधनेवाली नित्य अग्निनाशी आत्माकी, मोक्षकी, मोक्षके मार्गकी, सत्त्वकी, निर्जराकी और बंधके कारणोंके दूर करनेरूप उपायकी अपेक्षा रखता है। जिसने मार्ग देखा, जाना और अनुभव किया है, वह नेता हो सकता है। अर्थात् 'मोक्षमार्गका नेता' कहकर उसे परिप्राप्त ऐसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतरागको स्वीकार किया है। इस तरह 'मोक्षमार्गके नेता' इस विशेषणसे जीव अजीव आदि सब तत्त्व, छह द्रव्य, आत्माका अस्तित्व आदि छह पद, और मुक्त आत्माको स्वीकार किया गया है।

मोक्षमार्गके उपदेश करनेका—उस मार्गमें छे जानेका—कार्य देहधारी साकार मुक्त पुरुष ही कर सकता है, देहरहित निराकार जीव नहीं कर सकता। यह कहकर यह सूचित किया है कि आत्मा स्वयं परमात्मा हो सकती है—मुक्त हो सकती है। तथा इससे यह सूचित किया है कि ऐसे देहधारी मुक्त पुरुष ही बोध कर सकते हैं, इससे देहरहित अपौरुषेय बोधका निषेध किया गया है।

'कर्मरूपी पर्वतके भेदन करनेवाला' कहकर यह सूचित किया है कि कर्मरूप पर्वतोंके भेदन करनेसे मोक्ष होती है, अर्थात् जीवने कर्मरूपी पर्वतोंका स्वनीर्थ द्वारा देहधारीरूपसे भेदन किया, और उससे वह जीवमुक्त होकर मोक्षमार्गका नेता—मोक्षमार्गका बतानेवाला हुआ। इससे यह सूचित किया है कि बार बार देह धारण करनेका, जन्म-मरणरूप सत्त्वरका कारण जो कर्म है, उसके समूह भेदन करनेसे—नाश करनेसे—जीवको फिर देहका धारण करना नहीं रहता। इससे यह बताया है कि मुक्त आत्मा फिरसे अवतार नहीं लेती।

'त्रिश्चतस्रका ज्ञाता'—समस्त द्रव्यपर्यायात्मक लोकालोकका—त्रिश्चका—जाननेवाला—कहकर, मुक्त आत्माका अखंड स्वरूप ज्ञापकपना बताया है। इससे यह सूचित किया है कि मुक्त आत्मा सदा ज्ञानरूप ही है।

'जो इन गुणोंसे सहित है, उसे उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं बन्दन करता हूँ'—यह कहकर यह सूचित किया है कि परम आप्त, मोक्षमार्गके लिये त्रिश्चास करने योग्य, बदन करने योग्य, भक्ति करने योग्य तथा जिसकी आज्ञापूर्वक चल्नेसे निःसंशय मोक्ष प्राप्त होती है—उनको प्रगट हुए गुणोंकी प्राप्ति होती है—वे गुण प्रगट होते हैं—ऐसा जो कोई भी हो, मैं उसे बदन करता हूँ। इससे यह सूचित किया है कि उक्त गुणोंसे सहित मुक्त परम आप्त बदनके योग्य हैं—उनका बताया हुआ वह मोक्षमार्ग है, और उनकी भक्तिसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, तथा उनकी आज्ञापूर्वक चल्नेवाले भक्तिमानको, उनको जो गुण प्रगट हुए हैं वे गुण प्रगट होते हैं।

३ वीतरागके मार्गकी उपासना करनी चाहिये।

७८० वनक्षेत्र उत्तरखंडा, प्र आसोज वदी ९ रवि. १९५४

ॐ नमः

अहो जिणेहिऽसावज्जा, विची साहूण देसिया।

मीक्खसाहूणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥

—भगवान् जिनने मुनियोंको आश्चर्यकारक निष्पापवृत्ति (आहारग्रहण)का उपदेश किया है । (वह भी किसलिये ?) केवल मोक्षसाधनके लिये—मुनिको जो देहकी आवश्यकता हे उसके धारण करनेके लिये, (दूसरे अन्य किसी भी हेतुसे उसका उपदेश नहीं किया) ।

अहो णिच्च तवो कम्मं, सव्वजिणेहिं वण्णिणय ।

जाय लज्जासमा वित्ती, एगभत्त च भोगण ॥

—सर्प जिन भगवतोंने आश्चर्यकारक (अद्भुत उपकारभूत) तपकर्मको नित्य ही करनेके लिये उपदेश किया है । (वइ इस तरह कि) समयके रक्षणके लिये सम्यक्वृत्तिसे एक समय आहार लेना चाहिये ।

—दशनेकालिकसूत्र

तथारूप असग निर्ग्रथपदके अम्यासको सतत बढ़ाते रहना । प्रश्नव्याकरण दशनेकालिक और आत्मानुशासनको हालमें सम्पूर्ण लक्ष रखकर विचार करना । एक शास्त्रको सम्पूर्ण बौंच लेनेपर दूसरा विचारना ।

७८१

वनक्षेत्र, दि आसोज सुदी १, १९५४

ॐ नमः

सर्प विकल्पोंका, तर्कका त्याग करके

मनका	}	जय करके
वचनका		
कायाका		
इन्द्रियका		
आहारका		
निद्राका		

निर्विकल्परूपसे अतर्कवृत्ति करके आत्मध्यान करना चाहिये ।

मात्र निराबाध अनुभवस्वरूपमें लीनता होने देनी चाहिये । दूसरी कोई चिंतना न करनी चाहिये ।

जो जो तर्क आदि उठें, उन्हें दीर्घ कालतक न करते हुए शान्त कर देना चाहिये ।

७८२

आम्यतर भान अवधूत,

निदेहीवत्,

जिनकल्पीवत्,

सर्प परभाव और निभावसे व्यावृत्त,

निजस्वभावके भानसहित, अग्रधूतवत्, निदेहवित्, जिनकल्पीवत् विचरते हुए पुरुष भगवान्-

के स्वरूपका ध्यान करते हैं ।

७८३

खेड़ा, द्वि आसोज वदी १९५४

हे जीन ! इस क्लेशरूप ससारसे निवृत्त हो, निवृत्त हो ।

वीतराग प्रवचन

×७८४

श्रीखेड़ा, द्वि० आसोज वदी १९५४

प्रश्न—क्या आत्मा है ?

उत्तर—हाँ, आत्मा है ।

प्र —क्या आप अनुभवसे कहते हो कि आत्मा है ?

उ —हाँ, हम अनुभवसे कहते हैं कि आत्मा है । जैसे मिश्रीके स्वादका वर्णन नहीं हो सकता, वह अनुभवगोचर है, इसी तरह आत्माका वर्णन नहीं हो सकता, वह भी अनुभवगोचर है । परन्तु वह है अवश्य ।

प्र.—जीव एक है या अनेक ? आपके अनुभवका उत्तर चाहता हूँ ।

उ.—जीव अनेक हैं ।

प्र —क्या जड़, कर्म वास्तवमें है, अथवा यह सब मायिक है ?

उ —जड़, कर्म वास्तविक हैं, मायिक नहीं ।

प्र —क्या पुनर्जन्म है ?

उ —हाँ, पुनर्जन्म है ।

प्र —क्या आप वेदान्तद्वारा मान्य मायिक ईश्वरका अस्तित्व मानते हैं ?

उ —नहीं ।

प्र —क्या दर्पणमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब केवल ऊपरका दिखाव ही है, या वह किसी तत्त्वका बना हुआ है ?

उ —दर्पणमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब केवल दिखाव ही नहीं, किन्तु वह अमुक तत्त्वका बना हुआ है ।

(२)

मेरा चित्त—मेरी चित्तवृत्तियाँ—इतनी शांत हो जाओ कि कोई मृग भी इस शरीरको देखकर खड़ा हो जाय, भय पाकर भाग न जाय ।

मेरी चित्तवृत्ति इतनी शांत हो जाओ कि कोई वृद्ध मृग, जिसके सिरमें खुजली आती हो, इस शरीरको जड़ पदार्थ समझकर, अपने सिरकी खुजली मिटानेके लिये इस शरीरको रगड़े ।

× यह लेख श्रीमद्का स्वयंका लिखा हुआ नहीं है । सिद्धांतके एक विदातविद् विद्वान् वकीलके साथ जो श्रीमद् राजचन्द्रका प्रश्नोत्तर हुआ था, उसे यहाँ दिया गया है ।—अनुवादक

३२वाँ वर्ष

७८५

उम्बई, कार्तिक १९५५

ॐ नमः

(१)

सयम

(२)

जाप्रतसत्ता ज्ञायकसत्ता आत्मस्वरूप

(३)

सर्वज्ञोपदिष्ट आ माको सद्वृत्तकी कृपासे जानकर, निरंतर उमके ध्यानके लिये विचरना,
सयम तपपूर्वक —

(४)

अहो ! सर्वोत्कृष्ट शातरसमय समार्ग—

अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शातरसप्रधान मार्गके मूल सर्वज्ञदेव—

अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शातरसकी जिसने सुप्रतीति कराई ऐसे परम कृपालु सद्वृत्तदेव—

इस विद्वानमें सर्वकाल तुम जयन्त वर्तों, जयन्त वर्तों ।

७८६

ईडर, मगसिर सुदी १४ सोम १९५५

ॐ नमः

जैसे बने वैसे नीतरागश्रुतका विशेष अनुप्रेक्षण (चिंतन) करना चाहिये । प्रमाद परम रिपु
है—यह वचन जिसे सम्पक् निश्चित हो गया है, वे पुरुष कृतकृत्य होनेतक निर्भयतासे आचरण
करनेके स्वमकी भी इच्छा नहीं करते । राज्यचन्द्र

७८७

ईडर, मगसिर वदी ४ शनि १९५५

ॐ नम

तुम्हें जो समाधानविशेषकी जिज्ञासा है, वह किसी निवृत्तियोगमें पूर्ण हो सकती है ।

जिज्ञासात्रल, विचारत्रल, प्रैराग्यत्रल, ध्यानत्रल और ज्ञानत्रल उर्धमान होनेके लिये, आत्मार्थी
जीवन्तो तथारूप ज्ञानीपुरुषके समागमकी विशेष करके उपासना करनी योग्य है ।

उसमें भी वर्तमानकालके जीवोंको उस बलकी दृढ़ छाप पड़नेके लिये अनेक अंतराय देरनेमें
आते हैं । इससे तथारूप शुद्ध जिज्ञासुवृत्तिसे दीर्घकालपर्यंत मत्समागमकी उपासना करनेकी आवश्यकता
रहती है । सत्समागमके अभावमें नीतरागश्रुतकी परम शातरस प्रतिपादक नीतरागचर्चनोंकी अनुप्रेक्षा-
वारवार करनी चाहिये । चित्तकी स्थिरताके लिये वह परम ओपव है ।

७८८ ईडर, मगासिर वदी १५ गुरुवारकी सत्रे १९५५

ॐ नमः

वनस्पतिसन्धी त्यागमें, अमुक दससे पाँच वनस्पतियोंकी हालमें छूट रखकर, बाकीकी दूसरी वनस्पतियोंसे विरक्त होनेसे आज्ञाका अतिक्रम नहीं ।

सदेव, सद्गुरु, सरशास्त्रकी भक्ति अप्रमत्तग्यसे उपासनीय है । श्री ॐ.

७८९

मैं प्रत्यक्ष निज अनुभवरूप हूँ, इसमें सशय ही क्या ?

उस अनुभवमें जो विशेषप्रियक न्यूनाधिकता होती है, वह यदि दूर हो जाय तो केवल अखडाकार स्थानुभव स्थिति रहे ।

अप्रमत्त उपयोगमें वैसा हो सकता है ।

अप्रमत्त उपयोग होनेके हेतु सुप्रतीत हैं । उस तरह वर्त्तन किया जाता है, वह प्रत्यक्ष सुप्रतीत है ।

वैसी अविच्छिन्न धारा रहे, तो अद्भुत अनंत ज्ञानस्वरूप अनुभव सुस्पष्ट समग्रस्थित रहे ।

७९०

ईडर, पोप सुदी १५ गुरु १९५५

ॐ

(१) वसोंमें प्रहण किये हुए नियमानुसार को हरियालीमें विरतिभासे आचरण करना चाहिये । दो श्लोकोंके याद करनेके नियमको शारीरिक उपद्रवविशेषके बिना हमेशा निवाहना चाहिये । गेहूँ और धाँकी शारीरिक हेतुसे प्रहण करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं ।

(२) यदि कुछ दोष लग गया हो तो उसका प्रायश्चित्त श्री मुनि आदिके समीप लेना योग्य है ।

(३) मुमुक्षुओंको उन मुनियोंके समीप नियमादिका प्रहण करना चाहिये ।

७९१

प्रवृत्तिके कार्योंके प्रति विरति ।

सग और स्नेह-पाशको तोड़ना (अतिशय कठिन होते हुए भी उसे तोड़ना, क्योंकि दूसरा कोई उपाय नहीं है) ।

आशका — जो अपनेपर स्नेह रखता है, उसके प्रति ऐसी क्रूर दृष्टिसे वर्त्तन करना, क्या वह कृतघ्नता अथवा निर्दयता नहीं है ?

समाधान —

७९२

मोरवी, माघ वदी ९ सोम (रात) १९५५

कर्मकी मूल प्रवृत्तियों आठ हैं । उनमें चार घातिकी और और चार अघातिकी कही जाती हैं ।

चार घातियोंका धर्म आत्माके गुणका घात करता है, अर्थात् उनका धर्म उस गुणको आरण करनेका, उस गुणके बल-वीर्यको रोकनेका, अथवा उसे निकल कर देनेका है, और इसलिये उस प्रकृतिको घातिसज्ञा दी है।

जो आत्माके गुण ज्ञान और दर्शनको आरण करे, उसे अनुक्रमसे ज्ञानारणीय दर्शनारणीय नाम दिया है।

अतराय प्रकृति इस गुणका आरण नहीं करती, परन्तु वह उसके भोग उपभोग आदिको—उसके वीर्य ञ्जको—रोकती है। इस जगह आमा भोग आदिको समझती है, जानती-देखती है, इसलिये उसे आरण नहीं रहता। परन्तु उसके समझते हुए भी, वह प्रकृति भोग आदिमें विष-अतराय—रूती है, इसलिये उसे आरण न कहकर अतराय प्रकृति कहा है।

इस तरह आमघातिकी तीन प्रकृतियाँ हुईं। घातिकी चौथी प्रकृति मोहनीय है। यह प्रकृति आरण नहीं करती, परन्तु आत्माको मूर्च्छित कर—मोहित कर—उसे निकल कर देती है, ज्ञान-दर्शन होनेपर भी—अतराय न होनेपर भी—आत्माको वह कभी भी निकल कर देती है, वह उल्टा पत्र पँथा देती है, व्याकुल कर देती है, इसलिये इसे मोहनीय कहा है।

इस तरह ये चारों सर्वघातिकी प्रकृतियाँ कहीं।

दूसरी चार प्रकृतियाँ, यद्यपि आत्माके प्रदेशोंके साथ समझ है, वे अपना काम किया करती हैं, और उदयानुसार वेदन की जाती हैं, तथापि वे उस आत्माके गुणको आरण करनेरूप, अथवा अतराय करनेरूप, अथवा उसे निकल करनेरूप घातक नहीं, इसलिये उन्हें अघातिकी ही प्रकृति कहा है।

७१३

मोरवी, फाल्गुन सुदी १ रति १९५५

ॐ नम

(१) नाकेरूप निहाळता—इस चरणका अर्थ वीतरागमुद्राका सूचक है। रूपानलोकन दृष्टिमें स्थिरता प्राप्त होनेपर स्वरूपानलोकन दृष्टिमें भी सुगमता होती है। दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे स्वरूपानलोकन दृष्टि होती है। महत्पुरुषोंका निरंतर अथवा विशेष समागम, वीतरागश्रुतचित्तजन, और गुण जिज्ञासा, ये दर्शनमोहके अनुभाग घटनेके मुख्य हेतु हैं। उससे स्वरूपदृष्टि सहजमें ही होती है।

(२) जीव यदि शिथिलता घटानेका उपाय करे तो वह सुगम है। वीतरागवृत्तिका अभ्यास रखना।

७१४

नगणीआ, फाल्गुन वदी १० बुध १९५५

आत्मार्थीको बोध कर फलीभूत हो सकता है, इस भावको स्थिर चित्तसे निचारना चाहिये, वह मूलस्वरूप है।

अमुक असद्वृत्तियोंका प्रथम अरण्य ही निरोध करना चाहिये। इस निरोधके हेतुका दृढ़तासे अनुसरण करना चाहिये, उसमें प्रमाद करना योग्य नहीं। ॐ

७९५

वराणीआ, फाल्गुन वदी १५, १९५५

×चरमावर्त्त हो चरमकरण तथा, भवपरिणति परिपाक रे ।
 दोष टले ने दृष्टि खुले भली, प्रापति प्रवचनवाक रे ॥ १ ॥
 परिचय पातिकघातक साधुशु, अकुशल अपचय चेत रे ।
 ग्रथ अध्यातम श्रवण मनन करी, परिशीलन नय हेत रे ॥ २ ॥
 मुग्ध सुगम करी सेवन लेखवे, सेवन अगम अनूप रे ।
 देजो रुदाचित्त सेवक याचना, आनदघनरसरूप रे ॥ ३ ॥

सभजनित्तन — आनदघन

७९६

वराणीआ, चैत्र सुदी १, १९५५

उपसंतस्वीणमोहो, मग्गे जिणभासिदेण समुवगदो ।
 पाणाणुमग्गचारी, निव्वाणपुरं वज्जट्ठि धरिं ॥

—जिसका दर्शनमोह उपशात अथवा क्षीण हो गया है, ऐसा धीर पुरुष त्रीतरागोंद्वारा प्रदर्शित मार्गको अर्गीकार कर, शुद्ध चैतन्यस्वभावन परिणामी होकर भोक्षपुरीको जाता है ।

७९७

वराणीआ, चैत्र सुदी ५, १९५५

ॐ द्रव्यानुयोग परम गभीर और सूक्ष्म है, निर्गन्ध प्रवचनका रहस्य है, और शुद्धध्यानका अनन्य कारण है । शुद्धध्यानसे केवलज्ञान समुत्पन्न होता है । महाभागपसे ही उस द्रव्यानुयोगकी प्राप्ति होती है । दर्शनमोहका अनुभाग घटनेसे अथवा नाश होनेसे, त्रिषयोंके प्रति उदासीनतासे, और महान् पुरुषोंके चरण कमलकी उपासनाके बलसे द्रव्यानुयोग फल देता है ।

ज्यों ज्यों समय उर्वमान होता है, त्यों त्यों द्रव्यानुयोग यज्ञार्थ फल देता है । समयकी वृद्धिका कारण सम्पददर्शनकी निर्मलता है । उसका कारण भी द्रव्यानुयोग होता है ।

सामान्यरूपसे द्रव्यानुयोगकी योग्यता प्राप्त करना दुर्लभ है । आत्माराम-परिणामी, परम वीतगग-दृष्टिमत और परमअसग ऐसे महात्मा पुरुष उसके मुख्य पात्र हैं ।

×उसे (जिसे अमय और अखेद प्राप्त हो गये हैं) ससारमें भ्रमण करनेका अन्तिम फेर ही बाकी रह जाता है, उसे अन्तिम अपूर्व और अनिवृत्ति नामके करण होते हैं, और उसकी भव-परिणतिका परिपाक हो जाता है । उसी समय दोष दूर होते हैं, उत्तम दृष्टि प्रकट होती है, तथा प्रवचन वाणीकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

पापोंका नाश करनेवाले साधुओंका परिचय करनेसे निचके अकुशलभावना नाश होता है । तथा ऐसा होनेसे अध्यात्मग्रन्थोंके श्रवण मननसे, नवीना विचार करते हुए भगवान्के स्वरूपके साथ अपने आत्मस्वरूपकी समस्त प्रकारसे सदृशता होकर निजस्वरूपकी प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

भोले लोग भगवान्की सेवाको सुगम समझकर उसका सेवन करते हैं, परन्तु वह सेवा तो अगम और अनुपम है । इसलिये हे आनदघनरसरूप प्रभु ! इस सेवकको भी कभी वह सेवा प्रदान करना ! यही याचना है ॥३॥

किमी महत्पुरुषके मननके लिये पचास्तिकायका सक्षिप्त स्वरूप लिया था, उसे मनन करनेके लिये इसके साथ भेजा है ।

हे आर्य ! द्रव्यानुयोगका फल सर्वभासे विराम पानेत्प सयम है—इस पुरुषके इस उचनको तू कभी भी अपने अत कारणमें शिथिल न करना । अधिक क्या ? समाधिका रहस्य यही है । सर्व दृष्टोंसे मुक्त होनेका उपाय यही है ।

७९८

वसानीआ, चेत्र नदी २ गुरु १९५५

हे आर्य ! जैसे रेगिस्तान उतर कर पार हुए, उसी तरह भय-स्वयभूरमणको तर कर पार होओ !

७९९

स्वपर उपकारके महान् कार्यको अत्र कर ले । शीघ्रतासे कर ले !

अप्रमत्त हो—अप्रमत्त हो !

क्या आर्यपुरुषोंने कालका क्षणभरका भी भरोसा किया है ?

हे प्रमाद ! ! अत्र तू जा, जा !

हे प्रमत्त ! अत्र तू प्रमत्त हो, प्रमत्त हो !

हे व्यग्रहरोदय ! अत्र प्रवृत्तासे उदय आकर भी तू शांत हो, शांत !

हे दीर्घमूत्रता ! तू सुविचारके, धीरजके ओर गभीरताके परिणामकी क्यों इच्छा करती है ?

हे बोधनीज ! तू अत्यंत हस्तामलकनत् प्रवृत्ति कर, प्रवृत्ति कर !

हे ज्ञान ! तू अत्र दुर्गमको भी सुगम स्वभासे लाकर रख !

हे चारित्र ! परम अनुग्रह कर, परम अनुग्रह कर !

हे योग ! तुम स्थिर होओ, स्थिर होओ !

हे ध्यान ! तू निजस्वभावाकार हो, निजस्वभावाकार हो !

हे व्यग्रता ! तू दूर हो जा, दूर हो जा !

हे अन्य अथवा मय अन्य कपाय ! अत्र तुम उपशम होओ ! क्षीण होओ ! हमें तुम्हारे प्रति कोई रुचि नहीं रही !

हे सर्वज्ञपद ! यथार्थ सुप्रतीतिरूपसे तू हृदयमें प्रवेश कर !

हे असग निर्ग्रथपद ! तू स्वामात्रिक व्यवहाररूप हो !

हे परमकरुणामय सर्व परम हितके मूल वीतरागधर्म ! प्रसन्न हो, प्रसन्न !

हे आत्मन् ! तू निजस्वभावाकार वृत्तिमें ही अभिमुख हो, अभिमुख हो ! ॐ.

हे वचनसमिति ! हे कायस्थिरता ! हे एकातत्रास ! और असगता ! तुम भी प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ !

एकबली मचाती हुई जो आभ्यन्तर वर्गणा है, या तो उसका अभ्यन्तर ही वेदन कर लेना चाहिये, अथवा उसे स्वच्छ मुट देकर उसका उपशम कर देना चाहिये ।

ज्यों ज्यों निस्पृहता बलवान हो, त्यों त्यों ध्यान बलवान हो सकता है, कार्य बलवान हो सकता है ।

८००

मोरनी, चैत्र वदी ७, १९५५

(१) विशेष हो मके तो अच्छा । ज्ञानियोंको सदाचरण भी प्रिय है । विकल्प करना योग्य नहीं ।

(२) ' जातिस्मरण ' हो सकता है । पूर्वभय जाना जा सकता है । अविज्ञान हे ।

(३) तिथि पालना चाहिये ।

(४) जैसेको तैसा मिलता है, जैसेको तैसा अच्छा लगता है ।

* चाहे चकोर ते चंदने, मधुकर मालती भोगी रे ।

तिम भवि सहजगुणे होवे, उत्तम निमित्तसंजोगी रे ॥

(५) × चरमावर्त हो चरमकरण तथा, भवपरिणति परिपाक रे ।

दोप टले ने दृष्टि खुले अति भली, प्रापति प्रवचनवाकर रे ॥

८०१

मोरनी, चैत्र वदी ८, १९५५

ॐ

(१) पङ्कदर्शनसमुच्चय ओर तत्त्वार्थसूत्रका अमलोकन करना । योगदृष्टिसमुच्चय (सञ्ज्ञाय) को मुख्याप्र कर निचारना योग्य है । ये दृष्टियाँ आत्मदशा-भाषक (वर्गीमीटर) यत्र हैं ।

(२) शास्त्रको जाल समझनेवाले भूल करते हैं । शास्त्र अर्थात् शास्ता पुरुषके वचन । इन वचनोंको समझनेके लिये दृष्टि सम्यक् चाहिये । ' मैं ज्ञान हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, ' ऐसा मान लेनेसे, ऐसा चिञ्चानेसे, तद्रूप नहीं हो जाते । तद्रूप होनेके लिये सत्शास्त्र आदिका सेवन करना चाहिये ।

(३) सदुपदेष्टाकी बहुत जरूरत है । सदुपदेष्टाकी बहुत जरूरत है ।

(४) पाँचसौ हजार श्लोक कठस्थ कर लेनेसे पंडित नहीं बन जाते । फिर भी थोड़ा जानकर बहुतका ढोंग करनेवाले पंडितोंका टोटा नहीं है ।

+ (५) ऋतुको सन्निपात हुआ है ।

८०२

मोरनी, चैत्र वदी ९ गुरु १९५५

(१)

ॐ नमः

(१) आत्महित अति दुर्लभ है—ऐसा जानकर निचारवान पुरुष उसकी अप्रमत्तभावसे उपासना करते हैं ।

(२) आचारागसूत्रके एक वाक्यके समर्थमें चर्चापत्र आदि देखे हैं । बहुत करके थोड़े दिनोंमें किसी सुझकी तरफसे उसका समाधान प्रकट होगा । ॐ

* जैसे चकोर चद्रमाको चाहता है, भ्रमर मालतीको चाहता है, उसी तरह भव्यपुरुष उत्तम गुणोंके सयोगकी इच्छा करते हैं ।

× अर्थके लिये देखो अंक ७९५ ।

+ सवत् १९५६ में भयकर दुष्काल पड़ा था ।—अनुवादक.

(२)

यदि परमसत्को पीडा पहुँचती हो, तो वैसे निशिष्ट प्रसंगके ऊपर देवता लोग रक्षण करते हैं, प्रगटरूपसे भी आते हैं । परन्तु बहुत ही थोड़े प्रसंगोंपर ।

योगी अथवा वैसी निशिष्ट शक्तिवाला उस प्रसंगपर सहायता कर सकता है, परन्तु वह ज्ञानी तो नहीं है ।

जीवको मतिकल्पनासे ऐसा मादम होता है कि मुझे देवताके दर्शन होते हैं, मेरे पास देवता आता है, मुझे उसका दर्शन होता है, परन्तु देवता इस तरह दिखाई नहीं देते ।

८०३

मोरवी, चैत्र वदी १०, १९५५

(१) दूसरेके मनकी पर्याय जानी जा सकती है । परन्तु यदि अपने मनकी पर्याय जानी जा सके, तो दूसरेके मनकी पर्याय जानना सुलभ है । किन्तु अपने मनकी पर्याय जानना भी मुश्किल है । यदि स्वमन समझमें आ जाय तो वह यश हो सकता है । उसके समझनेके लिये सद्विचार और सतत एकाग्र उपयोगकी जरूरत है ।

(२) आसनजयसे (स्थिर आसन दृष्ट करनेसे) उत्थानवृत्तिका उपशमन होता है, उपयोग चपलतारहित हो सकता है, निद्रा कम हो सकती है ।

(३) सूर्यके प्रकाशमें जो गरीक गरीक सूक्ष्म रजके समान मादम होता है, वे अणु नहीं, परन्तु वे अनेक परमाणुओंके बने हुए स्क्व हैं । परमाणु चक्षुसे नहीं देखा जा सकता । वह चक्षु-इन्द्रियलब्धिके प्रगल्भ क्षयोपशमनाले जीव अथवा दूरदेशीलब्धिके सपन योगी अथवा केवलीको ही दिखाई पड़ सकता है ।

८०४

मोरवी, चैत्र वदी ११, १९५५

१ मोक्षमाला हमने सोलह बरस पाँच मासकी अवस्थामें तीन दिनमें बनाई थी । ६७पे पाठके ऊपर स्याही गिर जानेसे, उस पाठको फिरसे लिखना पड़ा था, और उस स्थानपर 'बहु पुण्यकेरा पुत्रधी' इस अमूल्य तारिखिक विचारका काव्य लिखा था ।

२ उसमें जेनमार्गकी यथार्थ समझानेका प्रयास किया है । उसमें जिनोक्तमार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं कहा । जिससे धीतरागमार्गपर आगलबृद्धकी रुचि हो, उसका स्वरूप समझमें आने, उसके बीजका हृदयमें रोपण हो, इस हेतुसे उसकी बालानमोधरूप योजना की है । उस शैला तथा उस बोधका अनुसरण करनेके लिये यह एक नमूना उपस्थित किया है । इसका प्रज्ञानबोध नामका भाग भिन्न है, उसे कोई बनायेगा ।

३ इसके लपनेमें विलम्ब होनेसे ग्राहकोंकी आकुलता दूर करनेके लिये, उसके बाद भावनाबोध रचकर, उसे ग्राहकोंको उपहारस्वरूप दिया था ।

४. *हु कोण छु ? क्याथी थयो ? शु स्वरूप छे मारू खरू ?

कोना सबधे बळगणा छे ? राखु के ए परिहरू ?

—इसपर जीव विचार करे, तो उसे नौ तत्त्वोंका—तत्त्वज्ञानका—सम्पूर्ण बोध प्राप्त हो जाता है। इसमें तत्त्वज्ञानका सम्पूर्ण समावेश हो जाता है। इसका शांतिपूर्वक विवेकसे विचार करना चाहिये।

५. बहुत बड़े लत्रे लेखसे कुछ ज्ञानकी—विद्वत्ताकी—तुलना नहीं होती। परन्तु सामान्यरूपसे जीवोंको इस तुलनाका विचार नहीं है।

६. प्रमाद बड़ा शत्रु है। हो सके तो जिनमंदिरमें नियमित पूजा करने जाना चाहिये। रातमें भोजन न करना चाहिये। जखूरत हो तो गरम दूधका उपयोग करना चाहिये।

७. काव्य, साहित्य अथवा समाज आदि कला यदि आत्मार्थके लिये न हों, तो वे कल्पित ही हैं। कल्पित अर्थात् निरर्थक—जो सार्थक न हो—वह जीवकी कल्पनामात्र है। जो भक्ति प्रयोजनरूप अथवा आत्मार्थके लिये न हो वह सन कल्पित ही है।

८०५

मोरवी, चैत्रगदी १२, १९५५

प्रश्न —श्रीमद् आनन्दघनजीने श्रीअजितनाथजीके स्तवनमें कहा है—तरतम योग रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार। पंधडो० —इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर —ज्यों ज्यों योगकी (मन वचन कायाकी) तरतमता अर्थात् अधिकता होती है, त्यों त्यों वासनाकी भी अधिकता होती है—यह ' तरतम योग रे तरतम वासना रे ' का अर्थ है। अर्थात् यदि कोई पुरुष बलवान योगगाला हो, उसके मनोबल वचनबल आदि बलवान हों, और वह किसी पथको चलाता हो, परन्तु जैसा बलवान उसका मन वचन आदि योग हे, उसकी वैसी ही बलवान अपनेको मनवानेकी, पूजा करानेकी, मान सत्कार वैभवं आदिकी वासना हो, तो उस वासनावालेका बोध वासित बोध हुआ—कपाययुक्त बोध हुआ—वह विषय आदिकी लालसागाला बोध हुआ—वह मानके लिये बोध हुआ—आत्मार्थके लिये वह बोध न हुआ। श्रीआनन्दघनजी श्रीअजितप्रभुका स्तवन करते हैं कि हे प्रभो ! ऐसा आधाररूप जो वासित बोध है, वह मुझे नहीं चाहिये। मुझे तो कपायरहित, आत्मार्थसंपन्न और मान आदि वासनारहित बोधकी जरूरत है। ऐसे पथकी गवेषणा मैं कर रहा हूँ। मन वचन आदि बलवान योगवाले जुदे जुदे पुरुष बोधका प्ररूपण करते आये हैं, ओर प्ररूपण करते हैं, परन्तु हे प्रभो ! वासनाके कारण वह बोध वासित है, ओर मुझे तो वासनारहित बोधकी जरूरत है। हे वासनारहित कपाय आदि जीतनेवाले जिन वीतराग अजितदेव ! ऐसा बोध तो तेरा ही है। उस तेरे पथको मैं खोज रहा हूँ—देख रहा हूँ। वह आधार मुझे चाहिये।

(२) आनन्दघनजीकी चौतीसी कठम्य करने योग्य है। उसका अर्थ विवेचनपूर्वक लिखने योग्य है। सो लिखना।

* मैं कौन हूँ, कहींसे आया हूँ, भय सच्चा स्वरूप क्या है, किसके सबधमें यह सत्प्रता है, इसे रकड़ या छोड़ दूँ। देखो मोक्षमाला पृष्ठ ६७ पाठ ६७

८०६

मोरनी चत्र वदी १४, १९५५

ॐ श्रीहेमचन्द्राचार्यको हुए आठसो बरस हो गये। श्रीआनदघनजीकी दोसो बरस हो गये। श्रीहेमचन्द्राचार्यने लोकानुग्रहमें आत्मसमर्पण किया। श्रीआनदघनजीने आत्महित साधन-प्रवृत्तिको मुराय बनाया। श्रीहेमचन्द्राचार्य महाप्रभाकर बलवान क्षयोपशमनाले पुरुष थे। वे इतने सामर्थ्यवान् थे कि वे चाहते तो एक जुदा ही पथ चला सकते थे। उन्होंने तीस हजार घरोंको श्रायक बनाया। तीस हजार घर अर्थात् सत्रा लाखसे डेढ़ लाख मनुष्योंकी सरया हुई। श्रीसहजानन्दजीके सम्प्रदायमें कुल एक लाख आदमी होंगे। जब एक लाखके समूहसे सहजानन्दजीने अपना सम्प्रदाय चलाया, तो श्रीहेमचन्द्राचार्य चाहते तो डेढ़ लाख अनुयायियोंका एक जुदा ही सम्प्रदाय चला सकते थे।

परन्तु श्रीहेमचन्द्राचार्यको लगा कि सम्पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ तीर्थकर ही धर्मप्रवर्तक हो सकते हैं। हम तो केवल उन तीर्थकरकी आज्ञासे चलकर उनके परमार्थमार्गको प्रकाश करनेके लिये प्रयत्न करनेवाले हैं। श्रीहेमचन्द्राचार्यने वीतरागमार्गके परमार्थका प्रकाश करनेरूप लोकानुग्रह किया। ऐसा करनेकी जरूरत भी थी। वीतरागमार्गके प्रति निमुखता और अन्यमार्गकी तरफसे निपमता ईर्ष्या आदि आरम्भ हो चुके थे। ऐसी निपमतामें लोगोको वीतरागमार्गकी ओर फिराने, लोकोपकार करने तथा उस मार्गके रक्षण करनेकी उन्हें जरूरत माट्टम हुई। हमारा चाहे कुछ भी हो, इस मार्गका रक्षण होना ही चाहिये। इस तरह उन्होंने अपने आपको अर्पण कर दिया। परन्तु इस तरह उन जैसे ही कर सकने हैं—वैसे भाग्यवान्, माहात्म्यवान्, क्षयोपशमना ही कर सकते हैं। जुदा जुदा दर्शनान्को यथायत् तोलकर अमुक दर्शन सम्पूर्ण सत्यस्वरूप है, जो ऐसा निश्चय कर सके, ऐसा पुरुष ही लोकानुग्रह परमार्थप्रकाश और आत्मसमर्पण कर सकता है।

श्रीहेमचन्द्राचार्यने बहुत किया। श्रीआनदघनजी उनके उहसो बरस बादमें हुए। इस उहसो बरसके भीतर वेसे दूसरे हेमचन्द्राचार्यकी जरूरत थी। निपमता व्याप्त होती जा रही थी। काल उग्र रूप धारण करता जाता था। श्रीबल्लभाचार्यने श्रृंगारयुक्त धर्मका प्ररूपण किया। लोग श्रृंगारयुक्त धर्मकी ओर फिरे—उस ओर आकर्षित हुए। वीतरागधर्मके प्रति निमुखता बढ़ती गई। जीव अनादिसे ही श्रृंगार आदि विमानमे मूर्च्छा प्राप्त कर रहा है, उसे वैराग्यके समुख होना मुश्किल है। वहाँ फिर यदि उसके पास श्रृंगारको ही धर्मरूपसे रक्खा जाय, तो फिर वह वैराग्यकी ओर किस तरह फिर सकता है? इस तरह वीतरागमार्गकी निमुखता बढ़ी।

वहाँ फिर प्रतिमा-प्रतिपक्ष सप्रदाय ही जेनधर्ममें खड़ा हो गया। उससे, ध्यानका कार्य और स्वरूपका कारण ऐसी जिन-प्रतिमाके प्रति लाखों लोग दृष्टि-निमुख हो गये। वीतरागशास्त्र कल्पित अर्थसे विराधित हुए—कितने तो ममूख ही खडित किये गये। इस तरह इन उहसो बरसक अतरालमें वीतरागमार्गके रक्षक दूसरे हेमचन्द्राचार्यकी जरूरत थी। आचार्य तो अय भी बहुतसे हुए हैं, परन्तु वे श्रीहेमचन्द्राचार्य जैसे प्रमानशाली नहीं हुए, अर्थात् वे निपमताके सामने नहीं टिक सके। निपमता बढ़ती गई। उस-समय दोसो बरस पूर्व श्रीआनन्दघनजी हुए।

श्रीआनदघनजीने स्वपर-हितबुद्धिमे लोकोपकार-प्रवृत्ति आरम्भ की। उन्होंने इस मुख्य प्रवृत्तिमे आत्महितको गौण किया, परन्तु वीतरागधर्म-निमुखता—निपमता—इतनी अधिक बढ़ गई थी।

लोग धर्मको अथवा आनदघनजीको पहिचान न सके—समझ न सके । अन्तमें श्रीआनदघनजीको लगा कि प्रगटरूपसे व्याप्त विपयताके योगमें लोकोपकार, परमार्थप्रकाश करनेमें असरकारक नहीं होता, ओर आत्महित गौण होकर उसमें बाधा आती है, इसलिये आत्महितको मुराय करके उसमें ही प्रवृत्ति करना योग्य है । इस विचारणासे अन्तमें वे लोकसगको छोड़कर वनमें चल दिये । वनमें विचरते हुए भी वे अप्रगटरूपसे रहकर चौनीसपद आदिके द्वारा लोकोपकार तो कर ही गये हैं । मिष्कारण लोकोपकार यह महापुरुषोंका धर्म है ।

प्रगटरूपसे लोग आनदघनजीको पहिचान न सके । परन्तु आनदघनजी अप्रगट रहकर उनका हित ही करते रहे ।

इस समय तो श्रीआनदघनजीके समयकी अपेक्षा भी अधिक विपयता—नीतरागमार्ग-विमुखता—व्याप्त हो रही है ।

(२) श्रीआनदघनजीको सिद्धांतबोध तीव्र था । वे श्रेताम्बर सम्प्रदायमें थे । यदि 'चूराणि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परंपर अनुभव रे' इत्यादि पचासीका नाम उनके श्रीनमिनाथजीके स्तनमें न आया होता, तो यह भी खबर न पडती कि वे श्रेताम्बर सम्प्रदायके थे या दिगम्बर सम्प्रदायके ?

८०७

मोरनी चैत्र वदी १५, १९५५

'इस भारतवर्षकी अवोगति जैनधर्मसे हुई है—' ऐसा महीपतराम रूपराम कहते थे—लिखते थे । करीब दस बरस हुए उनका अहमदानादमें मिलाप हुआ, तो उनसे पूछा —

प्रश्न —माई ! जैनधर्म क्या अहिंसा, सत्य, मेळ, न्याय, नीति, आरोग्यप्रद आहार-पान, अन्यसन, ओर उचम आदिका उपदेश करता है ?

उत्तर.—हाँ (महीपतरामने उत्तर दिया) ।

प्रश्न —माई ! जैनधर्म क्या हिंसा, असत्य, चोरी, फट, अन्याय, अनीति, विरुद्ध आहार-विहार, विषयलाळसा, आलस-प्रमाद आदिका निषेध करता है ?

महीपतराम—हाँ ?

प्रश्न —देशकी अवोगति किससे होती है ? क्या अहिंसा, सत्य, मेळ, न्याय, नीति, तथा जो आरोग्य प्रदान करे ओर उसकी रक्षा करे ऐसा शुद्ध सादा आहार-पान, और अन्यसन, उचम आदिसे देशकी अवोगति होती है ? अथवा उससे विपरीत हिंसा, असत्य, फट अन्याय, अनीति, तथा जो आरोग्यको बिगाड़े ओर शरीर-मनको अशक्त करे ऐसा विरुद्ध आहार-विहार, और व्यसन, मौज शौक, आलस प्रमाद आदिसे देशकी अवोगति होती है ।

उत्तर —दूसरेसे, अर्थात् विपरीत हिंसा, असत्य, फट, प्रमाद आदिसे ?

प्रश्न —तो फिर क्या इनसे उल्टे अहिंसा, सत्य, मेळ, अन्यसन, उचम आदिसे देशकी उन्नति होती है ?

उत्तर.—हाँ ।

प्रश्न —तो क्या जैनधर्म ऐसा उपदेश करता है कि जिससे देशकी अवोगति हो ? या वह ऐसा उपदेश करता है कि जिससे देशकी उन्नति हो ?

उत्तर—भाई ! मैं कबूल करता हूँ कि जैनधर्म ऐसे सागनोंका उपदेश करता है जिससे देशकी उन्नति हो । ऐसी सूक्ष्मतासे निवेकपूर्वक मैंने विचार नहीं किया था । हमने तो बालरूपनमें पादरियोंकी पाठशाळामें पढ़ते समय पड़े हुए सस्कारोंसे, बिना विचार किये ही ऐसा कह दिया था—
ठिख मारा था ।

महापतरामने सरलतासे कबूल किया । सत्य-शौचनमें सरलताकी जरूरत है । सत्यका मर्म लेनेके लिये निवेकपूर्वक मर्ममें उतरना चाहिये ।

८०८

मोरनी, वैशाख सुदी २, १९५५

उद्योतिपत्नी कल्पित समझकर उसको हमने त्याग दिया है । लोगोंमें आत्मार्थता उद्भूत कम हो गई है—यह नहींकी तरह रह गई है । इस समयमें स्वार्थके हेतुसे लोगोंने हमें कष्ट देना शुरू कर दिया । इसलिये जिससे आत्मार्थ साध्य न हो ऐसे इस विषयको कल्पित—असार्थक—समझकर हमने गोण कर दिया, उसका गोपन कर दिया ।

२ लोग किसी कार्यकी तथा उसके कर्त्ताकी प्रशंसा करते हैं, यह ठीक है । यह सत्र कार्यका पोषक तथा उसके कर्त्ताके उत्साहको बढ़ानेवाला है । परन्तु साथ साथमें इस कार्यमें जो कमी हो उसे भी निवेक और अभिमानरहितभावसे सन्ध्यापूर्वक उतारना चाहिये, जिससे फिर कमीका अवकाश न रहे, और वह कार्य न्यूनतारहित होकर पूर्ण हो जाय । केवल प्रशंसा-गान करनेसे ही सिद्धि नहीं होती । इससे तो उल्टा मिथ्याभिमान ही बढ़ता है । वर्तमानके मानपत्र आदिमें यह प्रथा विशेष है । निवेक चाहिये ।

३ परिग्रहधारी यतियोंका समान करनेसे मिथ्यात्वको पोषण मिलता है—मार्गका विरोध होता है । दाक्षिण्य-सम्पत्ता-की भी रक्षा करनी चाहिये । जीनको त्याग करना अच्छा नहीं लगता, कुछ करना अच्छा नहीं लगता, और उसे मिथ्या होशियारी होशियारीकी बातें करना है, मान छोड़ना नहीं, उससे आत्मार्थ सिद्ध नहीं होता ।

८०९

मोरनी, वैशाख सुदी ६, १९५५

ॐ ध्यान श्रुतके उपकारक साधनवाले चाहे जिस क्षेत्रमें चातुर्मासकी स्थिति होनेसे आज्ञान्ता अतिक्रम नहीं—ऐसा मुनिश्री आदिको सत्रिनय कहना ।

जिस सत्श्रुतकी जिज्ञासा है, वह सत्श्रुत थोड़े दिनोंमें प्राप्त होना सभ्य है—ऐसा मुनिश्रीको निवेदन करना ।

वीतराग-समार्गकी उपासनामें वीर्यको उत्साहयुक्त करना ।

८१०

वनाणीआ, वैशाख सुदी ७, १९५५

ॐ गृहवासका जिसे उदय रहता है, वह यदि किसी भी शुभध्यानकी प्राप्तिमें इच्छा करता हो, तो उसके मूल हेतुभूत अमुक सदाचरणपूर्वक रहना योग्य है । उस अमुक नियममें 'यायसपन्न आजी-निकादि व्यवहार' इस पहिले नियमको साध्य करना योग्य है । इस नियमके साध्य होनेसे बहुतसे

आत्मगुणोंके प्राप्त करनेका अधिकार उत्पन्न होता है । यदि इस प्रथम नियमके ऊपर ध्यान रखा जाय, और उस नियमको अवश्य सिद्ध किया जाय, तो कपाय आदि स्वभाजसे मद पड़ने योग्य हो जाती हैं, अथवा ज्ञानीका मार्ग आत्म-परिणामी होता है । उसके ऊपर ध्यान देना योग्य है ।

८११

ईडर, वैशाख वदी ६ मंगल १९५५

ॐ

उस क्षेत्रमें यदि निवृत्तिका विशेष योग हो, तो कार्तिकेयानुप्रेक्षाका वारम्बार निदिध्यासन करना चाहिये—ऐसा मुनिश्रीको विनयपूर्वक कहना योग्य है ।

जिन्होंने ब्राह्मण्यतर असंगता प्राप्त की है, ऐसे महात्माओंको ससारका अंत समीप है—ऐसा निम्स देह ज्ञानीका निश्चय है ।

८१२

सर्व चारित्र्य यशाभूत करनेके लिये, सर्व प्रमाद दूर करनेके लिये, आत्ममें अखडवृत्ति रहनेके लिये, मोक्षसबधी सब प्रकारके साधनोंका जय करनेके लिये, 'ब्रह्मचर्य' अद्भुत अनुपम सहकारी है, अथवा मूलभूत है ।

८१३

ईडर, वैशाख वदी १० शनि १९५५

ॐ किसनदासजीकृत क्रियाकोप नामक पुस्तक मिली होगी । उसका आदिसे लगाकर अततक अध्ययन करनेके पश्चात्, सुगम भाषामें एक तद्विषयक निबन्ध लिखनेसे विशेष अनुप्रेक्षा होगी, और वैसी क्रियाका आचरण भी सुगम है—यह स्पष्टता होगी, ऐसा समझ है ।

राजनगरमें परम तत्त्वदृष्टिका प्रसंगोपात्त उपदेश हुआ था, उसे अप्रमत्त चित्तसे बारवार एकात-योगमें स्मरण करना उचित है ।

ॐ

स
क्षीण हो गई है ।
५८
सम्प्राप्त हो जा मकता

ॐ भागका सर्व
है ।
प्राप्त हो
जा मकता

ॐ,

दि सर्व विभाव जिसके
होता है ।

८१६

बम्बई, ज्येष्ठ १९५५

ॐ अहो सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम ।

सुपुत्र चेतनको जाग्रत करनेवाले, पतित होती हुई वृत्तिको स्थिर रखनेवाले, दर्शनमात्रसे भी निर्दोष अपूर्व स्वभावके प्रेरक, स्वरूप प्रतीति, अप्रमत्त समय और पूर्ण धीतराग निर्विकल्प स्वभावके कारणभूत, और अतमें अयोगी स्वभाव प्रगट कर, अनत अव्याज्जान स्वरूपमें स्थिति करानेवाले । त्रिकाल जयत तर्तों ! ॐ शान्ति शान्ति

८१७

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ११ भोग १९५५

(१) यदि मुनि अध्ययन करते हों तो योगप्रदीप श्रवण करना । कार्तिकेयानुप्रेक्षाका योग तुम्हें बहुत करके मिलेगा ।

* (२) जेना काल ते किंकर थई रह्यो, मृगतृष्णाजल लोक ॥ जीव्यु धन्य तेहनु । दासी आशा पिशाची थई रही, कामक्रोध ते केदरी लोक ॥ जीव्यु० । दीसे खाता पीतां बोलता, नित्ये छे निरजन निराकार ॥ जीव्यु० । जाणे सत सलोणा तेहने, जेने होय छेलो अवतार ॥ जीव्यु० । जगपावनरुर ते अवतर्या, अन्य मातउदरनो भार ॥ जीव्यु० । तेने चौद लोकमां विचरतां, अतराय कोये नव थाय ॥ जीव्यु० । रिधिसिधियो दासियो थई रही, ब्रह्मानन्द हृदे न समाय ॥ जीव्यु० ।

८१८

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी २ रति. १९५५

ॐ जिस विषयकी चर्चा चलती हे वह ज्ञान हे । उसने सत्रधमे यथानुसरोदय ।

८१९

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ७ शुक्र १९५५

व्यवहार-प्रतिबधसे निक्षेप न पाकर, धैर्य रखकर उत्साहमान धीर्यसे स्वरूपनिष्ठ वृत्ति करना योग्य हे ।

८२०

मोहमयी, आपादि सुदी ८ रति १९५५

१ इससे सरल दूसरा क्रियाकोप नहीं । विशेष अनलोकन करनेसे स्पष्टार्थ होगा ।

* जिसका काल किंकर हो गया है, और जिसे लोक मृगतृष्णाके जलके समान मान्द्रम होता है, उसका जीना धन्य है ॥ जिसकी आधारूपी पिशाचिनी दासी है, और काम क्रोध जिसके बन्दी लोग हैं, उसका जीना धन्य है ॥ जो यद्यपि खाता, पीता और बोलता हुआ दिखाई देता है, परन्तु जो नित्य निरजन और निराकार है, उसका जीना धन्य है ॥ उस सलोना सत जानो और उसका यह अन्तिम भय है, उसका जीना धन्य है ॥ उसने जगत्को पावित्र्य करनेके लिये अवतार लिया है, बाकी तो सब माताके उदरके भारभूत ही हैं, उसका जाना धन्य है ॥ उसे चौदह लोकमें विचरण करते हुए किसीसे भी अवतरण नहीं होता, उसका जीना धन्य है ॥ उसकी शक्ति छिदि सय दासियों हो गई हैं, और उसके हृदयमें ब्रह्मानन्द नहीं समाता, उसका जीना धन्य है ।

आत्मगुणोंके प्राप्त करनेका अधिकार उत्पन्न होता है। यदि इस और उस नियमको अवश्य सिद्ध किया जाय, तो कपाय आदि अथवा ज्ञानीका मार्ग आत्म-परिणामी होता है। उसके ऊपर

८११

ॐ

उस क्षेत्रमें यदि निवृत्तिका विशेष योग हो, तो कार्तिकेय चाहिये—ऐसा मुनिश्रीको नियमपूर्वक कहना योग्य है।

जिन्होंने वाद्याभ्यन्तर असंगता प्राप्त की है, ऐसे महात्माओं-निम्नदेह ज्ञानीका निश्चय है।

८१२

सर्व चारित्र्य वर्णाभूत करनेके लिये, सर्व प्रमाद दूर करनेके लिये, मोक्षसत्रधी सत्र प्रकारके साधनोंका जय करनेके लिये, ब्रह्मचर्य अथवा मूलभूत है।

८१३

ईश्वर, वैशाख

ॐ किसनदासजीकृत क्रियाकोप नामक पुस्तक मिली होगी। उसका आ-अध्ययन करनेके पश्चात्, सुगम भाषामें एक तद्विषयक निबन्ध लिखनेसे विशेष वैसी क्रियाका आचरण भी सुगम है—यह स्पष्टता होगी, ऐसा समझ है।

राजनगरमें परम तत्त्वदृष्टिका प्रसंगोपात्त उपदेश हुआ था, उसे अप्रमत्त चित्त-योगमें स्मरण करना उचित है।

८१४

ॐ नमः

सर्वज्ञ वीतरागदेव

सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भास्का सर्व प्रकारसे जाननेवाला, और राग-द्वेष आदि सर्व विभान क्षीण हो गये हैं, वह ईश्वर है।

वह पद मनुष्यदेहमें प्राप्त हो सकता है। जो सम्पूर्ण वीतराग हो वह सम्पूर्ण सर्वज्ञ होता है सम्पूर्ण वीतराग हुआ जा सकता है, ऐसे हेतु सुप्रतीत होते हैं।

८१५

नडियाद, ज्येष्ठ १९५५

मंत्र तत्र औषध नहीं, जेथी पाप पलाय।
वीतरागवाणी विना अवर न कोई उपाय ॥

८१६

बम्बई, ज्येष्ठ १९५५

ॐ अहो सत्पुरुषके वचनामृत, मुद्रा और सत्समागम !

सुप्त चेतनको जाग्रत करनेवाले, पतित होती हुई वृत्तिको स्थिर रखनेवाले, दर्शनमात्रसे भी निर्दोष अपूर्ण स्वभावाके प्रेरक, स्वरूप प्रतीति, अप्रमत्त समय और पूर्ण वीतराग निर्बिकल्प स्वभावाके कारणभूत, और अन्तमें अयोगी स्वभावा प्रगट कर, अनत अव्यावाय स्वरूपमें स्थिति करानेवाले ! त्रिकाल जयन्त तर्तों ! ॐ शान्ति शान्ति

८१७

बम्बई, ज्येष्ठ सुदी ११ भौम १०५५

(१) यदि मुनि अध्ययन करते हों तो योगप्रदीप श्रवण करना । कार्तिकेयानुपेक्षाका योग तुम्हें बहुत करके मिलेगा ।

* (२) जेनो फाळ ते किंकर थई रह्यो, मृगतृष्णाजल लोक ॥ जीव्यु धन्य तेहनु । दासी आशा पिशाची थई रही, कामक्रोध ते केदी लोकर ॥ जीव्यु० । टीसे खाता पीतां बोलता, नित्ये छे निरजन निराकार ॥ जीव्यु० । जाणे सत सलोणा तेहने, जेने होय छेलां अवतार ॥ जीव्यु० । जगपावनरुर ते अवतर्यो, अन्य मातउदरनो भार ॥ जीव्यु० । तेने चौद लोकमां विचरता, अंतराय कोये नव थाय ॥ जीव्यु० । रिबिसिधियो दासियो थई रही, ब्रह्मानंद हुदे न समाय ॥ जीव्यु० ।

८१८

बम्बई, ज्येष्ठ वदी २ रवि. १९५५

ॐ जिस विषयकी चर्चा चलती है वह ज्ञान है । उसके समर्थमें ययासरथोदय ।

८१९

बम्बई, ज्येष्ठ वदी ७ शुक्र १९५५

व्यवहार-प्रतिबन्धसे विक्षेप न पाकर, धैर्य रखकर उत्साहमान नीर्यसे स्वरूपनिष्ठ वृत्ति करना योग्य है ।

८२०

मोहमयी, आपाद सुदी ८ रवि १०५५

१ इससे सरल दूसरा क्रियाकोप नहीं । विशेष अन्लोकन करनेसे स्पष्टार्थ होगा ।

* जिसका काल किंकर हो गया है, और जिसे लोक मृगतृष्णाके जल्के समान मारुत होता है, उसका जीना धन्य है ॥ जिसकी आशास्त्री पिशाचिनी दासी है, और काम क्रोध उसके बंदी लोग हैं, उसका जीना धन्य है ॥ जो यद्यपि खाता, पीता और बोलता हुआ दिखाई देता है, परन्तु जो नित्य निरजन और निराकार है, उसका जीना धन्य है ॥ उस सलोणा सत जानो और उसका यह अन्तिम भय है, उसका जीना धन्य है ॥ उसने जगत्को पावन करनेके लिये अवतार लिया है, बाकी तो सब माताके उदरके भारभूत ही हैं, उसका जीना धन्य है ॥ उसे चौदह लोकमें विचरण करते हुए किसीसे भी अंतराय नहीं होता, उसका जीना धन्य है ॥ उसकी ऋद्धि सिद्धि सब दासियों हो गई हैं, और उसके हृदयमें ब्रह्मानंद नहीं समाता, उसका जीना धन्य है ।

२ शुद्ध आत्मस्थितिके पारमार्थिक श्रुत और इन्द्रियजय ये दो मुख्य अग्रलक्षण हैं। उनकी सुदृढ़तापूर्वक उपासना करनेसे उनकी सिद्धि होती है।

हे आर्य ! निराशाके समय महात्मा पुरुषोंका अद्भुत चारित्र्य स्मरण करने योग्य है। उच्छासित वीर्यवान्, परमतत्त्वकी उपासना करनेका मुख्य अधिकारी है।

३ अप्रमत्त स्वभावाका बारम्बार स्मरण करते हैं। शान्ति।

८२१

बम्बई, आपाढ़ वदी ८ रवि १९५५

ॐ. मुमुक्षु तथा दूसरे जीवोंके उपकारके निमित्त जो उपकारशील बाह्य प्रतापकी सूचना—
विज्ञप्ति—की है, वह अथवा दूसरे कोई कारण किसी अपेक्षासे उपकारशील होते हैं।

हालमें जैसे प्रवृत्ति-स्वभावाके प्रति उपशात वृत्ति है। प्रारब्धयोगसे जो बने वह भी शुद्ध स्वभावके अनुसंधानपूर्वक ही होना योग्य है।

महात्माओंने निष्कारण करुणासे परमपदका उपदेश किया है। उससे यह माध्यम होता है कि उस उपदेशका कार्य परम महान् ही है। सब जीवोंके प्रति बाह्य दयामें भी अप्रमत्त रहनेका जिसके योगका स्वभावा है, उसका आत्मस्वभावा सब जीवोंको परमपदके उपदेशका आकर्षक हो—जैसी निष्कारण करुणावाला हो—वह यथार्थ है।

८२२

बम्बई, आपाढ़ वदी ८ रवि १९५५

ॐ नमः

बिना नयन पाये नहीं, बिना नयनकी वात

इस वाक्यका मुख्य हेतु आत्मदृष्टिसवधी है। यह वाक्य स्वाभाविक उत्कर्षार्थके लिये है। समागमके योगमें इसका स्पष्टार्थ समझमें आ सकता है। तथा दूसरे प्रश्नोंके समाधानके लिये हालमें बहुत ही अल्प प्रवृत्ति रहती है। सत्समागमके योगमें उनका सहज ही समाधान हो सकता है।

‘बिना नयन’ आदि वाक्यका अपनी निजकल्पनासे कुछ भी विचार न करते हुए, अथवा जिससे शुद्ध चैतन्यदृष्टिके प्रति जो वृत्ति है वह निक्षेप प्राप्त न करे, इस तरह आचरण करना चाहिये। कार्तिकेयानुप्रेक्षा अथवा दूसरे सत्शास्त्र बहुत करके छोड़े समयमें मिलेंगे।

दुःख पम काल है, आयु अल्प है, सत्समागम दुर्लभ है, महात्माओंके प्रत्यक्ष वाक्य चरण और आज्ञाका योग मिलना कठिन है। इस कारण ब्रह्मज्ञान अप्रमत्त प्रयत्न करना चाहिये। शान्ति

८२३

बम्बई, श्रावण सुदी ३, १९५५

ॐ परमपुरुषकी मुख्य भक्ति, ऐसे सदाचरणसे प्राप्त होती है जिससे उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धि हो।

चरणप्रतिपत्ति (शुद्ध आचरणकी उपासना) रूप सदाचरण ज्ञानीकी मुख्य आज्ञा है, जो आज्ञा परमपुरुषकी मुख्य भक्ति है।

उत्तरोत्तर गुणोंकी वृद्धि होनेमें गृहवासी जनोंको सनुषमरूप आजीविका व्यवहारसहित प्रवृत्ति करना योग्य है। बहुतसे शास्त्र और ग्रन्थोंका अभ्यास करते हुए भी, जीव यदि ज्ञानी-पुरुषोंकी एक एक आज्ञाकी उपासना करे, तो बहुतसे शास्त्रोंसे होनेवाला फल सहजमें ही प्राप्त हो जाय।

८२४

मोहमयी क्षेत्र, श्रावण सुदी ७, १९५५

ॐ श्रीपद्मनन्दि शास्त्रकी एक प्रति, किमी अच्छे आदमीके हाथ, जिससे वसो क्षेत्रमें मुनिश्रीको प्राप्त हो, ऐसा करना।

बलयान निवृत्तिवाले द्रव्य क्षेत्र आदि योगमें उस शास्त्रका तुम बारम्बार मनन और निदिध्यासन करना। प्रवृत्तिवाले द्रव्य क्षेत्र आदिमें उस शास्त्रको वाँचना योग्य नहीं।

जब तीन योगकी अल्प प्रवृत्ति हो—वह भी सम्यक् प्रवृत्ति हो— तब महान् पुरुषके वचना-श्रुतका मनन परम श्रेयके मूलको दृढ़ करता है—यह क्रमसे परमपदको प्राप्त कराता है।

चित्तको निक्षेपरहित रखकर परमशात श्रुतका अनुप्रेक्षण करना चाहिये।

८२५

मोहमयी, श्रावण सुदी ७, १९५५

अगम्य होनेपर भी सरल ऐसे महान् पुरुषोंके मार्गको नमस्कार हो!

१ महान् भाग्यके उदयसे अथवा पूर्वके अभ्यस्त योगसे जीवको सच्ची मुमुक्षुता उत्पन्न होती है, जो अति दुर्लभ है। वह सच्ची मुमुक्षुता प्रायः महान् पुरुषोंके चरणकमलकी उपासनासे प्राप्त होती है, अथवा वैसी मुमुक्षुतावाली आत्माको महान् पुरुषके योगसे आत्मनिष्ठभाज होता है—सनातन अनन्त ज्ञानी-पुरुषोंद्वारा उपासित सन्मार्ग प्राप्त होता है। सच्ची मुमुक्षुता जिसे प्राप्त हो गई हो, उसे भी ज्ञानीका ममलग्न और आज्ञा, अप्रमत्तयोग कराते हैं। मुख्य मोक्षमार्गका क्रम इस तरह मात्रम् होता है।

२ वर्त्तमानकालमें ऐसे महान् पुरुषका योग अति दुर्लभ है। क्योंकि उत्तम कालमें भी उस योगकी दुर्लभता होती है। ऐसा होनेपर भी जिसे सच्ची मुमुक्षुता उत्पन्न हो गई हो, रात दिन आत्म-कल्याण होनेका तथारूप चिन्तन रखा करता हो, जैसे पुरुषको वैसा योग प्राप्त होना सुलभ है।

३ आत्मानुशासन हालमें मनन करने योग्य है। शांति

८२६

बम्बई, भाद्रपद सुदी ५ रवि १९५५

(१)

ॐ जिन वचनोंकी आकांक्षा है, वे प्रायः थोड़े समयमें प्राप्त होंगे।

इन्द्रियनिग्रहके अभ्यासपूर्वक सन्तुष्ट और सत्समागमकी निरन्तर उपासना करनी चाहिये।

क्षीणमोहपर्यन्त ज्ञानीकी आज्ञाका अनुत्पन्न परम हितकारी है।

आज दिनतक तुम्हारे प्रति तथा तुम्हारे समीप रहनेवाला कोई और मर्दानेके प्रति प्रमत्तभावसे जो कुछ अन्यथा हुआ हो, उसके लिये नम्रभावसे क्षमाकी वाचना है। इत्यम्

८३०

मोहमयी, कार्तिक सुदी ५, १९५५

ॐ

जिससे अविरोध और एकता रहे वैसा करना चाहिये, और इन सबका उपकारका मार्ग समझ हे । भिन्नता मानकर प्रवृत्ति करनेसे जीव उल्टा चलता है । वास्तवमें तो अभिन्नता है—एकता है—इसमें सहज समझका फेर होनेसे ही तुम भिन्नता समझते हो, ऐसी उन जीवोंको यदि शिक्षा मिले, तो सन्मुखवृत्ति हो सकती है ।

जबतक परस्पर एकताका व्यवहार रहे तबतक वह सर्वा कर्तव्य हे । ॐ.

८३१ मोहमयी क्षेत्र, कार्तिक सुदी १४ गुरु. १९५५

हालमें मैं अमुक मासपर्यंत यहाँ रहनेका विचार रखता हूँ । अपनेसे बनता ध्यान दूँगा । अपने मनमें निर्दिष्ट रहना ।

केवल अन्नवस्त्र ही तो भी बहुत है । परन्तु व्यवहारप्रतिबद्ध मनुष्यको कुछ सयोगोंके कारण थोड़ा बहुत चाहिये, इसलिये यह प्रयत्न करना पड़ा है । इसलिये धर्मकीर्तिपूर्वक वह सयोग जबतक उदयमान हो, तबतक जितना बन पड़े उतना बहुत है ।

हालमें मानसिक वृत्तिसे बहुत ही प्रतिकूल मार्गमें प्रयास करना पड़ा है । तप्त-हृदयसे और शांत आत्मासे सहन करनेमें ही हर्ष मानता हूँ । ॐ शान्ति ।

(२)

ईडर, पोप १९५५

मा मुञ्जह मा रज्जह मा दुस्सह इट्ठणिट्ठअत्थेसु ।

धिरमिच्छह जह चित्तं विचित्तज्ञाणप्पसिद्धीए ॥

पणतीससोलछप्पणचउदुगमेग च जवह ज्ञाएह ।

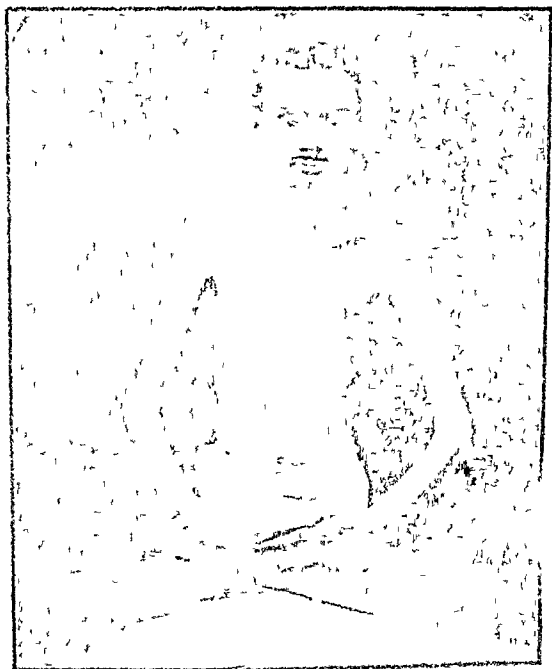
परमंठिवाचयाण अण्णं च गुरुवएसेण ॥

—यदि तुम स्थिरताकी इच्छा करते हो, तो प्रिय अध्या अप्रिय वस्तुमें मोह न करो, राग न करो, द्वेष न करो । अनेक प्रकारके ध्यानकी प्रातिके लिये पैतीस, सोलह, छह, पाँच, चार, दो और एक—इस तरह परमेष्ठीपदके वाचक मंत्रोंका जपपूर्वक ध्यान करो । इसका विशेष स्वरूप श्रीगुरुके उपदेशसे समझना चाहिये ।

जं किंचिवि चिंततो णिरीहविती हवे जदा साहू ।

लज्जणय एयत्त तदाहु तं तस्स णिच्चय ज्ञाणं ॥

—ध्यानमें एकाग्रवृत्ति रखकर जो माधु निस्पृह-वृत्तिमान् अर्थात् सर्व प्रकारकी इच्छासे रहित होता है, उसे परमपुरुष निश्चय ध्यान कहते हैं ।



श्रीमद् रामकृष्ण

वर्ष २२ सु

दि न १९५६

३३वाँ वर्ष

८३२

(१)

ॐ

बम्बई, कार्तिक पूनम, १९५६

१ गुरु गणधर गुणधर अधिक, प्रचुर परपर और ।

व्रततपधर तनु नगनधरं, वदौ वृष सिरमौर ॥

२ जगत्, विषयके निक्षेपमें स्वरूपविभ्रान्तिसे निश्चान्ति नहीं पाता ।

३ अनंत अव्याप्य सुखका एक अनय उपाय स्वरूपस्थ होना ही है । यही हितकारी उपाय ज्ञानियोंने देखा है । भगवान् जिनने द्वादशांगीका इसीलिये निरूपण किया है, और इसी उत्कृष्टतासे वह शोभित है, जयप्रत है ।

४ ज्ञानीके वाक्यके श्रवणसे उल्लासित हुआ जीव चेतन-जड़को यथार्थरूपसे भिन्नस्वरूप प्रतीत करता है, अनुभव करता है—अनुक्रममें स्वरूपस्थ होता है । यथास्थित अनुभव होनेसे वह स्वरूपस्थ हो सकता है ।

५ दर्शनमोहका नाश होनेसे ज्ञानीके मार्गमें परमभक्ति उत्पन्न होती है—तत्त्वप्रतीति सम्यक्-रूपसे उत्पन्न होती है ।

६ तत्त्वप्रतीतिसे शुद्ध चेतन्यके प्रति वृत्तिका प्रवाह फिर जाता है ।

७ शुद्ध चेतन्यके अनुभवके लिये चारित्रमोहका नाश करना योग्य है ।

८ चारित्रमोह चैतन्यके-ज्ञानी पुरुषके-समार्गके नैष्ठिकभावसे नाश होता है ।

९ असगतासे परमात्मगाढ़ अनुभव हो सकता है ।

१० हे आर्य मुनिवरो ! इसी असग शुद्ध चैतन्यके लिये असगयोगकी अहर्निश इच्छा करते हैं । हे मुनिवरो ! असगका अभ्यास करो ।

११ जो महात्मा असग चैतन्यमें लीन हुए हैं, होते हैं और होंगें, उन्हें नमस्कार हो !
ॐ शान्ति ।

(२)

हे मुनियो ! जबतक केवल समग्रस्थानरूप महजस्थिति स्वाभाविक न हो जाय, तबतक तुम ध्यान और स्वाध्यायमें लीन रहो ।

जीव जब केवल स्वाभाविक स्थितिमें स्थित हो जाय, तो वहाँ कुछ करना बाकी नहीं रहा ।

जहाँ जीवके परिणाम वर्धमान-हीयमान हुआ करते हैं, वहाँ ध्यान करना चाहिये । अर्थात् ध्यानमें लीनभावसे सर्व साहाय्यके परिचयसे निश्चान्ति पाकर निजस्वरूपके लक्षमें रहना उचित है ।

उदयके धकेसे वह ध्यान जब जन छूट जाय, तब तब उसका बहुत शीघ्रतासे अनुसंधान करना चाहिये ।

बीचके अन्काशमें स्वाध्यायमें लीनता करनी चाहिये । सर्ग पर द्रव्योंमें एक समय भी उपयोग सगको न पाये, जत्र ऐसी दशाका जीन सेवन करता है, तत्र केवलज्ञान उत्पन्न होता है ।

(३)

परम गुणमय चारित्र चाहिये । बलवान	१ मूलका विशेषता.
असग आदि स्वभाज	२ मार्गके प्रारभसे लगाकर अततकको
परम निर्दोष श्रुत	अद्भुत सकलना ।
परम प्रतीति	३ निर्निगाद—
परम पराक्रम	४ मुनिधर्म-प्रकाश
परम इन्द्रियजय	५ गृहस्थधर्म-प्रकाश
	६ निर्प्रथ परिभाषा-निधि
	७ श्रुतसमुद्भ-प्रवेशमार्ग

८३३

(१)

वीतरागदर्शन-सक्षेप.

मगलाचरण—शुद्ध पदको नमस्कार

भूमिका — मोक्षप्रयोजन

उस दु खके दूर होनेके लिये, भिन्न भिन्न मतोंका पृथकरण करके देखनेमें, उसमें वीतराग-दर्शन पूर्ण और अविरुद्ध है, ऐसा सामान्य कथन, उस दर्शनका स्वरूप उसकी जीनको अप्राप्ति, और प्राप्तिसे अनास्था होनेके कारण मोक्षाभिलाषी जीनको उस दर्शनकी कैसे उपासना करनी चाहिये ।

आस्था—उस आस्थाके प्रकार और हेतु
विचार—उस विचारके प्रकार और हेतु
निशुद्धि—उस निशुद्धिके प्रकार और हेतु
मध्यस्थ रहनेके स्थानक—उसके कारण,
धीरजके स्थानक—उसके कारण
शकाके स्थानक—उसके कारण
पतित होनेके स्थानक—उसके कारण

उपसहार.

आस्था

पदार्थकी अचिंत्यता, बुद्धिमें व्यायोह, कालदोष

(२)

स्वरूपबोध
योगनिरोध
सर्वधर्म-स्वार्थानिता
धर्ममूर्त्तित्व

सर्व प्रदेश सपूर्ण गुणात्मकता
सर्वांग समय
लोकके प्रति निष्कारण अनुग्रह

८३४

जम्बई, कार्तिक वदी ९, १९५६

(१) अग्राहना अर्थात् अग्राहना । अग्राहनाका अर्थ कद्र—आकार—नहीं होता । कितने ही तत्त्वके पारिभाषिक शब्द ऐसे होते हैं कि जिनका अर्थ दूसरे शब्दोंसे व्यक्त नहीं किया जा सकता, जिनके अनुरूप दूसरा कोई शब्द नहीं मिलता, तथा जो समझे तो जा सकते हैं, पर व्यक्त नहीं किये जा सकते ।

अग्राहना ऐसा ही शब्द है । बहुत बोरसे विशेष विचारसे यह समझमें आ सकता है ।

अग्राहना क्षेत्रकी अपेक्षासे है । जुदा रहनेपर भी एकमेक होकर मिल जाना, फिर भी जुदा रहना—इस तरह सिद्धात्माकी जितनी क्षेत्र-व्यापकता है वट उसकी अग्राहना कही है ।

(२) जो बहुत भोगा जाता है, वह बहुत क्षीण होता है । समतासे कर्म भोगनेपर उनकी निर्जरा होती है—ये क्षीण होते हैं । शारीरिक विषय भोगते हुए शारीरिक शक्ति क्षीण होती है ।

(३) ज्ञानीका मार्ग सुलभ होनेपर भी उसका पाना कठिन है । पहिले सब ज्ञानी चाहिये, उसे पहिचानना चाहिये, उसकी प्रतीति आनी चाहिये । तदमें उसके वचनपर श्रद्धा रखकर नि शक-तासे चलनेसे मार्ग सुलभ है, परन्तु ज्ञानीका मिलना और उसकी पहिचान होना निकट है—दुर्लभ है ।

८३५

जम्बई, कार्तिक वदी ११ मंगल १९५६

(१)

* जड़ ने चैतन्य बने द्रव्य तो स्वभावात् भिन्न, सुप्रतीतिपणे बने जेने समजाय छे, स्वरूप चैतन निज जड़ छे सप्रथमात्र, अथवा ते ज्ञेयपण (०) परद्रव्यमाय छे । एवो अनुभवनो प्रकाश उल्लासित थयो, जडथी उदासी तेने आत्मवृत्ति थाय छे, कायानी विसारी माया स्वरूपे शमाया एवा, निर्मथनो पथ भव अतनो उपाय छे ।

* जड़ और चैतन्य दोनोंका स्वभाव भिन्न भिन्न है । इन दोनोंकी सुप्रतीति होकर ये जिसकी समझमें आते हैं, तथा ' निजका स्वरूप चैतन है, और जड़ केवल सप्रथमात्र है, अथवा वह ज्ञेयरूपसे पर द्रव्यमें ही गर्भित है '—इस अनुभवका जिसे प्रकाश उल्लासित हुआ है, उसकी जड़से उदासीन वृत्ति होकर, आत्मामें वृत्ति होती है । कायाकी मायाको विस्मरण कर जो निजरूपमें लीन हो गये हैं, ऐसे निर्मथका पथ ही सधारके अत करनेका उपाय है ।

बीचके अन्काशमें स्वाध्यायमें लीनता करनी चाहिये । सर्ग पर द्रव्योंमें एक समय भी उपयोग सगको न पाने, जब ऐसी दशाका जीन सेवन करता हं, तब केवलज्ञान उत्पन्न होता है ।

(३)

परम गुणमय चारित्र चाहिये । बलवान	१ मूलका विशेषता
असग आदि स्मभान	२ मार्गके प्रारभसे लगाकर अततककी
परम निर्दोष श्रुत	अद्भुत सकलना ।
परम प्रतीति	३ निर्निवाद—
परम पराक्रम	४ मुनिधर्म-प्रकाश
परम इन्द्रियजय	५ गृहस्थधर्म-प्रकाश
	६ निग्रह परिभाषा-निधि
	७ श्रुतसमुद्र-प्रवेशमार्ग

८३३

(१)

बीतरागदर्शन-सक्षेप.

मगलाचरण—शुद्ध पदको नमस्कार.

भूमिना —मोक्षप्रयोजन

उस दु खके दूर होनेके लिये, भिन्न भिन्न मतोंका पृथक्करण करके देखनेसे, उसमें बीतराग-दर्शन पूर्ण और अगिरुद्ध है, ऐसा सामान्य कथन, उस दर्शनका स्वरूप उसकी जीनको अप्राप्ति, और प्राप्तिसे अनास्था होनेके कारण मोक्षाभिलाषी जीनको उस दर्शनकी कैसे उपासना करनी चाहिये ।

आस्था—उस आस्थाके प्रकार और हेतु
 विचार—उस विचारके प्रकार और हेतु
 विशुद्धि—उस विशुद्धिके प्रकार और हेतु
 मध्यस्थ रहनेके स्थानक—उसके कारण
 धीरजके स्थानक—उसके कारण
 शकाके स्थानक—उसके कारण
 पतित होनेके स्थानक—उसके कारण

उपसहार.

आस्था

पदार्थकी अर्चित्यता, बुद्धिमें व्यायोह, कालदोष

(२)

स्वरूपबोध
योगनिरोध
सर्वधर्म-स्वाधीनता
धर्मवृत्ति

सर्वा प्रदेश सपूर्ण गुणात्मकता
सर्वांग समय
लोकके प्रति निष्कारण अनुग्रह

८३४

बम्बई, कार्तिक वदी ९, १९५६

(१) अग्गाहना अर्थात् अग्गाहना । अग्गाहनाका अर्थ कद-आकार-नहीं होता । कितने ही तरिके पारिभाषिक शब्द ऐसे होते हैं कि जिनका अर्थ दूसरे शब्दोंसे व्यक्त नहीं किया जा सकता, जिनके अनुरूप दूसरा कोई शब्द नहीं मिलता, तथा जो समझे तो जा सकते हैं, पर व्यक्त नहीं किये जा सकते ।

अग्गाहना ऐसा ही शब्द है । बहुत बोधमें विशेष विचारसे यह समझमें आ सकता है ।

अग्गाहना क्षेत्रकी अपेक्षासे है । जुदा रहनेपर भी एकमेक होकर मिल जाना, फिर भी जुदा रहना—इस तरह सिद्धात्माकी जितनी क्षेत्र-व्यापकता है वह उसकी अग्गाहना कही है ।

(२) जो बहुत भोगा जाता है, वह बहुत क्षीण होता है । समतासे कर्म भोगनेपर उनकी नेत्रता होती है—ये क्षीण होते हैं । शारीरिक विषय भोगते हुए शारीरिक शक्ति क्षीण होती है ।

(३) ज्ञानीका मार्ग सुखम होनेपर भी उसका पाना कठिन है । पहिले सच्चा ज्ञानी चाहिये, उसे पहिचानना चाहिये, उसकी प्रतीति आनी चाहिये । तबमें उसके वचनपर श्रद्धा रखकर नि शकतासे चलनेसे मार्ग सुखम है, परतु ज्ञानीका मिलना और उसकी पहिचान होना निकट है—दुर्लभ है ।

८३५

बम्बई, कार्तिक वदी ११ मंगल १९५६

(१)

* जड़ ने चैतन्य बने द्रव्य तो स्वभाव भिन्न, सुप्रतीतपणे तने जेने समजाय छे, स्वल्प चैतन निज जड छे समधमात्र, अथवा ते ज्ञेयपण (णे) परद्रव्यमाय छे । एनो अनुभवनो प्रकाश उल्लासित थयो, जडथी उदासी तेने आत्मवृत्ति थाय छे, कायानी निसारी माया स्वरूपे शमाया एवा, निर्ग्रथनो पथ भय अतनो उपाय छे ।

* जड़ और चैतन्य दोनोंका स्वभाव भिन्न भिन्न है । इन दोनोंकी सुप्रतीति होकर ये जिसकी समझमें आते हैं, तथा ' निजका स्वरूप चैतन्य है, और जड़ केवल सबधमात्र है, अथवा वह ज्ञेयरूपमें पर द्रव्यमें ही गर्भित है '—इस अनुभवना जिसे प्रकाश उल्लासित हुआ है, उसकी जड़से उदासीन वृत्ति होकर, आत्मामें वृत्ति होती है । कायाकी मायाकी विस्मरण कर जो निजरूपमें लीन हो गये हैं, ऐसे निर्ग्रथका पथ ही सत्कारके अंत करनेका उपाय है ।

(२)

× देह जीव एकरूपे भासे छे अज्ञान वडे, क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे, जीवनी उत्पत्ति अने रोग शोक दु ख मृत्यु, देहनो स्वभाव जीवपदमा जणाय छे । एवो जे अनादि एकरूपनो मिथ्यात्वभाव, ज्ञानिना वचन वडे दूर थई जाय छे, भासे जड चैतन्यनो प्रगट स्वभाव भिन्न, बने द्रव्य निज निजरूपे स्थित थाय छे ।

(३)

* जन्म जरा ने मृत्यु मुख्य दु खना हेतु ।
कारण तेना वे कल्या रागद्वेष अणहेतु ॥

(४)

+ वचनामृत वीतरागना परम शातरस मूल ।
औषध जे भवरोगना, कायरने प्रतिकूल ॥

(५)

प्राणीमात्रका रक्षक, बाधन और हितकारी, यदि ऐसा कोई उपाय हो तो यह वीतरागधर्म ही है ।

(६)

सतजनो ! जिनेन्द्रवरोंने लोक आदि जो स्वरूप वर्णन किया है, वह अलकारिक भाषामें योगाभ्यास और लोका आदिके स्वरूपका निरूपण है, वह पूर्ण योगाभ्यासके बिना ज्ञानगोचर नहीं हो सकता । इसलिये तुम अपने अपूर्ण ज्ञानके आधारसे वीतरागके वाक्योंका विरोध करनेवाले नहीं, परन्तु योगका अभ्यास करके पूर्णतासे उस स्वरूपके ज्ञाता होना ।

८३६

वन्दई, कार्तिक वदी १२, १९५५

(१) इन्क्विलेशन—महामारीका टीका । टीकेके नामपर, देखो, डाक्टरोंने यह वृषान खड़ा किया है । विचारे घोड़े आदिको टीकेके ग्रहाने वे क्रूरतासे मार डालते हैं, हिंसा करके पापका पोषण करते हैं—पाप उपार्जन करते हैं । पूर्वमें पापानुबन्धी जो पुण्य उपार्जन किया है, उसके योगसे ही वे वर्तमानमें पुण्यको भोगते हैं, परन्तु परिणाममें वे पाप ही इकट्ठा करते हैं—इसकी विचारे डाक्टरोंको खतर भी नहीं है । टीका लगानेसे जब रोग दूर हो जाय तबकी बात तो तब रही, परन्तु इस समय तो उसमें हिंसा प्रगट है । टीका लगानेसे एक रोग दूर करते हुए दूसरा रोग भी खड़ा हो जाता है ।

× देह और जीव अज्ञानसे ही एकरूप भासित होते हैं । उससे क्रियाकी प्रवृत्ति भी वैसी ही होती है । जीवकी उत्पत्ति और रोग, शोक, दु ख मृत्यु यह जो देहका स्वभाव है, वह अज्ञानसे ही जीवपदमें मालूम होता है । ऐसा जो अनादिका जीव और देहको एकरूप माननेका मिथ्यात्वभाव है, वह शान्ति वचनसे दूर हो जाता है । तथा उस समय जड़ और चैतन्यका स्वभाव स्पष्ट भिन्न भिन्न मालूम होने लगता है, और दोनों द्रव्य अपने अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं ।

* जन्म जरा और मृत्यु ये दु खके मुख्य हेतु हैं । उसके राग और द्वेष ये दो कारण हैं ।

+ वीतरागके वचनामृत परम शातरसके मूल हैं । वह भवरोगकी औषध है, जो कायर पुरुषको प्रतिकूल होती है ।

(२) प्रारब्ध और पुरुषार्थ शब्द समझने योग्य है । पुरुषार्थ किये बिना प्रारब्धकी खतर ही पड़ सकती । जो प्रारब्धमें होगा वह हो रहेगा, वह फहकर बैठे रहनेसे काम नहीं चलता । नेकाम पुरुषार्थ करना चाँहिये । प्रारब्धको समपरिणामसे वेदन करना—भोग लेना—यह बड़ा पुरुषार्थ है । मामास्य जीव समपरिणामसे विकल्परहित होकर यदि प्रारब्धका वेदन न कर सके, तो वेदन परिणाम आता ही है । इमत्रिये उसे न होने देनेके लिये—कम होनेके लिये—उद्यम करना चाहिये । समभाव और विकल्परहितभाव ससगसे आता और उदता है ।

८३७ मोहमयी क्षेत्र, पोप वदी १२ रवि १९५६

महामा मुनिवरोंके चरणकी,—मगकी—उपासना और मत्साक्षका अध्ययन मुमुक्षुओंकी आत्म-
की वृद्धिका सद्दुपाय है ।

उषों उषों इन्द्रिय-निग्रह होता है, उषों उषों निवृत्तियोग होता है, त्यों त्यों यह सत्समागम
पर सशाख अधिकाधिक उपकारी होता है । ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

८३८ धर्मपुर, चैत्र वदी १ रवि १९५६

ॐ

* धन्य ते मुनिवरा जे चाले समभावे, ज्ञानवत ज्ञानिशु मळता तनमनवचने साचा ।
द्रव्यभाव मुधा जे भावते साची जिननी वाचा, धन्य ते मुनिवरा जे चाले समभावे ॥

(२) बाह्य और अंतर समाधियोग रहता है । परम शान्ति ।

(३) मानससिद्धि

८३९ श्रीधर्मपुर, चैत्र वदी ४ बुध १९५६

(१)

ॐ समस्त ससारी जीव कर्मवशसे साता और असाताके उदयको अनुभव किया ही करते हैं,
समें भी मुरयतया तो अमाताका ही उदय अनुभवमें आता है । क्वचित् अथवा किसी किसी देह-
योगमें यद्यपि साताका उदय अधिक अनुभवमें आता हुआ माद्वम होता है, परंतु वस्तुतः वहाँ भी
तर्दाह ही प्रगलित हुआ करती है । पूर्णज्ञानी भी जिस असाताका वर्णन कर सकने योग्य वचन-
म गरण नहीं करते, उसी अनतानत असाताके इस जीवको भोगनी हैं, ओर यदि अभी भी उनके
गणोंका नाश न किया जाय तो वे भोगनी पडेंगी ही, यह सुनिश्चित है—ऐसा जानकर त्रिचारवान
तम पुरुष उस अतर्दाहरूप साता और बाव्याभ्यंतर सद्देश-अश्रिरूपसे प्रगलित असाताका आत्यंतिक

* उन मुनिवरोंको धन्य है जो समभावपूर्वक रहते हैं । जो स्वयं ज्ञानवत हैं, और ज्ञानियोंसे मिलते हैं ।
उनके मन, वचन और काय सचे हैं, तथा जो द्रव्य भाव जो वाणी बोलते हैं, वह जिनभगवान्की सची वाणी ही है ।
उन मुनिवरोंको धन्य है जो समभावपूर्वक रहते हैं ।

नियोग करनेके मार्गको गवेषण करनेके लिये तत्पर हुए, और उस सन्मार्गका गवेषण कर, प्रतीति कर, उसका यथायोग्य आराधन कर, अव्यानाध सुखस्वरूप आत्माके सहज शुद्ध स्वभावरूप परम परममें लीन हो गये ।

साता असाताका उदय अथवा अनुभव प्राप्त होनेके मूल कारणोंकी गवेषणा करनेवाले ऐसे उन महान् पुरुषोंको ऐसी निःलक्षण सानद आश्चर्यकारक वृत्ते उद्धृत होता थी कि साताकी अपेक्षा असाताका उदय प्राप्त होनेपर, और उसमें भी तीव्रतासे उस उदयके प्राप्त होनेपर, उनका वीर्य विशेषरूपसे जाग्रत होता था, उच्छासित होता था, और वह समय अविकृतासे कल्याणकारी समझा जाता था । कितने ही कारणविशेषके योगसे व्यवहारदृष्टिसे, वे ग्रहण करने योग्य औषध आदिको आत्ममर्यादामें रहकर ग्रहण करते थे, परन्तु मुख्यतया वे उस परम उपशमकी ही सर्वोत्कृष्ट औषधरूपसे उपासना करते थे ।

(१) उपयोग लक्षणसे सनातन स्फुरित ऐसी आत्माको देहसे (तैजस और कामाणि शरीरस) भी भिन्न अखलोकन करनेकी दृष्टिको साध्य कर, (२) वह चैतन्यात्मक स्वभावात्मा—निरतर वेदक स्वभाववाली होनेसे, अत्रधदशाको जत्रतक प्राप्त न हो, तत्रतक साता-असातारूप अनुभवका वेदन हुए बिना रहनेवाला नहीं, यह निश्चय कर, (३) जिस शुभाशुभ परिणामधाराकी परिणतिसे वह साता असाताका बध करती है, उस वाराके प्रति उदासीन होकर, (४) देह आदिसे भिन्न ओर स्वरूप-मर्यादामें रहनेवाली उस आत्मामें जो चल स्वभावरूप परिणाम-धारा है, उसका आत्यतिक नियोग करनेका सन्मार्ग ग्रहण कर, (५) परम शुद्ध चैतन्यस्वभावरूप प्रकाशमय वह आत्मा कर्मयोगसे जो सकलक परिणाम प्रदर्शित करती है, उससे उपशम प्राप्त कर, जिस तरह उपशमयुक्त हुआ जाय, उस उपयोगमें ओर उस स्वरूपमें स्थिर हुआ जाय, अचल हुआ जाय, वही लक्ष, वही भावना, वही चितवनना ओर वही सहज परिणामरूप स्वभाव करना उचित है । महात्माओंकी वारम्बार यही शिक्षा है ।

उस सन्मार्गकी गवेषणा करते हुए, प्रतीति करनेकी इच्छा करते हुए, उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करते हुए, आत्मार्थी जनको परमशीतरागस्वरूप देव, स्वरूपनैष्ठिक निस्पृह निर्ग्रन्थरूप गुरु, परमदयामूल धर्मव्यवहार, और परमशातरस रहस्यवाक्यमय सत्शास्त्र, सन्मार्गकी सम्पूर्णता होनेतक, परम भक्तिसे उपासना करने योग्य है, जो आत्माके कल्याणका परम कारण है ।

भीषण नरयगईए, तिरियगईए कुदेवमणुयगईए ।

पत्तोसि तिच्चदुःख, भावहि जिणभावणा जीव ॥

—भयकर नरकगतिमें, तिर्यचगतिमें, ओर कुदेव तथा मनुष्यगतिमें, हे जीव ! तने तीव्र दुःखको पाया, इसलिये अत्र तू जिनभावनका (जिनभगवान् जो परम शातरससे परिणमकर स्वरूपस्थ हुए उस परमशातस्वरूप चितवनका) भाव न कर—चितवन कर (जिससे उन अनत दुःखोंका आत्यतिक नियोग होकर, परम अव्यानाध सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो) । ॐ शाति शाति शाति ।

(२)

जहाँ जनवृत्ति असकुचित भावसे सभर होती हो, ओर जहाँ निवृत्तिके योग्य विशेष कारण हों, ऐसे क्षेत्रमें महान् पुरुषोंको विहार चातुर्मासम्पत्ति स्थिति करनी चाहिये । शाति ।

शामें वे गुण कैसे
त्याग्य हो, उससे
।

१ उपशमनेमें

२ चार धनपति

दानातराय, लाभतराय, वीर
होकर, अनंत दानकर्म
है । इस कारण निष्काम
सम्पूर्ण समर्थ है ।

किसी तरह ?
से जब जिनाज्ञा
राधना होती है,

उनका पञ्चक्लाण

तथापि परमपुरुष
लब्धिकी प्राप्ति भी
नहीं, इस कारण वह
रूपसे मोजूद थी, वह
वह उसे एक स्वयंसे
आत्मसामर्थ्यकी
रहना चाहिये ।
उसमें भी किंचिदुक्त
चाहिये । इसी तरह
थक जाय, उमरकी
देशकालका अन्त
स्वभानमें रहनेकी
समझना चाहिये ।

न हुआ हो, उस
ना ही है ।

किमी एक कारणको

तहे है, उनके परस्पर

करना यह अध्यात्ममार्ग है ।

द्वैतिक

तथा ये पाँच
भी उन पाँचों
इन पाँचों
वीतराग स्वभाव
वृत्तव्य परमपुरुष
भी निश्चिन्ता

अर्थ है

इस

विशेष
होता है ।

८४० अहमदानाद भीमनाथ, वैशाख सुदी ६, १९५६

(१) आज दशा आदिके समयमें जो कहा है, और बीजारोपण किया है, उसे खोद मत डालना, वह सफल होगा ।

(२) एक इत्रोक पढते हुए हमें हजारों शास्त्रोंका भान होकर उसमें उपयोग फिर जाता है ।

(३) 'चतुरागळ हैं दृगसे मिळ हैं'—यह आगे जाकर समझमें आवेगा ।

८४१ मोरजी, वैशाख सुदी ८, १९५६

ॐ भगवद्गीतामें पूर्वापर-विरोध है, उसे देखनेके लिये उसे भेजी है । पूर्वापर-विरोध क्या है, यह अत्रलोकन करनेसे माळूम होगा । पूर्वापर-अविरोध दर्शन और पूर्वापर-अविरोध वचन तो धीतरागके ही हैं ।

भगवद्गीताके ऊपर विद्यारण्य स्वामी, ज्ञानेश्वरी आदिकी अनेक भाष्य-टीकायें रची गई हैं । हरेक कोई अपनी अपनी मान्यताओंके ऊपर चले गये हैं । थियासफीवाली टीका जो तुम्हें भेजी है, वह अधिक स्पष्ट है ।

मणिलाल नमुमाईने (गीताके ऊपर) विवेचनरूप टीका करते हुए बहुत मिश्रण कर दिया है—खिचड़ी बना दी है । निद्रता और ज्ञानको एक नहीं समझना चाहिये—ये एक नहीं है, निद्रता हो सकती है, फिर भी ज्ञान न हो । सच्ची निद्रता तो वह है जो आत्मार्थके लिये हो, जिससे आत्मार्थ सिद्ध हो, आत्मतरप समझमें आये—उह प्राप्त हो । जहाँ आनार्थ होता है वहाँ ज्ञान होता है, वहाँ निद्रता हो भी सकती है नहीं भी ।

मणिभाई (पद्दर्शनसमुच्चयकी प्रस्तावनामें) कहते हैं कि " हरिभद्रसूरिको वेदांतकी खबर न थी । यदि उन्हें वेदान्तकी खबर होती तो ऐसी कुशाम्र-बुद्धिवाले हरिभद्रसूरि जैनदर्शनकी ओरसे अपनी वृत्तिको फिराकर वेदाती बन जाते " । मणिभाईके ये वचन गाढ़ मताभिनिवेशसे निकले हैं । हरिभद्रसूरिको वेदातकी खबर थी या नहीं—इस बातकी, मणिभाईने यदि हरिभद्रसूरिकी धर्मसमग्रणी देखी होती, तो उन्हें खबर पड़ जाती । हरिभद्रसूरिको वेदात आदि समस्त दर्शनोंकी खबर थी । उन समस्त दर्शनोंकी पर्यालोचनापूर्वक ही उन्होंने जैनदर्शनकी पूर्वापर-अविरोध प्रतीति की थी । यह अत्रलोकनसे माळूम पड़ेगा । पद्दर्शनसमुच्चयके भाषातरमें दोष होनेपर भी मणिभाईने भाषातर ठीक किया है । यह सुधारा जा सकता है ।

८४२ श्रीमोरवी, वैशाख सुदी ९, १९५६

ॐ वर्तमानकालमें क्षयरोग त्रिगोप बढ़ा हे और बढ़ता जाता है, इसका मुख्य कारण ब्रह्मचर्यकी कमी, आलस्य और विषय आदिकी आसक्ति हे । क्षयरोगका मुख्य उपाय ब्रह्मचर्य-सेवन, शुद्ध सात्त्विक आहार-पान और नियमित वर्त्तन हे ।

८४३ ववाणीआ, वैशाख १९५६

१ ॐ यथार्थ ज्ञानदशा, सम्यक्त्वदशा और उपशमदशाको तो, जो यथार्थ मुमुक्षु जीव सत्पुरुषके समागममें आता है, वही जानता है ।

भासते तो भोग करते जाना और कहना कि आत्माको कर्म लगते नहीं, तो वह ज्ञानीकी दृष्टिमा वचन नहीं—वह केवल वचन-ज्ञानीका ही वचन है ।

(११) प्रश्न — जेनदर्शन कहता है कि पुद्गलभावके कम होनेपर आत्मध्यान फलीभूत होगा, तो क्या यह ठीक है ?

उत्तर — वह यथार्थ कहता है ।

(१२) प्रश्न — स्वभासदशा क्या फल देती है ?

उत्तर — वह तथारूप सम्पूर्ण हो तो मोक्ष होती है ।

(१३) प्रश्न — त्रिभासदशा क्या फल देती है ?

उत्तर — जन्म, जरा मरण आदि ससार ।

(१४) प्रश्न — वीतरागकी आज्ञासे यदि पोरसीकी स्वाध्याय करे तो उससे क्या फल होता है ?

उत्तर — वह तथारूप हो तो यावत् काल मोक्ष होती है ।

(१५) प्रश्न — वीतरागकी आज्ञासे यदि ×पोरसीका ध्यान करे तो क्या फल होता है ?

उत्तर — वह तथारूप हो तो यावत् काल मोक्ष होती है ।

— इस तरह तुम्हारे प्रश्नोंका संक्षेपसे उत्तर लिखता हूँ ।

३ लौकिकभास छोड़कर, वचनज्ञान छोड़कर, कल्पित विधिनियेधका त्यागकर, जो जीव प्रत्यक्ष ज्ञानीकी आज्ञाका आराधन कर, तथारूप उपदेश लेकर, तथारूप आत्मार्थमें प्रवृत्ति करता है, उसका अग्रय कल्याण होता है ।

निजकल्पनासे ज्ञान दर्शन चारित्र आदिका स्वरूप चाहे जिस तरह समझकर, अथवा निश्चयात्मक बोल सीखकर, जो सद्व्यवहारके लोप करनेमें प्रवृत्ति करे, उससे आत्माका कल्याण होना संभव नहीं । अथवा कल्पित व्यवहारके दुराग्रहमें रुके रहकर, प्रवृत्ति करते हुए भी जीवका कल्याण होना संभव नहीं ।

* ज्या ज्या जे जे योग्य छे, तहा समजवु तेह ।

त्या त्या ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥

एकात क्रिया-वडत्तमें अथवा एकात शुद्धज्ञानसे जीवका कल्याण नहीं होता ।

८४४ वनाणीआ, वैशाख वदी ८ मगळ १९५६

ॐ प्रमत्त अत्यंत प्रमत्त ऐसे आजकलके जीव हैं, और परमपुरुषोंने अप्रमत्तमें सहज आत्मशुद्धि कही है । इसलिये उस निरोधके ज्ञात होनेके लिये परमपुरुषका समागम-चरणका योग-ही परम हितकारी है । ॐ शान्ति

८४५ वनाणीआ, वैशाख वदी ९ बुध १९५६

ॐ मोक्षमालामें शब्दातर अथवा प्रसंगविशेषमें कोई वाक्यातर करनेकी वृत्ति हो तो करना । उपोद्घात आदि लिखनेकी वृत्ति हो तो लिखना । जीवनचरित्रकी वृत्ति उपज्ञात करना ।

× यह एक प्रकारका तपविशेष है । इसमें प्रथम प्रदरतक भोजन आदिका त्याग किया जाता है ।
* आत्मसिद्धि ८, — अनुवादक.

उपादातसे वाचकको, श्रोताको, अल्प अल्प मतातरकी वृत्ति निस्मृत होकर, जिससे ज्ञानी पुरुषोंके आत्मस्वभावरूप परमार्थके विचार करनेकी स्फुरणा हो, ऐसा सामान्यतः लक्ष्य रखना । यह सहज सूचना है । शान्ति

८४६ वनाणीआ, वेशाख वदी १३ शनि १९५६

ॐ जहाँ बहुत विरोधी गृह्णासीजन अथवा जहाँ आहार आदिका जनसमूहका सन्नोचभाव रहता हो, वहाँ चातुर्मास करना योग्य नहीं, नहीं तो सत्र क्षेत्र श्रेयकारी ही हैं ।

आत्मार्थीको निक्षेपका हेतु क्या हो सकता है ? उसे तो सत्र समान ही हैं । आत्मभासे विचरते हुए ऐसे आर्य पुरुषोंको धर्य है । ॐ शान्ति ।

८४७ वनाणीआ, वेशाख वदी १५ सोम १९५६

(१)

ॐ आर्य मुनिरोंके लिये अत्रिक्षेपभाव समग्र है । विनयभक्ति यह मुमुक्षुओंका धर्म है ।

अनादिसे चपल ऐसे मनको स्थिर करना चाहिये । प्रथम वह अत्यतरूपसे सामने होता हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं । क्रम क्रमसे उस मनको महात्माओंके स्थिर किया है—शांत किया है—क्षय किया है—यह सचमुच आश्चर्यकारक है ।

(२)

* क्षायोपशमिक असरय, क्षायरू एरू अनन्य—अत्यात्मगीता

मनन और निदिध्यासन करनेसे, इस वाक्यसे जो परमार्थ अंतरात्मवृत्तिमें प्रतिभासित हो, उसे यथाशक्ति लिखना योग्य है । शान्ति

(३)

ॐ यथार्थरूपसे देखें तो शरीर वेदनाकी मूर्ति है । समय समयपर जीव उसके द्वारा वेदनाका ही अनुभव करता है । कचित् साता ओर नहीं तो प्रायः वह असाताका ही वेदन करता है । मानसिक असाताकी मुरयता होनेपर भी वह सूक्ष्म सम्यग्दृष्टिको माद्वम हो जाती है । शारारिक असाताकी मुरयता स्थूल दृष्टिमानको भी माद्वम हो जाती है । जो वेदना पूर्वमें सुदृढ़ बधनसे जीवने बाँधी है, उसका उस वेदनाके उदय होनेपर उसे इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र अथवा जिनेन्द्र भी रोकनेको समर्थ नहीं । उसका उदय जीवको वेदन करना ही चाहिये । अज्ञानदृष्टि जीव उसका खेदसे वेदन करें, तो भी कुछ वह वेदना घटती नहीं, अथवा होती हुई रुकती नहीं । तथा सत्यदृष्टिमान जीव यदि उसका शातभासे वेदन करें, तो वह वेदना नष्ट नहीं जाती । हाँ, वह नवीन बन्धका हेतु नहीं होती—उससे पूर्वकी बलवान निर्जरा होती है । आत्मार्थीको यही कर्तव्य है ।

१ क्षायोपशमिक भाव असरय होते हैं, परन्तु एक और अनन्य ही होता है ।

मैं शरीर नहीं, परन्तु उससे भिन्न ज्ञायक आत्मा हूँ, और नित्य गाइरत हूँ। यह वेदना मात्र पूर्वकर्म है, परन्तु यह मेरा स्वरूप नाश करनेको समर्थ नहीं। इसलिये मुझे खेद नहीं करना चाहिये—इस तरह आत्मार्थीका अनुप्रेक्षण होता है। ॐ

८४८

वराणीआ, ज्येष्ठ सुदी ११, १९५६

आर्य त्रिभुवनके अल्प समयमें शातवृत्तिते देहोत्सर्ग करनेकी खबर सुनी। सुगील मुमुक्षुने अन्य स्थान ग्रहण किया।

जीनके त्रिभिध प्रकारके मुख्य स्थान हैं। देवलोकमें इन्द्र तथा सामान्य त्रयस्त्रिंशत् आदि स्थान हैं। मनुष्यलोकमें चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, तथा माडलिक आदि स्थान हैं। तिर्यचोमें भी कहीं इष्ट भोगभूमि आदि स्थान हैं।

उन सब स्थानोंको जीन छोड़ेगा, इसमें स्सदेह नहीं। ये जाति, गोती और वदु आदि इन सबके अशाश्वत अनित्य वास हैं। शान्ति

८४९

वराणीआ, ज्येष्ठ सुदी १३ सोम १९५६

(१)

ॐ मुनियोंको चातुर्भाससन्धी निकल्प कहसि हो सकता है? निर्ग्रन्थ क्षेत्रको किस सिरेसे बाँधें? सिरेका तो कोई सबब ही नहीं।

निर्ग्रन्थ महात्माओंका दर्शन और समागम मुक्तिकी सम्यक् प्रतीति कराते हैं।

तथारूप महात्माओंके एक आर्य वचनका सम्यक् प्रकारसे अन्धारण होनेसे यात्रत् काल मोक्ष होती है, ऐसा श्रीमान् तीर्थकरने कहा है, वह यथार्थ है। इस जीवमें तथारूप योग्यताकी आवश्यकता है। शान्ति।

(२)

ॐ. पत्र और समयसारकी प्रति मिली। कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसार ग्रन्थ जुदा है। इस ग्रन्थका कर्त्ता जुदा है, और ग्रन्थका विषय भी जुदा है। ग्रन्थ उत्तम है।

आर्य त्रिभुवनकी देहोत्सर्ग करनेकी खबर तुम्हें मिली, उससे खेद हुआ वह यथार्थ है। ऐसे कालमें आर्य त्रिभुवन जैसे मुमुक्षु निरले ही हैं। दिन प्रतिदिन शातानस्थासे उसकी आत्मा स्वरूप-लक्षित होती जाती थी। कर्मतरयका सूक्ष्मतासे विचार कर, निदियासन कर, आत्माको तदनुयायी परिणतिका जिससे निरोध हो—यह उसका मुख्य लक्ष्य था। उसकी विशेष आयु होती तो वह मुमुक्षु चारित्र-मोहको क्षीण करनेके लिये अन्त्य प्रवृत्ति करता। शांति शांति शांति

८५०

वराणीआ, ज्येष्ठ वदी ९ गुरु १९५६

व्यसन बढ़ानेसे बढ़ता है, और नियममें रखनेसे नियममें रहता है। व्यसनसे कायाको बहुत नुकसान होता है, तथा मन परवश हो जाता है। इससे इस लोक और परलोकका कल्याण चूक जाता है।

समयके अनुसार मनुष्यकी प्रकृति न हो तो मनुष्यका वजन नहीं पड़ता । तथा वजनरहित मनुष्य इस जगत्में किसी कामका नहीं ।

अपनेको मिली हुई मनुष्यदेह भगवान्की भक्ति और अच्छे काममें व्यतीत करनी चाहिये ।

८५१

वराणीआ, ज्येष्ठ वदी १०, १९५६

ॐ. पत्र मिला । शरीर-प्रकृति स्वस्थास्थ रहती है, विक्षेप करना योग्य नहीं ।

हे आर्य ! अतर्मुख होनेका अभ्यास करो । शांति ।

८५२

वराणीआ, ज्येष्ठ वदी १५ बुध १९५६

ॐ परम पुरुषको अभिमत अभ्यतर ओर बाह्य दोनों समयको उल्लासित भक्तिसे नमस्कार हो ! मोक्षमालाके सनवमें जैसे तुम्हें सुख हो वैसा करो ।

मनुष्यता, आर्यता, ज्ञानीके वचनोंका श्रवण, उसके प्रति आस्तिक्यभान, समय, उसके प्रति धीर्यप्रवृत्ति, प्रतिकूल योगोंमें भी स्थिति होना, अतपर्यंत सम्पूर्ण मार्गरूप समुद्रका पार हो जाना—ये उत्तरोत्तर दुर्लभ और अत्यंत कठिन हैं, इसमें सन्देह नहीं ।

शरीर-प्रकृति क्वचित् ठीक देखनेमें आती है, ओर क्वचित् उससे निपरीत भी देखनेमें आती है । इस समय कुछ असाताकी मुर्यता देखनेमें आती है । ॐ शान्ति

(२)

ॐ चक्रवर्तीकी समस्त सपत्तिकी अपेक्षा भी जिसका एक समयमात्र भी विशेष मूल्यवान है, ऐसी इस मनुष्यदेहका, ओर परमार्थको अनुकूल योग प्राप्त होनेपर यदि जन्म मरणसे रहित परमपदका ध्यान न रहा, तो इस मनुष्यजन्मको अधिष्ठित इस आत्माको अनतवार धिक्कार हो ।

जिन्होंने प्रमादका जय किया, उन्होंने परमपदका जय किया । शांति

(३)

शरीर-प्रकृतिकी अनुकूल-प्रतिकूलताके आधीन उपयोग करना उचित नहीं । शांति

८५३

जिससे मनचिंता प्राप्त हो, उस मणिको चिंतामणि कहा है । यह यही मनुष्य देह है कि जिस देहमें—योगमें—आत्यंतिक सर्व दुःखके क्षय करनेका चिंतन किया हो तो पार पड़ती है ।

जिसका अचिन्त्य माहात्म्य है, ऐसा सत्सगरूपी कल्पवृक्ष प्राप्त होनेपर भी जीव दरिद्र बना रहे, तो इस जगत्में यह ग्यारहवाँ आश्चर्य है ।

८५४

वराणीआ, आपाद सुदी १ गुरु १

(१)

ॐ. दो समय उपदेश और एक समय आहार-ग्रहण, तथा निद्राके समयको ओ-

अनकाश मुरयतया आत्म-त्रिचारमें, पद्मनन्दि आदि शास्त्रोंके अग्रलोकनमें, और आत्मव्यानमें व्यतीत करना उचित है । कोई बाई या भाई कभी कुछ प्रश्न आदि करें तो उनका उचित समाधान करना चाहिये, जिससे उनकी आत्मा शांत हो । अशुद्ध क्रियाके निषेधक वचन उपदेशरूपसे न कहते हुए, जिस तरह शुद्ध क्रियामें लोगोंकी रुचि बढ़े, उस तरह क्रिया करते रहना चाहिये ।

उदाहरणके लिये, जैसे कोई मनुष्य अपनी रूढ़ीके अनुसार सामायिक व्रत करता है, तो उसका निषेध न करते हुए, जिससे उसका वह समय उपदेशके श्रवणमें, सत्शास्त्रके अध्ययनमें अथवा कायोत्सर्गमें व्यतीत हो, उस तरह उसे उपदेश करना चाहिये । किंचित्मात्र आभासरूपसे भी सामायिक व्रत आदिका निषेध हृदयमें भी न आये, उसे ऐसी गर्भारतासे शुद्ध क्रियाकी प्रेरणा करनी चाहिये ।

स्पष्ट प्रेरणा करते हुए भी क्रियासे रहित होकर जीव उन्मत्त हो जाता है, अथवा ' तुम्हारी यह क्रिया बरानर नहीं '—इतना कहनेसे भी, तुम्हें दोष देकर वह उस क्रियाको छोड़ देता है—ऐसा प्रमत्त जीवोंका स्वभाव है, और लोगोंकी दृष्टिमें ऐसा आता है कि तुमने ही क्रियाका निषेध किया है । इस-लिये मतभेदसे दूर रहकर, मध्यस्थवत् रहकर, अपनी आत्माका हित करते हुए, ज्यों ज्यों दूसरेकी आत्माका हित हो, त्यों त्यों प्रवृत्ति करनी चाहिये, और ज्ञानीके मार्गका, ज्ञान-क्रियाका समन्वय स्थापित करना चाहिये, यही निर्जराका सुन्दर मार्ग है ।

स्वात्महितमें जिससे प्रमाद न हो, और दूसरेको अत्रिक्षेपभावसे आस्तिक्यवृत्ति बंधे, वैसा उसका श्रवण हो, क्रियाकी वृद्धि हो, तथा कल्पित भेदोंकी वृद्धि न हो, और अपनी और परकी आत्माको शांति हो, इस तरह प्रवृत्ति करानेमें उल्लासित वृत्ति रखना । मन्दास्त्रके प्रति जिससे रुचि बढ़े वैसा करना । ॐ शान्ति

(२)

१ × ते माटे उभा कर जोडीं, जिनवर आगळ कहिये रे ।

समयचरण सेवा शुद्ध देजो, जेम आनदधन लहिये रे ॥

२ मुमुक्षु भाईयोको, जिस तरह लोक-निरुद्ध न हो, उस तरह तीर्थके लिये गमन करनेमें आज्ञाका अतिक्रम नहीं । ॐ शान्ति

८५५

मोरवी, आपाठ वदी ९ शुक्र १९५६

(१)

१ सम्यक् प्रकारसे वेदना सहन करनेरूप परमपुरुषेने परमधर्म कहा है ।

२ तीक्ष्ण वेदनाका अनुभव करते हुए स्वरूप-भ्रशवृत्ति न हो, यही शुद्ध चारित्रका मार्ग है ।

३ उपशम ही जिस ज्ञानका मूल है, उस ज्ञानमें तीक्ष्ण वेदना परम निर्जरा भासने योग्य है । ॐ शान्ति

(२)

ॐ आपाठ पूर्णिमातक चातुर्मासवधी जो किंचित् भी अपराध हुआ हो, उसकी नम्रतासे क्षमा माँगता हूँ ।

पञ्चनन्दि, गोम्मटसार, आमानुशासन, समयसारमूल इत्यादि परमशात श्रुतका अययन होता होगा। आत्माके शुद्ध स्वरूपका स्मरण करते हैं। ॐ शान्ति

८५६

मोरवी, आपाढ़ सुदी १९५६

१ प्रशमरसनियम दृष्टियुग्मं प्रसन्न, वदनरुमलमरुः कामिनीसंगशून्यः ।

करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंघवध्द्य, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥

—तेरे दो नेत्र प्रशमरममे दृढे हुए हैं—परमशात रसका अनुभव कर रहे हैं। तेरा मुखकमल प्रसन्न है—उसमें प्रसन्नता व्याप रही है। तेरी गोदी छाँके सगसे रहित है। तेरे दोनों हाथ शस्त्रसे रहित हैं, अर्थात् तेरे हाथोंमें शस्त्र नहीं है—इस तरह है देव ! जगत्में तू ही वीतराग है।

देव कौन ? वीतराग ! दर्शनयोग्य मुद्रा कौनसी ? जो वीतरागता सूचन करे।

२ स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा वैराग्यका उत्तम ग्रन्थ है। द्रव्यको—वस्तुको—यथानत् लक्षमें रखकर, इसमें वैराग्यका निरूपण किया है। गतउर्प मद्रासकी ओर जाना हुआ था। कार्तिकस्वामी इस भूमिमें बहुत निचरे हैं। इस ओरके नम्र, भय, ऊँचे ओर अडोल वृत्तिसे खड़े हुए पहाड़ देखकर, स्वामी कार्तिकेय आदिकी अडोल वैराग्यमय दिगम्बरवृत्ति याद आती थी। नमस्कार हो उन स्वामी कार्तिकेय आदिको !

८५७

मोरवी, श्रानण वदी ४ मगल १९५६

ॐ सस्कृतके अभ्यासके योगके सत्रधमें लिखा, परतु जगतक आत्मा सुदृढ प्रतिज्ञासे प्रवृत्ति न करे तत्रतक आज्ञा करनी भयकर है।

जिन नियमोंमें अलिचार आदि लगे हों, उनका कृपाह्नु श्रीमुनियोंसे यथाविधि प्रायश्चित्त लेकर आत्मशुद्धि करना उचित है, नहीं तो वह भयकर तीव्र बधका हेतु है। नियममें स्वेच्छाचारसे प्रवर्तन करनेकी अपेक्षा मरना श्रेयस्कर है—ऐसी महान् पुरुषोंकी आज्ञाका कोई भी विचार नहीं रक्खा ? तो फिर ऐसा प्रमाद आत्माको भयकर क्यों न हो ?

८५८

मोरवी, श्रानण वदी ५ बुध १९५६

ॐ कदाचित् यदि निवृत्ति मुख्य स्थलकी स्थितिके उदयका अतराय प्राप्त हो, तो हे अर्थ ! तुम श्रानण वदी ११ से भाद्रपद सुदी १५ तक सदा सतिनय परम निवृत्तिको इस तरह सेवन करना कि जिससे समागमनासी मुमुक्षुओंको तुम विशेष उपकारक होओ, ओर वे सब निवृत्तिभूत सद्नियमोंका सेवन करते हुए सत्साह-अध्ययन आदिमें एकाग्र हों, यथाशक्ति व्रत नियम गुणके ग्रहण करनेवाले हों।

शरीर-प्रकृतिमें सबल आसातनाके उदयसे यदि निवृत्ति-मुरय स्थलका अतराय माद्म होगा, तो यहाँसे प्राय तुम्हारे अययन मनन आदिके लिये योगशास्त्र पुस्तक भेजेंगे, जिसके चार प्रकाश दूसरे मुमुक्षु भाइयोंको भी श्रानण करानेसे परम लाभ होना सभ्य है।

हे आर्य ! अल्पआयुवाले दु पमकालमें प्रमाद करना योग्य नहीं, तथापि आरागक जीवोंको तदन्तु सुदृढ उपयोग रहता है ।

आत्मप्रलाधीनतासे पत्र लिखा है । ॐ शान्ति

८५९

मोरवी, श्रावण वदी ८, १९५६

(१) पद्दर्शनसमुच्चय, योगदृष्टिसमुच्चयका भापातर गुजरातीमें करना योग्य है, सो करना । पद्दर्शनसमुच्चयका भापातर हुआ है, परन्तु उसे सुधारकर फिरसे करना उचित है । धीरे धीरे होगा, करना । आनदघनचौबीसीका अर्थ भी विवेचनके साथ लिखना ।

(२) नमो दुर्वाररागादिवैरिवारनिवारिणे ।
अर्हते योगिनाथाय महावीराय तायिने ॥

श्रीहेमचन्द्राचार्य योगशास्त्रकी रचना करते हुए मगलाचरणमें वीतरागसर्गज्ञ अरिहत योगिनाथ महावीरको स्तुतिरूपसे नमस्कार करते हैं ।

जो रोके रुक नहीं सकते, जिनका रोकना बहुत बहुत मुश्किल है, ऐसे रागद्वेष अज्ञानरूपी शत्रुके समूहको जिसने रोका—जीता—जो वीतराग सर्गज्ञ हुआ, वीतराग सर्गज्ञ होकर जो अर्हत् पूजनीय हुआ, और वीतराग अर्हत् होकर, जिनका मोक्षके लिये प्रवर्त्तन हे ऐसे भिन्न भिन्न योगियोंका जो नाथ हुआ—नेता हुआ, और इस तरह नाथ होकर जो जगत्का नाथ—तात—त्राता हुआ, ऐसे महावीरको नमस्कार हो ।

यहाँ सदेवके अपायापगमातिशय, ज्ञानातिशय, वचनातिशय और पूजातिशयका सूचन किया है ।

इस मगलस्तुतिमें समग्र योगशास्त्रका सार समाविष्ट कर दिया है, सदेवका निरूपण किया है, समग्र वस्तुस्वरूप—तत्त्वज्ञानका—समावेश कर दिया है । कोई खोज करनेवाला चाहिये ।

(३) लौकिक मेलेमें वृत्तिको चंचल करनेवाले प्रसंग निशेष होते हैं । सच्चा मेला तो सत्सगका है । ऐसे मेलेमें वृत्तिकी चंचलता कम होती है—दूर होती है । इसलिये ज्ञानियोंने सत्सगके मेलेका बखान किया है—उपदेश किया है ।

८६०

मोरवी, श्रावण वदी ९, १९५६

ॐ जिनाय नमः

१ (१) परमनिवृत्तिका निरन्तर सेवन करना चाहिये, यही ज्ञानीकी प्रगण आज्ञा है ।

(२) तथारूप योगमें असमर्थता हो, तो निवृत्तिका सदा सेवन करना चाहिये, अथवा

(३) स्वात्मनीयको छिपाये विना, जितना बने उतना निवृत्ति सेवन करने योग्य अवसर प्राप्त कर, आत्माको अग्रमत्त करना चाहिये यही आज्ञा है । अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्रतिथियोंमें ऐसे आशयसे सुनियमित वर्त्तनसे प्रवृत्ति करनेकी आज्ञा की गई है ।

२ जिस स्थलमें धर्मकी सुदृढता हो, वहाँ श्रावण वदी ११ से भाद्रपद पूर्णिमातक स्थिति करना

योग्य है । ज्ञानीके मार्गकी प्रतीतिमें जिससे नि सशयभाय प्राप्त हो, और उत्तम गुणव्रत, नियम शील और देव गुरु धर्मकी भक्तिमें वीर्य परम उल्लासित होकर रत्न करे, ऐसी सुदृढ़ता करनी योग्य है, और वही परम मगलकारी है ।

३ जहाँ स्थिति करो वहाँ अपना ऐसा वर्तन रखना कि जिससे समागमनासियोंको ज्ञानीके मार्गकी प्रतीति सुदृढ़ हो, और वे अप्रमत्तभायसे सुजीलकी वृद्धि करें । ॐ शांति

८६१

मोरवी, श्रावण वदी १०, १९५६

ॐ आज योगशास्त्र प्रथको ढाकसे भेजा दिया है ।

मुमुक्षुओंके अय्यन और श्रवण मननके लिये श्रावण वदी ११ से भाद्रपद सुदी १५ तक सुव्रत, नियम और ओर निवृत्ति-परायणताके हेतुसे इस प्रथका उपयोग करना चाहिये ।

प्रमत्तभायसे इस जीवका बुरा करनेमें कोई न्यूनता नहीं रखी, तथापि इस जीवको निज-हितका उपयोग नहीं, यही खेदकारक है ।

हे आर्य ! हालमें उस अप्रमत्तभायको उल्लासित वीर्यसे मद करके सुशीलसहित सत्श्रुतका अध्ययन कर निवृत्तिसे आत्मभायका पोषण करना ।

८६२

मोरवी, श्रावण वदी १०, १९५६

श्रीपर्युषण आराधन

१ एकात योगस्थलमें

प्रभातमें—(१) देव गुरुकी उत्कृष्ट भक्तिवृत्तिसे अतरात्माके ध्यानपूर्वक दो घड़ीसे चार घड़ीतक उपशात व्रत

(२) श्रुत-पद्मनन्दि आदि अय्यन, श्रवण

मयाहमें—(१) चार घड़ी उपशात व्रत

(२) श्रुत-कर्मप्रथका अय्यन, श्रवण, सुदिष्ट[दृष्टि]तरगिणी आदिका थोड़ा अध्ययन

सायकालमें—(१) क्षमापनाका पाठ

(२) दो घड़ी उपशात व्रत

(३) कर्मत्रिपयक ज्ञानचर्चा

२ सप्त प्रकारके रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग । हो सके तो भाद्रपद पूर्णिमातक एक समय

आहार लेना

पंचमीके दिन घी, दूध, तेल, दहीका भी त्याग । उपशातव्रतमें विशेष काल ब्रिताना, हो सके तो उपवास करना ।

हरियाली—सर्वथा त्याग (आठों दिन) ।

ब्रह्मचर्य—आठों दिन पालना । बने तो भाद्रपद पूनमतक । शम्भू

८६३

× व्याख्यानसार और प्रश्नसमाधान

(१)

मोरवी, आपाढ सुदी ४ रति १९५६

- १ ज्ञान वैराग्यके साथ, और वैराग्य ज्ञानके साथ होता है—अकेला नहीं होता ।
२. वैराग्य श्रृंगारके साथ नहीं होता, और श्रृंगार वैराग्यके साथ नहीं होता ।
- ३ वीतराग-वचनके असरसे जिसे इन्द्रिय-सुख निरस न लगा, उसे ज्ञानीके वचन कानमें ही पड़े नहीं, ऐसा समझना चाहिये ।
- ४ ज्ञानीके वचन निपयके विरेचन करानेवाले हैं ।
- ५ उन्नत्य अर्थात् आनरणयुक्त ।
- ६ शैलेशीकरण (शैल=पर्वत+ईश=महान्)—पर्वतमें महान् मेरुके समान अचल-अडग ।
- ७ अकप गुणवाला=मन वचन कायाके योगकी स्थिरतागला
- ८ मोक्षमें आत्माके अनुभवका यदि नाश होता हो, तो फिर मोक्ष किस कामका ?
- ९ आत्माका ऊर्ध्वस्वभाव है, तदनुसार आत्मा प्रथम ऊँची जाती है, और कदाचित् वह सिद्धशिलातक भटक आती है, परन्तु कर्मरूपी बोझ होनेसे वह फिर नीचे आ जाती है, जैसे डूबा हुआ मनुष्य उठाला देनेसे एकवार ऊपर आता है, परन्तु फिर नीचे ही चला जाता है ।

(२)

आपाढ सुदी ५ सोम १९५६

१ जैन आत्माका स्वरूप है । उस स्वरूपके (वर्मके) प्रवर्तक भी मनुष्य ही थे । उदाहरणके लिये वर्तमान अवसर्पिणीकालमें ऋषभ आदि धर्मके प्रवर्तक थे । इससे कुछ उन्हें अनादि आत्मधर्मका विचार न था—यह बात न थी ।

२ लगभग दो हजार वर्षसे अविक्त हुए जैनयति गिखरसूरि आचार्यने वैश्योंको क्षत्रियोंके साथ मिला दिया ।

३ उत्कर्ष, अपकर्ष, और सक्रमण ये सत्तामें रहनेवाली कर्मप्रकृतिके ही हो सकते हैं—उदयमें आई हुई प्रकृतिके नहीं हो सकते ।

४ आयुर्कर्मका जिस प्रकारसे बध होता है, उस प्रकारसे देहस्थिति पूर्ण होती है ।

५ ओसगाल 'ओरपाक' जातिके राजपूत हैं ।

६ अधेरेमें न देखना, यह एकात दर्शनावरणीय कर्म नहीं कहा जाता, परन्तु मद दर्शनावरणीय कहा जाता है । तमस्का निमित्त और तेजस्का अभाव उसीको लेकर होता है ।

७ दर्शनके रक्नेपर ज्ञान रुक जाता है ।

८ ज्ञेयको जाननेके लिये ज्ञानको बढ़ाना चाहिये । जैसा वजन ठेसे ही बात ।

× सवत् १९५६ में जिस समय श्रीमद् राजचन्द्र मोरवीमें थे, उस समय उन्होंने जो व्याख्यान दिये थे, उन व्याख्यानोंका सार एक श्रोताने अपनी स्मृतिके अनुसार लिपि लिवा था, उसीका यह संक्षिप्त सार यहाँ दिया गया है ।

—अनुवादक.

९ जैसे परमाणुकी शक्ति पर्याय प्राप्त करनेमें बढ़ती जाती है, उसी तरह चेतन्यद्रव्यका शक्ति विशुद्धताके प्राप्त करनेसे बढ़ती जाती है। काँच, चरमा, दुरनीम आदि पहिले (परमाणु) के अनुसार हैं, और अग्नि, मन, पर्यय, केवलज्ञान, लघ्नि, ऋद्धि वगैरह दूसरे (चेतन्यद्रव्य) के अनुसार हैं।

(३)

आपाठ सुद्धी ६ भौम १९५६

१ क्षयोपशमसम्पत्तको वेदकसम्पत्त्व भी कहा जाता है। परन्तु क्षयोपशममेंसे क्षायित होनेकी सभिके समयका जो सम्पत्त्व है, वही वास्तविक रीतिसे वेदकसम्पत्त्व है।

२ पाँच स्थानर एकेन्द्रिय वादर और सूक्ष्म दोनों हैं। वनस्पतिके सिन्धाय वाकीके चारों असरयात सूक्ष्म कटे जाते हैं। निगोद सूक्ष्म अनत है, आर वनस्पतिके भी सूक्ष्म अनत हैं, वहाँ निगोदमें सूक्ष्म वनस्पति घटती है।

३ श्रीतीर्थकर ग्यारहवें गुणस्थानका स्पर्श नहीं करते, इसी तरह वे पहिले, दूसरे तय तीसरेका भी स्पर्श नहीं करते।

४ वर्धमान, हीयमान और स्थिन ऐसी जो तीन परिणामोंकी धारा है, उसमें हायमान परिणामकी सम्पत्त्वसंबन्धी (दर्शनसंबन्धी) धारा श्रीतीर्थकरदेवको नहीं होती, और चारित्र्यसंबन्धी धाराकी भजना होती है।

५ जहाँ क्षायिकचारित्र्य है वहाँ मोहनीयका अभाव है, और जहाँ मोहनीयका अभाव है, वहाँ पहिला, दूसरा, तीसरा और ग्यारहवाँ इन चार गुणस्थानोंकी स्पर्शनाका अभाव है।

६ उदय दो प्रकारका है—एक प्रदेशोदय और दूसरा निपाकोदय। निपाकोदय वाह (दिव्यता हुई) रीतिसे वेदन क्रिया जाता है, और प्रदेशोदय भीतरमें वेदन क्रिया जाता है।

७ आयुर्कर्मका वध प्रकृतिके विना नहीं होता, परन्तु वेदनीयका होता है।

८ आयुप्रकृति एक ही भयमें वेदन की जाती है। दूसरी प्रकृतियाँ उस भयमें और दूसरे भयमें भी वेदन की जाती हैं।

९ जीव जिस भयकी आयुप्रकृतिका भोग करता है, वह समस्त भयकी एक ही वधप्रकृति है। उस वधप्रकृतिका उदय, जहाँसे आयुका आरम्भ हुआ वहाँसे गिना जाता है। इस कारण उस भयकी आयुप्रकृति उदयमें है, उसमें सन्तमण, उत्कर्ष, अपकर्ष आदि नहीं हो सकते।

१० आयुर्कर्मकी प्रकृति दूसरे भयमें नहीं भोगी जाती।

११ गति, जाति, स्थिति, स्वध, अग्नाह (शरीरप्रमाण) और रसको, अमुक जीवमें अमुक प्रमाणमें भोगनेका आधार आयुर्कर्मके ही ऊपर है। उदाहरणके लिये, किसी मनुष्यकी सार्वभौमी आयुर्कर्म-प्रकृतिका उदय हो, और उसमेंसे यदि वह अम्सार्थें वर्षमें अधूरी आयुमें मर जाय, तो फिर वाक्यके बीस वर्ष कहाँ और किन तरहसे भोगे जायेंगे ? क्योंकि दूसरे भयमें तो गति, जाति, स्थिति, स्वध आदि सब नये सिरेसे ही होते हैं—इन्ध्यासीने वर्षसे नहीं होते। इस कारण आयुउदय-प्रकृति बीचमेंसे नहीं टूट सकती। जिस जिस प्रकारसे वध पड़ा हो, उस उस प्रकारसे वह उदयमें आता है, इससे किसीको कदाचित् आयुका नुनित होना माद्वम हो सकता है, परन्तु ऐसा वन नहीं सकता।

१२ सक्रमण अपकर्ष उत्कर्ष आदि करणका नियम, जबतक आयुकर्मसर्गणा सत्तामें हो, तबतक लागू हो सकता है। परन्तु उदयना प्रारम्भ होनेके बाद यह लागू नहीं पड़ सकता।

१३ आयुकर्म पृथक्के समान है, और दूसरे कर्म वृक्षके समान हैं (यदि पृथ्वी हो तो वृक्ष होता है)।

१४ आयु दो प्रकारकी है —सोपक्रम और निरूपक्रम। इसमेंसे जिस प्रकारकी आयु चाँगी हो, उसी तरहकी आयु भोगी जाती है।

१५. उपशमसम्यक्त्व क्षयोपशम होकर क्षायिक होता है। क्योंकि उपशम सत्तामें है इसलिए वह उदय आकर क्षय होता है।

१६ चक्षु दो प्रकारकी होती है —ज्ञानचक्षु और चर्मचक्षु। जैसे चर्मचक्षुसे एक वस्तु जिस स्वरूपसे दिखाई देती है, वह वस्तु दूरगोन सूक्ष्म-दर्शक आदि यंत्रोंसे भिन्न स्वरूपसे ही दिखाई देती है, वैसे ही चर्मचक्षुसे वह जिस स्वरूपसे दिखाई देती है, वह ज्ञानचक्षुसे किसी भिन्नरूपसे ही दिखाई देती है और उसी तरह कही जाती है, फिर भी उसे अपनी होशियारीसे-अहंभायसे-न मानना, यह योग्य नहीं।

(४)

आपाद सुदी ७, बुध १९५६

१ श्रीमान् कुन्दकुन्द आचार्यने अष्टपाहुड (अष्टप्राभृत) की रचना की है। प्राभृतोंके भेद — दर्शनप्राभृत, ज्ञानप्राभृत, चारित्रप्राभृत इत्यादि। दर्शनप्राभृतमें जिनभायका स्वरूप बताया है। शास्त्रकर्ता कहते हैं कि अन्य भावोंको हमने, तुमने और देवाधिदेवोंतकने पूर्वमें सेवन किया है, और उससे कार्य सिद्ध नहीं हुआ। इसलिये जिनभायके सेवन करनेकी जरूरत है। वह जिनभाय शात है, आत्माका धर्म है, और उसके सेवन करनेसे ही मुक्ति होती है।

२ चारित्रप्राभृत ०

३ जहाँ द्रव्य और उसकी पर्याय नहीं माने जाते, वहाँ उसमें विकल्प होनेसे उल्लक्षण हो जाती है। पर्यायोंको न माननेका कारण, उतने अशको नहीं पहुँचना ही है।

४ द्रव्यकी पर्याय है, यद्यपि यह स्वीकार किया जाता है, परन्तु वहाँ द्रव्यका स्वरूप समझनेमें विकल्प रहनेके कारण उल्लक्षण हो जाती है, और उससे ही भटकना होता है।

५ सिद्धपद द्रव्य नहीं है, परन्तु आत्माकी एक शुद्ध पर्याय है। वह पद पहिले जब मनुष्य या देवपद था, उस समय वही पर्याय थी। इस तरह द्रव्य शाश्वत रहकर पर्यायांतर होता है।

६ शान्तभाय प्राप्त करनेसे ज्ञान बढ़ता है।

७ आत्मसिद्धिके लिये द्वादशांगीका ज्ञान करते हुए बहुत समय चला जाता है, जब कि एक मात्र शातभावके सेवन करनेसे वह तुरत ही प्राप्त हो जाता है।

८ पर्यायका स्वरूप समझनेके लिये श्रौतार्थिकरदेवने त्रिपद (उत्पाद, व्यय और ध्रुव्य) समझाये हैं।

९ द्रव्य ध्रुव—सनातन—है।

१० पर्याय उत्पादव्ययुक्त है।

११ छलें दर्शन एक जैनदर्शनमें समाविष्ट हो जाते हैं । उसमें भी जैन एक दर्शन है ।

मौद्ध-शणिकगदी=पर्यायरूप सत् है । वेदात-सनातन=द्रव्यरूपसे सत् है । चार्वाक-निरी-
ररगदी= जगतक आत्माकी प्रतीति नहीं हुई तत्रतक उमे पट्टिचाननेरूप सत् है ।

१२ (आत्मा) पर्यायके दो भेद हैं—जीवपर्याय (ससारारुधामें) और सिद्धपर्याय ।
सिद्धपर्याय सौ टचके सोनेके समान है, और जीवपर्याय टोटसहित सोनेके समान है ।

१३ व्यजनपर्याय०

१४ अर्धपर्याय०

१५ त्रिपयका नाश (वेदका अभावर) क्षायिकचरित्रमें होता है । चाथे गुणस्थानकमें त्रिपयकी
मदता होती है, और नरमें गुणस्थानकतक वेदका उदय होता है ।

१६ जो गुण अपनेमें नहीं हैं, वे गुण अपनेमें हैं—जो ऐसा कहता अथवा मनयाता है,
उसे मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये ।

१७ जिन और जैन शब्दका अर्थ—

घट घट अत्तर जिन वसै, घट घट अत्तर जैन ।

मति-मदिराके पानसौं, मतवारा समुझै न ॥ (समयसार)

१८ आत्माका सनातन धर्म शात होना—विराम पाना है, समस्त द्वादशागीका सार भी वही
है । वह पड्दर्शनमें समा जाता है, और वह पड्दर्शन जैनदर्शनमें समाविष्ट होता है ।

१९ वीतरामके उचन त्रिपयका विरेचन करानेवाले हैं ।

२० जैनधर्मका आशय, दिग्मन्वर तथा इनेताम्वर आचार्योंका आशय, और द्वादशागीका आशय
मात्र आत्माका सनातन धर्म प्राप्त करानेका है—और वही साररूप है । इस बातमें किसी प्रकारसे
ज्ञानियोंको विरूप नहीं । वही तीनों कालमें ज्ञानियोंका कथन है, था, ओर होगा ।

२१ बारा त्रिपयसे मुक्त होकर ज्यों ज्यों उसका विचार किया जाय, त्यों त्यों आत्मा विरत
होती जाती है—निर्मल होती जाती है ।

२२ भगजालमें पड़ना नहीं चाहिये । मात्र आत्माकी शातिका विचार करना याग्य है ।

२३ ज्ञानी लोग यद्यपि वैश्योंकी तरह हिसाबी होते हैं (वैश्योंकी तरह कसर न खानेवाले
होते हैं—अर्थात् सूक्ष्मरूपसे शोधनकर तत्त्वोंको स्वीकार करनेवाले होते हैं), तो भी आखिर तो वे
साधारण लोगों जैसे ही लोग (किमान आदि—एक सारभूत बातको ही पकड़कर रखनेवाले) होते
हैं । अर्थात् अतमें चाहे कुछ भी हो जाय, परंतु वे एक शातमानको नहीं छोड़ते, ओर समस्त
द्वादशागीका सार भी नहीं है ।

२४ ज्ञानी उदयको जानता है, परंतु वह साता अमातामें परिणाम नहीं करता ।

२५ इन्द्रियोंके भोगसे मुक्ति नहीं । जहाँ इन्द्रियोंका भोग है वहाँ ससार है, और जहाँ ससार
है वहाँ मुक्ति नहीं ।

२६ बारहवें गुणस्थानकतक ज्ञानीका आश्रय लेन

का आज्ञासे वर्तन करना चाहिये ।

लेकर पूर्वपर्याय स्मृतिमें नहीं रहती, इसलिये यह होती ही नहीं—यह नहीं कहा जा सकता। जिस तरह आम आदि वृक्षोंकी कलम की जाती है, तो उसमें यदि सानुकूलता होती है तो ही यह लगती है, उसी तरह यदि पूर्वपर्यायकी स्मृति करनेकी सानुकूलता (योग्यता) हो तो जातिस्मरण ज्ञान होता है। पूर्वज्ञान कायम होनी चाहिये। असंजीना भन आ जानेसे जातिस्मरण ज्ञान नहीं होता।

३. आत्मा है। आत्मा नित्य है। उसके प्रमाण —

(१) बालकको दूध पीते हुए क्या 'चुक चुक' शब्द करना कोई सिखाता है? वह तो पूर्वका अभ्यास ही है।

(२) सर्प और मोरका, हाथी और सिंहका, चूहे और त्रिडोका स्वाभाविक वेर है। उन्हें उसे कोई भी नहीं सिखाता। पूर्वभनके वेरकी स्वाभाविक सज्ञा है—पूर्वज्ञान है।

४. निःसगता यह वननासीका विषय है—ऐसा जानियोंने कहा है, वह सत्य है। जिसमें दोनों व्यनहार (सांसारिक और असासारिक) होते हैं, उससे निःसगता नहीं होती।

५. ससारके छोड़े त्रिना अप्रमत्त गुणस्थानक नहीं। अप्रमत्त गुणस्थानककी स्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है।

६. ' हमने समझ लिया है, हम शान्त हैं '—ऐसा जो कहते हैं वे ठगाये जाते हैं।

७. ससारमें रहकर सातमें गुणस्थानके ऊपर नहीं चढ़ सकते, इससे ससारी जीवको निराश न होना चाहिये—परन्तु उसे ध्यानमें रखना चाहिये।

८. पूर्वमें स्मृतिमें आई हुई वस्तुको फिर शातभाजसे याद करे तो वह यथास्थित याद पड़ती है।

९. प्रथिके दो भेद हैं—एक द्रव्य—बाह्यप्रथि (चतुष्पद, द्विपद, अपद इत्यादि), दूसरी भाज—अभ्यन्तरप्रथि (आठ कर्म इत्यादि)। सम्यक् प्रकारसे जो दोनों प्रथियोंसे निवृत्त हो, वह निर्प्रथ है।

१०. मिथ्यात्व, अज्ञान, अनिरति आदि भाव जिसे छोड़ने ही नहीं, उसके बलका त्याग हो, तो भी वह पारलौकिक कल्याण क्या करेगा ?

११. सक्रिय जीवको अवधका अनुष्ठान हो, ऐसा कभी बनता ही नहीं। (क्रिया होनेपर अवध गुणस्थानक नहीं होता)।

१२. राग आदि दोषोंका क्षय होनेसे उनके सहकारी कारणोंका क्षय होता है, जबतक उनका सम्पूर्णरूपसे क्षय नहीं होता, तबतक मुमुक्षु जीन सतोप मानकर नहीं बैठता।

१३. राग आदि दोष और उनके सहकारी कारणोंके अभाज होनेपर वध नहीं होता। राग आदिके प्रयोगसे कर्म होता है। उनके अभावमें सब जगह कर्मका अभाज ही समझना चाहिये।

१४. आयुर्कर्म —

(अ) अपवर्त्तन=विशेष कालका हो तो वह कर्म थोड़े ही फालमें वेदन किया जा सकता है। इसका कारण पूर्वका वैसा वध है, इससे वह इस प्रकारसे उदयमें आता है—भोगा जाता है।

(आ) ' टूट गया ' शब्दका अर्थ बहुतसे लोग ' दो भाग होना ' करते हैं, परन्तु उसका अर्थ वैसा नहीं है। जिस तरह ' कर्जा टूट गया ' शब्दका अर्थ ' कर्जा उतर गया—कर्जा दे दिया ' होता है, उसी तरह ' आयु टूट गई ' शब्दका आशय समझना चाहिये।

(इ) सोपक्रम—शिथिल—जिसे एकदम भोग लिया जाय ।

(ई) निरुपक्रम=निकाचित । देव, नरक, युगल, तरेसठ शलाकापुरुष और चरम-शरीरीको होता है ।

(उ) प्रदेशोदय=प्रदेशको मुपके पास ले जाकर वेदन करना, वह प्रदेशोदय है । प्रदेशोदयसे ज्ञानी कर्मका क्षय अतमुहूर्तमें कर देते हैं ।

(ऊ) अनपवर्त्तन और अनुदीरणा—इन दोनोंका अर्थ मिलता हुआ है । तथापि दोनोंमें अंतर यह है कि उदीरणामें आत्माकी शक्ति है, और अनपवर्त्तनमें कर्मकी शक्ति है ।

(ए) आयु घटती है, अर्थात् थोड़े कालमें भोग ली जाती है ।

१५ असाताके उदयमें ज्ञानकी कसौटी होती है ।

१६ परिणामकी धारा धरमापीटरके समान है ।

(७) आपाढ़ सुदी १० शनि १९५५

१ (१) असमजसता—अनिर्मल भार (अस्पष्टता) (२) निपम=जैसे जैसे (३) आर्य=उत्तम । आर्य शब्द श्रीजिनेश्वरके, मुमुक्षुके, तथा आर्यदेशके रहनेवालोंके लिये प्रयुक्त होता है । (४) निक्षेप=प्रकार, भेद, विभाग ।

२ भयत्राण=भयसे पार करनेवाला, शरण देनेवाला ।

३ हेमचन्द्राचार्य धधुकाके मोढ़ वैश्य थे । उन महात्माने कुमारपाल राजासे अपने कुटुम्बके लिये एक क्षेत्रतक भी न माँगा था । तथा स्वयं भी राज-अन्नका एक प्रासतक भी न लिया था—यह बात श्रीकुमारपालने उन महात्माके अग्निदाहके समय कही थी । उनके गुरु देवचन्द्रसूरि थे ।

(८) आपाढ़ सुदी ११ रवि १९५६

१ सरस्वती=जिनवाणीकी धारा

२ (१) बाँधनेवाला, (२) बाँधनेके हेतु, (३) बधन और (४) बधनके फलसे समस्त ससारका प्रपच रहता है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रने कहा है ।

३ बनारसीदास श्रीआगराके दशाश्रीमाली वैश्य थे ।

(९) आपाढ़ सुदी १२ सोम १९५६

१ श्रीयशोविजयजीने योगदृष्टि ग्रथमें—उड़ी 'कातादृष्टि' में बताया है कि वीतरागस्वरूपके बिना कहीं भी स्थिरता नहीं हो सकती, वीतरागसुखके सिवाय दूसरा सब सुख नि सत्य लगता है—आडम्बररूप लगता है । पाँचवीं 'स्थिरादृष्टि' में बताया है कि वीतरागसुख प्रियकर लगता है । आठवीं 'परादृष्टि' में बताया है कि परमाग्राहसम्यक्त्व होता है, वहाँ केवलज्ञान होता है ।

२ पातजलयोगके कर्त्ताको सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ था, परन्तु हरिभद्रसूरिने उन्हें मार्गा-नुसारी माना है ।

३ हरिभद्रसूरिने उन दृष्टियोंका अध्यात्मरूपसे सस्कृतमें वर्णन किया है, ओर उसके ऊपरसे यशोविजयजी महाराजने उन्हें ढालरूपसे गुजरातीमें लिखा है ।

४. योगदृष्टिमें छहों भागोंका (औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, पारिणामिक और सान्निपातिक) समावेश होता है। ये छह भाग जीवके स्वतरत्रभूत हैं।

५. जबतक यथार्थ ज्ञान न हो तबतक मौन रहना ही ठीक है। नहीं तो अनाचार दोष लगता है। इस त्रिपयमें उत्तराव्ययनसूत्रमें अनाचारनामक अधिकार है।

६. ज्ञानीके सिद्धातमें फेर नहीं हो सकता।

७. सूत्र आत्माका स्वधर्म प्राप्त करनेके लिये बनाये गये हैं, परन्तु उनका रहस्य यथार्थ समझमें नहीं आता, इससे फेर माद्धम होता है।

८. दिगम्बरमतके तीव्र वचनोंके कारण कुछ रहस्य समझमें आ सकता है। श्वेताम्बरमतकी शिथिलताके कारण रस ठंडा होता गया।

९. 'शाल्मलि वृक्ष' यह शब्द नरकमें असाता बतानेके लिये प्रयुक्त होता है। वह वृक्ष खदिरके वृक्षसे मिलता जुलता होता है। भागसे ससारी-आत्मा उम वृक्षरूप है। आत्मा परमार्थसे (अध्यवसाय छोड़कर) नदनवनके समान है।

१०. जिनमुद्रा दो प्रकारकी है — कायोत्सर्ग और पद्मासन। प्रमाद दूर करनेके लिये दूसरे अनेक आसन किये गये हैं, किन्तु मुख्यतः ये दो ही आसन हैं।

११. प्रश्नसरसनिमग्न दृष्टियुगम प्रसन्न, वदनरुमलमक कामिनीसगश्न्यः।

करयुगमपि यत्ते शास्त्रसंबंधवध्य, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥

१२. चैतन्य लक्ष करनेवालेकी बलिहारी है।

१३. तीर्थ=पार होनेका मार्ग।

१४. अरहनाथ प्रभुकी स्तुति महात्मा आनदघनजीने की है। श्रीआनदघनजीका दूसरा नाम लाभानद था। वे तपगच्छमें हुए हैं।

१५. वर्तमानमें लोगोंको ज्ञान तथा शक्तिके साथ सवध नहीं रहा। मताचार्यने मार डाला है।

१६. × आश्रय आनंदघनतपो, अति गभीर उदार।

बालक वाह पसारि जिम, कहे उदधिविस्तार ॥

१७. ईश्वरत्व तीन प्रकारसे जाना जाता है — (१) जड़ जड़रूपसे रहता है, (२) चैतन्य—ससारी जीव—विभागरूपसे रहते हैं, (३) सिद्ध शुद्ध चैतन्यभागे रहते हैं।

(१०)

आषाढ़ सुदी १३ भौम १९५६

१. भ्रगवतीआराधना जैसी पुस्तकें मध्यमउत्कृष्ट-भागके महात्माओंके तथा मुनिराजोंके योग्य हैं। ऐसे ग्रन्थोंको उससे कम पदवी (योग्यता) वाले साधु श्रावकको देनेसे कृतप्रता होती है। उन्हें उससे उल्टा नुकसान ही होता है। सबे मुमुक्षुओंको ही यह लाभकारी है।

२. मोक्षमार्ग अगम्य तथा सरल है।

अगम्य — मात्र विभाजदशाके कारण मतभेद पड़ जानेसे किसी भी जगह मोक्षमार्ग ऐसा नहीं रहा जो समझमें आ सके, ओर इस कारण वर्तमानमें वह अगम्य है। मनुष्यके मर जानेके पश्चात्

× आनदघनका आश्रय अति गभीर और उदार है, फिर भी जिस तरह बालक बौद्ध पैलावर समुद्रका विस्तार कर्ता है, उसी तरह यह विस्तार कर्ता है।

अज्ञानद्वारा नाड़ी पकड़कर दया करनेके फलकी वरानर ही मतभेद पड़नेका फल हुआ है, और उससे मोक्षमार्ग समझमें नहीं आता ।

सरल —मतभेदकी माथापचीको दूरकर, यदि आत्मा और पुद्गलका पृथकरण करके शातभासे अनुभ्र किया जाय, तो मोक्षमार्ग सरल है, ओर वह दूर नहीं ।

३ अनेक शास्त्र हैं । उहए एक एकको गँचनेके बाद, यदि उनका निर्णय करनेके लिये ब्रेठा जाय, तो उस हिसाबसे पूर्वआदिका ज्ञान ओर केवलज्ञान कभी भा प्राप्त न हो, अर्थात् उसकी कभी भी पार न पड़े, परन्तु उसकी सकलना हे, ओर उसे श्रांगुरु बताते हैं कि महत्तमा उसे अतमहूर्त्तमें ही प्राप्त कर लेते हैं ।

४ इस जीउने नवपूर्वतक ज्ञान प्राप्त किया, तो भी कोई सिद्धि नहीं हुई, उसका कारण निमुख-दशासे परिणमन करना हा है । यदि जाव समुखदशासे चला होता तो वह तत्क्षण मुक्त हो जाता ।

५ परमशात रसमय भगवतीआराधना जैसे एक भी शास्त्रका यदि अच्छी तरह परिणमन हुआ हो तो वस है ।

६ इस आरे (काल) में सघयण अच्छे नहीं, आयु कम है, और दुर्भिक्ष महामारी जैसे सयोग बारम्बार आते हैं, इसलिये आयुकी कोई निश्चयपूर्वक स्थिति नहीं, इसलिये जैसे बने वसे आत्महितकी वात तुरत ही करनी चाहिये । उसे स्थगित कर देनेसे जीन धोखा ग्वा बैठता हे । ऐसे कठिन समयमें तो सर्वथा ही कठिन मार्ग (परमशात होना) को ग्रहण करना चाहिये । उससे ही उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक भाग होते हैं ।

७ काम आदि कभी कभी ही अपनेसे हार मानते है, नहीं तो बहुत बार तो वे अपनेको ही थपड़ मार देते है । इसलिये जहाँतक हो, जैसे बने तैसे, त्परासे उसे छोड़नेके लिये अप्रमादी होना चाहिये—जिस तरह जल्दीसे हुआ जाय उस तरह होना चाहिये । शूरवीरतासे वेसा तुरत हुआ जा सकता है ।

८ वर्त्तमानमें दृष्टिरागानुसारी मनुष्य विशेषरूपसे हैं ।

९ यदि सच्चे वैद्यकी प्राप्ति हो, तो देहका विधर्म सहजमें ही ओपधिके द्वारा विधर्ममेंसे निकलकर स्वयर्म परुड़ लेता हे । उसी तरह यदि सच्चे गुरुकी प्राप्ति हो तो आत्माकी शांति बहुत ही सुगमतासे और सहजमें ही हो जाती है ।

१० क्रिया करनेमें तत्पर अर्थात् अप्रमादी होना चाहिये । प्रमादसे उल्टा कायर न होना चाहिये ।

११ सामायिक=सयम । प्रतिक्रमण=आत्माकी क्षमापना—आराधना । पूजा=भक्ति

१२ जिनपूजा, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि किस अनुक्रमसे करने चाहिये—यह कहनेसे

एकके बाद एक प्रश्न उठते हैं, ओर उनका किसी तरह पार पड़नेनाळा नहीं । ज्ञानीकी आज्ञानुसार, शानीद्वारा कहे अनुसार, चाहे जीन किसी भी क्रियामें प्रवृत्ति करे तो भी वह मोक्षके मार्गमें ही है ।

१३ हमारी आज्ञासे चलनेसे यदि पाप लगे, तो उसे हम अपने सिरपर ओढ़ लेते हैं । कारण कि जैसे रास्तेमें काँट पड़े हों तो ऐसा जानकर कि वे किसीको लँगेंगे, मार्गमें जाता हुआ कोई आदमी कि जैसे रास्तेमें काँट पड़े हों तो ऐसा जानकर कि वे किसीको लँगेंगे, मार्गमें जाता हुआ कोई आदमी कि जैसे रास्तेमें काँट पड़े हों तो ऐसा जानकर कि वे किसीको लँगेंगे, तो कुछ वह उन्हें वहाँसे उठाकर, किसी ऐसी दूसरी एकात जगटमें रख दे कि जहाँ वे किसीको न लँगें, तो कुछ वह राज्यका गुनाह नहीं कहा जाता, उसी तरह मोक्षका शात मार्ग बतानेसे पाप किस तरह लग सकता है ?

१४. ज्ञानीकी आज्ञापूर्वक चलते हुए ज्ञानी-गुरुने क्रियाकी अपेक्षासे, अपनी योग्यतानुसार किसीकी कुछ बताया हो, और किसीको कुछ बताया हो, तो उससे मार्ग अटकता नहीं है ।

१५. यथार्थ स्वरूपके समझे विना, अथवा ' जो स्वयं बोलता है, वह परमार्थसे यथार्थ है अथवा नहीं, ' इसके जाने विना—समझे विना—जो बक्ता होता है, वह अनन्त ससार बढ़ाता है, इसलिये जहाँतक यह समझनेकी शक्ति न हो वहाँतक मौन रहना ही उत्तम है ।

१६. बक्ता होकर एक भी जीवको यथार्थ मार्ग प्राप्त करानेसे तीर्थकरगोत्र बँधता है, और उससे उलटा करनेसे महामोहनीय कर्म बँधता है ।

१७. यद्यपि हम इसी समय तुम सगको मार्ग चढ़ा दें, परन्तु बरतनके अनुसार हां तो बस्तु रक्खी जाती है । नहीं तो जिस तरह हलके बरतनमें भारी बस्तु रख देनेसे बरतनका नाश हो जात है, उसी तरह यहाँ भी वही बात होगी ।

१८. तुम्हें किसी तरह डरने जैसी बात नहीं है । कारण कि तुम्हारे साथ हमारे जैसे हैं । तो अब मोक्ष तुम्हारे पुरुषार्थके आधीन है । यदि तुम पुरुषार्थ करो तो मोक्ष होना दूर नहीं है । जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, वे सब महात्मा पहिले अपने जैसे मनुष्य ही थे, और केवलज्ञान पानेके बाद भी (सिद्ध होनेके पहिले) देह तो वही की रही रहती है, तो फिर अब उस देहमेंसे उन महात्माओंने क्या निकाल डाला, यह समझकर हमें भी उसे निकाल डालना है । उसमें डर किसका ? वादविवाद अथवा मतभेद किसका ? मात्र शातमानसे वही उपासनीय है ।

(११)

आपाढ़ सुदी १४ बुध १९५६

१ प्रथमसे आयुधको बाँधना और उपयोगमें लाना सीखे हों, तो वह लडाईके समय काम आता है, उसी तरह प्रथमसे ही यदि बेराग्यदशा प्राप्त की हो, तो वह अनसर आनेपर काम आती है—आराधना हो सकती है ।

२ यगोविजयजीने प्रथम लिखते हुए इतना अखड उपयोग रक्खा था कि वे प्राय किसी जगह भी न भूले थे । तो भी छद्मस्थ अस्थायीके कारण डेढ़सोगाथाके स्तयनमें ७३ ठाणागमूतकी जो शाखा दी है, वह मिलती नहीं, वह श्रीभगवतीजीके पाँचवें शतकको लक्ष्य करके दी हुई माद्धम होती है । इस जगह अर्थकत्तनि 'रासभवृत्ति' का अर्थ पशुतुल्य गिना है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं । रासभ-वृत्ति अर्थात् जैसे गधेको अच्छी शिक्षा दी हो तो भी जातिस्वभावके कारण धूल देखकर, उसका लोट जानेका मन हो जाता है, उसी तरह वर्तमानकालमें बोलते हुए भविष्यकालमें कहनेकी बात बोल दी जाती है ।

३ भगवतीआराधनामें लक्ष्या अधिकारमें हरेकनी स्थिति वगैरह अच्छी तरह बताई है ।

४ परिणाम तीन प्रकारके हैं—हीयमान, वर्धमान और समनस्थित । प्रथमके दो छद्मस्थको होते हैं, और अन्तिम समनस्थित (अच्छल अकप शैलेडीकरण) केवलज्ञानीको होता है ।

५ तेरहवें गुणस्थानकमें लक्ष्या तथा योगका चल-अचलभाव है, तो फिर वहाँ समनस्थित परिणाम किस तरह हो सकता है ? उसका आशय —सक्रिय जीवको अज्ञान अनुष्ठान नहीं होता ।

तेरहवें गुणस्थानकमें केन्द्रकी भी योगके कारण सक्रियता है, और उससे बध है, परन्तु यह बध अव्य-
वध गिना जाता है। चौदहवें गुणस्थानकमें आत्माके प्रदेश अचल होते हैं। उदाहरणके लिये, जिस
तरह पिंजरेमें रक्खा हुआ सिंह जालीको रशरी नहीं करता, यह स्थिर होकर बैठा रहता है, और कोई
क्रिया नहीं करता, उसी तरह यहाँ आत्माके प्रदेश अक्रिय रहते हैं। जहाँ प्रदेशकी अचलता है वहाँ
अक्रियता मानी जाती है।

६ चल्ई सो बधे [धो]—योगका चलायमान होना बध है। योगका स्थिर होना अबध है।

७ जब अबध हो उस समय जीन मुक्त हुआ कहा जाता है।

८ उत्सर्गमार्ग अर्थात् यथाख्यातचारित्र—जो निरतिचार है।

उत्सर्गमें तीन गुणियाँ गर्भित होती हैं। अपनादमें पाँच समितियाँ गर्भित होती हैं। उत्सर्ग
अक्रिय है। अपनाद सक्रिय है। उत्सर्गमार्ग उत्तम है, और उससे जो उत्तरता हुआ है वह अपनाद
है। चौदहवाँ गुणस्थान उत्सर्ग है, उससे नीचेके गुणस्थान एक दूसरेकी अपेक्षा अपनाद है।

० मिथ्यात्व, अतिरति, प्रमाद, कपाय, और योगसे एकके बाद एक अनुक्रमसे बध पड़ता है।

१० मिथ्यात्व अर्थात् जो यथार्थ समझमें नहीं आता। मिथ्यात्वसे निरतिभाज नहीं होता।
निरतिके अभाज कपायसे होती है, कपायसे योगकी चंचलता होती है। योगकी चंचलता आश्रय,
और उससे उल्टा सार है।

११ दर्शनमें भूल होनेसे ज्ञानमें भूल होती है। जैसे रससे ज्ञानमें भूल होती है, तैसे ही
आत्माका धीर्य स्फुरित होता है, और उसी प्रमाणमें वह परमाणु ग्रहण करती है, और वैसा ही बध
पड़ता है, और उसी प्रमाणमें निपाक उदयमें आता है। उँगलीमें उँगली डाल देनेरूप—अटीरूप—
उदय है और उनको मरोड़नेरूप भूल है, उस भूलसे दुःख होता है, अर्थात् बध बंधता है। परन्तु
मरोड़नेरूप भूल दूर हो जानेसे उनकी परस्परकी अटी सहजमें निपाक देकर ढाड़ जाती है, और
नया बध नहीं होता।

१२ दर्शनमें भूल होती है, उसका उदाहरण—जैसे लड़का बापके ज्ञानमें तथा दूसरेके ज्ञानमें
देहकी अपेक्षा एक ही है, अथवा नहीं, परन्तु बाप उसे जो अपना लड़का करके मानता है वही भूल
है। वही दर्शनमें भूल है, और उससे यद्यपि ज्ञानमें फेर नहीं तो भी वह भूल करता है, और उससे
ऊपर कहे अनुसार बध पड़ता है।

१३ यदि उदयमें आनेके पहिले रसमें मदता कर दी जाय, तो आत्मप्रदेशसे कर्म खिरकर
निर्जरा हो जाय, अथवा मद रससे उदय आये।

१४ ज्ञानी लोग नई भूलें नहीं करते, इसलिये वे बधरहित हो सकते हैं।

१५ ज्ञानियोनि माना है कि देह अपनी नहीं है, वह रहनेवाली भी नहीं, कभी न कभी उसका
नियोग तो होनेवाला है—इस भेद विज्ञानको लेकर मानो हमेशा नगारा बज रहा हो, इस तरह
ज्ञानीके कानमें सुनाई देता है, और अज्ञानीके कान बहरे होते हैं इसलिये वह उसे जानता नहीं।

१६ ज्ञानी देहको नाशमान समझकर, उसका नियोग होनेपर उसमें खेद नहीं करता। परन्तु
जिस तरह किमीकी वस्तु ले ली हो, और बादमें वापिस देनी पड़े, उसी तरह देहको वह
पीछे सौंप देता है—अर्थात् वह देहमें परिणति नहीं करता।

१७ देह और आत्माका भेद करना भेदज्ञान है। वह ज्ञानीका तेजाव है, उस तेजावसे देह ओर आत्मा जुदी जुदी हो सकती है। उस विज्ञानके होनेके लिये महात्माओंने समस्त शास्त्र रचे हैं। जिस तरह तेजावसे सोना ओर उसका खोटा अलग अलग हो जाते हैं, उसी तरह ज्ञानीके भेद-विज्ञानरूप तेजावसे स्वाभाविक आत्मद्रव्य अगुरुलघु स्वभावात्मा होकर प्रयोगी द्रव्यसे जुदा होकर स्वधर्ममें आ जाता है।

१८. दूसरे उदयमें आये हुए कर्मोंका आत्मा चाहे जिस तरह समाधान कर सकती है, परन्तु वेदनीय कर्ममें ऐसा नहीं हो सकता, और उसका आत्मप्रदेशोंसे वेदन करना ही चाहिये, और उसका वेदन करते हुए कठिनाईका पूर्ण अनुभव होता है। वहाँ यदि भेदज्ञान सम्पूर्ण प्रगट न हुआ हो तो आत्मा देहाकारसे परिणामन करती है, अर्थात् देहको अपना मानकर वेदन करती है, और उसके कारण आत्माकी शांति भंग हो जाती है। ऐसे प्रसंगमें जिन्हें भेदज्ञान सम्पूर्ण हो गया है ऐसे ज्ञानियोंको असाताप्रेदका वेदन करनेसे निर्जरा होती है, ओर वहाँ ज्ञानीकी कसौटी होती है। इससे अन्य दर्शनमाले वहाँ उस तरह नहीं टिक सकते, और ज्ञानी इस तरह मानकर टिक सकता है।

१९. पुद्गलद्रव्यकी अपेक्षा रखी जाय, तो भी वह कभी न कभी तो नाश हो जानेवाला है ही, और जो अपना नहीं, वह अपना होनेवाला नहीं, इसलिये लज्जा होकर दीम बनना किस कामका ?

२०. योगापयडिपदेसा—योगसे प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं।

२१ स्थिति तथा अनुभागबन्ध कपायसे बँधते हैं।

२२ आठ तरहसे, सात तरहसे, छह तरहसे, और एक तरहसे बंधा जाता है।

(१२)

आपाङ्ग सुदी १५ गुरु १९५६

१ ज्ञानदर्शनका फल यथाख्यातचारित्र्य, उसका फल निर्वाण, और उसका फल अव्याप्य सुख है।

(१३)

आपाङ्ग वदी १ शुक्र १९५६

१ देवागमस्तोत्र जो महात्मा समतभद्राचार्यने (जिसका शब्दार्थ होता है कि 'जिसे कल्याण मान्य है') बनाया है, ओर उसके ऊपर दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्योंने टीका की है। ये महात्मा दिगम्बराचार्य थे, फिर भी उनका बनाया हुआ उक्त स्तोत्र श्वेताम्बर आचार्योंको भी मान्य है। इस स्तोत्रमें प्रथम श्लोक निम्न प्रकारसे है —

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यते नातस्त्वमासि नो महान् ॥

इस श्लोकका भावार्थ यह है कि देवागमन (देवताओंका आगमन होता हो), आकाशगमन (आकाशमें गमन होता हो), चामरादि विभूति (चामर वगैरह विभूति होती हो), सम्बसरण होता हो इत्यादि)—ये सब मायात्रियोंमें भी देखे जाते हैं (ये मायासे अर्थात् युक्तिसे भी हो सकते हैं), इसलिये उतने मात्रसे ही आप हमारे महत्तम नहीं (उतने मात्रसे तीर्थंकर अथवा जिनेन्द्रदेवका अस्तित्व नहीं माना जा सकता । ऐसी विभूति आदिका हमें कुछ भी प्रयोजन नहीं । हमने तो उसका त्याग कर दिया है)

इस आचार्यने मानो गुफामेसे निकलते हुए तीर्थंकरका हाथ पकड़कर उपर्युक्त निरपेक्षभावासे वचन कहे हैं—यह आशय वहाँ बताया गया है ।

२ आसके अथवा परमेश्वरके लक्षण कैसे होने चाहिये, उसके स्वधर्म तत्त्वार्थसूत्रकी टाकामें पहिली गाथा निम्नरूपसे हे —

मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तार कर्मभूभृताम् ।

ज्ञातार विश्वतत्त्वानां वदं तद्गुणलब्धये ॥

सारभूत अर्थ — ' मोक्षमार्गस्य नेतार '—मोक्षमार्गको ले जाने वाला—यह कहनेसे मोक्षका अस्तित्व, मार्ग, और ले जानेवाला इन तीन बातोंको स्वीकार किया है । यदि मोक्ष है तो उसका मार्ग भी होना चाहिये, ओर यदि मार्ग है तो उसका द्रष्टा भी होना चाहिए, ओर जो द्रष्टा होता है वही मार्गमें ले जा सकता है । मार्गमें ले जानेका कार्य निराकार नहीं कर सकता—साकार ही कर सकता है । अर्थात् मोक्षमार्गका उपदेश, साकार ही कर सकता है, साकार उपदेष्टा ही—जिसने देहस्थितिसे मोक्षका अनुभव किया है—उसका उपदेश कर सकता है । ' भेत्तार कर्मभूभृताम्—कर्मरूप पर्यतका भेदन करनेवाला, अर्थात् कर्मरूपी पर्यतोंके भेदन करनेसे मोक्ष हो सकता है, अर्थात् जिसने देहस्थितिसे कर्मरूपी पर्यतोंको भेदन किया है, वही साकार उपदेष्टा है । वेसा कोन ह ? जो वर्तमान देहमें जीवन्मुक्त हो वह । जो कर्मरूपी पर्यतोंको तोड़कर मुक्त हो गया है, उसे फिरसे कर्मका अस्तित्व नहीं होता । इसलिये जेसा बहुतसे मानते हैं कि मुक्त होनेके बाद जो देह धारण करे वह जीवन्मुक्त है, सो ऐसा जीवन्मुक्त हमें नहीं चाहिये । ' ज्ञातार विश्वतत्त्वाना '—विश्वके तत्त्वोंको जाननेवाला—कहनेसे यह बताया कि आप कैसे चाहिये कि जो समस्त विश्वका ज्ञाता हो । ' वदं तद्गुणलब्धये '—उसके गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं उसे वदना करता हूँ—अर्थात् जो इन गुणोंसे युक्त हो वही आप है, और वही वदनीय है ।

३ मोक्षपद समस्त चैतन्योंको ही सामान्यरूपसे चाहिये, वह एक जीवकी अपेक्षासे नहीं है, अर्थात् यह चैतन्यका सामान्य धर्म है । वह एक जीवकी ही हो और दूसरे जीवकी न हो, ऐसा नहीं होता ।

४ भगवतीं आराधनाके ऊपर श्वेताम्बर आचार्योंने जो टीका की है, वह भी उसी नामसे कही जाती है ।

५ करणानुयोग अथवा द्रव्यानुयोगमें दिग्म्बर और श्वेताम्बरोंके बीचमें कोई अन्तर नहीं, मात्र बाह्य व्यवहारमें ही अन्तर है ।

६ करणानुयोगमें गणितरूपसे सिद्धात रखे गये हैं । उसमें फेर होना सम्य नहीं ।

७ कर्मग्रन्थ मुख्यरूपसे करणानुयोगमें गर्भित होता है ।

८ परमात्मप्रकाश दिग्म्बर आचार्यका बनाया हुआ है । उसके ऊपर टीका है ।

९ निराकुलता सुख है । सकल्प दुःख है ।

१० कायक्लेश तप करते हुए भा महासुनिको निराकुलता अर्थात् स्वस्थता देखनेमें आती है ।

मतलब यह है कि जिसे तप आदिकी आवश्यकता है, ओर उससे वह तप आदि कायक्लेश करता है, फिर भी वह स्वास्थ्यदशाका अनुभव करता है, तो फिर जिसे कायक्लेश करना बाकी ही नहीं रहा, सिद्धमगवान्को निराकुलता कैसे सम्य नहीं ?

११ देहकी अपेक्षा चैतन्य बिल्कुल स्पष्ट है । जैसे देहगुणधर्म

यदि आत्मगुणधर्म देखनेमें आये, तो देहके ऊपरका राग ही नष्ट हो जाय—आत्मवृत्ति विशुद्ध होकर दूसरे द्रव्यके सयोगसे आत्मा देहरूपसे (विभाजसे) परिणमन करती हुई माझम हो ।

१२ चैतन्यका अत्यन्त स्थिर होना मुक्ति है ।

१३. मिथ्यात्व, अतिरत, कपाय और योगके अभाजसे अनुक्रमसे योग स्थिर होता है ।

१४ पूर्वके अभ्यासके कारण जो झोका आ जाता है वह प्रमाद है ।

१५ योगको आकर्षण करनेवाला न होनेसे वह स्वय ही स्थिर हो जाता है ।

१६ राग और द्वेष यह आकर्षण है ।

१७ सक्षेपमें ज्ञानीका यह कहना है कि पुद्गलसे चैतन्यका वियोग कराना है, अर्थात् रागद्वेषसे आकर्षणको दूर हटाना है ।

१८ जहाँतक अप्रमत्त हुआ जाय वहाँतक जाग्रत ही रहना चाहिये ।

१९ जिनपूजा आदि अपवादमार्ग है ।

२० मोहनीयकर्म मनसे जीता जाता है, परन्तु वेदनीयकर्म मनसे नहीं जीता जाता । तीर्थकर आदिको भी उसका वेदन करना पड़ता है, और वह दूसरोंके समान कठिन भी लगता है । परन्तु उसमें (आत्मधर्ममें) उनके उपयोगकी स्थिरता होकर उसकी निर्जरा होती है, ओर दूसरेको-अज्ञानीको-बध पड़ता है । बुधा तृषा यह मोहनीय नहीं, किन्तु वेदनीय कर्म है ।

जो पुमान् परधन हरै, सो अपराधी अज्ञ ।

जो अपनी धन व्यौहरै, सो धनपति धर्मज्ञ ॥ —श्रीनारसीदास

२२ प्रश्नचनसारोद्धार ग्रन्थके तीसरे भागमें जिनकल्पका वर्णन किया है । यह श्वेताम्बरीय ग्रन्थ है । उसमें कहा है कि इस कल्पको साधनेवालेको निम्न गुणोंवाला महात्मा होना चाहिये —

१ सघयण, २ धीरज, ३ श्रुत, ४ नीर्य, और ५ असगता ।

२३ दिग्म्बरदृष्टिमें यह दशा सातने गुणस्थानवर्ती जीवकी है । दिग्म्बरदृष्टिके अनुसार स्थिरकल्पी और जिनकल्पी ये नग्न होते हैं, और श्वेताम्बरोंके अनुसार प्रथम अर्थात् स्थिर नग्न नहीं होते । इस कल्पको साधनेवालेका श्रुतज्ञान इतना अधिक बलवान होना चाहिये कि उसकी वृत्ति श्रुतज्ञानाकार हो जानी जाहिये—विषयाकार घृत्ति न होनी चाहिये । दिग्म्बर कहते हैं कि नग्न दशा वालेका ही मोक्षमार्ग है, बाकी तो सत्र उमत्त मार्ग हैं—**णग्नो विमोक्त्वमग्नो शेषा य उदमग्या सन्वे ।** तथा ' नागो ए बादशाहथी आघो '—अर्थात् नग्न बादशाहसे भी अधिक उदकर है—इस कथावतके अनुसार यह दशा बादशाहको भी ५ है ।

२४ चेतना तीन प्रकारकी है—

२ कर्मचेतना—त्रिकलेन्द्रिय तथा पचेन्द्रिय -

२५ मुनियोंका घृत्ति अलौकिक आती है ।

२० जीव अनुभव करते हैं,

२१ वि अनुभव करती है ।

२२ वह लौकिक देखनेमें

२ आत्माकी प्रतीतिके लिये सकलनाके प्रति दृष्टात — इन्द्रियोंमें मन अभिघाता है, और बाकीकी पाँच इन्द्रियाँ उसकी आज्ञानुसार चलनेवाली हैं, और उनकी सकलना करनेवाला भी एक मन ही है। यदि मन न होता तो कोई भी कार्य न बनता। वास्तवमें किसी इन्द्रियका कुछ भी नहीं चलता। मनका ही समाधानका होता है, वह इस तरह कि कोई चीज आँखसे देखी, उसे पानेके लिए पेरोंसे चलने लगे, वहाँ जाकर उसे हाथसे उठा ली और उसे खा ली इत्यादि। उन सब क्रियाओंका समाधान मन ही करता है, फिर भी इन सबका आधार आत्माके ही ऊपर है।

३ जिस प्रदेशमें वेदना अधिक हो, उसका वह मुख्यतया वेदन करता है, और बाकीके प्रदेश उसका गौणतया वेदन करते हैं।

४ जगत्में अभव्य जीव अनतगुने हैं। उससे अनतगुने परमाणु एक समयमें एक जीव ग्रहण करता है।

५ द्रव्य, क्षेत्र, काल और भागसे बाह्य ओर अभ्यन्तर परिणमन करते हुए परमाणु, जिस क्षेत्रमें वेदनारूपसे उदयमें आते हैं, वहाँ इकट्ठे होकर वे वहाँ उस रूपसे परिणमन करते हैं, ओर वहाँ जिस प्रकारका बंध होता है, वह उदयमें आता है। परमाणु यदि सिरमें इकट्ठे हो जाँय, तो वे वहाँ सिरके दुखानेके आकारसे परिणमन करते हैं, और आँखमें आँखकी वेदनाके आकारसे परिणमन करते हैं।

६ वहाँका वही चैतय स्त्रीमें स्त्रीरूपसे और पुरुषमें पुरुषरूपसे परिणमन करता है, और सुराक भी तथाप्रकारके आकारसे ही परिणम कर पुष्टि देती है।

७ परमाणुको परमाणुके साथ शरीरमें लड़ते हुए किसीने नहीं देखा, परन्तु उसका परिणाम-निशेष जाननेमें आता है। जैसे ज्वरकी दवा ज्वरको रोक देती है, इस बातको हम जान सकते हैं, परन्तु भीतर क्या क्रिया हुई, इसे नहीं जान सकते—इस दृष्टांतसे कर्म होता हुआ देखनेमें नहीं आता, परन्तु उसका निपाक देखनेमें आता है।

८ अनागार=जिसे व्रतमें अपनाद नहीं।

९ अणगार=घररहित।

१० समिति=सम्यक् प्रकारसे जिसकी मर्यादा है उस मर्यादासहित, यथास्थितभासे प्रवृत्ति करनेका ज्ञानियोने जो मार्ग कहा है, उस मार्गके अनुसार मापतोल्सहित प्रवृत्ति करना।

११ सत्तागत=उपशम।

१२ श्रमणभगवान्=साधुभगवान् अथवा मुनिभगवान्।

१३ अपेक्षा=जरूरत-इच्छा।

१४ सापेक्ष=दूसरा कारण—हेतुकी जरूरतकी इच्छा करना।

१५ सापेक्षत्व अथवा अपेक्षासे=एक दूसरेको लेकर।

(१५)

आपाद वदी ३ रति १९५६

१ पार्थिवपाक=जो सत्तासे हुआ हो।

२ अनुपपन्न=जो समय नहीं, सिद्ध न होने योग्य।

(१६)

रानि.

श्रावककी अपेक्षासे परस्त्रीत्याग और अन्य अणुव्रतके सत्रधमें—

१ जत्रतक मृषा और परस्त्रीका त्याग न किया जाय, तत्रतक सब क्रियायें निष्फल हैं, तत्रतक आत्मामें छल कपट होनेसे धर्म फनीभूत नहीं होता ।

२. धर्म पानेकी यह प्रथम भूमिका है ।

३ जबतक मृषात्याग और परस्त्रीत्याग गुण न हों, तत्रतक वक्ता तथा श्रोता नहीं हो सकते ।

४ मृषा दूर हो जानेसे बहुतसी असत्य प्रवृत्ति कम होकर, निवृत्तिका प्रसंग आता है । उसमें सहज बातचीत करते हुए भी विचार करना पड़ता है ।

५ मृषा बोलनेसे ही लाभ होता है, ऐसा कोई नियम नहीं । यदि ऐसा होता हो तो सच बोलनेवालोंकी अपेक्षा जगत्में जो असत्य बोलनेवाले बहुत होते हैं, उन्हें अधिक लाभ होना चाहिये, परन्तु वैसा कुछ देखनेमें नहीं आता । तथा असत्य बोलनेसे लाभ हो तो कर्म एकदम रद्द हो जाँय और शास्त्र भी छोटे पड़ जाँय ।

६. सत्यकी ही जय है । उसमें प्रथम तो मुद्रिकल माळूम होती है, परन्तु पीछेसे सत्यका प्रभाव होता है, ओर उसका दूसरे मनुष्य तथा सबधमें आनेवालेके ऊपर असर होता है ।

७ सत्यसे मनुष्यकी आत्मा स्फटिकके समान हो जाती है ।

(१७)

आपाठ वदी ४ सोम. १९५६

१ दिग्गमर सम्प्रदाय कहता है कि आत्मामें केवलज्ञान शक्तिरूपसे रहता है ।

२ श्वेताम्बर सम्प्रदाय केवलज्ञानको सत्त्वारूपसे रहनेको स्वीकार करता है ।

३. शक्ति शब्दका अर्थ सत्तासे अधिक गौण होता है ।

४ शक्तिरूपसे है अर्थात् आनरणसे रूका हुआ नहीं । ज्यों ज्यों शक्ति बढ़ती जाती है अर्थात् उसके ऊपर ज्यों ज्यों प्रयोग होता जाता है, त्यों त्यों ज्ञान विशुद्ध होकर केवलज्ञान प्रगट होता है ।

५ सत्तामें अर्थात् आनरणमें हे, ऐसा कहा जाता है ।

६ सत्तामें कर्मप्रकृति हो, और वह उदयमें आये, यह शक्तिरूप नहीं कहा जाता ।

७. सत्तामें केवलज्ञान हो ओर आनरणमें न हो, ऐसा नहीं होता । भगवतीआराधना देखना ।

८. कान्ति, दीप्ति, शरीरका जलना, खुराकका पचना, खूनका फिरना, ऊपरके प्रदेशोंका नीचे आना, नीचेका ऊपर जाना (विशेष कारणसे समुद्रात आदि होना), रक्तता, ज्वर आना, ये सब तैजस परमाणुकी क्रियायें हैं । तथा सामान्य रीतिसे आत्माके प्रदेश जो ऊँचे नीचे हुआ करते हों—कपायमान रहते हों, यह भी तैजस परमाणुसे ही होता है ।

९. कार्माण शरीर उसी जगह आत्मप्रदेशोंको अपने आनरणके स्वभाजसे बताता है ।

१० आत्माके आठ रुचक प्रदेश अपना स्थान नहीं बदलते । सामान्य रीतिसे स्थूलनयसे ये आठ प्रदेश नाभिके कटे जाते हैं—सूक्ष्मरूपसे तो वहाँ असह्यताओं प्रदेश कहे जाते हैं ।

११ एक परमाणु एकप्रदेशी होनेपर भी छह दिशाओंको स्पर्श करता है (चार दिशाएँ तथा एक ऊर्ध्व और एक अधो ये सत्र मिलकर छह दिशाएँ होती हैं) ।

१२ नियाणु अर्थात् निदान

१३ आठ कर्म सत्र वेदनीय हैं, क्योंकि उन सबका वेदन किया जाता है, परन्तु उनका वेदन लोक-प्रसिद्ध न होनेसे, लोक-प्रसिद्ध वेदनीय कर्मको अलग गिना है।

१४ कार्माण, तैजस, आहारक, त्रैक्रियक और औदारिक इन पाँच शरीरके परमाणु एक जैसे हा अर्थात् एक समान हैं, परन्तु वे आत्माके प्रयोगके अनुसार ही परिणामन करते हैं।

१५ अमुक अमुक मास्तिष्ककी नसें दनानेसे क्रोध, हास्य, उन्मत्तता उत्पन्न होते हैं। शरीरमें मुख्य मुख्य स्थल जीभ, नाक इत्यादि प्रगट माद्म होते हैं, इससे उन्हें हम मानते हैं, परन्तु ऐसे सूक्ष्म स्थान प्रगट माद्म नहीं होते, इसलिये हम उ हैं नहीं मानते, परन्तु वे हैं जरूर।

१६ वेदनीयकर्म निर्जरारूप ह, परन्तु दवा इत्यादि उसमेंसे विभाग कर देता है।

१७ ज्ञानिने ऐसा कहा है कि आहार लेते हुए भी दुःख होता हो ओर छोड़ते हुए भी दुःख होता हो, तो वहाँ सलेखना करनी चाहिये। उसमें भी अपवाद होता है। ज्ञानियोंने कुछ आत्मघात करनेका उपदेश नहीं किया।

१८ ज्ञानिने अनत औपवियों अनत गुणोंसे सयुक्त देखी है, परन्तु कोई ऐसी ओपधि देखनेमें नहीं आई जो मौतको दूर कर सके। वैद्य और ओपधि ये केवल निमित्तरूप हैं।

१९ बुद्धदेवको रोग, दरिद्रता, वृद्धावस्था और मोत इन चार बातोंके ऊपरसे बेराग्य उत्पन्न हुआ था।

(१८)

आपाठ उदी ५ भोम १९५६

१ चक्रवर्तीको उपदेश किया जाय, तो वह एक घड़ीभरमें राज्यका त्याग कर दे। परन्तु भिक्षुको अनत तृष्णा होनेसे उस प्रकारका उपदेश उसे असर नहीं करता।

२ यदि एक बार आत्मामें अतृप्ति स्पर्श कर जाय, तो वह अर्धपुद्गल-परावर्त्तनतक रहता है, ऐसा तीर्थंकर आदिने कहा है। अतृप्ति ज्ञानसे होती है। अतृप्ति होनेका आभास स्वय ही (स्वभासे ही) आत्मामें होता है, और बेसा होनेकी प्रतीति भी स्वाभाविक होती है। अर्थात् आत्मा थरमामीटरके समान होता है। जर होनेकी ओर उत्तर जानेकी जाँच थरमामीटर कराता है। यद्यपि थरमामीटर जरकी आकृति नहीं बताता, फिर भी उससे उसकी जाँच होती है। उसी तरह अतृप्ति होनेकी आकृति माद्म नहीं होती, फिर भी अतृप्ति हुई है ऐसी आत्माको जाँच हो जाती है। जैसे ओपध जरको किम तरह उतारती है, इस बातको वह नहीं बताती, फिर भी ओपधसे जर दूर हो जाता है—ऐसी जाँच होती है, इसी तरह अतृप्ति होनेकी स्वय ही जाँच होती है। यह प्रतीति ' परिणामप्रताति ' है।

३ वेदनीयकर्म +

४ निर्जराका असर्यातगुना उत्तरोत्तर क्रम है। जिसने सम्यक्दर्शन प्राप्त नहीं किया, ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवकी अपेक्षा सम्यक्दृष्टि अनतगुनी निर्जरा करता है।

+ लेखकका नोट—वेदनीय कर्मकी उदयमान प्रवृत्तिमें आत्मा हर्ष धारण करती है, तो कैसे भावमें आत्मके भावित रहनेसे बेसा होता है ? इस विषयमें श्रीमद्ने अपनी आत्माको लकर विचार करनेके लिये कहा।—अनुवादक

(१६)

रात्रि

श्रावककी अपेक्षासे परस्त्रीत्याग और अन्य अणुव्रतके सन्धमें—

१ जन्तक मृपा और परस्त्रीका त्याग न किया जाय, तन्तक सब क्रियायें निष्फल हैं, तन्तक आत्मामें छल कपट होनेसे धर्म फलीभूत नहीं होता ।

२. धर्म पानेकी यह प्रथम भूमिका है ।

३ जबतक मृपात्याग और परस्त्रीत्याग गुण न हों, तन्तक वक्ता तथा श्रोता नहीं हो सकते ।

४. मृपा दूर हो जानेसे बहुतसी असत्य प्रवृत्ति कम होकर, निवृत्तिका प्रसंग आता है । उसमें सहज बातचीत करते हुए भी विचार करना पड़ता है ।

५ मृपा बोलनेसे ही लाभ होता है, ऐसा कोई नियम नहीं । यदि ऐसा होता हो तो सच बोलनेवालोंकी अपेक्षा जगत्में जो असत्य बोलनेवाले बहुत होते हैं, उन्हें अधिक लाभ होना चाहिये, परन्तु वैसा कुछ देखनेमें नहीं आता । तथा असत्य बोलनेसे लाभ हो तो कर्म एकदम रद्द हो जाय और शास्त्र भी खोटे पड़ जाय ।

६ सत्यकी ही जय है । उसमें प्रथम तो मुद्रिकल मालूम होती है, परन्तु पीछेसे सत्यका प्रभाव होता है, और उसका दूसरे मनुष्य तथा सन्धमें आनेवालेके ऊपर असर होता है ।

७ सत्यसे मनुष्यकी आत्मा स्फटिकके समान हो जाती है ।

(१७)

आपाढ वदी ४ सोम १९५६

१ दिगम्बर सम्प्रदाय कहता है कि आत्मामें केवलज्ञान शक्तिरूपसे रहता है ।

२ श्वेताम्बर सम्प्रदाय केवलज्ञानको सत्त्वरूपसे रहनेको स्वीकार करता है ।

३. शक्ति शब्दका अर्थ सत्तासे अविक गौण होता है ।

४ शक्तिरूपसे है अर्थात् आवरणसे रुका हुआ नहीं । ज्यों ज्यों शक्ति बढ़ती जाती है अर्थात् उसके ऊपर ज्यों ज्यों प्रयोग होता जाता है, त्यों त्यों ज्ञान विशुद्ध होकर केवलज्ञान प्रगट होता है ।

५ सत्तामें अर्थात् आरणमें है, ऐसा कहा जाता है ।

६ सत्तामें कर्मप्रकृति हो, और वह उदयमें आये, यह शक्तिरूप नहीं कहा जाता ।

७. सत्तामें केवलज्ञान हो और आरणमें न हो, ऐसा नहीं होता । भगवतीआराधना देखना ।

८. कान्ति, दीप्ति, शरीरका जलना, खुराकका पचना, खूनका फिरना, ऊपरके प्रदेशोंका नीचे आना, नीचेका ऊपर जाना (विशेष कारणसे समुद्रात आदि होना), रक्तता, उन्नत आना, ये सब तैजस परमाणुकी क्रियायें हैं । तथा सामान्य रीतिसे आत्मके प्रदेश जो ऊँचे नीचे हुआ करते हों—कषायमान रहते हों, यह भी तैजस परमाणुसे ही होता है ।

९ कार्माण शरीर उसी जगह आत्मप्रदेशोंको अपने आरणके स्वभावसे बताता है ।

१० आत्मके आठ रूचक प्रदेश अपना स्थान नहीं बदलते । सामान्य रीतिसे स्थूलनयसे ये आठ प्रदेश नाभिके कहे जाते हैं—सूक्ष्मरूपसे तो वहाँ असह्यताओं प्रदेश कहे जाते हैं ।

११ एक परमाणु एकप्रदेशी होनेपर भी छह दिशाओंको स्पर्श करता है (चार दिशायें तथा एक ऊर्ध्व और एक अधो ये सब मिलकर छह दिशायें होती हैं) ।

५ (आत्माके) गुणातिशयमें ही चमत्कार है ।

६. सर्वोत्कृष्ट शांति स्तम्भान करनेसे परस्पर बेरजाले प्राणी अपने बेरभानको जोड़कर शांति हो बैठते हैं, ऐसी श्रीतीर्थकरका अतिशय है ।

जो कुछ सिद्धि लब्धि इत्यादि हैं, वे आत्माके जाग्रतभावमें अर्थात् आत्माके अप्रमत्त स्वभावमें हैं । वे समस्त शक्तियाँ आत्माके आधीन हैं । आत्माके बिना कुछ नहीं । इन सबका मूल सम्यक्ज्ञान दर्शन और चारित्र्य है ।

८ अत्यंत लेइयाशुद्धि होनेके कारण परमाणु भी शुद्ध होते हैं, यहाँ सारिक असारिक वृक्षके नीचे बैठनेसे होनेवाले असरका दृष्टान्त लेना चाहिये ।

९ लब्धि सिद्धि सच्ची है, और वे निरपेक्ष महात्माको प्राप्त होती हैं—जोगी वैरागी जैसे मिथ्यात्मीको प्राप्त नहीं होती । उसमें भी अनन्त प्रकारके अपनाद हैं । ऐसी शक्तिजाले महात्मा प्रगट नहीं आते—वे वैसा बताते भी नहीं । जो जैसा कहता है वैसा उसके पास नहीं होता ।

१० लब्धि क्षोभकारी और चारित्र्यको शिथिल करनेवाली है । लब्धि आदि मार्गसे च्युत होनेके कारण हैं । इससे ज्ञानीको उनका तिरस्कार होता है । ज्ञानीको जहाँ लब्धि, सिद्धि आदिसे च्युत होना समझ होता है, वहाँ वह अपनेसे विशेष ज्ञानीके आश्रयकी शोष करता है ।

११ आत्माकी योग्यताके बिना यह शक्ति नहीं आती । आत्माको अपना अधिकार बढा लेनेसे वह आती है ।

१२ जो देह छूटती है वह पर्याय छूट जाती है, परंतु आत्मा आत्माकारसे अखंड अवस्थित रहती है, उसका अपना कुछ नहीं जाता, जो जाता है वह अपना नहीं—जबतक ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान न हो, तबतक मृत्युका भय लगता है ।

१३ गुरु गणधर गुणधर अधिक (सकल), प्रचुर परपर और ।
त्रततपधर तनु नगनतर, वदौ वृष सिरमौर ॥ —स्वामीकात्तिक ।

* प्रचुर=अलग अलग—निरले । वृष=गन । सिरमौर=सिरका मुकुट ।

१४ अवगाढ़=मजबूत । परमावगाढ़=उत्कृष्टरूपसे मजबूत । अवगाह=एक परमाणु प्रदेशको रोके—व्याप्त हो । श्रावक=ज्ञानीके वचनोंका श्रोता—ज्ञानीके वचनका श्रवण करनेवाला । दर्शन ज्ञानके बिना क्रिया करते हुए भी, श्रुतज्ञान बाँचते हुए भी, श्रावक साधु नहीं हो सकता । औदधिक-भावसे ही श्रावक साधु कहा जाता है, पारिणामिकभावसे नहीं कहा जाता । स्थनिर=स्थिर—दृढ़ ।

१५ स्थनिरकल्प=जो साधु वृद्ध हो गये हैं, उन्हें शास्त्रकी मर्यादासे वर्तन करनेका—चलनेका—ज्ञानियोंद्वारा मुक्कर किया हुआ—बाँधा हुआ—निश्चित किया हुआ जिनमार्ग या नियम ।

१६ जिनकल्प=एकाकी विचरनेवाले साधुओंके लिये कल्पित किया हुआ—बाँधा हुआ—मुक्कर किया हुआ जिनमार्ग या नियम ।

(२१)

आपाढ़ वदी ८ गुरु १९५६

१ सब धर्मोंकी अपेक्षा जैनधर्म उत्कृष्ट दयाप्रणीत है । जैसा दयाका स्थापन उसमें किया

* प्रचुरका प्रविद्ध अर्थ 'बहुत' होता है, और वृषका अर्थ 'धर्म' होता है ।

—अनुवादक

- ५ तीर्थंकर आदिको गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी गाढ़ अथवा अगगाढ़ सम्यक्त्व होता है ।
 ६ गाढ़ अथवा अगगाढ़ एक ही कहा जाता है ।
 ७ केरलीको परमागगाढ़ सम्यक्त्व होता है ।
 ८ चौथे गुणस्थानमें गाढ़ अथवा अगगाढ़ सम्यक्त्व होता है ।
 ९ क्षायिकसम्यक्त्व अथवा गाढ़ अगगाढ़ सम्यक्त्व एक समान है ।

१० देव, गुरु, तत्त्व अथवा धर्म अथवा परमार्थकी परीक्षा करनेके तीन प्रकार हैं—कप उद्दे और तप । इस तरह तीन प्रकारकी कसौटी होती है । यहाँ सोनेकी कसौटीका दृष्टान्त देना चाहिये (वर्मत्रिन्दु प्रथममें है) । पहिली और दूसरा प्रकार किसी दूसरेमें भी मिल सकते हैं, परन्तु तापकी निशुद्ध कसौटीसे जो शुद्ध गिना जाय, वही देव गुरु और धर्म सच्चा गिना जाता है ।

११ शिष्यकी जो कमियाँ होती हैं, वे जिस उपदेशकके ध्यानमें नहीं आतीं, उसे उपदेशकर्ता न समझना चाहिये । आचार्य ऐसे चाहिये जो शिष्यके अल्पदोषको भी जान सके और उसका यथा-समय बोध भी दे सकें ।

१२ सम्यक्दृष्टि गृहस्थ्य ऐसा चाहिये जिसकी प्रतीति दुःखन भी करें—ऐसा ज्ञानियोंने कहा है । तापर्य यह है कि ऐसे निष्कल्क धर्म पालनेवाले चाहिये ।

(१९)

रात्रि.

- १ अविज्ञान और मन पर्यवज्ञानमें अन्तर* ।
 २ परमाविज्ञान मन पर्यवज्ञानसे भी चढ जाता है, आर वह एक अपवादरूप है ।

(२०)

आपाठ वदी ७ सुध. १९५६

१ आराधना होनेके लिए समस्त श्रुतज्ञान है, और उस आराधनाका वर्णन करनेके लिये श्रुतकोशली भी अशक्य है ।

२ ज्ञान, छद्मि, ध्यान और समस्त आराधनाका प्रकार भी ऐसा ही है ।

३ गुणकी अतिशयता ही पूज्य है, और उसका आधीन छद्मि सिद्धि इत्यादि हैं, और चारित्र स्वच्छ करना यह उसकी निधि है ।

४ दशवैकालिककी पहिली गाथा—

+ धम्मो मगलमुक्किट्ठं, अहिंसा सयमो तवो ।

देवावि त नमंसति, जस्स धम्मो सया मणो ॥

इसमें सब विधि गर्भित हो जाती हैं । परन्तु अमुक निधि ऐसी नहीं कहीं गई, इससे यह समझमें आता है कि स्पष्टरूपसे निधि नहीं बताई ।

* लेखकका नोट—अविज्ञान और मन पर्यवज्ञानसंबन्धी जो कथन नदीपत्रमें है उससे भिन्न कथन भगवती-आराधनामें है—ऐसा श्रीमद्भने कहा । पहिलेके (अविज्ञानके) टुकड़े हो सन्ते हैं, जैसे हृद्यमान इत्यादि, वह चौथे गुणस्थानमें भी हो सकता है, स्थूल है, और मनकी स्थूल पर्यायको जान सकता है । तथा दूसरा (मन पर्यवज्ञान) स्वतन्त्र है, खास मनकी पर्यायसंबन्धी शक्तिविशेषको लेकर एक भिन्न इलाकेके समान है, और वह अप्रमत्तको ही हो सकता है—इत्यादि उ होने मुख्य अतर जताये ।

+ धर्म—अहिंसा सयम और तप—ही उत्कृष्ट मगल है । जिसका धर्ममें निरन्तर मन है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं ।—अनुवादक

५ (आमाके) गुणातिशयमें ही चमत्कार है।

६. सर्वोद्भूत शांत स्वभाव करनेसे परस्पर वैरभागे प्राणी अपने वैरभाजको छोड़कर शांत हो बैठते हैं, ऐसी श्रीतीर्थकरका अतिशय है।

जो कुछ सिद्धि लब्धि इत्यादि हैं, वे आत्माके जाग्रतभावमें अर्थात् आमाके अप्रमत्त स्वभावमें हैं। वे समस्त शक्तियाँ आत्माके आधीन हैं। आमाके बिना कुछ नहीं। इन सबका मूल सम्यक्ज्ञान दर्शन और चारित्र्य है।

८ अत्यन्त ऐश्याशुद्धि होनेके कारण परमाणु भी शुद्ध होते हैं, यहाँ सार्विक असारिक वृक्षके नीचे बैठनेसे होनेवाले असरका दृष्टात् लेना चाहिये।

९ लब्धि सिद्धि सच्ची हैं, और वे निरपेक्ष मत्माको प्राप्त होती हैं—जोगी त्रेतागी जैसे मिथ्यात्मीको प्राप्त नहीं होती। उसमें भी अनन्त प्रकारके अपवाद हैं। ऐसी शक्तिवाले महात्मा प्रगट नहीं आते—वे वैसा प्रताते भी नहीं। जो जैसा कहता है वैसा उसके पास नहीं होता।

१०. लब्धि क्षोभकारी और चारित्रिको शिथिल करनेवाली है। लब्धि आदि मार्गसे च्युत होनेके कारण है। इससे ज्ञानीको उनका तिरस्कार होता है। ज्ञानीको जहाँ लब्धि, सिद्धि आदिसे च्युत होना सभर होता है, वहाँ वह अपनेसे शिरो प्रणम करके शोच करता है।

११ आत्माकी योग्यताके बिना यह शक्ति नहीं आती। आत्माको अपना अधिकार बढ़ा देनेसे यह आती है।

१२ जो देह टूटती है वह पर्याय चूट जाती है, परन्तु आत्मा आत्माकारमे अखंड अवस्थित रहती है, उसका अपना कुछ नहीं जाता, जो जाता है वह अपना नहीं—जबतक ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान न हो, तबतक मृत्युका भय लगता है।

१३ गुरु गणधर गुणधर अधिक (सकल), प्रचुर परपर और ।
प्रतप्तपधर ननु नगनतर, वदौ वृष सिरमौर ॥ —स्वामीकार्तिक ।

* प्रचुर=अलग अलग—भिरले । वृष=धन । सिरमौर=सिरका मुकुट ।

१४ अग्नाइ=मजबूत । परमाग्नाइ=उत्कृष्टरूपसे मजबूत । अग्नाइ=एक परमाणु प्रदेशको रोके—व्याप्त हो । श्रायक=ज्ञानीके वचनोंका श्रोता—ज्ञानीके वचनका श्रवण करनेवाला । दर्शन ज्ञानके बिना क्रिया करते हुए भी, श्रुतज्ञान गँचते हुए भी, श्रायक साधु नहीं हो सकता । औदयिकभावसे ही श्रायक साधु कहा जाता है, पारिणामिकभावसे नहीं कहा जाता । स्थिर=स्थिर—दृढ ।

१५ स्थिररूप=जो साधु बुद्ध हो गये हैं, उन्हें शाब्दिकी मर्यादासे वर्तन करनेका—चलनेका—ज्ञानियोंद्वारा मुकर्र किया हुआ—बौधा हुआ—निश्चित किया हुआ जिनमार्ग या नियम ।

१६ जिनकल्प=एकाकी विचरनेवाले साधुओंके लिये कल्पित किया हुआ—बौधा हुआ—मुकर्र किया हुआ जिनमार्ग या नियम ।

(२१)

आपाठ वदी ८ गुर १०५६

१ मत्र धर्मीकी अपेक्षा जैनधर्म उत्कृष्ट दयाप्रणीत है। जैसा दयाका स्थापन उसमें किया

* प्रचुरका प्रविद्ध अर्थ 'बहुत' होता है, और वृषका अर्थ 'धर्म' होता है।

—अनुवादक

गया है, वैसा किसी दूसरे धर्ममें नहीं है। 'मारने' शब्दको ही मार डालनेकी दृढ़ छाप तीर्थकरोंने आत्मामें 'मारी' है। इस जगह उपदेशके वचन भी आत्मामें सर्वोत्कृष्ट असर करते हैं। श्रीजिनकी छातीमें मानो जीवहिंसाके परमाणु ही न हों, ऐसा श्रीजिनका अहिंसाधर्म है। जिसमें दया नहीं होती, वे जिन नहीं होते। जैनोंके हाथसे रून होनेकी घटनायें भी प्रमाणमें अल्प ही होंगी। जो जैन होता है वह असत्य नहीं बोलता।

२. जैनधर्मके सिवाय दूसरे धर्मोंके मुकाबलेमें अहिंसामें वैद्वधर्म भी चढ़ जाता है। ब्राह्मणोंकी यज्ञ आदि हिंसक-क्रियाओंका नाश भी श्रीजिनने और बुद्धने ही किया है, जो अतक कायम है।

३ ब्राह्मणोंने यज्ञ आदि हिंसक धर्मगाले होनेसे श्रीजिनको तथा श्रीबुद्धको सख्त शब्दोंका प्रयोग करके बिककारा है। वह यथार्थ है।

४ ब्राह्मणोंने स्वार्थबुद्धिसे यह हिंसक क्रिया दाखिल की है। श्रीजिनने तथा श्रीबुद्धने स्वयं वैभक्तका त्याग किया था। इससे उन्होंने नि स्वार्थ बुद्धिसे दयाधर्मका उपदेश कर, हिंसक-क्रियाका विच्छेद किया। जगत्के सुखमें उनकी स्पृहा न थी।

५. हिन्दुस्थानके लोग एक समय किसी विद्याका अभ्यास इस तरह छोड़ देते हैं कि उसे फिरसे ग्रहण करते हुए उन्हें अरुचि हो जाती है। योरपियन लोगोंमें इससे उल्टी ही बात है, वे एकदम उसे छोड़ नहीं देते, परन्तु जारी ही रखते हैं। हाँ, प्रवृत्तिके कारण ज्यादा कम अभ्यास हो सकता हो, यह बात अलग है।

(२२)

रात्रि.

१ वेदनीय कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त्तकी है। इस कारण कम स्थितिका वध भी कषायके विना एक समयका पड़ता है, दूसरे समय वेदन होता है और तीसरे समय निर्जरा हो जाती है।

२ ईर्यापथिकी क्रिया=चलनेकी क्रिया।

३ एक समयमें सात, अथवा आठ प्रकृतियोंका ग्रह होता है, यहाँ खुराक तथा निपका दृष्टान्त लेना चाहिये। जिस तरह खुराक एक जगहसे ली जाती है, परन्तु उसका रस हरेक इन्द्रियको पहुँचता है, और हरेक इन्द्रिय अपनी अपनी शक्ति अनुसार उसे ग्रहणकर उस रूपसे परिणमन करती है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता, उसी तरह यदि कोई निप खा ले अथवा किसीको सर्प काट ले, तो वह क्रिया तो एक ही जगह होती है, परन्तु उसका असर विपरूपसे हरेक इन्द्रियको जुदे जुदे प्रकारसे समस्त शरीरमें होता है। इसी तरह कर्म ग्रहणते समय मुख्य उपयोग तो एक ही प्रकृतिका होता है, परन्तु उसका असर अर्थात् बँटवारा दूसरी सब प्रकृतियोंके परस्परके सबधको लेकर ही मिलता है। जैसे रस वैसा ही उसका ग्रहण होता है। जिस भागमें सर्पदश होता है, उम भागको यदि काट डाला जाय, तो जहर नहीं चढ़ता, उसी तरह यदि प्रकृतिका क्षय किया जाय, तो बध पड़ता हुआ रुक जाता है, और उसके कारण दूसरी प्रकृतियोंमें बँटवारा पड़ता हुआ रुक जाता है। जैसे दूसरे प्रयोगसे चढ़ा हुआ निप वापिस उतर

जाता है, उसी तरह प्रकृतिका रस मद कर दिया जाय, तो उसका बल कम हो जाता है। एक प्रकृति बध करती है और दूसरी प्रकृतियों उसमेंसे भाग लेती हैं—ऐसा उनका स्वभाव है।

४ मूळ प्रकृतिका क्षय न हुआ हो और उत्तर कर्मप्रकृतिका यथ-निच्छेद हो गया हो, तो भी उसका यथ मूळ प्रकृतिमें रहनेवाले रमके कारण पड सकता है—यह आश्चर्य जसा है।

५ अनन्तानुर्ध्व कर्मप्रकृतिकी स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ीकी, और मोहनीय (दर्शनमोहनीय) की सत्तर कोड़ाकोड़ीकी है।

(२३)

आपाठ वदी ९ शुक्र १९५६

१. आत्मा, आयुका बध एक आगामी भनका ही कर सकती है, उससे अगिक भनका बध नहीं कर सकती।

२ कर्मप्रथके बधचक्रमें जो आठों कर्मप्रकृतियों बताई हैं, उनकी उत्तर प्रकृतियों एक जीनकी अपेक्षा, अपनादके साथ, यथ उदय आदिमें हैं, परन्तु उसमें आयु अपनादरूपसे है। वह इस तरह कि मिथ्यात्व गुणस्थानरती जीनको बधमें चार आयुकी प्रकृतिका (अपनाद) धताया है। उसमें ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जीन मोन्द पर्यायमें चारों गतिकी आयुका बध करता है, परन्तु इसका अर्थ यही है कि आयुका बध करनेके लिये वर्तमान पर्यायमें इस गुणस्थानकनती जीनको चारों गतियाँ खुली हैं। उसमें बट चारमेंसे किसी एक गतिकी ही बध कर सकता है। उसी तरह जीन जिस पर्यायमें हो उसे उसी आयुका उदय होता है। मतलब यह कि चार गतियोंमेंसे वर्तमान एक गतिकी उदय हो सकता है, और उदीरणा भी उसीकी हो सकती है।

३ जो प्रकृति उदयमें हो, उसके सिनाय दूसरी प्रकृतिकी उदीरणा की जा सकती है, और उतने समय उदयमान प्रकृति रुक जाती है, और यह पीछे उदयमें आती है।

४ सत्तर कोड़ाकोड़ीका बड़से नडा स्थितिबध है। उसमें असरयातों भन होते हैं। तथा बादमें वैसेका वैसा ही क्रम क्रमसे बध पडता जाता है। ऐसे अनतबधकी अपेक्षासे अनतों भन कहे जाते हैं, परन्तु भनका यथ पहिले कहे अनुसार ही पडता है।

(२४)

आपाठ वदी १० शनि १९५६

१ निशिष्ट मुरयतया मुग्यभायका वाचक शब्द है।

२ ज्ञानानरणीय, दर्शनानरणीय, और अतराय ये तीन प्रकृतियाँ उपशमभायमें कभी नहीं हो सकती—ये क्षयोपशमभावसे ही होती हैं। ये प्रकृति यदि उपशमभायमें हों तो आत्मा जड़वत् हो जाय और क्रिया भी न कर सके, अथवा उससे प्रवृत्ति भी न हो सके। ज्ञानका काम जाननेका है, दर्शनका काम देखनेका है, और धीर्यका काम प्रवर्त्तन करनेका है।

वीर्य दो प्रकारसे प्रवृत्ति कर सकता है—१ अभिसधि २ अनाभिसधि।

अभिसधि=आत्माकी प्रेरणासे वीर्यकी प्रवृत्ति होना। अनाभिसधि=रूपायसे वीर्यकी प्रवृत्ति होना। ज्ञानदर्शनमें भूल नहीं होती। परन्तु उदयभायसे रहनेवाले दर्शनमोहके कारण भूल होनेसे अर्थात् औरका और माद्धम होनेसे, वीर्यकी प्रवृत्ति निपरीतभायसे होती है, यदि वह सम्यक्भावसे हो तो वीर्य

सिद्धपर्याय पा जाय । आत्मा कभी भी क्रियाके बिना नहीं हो सकती । जबतक योग रहते हैं तबतक आत्मा जो क्रिया करती है वह अपनी वीर्यशक्तिके ही करती है । क्रिया देखनेमें नहीं आती, परन्तु वह परिणामके ऊपरसे जाननेमें आती है । जैसे खाई हुई खुराक निद्रामें पच जाती है—यह सवेरे उठनेसे मादूम होता है । यदि कोई कहे कि निद्रा अच्छी आई थी, तो यह होनेवाली क्रियाके समझमें आनेसे ही कहा जाता है । उदाहरणके लिये किसीको यदि चाछीस वरसकी उम्रमें अक गिनना आये, तो इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि उससे पहिले अक थे ही नहीं । इतना ही कहा जायगा कि उसको उसका ज्ञान न था । इसी तरह ज्ञानदर्शनको समझना चाहिये । आत्मामें ज्ञानदर्शन और वीर्य थोड़े बहुत भी खुले रहनेसे आत्मा क्रियामें प्रवृत्ति कर सकती है । वीर्य हमेशा चलाचल रहा करता है । कर्मप्रथम बॉचनेसे विशेष स्पष्ट होगा । इतने खुलासासे बहुत लाभ होगा ।

३ जीवन्मृत्युभाव हमेशा पारिणामिकभावासे है । इससे जीव जीवन्मृत्युसे परिणमन करता है, और सिद्धत्व क्षायिकभावासे होता है, क्योंकि प्रकृतियोंके क्षय करनेसे ही सिद्धपर्याय मिलती है ।

४. मोहनीयकर्म औदायिकभावासे होता है ।

५ वैश्य लोग कानमात्रारहित अक्षर लिखते हैं, परन्तु अकोंको कानमात्रारहित नहीं लिखते, उन्हें तो बहुत स्पष्टरूपसे लिखते हैं । उसी तरह कानानुयोगमें ज्ञानियोंने कदाचित् कुछ कानमात्रारहित लिखा हो तो भले ही, परन्तु कर्मप्रकृतियोंमें तो निश्चित ही अक लिखे हैं । उसमें जरा भी भेद नहीं आने दिया ।

(२५)

आपाद वदी ११ रति १९५६

ज्ञान, डोरा पिरोई हुई सँईके समान है—ऐसा उत्तराव्ययनसूत्रमें कहा है । जिस तरह डोरा पिरोई हुई सँई खोई नहीं जाती, उसी तरह ज्ञान होनेसे ससारमें धोखा नहीं खाते ।

(२६)

आपाद वदी २२ सोम १९५६

१ प्रतिहार=तीर्थकरका धर्मराज्यत्व बतानेवाला । प्रतिहार=दरवान ।

२ जिस तरह स्थूल, अल्पस्थूल, उससे भी स्थूल, दूर, दूरसे दूर, उससे भी दूर पदार्थोंका ज्ञान होता है, उसी तरह सूक्ष्म, सूक्ष्मसे सूक्ष्म आदिका ज्ञान भी किमीको होना सिद्ध हो सकता है ।

३ नम्र=आत्मनम्र ।

४ उपहत=मारा गया । अनुपहत=नहीं मारा गया । उपष्टभजन्य=आधारभूत । अभिधेय= जो वस्तुधर्मसे कहा जा सके । पाठांतर=एक पाठकी जगह दूसरा पाठ । अर्थांतर=कहनेका हेतु बदल जाना । विषय=जो यथायोग्य न हो—फेरफारवाला—कम ज्यादा । आत्मद्रव्य यह सामान्यविशेष उभयात्मक सत्तावाला है । सामान्य चेतनसत्ता दर्शन है । विशेष चेतनसत्ता ज्ञान है ।

५ सत्तासमुद्भूत=सम्यक् प्रकारसे सत्ताका उदयभूत होना—प्रकाशित होना, स्फुरित होना—मादूम होना ।

६ दर्शन=जगत्के किसी भी पदार्थका भेदरूप रसगंधरहित निराकार प्रतिबिम्बित होना, उक्तका अस्तित्व मादूम होना, निर्विकल्परूपसे कुछ है, इस तरह आरसीकी झलकके समान सामनेके पदार्थका भास होना, दर्शन है । जहाँ विकल्प होता है वहाँ ज्ञान होता है ।

७ दर्शनावरणीय कर्मके आरणके कारण दर्शनके अग्राद्वरूपमे आवृत होनेसे चेतनमें मूढ़ता हो गई, और वहाँसे शून्यवाद आरम्भ हुआ ।

८ जहाँ दर्शन रुक जाता है वहाँ ज्ञान भी रुक जाता है ।

९ दर्शन और ज्ञानका विभाग किया गया है । ज्ञानदर्शनके कुछ टुकड़े होकर वे जुड़े जुड़े पड़ सकते हैं यह बात नहीं है । ये आत्माके गुण हैं । जिस तरह एक रूपमें दो अठना होती हैं, उसी तरह आठ आना दर्शन और आठ आना ज्ञान होता है ।

१० तीर्थंकरको एक ही समय दर्शन ज्ञान दोनों साथ होते हैं, इस तरह दिगम्बर मतके अनुसार दो उपयोग माने हैं, श्वेताम्बर मतके अनुसार नहीं । १२ वें गुणम्यानकमें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अतराय इस तरह तीन प्रकृतियोंका एक साथ ही क्षय होता है, और उत्पन्न होनेवाली लब्धि भी साथमें होती है । यदि ये एक ही समयमें न होते हों, तो उनका भिन्न भिन्न प्रकृतियोंसे अनुभव होना चाहिये । श्वेताम्बर कहते हैं कि ज्ञान मत्तामें रहना चाहिये, क्योंकि एक समयमें दो उपयोग नहीं होते । परन्तु दिगम्बरोंकी उससे जुदी भावना है ।

११ शून्यवाद='कुछ भी नहीं' ऐसा माननेवाला, यह बौद्धधर्मका एक भेद है । आयतन=किसी भी पदार्थका स्थल—पात्र । कृदस्थ=अचल—जो चलायमान न हो सके । तदस्थ=किनारेपर—उस स्थलमें । मच्यस्थ=नीचमें ।

(२७)

आपाङ्ग वदी १३ भोम १९५६

१ चयोपचय=जाना जाना । परन्तु प्रसंगवश उसका अर्थ जाना जाना—गमनागमन होता है । यह मनुष्यके गमनागमनको लागू नहीं पड़ता—शासतोच्छ्वास इत्यादि सूक्ष्म क्रियाको ही लागू पड़ता है । चयथिचय=जाना आना ।

२ आत्माका ज्ञान जन चित्तमें रुक जाता है, उस समय नये परमाणु ग्रहण नहीं हो सकते, और जो होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं, उससे शरीरका घन घट जाता है ।

३ श्रीआचारागसूत्रके पहिले शास्त्रपरिज्ञा अध्ययनमें और श्रीपङ्कदर्शनसमुच्चयमें मनुष्य और पनस्पतिके धर्मकी तुलना कर वनस्पतिमें आत्माका अस्तित्व सिद्ध किया है । वह इस तरह कि दोनों उत्पन्न होते हैं, दोनों ही बढ़ते हैं, आहार लेते हैं, परमाणु लेते हैं, छोड़ते हैं, मरते हैं इत्यादि ।

(२८)

श्रावणसुदी ३ रवि १९५६

१ साधु=सामान्यरूपसे गृहवासका त्यागी मूलगुणोंका धारक । यति=ध्यानमें स्थिर होकर श्रेणी मॉडनेवाला । मुनि=जिसे अग्नि, मन पर्यन्तज्ञान तथा केवलज्ञान होता है । ऋषि=जो बहुत ऋद्धिधारी हो । ऋषिके चार भेद हैं—राज्य, ब्रह्म, देव और परम । राजर्षि=ऋद्धिवाला । ब्रह्मर्षि=महान् ऋद्धिवाला । देवर्षि=आकाशगामी देव । परमर्षि=केवलज्ञानी ।

(२९)

श्रावणसुदी १० सोम १९५६

१ अभव्य जीव अर्थात् जो जीव उत्कट रससे परिणमन करे और उससे कर्म बाँधा करे, और जिसे उसके कारण मोक्ष न हो सके । भव्य अर्थात् जिस जीवका वीर्य शातरससे परिणमन करे और उससे नया कर्मबंध न होनेसे जिसे मोक्ष हो जाय । ११की वृत्ति उत्कट रससे परिणमन करती

हो, उसका वीर्य उसी प्रमाणमें परिणमन करता है, इस कारण ज्ञानीके ज्ञानमें अभव्य दिखाई दिये आत्माकी परमशात दशासे मोक्ष और उत्कट दशासे अमोक्ष होती है। ज्ञानीने द्रव्यके स्वभावक अपेक्षा भव्य अभव्य भेद कहे हैं। जीवका वीर्य उत्कट रससे परिणमन करते हुए सिद्धपर्याय नह पा सकता, ऐसा ज्ञानियोंने कहा है। भजना=अग्रसे होती है—वह होती भी है नहीं भी होती वचक=(मन, वचन कायासे) टगनेवाला ।

(३०)

श्रवण वदी ८ शनि १९५६

१ कम्मदब्बेहिं सम, संजोगो जो होई जीवस्स ।

सो वधो णायव्वो, तस्स वियोगो भवे मोक्खो ॥

—कर्म द्रव्यकी अर्थात् पुद्गल द्रव्यकी साथ जीवका सन्ध होना वध है। तथा उसका वियोग हो जाना मोक्ष है।

सम—अच्छी तरह सन्ध होना—वास्तविक रीतिसे सन्ध होना, ज्यों त्यों कल्पनासे सन्ध होना नहीं समझ लेना चाहिये।

२. प्रदेश और प्रकृतिभ्रम, मन वचन ओर कायाके योगसे होता है। स्थिति और अनुभाग वध कपायसे होता है।

३ विपाक अर्थात् अनुभागसे फलकी परिपक्वता होना। सर्प कर्मका मूल अनुभाग है। उसमें जैसा तीव्र, तीव्रतर, मद्, मद्तर रस पड़ा है, वैसा उदयमें आता है। उसमें फेरफार अथवा भूल नहीं होती। यहाँ मिट्टीकी कुल्लियामें पैसा, रुपया, सोनेकी मोहर आदिके रखनेका दृष्टान्त लेना चाहिये। जैसे किसी मिट्टीकी कुल्लियामें बहुत समय पहिले रुपया, पैसा, सोनेकी मोहर रखी हो, तो उसे जिस समय निकालो वह उसी जगह उसी धातुरूपसे निकलती है, उसमें जगहका और उसकी स्थितिका फेरफार नहीं होता, अर्थात् पैसा रुपया नहीं हो जाता, और रुपया पैसा नहीं हो जाता, उसी तरह बॉवा हुआ कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार ही उदयमें आता है।

४ आत्माके अस्तित्वमें जिसे शका हो वह चार्गीक कहा जाता है।

५. तेरहवें गुणस्थानकमें तीर्थकर आदिको एक समयका वध होता है। मुख्यतया कदाचित् न्यारहवें गुणस्थानमें अकपायीको भी एक समयका वध हो सकता है।

६ पत्रन पानीकी निर्मलताका भग नहीं कर सकती, परन्तु उसे चलायमान कर सकती है। उसी तरह आत्माके ज्ञानमें कुछ निर्मलता कम नहीं होती, परन्तु जो योगकी चंचलता है, उससे रसके विना एक समयका वध कहा है।

७ यद्यपि कपायका रस पुण्य तथा पापरूप है, तो भी उसका स्वभाब कड़वा है।

८ पुण्य भी खरासमेंसे ही होता है। पुण्यका चौठाणिया रस नहीं है, क्योंकि वहाँ एकात साताका उदय नहीं। कपायके दो भेद है—प्रस्रस्तराग और अप्रस्रस्तराग। कपायके विना वध नहीं होता।

९ आर्त्तघ्नानका सभात्रेश मुख्यतया कपायमें हो सकता है। प्रमादका चारित्रमोहमें और योगका नामकर्ममें समावेश हो सकता है।

१० श्रवण पवनकी लहरके समान है, वह आता है और चला जाता है।

११ मनन करनेसे छाप बैठ जाती है, और निदिध्यासन करनेसे प्रहण होता है ।

१२ अधिक श्रमण करनेसे मननशक्ति मंद होती हुई देवनेमें आती है ।

१३ प्राकृतजन्य धर्मात् लौकिक वाक्य—ज्ञानीका वाक्य नहीं ।

१४ आत्माके प्रत्येक समय उपयोगयुक्त होनेपर भी, अन्काशकी कमी अथवा कामके बोझके कारण, उसे आममन्त्री विचार करनेका समय नहीं मिल सकता—ऐसा कहना प्राकृतजन्य लौकिक वचन है । जो खाने पीने सोने इत्यादिका समय मिला और उसे काममें ठिया—जब यह भी आत्माके उपयोगके विना नहीं हुआ, तो फिर जो खास सुखकी आवश्यकता है, और जो मनुष्यजन्मका कर्तव्य है, उसमें समय न मिला, इस उचनको ज्ञानी कभी भी सच्चा नहीं मान सकता । इसका अर्थ इतना ही है कि दूसरे इन्द्रिय आदि सुखके काम तो जरूरतके लगे हैं, और उसके विना दुःखी होनेके डरकी कल्पना रहती है, तथा 'आत्मिक सुखके विचारका काम किये विना अनतों काळ दुःख भोगना पड़ेगा, और अनत सत्सारमें भ्रमण करना पड़ेगा'—यह बात जरूरी लगती नहीं ! मतलब यह कि इस चैनन्यको वृत्रिम मान रक्खा है, सच्चा नहीं माना ।

१५ सम्यग्दृष्टि पुरुष, जिसको किये विना न चले ऐसे उदयके कारण लोभन्यनहारको निर्दोषरूपसे लजित करते हैं । प्रवृत्ति करते जाना चाहिये, उससे शुभाशुभ जैसा होना होगा वैसा होगा, ऐसी दृढ़ मान्यताके साथ, वह ऊपर ऊपरसे ही प्रवृत्ति करता है ।

१६ दूसरे पदार्थोंके ऊपर उपयोग दें तो आत्माकी शक्ति आविर्भूत होती है । इसलिये सिद्धि वृत्ति आदि शका करने योग्य नहीं । वे जो प्राप्त नहीं होती उसका कारण यह कि आत्मा निराकरण नहीं की जा सकती । यह शक्ति सत्र सच्ची है । चेत यमें चमत्कार चाहिये, उसका शुद्ध रस प्रगट होना चाहिये । ऐसी सिद्धिवाले पुरुष असाताकी साता कर सकते हैं । ऐसा होनेपर भी वे उसकी अपेक्षा नहीं करते । वे वेदन करनेमें ही निर्जरा समझते हैं ।

१७ तुम जीवोंमें उदात्तमान वीर्य अथवा पुरुषार्थ नहीं । तथा जहाँ वीर्य मंद पडा वहाँ उपाय नहीं ।

१८ जब असाताका उदय न हो तब काम कर लेना चाहिये—ऐसा ज्ञानी पुरुषाने जीवकी असामर्थ्य देखकर कहा है, जिससे उसका उदय आनेपर उसकी पार न बसाये ।

१९ सम्यग्दृष्टि पुरुषको जहाजके कमाण्डरकी तरह पवन विरुद्ध होनेसे जहाजको फिराकर रास्ता बदलना पड़ता है, उससे वे ऐसा समझते हैं कि सत्य प्रहण किया हुआ मार्ग सच्चा नहीं । उसी तरह ज्ञानी-पुरुष उदयविशेषके कारण व्यग्रहारमें भी अतरात्मदृष्टि नहीं चूकते ।

२० उपाधिमें उपाधि रखनी चाहिये । समाधिमें समाधि रखनी चाहिये । अँध्रिजोंकी तरह कामके समय काम, और आरामके समय आराम करना चाहिये । एक दूसरेको परस्पर मिला न देना चाहिये ।

२१ व्यग्रहारमें आत्मकर्तव्य करते रहना चाहिये । सुख दुःख, धनकी प्राप्ति अप्राप्ति यह शुभाशुभ तथा लाभान्तरायके उदयके ऊपर आधार रखता है । शुभके उदयकी साथ पहिलेसे अशुभके उदयकी पुस्तक बाँची हो तो शोक नहीं होता । शुभके उदयके समय शत्रु मित्र हो जाता है, और अशुभके उदयके समय मित्र शत्रु हो जाता है । सुख-दुःखका सच्चा कारण कर्म ही है । कार्तिकियानुप्रेक्षामें कहा है कि कोई मनुष्य कर्ज लेने आने तो उसे कर्ज चुका देनेसे सिरपरसे बोझा कम हो जानेसे

हो, उसका धीर्य उसी प्रमाणमें परिणमन करता है, इस कारण ज्ञानीके ज्ञानमें अभव्य दिखाई दिये। आत्माकी परमशात दशासे मोक्ष और उत्कट दशासे अमोक्ष होती है। ज्ञानीने द्रव्यके रमायकी अपेक्षा भव्य अभव्य भेद कहे हैं। जीवका धीर्य उत्कट रससे परिणमन करते हुए सिद्धपर्याय नहीं पा सकता, ऐसा ज्ञानियोंने कहा है। भजना=अज्ञसे होती है—उह होती भी है नहीं भी होती। वचक=(मन, वचन कायासे) ठगनेवाला।

(३०)

श्रवण पत्रो ८ शनि १९५६

१ कम्पट्वेहिं समं, संजोगो जो होई जीवस्स।

सो वधो णायव्यो, तस्स त्रियोगो भवे मोत्रखो ॥

—कर्म द्रव्यकी अर्थात् पुद्गल द्रव्यकी साथ जीवका सन्ध होना वज है। तथा उसका त्रियोग हो जाना मोक्ष है।

सम—अच्छी तरह सन्ध होना—वास्तविक रीतिसे सन्ध होना, ज्यों त्यों कल्पनासे सन्ध होना नहीं समझ लेना चाहिये।

२ प्रदेश और प्रकृतिवध, मन वचन और कायाके योगसे होता है। स्थिति और अनुभाग वध कपायसे होता है।

३. त्रिपाक अर्थात् अनुभागसे फलकी परिपक्वता होना। सर्प कर्मका मूल अनुभाग है। उसमें जेसा तीव्र, तीव्रतर, मद, मदतर रस पड़ा है, वेसा उदयमें आता है। उसमें फेरफार अथवा भूल नहीं होती। यहाँ मिट्टीकी कुन्डियामें पैसा, रुपया, मोनेकी मोहर आदिके रखनेका दृष्टान्त लेना चाहिये। जैसे किसी मिट्टीकी कुन्डियामें बहुत समय पहिले रुपया, पैसा, सोनेकी मोहर रक्पी हो, तो उसे जिस समय निकालो वह उमी जगह उसी धातुरूपसे निकलती है, उसमें जगहका और उसकी स्थितिका फेरफार नहीं होता, अर्थात् पैसा रुपया नहीं हो जाता, और रुपया पैसा नहीं हो जाता, उसी तरह बाँवा हुआ कर्म द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके अनुसार ही उदयमें आता है।

४ आत्माने अस्तित्वमें जिसे शका हो वह चार्मिक कहा जाता है।

५ तेरहवें गुणस्थानकमें तीर्थकर आदिको एक समयका वध होता है। मुख्यतया कदाचित् ग्यारहवें गुणस्थानमें अकपायीको भी एक समयका वध हो सकता है।

६ पवन पानीकी निर्मलताका भग नहीं कर सकती, परन्तु उसे चलायमान कर सकती है। उसी तरह आत्माके ज्ञानमें कुछ निर्मलता कम नहीं होती, परन्तु जो योगकी चञ्चलता है, उससे रसके विना एक समयका वध कहा है।

७ यद्यपि कपायका रस पुण्य तथा पापरूप है, तो भी उसका स्वभाव कड़वा है।

८ पुण्य भी खरासमेंसे ही होता है। पुण्यका चौठाणिया रस नहीं है, क्योंकि वहाँ एकांत साताका उदय नहीं। कपायके दो भेद हैं—प्रसस्तराग और अप्रसस्तराग। कपायके विना वध नहीं होता।

९ आर्चव्यानका समावेश मुख्यतया कपायमें हो सकता है। प्रमादका चारित्रमोटमें और योगका नामकर्ममें समावेश हो सकता है।

१० श्रवण पवनकी लहरके समान है, वह आता है और चला जाता है।

जैसे हर्ष होता है, उसी तरह पुद्गल द्रव्यरूपी शुभाशुभ कर्ज, जिस कालमें उदयमें आ जाय, उस कालमें उसे सम्यक् प्रकारसे वेदन कर चुका देनेसे निर्जरा हो जाती है, और नया कर्ज नहीं होता। इसलिये ज्ञानी-पुरुषको कर्जमेंसे मुक्त होनेके लिये हर्षयुक्त भावसे तथ्यार रहना चाहिये। क्योंकि उससे चुकाये बिना छुटकारा नहीं।

२२. सुखदुःख जो द्रव्य क्षेत्र काल भावमें उदय आना हो, उसमें इन्द्र आदि भी फेरफार करनेमें समर्थ नहीं हैं।

२३. करणानुयोगमें ज्ञानीने अतमुद्धर्त्त आत्माका अप्रमत्त उपयोग माना है।

२४. करणानुयोगमें सिद्धातका समावेश होता है।

२५. चरणानुयोगमें जो व्यवहारमें आचरण किया जाय उसका समावेश किया है।

२६. सर्वविरति मुनिको ब्रह्मचर्यव्रतकी प्रतिज्ञा ज्ञानी देता है, वह चरणानुयोगकी अपेक्षासे है, करणानुयोगकी अपेक्षासे नहीं। क्योंकि करणानुयोगके अनुसार नवमें गुणस्थानकमें वेदोदयका क्षय हो सकता है—तन्तक नहीं हो सकता।

८६४

वद्ववाण कौम्य, भाद्रपद वदी १९५६

(१)

(१) मोक्षमालाके पाठ हमने माप माप कर लिखे हैं।

पुनरावृत्तिके सन्धयमें जैसे सुख हो वेसा करना। कुछ वाक्योंके नीचे (अडर लाइन) लाईन की है, वैसा करना जरूरी नहीं।

श्रोता-वाचकको यथाशक्ति अपने अभिप्रायपूर्वक प्रेरित न करनेका लक्ष रखना चाहिये। श्रोता वाचकमें स्वय ही अभिप्राय उत्पन्न होने देना चाहिये। सारासारके तोड़न करनेको वाचक-श्रोताके खुदके ऊपर छोड़ देना चाहिये। हमें उन्हें प्रेरित कर, उन्हें स्वय उत्पन्न हो सकनेवाले, अभिप्रायको रोक न देना चाहिये।

प्रज्ञानबोध भाग मोक्षमालाके १०८ दाने यहाँ लिखायेंगे।

(२) परम सत्यतके प्रचाररूप एक योजना सोची है। उसका प्रचार होनेसे परमार्थ मार्गका प्रकाश होगा।

(२)

श्रीमोक्षमालाके प्रज्ञावबोधभागकी संकलना.

१ वाचकको प्रेरणा	८ प्रमादके स्वरूपका विशेष	१४ महात्माओंकी असंगता
२ जिनदेव	विचार	१५ सर्वोत्कृष्ट सिद्धि
३. निर्ग्रन्थ	९ तीन मनोरथ	१६ अनेकातकी प्रमाणता
४ दया ही परमधर्म है.	१०. चार सुखशय्या	१७ मनभ्राति
५ सच्चा ज्ञानत्व	११ व्यावहारिक जीवोंके भेद	१८ तप
६ मैत्री आदि चार भावनायें	१२ तीन आत्मायें	१९ ज्ञान
७ सत्साक्षरता उपकार	१३ सम्यग्दर्शन	२०. क्रिया.

२१ आरभ परिग्रहकी निवृत्तिके ऊपर ज्ञानीद्वारा दिया हुआ भार.	४० वैतालिय अध्ययन ४१ सयोगकी अनित्यता ४२ महात्माओकी अनत समता	६१ कर्मके नियम ६२ महापुरुषोंकी अनत दया ६३ निर्जरान्त्रम
२२ दान	४३ सिरपर न चाहिये	६४ आकाशा स्थानकमें किस तरह रहना चाहिये ?
२३ नियमितता	४४ (चार) उदयादि भग	६५ मुनिधर्मयोग्यता
२४ जिनागमस्तुति	४५. जिनमत निराकरण	६६ प्रत्यक्ष और परोक्ष
२५ नवतरिका सामाय सक्षेप स्वरूप	४६ महामोहनीय स्थानक ४७ तीर्थकरपद प्राप्ति स्थानक	६७ उमत्तता
२६ सार्वजनिक श्रेय	४८ माया	६८ एक अतर्मुहूर्त
२७ सद्गुण	४९ परिपहजय	६९ दर्शनस्तुति
२८ देशधर्मविषयक विचार.	५० वीरत्व	७० विभाज
२९ मौन	५१ सद्गुरुस्तुति.	७१ रसास्वाद
३० शरीर	५२ पंच परमपदविषयक विशेष विचार	७२ अहिंसा और स्वच्छदता ७३ अल्पशिपिलतासे महा- दोषज्ञा जन्म
३१ पुनर्जन्म	५३ अतिरति	७४ पारमार्थिक सत्य
३२ पंचमहाव्रतविषयक विचार	५४ अत्यात्म	७५ आत्मभाजन
३३ देशभोग	५५ मत्र	७६ जिनभाजन
३४ प्रज्ञास्तयोग	५६ पदपद निश्चय	७७-९० महत्पुरुष चरित्र
३५ सरलता	५७ मोक्षमार्गकी अविरोधता	९१-१०० (भागमें वृद्धि)
३६ निरभिमानीपना	५८ सनातन धर्म	१०१-१०६ हितार्थ प्रश्न
३७. ब्रह्मचर्यकी सर्वोत्कृष्टता	५९ सूक्ष्म तत्त्वप्रतीति	१०७-१०८ समाप्ति अनंतर
३८ आज्ञा	६० समिति गुति	
३९ समाधिभरण		

३४वाँ वर्ष

८६५ वटवाण कैम्प, कार्तिक सुदी ५ रवि १९५७

ॐ वर्तमान दु पमकाल रहता है। मनुष्योंका मन भी दु पम ही देखनेमें आता है। प्राय करके परमार्थसे शुष्क अत कारणजाले परमार्थका दिखाव करके स्वेच्छासे आचरण करते हैं।

ऐसे समयमें किसका संग करना, किसके साथ कितना काम निकालना, किसकी साथ कितना बोलना, और किसकी साथ अपने कितने कार्य व्यवहारका स्वरूप निहित किया जा सकता है—यह सब लक्षमें रखनेका समय है। नहीं तो सद्बुद्धिमान् जीवनको ये सत्र कारण हानिकारक होते हैं। ॐ शान्ति ।

८६६

बम्बई माटुगा, मगासिर १९५७

श्रीशातसुधारसका भी फिरसे त्रिनेत्ररूप भापातर करना योग्य है, सो करना ।

८६७

बम्बई शिव, मगासिर वदी १९५७

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।

मायाविष्वपि हृद्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥

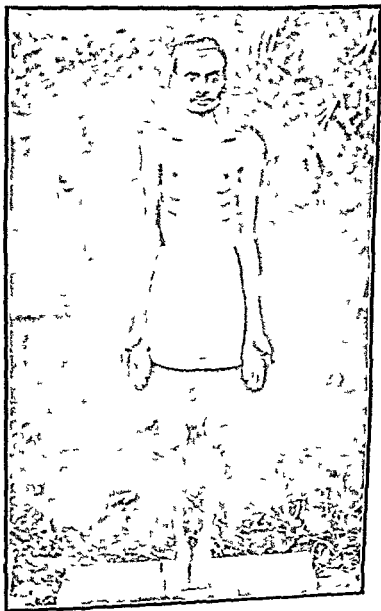
स्तुतिकार श्रीसमतभद्रसूरिको वीतरागदेव मानो कहते हों कि हे समतभद्र ! इस हमारी अष्ट प्रातिहार्य आदि त्रिभूतिको तू देख-हमारा महत्त्व देख । इसपर, जिस तरह सिंह गुफामेंसे गभीर पदसे बाहर निकलकर गर्जना करता है, उसी तरह श्रीसमतभद्रसूरि गर्जना करते हुए कहते हैं —

देवताओंका आगमन, आकाशमें विचरण, चामर आदि त्रिभूतिका भोग करना, चामर आदि वैभवंसे ढोला जाना—यह तो मायायी इन्द्रजालिये भी बता सकते हैं। तेरे पास देवोंका आगमन होता है, अथवा तू आकाशमें विचरता है, अथवा तू चामर उन्न आदि त्रिभूतिका उपभोग करता है, क्या इसलिये तू हमारे मनको महान् है ? नहीं नहीं, कभी नहीं। कुछ इसलिये तू हमारे मनको महान् नहीं। उतनेसे ही तेरा महत्त्व नहीं। ऐसा महत्त्व तो मायायी इन्द्रजालिया भी दिखा सकते हैं।

तो फिर सद्देवका वास्तविक महत्त्व क्या है ? तो कहते हैं कि वीतरागता । इसे आगे बताते हैं ।

ये श्रीसमतभद्रसूरि नि स दूसरी शताब्दिमें हुए थे। वे इनेताम्बर दिगम्बर दोनोंमें एक सरीखे सन्मानित हैं। उन्होंने देवागमस्तोत्र (ऊपर कही हुई स्तुति इस स्तोत्रका प्रथम पद है) अथवा आत्ममीमासा रची है। तत्पार्थसूत्रके भगलाचरणकी टीका करते हुए यह स्तोत्र (देवागम) लिखा गया है, और उसपर अष्टसहस्री टीका तथा चौरासी हजार श्लोकप्रमाण *गणहस्तिमहाभाष्य टीका रची गई है ।

*जिन दिगम्बर ग्रंथों और शिलालेखोंमें स्वामी समतभद्रको गणहस्ती टीकाका रचयिता माना गया, है उन ग्रंथों और शिलालेखोंसे यही पता लगता है कि समतभद्रने गणहस्ती नामकी कोई टीका तो जरूर लिखी थी, परन्तु यह टीका उमास्वातिके तत्पार्थसूत्रके ऊपर नहीं थी, किन्ती दूसरे दिगम्बरीय विद्वान्तोंके ऊपर ही थी—इस बातको प० जगलविशोरजीने अपने ' स्वामी समतभद्र—ग्रंथ परिचय ' पृ २३०-२४३ में बहुतही दलीलें देकर साबित है। तथा श्वेताम्बर परम्परामें जो तत्पार्थसूत्रपर गणहस्ती टीकाकी प्रसिद्धि है, वह भी कोई नहीं है, वह सिद्धसेनगणिकी वर्तमान तत्पार्थभाष्यकी बृहद्बुद्धि ही है। देखो प० सुखलाल[†] गुजराती व्याख्या पृ ३६-४२



श्रीमद् राजचंद्र

वर्ष ३३ सु

वि स १९९६

STATION 1111

**मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूताम् ।
ज्ञातार विश्वतत्त्वाना वदे तद्गुणलब्धये ॥**

यह इसका प्रथम मगलस्तोत्र है ।

मोक्षमार्गके नेता, कर्मरूपी पर्यंतके भेत्ता (भेदन करनेवाले) और निश्च (समग्र) तत्त्वके ज्ञाता (जाननेवाले) को, उन गुणोंकी प्राप्तिके लिये मैं वदन करता हूँ ।

आत्ममीमासा, योगत्रिदु और उपमितिभ्रमप्रपचकथाका गुजराती भाषांतर करना । योगत्रिदुका भाषांतर हुआ है, उपमितिभ्रमप्रपचका हो रहा है । परंतु उन दोनोंको फिरसे करना योग्य है, उसे करना । धीमे धीमे होगा ।

लोक-कल्याण हितरूप है और वह कर्त्तव्य है । अपनी योग्यताकी न्यूनतासे और जोखमदारी न समझ सकनेसे अपकार न हो जाय, यह भी लक्ष रखना चाहिए ।

८६८

बम्बई शिव, मगासिर वदी ८, १९५७

ॐ मदनरेखाका अधिकार, उत्तरायनके नरमें अध्ययनमें जो नमिराज ऋषिका चरित्र दिया है, उसकी टीकामें है ।

ऋषिभद्रपुत्रका अधिकार भगवतीसूत्रके शतकके उद्देशमें आया है ।

ये दोनों अधिकार अथवा दूसरे जैसे बहुतसे अधिकार आत्मोपकारी पुरुषके प्रति वदना आदि भक्तिका निरूपण करते हैं । परन्तु जनमडलके कल्याणका विचार करते हुए जैसे विषयकी चर्चा करनेसे तुम्हें दूर ही रहना योग्य है ।

अवसर भी वैसा ही है । इसलिये तुम्हें इन अधिकार आदिकी चर्चा करनेमें एकदम शान्त रहना चाहिये । परन्तु दूसरी तरह, जिस तरह उन लोगोंकी तुम्हारे प्रति उत्तम लगन अथवा भावना हो, नैसा वर्त्तन करना चाहिए, जो पूर्णपर अनेक जीवोंके हितका ही हेतु होता है ।

जहाँ परमार्थके जिज्ञासु पुरुषोंका मडल हो वहाँ शास्त्रप्रमाण आदिकी चर्चा करना योग्य है, नहीं तो प्रायः उससे श्रेय नहीं होता ।

यह मात्र छोटी परिपह है । योग्य उपायसे वर्त्तन करना चाहिये । परन्तु उद्वेगयुक्त चित्त न रखना चाहिये ।

८६९ वदवाण कैम्प, फाल्गुन सुदी ६ शनि १९५७

ॐ जो अधिकारी सत्कारसे निराम पाकर मुनिश्रीके चरणकमलके सयोगमें निचरनेकी इच्छा करता है, उस अधिकारीको दीक्षा देनेमें मुनिश्रीको दूसरे प्रतिबधका कोई हेतु नहीं ।

उस अधिकारीको अपने बड़ोंका सतोप सपादन कर आज्ञा प्राप्त करनी योग्य है, जिससे मुनिश्रीके चरणकमलमें दीक्षित होनेमें दूसरा निक्षेप न रहे ।

इस अथवा दूसरे किसी अधिकारीको सत्कारसे उपरामवृत्ति हुई हो, और वह आत्मार्थकी साधक है, ऐसा माझ्म होता हो, तो उसे दीक्षा देनेमें मुनिश्री अधिकारी हैं । मात्र त्याग लेनेवालेको और त्याग देनेवालेको श्रेयका मार्ग वृद्धिमान रहे, ऐसी दृष्टिसे वह प्रवृत्ति करनी चाहिये ।

प्रायः करके आज राजकोट जाना होगा। प्रश्नचनसार प्रथम लिखा जाता है, वह यथामसर प्राप्त हो सकता है। शान्ति।

८७० राजकोट, फाल्गुन वदी ३ शुक्र १९५७

बहुत दूरसे प्रवास पूरा करना था। वहाँ बीचमें सेहराका मरुस्थल आ गया। सिरपर बहुत बोझा था, उसे आत्मीर्यसे जिस तरह अल्पकालमें वेदन कर लिया जाय, उस तरह व्यवस्था करते हुए पैरोंने निकाचित उदयमान विश्राम ग्रहण किया। जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता, यही अद्भुत आश्चर्य है। अव्यावाध स्थिरता है। प्रकृति उदयानुसार कुछ असाताका मुर्यत वेदन करके साताके प्रति। ॐ शान्ति।

८७१ राजकोट, फाल्गुन वदी १३ सोम १९५७

ॐ शरीरसवधी दूसरी बार आज अप्राकृत क्रम शुरू हुआ। ज्ञानियोंका सनातन सन्मार्ग जयवत चर्चों।

८७२ राजकोट, चैत्र सुदी २ शुक्र. १९५७

ॐ अनत शांतमूर्ति चन्द्रप्रभस्वामीको नमो नमः
वेदनीयको तथारूप उदयमानपनेसे वेदन करनेमें हर्ष शोक क्या? ॐ शान्ति।

८७३ राजकोट, चैत्र सुदी ९, १९५७

अंतिम संदेश

परमार्थमार्ग अथवा शुद्ध आत्मपदप्रकाश

ॐ श्रीजिनपरमात्मने नमः

(१) जिस अनत सुखस्वरूपकी योगीजन इच्छा करते हैं, वह मूल शुद्ध आत्मपद सयोगी जिनस्वरूप है ॥ १ ॥

वह आत्मस्वभावागम्य है, वह अवलम्बनका आधार है। उस स्वरूपके प्रकारको जिनपदसे बताया गया है ॥ २ ॥

जिनपद और निजपद दोनों एक हैं, इनमें कोई भी भेदभावा नहीं। उसके लक्ष होनेके लिये ही सुखदायक शास्त्र रचि गये हैं ॥ ३ ॥

८७३

अंतिम संदेश

(१) इच्छे छे जे जोगीजन अनत सुखस्वरूप। मूल शुद्ध ते आत्मपद सयोगी जिनस्वरूप ॥ १ ॥
आत्मस्वभाव अगम्य ते अवलम्बन आधार। जिनपदधी दर्शावियो तेह स्वरूप प्रकार ॥ २ ॥
जिनपद निजपद एकता भेदभाव नहीं काहें। लक्ष थवाने तेहनो कक्षा शास्त्र सुखदाई ॥ ३ ॥

जिन प्रवचन बहुत दुर्गम है, उसे प्राप्त करनेमें बुद्धिमान लोग भी थक जाते हैं। वह श्रीसद्गुरुके अलङ्घनसे ही सुगम और सुखकी खान है ॥ ४ ॥

यदि जिनभगवान्के चरणोंकी अतिशय भक्तिसहित उपासना हो, मुनिजनोंकी सगतिमें सयम-सहित अन्यत्र रति हो—॥ ५ ॥

यदि गुणोंमें अतिशय प्रमोद रहे और अतर्मुख योग रहे, तो श्रीसद्गुरुसे जिनदर्शन समझा जा सकता है ॥ ६ ॥

मानो समुद्र एक विन्दुमें ही समा गया हो, इस तरह प्रवचनरूपी समुद्र चौदह पूर्वकी लम्बि-रूप विन्दुमें समा जाता है ॥ ७ ॥

जो विषय विकारमहित मतिके योगसे रहता है, उसे परिणामोंकी विषमता रहती है, और उसे योग भी अयोग हो जाता है ॥ ८ ॥

मद विषय, सरलता, आज्ञापूर्वक सुविचार तथा करुणा कोमलता आदि गुण यह प्रथम भूमिका है ॥ ९ ॥

जिसने शब्द आदि विषयको रोक लिया है, जो सयमके साधनमें राग करता है, जिसे आत्माके लिये जगत् इष्ट नहीं, वह महाभाग्य मयम पात्र है ॥ १० ॥

जिसे जीनेकी तृष्णा नहीं, जिसे मरणके समय क्षोभ नहीं, वह मार्गका महापात्र है, वह परम-योगी है, और उसने लोभको जीत लिया है ॥ ११ ॥

(२) जिस तरह जत्र सूर्य सम देशमें आता है तो छाया समा जाती है, उसी तरह स्वभावमें आनेसे मनका स्वरूप भी समा जाता है ॥ १ ॥

यह समस्त सत्ता मोहविकल्पसे उत्पन्न होता है। अतर्मुख वृत्तिसे देखनेसे इसके नाश होते हुए देर नहीं लगती ॥ २ ॥

(३) जो अनत सुखका धाम है, जिसकी सत लोग इच्छा करते हैं, जिसके ध्यानमें वे दिन रात लीन रहते हैं, जो परमज्ञाति है, अनत सुधामय है—उस पदको प्रणाम करता हूँ; वह श्रेष्ठ है, उसकी जय हो ॥ १ ॥

समाप्त

जिन प्रवचन दुर्गम्यता थाके अति प्रतिमान। अवलम्बन श्रीसद्गुरु सुगम अने सुलक्षण ॥ ४ ॥

उपासना जिनचरणनी अतिशय भक्तिसहीत। मुनिजन सगति रति अति सयम योग घटीत ॥ ५ ॥

गुणप्रमोद अतिशय रहे रहे अतर्मुख योग। प्राप्ति श्रीसद्गुरुवड जिनदर्शन अनुयोग ॥ ६ ॥

प्रवचन समुद्रविन्दुमा उलछी (उलटी) आवे एम। पूव चौदनी लम्बिनु उदाहरण पण तेम ॥ ७ ॥

विषय विकार सहीत जे रखा मतिना योग। परिणामनी विषमता तेने योग अयोग ॥ ८ ॥

मद विषयने सरलता सह आशा सुविचार। करुणा कोमळतादि गुण प्रथम भूमिका धार ॥ ९ ॥

रोक्या शब्दादिक विषय सयम साधन राग। जगत् इष्ट नहीं आत्मथी मध्यपात्र महाभाग्य ॥ १० ॥

नहीं तृष्णा जीयातणी मरण योग्य नहीं क्षोभ। महापात्र ते भागना परम योग जितलोभ ॥ ११ ॥

(२) आवे बहु समदेशमा छाया जय समाइ। आवे तेम स्वभावमा मन स्वरूप पण जाई ॥ १ ॥

उपजे मोह विकल्पथी । अतर्मुख अवलोकता विलय गता नहीं धार ॥ २ ॥

(३) सुख धाम अनंत । राग रहे । यानमहि ।

७ ते ॥ १ ॥

प्रायः करके आज राजकोट जाना होगा। प्रश्नचनसार प्रथम लिखा जाता है, वह यथावसर प्राप्त हो सकता है। शान्ति ।

८७० राजकोट, फाल्गुन वदी ३ शुक्र १९५५

बहुत धरासे प्रयास पूरा करना था। वहाँ बीचमें सेहराका मरुस्थल आ गया।

सिरपर बहुत बोझा था, उसे श्राम्भीर्यसे जिस तरह अल्पकालमें वेदन कर लिया जाय, उस तरह व्यवस्था करते हुए पेरोंने निकाचित उदयमान विश्राम ग्रहण किया।

जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता, यही अद्भुत आश्चर्य है। अव्यापार स्थिरता है।

प्रकृति उदयानुसार कुछ असाताका मुरयत वेदन करके साताके प्रति। ॐ शान्ति ।

८७१ राजकोट, फाल्गुन वदी १३ सोम १९५५

ॐ शरीरसत्रधी दूसरी बार आज अप्राकृत क्रम शुरू हुआ। ज्ञानियोंका सनातन समारंभ जयवत बर्तों।

८७२ राजकोट, चैत्र सुदी २ शुक्र. १९५७

ॐ अनंत शातमूर्ति चन्द्रप्रभस्वामीको नमो नमः

वेदनीयको तथारूप उदयमानपनेसे वेदन करनेमें हर्ष शोक क्या? ॐ शान्ति ।

८७३ राजकोट, चैत्र सुदी ९, १९५७

अंतिम संदेश

परमार्थमार्ग अथवा शुद्ध आत्मपदप्रकाश

ॐ श्रीजिनपरमात्मने नमः

(१) जिस अनंत सुखस्वरूपकी योगीजन इच्छा करते हैं, वह मूल शुद्ध आत्मपद सयोगी जिनस्वरूप है ॥ १ ॥

वह आत्मस्वभावागम्य है, वह अजलनका आधार है। उस स्वरूपके प्रकारको जिनपदसे बताया गया है ॥ २ ॥

जिनपद और निजपद दोनों एक हैं, इनमें कोई भी भेदभाव नहीं। उसके लक्ष होनेके लिये ही सुखदायक शास्त्र रचे गये हैं ॥ ३ ॥

८७३

अंतिम संदेश

(१) इच्छे छे जे जोगीजन अनंत सुखस्वरूप। मूल शुद्ध ते आत्मपद सयोगी जिनस्वरूप ॥ १ ॥

आत्मस्वभाव अगम्य ते अवलन आधार। जिनपदयी दर्शावियो तेह स्वरूप प्रकार ॥ २ ॥

जिनपद निजपद एकता भेदभाव नहीं काई। लक्ष यवाने तेहो कक्षा शास्त्र सुपदाई ॥ ३ ॥

जिन प्रवचन बहुत दुर्गम हैं, उसे प्राप्त करनेमें बुद्धिमान लोग भी थक जाते हैं । वह श्रीसद्गुरुके अनट्पनसे ही सुगम और सुलकी खान है ॥ ४ ॥

यदि जिनभगवान्‌के चरणोंकी अतिशय भक्तिसहित उपासना हो, मुनिजनोंकी सगतिमें सयम-सहित अन्यत्र रति हो—॥ ५ ॥

यदि गुणोंमें अतिशय प्रमोद रहे और अतर्मुख योग रहे, तो श्रीसद्गुरुसे जिनदर्शन समझा जा सकता है ॥ ६ ॥

मानो समुद्र एक त्रिदुमें ही समा गया हो, उस तरह प्रवचनरूपी समुद्र चौदह पूर्वकी लब्धि-रूप त्रिदुमें समा जाता है ॥ ७ ॥

जो विषय विकारसहित मतिके योगसे रहता है, उसे परिणामोंकी विषमता रहती है, और उसे योग भी अयोग हो जाता है ॥ ८ ॥

मद विषय, सरलता, आज्ञापूर्वक सुविचार तथा करुणा कोमलता आदि गुण यह प्रथम भूमिका है ॥ ९ ॥

जिसने शब्द आदि विषयको रोक लिया है, जो सयमके साधनमें राग करता है, जिसे आराधनायें उभे जगत् इष्ट नहीं, वह महाभाग्य मयम पात्र है ॥ १० ॥

जिसे जीनेकी तृष्णा नहीं, जिसे मरणके समय क्षोभ नहीं, वह मार्गका महापात्र है, यह परम-योगी है, और उसने लोभको जीत लिया है ॥ ११ ॥

(२) जिस तरह जत्र सूर्य सम देशमें आता है तो छाया समा जाती है, उसी तरह राधापदों आनेसे मनका स्वरूप भी समा जाता है ॥ १ ॥

यह समस्त ससार मोहनिकल्पसे उत्पन्न होता है । अतर्मुख वृत्तिसे देखनेसे इसके ना । हंसा इष्ट देर नहीं लगती ॥ २ ॥

(३) जो अनत मुखका धाम है, जिसकी सत लोग इच्छा करते हैं, जिसको ध्यानसे ही जिन रात लीन रहते हैं, जो परमशांति है, अनत सुधामय है—उस पदको प्रणाम करता है, ३३ ॥ है, उसकी जय हो ॥ १ ॥

समाप्त

जिन प्रवचन दुर्गम्यता थाके अति मतिमान । अवल्वन श्रीसद्गुरु सुगम अने सुलका ॥ ४ ॥

उपासना जिनचरणनी अतिशय भक्तिसहित । मुनिजन सगति रति अति सयम योग ॥ ५ ॥

गुणप्रमोद अतिशय रहे रहे अतर्मुख योग । प्राप्ति श्रीसद्गुरुकड जिनदर्शन अनुपाग ॥ ६ ॥

प्रवचन समुद्रीधुमा उल्लसी (उलटी) आवे धम । पूव चौदनी लब्धिन उदाहरण ॥ ७ ॥

विषय विकार सहीत जे रहा मतिना योग । परिणामनी विषमता तेने योग अयोग ॥ ८ ॥

मद विषयने सरलता सह आशा सुविचार । करुणा कोमलतादि गुण प्रथम भूमिका ॥ ९ ॥

रोक्या शब्दादिक विषय सयम साधन राग । जगत इष्ट नहीं आत्मयी मध्यरात्र ॥ १० ॥

नहीं तृष्णा जीयातणी मरण योग्य नहीं क्षोभ । महापात्र ते मार्गना परम योग ॥ ११ ॥

(२) आव्ये बहु समदेशमा छाया जाय समाह । आव्ये तेम स्वभावमा मन स्वरूप ॥ १ ॥

(३) उपजे मोह विकल्पयी समस्त आ ससार । अतर्मुख अवलोकता विलय ॥ १ ॥

(३) सुख धाम अनत सुलत चहि । दिन रात्र रहे तद् ध्यानमहि । परशांति अनत सुधामय जे, प्रणम पद ते वर त जय ते ॥ १ ॥



परिशिष्ट (१)

‘ श्रीमद् राजचन्द्र’में आये हुए ग्रन्थ ग्रन्थकार आदि विशिष्ट शब्दोंका संक्षिप्त परिचय

अकबर—

अकबरका पूरा नाम अबुल् फतेह जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर था। इनका जन्म सन् १५४२ में अमरकोट हुआ था। सन् १५५६ में अकबरको राज्य-सिंहासन मिला। अकबर बहुत उद्यमशील और बुद्धिमान बादशाह था। उसने अपने कौशलसे धीरे धीरे अपना राज्य बहुत बढ़ा लिया, और बहुतसे लोगोंको अपना साथी बना लिया था। उसने अनेक युद्ध भी किये, जिनमें उसे सफलता मिली। अकबर बहुत सहिष्णु थे। वे गोमास इत्यादिसे परहेज करते थे। अकबरने हिन्दु और मुसलमान दोनोंमें ऐक्य और प्रेमसंबन्ध स्थापित करनेके लिये ‘दीनइलाही’ धर्मकी स्थापना की थी। इस धर्मके हिन्दु और मुसलमान दोनों ही अनुयायी थे। अकबरने अमुक दिनोंमें जीवहिंसा न करनेकी भी अपने राज्यमें मनाई कर रखी थी। अकबरको विद्याभ्यासका बहुत शौक था। उन्होंने रामायण महाभारत आदि ग्रंथोंके फारसीमें अनुवाद कराये थे। अकबरकी सभामें हिन्दु विद्वानोंको भी बहुत सम्मान मिलता था। अकबर ज्यों ज्यों वृद्ध होते गये, त्यों त्यों उनकी विषय-लोडपताका हास होता गया। अकबर सोते भी बहुत कम थे। कहते हैं दिनरात मिला कर वे कुल तीन घंटे सोते थे। अकबर बहुत मिताहारी थे। वे दिनमें एक ही बार भोजन करते थे, और उसमें भी अधिकतर दूध, भात और मिठाई ही लेते थे। अकबरका पुत्र सलीम हिन्दुरानी जोधाबाईके गर्भसे पैदा हुआ था। राजचन्द्रजीने अकबरके मिताहारका उल्लेख किया है।

अखा—

अखा गुजराती साहित्यमें एक अद्वितीय मध्यकालीन कवि माने जाते हैं। इनका जन्म सन् १६१९ में अहमदाबादमें सोनी जातिमें हुआ था। ये अक्षयभगतके नामसे भी प्रसिद्ध हैं। अखाकी बोधप्रधान कविताका बड़ा भाग सातसौ ठियालिस छप्पामें है, जिसके सब मिलाकर चणालीस अंग हैं। छप्पाके अतिरिक्त, अखाने अखेगीता, अनुभवविदु, केवलगीता, चित्तनिचारसंवाद, पचीकरण, गुरुशिष्यसंवाद तथा बहुतसे पद आदिकी भी रचना की है। अखाको दम और पाखण्ड-के प्रति अत्यन्त तिरस्कार था। इन्होंने शास्त्रके गूढ़ सिद्धांतोंको अत्यन्त सरल भाषामें लिखा है। अखा एक अनुभवी निचारशील चतुर कवि थे। इन्होंने सत्संग, सद्गुरु, ब्रह्मरस आदिकी जगह जगह महिमा गाई है। ‘अखानी वाणी’ नामक पुस्तक ‘सखु साहित्य-वर्धक कार्यालय’से सन् १९२४ में प्रकाशित हुई है। इनके अन्य ग्रन्थ तथा पद काव्यदोहनमें उपे हैं। राजचन्द्रजीने अखाको मार्गानुसारी बताते हुए उनके ग्रंथोंके पढ़नेका अनुरोध किया है। उन्होंने अखाके पद भी उद्धृत किये हैं।

अध्यात्मकल्पद्रुम—

अध्यात्मकल्पद्रुम वैराग्यका बहुत उत्तम ग्रन्थ है। इसके कर्ता श्वेताम्बर निदान् हैं। मुनिधुदरसूरि सहस्रान्धानी थे। कहा जाता है कि इन्हें तपके प्रभावसे ५५५

प्रत्यक्ष दर्शन दिया करती थीं। मुनिसुंदरसूरिने अपने गुरुदेव सुदरसूरिकी सेनामें एकसौ आठ हाथ लम्बा एक मित्रसिपत्र भेजा था, जिसमें उन्होंने नाना तरहके सैकड़ों चित्र और हजारों काव्य लिखे थे। मुनिसुदरसूरिने स्वोपज्ञ वृत्तिसहित उपदेशरत्नाकर, जयानदचरित्र, शातिकरस्तोत्र आदि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है। मुनिसुदरसूरि श्वेताम्बर आम्नायमें बहुत प्रख्यात कवि गिने जाते हैं। ये स० १५०३ में स्वर्गस्थ हुए। अध्यात्मकल्पद्रुममें सोलह अधिकार हैं। ग्रन्थका निस्तृत गुजराती विभेचन मोतीचन्द गिरधरखाल कापडियाने किया है, जो जैनधर्मप्रसारक सभाकी ओरसे सन् १९११ में प्रकाशित हुआ है।

अध्यात्मसार (देखो यशोविजय)

अनाथदासजी—

मादम होना है अनाथदास कोई बहुत अच्छे वेदान्ती, थे। इन्होंने गुजरातीमें विचारमाला नामक ग्रन्थ बनाया है। इस ग्रन्थके ऊपर टीका भी है। राजचन्द्रजीने इस ग्रन्थका अण्डोलन करनेके लिये लिखा है। उपदेशछापामें अनाथदासजीका एक वचन भी राजचन्द्रजीने उद्धृत किया है।

अनुभवमहाश (पक्षपातरहित अनुभवप्रकाश)—

इस ग्रन्थके कर्ता विशुद्धानन्दजीने गृहस्थाश्रमके त्याग करनेके पश्चात् बहुत समयतक देशाटन किया, और तत्पश्चात् वे हृषीकेशमें आकर रहने लगे। ये सदा सत पुरुषोंके समागममें रहते हुए नखनिचामें मग्न रहते थे। विशुद्धानन्दजीने हृषीकेशमें रहकर नाना प्रकारके कष्ट उठाये। इन्होंने कलकत्ताके सेठ सूर्यमलजीको प्रेरित कर हृषीकेशमें अन्नक्षेत्र आदि भी स्थापित किये, जिससे वहाँ रहनेवाले सत साधुओंको बहुत आराम मिला। विशुद्धानन्दजीको किसी धर्म या वेपके लिये कोई आप्रह न था। ये केवल दो कबली रखते थे। अनुभवप्रकाशका गुजराती भाषातर सन् १९२७ में बम्बईसे प्रकट हुआ है। इसमें आठ सर्ग हैं, जिनमें वेदान्तनिपयका वर्णन है। प्रह्लादआस्थान तृतीय सर्गमें आता है।

अभयकुमार (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, मोक्षमाला पाठ ३०—३२)।

अवारामजी—

×अम्बारामजी और उनकी पुस्तकके संबन्धमें राजचन्द्रजी लिखते हैं—“ हमने इस पुस्तकका बहुतसा भाग देखा है। परन्तु हमें उनकी बातें सिद्धान्तज्ञानसे बराबर बैठती हुई नहीं मादम होतीं। और ऐसा ही है, तथापि उस पुरुषकी दशा अच्छी है, मार्गानुसारी जैसी है, ऐसा तो कह सकते हैं। ” तथा “ धर्म ही जिनका निवास है, वे अभी उस भूमिकामें नहीं आये। ”

अयमंतकुमार—

इनके बाल्यावस्थामें मोक्ष प्राप्त करनेका राजचन्द्रजीने मोक्षमालामें उल्लेख किया है। इनकी कथा भगवतीसुत्रमें आती है।

अष्टक (देखो हरिभद्र)।

अष्टपाहुड (देखो कुन्दकुन्द)

×अगावसे प० गुणभद्रजी सूचित करते हैं कि अवारामजी मादरणके निवासी एक महन्त थे। इन्होंने बहुतसे मजरा आदि बनाये हैं। लेखक

अष्टसहस्री—

विद्यानन्दस्वामीकी आत्ममीमांसापर लिखी हुई टीकाका नाम अष्टसहस्री है। इस ग्रन्थमें बहुत प्रौढ़ताके साथ जैनदर्शनके स्याद्वाद सिद्धांतका प्रतिपादन किया गया है। अष्टसहस्रीके ऊपर श्वेताम्बर विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजीने नव्यन्यायसे परिपूर्ण टीका भी लिखी है। विद्यानन्द आदिमें ब्राह्मण थे। उनका मीमांसा बौद्ध आदि दर्शनोंका बहुत अ-ग्रा अध्ययन था। वे अपने समयके एक बहुत अच्छे कुशल वादी गिने जाते थे। विद्यानन्दजीने तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर तत्त्वार्थश्लोकार्थिक नामकी दार्शनिक टीका भी लिखी है, जिसका जैनसाहित्यमें उच्चस्थान है। इसके अतिरिक्त इन्होंने आत्मपरीक्षा पत्रपरीक्षा आदि और भी महत्वशाली ग्रन्थ लिखे हैं। आत्मपरीक्षामें ईश्वरकर्तृत्व आदि सिद्धांतोंका विद्वत्पूर्ण विवेचन किया गया है। इनका समय ईसवी सन् ९ वीं शताब्दि माना जाता है।

अष्टावक्र—

अष्टावक्र मुमतिके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इनके पिताका नाम कहोड़ था। एक दिन अष्टावक्र जन गर्भमें थे, कहोड़ अपनी पत्नीके पास बैठे हुए वेदका पाठ कर रहे थे। वेदपाठमें उनकी कहीं भूल हो गई, जिसे गर्भस्थ शिशुने वता दिया। इसपर कहोड़को बहुत क्रोध आया, आर उन्होंने गर्भस्थ शिशुसे कहा कि जन तेरा स्वभाव अभीसे इतना बुरा है, तो आगे जाकर न मायूम वृत्त्या करेगा। अतएव जा, मैं तुझे शाप देता हूँ कि तू अष्टावक्र होकर जन्म ग्रहण करेगा। कहते हैं इसपर शिशुका शरीर आठ जगहसे टेढ़ा हो गया, और उसका नाम अष्टावक्र पड़ा। बादमें चलकर इनके पिताने अष्टावक्रसे प्रसन्न होकर इन्हें समगा नदीमें स्नान कराया, जिससे अष्टावक्रकी बुराता तो दूर हो गई, पर नाम इनका फिर भी वही रहा। अष्टावक्र जनकके गुरु थे। उन्होंने जो जनकको उपदेश दिया, वह अष्टावक्रगीतामें दिया है।

आचाराग (आगमग्रन्थ)—इसका राजचन्द्रजीने अनेक स्थलोपर उल्लेख किया है।

आत्मसिद्धिशस्त्र (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ पृ. ५८५-६२२)

आत्मानुशासन—

आत्मानुशासनके कर्त्ता दिगम्बर सम्प्रदायमें गुणभद्र नामके एक बहुत प्रसिद्ध विद्वान् हो गये हैं। ये आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनस्वामीके शिष्य थे। ये दोनों गुरु शिष्य अमोघार्थ महाराजके समकालीन थे। गुणभद्र स्वामीने उत्तरपुराणकी नी रचना की है, जिसे उन्होंने शक सन् ८२० में समाप्त किया था। गुणभद्र न्याय काव्य आदि विषयोंके बहुत अच्छे विद्वान् थे। आत्मानुशासनकी कई टीकायें भी हुई हैं। इनमें ५० टोडरमलजीकी हिंदी टीका बहुत प्रसिद्ध है। इसका गुजराती अनुवाद भी हुआ है। इस आयात्मके ग्रन्थको दिगम्बर ओर श्वेताम्बर दोनों बहुत चावसे पढ़ते हैं।

आनन्द श्रावक—

आनन्द श्रावककी कथा उपासकदशासूत्रमें आती है। एक बारकी बात है कि गौतमस्वामी भिक्षाके लिये जा रहे थे। उन्होंने सुना कि महावीरके शिष्य आनन्दने भरणान्त सल्लेखना स्वीकार की है। गौतमने आनन्दको देखनेका विचार किया। आनन्दने गौतमस्वामीको नमस्कार करके पूछा कि भगवन् ! क्या गृहस्थावस्थामें अधिज्ञान होता है ? गौतमने कहा 'हाँ' होता है। इसपर आनन्दने

कहा कि मुझे इतनी सामर्थ्यका अवधिज्ञान हो गया है कि मैं पाँचसौ योजनतकके रूपी पदार्थको जान सकता हूँ। गौतमस्वामीने इस बातका निषेध किया, और आनन्दको आलोचना करनेको कहा। बादमें दोनों महानरीके पास गये। गौतमको अपनी भूल माफ़म हुई और उन्होंने आनन्दसे क्षमा माँगी।

आनन्दघन—

आनन्दघनजी एक महान् अध्यात्मी योगी पुरुष हो गये हैं। इनका दूसरा नाम लाभानन्द था। इन्होंने हिन्दी मिश्रित गुजरातीमें चौबीस जिनभगवान्की स्तुतिरूप चौबीस स्तनोंकी रचना की है, जो आनन्दघनचौबीसीके नामसे प्रसिद्ध है। आनन्दघनजीकी दूसरी सुन्दर रचना आनन्दघन-वहोत्तरी है। आनन्दघनजीकी वाणी बहुत मार्मिक और अनुभवज्ञानसे परिपूर्ण है। इनकी रचनाओंसे माफ़म होता है कि ये जैनसिद्धांतके एक बड़े अनुभवी मर्मज्ञ पंडित थे। आनन्दघनजी गच्छ मत इत्यादिका बहुत विरोध करते थे। इन्होंने पट्टदर्शनोंको जिन भगवान्का अग वताकर उहाँ दर्शनोंका सुन्दर समन्वय किया है। आनन्दघनजी आत्मानुभवकी मस्त दशामें विचरण किया करते थे। आनन्दघनजीका यशोभिजयजीसे मिलाप भी हुआ था, इस बातको यशोभिजयजीने अपनी वनाई हुई अष्टपदीमें व्यक्त किया है। राजचन्द्रजी आनन्दघनजीको बहुत सन्मानकी दृष्टिसे देखते हैं। वे उन्हें कुन्दकुन्द और हेमचन्द्राचार्यकी कोटिमें लाकर रखते हैं। वे आनन्दघनजीकी हेमचन्द्राचार्यसे तुलना करते हुए लिखते हैं—“श्रीआनन्दघनजीने स्वपर-हितबुद्धिसे लोकोपकार-प्रवृत्ति आरभ की। उन्होंने इस मुख्य प्रवृत्तिमें आत्महितको गौण किया। परन्तु वीतरागधर्म-निमुखाता—निपमता—इतनी बढ गई थी कि लोग धर्मको अथवा आनन्दघनजीको पहिचान न सके—समझ न सके। अन्तमें आनन्दघनजीको लगा कि प्रत्नलरूपसे व्यास विपमताके योगमें लोकोपकार, परमार्थ-प्रकाश करनेमें असरकारक नहीं होता, और आत्महित गौण होकर उसमें बाधा आती है, इसलिये आत्महितको मुख्य करके उसमें ही प्रवृत्ति करना योग्य है। इस निचारणासे अन्तमें वे लोकसगको छोड़कर वनमें चल दिये। वनमें निचरते हुए भी वे अग्रगटरूपसे रहकर चौबीस पद आदिके द्वारा लोकोपकार तो कर ही गये हैं। निष्कारण लोकोपकार यह महापुरुषोंका धर्म है।” राजचन्द्रजीने आनन्दघनचौबीसीका निवेचन भी लिखना आरभ किया था, जो अक ६९२ में उपा है।

ईसामसीह—

ईसामसीह ईसाईधर्मके आदिसंस्थापक थे। ये कुमारी मरियमके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। ईसा बचपनसे ही धर्मग्रन्थोंके अध्ययन करनेमें सारा समय बिताया करते थे। ईसाके पूर्व फिलिस्तीन और अरब आदि देशोंमें यहूदीधर्मका प्रचार था। यहूदी पादरी लोग धर्मके बहाने जो मनमाने आयाचार किया करते थे, उनके विरुद्ध ईसामसीहने प्रचण्ड आन्दोलन मचाया। ईसामसीहपर यहूदियोंने खून आक्रमण किये, जिससे इन्हें जैरसलेम भाग जाना पड़ा। वहापर भी इनपर वार किये गये। यहूदियोंने इन्हें पत्नूडकर बन्दी कर लिया, और इन्हें काँटोंका मुकट पहनाकर सूलीपर लटका दिया। जिस समय इनके हाथों पैरोंमें काँटें ठोकी गईं, उस समय भी इनका मुख प्रसन्नतासे खिलता रहा, और ये अपने यथ करनेवालोंकी अज्ञानताको क्षमा करनेके लिये परमेश्वरसे प्रार्थना

करते रहे । ईसाने अपने धर्ममें सेवा, प्रेम, दया और सहानुभूतिपर अधिक भार दिया है । ईसाई लोग ईसाको ईश्वरका अवतार मानते हैं । बाइबिलमें उनके उपदेशोंका सग्रह है । ईसाके चमत्कारोंका बाइबिलमें वर्णन आता है । राजचन्द्रजीने ईसाईधर्मका विशेष अध्ययन नहीं किया था । महात्मा गांधीके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए राजचन्द्रजीने पत्राक ४४७ में ईसाईधर्मके विषयमें अपने विचार प्रकट किये हैं ।
आत्ममीमासा (देखो समतभद्र)

इन्द्रियपराजयशतक—

यह वैराग्यका अत्युत्तम छोटासा प्राकृतका ग्रंथ है । ग्रंथके कर्त्ता कोई श्वेताम्बर विद्वान् हैं । इसके ऊपर स० १६६४ में गुणत्रिनय उपाध्यायने सस्कृत टीका लिखी है । इसका गुजराती भाषांतर हुआ है । हिन्दी पद्यानुवाद बुद्धलाल श्रावकने किया है, जो बम्बईसे प्रकाशित हुआ है । इन्द्रियपराजयशतक प्रकरणरत्नाकरमें भी छपा है । राजचन्द्रजीने इस ग्रंथके पढ़नेका अनुरोध किया है ।
उत्तराध्ययन (आगमग्रंथ)— इसका राजचन्द्रजीने अनेक स्थलोंपर उल्लेख किया है ।

*उत्तमविजय—

उत्तमविजय श्वेताम्बर आम्नायमें गुजरातीके अच्छे कवि हो गये हैं । इनके सयमश्रेणी-स्तननमेंसे राजचन्द्रजीने दो पद उद्धृत किये हैं । उक्त स्तनन प्रकरणरत्नाकरमें प्रकाशित हुआ है ।

उपमितिभवप्रपचा कथा—

उपमितिभवप्रपचा कथा भारतीय साहित्यका सस्कृतका एक निशाल रूपक ग्रंथ (allegory) माना जाता है । यह ग्रंथ साहित्यकी दृष्टिसे बहुत उच्च कोटिका है । इस ग्रंथके बनानेवाले सिद्धर्षि नामके एक प्रतिष्ठित जेनाचार्य हो गये हैं । सिद्धर्षि हरिभद्रसूरिकी बहुत पूज्यमानसे स्तुति करते हैं । ये हरिभद्रसूरि सिद्धर्षिकी धर्मबोधके देनेवाले थे । सिद्धर्षि प्राकृत और सस्कृतके बहुत अच्छे विद्वान् थे । उन्होंने उपदेशमाला आदि प्राकृतके ग्रंथोंपर सस्कृत टाकायें लिखी हैं । इन्होंने सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतारपर भी टीका लिखी है । सिद्धर्षिका विस्तृत वर्णन प्रभावकचरितमें आता है । उपमितिभवप्रपचा कथाको सिद्धर्षिने स० ९६२ में समाप्त किया था । इस ग्रंथके अनुवाद करनेके लिये राजचन्द्रजीने किसी मुमुक्षुको लिखा था ।

ऋभु—

ऋभु राजाका वर्णन महाभारतमें आता है । “ पुराणमें ऋभु ब्रह्माके पुत्र थे । इन्होंने तपबलसे विशुद्धज्ञान प्राप्त किया था । पुलस्त्यपुत्र निदाघ इनके शिष्य थे । ये अतिशय कार्यकुशल थे । इन्होंने इद्रके रथ और अश्मगणजो शोभित किया था, जिससे सतुष्ट होकर इद्रने इनके माता पिताको पुनः यौवन प्रदान किया ”—हिंदी शब्दसागर । “ ऋभु राजाने कठोर तप करके परमात्माका आराधन किया । परमात्माने उसे देहधारीके रूपमें दर्शन दिये, और वर माँगनेके लिये कहा । इसपर ऋभु राजाने वर माँगा कि हे भगवन् ! आपने जो ऐसी राज्यलक्ष्मी मुझे दी है, वह त्रिलोक भी मैं नहीं चाहता । यदि मेरे ऊपर तेरा अनुग्रह हो तो यह वर दे कि पञ्चनिपयकी साधनरूप इस राज्यलक्ष्मी-ठीक नहीं । यदि मेरे ऊपर तेरा अनुग्रह हो तो यह वर दे कि पञ्चनिपयकी साधनरूप इस राज्यलक्ष्मी-

* इस चिह्नके ग्रंथ अथवा प्रकाशकोंका राजचन्द्रजीने छात्रात् उल्लेख नहीं किया, केवल उनका पद उद्धृत किये हैं । —लेखक

का फिरसे मुझे स्वप्न भी न हो। परमात्मा आश्चर्यचकित होकर 'तथास्तु' कहकर स्वधामको पधार गये।" — 'श्रीमद् राजचन्द्र' पृ. २४४.

ऋषिभद्रपुत्र—

ऋषिभद्रपुत्र आलम्बिका नगरीके रहनेवाले थे। ये श्रमणोपासक थे। इस नगरीमें और भी बहुतसे श्रमणोपासक रहते थे। एक बार उन श्रमणोपासकोंमें देवोंकी स्थितिमन्त्री कुछ चर्चा चली। ऋषिभद्रपुत्रने तन्मन्त्री ठीक ठीक बात श्रमणोपासकोंको कही। परन्तु उसपर अन्य श्रमणोपासकोंने श्रद्धा न की, और उन लोगोंने महावीर भगवान्से उस प्रश्नको फिर जाकर पूछा। भगवान् महावीरने कहा कि जो ऋषिभद्र कहते हैं, वह सत्य है। यह सुनकर वे श्रमणोपासक ऋषिभद्रपुत्रके पास आये, और उन सत्रने अपने दोषोंकी क्षमा माँगी। ये ऋषिभद्रपुत्र मोक्षगामी जीव थे। यह कथन भगवती-सूत्रके ११ वें शतकके १२ वें उद्देशमें आता है।

कपिल (मुनि) (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, मोक्षमाला पाठ ४६-४८)

कपिल (ऋषि)—

कपिल ऋषि सारथ्यमतके आद्यप्रणेता कहे जाते हैं। कपिलको परमार्थ भी कहते हैं। इनके समयके विषयमें विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। कपिल अर्ध-ऐतिहासिक व्यक्ति माने जाते हैं।

कवीर—

कवीर साहबका जन्म सन् १४५५ में हुआ था। ये जुलुहे थे। कहा जाता है कि ये विधवा ब्राह्मणीके गर्भसे उपन्न हुए थे। कवीर स्वामी रामानन्दके शिष्य थे। कवीर बालकपनसे ही बड़े धर्मपरायण थे। वे पढ़े-लिखे तो न थे, परन्तु उन्होंने सत्संग बहुत किया था। उनके हृदयमें हिन्दु-मुसलमान किसीके लिये द्वेषभास न था। आजकल भी हिन्दु मुसलमान दोनों ही कवीरपथके अनुयायी पाये जाते हैं। कवीर साहबने स्वयं कोई पुस्तक नहीं लिखी। वे साखी और भजन बनाकर कहा करते थे, जिन्हें उनके चेले कठस्थ कर लिया करते थे। कवीर मूर्तिपूजाके कट्टर विरोधी थे। कवीर जातिपाँतिका न मानते थे। वे एक पहुँचे हुए ज्ञानी थे। उनकी भाषामें विविध भाषाओंके शब्द मिलते हैं। कवीरकी वाणीमें अगाध ज्ञान और बड़ी शिक्षा भरी हुई है। हिन्दी साहित्यमें कवीर साहबका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। कवीरने सन् १५७५ में देहत्याग किया। कविवर रवीन्द्रनाथ कवीरके बहुत प्रशंसक हैं। इनकी वाणियोंका अप्रेजी और फारसीमें भी अनुवाद हुआ है। कवीरको राजचन्द्रजीने मार्गानुसारी कहा है। वे उनकी भक्तिके विषयमें लिखते हैं—“महात्मा कवीर तथा नरसी मेहताकी भक्ति अनन्य, अलौकिक, अद्भुत और सर्वोत्कृष्ट थी, ऐसा होनेपर भी वह निस्पृह थी। ऐसी दुखी भ्यति होनेपर भी उन्होंने स्वप्नमें भी आजीविकाके लिये—व्यग्रहारके लिये—परमेश्वरके प्रति दीनता प्रकट नहीं की। यद्यपि दीनता प्रकट किये बिना ईश्वरके अनुसार व्यवहार चलता गया है, तथापि उनकी दरिद्रतास्था आजतक जगत्प्रसिद्ध ही है, और यही उनका सख माहात्म्य है। परमात्माने इनका 'परचा' पूरा किया है, और इन भक्तोंकी इच्छाके विरुद्ध जाकर किया है। क्योंकि वैसी भक्तोंकी इच्छा नहीं होती, और यदि ऐसी इच्छा हो तो उन्हें भक्तिके रहस्यकी प्राप्ति भी न हो।”

कर्कटी राक्षसी—

कर्कटी राक्षसी हिमालय पर्वतके शिखरपर रहा करती थी। एक बार उसकी इच्छा हुई कि मैं जम्बूद्वीपके सपूर्ण जीवोंका भक्षण करके तृप्त होऊँ। यह विचार कर वह पर्वतकी गुफामें एक टाँगसे खड़ी हो, मुजाओंको ऊँचा कर, आँवोंको आकाशकी ओर स्थिर कर तप करने लगी। इस दशामें उसे हजार वर्ष बीत गये। तब वहाँ ब्रह्माजी आये और उन्होंने उससे वर माँगनेको कहा। राक्षसीने कहा कि मैं चाहती हूँ कि मैं लोहेकी तरह यज्ञमृचिका होऊँ, और जीवोंके दृश्यमें प्रवेश कर सकूँ। ब्रह्माजीने यह वरदान स्वीकार किया, और कहा कि व दुराचारियोंके दृश्यमें तो प्रवेश कर सकूगी, पर गुणवानोंके दृश्यमें तेरा प्रवेश न होगा। तदनुसार कर्कटीका शरीर सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने लगा। इस प्रकार यह राक्षसी कितने ही वर्षोंतक प्राणीग्रह करती रही। परन्तु इसमें राक्षसीको बहुत दुःख हुआ, और यह अपने पूर्व शरीरके लिये बहुत बहुत पश्चात्ताप करने लगी। उसने फिरसे तप करना आरम्भ किया, और उमें फिर हजार वर्ष घोर तप करते हुए हो गये। इससे सात लोक तन्नायमान हुए। इसपर ब्रह्माजीने फिर कर्कटीको दर्शन दिये, और वर माँगनेको कहा। कर्कटीने उत्तर दिया, 'अब मुझे किसी भी वस्त्रीकामना नहीं, अब मैं निःशिल्प शक्तिमें स्थित हो गई हूँ।' इसपर ब्रह्माजीने उसे राक्षसीके शरीरमें ही जीवमुक्त होकर विचरनेका वरदान दिया, और कहा कि व पापी जीवोंका भक्षण करती हुई विचर, और फिरसे पूर्व शरीरको प्राप्त कर। कुछ समय बाद कर्कटी हिमालयपरसे उतर कर किरातदेशमें पहुँची, और उसने वहाँ किरातदेशके राजाको अपने मंत्री और वीरोंके साथ यात्राके लिये जाते हुए देखा। उसने सोचा कि ऐसे मूढ अज्ञानियोंको भक्षण नर जाना ही ठीक है, क्योंकि इससे लोककी रक्षा होती है। वस राक्षसी उन्हें देख गर्जना करने लगी, और उसने उन्हें अपना भोज्य प्रदानके लिये लटकारा। इसके बाद किरातदेशके राजा-मंत्री और राक्षसीके बहुतेसे प्रभोत्तर हुए। राक्षसी परम शात हो गई, और उसने जीव-व्यवका त्याग किया। यह वर्णन योगवासिष्ठके उत्पत्तिप्रकरणके ६८ और ७७-८३ सर्गमें आता है।

कर्मप्रन्थ—

जो महत्त्व दिगम्बर सम्प्रदायमें गोमन्टसार आदि सिद्धांतप्रयोगोंका है, वही महत्त्व श्रेताम्बर आम्नायमें कर्मप्रन्थका है। इस प्रन्थके कर्मत्रिपाक, कर्मस्तन, वधस्वामित्व, पडशीतिक, शतक और सप्ततिका ये छह प्रकरण हैं। ये क्रमसे पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवा और छठा कर्मप्रन्थके नामसे प्रसिद्ध है। कर्मप्रन्थके कर्ता श्रेताम्बर विद्वान् देवेन्द्रसूरि हैं। इनका जन्म लगभग स० १२७५ में हुआ था। देवेन्द्रसूरि जैनगामके प्रखरवेत्ता और सस्कृत प्राकृतके असाधारण पंडित थे। इनके गुरुका नाम जगद्धन्द्रसूरि था। इन्होंने श्राद्धदिनवृत्त्यसूत्रवृत्ति, सिद्धपचाशिकासूत्रवृत्ति, सुदर्शनचरित्र आदि अनेक प्रयोगोंकी रचना की है। राजचन्द्रजीने पत्राक ४१७ में 'मूलपद्धति कर्मप्रन्थ' के पदनेके लिये किसी मुमुक्षुको अनुपरोध किया है। माध्यम होता है इससे उनका तात्पर्य मूल कर्मप्रन्थमें ही है। राजचन्द्रजीने अनेक स्थलोंपर कर्मप्रन्थके पठन-मनन करनेका उल्लेख किया है।

+ श्रीयुत दलसुखमाई मालवणीया इस विषयमें पत्रसे सूचित करते हुए लिखते हैं—“मूलपद्धति प्रन्थ तो मुनेमें नहीं आया। मूल कर्मप्रन्थका ही मतलब होना चाहिये। स्थानकवासी सम्प्रदायमें कर्मा 'भोक्ता'से प्राप्त करनेका रिवाज है। अतः उन्होंने (राजचन्द्रजीने) मूल कर्मप्रन्थ पढ़नेको लिखा होगा।

ऊपर कई दिगम्बर विद्वानोंकी टीकायें हैं। नेमिचन्द्रका समय ईसाकी ११ वीं शताब्दि माना जाता है। राजचन्द्रजीने गोम्मटसारके पठन करनेका मुमुक्षुओंको अनुरोध किया है।

गोशाल—

जैनशास्त्रोंके अनुसार मखलिपुत्र गोशाल महावीर भगवान्के शिष्य थे। किसी बातको लेकर गोशाल और महावीरमें मतभेद हो गया। गोशालने महावीरके सघको छोड़ दिया और उन्होंने अपना निजी सघ स्थापित किया। गोशाल अपनेको 'जिन' कहा करते थे। एक बार महावीरके किसी शिष्यने महावीर भगवान्से कहा कि गोशाल अपनेको जिन कहते हैं। महावीरने कहा गोशाल जिन नहीं है। जब इस बातकी गोशालको खबर लगी तब वे बहुत क्रोधित हुए, और उन्होंने महावीरको अत्यन्त आमोशपूर्ण वचन कहे। सर्नातुभूति और सुनक्षत्र नामके मुनियोंने गोशालको बहुत समझाया, पर उन्होंने उन दोनोंको अपनी तेजोलेइयासे जला डाला। गोशालने भगवान् महावीरके ऊपर भी अपनी तेजोलेइयाका प्रयोग किया था। गोशालका विस्तृत वर्णन भगवतीके १५ वें शतकके १५ वें उद्देशमें दिया है।

गौतम (ऋषि)—

गौतम ऋषि न्यायदर्शनके आद्यप्रणेता माने जाते हैं। न्यायसूत्र इन्हींके बनाये हुए हैं। न्यायसूत्रोंकी रचनाकालके विषयमें विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। कुछ लोग इन्हें ईसवी सन्के पूर्वकी रचना मानते हैं, और कुछ लोग न्यायसूत्रोंको ईसवी सन्के बादका लिखा हुआ मानते हैं।

गौतम गणधर—गौतम इन्द्रभूति महावीरके ११ शिष्योंमेंसे मुख्य शिष्य थे। ये आदिमें ब्राह्मण थे। इनमें गौतम इन्द्रभूति और सुधर्माको छोड़कर बाकीके गणधरोंने महावीर भगवान्की मौजूदगीमें ही निर्वाण पाया था। जैनशास्त्रोंमें गौतम गणधरका नाम जगह जगह आता है। गौतम गणधरके शिष्योंको केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गई थी, परन्तु स्वयं गौतमको, भगवान् महावीरके ऊपर मोह रहनेके कारण केवलज्ञान नहीं हुआ—यह कथन मोक्षमालामें आता है।

चारित्रसागर—

यह कोई पदवद्ध ग्रन्थ मालूम होता है। इसका उल्लेख पत्राक ४३४ में है।

चिदानन्द—

चिदानन्दजीका पूर्व नाम कर्पूरविजय था। ये सवेगी साधु थे। इनके विषयमें बहुतसी किन्दन्तियाँ सुनी जाती हैं। चिदानन्दजी कोई बड़े विद्वान् भाषाशास्त्री न थे, किन्तु ये एक आत्मानुभवी अत्यात्मी पुरुष थे। चिदानन्दजीने मिश्र हिन्दी भाषामें अद्यात्मकृतियाँ बनाई हैं। चिदानन्दजीने स्वरोदयज्ञानकी भी रचना की है। इसकी भाषा हिन्दीमिश्रित गुजराती है। इस ग्रन्थमें छद्मकी कोई विशेष टीपटाप नहीं है। शरीरमें जो पाँच तरहकी पत्रन होती है, यह पवन किस तरह, कब निकलती है, और किसके कहाँसे निकलनेसे क्या फल होता है, इत्यादि स्वरसनधी बातोंका स्वरोदयज्ञानमें वर्णन है। श्रीमद् राजचन्द्रने स्वरोदयज्ञानका विवेचन लिखना आरभ किया था। उसका जो भाग मिलता है यह प्रस्तुत ग्रन्थमें अंक ९ के नीचे दिया गया है। सुनते हैं कि चिदानन्दजी

सन् १९०५ तक मौजूद थे । उनकी रचना अनुभवपूर्ण और मार्मिक है । राजचन्द्रजी चिदानन्दजीके सवधमें लिखते हैं—“ उनके जैनमुनि हो जानेके बाद अपनी परम निर्विकल्प दशा हो जानेसे उन्हें जान पड़ा कि वे अब क्रमपूर्वक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे यम नियमोंका पालन न कर सकेंगे । तत्त्वज्ञानियोंकी मान्यता है कि जिस पदार्थकी प्राप्ति होनेके लिये यम नियमका क्रमपूर्वक पालन किया जाता है, उस वस्तुकी प्राप्ति होनेके बाद फिर उस श्रेणीसे प्रवृत्ति करना अथवा न करना दोनों समान हैं । जिसको निरर्थक प्रवचनमें अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि माना है, उसमें की सर्वोत्तम जातिके लिये कुछ भी नहीं कहा जा सकता । परन्तु केवल उनके वचनोंका मेरे अनुभव-ज्ञानके कारण परिचय होनेसे ऐसा कहा जा सका है कि वे प्रायः मध्यम अप्रमत्त दशामें थे । फिर उस दशामें यम-नियमका पालन करना गौणतासे आ जाता है । इसलिये अधिक आत्मानन्दके लिये उन्होंने यह दशा स्वीकार की । इस समयमें ऐसी दशाको पहुँचे हुए बहुत ही थोड़े मनुष्योंका मिलना भी बड़ा कठिन है । इस अवस्थामें अप्रमत्तताविषयक बातकी असभावना आसानीसे हो जायगी, ऐसा मानकर उन्होंने अपने जीवनको अनियतपनेसे ओर गुप्तरूपसे विताया । यदि वे ऐसी ही दशामें रहे होते तो बहुतसे मनुष्य उनके मुनिपनेकी शिथिलता समझते और ऐसा समझनेसे उनपर ऐसे पुरुषकी उलटी ही छाप पड़ती । ऐसा हार्दिक निर्णय होनेसे उन्होंने इस दशाको स्वीकार की । ”

चेलातीपुत्र—

चेलातीपुत्रका जीव पूर्वभवमें यज्ञदेव नामका ब्राह्मण था । वह चारित्रिकी लुगुप्साके कारण राजगृहमें धनाग्रह सेठकी चिलाती नामकी दासाके यहाँ पैदा हुआ, और उसका नाम चिलातीपुत्र (चेलातीपुत्र) पड़ा । चेलातीपुत्रकी पूर्वभवकी खीने भी धनाग्रह सेठके घर उसकी कन्यारूपसे जन्म लिया । चेलातीपुत्र सेठकी कन्याको बहुत प्यार करता था । एक दिन सेठने चेलातीपुत्रको अपनी लड़कीके साथ कायसे कुचेष्टा करते देख उसे वहाँसे निकाल दिया । वह दासीपुत्र चौरोंकी मडलीमें जा मिला, ओर चौरोंका अधिपति बनकर रहने लगा । एक दिन बट अपने साथी चौरोंके साथ धनाग्रह सेठके घर आया । चोर बहुतसा धन और सेठकी कन्याको लेकर चलते सेठ और उसके कर्मचारियोंने चौरोंका पीठा किया । चेलातीपुत्र सेठकी कन्याका सिर काटकर उस सिरको लेकर भाग गया । उसने आगे जाकर एक मुनिको देखा और मुनिसे उपदेश माँगा । मुनिने निचार किया कि यद्यपि यह जीव पापिष्ठ है फिर भी यह उपदेश तो ले सकता है । यह कहकर मुनिने कहा—“ तुझे उपशम, धिनेक ओर सन्न करने चाहिये । ” यह सुनकर चेलातीपुत्रको बोध पैदा हुआ, और वह वहीं कायोत्सर्गमें स्थित हो गया । चेलातीपुत्रने अर्धदिन कठोर तप किया और यह भरकर देवलोकमें गया । यह कथा उपदेशमाला आदि जैन कथाग्रथोंमें आती है ।

छोटम—

छोटम ज्ञानी पुरुष थे । ये गुजरातके एक भक्त कवि माने जाते हैं । इनका जन्म पेटलदके पास सोजिना ग्रामके नजदीक स० १८६८ में हुआ था । छोटम बहुत सरल और शान्त प्रकृतिके मान अथवा लोभकी आकांक्षा तो इन्हें थी ही नहीं । इन्होंने लोकप्रसिद्धिमें आनेकी कमी

नहीं की। छोटम बहुत कम बोलते, और कम आहार करते थे। छोटम बाल-ब्रह्मचारी थे। इन्होंने अपना समस्त जीवन अध्यात्ममें ही व्यतीत किया था। छोटमने ब्रजलालजी नामके साधुको अपना गुरु बनाया था। छोटमने अनेक प्रथोक्ती रचना की है। इनमें प्रश्नोत्तररत्नमाला, धर्मभक्तिआर्याण, बोधचिंतामणि, हसउपनिषद्सार, वेदान्तविचार आदि मुख्य हैं। छोटम ७३ वर्षकी अवस्थामें समाधिस्थ हुए।

जड़भरत—

एक समय राजा भरत नदीके किनारे बैठे हुए ओंकारका जाप कर रहे थे। वहाँ एक गर्भिणी हरिणी पानी पीनेके लिये आई। इतनेमें वहाँ सिंहके गर्जनका शब्द सुनाई पड़ा, और हरिणीने डरके मारे नदीको फाँद जाने प्रयत्न किया। फल यह हुआ कि उसका गर्भ नदीमें गिर पड़ा, आर वह नदीके उस पार पहुँचते ही मर गई। राजर्षि भरत नदी किनारे बैठे बैठे यह घटना देख रहे थे। भरतजीका हृदय दयासे व्याकुल हो उठा। वे उठे और मृगशायकको नदीके प्रवाहमेंसे निकाल कर अपने आश्रमको ले गये। वे नित्यप्रति उस बच्चेकी सेवा-सुश्रुषा करने लगे। कुछ समय बाद भरतजीको उस हरिणके प्रति अत्यन्त मोह हो गया। एक दिन वह मृग उनके पाससे कहीं भाग गया और अपने झुण्डमें जा मिला। इसपर भरतजीको अत्यन्त शोक हुआ, और वे ईश्वराराधनासे भ्रष्ट हो गये। इस अत्यन्त मृगनासनाके कारण भरतजीको दूसरे जन्ममें मृगका शरीर धारण करना पड़ा। भरतजीको मृगजन्ममें अपने किये हुए कर्मपर बहुत पश्चात्ताप हुआ, और वे बहुत असगभानसे रहने लगे। तत्पश्चात् राजर्षि भरत मृगके शरीरको त्यागकर ब्राह्मणके घर उत्पन्न हुए। भरतजीका यह अन्तिम शरीर था, और इस शरीरको छोड़नेके बाद वे मुक्त हो गये। भरतजी अपने पहिले भर्तोंको भूले न थे, इसलिये वे असगभानसे हरिभक्तिपूर्वक अपना जीवन विताते थे। साधारण लोग भरतजीको जड़, गूँगा या बधिर समझकर उनसे बेगार बगैरह कराते थे, और उसके बदले उन्हें रूखा सूखा अन्न दे देते थे। यह जड़भरतका वर्णन भागवतके आठवें-नवमें अध्यायमें आता है। “मुझे जड़भरत और विदेही जनककी दशा प्राप्त होओ”—‘श्रीमद् राजचन्द्र’ पृ १२४

जनक—

जनक इक्ष्वाकुवंशज राजा निमिके पुत्र थे। वे मिथिलाके राजा थे। राजा जनक अपने समयके एक बड़े योगी थे, और वे सप्तरमें जलकमलकी तरह निर्लिप्त रहते थे। जनक ‘राजर्षि’ और ‘विदेह’ नामसे भी कहे जाते थे। जनक केवल योगी ही नहीं, परन्तु परमज्ञानी और भगवान्के भक्त भी थे। ऋषि याज्ञल्क्य इनके पुरोहित तथा भत्री थे। तथा शुकदेव आदि अनेक ऋषियोंने जनकजीसे ही उपदेश लिया था। गीतामें भी जनकके निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा की गई है। जनकजीकी पुत्री सीताका विवाह रामचन्द्रजीमें हुआ था। जनकका वर्णन भागवत, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थोंमें मिलता है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति श्वेताम्बर साहित्यके १२ उपागोंमेंसे छठा उपाग माना जाता है। इसमें जम्बूद्वीपका विस्तारसे वर्णन किया गया है। यह जैन भूगोलविषयक ग्रन्थ है। इसमें राजा भरतकी कथा

विस्तारसे आती है। इसपर जैन आचार्योंने अनेक टीका टिप्पणियाँ लिखी हैं। इस प्रथमे इस कालमे मोक्ष न होनेका उल्लेख आता है।

जम्बूस्वामी—

जम्बूस्वामी दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें अन्तिम केजली हो गये हैं। महावीर स्वामीके निर्माणके पश्चात् गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी इन तीन केजलियोंका होना दोनों ही सम्प्रदायोंको मान्य है। इसके बाद ही दोनों सम्प्रदायोंकी परम्परामें भेद दृष्टिगोचर होता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों विद्वानोंने सस्कृत, गुजराती और हिन्दीमें जम्बूस्वामीके अनेक चरित रास आदि लिखे हैं। श्वेताम्बर विद्वानोंमे हेमचन्द्रसूरि और जयशेखरसूरि, और दिगम्बरोंमें उत्तरपुराणके कर्त्ता गुणमद्रसूरि और पंडित राजमल्ल आदिका नाम विशेष उल्लेखनीय है। ५० राजमल्लका जम्बूस्वामी-चरित अभी हालमें इस लेखकद्वारा संपादित होकर माणिकचन्द्र जैनप्रथमाला बम्बईकी ओरसे प्रकाशित हुआ है।

ठाणांग (आगमग्रन्थ)—इसका राजचन्द्रजीने अनेक स्थलोंपर उल्लेख किया है।

दंडसाँ गाथाका स्तवन (देवो यशोविजय)

तत्त्वार्थसूत्र—

तत्त्वार्थसूत्रमें जैनधर्मके सिद्धांतोंको सूत्रोंमें लिखा गया है। अपने ढगकी जैनसाहित्यमें यह प्रथम ही रचना उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थके कर्त्ता उमास्वाति हैं, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंद्वारा पूज्य माने जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्रका भी दोनों सम्प्रदायोंमें समान आदर है, और दोनों ही आम्नायोंके विद्वान् इस सारगर्भित ग्रन्थकी टीका टिप्पणियाँ लिखनेमें प्रेरित हुए हैं। श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्रके ऊपर स्वयं भाष्यकी भी रचना की है, जिसे दिगम्बर विद्वान् नहीं मानते। श्वेताम्बरोंके अनुसार उमास्वाति प्रशमरति श्रावकप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थोंके भी कर्त्ता कहे जाते हैं। उमास्वाति वाचकमुख्यके नामसे कहे जाते हैं। दिगम्बर साहित्यमें इनका नाम उमास्वामि भी आता है, और ये कुन्दकुन्द आचार्यके शिष्य अथवा वंशज माने जाते हैं। इनका समय ईसवी सन् प्रथम शताब्दि माना जाता है। तत्त्वार्थसूत्रके मगलचरणका राजचन्द्रजीने निवेचन किया है।

थियोसफी—

थियोसफीधर्मकी मूलप्रवर्तक मैडम ब्लेपेट्स्कीका जन्म सन् १८३१ में अमेरिकामें हुआ था। इनका निवाह १७ वर्षकी अवस्थामें अमेरिकाके एक गवर्नरके साथ हुआ। बादमें चलकर ब्लेपेट्स्कीने इस सन्तका विच्छेद कर लिया, और देशाटनके निचारेसे वे हिंदुस्तान आईं। इन्होंने तिब्बत रूस आदि देशोंमें भी भ्रमण किया। ब्लेपेट्स्कीने कर्नेल आलकट साहबकी मददसे सन् १८७४ में थियोसफिकल सोसायटीकी स्थापना की। ये सन् १८७९ में फिर हिंदुस्तान आईं, और बड़े बड़े शहरोंमें जाकर अपने सिद्धांतोंका प्रचार करने लगीं। थियोसफीधर्म सब करता है, और प्रत्येक धर्मके महान् पुरुषोंको पूज्यदृष्टिसे देखता है। हिन्दु,

आदि सभी लोग इस वर्गके अनुयायी हैं। ब्लैरेट्स्कीके बाद श्रीमती एनीविसेन्टने इस सोसायटीकी उन्नतिके लिये बहुत उद्योग किया। थियोसफिका गीताका गुजराती प्रिन्चन थियोसफिकल सोसायटी बम्बईसे सन् १८९९ में प्रकाशित हुआ है।

दशवैकालिक (आगमग्रन्थ)—

दशवैकालिककी कुछ गाथाओंका राजचन्द्रजीने अनुवाद किया है, जो अक ३४ में छपा है।

दयानन्द—

स्वामी दयानन्दका जन्म स० १८८१ में मोरवी राज्यके अन्तर्गत टकारा गाँवके एक धनी घरानेमें हुआ था। स्वामी दयानन्दके पिता एक कष्टर ब्राह्मण थे। दयानन्द स्वामी आरभसे ही स्वतंत्र बुद्धिके थे, और भिष्या व्रत आदिका विरोध किया करते थे। जब स्वामीजी बाईस वर्षके हुए तो उनके विनाहके बातचीत हुई। विनाहकी सत्र तैय्यारियों भी हो गई, पर दयानन्द इस समाचारको सुनते ही कहीं भाग गये, और गेरवे रगके मल्ल पहिनकर रहने लगे। दयानन्दजीको सद्गुरुकी तालाशमें इधर उधर बहुत भटकनेके पश्चात् पजाबमें स्वामी प्रियानन्दजीके दर्शन हुए। दयानन्दने अपने गुरुके पास अर्द्धाई बरस रहकर सस्कृत और वेदोंका खूब अभ्यास किया। विद्याध्ययनके पश्चात् स्वामी दयानन्दने वैदिकधर्मका दूर दूर प्रचार किया। काशीमें आकर इन्होंने वैदिक पंडितोंसे भी शास्त्रार्थ किया। स्वामीजीकी प्रतिभा और असाधारण बुद्धिकौशल देखकर बहुतसे लोग उनके अनुयायी होने लगे। स्वामी दयानन्दने स० १९३२ में बम्बईमें आर्यसमाजकी स्थापना की। स्वामीजी ने उदयपुर, इन्दौर, शाहपुरा आदि रियासतोंमें भी प्रचारके लिये भ्रमण किया। अन्तमें वे जोधपुरके महाराणाके यहाँ रहने लगे। वहाँ कुछ लोग उनके बहुत विरोधी हो गये, और उनके रसोइयेसे उन्हें निप दिखानाकर मरवा डाला। स्वामीजीने सन् १९४० में दिवालीके दिन देहत्याग किया। इनके बाद स्वामी श्रद्धानन्द लाला लाजपतराय आदिने आर्यसमाजका काम किया। स्वामी दयानन्दने हिन्दीमें सत्यार्थप्रकाश नामक पुस्तक लिखी है, जिसमें सत्र धर्मोंकी कड़ी समालोचना की गई है।

***दयाराम—**

कवि दयारामका जन्म सन् १७७७ में हुआ था। उन्हें देवनागरी लिपिके अतिरिक्त अन्य कोई लिपि न आती थी। इन्होंने गुजराती, हिन्दी, पंजाबी, मराठी, सस्कृत और फारसी भाषाओंमें कवितायें की हैं। उनके एक शिष्यके कथनानुसार दयारामने सत्र मिलाकर १३५ ग्रन्थोंकी रचना की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने बहुतसे पद लावनी वगैरह भी लिखे हैं। दयाराम कृष्णके बहुत भक्त थे, और इन्होंने कृष्णलीलाके बहुतसे रसिक पद वगैरह लिखे हैं। दयारामने गोकुल, मथुरा, काशी, बुदानन, श्रीनाथजी आदि सत्र धर्मोंकी सात बरस भ्रमण यात्रा की थी। इनके शिष्य दयारामको नरसिंह मेहताका अवतार मानते थे। इनका मरण सन् १८५२ में हुआ। राजचन्द्रजीने इनके पद उद्धृत किये हैं।

दासप्रोध (देवो रामदास)

देवचन्द्रजी—

देवचन्द्रजीका जन्म मारवाड़में सन् १७४६ में

आम्नायमें

एक बहुत अच्छे अध्यात्मवेत्ता कवि हो गये हैं। इन्होंने श्वेताम्बर साहित्यके विशाल अध्ययनके साथ साथ गोम्मतसार आदि दिग्म्बर ग्रन्थोंका भी अच्छा अभ्यास किया था। देवचन्द्रजीने संस्कृत, प्राकृत, ब्रज और गुजराती भाषामें अनेक कृतियां बनाई हैं। इन्होंने दस वर्षकी अवस्थामें दीक्षा ले ली थी, और जीवनपर्यंत ब्रह्मचारी रहकर साहित्य सेवा की। देवचन्द्रजीकी रचनाओंमें द्रव्यप्रकाश, नयचक्र, ज्ञानमञ्जरीटीका, विचाररत्नसार, अध्यात्मगीता, चतुर्विंशतिजिनस्तनन आदि ग्रन्थ मुख्य हैं। राजचन्द्रजीने अध्यात्मगीता और चतुर्विंशतिजिनस्तननके पद्य उद्धृत किये हैं।

देवचन्द्रमूरि (देखो हेमचन्द्र)

देवागमस्तोत्र (देखो समतभद्र)

दृढमहारी (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, भावनात्रोध पृ ११९-२०)

धनाभद्र-शालिभद्र—

धनाभद्र शालिभद्रकी कथा श्वेताम्बर साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध है। यह कथा सूत्रग्रन्थोंमें भी आती है। स० १८३३ में जिनकीर्तिसूरिने संस्कृत धन्यचरित्रमें यह कथा विस्तारसे दी है। इस संस्कृतचरित्रके ऊपरसे ५० जिनविजय महाराजने सूरतमें रहकर धनाशालिभद्रका रास लिखा है। यह रास चार ढालमें है। चौथी ढालमें धनाभद्र और शालिभद्रके समय ग्रहण करनेका उल्लेख है। धनाभद्र और शालिभद्र मोक्षगामी जीव थे। उक्त रासको भौमसिंह माणेकने सन् १९०७ में प्रकाशित किया है।

*धरमशी (धरमसिंह) मुनि—

धरमशी मुनिका जन्म जामनगरमें हुआ था। इनके गुरुका नाम शिवजी ऋषि था। ये लोंका-गच्छका शिथिलाचार देखकर उससे अलग हो गये थे, और सन् १६८५ में उन्होंने दरियापुरी-सम्प्रदायकी स्थापना की थी। ये अज्ञान भी करते थे। धरमशी मुनिने २७ सूत्रोंपर 'ट्वा' की रचना की है। इन्होंने और भी ग्रन्थ लिखे हैं। इनका विशेष परिचय "जेनधर्मनो प्राचीन सक्षिप्त इतिहास" पुस्तकमें है। यह पुस्तक स्थानकनासी जैन कार्यालय अहमदाबादसे प्रकाशित हुई है।

धर्मचिन्दु (देखो हरिभद्र)

धर्मसग्रहणी (देखो हरिभद्र)

नदिसूत्र (आगमग्रन्थ)—इसका राजचन्द्रजीने एक स्थलपर कवितामें उल्लेख किया है।

नमिराजर्षि (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, भावनात्रोध पृ १०३-६)

नरसिंह (सी) मेहता—

नरसिंह मेहता गुजरातके उच्च कोटिके भक्त कवि माने जाते हैं। इनका जन्म जूनागढ़में हुआ था। इनका जन्मकाल सन् १५५० से १६५० के भीतर माना जाता है। इनकी हारलीला, सुरतसंग्राम, रासलीला आदि रचनायें गुजराती साहित्यमें बहुत प्रसिद्ध हैं। नरसिंह मेहता कृष्णके अत्यंत भक्त थे। उनकी कविता सरल, कोमल और भक्तिभावसे परिपूर्ण है। लोकनार्त्ता हैं कि नरसिंह मेहताको प्रभु

* यह सूचना मुझे मेरे मित्र श्रीयुक्त दलपुलभाई मालवणीयाने दी है। —लेखक

प्रत्यक्ष दर्शन दिया करते थे, तथा सफ़ूतके समय स्वयं कृष्ण भगवान्‌ने इनकी हुडी चुकाई थी। कहा जाता है कि नरसिंह मेहताने सत्र मिलाकर सत्र लाख पद बनाये हैं। नरसी मेहता और कवीरकी निस्पृह भक्तिका राजचन्द्रजीने बहुत गुणगान किया है।

नवतत्त्व—

नवतत्त्वप्रकरणका श्वेताम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्रचार है। इसमें चौदह गाथाओंमें नव तत्त्वोंके स्वरूपका प्रतिपादन किया है। नवतत्त्वके कर्ता देवगुताचार्य हैं। इन्होंने सन् १०७३ में नवतत्त्व-प्रकरणकी रचना की है। नवतत्त्वप्रकरणके ऊपर अभयदेवसूरिने भाष्य लिखा है। इसपर और भी अनेक टीका टिप्पणियाँ हैं।

नारदजी (देखो नारदभक्तिसूत्र) .

नारद (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, मोक्षमाला पाठ २३)

नारदभक्तिसूत्र—

नारदभक्तिसूत्र महर्षि नारदजीकी रचना है। इस ग्रंथमें ८४ सूत्र हैं। ग्रंथकारने इसमें भक्तिकी सर्वोत्कृष्टताका प्रतिपादन किया है, और उसके लिये कुमार, वेदव्यास, शुकदेव आदि भक्ति-आचार्योंकी साक्षी दी है। ग्रंथकारने बताया है कि भक्तोंमें जाति कुल आदिना कोई भेद नहीं होता, और भक्ति गूंगेकी स्वादकी तरह अनिर्वचनीय होती है। इसमें ब्रजगोपियोंकी भक्तिकी प्रशंसा की गई है। भक्त लोग पंडूदर्शनोंकी तरह भक्तिको सातों दर्शन मानते हैं। उक्त पुस्तक हनुमानप्रसाद पोद्दारके त्रिनेचनसहित गीता प्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित हुई है। नारदजीने नारदगीता नारदस्मृति आदि अन्य भी ग्रंथ लिखे हैं।

***निष्कुलानन्द—**

निष्कुलानन्दजी स्वामीनारायण सम्प्रदायके माधु थे। इनके गुजराती भाषामें बहुतसे काव्य हैं। ये काठियावाड़में रहते थे, और स० १८७७ में मौजूद थे। निष्कुलानन्दजीके पूर्व आश्रमका नाम लालजी था। इनकी कविताका मुख्य अंग वैराग्य है। इन्होंने भक्तचिन्तामणि, उपदेशचिन्तामणि, धीरजाल्यान, निष्कुलानन्द काव्य तथा अन्य अनेक पदोंकी रचना की है। राजचन्द्रजीने निष्कुलानन्दके वीरजारयानमें से पद उद्धृत किये हैं।

नीरांत—

नीरांत भक्त जातिसे पाटीदार थे। इनका मरण सन् १८४३ में बहुत वृद्धानस्थामें हुआ था। इनकी कविता वेदातज्ञान और कृष्णभक्तिके ऊपर है। ये तुलसी लेकर हर पूर्णिमाको डानोर जाया करते थे। कहते हैं एक बार इन्हें रास्तेमें कोई मुसलमान मिला, और उसने कहा कि 'ईदर तो तेरे नजदीक है, व हाथमें तुलसी लेकर उसे क्या डूँदता फिरता है।' इसपर नीरांतको ज्ञान उत्पन्न हुआ, और उन्होंने मुसलमान गुरुको प्रणाम किया। उसके बाद उनका वेदांतकी ओर अधिक झुकाव हुआ, और उनका आत्मज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता गया। राजचन्द्रजीने इनको योगी (परम योग्यतावाला) कहा है।

नेपोलियन—

नेपोलियनका जन्म १५ अगस्त सन् १७६९ में कासिका द्वापमें हुआ था। इन्होंने १६ वर्षकी अवस्थामें लेफिटेनेटका पद प्राप्त किया। नेपोलियनने रुम, आस्ट्रिया और इंग्लैंडके साथ बहुत समयतक अपने देश फ्रांसकी रक्षाके लिये युद्ध किया, और विजयी होकर अपनी असाधारण प्रतिभा और धैर्यताकी समस्त विश्वके ऊपर छाप मारी। नेपोलियन असाधारण वार था, उसमें साइस तो कूट कूट कर भरा हुआ था। वह कहा करता था कि कोपमेंसे 'असमन' शब्दको ही निकाल डालना चाहिये, क्योंकि उद्यमके सामने कोई भी काम कठिन नहीं। परन्तु मनुष्यकी दशा सदा एकही नहीं रहती। सन् १८१४ में इंग्लैंड, रूस और आस्ट्रियाकी सगठित सेनाके सामने इसे हार माननी पड़ी, और इसे एन्वामें जाकर रहनेकी आज्ञा हुई। नेपोलियन कुछ महीने एन्वामें रहा। बादमें इसने वहाँसे निकलकर फिर फ्रांसपर अधिकार कर लिया। परिणाम यह हुआ सन् १८१५ में इसे फिर समस्त युरोपके सम्मिलित दलका सामना करना पड़ा। इस समय इसे इसके साथियोंने धोखा दिया। फलतः नेपोलियनकी वाटरलूके युद्धमें हार हुई और सन्नाह् नेपोलियन सदाके लिये सो गया। नेपोलियनने भागकर अग्रेजी झंडेकी शरण ली। यहाँ इसे बंदी कर लिया गया और इसे सेंट हेलेनामें सदाके लिये निर्वासित जीवन व्यतीत करनेकी आज्ञा हुई। यहाँ नेपोलियनने पाँच वर्ष अतीत कष्टप्रद अवस्थामें बिताये। यहाँ उसके साथ अत्यंत अन्याय और नीचतापूर्ण वर्तान किया गया। अन्तमें नेपोलियन धीरे धीरे बहुत निर्मल हो गया, और उस वीरसेनिकने ५ मई सन् १८२१ में अपने प्राणोंका त्याग किया। " यदि व सचामें मस्त हो तो नेपोलियन योनापार्टको दोनों स्थितिसे स्मरण कर "—' श्रीमद् राजचन्द्र ' पृ २

पतञ्जलि—

योगाचार्य पतञ्जलि का रूप और कहाँके रहनेवाले थे, इत्यादि बातोंके सम्बन्धमें कोई निश्चित पता नहीं लगता। पतञ्जलि आधुनिक योगमूर्तोंके व्यवस्थापक माने जाते हैं। कुछ विद्वानोंका मत है कि पाणिनीयव्याकरणके महाभाष्य और चरकसंहिताके रचयिता भी ये ही पतञ्जलि हैं। इन विद्वानोंके मतमें पतञ्जलिका समय इसी सन्के पूर्व १५० वर्ष माना जाता है। पातञ्जलयोगसूत्रोंपर अनेक भाष्य टीकायें आदि हैं। इनके सम्बन्धमें राजचन्द्रजी लिखते हैं—“ पातञ्जलयोगके कर्त्ताको सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ था, परन्तु हरिभद्रसूरिने उन्हें मार्गानुसारी माना है। ”

पद्मनन्दपञ्चविंशतिकार—

इस ग्रन्थके कर्त्ता पद्मनन्दी आचार्य हैं। जैन सम्प्रदायमें पद्मनन्दि नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं। प्रस्तुत पद्मनन्दी दिगम्बर जैन विद्वान् थे। इन्होंने अय ग्रन्थोंकी भी रचना की है। पद्मनन्दि प्राकृतके बहुत पंडित थे। इन्होंने इस ग्रन्थमें वीरनन्दीको नमस्कार किया है। इनके समयका कुछ निश्चित पता नहीं लगता। पद्मनन्दपञ्चविंशति जैन समाजमें बहुत आदरसे पढ़ा - ग्रन्थमें पचीस प्रकरण हैं। वैराग्यका यह अत्युत्तम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थकी एक २५९ टीका भी है। इस ग्रन्थको पठन करनेका राजचन्द्रजीने कई जगह उल्लेख किया है।

प्रत्यक्ष दर्शन दिया करते थे, तथा सकटके समय स्वयं कृष्ण भगवान्‌ने इनकी हुडी चुकाई थी। कहा जाता है कि नरसिंह मेहताने सप्त मिलाकर सप्त लाख पद बनाये हैं। नरसी मेहता और कवीरकी निस्पृह भक्तिका राजचन्द्रजीने बहुत गुणगान किया है।

नवतरव—

नवतरवप्रकरणका श्वेताम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्रचार है। इसमें चौदह गाथाओंमें नव तरवोंके स्वरूपका प्रतिपादन किया है। नवतरवके कर्ता देवगुप्ताचार्य हैं। इन्होंने सन् १०७३ में नवतरव-प्रकरणकी रचना की है। नवतरवप्रकरणके ऊपर अमयदेवसूरिने भाष्य लिखा है। इसपर और भी अनेक टीका टिप्पणियाँ हैं।

नारदजी (देखो नारदभक्तिसूत्र)

नारद (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, मोक्षमाला पाठ २३)

नारदभक्तिसूत्र—

नारदभक्तिसूत्र महर्षि नारदजीकी रचना है। इस ग्रंथमें ८४ सूत्र हैं। ग्रंथकारने इसमें भक्तिकी सर्वोत्कृष्टताका प्रतिपादन किया है, और उसके लिये कुमार, वेदव्यास, शुक्रदेव आदि भक्ति-आचार्योंकी साक्षी दी है। ग्रंथकारने बताया है कि भक्तोंमें जाति कुल आदिका कोई भेद नहीं होता, और भक्ति गैंगेकी स्वादकी तरह अनिर्वचनीय होती है। इसमें ब्रजगोपियोंकी भक्तिकी प्रशंसा की गई है। भक्त लोग पद्दर्शनोंकी तरह भक्तिको सातों दर्शन मानते हैं। उक्त पुस्तक हनुमानप्रसाद पोद्दारके निर-चनसहित गीता प्रेस गोरखपुरसे प्रकाशित हुई है। नारदजीने नारदगीता नारदस्मृति आदि अन्य भी ग्रंथ लिखे हैं।

***निष्कुलानन्द—**

निष्कुलानन्दजी स्वामीनारायण सम्प्रदायके साधु थे। इनके गुजराती भाषामें बहुतसे काव्य हैं। ये ऋषियानाडमें रहते थे, और स० १८७७ में मौजूद थे। निष्कुलानन्दजीके पूर्व आश्रमका नाम लालजी था। इनकी कविताका मुख्य अंग वैराग्य है। इन्होंने भक्तचिन्तामणि, उपदेशचिन्तामणि, धीरजाख्यान, निष्कुलानन्द काव्य तथा अन्य अनेक पदोंकी रचना की है। राजचन्द्रजीने निष्कुलानन्दके वीरजारयानमें से पद उद्धृत किये हैं।

नीरात—

नीरात भक्त जातिसे पाटीदार थे। इनका मरण सन् १८४३ में बहुत वृद्धापस्थामें हुआ था। इनकी कविता वेदान्तज्ञान और कृष्णभक्तिके ऊपर है। ये तुलसी लेकर हर पूर्णिमाको डायोर जाया करते थे। कहते हैं एक बार इन्हें रास्तेमें कोई मुसलमान मिला, और उसने कहा कि 'ईसर तो तेरे नजदीक है, व हाथमें तुलसी लेकर उसे क्या डूँदता फिरता है।' इसपर नीरातको ज्ञान उत्पन्न हुआ, और उन्होंने मुसलमान गुरुको प्रणाम किया। उसके बाद उनका वेदातकी ओर अधिक झुकाव हुआ, और उनका आत्मज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता गया। राजचन्द्रजीने इनको योगी (परम योग्यतावाला) कहा है।

देन च्युत हो जाते हैं'। यह विचार कर पुद्गल त्रिदण्ड, कुडिका और भगने वहाँको धारणकर तापस आश्रममें गया और वहाँ अपने उपकरण रखकर इस बातको सत्रसे कहने लगा। इसपर लोग परस्पर कहने लगे कि यह कैसे समझ हो सकता है ? तत्पश्चात् भिक्षाको जाते समय, गौतमने भी लोगोंके मुँहसे इस बातको सुना। इस बातको गौतमने महावीर भगवान्से पूँछा। बादमें पुद्गल परिव्राजक विभगज्ञानसे रहित हुआ, ओर उसने त्रिदण्ड कुडिका आदिको छोड़कर, जैन प्रव्रज्या ग्रहण कर शासनत सुखको पाया। यह कथा भगवतीके ११ वें शतकके १२ वें उद्देशमें आती है।

पुण्डरीक (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, भावनामोच पृ ११८)

पचास्तिकाय (देखो कुन्दकुन्द)

पचीकरण—

पचीकरण वेदान्तका ग्रन्थ है। इसके कर्ता श्रीरामगुरुका जन्म स० १८४० में दक्षिण हैदराबादमें हुआ था। ये जातिके ब्राह्मण थे, ओर इन्होंने १६ वर्षकी अवस्थामें ब्रह्मचर्य ग्रहण किया था। ये महात्मा जगह जगह भ्रमण करके अद्वैतमार्गका उपदेश देते थे। इनके बहुतसे शिष्य भी थे। इन शिष्योंमें प० जयकृष्णने पचीकरणके ऊपर गुजराती भाषामें निरस्तुत टीका लिखी है, जिसे वेदवर्मसभाने सन् १९०७ में प्रकाशित की है। श्रीरामगुरु सन् १९०६ में वड़ोदेमें समाधिस्थ हुए। इसके अतिरिक्त अखा आदिने भी पचीकरण नामके ग्रन्थ बनाये हैं। जैनेतर ग्रन्थ होनेपर भी वेराग्य ओर उपशमकी वृद्धिके लिये राजचन्द्रजीने कई जगह पचीकरण आदि ग्रन्थोंके मनन करनेका उपदेश किया है।

प्रथो प्रशतक—

प्रथोप्रशतक वेदा तथा ग्रन्थ है। चित्तकी स्थिरताके लिये राजचन्द्रजीने इसे किसी मुमुक्षुके पढ़नेके लिये भेजा था। वे लिखते हैं “ किसीको यह सुनकर हमारे नियममें ऐसा शकाने करनी चाहिये कि इस पुस्तकमें जो कुछ मत बताया गया है, वही हमारा भी मत है। केवल चित्तकी स्थिरताके लिये इस पुस्तकके विचार बहुत उपयोगी हैं। ”

प्रवचनसार (देखो कुन्दकुन्द)

प्रवचनसारोद्धार—

यह ग्रन्थ श्वेताम्बर आचार्य नेमिचन्द्रसूरिका बनाया हुआ है। मूल ग्रन्थ प्राकृतमें है। इस ग्रन्थके विषयके अण्डोलकनसे माद्दम होता है कि नेमिचन्द्र जैनधर्मके एक बड़े अद्वितीय पंडित थे। इस ग्रन्थके ऊपर सिद्धसेनसूरिकी टीका जामनगरसे सन् १९१४ में प्रकाशित हुई है। प्रवचनसारोद्धार प्रकरणरत्नाकरमें भी प्रकाशित हुआ है। इसमें तीसरे भागमें जिनकल्पका वर्णन है।

प्रवीणसागर—

प्रवीणसागरमें विभिन्न विषयोंके ऊपर ८४ लहरे हैं। इनमें नवरस, मृगया, सामुद्रिकचर्चा, कामविहार, सगीतभेद, नायिकाभेद, नाडीभेद, उपाख्यभेद, ऋतुवर्णन, चित्रभेद, काल्यचित्रवध, अष्टाग-योग आदि विषयोंका सुन्दर वर्णन है। इस ग्रन्थको राजकोटके कुनर महारामजीने स १८३८ में

परमात्मप्रकाश—

परमात्मप्रकाश अद्यात्मका अपभ्रंशका एक उच्च कोटिका ग्रंथ है। इसके कर्ता योगीन्द्रदेव (योगान्दु) हैं। परमात्मप्रकाशपर ब्रह्मदेवने सस्कृत टीका लिखी है। योगीन्द्रदेवने अपने शिष्य भद्र प्रभाकरको उपदेश करनेके लिये परमात्मप्रकाश लिखा था। प्रथमें सत्र मिलाकर २१४ दोहे हैं, जिनमें निश्चयनयका बहुत सुन्दर वर्णन है। इस ग्रंथका प्र० ए० एन० उपाध्येने अभी हालमें सम्पादन किया है, जो रायचन्द्रशास्त्रमालासे प्रकाशित हो रहा है। योगीन्द्रदेवकी दूसरी रचना योगसार है। यह भी इस लेखकद्वारा हिन्दी अनुवादसहित रायचन्द्रशास्त्रमालामें प्रकाशित हो रहा है। योगीन्द्रदेवका समय ईसवी सन् छठी शताब्दि माना जाता है। परमात्मप्रकाश दिगम्बर समाजमें बहुत आदरके साथ पढ़ा जाता है।

परदेशी राजा—

परदेशी राजाकी कथा रायपसेणायसूत्रमें आती है। यह राजा बहुत अधर्मी था, और इसके हृदयमें दयाका लक्षण भी न था। एकवार परदेशी राजाके मंत्री सारथीचित्रने श्रान्ती नगरमें केशीस्वामीके दर्शन किये। केशीस्वामीका उपदेश सुनकर सारथीचित्रको अत्यन्त प्रसन्नता हुई, और उन्होंने केशीस्वामीको अपनी नगरमें प्यारनेका आमत्रण दिया। केशीस्वामी उस नगरमें आये। सारथीचित्र परदेशी राजाको अपने साथ लेकर केशीस्वामीके पास गये। परदेशी राजाको केशीश्रमणका उपदेश लगा, और परदेशीने अनेक व्रत आदि धारण कर अपना जन्म सफल किया। परदेशी राजाका गुजरातीमें रास भी है, जिसे भीमसिंह माणेरुने सन् १९०१ में प्रकाशित किया है।

परीक्षित—

राजा परीक्षित अर्जुनके पौत्र और अभिमन्युके पुत्र थे। पाण्डव हिमालय जाते समय परीक्षितको राजभार सौंप गये थे। परीक्षितने भारतवर्षका एकछत्र राज्य किया। अतमें सौंपके डसनेसे इनकी मृत्यु हुई। शुकदेवजीने इन्हें भागवतकी कथा सात दिनमें सुनाई थी। इनकी कथा श्रीमद्भागवतमें विस्तारसे आती है।

पर्वत (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, मोक्षमाला पाठ २३)

पाण्डव—पाँच पाण्डवोंके १३ वर्षकी वनवासकी कथा जैन और जैनेतर ग्रंथोंमें बहुत प्रसिद्ध है। पाण्डवोंका विस्तृत वर्णन महाभारत आदि ग्रंथोंमें विस्तारसे आता है।

पीराणा (देखो प्रस्तुत ग्रंथ पृ ५५० फुटनोट)

पुद्गल परिव्राजक—

आलम्बिका नगरमें पुद्गल नामका एक परिव्राजक रहता था। वह ऋग्वेद, यजुर्वेद और ब्राह्मणशास्त्रोंमें बहुत कुशल था। वह निरंतर छठ-छठका तप करता, ओर ऊँचे हाथ रखकर आतापना लेता था। इससे पुद्गलको निमग्नज्ञान उत्पन्न हुआ। इस निमग्नज्ञानसे उसे ब्रह्मलोक स्वर्गमें रहनेवाले देवोंकी स्थितिका ज्ञान हो गया। उसने विचार किया—‘मुझे अतिशययुक्त ज्ञानदर्शन उत्पन्न हुआ है। देवलोकमें देवोंकी जघन्य स्थिति दस हजार वर्षकी है, और उल्कृष्ट दस सागरकी है। तत्पश्चात्

इन्होंने गोमटसार आदिका अत्रलोकन किया । उपाध्याय यशोविजयजीने अघ्यात्ममतखडनमें तथा उपाध्याय मेघविजयजीने युक्तिप्रबोधनाटकमें बनारसीदासजीके मतको अघ्यात्ममत कहकर इनके मतका खडन किया हे । बनारसीदासने अर्धकथानकमें ६७३ दोहोंमें अपनी आत्मकथा लिखी हे । इनका समयसारनाटक हिन्दी साहित्यका एक अद्वितीय काव्यग्रथ है । समयसारनाटकके अनेक पद्योंको राजचन्द्रजीने जगह जगह उद्धृत किया हे । राजचन्द्रजी बनारसीदासजीको सम्यग्दृष्टि मानते थे । वे बनारसीदासजीके सत्रधमें लिखते हैं—“ उनकी समयसार ग्रथकी रचनाके ऊपरसे मादूम होता हे कि बनारसीदासको कोई उस प्रकारका सयोग बना होगा । मूल समयसारमे वीजज्ञानके निययमें इतनी अविक स्पष्ट वात कही हुई नहीं मादूम होती, और बनारसीदासने तो प्रहुत जगह वस्तुरूपसे ओर उपमा रूपसे यह वात कही हे । जिसके ऊपरसे ऐसा मादूम होता है कि बनारसीदासको, साथमें अपनी आत्माके निययमें जो कुछ अनुभव हुआ हे, उहोंने उसका भी कुछ उस प्रकारसे प्रकाश किया हे, जिससे वह वात किसी विचक्षण जीके अनुभवको आधारभूत हो—उसे विशेष स्थिर करनेवाली हो । ऐसा भी लगता है कि बनारसीदासने लक्षण आदिके भेदसे जीवका विशेष निश्चय किया था, और उस उस लक्षण आदिके सतत मनन होते रहनेसे, उनके अनुभवमें आत्मस्वरूप कुछ तीक्ष्ण-रूपमे आया हे ओर उनको अव्यक्तरूपसे आत्मद्रव्यका भी लक्ष हुआ हे, और उस ‘ अव्यक्तलक्ष’से उहोंने उस वीजज्ञानको गाया हे । ‘अव्यक्तलक्ष’का अर्थ यहाँ यह हे कि चित्तवृत्तिके विशेषरूपसे आत्म विचारमें लगे रहनेसे, बनारसीदासको जिस अशमें परिणामकी निर्मल धारा प्रकट हुई, उस निर्मल धाराके कारण अपना निजका यही द्रव्य हे, ऐसा यद्यपि स्पष्ट जाननेमें नहीं आया, तो भी अस्पष्टरूपसे अर्थात् स्वामाधिकाररूपसे भी उनकी आत्मामें वह ज्ञाया भासमान हुई, और जिसके कारण यह वात उनके मुखसे निकल सकी हे, ओर आगे जाकर वह वात उहें सहज ही एकदम स्पष्ट हो गई हो, प्राय उनकी ऐसी दशा उस ग्रथके लिखते समय रही हे ।”

वाइविल (देखो ईसामसीह)

वाहुयलि (देखो प्रस्तुत ग्रथ, मोक्षमाला पाठ १७)

ब्राह्मी (देखा मोक्षमाला पाठ १७)

बुद्ध—

गौतमबुद्ध कपिलवस्तुमें राजा शुद्धोदनके घर ईसवी सन्से ५५७ वर्ष पूर्व पैदा हुए थे । इन्होंने ससारको असार जानकर त्याग दिया, और वनमें जाकर कठोर तपस्या करने लगे । ऋई वर्षतक इन्होंने घोर तप किया, और जब इहें ‘बोधि’ प्राप्त हो गया, तो ये घूम घूम कर अपने मतव्योंका प्रचार करने लगे । बुद्धदेव अपने उच्च त्यागके लिये प्रहुत प्रसिद्ध हैं । इन्होंने मध्यम-मार्ग चलाया था । बुद्धका कथन था कि न तो हमें एकदम निरासप्रिय ही हो जाना चाहिये, और न कठोर तपश्चर्यासे अपने शरीरको ही सुखा डालना चाहिये । बौद्धधर्मके आजकल भी मसारमें सन्से अधिक अनुयायी हैं । बौद्धपाडित नागार्जुन, दिग्नाग, वसुब्रधु, धर्मनीति आदिने बौद्धधर्मको खूब निकसित किया । बौद्धोंके आगमग्रथ जिन्हें त्रिपिटक नामसे कहा जाता हे, पालि भाषामें हे । जैनधर्म ओर बौद्धधर्मकी बहुतसी बातें मिलती जुलती हैं, कुछ बातोंमें अंतर भी हे । महानीर और

आरम्भ किया, और अपने सात मित्रोंकी सहायतासे पूर्ण किया था। कहते हैं कि कुनर महेरामणजीके अपने मामा लीन्टीके ठाकुरकी पुत्री सुजनबाके साथ प्रेम हो गया था, और इस प्रेमको इन दोनोंने अत समयतक निनाहा। प्रतीणसागरमें राजकुमारी सुजनबा (प्रवीण) ने महेरामणजी (सागर) को सत्रोधन करके, और महेरामणजीने राजकुमारीको सत्रोधन करके कवितायें लिखी हैं। राजचन्द्रजी लिखते हैं—“ प्रतीणसागर समझपूर्वक पढ़ा जाय तो यह दक्षता देनेवाला ग्रथ है, नहीं तो यह अप्रशस्त रागरगोंको बढ़ानेवाला ग्रथ है ”।

महादजी (देखो अनुभवप्रकाश)।

प्रश्नव्याकरण (आगमग्रन्थ)—इसका कई जगह राजचन्द्रजीने उल्लेख किया है।

प्रज्ञापना (आगमग्रन्थ)—इसका भी प्रस्तुत ग्रन्थमें उल्लेख आता है।

प्रीतमदास—

ये भक्त कवि भाट जातिके थे, और ये सन् १७८२ में मौजूद थे। ये साधु-सतोंके समागममें बहुत काल व्रिताते थे। इनकी कविता भी अन्य भक्तोंकी तरह वेदातज्ञान और प्रेमभक्तिसे पूर्ण है। प्रीतमदासको ' चरोतर ' का रत्न कहा जाता है। इनके बड़े ग्रन्थ गीता और भागवतका ११ वॉ स्कंध हैं। इसके अतिरिक्त प्रीतमदासने अन्य भी बहुतसे पद गरवी इत्यादि लिखे हैं। ' प्रीतमदामनो कको ' गुजरातीमें बहुत प्रसिद्ध है। श्रीमद् राजचन्द्र अपने भक्तोंसे इसे पढ़नेके लिये कहा करते थे। उन्होंने प्रीतमको मार्गानुसारी कहा है। प्रीतमदासने गोविंदरामजी नामक साधुका बहुत समयतक सहवास किया, और उन्हें अपना गुरु बनाया था। कहते हैं कि प्रीतमदास अन्त समय अंधे हो गये थे। ये उस समय भी पद-रचना करते थे। गुजराती साहित्यमें इनकी कविताओंका बहुत आदर है।

वनारसीदास—

वनारसीदासजी आगराके रहनेवाले श्रीमाली वैश्य थे। इनका जन्म स० १६४३ में जौनपुरमें हुआ था। वनारसीदासजीका मूल नाम त्रिकुमाजीत था। इनके पिताको पार्थनाथके ऊपर अत्यंत प्रीति थी, इसलिये उन्होंने इनका नाम वनारसीदास रक्खा था। वनारसीदासजीको यौवन कालमें इस्क-वाजीका बहुत शोक हो गया था। इन्होंने शृंगारके ऊपर एक ग्रन्थ भी लिखा था, जिसे बादमें इन्होंने गोमती नदीमें बहा दिया था। वनारसीदासजीकी अवस्थामें धीरे धीरे बहुत परिवर्तन होता गया। इन्हे कुदकुद आचार्यके अध्यात्मरसके ग्रन्थ पढ़नेको मिले, और ये निश्चयनयकी ओर झुके। इन्होंने निश्चयनयको पुष्ट करनेवाली ज्ञानपच्चीसी, ध्यानवत्तीसी, अध्यात्मवत्तीसी आदि कृतियोंकी रचना की। वनारसीदासजी चन्द्रमाण, उदयकरण, थानमलजी आदि अपने मित्रोंसहित अध्यात्मचर्चामें डूबे रहते थे। अन्तमें तो यहाँतक हुआ कि ये चारों नम्र होकर अपनेको मुनि मान कर रहा करते थे। इसी कारण श्रावक लोग वनारसीदासको ' बोसरामती ' कहने लगे थे। वनारसीदासजीकी यह एकांतदशा स० १६९२ तक रहा। बादमें इनको इस दशापर बहुत खेद हुआ, और इनका हृदय-पट खुल गया। इस समय ये आगरामें प० रूपचन्द्रके समागममें आये, और

इन्होंने गोम्मटसार आदिका अत्रलोकन किया। उपायाय यशोभिजयजीने अघ्यात्ममतखडनमें तथा उपायाय मेघभिजयजीने युक्तिप्रबोधनाटकमें बनारसीदासजीके मतको अघ्यात्ममत कहकर इनके मतका खडन किया है। बनारसीदासने अर्थकथानकमें ६७३ दोहोंमें अपनी आत्मकथा लिखी है। इनका समयसारनाटक हिन्दी साहित्यका एक अद्वितीय काव्यग्रन्थ है। समयसारनाटकके अनेक पद्योंको राजचन्द्रजीने जगह जगह उद्धृत किया है। राजचन्द्रजी बनारसीदासजीको सम्प्यगृष्टि मानते थे। वे बनारसीदासजीके स्रग्धमें लिखते हैं—“उनकी समयसार ग्रन्थकी रचनाके ऊपरसे मादूम होता है कि बनारसीदासको कोई उस प्रकारका सयोग बना होगा। मूल समयसारमें बीजज्ञानके निषयमें इतनी अधिक स्पष्ट बात कही हुई नहीं मादूम होती, ओर बनारसीदासने तो बहुत जगह वस्तुरूपसे ओर उपमास्वरूपसे यह बात कही है। जिसके ऊपरसे ऐसा मादूम होता है कि बनारसीदासको, साथमें अपनी आत्माके निषयमें जो कुछ अनुभव हुआ है, उन्होंने उसका भी कुछ उस प्रकारसे प्रकाश किया है, जिससे वह बात किसी निचक्षण जीके अनुभवको आधारभूत हो—उसे विशेष स्थिर करनेवाली हो। ऐसा भी लगता है कि बनारसीदासने लक्षण आदिके भेदसे जीका विशेष निश्चय किया था, और उस उस लक्षण आदिके सतत मनन होते रहनेसे, उनके अनुभवमें आत्मस्वरूप कुछ तीक्ष्ण-रूपसे आया है ओर उनको अव्यक्तरूपसे आत्मद्रव्यका भी लक्ष्य हुआ है, ओर उस ‘अव्यक्तलक्ष’से उन्होंने उस बीजज्ञानको गाया है। ‘अव्यक्तलक्ष’का अर्थ यहाँ यह है कि चित्तवृत्तिके विशेषस्वरूपों आत्म निचारमें लगे रहनेसे, बनारसीदासको जिस अशमें परिणामकी निर्मल धारा प्रकट हुई, उस निर्मल धाराके कारण अपना निजका यही द्रव्य है, ऐसा यद्यपि स्पष्ट जाननेमें नहीं आया, तो भी अस्पष्टरूपसे अर्थात् स्वामानिकरूपसे भी उनकी आत्मामें वह छाया भासमान हुई, ओर जिसके कारण यह बात उनके मुखसे निकल सकी है, ओर आगे जाकर वह बात उन्हें सहज ही एकदम प्रकट हो गई हो, प्राय उनकी ऐसी दशा उस ग्रन्थके लिखते समय रही है।”

वाइविल (देखो ईसामसीह)

वाह्वलि (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, मोक्षमाला पाठ १७)

ब्राह्मी (देखा मोक्षमाला पाठ १७)

बुद्ध—
गौतमबुद्ध कपिलरस्तुमें राजा शुद्धोदनके घर ईसवी सन्से ५५७ वर्ष पूर्व पैदा हुए थे। उनकी सत्साराको असार जानकर त्याग दिया, और वनमें जाकर कठोर तपस्या करके छग। इन्होंने घोर तप किया, ओर जब इन्हें ‘बोधि’ प्राप्त हो गया, तो वे मूम घूम कर अज्ञानमयीका प्रचार करने लगे। बुद्धदेव अपने उच्च त्यागके लिये बहुत प्रसिद्ध है। इन्होंने मयम मार्ग चत्रया था। बुद्धका कथन था कि न तो हमें एकदम निलासप्रिय ही हो जाना चाहिये, और न कट्टे तपश्चर्यासे अपने शरीरको ही सुखा डालना चाहिये। बौद्धधर्मके आजकल भी मगारमें अधिक अनुयायी हैं। बौद्धपण्डित नागार्जुन, दिग्भाग, वसुमन्धु, धर्मवीर, आदिने बौद्ध धर्म को प्रचारित किया। बौद्धोंके आगमग्रन्थ जिन्हें त्रिपिटक नामसे कहा जाता है, पाठि जैनधर्म ओर बौद्धधर्मकी बहुतसी बातें मिलती जुलती हैं, कुछ बातोंमें अन्तर भी है।

बुद्ध दोनों समकालीन थे। दोनों होने अपने धर्मका विहार प्रान्तसे प्रचार आरंभ किया। बुद्ध भगवान्‌के देशी विदेशी भाषाओंमें अनेक जीवनचरित्र लिखे गये हैं।

बृहत्कल्प—

बृहत्कल्प छह छेदसूत्रोंमें एक सूत्र माना जाता है। इसके कर्त्ता भद्रवाहुस्वामी हैं। बृहत्कल्पपर अनेक टीका टिप्पणियाँ हैं। इन छह छेदसूत्रोंमें साधु साध्वियोंके आचार क्रिया आदिके सामान्य नियम-मार्गोंके प्रतिपादनके साथ साथ, द्रव्य क्षेत्र काल भाग उत्सर्ग अपनाद आदि मार्गोंका भी समया-नुसार वर्णन है। इसलिये ये छह छेदसूत्र अपनादमार्गोंके सूत्र माने जाते हैं। बृहत्कल्पमें छह उद्देशक हैं। इस सूत्रमें साधु साध्वियोंके आचारका वर्णन है। इसमें जो पदार्थ कर्मके हेतु और समयके बाधक हैं, उनका निषेध करते हुए, समयके सावक स्थान, वस्त्र, पात्र आदिका वर्णन किया है। इसमें प्रायश्चित्त आदिका भी वर्णन है।

ब्रह्मदत्त—

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती था। एक समयकी बात है कि एक ब्राह्मणने आकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीसे कहा कि हे चक्रवर्ती! जो भोजन तू स्वयं खाता है उसे मुझे भी खिला। ब्रह्मदत्तने ब्राह्मणको उत्तर दिया कि मेरा भोजन बहुत गरिष्ठ और उन्मादकारी है। परन्तु ब्राह्मणने जब चक्रवर्तीको कृपण आदि शब्दोंसे विह्वारा, तो ब्रह्मदत्तने ब्राह्मणको कुटुंबसहित अपना भोजन खिलाया। भोजन करनेके पश्चात् रात्रिमें ब्राह्मण और उसके कुटुंबको महा उन्माद हुआ, और वह ब्राह्मण अपने पुत्रसहित माता बहन आदि सबके साथ पशुकी तरह रमण करने लगा। जब सुपह हुई तो ब्राह्मण और उसके गृहजनोंको बहु लज्जा मादम हुई। ब्राह्मणको ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीके ऊपर बहुत क्रोध आया और वह क्रोधसे घरसे निकल पड़ा। कुछ दूरपर ब्राह्मणने एक गड़रियेको पीपलके पत्तोंपर ककरों फेंककर पत्तोंको फाड़ते हुए देखा। ब्राह्मणने गड़रियेसे कहा कि जो पुरुष सिरपर श्वेत छत्र और चमर धारण करके गजेन्द्रपर बैठकर यहाँसे निकले, तू उसकी दोनों आँखोंको ककरोंसे फोड़ डाल। गड़रियेने दिवालकी ओटमें खड़े होकर हाथीपर बैठकर जाते हुए ब्रह्मदत्तकी दोनों आँखें फोड़ दीं। बादमें चक्रवर्तीको मादम हुआ कि उसी ब्राह्मणने इस दुष्कृत्यको कराया है। ब्रह्मदत्तको ब्राह्मण जातिके ऊपर बहुत क्रोध आया। उसने उस ब्राह्मणको उसके पुत्र, वधु और मित्रोंसहित मरना डाला। क्रोधान्व ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीने अपने मंत्रोंको सत्र ब्राह्मणोंको मारकर उनके नेत्रोंसे विशाल थाल भरकर अपने सामने लानेकी आज्ञा दी। मंत्रोंने श्लेष्मातक फलोंसे थाल भरकर राजाके सामने रक्खी। ब्रह्मदत्त उस थालमें रक्खे हुए फलोंको नेत्र समझकर उन्हें वार वार हाथसे स्पर्श करता और बहुत हर्षित हुआ करता था। अन्तमें हिंसानुन्धी परिणामोंसे मरकर वह सातने नरकमें गया। यह कथा त्रिपटिशलाकापुरुषचरित आदि कथाप्रयोगमें आती है।

भगवतीमूत्र (आगमग्रन्थ)—इसका राजचन्द्रजीने अनेक स्थानोंपर उल्लेख किया है।

भगवतीआराधना—

यह ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। ५० नाथूरामजी प्रेमीका कहना है कि इसके ग्रन्थकर्त्ता असली नाम आर्यशिव या शिवकोटि था। बहुतसे लोग इनकी समतभद्र आचार्यका शिष्य मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं मादम होता। यह ग्रन्थ प्रधानतया

मुनिधर्मका ग्रन्थ है, और श्मकी अनेक गाथायें श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें भी मिलती हैं। इस ग्रन्थके ऊपर चार दिग्म्बर विद्वानोंकी सस्कृत टीकायें भी हैं। अभीतर इसके ऊपर कोई श्वेताम्बर विद्वान्की टीका देवनेमें नहीं आई। ५० सदासुरजीने जो श्वेताम्बर टीकाका उल्लेख किया है, सो उन्होंने अपराजितसुरिकी दिग्म्बर टीकाको ही श्वेताम्बर टीका समझकर उल्लेख किया है। माध्यम होता है कि सदासुरजीके इस कथनके ऊपरसे ही राजचन्द्रजीने भी भगवतीआराधनापर श्वेताम्बर विद्वान्की टीका पाये जानेका उल्लेख किया है। इस ग्रन्थके कर्त्ताके समयके विषयमें कुछ निश्चित नहीं है, फिर भी यह ग्रन्थ बहुत प्राचीन समझा जाता है।

भरत (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ, मोक्षमाला पाठ १७, तथा भावनात्रोध पृ १०८-१११)

भर्तृहरि—

ये उज्जैनके राजा विक्रमादित्यके सोतेले भाई थे। भर्तृहरिको अपनी रानीका दुश्चरित्रता देखकर वैराग्य हो गया। भर्तृहरि मदार योगी माने जाते हैं। इन्होंने शृंगार, नीति और वैराग्य इन तीन शतकोंकी रचना की है। इनका फ्रेंच, लेटिन, अंग्रेजी और जर्मन भाषाओंमें भी अनुवाद हो चुका है। इन शतकोंमें वैराग्यशतक बहुत सुन्दर है। वैराग्यशतक गुजराती और हिन्दी पद्यानुवाद-सहित सन् १९०७ में अहमदाबादसे प्रकाशित हुआ है। भर्तृहरिके वैराग्यशतकके अतिरिक्त जैन विद्वान् पद्मानन्दकवि और धनराज (धनद) ने भी वैराग्यशतक नामक ग्रन्थ लिखे हैं। पद्मानन्दकविका वैराग्यशतक काव्यमाला सप्तम गुच्छकमें प्रकाशित हुआ है। माध्यम होता है राजचन्द्रजीने भर्तृहरिके वैराग्यशतकका ही अनलोकन किया था।

भागवत—

भागवतका हिन्दु समाजमें अत्यन्त आदर है। आजकल भी जगह जगह भागवतकी कथाओंका वाचन होता है। श्रीमद्भागवतको पुराण, वेद और उपनिषदोंका सार कहा जाता है। इसमें बड़े बड़े गूढ़ विषयोंको बहुत सरलतासे रखा गया है। इसमें वैराग्यके वर्णनमें भी भगवद्भक्तिको ही मुख्य मानकर उसकी पुष्टि की है। इसमें स्थान स्थानपर परब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है। भागवतके गुजराती हिन्दी आदि अनुवाद हो गये हैं। भागवतके कर्त्ता व्यासजी माने जाते हैं। इसमें बारह स्कंध हैं। भागवतमें कृष्ण और ब्रजगोपियोंका विस्तृत वर्णन है। इसका राजचन्द्रजीने खूब वाचन किया था।

भावनाबोध (देखो प्रस्तुत ग्रन्थ पृ ९१-१२०)

भावार्थप्रकाश—

यह ग्रन्थ किसका बनाया हुआ है, किस भाषाका है इत्यादि बातोंका कुछ पता नहीं लग सका। इस ग्रन्थके विषयमें राजचन्द्रजीने लिखा है—“ उसमें सम्प्रदायके निरादका कुछ कुछ समाधान हो सके, ऐसी रचना की है, परन्तु तारतम्यसे वह वास्तविक ज्ञानवानकी रचना नहीं, ऐसा मुझे लगता है। ”

भोजा—

भोजा भगतका जन्म काठियावाड़में जेतपुरके पास कुनबी जातिमें सन् १७८५ में हुआ था। भोजा भगतके चावला गुजरातीमें बहुत प्रसिद्ध हैं। भोजा भगत काठियावाड़ी थे, इसलिये उनकी भाषा गुजरातीसे कुछ भिन्न पड़ती है। उनकी काव्यसवधी कृतियाँ भिन्न भिन्न प्रकारकी हैं। प्रायः उनकी

कप्रितामें बोंवज्ञान अधिक पाया जाता है । भोजाने खल-ज्ञानी और बगुले-भक्तोंका खूब उपहास किया है । भोजा भगत अपनी भक्ति और योगशक्तिके लिये बहुत प्रसिद्ध थे । इनका अनुभव और परीक्षकशक्ति बहुत तीव्र थी । इन्होंने ६५ वर्षकी अनस्थामें देहत्याग किया ।

मणिरत्नमाला—

मणिरत्नमाला तुलसीदासजीकी सस्कृतकी रचना है । इसमें मूल श्लोक कुल ३२ हैं । ये वृत्तीय श्लोक प्रश्नोत्तररूपमें लिखे गये हैं । मणिरत्नमालाके ऊपर गुजरातके जगजीवन नामके ब्राह्मणकी संवत् १६७२ में रची हुई टीका भी मिलती है । इसमें अनात्मा और आत्माका बहुत सुंदर प्रतिपादन किया गया है । यह ग्रंथ वैराग्यप्रधान है । मणिरत्नमालाका एक श्लोक निम्न प्रकारसे है —

को वा दरिद्रो हि मिशालतृष्णा
श्रीमाश्च को यस्य समस्ति तोष ।
जीवन्मृतो कस्तु निरुधमो य.
को वामृता स्यात्सुखदा निराशा ॥ ५ ॥

अर्थ—दरिद्रो कौन है ? जिसकी तृष्णा मिशाल है । श्रीमान् कौन है ? जो सतोपी है । जीते हुए भी मृत कौन है ? जो निरुधमी है । अमृतके समान सुखदायक कौन है ? निराशा ।

मणिलाल नभुभाई—

ये नडियादके रहनेवाले थे । मणिलाल नभुभाई गुजरातके अच्छे साहित्यकार हो गये हैं । इन्होंने पद्दर्शनसमुच्चय आदि ग्रन्थोंके अनुवाद किये हैं, और गीतापर विवेचन लिखा है । इनके पद्दर्शनसमुच्चयके अनुवादकी और गीताके विवेचनकी राजचन्द्रजीने समालोचना की है । सुदर्शन-गाथात्रयमें इनके लेखोंका सप्रह प्रकाशित हुआ है ।

मदनरेखा—

सुदर्शनपुरके मणिरथ राजाके लघुभ्राता युगवाहुकी स्त्रीका नाम मदनरेखा था । मदनरेखा अत्यन्त सुंदरी थी । उसके अनुपम सौंदर्यको देखकर मणिरथ उसपर मोहित हो गया, और उसे प्रसन्न करनेके लिये वह नाना प्रकारके फलपुष्प आदि भेजने लगा । मदनरेखाको जब यह बात मालूम हुई तो उसने राजाको बहुत धिक्कारा, पर इसका मणिरथपर कोई असर न हुआ । अत्र वह राजा किसी तरह अपने छोटे भाई मदनरेखाके पति युगवाहुको मार डालनेकी घातमें रहने लगा । एक दिन मदनरेखा और युगवाहु दोनों उद्यानमें क्रीड़ा करने गये हुए थे । मणिरथ भी अकेला वहाँ पहुँचा । युगवाहुको जब अपने बड़े भाईके आनेके समाचार मिले तो वह उससे मिलने आया । युगवाहुने झुककर भाईके चरणोंका स्पर्श किया । इसी समय मणिरथने उसपर लज्जप्रहार किया । मदनरेखाने पतिको मरणासन देखकर उसे धर्मबोध दिया । पतिके मर जानेसे मदनरेखाको अपने ज्येष्ठकी ओरसे बहुत भय हुआ । मदनरेखा गर्भवती थी । वह उसी समय किसी जगलमें निकलकर चली गई, और उसने आधी रातको पुत्र प्रसन्न किया । वहाँसे वह किसी विधाधरके हाथ पड़ी । वह भी उसपर मोहित होकर उसे अपनी स्त्री बनानेकी चेष्टा करने लगा । मदनरेखाने विधाधरसे उसे नदीधर ले चलनेको कहा । वहाँ जाकर किसी मुनिने विधाधरको स्वदारसतोष व्रत ग्रहण कराया । इतनेमें मदनरेखाके पतिका जीव जो मरकर

कवितामें बोधज्ञान अधिक पाया जाता है । भोजाने खल-ज्ञानी और वगुलेभक्तोंका खूब उपहास किया है । भोजा भगत अपनी भक्ति और योगशक्तिके लिये बहुत प्रसिद्ध थे । इनका अनुभव और परीक्षकशक्ति बहुत तीव्र थी । इन्होंने ६५ वर्षकी अवस्थामें देहत्याग किया ।

मणिरत्नमाला—

मणिरत्नमाला तुलसीदासजीकी सस्कृतकी रचना है । इसमें मूल श्लोक कुल ३२ हैं । ये वत्तीस श्लोक प्रश्नोत्तररूपमें लिखे गये हैं । मणिरत्नमालाके ऊपर गुजरातके जगजीवन नामके ब्राह्मणकी सन्त् १६७२ में रची हुई टीका भी मिलती है । इसमें अनात्मा और आत्माना बहुत सुंदर प्रतिपादन किया गया है । यह ग्रंथ वैराग्यप्रधान है । मणिरत्नमालाका एक श्लोक निम्न प्रकारसे है —

को वा दरिद्रो हि निशाळतृष्ण

श्रीमाश्च को यस्य समस्ति तोष ।

जीमन्मृतो कस्तु निरुद्यमो य

को वामृता स्यात्सुखदा निराशा ॥ ५ ॥

अर्थ—दरिद्री कौन है ? जिसकी तृष्णा निशाळ है । श्रीमान् कौन है ? जो सतोपी है । जीते हुए भी मृत कौन है ? जो निरुद्यमी है । अमृतके समान सुखदायक कौन है ? निराशा ।

मणिलाल नभुभाई—

ये नडियादके रहनेवाले थे । मणिलाल नभुभाई गुजरातके अच्छे साहित्यकार हो गये हैं । इन्होंने पद्दर्शनसमुच्चय आदि ग्रन्थोंके अनुवाद किये हैं, और गीतापर विवेचन लिखा है । इनके पद्दर्शनसमुच्चयके अनुवादकी और गीताके विवेचनकी राजचन्द्रजीने समालोचना की हैं । सुदर्शन-गद्यांशमें इनके लेखोंका सग्रह प्रकाशित हुआ है ।

मदनरेखा—

सुदर्शनपुरके मणिरथ राजाके लघुभ्राता युगबाहुकी स्त्रीका नाम मदनरेखा था । मदनरेखा अत्यन्त सुंदरी थी । उसके अनुपम सौंदर्यको देखकर मणिरथ उसपर मोहित हो गया, और उसे प्रसन्न करनेके लिये वह नाना प्रकारके फलपुष्प आदि भेजने लगा । मदनरेखाको जब यह बात मालूम हुई तो उसने राजाको बहुत धिक्कारा, पर इसका मणिरथपर कोई असर न हुआ । अत्र वह राजा किसी तरह अपने छोटे भाई मदनरेखाके पति युगबाहुको मार डालनेकी धातमें रहने लगा । एक दिन मदनरेखा और युगबाहु दोनों उद्यानमें त्रीड़ा करने गये हुए थे । मणिरथ भी अकेला वहाँ पहुँचा । युगबाहुको जब अपने बड़े भाईके आनेके समाचार मिले तो वह उससे मिलने आया । युगबाहुने झुककर भाईके चरणोंका स्पर्श किया । इसी समय मणिरथने उसपर खड्गप्रहार किया । मदनरेखाने पतिको मरणासन देखकर उसे धर्मत्रोध दिया । पतिके मर जानेसे मदनरेखाको अपने ज्येष्ठपत्नी ओरसे बहुत भय हुआ । मदनरेखा गर्भवती थी । वह उसी समय किसी जगलमें निकलकर चली गई, और उसने आधी रातको पुत्र प्रसन्न किया । वहाँसे वह किसी विद्याधरके हाथ पड़ी । वह भी उसपर मोहित होकर उसे अपनी स्त्री बनानेकी चेष्टा करने लगा । मदनरेखाने विद्याधरसे उसे नदीश्वर ले चलनेको कहा । वहाँ जाकर किसी मुनिने विद्याधरको स्वदारसतोष व्रत ग्रहण कराया । इतनेमें मदनरेखाके पतिकी जीव जो मरकर

यशोविजयजीका जन्म समत् १६८० के लगभग हुआ था। यशोविजयजीने सतरह-अठारह वर्षतक विद्याभ्यास करके जीवनपर्यंत साहित्यसर्जनमें ही अपना समय व्यतीत किया। आपने न्याय, योग, अध्यात्म, दर्शन, कथाचरित, धर्मनीति आदि सभी विषयोंपर अपनी प्रोढ़ लेखनी चलाई है। यशोविजयजीने वैदिक और बौद्धग्रन्थोंका गहन अभ्यास किया था। इन्होंने जैनदर्शनका अन्य दर्शनोंके साथ समन्वय करनेमें भी अत्यंत श्रम किया है। यशोविजयजी की कृतियाँ आज भी बहुत-सी अनुपलब्ध हैं, फिर भी जो कुछ उपलब्ध है, वे यशोविजयजीका नाम सदाके लिये अमर रखनेके लिये पर्याप्त हैं। उन्होंने सस्कृतमें अध्यात्मसार, उपदेशरहस्य, शास्त्रवाचासमुच्चयटीका, न्याय-खडनखाद्य, जैनतर्कपरिभाषा आदि बहुतसे ग्रन्थ लिखे हैं। गुजरातीमें इन्होंने डेढ़सौ गायका स्तवन, योगदृष्टिनी सञ्ज्ञाय, श्रीपालरास, समाधिगतक आदि ग्रन्थ बनाये हैं। यशोविजयजीने हिन्दीमें भी कवितायें लिखी हैं। वे स० १७४३ में स्वर्गस्थ हुए। राजचन्द्रजीने यशोविजयजीके अध्यात्मसार, डेढ़सौ गायका स्तवन और योगदृष्टिनी सञ्ज्ञायका उल्लेख किया है, तथा उपदेशरहस्य, योगदृष्टिनी सञ्ज्ञाय, श्रीपालरास, समाधिगतक वगैरहके अनेक पद्य आदि उद्धृत किये हैं। यशोविजयजीने उग्र प्रशस्तक होनेपर भी राजचन्द्रजीने एक स्थलपर उनकी छद्मस्थ अनस्थाका दिग्दर्शन कराया है।

योगरूपद्रुम—

यह कोई धेदान्तका ग्रन्थ मारुम होता है। इसके पठन करनेका राजचन्द्रजीने किसी मुमुक्षुको अनुरोध किया है। इसका अंक ३५७ में उल्लेख है।

योगदृष्टिसमुच्चय (देखो हरिभद्र) .

योगदृष्टिनी सञ्ज्ञाय (देखो यशोविजय)

योगप्रदीप (देखो हरिभद्र)

योगविन्दु (देखो हरिभद्र)

योगवासिष्ठ—

भारतीय साहित्यमें योगवासिष्ठ, जिसे महारामायण भी कहा जाता है, का स्थान बहुत ऊँचा है। योगवासिष्ठके कर्ता वसिष्ठ ऋषि माने जाते हैं। योगवासिष्ठमें बत्तीस हजार श्लोक हैं, जिनमें नाना कथा उपकथाओंद्वारा आत्मविद्याका अत्यन्त सुंदर वर्णन किया है। इस ग्रन्थके उह प्रकरण हैं, और हरेक प्रकरणमें कई कई अध्याय हैं। योगवासिष्ठके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं। अभी एक संशोधित संस्करण निर्णयसागरसे प्रकाशित हो रहा है। इसके हिन्दी गुजराती आदिमें भी अनुराद हुए हैं। अमेजीमें एक त्रिद्वत्तापूर्ण व्याख्या माननीय प्रो० गिन्खनलाल आत्रेय एम० ए०, डी० लिट्ने लिखी है। योगवासिष्ठकी रचनाके समयके विद्वानोंमें बहुत मतभेद है। प्रो० आत्रेय इस ग्रन्थकी रचनाका समय ईसवी सन्की छठी शताब्दि मानते हैं। राजचन्द्रजीने योगवासिष्ठका गूढ़ मन्त्र और निदिध्यासन किया था। वे लिखते हैं—“उपाधिका ताप शमन करनेके लिये यह शीतल चदन है। इसके पढ़ते हुए आधि व्याधिका आगमन समन नहीं।” राजचन्द्रजीने अनेक स्थानोंपर योगवासिष्ठको वैराग्य और उपशमका कारण बताकर उसे पुन पुन पढ़नेका मुमुक्षुओंको अनुरोध किया है। योगवासिष्ठके वैराग्य और मुमुक्षु नामके आदिके दो प्रकरण अलग भी प्रकाशित हुए हैं।

*मुक्तानन्द—

ये काठियावाडके रहनेवाले साधु थे। मुक्तानन्दजी सं० १८६४ में मोजूद थे। इन्होंने उद्भवागीता, वर्मास्यान, धर्माश्रुत तथा बहुतसे पद वगैरहकी रचना की है। राजचन्द्रजीने उद्भव-गीताका एक पद उद्धृत किया है।

मृगापुत्र (देखो प्रस्तुत ग्रंथ, भावनात्रोध पृ ११२)

मोहमुद्गर—

मोहमुद्गर स्वामी शंकराचार्यका बनाया हुआ है। यह वेदांगका अत्युत्तम ग्रन्थ है। इसमें मोहके स्वरूप और आत्मसाधनके बहुतसे उत्तम भेद बताये हैं। यह ग्रंथ वेदधर्मसभा बम्बईकी ओरसे गुजराती टीकासहित सन् १८९८ में प्रकाशित हुआ है। राजचन्द्रजीने इस ग्रंथमेंसे श्लोकका एक चरण उद्धृत किया है। इसका प्रथम श्लोक निम्न प्रकारसे है—

मूढ जहीहि धनागमत्प्या कुरु तनुबुद्धे मनसि वितृप्या ।

यल्लभसे निजकर्मोपात्त वित्त तेन विनोदय चित्तम् ॥

—हे मूढ ! धनप्राप्तिकी तृप्याको छोड़ । हे कम बुद्धिवाले ! मनको तृप्यारहित कर । तथा जो धन अपने कर्मनुसार मिले, उससे चित्तको प्रसन्न रख ।

मोक्षमार्गप्रकाश—

मोक्षमार्गप्रकाशके रचयिता टोडरमलजी हैं। ५० टोडरमलजी आधुनिक कालके दिगम्बर विद्वानोंमें बहुत अच्छे विद्वान् हो गये हैं। इनका जन्म सन् १९७३ के लगभग जयपुरमें हुआ था। ५० टोडरमलजी जैनसिद्धांतके एक बहुत मार्मिक पंडित गिने जाते हैं। इन्होंने नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीके प्रसिद्ध ग्रन्थ गोभटसार, लब्धिसार, क्षणसार और त्रिलोकसारपर विस्तृत हिन्दी वचनिका लिखी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने आत्मानुशासन पुरुषार्थसिद्धिउपाय आदि ग्रंथोंपर भी विवेचन किया है। मोक्षमार्गप्रकाश टोडरमलजीका स्वतंत्र ग्रंथ है। यह अधूरा है। इसका शेषार्थ भाग ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने लिखकर पूर्ण किया है। इस ग्रंथमें टोडरमलजीने जैनधर्मकी प्राचीनता, अन्य मतोंका खंडन, मोक्षमार्गका स्वरूप आदि विषयोंका बहुत सरल भाषामें वर्णन किया है। ५० टोडरमलजी दिगम्बर जैन विद्वानोंमें ऋषितुल्य समझे जाते हैं। टोडरमलजी १५-१६ वर्षकी अवस्थासे ही प्रपञ्च-रचना करने लगे थे। ५० टोडरमलजीने श्वेताम्बरोंद्वारा मान्य वर्तमान जिनागमका निषेध किया है। इस विषयमें राजचन्द्रजी लिखते हैं—“मोक्षमार्गप्रकाशमें श्वेताम्बर सम्प्रदायद्वारा मान्य वर्तमान जिनागमका जो निषेध किया है, वह निषेध योग्य नहीं। यद्यपि वर्तमान आगममें अमुक स्थल अधिक सदेहास्पद हैं, परन्तु सत्पुरुषकी दृष्टिसे देखनेपर उसका निराकरण हो जाता है, इसलिये उपशम दृष्टिसे उन आगमोंके अवलोकन करनेमें सशय करना उचित नहीं।”

मोक्षमाला (देखो प्रस्तुत ग्रंथ पृ १०-९६)

यशोविजय—

यशोविजय श्वेताम्बर परम्परामें अपने समयके एक महान् प्रतिभाशाली प्रखर विद्वान् हो गये हैं। इनकी रचनायें संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिन्दी चारों भाषाओंमें मिलती हैं। तार्किकशिरोगमि

सार, गीताभाष्य आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। रामानुजने बहुतसे शास्त्रार्थ भी किये। इन्होंने १२० वर्षकी अवस्थामें देहत्याग किया।

वचनसप्तशती—

यह सप्तशती स्वयं राजचन्द्रजीने लिखी है। इसमें सातसौ वचनोंका संग्रह है। यह संग्रह हेमचन्द्र टोकरशी मेहताकी 'श्रीमद् राजचन्द्र' की पाँचवीं गुजराती आधुनिके प्रथम भागके ८३ पृष्ठपर दिया गया है। राजचन्द्रजीने वचनसप्तशतीको पुनः पुनः स्मरण रखनेके लिये लिखा है।

वज्रस्वामी (प्रस्तुत ग्रन्थ, भावनाबोध पृ ११९.)

वज्रभ—

वज्रभाचार्य पुष्टिमार्ग (शुद्धाद्वैत) के प्रतिष्ठाता एक महान् आचार्य हो गये हैं। इनका जन्म सन् १५३५ में हुआ था। इन्होंने अनेक दिग्गज विद्वानोंको शास्त्रार्थमें जीता और आचार्य पदवी प्राप्त की। वज्रभने रामेश्वर आदि समस्त तीर्थोंकी यात्रा की थी। इन्होंने सन् १५५६ में व्रजमें श्री-नाथजीकी मूर्तिकी स्थापना की। यह मूर्ति अजमेराइमें है, और इसके लिये भोगमें लाखों रुपया वार्षिक व्यय होता है। भारतवर्षके प्रायः सभी तीर्थ और देवस्थानोंमें वज्रभाचार्यका वेठकें हैं। वज्रभाचार्यने भागवतपर सुगोधिनी टीका, ब्रह्मसूत्रपर अष्टुभाष्य, गीतापर टीका तथा अजमेराइमें की रचना की है। अन्त समय वज्रभाचार्य काशीमें आ गये थे, और वे सन् १५८७ में भगवत्त्वामको पवारे। वज्रभसम्प्रदायके अनुयायी विशेषकर गुजरात, मारवाड़, मयुरा और वृन्दावनमें पाये जाते हैं।

वशिष्ठ (देवो योगनासिष्ठ)

वामदेव—

वामदेव एक वैदिक ऋषि हो गये हैं। ये ऋग्वेदके चौथे मण्डलके अत्रिकाश सूक्तोंके द्रष्टा थे। वे वैदिक परम्परामें एक बहुत अच्छे तत्त्वज्ञानी माने जाते हैं। इनका वर्णन उपनिषदोंमें आता है।

वाल्मीकि—

वाल्मीकि ऋषि आदिकाव्य रामायणके कर्ता हैं। वाल्मीकिने २४ हजार श्लोकोंमें रामायणकी रचना की है। कहा जाता है कि इन्होंने उत्तरकाण्डमें जो कुछ लिख दिया था उसीके अनुसार राजचन्द्रजीने सत्र क़ाम किये। वाल्मीकि राजा जनकसे भाईका नाता मानते थे, और राजा दशरथसे भी उनकी मित्रता थी। वाल्मीकिजीने समस्त रामायणको रामचन्द्रजीको साढ़े तीस दिनमें गाकर सुनाई थी। वाल्मीकि ऋषिके समझानेपर ही रामचन्द्रजीने छत्र और कुश नामके अपने पुत्रोंको अगीकार किया था। वाल्मीकि ऋषिकी जन्मभूमि प्रयागके पास बताई जाती है। इनके आश्रमके निकट अनेक मुनि अपने बाल प्रवृत्तसहित पर्णशालायें बनाकर रहते थे। रामायण संस्कृतका बहुत सुन्दर काव्य माना जाता है।

वेक्टरिया—

रानी वेक्टरियाका जन्म सन् १८१९ में एडवर्ड ड्यूक ऑफ़ केम्ब्रिजकी पत्नी मेरी लुइजाके गर्भसे हुआ था। वेक्टरियाको आरम्भसे ही उच्च शिक्षा दी गई थी। सन् १८४० में वेक्टरियाने प्रिन्स एडवर्डसे शादी की। वेक्टरियाने बहुत दिनोंतक राज्य किया। उन्हें धन, प्रसुता, सुहाग,

योगशास्त्र (देखो हेमचन्द्र) .

रहनेमि-राजीमती—

रहनेमि अथवा अरिष्टनेमि समुद्रमिजय राजाके पुत्र थे । उनका विवाह उग्रसेनकी पुत्री राजीमतीसे होना निश्चित हुआ था । रहनेमिने जब बाजे गाजेके साथ अपने इनसुर-गृहको प्रस्थान किया, तो रास्तेमें जाते हुए उन्होंने बहुतसे वँधे हुए पशु पक्षियोंका आक्रन्दन सुना । सारथीसे पूछनेपर उन्हें माछम हुआ कि वे पशु वारातके अतिथियोंके लिये बध करनेके लिये एकत्रित किये गये हैं । इसपर नेमिनाथको बहुत वैराग्य हो आया, और उन्होंने उसी समय दीक्षा धारण करनेका निश्चय किया । उधर जब राजीमतीके पास नेमिनाथकी दीक्षाका समाचार पहुँचा तो वह अत्यन्त व्याकुल हुई, और उसने भी नेमिनाथकी अनुगामीनी हो जानेका निश्चय किया । दोनों दीक्षा धारण कर गिरनार पर्वतपर तपश्चरण करने लगे । एक वारकी बात है, नेमिनाथने राजीमतीको नग्न अरस्थामें देखा, और उनका मन डॉपडोल हो गया । इस समय राजीमतीने अत्यन्त मार्मिक बोध देकर नेमिनाथको फिरसे सयममें दृढ किया । यह कथा उत्तराध्ययनके २२ वें स्थनेमीय अध्वयनमें आती है । “ कोई राजीमती जैसा समय प्राप्त होओ । ”—‘ श्रीमद् राजचन्द्र ’ पृ १२६

रामदास—

स्वामी समर्थ रामदासका जन्म जौरगावाड जिलेमें सन् १६०८ में हुआ था । समर्थ रामदास पहिलेसे ही चंचल और तीव्रबुद्धि थे । जन्म से बारह वर्षके हुए तब इनके विवाहकी बातचीत होने लगी । इस खबरको सुनकर रामदास भाग गये और बहुत दिनोंतक छिपे रहे । छोटी अवस्थामें ही रामदासजीने कठोर तपस्यायें कीं । बादमें ये देशाटनके लिये निकले और काशी, प्रयाग, बदरीनाथ, रामेश्वर आदि तीर्थस्थानोंकी यात्रा की । शिवाजी रामदासको अपना परम गुरु मानते थे, और इनके उपदेश और प्रेरणासे ही सब काम करते थे । सन् १६८० में जब शिवाजीकी मृत्यु हुई तो रामदासजीको बहुत दुःख हुआ । श्रीसमर्थ केवल बहुत बड़े निद्वान् और महात्मा ही न थे, वरन् वे राजनीतिज्ञ, कवि और अच्छे अनुभवी भी थे । उनको त्रिभिध विषयोंका बहुत अच्छा ज्ञान था । उन्होंने बहुतसे ग्रन्थ बनाये हैं । उनमें दासबोध मुख्य है । यह ग्रन्थ मुख्यतः अध्यात्मसंबन्धी है, पर इसमें व्यावहारिक बातोंका भी बहुत सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है । इसमें विश्वभारतके ऊपर खूब भार दिया है । मूल ग्रन्थ मराठीमें है । इसके हिन्दी गुजराती अनुवाद भी हो गये हैं ।

रामानुज—

रामानुज आचार्य श्रीसम्प्रदायके आचार्य माने जाते हैं । इनका जन्म ईसवी सन् १०१७ में कर्णाटकमें एक ब्राह्मणके घर हुआ था । रामानुजने १६ वर्षकी अरस्थामें ही चारों वेद कण्ठ कर लिये थे । इस समय रामानुजका विवाह कर दिया गया । रामानुजने व्याकरण, याय, वेदात आदि नियमोंमें निपुणता प्राप्त की थी । इनकी स्त्रीका स्वभान झगडाहू था, इसलिये इन्होंने उसे उसके पिताके घर पहुँचाकर स्वयं सन्यास धारण कर लिया । रामानुज स्वामीने बहुत दूर दूरतक देशोंकी यात्रा की थी । इन्होंने भारतके प्रधान तीर्थस्थानोंमें अपने मठ स्थापित किये, और भक्तिमार्गका प्रचार किया । रामानुज त्रिशिष्टाद्वैतके सस्थापक माने जाते हैं । इन्होंने वेदान्तसूत्रोंपर श्रीभाष्य, वेदान्तप्रदीप, वेदान्त-

वीरचन्द गात्री—

वीरचन्द गात्रीका जन्म काठियावाड़में सन् १८६४ में हुआ था। इन्होंने आत्मारामजी सूरिके पास जैनतत्त्वज्ञानका अध्ययन किया और चिकागोमें सन् १८९३ में भरनेवाली विद्यार्थ परिषद्में जैनधर्मके प्रतिनिधि होकर भाग लिया था। वीरचन्द गाधीको उक्त परिषद्में जो सफलता मिली, उसकी अमेरिकन पत्रोने भी प्रशंसा की थी। वीरचन्द गाधीको वहाँ स्वर्णपदक भी मिले थे। अमेरिकासे लौटकर वीरचन्द गाधीने इगलैडमे भी जैनधर्मपर व्याख्यान दिये। यादमें भी वीरचन्द गात्री दो बार अमेरिका गये। इन्होंने अंग्रेजी भाषामें जैन फिलासफी आदि पुस्तके भी लिखी हैं। वीरचन्द सन् १९०१ में स्वर्गस्थ हुए। वीरचन्द गाधीको विलायत भेजनेका कुछ लोगोंने विरोध किया था। उसके सत्रधमें राजचन्द्रजी लिखते हैं—“धर्मके बहाने अनार्थ देशमें जाने अथवा सूत्र आदि भेजनेका निषेध करनेवाले—नगरा बजाकर निषेध करनेवाले—जहाँ अपने मान बढ़ाईका सवाल आता है, वहाँ इसी धर्मको ठोकर मारकर, इसी धर्मपर पैर रखकर इसी निषेधका निषेध करते हैं, यह धर्मद्रोह ही है। उन्हें धर्मका महत्त्व तो केवल बहानेरूप है, और स्वार्थसत्रधी मान आदिका सवाल ही मुख्य सवाल है। वीरचन्द गात्रीको विलायत भेजने आदिके निषयमें ऐसा ही हुआ है।”

वैराग्यशतक (देखो भर्तृहरि)

व्यास—वेदव्यास—

व्यास महर्षिके नामसे प्रसिद्ध हैं। ये वेदविद्यामें पारंगत थे, इसलिये इन्हें वेदव्यास भी कहा जाता है। इनका दूसरा नाम बादरायण भी है। ये ही कृष्णद्वैपायनके नामसे भी कहे जाते हैं। व्यासजीने चारों वेदोंका सग्रह करके उन्हें श्रेणीबद्ध किया था। व्यासजी बड़े भारी ब्रह्मज्ञानी, इतिहासकार, सूत्रकार, भाष्यकार और स्मृतिकार माने जाते हैं। इनके जैमिनी वेशम्पायन आदि ३५००० शिष्य थे। महाभारत, भागवत, गीता, और वेदान्तसूत्र इन्हीं व्यास ऋषिके रचे हुए माने जाते हैं। व्यास ऋषिका नाम हिन्दुग्रन्थोंमें बहुत अधिक सम्मानके साथ लिया जाता है।

शकराचार्य—

शकराचार्य अद्वैतमतके स्थापक महान् आचार्य थे। इनका जन्म केरल प्रदेशमें एक ब्राह्मणके घर हुआ था। शकराचार्यने आठ वर्षकी अवस्थामें सन्यास धारण किया, और वेद आदि विद्याओंका अध्ययन किया। शकराचार्यने बड़े बड़े शास्त्रार्थोंमें विजय प्राप्तकर सनातन वेदधर्मको चारों ओर फैलाया। शकराचार्यने अपने मतके प्रचारके लिये भारतवर्षकी चारों दिशाओंमें चार बड़े तड़े मठ स्थापित किये थे। शकराचार्यने ब्रह्मसूत्र, दस उपनिषदोंपर भाष्य, गीताभाष्य आदि ग्रन्थ लिखे हैं। इसके अतिरिक्त शकराचार्यकी निवेकचूडामणि मोहमुद्गर आदि अनेक कृतियाँ भी बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रो० के० वी० पाठकके मतानुसार शकराचार्य ईसवी सन् ८ वीं सदीमें हुए हैं। शकराचार्य ३२ वर्षकी अवस्थामें समाविस्थ हुए। शकराचार्यजीको राजचन्द्रजीने महात्मा कहकर सन्तोषन किया है।

शांतसुधारस—

शांतसुधारसके कर्ता विनयविजयजी, हीरविजय सूरिके शिष्य कार्तिकविजयके शिष्य थे। विनय-विजयजी श्वेताम्बर आम्नायमें एक प्रतिभाशाली विद्वान् गिने जाते हैं। विनयविजयजीने भक्ति और

सन्तति, स्वास्थ्य आदि सब कुछ प्राप्त था। ईसवी सन् १८७७ में विक्टोरियाको कैसेरेइन्द (Empress of India) का खिताब मिला। इनकी ही प्रेरणासे लेडी डफरिनने भारतमें जनाने अस्पताल खोले थे। विक्टोरियाको इंग्लैंडके राजकोशसे ३७१८०० पौन्ड वार्षिक वेतन मिलता था। विक्टोरियाका अशक्ति बढ़ जानेके कारण सन् १९०१ में देहान्त हुआ।

विचारसागर—

विचारसागर वेदान्तशास्त्रका प्रवेशप्रथ माना जाता है। इसके कर्ता निश्चलदासका जन्म पञ्जाबमें स० १८४९ में जाट जातिमें हुआ था। निश्चलदासजीने बहुत समयतक काशीमें रहकर विद्याभ्यास किया। निश्चलदासजी अपने प्रथम दादुजीको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं। इन्होंने और सुदरदासजीने दादुपथकी बहुत वृद्धि की। निश्चलदासजीकी असाधारण विद्वत्तासे मुग्ध होकर बूढ़ीके राजा रामसिंहने उन्हें अपने पास बुलाकर रक्खा और उनका बहुत आदर सत्कार किया था। विचारसागर और वृत्तिप्रभाकर निश्चलदासजीके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। कहा जाता है कि इन्होंने सस्कृतमें ईशायास्य उपनिषद्पर भी टीका लिखी है, और वैद्यकशास्त्रका भी कोई ग्रन्थ बनाया है। इनका सस्कृतके २७ लाख श्लोकोंका किया हुआ सग्रह इनके 'गुरुद्वार' में अब भी विद्यमान बताया जाता है। विचारसागरकी रचना सन् १९०५ में हुई थी। इसमें वेदातकी मुख्य-मुख्य प्रक्रियाओंका बहुत सरलतापूर्वक प्रतिपादन किया है। यह मूलग्रन्थ हिन्दीमें है। इसके गुजराती, बंगाली, अंग्रेजी आदि भाषाओंमें भी अनुवाद हुए हैं। निश्चलदासजी ७० वर्षकी अवस्थामें दिल्लीमें समाधिस्थ हुए। विचारसागरके मनन करनेके लिये राजचन्द्रजीने मुमुक्षुओंको अनेक स्थलोंपर अनुरोध किया है।

विचारमाला (देखो अनाथदास)

विदुर—

विदुर एक बहुत बड़े भारी नीतिज्ञ माने जाते हैं। विदुर बड़े ज्ञानी, विद्वान् और चतुर थे। महाराज पांडु तथा धृतराष्ट्रने क्रमश इन्हें अपना मंत्री बनाया। ये महाभारतके युद्धमें पांडवोंकी ओरसे लड़े। अतमें इन्होंने धृतराष्ट्रको नीति सुनाई, और उन्हींके साथ वनको चले गये, और वहाँ अग्निमें जल मरे। इनका विस्तृत वर्णन महाभारतमें आता है। "सत्पुरुष विदुरके कहे अनुसार ऐसा कृत्य करना कि रातमें सुखसे सो सके।"—'श्रीमद् राजचन्द्र' पृ ५

विद्यारण्यस्वामी—

विद्यारण्यस्वामीके समयके विषयमें कुछ निश्चित पता नहीं चलता। विद्वानोंका अनुमान है कि वे सन् १३०० से १३९१ के बीचमें विद्यमान थे। विद्यारण्यस्वामिने छोटी अवस्थामें ही सन्यास ले लिया था। इन्होंने वेदोंके भाष्य, शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थोंके भाष्य, उपनिषदोंकी टीका, ब्रह्मगीता, सर्वदर्शनसंग्रह, शंकरदिग्विजय, पंचदशी आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। विद्यारण्यस्वामी सर्व शास्त्रोंके महान् पण्डित थे। इन्होंने अद्वैतमतका नाना प्रकारकी शुक्ति प्रयुक्तियोंसे सुन्दर प्रतिपादन किया है।

*विद्वार घुन्दावन—

इसका राजचन्द्रजीने एक पद उद्धृत किया है। इसके विषयमें कुछ विशेष ज्ञान नहीं हो सका।

थे । ये सदा भगवद्भक्ति और भगवद्विचारमें ही लीन रहते थे । गोपेश्वरजीने इस ग्रन्थकी टीका की है । यह ग्रन्थ पुष्टिमार्ग मध्याह्नमें सन् १९०७ म बड़ोदासे प्रकाशित हुआ है ।

शीलाङ्गमूरि—

शीलाङ्गमूरि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें एक अच्छे ग्रीक विद्वान् हो गये हैं । इन्होंने स० ९२५ में दश हजार श्लोकप्रमाण प्राकृतमें महापुरुषचरिय नामका ग्रन्थ बनाया है । शीलाङ्गमूरिने आचाराग और सूत्र-श्रुताग सूत्रोंके ऊपर ससृष्टतृप्तिकी रचना की है । उसके अतिरिक्त, कहा जाता है कि शीलाङ्गमूरिने वाङ्मयके नौ सूत्रोंपर भी टीकायें लिखी थीं । ये विच्छिन्न हो गईं, और बादमें अभयदेवसूरिने इन सूत्रोंकी नवीन टीकायें लिगीं । शीलाङ्ग आचार्यने और भी अनेक रचनायें की हैं । श्वेताम्बर विद्वानोंने शीलाङ्ग आचार्यका गुर्जरराजके गुरु और चारों पिचाओंका सर्जनकार उत्कृष्ट करि कहकर उल्लेख किया है ।

शुकदेव—

शुकदेवजी वेदव्यासजीके पुत्र थे । ये वाल्म्यायस्यामें ही सयासी हो गये थे । इन्होंने वेद-वेदाग, इतिहास, योग आदिका रत्न अभ्यास किया था । इन्होंने राजा जनरुके पास जाकर मोक्षप्राप्तिकी साधना सीखी, और रादमें जाकर छिमालय पर्यतपर कठोर तपस्या की । शुकदेवजी बहुत उड़े ज्ञान-योगी माने जाते हैं । इन्होंने राजा परीक्षितको शापकालमें भागवतकी कथा सुनाकर उपदेश दिया था । शुकदेवजी जीवमुक्त और चिरजीवी महापुरुष माने जाते हैं ।

श्रीपालरास (देखो विनयविजय और यशोविजय)

श्रेणिक—

श्रेणिक राजा जैन साहित्यमें बहुत सुप्रसिद्ध है । इन्होंने जनधर्मकी प्रभावनाके लिये बहुत कुछ किया है । इनके अनेक चरित आदि दिग्म्बर और श्वेताम्बर विद्वानोंने लिखे हैं । एक श्रेणिकचरित नामका महाकाव्य श्वेताम्बर विद्वान् जिनप्रभसूरिने लिखा है । इसका गुजराती अनुवाद जैनधर्म विद्याप्रसारक वर्ग पालिताणासे सन् १९०५ में प्रकाशित हुआ है ।

पद्दर्शनसमुच्चय (देखो हरिभद्रसूरि)

सन्मतितर्क (देखो सिद्धसेन)

सनत्कुमार (देखो मोक्षमाला पाठ ७०-७१)

समयसार (देखो कुन्दकुन्द और बनारसीदास)

समवायांग (आगमग्रन्थ)—इसका राजचन्द्रजीने प्रस्तुत ग्रन्थमें उल्लेख किया है ।

समन्तभद्र—

स्वामी समन्तभद्रका नाम दिग्म्बर सम्प्रदायमें बहुत महत्त्वका है । जैसे सिद्धसेन श्वेताम्बर सम्प्रदायमें, वैसे ही समन्तभद्र दिग्म्बर सम्प्रदायमें आदिस्तुतिकार गिने जाते हैं । समन्तभद्रने आसर्मासा (देवागमस्तोत्र), रत्नकरण्डश्रावकाचार, नृहस्वयभूस्तोत्र आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है । सिद्धसेन और समन्तभद्रकी कृतियोंमें कुछ श्लोक समानरूपसे भी पाये जाते हैं । प्रायः समन्तभद्र सिद्धसेनके समकालीन माने जाते हैं । समन्तभद्रसूरि अपने समयके एक प्रकाण्ड तार्किक थे । इन्होंने

वेराग्यका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। विनयत्रिजयजीने शातसुधारसको सन् १७२३ में लिखा है। इसके अतिरिक्त आपने लोकप्रकाश, नयकर्णिका, कल्पसूत्रकी टीका, स्वोपज्ञ टीकासहित हेमलघुप्रक्रिया आदि अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। विनयत्रिजयजीने श्रीपाठराजाका रास भी गुजरातीमें लिखा है। यह रास गुजराती भाषाका एक सुन्दर काव्यग्रन्थ माना जाता है। विनयत्रिजय इस रासको अपूर्ण ही छोड़ गये, और बादमें यशोत्रिजयजीने इसे पूर्ण किया। राजचन्द्रजीने श्रीपाठरासमेंसे कुछ पद उद्धृत किये हैं। राजचन्द्रजीने शातसुधारसके मनन करनेका कई जगह मुमुक्षुओंको अनुरोध किया है। इसका श्रीयुक्त मनसुखराम कीरतचदद्वारा किया हुआ गुजराती विवेचन अभी डॉ० भगवानदास मनसुखरामने प्रकाशित किया है।

शातिनाथ—

शातिनाथ भगवान् जैनोंके १६ वे तीर्थंकर माने जाते हैं। ये पूर्वभ्रममें मेघरथ राजाके जीव थे। एकवार मेघरथ पौषव लेकर बैठे हुए थे। इतनेमें उनकी गोदीमें एक कन्नूतर आकर गिरा। उन्होंने उस निरपराध पक्षीको आश्रयदान दिया। इतनेमें वहाँ एक बाज आया, और उसने मेघरथसे अपना कन्नूतर वापिस भोगा। राजाने बाजको बहुत उपदेश दिया, पर वह न माना। अन्तमें मेघरथ राजा कन्नूतर जितना अपने शरीरका माँस देनेको तैय्यार हो गये। काँटा मँगाया गया। मेघरथ अपना माँस काट काट कर तराजूमें रखने लगे, परन्तु कन्नूतर वजनमें बढ़ता गया। यह देखकर वहाँ उपस्थित सामत लोगोंमें हाहाकार मच गया। इतनेमें एक देव प्रगट हुआ और उसने कहा, महाराज! मैं इन दोनों पक्षियोंमें अधिष्ठित होकर आपकी परीक्षाके लिये आया था। मेरा अपराध क्षमा करें। ये ही मेघरथ राजा आगे जाकर शातिनाथ हुए। यह कथा त्रिपट्टिशलाकापुरुषचरितके ५ वें पत्रके ४ थे सर्गमें आती है।

शातिप्रकाश—

सुना जाता है कि राजचन्द्रजीके समय स्थानकवासियोंकी ओरसे शातिप्रकाश नामका कोई पत्र निकलता था।

शालिभद्र (देखो धनामद्र)

शिखरसूरि—

राजचन्द्रजीने प्रस्तुत ग्रन्थमें पृ ७७२ पर जेनयति शिखरसूरि आचार्यका उल्लेख किया है, जिन्होंने लगभग दो हजार वर्ष पहिले वैश्योंको क्षत्रियोंके साथ मिला दिया था। परन्तु आजसे दो हजार वर्ष पहिले शिखरसूरि नामके किसी आचार्यके होनेका उल्लेख पढ़नेमें नहीं आया। हाँ, रत्नप्रभाचार्य नामके तो एक आचार्य हो गये हैं।

शिक्षापत्र—

यह ग्रन्थ वेष्णवसम्प्रदायमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थमें ४१ पत्र हैं, जो हरिरायजीने अपने लघुभ्राता गोपेश्वरजीको सस्कृतमें लिखे थे। हरिरायजी वेष्णवसम्प्रदायमें बहुत अच्छे महात्मा हो गये हैं। इन्होंने अपना समस्त जीवन उपदेश और भगवत्सेवामें लगाया था। ये महात्मा सदा पैदल चलकर ही मुसाफिरी करते थे, और कभी किसी गान या शहरके भीतर मुकाम नहीं करते

थे । ये सदा भगवद्भक्ति और भगवद्विचारमें ही लीन रहते थे । गोपेश्वरजीने इस ग्रन्थकी टीका की है । यह ग्रन्थ पुष्टिमार्ग प्रयागलीमें सन् १९०७ में बड़ोदासे प्रकाशित हुआ है ।

शीलाङ्कसूरि—

शीलाङ्कसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें एक अच्छे प्रौढ़ विद्वान् हो गये हैं । इन्होंने स० ९२५ में दश हजार श्लोकप्रमाण प्राकृतमें महापुरुषचरिय नामका ग्रन्थ बनाया है । शीलाङ्कसूरिने आचार्यग और सूत्र-कृतांग सूत्रोंके ऊपर सश्रुतश्रुतिकी रचना की है । इसके अतिरिक्त, कहा जाता है कि शीलाङ्कसूरिने बानीके नौ सूत्रोंपर भी टीकायें लिखी थीं । ये मिथिञ्च हो गईं, और बादमें अभयदेवसूरिने इन सूत्रोंकी नवीन टीकायें लिखीं । शीलाङ्क आचार्यने और भी अनेक रचनायें की हैं । श्वेताम्बर विद्वानोंने शीलाङ्क आचार्यका गुर्जरराजके गुरु और चारों विद्याओंका सर्जनकार उद्वृष्ट कवि कहकर उल्लेख किया है ।

शुकदेव—

शुकदेवजी वेदव्यासजीके पुत्र थे । ये ज्ञान्यासस्थामें ही सत्यासी हो गये थे । इन्होंने वेद-वेदाङ्ग, इतिहास, योग आदिका सूत्र अभ्यास किया था । इन्होंने राजा जनकके पास जाकर मोक्षप्राप्तिकी साधना सीधी, और बादमें जाकर हिमालय पर्वतपर कठोर तपस्या की । शुकदेवजी बहुत बड़े ज्ञान-योगी माने जाते हैं । इन्होंने राजा परीक्षितको शापकालमें भागवतकी कथा सुनाकर उपदेश दिया था । शुकदेवजी जीनमुक्त और चिरजीवी महापुरुष माने जाते हैं ।

श्रीपालरास (देखो विनयविजय और यशोविजय)

श्रेणिक—

श्रेणिक राजा जैन साहित्यमें बहुत सुप्रसिद्ध है । इन्होंने जैनधर्मकी प्रभाषनाके लिये बहुत कुछ किया है । इनके अनेक चरित आदि दिग्म्बर और श्वेताम्बर विद्वानोंने लिखे हैं । एक श्रेणिकचरित नामका महाकाव्य श्वेताम्बर विद्वान् जिनप्रभसूरिने लिखा है । इसका गुजराती अनुवाद जैनधर्म विद्याप्रसारक वर्ग पालिताणासे सन् १९०५ में प्रकाशित हुआ है ।

पद्दर्शनसमुच्चय (देखो हरिभद्रसूरि)

सन्मतितर्क (देखो सिद्धसेन)

सनत्कुमार (देखो मोक्षमाला पाठ ७०-७१)

समयसार (देखो कुन्दकुन्द और बनारसीदास)

समवायांग (आगमग्रन्थ)—इसका राजचन्द्रजीने प्रस्तुत ग्रन्थमें उल्लेख किया है ।

समन्तभद्र—

स्वामी समतभद्रका नाम दिग्म्बर सम्प्रदायमें बहुत महत्त्वका है । जैसे सिद्धसेन श्वेताम्बर सम्प्रदायमें, वैसे ही समतभद्र दिग्म्बर सम्प्रदायमें आदिस्तुतिकार गिने जाते हैं । समतभद्रने आत्ममीमासा (देसागमस्तोत्र), रत्नकरण्डश्रावकाचार, बृहत्स्ययभूस्तोत्र आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है । सिद्धसेन और समतभद्रकी कृतियोंमें कुछ श्लोक समानरूपसे भा पाये जाते हैं । प्रायः समतभद्र सिद्धसेनके समकालीन माने जाते हैं । समतभद्रसूरि अपने समयके एक प्रकाण्ड तार्किक थे । इन्होंने सिद्धसेनके समकालीन माने जाते हैं ।

जैनैतर विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करके जैनधर्मकी घजापताका फहराई थी। ये परीक्षाप्रधानी थे। श्वेताम्बर साहित्यमें भी स्वामी समतभद्रका नाम बहुत महत्त्वके साथ लिया जाता है। राजचन्द्रजीने आसमीमासाके प्रथम श्लोकका विवेचन लिखा है, और उसके भापातर करनेका किसी मुमुक्षुको अनुरोध किया है। समतभद्रकी गधहस्तिमहाभाष्य टीकाके निपयमें देखो पृ. ८०० का फुटनोट।

सहजानन्द स्वामी—

स्वामीनारायण सम्प्रदायके स्थापक सहजानन्द स्वामी अपने समयके महान् पुरुषोंमें गिने जाते हैं। इनका जन्म सन् १७८१ में हुआ था, इन्होंने सन् १८३० देहत्याग किया। इनके गुरुका नाम स्वामी रामानन्दजी था। इन्होंने तीस वर्षतक गुजरात, काठियावाड़ और कच्छमें घूम घूमकर हिंदु-अहिंदु समस्त जातियोंको अपना उपदेश सुनाया। इन्होंने चित्तशुद्धिके ऊपर सबसे अधिक भार दिया, और लोगोंको शराव माँस आदिका त्याग, ब्रह्मचर्यका पालन, यज्ञमें हिंसाका निषेध, व्रत सयमका पालन 'इत्यादि बातोंका उपदेश देकर सुमार्गपर चढ़ाया। सहजानन्द स्वामीकी शिक्षापत्री, धर्माभूत और निष्कामशुद्धि पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। इनमें शिक्षापत्री अधिक प्रसिद्ध है। शिक्षापत्रीमें २१२ श्लोक हैं, जिनमें गृहस्थ, सधना, विधवा, ब्रह्मचारी, साधु आदिके कर्त्तव्यधर्म आदिका विवेचन किया है। सहजानन्द स्वामीके वचनाभूतका संग्रह गुजराती भाषाका एक रत्न माना जाता है। 'सहजानन्द स्वामी अथवा स्वामिनारायण संप्रदाय'के ऊपर किशोरीलाल मशरूवाळाने गुजरातीमें पुस्तक लिखी है।

सिद्धप्राभूत (देखो कुन्दकुन्द)

सिद्धसेन—

सिद्धसेन दियाकर श्वेताम्बर आम्नायमें प्रमाणशालके प्रतिष्ठाता एक महान् आचार्य हो गये हैं। सिद्धसेन संस्कृत प्राकृतके उच्च कोटिके स्वतंत्र प्रकृतिके आचार्य थे। इन्होंने उपयोगनाद, नयवाद आदि सिद्धांतोंको जैनधर्मकी प्रचलित मान्यताओंसे भिन्नरूपसे ही स्थापित किया था। सिद्धसेन दिगम्बर परम्परामें भी बहुत सन्मानकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। सिद्धसेनने सन्मतितर्क, न्यायात्रतार, महावीर भगवान्की स्तुतिरूप द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका आदि ग्रंथोंकी रचना कर जैनसाहित्यकी महान् सेवा की है। द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिकामें इन्होंने वेद, वैशेषिक, सांख्य आदि दर्शनोंपर द्वात्रिंशिकायें रचकर सत्र दर्शनोंका समन्वय किया है। सिद्धसेन दियाकरके सबधमें बहुतसी किंवदन्तिया प्रसिद्ध हैं। इनका समय ईसवी सन्की चौथी शताब्दि माना जाता है। सन्मतितर्क न्यायका बहुत उत्तम ग्रंथ है। इसपर अभयदेवसूरिका टीका है। इस ग्रंथका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन प० सुखलाल ओर बेचरदासजीने किया है। यह गुजरात विद्यापीठसे निकला है। राजचन्द्रजीने सन्मतितर्कका अनलोकन किया था।

सुदर्शन सेठ (देखो मोक्षमाला पाठ ३३)

सुदृष्टितरगिणी—

इस ग्रंथके रचयिता प० टेकचन्द्रजी दिगम्बर विद्वान् हो गये हैं। इन्होंने स० १८३८ में भद्र-शालपुरमें ग्रंथको लिखकर समाप्त किया था। सुदृष्टितरगिणीमें ४२ पंक्तियाँ हैं, जिनमें जैनधर्मके सिद्धांतोंको सरल हिन्दी भाषामें बहुत अच्छी तरह समझाया गया है। इस ग्रंथको वीर स० २४५४ में पनालाल चौधरीने बनारसमें प्रकाशित किया है।

संगम—

संगम देवताने जो महारीस्वामीको परिपट्ट दिये, उनका वर्णन हेमचन्द्रके त्रिपट्टिशालाका-
पुरुषचरित (१० वॉ पर्य) आदि ग्रंथोंमें आता है ।

सुदरदास—

सुदरदास जातिके ग्रनिये थे । इनका जन्म सं० १६५३ में जयपुर राज्यमें हुआ था । एक समय दादूदयाल इनके गौरवमें पधारे । ये उनके शिष्य हो गये और उनकी साथ रहने लगे । सुदरदासजी उन्नास वरस काशीमें रहकर सस्कृत, वेदातदर्शन, पुराण आदिका अध्ययन करते रहे । सुदरदासजीका स्वभाव बहुत मधुर और आकर्षक था । बालकोंसे ये बहुत प्रेम करते थे । ये बाल-ब्रह्मचारी थे । स्वच्छताको ये बहुत पसन्द करते थे । सुदरदासजीका कविताका हिंदी साहित्यमें बहुत सम्मान है । इनकी कवितासे प्रकट होता है कि ये अच्छे ज्ञानी और काव्य कलाके मर्मज्ञ थे । इन्होंने वेदान्तपर अच्छी कविता की है । इन्होंने सुदरविलास, सुदर अष्टक, ज्ञानविलास आदि संग मिलकर ४० ग्रंथोंकी रचना की है । सुदरदासजीने सं० १७४६ में सागानेरमें शरीर त्याग किया । राजचन्द्रजीने सुदरदासजीके पथ उद्धृत किये हैं । राजचन्द्रजी उनके ग्रियमें लिखते हैं—
“ श्रीरूपीर सुदरदास आदि साधुजन आत्मार्थी गिने जाने योग्य हैं, और शुभेच्छासे ऊपरकी भूमिकाओंमें उनकी स्थिति होना समभव है ” ।

सुंदरी (मोक्षमाला पाठ १७)

सुभूम (मोक्षमाला पाठ २५)

सूपगढाग (आगमग्रथ)—इसका राजचन्द्रजीने कई जगह उल्लेख किया है ।

हरिभद्र—

हरिभद्रसूरि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उच्च कोटिके एक मार्मिक विद्वान् हो गये हैं । इन्होंने सस्कृत और प्राकृतमें अनेक उत्तमोत्तम दार्शनिक और धार्मिक ग्रंथोंकी रचना की है । इन्होंने पद्दर्शन-समुच्चयमें छहों दर्शनोंकी निष्पक्ष समालोचना की है । हरिभद्रसूरिका साहित्य बहुत विपुल है । इन्होंने प्रायः हरेक ग्रियपर कुछ न कुछ लिखा ही है । अनेकातनादप्रवेश, अनेकातजयपताका, अष्टकप्रकरण, शास्त्रमार्त्तासमुच्चय, पद्दर्शनसमुच्चय, धर्मत्रिदु, धर्मसप्रहणी, योगत्रिदु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगप्रदीप, लोकात्मनिर्णय क्षेत्रसमासटीका, समराइचकहा आदि इनके मुख्य ग्रंथ हैं । हरिभद्रसूरि बहुत सरल और सोम्यवृत्तिके विद्वान् थे । वे जैनेतर ऋषियोंका भी बहुत सम्मानके साथ स्मरण करते हैं । हरिभद्र नामके जैन परम्परामें अनेक विद्वान् हो गये हैं । प्रस्तुत याकिनीसूत्र हरिभद्रका करते हैं । हरिभद्र नामके जैन परम्परामें अनेक विद्वान् हो गये हैं । प्रस्तुत ग्रंथमें उल्लेख किया है । योगदृष्टिसमुच्चयका योगत्रिदु, योगदृष्टिसमुच्चय, और पद्दर्शनसमुच्चयका प्रस्तुत ग्रंथमें उल्लेख किया है । राजचन्द्रजीने योगदृष्टि-अनुसरण करके यशोत्रिजयजीने योगदृष्टिनी सञ्ज्ञाय गुजरातीमें लिखी है । राजचन्द्रजीने योगदृष्टि-समुच्चयका और पद्दर्शनसमुच्चयका फिरसे भाषांतर करनेका किसी मुसलुकी अनुरोध किया है ।

हेमचन्द्र—

हेमचन्द्र श्वेताम्बर परम्परामें महान् प्रतिभाशाली आचार्य हो गये हैं । इनका जन्म ५५
ग्राममें मोढ वणिक् जातिके सन् १०७८ में हुआ था । उनके गुरुका नाम देवचन्द्रसूरि

हेमचन्द्र चारों दिशाओंके समुद्र थे, और वे कलिकालसर्पज्ञके नामसे प्रख्यात थे। कहा जाता है कि हेमचन्द्र आचार्यने सब मिलाकर साढ़े तीन करोड़ श्लोकोंकी रचना की है। हेमचन्द्रने व्याकरण, तर्क, साहित्य, छन्द, योग, नीति आदि विभिन्न विषयोंपर अपनी लेखनी चलाकर जैन साहित्यके गौरवको बढ़ाया है। हेमचन्द्रने गुजरातकी राजधानी अणहिल्लपुर पाटणमें सिद्धराज जयसिंहकी सभामें बहुत सन्मान प्राप्त किया था, और सिद्धराजके आग्रहसे गुजरातके लिये सिद्धहेमशब्दानुशासन नामक व्याकरणकी रचना की थी। सिद्धराजके उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल हेमचन्द्रको राजगुरुकी तरह मानते थे। राजचन्द्रजी लिखते हैं—“ श्रीहेमचन्द्राचार्य महाप्रभावक बलवान क्षयोपशमवाले पुरुष थे। वे इतने सामर्थ्यवान् थे कि वे चाहते तो एक जुदा ही पथ चला सकते थे। उन्होंने तीस हजार घरोंको श्रानक बनाया। तीस हजार घर अर्थात् सत्ता लाखसे डेढ़ लाख मनुष्योंकी सत्या हुई। श्रीसहजानन्दजीके सम्प्रदायमें कुल एक लाख आदमी होंगे। जब एक लाखके समूहसे सहजानन्दजीने अपना सम्प्रदाय चलाया तो श्रीहेमचन्द्राचार्य चाहते तो डेढ़ लाख अनुयायियोंका एक जुदा ही सम्प्रदाय चला सकते थे। परन्तु श्रीहेमचन्द्राचार्यको लगा कि सम्पूर्ण वीतराग सर्वाज्ञ तीर्थंकर ही धर्मप्रवर्तक हो सकते हैं। हम तो केवल उन तीर्थंकरोंकी आज्ञासे चलकर उनके परमार्थमार्गको प्रकाश करनेके लिये प्रयत्न करनेवाले हैं। श्रीहेमचन्द्राचार्यने वीतरागमार्गके परमार्थका प्रकाश करनेरूप लोकानुग्रह किया, 'धसा करनेकी जरूरत भी थी। वीतरागमार्गके प्रति निमुखता और अन्यमार्गकी तरफसे विपत्तता ईर्ष्या आदि आरम्भ हो चुके थे। ऐसी विपत्ततामें लोगोंको वीतराग मार्गकी ओर फिराने, लोकोपकार करने तथा उस मार्गके रक्षण करनेकी उन्हें जरूरत मालूम हुई। हमारा चाहे कुछ भी हो, इस मार्गका रक्षण होना ही चाहिये। इस तरह उन्होंने अपने आपको अर्पण कर दिया। परन्तु इस तरह उन जैसे ही कर सकते हैं—वैसे भाग्यवान्, महात्म्यवान्, क्षयोपशमवान् ही कर सकते हैं। जुदा जुदा दर्शनोंको यथायत् तोलकर अमुक दर्शन सम्पूर्ण सत्यस्वरूप हैं, जो ऐसा निश्चय कर सके, ऐसा पुरुष ही लोकानुग्रह परमार्थप्रकाश और आत्मसमर्पण कर सकता है।” राजचन्द्रजीने हेमचन्द्रके योगशास्त्रके मंगलाचरणका विवेचन भी किया है।

क्षेत्रसमास—

क्षेत्रसमासके कर्त्ता श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जैनसिद्धातके प्रखर विद्वान् जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं। इनका जन्म स० ६४५ में हुआ था। इन्होंने विशेषानन्दकभाष्य निशपण्यती आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। जिनभद्रगणिके क्षेत्रसमासके ऊपर मलयगिरीकी टीका है। प्रकरणरत्नाकरमें रत्नशेखरसूत्रकृत लघुक्षेत्रसमास भाषांतर सहित छपा है।

ज्ञानेश्वरी—

ज्ञानेश्वर महाराजका जन्म स० १३३२ में हुआ था। इनके पिताने सन्यासी होकर वादमें गृहस्थाश्रम धारण किया था। ज्ञानेश्वर महाराजने भानार्दीपिका नामक मराठीमें गीताकी व्याख्या लिखी है, जो दक्षिणमें बहुत उच्च श्रेणीकी मानी जाती है। यह व्याख्यान अद्वैतज्ञानसे पूर्ण है। ज्ञानेश्वरी महाराजने इस ग्रन्थको १५ वें वर्षमें लिखा है। ज्ञानेश्वरने अमृतानुभव नामका एक वेदात्मक ग्रन्थ भी लिखा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अन्य अनेक पद अमग आदि रचे हैं। ज्ञानेश्वरने २१ वर्षकी अवस्थामें जीवित समाधि ली। ज्ञानेश्वरी गीताके हिन्दी गुजराती अनुवाद भी हुए हैं।

परिशिष्ट (२)

‘ श्रीमद् राजचन्द्रमें आये हुए उद्धरणोंकी वर्णानुक्रमसूची

शुद्ध लाइन

×अने (गी) पुरत (ग) एक बरत हे (हे) । [एक संख्या] ४५०-२८

*अजाहोतव्य (अज्ञेयव्य) [शतपथब्राह्मण १] २७-३३

अधुने असासपमि समार (र) मि दुग्ग (क) पउराए ।

किं नाए दुप्पयत्तकम्मय (इज्ज कम्म) जेणाए दुग्गइ (ई) नगळेया (न गच्छिज्जा) ॥

[उत्तराण्ययन ८-१] ९९-४

अनुक्ते समय स्पर्शतोजी पाम्पो क्षायकभाए रे ।

मयमध्रेणां कृउडेजी पूगू पद निघान रे ॥

[मयमध्रेणांस्तितान १-२ पठित उत्तमविजयजी, प्रकरणरत्नाकर भाग २ पृ. ६९९] २७५-४, ११

अय पुरपकी दृष्टिमें जग व्यवहार लप्पाय ।

धृदायन जत्र जग नहीं कीन (को) व्यवहार जताय * [विहार वृन्दायन] ४८८-१९

अउग्न नाम धुनी लगी गगनमें भगन भया मन मेराजी ।

आसन मारी सुरत दृढधारी दिया अगम-घर डेराजी ॥ दरश्या अलख देदाराजी ।

[टोटम-अप्यागभानमाला पद १३३ पृ ४९, कश्चनजी धर्मसिंह बम्बई, १८९७] २२६-१९

अपि अप्पणोपि देहंमि नापरति ममाइय । [] ४०२-१८

अहर्निश अपिको प्रेम लगारे जोगानल घटमाटि (माहि) जगामे ।

अप्याहार आसन दृढ़ धरे नयनथकी निद्रा परटरे ॥

[स्वरौदयज्ञान ९८, पृ २६ चिदानन्दजी, भीमसिंह माणेक बम्बई १९२४] १२९-९

अहो जिणेहिऽमाउज्जा भित्ति (सी) साहु (ह) ण देसिय (या) ।

मोय (कख) साहणटेउस्स साहुदेहस्स धारणा ॥

[दशमेकाटिकसूत्र ५-१-९२ प्रो अभ्यकरद्वारा सम्पादित १९३२] ७३४-३१

अहो नि (णि) च तत्रो कम्म सञ्जिणेहिं वनि (णि) य ।

जान (य) लज्जासमा भित्ति (स्त्री) एगभत्त च भोयण ॥ [दशमेकाटिकसूत्र ६-२३] ७३५-४

अज्ञानतिमिराधाना ज्ञानाजनशलाकया ।

शुद्ध लाइन

× अक्षय पुरष एक वृष है ।

* मूलमें राजचन्द्रजीने ‘अजाहोतव्य’ पाठ दिया है । यही पाठ रखना चाहिये ।

पृष्ठ लाइन

कम्मदब्बोहिं सम्म (म) सजोगो जो होई जीवस्स । ५०४-२ }
 सो बधो ना (णा) यब्बो तस्स नियोगो भव (वि) मोल्लखो (क्खो) ॥ ६२३-१७ }
 [] ७९६-७ }

करना फकीरि (री) क्या दिलगीरी सदा मगन मन रहे (ह) नाजी ।

[यह पद छोटमकृत कीरतनमालामें पृष्ठ ६२ पर दिया हुआ है] २२७-२

कर्त्ता मटे तो छूटे कर्म ए छे महा भजननो मर्म ।

जो तु जीव तो कर्त्ता हरी जो तु शिव तो वस्तु खरी ।

तु छो जीवने तु छो नाथ एम कही अणे शटक्या हाथ । [अखा] २६७-२६

किं बहुणा इत्त जह जह रागादोषा बहु मिलयति (रागदोसा लहु मिलिजति) ।

तह तह वटीअव (पयट्टिअव्व) एसा आणा जीण (जिणिं) दाणम् ॥

[उपदेशरहस्य-यशोविजयजी] ३२८-२८

कीचसो (सो) कनक जाके (के) नीच सो (सौ) नरेश (स) पद

मीचसी मित्ता (ता) ईं गर (रु) वाईं जाके (कै) गारसी ।

जहरसी जोग-जानि (ति) कहरसी कराम (मा) ति

हहरसी हौंस (हौस) पुदगल-ठनी (वि) ऊरसी ।

जालसो (सौ) जग-विलाम भालसो (सौ) भुननवास

कालसो (सौ) कुटुवकाज लोकलाज लारसी ।

सीठसो (सौ) सुजसु जाने वी (वी) ठसो (सौ) बखत मानै

ऐसी जाकी रीति ताही व (व) दत बनारसी ॥

[समयसारनाटक वधद्वार १९, पृ २३४-५]

६७८-१४

कोईं ब्रह्मरसना भोगी कोईं ब्रह्मरसना भोगी ।

जाणे कोईं निरला जोगी कोईं ब्रह्मरसना भोगी ॥

[सभन है यह पद स्वयं राजचन्द्रजीने बनाया हो ।]

२३३-३०

गुरु गणधर गुणधर अधिक प्रचुर परपर ओर ।

व्रत तपधर तनु नगनध (त) र वदौ वृष सिरमो (मो) र ॥

[स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा-प जयचन्द्रकृत अनुवादका मंगलाचरण ३,

जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बई १९०४]

गुरुणो छदाणु वत्त (उदाणुवत्ति)

[

७५५-५ }

७९१-२० }

] ५९१-११

+ इरीषि मिलता जुलता अलाका एक पद निम प्रकारसे है — ' ब्रह्मरस ते पीअ रे, जे आप त्यागी होय । '

—सम्पादक

घट घट अतर जिन बसे (सै) घट घट अतर जैन । पृष्ठ लाइन

मत (ति) मदिराके पानसें (सौं) मतयारा समजै (समुझे) न ॥

[समयसारनाटक प्रथसमाप्ति और अन्तिम प्रशस्ति ३१, पृ ५३८] ७७५-१३

चरमानर्त्त हो चरमकरण तथा भवपरिणति परिपाक रे ।

दोष टळे न द्र (दृ) टि खुळे (ले) भली प्रापति प्रनचनवाक रे ॥ १ ॥

परिचय पात (ति) कघातक साधुशु अकुशल अपचय चेत रे ।

प्रथ अध्यातम श्रमण मनन करी परिशीलन नय हेत रे ॥ २ ॥

मुगध (ग्ध) सुगम करी सेन लेखने सेवन अगम अनूप रे ।

देजो कदाचित सेनक याचना आनदघनरसरूप रे ॥ ३ ॥

७४०-२ }

[आनदघनचौबीसी सभवनाथ जिनस्तवन ३, ४, ६, पृ १६, १७, १९]

७४२-९ }

चर्द्ध सो बधे (धो)

[भगवती ?]

७८३-६

चाहे चकोर ते चदने मधुकर मालती भोगी रे ।

तेम (तिम) भनि सहजगुणे होये उत्तम निमित्तसजोगी रे ॥

[आठ योगदृष्टिनी स्वाध्याय १-१३, पृ ३३१]

७४२-७

चित्रसारी न्यारी परजक न्यारो (रौ) सेज यारी

चादर (रि) भी न्यारी इहाँ जू (झू) ठी मेरी थपना ।

अतीत अवस्था सैन निद्रा वही (निद्रावाहि) कोउ पेन (पे न)

विद्यमान पलक न यामें (में) अब छपना ।

इना (स्वा) स औ सुपन दोउ (ऊ) निद्राकी अलग बुझे (बूझे)

सूझै सब अग लखी (खि) आतम दरपना ।

त्यागी भयो (यौ) चेतन अचेतनता भाव त्यागी (गि)

भाले (ले) दृष्टि खोलिके (के) सभाले (लै) रूप अपना ॥

[समयसारनाटक निर्जराद्वार १५, पृ १७६-७] ६७७-५

भाध्य चूर्णि (चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति), वृत्ति परपर अनुभव रे ।

[आनदघनचौबीसी नमिनाथजिनस्तवन ८, पृ १६१] ७४६-१२

ज(ज)ण ज(ज)ण दिस ई(इ)च्छइ त(त)ण त(त)ण दिस अपडिन्दे । [आचाराग ?] १९८-२

जगहि तैं(जबहीतैं) चैनत(चेतन) विभाजसों(सौं) उलटि आपु

समो(मे) पार्इ(इ) अपनो(नौ) सुभाज गहि लीनो(नो) हे ।

तनहितैं (तबहीतैं) जो जो लेन जोग सो सो सन लीनो (नी)

जो जो त्यागजोग सो सो सब छाडी(डि) दीनो(नौ) हे ।

लेने (लैने) की (कौं) न रही ठो (ठो) र त्यागिवेको (कौं) नार्ही और

वाकी कहा उवर्यो (यौं) जु कारज (जु) ननीनो (ननीनो) हे ।

सग त्यागी (गि) अग त्यागी (गि) वचन तरग त्यागी (गि)

मन त्यागी (गि) बुद्धि त्यागी (गि) आपा शु (सु) द्ध कीनो (नौ) है ॥

[समयसारनाटक सर्वविशुद्धिद्वार १०९, पृ ३७७-८] २८२-५

जारिस सिद्धसहायो तारिस सहायो सव्वजीवाण ।

तम्हा सिद्धतरुई कायव्वा भव्वजीनेहिं ॥ [सिद्धप्राभृत—कुन्दकुन्द] ६३६-१४

जिन धई (इ) जिनने जे आराधे ते सही (हि) जिनवर होवे रे ।

अ (भृ) गी ईलीकाने चटकापे ते अ (भृ) गी जग जोवे रे ॥ { ३०४-११

[आनंदधनचौरीसी-नमिनाथजिनस्तयन ७, पृ १६०] { ३०७-१८

जिनपूजा रे ते निजपूजना [रे प्रगटे अन्वयशक्ति ।

परमानद तिलासी अनुभवे रे देवचन्द्र पद व्यक्ति] ॥ [वासुपूज्यस्तयन ७—देवचन्द्रजी] ६३६-१८

जिसने आत्मा जान ली उसने सब कुछ जान लिया ।

[जे एग जाणई से सब जाणई] [आचाराग १-३-४-१२२] १०-४

जीन (मन) तु शीद शोचना धरे २ कृष्णने करवु होय ते करे ।

जीन (चित्त) तु शीद शोचना धरे २ कृष्णने करवु होय ते करे ॥

[दयाराम पद ३४, पृ. १२८, दयारामकृत भक्तिनीतिकान्वयसंग्रह अहमदाबाद १८७६]

३४६-१६

जीन ननि पुगली नैव पुगल कदा पुगलाधार नहीं तास रगी ।

पर तणो ईश नहीं अपर ऐश्वर्यता वस्तु धर्मे कदा न परसगी ॥

[सुमतिजिनस्तयन ६ देवचन्द्रजी] २७९-१६

जूनो (वा) आमिप मदिरा दारी आहे (खे) टक चोरी परनारी ।

एहि (ई) सप्तव्यसन (सात विसन) दु (दु) खदाई दुरित मूल दुर्गति (दुरगति) के जाई (भाई) ॥

[समयसारनाटक साध्यसाधकद्वार २७ पृ ४४४] ३८२-३०

जे अबुद्धा महाभाग वीरा असमत्तदसिणो ।

असुद्ध तेसि (सिं) परकृत सफल होई सव्वसो ॥ १ ॥

जे य बुद्धा महाभाग वीरा सम्मत्तदसिणो ।

सुद्धं तेसि परकृत अफल होई सव्वसो ॥ २ ॥ [सूत्रकृताग १-८-२२, २३ पृ ४२] ३६१-१०

(जे) एग जाणई से सब जाणई । जे सब जाणई से एग जाणई ॥

[आचाराग १-३-४-१२२] १५३-१०

जे जाणई (इ) अरिहते दव्वगुणपज्जनेहिं य ।

सो जाणई (इ) नियअप्पा मोहो खलु जाईय (जाइ) तस्स लय ॥

[प्रवचनसार १-८० पृ १०१—कुन्दकुन्दाचार्य, रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला १९३५] ६३५-२२

जेनो काळ ते किंकर थई रखो मृगतृष्णाजल त्रैलोक (लोक) ॥ जीव्यु धन्य तेहनु ।

दासी आशा पिशाची थई रही कामक्रोध ते केदी लोक ॥ जीव्यु० ।

(दीसे) खातां पीता बोलता निखे छे निरजन निराकार ॥ जीव्यु० ।

जाणे सत सलुणा (सलोणा) तेहने जेने होय उल्लो (लो) अवतार ॥ जीव्यु ।

जगपावनकर ते अवतर्पा अन्य मातउदरनो भार ॥ जीव्यु० ।

तेने चोद लोकमा निचरतां अतराय कोईए (कोये) नय धाय ॥ जीव्यु० ।

रिद्धि (धि) सिद्धि ते (धियो) दासियो थई रही ब्रह्मानद हृदे न समाय ॥ जीव्यु० ॥

[मनहरपद पद १५-२९, ३१, ३६, ३७, ३८, ३९, पृ १५—मनोहरदासकृत,
सस्तु साहित्यमर्धक कार्यालय, बम्बई स १९६९] ७४९-९

जे (जो) पुमान परधन हरे सो अपरावि (धी) अज्ञ ।

जो अपनो (नो) धन विनहरे (व्योहरे) सो धनपति धर्मज्ञ ॥

[समयसारनाटक मोक्षद्वार १८, पृ २८६] ७८६-१६

जेम निर्मळता रे रत्न स्फटिकतणीं तेमज जीवस्वभावन रे ।

ते जिनवीरे रे धर्म प्रकाशियो प्रवळ कपाय अभावन रे ॥

[नयरहस्य श्रीसीमधरजिनस्तवन २-१७ पृ २१४—यशोविजय] ४४१-१९

जैसे कचुकत्यागसें विनसत नहीं भुजग ।

देहत्यागसें जीन पुनि तैसें रहत अभग ॥ [स्वरोदयज्ञान ३८६ पृ ९२—चिदानन्दजी] १२८-२५

जैसे मृग मत्त वृषादित्यकी तपति (त) माही (हि)

तृपायत मृषाजल कारण (न) अटतु हे ।

तैसें भवनासी मायाहीसों (सों) हित मानि मानि

ठानि ठानि भ्रम भूमि (भ्रम) नाटक नटतु है ।

आगेकों (आगेकों) हु (धु) कत धाय (इ) पा (पी) छे बळरा चराय (चंगइ)

जैसें दग् (नैन) हीन नर जेगरि व (व) टतु है ।

तैसें मूढ चेतन सुकृत करवति करे

शे (रो) वत ह (हँ) सत फल खोनत खटतु है ॥

[समयसारनाटक वधद्वार २७, पृ २४२] ३२८-१६

जैसो (सौ) निरभेदरूप निहचें (चै) अतीत हुतो (हुतौ)

तैसो (सौ) निरभेद अत्र भेदकोन (भेद कौन) ग (क) है (है) गो (गो) ।

सग त्यागी (गि) अग त्यागी (गि) वचन तरग त्यागी (गि)

मन त्यागी (गि) बुद्धि त्यागी (गि) आपा शु (शु) द्ध कीनो (नो) है ॥

[समयसारनाटक सर्वत्रिशुद्धिद्वार १०९, पृ ३७७-८] २८२-५

जारिस सिद्धसहाजो तारिस सहाजो सब्जजीनाग ।

तम्हा सिद्धतरुई फायव्वा भवजिपेहि ॥ [सिद्धप्राभृत—कुन्दकुन्द] ६३६-१४

जिन थई (इ) जिनने जे आराधे ते सही (हि) जिनवर होये रे ।

भ्र (भृ) गी ईलीकाने चटकावे ते भ्र (भृ) गी जग जोधे रे ॥ { ३०४-११

[आनदघनचौनीसी-नमिनाथजिनस्तनन ७, पृ १६०] { ३०७-१८

जिनपूजा रे ते निजपूजना [रे प्रगटे अन्वयशक्ति ।

परमानद खिलासी अनुभवे रे देवचन्द्र पद व्यक्ति] ॥ [वासुपूज्यस्तनन ७—देवचन्द्रजी] ६३६-१८

जिसने आत्मा जान ली उसने सग कुठ जान लिया ।

[जे एग जाणई से सब्ज जाणई] [आचाराग १-३-४-१२२] १०-४

जीव (मन) तु शीद शोचना धरे १ कृष्णने करखु होय ते करे ।

जीप (चित्त) तु शीद शोचना धरे १ कृष्णने करखु होय ते करे ॥

[दयाराम पद ३४, पृ १२८, दयारामकृत भक्तिनीतिकाव्यसंग्रह अहमदाबाद १८७६]

३४६-१६

जीन ननि पुगली नैव पुगल कदा पुगलाधार नहीं तास रगी ।

पर तणो ईश नहीं अपर ऐश्वर्यता वस्तु धर्म कदा न परसगी ॥

[सुमतिजिनस्तनन ६ देवचन्द्रजी] २७९-१६

जूनो (वा) आमिप मदिरा दारी आहे (खे) टक चोरी परनारी ।

एहि (ई) सप्तन्यसन (सात निसन) दु (दु) खदाई दुरित मूल दुर्मति (दुरगति) के जाई (भाई) ॥

[समयसारनाटक साध्यसाधकद्वार २७ पृ ४४४] ३८२-३०

जे अयुद्धा महाभागा वीरा असमत्तदसिणो ।

असुद्ध तेसि (सि) परधत सफल होई सब्जसो ॥ १ ॥

जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदसिणो ।

सुद्ध तेसि परधत अफल होई सब्जसो ॥ २ ॥ [सूत्रकृताग १-८-२२, २३ पृ ४२] ३६१-१०

(जे) एग जाणई से सब्ज जाणई । जे सब्ज जाणई से एग जाणई ॥

[आचाराग १-३-४-१२२] १५३-१०

दर्शन जे थयां जूजनां ते ओच नजरने फेरे रे ।

पृष्ठ लाइन

दृष्टि थिरादिक तेदुमां सनकित दृष्टिने हरे रे ॥

[आठ योगदृष्टिनी स्वाध्याय १-५, ३ पृ ३३०]

२७५-१५

देगत भूळी टळे तो सर्प दु गनो क्षय थाय । []

४७०-२

देरागमनभोयानचामरादिभिभूतय ।

७८४-२५ }

मायापि नपि दृश्यते नातस्त्वमसि नो महार ॥ [आममीमांसा १-समतभद्र]

८००-११ }

देहाभिमाने गळिते मिज्ञाते परमात्मनि ।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधय ॥ []

२४२-१८

दुर्वृळ देहने मास उपवासी जो उ मायारग रे ।

तो पण गर्भ धनता छेसे बोळे बांजु अग रे ॥ []

५३२-९

धन्य ते मुनियरा जे चाळे समभाये ज्ञानवत ज्ञानिशु मळता तनमनवचने साचा ।

स्व्यभार सुधा जे भाळे साची जिननी वाचा धन्य ते मुनियरा जे चाळे समभाये ॥

[सिद्धांतरहस्य सीमपरीजनस्तथन १५-३, पृ. २८३—यशोभिजयजी]

७५९-१४

धम्मो मगळमुक्किद्ध अहिंसा सपमो तनो ।

देवापि त नमसति जस्त धम्मे सया गणो ॥

[दशवैकालिकसूत्र १-१, प्रो अभ्यरुद्रद्वारा सम्पादित १९३२]

७९०-२५

धार तरवारनी सोहळी दोहळी चौदमा जिनतणी चरणसेवा ।

धारपर नाचता देण वाचीगरा सेवना-धारपर रहे न देवा ॥

[आनदघनचौरीसी अनतनाथजिनस्तथन १, पृ ८६]

३४२-१२

नमो जिणाण निदभराण

३९०-३० }

× [इमे स्थानकवासिपोंके छह कोटिके 'नमोत्थुण'में बोळनेकी परम्परा हे]

६५४-२० }

नमो दुर्वाररागादिवैरिवारनिवारिणे ।

अहंते योगिनाथाय महानीराय ताथिने ॥

[योगशास्त्र १-१, हेमचन्द्राचार्य, जेनधर्मप्रसारक सभा भावनगर १९७१]

७७०-८

नाकेरूप निहाळता

[]

७३९-२०

नागरसुख पामर नवी (व) जाणे वळभ सुख न कुमारी रे ।

अनुभत्रविण तेम ध्यानतण सुख कोण जाणे नर नारी रे ?

[आठ योगदृष्टिनी स्वाध्याय ७-३, पृ ३३९] ३०५-१०

निजउदनसें ना मिळे हीरो बैउठ धाम ।

सतकृपासें पाईये सो हरि सजसें ठाम ॥

[माणेकदास] ५४३-२२

निंदामि गरिहामि अप्याण वोसिरामि ।

[प्रतिक्रमणसूत्र] ५४२-९

× यह सूचना मुझे प सुखलालजीके मिठी है । —सम्पादक

दीसे (सै) कर्मरही (हि) त सही (हि) त सुप समाधान
पायो (यौ) निजथान फिरि बाहिर (बाहरि) न बहेगे (बहेगौ) ।

कपट्ट (हँ) कदाचि अपनो (नौ) सुभाउ (व) त्यागि करि
राग रस राचिके (कैं) न परवस्तु गहेगो (गहेगौ) ।

अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयो (यौ)

याहि (ही) भांति आगम अनतकाल रहेगो (रहेगौ) ॥

[समयसारनाटक सर्गविशुद्धिद्वार १०८, पृ. ३७६-७]

६७७-१२

यो (जो) गा पयडिपयेशा (पदेसा) [टिदि अणुभागा कसायदो हौंति]

[द्रव्यसप्रह]

७८४-१५

ज किंचिनि चिंततो गिरीहनिची हवे जदा साहू ।

छद्रूणय एयत्त तदाहू त तसस गिञ्जय (गिञ्चय) ज्ञाण (ज्ञाण) ॥ [द्रव्यसप्रह]

७५४-२५

जगमनी जुक्ति तो सर्वे जाणिये समीप रहे पण शरीरनो नहीं सग जो ।

एकाते बसवु रे एकज आसने भूळ (भेळ ?) पडे तो पडे भजनमा भग जो ॥

ओधवजी अत्रळा ते सावन शु करे ॥

[ओधवजीने सदेसो गरजी ३-३—रघुनाथदास, बम्बई, स १९५१]

४९९-२०

ज समति पासह (हा) त मोणति पासह (हा) ।

[ज मोणति पासहा त सम्मति पासहा ।] [आचाराग १-५-३]

५९८-१

[णनि सिञ्जइ कथपरो जिणसासणे जइ नि होइ तित्थयरो]

नगाए (णग्गो) मोए (निमोक्ख) मग्गो शेषा (सेसा) य उमग्गया सव्वे ॥

[पट्टप्राभृतादिसप्रह सूत्रप्राभृत २३-कुन्दकुन्द, भाणिकचन्द प्रथमाला बम्बई]

७८६-२५

तरतम योग रे तरतम वासना रे वासित बोध आधार । पथडो० ।

[आनदघनचौनीसी अजितनाथस्तवन ५, पृ. १२]

७४४-१३

तहा रुाण समणाण

[भगवती]

६४३-१८

[यस्मिन्सर्पाणि भूतान्यात्मेनाभूद्विजानत]

तत्र को मोह क शोक एकत्रमनुपश्यत ॥ [ईशानास्य उपनिषद् ७]

२३३-२४

ते माटे उभा कर जोडी जिनवर आगळ कहिये रे ।

समयचरण सेना शुद्ध देजो जेम आनदघन लहिये रे ॥

६३०-४ }

[आनदघनचौनीसी नमिनाथजिनस्तवन ११, पृ १६४]

७६८-२० }

दर्शन सकलना नय ग्रहे आप रहे निजभावे रे ।

हितकरी जनने सजीवनी चारो तेह चरावे रे ॥

[आठ योगदृष्टिनी स्वाध्याय १-४, पृ ३३०, गुर्जरसाहित्यसप्रह]

२७५-१३

पृष्ठ लाइन

मन महिलानु वहाला उपरे बीजा काम करत रे ।

तेम श्रुतधर्मे मन दृढ धरे ज्ञानाक्षेपकनत रे ॥

[आठ योगदृष्टिनी स्वाव्याय ६-६ पृ ३३८]

३०५-१२,२१ }
३०६-९,११ }
३०८-३ }
३०९-२० }

मत्रतत्र औपध नहीं जेथी पाप पलाय ।

वीतरागनाणी मिना अत्र न कोई उपाय ॥

[अगाससे ५० गुणभद्रजी सूचित करते हैं कि यह पद्य स्वयं राजचन्द्रजीका हे] ७४८-२८

मा मुञ्जह मा रज्जह मा दूसह (दुस्सह) इहनिष्ठअष्टे (त्ये) सु ।

थिरमिच्छहि (ह) जह चित्त मिचित्तज्ञाण (ज्ञाण) णसिद्धीए ॥

पणतीससोलहपणचउदुगमेग च जवह ज्ञा (ज्ञा) एह ।

परमेठ्ठिनाचयाण अण्ण च गुरूरएसेण ॥

[द्रव्यसंग्रह] ७५४-१७

मारे काम क्रोध सत्र (जिनि) लोभ मोह पीसि डारे

इन्द्रिह (इन्द्रीज) कतल करी कियो रजपूतो (तौ) है ।

मार्यो महामत्त मन मारे (मार्यो) अहकार मीर

मारे मद मछर (मच्छर) हू ऐसो रनरु (रू) तो है ।

मारी आशा (सा) तृष्णा पुनि (सोऊ) पापिनी सापिनी दोउ (ऊ)

सत्रको प्रहार करि निज पद (पदइ) प्हुतौ (पहुतो) है ।

सुदर कहत ऐसो साधु कोई (ऊ) शू (सू) रवीर

वेरि (री) सत्र मारिके निचित होई (इ) सूतो (तो) है ।

[सुदरविलास शूरातनको अग २१-११ सुदरदास, बम्बई, १९६१]

४८१-९

मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तार कर्मभूभृताम् ।

ज्ञातार विश्वतत्त्वाना वदे तद्गुणलब्धये ॥ [तत्त्वार्थसूत्रटीका]

७३३-२२ }
७८५-३ }
८०१-१ }

योग असख जे जिन कह्या घटमाही (हि) रिद्धि दाखी रे ।

नवपद तेमज जाणजो आतमराम छे साखी रे ॥

[अष्ट सकल समृद्धिनी घटमाहि ऋद्धि दाखी रे ।]

तिम नवपद ऋद्धि जाणजो आतमराम छे साखी रे ॥

योग असख्य छे जिन कह्या नवपद मुख्य ते जाणो रे ।

एह तणे अवलरने आतमम्यान प्रमाणो रे ॥

[श्रीपालरास चतुर्थखंड विनयविजय-यशोविजयजी, पृ १८४-५ मीमसिंह

माणिक बम्बई १९०६]

४७८-२

- [ठिईण सेढा लनसत्तमा वा सभा सुहम्मा व सभाण सेढा] । पृष्ठ लाइन
निव्याणसेठा (सेढा) जह सब्बधम्मा [न नायपुत्ता परमत्थि नाणी] ॥
- [सूत्रकृताग १-६-२४] १००-१
- निशदिन नैनमें नींद न आप्ते नर तवहि नारायन पाये । [सुदरदास] ४७५-१८
- पढे पार कहा पामवो मिटे न मनकी आश
(पढी पार कहा पावनो (१) मिटयो न मनको चार)
ज्यौं (ज्यौं) कोल्लुकों (कोल्लुके) वेल्कु (त्रैल्लो) घर हि (ही) कोश हजार ।
[समाधिशतक ८१ पृ ४७६-यशोविजयजी, गुर्जरसाहित्यसमूह प्रथम विभाग
मुवई स १९९२] ६३०-२१
- पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्य परिग्रह ॥ [लोकतरुनिर्णय ३८-हरिभद्रसूरि] १५२-२४
[क्यु जाणु क्यु वनी आवशे अभिनदन रस रीति हो मित्त]
पुद्गल अनुभ्रम त्यागधी करवी जशु (सु) परतीत हो ।
(अभिनन्दनजिनस्तुति १-देवचन्द्रजी) ५०३-१९
- पुद्गलसैं रातो रहे । [] ७६३-२४
प्रभु भजो नीति सजो परठो परोपकार । [] ९९-२३
प्रशमरसनिमग्न दृष्टियुग्म प्रसन्न वदनकमलमक कामिनीसगशून्य । ७६९-६ }
करयुगमपि यत्ते शल्लसद्वयवध्य तदासि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव ॥ [धनपाल] ७८०-१५ }
फळ अनेकात लोचन न देखे
फळ अनेकात किरिया करी वापडा खडडे चार गतिमाहि लेखे ।
[आनदघनचौमीसी अनतनाथजिनस्तन २, पृ ८७] ५४२-४
वधनिहाणनिमुक्क वदिअ सिरिवद्धमाणजिणचद ।
[गईआईसु बुच्छ समासओ वधसामित्त ॥]
[कर्मप्रथ तीसरा १-देवेन्द्रसूरि, आगरा] ६२३-१४
- भीसण नरयगइ (ई) ए तिरियगइ (ई) ए कुदेवमणुयगइ (ई) ए ।
पत्तोसि तीव (तिब्ब) दु ख मावहि जिणभाणणा जीव ॥
[पद्मप्राभृतादिसमूह भानप्राभृत ८, पृ १३२] ७६०-२४
- भोगे रोगभय कुळे च्युतिभय वित्ते नृपालाद्भय ।
माने दैन्यभयं वळे रिपुभय रूपे तरुण्या भय ।
शास्त्रे वादभय गुणे खलभय काये कृताताद्भय
सर्व वस्तु भयान्वित भुवि नृणां वेराग्यमेवाभय ॥ [भर्तृहरिशतक-वैराग्यशतक ३४-भर्तृहरि] ९७-२२

सिरिबीरजिण यदिअ कम्मविचाम समासओ वुण्ड ।

कीरई जिण्ण हेऊहिं जेण तो भण्णए कम्म ॥

[प्रथम कर्मप्रथ १—देवेंद्रसूरि, आगरा १९१८] ६२३-१५

[हाँसीमें निपाद बसे विचामे निपाद बसे कायामें मरन गुरु वर्त्तनमें दीनता ।

सुचिमें गिळाति बसे प्रापतिमें हानि बसे जैमें हारि सुदर दसामें छरि छीनता ॥

रोग बसे भोगमें सजोगमें नियोग बसे गुनमें गरब बसे सेवामाहि दीनता

और जग रीति जेती गर्भित असाता सेती] सुखनी सहेली हे (है) अकेली उदामीनता ।

[समयसारनाटक पृ ४३५-६] १६०-२५

अप्यात्मनी जननी ते उदासीनता ।

[यह पद स्वयं रायचन्द्रजीका बनाया हुआ हो सकता है] १६०-२५

सुख दु (दु) पररूप करमफल जाणो निश्चय एक आनदो रे ।

चेतनता परिणाम न चूके चेतन कहे जिनचदो रे ॥

[आनदघनचौबीसी वासुपूज्यजिनस्तवन ४, पृ ७७] २८१-२२

सुपना सिंधु श्रीसहजानदजी जगजि (जी) वनके (ह ?) जगवदजी ।

शरणागतना सदा सुखकदजी परमस्नेही छो (छे) परमानन्दजी ॥

[धीरजात्यान १—निष्कलानन्द, काव्यदोहन भाग २, पृ. ५३९] २५४-२३

सुहजोग पदु (डु) घ अणारभी, असुहजोग पदु (डु)

घ आयारभी परारभी तदुभयारभी ।

[भगवती] १९४-२४

[जोई द्विग ग्यान चरनातममें बेठि ठौर भयौ निरदौर पर वस्तुकों न परसै]

शु (सु) द्दता विचारे घ्याये शु (सु) द्दतामें केळी करे (रै) ।

शु (सु) द्दतामें थिर व्हे (व्हे) अमृतधारा बरसे (बरसे) ॥

[त्यागि तन कष्ट है सपष्ट अष्ट करमको करि धान भ्रष्ट नष्ट करै और करसे

सोती विफल्य मित्रई अल्पकाल माहि त्यागी भी विधान निरवान पद परसै] २८३-२

[समयसारनाटक पृ ३८२] ३६१-४

सो धम्मो जय्य (त्य) दया दसइदोसा न जस्स सो देवो ।

सो इ गुरु (रू) जो नाणी आरभपरिगह (हा) निरओ ॥ [

] ४४६-७

सजुक्क (ष्ज) हा जतवो माणुसत्त दट्ठु (दड्डु) भय बालिसेण अलभो ।

एगतु दुक्खे (क्खे) जरिए व लोए सकम्म (म्मु) णा विपरियासु भित्ति (निपरिया सुवेइ) ॥

[सूत्रकृताग १-७-२२, पृ ३९] ३६६-२०

योगना वीज इहां ग्रहे जिनवर शुद्ध प्रणामो रे ।

पृष्ठ लाइन

भावाचारज सेनना भव उद्वेग सुठामो रे ॥

[आठ योगदृष्टिनो स्वाध्याय १-८, पृ ३३१] २७५-१७

रतिके (कै) उद्यो (दो) त अस्त होत दिन दिन प्रति

अजुलीके (कै) जीवन ज्यो (ज्यौं) जीवन घटतु (तु) है ।

कालके (कै) प्रसत छिन छिन होत छीन तन

औरके (आरकै) चलत मानो काठसो (सौ) कटतु है ।

एते परि मूरख न खोजै परमारथको (कौं)

स्वारथके (कै) हेतु भ्रम भारत कटतु (ठटतु) हे ।

लग्यो (लगौ) फिरे लौगनिसौ (सौं) पग्यो (ग्यो) परि (परे)

जोगनिसौं (सौं)

प्रियैरस भोगनिसौं (सौं) नेकु न हटतु है ॥ [समयसारनाटक वधद्वार २६, पृ २४१] ३२८-८

राडी रूप माडी रूप पण सात भरतारवाळी तो मोहुज न उघाडे । [लोकोक्ति] ४५२-२१

लेवेकी (लेवेकीं) न रही ठो (ठौर) त्यागिवेकी

(त्यागिवेकीं) नाहिं (हीं) और ।

बाकी कहा उबयो (यीं) जु कारजु नवीनो (नवीनौ) है ॥

[समयसारनाटक सर्वविशुद्धिद्वार १०९, पृ ३७७-८] २८३-१२

[पुरिमा उज्जुजडा उ] वक (वक) जडा य पश्चिमा (पच्छिमा) ।

[मज्झिमा उजुपनाओ तेण धम्मो दुहाकओ ॥] [उत्तराव्ययन २३-२६] ५४-१०

व्यवहारनी जाळ पादडे पादडे परजळी । [] ४५१-३

श्रद्धाज्ञान लहा छे तो पण जो ननि जाय पमायो रे ।

वच्यतरु उपम ते पामे सयम ठाण जो नायो रे ॥

गायो रे गायो भले वीर जगत गुरु गायो ।

[सयमश्रेणीस्तवन ४-३-५० उत्तमनिजयजी, प्रकरणरत्नाकर भाग २, पृ ७१७] ४७६-१६

सकल ससारी इन्द्रियरामी मुनि गुण आतमरामी रे । ६२९-२५ }

मुख्यपणे जे आतमरामी ते कहिये निष्कामी रे ॥ ६८२-२ }

[आनदघनचौधारी श्रेयासनाथजिनस्तवन २, पृ ७०]

समता रमता ऊ (उ) रथता ज्ञायकता सुखभास । ३३८-१४ }

वेदकता चैतन्यता ए सब जीवनिळास ॥ [समयसारनाटक उल्यानिका २६, पृ २१] ३४०-९ }

समज्या ते शमाई गया समजा ते समाई रखा । [] ४७६, ६, ८

[कुसगो जह ओसविंदुए योव चिट्टइ लवमाणए ।

एव मशुयाण जीविय] समय गोयम मा पमायए ॥ [उत्तराव्ययन १०-२] ५१-१४

परिशिष्ट (३)

‘श्रीमद् राजचन्द्र’के विशिष्ट शब्दोंकी वर्णानुक्रमणिका

	पृष्ठ	पक्ति		पृष्ठ	पक्ति
अकबर	४	२	आनदघन	२८१	२४
अला	३४५	२९, ३१		३०४	१०
—(अक्षय भगत)	२६७	२५		३०६	५
अलाजी	१९१	२६		३०७	२८
अध्यात्मकल्पद्रुम	३८२	२६		३४५	३०
अध्यात्मसार	३८५	८, २०		३४८	५, ६
	३८२	२७		४४१	१६
अनाथदासजी	३८१	१२		४५१	१७
	५२६	२०		५४२	३
अनुभवप्रकाश	४६६	२२		६३५	२६
अभयकुमार	३३	२६		६३६	१०
	३६	३	आनदघनचौबीसी	७४४	१३
				७४५	२
अवारामजी	२८६	१९		३८२	२७
अयमतकुमार	१२	२७		६३५	२७
अष्टक	१७१	५		७२६	२१
अष्टपाहुड़ (प्राभृत)	७७४	१५		७४४	२८
अष्टसहस्री	८००	२६		७७०	७
अष्टावन	२८०	३	आनद भावक	५२९	२४
आगरा	७७९	२३	आत्ममीमासा	८००	२५
आचाराग	१७५	२९		८०१	६
	२७२	१०	आयुर्वेद	३२	१९
	४३९	१८	इन्द्रियपराजयशतक	३८२	२५
	४४४	६	ईषा (ईषामसीह)	४११	२८
	५३५	३०		४१२	८, १६
	५९१	१, ३०	उत्तराध्ययन	३६	२०
	५९८	२		५१	११
	६२३	२४		५४	१०
	६६९	१		६७	१८
	६७६	४		९९	२
	७४२	२७		१२४	२३
	७९५	२२		२०६	१
आत्मसिद्धि	६२३	२२		२५३	५
	६२५	९		३०१	११
आत्मानुशासन	३८२	२६		३९२	२४
	७३५	१०		४१६	२४
	७५१	२३		४३९	१८
	७६९	१		५९१	३४
				६२३	२५
				६८०	२६

पृष्ठ लाइन

हम परदेशी पखी साधु, और देशके नाहिं रे । [] २६९-३

हिंसा रहिओ (ए) धम्मो (म्मे) अट्टारस दोप (स) निरहिओ (वज्जिए) देवो (वे) ।

निग्गथे पवयणे सदहणे (ण) हो इ (ई) सम्मत (त्त) ॥

[पट्टप्राभृतादिसग्रह मौक्षप्राभृत ९०, पृ. ३६७]

६४६-७

[नलिनीदलगतजलप्रत्तरल तद्वर्जीवनमतिशयचपलम् ।]

क्षणमपि सज्जनसगतिरेका भवति भ्रान्तवतरणे नौका ॥ [मोहमुद्गर ७-शकराचार्य] २०३-४

क्षायोपशमिक असख्य क्षायक एक अनन्य (अनुन्न) ।

[अध्यात्मगीता १-६ पृ ४४ देवचन्द्रजी, अध्यात्मज्ञानप्रसारकमण्डल १९७५] ७६५-१६

	पृष्ठ	पक्ति		पृष्ठ	पक्ति
दशवैकालिक	८०	३	पर्वत	२७	३०
	१४७	९	पाण्डव	३४७	२५
	१७५	२८	पीराणा	५५०	१६
	६२३	२५	पुद्गल परित्राजक	१२४	१५
	७३५	९	पुण्डरीक	११८	२८
	७९०	२४	पचास्तिकाय	५०५	८
दयानन्द स्वामी	९०	३०		६५७	३
दासबोध	५७८	१५		७४१	१
	६२७	१६	पचीकरण	५५२	१८
देवच द्रस्वामी	२७९	१८		६२७	१६
	५०३	१७		६२८	१९
	६३६	१८	प्रबोधशतक	२५१	८
देवच द्रसुरि	७७९	१८	प्रवचनसार	८०२	४
देवागामस्तोत्र	७८४	२१	प्रवचनसारोद्धार	७८६	१८
दृढप्रहारी	११९	३०	प्रवीणसागर	१५२	२१
धनाभद्र	३६२	५		१७४	२४
धरमशी मुनि	५६०	३३	प्रह्लादजी	४६६	२२
धर्मविदु	३८२	२६	प्रभ्रव्याकरण	२२६	२३
	७९०	८		६२३	२५
धर्मसप्रहणी	७६२	२२		७३५	९
धधूक्वा	७७९	१६	प्रशापना	२०६	१३
नमिराजर्षि	१०३	११	प्रीतम	३४५	२९
	८०१	१२	बनारसीदास	३४५	३०
नरसी (सिंह) मेहता	२४५	१६		३९५	१४
	५७५	१६		६७८	२६
नवतत्त्व	३८२	२६		६९९	१३
नारद	२७	३०		७७९	२३
नारदजी	२४१	१५	बाइबिल	४११	३१
नारदभक्तिसूत्र	२४१	१५	बाहुबल (लि)	२२	२५
निरात कौली	२२६	२		५४९	३२
नैपोलियन बोनापाट	२	३०		५७१	१७
नदिसूत्र	२६४	२		५९१	१९
पतञ्जलि	९८	२१	बुद्ध भगवान्	१५५	३०
—पातञ्जलयोगके कर्त्ता	७७९	२९		१५७	१
पद्मनादि	७५१	५		४७९	२२
	७५२	२	बृहल्कल्प	३७७	२२
	७६८	१		३७९	३१
	७६९	१	ब्रह्मदत्त	२२	२४
	७७१	१९	नाली	२३	११
परमात्मप्रकाश	७८५	२७		५९१	२३
परदेशी राजा	५३५	२०			
परीक्षित राजा	२३१	९			

	पृष्ठ	पाक्षि		पृष्ठ	पाक्षि
उत्तराख्ययन	७१५	२६	गजसुकुमार	१२	२७
	७८०	४		४५	२०
	७९४	१८		१२५	२४
	८०१	१२		१२६	१०
उपमितिभवप्रपञ्च कथा	३८२	२७		३४७	२५
	८०१	६		२४३	२३
ऋधु	२४४	१,३	गीता	४१०	२७
ऋषिमद्रपुत्र	८०१	१४		४११	१
कपिल—मुनि	४७	५		७६२	७
—ऋषि	९८	२१	गोकुलचरित्र	१५५	२३
—केवली	९९	२	गोम्मटसार	७२२	२९
कबीर	२११	२९		७६९	१
	२४५	१६	गोशाला	५२८	२२
	३४५	२९	गौतम ऋषि	९८	२१
	३९८	१९	गौतम गणधर	४६	६
	४८७	७		१२४	१३
कनीरपथी	४५६	१५	चारित्रसागर	३९८	१९
कर्कटी राक्षसी	५१२	१०	चिदानन्दजी	१२८	५
कर्मप्रथ	६३०	६	चैलातीपुत्र	५६४	१४
	६३१	४	छद्मजीविकाय अभ्ययन	४९१	२३
	६७०	३	छोटम	२५२	२२, २७
	६७६	१७	जङ्गभरत	१२४	५
	७१८	२९		५१०	२
	७२२	२९	जनक	१२४	५
	७२६	९	जम्बूद्वीपप्रशति	५६१	३
	७७१	२१	जम्बूद्वीपनामी	२२८	९
	७९३	१०		२४६	१९
कामदेव श्रावक	२७	१		५९१	३१
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	७४८	६	ठाणाम	२०६	१३
	७४९	८		२६४	५
	७६९	१०		३६८	४
कार्तिकस्वामी	७६९	११		३८५	४
किसनदास	७४८	१५		४२४	५
कुण्डरीक	११८	५		५८८	३१
कुदकुद	४४१	१६		७०२	१८
	७३१	१०		७३१	२१
	७६६	२०		७३२	७
	७७४	१५		७८२	२२
कुमारपाल	७७९	१६	डाकोर	५३३	१६
केशीस्वामी	५२९	१०	डेढसौ गाथाका स्तवन	७८२	२२
	५३५	२०	तत्त्वार्थयूत	७४२	१३
	५४०	७		७८५	१
क्रियाकोष	७४८	१५	यियोवफी	७६२	११

परिशिष्ट (४)

‘श्रीमद् राजचन्द्र’ में आये हुए ग्रन्थ और ग्रन्थकारोंकी वर्णानुक्रमणिका

	पृष्ठ	पक्ति		पृष्ठ	पक्ति
अखा	३४५	२९, ३१ }	आनदघन	६३५	२६ }
	२६७	२५ }		६३६	१० }
अध्यात्मकल्पद्रुम (मुनिमुदरसूरि)	३८२	२६		७४४	१३ }
अध्यात्मसार (यशोविजय)	२८५	८, २० }		७४५	२ }
	३८२	२७	आनदघनचौबीसी (आनदघन)	३८२	२७ }
अनायदास	३८१	१२ }		६३५	२ }
	५२६	२० }		७२६	२१ }
अनुभवप्रकाश (विशुद्धानन्द)	४६६	२२		७४४	२८ }
अन्नारामजी *	२८६	१९		७७०	७ }
अष्टक (हरिभद्रसूरि)	१७१	५	आप्तमीमासा (समतभद्र)	८००	२५
अष्टपाहुड़ (कुन्दकुन्द)	७७४	१५	इन्द्रियपराजयशतक (श्वेताम्बर		
अष्टसहस्री (विद्यानन्द)	८००	२६	आचार्य)	३८२	२५
आचाराग (आगमप्रथ)	१७५	२९ }	उत्तराध्ययन (आगमप्रथ)	३६	२० }
	२७२	१० }		५१	११ }
	४३९	१८ }		५४	१० }
	४४४	६		६७	१८ }
	५३५	३० }		९९	२ }
	५९१	१, ३० }		१२४	२३ }
	५९८	२ }		२०६	१ }
	६२३	२४ }		२५३	५ }
	६६९	१		३०१	११ }
	६७६	४		३९२	२४ }
	७४२	२७		४१६	२४ }
	७९५	२२ }		४३९	१८ }
आत्मसिद्धि (राजचन्द्र)	६२३	२२ }		५९१	३४ }
	६२५	९ }		६२३	२५ }
आत्मानुशासन (गुणभद्र)	३८२	२६		६८०	२६ }
	७३५	१०		७१५	२६ }
	७५१	२३ }		७८०	४ }
	७६९	१		७९४	१८ }
				८०१	१२ }
आनदघन	२८१	२४ }	उपमितिभवप्रपञ्च कथा	३८२	२७ }
	३०४	१०	(सिद्धार्थि)	८०१	६ }
	३०६	५	कपिलऋषि	९८	२१
	३०७	२८	कबीर	२११	२९ }
	३४५	३० }		२४५	१६ }
	३४८	५, ६		३४५	२९ }
	४४१	१६		३९८	१९ }
	४५१	१७		४८७	७ }
	५४२	३			

* अहमदाबादसे श्रीयुत भोगीभाइ पोपटलाल भाई सूचित करते हैं कि अन्नारामजी भादरणके नहीं, परन्तु

‘धर्मज’के निवासी थे।—सम्पादक

	पृष्ठ	पक्ति		पृष्ठ	पक्ति
सिद्धसेन	२६७	२३	स्यगडाग	३९२	२४
सुदर्शन सेठ	३६	२३		४३९	१८
	३६५	१४		५९१	३४
सुदृष्टितरगिणी	७७१	२१		६२३	२४
सुदरदास	३४५	२९, ३०		६३१	१२
	४७५	१६	सेहरा	८०२	७
	४८०	२६	सगम	५२८	१४
	४८१	७	स्वरोदयशान	१२७	१५
	४८७	७	हरिभद्र	१५२	२६
सुदरविलास	५६७	४		१७१	९
	७२७	८		५१९	११
सुभूम	३०	१६		६८७	१९
स्यगडाग	९९	३१		७६२	१८
(सूनडताग)	२२८	४		७७९	२९
	२५३	६	हेमचन्द्र	६८७	२०
	२९७	२८		७४५	२
	२९८	१, २, २५		७७९	१६
	३०१	१७	क्षेत्रसमास	७०२	१
	३६४	११, १४, १९	जानेश्वरी	७६२	१०
	३६६	१०, १९			

पृष्ठ	पक्ति		पृष्ठ	पक्ति		
स्यमडाग-सूत्रकृताग (आगमप्रत्य) १९	३१	स्वरोदयशान (चिदानन्द)	१२७	१५		
२२८	४		हरिभद्र	१५२	२६	
२५३	६			१७१	९	
२९७	२८			५१९	११	
२९८	१,३,२५			६८७	१९	
३०१	१७			७६२	१८	
३६४	११,१४,१९			७७९	२९	
३६६	१०,१९			हेमचन्द्र	६८७	२०
३९२	२४				७४५	२
४३९	१८				७७९	१६
५९१	३४	क्षेत्रसमास (जिनभद्रगणि)		७०२	१	
६२३	२४		शनिश्वरी (शनिश्वर)	७६२	१०	
६३१	१२					

परिशिष्ट (५)

‘ श्रीमद् राजचन्द्र ’में आये हुए सुसुशुओंके नामोंकी सूची

	पृष्ठ	पक्ति		पृष्ठ	पक्ति
करसनदास	२७५-२१		मोहनलाल (गाधीजी)	४०६-९	}
				४३५-२०	
कृष्णदास	४१८-२८		रतनमाइ	५७९-१३	}
				४४०-२३	
खुशालराय	३३४-२६		रेवाशकर	१९१-२९	}
				३१३-१९	
श्वदु	२८८-५		लहेरामाई	६३४-२५	}
				४५७-३३	
गूढामाई	१९३-२०	}	सुदरलाल	४५८-१	}
				१९४-२९	
त्रिभुवन	७६६-५, २२		सौभाग (सुभाष्य)	४८९-१४	}
				३९६-५, १९	
हूगर	४५ - २८			२६६-२४	}
				४५१-३	
माणिकचन्द	४५३-८			२६८-३२	}
				४५८-१	
	४८७-११, १८, २३			३१३-१५	}
				७२५-१८	
	४८९-१३			६७९-१७	}
				६२७-५	
				६८०-१, ३, १०, १३	}
				६८२-४	}
				६९०-७	}
				७३१-१२	}

	पृष्ठ	पक्ति		पृष्ठ	पक्ति
योगवासिष्ठ (वसिष्ठ)	६२७	१६ }	शिवरसूरि	७७२	२०
	६२८	१८ }	शिक्षापन (हरिरायजी)	३६५	१२
	६८१	२१ }	शीलाक	३४४	१५
योगशास्त्र (हेमचन्द्र)	६८७	२० }	श्रीपालरास (विनयविजय		
	७२६	११ }	यशोविजय)	४५३	३
	७६९	२८ }	पद्मदर्शनसमुच्चय (हरिमद्र)	४०७	२४
	७७०	१० }		४०८	२७
	७७१	७ }		४१५	२२
रामदास स्वामी	५७८	१५		४७२	६
रामानुज	४९५	१६		५०६	२०
वचनसप्तशती (राजचन्द्र)	१२२	५		७४२	१३
वल्लभाचार्य	५००	३१ }		७६२	१८
	७४५	२१ }		७७०	५
वसिष्ठ	१९९	१३ }	यामतितर्क (सिद्धसेन)	७९५	२२
	५४५	१६ }		१६	२
वामदेव	५१०	१		२६३	१६
वाल्मीकि	९८	२१		२६७	२३
विचारमाला (अनायदास)	३८१	१२	समयसार (कुन्दकुन्द-बनारसीदास)	२७७	९
विचारसागर (निश्चलदास)	२९२	८ }		३००	११
	३४५	३० }		३६१	२
	५५२	१८ }		३९२	२१
	६२७	१६ }		३९५	१३
विदुर	५	५		५९७	३
त्रिचारण्यस्वामी	७६३	१०		७६६	२०
वीरचन्द गाधी	६७३	१०		७६९	१
वैराग्यशास्त्र (भर्तृहरि)	३८२	२५ }	समतभद्र	७८४	२१
	७२६	२१ }		८००	१५, २३
व्यास—वेदव्यास	९८	२१	समजायाग (आगमग्रथ)	६४६	१३
	२०८	२	सहजानन्द	३१४	६
	२४१	१३		५००	३
	२६६	२५		७४५	६
	२६७	४	सिद्धप्राभृत (कुन्दकुन्द)	६३६	१३
	४११	१	सिद्धसेन	२६७	२३
शकराचार्य	९०	३०	सुदक्षितरागिणी (५० टेकचन्द)	७७१	२१
	९८	२१	सुदरदास	३४५	२९, ३०
	२०३	६		४७५	१६
शातसुधारस (विनायविजय)	२७९	२		४८०	२६
	२८५	२०		४८१	७
	३८२	२५		४८७	७
	६८६	२४	सुदरविलास (सुदरदास)	५६७	४
	८००	२		७२७	८

पृष्ठ	पक्ति		पृष्ठ	पक्ति			
सूयगङ्गा-सूत्रकृतांग (आगमप्रथ)	१९	}	स्वरोदयशानं (चिदानन्द)	१२७	१५		
	२२८		४	हरिभद्र	१५२	२६	
	२५३		६		१७१	९	
	२९७		२८		५१९	११	
	२९८		१, ३, २५		६८७	१९	
	३०१		१७		७६२	१८	
	३६४		११, १४, १९	}	७७९	२९	
	३६६		१०, १९		हेमचन्द्र	६८७	२०
	३९२		२४			७४५	२
	४३९		१८			७७९	१६
	५११		३४		क्षेत्रसमाप्त (जिनभद्रगणि)	७०२	१
	६२३		२४	शानेश्वरी (शानेश्वर)	७६२	१०	
	६३१		१२				

परिशिष्ट (५)

‘ श्रीमद् राजचन्द्र ’में आये हुए मुसुक्षुओंके नामांकी सूची

	पृष्ठ पक्ति		पृष्ठ पक्ति	
करसनदास कृष्णदास खुशालराय चंद्र जूठाभाई शिशुवन झगर	२७५-२१	}	मोहनलाल (गाधीजी)	४०६-९
	४१८-२८		४३५-२०	
	३३४-२६		५७९-१३	
	२८८-५		४४०-२३	
	१९३-३०		१९१-२९	
	१९४-२९		३१३-१९	
	७६६-५, २२		६२४-२५	
	३९६-५, १९		४५७-३३	
	४५०-२८		४५८-१	
	४५१-३		४८९-१४	
४५३-८	२६६-२४	}		
४५८-१	२६८-३२			
४८७-११, १८, २३	३१३-१५			
७२५-१८	६७९-१७			
४८९-१३	६८०-१, ३, १०, १३			
६२७-५	६८२-४	सुदरलाल	६९०-७	
	६९०-७	सौभाग (सुभाष्य)	७३१-१२	

परिशिष्ट (६)

आत्मसिद्धिकं पण्योक्ती यणानुप्रमाणात्

वृत्तमन्त्र	श्लोक	वर्णन
अथवा देह न आत्मा	४६	कर्मोत्तर अथवा त
अथवा विज्जनेनाम जे	१३३	कर्म अथवा प्रकाशना
अथवा विभवाप प्रदे	११	कर्म, कर्म प्रकाशितधी
अथवा मादनांत पणां	१२	कर्म से इतिव भेद से
अथवा वदु शक्ति ७	११	कर्मानी उत्तरात्मा
अथवा चद्रसुन्द महा	१४	कर्मानी चद्रानीया
अथवा शा शक्ति ७	११	कर्म उत्तरात्मा अथवा
अथवा सुष्ठु प विनयतो	२१	कर्म उत्तरात्मा अथवा
अथवा अथवा भोगसुष्ठु	१०८	कर्म विवाचन अथवा
आगत शानी चरे मया	११४	कर्म उत्तरात्मा अथवा
आ मयात लो मुनिपु	१४	कर्म उत्तरात्मा अथवा
आत्मनशात समदर्शिता	१०	कर्म उत्तरात्मा अथवा
आत्मप्रणयितम योग १६	१०९	कर्म उत्तरात्मा अथवा
आत्मा छे वे नित्य छे	४२	कर्म उत्तरात्मा अथवा
आत्मादि अस्तित्वनां	११	कर्म उत्तरात्मा अथवा
आत्मा द्वये नित्य छे	६८	कर्म उत्तरात्मा अथवा
आत्माना अस्तित्वनां	५९	कर्म उत्तरात्मा अथवा
आत्मानो शका चरे	५८	कर्म उत्तरात्मा अथवा
आत्मा सत् चार्थमय	१०१	कर्म उत्तरात्मा अथवा
आत्मा सदा अथवा ते	७२	कर्म उत्तरात्मा अथवा
आ दहादि आचयी	१२६	कर्म उत्तरात्मा अथवा
आप ज्यो प्रदी ददा	४०	कर्म उत्तरात्मा अथवा
ईश्वर सिद्ध यथा विना	८१	कर्म उत्तरात्मा अथवा
उपज त सुविचारणा	४१	कर्म उत्तरात्मा अथवा
उपादानं तु ताम रुद्र	११९	कर्म उत्तरात्मा अथवा
एक रंरु ते एक उप	८४	कर्म उत्तरात्मा अथवा
एव होय प्रण कालमा	३६	कर्म उत्तरात्मा अथवा
एव धर्मधी मोक्ष छे	१२६	कर्म उत्तरात्मा अथवा
ए वण जीव मत्तार्थमा	३१	कर्म उत्तरात्मा अथवा
एव विचारी अतरे	३७	कर्म उत्तरात्मा अथवा
एतो मार्ग विनयतणे	२०	कर्म उत्तरात्मा अथवा
कथी जातिमा मोक्ष छे	१४	कर्म उत्तरात्मा अथवा
कत्ता ईश्वर की नहीं	७७	कर्म उत्तरात्मा अथवा
कर्त्ता जीव त कर्मतो	७२	कर्म उत्तरात्मा अथवा
कर्त्ता भोक्ता कर्मतो	१२१	कर्म उत्तरात्मा अथवा
कर्त्ता भोक्ता जीव हो	८७	कर्म उत्तरात्मा अथवा

ते जिज्ञासु जीवने	१०९	माटे छे तर्ही आतमा	४८
ते ते भोग्य विज्ञेयना	८६	माटे मोक्ष उपायने	७३
तेथी एम जगाय छे	९५	मानादिक शत्रु महा	१८
त्याग विराग न चित्तमां	७	मुपथी शान कथे अने	१३७
दया ज्ञाति समता क्षमा	१३८	मोहभाव क्षय होय ज्या	१३९
दर्शन पटे क्षमाय छे	१२८	मोक्ष कह्यो निजशुद्धता	१२३
दया न एवी ज्यां मुधी	३९	रागद्वेष अज्ञान ए	१००
देवादि गति भगमा	२७	रोके जीव स्वच्छद तो	१५
देह छता जेनी दशा	१४२	लह्य स्वरूप न वृत्तिनु	२८
देह न जाणि तेहने	५३	लक्षण कया मतार्थीना	३३
देह मात्र सयोग छे	६२	वर्तमान आ काळमा	२
देहादि सयोगने	९१	वर्ते निजस्वभावने	१११
नथी दृष्टिमा आवतो	४५	वर्षमान समकित यई	११२
नय निश्चय एकांतथी	१३२	वळी जो आतमा होय तो	४७
नहीं कपाय उपशातता	३२	वीत्यो काळ अनत ते	९०
निश्चयवाणीं साभळी	१३१	वैराग्यादि सफल तो	६
निश्चय सर्वे ज्ञानीनो	११८	शुद्ध बुद्ध चैतन्यधन	११७
परमबुद्धि रूप देहमा	५६	शुभ करे फळ भोगवे	८८
पाचे उत्तरथी थयु	९६	शु प्रभु चरण कने घरु	१२५
पाचे उत्तरनी यई	९७	पदपदना पदप्रभ ते	१०६
प्रत्यक्ष सद्वृत्तमात्तिनो	३५	पदस्थानक समजावीने	१२७
प्रत्यक्ष सद्वृत्तयोगथी	१६	पदस्थानक संक्षेपमा	४४
प्रत्यक्ष सद्वृत्तयोगमा	२६	सकळ जगत् ते एठवत्	१४०
प्रत्यक्ष सद्वृत्त सम नहीं	११	सद्गुरुना उपदेश वण	१२
पळदाता ईश्वर गण्ये	८०	सब अवस्थाने विधे	५४
पळदाता ईश्वरतणी	८५	सद्गुरुना उपदेशथी	११९
बाह्य क्रियामा राचता	४	सर्वे जीव छे सिद्धसम	१३५
बाह्य त्याग पण शान नहीं	२४	सेवे सद्वृत्त चरणने	९
शीजी शका थाय त्या	६०	स्थानक पाच विचारीने	१४१
बध मोक्ष छे कल्पना	५	स्वच्छद मत आग्रह तजी	१७
भावकम निजस्वरूपना	८२	होय कदापि मोक्षपद	९२
भास्यो देहाध्यासथी	४९	होय न चैतन प्रेरणा	७४
भास्यो देहाध्यासथी	५०	होय मतार्थी तेहने	९३
भास्यु निजस्वरूप ते	१२०	होय सुसुप्त जीव ते	२२
मत दर्शन आग्रह तजी	११०	ज्ञानदशा पाम्यो नहीं	३०

संशोधन और परिवर्तन

अशुद्ध

- पृष्ठ लाइन
४-१४ पहले
८-५ वीर
८-८ धर्म विना राजा लोग ठगाये जाते हैं ?

- ८-९ धुरधता
९-४ प्रतिष्ठा
९-४ धर्मके बिना किसी वचनका
११-२८ महावीरकी
१३-१६ निकाल
२२-१८ प्रवेश मार्गमें
२३-२ चलाई
२६-२५ स्वरूपकी
२६-२५ विनाशका
३८-१३ व्यावस्था
५६-९ जीवोंको क्षमाकर
६०-१२ इतनेमें
६७-२ इस बातकी करना ।

- ७१-६ उज्ज्वलको
७२-१२ भगवान्में
७४-८ सम्माणेमि
७९-१० हेने
८०-४ तत्पर्य
८४-२१ उत्तमि व्ययरूपसे तो

- ८५-२ नहीं, अर्थात् कभी
८५-२ जानकर
८५-२० जायग
९५-१४ पहले
१०३-३ शरीरमें
१०७-२ कफणोंको
११५-२६ रोज
११९-४ मामकी

शुद्ध

आगे
भाई
यदि राजाके पास टाटबाट न हो तो वह उस कमीके कारण ठगा नहीं जाता, किन्तु धर्मकी कमीके कारण वह ठगाया जाता है ।

धुरधरता
शुद्धिमत्ता
सभीका कथन है के धर्मके बिना
महावीरनी
निकल
मार्गमें प्रवेश
उठाई
स्वरूपको
विनाश
व्यवस्था
जीवोंसे क्षमा माँगकर
इतने
मुझे तो उसकी दया आती है । उसको परवस्तुमें मत
जकड़ रखो । परवस्तुके छोड़नेके लिये यह सिद्धान्त
ध्यानमें रखो कि

उज्ज्वल
भगवान्ने
सम्माणेमि
हेते
तत्पर्य
उत्तमि व्ययरूपसे मानें तो पाप पुण्य आदिका अभाव
हो जानेसे

नहीं हुआ, अतः सम्व है ।
जानकार
जायेंगे
उन
शरीरमा
कफणोंके
रोश
नामकी

अनुच्छेद

शुद्ध

पृष्ठ नम्बर

११९-१२ चारों
 ११२-१६ इसके कारण
 ११०-११, १३ अद्द
 १३४-१७ ज
 १४७-६ उठका उपाय बता देगा
 १४८-३३ निर्दिष्टास्य
 १५२-१५, क्योंकि
 १५४-३० उस शस्त्रेण.. सज्ज
 १५६-३ अथवा
 १५६-१० यहाँ करना चाहता हूँ
 १६४-९ एक पद्यमें
 १६४-१० योग्य कहा गया
 १६५-२२ आत
 १६७-२२ बिना किसी अपवादके
 १७०-२२ अपने
 १७१-२ इसपरसे होकर जाना
 १७३-२२ गुना
 १७३-३१ हीन है
 १७४-१ विशुद्ध
 १७४-१३ उल्टे सीधे
 १७७-२ हम
 १७७-३ जाते
 १७७-२६ ऐसा
 १८४-६ आशुक्ति का भाव
 १८४-७ जिसमें शक न रहे
 १८४-१०, उही समय समझता है
 १८५-१० कर रहा है
 १८५-२६ के प्रति
 १८५-२६ भूल जाओ
 १८६-३ तेरा
 १८६-४ साक्षी दु खी
 १८६-७ कारण
 १८६-२२ हो
 १८७-१९ अपनेमें
 १८८-१९ आज मेरा जन्म सफल हो गया है
 १९२-७ कौनसी
 १९३-११ मैं आपके साथ चाहता
 १९४-७ कारण
 १९६-३ जिसका कोई ऐसे

योगों
 इसे धारण करके
 अद्दा
 जा
 संभाल लेगा
 निर्दिष्टास्य
 ।
 उसकी निश्चयता नहीं हो सकती
 अन्यथा
 उसे दिग्गोपी इच्छा है
 एक तरहसे
 मान्य रक्ता
 अतर
 कुछको छोड़कर
 आपके द्वारा
 जाता
 याद कर
 अवस्था ही हुई है
 निरस्पर्धी
 इधर उधरके
 हमने
 जाता
 उस
 दु ख
 यह शक भी नहीं रहती
 कि जीव बंध और मुक्तिसाहित है ।
 करता रहेगा
 को
 मुल्य दे
 तूने
 साक्षी और मध्यस्थ
 विचारणा
 है
 अपनेसे
 जन्म सफल करनेका अवसर मिल गया है
 कहें
 और मैं आपके साथ वैसा बर्ताव रखना नहीं
 माते
 न्याचित—

अशुद्ध

शुद्ध

१४ लाहन
 २००-२१ आती
 २०४-६ त्यागी
 २०६-२१ छोड़कर
 २०८-४ भगवती
 २१५-१ उनको
 २१५-१२ आतर
 २१६-२ इसके स्वप्नका
 २१६-६ ओघाकवि हमारे
 २१७-२६ अज्ञानी
 २१७-२६ शक
 २१८-३० मुझमें वैसी तथारूप
 २१९-६ किसी
 २१९-१७ प्रकाशिता
 २१९-२४ (उपसहारको यहा शीर्षक समझना चाहिये)
 २२२-४ दु पमके विषयमें की
 २२२-१३ लागू
 २२२-२२ और
 २२२-२४ जीनेवाले ऐसे जीव
 २२२-२९ और इस सत्
 २२३-१३ जिस वर्तमानकालमें हूँ
 २२४-१२ छालसहित
 २२४-१३ नारियल है
 २२७-१४ उपदेश निया है
 २३२-१ इसी
 २३२-१९, २०, ३० मक्खन
 २३४-२१ पहिला
 २३७-२३ देखते
 २३९-९ तो ऐसा
 २४१-१२ ली
 २४४-२१ हो सकती है
 २४८-२४ "पी पी"
 २५०-२९ कभी कभी
 २५०-३० जाता है
 २५४-४ रुक हो
 २५५-२७, ३० मित्रभाव
 २५८-११, १२ विचारके परिणाममें
 हो जाता है

जीवको उत्पन्न

आती होगी
 का त्याग करके
 रखकर
 भागवती
 उसको
 अनहद
 इच्छा स्वप्नमें भी
 मुक्तान दफा नाथ कृष्ण ही, हे उद्धव ! हमारे
 अज्ञात
 कर
 यहाँ वैसी
 किसी किसी
 प्रकाशिका

दु पम कमीवाला है, यह दिखानेकी
 मादम
 और ऐसे जीव
 जीनेवाले
 और यह अनुभव ही इस कथनका सत्ताक्षी
 अभी जिस स्थितिमें हूँ
 समूचा
 नारियलका वृक्ष है !
 लिखा है ।
 ऐसे
 दही
 वह
 देखते हो
 तो
 ली
 होनी चाहिये
 "प्रिय प्रिय"
 समव है
 जाय
 रुक
 भिन्नभाव
 विचारके फलस्वरूप जो कुछ करना योग्य होता है और
 जिसके बारेमें 'किसी भी प्रकारसे नहीं होता' इस
 तरह उसे मादम होता था वह प्रगट होनेके कारण था
 तो उसमें उत्पन्न होते हैं

अशुद्ध

शुद्ध

पृष्ठ लाइन

२५८-२६, २७ अपना विचार सिद्ध हो जाय

२६०-१३ अनेक साधन जुटाये

२६१-२५ यदि किसी भी जाय तो

२६२-१, २ आत्मा जबतक रहता है

२६३-१५ विशेष शास्त्रों विश्वास करना

२६४-२ ज्ञान तो ज्ञानी भी है

२६८-६ परमें

२६८-८ आप और हम होते हैं

२७३-१७ छटो

२७४-८ कुछ पता नहीं चलता

२७९-२२ ऐसा कहा गया है

२८०-२९ हो सके

२८२-१ उसे

२८९-२२ नहीं देखने

२९०-१९ अप्रतिबद्ध

२९१-२५ समागम

२९५-२७ और ही

३०१-११ दूसरा

३११-५ वह

३११-२५ और जो भ्रष्टा हम समझते हैं

३१८-२८ विवेचना

३१९-१४ भावना

३२२-२७, २८ प्रभावयोगमें

३२३-११ हम मानते हैं

३२३-१२ ही नहीं

३२३-१२ भी है

३२४-१ उपाधिमें

३२७-२१ अलौकिक

३३२-५ आधार

३३२-१६ परमार्थदेतमूल

३३२-१८ जीव अपने करनेवाला

ऐसे जीवके दोष तीसरे प्रकारमें समाविष्ट होते हैं ।

अनेक तरहकी साधना की

यदि तीनों कालमें जड़ जड़ ही है और चेतन चेतन ही है तो फिर

बध और मोक्ष तो जड़ चेतनके सयोगसे है और वह सयोग तबतक है जबतक आत्माको अपने स्वरूपको भान नहीं रहता, परंतु आत्माने तो अपने स्वभावका त्याग किया है

विशेष शास्त्रोंके ज्ञानके साथ भी यदि अपनी आत्माना स्वरूप जाना अथवा उसके लिये सधे मनसे आश्रय लिया तो

लेकिन वे ही वेदादि शास्त्र ज्ञानी पुरुषके लिये सम्यग्ज्ञानरूप हैं, ऐसा वहीं (नदीसूत्रमें) कहा है

पत्रमें,

तुम्हें, मुझे और हम सबको कौनसे वादमें दाखिल होना कराने

मेल नहीं हो पाता

बहते हैं

हो

जिसे

नहीं

अप्रतिबद्ध

प्रसंग

और जितनी भी क्रियायें हैं उन सबकी अपेक्षा

दूसरे

बिना उसके

, जिसे कि हम समझें कि

विस्तार

सभावना

प्रभावयोगविषयक

माना

नहीं,

है

उपाधिके विषयमें

लौकिक

पोषण

उत्थापन करनेवाला जीव

अशुद्ध

शुद्ध

शुद्ध लाइन

- ३३३-२६ वहाँ
 ३३३-२७ दूर करना
 ३३३-३० जिसको किया है
 ३३४-२६ मदवाहमें
 ३२५-८ हमारे
 ३३९-२९ अणहारा
 ३६०-३२ जीव पदार्थ किसीका
 ३४३-२४ कचित्
 ३४५-२६ अपने
 ३४९-१८ गुणोंमें
 ३५३-४ इच्छाकी
 ३५३-१९ उदासीन
 ३५४-१९ मांगना, उस प्राप्त किये हुए की
 ३५७-५, ६, ८, ९ स्रियोँ
 ३६१-२ आपके
 ३६१-२३ स्वभावमें
 ३६१-२५ यह भी
 ३६१-२६ उदयमें होने योग्य कारण है
 ३६२-२६ चित्त प्रवृत्तिका
 ३६३-२० कवितार्थ
 ३६३-२० ससारायं
 ३६९-११ अपूण
 ३७९-३ आगापीछा
 ३८२-१ बहुतेसे वर्त्तमानों
 ३८२-१६ सबके
 ३८२-१७ करनेके
 ३८२-१७ करनेके लिये
 ३८२-१७ करनेके लिये
 ३८२-१८ होना चाहिये
 ३९१-२७ जिस
 ४०१-२३ जिस तरह
 ४०१-२३ की हुई
 ४०१-२४ वैसे
 ४०२-१६ नदी
 ४१५-१४ यद्यपि सकता है
 ४१९-५ माहात्म्य
 ४२१-९ लक्षणरूप जो द्रव्यसयम है
 ४२१-१० रूप जो भावसयम है उस
 ४३१-३ सकम

- वहा नियोग होनेपर भी
 करना
 जिसने भाव किये हैं
 सीमासीमें
 अपने
 अणहारी
 जीव पदार्थको कोई
 कचित्
 हमारा
 दोषोंमें
 =इच्छा और
 =उदास
 मांगना हो, उसको धर्म प्राप्त हुआ है कि नहीं इस बातकी
 स्त्री
 आपके,
 सरल
 यह भी सम्व है कि
 उदयका कारण हो
 चित्तका इच्छारूप किसी प्रवृत्तिमें
 कविता
 ससार
 अपूर्व
 एतराज
 बहुतेसी घटनाओं
 सबकी
 मांगना
 करना
 करना
 होना
 जिससे
 यदि
 फी जाय तो वह
 और इस तरह
 होने
 मतानेके पहिले तो कुछ सोचना पड़ता है।
 माहात्म्य
 लक्षणरूप
 रूप
 सकाम

अशुद्ध

साहस
 ४-१३ काय
 १३-२७ जाब
 १४-४ गाण
 १८-२६(६) +
 १८-२७(६) ,,
 ६३-१२ वह उस
 ६२-२१ प्रमाणसे
 ६३-२३ पदार्थ में
 ६३-२४ हैं,
 ६५-१६ आत्मके
 ६५-१६ आदिकी
 ४७४-४ करना
 ४९७-२७ जिस प्रकारसे
 ४९९-२५ मैं अबला उन
 ५००-८ वर्णनी
 ५०१-१८ दहुच
 ५०८-१ आदिके
 ५११-८ वचनको
 ५१५-८ वसाफो
 ५२७-२६ करनेवाली
 ५३३-२३ मड
 ५४०-३८ तपगच्छवाले
 ५४७-१४ ही
 ५४७-२२ योग
 ५५४-६ हो
 ५५७-२४ मारामारी
 ५५९-२० जीवा ऐसा
 ५६१-१ अधमार्ग बताने जैसा,
 ५६१-१३ जिस तरह उसे खेद हो वह उस तरह
 ५६९-१ भटकने
 ५६९-१९ अन्त
 ५७५-४ प
 ५८८-१४ यवा
 ५८८-३३ पाहल
 ५८९-१८ किसीसे
 ६१०-२३ फदळाता
 ६४७-१९ कारणानुयोग
 ६५७-६ करनेवाले
 ६७३-५ धर्मका

हो
 कलें

काय
 जीव
 गौग
 ,,
 +
 वह
 तरहसे
 पदार्थ जैसे वर्तमानकालके पदार्थ
 हैं, वैसे दिखाई देते हैं
 आत्माकी
 आदि
 होना
 जिस किंसा प्रकारसे भी समझो, किन्तु
 अबला साधना वैसे कर सकती है
 वर्णका
 पहुच
 आदिका
 वचनद्वारा
 बैसा बोंई
 करनेवाले
 मद
 श्वेताम्बर मूर्तिपूजक
 भी
 योग
 हो जाय
 ममत्व
 ऐस जीव
 जैसे अथा मार्ग बतावे ऐसा है ।
 ज्योंही उसे खेद हुआ कि वह तुरत ही
 कमाने
 अन्त
 पद
 अथवा
 पहिले
 कोई
 फलदाता
 नरानुयोग
 करनेवाले

अशुद्ध

शुद्ध

पृष्ठ लाइन

- ६७६-३ शास्त्रपरिशा
 ६९०-७ करना
 ६९५-६ स्वभाव
 ७०५-१६ छुटाना
 ७०५-२४, २५ का विचार
 ७०५-२५ विचार किया हुआ
 ७०५-२७, २८ का विचार
 ७०६-१ विचार किये हुए
 ७१३-१९ इसके अतिरिक्त
 ७२७-२७ रोगीको
 ७२८-२९ दिन
 ७३६-२७ विदात
 ७५३-१७ बताना
 ७५३-२१ वह
 ७५६-४ मूलका
 ७६०-२८ भाव न
 ७७१-७ भेजा
 ७७१-८ और और
 ७७९-४ मुझके पास ले जाऊ
 ७८०-१६ शास्त्रस्यध
 ७८२-२ किसीकी
 ७८७-४ समाधानका
 ७८९-२० अतवृत्ति
 ७९४-२७ विषय
 ७९५-२३ शास्त्र
 ८००-७ सद्वाचितिवान्

- शास्त्रपरिशा
 करता बन पड़ता
 स्वभावभाव
 छूटना
 की रचना
 रचित
 की रचना
 रचित
 केवलीसे अतिरिक्तके लिये
 रोगीके रोगको
 वर्ष
 वेदात
 बताई
 उसका
 मूलकी
 भावन
 भेजा
 और
 सयसे आगे करके
 शास्त्रस्यध
 किसीकी
 समाधान
 अतवृत्ति
 विषय
 शास्त्र
 सद्वाचितिवान

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाका महत्त्वपूर्ण नया प्रकाशन

श्रीमद् राजचन्द्र

गुजरातके सुप्रसिद्ध तत्त्वज्ञानी शतावधानी कवि रायचन्द्रजीके

गुजराती ग्रन्थका हिन्दीअनुवाद

अनुवादकर्ता—प० जगदीशचन्द्र गाँधी एम० ए०

प्रस्तावना और सस्मरणलेखक—विद्वान्महत्मा गाँधी

एक हजार पृष्ठोंके बड़े साइजके बहियाँ जिन्दगी हुए ग्रन्थकर्ताके पाँच चित्रों सहित ग्रन्थका मूल्य सिर्फ ६) जो कि लागतमान है। डारुणार्च १।)

महात्माजीने अपनी आत्मकथामें लिखा है—

“ मेरे जीवनपर मुख्यतासे कवि रायचन्द्रभाईकी छाप पड़ी है। टान्ट्राय और रस्किनकी अपेक्षा भी रायचन्द्रभाईन मुझपर गहरा प्रभाव डाला है। ”

रायचन्द्रजी एक अद्भुत महापुरुष हुए हैं। वे अपने समयके महान् तत्त्वज्ञ और विचारक थे। जैनसम्प्रदायमें जन्म लेकर भी उन्होंने तमाम धर्मोंका गहराईसे मान किया था और उनके सारभूत तत्त्वोंपर अपने विचार बनाये थे। उनकी स्मरणशक्ति गजब की थी। किसी भी ग्रन्थको एक बार पढ़कर वे हृदयस्थ कर लेते थे। शतावधानी तो वे थे ही, अर्थात् सी बातोंमें एक साथ उपयोग लगा सकते थे।

इस ग्रन्थमें उनके मोक्षमाला, भावनाबोध, आत्मसिद्धि आदि छोटे मोटे ग्रन्थोंका संग्रह तो है ही, सबसे महत्त्वकी चीज है उनके ८७४ पत्र, जो उन्होंने समय समयपर अपने परिचित मुमुक्षुजनोंको लिखे थे और उनकी डायरी, जो वे नियमित रूपसे लिखा करते थे और महात्मा गाँधीजीका आक्रान्तिसे किया हुआ पत्रव्यवहार भी, इसमें है। जिनागममें जो आत्मज्ञानकी पराकाष्ठा है उसका सुन्दर विवेचन इसमें है। अध्यात्मके विषयका तो यह खजाना ही है। उनकी रायचन्द्रजीकी कवितायें भी अर्थसहित दी हैं। मतलब यह कि रायचन्द्रजीसे सबध रखनेवाली कोई भी चीज छूटी नहीं है।

गुजरातीमें इस ग्रन्थके अबतक सात एडिशन हो चुके हैं। हिन्दीमें यह पहली बार ही महात्मा गाँधीजीके आग्रहसे प्रकाशित हो रहा है। ग्रन्थारम्भमें विस्तृत विषय सूची और श्रीमद् राजचन्द्रकी जीवनी है। ग्रन्थारम्भमें ग्रन्थार्थके विषयोंको स्पष्ट करनेवाले छह महत्त्वपूर्ण मौलिक परिशिष्ट हैं, जो मूल ग्रन्थमें नहीं हैं।

प्रत्येक विचारशील और तत्त्वप्रेमीको इस ग्रन्थका स्वाभाविक करना चाहिए।

लाभकी बात

जो भाई श्रीमद् राजचन्द्र की दो प्रतियाँ एक साथ मँगायेंगे, उन्हें सम्भाव्यतत्त्वार्थार्थधिगमसूत्र (मायादीना ३) का ग्रन्थ भेंट दिया जायगा। पर उन्हें दो प्रतियोंका दाम १२) और पोस्टेज रजिस्ट्री चार्जके ॥) ऐसे कुल १२॥) देना होगा। भेजना होगा। वी० पी० न किया जायगा। ग्रन्थ रेलवेपार्सलसे भेजे जायेंगे। भाड़ा उन्हें ही देना होगा। यह विषयत दो प्रतियाँ मँगानेवालोंको है। एक प्रति मँगानेवालोंके लिए नहीं।

१ उपदेशछाया और आत्मसिद्धि—श्रीमद्राजचन्द्रविरचित गुजराती ग्रन्थका हिन्दीअनुवाद ५० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० ने किया है।

उपदेशछायामें मुख्य चर्चा आत्मार्थके सबधमें है, अनेक स्थलोंपर तो यह चर्चा बहुत ही मार्मिक और हृदयस्पर्शी है। इसमें केवलज्ञानीका स्वउपयोग, शुष्क ज्ञानियोंका अभिमान, ज्ञान किसे कहते हैं ? कल्याणका मार्ग एक है, निर्धन कौन ? आत्मार्थ ही सच्चा नय है, आदि गहन विषयोंका सुन्दर वर्णन है।

आत्मसिद्धिमें श्रीमद्रायचन्द्रजीकी अमर रचना है। यह ग्रन्थ लोगोंका इतना पसन्द आया कि इसके अंग्रेजी मराठी अनुवाद हो गये हैं। इसमें आत्मा है, वह नित्य है, वह कर्ता है वह मोक्ता है, मोक्षपद है, और मोक्षका उपाय है, इन छह पदोंको १४२ पदोंमें युक्तिपूर्वक सिद्ध किया गया है। ऊपर गुजराती कविता है, नीचे उसका निस्तृत हिन्दी-अर्थ है। इस ग्रन्थका विषय बहुत ही जटिल और गहन है, किन्तु लेखन-शैलीकी सरलता तथा रोचकताके कारण साधारण पढ़े लिखे लोगोंके लिये भी बोधगम्य और उपयोगी हो गया है। प्रारम्भमें ग्रन्थकर्ताका सुन्दर चित्र और सक्षिप्त चरित भी है। पृष्ठसंख्या १०४, मूल्य सिर्फ ॥) है।

२ पुष्पमाला मोक्षमाला और भावनावोध—श्रीमद्राजचन्द्रकृत गुजराती ग्रन्थका हिन्दीअनुवाद ५० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए० ने किया है।

पुष्पमालामें सभी अवस्थानालोंके लिए नित्य मनन करने योग्य जपमालाकी तरह १०८ दाने (वचन) गूँथे हैं।

मोक्षमालाकी रचना रायचन्द्रजीने १६ वर्षकी उम्रमें की थी, यह पाठ्य-पुस्तक वड़ी उपयोगी सदैव मनन करने योग्य है, इसमें जैन-मार्गको यथार्थ रीतिसे समझाया है। जिनोक्त-मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक नहीं लिखा है। बीतराग-मार्गमें आवाल-बुद्धकी रुचि हो, और उसका स्वरूप समझें, इसी उद्देशसे श्रीमद्ने इसकी रचना की थी। इसमें सर्वमान्य धर्म, मानवदेह, सदैव, सद्धर्म, सद्गुरुत्व, उत्तम गृहस्थ, जिनेश्वरभक्ति, वास्तविक महत्ता, सत्य, सत्सग, विनयसे तत्त्वकी सिद्धि, सामायिक विचार, सुखके विषयमें विचार, बाहुबल, सुदर्शन, कपिलमुनि, अनुपम क्षमा, तत्त्वावबोध, समाजकी आवश्यकता, आदि एकसे एक बढ़कर १०८ पाठ हैं। गुजरातीकी हिन्दी अर्थ सहित अनेक सुन्दर कवितायें हैं। इस ग्रन्थको स्याद्वाद-तत्त्व-बोधरूपी वृक्षका बीज ही समझिये।

भावनावोधमें वैराग्य मुख्य विषय है, किस तरह कपाय-मल दूर हो, इसमें उसीके उपाय बताये हैं। इसमें अनित्य, अशरण, अत्यन्त, अशुचि, आश्रव, सवर, निर्जर आदि वारह भांजनाओंके स्वरूपको, भिलारीका खेद, नमिराजर्षि, भरतेश्वर, सनत्कुमार, आदिकी कथायें देकर बड़ी उत्तम रीतिसे विषयको समझाया है। प्रारम्भमें श्रीमद् रायचन्द्रजीका चित्र और सक्षिप्त चरित्र भी है। भाषा बहुत ही सरल है। पृष्ठसंख्या १३०, मूल्य सिर्फ III) है। ये दोनों ग्रन्थ श्रीमद् राजचन्द्रमेंसे जुदा निकाले गये हैं।

परमात्मप्रकाश और योगसार [जैन रहस्यवादी और अत्यात्मनेत्ता श्री-योगीदुदेवकृत अपभ्रंश दोहे, उनकी सस्कृतछाया, श्रीब्रह्मदेवसूरिकृत सस्कृतटीका, स्व० प० दौलतरामजीकृत भाषाटीका, प्रो० उपाध्यायकी ९२ पृष्ठकी अप्रेजी भूमिका, उसका हिन्दी-सार, त्रिभिन्न पाठभेद, अनुक्रमणिकायें, और हिन्दीअनुवादसहित ' योगसार ']

सम्पादक और संशोधक—प आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय, एम् ए

अर्द्धभागर्था प्रोफेसर राजाराम कालेज, फोल्डापुर ।

परमात्मप्रकाश अपभ्रंश भाषा-साहित्यका सत्रसे प्राचीन और अमूल्य रत्न है, आधुनिक हिन्दी, मराठी, गुजराती आदि भाषायें इसी अपभ्रंशसे उत्पन्न हुई हैं, अतः भाषा-शास्त्रके जिज्ञासुओंके लिए यह बड़े कामकी वस्तु है। भाषा-साहित्यके नामी विद्वान् प्रो० उपाध्यायजीने अनेक प्राचीन प्रतियोंके आधारसे इसका संशोधन संपादन करके सोनेमें सुगंधकी कहावत चरितार्थ की है। पहले सस्करणसे यह सस्करण बहुत विस्तृत और शुद्ध है। इसकी भूमिका तो एक नई वस्तु है—ज्ञानकी खान है। इसमें परमात्मप्रकाशका विषय, भाषा, व्याकरण, ग्रन्थकारका चरित, समय-निर्णय और उनकी रचनाओंका परिचय, टीकाकार और उनका परिचय, बड़ी ज्ञान-वीनसे किया गया है। अप्रेजी भूमिकाका हिन्दीसार प० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने लिखा है।

प्रथमें योगीदुदेवने तत्कालीन जनसाधारणकी भाषामें बड़ी ही सरल किन्तु प्रमाणोत्पादक शैलीमें परमात्माके स्वरूपका व्याख्यान किया है। इसमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्माका लक्षण, परमात्माके रूप जाननेकी रीति, शुद्धात्माका मुख्य लक्षण, शुद्धात्माके ध्यानसे ससार-भ्रमणका रूकना, परमात्मप्रकाशका फल आदि सैकड़ों ज्ञातव्य विषयोंका वर्णन है। समाधि-मार्गका अपूर्व ग्रन्थ है। इसकी हिन्दीटीका भी बड़ी सरल और विस्तृत है। मामूली पढ़ा लिखा भी आसानीसे समझ सकता है। ऐसी उत्तम पद्धतिसे सम्पादित ग्रन्थ आपने अभीतक, न देखा होगा। ग्रन्थराज स्वदेशी कागजपर बड़ी सुन्दरता और शुद्धतासे छपाया गया है। ऊपर कपड़ेकी सुन्दर मजबूत जिल्द बँधी हुई है। पृष्ठसंख्या ५५०, मूल्य केवल ४॥) है।

योगसार—यह श्रीयोगीदुदेवकी अमर रचना है, इसमें मूल अपभ्रंश दोहे, सस्कृत-छाया, पाठांतर और हिन्दीटीका है। १०८ दोहोंके छोटेसे ग्रन्थमें आध्यात्मिक गृहवादके तत्त्वोंका बड़ा ही सुन्दर विवेचन है। यह ग्रन्थ साक्षात् मोक्षका सोपान है। इसका सम्पादन और संशोधन प्रोफेसर ए० एन्० उपाध्यायने किया है। प० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम्० ए० ने सरल हिन्दीटीका लिखी है। बहुत अच्छे मोटे-कागजपर सुन्दरतापूर्वक छपा है। पृष्ठसंख्या २८, मूल्य सिर्फ।) परमात्मप्रकाशके अतमें यह ग्रन्थ है। उसीमेंसे जुदा ^ ।

YOGĪNDU, HIS PARAMĀTMAPRĀKĀŚA AND OTHER

WORKS अर्थात् योगीन्दुदेव और उनकी रचनायें

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्यायका बड़ी गवेषणासे लिखा हुआ महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अप्रेजी ग्रन्थ है। पृष्ठसंख्या १०८ मूल्य १) है। यह परमात्मप्रकाशके प्रारम्भमें हैं, उसीमेंसे जुदा निकाला गया है।

प्रवचनसार—[श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्राकृत मूल गाथायें, श्रीअमृतचन्द्राचार्य और श्रीजयसेनाचार्यकृत संस्कृतटीकाद्वय, पाडे हेमराजजीकृत हिन्दीटीका, प्रोफेसर उपाध्यायकृत अप्रेजी अनुवाद, १२५ पृष्ठोंकी अति विस्तृत अप्रेजी भूमिका, विभिन्न पाठ-भेदोंकी और ग्रन्थकी अनुक्रमणिका आदि अलंकारों सहित संपादित।]

सम्पादक—प० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय एम० ए०, प्रोफेसर राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर

यह अध्यात्मशास्त्रके प्रधान आचार्यप्रवर श्रीकुन्दकुन्दका ग्रन्थ है, केवल इतना ही आत्मज्ञानके इच्छुक मुमुक्षु पाठकोंको आकर्षित करनेके लिए काफी है। यह जैनागमका सार है। इसमें ज्ञानाधिकार, ज्ञेयतत्त्वाधिकार, और चारित्र्याधिकार ऐसे तीन बड़े बड़े अधिकार हैं। इसमें ज्ञानको प्रधान करके शुद्ध द्रव्यार्थिकनयका कथन है, अर्थात् और सब विषयोंको गौण करके प्रधानतः आत्माका ही विशेष वर्णन है। इस ग्रन्थका एक संस्करण पहले निकल चुका है। इस नये संस्करणको प्रोफेसर उपाध्यायजीने बहुतसी पुरानी सामग्रीके आधारसे सशोधित किया है, और उसमें श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका जीवनचरित, समय, उनकी अन्य रचनाओं, टीकाओं, भाषा, दार्शनिकता, आदिपर गहरा विवेचन किया है। इसकी अप्रेजी भूमिका भाषा-शास्त्र और दर्शनशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिए तो ज्ञानकी खान है, और वैद्ययुक्त परिश्रम और गहरी खोजका एक नमूना है। इस भूमिकापर बम्बई विश्वविद्यालयने २५०) पुरस्कार दिया है, और इसे अपने बी० ए० के पाठ्यक्रममें रखा है। इस ग्रन्थकी छपाई स्वदेशी कागजपर निर्णयसागर प्रेसमें बहुत ही सुन्दर हुई है। पृष्ठसंख्या ६००, ऊपर कपड़ेकी मजबूत और सुन्दर जिल्द बंधी है। मूल्य सिर्फ ५) है।

स्याद्वादमञ्जरी—कलिकाळसर्गज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यकृत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वान्निशिकाकी श्रीमल्लिपेणसूरिकृत विस्तृत संस्कृतटीका स्याद्वादमञ्जरीके नामसे प्रसिद्ध है। इसी टीकाका प० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री, एम० ए० कृत सरल और विस्तृत हिन्दीअनुवाद है। मल्लिपेणसूरिने इस ग्रन्थमें न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, बौद्ध, और चार्वाक नामके छह दर्शनोंके मुख्य मुख्य सिद्धान्तोंका अत्यन्त सरल, स्पष्ट और मार्मिक भाषामें प्रतिपादनपूर्वक खण्डन करके सम्पूर्ण दर्शनोंका समन्वय करनेवाले स्याद्वाद-दर्शनका प्रौढ़ युक्तियोंद्वारा मण्डन किया है। दर्शनशास्त्रके अन्य ग्रन्थोंकी अपेक्षा इस ग्रन्थकी यह एक असाधारण विशेषता है कि इसमें दर्शनशास्त्रके कठिनसे कठिन विषयोंका भी अत्यन्त सरल, मनोरञ्जक और प्रसाद गुणसे युक्त भाषामें प्रतिपादन किया है। इस ग्रन्थके संपादन और अनुवादकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है। अनुवादक महोदयने स्याद्वादमञ्जरीमें

आये हुए विषयोंका वर्गीकरण करनेके साथ कठिन विषयोंको, वादी प्रतिवादीके रूपमें शका समाधान उपस्थित करके, प्रत्येक श्लोकके अतमें उसका भाग्यार्थ देकर समझाया है, और इस तरह प्रथको ससृत और हिन्दीकी अनेक टीका-टिप्पणियोंसे समलङ्कित बनाया है। सप्तादक महोदयने जैन, बौद्ध, न्याय वैशेषिक, साङ्ख्य-योग, मीमांसा, वेदान्त, चार्वाक और त्रिभिष परिशिष्ट नामके आठ परिशिष्टोंद्वारा इस ग्रथको और भी अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। इन परिशिष्टोंमें उह दर्शनोंके मूल सिद्धांतोंका नये दृष्टिकोणसे विवेचन किया गया है, और साथ ही इनमें दर्शनशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिये पर्याप्त मामग्री उपस्थित की गई है। इस ग्रथके आरम्भमें प्रथ और प्रथकारका परिचय देते हुए, ' स्याद्वादका जैनदर्शनमें स्थान ' यह शीर्षक देकर, स्याद्वादका तुलनात्मक दृष्टिसे विवेचन किया गया है। स्याद्वादमञ्जरीके अतिरिक्त इस संस्करणमें हेमचन्द्राचार्यकी अयोगव्यवच्छेदद्वारात्रिशिका भी हिन्दीअनुवाद सहित दी गई है। इस ग्रथके प्राक्कथन केएक हिन्दूविश्वविद्यालयके दर्शनाचार्य श्रीमान् ५० भिस्खन-जालजी, आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट हैं। अन्तमें आठ परिशिष्ट, तथा तेरह अनुक्रमणिकायें हैं।

यह ग्रथ हिन्दूयूनिवर्सिटी काशीके एम० ए० के कोर्समें, और कलकत्ता यूनिवर्सिटीके न्यायमध्यमाके कोर्समें नियत है। कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। पृष्ठसंख्या ५३६ है, मूल्य भी सिर्फ ११।) है।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र—अर्थात् अहैतुप्रवचनसंग्रह मोक्षशास्त्र-तत्त्वार्थ-

सूत्रका संस्कृतभाष्य और उसकी प्रापाणिक भाषाटीका।

श्रीउमास्वातिकृत मूलसूत्र स्तोत्रभाष्य, (संस्कृतटीका) और विद्यारिधि ५० सूत्रचन्द्राजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत भाषाटीका सहित। जैनियोंका यह परमाननीय ग्रथ है, इसमें जैनधर्मके सम्पूर्ण सिद्धान्त आचार्यवर्यने, बड़े लघनसे संग्रह किये हैं। सिद्धान्तरूपी सागरको मधके गागर (घड़े) में भर देनेका कार्य अर्घ्वं कुशलतासे किया है। ऐसा कोई तत्त्व नहीं, जिसका निरूपण इसमें न हो। इस ग्रथको जैनसाहित्यका जीवात्मा कहना चाहिए। गहनसे गहन विषयका प्रतिपादन स्पष्टतासे इसके सूत्रोंमें स्वामीजीने किया है। इस ग्रथपर अनेक आचार्योंने अनेक भाष्य—संस्कृतटीकायें रची हैं। प्रचलित हिन्दीमें कोई विशद और सरल टीका नहीं थी, जिसमें तत्त्वोंका वर्णन स्पष्टताके साथ आधुनिक शैलीसे हो। इसी कमीकी पूर्तिके लिये यह टीका उपाई गई है। विद्यार्थियोंको, विद्वानोंको, और मुमुक्षुओंको इसका अध्ययन, पठन-पाठन, स्वाभ्यास करके लाभ उठाना चाहिए। यह ग्रथ कलकत्ता यूनिवर्सिटीके न्यायमध्यमाके कोर्समें है। प्रथारम्भमें विस्तृत विषयसूची है, जिसे ग्रथका सार ही समझिये। इसमें दिग्म्बर श्वेताम्बर सूत्रोंका भेदमदर्शक कोष्टक और वर्णानुसारी सूत्रोंकी सूची भी है, जिससे बड़ी सरलता और सुमीतिसे पता लग जाता है कि कौन विषय और सूत्र कौनसे पृष्ठमें है। प्रथराज रत्नेशी कागजपर बड़ी शुद्धता और सुन्दरता पूर्वक छपा है। ऊपर कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। इतनी सब विशेषतायें होते हुए भी बड़े आकारके ४७६+२४=५०० पृष्ठोंके, ग्रथका मूल्य लागतमान

सिर्फ तीन रूपया है, जो ग्रंथको देखते हुए कुछ नहीं है। मूल्य इसी लिये कम रखा है, जिससे सर्वाधारण सुभीतेसे खरीद सकें।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय—श्रीअमृतचन्द्रस्वामीनिरचित मूल श्लोक और १० नाथूरामजी प्रेमिकृत सान्ध्य सरल भाषाटीका सहित। इसमें आचारसम्बन्धी बड़े बड़े गूढ़ रहस्योंका वर्णन है। अहिंसा तत्त्व और उसका स्वरूप जितनी स्पष्टता और सुन्दरतासे इस ग्रंथमें वर्णित हैं, उतना और कहीं नहीं है। तीन बार छपकर विक्रय हुआ है, इस कारण चौथी बार उपाया गया है। न्योछावर सजिल्दकी १।)

पञ्चास्तिकाय—श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल गाथायें, तथा श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत तत्त्वदीपिका, श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति ये दो संस्कृत टीकायें, और ५० पन्नालालजी बाकलीवालकृत अन्वय अर्थ भाषार्थ सहित भाषाटीका। इसकी भाषाटीका स्वर्गाय पांडे हेमराज-जीकी भाषा-टीकाके अनुसार नवीन सरल भाषामें परिवर्तित की गई है। इसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँचों द्रव्योंका उत्तम रीतिसे वर्णन है। तथा काल द्रव्यका भी सूक्ष्ममें वर्णन किया गया है। बम्बईयूनिवर्सिटीके वी० ए० के कोर्समें है। दूसरी बार छपी है। मूल्य सजिल्दका २।)

ज्ञानार्णव—श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत मूल श्लोक और स्व० ५० जयचन्द्रजीकी पुरानी भाषानचनिकाके आधारसे ५० पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिंदी भाषाटीका सहित। योगशास्त्र सबर्षी यह अपूर्व ग्रंथ है। इसमें ध्यानका वर्णन बहुत ही उत्तमतासे किया है, प्रकरणवशा ब्रह्मचर्यव्रतका वर्णन भी निस्तृत है। तीसरी बार छपा है। प्रारम्भमें ग्रंथकर्ताका शिक्षाप्रद ऐतिहासिक जीवनचरित है। उपदेशप्रद बड़ा सुन्दर ग्रंथ है। मूल्य सजिल्दका ४।)

सप्तभंगीतरंगिणी—श्रीमद्विमलदासकृत मूल और ५० ठाकुरप्रसादजी शर्माकृत भाषाटीका। यह न्यायका अपूर्व ग्रंथ है। इसमें ग्रंथकर्तानि स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, आदि सप्तभंगीनयका विवेचन नव्यन्यायकी रीतिसे किया है। स्याद्वाद क्या है, यह जाननेके लिये यह ग्रंथ अनन्य पढ़ना चाहिये। दूसरी बार सुन्दरतापूर्वक छपी है। न्यो० १।)

बृहद्द्रव्यसंग्रह—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, श्रीब्रह्मदेवसूरिकृत संस्कृत-टीका और ५० जगन्नाथलालजी शास्त्रीकृत भाषाटीका सहित। इसमें जीव, अजीव, आदि छह द्रव्योंका स्वरूप अति स्पष्ट रीतिसे दिखाया है। दूसरी बार छपी है। कपड़ेकी सुन्दर जिल्द बँधी है। मूल्य २।)

गोमूटसार कर्मकाण्ड—श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथायें और ५० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया तथा भाषाटीका सहित। इसमें जैनतत्वोंका स्वरूप कहते-हुए जीव तथा कर्मका स्वरूप इतने विस्तारसे किया गया है, जिसकी वचन-द्वारा प्रशंसा नहीं हो सकती है। देखनेसे ही मादम हो सकता है। जो कुछ ससारका झगड़ा है, वह इन्हीं दोनों (जीव कर्म) के सबन्धसे है, इन दोनोंका स्वरूप दिखानेके लिये यह ग्रंथ रत्न अपूर्व सूर्यके समान है। दूसरी बार ५० स्वचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीद्वारा सशोधित हो करके छपा है। मूल्य सजिल्दका २॥)

निवेदन

स्वर्गवासी तत्त्वज्ञानी ज्ञानधानी कविवर श्रीरायचन्द्रजीने श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, श्रीउम, स्वाति (मी) मुनीश्वर, श्रीसमन्तभद्राचार्य, श्रीनेमिचन्द्राचार्य, श्रीअकलङ्कस्वामी, श्रीशुभन्द्राचार्य, श्रीअमृतचन्द्रसूरि, श्रीहरिभद्रसूरि, श्रीहेमचन्द्राचार्य, श्रीयशोभिजय आदि महान् आचार्योंके रचे हुए अतिशय उपयोगी और अलभ्य जैनतत्त्व-ग्रन्थोंका सर्वसाधारणमें सुलभ मूल्यमें प्रचार करनेके लिये श्रीपरमश्रुतप्रभावकर्मण्डलकी स्थापना की थी, जिसके द्वारा उक्त कविराजके स्मरणार्थ श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला ३० वर्षोंसे निकल रही है। इस प्रथमालामें ऐसे अनेक प्राचीन जैन-ग्रन्थ राष्ट्रभाषा, हिन्दी टीकासहित प्रकट हुये हैं, जो तत्त्वज्ञानाभिलाषी भव्यजीवोंको आनन्दित कर रहे हैं।

उभय पक्षके महात्माओंद्वारा प्रणीत सर्वसाधारणोपयोगी, उच्चमोत्तम ग्रन्थोंके अभिप्राय विज्ञ पाठकोंको विदित हों, इसके लिये—इस शास्त्रमालाकी योजना की गई है। इसीदिने आत्मकल्याणके इच्छुक भव्य जीवोंसे निवेदन है कि इस पवित्र शास्त्रमालाके ग्रन्थोंके प्राहक बनकर वे अपनी चल लक्ष्मीको अचल करें, और तत्त्वज्ञानपूर्ण जैनसिद्धान्त-ग्रन्थोंके पठन-पाठन द्वारा प्रचार कर हमारे इस परमार्थ-योजनाके परिश्रमको सफल करें। प्रत्येक मदिद, सरस्वतीभण्डार, सभा और पाठशालाओंमें इनका सग्रह अवश्य करें। जैनधर्म और जैनतत्त्व ज्ञानके प्रसारसे बढ़कर दूसरा और कोई पुण्यकार्य प्रमादनाका नहीं हो सकता, इसलिए अधिकसे अधिक द्रव्यसे सहायता कर पाठक भी इस महत्कार्यमें हमारा हाथ बटावें। पाठकगण जितने अधिक ग्रन्थ खरीदकर हमारी सहायता करेंगे, उतने ही अधिक ग्रन्थ प्रकाशित होंगे। इस शास्त्रमालाकी प्रशंसा मुनियों, विद्वानों तथा पत्रसपादकों तथा पाश्चात्य विदेशी विद्वानोंने मुक्तकंठसे की है। यह संस्था किसी स्वार्थ-साधन लिये नहीं है, केवल परोपकारके वास्ते है। जो द्रव्य आता है, वह इसी शास्त्रमालामें उच्चमोत्तम ग्रन्थोंके उद्धारके काममें लगा दिया जाता है। हमारे सभी ग्रन्थ बड़े शुद्धता और सुन्दरतापूर्वक अपने निपपत्रके विद्वानोंद्वारा हिन्दी टीका करानेके अच्छे कागजपर छपाये गये हैं। मूल्य भी अपेक्षाकृत कम अर्थात् लागतके लगभग रखा जाता है। उच्चमताका यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि कई वर्षोंसे तीन तीन चार चार सस्करण हो गये हैं। भविष्यमें श्रीउमास्वामी, श्रीभट्टाकलरुदेव, श्रीसमन्तभद्र, श्रीसिद्धसेनदिनाकरके ग्रन्थ निकलेंगे। कई ग्रन्थोंका उच्चमतापूर्वक सम्पादन हो रहा है।

नोट—रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके ग्रन्थ इकट्ठे मँगानेवालोंको और प्रचार करनेवालोंको बहुत किफायतसे भेजे जाते हैं। इसके लिए वे हमसे पत्रव्यवहार करें।

सहायता भेजने और ग्रन्थोंके मिलनेका पता—

निवेदक—ऑ० व्यरस्थापक—

श्रीपरमश्रुतप्रभावकर्मण्डल (श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला)

खाराकुवा, जोहरवाजार, बम्बई न० २

न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस, ६ केल्लेवाडी, गिरगाव, मुंबई न ४

